३० गोलोचन

हि०—गोलोचन, गोरोचन। बं०—गोरोचना। म०—गोरोचन। गु०—गोरूचन्दन, गोरोचन। ते०—गोरोचनमु। ता०—गोरोचनम्। फा०—सगगाव। अ०—हजरुल् बक्कर। अं०—Gall-stone (गॉल्-स्टोन), Serpent stone (सर्पेण्ट स्टोन)। ले०—*Bezoar* (वेझोर)।

गाय अथवा बैल के पित्ताशय में से अश्मरी के समान सुपारी से लेकर नीबू तक का गोल अथवा कुछ गोलाई लिये त्रिकोणाकार जो पदार्थ निकलता है उसको गोरोचन कहते हैं। यह ऊपर से कुछ मटमैला पीला और तोडने पर भीतर से पर्तदार पीले रग का होता है। यह कठोर नही, कुछ मुलायम होता है। किसी किसी का रङ्ग नारगी या लाली युक्त होता है। इसी प्रकार किसी किसी बकरी और ऊँट के पेट से भी ककर्डी निकलती है, 'कुछ ग्रन्थों में गाय के मस्तक का पित्त गोरोचन है' ऐसा उल्लेख मिलता है। हाथी के मस्तक में मिलने वाली गजमुक्ता और सर्प के फण में मिलने वाली मणि के सादृश्य के लिए गो-मस्तक से इसकी उत्पत्ति की परिकल्पना की गई होगी।

इसका स्वाद कुछ कडवा होता है तथा इसमें कुछ सुगन्ध भी होती है। औषध के अतिरिक्त तत्र शास्त्र में मोहन तथा वशीकरण के लिये इसका पर्याप्त उपयोग किया जाता है। गोपित्त में कुछ पदार्थों का मिश्रण कर बनाया हुआ नकली गोरोचन भी बिकता है।

गुण और प्रयोग—गोरोचन शीतल, सुगन्धि, मृदु विरेचक, तिक्त, श्वित्रहर, मूत्रल, अश्मरीघ्न, बृहण, आर्तवजनक एव विषहर है।

इसका उपयोग उन्माद, अपस्मार, अपतत्रक, आक्षेप, रोमान्तिका, मसूरिका, कुकास, अतिसार, कफज्वर, कामला, पाण्डु, गर्भस्राव, पित्त की न्यूनता एव आन्त्रिक विकार आदि में किया जाता है।

(१) अपस्मार में इसको २ माशे की मात्रा में गुलाव जल में घिस कर पिलाने से पुनराक्रमण नहीं होता, ऐसा हकीम मानते हैं। यूनानी में इसका लेप श्वित्र, चेहरे के काले दाग, चर्म रोग तथा नेत्र के जाले में लाभदायक मानते हैं।

(२) मसूरिका आदि में उष्णता कम करने के लिये इसको खिलाया जाता है।

(३) बच्चों के अतिसार, कुकास एव हरे दस्त आना आदि में इसको खिलाने से लाभ होता है।

मात्रा—१-२ र०।

नोट—पाश्चात्त्य चिकित्सा में गोपित्त को शुद्ध करके व्यवहार करने की पद्धति है। गोरोचन के स्थान में उसका प्रयोग करना उचित नही है। प्रसगत. उसका भी वर्णन यहां किया गया है।

ले०—*Extractum fellis bovini* (एक्स्ट्रॅक्टम् फेलिस् वोह्विनि)। अं०—Purified Ox-Gall (प्यूरिफाइड् ऑक्स-गॉल्)। हि०—गौ या बैल का शुद्ध पित्त, जहरमोहरा।

ताजे पित्त को सुखाकर जब चतुर्थांश शेष रहे तो उसमें मद्यसार (९०%) मिलाकर छानकर गोली बनाने लायक हो उतना सुखा लें। इसमें पित्त के लवण तथा रञ्जक पदार्थ पाये जाते हैं: यह गहरे पीताभ हरे रग का लचीला पदार्थ होता है। इसका स्वाद कडुआ तथा अरुचिकर होता है। यह जल तथा मद्यसार दोनों में घुल जाता है। इसको विशिष्ट आवरण युक्त गोलियों के रूप में भोजन के २ घण्टे पश्चात् प्रयोग करते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कडवा पदार्थ होते हुये भी वानस्पतिक कडवे पदार्थों के उतना अच्छा दीपन पदार्थ नही है। इससे पित्त का स्राव ठीक होने लगता है। जिनमें पित्त का उचित स्राव न होने के कारण अपचन तथा विवन्ध रहता है उनमें इसका उपयोग करते हैं। यह अग्न्याशय के स्नेह पाचक स्रावों को बढाता है तथा स्नेह द्रव्यों के प्रचूपण में सहायक होता है। स्नेह द्रव्यों का प्रचूपण ठीक होने के कारण उसमें घुलने वाले जीवतिक्ति (ह्विटामिन्) 'ए', 'डि' तथा 'के' का भी ठीक प्रचूपण होता है। रक्तस्राव की अवस्था में रक्त को जमाने वाले पदार्थों में से रक्त में प्रोथ्रॉबिन् (Prothrombin) के निर्माण के लिये ह्विटामिन् 'के' की बहुत आवश्यकता रहती है। जब मल बहुत कडा हो जाता है तब इसको २०-३० ग्रे की मात्रा में १ या २ औंस जल में घोल कर पिचकारी द्वारा वस्ति के रूप में देते हैं।

मात्रा—५-१५ ग्रेन।

अथ नखं नखी च (गन्धद्रव्यम्) तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

नखं व्याघ्रनखं व्याघ्रायुधं तच्चक्रकारकम् ॥ ८० ॥
नखं स्वल्पं नखी प्रोक्ता हनुर्हट्टविलासिनी । नखद्वयं ग्रहश्लेष्मवातास्रज्वरकुष्ठहृत् ॥ ८१ ॥
लघूष्णं शुक्रलं वर्ण्यं स्वादु व्रणविषापहम् । अलक्ष्मीमुखदौर्गन्ध्यहृत्पाकरसयोः कटु ॥ ८२ ॥

सुगन्धि द्रव्य नख तथा नखी के नाम तथा गुण—नख, व्याघ्रनख, व्याघ्रायुध और चक्रकारक ये सब संस्कृत नाम नख के हैं और दूसरा छोटा नख होता है उसे नखी कहते हैं उसके संस्कृत नाम—हनु तथा हट्टविलासिनी ये दो है । **दोनों प्रकार के नख**-ग्रहबाधा, कफ, वात, रक्तविकार (किंवा वातरक्त), ज्वर तथा कुष्ठ रोग को दूर करते हैं एव लघु, उष्णवीर्य, शुक्रजनक, वर्णकारक, स्वादिष्ट, व्रण तथा विषनाशक, एवं अलक्ष्मी (दरिद्रता) तथा मुख की दुर्गन्धिता को हरण करने वाले, पाक एवं रस में कटु रसयुक्त होते हैं ॥ ८०–८२ ॥

३१ नख-नखी

हि०-नख, नखी, छोटा नख । **बं०**-नखी गन्ध द्रव्य, छोट नखी । **म०**-नखला, वाघनख । **ते०**-नखमुचिप्प । **गु०**-नखला, सावजना नख । **क०**-नख, वाघनख । **फा०**-नाखून पर्यां । **अ०**-अजफारुतिब, इकलिलुलमुलुक । **अं०**-Shell (शेल) । **ले०**-*Helix aspera* (हेलिक्स ॲस्पेरा); *Achatina fulica* (ॲचॅटिना फूलिका) ।

नख एक सुगन्धि द्रव्य है । यद्यपि इसे नख, व्याघ्रनख आदि नाम दिये गये हैं तथापि यह किसी जानवर का नाखून नहीं है । यह एक प्रकार के सीप की जाति के समुद्री जीव के मुख के ऊपर का आवरण है जो नख सदृश होने के कारण नख कहा जाता है । भावप्रकाशकार ने इनके दो भेद लिखे हैं । बडे को नख या व्याघ्रनख तथा छोटे को नखी लिखा है । अन्य ग्रन्थों में नखी के आकृति के अनुसार ५ भेद लिखे हैं । बेर के पत्ते के सदृश, कमलदल सदृश, घोड़े के खुर की आकृति के, हाथी के कान के समान आकार वाले तथा सुअर के कान के समान ये पाच प्रकार होते हैं । इनमें से सुअर के कान के समान निषिद्ध माना गया है । कुछ लोगों ने हाथी के कान सदृश और घोडे के खुर के समान आकृति वाले नख का उपयोग गन्धयोगों में तथा वेर या कमलदल सदृश नख का उपयोग धूपन में वतलाया है ।

यह गहरे भूरे रग का तथा अनेक पटलों से बना हुआ कठोर, अपारदर्शक तथा नख के सदृश होता है । इसके उन्नतोदर पृष्ठ पर परत साफ दिखलाई देते है । इसको जलाने से दुर्गन्ध आती है लेकिन तैल के साथ पकाने से तैल सुगन्धित होता है । अन्य ग्रन्थों मे इसके शोधन का विधान मिलता है । भैंस के गोवरयुक्त जल, तिन्तिडी जल या मृत्तिकायुक्त जल के साथ स्वेदन करके, प्रक्षालन करने के पश्चात् भून कर गुडहरीतकी मिले जल में बुझाते हैं । फिर पीस कर उपयोग में लाते हैं । चरक में प्रायोगिक धूम्रपान की वर्ति के योग में (सू अ. ५ श्लो. २०), श्वयथुचिकित्सा (चि. अ. १६) में शैलेयकादि तैल और प्रदेह में, महासुगन्धहस्ती नामक अगद के योग में (चि. अ. २३), अमृतादि तैल (चि. अ. २८) तथा वातरक्त चिकित्सा (चि. अ. २९) में शतपुष्पादि तैल के योग में अन्य द्रव्यों के साथ नख का प्रयोग करने को लिखा है । सुश्रुत में एलादिगण में व्याघ्रनख का उल्लेख है । तैलों को सुगन्धित करने के लिये इसका अधिक उपयोग होता है ।

अथ वालम् [सुगन्धवाला] । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वालं ह्रीवेरबर्हिष्ठोदीच्यं केशाम्बुनाम च । वालकं शीतलं रूक्षं लघु दीपनपाचनम् ॥
हृल्लासारुचिवीसर्पहृद्रोगामातिसारजित् ॥ ८३ ॥

सुगन्धबाला के नाम तथा गुण—वाल, ह्रीवेर, बर्हिष्ठ, उदीच्य, केशनाम (केशवाचक सभी शब्द), एवं अम्बुनाम (जलवाची सभी शब्द) तथा वालक ये सब 'सुगन्धवाला' के संस्कृत नाम हैं । **सुगन्धबाला**-शीतवीर्य, रूक्ष, लघु, अग्निदीपक तथा पाचक होता है और यह

हृल्लास (उवकाई), अरुचि, वीसर्प, हृद्रोग, आम तथा अतिसार इन सब रोगों को दूर करने वाली होती है ॥ ८३ ॥

३२ सुगन्धवाला

हि०–सुगन्धवाला, नेत्रवाला। **बं०**–वाला। **म०**–काला वाला। **गु०**–वालो, कालो वालो। **क०**–वलरक्सी-गिडा। **ते०**–मुत्तुपलागमु, एर्राकुटी। **ता०**–पेरामुटिवेर। **लै०**–*Pavonia odorata* (पॅवोनिया ओडोरेटा)। N. O. Malvaceae (मालवॅसिइ)।

सुगन्धवाला—तृण जाति की वनौषधि पश्चिमोत्तर प्रदेश, सिन्ध, पश्चिम प्रायद्वीप और सिलोन में अधिक उत्पन्न होती है। इसके क्षुप में थोड़ी सी कस्तूरी की सुगन्ध रहती है।

इसका **क्षुप**–सीधा होता है और समस्त क्षुप पर वारीक तीक्ष्ण रोवें होते हैं। **पत्ते**–२॥ से ३ इञ्च लम्बे चौड़े, गोलाकार हृदयाकृति, कर्बी के पत्तों के आकार वाले ३ से ५ भागों में विभक्त तथा प्रत्येक भाग त्रिकोणाकार और दन्तुर होता है। पत्तों को मसलने से चिपचिपापन मालूम होता है। शाखाओं के अन्त में फूलों के गुच्छे लगते हैं। **पुष्पदल**–किञ्चित् हलके गुलावी रङ्ग के होते हैं। **फल**–अण्डाकृति, छोटे एवं चने बराबर होते हैं। **बीज**–भूरे रंग के, तैल से युक्त लेकिन गन्धहीन होते है। **मूल**–७–८ इञ्च लम्बे, प्राय. ऐंठे हुए तथा अधिक से अधिक ½ इञ्च मोटे, चिकने, भूरे रग के तथा अनेक उपमूलों से युक्त रहते हैं। इसमें कस्तूरी के समान सुगन्ध रहती है। औषध में इन्हीं मूलों का व्यवहार किया जाता है।

नोट—बाजार में सुगन्धवाला के नाम से मिलने वाला गाठदार द्रव्य सुगन्धवाला नही है। उसे असली तगर मानते हैं। उसका वर्णन पहले किया गया है। कुछ लोगों ने इसके लैटिन नाम में खस का लेटिन नाम दिया है, वह उचित नहीं है। कुछ लोगों ने खस जाति के ही दूसरे तृण का लैटिन नाम सुगन्धवाला के लिए दिया है जिसको कुछ लोग खस का ही पर्याय मानते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें लुआबदार पदार्थ तथा उत्तेजक सुगन्धि द्रव्य है।

गुण और प्रयोग—सुगन्धवाला शीतल, स्नेहन, दीपन, वातानुलोमक, उत्तेजक एव वल्य है।

इसका उपयोग ज्वर, रक्तपित्त, दाह, तृषा, हृल्लास, वमन, अतिसार, व्रणशोथ एव विसर्प में किया जाता है।

(१) किसी भी प्रकार के ज्वर में षडङ्ग पानीय के रूप में नागरमोथा, पित्तपापडा, खस, श्वेत चन्दन, सुगन्धवाला एव सोंठ का क्वाथ देने से ज्वर का दाह एव प्यास कम हो जाती है।

(२) वेल के साथ इसका उपयोग सग्रहणी में लाभकर होता है। अतिसार में आदी के साथ इसको फाण्ट वना कर पिलाते हैं। बच्चों के अतिसार में चावल के धोवन के साथ मिश्री, मधु तथा सुगन्धवाला देते हैं। वमन, हृल्लास आदि में भी तण्डुलोदक के साथ इसको देते हैं।

(३) रक्तपित्त में चन्दन, मिश्री तथा तण्डुलोदक के साथ इसका प्रयोग किया गया है।

(४) विसर्प में इसके चूर्ण को घृत के साथ लेप करते हैं। श्वित्र में इसकी जली हुई काली राख का लेप लाभदायक माना जाता है।

मात्रा—३–६ माशा।

अथ वीरणम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

स्याद्वीरणं वीरतरुर्वीरश्च बहुमूलकम्। वीरणं पाचनं शीतं वान्तिहृल्लघु तिक्तकम् ॥ ८४ ॥
स्तम्भनं ज्वरनुद् भ्रान्तिमदजित्कफपित्तहृत्। तृष्णाऽस्त्रविषवीसर्पकृच्छ्रदाहव्रणापहम् ॥ ८५ ॥

वीरण अर्थात् गाडर घास के नाम तथा गुण—वीरण, वीरतरु, वीर और बहुमूलक ये नाम संस्कृत में वीरण के हैं। **वीरण**—पाचक, शीतवीर्य, वमन को दूर करने वाला, लघु, तिक्त रसयुक्त एवम् स्तम्भन होता है। यह ज्वर, भ्रमरोग, मदरोग, कफ, पित्त, तृषा, रक्तप्रकोप, विष, वीसर्प, मूत्रकृच्छ्र, दाह और व्रण को दूर करने वाला होता है ॥ ८४–८५ ॥

अथोशीरम् । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वीरणस्य तु मूलं स्यादुशीरं नलदञ्च तत् । अमृणालञ्च सेव्यञ्च समगन्धिकमित्यपि ॥ ८६ ॥
उशीरं पाचनं शीतं स्तम्भनं लघु तिक्तकम् ॥ ८७ ॥
मधुरं ज्वरहृद्वान्तिमदनुत्कफपित्तहृत् । तृष्णाऽस्रविषवीसर्पदाहकृच्छ्रव्रणापहम् ॥ ८८ ॥

खस के नाम तथा गुण—'वीरण' नामक घास के जड को 'खस' कहते हैं। उसके सस्कृत नाम–उशीर, नलद, अमृणाल, सेव्य और समगन्धिक ये सब हैं। **खस**–पाचक, शीतवीर्य, स्तम्भन, लघु, तिक्त तथा मधुर रस युक्त होता है और यह ज्वर, वमन, मदरोग, कफ, पित्त, तृषा, रक्तप्रकोप, विष, वीसर्प, दाह, मूत्रकृच्छ्र और व्रण को दूर करने वाला होता है ॥ ८६–८८ ॥

३२ वीरण–खस

हि०–खस, वीरन मूल, गांडर, वेना। **वं**-वेणर मूल, खसखस। **म०**–वाला। **गु०**–वालो। **क०**–मुडिवाल। **ते०**–वेट्टिवेलु। **ता०**–वेट्टिवेर। **फा०**–रेशये वाला, वीखेवाला। **अं**-Cuscus grass (कस्कस् ग्रास)। **ले०**–*Andropogon muricatus* (एन्ड्रोपोगोन् म्युरिकेटस्); *Andropogon squarrosus* (एन्ड्रोपोगोन् स्क्वॅरोसस्), *Vetiveria zizanioides* (वेटिवेरिया झाइझेनिओइडिस्)। N. O. Gramineae (ग्रेमिनिइ)।

यह इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। यह अधिकतर खुले हुये दलदल वाले स्थानों में होता है।

खस–तृणजातीय औषधि का क्षुप २ से ५ फुट तक ऊंचा एवं दृढ होता है। यह गुच्छवद्ध और समूह वद्ध होकर उगता है। **पत्ते**–सरकण्डे के समान १–२ फुट लम्बे और पतले होते हैं। ये दो कतारों में तथा आधार पर परस्पराच्छादित रहते हैं। मूलीयपत्र कुछ अधिक लम्बे रहते हैं। मध्यशिरा दवी हुई तथा पत्तों के किनारों पर दूर दूर पर तीक्ष्ण कांटे रहते हैं। **फूलों** का घनहरा पीलापन या किंचित् लाली युक्त होता है। इसकी जड की शोरिया सुगन्धित होती हैं। इन्हीं शोरियों को खस कहते हैं। औषध के अतिरिक्त ग्रीष्म ऋतु में इसके वने परदे एव पखों आदि का उपयोग किया जाता है। सुगन्धि के लिये इसके इत्र का भी वहुत व्यवहार होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें उडनशील तैल, राल, रजक पदार्थ, अम्लद्रव्य, चूने का लवण, लौहभस्म तथा काष्ठयुक्त पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—खस शीतल, तिक्त, स्तम्भक, पाचक, पित्तनाशक, मूत्रजनक, पसीनें की दुर्गन्ध दूर करने वाला, ज्वरहर, दाहशामक, स्तन्यजनक, वमन को रोकने वाला, श्रमहर एव जल को सुगन्धित करने वाला है।

इसका उपयोग फांट के रूप में पित्तज्वर, प्रसूति ज्वर, तृष्णा, दाह, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, विष, स्वेद दुर्गन्धि, वमन, कुष्ठ एव आमाशयिक प्रक्षोभ आदि में किया जाता है। इसका लेप दाह, त्वचा के रोग तथा पसीने को रोकने वाला है।

(१) वमन रोकने के लिये ½ तो० खस को १ पाव उवलते जल में डालकर उसके फांट को पिलाते हैं। इसके साथ धनिया का भी उपयोग लाभदायक है। विसूचिका में वमन रोकने के लिये २ बूँद इत्र वताशा में भरकर खिलाते हैं।

(२) पसीने की अधिकता तथा मसूरिका में इसका लेप किया जाता है।

(३) लोहवान के साथ चिलम में रखकर या सिगरेट वनाकर इसका धूम्रपान करने से शिरःशूल दूर होता है।

मात्रा—२–४ माशा।

अथ जटामांसी । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

जटामांसी भूतजटा जटिला च तपस्विनी । मांसी तिक्ता कषाया च मेध्या कान्तिबलप्रदा ॥
स्वाद्वी हिमा त्रिदोषास्रदाहवीसर्पकुष्ठनुत् ॥ ८९ ॥

जटामांसी (वालछड़) के नाम तथा गुण—जटामासी, भूतजटा, जटिला, तपस्विनी और

मासी ये सब संस्कृत नाम जटामांसी के हैं। जटामांसी (बालछड़)-तिक्त रस कषाय रस युक्त, मेधाजनक, कान्तिकारक, बलप्रद, स्वादिष्ट और शीतवीर्य होती है और यह त्रिदोष, रक्तदोष, दाह, वीसर्प एवम् कुष्ठ को दूर करने वाली होती है॥ ८९॥

३४ जटामांसी

हिं०-जटामांसी, बालछड़। बं०-, गु०-, म०-जटामांसी। ने०-जटामांसी। क०-[illegible]। **पं०**-बिलीलोटन। **ता०**-जटामांशी। का०-भूतिजट। सु०-[illegible]। फा०-नार्दे हिन्दी। अ०-सुम्बुलुत्तीबे हिन्दी, नरदुले हिन्दी। अं०-Spikenard (स्पाइकनार्ड), Indian Nard (इण्डियन नार्ड), Nardus root (नार्डस् रूट)। ले०-*Nardostachys jatamansi* (नार्डोस्टेकिस् जटामांसी)। N. O. Valerianaceae (वेलेरियानेसि)।

जटामांसी—यह हिमालय के जङ्गलों में कुमाऊँ से सिक्किम तक १७ हजार फीट की ऊँचाई पर तथा भूटान में उत्पन्न होती है। इसका बहुवर्षायु क्षुप सीधा खड़ा रहता है। राइजोम (भौमिक तना) काष्ठमय, लंबा, मजबूत एवं सूखे हुये रेशेदार पर्णवृन्त से युक्त रहता है। भूमि के ऊपर इस से कई शाखाएं निकलती हैं और वे ६-७ अंगुल तक सघन बारीक जटाकार रोवें से भरी रहती हैं। **पत्ते**-जटा को छोड़ कर ऊपर ६-७ इञ्च लम्बे तथा १ इञ्च चौड़े, जड़ की ओर संकुचित, मृदु रोमश या चिकने मूलीय पत्ते रहते हैं। **काण्डपत्र**-एक या दो जोड़, १-३ इञ्च लम्बे, अवृन्त, आयताकार या उपलट्वाकार होते हैं। टहनियों के अन्त में सफेद या किञ्चित् गुलाबी रङ्ग के छोटे-छोटे फूलों के गुच्छे लगते हैं। **फल**-छोटे-छोटे गोल, सफेद रोएँदार तथा उनके ऊपर बाह्यकोष के अंडाकार, तीक्ष्ण, दन्तुर बाह्यदल लगे रहते हैं।

इसके सूखे हुवे राइझोम (भौमिक तना) तथा मूल का औषध में व्यवहार किया जाता है। इसका **मूल** गहरे धूसर (Grey) रंग का, छोटी अंगुली के बराबर मोटा तथा रक्ताभ भूरे रंग के रोओं से युक्त होता है। ये रोएदार तन्तु इसके सूखे हुवे पर्णवृन्त तथा मूल के भाग हैं जिनके आपस में मिलने से जटासी बन जाती है। अन्दर से यह रक्ताभ भूरे रंग की होती है। इसमें एक प्रकार की विशिष्ट गन्ध (असली तगर के समान) होती है तथा इसका स्वाद सुगन्धियुक्त कडुवा होता है। इसको हमेशा ताजी खरीदना चाहिये।

नोट—अन्य निघण्टुओं में गन्धमासी, आकाशमासी, कृष्णा सुगन्धमासी आदि भेद लिखे हुवे हैं। प्राचीन ग्रन्थों में इसके स्वतन्त्र उपयोग बहुत कम मिलते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें का प्रधान तत्त्व एक उड़नशील तैल है जो ०.३-०.४% पाया जाता है। यह तैल हलके पीले रंग का कुछ हरिताभ, जल से हलका, हवा में जमने वाला, कपूर के समान गन्ध वाला, कडवा तथा तीता होता है। इस तैल में ईस्टर, अल्कोहल तथा सेस्की टर्पेन हाइड्रोकार्बन पदार्थ होते हैं। इस तैल के अतिरिक्त जटामांसी में २% एक रवेदार किन्तु जल में न घुलने वाला अम्ल द्रव्य तथा राल पाई जाती है।

गुण और प्रयोग—जटामासी शीतल, सुगन्धि, दीपन, पाचन, बल्य, रक्ताभिसरणोत्तेजक, उद्वेष्टननिरोधि, वातानुलोमक, मूत्रल, मृदुविरेचक, आर्तवजनन, वातनाडीशामक, सज्ञास्थापन, मेध्य, त्रिदोषघ्न, केश्य, ज्वरहर, त्वग्दोषहर, कांतिवर्धक, वेदनास्थापन, हृदयबल्य एवं सौमनस्य जनन है। इसके सेवन से क्षुधा बढती है, पाचन ठीक होता है किन्तु कोष्ठबद्धता नहीं होती। इसके सेवन से उदर में उष्णता मालूम होती है, डकार आती है, संपूर्ण शरीर में उष्णता मालूम होकर पसीना आता है, मूत्र की मात्रा बढती है तथा नाडी सबल होती है। मस्तिष्क एवं नाडी तन्तुओं पर इसकी पोषक तथा उत्तेजक क्रिया होती है। अल्प मात्रा में बहुत दिन देते रहने से मन की चंचलता शान्त होती है, काम करने में उत्साह बढ़ता है तथा नाडी का बल बढ़ता है।

अपस्मार, अपतन्त्रक तथा अन्य आक्षेपयुक्त व्याधियों में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है।

(१) मस्तिष्क तथा नाडी तन्तुओं के विकारों में जटामासी बहुत लाभप्रद होती है। शरावियों को व्रण होने पर या उन पर कोई शस्त्रक्रिया करने पर उनको एक तरह का भ्रमणयुक्त कम्प उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में जटामासी के प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है। अत्यन्त मानसिक

परिश्रम या अस्थैर्य से थकावट उत्पन्न होने पर इसका सेवन नाडियों के लिए बलकारक तथा श्रमहर होता है। अपतन्त्रक में इससे आवेग कम होते हैं। शिरःशूल के लिये यह उत्कृष्ट औषध है। मानसिक आघात में यह बहुत जल्दी काम करती है। हींग, कस्तूरी आदि की अपेक्षा जटामांसी इन विकारों में अधिक उपयोगी तथा शीघ्र कार्यकर मानी जाती है। भूतावेश जैसी चेष्टाओं में जटामासी, ब्राह्मी स्वरस तथा घोडवच का मधु के साथ प्रयोग करते हैं। अपस्मार, अपतन्त्रक, हृदय की धडकन, कम्पवात तथा अन्य आक्षेपयुक्त व्याधियों में इसका फाण्ट बहुत प्रभावशाली माना जाता है। इनमें इसे १ से २ औंस की मात्रा में दिन में ३ बार पिलाते हैं। अपस्मार में इसके तेल का २-५ बूँद की मात्रा में सेवन कराया जाता है।

(२) रक्ताभिसरण ठीक न होता हो तो यह बहुत ही उपयुक्त औषध है। इससे मस्तिष्कगत रक्तप्रवाह सन्तुलित होता है जिससे सर का भारीपन, चक्कर, मूर्च्छा, आंखों के सामने अंधियारी, सुनाई कम पडना आदि में लाभ होता है। हृदय की धडकन, कमजोरी तथा हृदय के कारण उदर में वायु सञ्चित होने पर इसे सुगन्ध द्रव्य तथा नवसादर के साथ खिलाते हैं। इससे रक्त-वाहिनियों का सकोच होकर रक्तपित्त, विसर्प तथा रक्तस्राव में लाभ होता है।

(३) जटामासी ४, दालचीनी १, शीतलचीनी १, सौंफ १, सोंठ १ तथा मिश्री ८ भाग के चूर्ण को ३-९ माशे की मात्रा में आध्मान, शूल, आमाशयिक शूल तथा आक्षेपयुक्त विकारों में देते हैं। बच्चों के आध्मान, उदरशूल, सुशिक्षितों तथा नाजुक प्रकृति की स्त्रियों के मन्दशूल, कुपचन आदि पचन संस्थान के विकारों में जटामांसी और नवसादर के साथ सुगन्धि द्रव्यों को मिलाकर देते हैं। इससे पित्त का स्राव ठीक होकर पाचन सुधरता है।

(४) औपसर्गिक शोथयुक्त ज्वरों में त्रिदोष की वृद्धि होने से रोगी प्रलाप करता है तथा सन्निपात के लक्षण दिखलाई देने लगते हैं। इन अवस्थाओं में इसके प्रयोग से शीघ्र लाक्षणिक लाभ होता है। इससे रक्ताभिसरण ठीक होता है, नाडी तन्तुओं को बल मिलता है, कफ ढीला होता है, दाह कम होता है तथा शोथ में भी लाभ होता है। विषम ज्वर में भी इससे पर्याप्त लाभ होता है।

(५) विस्फोट एवं व्रणों में इसके लेप से जलन तथा पीडा कम होती है। मुखपाक में भी इससे जलन तथा पीडा का शमन होता है। झाई-व्यङ्ग आदि त्वग्दोषों में उबटन के रूप में व्यवहार करने से त्वचा की कान्ति बढती है। यह बालों के लिये भी लाभदायक है। शिरःशूल में इसका लेप करते हैं। दन्तशूल में इससे मञ्जन कराते हैं। मुखदुर्गन्ध में इसे चबाते हैं। स्वेदाधिक्य में इसके चूर्ण का उपयोग मर्दन के लिये करते हैं। बेहोशी में इसे पीस कर आंखों पर लेप करते हैं।

(६) पीडितार्तव में इसके सेवन से पीड़ा कम होती है तथा आर्तव स्राव ठीक होने लगता है। स्त्रियों में रजोनिवृत्ति के काल में कुछ विशिष्ट मानसिक तथा शारीरिक अवसाद के लक्षण उत्पन्न होते हैं ऐसी अवस्थाओं में जटामासी बहुत उपयोगी होती है।

मात्रा—५-१० रत्ती।

अथ शैलेयम् (भूरिछरीला)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

शैलेयन्तु शिलापुष्पं वृद्धं कालानुसार्य्यकम् ॥ ९० ॥
शैलेयं शीतलं हृद्यं कफपित्तहरं लघु। कण्डूकुष्ठाश्मरीदाहविषहृद् गुदरक्तहृत् ॥[१]९१ ॥

शैलेय (भूरिछरीला) के नाम तथा गुण—शैलेय, शिलापुष्प, वृद्ध और कालानुसार्यक ये सब संस्कृत नाम भूरिछरीला के हैं। **भूरिछरीला**—शीतवीर्य, हृद्य (हृदय को हितकर), कफ तथा पित्तनाशक, लघु, एवम् खुजली, कुष्ठ, पथरी, दाह, विष तथा गुदा से रक्त गिरना इन सब को दूर करने वाला है।

३५ छरीला

हि०—छरीला, भूरिछरीला, पत्थरफूल। **बं०**—शैलज। **म०**—दगडफूल। **गु०**—पत्थरफूल, छटीलो।

१. विषहृल्लासरक्तजित् इति पाठा०।

क०—कल्लुहुवु। ते०—शैलेय मनेद्रव्यमु, रतिपंचे। ता०—कल्पसी। फा०—उशनह, गुलेसंग। अ०—उश्नः। अं०—Stone flowers (स्टोन फ्लावर्स); Yellow Lichen (यलो लाइचेन)। ले०—*Parmelia perlata* (पर्मेलिया परलेटा)। N. O. Lichenes (लाइचेनीज्)।

छरीला—यह क्षुद्र वनस्पति पहाड़ी जमीन के पत्थरों पर उत्पन्न होती है और जान पड़ता है मानो यह पत्थर से ही अपना आहार लेती है। यह हिमालय और नीलगिरी के पहाड़ों पर पाई जाती है। यह वृक्षों और दीवालों पर भी पाई जाती है। यह हरी पेड़सी सख्त होकर जब सूख कर उतरती है तब इसके ऊपर का पृष्ठ काला और नीचे का सफेद होता है। जो अधिक सफेद होती है वही अच्छी समझी जाती है। इसकी कई जातियां पाई जाती हैं। इसका स्वाद फीका तिक्त-कषाय होता है। औषध के लिये हमेशा नया तथा सुगन्धयुक्त छरीला काम में लेना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें पीत रवेदार पदार्थ, गोंद, लाइचेनिन एवं कार्बोनिक् एसिड, ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—छरीला शीतल, सुगन्धि, हृद्य, सौम्य मूत्रल, दीपन, वेदनास्थापन, ग्राही एवं शोथहर है। यह कफ, पित्त, दाह, तृषा, वमन, श्वास, व्रण, कण्डू, अश्मरी, विष, हृल्लास, गुदरक्तस्राव एवं रक्तविकार दूर करने वाला है। पेशाब रुकने पर १ तो० छरीला के फांट में मिश्री एवं जीरा मिलाकर पिलाते हैं तथा इसे गरम जल में भिगोकर कमर पर बांधते हैं। इसे ठण्डे जल में पीस कर सर पर लेप करने से शिरःशूल दूर होता है। व्रण पर इसे लगाने से लाभ होता है। यकृत् शूल निवारण के लिये इसका उपयोग करते हैं। अंजन के योगों में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—२–४ माशा।

अथ मुस्तकं-नागरमुस्तकञ्च। (मोथा-नागरमोथा)। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

मुस्तकं न स्त्रियां मुस्तं त्रिषु वारिदनामकम्। कुरुविन्दश्च संख्यातोऽपरः क्रोडकसेरुकः ॥९२॥
भद्रमुस्तञ्च गुन्द्रा च तथा नागरमुस्तकः। मुस्तं कटु हिमं ग्राहि तिक्तं दीपनपाचनम् ॥ ९३ ॥
कषायं कफपित्तास्रतृड्ज्वरारुचिजन्तुहृत्। अनूपदेशे यज्जातं मुस्तकं तत्प्रशस्यते।
तत्रापि मुनिभिः प्रोक्तं वरं नागरमुस्तकम् ॥ ९४ ॥

मोथा तथा नागरमोथा के नाम और गुण—मुस्तक (इसका स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर शेष लिङ्गों में प्रयोग होता है), मुस्त (यह तीनों लिङ्गों में होता है), वारिदनामक (मेघवाची सभी शब्द) और कुरुविन्द ये सब संस्कृत नाम मोथा के हैं। दूसरे प्रकार का जो मोथा है जिसे नागरमोथा कहते हैं, उसके संस्कृत नाम—क्रोडकसेरुक, भद्रमुस्त, गुन्द्रा तथा नागरमुस्तक ये सब हैं। **मोथा—**कटुतिक्त तथा कषाय रस युक्त, शीतवीर्य, ग्राही, अग्निदीपक तथा पाचक होता है और यह कफ, पित्त, रक्तप्रकोप, तृषा, ज्वर, अरुचि **और** कृमि का नाशक होता है। जो 'मोथा' अनूप देश में उत्पन्न होता है वही श्रेष्ठ होता है। उसमें भी मुनियों ने 'नागरमोथा' को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है॥

३६ मोथा

हि०—मोथा। **बं०**—मुता, मुथा। **म०**—मोथा, बिम्बल, भद्रमुष्टि। **गु०**—मोथ। **क०**—कोरनारि। **ते०**—तुगमुस्ते। **ता०**—कोरइ किलगु। **फा०**—मुश्के जमीं। **अ०**—सोअ(अ)द कूफी। **अं०**—Nut-grass (नट्ग्रास)। **ले०**—*Cyperus rotundus* (साइपरस् रोटन्डस्)। N. O. Cyperaceae (साइपरेसिइ)।

मोथा इस देश के सब प्रान्तों में बहुलता से होता है। यह तृणजातीय वनस्पति बारहो मास पायी जाती है किन्तु बरसात में सर्वत्र देखने में आती है। इसमें मूलीय पत्रगुच्छ होता है जो एक कठोर कन्द सदृश भौमिककाण्ड से निकलता है। नीचे सूत्राकार अन्तर्भूमिशायी काण्ड भी प्रायः होते हैं जिनसे पौन से एक इञ्च के घेरे में अंडाकार कंद निकले रहते हैं जो कसेरू के समान ऊपर से काले रंग के और भीतर से सफेद होते हैं और इनमें सुगंध आती है। डंडी—पतली, ६ से

२४ इञ्च तक ऊची, त्रिकोणाकर तथा पत्तों के बीच से निकली रहती है। पत्ते-लम्बे और पतले होते हैं। डंडी के अग्रपर समस्थमूर्धजक्रम मे पुष्पवाहक शाखायें निकलती हैं जो छोटे-छोटे अवृन्त काण्डजव्यूहों का सयुक्तव्यूह होती हैं। पुष्पव्यूह का आधार भाग तीन पत्रसदृश कोणपुष्पकों से घिरा रहता है। इसके काले-काले कंदों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

नोट—भावप्रकाशकार ने मोथा एव नागरमोथा ये दो भेद लिखे हैं। नागरमोथा का ही दूसरा नाम भद्रमुस्ता लिखा है। अन्य निघण्टुओं में भद्रमुस्ता अलग लिखा है तथा मुस्ता का एक अन्य कैवर्तमुस्ता (जलजमुस्ता, केवटीमोथा) भेद लिखा है। सब मोथे के गुण करीब करीब समान ही हैं तथा एक दूसरे के स्थान पर इनका उपयोग किया जा सकता है। अनूप देश में होने वाला नागरमोथा अधिक प्रशस्त माना गया है। यह हमेशा ताजा तथा सुगन्धयुक्त खरीदना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धित उड़नशील तैल, वसा, शर्करा, गोद, कार्बोहाइड्रेट, ॲल्ब्यूमिन सदृश पदार्थ, तन्तु तथा राख एव अत्यल्प मात्रा में क्षाराभ आदि पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—मोथा ग्राही, दीपक, पाचक, स्वेदजनक, मूत्रजनक, स्तन्यवर्धक, आर्तवजनक, किञ्चित् गर्भाशयोत्तेजक, केशवर्धक, व्रणरोपक एव कृमिघ्न है।

(१) कुपचन, वमन एवं अतिसार आदि आमाशय तथा आन्त्र के विकारों में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। आमातिसार में ताजे कन्द को आर्द्रक के साथ पीसकर मधु मिला कर खिलाते हैं। इसमें २० मोथे के कन्दों को ३ गुने दूध तथा जल में उबाल कर दूध शेष रहने पर छानकर पिलाते हैं। सभी प्रकार के अतिसार में इसके क्वाथ में (क्वाथ ठंडा होने पर) मधु मिलाकर पिलाने से लाभ होता है।

(२) स्वेदजनक, मूत्रजनक एव उत्तेजक होने से यह ज्वर, ज्वरातिसार एव पित्तज्वर में उपयोगी है।

(३) विसूचिका तथा मदात्यय में तृषा शान्ति के लिये इसके शीतल क्वाथ को पिलाते हैं।

(४) अक्षिव्रण में इसे घृत में भूनकर पीसकर लगाने से ३, ४ दिन में लाभ होता है। आंख की फूली एवं लालिमा मे बकरी के मूत्र में इसे पीसकर उसका अंजन किया जाता है।

(५) इसकी ताजी जड को घिसकर गोघृत मिलाकर व्रण पर लगाते हैं तथा इसको जल मे पीसकर दुग्धवृद्धि के लिये स्तन पर लेप करते हैं।

(६) रोमन लोग आर्तवजनन औषध के रूप में गर्भाशय की बीमारियों में इसका व्यवहार करते थे।

मात्रा—३-६ माशा।

३७ नागर मोथा

हि०—नागर मोथा। **बं०**—नागरमथा। **म०**—नागर मोथा, लवाला। **मा०**—नागर मोथो। **गु०**—नागरमोथ। **क०**—कोन्नरि गड्डे। **ते०**—नागमुस्तेलु। **ता०**—मुट्टाकाचि। **फा०**—मुश्के जमीं। **अ०**—सोअद कूफी। **ले०**—*Cyperus scariosus* (साइपरस् स्केरिओसस्)।
N. O. Cyperaceae (साइपरेसिइ)।

नागरमोथा-मोथे के समान तृणजातीय वनौषधि बंगाल, पेगु, सुन्दरवन, राजपुताना के तालाब तथा अन्यान्य प्रान्तों के सजल स्थान मे पाया जाता है। इसकी डंडी १६ से ३६ इञ्च तक ऊची, पतली त्रिकोणाकार होती है। जड के नीचे कन्दवत् लम्बे-लम्बे, अंगुली प्रमाण मोटे, दबे हुये काले रंग के जो अन्तर्भूमिशायी काण्ड होते हैं उन्हीं को नागरमोथा कहते हैं जिनका चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—मोथा के समान।

गुण और प्रयोग—नागरमोथा शीतल, दीपन, पाचन, वातानुलोमक, ग्राही, स्वेदजनन, कफघ्न, मेध्य, तृष्णानिग्रहण, स्तन्यजनन, स्तन्यशोधन, कण्डूघ्न, मूत्रजनन गुणों से युक्त, उत्तेजक

तथा जन्तुनाशक है। इसका उपयोग मोथे के समान ही किया जाता है। यद्यपि इसमें इतने उपयुक्त धर्म है तथापि इसका प्रयोग अन्य औषधों के साथ अधिक किया जाता है।

(१) अरुचि, आमातिसार, वमन, रक्तार्श तथा कुपचन में नागरमोथा गुणकारी है। सग्रहणी में इससे बहुत लाभ होता है।

(२) ज्वर, प्रसूतिज्वर तथा पैत्तिक ज्वर में हमेशा इसका प्रयोग करना चाहिये। इससे प्यास कम होती है, पसीना आता है, उत्तेजना आती है, जीभ का स्वरूप अच्छा होता है, पेशाव साफ होता है तथा गर्भाशय का थोडा सा सकोच भी होता है। प्रसूता को दुग्ध शुद्धि तथा वृद्धि के लिये इसको खिलाते हैं तथा जल में घिस कर स्तन पर लेप करते है। इससे स्तन की दूध की गाठें कम होती हैं।

(३) परमा में नागरमोथा बहुत लाभदायक है। यह प्रथम एव द्वितीयावस्था में दिया जाता है।

(४) अपस्मार में उत्तर दिशा में होने वाले मोथे को पीसकर समान वर्ण वाली सवत्सा गौ के दुग्ध के साथ पिलाने से लाभ होता है।

(५) इसका जन्तुघ्न धर्म अधिक मात्रा में देने से ही मालूम होता है। कण्डू में इसका लेप किया जाता है।

मात्रा—३-६ माशा।

अथ कर्चूरः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कर्चूरो वेधमुख्यश्च द्राविडः कल्पकः शटी। कर्चूरो दीपनो रुच्यः कटुकस्तिक्त एव च ॥ ९५॥
सुगन्धिः कटुपाकः स्यात्कुष्ठार्शोव्रणकासनुत्। उष्णो लघुर्हरेच्छ्वासं गुल्मवातकफक्रिमीन् ॥९६॥

कचूर के नाम तथा गुण—कर्चूर, वेधमुख्य, द्राविड, कल्पक और शटी ये सब सस्कृत नाम कचूर के हैं। **कचूर**—कटु तथा तिक्त रस युक्त, अग्निदीपक, रुचिकारक, सुगंध युक्त, पाक में कटुरस युक्त, उष्णवीर्य और लघु होता है एव यह कुष्ठ, ववासीर, व्रण, खासी, श्वास, गुल्म, वात, कफ और कृमि इन सब रोगों का नाशक होता है ॥ ९५-९६ ॥

३८ कचूर

हि०–कचूर। **बं०**–शटी, एकांगी, शोरी, कचूरा। **म०**–कचोरा। **गु०**–कचूरो, पट् कचूरो। **ते०**–कचोरमु। **ता०**-किच्छिलिक किझगु। **क**–-कचोरा। **अ०**-जरंवाद, एरकुल् काफुर। **फा०**–कजूर। **अं०**–Zedoary (झिडोअरी)। **ले०**–*Curcuma zedoaria* (कर्क्युमा झिडोरिआ)। N. O. Scitamınaceae (सिटॅमिनॅसिइ)।

पूर्व हिमालय, सिंहल द्वीप तथा बर्मा के पश्चिम में यह आपही आप उत्पन्न होता है और कई प्रान्तों के खेतों में रोपण भी किया जाता है।

इसका **क्षुप**–तीन चार फीट ऊँचा हलदी के समान होता है और जड के नीचे अनेक कद होते हैं। उनको कचरा कर सुखा लेते हैं। इसी को कर्चूर कहते हैं। **पत्ते**–१-२ फीट लबे, आयताकार, लवाग्र और नीचे की ओर क्रमशः सकुचित होकर पत्रवृन्त में परिणत हो जाते हैं। ये कुछ कालापन लिये हुये तथा मध्य शिरा पर नीलारुण रगीन धब्बों से युक्त होते हैं। पुष्पदण्ड पत्तियों के पहले निकलता है। कोणपुष्पक रक्ताभ और ऊपर के अपुष्प पत्र अधिक लाल होते है। **फूल**–नलिकाकार पीले रग के आते हैं। **बीजकोष**–त्रिकोणाकार और बीज अडाकार और सफेद होते हैं। अन्तर्भूमिशायी कन्द लवगोल, भीतर हलके पीले और पूर्णतः विकसित रहते हैं। मूलाग्र कन्द अनेक और भीतर मुक्तावर्ण के होते हैं। अन्तर्भूमिशायी कद कर्पूर तुल्य प्रियगंध वाले होते है। इन्ही कदों का चिकित्सा मे उपयोग किया जाता है। इसकी पत्तियों को मछली भूनने के काम में लाते हैं। इसी क्षुप के समान **काली हलदी** का क्षुप होता है जिसका वर्णन पृ० ९८ पर किया गया है।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील तैल, कटु मुलायम राल, गोंद, स्टार्च, शर्करा एवं ऑर्गेनिक् अम्ल आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—कचूर सुगंधि, रुचिकर, दीपन, स्वर्य, कफहर, वातहर, मूत्रजनन एवं हृद्य है। इसका उपयोग कास, श्वास, अजीर्ण, अर्श, हिक्का, ज्वर, संग्रहणी, प्लीहा, गुल्म, कुष्ठ, कृमि एवं व्रण में किया जाता है।

(१) मुख को साफ करने के लिये इसको चवाते हैं। गायक इसको आवाज साफ करने के लिये चूसते हैं। इससे खांसी एवं गले की खराश में लाभ होता है।

(२) इसके ताजे कंदों का पाक या खण्ड प्रसूता के लिए पौष्टिक माना जाता है।

(३) विषमज्वर, प्रतिश्याय तथा शरीर में पीडा हो तो कचूर, छोटी पीपल एवं दालचीनी का क्राथ मधु मिलाकर पिलाते हैं तथा पीडा में इसका लेप करते हैं।

(४) श्वेत प्रदर तथा पूयमेह में यह बहुत लाभप्रद है। परमा में इसके फांट से जलन कम होकर पेशाव साफ होता है।

(५) जलोदर में इसके पत्तों का रस पिलाया जाता है। गांठों तथा फोडे आदि पर इसके पत्तों को पीसकर बांधा जाता है। अर्श तथा अतिसार में इसका शाक के रूप में प्रयोग लाभप्रद माना जाता है।

(६) बच्चों के आक्षेप में कंबोडियन माताएं इसको चवाकर सर तथा शरीर पर लगाती हैं।

(७) मोच में इसको पीसकर फिटकिरी मिलाकर लगाते हैं।

मात्रा—१-४ माशा।

अथ मुरा (मुरहरी, एकाङ्गी)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मुरा गन्धकुटी दैत्या सुरभिः शालपर्णिका॥ ९७॥

मुरा तिक्ता हिमा स्वाद्वी लघ्वी पित्तानिलापहा। ज्वरासृग्भूतरक्षोघ्नी कुष्ठकासविनाशिनी॥९८॥

मुरा (एकाङ्गी) के नाम तथा गुण—मुरा, गन्धकुटी, दैत्या, सुरभि और शालपर्णिका ये सव संस्कृत नाम मुरा के हैं। **मुरा**—तिक्त रस युक्त, शीतवीर्य, स्वादिष्ट और लघु होती है एवं यह पित्त, वात, ज्वर, रक्तविकार, भूत और राक्षस सम्बन्धी बाधा, कुष्ठ तथा खांसी इन सबों को दूर करने वाली होती है॥ ९७-९८॥

३६ मुरा

मुरा नामक गन्धद्रव्य के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग इसे मरोडफली (Helicteres isora-हेलिक्टेरिस् आइसोरा) मानते हैं, जो उचित नहीं मालूम होता। श्री डा० कर्नल चोपरा की पुस्तक में एरिथ्रिना स्ट्रिक्टा (Erythrina stricta) का सस्कृत नाम मुरा लिखा मिलता है। पंजावी में मुरों नाम साइनॅन्थस् का दिया है जिसके पुष्पों का दमें में उपयोग होता है। कुछ लोग इसे कचूर, कपूर कचरी या जटामासी का भेद मानते हैं। अधिक सभव है यह कपूरकचरी का भेद हो।

अथ गन्धपलाशी (कपूरकचरी) (सुगन्धिद्रव्यं काश्मीरे प्रसिद्धम्)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शठी पलाशी षड्ग्रन्था सुव्रता गन्धमूलिका। गन्धारिका गन्धवधूर्वधूः पृथुपलाशिका॥९९॥

भवेद्गन्धपलाशी तु कषाया ग्राहिणी लघुः। तिक्ता तीक्ष्णा च कटुकाऽनुष्णाऽऽस्यमलनाशिनी।

शोथकासव्रणश्वासशूलसिध्मग्रहापहा[1]॥ १००॥

कपूर कचरी जो कि काश्मीर देश में प्रसिद्ध एक प्रकार का सुगन्धि द्रव्य है, उसके नाम तथा गुण—शठी, पलाशी, षड्ग्रन्था, सुव्रता, गन्धमूलिका, गन्धारिका, गन्धवधू, वधू, पृथुपलाशिका और गन्धपलाशी ये सब संस्कृत नाम 'कपूर कचरी' के हैं। **कपूर कचरी**—कटु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, ग्राही, लघु, तीक्ष्ण तथा थोडा उष्णवीर्य होती है एवम् यह मुख के मल को दूर

१. हिध्म इति पाठा०।

करने वाली, शोथ, खासी, व्रण, श्वास, शूल, सिध्म (या-हिक्का) और ग्रहबाधा इन सबों को दूर करने वाली है ॥ ९९-१०० ॥

४० कपूर कचरी

हि०-गधपलाशी, कपूर कचरी, सितरुटी। बं०-शठी, गन्ध शटी। म०-कपूर कचरी। गु०-कपूर काचरी। क०-गन्ध शठी। ता०-शिमैकिचिलिक् किगगु। पं०-कचूर काचु, शेदूरी। ले०-*Hedychium spicatum* (हेडिचिअम् स्पारकेटम्)। N. O. Scitaminaceae (सिटॅमिनॅसिइ)।

यह हिमालय के साधारण प्रान्त, पजाव, नेपाल और कुमाऊँ में अधिक उत्पन्न होती है।

यह क्षुप जाति की वनौषधि प्रायः बारहो मास मिलती है। जड़-कन्दवत् भूमि के भीतर समतल बढती है। इसी को सुखा कर कार्य में लेते है। डंठल-लम्बा पत्रयुक्त होता है। पत्ते-हल्दी के पत्तों के समान एक फुट लम्बे, अनियमित चौडे एवं अंडाकार होते हैं। फूल-सफेद आते हैं। फल-त्रिदल, गोलाकार और चिकना होता है।

इसके मूलस्तभ (मूल) को काटकर सुखाये हुये, छोटे वडे सुगधित टुकडे बाजार में विकते हैं। यह सफेद रंग के एव पिष्टमय रहते है। इनका बाह्यत्वक् रक्ताभ भूरे रंग का होता है। इसका स्वाद कडवा एवं तीता रहता है। अबीर के निर्माण एव गुडाखु को सुगधित करने के लिये इसका उपयोग किया जाता है। कपूर कचरी नाम से इसी वर्ग के 'चन्द्रमूल' (Kaempferia galangal-केम्फेरिआ गॅलन्गल्)[१] के मूल के टुकडे भी व्यवहार में लाये जाते हैं जो इसी के समान होते है। बाजार में एक चीनी कपूर कचरी नामक औषध भी विकती है जो देखने में अच्छी होते हुये भी उसमें सुगन्ध कम रहती है।

रासायनिक सगठन—इसमें स्टार्च, गोंद, सेल्युलोज, ॲल्ब्यूमिन्, तैल, राल एवं सुगन्धि द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—कपूरकचरी उष्ण, ग्राही, लघु, कटु, तिक्त, दीपन एव वातानुलोमक होती है। इसका उपयोग कास, श्वास, हिचकी, वमन, अपतत्रक, शूल एव व्रण में किया जाता है। दतशूल में इसके मंजन से लाभ होता है। इससे मुख की दुर्गन्धि दूर होती है।

मात्रा—१-४ माशा।

अथ प्रियङ्गुर्गन्धप्रियङ्गुश्च। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

प्रियङ्गुः फलिनी कान्ता लता च महिलाऽऽह्वया ॥ १०१ ॥
गुन्द्रा गन्धफला श्यामा विष्वक्सेनाङ्गनाप्रिया। प्रियङ्गुः शीतला तिक्ता तुवराऽनिलपित्तहृत्॥
[२]रक्तातीसारदौर्गन्ध्यस्वेददाहज्वरापहा। (वान्तिभ्रान्त्यतिसारघ्नी वक्त्रजाड्यविनाशिनी)॥
गुल्मतृड्विषमोहघ्नी[३] तद्वद् गन्धप्रियङ्गुका ॥

'प्रियङ्गु' तथा 'गन्धप्रियङ्गु' के नाम और गुण—प्रियङ्गु, फलिनी, कान्ता, लता, महिलाह्वया (स्त्रीवाचक सभी शब्द), गुन्द्रा, गन्धफला, श्यामा, विष्वक्सेनाङ्गना और प्रिया ये सब सस्कृत नाम 'प्रियङ्गु' के हैं। प्रियङ्गु-तिक्त तथा कषाय रसयुक्त और शीतवीर्य होती है। यह वात, पित्त, रक्तातिसार, दुर्गन्ध, पसीना, दाह, ज्वर, (वमन, चक्कर, अतिसार, मुँह की जडता) गुल्म, तृषा, विष और मोह इन सब रोगों को दूर करती है। इसी भाँति 'गन्धप्रियङ्गु' के भी गुण होते हैं ॥ १०१-१०३ ॥

---

१ चन्द्रमूल के क्षुप दक्षिण की तरफ बगीचों में लगाये मिलते हैं। इसमें १४% खनिज द्रव्य, सुगधि तैल, ४% गोंद तथा अधिक मात्रा में पिष्टमय पदार्थ रहते हैं। यह मूत्रल, वातानुलोमक, उत्तेजक एवं कफनिःसारक है। सर्दी-खासी में इससे सिद्ध तैल को नाक तथा छाती पर लगाते हैं एव मधु के साथ १-२ रत्ती चूर्ण चटाते हैं। मुख को सुवासित करने के लिये इसके छोटे टुकडे को मुख में रखते है। इसके उबटन का भी प्रयोग किया जाता है।

२. रक्तातियोग इति पाठा०। ३. मेहघ्नी इति पाठा०।

अथ तत्फलगुणानप्याह

तत्फलं मधुरं रूक्षं कषायं शीतलं गुरु । विबन्धाध्मानवलकृत्संग्राहि कफपित्तजित् ॥ १०४ ॥

प्रियङ्गु का फल—मधुर तथा कषाय रसयुक्त, रूक्ष, शीतवीर्य और गुरु होता है। यह विबन्धकारक, आध्मानकारक, बलकारक एवं संग्राही तथा कफपित्त नाशक होता है ॥ १०४ ॥

४१ प्रियंगु

प्रियंगु के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। इसी निघण्टु के धान्यवर्ग में कंगु (कंगुनी धान्य) के पर्याय में भी प्रियंगु नाम दिया हुआ है। इससे भ्रम होता है कि क्या यहां पर वर्णित प्रियंगु तथा धान्यवर्गोक्त प्रियंगु एक ही हैं? प्रियंगु से कौन सा प्रियंगु लिया जाय? वास्तव में कंगु के पर्याय में केवल प्रियंगु नाम देने से ही प्रियंगु से कंगु धान्य लेना उचित नहीं है। दोनों के गुण बिलकुल भिन्न हैं। जहां पर टीकाकारों ने स्पष्ट रूप से प्रियंगु के लिये कंगु लेने का निर्देश किया हो वहीं पर प्रियंगु के लिये कंगु का उपयोग किया जा सकता है अन्यथा प्रियंगु से कर्पूरादिवर्गोक्त प्रियंगु ही लेना उचित है। कुछ लोगों ने कंगु से पार्थक्य करने के लिये इसको गंधप्रियंगु लिखा है लेकिन भावप्रकाशकार ने यहां पर प्रियंगु तथा गंधप्रियंगु दो द्रव्यों का उल्लेख किया है। यहां पर इन दोनों के गुण समान बतलाये हैं। धान्यवर्गोक्त कंगु, जिसका एक पर्याय प्रियंगु है, उसके तथा यहां पर उल्लिखित प्रियंगु के गुण समान नहीं हैं, यह बात ध्यान में रखने की है। निम्नलिखित वर्णन केवल यहीं पर वर्णित प्रियंगु का है, कंगु (धान्य) का नहीं।

यहां पर उपर्युक्त श्लोकों में जिन दो द्रव्यों का उल्लेख किया गया है, उनके लिये गंधप्रियंगु नाम देना ठीक है। हो सकता है कि प्रियंगु के संदिग्ध द्रव्य रहने के कारण दो विभिन्न प्रकार के द्रव्यों का उपयोग भावप्रकाशकार के समय होता रहा हो, जिनमें से एक में गंध हो तथा दूसरे में गंध न हो या बहुत कम हो अथवा एक ही प्रकार के दो क्षुप हों जिनमें से एक में गंध हो और दूसरा निर्गंध हो, जिसका आगे स्पष्टीकरण होगा।

आजकल इसी उपर्युक्त 'प्रियंगु गंधप्रियंगु' के लिये ३ प्रकार के द्रव्यों का उपयोग किया जारहा है। बबई की तरफ **घऊँला** नाम से प्रुनस् महालिब् (Prunus mahaleb) की फलमज्जा बिकती है, जिसका उपयोग प्रियंगु के रूप में वहां पर करते हैं। बबई प्रान्त में श्वेतचंदन, घऊँला एवं कपूरकचरी को जल में पीस कर सुगंधित लेप के लिये प्रयोग किया जाता है। चरक ने रक्तपित्त में दाहशांति के लिये चन्दन और प्रियंगु के लेपन से उपलिप्त स्त्रियों के स्पर्श का विधान किया है।[1] यह मज्जा छोटी चिरौंजी जैसी, गोधूमवर्ण की स्वाद में तिक्त एवं सुगंधित होती है। दूसरा द्रव्य ॲग्लेइआ रॉक्सबर्घियाना (Aglaia roxburghiana) के फल हैं जो कुछ गोल, छोटे, निंब फल सदृश एवं सूखने पर सिकुडनदार दिखलाई देते हैं। इनका व्यवहार बहुत दिनों से होता आरहा है लेकिन इसमें गंध नाम मात्र की होती है। तीसरा द्रव्य कॅलिकार्पा मॅक्रोफाइला (Callicarpa macrophylla) नामक लता (झाडी) की पुष्प कलिकायें हैं जो छोटी-छोटी कंगुनी धान्य सदृश होती हैं। इसका वर्णन अभिनव बूटी दर्पण में है लेकिन वहां पर इसका लेटिन नाम नहीं लिखा है। इसके लेटिन नाम के साथ इसका वर्णन श्रीमान् ठा० बलवन्त सिंह जी ने 'वनौषधिदर्शिका' एवं 'बिहार की वनस्पतियाँ' इन पुस्तकों में किया है। मूल श्लोक एवं अन्य निघण्टुओं में दिये हुए लता, फलिनी, कृष्णपुष्पी, गन्धफला, कृशाङ्गी, महिलाह्वया, पर्णभेदनी आदि इसके रूपपरिचयात्मक पर्याय इस लता से मिलते होने के कारण इसको प्रियंगु मानते हैं। श्रीमान् बाबू भीमचन्द्र चटर्जी द्वारा लिखित 'दि एकॉनॉमिक बोटॅनी ऑफ इण्डिया' से 'अभिनव बूटी दर्पण' में कुछ अंश उद्धृत किया गया है जिसमें वे लिखते हैं कि 'नेपाल, चटगांव तथा पूर्व बंगाल के कुछ भागों में इसी का व्यवहार प्रियंगु के रूप में लोग करते हैं। नेपाल में दयालो

---

१. प्रियङ्गुकाचन्दनरूषिताना स्पर्शाः प्रियाणा च वराङ्गनानाम् । (च. चि. अ. ४)

तथा श्वेतदयालो नाम से उपयोग में लाई जाने वाली लताओं का वर्णन उपर्युक्त लता से ठीक मिलता है। श्वेतदयालो तथा दयालो एक ही समान हैं किन्तु अन्तर इतना ही है कि श्वेतदयालो गधयुक्त होती है एव इसके पत्ते कुछ वडे, अधिक श्वेत तथा स्पर्श में खुरदरे होते हैं। इससे मालूम होता है कि भावप्रकाशोक्त प्रियगु तथा गधप्रियंगु यह दयालो तथा श्वेतदयालो हैं। जिला गढवाल और अलमोडा में **दहिया** के नाम से यह प्रसिद्ध है तथा कुमाऊँ प्रात के वैद्य इसको प्रियगु मानते हैं।'

इन तीन द्रव्यों के अतिरिक्त मेंहदी के फूल, कुमुदनी, सरसों के फूल, मालकागुनी एव गोंदनी आदि को भी कुछ लोग प्रियंगु मानते हैं। चरक में संधानीय, शोणितास्थापन, पुरीष सग्रहणीय एव मूत्रविरजनीय गणों में तथा सुश्रुत में अजनादि, एलादि तथा प्रियग्वादिगणों में प्रियगु का उल्लेख है। चरक ने रक्त और पित्त की अतिवृद्धि को शान्त करने वालों में गधप्रियगु को श्रेष्ठ माना है (च. सू. अ. २५)। उपर्युक्त तीन द्रव्यों का वर्णन यहा दिया जारहा है।

प्रियंगु १ (फूलप्रियंगु)

हि०—प्रियगु, फूलप्रियगु, गंधप्रियगु, वुडुड, वूढीघासी, डइया, दहिया। **वं०**—मथुरा। **नेपा०**—दयालो, श्वेतदयालो। **पं०**—सुमाली। **ले०**—*Callicarpa macrophylla* (कॅलिकार्पा मॅक्रोफाइला)। N. O. Verbenaceae (व्हर्विनॅसिइ)।

यह जगलों के किनारे, घाट और ऊँची चढाइयों तथा खुले हुये जगल और परती भूमि में होता है। यह नेपाल, देहरादून के जलप्राय स्थानों तथा विहार के अनेक स्थानों में पाया जाता है। वलिया स्टेशन के अहाते में लगे हुए इसी प्रकार के एक क्षुप का उल्लेख चौखम्बा सस्कृत पुस्तकालय से प्रकाशित 'सचित्र अभिनव वूटीदर्पण' में किया हुवा है।

इसकी **लता** (झाडी) जूही, वेला, वेली, मोतिया आदि पुष्प लताओं के समान होती है और जड से ही सघन शाखायें निकलती हैं। इसके डठल और शाखायें छोटी अङ्गुली प्रमाण से मोटी नहीं होती और जिस प्रकार उक्त फूलों की शाखायें अधिक वढने पर किसी दूसरे वृक्ष का सहारा पा, उसका आश्रय लेकर वढती हैं किन्तु सहारा नहीं मिलने से भूमि की ओर नत हो जाती हैं उसी प्रकार प्रियगु की लता भी होती है और इसी कारण से इसको लता और क्षुशाद्दी कहते हैं। शाखा, पत्ती तथा पुष्पव्यूह आदि भागों में तूलसदृश सघन रोम होते हैं। **पत्ते**–५–१० इञ्च लवे, अडाकार, कभी कभी लट्वाकार प्रासवत्, लम्वाग्र तथा गोलदन्तुर होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ चिकना और निम्न पृष्ठ तूलरोमश होता है। आषाढ श्रावण से पत्रदड को जड से वारीक वारीक कलियों के सघन गुच्छे निकलने लगते है जो व्यास में २ इञ्च और लम्वाई में १ इञ्च होते है। फिर नन्हें नन्हें नील लोहित रग के फूल आते रहते हैं। पत्रदड की जड से पुष्प फलों के गुच्छे निकलने से 'पर्णमेदनी' और फूलों का रङ्ग वैगनी होने से 'श्यामा' और कृष्णपुष्पी कहलाती है। ज्यों ज्यों शाखायें वढती जाती हैं त्यों त्यों पत्रदड से गुच्छे निकलते जाते हैं और प्रथम के आये हुए फूल गिरते जाते हैं तथा गोल वारीक फल दिखाई देने लगते हैं। फूल–इतने वारीक होते हैं कि हजारों फूलों का सग्रह करने पर एक तोला भर भी हो सकना असम्भव जान पडता है। इस प्रकार कार्तिक तक समस्त लतायें फलों के गुच्छों से लदकर नीचे की ओर झुक जाती हैं, इस कारण इसका नाम 'फलिनी' है। कार्तिक के अन्त और मार्गशीर्ष में वही फल वढने पर अत्यन्त कोमल ज्वार के दाने के समान और मोती के समान श्वेतवर्ण, चमकीले और मनोहर दीख पडते हैं। ये फल व्यास में •१२–•१८ इञ्च, अष्ठिलमासल, चार खण्डों या वीजों से युक्त होते हैं। पकने पर इनका ऊपरी पृष्ठ स्पज की तरह मालूम होता है। मोतियों के गुच्छे के समान आभूषणाकार होने से इसे महिलाप्रिया भी कहते हैं। फलों में मनोहर सुगन्ध आने से इसे 'गन्ध फला' कहते हैं।

इस लता की छोटी छोटी प्रियगु धान्य सदृश पुष्प कलिकाएँ फूल प्रियगु के नाम से मिलती हैं। इनमें मसलने पर गध भी होती हैं। शास्त्रीय गधप्रियगु यही मालूम होती है। ग्रामीण लोग गठिया में इसकी पत्तियों से सेंक करते हैं।

प्रियंगु २ (घऊँला)

हि०-प्रियंगु, महालिव । **म०**-गहुला, गावल । **गु०**-घऊला । **अ०**-महलिव । **लै०**-*Prunus mahaleb* (प्रुनस् महालिव्) । N. O. Rosaceae (रोझेसिइ) ।

यह बलोचिस्तान में पाया जाता है । घऊला नाम से प्रियंगु की मज्जा बंबई के बाजार में बिकती है । यह छोटी चिरौंजी जैसी, गोधूम वर्ण की, कडवी और सुगंधित होती है । सुगंधि लेप में श्वेत चन्दन तथा कपूर कचरी के साथ इसका उपयोग बवई प्रान्त में लोग करते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसके कुछ बीजों में भी पद्मकाष्ठ में पाया जाने वाला हाइड्रोसायेनिक् एसिड (Hydrocyanic acid) नामक तीव्र विष रहने के कारण इसका उपयोग सावधानी के साथ करना चाहिये । इसके अतिरिक्त इसमें काउमॅरिन् (Coumarin), सॅलीसिलिक् एसिड (Salicylic acid) एवं ॲमिग्डॅलिन् (Amygdalin) ये पदार्थ पाये जाते हैं ।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त पौष्टिक, वेदनाहर, दीपन एव मूत्रल है । इसका उपयोग पीडायुक्त कुपचन, आमाशय के क्षत तथा आमाशय के अर्बुद में करते हैं ।

मात्रा—२-५ रत्ती ।

प्रियंगु ३

हि०-प्रियगु । **कं०**-तेतिलकामि । **लै०**-*Aglaia roxburghiana* (ॲग्लेइआ राक्सवर्घियाना) । N. O. Meliaceae (मेलियासिइ) ।

यह पश्चिमी प्रायद्वीप में कोंकण और मिदनापूर से दक्षिण की ओर सिलोन तक ६००० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है ।

इसका साधारण **वृक्ष** होता है । **छाल** किंचित् खाकी रग की और चिकनी होती है । लकडी मजबूत तथा चमकीले लाल रगकी होती है । **पत्ते**-पक्षवत् पत्ते ३-१० इञ्च लम्बे और उनके पत्रक संख्या में ५, १½ से ५½ इञ्च लम्बे, पतले अण्डाकार या अण्डाकार-प्रासवत् और चिकने होते है। **पुष्प**-व्यास में १ इञ्च से कम, पिताभ और पत्ती के बराबर लम्बी मजरियों में होते हैं जो पत्र कोण के ऊपर निकलती हैं । **फल**-कुछ-कुछ गोल, निम्बफल सदृश, ½-¾ इञ्च व्यास के, रोमश तथा हरिण के रंग के रहते हैं जो सूखने पर भूरे रग के सिकुडन दार तथा आकार में छोटे हो जाते हैं । इसमें १ या २ बीज रहते हैं जो चिपटे करीब ½ इञ्च लम्बे (ताजी अवस्था में) तथा एक तरफ से उन्नतोदर रहते हैं । बीज का स्वाद खट्टा तथा कसैला रहता है तथा ताजी अवस्था में इसमें सुगन्ध रहती है जो सूखने पर नहीं रहती ।

इसके फलों का उपयोग बहुत दिनों से प्रियगु के नाम से किया जा रहा है । हो सकता है कि भावप्रकाशकारने प्रियगु का जो फल लिखा है वह यही हो ।

गुण और प्रयोग—यह शीतल एव ग्राही होता है । इसका उपयोग ज्वर, पित्त तथा शोथयुक्त रोगों में किया जाता है । **मात्रा**—१-३ माशा ।

अथ रेणुका । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

रेणुकाराजपुत्री च नन्दिनी कपिला द्विजा । भस्मगन्धा पाण्डुपुत्री स्मृता कौन्ती हरेणुका ॥१०५॥
रेणुका कटुका पाके तिक्ताऽनुष्णा कटुर्लघुः । पित्तला दीपनी मेध्या पाचनी गर्भपातिनी ।
बलासवातकृच्चैन[1] तृट्कण्डूविषदाहनुत् ॥ १०६ ॥

रेणुका के नाम तथा गुण—रेणुका, राजपुत्री, नन्दिनी, कपिला, द्विजा, भस्मगन्धा, पाण्डुपुत्री, कौन्ती तथा हरेणुका ये सब पर्यायवाची शब्द रेणुका के है । **रेणुका**-पाक में कटुरसयुक्त, किंचित् उष्णवीर्य, तिक्त तथा कटुरस युक्त और लघु होती है एवम् यह पित्तजनक, अग्निदीपक, मेधाके लिये हितकर, पाचक, गर्भ गिराने वाली, कफ तथा वातकारक होती है । यह तृषा, खुजली, विष और दाह को दूर करती है ॥ १०५-१०६ ॥

---

१. बलासवातवैक्लव्य इति पाठा० ।
तृष्णादाहविषक्लैब्यकफवातविनाशिनी ॥ (नि. र.)

४२ रेणुका

रेणुका एक सदिग्ध औषध है। रेणुक बीज नाम से ईरान में होने वाली निर्गुण्डी की जाति के वृक्ष के फल बिकते हैं। लेकिन सम्भवतः ये फल शास्त्रीय रेणुका नहीं हैं। शास्त्रीय रेणुका शायद पिप्पलीवर्ग की पाइपर ऑरेण्टिएकम् (Piper aurantiacum) के फल है। कुछ लोग निर्गुण्डी के बीज को ही रेणुका कहते हैं जो उसके प्रतिनिधि हो सकते हैं।

चरक में शिरोविरेचन एवं वमनोपग गणों में रेणुक बीज का पाठ है। ग्रहणी के मध्वरिष्ट में एव व्रणपीडन रूप में रेणुका का उल्लेख है। चरक, सुश्रुत तथा रा. नि. इसको गर्भपातक नहीं मानते। सुश्रुत में हरेणुका का उल्लेख एलादिगण, पिप्पल्यादिगण में तथा रेणुका का उल्लेख कटुवर्ग में एव भगंदर, नाडी, उपदंश व्रण तथा विप में इसका प्रयोग किया गया है।

यहाँ पर वर्णन ईरान से आने वाले निर्गुण्डी की जाति के वृक्ष के फलों का किया गया है।

हि०—रेणुका, रेणुक, सभालू का बीज। **गु०**—हरेणु। **म०**—रेणुक बीज। **इरा०**—पजनगुश्त। **अ०**—अथलक्। **ले०**—*Vitex agnus castus* (विटेक्स् एग्नस् कास्टस्)। N. O. Verbenaceae (वर्विनॅसिइ)।

यह ईरान में होता है। देहरादून के 'वैज्ञानिक बाग' में यह लगाया हुआ है।

इसका क्षुप या वृक्ष होता है जिसकी शाखाए चौपहल होती हैं। **पत्ते**—लम्बे पत्रनाल से युक्त, करतलाकार सयुक्त, पत्रक पाच कभी-कभी सात भी, भालाकार और लम्बे नोक वाले होते हैं। **फल**—साधारण मटर के बराबर, अण्डाकृति तथा धूसर वर्ण के होते हैं। वाह्य दल एव वृन्त इसमें लगा रहता है। ये फल बहुत कडे रहते हैं तथा काटने पर इसके अन्दर ४ खण्ड दिखलाई देते हैं जिनमें एक-एक छोटा चिपटा बीज रहता है। भारतीय निर्गुण्डी के फल से ये फल करीव आधे छोटे होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें कास्टाइन (Castine) नामक एक कडुवा पदार्थ, उडनशील दाहजनक पदार्थ, अम्लद्रव्य एव तैल, ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—ईरानी रेणुक बीज स्तम्भन, शोथघ्न, आनुलोमिक, मूत्रजनन एव उत्तेजक हैं। प्लीहावृद्धि तथा यकृत रोग के कारण उत्पन्न जलोदर में इसको देते हैं। हिचकी में छोटी पीपल के साथ इसको खिलाते हैं।

मात्रा—४ र०-१ मा०।

अथ ग्रन्थिपर्णम् (गठिवन)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

ग्रन्थिपर्णं ग्रन्थिकञ्च काकपुच्छञ्च गुच्छकम्। नीलपुष्पं सुगन्धञ्च कथितं तैलपर्णकम् ॥१०७॥
ग्रन्थिपर्णं तिक्ततीक्ष्णं कटूष्णं दीपनं लघु। कफवातविषश्वासकण्डूदौर्गन्ध्यनाशनम् ॥ १०८॥

गठिवन के नाम तथा गुण—ग्रन्थिपर्ण, ग्रन्थिक, काकपुच्छ, गुच्छक, नीलपुष्प, सुगन्ध और तैलपर्णक ये सब संस्कृत नाम गठिवन के हैं। **गठिवन**—तिक्त तथा कटुरस युक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, अग्निदीपक तथा लघु होता है। यह कफ, वात, विष, श्वास, खुजली और दुर्गन्ध इन सबों को दूर करनेवाला होता है॥ १०७-१०८॥

४३ गठिवन

गठिवन का स्वरूप भी सदिग्ध ही है। आगे स्थौणेयक तथा चोरक नामक दो ग्रन्थिपर्ण के भेद दिये हुवे हैं वे भी सदिग्ध ही हैं। कुछ विद्वान् इन तीनों नामों को एक दूसरे का पर्याय मानते हैं। तालीसपत्र के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों में से एक द्रव्य का स्थानिक नाम थुनेर होने से कुछ विद्वान् उसे ही स्थौणेयक मानते हैं। इस तरह यदि ग्रन्थिपर्ण एव चोरक को थुनेर सजातीय माना जाय तो ये सब द्रव्य तालीसपत्र (थुनेर) के वर्ग के हो जाते हैं।

श्री शालिग्राम जी ने इसे आसाम की ओर बहुत उत्पन्न होने वाली तृण जाति की गाठदार सुगन्धित वनस्पति माना है जिसमें पत्ते अगुली के समान लम्बे-लम्बे और फूल नीले गुच्छों में आते हैं। कुछ लोग वनतुलसी को गठिवन मानते हैं।

श्री डॉ. वा. ग. देसाई ने **ग्रन्थितृण** नाम से एक वनस्पति का वर्णन किया है। उसके गुण शास्त्रीय ग्रन्थिपर्ण से मिलते नहीं फिर भी सादृश्य होने से उसका संक्षेप में यहाँ वर्णन किया जाता है।

सं०-ग्रन्थितृण। **हिं०**-केस्री, मचोटी। **पं०**-मचूटि, केसु। **काश्मी०**-द्रोव। **सिं०**-एंद्राणी। **इरा०**-हझार, वंदुक। **अं०**-Knot-grass (नॉट्-ग्रास्)। **लै०**-*Polygonum aviculare* (पोलिगोनम् एविक्युलेरी)। N. O. Polygonaceae (पोलिगोनेसिइ)।

यह उत्तरी भारतवर्ष में होता है। इसका छोटा सा क्षुप होता है। **जड़**-लम्बी, कुछ काष्ठमय एवं चिमडी होती है तथा उससे अनेक उपमूल निकले रहते हैं। **शाखाएं**-बहुत सी, जमीन पर फैली हुई एवं गोल होती हैं। इसकी टहनियों की ग्रथियाँ बहुत गांठदार होती हैं तथा वहीं से पत्र निकलते हैं। **पत्र**-एकान्तर, शल्याकृति, अखण्ड, धूसर रंग के एवं १ इञ्च से छोटे होते हैं। **पुष्प**-अनेक रंग के होते हैं। **बीज**-त्रिकोणयुक्त, चमकीले एवं काले होते हैं। सिन्ध में बीजों को **बीजवंद** कहते हैं। बला के बीजों को भी अनेक स्थानों में बीजवंद कहा जाता है। चिकित्सा में इसके मूल, पञ्चाग एवं बीजों का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें पोलिगोनिक् अम्ल तथा सुगन्धित तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी **जड़** रक्तसंग्राहक, मूत्रजनन, अश्मरीघ्न, आनुलोमिक, ज्वरघ्न एवं कफघ्न है। **बीज** स्रंसन मूत्रजनन एवं वामक होते हैं।

(१) अश्मरी या मूत्रकृच्छ्र में इसके पचाग के क्वाथ या मूल रस का प्रयोग अधिक मात्रा में करने से बहुत लाभ होता है।
(२) जीर्ण अतिसार में मूल रस या पञ्चाग रस देते है।
(३) विषमज्वर में मूल रस का उपयोग करते हैं।
(४) फुफ्फुस विकारों में विशेष कर श्वसनिका शोथ एवं कुकास में पञ्चाग क्वाथ पिलाते हैं।
(५) सूखी हुई जड को पीसकर लगाने से वेदना कम होती है। विसर्प, वस्तिपीडा एवं आंव की पीडा में पत्तों का लेप किया जाता है।

अथ स्थौणेयकम्।

(ग्रन्थिपर्णस्यैव भेदः, ईषत्सुगन्धं 'थुनेर' इति लोके प्रसिद्धम्)

तस्य नामानि गुणाँश्चाह

स्थौणेयकं बर्हिबर्हं शुकबर्हञ्च कुक्कुरम्। शीर्णरोमशुकञ्चापि शुकपुष्पं शुकच्छदम् ॥१०९॥
स्थौणेयकं कटु स्वादु तिक्तं स्निग्धं त्रिदोषनुत् ॥ ११० ॥
मेधाशुक्रकरं रुच्यं रक्षोघ्नं ज्वरजन्तुजित्। हन्ति कुष्ठास्रतृड्दाहदौर्गन्ध्यतिलकालकान् ॥१११॥

'गठिवन' के ही भेद में थोड़ी सुगन्ध से युक्त जो 'थुनेर' नाम से लोक में प्रसिद्ध औषध है, उसके नाम तथा गुण—स्थौणेयक, बर्हिबर्ह, शुकबर्ह, कुक्कुर, शीर्णरोम, शुक, शुकपुष्प और शुकच्छद ये सब संस्कृत नाम 'थुनेर' के हैं। **थुनेर**—कटु, तिक्तरस युक्त, स्वादिष्ट, स्निग्ध, तीन दोषों को दूर करने वाला, मेधा तथा शुक्र को बढ़ाने वाला, रुचिकारक, रक्षोग्रहनाशक एवं ज्वर, कृमि, कुष्ठ, रक्तविकार, तृषा, दाह, दुर्गन्ध और तिलकालक नामक रोग इन सबों को दूर करने वाला होता है ॥ १०९-१११ ॥

४४ थुनेर

स्थौणेयक भी एक संदिग्ध औषध है। इसे ग्रन्थिपर्ण का भेद माना गया है लेकिन जब ग्रन्थिपर्ण ही संदिग्ध है तब इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है। तालीसपत्र नाम से लिये जाने वाले द्रव्यों में से एक का स्थानिक नाम थुनेर है। इसलिये कुछ लोग इस थुनेर को स्थौणेयक मानते हैं। थुनेर का वर्णन तालीसपत्र के साथ किया गया है। चरक में स्थौणेयक का उपयोग अगुर्वादि तैल में (चि. अ. ३), मृतसञ्जीवन अगद में (चि. अ. २३), बलातैल में (चि. अ. २८) एवं मदनफल उत्कारिकामोदक योग में (क. अ. १) किया गया है। सुश्रुत में एलादिगण (सू. अ. ३८) में इसका पाठ है।

कुछ लोगों ने ले०—*Clerodendron infortunatum*, N. O. Verbenaceae (क्लिरोडेन्ड्रोन् इन्फोर्च्युनेटम् , छर्विनेसिइ), हि०-भाट, सं०-कारी, भाण्डीर को स्थौणेयक लिखा है। इसके १२ फीट तक ऊँचे क्षुप प्रायः सभी स्थानों में पाये जाते हैं। प्रत्येक भाग कटु और दुर्गन्ध-युक्त होता है। **पत्र**-विपरीत, ४-९ इञ्च लम्बे, ३-६ इञ्च चौटे, लट्वाकार, लम्बे नोक एवं लम्बे पत्रनाल से युक्त होते हैं। वाह्यपुट स्थायी, वर्धनशील और लाल होता है। आभ्यन्तर पुट रक्ताभ श्वेत होता है। इसके पत्र एवं मूल का उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—भांट तिक्त पौष्टिक, उत्तम आनुलोमिक, पित्तसारक, कृमिघ्न एवं ज्वरघ्न है। तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वर में यह लाभदायक है। बच्चों को इसके पत्र का चूर्ण २-५ रत्ती मधु एवं सुगन्ध द्रव्यों के साथ दिया जाता है। केंचुवे में इसके पत्र-रस को पिलाते हैं तथा वस्ति भी देते हैं। उदरशूल एव अतिसार में इसकी जट को मट्ठे में पीस कर देते हैं। त्वचा के रोगों (खुजली) में इसका वाह्याभ्यन्तर प्रयोग करते हैं।

अथ ग्रन्थिपर्णस्यैव भेदः। 'भटेउर' इति नेपालदेशे भवति। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

निशाचरो धनहरः कितवो गणहासकः। चोरकः शङ्कितश्चण्डो दुष्पत्रः क्षेमको रिपुः।
चोरको[1] मधुरस्तिक्तः कटुः पाके कटुर्लघुः॥ ११२॥
तीक्ष्णो हृद्यो हिमो हन्ति कुष्ठकण्डूकफानिलान्। रक्षोऽश्रीस्वेदमेदोऽस्रज्वरगन्धविषव्रणान्॥

'गठिवन' का ही भेद 'भटेउर' है जो कि नेपाल देश में उत्पन्न होता है, उसके नाम तथा गुण—निशाचर, धनहर, कितव, गणहासक, चोरक, शङ्कित, चण्ड, दुष्पत्र, क्षेमक और रिपु ये सब सस्कृत नामक 'भटेउर' के है। **भटेउर**-मधुर, तिक्त तथा कटुरसयुक्त, पाक में कटु, लघु, तीक्ष्ण, हृदय के लिये हितकर और शीतवीर्य है। यह—कुष्ठ, खुजली, कफ, वात, रक्षोग्रह, अलक्ष्मी, पसीना, मेदरोग, रक्तविकार, ज्वर, दुर्गन्ध, विष और व्रण इन सबों को दूर करता है॥११०-११३॥

४५ भटेउर (चोरक)

चोरक यह भी सन्दिग्ध है। इसे ग्रन्थिपर्ण का भेद माना गया है। कुछ लोगों ने स्थौणेयक एव चोरक को एक ही वनस्पति माना है। चरक में 'सज्ञास्थापन दशेमानि' में इसका उल्लेख है। धूपन द्रव्यों के साथ इसका उल्लेख है और उन्मादोक्त महापैशाचिक घृत में इसका प्रयोग किया गया है। अपस्मार, हिक्का, श्वास एव पीनस नासारोग आदि में भी चोरक का उल्लेख है। कुछ लोग पान की जड का व्यवहार 'चोरक' नाम से करते हैं।

पजाब की तरफ **चोरा** नाम से एक द्रव्य मिलता है। इसका लेटिन नाम *Angelica glauca* N. O. Umbelliferae (ॲन्जेलिका ग्लॉका, अम्बेलिफेरी) दिया हुआ है।

यह पश्चिम हिमालय में काश्मीर से लेकर सिमला तक ८०००-१०००० की ऊँचाई पर पाया जाता है।

इसका **क्षुप** ४-५ फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**-चिकना, स्वावलम्बी, पोला तथा महीन प्रसीताओं से युक्त रहता है। **पत्ते**-प्रायः वडे, १-३ पक्षवत् होते हैं। **पत्रक**-सख्या में ३, अण्डाकार या भालाकार, अनियमित एव तीक्ष्ण दातों से युक्त, ऊपरी पृष्ठ गहरे हरे रग का एव अधोपृष्ठ क्षोदलिप्त रहता है। **पुष्प**-बहुत सफेद या नीलारुण रग के तथा सवृन्तमूर्धज पुष्पव्यूहों में आते हैं। **फल**-चिकने, चिपटे आयताकार, १३ मि. मि. लम्बे एव ६ मि. मि. चौडे होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह हृद्य एव उत्तेजक है और आध्मान एवं कुपचन में भी उपयोगी हैं।

अथ तालीसपत्रम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

तालीसमुक्तं पत्राढ्यं धात्रीपत्रञ्च तत्स्मृतम्॥ ११४॥

---

१. रोचको इति पाठा०।

तालीसं लघु तीक्ष्णोष्णं श्वासकासकफानिलान्। निहन्त्यरुचिगुल्मामवह्निमांद्यक्षयामयान्॥

'तालीसपत्र के नाम तथा गुण—तालीस, पत्राढ्य और धात्रीपत्र ये संस्कृत नाम 'तालीसपत्र' के हैं। **तालीसपत्र-**लघु, तीक्ष्ण और उष्णवीर्य होता है एवं यह-श्वास, खांसी, कफ, वात, अरुचि, गुल्म, आम, अग्नि की मन्दता और क्षयरोग इन सबों को दूर करता है॥ ११४-११५॥

४६ तालीस पत्र

तालीसपत्र—यह नाम विभिन्न वर्गों के वृक्षों के पत्तों को भिन्न स्थानों में दिया हुआ दिखलाई देता है। पहले लोग प्राचीनामलक-फ्लेकुर्टिआ कॅटाफ्रेक्टा (Flacourtia cataphracta) के पत्तों को तालीसपत्र कहा करते थे। दक्षिण में कहीं-कही तमालपत्र-सिनॅमोमम् तमाल (Cinnamomum tamal) के पत्तों को तालीसपत्र कहा जाता है। उत्तर प्रदेश, राजपूताना, महाराष्ट्र एवं गुजरात आदि के वैद्य टॅक्सस् बॅकेटा (Taxus baccata) के पत्तों का व्यवहार तालीस पत्र के नाम से करते हैं। इसे कुछ लोग स्थौणेयक भी मानते हैं। बंगाल के वैद्य एबिस् वेबिआना (Abies webbiana) के पत्तों का व्यवहार तालीसपत्र के रूप में करते हैं। नेपाल एवं पञ्जाब के कुछ वैद्य तालीसफर-रोडोडेन्ड्रोन एन्थोपोगोन (Rhododendron anthopogon) के पत्तों का व्यवहार करते हैं जिसकी २, ३ अन्य उपजातियाँ भी होती हैं। प्राचीनामलक का वर्णन आगे फलवर्ग में आया है तथा तमाल पत्र का वर्णन पहले (पृष्ठ १९०) किया जा चुका है। यहा पर बाकी तीनों का अलग अलग वर्णन किया गया है।

चरक में दशेमानि में इसका उल्लेख नही है। सुश्रुत में शिरोविरेचकगण में इसका पाठ है। तालीसपत्र के शास्त्रीय गुण इस प्रकार दिये हुए हैं—यह तिक्त, कटु, मधुर, उष्ण, लघु, तीक्ष्ण, शिरोविरेचन तथा कफ, वात, कास, श्वास, क्षय, वमन, अरुचि, गुल्म, आम, अग्निमांद्य और कृमि का नाश करने वाला है।

तालीसपत्र १

हि०-तालीसपत्र, थूनो, बिर्मी। **गढ़०-**थुनेर। **काश्मी०-**पोस्तिल। **बंब०-**तालीसपत्र, बर्मि। **बं०-**बिर्मी। **नेपा०-**तेहीरे। **खासि०-**दिगंरुह्रेर्। **अ०-**जर्नव। **अं०-**Himalayan Yew (हिमालयन् यू)। **ले०-***Taxus baccata* (टॅक्सस् बॅकेटा)। N. O. Coniferae (कोनिफेरी)।

हिमालय के काश्मीर, पूर्वी पञ्जाब का पहाड़ी प्रदेश, गढवाल, अफगानिस्तान तथा अपर वर्मा आदि स्थानों में ६-१० हजार फीट की ऊँचाई पर इसके मध्यम ऊँचाई के सदाहरित वृक्ष पाये जाते हैं। कहीं कहीं १०० फीट तक ऊँचे झोपड़ाकृतिक वृक्ष होते हैं।

इसका **स्तंभ** छोटा किन्तु उसकी गोलाई १०, १२ फीट होती है। **छाल-**पतली, किंचित् लालीयुक्त खाकी रंग की होती है। **लकड़ी-**दृढ, बाहरी भाग सफेद तथा अदर का भाग रक्ताभ श्वेत होता है। **पत्ते-**दो कतारों में निकले रहते हैं-। ये १-१॥ इंच लंबे, दशमाश इञ्च चौडे, रेखाकार, कडे, चिपटे, नोकीले, ऊपरी पृष्ठ पर गहरे हरे रंग के और अधःपृष्ठ पर हलके पीले या सुरचई रंग के होते हैं। शिरा एक और पत्रनाल छोटा होता है। पत्तियों से विशेषत. सूखने पर एक प्रकार की गध आती है। लालकोष में घिरा हुआ हरिताभ **बीज** होता है जो शीर्ष पर खुला रहता है। पहाडी लोग इसकी छाल से एक प्रकार का चाय सदृश पानक बनाकर पीते हैं और इसके फलों को खाते हैं।

यद्यपि युक्तप्रान्त, राजपूताना, महाराष्ट्र एव गुजरात आदि के वैद्य तालीसपत्र के स्थान पर इसका प्रयोग करते हैं तथापि थुनेर नाम से इसके **स्थौणेयक** होने की अधिक सभावना है। बिर्मि नाम से उत्तरी भारत में आर्तव प्रवर्तक एव शामक औषध के रूप में तथा अपस्मार, अपतंत्रक तथा नाडीदौर्बल्य आदि में इसके पत्तों का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीज तथा पत्र में एक विषैला द्रव्य है जो बीज के ऊपर के लालकोष में नहीं होता। इसमें टॅक्सीन (Taxine) नामक एक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—तालीसपत्र [illegible], [illegible], [illegible], वातानुलोमक, कफनिःसारक एवं बल्य है। इसकी क्रिया कर डिजिटेलिस् के समान होती है। [illegible] मात्रा में प्रयोग करने पर नाड़ी एवं श्वास की गति मन्द होती है। [illegible] मात्रा में [illegible] है तथा हृत्स्पन्द होता है। इससे गर्भाशय का संकोच होता है। गर्भपात कराने के लिये प्रयुक्त करने पर गर्भपात नहीं होता लेकिन मृत्यु हो सकती है। बड़ी मात्रा से विषैला परिणाम होने से ज्वर, वमन, आक्षेप, नशा, आँखों की पुतलियों का विस्तार, मन्दश्वास एवं [illegible], [illegible] होकर मृत्यु होती है। विषैले परिणाम से आमाशय, आंत तथा वृक्कों में शोथ भी हो जाता है। डिजिटेलिस् के समान इसका संचायी प्रभाव नहीं होता।

अपस्मार आदि आक्षेप युक्त व्याधियों में इसका प्रयोग किया जाता है। शुष्क कास, श्वासनलिका के जीर्णशोथ एवं तमक श्वास आदि में देने से रोगी की [illegible] कम हो जाती है। प्रसूता को इसका फाँट दिया जाता है। वस्तिशोथ में भी इससे लाभ होता है।

मात्रा—१-२ र०।

तालीसपत्र २

हि०, बं०—तालीसपत्र। **गढ०**—चिलिराग। **काश्मी०**—राटर, बुदुल। **कनवार**—पुन। **नेपा०**—गोब्रिभ सुलह। **कुमा०**—राघ। **भूता०**—दुन्शिंग। **अं०**—Himalayan Silver Fer (हिमालयन् सिल्वर फर)। **ले०**—*Abies webbiana* (एबिस् वेबिआना)। **N. O. Coniferae** (कोनिफेरी)।

इसके ऊँचे सदाहरित वृक्ष हिमालय पर नेपाल के प्रदेश में १० से १३ हजार फीट की ऊँचाई पर पाये जाते हैं।

इसके **वृक्ष** १५० फीट तक ऊँचे एवं स्तम्भ की गोलाई ३० फीट तक होती है। **छाल**—धारी युक्त भूरे रंग की और खुरदरी होती है। नवीन शाखाएं प्रायः सूक्ष्म और भूरे रोमों से ढकी हुई रहती है। शाखाएँ प्रायः झुकी हुई रहती हैं। **पत्ते**—१-२ इञ्च लंबे, दशमांश इञ्च चौड़े, पतले, रेखाकार और काण्ड से पेचदार क्रम से निकले हुवे परन्तु देखने में केवल दो कतारों में निकले हुए से मालूम होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ चमकीला तथा गहरे हरे रंग का होता है और अधःपृष्ठ पर मध्यशिरा के दोनों ओर दो दो सफेद धुंधली रेखाएं होती हैं। पत्ते नताग्र होते हैं और अग्र पर प्रायः दो तीक्ष्ण और कठोर नोक निकले रहते हैं। **फल**—लंब गोल या आयताकार २-४ इञ्च का और पकने पर गहरे बैंगनी रंग का होता है। **बीज**—करीब इञ्च का षष्ठमांश लंबा होता है।

इस जाति में मोरिण्डा नामक ले० एबिस् पिण्ड्रो (Abies pindrow) वृक्ष भी होता है जो इससे बहुत मिलता जुलता है। इसमें नवीन शाखाएं रोमरहित और पत्तियां २-३ इञ्च लंबी, दो कतारों में निकली हुई और दो दिशाओं में फैली हुई रहती हैं। एबिस् वेबिआना में वे ऊपर की ओर हर दिशा में फैली हुई रहती हैं। इसके फल भी दूसरे की अपेक्षा छोटे और मोटे होते हैं। ये जौनसार में प्रायः १० हजार फीट के नीचे (देववन, मुडाली आदि में) पाये जाते हैं।

प्रायः पूर्वी भारत में एबिस् वेबिआना के ही पत्र तालीशपत्र के नाम से बेचे जाते हैं। बंगाल के वैद्य इसी का व्यवहार करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, पाचन, वातानुलोमक, कफनिःसारक, ग्राही एवं बल्य है।

इसका उपयोग जीर्ण श्वास, कास, राजयक्ष्मा, अग्निमांद्य, अरुचि एवं वस्तिविकार में किया जाता है।

(१) तालीसादि चूर्ण १०-२० र० की मात्रा में श्वास, कास, रक्तपित्त, अग्निमांद्य एवं अतिसार आदि में दिया जाता है। बच्चों के श्वसनी फुफ्फुस पाक में १½ र० चूर्ण तथा कस्तूरी वटी १ र० की ६ मात्रा बना कर हर ४ घण्टे पर देने से लाभ होता है।

(२) इसके पत्तों का स्वरस ५-१० बूँद जल या दुग्ध के साथ बच्चों के दंतोद्भेद के समय

होने वाले ज्वर एवं कफविकार आदि में दिया जाता है। बंगाल में प्रसूता को बल्य औषध की तरह इसे देते हैं।

(३) स्वरभंग, जीर्णश्वसनिका शोथ, राजयक्ष्मा तथा अन्य कफविकारों में इसके क्वाथ या फाट का उपयोग करते हैं।

(४) इसके पत्तों का चूर्ण मधु एवं वासा स्वरस के साथ कास, श्वास तथा रक्तष्ठीवन में दिया जाता है।

मात्रा—१-२ माशा।

तालीसपत्र ३

इसकी कई उपजातियाँ होती हैं जिनमें से २, ३ के पत्तों का प्रयोग तालीसपत्र के स्थान पर नेपाल तथा पंजाब के कुछ वैद्य करते हैं। इनका संक्षेप में वर्णन किया गया है।

(क) हि०—तालीसफर, तालीसपर। **काश्मी०**—तजक्तसुम। **झेलम**—निचनी, रतनकाट, नेरा। **पं०**—तालिस्नी। **ले०**—*Rhododendron anthopogon* (रोडोडेन्ड्रोन् एन्थोपोगोन्)। N. O. Ericaceae (एरिकेसिइ)।

यह हिमालय में १०-१४ हजार फीट की ऊँचाई पर काश्मीर से भूटान तक उत्पन्न होता है। इसके सदा हरित गंधयुक्त छोटे छोटे **क्षुप** १ से १॥ फीट ऊँचे होते हैं। शाखाओं पर वल्क पत्र और खुरदरापन होता है। **पत्ते**—सनाल, १-१॥ इञ्च लंबे, अडाकार या चौड़े आयताकार, ऊपरी पृष्ठ पर चमकदार और अधःपृष्ठ पर भूरे रोमावरण से युक्त होते है। शाखाओं के अन्त में फूलों का गुच्छा लगता है। **फूल**—किंचित् पीले आते हैं। **बीजकोष**—छोटे और **बीज**—अंडाकार होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके पत्तों का धूम्रपान लाभदायक माना जाता है। **पत्ते**—उत्तेजक तथा सुगंधित होते हैं। इसके चूर्ण के नस्य से छींके आती हैं। ऐसी धारणा है कि हिमालय के पूर्वीभाग में अधिक ऊँचाई पर चढते समय शिरःशूल तथा हृल्लास उत्पन्न करने वाली वनस्पतियों में से एक यह हो।

मात्रा—२-८ रत्ती।

(ख) गढ़वाल—सिमरिस। **ने०, हि०**—चेरैलु। **काश्मी०**—गग्गर। **कुमाऊं**—चिमुल। **ले०**—*Rhododendron campanulatum* (रोडोडेन्ड्रोन् कम्पॅनुलॅटम्)।

यह भी हिमालय में काश्मीर से भूटान तक पाया जाता है। इसका **क्षुप**—कुछ बडा; **पत्ते**—३-५ इंच लंबे, अण्डाकार, आयताकार तथा दोनों सिरों पर गोल होते हैं। नीचे के पृष्ठ पर दालचीनी रंग के सघन रोमों से शिराएँ ढकी रहती हैं।

गुण और प्रयोग—इसके पत्ते बकरियों के लिये विषैले समझे जाते हैं। अर्धावभेदक तथा प्रतिश्याय में तम्बाकू के साथ इसके पत्तों का नस्य के रूप में प्रयोग किया जाता है। जीर्ण आमवात, फिरंग तथा गृध्रसी में इसके पत्तों का आभ्यन्तरिक उपयोग किया जाता है। नेपाल में इसके पञ्चांग का प्रयोग जीर्ण ज्वर तथा राजयक्ष्मा में किया जाता है।

मात्रा—२-८ र०।

(ग) गढवाल—सिमरिस। **भोटिया**—त्सलसुमा। **यू०, हि०**—तालीसफर। **ले०**—*Rhododendron lepidotum* (रोडोडेण्ड्रोन् लेपिडोटम्)।

यह भी हिमालय में काश्मीर से भूटान तक पाया जाता है।

इसका **क्षुप** छोटा तथा गन्धयुक्त होता है। **पत्ते**—$\frac{3}{4}$ इञ्च से १ इञ्च लम्बे, प्रायः विनाल, ऊपर से लट्वाकार और कुण्ठिताग्र या भालाकार और कुछ नोकीले और अधःपृष्ठ श्वेत या भुरचई रंग के रोमावरण से ढका हुआ रहता है। **फूल**—लाल, बैंगनी या पीले, ३-४ के गुच्छों में या अकेले रहते हैं। बीजकोष छोटे, ५ दलवाले होते हैं तथा बीज छोटे-छोटे अण्डाकार होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके गुण **(क)** के समान ही हैं।

अथ कङ्कोलं सुगन्धिद्रव्यम् 'सीतलचीनी' इति लोके।
तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कङ्कोलं[1] कोलकं प्रोक्तं तथा कोपफलं स्मृतम्।
कङ्कोलं लघु तीक्ष्णोष्णं तिक्तं हृद्यं रुचिप्रदम्। आस्यदौर्गन्ध्यहृद्रोगकफवातामयान्ध्यहृत्॥

'कङ्कोल नामक' सुगन्ध द्रव्य जो कि शीतल चीनी नाम से प्रसिद्ध है उसके नाम तथा गुण—कङ्कोल, कोलक और कोपफल ये सब संस्कृत नाम 'शीतलचीनी' के हैं। शीतलचीनी—लघु, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, तिक्त रस युक्त, हृदय को हितकर तथा रुचिकारक होती है। यह मुख की दुर्गन्धता, हृद्रोग, कफ तथा वात रोग और आन्ध्य (आँखों से न दीखना) इन सबों को दूर करती है॥ ११६॥

४७ शीतलचीनी

हि०-शीतलचीनी, कवावचीनी, कङ्कोल, शीतलमिर्च। बं०-कवावचिनि, सुगन्धमरिच। म०-कङ्कोल, कापूरचीनी। गु०-चणकबाव। क०-गन्धमेणसु। ते०-चलवमिरियालु। ता०-वालिमलगु। फा०-कवावह, कवावचीनी। अ०-हब्बुल् उरूस, कबाबेसीनी। अं०-Cubebs (क्यूबेब्स), Tailed Pepper (टेल्ड पेप्पर)। ले०-*Piper cubeba* (पाइपर क्यूबेबा)। N. O. Piperaceae (पाइपरेसिइ)।

शीतलचीनी—यह एक लता जाति की वनस्पति का पूर्ण रूप से विकसित किन्तु अपक्व अवस्था में सुखाया हुआ फल है, जो काली मरिच के समान होता है। यह जावा, सुमात्रा तथा बोर्निओ में होती है। लङ्का में इसकी खेती की जाती है। भारतवर्ष में विशेष कर मैसूर में इसकी कुछ उपज की जाती है।

इसकी आरोही बहुवर्षायु लता होती है। कांड-चिकना, लचीला एवं जोडदार होता है। पत्ते-अखंड, सवृन्त, आयताकार या लट्वाकार-आयताकार, नोकीले, गोल या हृद्वत् पर्णतलवाले, चर्मवत् तथा चिकने होते हैं। शिराएं बहुत होती हैं। पुष्प-अद्विलिंगी तथा अवृन्त-काण्टज पुष्पव्यूहों में आते हैं। फल-गोल, अष्ठिफल होते हैं जिनमें आधार की तरफ डंठल लगा रहता है। हरी अवस्था में ही इन्हें तोडकर धूप में सुखा लिया जाता है।

यह अपक्व फल काली मिर्च के समान, गोल, झुर्रीदार गहरे भूरे रंग के एवं करीब ४ मि० मि० व्यास के सूखे हुवे होते हैं। इसके शिखर पर त्रिकोणयुक्त कुक्षि लगी रहती है तथा आधार पर ४ मि० मि० लंबा डंठल रहता है। इसके अन्दर १ बीज रहता है। इसको चबाने से मनोरम तीक्ष्ण मसालेदार विशिष्ट गन्ध आती है, स्वाद कडुवा, चरपरा तथा जीभ ठंडी मालूम पडती है। औषध में इन्हीं फलों का व्यवहार किया जाता है। कुछ लोग इसके दो भेद मानते हैं। छोटे तथा पतले छिलके वाले फलों को शीतलचीनी एवं बडे तथा मोटे छिलके वाले फलों को कवावचीनी कहा जाता है। वास्तव में एक ही लता के यह फल होते हैं। प्राचीन काल से मुखशुद्धि के लिये पान के साथ या स्वतन्त्र रूप में तथा मसालों में इसका प्रयोग किया जाता रहा है।

रासायनिक संगठन—कवावचीनी में उडनशील तैल ५-२०%, क्यूबेबिन् (Cubebin, $C_{20}H_{20}O_6$), राल, तैल, स्टार्च, गोंद, क्यूबेबिक् एसिड (Cubebic acid) करीब ०.९६% तथा कॅल्शियम ऑक्झॅलेट, फॉस्फेट एवं मॅलेट तथा मॅग्नेशियम् मॅलेट ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसमें के प्रधान गुणकारी तत्व उडनशील तैल एवं क्यूबेबिक् एसिड हैं। पुराने कवावचीनी द्वारा निकाले तैल में गंधहीन एवं पारदर्शक एक प्रकार का कर्पूर (Camphor of cubeb, $C_{15}H_{26}O$) पाया जाता है।

इसमें का उडनशील तैल स्वच्छ, हलके पीताभ या नीलाभ हरित रंग का, विशिष्ट गंधयुक्त एवं उष्ण कर्पूरवत् स्वादवाला होता है। इस तैल में प्रधान रूप में टर्पेन्स् (Terpenes) एवं सेस्किटर्पेन्स् (Sesquiterpenes) पाये जाते हैं। भारतीय कवावचीनी में भी उपयुक्त तैल से मिलता

---

१ कक्कोल इति पाठा०।

जुलता उड़नशील तैल पाया जाता है। तैल को शीत तथा प्रकाशहीन स्थान में बन्द बोतलों में रखना चाहिये।

परीक्षा—किसी श्वेत पात्र में कबाबचीनी का चूर्ण रखकर उस पर १ बूंद गंधक का तेजाब रखकर ऊपर से देखने से नीलारुण (Purple) रंग दिखलाई देता है। अच्छी कबाबचीनी में सिकुड़े हुये अविकसित फल १०% से अधिक, काड ५% से अधिक, इनको छोड़कर अन्य पदार्थ २% से अधिक, राख ८% से अधिक एवं अम्ल में न घुलने वाली राख २% से अधिक न होनी चाहिये।

गुण और प्रयोग—कबाबचीनी उष्ण, उत्तेजक, कफघ्न, वातघ्न, प्रतिदूषक (Antiseptic), मूत्रजनक, दीपन, पाचन, रुचिकर, वृष्य, तृष्णा शामक तथा मुख की दुर्गन्ध एवं जडतानाशक है। इसमें स्थानिक प्रक्षोभक गुणों के कारण यह श्लेष्मकला के लिये उत्तेजक है। प्रचूषण के पश्चात् इसके कार्यकारीसत्व का उत्सर्ग वृक्क एवं श्वसनसंस्थान द्वारा होता है। मूत्रजननेन्द्रिय संस्थान की श्लेष्मकला पर इसका स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। अधिक मात्रा में सेवन करने पर यह पाचनक्रिया विकृत कर देती है। त्वचा की उत्तेजना से कभी कभी खुजली भी उत्पन्न होती है।

(१) प्रतिदूषक एवं मूत्रल औषध की तरह इसे पुराने सोजाक में देते हैं। ३०–६० र० चूर्ण दुग्ध के साथ या २½ र० फिटकिरी के साथ दिन में ३ वार देते हैं। इससे वस्तिशोथ में भी लाभ होता है।

(२) श्वसन संस्थान के विकारों में प्रतिदूषक एवं उत्तेजक कफनिःसारक रूप में खदिरादि गुटिका जैसी चूसने की गोली बनाकर उसे चूसने को दिया जाता है। गले की शिथिलता तथा मुखपाक आदि में भी इससे लाभ होता है। गायक गला साफ करने के लिये इसको चूसते हैं। खांसी आदि में इसके चूर्ण को मधु के साथ चटाते हैं। इसका धूम्रपान श्वास में लाभदायक है।

(३) नाक के श्लेष्मा को कम करने के लिये इसके नस्य का उपयोग किया जाता है।

(४) इसके तैल को मूत्रजननेन्द्रिय संस्थान के रोग, वस्तिशोथ, सोजाक तथा सोजाक की पुरानी अवस्था में शर्करा के साथ या गोंद के साथ एमल्शन बनाकर या कॅपसूल में रख कर प्रयोग करते हैं। जीर्ण श्वसनिका शोथ में इसको उष्ण जल में डालकर उसकी वाष्प सूंघी जाती है।

मात्रा—चूर्ण १–४ माशा। तैल ५–२० बूंद।

अथ गन्धकोकिला गन्धमालती च। तयोर्गुणानाह

स्निग्धोष्णा कफहृत्तिक्ता सुगन्धा गन्धकोकिला। गन्धकोकिलया तुल्या विज्ञेया गन्धमालती ॥

'गन्धकोकिला' तथा 'गन्धमालती' के गुण—**गन्धकोकिला**-तिक्तरसयुक्त, स्निग्ध, सुगन्धयुक्त, उष्णवीर्य एवं कफनाशक होती है। 'गन्धकोकिला' के समान 'गन्धमालती' के भी गुण समझना चाहिये ॥ ११७ ॥

४८ गन्धकोकिला एवं गंधमालती

ये दोनों ही संदिग्ध गन्ध द्रव्य हैं। बजार में गंधकोलिका नाम से एक प्रकार के फल बिकते हैं जो देखने में हवुषा के समान किन्तु कुछ चिपटे होते हैं। गन्धमालती नाम से एक प्रकार की जड़ के छोटे छोटे टुकड़े मिलते हैं जो रेशेदार किंचित् बादामी रंग के होते हैं।

आगे पुष्पवर्ग में मालती (जाती, यमेली) एवं स्वर्णजाती का वर्णन आया है। मालती (रतेंट) नामक एक अन्य लता होती है जिसे कुछ लोगों ने गंधमालती लिखा है। इसकी एक अन्य उपजाति भी पाई जाती है। निघण्टुकारों ने जो जातीभेद लिखा है वह संभवतः यही रतेंड हो या यह यहा पर वर्णित गंधमालती हो। गंधमालती (रतेंड) का लैटिन नाम (Aganosma caryophyllata (ॲगॅनोस्मा कॅरियोफाइलॅटा) एवं इसी के भेद का A. calycina (ॲ० कॅलिसिना) है जिनका आगे वर्णन किया गया है।

अथ लामज्जकम् । (उशीरवत् पीतच्छवितृणविशेषः) । तस्य नामगुणानाह

लामज्जकं सुनालं स्यादमृणालं लवं[1] लघु । इष्टकापथकं सेव्यं नलदञ्चावदातकम् ॥ ११८ ॥
लामज्जकं हिमं तिक्तं लघु दोषत्रयास्रजित् । त्वगामयस्वेदकृच्छ्रदाहपित्तास्ररोगनुत् ॥ ११९ ॥

'लामज्जक' जो कि 'वीरण' घास की भांति पीत वर्ण का एक विशेष तृण होता है उस के नाम तथा गुण—लामज्जक, सुनाल, अमृणाल, लव, लघु, इष्टकापथक, सेव्य, नलद और अवदातक ये सब संस्कृत नाम 'लामज्जक' के हैं। लामज्जक-तिक्तरसयुक्त, शीतवीर्य और लघु होता है एवं यह त्रिदोष, रक्तविकार, चर्मरोग, पसीना, मूत्रकृच्छ्र, दाह और रक्तपित्त इन सबों को दूर करता है॥ ११८-११९ ॥

४६ लामज्जक

लामज्जक भी संदिग्ध द्रव्य है। भावप्रकाशकार इसे खस की तरह का पीतवर्ण का तृणविशेष मानते हैं। कुछ ग्रन्थकारों का कहना है कि जब तक इसका निर्णय नहीं हो जाता तब तक लामज्जक के स्थान पर खस का व्यवहार करना चाहिये। कुछ नवीन ग्रन्थकारों ने लामज्जक का लै० नाम Cymbopogon jwarankusa (साइम्बोपोगोन् ज्वरांकुश) लिखा है। श्रीयुत् यादव जी अपनी द्रव्यगुणविज्ञान पुस्तक में लिखते हैं कि यह (साइम्बो ज्वरांकुश) यूनानी औषध विक्रेताओं के यहा इजखिर नाम से बिकता है तथा इजखिर उष्णवीर्य द्रव्य होने से इसे लामज्जक नहीं मान सकते। वे इसे भूतृण मानते हैं।

बाजार में एक पीतवर्ण का खस मिलता है। हो सकता है कि उसका लैटिन नाम ज्ञात न हो या वह खस का ही भेद हो लेकिन लामज्जक के स्थानपर उसका प्रयोग किया जा सकता है। यहा निम्न वर्णन साइम्बोपोगोन् ज्वरांकुश का किया गया है।

हि०–लखवी, लामज्जक, करनकुश, घाटजारी। **मिर्जापुर**–इन्द्रवगई। **बं०**–काराकुस। **म०**–पिवलावाला। **पं०**–खूर, इभरकुश। **गु०**–पिलो वालो। **ते०**–ग्रासनगड्डि। **ता०**–कामाट्चिपिलु। **क०**–करिलावचा। **अ०**–इजखिर। **इरा०**–गुर्गियाह। **लै०**–*Andropogon jwarancusa* (एन्ड्रोपोगोन् ज्वरान्कुश), Cymbopogon jwarankusa (साइम्बोपोगोन् ज्वरान्कुश)। **N. O. Gramineae** (ग्रोमिनिइ)।

लामज्जक—यह सुगन्धित घास हिमालय के निचले भाग, उत्तरप्रदेश, पंजाब, सिन्ध और इरान में उत्पन्न होती है।

यह तृण जाति की वनौषधि ३-६ फुट ऊँची होती है। इसकी **डंडी**–मोटी, स्वावलम्बी, रोमश एवं कुछ लालिमा लिये होती है। **पत्ते**–चिपटे, चिकने, कडे, २ फीट तक लंबे और ऊपर की ओर क्रमशः कम चौडे होकर लंबे पतले नोकवाले होते हैं। पत्रकोश स्थाई, टेढे और उनके गुच्छों के बीच में डंडी निकली रहती है। पतली पतली डंडियों के अन्त में वास के फूल के समान सुगंधित, श्वेत तथा रोमश फूलों के धनहरे लगते हैं और वही बीजकोष हो जाते हैं। प्रायः वर्षा ऋतु में यह घास हरी भरी रहती है, वर्षा के अन्त में फूलती-फलती है और वसन्त ऋतु के प्रथम सूख कर नष्ट हो जाती है। सूखने पर यह घास सफेद हो जाती है। **जड़**–लम्बी, कोमल, स्वाद में कडवी, तीती एवं अत्यंत सुगंधित तथा पीले रङ्ग की होती है। इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें सुगंधित तैल बहुत होता है।

गुण और प्रयोग—इसके फूल रक्तस्तंभक हैं तथा जड एवं पत्ते वातानुलोमक, उत्तेजक, आर्तवजनन, मूत्रजनन, स्वेदजनक एवं अल्प मात्रा में कफघ्न हैं।

रक्तस्राव रोकने के लिये इसके फूलों को क्षत पर बाँधते हैं। इसके पंचांग को पीस कर शोथ पर लेप किया जाता है। ज्वर में पंचांग के क्वाथ से स्नान कराते हैं। द्राक्षासव में इसका पंचांग

[1] लयमिति पाठा०।

डाल कर गरम करके देने से पेशाव बहुत होता है। आमवात में विरेचन औषध के साथ इसे देते हैं। इसमें अल्प मात्रा में कफघ्न गुण होने के कारण कफ रोगों में दाह कम करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। गर्भाशय का थोडा सकोच करने के कारण इसको प्रसूति ज्वर में देते हैं। वातरक्त में इसका उपयोग किया जाता है। बच्चों के कुपचन के लिये भी यह उत्तम है।

मात्रा—¼-½ तो०।

अथैलवालुकम्। (कङ्कोलसदृशं कुष्ठगन्धि)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

एलवालुकमैलेयं सुगन्धि हरिवालुकम्। ऐलवालुकमेलालु कपित्थत्वच[1]मीरितम् ॥१२०॥
एलालु कटुकं पाके कषायं शीतलं लघु। हन्ति कण्डूव्रणच्छर्दितृट्कासारुचिहृद्रुजः ॥
बलासविषपित्तास्रकुष्ठमूत्रगदक्रिमीन् ॥ १२१ ॥

एलवालुक जो कि देखने में 'शीतलचीनी' की भाति तथा गंध में 'कूठ' के समान होती है, उसके नाम तथा गुण—एलवालुक, ऐलेय, सुगन्धि, हरिवालुक, ऐलवालुक, एलालु और कपित्थत्वग् ये सब सस्कृत नाम 'एलुआ' के हैं। **एलवालुक**-कषाय रस युक्त किन्तु पाक में कटुरसयुक्त, शीतवीर्य और लघु होती है। यह खुजली, व्रण, वमन, प्यास, खांसी, अरुचि, हृद्रोग, कफ, विष, रक्तपित्त, कुष्ठ, मूत्ररोग और कृमिरोग इन सबों को दूर करती है ॥ १२०-१२१ ॥

५० एलवालुक

एलवालुक सदिग्ध द्रव्य है। भावप्रकाशकार इसे 'ककोलसदृश कुष्ठगधि' मानते हैं। चरक में शुक्रशोधन और वेदनास्थापन दशेमानि में एव कषायस्कध में इसका उल्लेख है। आसवयोनि में इसकी छाल का उल्लेख है। अर्शोक्त अभयारिष्ट, उन्मादोक्त कल्याणकघृत तथा पाडु के बीजकारिष्ट में इसका पाठ है। सुश्रुत के लोध्रादिगण में इसका पाठ है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि एलवालुक, ॲलोज् (मुसब्बर) नही हो सकता जैसा कि कुछ लोग मानते हैं क्योंकि एलवालुक का पाठ त्वगासवयोनि में होने से यह कोई वृक्ष है ऐसा मालूम होता है। अधिकाश विद्वान् प्रुनस् सिरेसस् को एलवालुक मानते हैं क्योंकि इसका एक नाम आलुबालु होने से यह शायद एलवालुक का अपभ्रश हो। डा० देसाई गिसेकिआ फॉर्नेसिओइडिस् को एलवालुक मानते हैं। इन दोनों का सक्षेप में वर्णन किया जारहा है। कुछ लोगों ने मुकिआ स्काब्रेला (Mukia scabrella) को माना है जो दीपन, मृदुविरेचन एवं मूत्रजनन है तथा जिसके पत्तों का प्रयोग चक्कर में, बीजों का प्रयोग स्वेद लाने के लिये एव मूल का आध्मान में उपयोग किया जाता है।

एलवालुक १

हि०-आलूबालू। **पं०**-गिलास। **अं०**-Dwarf cherry (ड्वार्फ चेरी)। **ले०**-*Prunus cerasus* (प्रुनस् सिरेसस्)। N. O. Rosaceae (रोझेसिइ)।

इसके वृक्ष हिमालय के पर्वतों में लगाये हुए मिलते हैं।

इसके **पत्ते**-२-३ इञ्च लबे, १-१॥ इञ्च चौडे, लट्वाकार-अडाकार, अग्र यकायक नोकीला तथा किनारा दन्तुर (तीक्ष्णाग्रगोल दात) होना है। **फल**-गोल, चिकना, चमकीला और घेरे मे आधा इञ्च तक होता है। इसके **बीज** बाजार में विकते हैं जिनकी मज्जा का औषध में व्यवहार किया जाता हैं। इसका स्वाद कडुवा एव सुगन्धित रहता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उडनशील तैल एव पद्मकाष्ठ आदि में पाया जाने वाला हाइड्रोसायेनिक् एसिड (Hydrocyanic acid) नामक तीव्र विष रहता है।

गुण और प्रयोग—यह कडुवा पौष्टिक एवं वेदनास्थापक है। मज्जा तन्तु के रोगों में इसका व्यवहार किया जाता है। इसके अन्य गुण उपर्युक्त विष के समान हैं। इसकी छाल ग्राही एव ज्वरहर होती है।

मात्रा—२-५ र०।

---

१. कपित्थफल इति पाठा०।

निघण्टु के विवरण में आये हुए द्रव्यों की
अकाराद्यनुक्रमणिका





साङ्केतिक-विवरण



संकेताक्षर	पूरा नाम
अ०	अरबी
अं०	अंग्रेजी
अज०	अजमेर
अव०	अवध
आसा०	आसाम
उ०	उड़िया
उत्क०	उत्कल
क०	कर्णाटक
कच्छ०	कच्छ
कट०	कटक
कना०	कनाडा
काना०	कानावार
काश०	काश्मीर
कु०	कुमाऊं
कों०	कोंकण
कोल०	कोल
खा०	खानदेश
गढ़०	गढ़वाल
गारो०	गारो
गु०	गुजरात
गुर०	गुरडी
गोंड०	गोंड
गोंडा०	गोंडा
ची०	चीन
छो० ना०	छोटानागपुर
जौन०	जौनसर
ता०	तामिल
ति०	तिब्बत
तिर०	तिरहुत
तु०	तुर्किस्तान
ते०	तेलङ्ग
द०	दक्षिण
द्रा०	द्राविड़
देह०	देहरादून
ने०	नेपाल
नेवा०	नेवार
पं०	पंजाब
पंच०	पंचमहल
पट०	पटना
पला०	पलामू
पश्चि०	पश्चिमोत्तरप्रदेश
पहा०	पहाड़ी
पू०	पूना
पू० त०	पूर्वी तराई
पोर०	पोरबन्दर
फा०	फारसी
बं०	बंगाल
बर०	बरमी
ब्र०	ब्रह्मदेश
भील०	भीलवाड़ा
भो०	भोटिया
म०	मराठी
म० प्र०	मध्य प्रदेश
मल०	मलयालम
मला०	मलाया
मा०	मारवाड़ी
माल०	मालवा
मेर०	मेरवाड़ा
मेवा०	मेवाड़
मै०	मैसूर
उ० प्र०	उ० प्रदेश
यू०	यूनानी
राज०	राजपूताना
रावल०	रावलपिण्डी
लि०	लिपचा
ले० (लै०)	लेटिन
बिज०	बिजनौर
बिहा०	बिहार
शि०	शिमला
सं०	संस्कृत
संथा०	संथाल
सत०	सतलज
सहा०	सहारनपुर
सि०	सिन्ध
सिंह०	सिंहली
सी०	सीलोन
ह०	हजारी
हि०	हिन्दी
है०	हैदराबाद

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्भावमिश्रप्रणीतः

भावप्रकाशः

विद्योतिन्या भाषाटीकया समेतः

[पूर्वखण्डम्]

अथायुर्वेदप्रवक्तृप्रादुर्भावप्रकरणम् १ ।

गजमुखममरप्रवरं सिद्धिकरं विघ्नहर्तारम् ।
गुरुमवगमनयनप्रदमिष्टकरीमिष्टदेवतां वन्दे ॥ १ ॥

श्रीमद्गुरोर्गुरुपदं बहुशोऽभिवन्द्यायुर्वेदमाप्तुमनसोऽद्य शिशोर्हृदीमाम् ।
'भावप्रकाश'गतभावविभावनार्थं विद्योतिनीं ननु तनोत्यतनुं मुदाऽयम् ॥

देवताओं में सर्वश्रेष्ठ, अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, इन आठ सिद्धियों के देनेवाले और विघ्नों को दूर करनेवाले तथा हाथी के समान जिनका मुख है, ऐसे श्री गणेशजी और ज्ञानरूपी नेत्रों को देनेवाले श्रीगुरुदेव तथा अभीष्ट सिद्ध करनेवाले श्री इष्टदेव को मैं प्रणाम करता हू ॥ १ ॥

कवेरुक्तिः—

आयुर्वेदागमनं क्रमेण येनाभवद्भूमौ । प्रथमं लिखामि तमहं नानातन्त्राणि संदृश्य ॥ २ ॥

जिस क्रमसे पृथ्वी पर आयुर्वेद अर्थात् वैद्यकशास्त्र का अवतरण हुआ, सबसे पहिले उसी (क्रम) को मैं अनेक महर्षिप्रणीत तन्त्रों (ग्रन्थों) को देखकर लिख रहा हू ॥ २ ॥

अथायुर्वेदस्य लक्षणमाह—

आयुर्हिताहितं व्याधेर्निदानं शमनं तथा । विद्यते यत्र विद्वद्भिः स आयुर्वेद उच्यते ॥ ३ ॥

आयुर्वेद का लक्षण—जिस शास्त्रमें आयुष्य के लिये हितकारक और अहितकारक पदार्थों का उल्लेख हो और रोगों के निदान अर्थात् उत्पन्न होने का प्रधान कारण और उनकी शान्ति का उपाय अर्थात् चिकित्सा का वर्णन किया गया हो उसे विद्वान् लोग आयुर्वेद कहते हैं ॥ ३ ॥

अथायुर्वेदस्य निरुक्तिमाह—

अनेन पुरुषो यस्मादायुर्विन्दति वेत्ति च । तस्मान्मुनिवरैरेष आयुर्वेद इति स्मृतः ॥ ४ ॥

आयुर्वेद की निरुक्ति—इस शास्त्रके द्वारा प्राणिमात्र को दीर्घायुत्व की प्राप्ति तथा आयुर्विज्ञान विषयक सभी तथ्यों का ज्ञान होने के कारण दूसरों की आयु का परिज्ञान होता है, इसी से मुनिश्रेष्ठों ने इसे 'आयुर्वेद' संज्ञा दी है ।

॰शरीरजीवयोर्योगो जीवनं तेनावच्छिन्नः काल आयुः, आयुर्वेदद्वारा आयुष्याण्यनायुष्याणि च द्रव्यगुणकर्माणि ज्ञात्वा तेषां सेवनत्यागाभ्यामारोग्येणायुर्विन्दति, तेनैव हेतुना परस्याप्यायुर्वेत्ति च ॥ ४ ॥

शरीर और जीव का जो सयोग है, उसे 'जीवन' कहते हैं और जितने समय तक वह संयोग बना रहता है, उतने समय का नाम आयु है। आयुर्वेद के द्वारा आयु के लिये हितकर तथा अहितकर द्रव्य, गुण और कर्मों को जानकर तथा उनके सेवन और त्याग द्वारा अर्थात् आयु के लिये हितकर द्रव्य-गुण-कर्मों का सेवन और अहितकर द्रव्य-गुण-कर्मों का परित्याग करने के द्वारा, आरोग्य लाभ करने से मनुष्य दीर्घायु लाभ कर सकता तथा उक्त कारणों से दूसरे की आयु को भी जानने में समर्थ हो सकता है॥ ४॥

क्रममाह, तत्रादौ ब्राह्मणः प्रादुर्भाव:—

विधाताऽथर्वसर्वस्वमायुर्वेदं प्रकाशयन्। स्वनाम्ना संहितां चक्रे लक्षश्लोकमयीमृजुम्॥ ५॥

आयुर्वेद का उत्पत्ति क्रम—सबसे पहले ब्रह्माजी ने अथर्ववेद का सर्वस्व अर्थात् सारभूत जो आयुर्वेद है, उसका प्रकाश करते हुए, अपने नामकी अर्थात् 'ब्रह्मसहिता' इस नामकी एक १ लाख श्लोकोंवाली एक सरल सहिता बनाई॥ ५॥

ततः प्रजापतिं दक्षं दक्षं सकलकर्मसु। विधिर्धीनीरधिः साङ्गमायुर्वेदमुपादिशत्॥ ६॥

इसके बाद बुद्धिके समुद्र ब्रह्माजी ने सभी कार्यों के करने में निपुण दक्ष नामक प्रजापति को अङ्ग तथा उपाङ्गों के सहित यह (सम्पूर्ण) आयुर्वेद पढाया॥ ६॥

अथ दक्षप्रादुर्भाव:—

अथ दक्षः क्रियादक्षः स्वर्वैद्यौ वेदमायुषः। वेदयामास विद्वांसौ सूर्यांशौ सुरसत्तमौ॥ ७॥

दक्षप्रजापति से आयुर्वेद की उत्पत्ति—इसके (ब्रह्माजी से आयुर्वेद प्राप्त करने के) बाद सब क्रियाओं में निपुण दक्ष नामक प्रजापति ने स्वर्ग के वैद्य, देवगणों में श्रेष्ठ, सूर्य के पुत्र और विद्वान् दोनों अश्विनी-कुमारों को आयुर्वेद सिखाया॥ ७॥

अथाश्विसुतप्रादुर्भाव:—

दक्षादधीत्य दस्रौ वितनुतः संहितां स्वीयाम्। सकलचिकित्सकलोकप्रतिपत्तिविवृद्धये धन्याम्॥८॥

अश्विनी-कुमारों से आयुर्वेद की उत्पत्ति—दोनों अश्विनी-कुमारों ने दक्ष नामक प्रजापति से आयुर्वेद पढकर सभी चिकित्सक लोगों के ज्ञान की वृद्धि के लिए अपनी प्रशसनीय सहिता (अश्विनीकुमारसहिता) बनाई॥ ८॥

स्वयम्भुवः शिरश्छिन्नं भैरवेण रुषाऽथ तत्। अश्विभ्यां संहितं तस्मात्तौ जातौ यज्ञभागिनौ॥९॥

इसके बाद जब क्रुद्ध होकर भैरवजी ने ब्रह्माजी का शिर काट डाला था, तब अश्विनीकुमारों ने उसे फिर से जोड दिया था। इस कारण उसी दिन से वे दोनों यज्ञ में भाग पाने के अधिकारी हुए॥

देवासुरणे देवा दन्त्यैर्ये सक्षताः कृताः। अक्षतास्ते कृताः सद्यो दस्राभ्यामद्भुतं महत्॥ १०॥

जब देवता तथा दैत्यों का युद्ध हुआ, तब उसमें जिन देवताओं को दैत्यों ने घायल कर दिया था, उन सबों को अश्विनी-कुमारों ने तत्क्षण (चिकित्सा करके) क्षत (घाव) से रहित (चङ्गा) कर दिया, उस समय उन दोनों का वह कार्य अत्यन्त अद्भुत प्रतीत हुआ॥ १०॥

वज्रिणोऽभूद् भुजस्तम्भः स दस्राभ्यां चिकित्सितः। सोमान्निपतितश्चन्द्रस्ताभ्यामेव सुखीकृतः॥

जब इन्द्र की भुजा का स्तम्भन हो गया था तथा चन्द्रमा जब सोमलोक से गिर पडे थे, तब इन्हीं अश्विनी-कुमारों ने (चिकित्सा करके) उन्हें सुखी किया था॥ ११॥

विशीर्णा दशनाः पूष्णो नेत्रे नष्टे भगस्य च। शशिनो राजयक्ष्माऽभूदश्विभ्यां ते चिकित्सिताः॥

जब पूषा नामक सूर्य के दात टूट गये और भग नामक सूर्य के नेत्र फूट गये थे तथा चन्द्रमा को राजयक्ष्मा हो गया था, तब इन लोगों की भी चिकित्सा अश्विनी-कुमारों ने ही की थी॥ १२॥

भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः। वीर्यवर्णस्वरोपेतः कृतोऽश्विभ्यां पुनर्युवा॥१३॥

भृगु महर्षि के गोत्र में उत्पन्न कामी च्यवन ऋषि जब वृद्ध होने से कुरूप हो गये थे, तब अश्विनी-कुमारों ने (चिकित्सा द्वारा) वीर्य, वर्ण और स्वर से युक्त करके फिरसे उन्हें युवा कर दिया था॥ १३॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिः कर्मभिर्भिषजां वरौ। बभूवतुर्भृशं पूज्याविन्द्रादीनां दिवौकसाम्॥ १४।

इन्हीं सब कार्यों एव और-और भी बहुत से कार्यों के द्वारा वैद्यों में श्रेष्ठ ये दोनों अश्विनी-कुमार इन्द्रादिक देवताओं के अत्यन्त पूज्य हुए॥ १४॥

अथेन्द्रप्रादुर्भावः—

संदृश्य दस्रयोरिन्द्रः कर्माण्येतानि यत्नवान्। आयुर्वेदं निरुद्वेगं तौ ययाचे शचीपतिः ॥ १५॥

इन्द्र से आयुर्वेद की उत्पत्ति-शची (इन्द्र की स्त्री) पति इन्द्र ने अश्विनी-कुमारों के पूर्वोक्त कार्यों को देख कर अतिशय यत्नशील होते हुए उन दोनों से निरुद्वेग होकर आयुर्वेद प्राप्त करने की प्रार्थना की ॥ १५ ॥

नासत्यौ सत्यसन्धेन शक्रेण किल याचितौ। आयुर्वेदं यथाऽधीतं ददतुः शतमन्यवे ॥ १६ ॥

तब सत्यसन्ध (दृढप्रतिज्ञ) इन्द्र के प्रार्थना करने पर अश्विनी-कुमारों ने जितना पढ़ा था, उतना सम्पूर्ण आयुर्वेद इन्द्र को पढा दिया ॥ १६ ॥

नासत्याभ्यामधीत्यैव आयुर्वेदं शतक्रतुः। अध्यापयामास-बहूनात्रेयप्रमुखान्मुनीन् ॥ १७ ॥

अश्विनी-कुमारों से आयुर्वेद पढ कर इन्द्र ने भी आत्रेयादिक बहुतसे मुनियों को पढाया ॥ १७ ॥

अथात्रेयप्रादुर्भावः—

एकदा जगदालोक्य गदाकुलमितस्ततः। चिन्तयामास भगवानात्रेयो मुनिपुङ्गवः ॥ १८ ॥

आत्रेय से आयुर्वेद की उत्पत्ति-एक समय मुनियों में श्रेष्ठ भगवान् आत्रेयजी इधर उधर (चारों तरफ) ससार के प्राणी को रोग से व्याकुल देखकर विचार करने लगे ॥ १८ ॥

किं करोमि क्व गच्छामि कथं लोका निरामयाः। भवन्ति सामयानेतान्न शक्नोमि निरीक्षितुम् ॥

मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? और किस उपाय से संसार के प्राणी रोग रहित हों? मैं इन सबों को इस तरह रोग से युक्त अब अधिक देखने के लिये समर्थ नही हू ॥ १९ ॥

दयालुरहमत्यर्थं स्वभावो दुरतिक्रमः। एतेषां दुःखतो दुःखं ममापि हृदयेऽधिकम् ॥ २० ॥

क्योंकि मैं अत्यन्त दयालु स्वभाव का हू और स्वभाव दुरतिक्रम होता है अर्थात् स्वभाव को कोई कभी बदल नहीं सकता। अस्तु, इन सबों को दुःख होने से मेरे भी हृदय में दुःख हो रहा है॥२०

आयुर्वेदं पठिष्यामि नैरुज्याय शरीरिणाम्। इति निश्चित्य गतवानात्रेयस्त्रिदशालयम् ॥ २१ ॥

अतः इन प्राणियों के आरोग्यार्थ अब मैं आयुर्वेद पढूंगा। ऐसा निश्चय करके आत्रेय मुनि स्वर्गलोक (इन्द्रपुरी अमरावती) को गये ॥ २१ ॥

तत्र मन्दिरमिन्द्रस्य गत्वा शक्रं ददर्श सः। सिंहासनसमासीनं स्तूयमानं सुरर्षिभिः ॥ २२ ॥
भासयन्तं दिशो भासा भास्करप्रतिभं त्विषा। आयुर्वेदमहाऽऽचार्यं शिरोधार्यं दिवौकसाम् ॥

वहाँ इन्द्र के भवन में जाकर देवर्षि लोगों से स्तुति किये जाते, सिंहासन पर बैठे, सूर्य के समान अपने प्रकाश से दशों दिशाओं को प्रकाशित करते हुए, आयुर्वेद के महान् आचार्य और देवताओं के शिरोमणि इन्द्र भगवान् को उन्होंने देखा ॥ २२-२३ ॥

शक्रस्तु तं निरीक्ष्यैव त्यक्तसिंहासनः स्थितः। तमग्रे पूजयामास भृशं भूरितपःकृशम् ॥२४॥
कुशलं परिपप्रच्छ तथाऽऽगमनकारणम्। स मुनिर्वक्तुमारेभे निजागमनकारणम् ॥ २५ ॥

इन्द्र भगवान् भी उन आत्रेयमुनि को देखते ही सिंहासन छोडकर खडे हो गये और तपस्या करने से जिनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया था, ऐसे उन (आत्रेयमुनि) का पहले भली भाँति पूजन किया, तत्पश्चात् कुशल तथा आने का कारण पूछा। तदनन्तर आत्रेय मुनि भी अपने आने का जो कारण था, उसे कहने लगे ॥ २४-२५ ॥

देवराज! न राजाऽसि दिव एव यतो भवान्। विधात्रा विहितो यत्नात्त्रिलोकीलोकपालकः॥२६॥
व्याधिभिर्व्यथिता लोकाः शोकाकुलितचेतसः। भूतले सन्ति सन्तापं तेषां हन्तुं कृपां कुरु॥२७॥

आत्रेयने कहा—हे देवेन्द्र! आप केवल स्वर्गलोक के ही राजा नहीं है, किन्तु विधाता ने आपको तीनों लोकों के लोगों का भी पालन करने के लिये राजा बनाया है। अतएव इस समय पृथ्वीतल में रोगों से पीड़ित तथा शोक से व्याकुल चित्तवाले जो प्राणी हैं, उन सबों का सन्ताप दूर करने की कृपा करें ॥ २६-२७ ॥

आयुर्वेदोपदेशं मे कुरु कारुण्यतो नृणाम्। तथेत्युक्त्वा सहस्राक्षोऽध्यापयामास तं मुनिम्॥२८॥
मुनीन्द्र इन्द्रतः साङ्गमायुर्वेदमधीत्य सः। अभिनन्द्य तमाशीर्भिराजगाम पुनर्महीम् ॥ २९ ॥

आत्रेयने कहा—हे देवेन्द्र! प्राणियों के कल्याण के लिये दया करके आप मुझे आयुर्वेद का उपदेश कीजिये। यह सुन इन्द्रने 'तथास्तु' कहकर आत्रेय को आयुर्वेद पढ़ाया। तदनुसार

मुनिश्रेष्ठ आत्रेय जी इन्द्र से शल्य-शालाक्य-कायचिकित्सा-भूतविद्या-कौमारतन्त्र-अगदतन्त्र-रसायनतन्त्र और वाजीकरणतन्त्र इन ८ अङ्गों के सहित आयुर्वेद का अध्ययन कर और उन (इन्द्र) का आशीर्वाद द्वारा अभिनन्दन करके फिर पृथ्वी पर लौट आये ॥ २८-२९ ॥

अथात्रेयो मुनिश्रेष्ठो भगवान् करुणाऽऽकरः । स्वनाम्ना संहितां चक्रे नरवर्गानुकम्पया ॥ ३० ॥
ततोऽग्निवेशं भेडञ्च जातूकर्णं पराशरम् । क्षीरपाणिञ्च हारीतमायुर्वेदमपाठयत् ॥ ३१ ॥

इसके बाद करुणा-निधान मुनिश्रेष्ठ भगवान् आत्रेय ने मनुष्य वर्ग पर कृपा करके अपने नाम से आत्रेयसंहिता नामक ग्रन्थ बनाया । और अग्निवेश-भेड-जातूकर्ण-पराशर-क्षीरपाणि और हारीत इन ६ ऋषियों को आयुर्वेद पढाया ॥ ३०-३१ ॥

तन्त्रस्य कर्त्ता प्रथममग्निवेशोऽभवत्पुरा । ततो भेडादयश्चक्रुः स्वं स्वं तन्त्रं कृतानि च ॥ ३२ ॥
श्रावयामासुरात्रेयं मुनिवृन्देन वन्दितम् । श्रुत्वा च तानि तन्त्राणि हृष्टोऽभूदत्रिनन्दनः ॥३३॥
यथावत्सूत्रितं दृष्ट्वा प्रहृष्टा मुनयोऽभवन् । दिवि देवर्षयो देवाः श्रुत्वा साध्विति चाब्रुवन्॥३४॥

प्राचीन समय में उन ६ ऋषियों में से प्रथम तन्त्र (ग्रन्थ) के कर्त्ता अग्निवेश हुए । उनके बाद भेडादिक ऋषियोंने भी अपने २ नामसे एक २ तन्त्र बनाया और उन बनाये हुये अपने २ तन्त्रों को मुनिवृन्द से वन्दित महर्षि आत्रेयजी को सुनाया । उन तन्त्रों को सुन कर अत्रि महर्षि के पुत्र (आत्रेय) अत्यन्त प्रसन्न हुये और जैसे चाहिये वैसे बने हुये अपने २ तन्त्रों को देखकर तन्त्रकर्त्ता अग्निवेशादि ऋषिवृन्द भी अत्यन्त हर्षित हुए और स्वर्ग में देवर्षि तथा देवता लोगों ने भी उन तन्त्रों को सुनकर साधु २ अर्थात् 'बहुत अच्छा हुआ-बहुत अच्छा हुआ' ऐसा कहा॥३२-३४॥

अथ भरद्वाजप्रादुर्भाव.—

एकदा हिमवत्पार्श्वे दैवादागत्य सङ्गताः । मुनयो बहवस्तेषां नामभिः कथयाम्यहम् ॥ ३५ ॥
भरद्वाजो मुनिवरः प्रथमं समुपागतः । ततोऽङ्गिरास्ततो गर्गो मरीचिर्भृगुभार्गवौ ॥ ३६ ॥
पुलस्त्योऽगस्तिरसितो वसिष्ठः सपराशरः । हारीतो गौतमः सांख्यो मैत्रेयश्च्यवनोऽपि च ॥३७॥
जमदग्निश्च गार्ग्यश्च कश्यपः काश्यपोऽपि च । नारदो वामदेवश्च मार्कण्डेयः कपिञ्जलः ॥ ३८ ॥
शाण्डिल्यः सहकौण्डिन्यः शाकुनेयश्च शौनकः।आश्वलायनसांकृत्यौ विश्वामित्रः परीक्षकः ॥३९॥
देवलो गालवो धौम्यः काप्यकात्यायनावुभौ । काङ्कायनो वैजवापः कुशिको बादरायणः॥४०॥
हिरण्याक्षश्च लौगाक्षिः शरलोमा च गोभिलः । वैखानसा बालखिल्यास्तथैवान्ये महर्षयः॥४१॥
ब्रह्मज्ञानस्य निधयो यमस्य नियमस्य च । तपसस्तेजसा दीप्ता हूयमाना इवाग्नयः ॥ ४२ ॥
सुखोपविष्टास्ते तत्र सर्वे चक्रुः कथामिमाम् ॥

भरद्वाज से आयुर्वेद की उत्पत्ति-एक समय अकस्मात् हिमालय प्रदेश में मुनि लोग इकट्ठे हुए । उनमें सब से पहले मुनियों में श्रेष्ठ भरद्वाजजी आये, तदनन्तर अङ्गिरा, फिर गर्ग, मरीचि, भृगु, भार्गव, पुलस्त्य, अगस्ति, असित और पराशर के सहित वशिष्ठ, हारीत, गौतम, साख्य, मैत्रेय, च्यवन, जमदग्नि, गार्ग्य, कश्यप, काश्यप, नारद, वामदेव, मार्कण्डेय, कपिञ्जल और कौण्डिन्य के साथ शाण्डिल्य, शाकुनेय, शौनक, आश्वलायन, साकृत्य, विश्वामित्र, परीक्षक, देवल, गालव, धौम्य, काप्य, कात्यायन, काङ्कायन, वैजवाप, कुशिक, बादरायण, हिरण्याक्ष, गौलाक्षि, शरलोमा, गोभिल, वैखानस और बालखिल्य तथा और भी महर्षि लोग आये और ब्रह्मज्ञान तथा यम-नियम के निधि, हवन जिसमें हो रहा हो ऐसे प्रदीप्त अग्नि के समान, तप के तेज से प्रकाशमान, उस पर्वत पर सुखपूर्वक बैठे हुए वे सब मुनि लोग (आपस में) यह बात चीत करने लगे ॥ ३५-४२ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां मूलमुक्तं कलेवरम् । तच्च सर्वार्थसंसिद्ध्यै भवेद्यदि निरामयम् ॥ ४३ ॥
तपःस्वाध्यायधर्माणां ब्रह्मचर्यव्रतायुषाम् । हर्त्तारः प्रसृता रोगा यत्र तत्र च सर्वतः ॥ ४४ ॥

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों का मूल शरीर है और वह (शरीर) सभी पुरुषार्थों को सिद्ध करने के लिये तब ही मूल हो सकता है जब रोग से रहित हो । लेकिन तप, स्वाध्याय (वेदाध्ययन), धर्म, ब्रह्मचर्य और व्रत तथा आयु को नष्ट करनेवाले रोग जहाँ-तहाँ सभी स्थानों में फैले हुये हैं ॥ ४३-४४ ॥

रोगाः कार्श्यकरा बलक्षयकरा देहस्य चेष्टाहरा
दृष्टा इन्द्रियशक्तिसङ्क्षयकराः सर्वाङ्गपीडाकराः ।

धर्मार्थाखिलकाममुक्तिषु महाविघ्नस्वरूपा बलात्
प्राणानाशु हरन्ति सन्ति यदि ते क्षेमं कुतः प्राणिनाम् ॥ ४५ ॥
तत्तेषां प्रशमाय कश्चन विधिश्चिन्त्यो भवद्भिर्बुधै-
र्योग्यैरित्यभिधाय संसदि भरद्वाजं मुनिं तेऽब्रुवन् ।
त्वं योग्यो भगवन् सहस्रनयनं याचस्व लब्धं क्रमा-
दायुर्वेदमधीत्य यं गदभयान्मुक्ता भवामो वयम् ॥ ४६ ॥

(जो कि) प्राणियों के शरीरों को कृश, बल का नाश, देह की चेष्टा का हरण, इन्द्रियों की शक्ति का ह्रास और सम्पूर्ण अङ्गों में पीडा करनेवाले तथा धर्म, अर्थ और सम्पूर्ण कामना तथा मुक्ति के विषय में अत्यन्त विघ्नस्वरूप होकर बलपूर्वक तत्क्षण प्राणों का हरण कर लेते हैं । ऐसे ये रोग यदि वर्त्तमान हैं तो प्राणियों का कल्याण कहाँ से हो सकता है । अतः उन रोगों को दूर करने के लिये आप सब योग्य विद्वानों को कोई उपाय सोचना चाहिये । इस प्रकार सभा में कह कर उन लोगों ने भरद्वाज मुनि से कहा—हे भगवन् ! आप इस कार्य को करने के योग्य हैं । अतः इन्द्र से आप ही आयुर्वेद पाने के लिये प्रार्थना करें । फिर इन्द्र से प्राप्त किया हुआ जो आयुर्वेद होगा, उसे हम लोग क्रम से पढ़कर रोगसम्बन्धी भय से मुक्त हो जावेंगे ॥ ४५-४६ ॥

इत्थं स मुनिभिर्योग्यैः प्रार्थितो विनयान्वितैः । भरद्वाजो मुनिश्रेष्ठो जगाम त्रिदशालयम् ॥४७॥
तत्रेन्द्रभवनं गत्वा सुरर्षिगणमध्यगम् । दृष्टवान् वृत्रहन्तारं दीप्यमानमिवानलम् ॥ ४८ ॥
दृष्ट्वैव स मुनिं प्राह भगवान् मघवा मुदा । धर्मज्ञ ! स्वागतं तेऽथ मुनिं तं समपूजयत् ॥ ४९ ॥

इस प्रकार जब विनय से युक्त हो श्रेष्ठ मुनिवरों ने प्रार्थना की, तब मुनियों में श्रेष्ठ भरद्वाज जी स्वर्गलोक को गये । वहाँ इन्द्र के भवन में पहुँच कर उन्होंने प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशमान, देवर्षिगणों के मध्य में स्थित, वृत्रासुर के मारनेवाले इन्द्र को देखा । भरद्वाज मुनि को देखते ही भगवान् इन्द्र ने प्रसन्नता के साथ कहा—हे धर्म के जाननेवाले मुने ! आपका स्वागत है, इसके बाद उन भरद्वाज मुनि का विधिपूर्वक पूजन किया ॥ ४७-४९ ॥

सोऽभिगम्य जयाशीर्भिरभिनन्द्य सुरेश्वरम् । ऋषीणां वचनं सम्यक् श्रावयामास तत्त्वतः॥५०॥
व्याधयो हि समुत्पन्नाः सर्वप्राणिभयङ्कराः । तेषां प्रशमनोपायं यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ ५१ ॥
अपाठयन् मुनिं साङ्गमायुर्वेदं शतक्रतुः । जीवेद्वर्षसहस्राणि देही नीरुङ् निशम्य यम् ॥ ५२ ॥

तदनन्तर उन भरद्वाज मुनि ने भी समीप जाकर जयशब्द युक्त आशीर्वादों से इन्द्र का अभिनन्दन करके ऋषियों के कहे हुये वचनों को यथार्थ रूप से भली भाँति कह सुनाया और कहा कि हे देवेन्द्र ! इस समय संसार में सब प्राणियों के लिये भयङ्कर अनेक रोग उत्पन्न हुये हैं । उनके दूर करने का उपाय जिस तरह से हो, उस तरह से कहिये अर्थात् मुझे आयुर्वेद पढाइये । भरद्वाज के इस वचन के सुनने के बाद इन्द्र ने मुनि को अङ्गों के सहित उस आयुर्वेद को पढ़ाया, जिसे सुनकर प्राणी रोग से रहित होकर हजारों वर्षों तक जी सकें ॥ ५०-५२ ॥

सोऽनन्तपारं त्रिस्कन्धमायुर्वेदं महामुनिः । यथावदचिरात्सर्वं बुबुधे तन्मना मुनिः ॥ ५३ ॥
तेनायुः सुचिरं लेभे भरद्वाजो निरामयम् । अन्यानपि मुनींश्चक्रे नीरुजः सुचिरायुषः ॥ ५४ ॥

महामुनि भरद्वाजजी ने तन्मनस्क होकर जिसके पार का अन्त नही है तथा जिसके हेतु-लिङ्ग और औषधरूपी तीन स्कन्ध हैं, ऐसे आयुर्वेद को जैसा का तैसा थोडे ही दिनों में पूर्वरूपेण (इन्द्रसे) समझ लिया और उसी से रोग रहित होकर दीर्घ आयु को प्राप्त किया तथा दूसरे मुनियों को भी रोग से रहित दीर्घ आयुवाला बना दिया ॥ ५३-५४ ॥

तत्तन्त्रजनितज्ञानचक्षुषा ऋषयोऽखिलाः । गुणान्द्रव्याणि कर्माणि दृष्ट्वा तद्विधिमाश्रिताः ॥
आरोग्यं लेभिरे दीर्घमायुश्च सुखसंयुतम् । आयुर्वेदोक्तविधिनाऽन्येऽपि स्युर्मुनयो यथा ॥५६॥

तदनन्तर भरद्वाज मुनि के बनाये हुये तन्त्र (ग्रन्थ) मे उत्पन्न ज्ञानरूपी नेत्रों के द्वारा सम्पूर्ण ऋषियों ने भी गुण-द्रव्य और कर्मों को देखकर तथा उस तन्त्र में कही हुई विधियों का आश्रय लेकर आरोग्य तथा सुख से युक्त दीर्घ आयु प्राप्त किया और उसी तरह अन्यान्य मुनियोंने भी आयुर्वेद में कही हुई विधियों के द्वारा आरोग्यता तथा सुख से युक्त दीर्घ आयु पायी ॥५५-५६॥

अथ चरकप्रादुर्भावः—

यदा मत्स्यावतारेण हरिणा वेद उद्धृतः। तदा शेपश्च तत्रैव वेदं साङ्गमवाप्तवान्॥ ५७॥
अथर्वान्तर्गतं सम्यगायुर्वेदं च लब्धवान्। एकदा स महीवृत्तं द्रष्टुं चर इवागतः॥ ५८॥
तत्र लोकान्गदैर्ग्रस्तान्व्यथया परिपीडितान्। स्थलेषु बहुषु व्यग्रान् म्रियमाणांश्च दृष्टवान्॥५९॥
तान्दृष्ट्वाऽतिदयायुक्तस्तेषां दुःखेन दुःखितः। अनन्तश्चिन्तयामास रोगोपशमकारणम्॥ ६०॥
सञ्चिन्त्य स स्वयं तत्र मुनेः पुत्रो बभूव ह। प्रसिद्धस्य विशुद्धस्य वेदवेदाङ्गवेदिनः॥ ६१॥

चरक से आयुर्वेद की उत्पत्ति-जिस समय मत्स्यावतार द्वारा भगवान् विष्णु ने वेदों का उद्धार किया था। उस समय शेप भगवान् ने उसी स्थान पर अङ्गों के सहित वेदों को प्राप्त किया और अथर्ववेद के अन्तर्गत जो आयुर्वेद था, उसे भी भली भाँति से प्राप्त किया। एक समय वही शेपजी चर (जासूस) की भाँति छिपे तौर से भूलोक (ससार) का वृत्तान्त जानने के लिये पृथिवी पर आये और यहा उन्होंने बहुत से स्थानों पर लोगों को रोगों से ग्रस्त एव व्यथा से अत्यन्त पीडित तथा व्यग्र एवं मरते हुये देखा। उन लोगों को देख कर वे अत्यन्त दया से युक्त हो उन सबों के दुःख से दु.खित होते हुये रोगों से निवृत्त होने का उपाय सोचने लगे। इस भाँति सोच विचार कर स्वयं शेष भगवान् इसी भूलोक में वेद और वेद के व्याकरणादि ६ अङ्गों के जाननेवाले 'विशुद्ध' नामक प्रसिद्ध मुनि के पुत्र हुए॥ ५७-६१॥

यतश्चर इवायातो न ज्ञातः केनचिद्यतः। तस्माच्चरकनाम्नाऽसौ ख्यातश्च क्षितिमण्डले॥ ६२॥
स भाति चरकाचार्यो देवाचार्यो यथा दिवि। सहस्रवदनस्यांशो येन ध्वंसो रुजां कृतः॥६३॥
आत्रेयस्य मुनेः शिष्या अग्निवेशादयोऽभवन्। मुनयो बहवस्तैश्च कृतं तन्त्रं स्वकं स्वकम्॥६४॥
तेषां तन्त्राणि संस्कृत्य समाहृत्य विपश्चिता। चरकेणात्मनो नाम्ना ग्रन्थोऽयं चरकः कृतः॥६५॥

यत. शेप भगवान् चर की भाँति छिप कर आये और किसीने उनको नहीं पहचाना। अतः वे 'चरक' नाम से भूमण्डल में विख्यात हुए जिन्होंने रोगों का नाश कर दिया वे शेपजी के अंश चरकाचार्य स्वर्ग में देवताओं के आचार्य बृहस्पति के समान संसार में सुशोभित हुए। पूर्वोक्त आत्रेय महर्षि के शिष्य अग्निवेशादि मुनिवरोंने अपने २ जिन २ तन्त्रों की रचना की थी उन सभी का प्रतिसस्कार तथा सङ्ग्रह करके आचार्य चरक ने अपने नाम से 'चरक' ग्रन्थ बनाया॥ ६२-६५॥

अथ धन्वन्तरिप्रादुर्भावः—

एकदा देवराजस्य दृष्टिर्निपतिता भुवि। तत्र तेन नरा दृष्टा व्याधिभिर्भृशपीडिताः॥ ६६॥
तान्दृष्ट्वा हृदयं तस्य दयया परिपीडितम्। दयाऽऽर्द्रहृदयः शक्रो धन्वन्तरिमुवाच ह॥ ६७॥
धन्वन्तरे! सुरश्रेष्ठ! भगवन्! किञ्चिदुच्यते। योग्यो भवसि भूतानामुपकारपरो भव॥६८॥
उपकाराय लोकानां केन किं न कृतं पुरा। त्रैलोक्याधिपतिर्विष्णुरभून्मत्स्यादिरूपवान्॥६९॥
तस्मात्त्वं पृथिवीं याहि काशीमध्ये नृपो भव। प्रतीकाराय रोगाणामायुर्वेदं प्रकाशय॥ ७०॥
इत्युक्त्वा सुरशार्दूलः सर्वभूतहितेप्सया। समस्तमायुषो वेदं धन्वन्तरिमुपादिशत्॥ ७१॥

धन्वन्तरि से आयुर्वेद की उत्पत्ति-एक समय देवताओं के राजा इन्द्र की दृष्टि भूलोक पर पडी तो उन्होंने मनुष्यों को रोगों से अत्यन्त पीडित देखा। यह देख उनका हृदय दया से अत्यन्त पीडा युक्त हो गया और उन्होंने धन्वन्तरि से कहा-हे देवताओं में श्रेष्ठ, भगवान् धन्वन्तरि! मैं आप से कुछ कहता हू। क्योंकि उसके योग्य आप ही हैं। आप प्राणियों के उपकार करने में तत्पर हों। पहले समय में लोगों के उपकार के लिये किसने क्या नही किया, यहाँ तक कि त्रिलोकी के स्वामी विष्णु भगवान् ने भी (परोपकार के लिये) मछली आदि का रूप धारण किया था। इसलिये आप पृथ्वीतल पर जावें और काशीपुरी में वहाँ के राजा होवें एवं रोगों को दूर करने के लिये आयुर्वेद का प्रकाश करें। ऐसा कह कर देवताओं में श्रेष्ठ भगवान् इन्द्र ने सकल प्राणियों को कल्याण प्राप्त कराने की इच्छा से धन्वन्तरि को समस्त आयुर्वेद सिखा दिया॥ ६६-७१॥

अधीत्य चायुषो वेदमिन्द्राद्धन्वन्तरिः पुरा। आगत्य पृथिवीं काश्यां जातो बाहुजवेश्मनि॥७२॥
नाम्ना तु सोऽभवत्ख्यातो दिवोदास इति क्षितौ। बाल एव विरक्तोऽभूच्चचार सुमहत्तपः॥७३॥
यत्नेन महता ब्रह्मा तं काश्यामकरोन्नृपम्। ततो धन्वन्तरिर्लोकैः काशीराजोऽभिधीयते॥७४॥
हिताय देहिनां स्वीया संहिता विहिताऽमुना। अथ विद्यार्थिनो लोकान्संहितां तामपाठयत्॥

इस प्रकार इन्द्र भगवान् से धन्वन्तरि ने आयुर्वेद का अध्ययन करके पृथ्वीतल पर काशीपुरी में क्षत्रिय के घर में उत्पन्न हुये और 'दिवोदास' इस नाम से भूमण्डलमें विख्यात हुये। वे लडकपन से ही वैराग्य धारण कर बहुत बडा तप करने लगे। उसके बाद बड़े २ यत्नों से (किसी भाँति) ब्रह्मा ने उन्हें काशीपुरी का राजा बनाया। उसी दिन से लोग धन्वन्तरि को काशी का राजा कहने लगे। इन्होंने प्राणियों के हित के लिये अपने नाम से धन्वन्तरि नामक संहिता बनाई। और विद्यार्थी लोगों को वही संहिता पढाई ॥ ७२-७५ ॥

अथ सुश्रुतप्रादुर्भावः—

अथ ज्ञानदृशा विश्वामित्रप्रभृतयोऽविदन्। अयं धन्वन्तरिः काश्यां काशिराजोऽयमुच्यते ॥७६॥
विश्वामित्रो मुनिस्तेषु पुत्रं सुश्रुतमुक्तवान्। वत्स! वाराणसीं गच्छ त्वं विश्वेश्वरवल्लभाम् ॥७७॥
तत्र नाम्ना दिवोदासः काशिराजोऽस्ति बाहुजः। स हि धन्वन्तरिः साक्षादायुर्वेदविदां वरः ॥७८॥
आयुर्वेदं पठस्व त्वं लोकोपकृतिहेतवे। सर्वप्राणिदया तीर्थमुपकारो महामखः ॥७९॥
पितुर्वचनमाकर्ण्य सुश्रुतः काशिकां गतः। तेन सार्द्धं समध्येतुं मुनिसूनुशतं ययौ ॥८०॥

सुश्रुत से आयुर्वेद की उत्पत्ति–जब विश्वामित्र आदि ऋषियों ने अपनी २ ज्ञानदृष्टि से देखा कि ये तो साक्षात् धन्वन्तरि हैं और ये काशीपुरी में 'काशिराज' नाम से कहे जाते हैं। तब विश्वामित्र ने सुश्रुत नामक पुत्र से कहा–हे वत्स! तुम विश्वनाथजी की प्यारी वाराणसी (बनारस) जाओ। वहाँ पर 'दिवोदास' नाम से प्रसिद्ध जो क्षत्रिय काशी के राजा हैं, वे आयुर्वेद के जाननेवालों में श्रेष्ठ साक्षात् धन्वन्तरि हैं। अतः लोगों के उपकार के निमित्त तुम (उनसे) आयुर्वेद पढ़ो। क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियों पर दया रखना ही तीर्थ है और उपकार करना ही बहुत भारी यज्ञ है। इस भाँति पिता का वचन सुन कर 'सुश्रुत' और उनके साथ पढ़ने के लिये और भी मुनियों के १०० पुत्र काशी गये ॥ ७६–८० ॥

अथ धन्वन्तरिं सर्वे वानप्रस्थाश्रमे स्थितम्। भगवन्तं सुरश्रेष्ठं मुनिभिर्बहुभिः स्तुतम् ॥८१॥
काशिराजं दिवोदासं तेऽपश्यन्विनयान्विताः। स्वागतं च तदा चाह दिवोदासो यशोधनः ॥
कुशलं परिपप्रच्छ तथाऽऽगमनकारणम्। ततस्ते सुश्रुतद्वारा कथयामासुरुत्तरम् ॥ ८३ ॥
भगवन्मानवान्दृष्ट्वा व्याधिभिः परिपीडितान्। क्रन्दतो म्रियमाणांश्च जाताऽस्माकं हृदि व्यथा ॥
आमयानां शमोपायं विज्ञातुं वयमागताः। आयुर्वेदं भवानस्मानध्यापयतु यत्नतः ॥ ८५ ॥

(काशीमें) विनय से युक्त होते हुये उन सबों ने जिनकी स्तुति बहुत से मुनि लोग कर रहे थे, ऐसे देवताओं में श्रेष्ठ भगवान् धन्वन्तरि को वानप्रस्थाश्रम में स्थित काशिराज दिवोदास के रूप में वर्त्तमान देखा। यशोधन (यश को ही धन माननेवाले) राजा दिवोदास ने उन सबों का स्वागत किया और कुशल तथा आने का कारण भी पूछा। उसके बाद उन सब मुनि के पुत्रों ने सुश्रुत के द्वारा उत्तर के रूप में यह कहा कि—हे भगवन्! रोगों से अत्यन्त पीडित अतएव क्रन्दन करते तथा मृत्यु को प्राप्त होते हुये मनुष्यों को देख कर हम लोगों के हृदय में व्यथा उत्पन्न हुई और उन लोगों के रोगों के शान्त होने का उपाय जानने के लिये हम सब यहाँ आये हैं। अतः आप यत्नपूर्वक हम लोगों को आयुर्वेद का अध्ययन करावें ॥ ८१–८५ ॥

अङ्गीकृत्य वचस्तेषां नृपतिस्तानुपादिशत्। व्याख्यातं तेन ते यत्नाज्जगृहुर्मुनयो मुदा ॥ ८६ ॥
काशिराजं जयाशीर्भिरभिनन्द्य मुदाऽन्विताः। सुश्रुताद्याः सुसिद्धार्था जग्मुर्गेहं स्वकं स्वकम् ॥
प्रथमं सुश्रुतस्तेषु स्वतन्त्रं कृतवान्स्फुटम्। सुश्रुतस्य सखायोऽपि पृथक्तन्त्राणि तेनिरे ॥८८॥
सुश्रुतेन कृतं तन्त्रं सुश्रुतं बहुभिर्यतः। तस्मात्तत्सुश्रुतं नाम्ना विख्यातं क्षितिमण्डले ॥ ८९ ॥

इति भावप्रकाशे पूर्वखण्डे आयुर्वेदप्रवक्तृप्रादुर्भावप्रकरणं समाप्तम् ॥ १ ॥

उन लोगों की बात मान कर राजा दिवोदास ने उनको आयुर्वेद का उपदेश दिया और उन सब मुनियों ने भी राजा दिवोदास के बताये हुए आयुर्वेद को यत्नपूर्वक और प्रसन्नता के साथ ग्रहण किया। उसके बाद जय शब्द से युक्त आशीर्वादों से काशिराज दिवोदास का अभिनन्दन करके आयुर्वेद की प्राप्तिरूप प्रयोजन की भली भाँति सिद्धि हो जाने से प्रसन्नता से युक्त होते हुये

सुश्रुत आदि सब मुनि पुनः अपने २ घर चले गये। उनमें से सबसे पहले सुश्रुत ने ही देखने में स्फुट अपना तन्त्र (ग्रन्थ) बनाया और उसके बाद सुश्रुत के साथी और मुनिपुत्रों ने भी पृथक् २ अपने २ तन्त्र बनाये। सुश्रुत के बनाये हुए तन्त्र को बहुतों ने भली भांति सुना। अत एव वह सुश्रुत नाम से भूमण्डल में विख्यात हुआ ॥ ८६–८९ ॥

इति भिषग्रत्नश्रीब्रह्मशङ्करशर्मसाहित्यशास्त्रिणा विरचितायां 'विद्योतिनी' भाषाटीकायामायुर्वेदप्रवक्तृप्रादुर्भावप्रकरणं समाप्तम् ॥१॥

अथ सृष्टिप्रकरणं ग्रन्थारम्भश्च २।

आयुर्वेदाब्धिमध्यादतिमतिमुनयो योगरत्नानि यत्ना-
ल्लब्ध्वा स्वे स्वे निबन्धे दधुरखिलजनव्याधिविध्वंसनाय।
तत्तद्ग्रन्थाद् गृहीतैः सुवचनमणिभिर्भावमिश्रश्चिकित्सा-
शास्त्रे जाड्यान्धकारं प्रशमयितुमिमं संविधत्ते प्रकाशम् ॥ १ ॥

अत्यन्त बुद्धिमान् मुनियों ने सब लोगों का रोग दूर करने के लिये आयुर्वेदरूपी समुद्र के मध्य से औषधों के योगरूपी रत्नों का यत्नपूर्वक लाभ (निकाल) कर उन्हें अपने बनाये हुये जिन २ निबन्धों (ग्रन्थों) में रखा था । 'भावमिश्र' चिकित्साशास्त्रविषयक जडतारूप अन्धकार को दूर करने के लिये उन्हीं ग्रन्थों से सङ्ग्रह किये गये सुन्दर वचनरूपी मणियों के द्वारा प्रकाश अर्थात् भावप्रकाश नामक ग्रन्थ रच रहे हैं ॥ १ ॥

श्रीपतिपदप्रसादादाशीर्भिर्भूमिदेवानाम्। भावप्रकाशनाम्ना ग्रन्थोऽयं पठ्यतां सर्वैः ॥ २ ॥

लक्ष्मी के पति भगवान् विष्णु के चरणों के प्रसाद से और पृथ्वी के देवता तथा ब्राह्मणों के आशीर्वाद से सब लोग इस 'भावप्रकाश' नामक ग्रन्थ को पढ़ें ॥ २ ॥

एतस्य निबन्धस्य फलं चिकित्सा, चिकित्सा च पुरुषस्य, पुरुषस्तु चतुर्विंशतितत्त्वजीवात्मसमवायस्तस्माच्चतुर्विंशतितत्त्वानां जीवात्मनश्च स्वरूपनिरूपणाय सृष्टिक्रममाह—

आत्मा ज्योतिश्चिदानन्दरूपो नित्यश्च निःस्पृहः। निर्गुणः प्रकृतेर्योगात्सगुणः कुरुते जगत् ॥३॥

इस निबन्ध (ग्रन्थ) के बनाने का मुख्य फल चिकित्सा है । वह चिकित्सा पुरुष की होती है और वह पुरुष चौबीस तत्त्व तथा जीवात्मा के समवाय अर्थात् समूह से रचा हुआ कहलाता है। अत एव उन तत्त्वों का तथा जीवात्मा के स्वरूप का निरूपण करने के लिये सृष्टि का क्रम कहते हैं—आत्मा–ज्योतिःस्वरूप, चिदानन्दरूप, नित्य, निःस्पृह और निर्गुण होता हुआ भी प्रकृति से युक्त होने से सगुण होकर जगत् को उत्पन्न करता है ॥ ३ ॥

***सगुणः = इच्छाऽऽदियुक्तः ॥ ३ ॥**

'सगुणः' इस पद से 'इच्छा आदि गुणों से युक्त' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३ ॥

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणास्ते प्रकृतिः समाः। सा जडाऽपि जगत्कर्त्री परमात्मचिदन्वयात् ॥४॥

सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण प्रकृति में समान भाव से रहते हैं अर्थात् सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति कही जाती है और वह प्रकृति स्वयं जड होती हुई भी चैतन्यरूप अव्यय परमात्मा के आश्रय से जगत् का निर्माण करनेवाली हो जाती है अर्थात् प्रकृति और पुरुष इन दोनों के योग से ही सृष्टि–कार्य सम्पन्न होता है । केवल प्रकृति या पुरुष से सृष्टि नहीं हो सकती । क्योंकि पुरुष चैतन्यस्वरूप होते हुये भी स्वयं निर्गुण होने से तथा प्रकृति सगुण होती हुई भी स्वयं जड़ होने से पृथक् २ जगत् के निर्माण करने में समर्थ नहीं है ॥ ४ ॥

***सतः साधोर्भावः सत्त्वं = प्रकाशकं ज्ञानसुखहेतुः, रजो = रागात्मकं दुःखहेतुः, ताम्यति ग्लानिं प्राप्नोत्यनेनेति तमः = आवरकं मोहहेतुः, ते गुणाः समाः प्रकृतिरित्यर्थः । तथा सति न्यूनाधिकगुणा विकृतिः ॥ ४ ॥**

सत् के भाव को सत्त्व कहते हैं। अतः सत्त्व गुण प्रकाश स्वभाववाला तथा ज्ञान का प्रकाशक है और ज्ञान तथा सुख का कारण भी है, अर्थात्–सत्त्व गुण के प्राधान्य में ज्ञान तथा सुख होते हैं। रज

जो है, वह रागात्मक है और दुःख का कारण है। जिससे मनुष्य को ग्लानि हो, वह तमोगुण कहलाता है, अत एव तमोगुण बुद्धि का आच्छादन करनेवाला और मोह का मुख्य कारण है। समभाव को प्राप्त हुये वे तीनों गुण प्रकृति कहलाते हैं। ऐसा होने पर जब वे ही तीनों गुण न्यूनाधिक भाव को प्राप्त होते हैं, तब विकृति कहलाते हैं ॥ ४ ॥

अथ सुश्रुतमुपदिशन् धन्वन्तरिः प्रकृतेः स्वरूपविशेषमाह—

'सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तंनामे'ति।

प्रकृति के स्वरूपविशेष—जो प्रकृति सब भूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदिको) का कारण है और स्वयं कारण से रहित है तथा जो सत्त्व, रज और तमोगुणस्वरूपिणी एवं आठ रूपवाली तथा सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण है उसे अव्यक्त कहते हैं और उसी को मूलप्रकृति भी कहते हैं ॥क॥

***अस्यायमर्थः—अव्यक्तं=न व्यज्यते स्मेत्यव्यक्तं मूलप्रकृत्यपरपर्यायम्, ततः सर्वभूतानां कारणं=समवायिकारणम्, अकारणं=न विद्यते कारणं यस्य तत्, सत्त्वरजस्तमोलक्षणं= समसत्त्वरजस्तमःस्वरूपम्, अष्टरूपम्=अव्यक्तं-महान्-अहङ्कारः-पञ्चतन्मात्राणीत्यष्टौ रूपाणि यस्य तत्, यत इन्द्रियाणां महाभूतानां च कारणतया महदादयोऽपि सप्त प्रकृतयः, एवमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तमित्युपसंहारः ॥ क ॥**

उपर्युक्त 'अव्यक्त' का अर्थ यह है कि जो किसी से व्यक्त (प्रत्यक्ष योग्य) न हो। अव्यक्त का दूसरा नाम मूलप्रकृति भी है। मूलप्रकृति सब भूतों का समवायिकारण है। (जैसे वस्त्र का समवायिकारण सूत्र होता है) किन्तु मूलप्रकृति का कोई कारण नहीं है। वह साम्यावस्थाको प्राप्त हुए सत्त्वादिक तीन गुणवाली अव्यक्त-महान्-अहङ्कार और पाच तन्मात्र ये आठ रूपवाली है। इस जगह यह शङ्का होती है कि अव्यक्त ही प्रकृति है और महान्-अहङ्कार और पांच तन्मात्र ये सात अव्यक्त ही के विकार हैं। अतएव ये सब उसकी विकृति हुईं। तब फिर किस तरह से सात महदादि प्रकृति के रूप कहे जा सकते हैं। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि महदादि सात विकृति हैं तथापि वे इन्द्रिय और पांच महाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) के कारण हैं। अतएव उन सबों की भी प्रकृति के रूप में गणना करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारण मूलप्रकृति (अव्यक्त) है। इस प्रकार यहा पर यह उपसहार हुआ ॥ क ॥

अथ प्रकृतिपुरुषयोः साधर्म्यमाह—

'उभावप्यनादी उभावप्यनन्तौ उभावप्यलिङ्गौ
उभावपि नित्यौ उभावप्यपरौ उभावपि सर्वगतौ' इति ॥ ख ॥

प्रकृति-पुरुष के परस्पर समान धर्म—प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि, दोनों ही अनन्त, दोनों ही अलिङ्ग हैं। दोनों ही नित्य, दोनों ही अपर और दोनों ही सर्वगत अर्थात् सर्वत्र विद्यमान हैं ॥ ख ॥

***उभावप्यलिङ्गौ=लयं क्वचिदपि न यातः, उभावप्यपरौ=न विद्यते परोऽपरो याभ्यां तावपरौ ॥ ख ॥**

दोनों ही अलिङ्ग अर्थात् कभी किसी कारण में लय (नाश) को नहीं प्राप्त होनेवाले हैं, दोनों ही अपर हैं अर्थात् इन दोनों से परे और दूसरा कोई नहीं है ॥ ख ॥

अथातस्तयोर्वैधर्म्यमाह—

'एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चे'ति ॥ ग ॥

प्रकृति-पुरुष के परस्पर विभिन्न धर्म—प्रकृति तो एक, अचेतना (चेतना से रहित), तीन गुणों वाली, बीजधर्मवाली, प्रसवधर्मवाली और अमध्यस्थ धर्मवाली है ॥ ग ॥

***अचेतना=जडा, त्रिगुणा=तुल्यगुणत्रयात्मिका, बीजधर्मिणी=सर्वेषां महदादीनां विकाराणां बीजत्वेनावस्थिता, प्रसवधर्मिणी=पुरुषेणाक्रान्ता क्षोभं प्राप्य साम्यमतिक्रम्य महदहङ्कारादिक्रमेण जगतः प्रसवित्री, अमध्यस्थधर्मिणी=सुखदुःखभोगभोगिनी, न तु सुखदुःखभोगादुदासीना ॥ ग ॥**

अचेतना अर्थात् जड, तीन गुणोंवाली अर्थात् समान भाव को प्राप्त हुये तीन गुणोंवाली, बीजधर्मवाली अर्थात् सम्पूर्ण महत्तत्त्वादिक ७ विकारों के बीजरूप से स्थित, प्रसवधर्मवाली अर्थात् पुरुष

से आक्रान्त होती हुई (जब पुरुष द्रष्टा और भोक्ता होता है, उस समय) क्षोभ को प्राप्त होकर और गुणों के समभाव को छोड कर महत्तत्त्व से अहङ्कार और अहङ्कार से ५ तन्मात्र इत्यादि क्रम से जगत् को उत्पन्न करनेवाली, अमध्यस्थ धर्मवाली अर्थात् सुख दुःख के भोगों को भोगनेवाली न कि सुख दु.ख के भोग से उदासीन रहनेवाली है ॥ ग ॥

'पुरुषस्तु चेतनावान् निर्गुणोऽप्रसवधर्माऽबीजधर्मा मध्यस्थधर्मा चे'ति ॥ घ ॥

पुरुष तो (अनेक) चेतनावाला, निर्गुण, अप्रसवधर्म, अबीजधर्म तथा मध्यस्थ धर्म से युक्त है ॥घ॥

***निर्गुणः=अविद्यमानसत्त्वादिगुणः, अबीजधर्मा=महाप्रलयेम हदादीनां विकाराणां प्रकृताविव तस्मिन्ननवस्थानाद् , मध्यस्थधर्मा=सुखदुःखेच्छाद्वेषादिभ्य उदासीनः ॥ घ ॥**

निर्गुण अर्थात् जिसमें सत्त्व, रज और तम इन में से कोई भी गुण वर्त्तमान न हो, अबीजधर्मा अर्थात् महाप्रलय होने पर महत्तत्त्वादिक विकार जिस तरह प्रकृति में रहते हैं, उस तरह पुरुष में न रहने से पुरुष प्रकृति की भाँति बीजधर्मवाला नहीं है। वह तो मध्यस्थधर्मा अर्थात् सुख दुःख इच्छा द्वेषादिक से उदासीन रहनेवाला है ॥ घ ॥

अथ प्रकृतेर्नामान्याह—

प्रधानं प्रकृतिः शक्तिर्नित्या चाविकृतिस्तथा । एतानि तस्या नामानि पुरुषं या समाश्रिता ॥५॥

प्रकृति के नाम—जो प्रकृति पुरुष का भली प्रकार आश्रय लिये हुई है, उसके प्रधान प्रकृति, शक्ति, नित्या और अविकृति ये नाम हैं ॥ ५ ॥

अथ प्रकृतेर्गुणानाह—

सत्त्वं रजस्तमश्चेति विज्ञेयाः प्रकृतेर्गुणाः । तैश्च युक्तस्य चित्तस्य कथयाम्यखिलान् गुणान् ॥६॥

प्रकृति के गुण—सत्त्व, रज और तम ये तीनों प्रकृति के गुण हैं। इनसे युक्त चित्त (मन) के सम्पूर्ण गुणों को आगे कहते हैं ॥ ६ ॥

अथ सत्त्वगुणयुक्तस्य मनसो लक्षणमाह—

आस्तिक्यं प्रविभज्य भोजनमनुत्तापश्च तथ्यं वचो-
मेधाबुद्धिधृतिक्षमाश्च करुणा ज्ञानं च निर्दम्भता ।
कर्मानिन्दितमस्पृहं च विनयो धर्मः सदैवादरा-
देते सत्त्वगुणान्वितस्य मनसो गीता गुणा ज्ञानिभिः ॥ ७ ॥

सत्त्वगुण से युक्त मन के लक्षण-आस्तिकपन, भक्ष्याभक्ष्य का विचार कर भोजन करना, उत्ताप न करना, सत्य बात बोलना, मेधा अर्थात् सुनी हुई बात को धारण करने की शक्ति रखनेवाली बुद्धि, धृति, क्षमा, करुणा, ज्ञान, निर्दम्भता, अनिन्दित (लोक-शास्त्र से जो निन्दित न हो) तथा स्पृहा से रहित कर्म, विनय और धर्म इन सब सत्त्वगुणों से युक्त मन के गुणों का ज्ञानियों ने सदैव आदर से वर्णन किया है ॥ ७ ॥

***अस्ति धर्ममोक्षपरलोकादिकमिति बुद्ध्या चरतीत्यास्तिकस्तस्य भाव आस्तिक्यम् , अनुत्तापः=अक्रोधः, धृतिः=भूतप्रेतस्मरक्रोधलोभाद्यावेशराहित्यम् , ज्ञानम्=आत्मज्ञानम् , निर्दम्भता=कपटाभावः, कर्म-अनिन्दितम् , अस्पृहम्=निष्कामं च ॥ ७ ॥**

धर्म, मुक्ति और परलोक (स्वर्गादिक) ये सब यथार्थ में हैं, इस बुद्धि से इनकी प्राप्ति के लिये जो कर्म करते हैं, वे आस्तिक कहलाते हैं, और उनके भाव को आस्तिक्य (आस्तिकपन) कहते हैं। अनुत्ताप अर्थात् क्रोध से रहित होना, धृति अर्थात् भूत, प्रेत, काम, क्रोध और लोभादिकों के आवेश से बचकर रहना, ज्ञान अर्थात् आत्मज्ञान, निर्दम्भता अर्थात् कपट न रखना, अनिन्दित और अस्पृह, अर्थात् कामना से रहित कर्म ॥ ७ ॥

अथ रजोगुणयुक्तस्य मनसोल क्षणमाह—

क्रोधस्ताडनशीलता च बहुलं दुःखं सुखेच्छाऽधिका
दम्भः कामुकताऽप्यलीकवचनं चाधीरताऽहङ्कृतिः ।
ऐश्वर्यादभिमानिताऽतिशयितानन्दोऽधिकश्चाटनं
प्रख्याता हि रजोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः ॥ ८ ॥

रजोगुण से युक्त मन के लक्षण—क्रोध करना, मारने पीटने का स्वभाव रखना, बहुत दुःख

करना, सुख की इच्छा अधिकरखना, दाम्भिक तथा कामी होना, झूठ बोलना, धैर्य न रखना, अहङ्कार करना, ऐश्वर्य होने से अभिमान करना, अधिक आनन्द मानना और पृथ्वी में अधिक परिभ्रमण करना, ये सब रजोगुण से युक्त मन के गुण (लक्षण) प्रसिद्ध हैं ॥ ८ ॥

***अलीकवचनं = मिथ्याकथनम् , अटनं = पृथ्वीपरिभ्रमणम् ॥ ८ ॥**

'अलीकवचन' का 'झूठ बोलना' तथा 'अटन' का पृथ्वी में परिभ्रमण करना अर्थ है ॥ ८ ॥

अथ तमोगुणयुक्तस्य मनसो लक्ष्ममाह—

नास्तिक्यं सुविषण्णताऽतिशयितालस्यं च दुष्टा मतिः
प्रीतिर्निन्दितकर्मशर्मणि सदा निद्रालुताऽहर्निशम् ।
अज्ञानं किल सर्वतोऽपि सततं क्रोधान्धता मूढता
प्रख्याता हि तमोगुणेन सहितस्यैते गुणाश्चेतसः ॥ ९ ॥

तमोगुण से युक्त मन के लक्षण—नास्तिकपन रखना, अत्यन्त खेद से युक्त रहना, अत्यन्त आलस्य रखना, दुष्ट बुद्धि का होना, निन्दित कर्म करने से उत्पन्न सुखों में निरन्तर प्रीति रखना, दिनरात सोना, सभी विषयों में अज्ञान रहना, सदैव क्रोध से अन्धा रहना और मूर्खता करना, ये सब तमोगुण से युक्त मन के (लक्षण) हैं ॥ ९ ॥

तत्र प्रभूतसत्त्वस्तु सात्त्विकः पुरुषः स्मृतः । राजसस्तामसश्चैव त्रिविधस्तेन मानवः ॥ १० ॥

उसमें अधिक सत्त्वगुणवाला पुरुष सात्त्विकी, अधिक रजोगुणवाला राजसी और अधिक तमोगुणवाला तामसी प्रकृति का मनुष्य कहलाता है। इस तरह तीन प्रकार के मनुष्य विश्व में होते हैं ॥१०॥

अथ महत्तत्त्वोत्पत्तिमाह—

ततोऽभवन्महत्तत्त्वं बुद्धितत्त्वापराभिधम् ।
त्रिगुणं सत्त्वबहुलं निर्मलं स्फटिकोपमम् । चिच्छायाप्राप्तचैतन्यं तदिच्छामयमीरितम् ॥ ११ ॥

महत्तत्त्व की उत्पत्ति—उस (समसत्त्व रजस्तम. स्वरूपिण प्रकृति) से महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ है उसका दूसरा नाम 'बुद्धितत्त्व' भी है। महत्तत्त्व यद्यपि त्रिगुणात्मक (तीन गुणोंवाला) है, तथापि वह अधिक सत्त्वगुणवाला है अर्थात् उसमें और गुणों की अपेक्षा सत्त्वगुण अधिक है, और वह स्फटिक के समान निर्मल है। ऋषियों ने उसे चित् (आत्मतत्त्व) का प्रतिबिम्ब पडने से चेतना को प्राप्त किया हुआ अत एव परमात्मा का इच्छामय कहा है ॥ ११ ॥

***ततः प्रकृते स्त्रिगुणं = त्रयो गुणा यत्र तत् , तच्च सत्त्वबहुलम् , अत्रायमभिप्रायः—यथा निश्चले ह्रदादौ बहुद्रव्यपातात् तदीयं जलं वर्द्धते तथा चिद्रूपपुरुषेणाक्रमणात् तुल्यगुणत्रयात्मिकायाः प्रकृतेर्ज्ञानहेतुः प्रकाशकः सत्त्वगुणो वृद्धः प्रवृद्धसत्त्वतः प्रकृतेः सत्त्वबहुलं बुद्धितत्त्वमभवत् ॥ ११ ॥**

उससे अर्थात् प्रकृति से त्रिगुण अर्थात् जिसमें सत्त्व, रज और तम, ये ३ गुण विद्यमान हों उसे त्रिगुण कहते हैं, और वह त्रिगुण कैसा हो कि 'सत्त्वबहुल' अर्थात् सत्त्वादि ३ गुणों के मध्य में सत्त्वगुण ही जिसमें अधिक मात्रा से विद्यमान हो, वह सत्त्वबहुल कहलाता है। त्रिगुण और सत्त्वबहुल इन दोनों विशेषणों को यहाँ पर देने का अभिप्राय यह है कि—जैसे निश्चल (स्थिर) जलवाले तालाब आदि में बहुत से द्रव्य प्रस्तरादि गिर जाने से उसका जल बढ जाता है, उसी तरह चैतन्यरूप पुरुष के आक्रमण करने से अर्थात् आत्मतत्त्व के द्रष्टा और भोक्ता होने से तुल्यगुणत्रयात्मिका प्रकृति का कारणरूप जो प्रकाशक सत्त्वगुण है, वह वृद्धि को प्राप्त हुआ। फिर सत्त्वगुण की वृद्धि होने से प्रकृति से अधिक सत्त्वगुणवाला बुद्धितत्त्व (महत्तत्त्व) उत्पन्न हुआ ॥ ११ ॥

अथाहङ्कारस्योत्पत्तिं तस्य च त्रैविध्यमप्याह—

महतस्त्रिगुणाज्जातोऽहङ्कारस्त्रिगुणान्वितः । सात्त्विको राजसश्चापि तामसश्चेति स त्रिधा ॥ १२ ॥

अहङ्कार की उत्पत्ति और भेद—त्रिगुणात्मक महत्तत्त्व से तीनों गुणों से युक्त अहङ्कारतत्त्व,उत्पन्न होता है और वह सात्त्विक, राजस और तामस इन भेदों से तीन प्रकार का है ॥ १२ ॥

***महतो = बुद्धितत्त्वात् , त्रिगुणात् = त्रयो गुणा यत्र ततः, ननु महत्तत्त्वं त्रिगुणमुक्तमेव, किमर्थं महतस्त्रिगुणादिति विशेषणम् , सत्यम् , त्रिगुणादिति पुनर्विशेषणादुक्तं सत्त्वबहुलमिति विशेषणमत्र नानुवर्त्तते, तेनाहङ्कारोत्पादकं महत्तत्त्वं त्रिगुणमपि रजोबहुलं बोद्धव्यम्,**

अहङ्कारस्य रजोगुणान्वितस्य मनोधर्मत्वाद् । अहङ्कारोऽभिमानव्यापारः । अहङ्कारस्त्रिविधस्त-माह—सात्त्विक इत्यादि ॥ १२ ॥

महत्तत्त्व से अर्थात् बुद्धितत्त्व से, त्रिगुण से अर्थात् जिसमें तीन गुण विद्यमान हों उससे । यहां पर यदि कोई यह शङ्का करे कि 'महत्तत्त्व तो तीन गुणोंवाला है' ऐसा पहले कहा ही गया है पुनः उसका 'त्रिगुण' यह विशेषण यहां पर क्यों दिया ? तो इसका उत्तर यह है कि पूर्व में महत्तत्त्व के दो विशेषण कह आये हैं, उनमें से प्रथम 'त्रिगुण' और द्वितीय 'सत्त्वबहुल' है । अब यदि यहां पर महत्तत्त्व का यहाँ विशेषण न होता तो वह त्रिगुण और सत्त्वबहुल इन दो विशेषणों से विशिष्ट लिया जाता, अब उसमें से केवल 'त्रिगुण' विशेषण यहां पर देने से 'सत्त्वबहुल' यह दूसरा विशेषण महत्तत्त्व में नहीं लगाया गया । इससे यह सिद्ध हुआ कि अहङ्कार को उत्पन्न करनेवाला महत्तत्त्व यद्यपि त्रिगुण है तथापि उसे पूर्व की भाँति सत्त्वबहुल न समझ कर रजोबहुल (अधिक रजो गुणवाला) ही समझना चाहिये । क्योंकि रजोगुण से युक्त अहङ्कार मनका धर्म है, अभिमानरूपी व्यापार से युक्त जो है, उसे अहङ्कार कहते हैं । वह अहङ्कार तीन प्रकार का है, उसी को सात्त्विक इत्यादि से कहते हैं ॥ १२ ॥

अथ त्रिविधस्याहङ्कारस्य कार्यमाह—

जातानि सात्त्विकात्तस्मादिन्द्रियाणि सराजसात्। तानि श्रोत्रं त्वचो नेत्रं रसना नासिका तथा॥
वाग्घस्तचरणोपस्थगुदान्येकादशं मनः। पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्याहुः प्राक्तनानीतराणि च ॥ १४ ॥
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव कथयन्ति विपश्चितः ॥ १५ ॥

त्रिविध अहङ्कार के कार्य—राजस अहङ्कार से युक्त सात्त्विक अहङ्कार से जो इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, वे कान, त्वचा (चमड़ी), नेत्र, जिह्वा, नाक, वाणी, दोनों हाथ, दोनों पैर, मूत्रेन्द्रिय और गुदा, इस तरह से दश और ग्यारहवा मन है । इनमें से आरम्भ के पांच इन्द्रियों को बुद्धीन्द्रिय और बाद की पांच इन्द्रियों को पण्डित लोग कर्मेन्द्रिय कहते हैं ॥ १३-१५ ॥

***बुद्धीन्द्रियाणि बुद्धेराश्रयत्वात्, कर्मेन्द्रियाणि कर्माश्रयत्वात्, सात्त्विकाहङ्काराज्जातत्वादिन्द्रियाणि प्रकाशलक्षणानि, सत्त्वस्य प्रकाशकत्वात् ॥ १३-१५ ॥**

बुद्धि के आश्रित होने से श्रोत्रादि ५ इन्द्रियों को बुद्धीन्द्रिय और कर्म के आश्रित होने से वाणी आदि ५ इन्द्रियों को कर्मेन्द्रिय कहते हैं । सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होने से इन्द्रियाँ प्रकाशलक्षण वाली हैं, क्योंकि सत्त्वगुण प्रकाशक है ॥ १३-१५ ॥

अथ मनस उभयेन्द्रियत्वमाह—

मनो बुद्धीन्द्रियं विज्ञैः कर्मेन्द्रियमपि स्मृतम् । मनोऽधिष्ठितमेवेदमिन्द्रियं यत्प्रवर्त्तते ॥ १६ ॥

मन का बुद्धीन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय से अभिन्नता-पण्डित लोगों ने मनको बुद्धीन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय दोनों ही माना है, क्योंकि बुद्धीन्द्रिया या कर्मेन्द्रियाँ जो अपने अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं, वे केवल मन के अधीन होने से ही; अर्थात् विना मन के कोई इन्द्रिया अपने विषयों को ग्रहण करने में कभी भी समर्थ नहीं हो सकतीं ॥ १६ ॥

अथेन्द्रियाणा विषयानाह—

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धो ह्यनुक्रमात् । बुद्धीन्द्रियाणां विषयाः समाख्याता महर्षिभिः॥

बुद्धीन्द्रियों के विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये अनुक्रम से बुद्धीन्द्रियों के विषय हैं अर्थात् कानों का विषय शब्द, त्वचा का विषय स्पर्श, नेत्रों का विषय रूप, जिह्वा का विषय रस और नासिका का विषय गन्ध महर्षियों ने कहा है ॥ १७ ॥

वाच्यं ग्राह्यञ्च गन्तव्यमानन्दं त्याज्यमेव च । कर्मेन्द्रियाणां विषयाज्ज्ञानञ्चे[1] विषयो हृदः ॥१८॥

कर्मेन्द्रिय और मन के विषय—वाच्य, ग्राह्य, गन्तव्य, आनन्द, त्याज्य ये सब यथाक्रम से कर्मेन्द्रियों के विषय हैं अर्थात् वाणी का विषय वाच्य, हाथ का विषय ग्राह्य, पाँव का विषय गन्तव्य, लिङ्ग का विषय आनन्द तथा गुदा का विषय त्याज्य जानना चाहिये और मन का विषय ज्ञान अर्थात् हर एक विषयों की जानकारी रखना है ॥ १८ ॥

---

१. 'ज्ञातव्य' इति पाठान्तरम् ।

***हृदः = मनसः ॥ १८ ॥**

यहा पर 'हृत्' पद से 'मन' का ग्रहण करना चाहिये ॥ १८ ॥

अथ पञ्चतन्मात्रोत्पत्तिमाह—

तामसादप्यहङ्कारात्तन्मात्राणि सराजसात् । पञ्चाल्पसत्त्वसम्बन्धात्तल्लिङ्गानि भवन्ति हि ॥१९॥
शब्दतन्मात्रकं स्पर्शतन्मात्रं रूपमात्रकम् । रसतन्मात्रक गन्धतन्मात्रमिति तानि तु ॥२०॥

पच तन्मात्रों की उत्पत्ति के विषय—राजस अहङ्कार से युक्त तामस अहङ्कार स पॉच प्रकार के तन्मात्र उत्पन्न होते हैं, सत्त्वगुण का थोडा सम्बन्ध होने से वे पाँच तन्मात्र तल्लिङ्ग अर्थात् राजस और तामस के जो मोहादिक चिह्न हैं, उनसे युक्त होते हैं। वे सब तन्मात्र शब्दतन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र इस प्रकार से पाँच हैं ॥ १९-२० ॥

*** तल्लिङ्गानि = मोहादिलिङ्गानि, तान्यनुद्भूतस्वभावानि[1] बाह्येन्द्रियाग्राह्याणि[2], शब्दादीन्येव तन्मात्राणि, तानि च योगिभिरेव ग्राह्याणि, सा सा मात्रा यस्मिंस्तत् तन्मात्रम् ॥**

शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र ये सब तल्लिङ्ग अथात् मोहादि लिङ्ग (चिह्न) वाले है। वे सब तन्मात्र अव्यक्त स्वभाव वाले हैं अर्थात् उन सबों का स्वभाव कैसा है यह कुछ नहीं मालूम पडता। अत एव वे बाह्येन्द्रिय कर्णादिकों से अग्राह्य है अर्थात् उनका ग्रहण इन्द्रियों से नही हो सकता। शब्दादि तन्मात्र हैं अर्थात् शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र इत्यादि क्रम से ५ तन्मात्र हैं और वे सब योगियों से ही ग्रहण करने योग्य हैं। साधारण लोग उन सबों का ग्रहण नहीं कर सकते, तन्मात्र—वही वही मात्रा (शब्दादिक) जिसमें हों उसे तन्मात्र कहते हैं अर्थात् शब्दतन्मात्र में शब्द का, स्पर्शतन्मात्र में स्पर्शका, रूपतन्मात्र में रूपका, रसतन्मात्र में रस का और गन्धतन्मात्र में गन्ध की ही केवल सूक्ष्मातिसूक्ष्म मात्रा है। अतः ये सब शब्दादि तन्मात्र कहलाते हैं ॥ १९-२० ॥

अथ महाभूतोत्पत्तिमाह—

तन्मात्रेभ्यो वियद्वायुर्वह्निर्वारि वसुन्धरा । एतानि पञ्च जायन्ते महाभूतानि तत्क्रमात् ॥२१॥

पंचमहाभूतों की उत्पत्ति—शब्दादि पाँच तन्मात्रों से यथाक्रम आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पाच महाभूत उत्पन्न होते हैं ॥ २१ ॥

*** एकोत्तरपरिवृद्ध्या वियदादयो जायन्त इत्यर्थः। तद्यथा—शब्दतन्मात्राच्छब्दगुणं वियज्जायते, शब्दतन्मात्रसहितात्स्पर्शतन्मात्राच्छब्दस्पर्शगुणो वायुर्जायते, शब्दतन्मात्रस्पर्शतन्मात्रसहिताद्रूपतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपगुणो वह्निर्जायते, शब्दतन्मात्रस्पर्शतन्मात्ररूपतन्मात्रसहिताद्रसतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगुणं वारि जायते, शब्दतन्मात्रस्पर्शतन्मात्ररूपतन्मात्ररसतन्मात्रसहिताद्गन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा वसुन्धरा जायते ॥ २१ ॥**

पाँच तन्मात्रों से एक २ की उत्तरोत्तर वृद्धि द्वारा आकाशादि पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। जैसे—शब्दतन्मात्र से शब्दगुणवाला आकाश उत्पन्न होता है। शब्दतन्मात्र के सहित स्पर्शतन्मात्र से शब्द और स्पर्शगुणवाला वायु उत्पन्न होता है। शब्दतन्मात्र और स्पर्शतन्मात्र के सहित रूप-तन्मात्र से शब्द, स्पर्श और रूप गुणवाला अग्नि उत्पन्न होता है। शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र और रूपतन्मात्र के सहित रसतन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप और रस गुणवाला जल उत्पन्न होता है। इसी प्रकार से शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र और रसतन्मात्र के सहित गन्धतन्मात्र से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुणवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है ॥ २१ ॥

अथ महाभूताना गुणानाह, तत्रादौ वियद्गुणानाह—

शब्दः श्रोत्रेन्द्रियं वाऽपि च्छिद्राणि च विविक्तता । वियतः कथिता एते गुणागुणविचारिभिः ॥

आकाश के गुण—गुणों का विचार करनेवाले पण्डितों ने शब्द, कर्णेन्द्रिय, छिद्र और विविक्तता ये सब गुण आकाश के कहे हैं ॥ २२ ॥

***विविक्तता = शारीराणां[3] भावानां शिरास्नाय्वस्थिपेशीप्रभृतीनां जातिव्यक्तिभ्यां मिथः पृथक्त्वम् ॥ २२ ॥**

---

१. 'तान्यद्भुतस्वभावानी'ति पाठ. सर्वत्रोपलभ्यते, किन्तु तदपेक्षयाऽत्रत्यः पाठ. साधीयानिति विभावनीयम्। २. 'बाह्येन्द्रियग्राह्याणी'ति सर्वत्रोपलब्धः पाठो भ्रान्तिमूलकस्तस्मान्नादरणीयः।
३. क्वचित् 'शरीराणाम्' इति पाठः।

विविक्तता=शिरा (कोमल नसें), स्नायु (दृढ नसें), हड्डी और मांसपेशी इत्यादि शरीर के अन्दर स्थित जो पदार्थ हैं, उन सबों को जाति और व्यक्ति के द्वारा परस्पर पृथक् करने का नाम विविक्तता है ॥ २२ ॥

अथ वायोर्गुणानाह—

स्पर्शस्त्वगिन्द्रियञ्चापि लघुता स्पन्दनं तनोः । चेष्टा सर्वशरीरस्य वायोरेते गुणाः स्मृताः ॥२३॥

वायु के गुण—स्पर्श, त्वगिन्द्रिय, लघुता, शरीर का स्पन्दन (हिलना) और सब शरीर की चेष्टा ये गुण वायु के कहे गये हैं ॥ २३ ॥

अथ वह्नेर्गुणानाह—

रूपं नेत्रेन्द्रियं पाकः सन्तापस्तीक्ष्णता तथा। वर्णो भ्राजिष्णुताऽमर्षः शौर्यं वह्नेर्गुणा अमी ॥२४॥

अग्नि के गुण—रूप, नेत्रेन्द्रिय, पाक, सन्ताप, तीक्ष्णता, वर्ण, भ्राजिष्णुता, अमर्ष और शूरता ये सब गुण अग्नि के कहे गये हैं ॥ २४ ॥

*** रूपं=लावण्यम् । पाकः=उदराग्निना आहारपाकः । सन्तापः=औष्ण्यम् , तीक्ष्णता= आशुकारिता । वर्णो=गौरादिः । भ्राजिष्णुता=दीप्तिः । अमर्षः=क्रोधः ॥ २४ ॥**

रूप=लावण्य (लुनाई), पाक=जठराग्नि के द्वारा उदरगत भोज्य पदार्थों का पचना, सन्ताप= गर्मी, तीक्ष्णता=हर एक कार्यों को शीघ्रता से करना, वर्ण=गोरा काला आदि शरीर का रंग. भ्राजिष्णुता=दीप्ति (कान्ति), अमर्ष=क्रोध ॥ २४ ॥

अथ वारिगुणानाह—

रसो[1] रसेन्द्रियं शैत्यं स्नेहश्च गुरुता तथा । सर्वद्रवसमूहश्च शुक्रं वारिगुणाः स्मृताः ॥ २५ ॥

जल के गुण—रस (मधुरादि ६ रस), रसेन्द्रिय (जिह्वाग्रवर्त्ती), शीतलता, स्नेह (चिकनाहट), गुरुता (भारीपन), सम्पूर्ण द्रव (बहनेवाले) पदार्थों का समूह और शुक्र ये सब गुण जल के कहे गये हैं ॥ २५ ॥

अथ वसुन्धरागुणानाह—

गन्धो घ्राणेन्द्रियं चापि काठिन्यं गौरवं तथा । वसुन्धरा गुणा एते गदिता गुणवेदिभिः ॥२६॥

पृथ्वी के गुण—गन्ध, घ्राणेन्द्रिय (नासिका के अग्रभाग में रहनेवाला इन्द्रिय), कठिनता और गुरुत्व ये सब गुण के विचार करनेवाले पण्डितों ने पृथ्वी के गुण कहे हैं ॥ २६ ॥

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च तत्क्रमात् । तन्मात्राणां विशेषाःस्युःस्थूलभावमुपागताः ॥२७॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पांच तत्क्रम से अर्थात् शब्दतन्मात्रादिक्रम से तन्मात्राओं ही के स्थूलभाव को प्राप्त हुये विशेष हैं, अर्थात् शब्दतन्मात्रादि ही स्थूलभाव को प्राप्त होकर शब्द, स्पर्शादिरूप में परिणत हो जाते हैं ॥ २७ ॥

***तत्क्रमात्=शब्दतन्मात्रादिक्रमात् । अनुभवयोग्यैः सुखदुःखमोहरूपैर्धर्मैर्विशेष्यन्त इति विशेषाः । अत्र कर्मणि घञ्प्रत्ययः । तन्मात्राणि त्वविशेषाणि यतस्तान्यनुभवयोग्यैः सुखादिभिर्विशेष्टुं न शक्यन्ते सूक्ष्मत्वात् ॥ २७ ॥**

'तत्क्रमात्' इस पद से 'शब्दतन्मात्रादि क्रम से' यह अर्थ समझना चाहिये । विशेष अर्थात् अनुभव के योग्य सुख, दुःख, मोहरूप धर्मों के द्वारा जिसका विशेष किया जाय उसे विशेष कहते हैं । यहाँ पर कर्म में घञ् प्रत्यय हुआ है । शब्दादि तन्मात्र जो है वे तो अविशेष हैं, क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म होने से अनुभव के योग्य सुखादिकों के द्वारा उनका विशेष नहीं किया जा सकता, स्थूलभाव को प्राप्त होने पर तो शब्द, स्पर्शादि रूप से उन तन्मात्रों का अनुभव योग्य सुखादिकों के द्वारा विशेष किया जा सकता है ॥ २७ ॥

अथाष्टानां प्रकृतीनां मध्ये तावत् प्रथमां प्रकृतिमाह—

प्रकृतेः कारणायोगान्मता प्रकृतिरेव सा । महत्तत्त्वादयः सप्त शक्तेर्विकृतयः स्मृताः ॥ २८ ॥

आठ प्रकार की प्रकृति में पहिली प्रकृति—प्रकृति अर्थात् अव्यक्त के सम्बन्ध में कारण का योग न होने से अर्थात् अव्यक्त (प्रकृति) का कोई कारण नहीं है अतः वही यथार्थ रूपसे प्रकृति इस नामसे कही जाती है और महत्तत्त्वादि ७ तो शक्ति अर्थात् प्रकृति की विकृति अर्थात् कार्य कहे जाते हैं ॥२८॥

१. 'रसा' इति पाठान्तरम् ।

ॐप्रकृतिरेव=कारणमेव[1], न तु कस्यचित् कार्यमित्यर्थः[2]। शक्तेः प्रकृतेर्विकृतयः=कार्याणि॥

प्रकृति ही है अर्थात् सर्वों का कारण ही है, न कि किसी का कार्य है और महत्तत्त्वादि (महान्, अहङ्कार और पाँच तन्मात्र) सात शक्ति अर्थात् प्रकृति के विकृति अर्थात् कार्य हैं ॥ २८॥

अथ सप्त प्रकृतीराह—

इन्द्रियाणां च भूतानां कारणत्वान्महर्षिभिः। महत्तत्त्वादयः सप्त प्रोक्ताः प्रकृतयोऽपि च॥२९॥

सप्त प्रकृतियाँ—महत्तत्त्वादिक ७ जो प्रकृति के कार्य हैं, वे इन्द्रियों और पाँच महाभूतों के कारण हैं। अतः महर्षियों ने इन्हें भी प्रकृति ही कहा है॥ २९॥

ॐ([3]कार्याणि, इन्द्रियाणां सर्वभूतानां कारणत्वान्महर्षिभिर्महत्तत्वादयः सप्त महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणीति प्रकृतयोऽपि प्रोक्ताः)। [[4]तथा सति प्रकृतिर्महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः]॥ २९॥

जब कि इन्द्रियों का और पञ्च महाभूतों का कारण होने से प्रकृति के कार्यरूप महान्, अहङ्कार, पाँच तन्मात्र इस प्रकार से महत्तत्त्वादि ७ की महर्षियों ने प्रकृति के मध्य में गणना की है तो वैसा होने से प्रकृति, महान्, अहङ्कार और पाच तन्मात्र इस तरह से ये ८ प्रकृतिया हुईं॥ २९॥

अथ षोडश विकारानाह—

दशेन्द्रियाणि चित्तञ्च महाभूतानि पञ्च च। एतानि सृष्टिं जानद्भिर्विकाराः षोडश स्मृताः॥३०॥

सोलह विकार—सृष्टि के अर्थात् सृष्टि किस क्रम से होती है, इस विषय के जाननेवाले पण्डितों ने दश इन्द्रिय, चित्त और पाँच महाभूत ये ही १६ विकार के नाम से कहे हैं अर्थात् ये विकार कहलाते हैं॥ ३०॥

ॐविकाराः=कार्याणि॥ ३०॥

विकार का अर्थ है कार्य॥ ३०॥

अथ चतुर्विंशतितत्त्वान्युपसंहरञ्जीवात्मनः स्थानमाह—

एवं चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः सिद्धे वपुर्गृहे। जीवात्मा नियतेर्निघ्नो वसति स्वान्तदूतवान्॥ ३१॥

जीवात्मा के निवासस्थान—इस प्रकार चौवीस तत्त्वों से अर्थात् ८ प्रकृति और १६ विकारों से बने हुये शरीररूपी गृह में शुभ तथा अशुभ कर्मों के अधीन होता हुआ, मनरूपी दूत से युक्त होकर जीवात्मा निवास करता है॥ ३१॥

ॐअत्र शब्दादीनां वियदादिमहाभूतगुणानां धर्मिभ्योऽभिन्नतया पृथक्त्वं निरस्यन्नुक्तानां तत्त्वानामुपसंहारमाह—चतुर्विंशतिभिरिति। तानि च प्रकृतयोऽष्टौ विकाराः षोडशेति। महत्तत्वादीनि[5] प्रकृत्यादीनां भावाः, नियतेः=शुभाशुभकर्मणः, निघ्नः=आयत्तः, स्वान्तदूतवान्=मनोदूतयुक्तः॥ ३१॥

यहां आकाशादि पाँच महाभूतों के गुण जो शब्दादि (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) हैं, इन्हीं की 'धर्मी से धर्म अभिन्न होता है' इस नियम से पाच महाभूतों से पृथक्ता का खण्डन करते हुए अर्थात् जो लोग शब्दादिकों को महाभूतों से पृथक् मानते थे, उनके मत का खण्डन करते हुये और कहे हुए तत्त्वों का उपसंहार करते हुए 'चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः' (२४ तत्त्वों से) ऐसा कहा। वे चौवीस तत्त्व ८ प्रकृति और १६ विकार ये हैं। महत्तत्त्वादि सब प्रकृति आदि के भाव अर्थात् कार्य हैं। यहाँ पर 'नियति' इस पद से 'शुभाशुभ कर्म' यह अर्थ समझना, निघ्न.=अर्थात् अधीन, स्वान्तदूतवान्=मनरूपी दूत से युक्त॥ ३१॥

अथ जीवात्मा शरीरीत्युच्यत इत्याह—

स देही कथ्यते पापपुण्यदुःखसुखादिभिः। व्याप्तो बद्धश्च मनसा कृत्रिमैः कर्मबन्धनैः॥ ३२॥

जीवात्मा और शरीरी—वही जीवात्मा पाप-पुण्य और दुःख-सुख से व्याप्त तथा मन के द्वारा कृत्रिम कर्म के बन्धनों से बँधा हुआ शरीरी कहलाता है॥ ३२॥

---

१. क्वचित् 'कारणमि'ति पाठान्तरं तदसमीचीनम्। २ अस्मात् पर—'कार्याणि; इन्द्रियाणां सर्वभूताना कारणत्वान्महर्षिभिर्महत्तत्वादयः सप्त महानहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणी'त्यधिक' पाठो लभ्यते किन्तु स भ्रान्तिमूलक एवेति नादरणीयः। ३ अयं कोष्ठस्थः पाठष्टीकाकृत्सम्मत इत्यत्र विभावनीयम्। ४. अयं कोष्ठस्थः पाठः काचित्कः। ५. 'महत्तत्त्वानी'ति पाठः सर्वत्रोपलभ्यते किन्तु चिन्त्यः।

***सः = जीवात्मा ॥ ३२ ॥**

'सः' पद का अर्थ 'वह जीवात्मा' है ॥ ३२ ॥

तस्य देहिनः शरीरजीवात्मनो· सयोगकारकेण मनसा सयोगे ये ये गुणा उत्पद्यन्ते तानाह—

> **इच्छाद्वेषसुखासुखानि[1] विषयज्ञानं प्रयत्नो मनः**
> **सङ्कल्पश्च विचारणा स्मृतिरथो बुद्धिः कलाविज्ञता ।**
> **प्राणस्योपरि यापनं गुदवशाद्वायोरधः प्रेरणं**
> **नेत्रोन्मेषनिमेषकृत्यकरणोत्साहाश्च जीवे गुणाः ॥ ३३ ॥**

जीव विषयक गुण—इच्छा, द्वेष, सुख, दु.ख, विषयों का ज्ञान, प्रयत्न, मनःसङ्कल्प, विचारणा, स्मृति, बुद्धि, कलाओं की अभिज्ञता, प्राण का ऊपर की ओर लेजाना, गुदा के मार्ग से वायु का नीचे की ओर लेजाना, नेत्रों का उन्मेष और निमेष तथा कार्य करने में उत्साह, ये सब जीवविषयक गुण हैं ॥ ३३ ॥

***इच्छा=सुखहेतुरभिलाषः । द्वेषो=दुःखहेतुर्मनोऽप्रवृत्तिः[2] । सुखं=प्रीतिः । [3]असुखम् = अप्रीतिः । विषयज्ञानं = शब्दादिज्ञानम् । प्रयत्नः = कार्ये तात्पर्यम् । मनः = संशयात्मकं, तस्य कर्मसङ्कल्पः । विचारणा = ऊहापोहाभ्यां वस्तुविमर्शः । स्मृतिः = पूर्वानुभूतस्यार्थस्य स्मरणम् । बुद्धिः = निश्चयात्मिका । कलाविज्ञता=शिल्पशास्त्रादिबोधः । प्राणस्य = हृदयस्थितस्य वायोरुपरि यापनम्=मुखादिप्रतिनयनम् । गुदवशाद्वायोरधःप्रेरणम्=अपानस्याधःप्रेरणम् । नेत्रोन्मेषनिमेषौ = नेत्रयोरुन्मीलननिमीलने । कृत्यकरणोत्साहः = कार्यारम्भे सामर्थ्येनोत्साहः । जीवे = मनोयुक्तस्य जीवात्मनः । अमी = इच्छादयो गुणाः ॥ ३३ ॥**

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमन्मिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे सृष्टिप्रकरणं समाप्तम् ॥

इच्छा = सुखमूलक अभिलाष, द्वेष = दुःखमूलक मनकी अप्रवृत्ति, सुख = प्रीति, असुख = अप्रीति, विषयज्ञान = शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध विषयक ज्ञान, प्रयत्न = कार्यविषयक तत्परता, मन = यह वस्तु है या नही इस प्रकार का सशय (सन्देह) करनेवाला, उसका सङ्कल्प = सशयात्मक मन का कर्म अर्थात् मन के द्वारा सङ्कल्प करना, विचारणा = ऊहापोह (तर्क वितर्क के द्वारा वस्तुविषयक विचार), स्मृति = पूर्व में अनुभूत अर्थ का स्मरण, बुद्धि = निश्चयात्मिका (यह यही वस्तु है दूसरा नही), कलाविज्ञता = शिल्प-शास्त्रादि का बोध, प्राणका अर्थात् हृदयस्थित वायु का ऊपर (मुखादि की) ओर लेजाना, गुदा के मार्ग से वायु का नीचे की ओर लेजाना अर्थात् अपान वायु का नीचे की ओर लेजाना, नेत्रों का उन्मेष और निमेष अर्थात् नेत्रों का खोलना और मूदना, कार्य करने में उत्साह अर्थात् कार्य के आरम्भ करने में सामर्थ्य के अनुरूप उत्साह, जीव विषयक अर्थात् मन से युक्त जीवात्मा के ये इच्छा आदि गुण हैं ॥ ३३ ॥

इति श्रीभिषग्रत्नब्रह्मशङ्करशर्मसाहित्यशास्त्रिणा विरचिताया 'विद्योतिनी'-भाषाटीकाया सृष्टिप्रकरण समाप्तम् ॥ २ ॥

अथ गर्भप्रकरणम् ।

चिकित्साया शरीरी ह्यधिकृतः स शरीरी यथोत्पद्यते तद्बोधयितु गर्भोत्पत्तिक्रममाह ।
गर्भोत्पत्तिभूमिस्तु रजस्वला स्त्री, ततो रजस्वलास्वरूपमाह—

द्वादशाद्वत्सरादूर्ध्वमापञ्चाशत्समाः स्त्रियः । मासि मासि भगद्वारा प्रकृत्यैवार्त्तवं स्रवेत् ॥ १ ॥

रजस्वला स्त्री के स्वरूप—बारह वर्ष की अवस्था से लेकर पचास वर्ष की अवस्था तक की स्त्रियों के भग (योनि) के मार्ग से प्रत्येक महीने में स्वभावत. आर्त्तव (रज) निकलता रहता है ॥ १ ॥

---

१. 'दुःखसुखानी'ति पाठान्तरम् । २. 'मनःप्रवृत्ति'रिति पाठान्तरम् । ३. 'अदुःखमि'ति पाठान्तरम् ।

अथ गर्भग्रहणयोग्यं समयमाह—

आर्त्तवस्रावदिवसादृतुः षोडश रात्रयः। गर्भग्रहणयोग्यस्तु स एव समयः स्मृतः ॥ २ ॥

गर्भ ग्रहण के योग्य समय—जिस दिन से रज निकलने लगता है, उस दिन से लेकर सोलहवीं रात्रि पर्यन्त समय को ऋतुकाल कहते हैं। यही १६ रात्रि व्यापी ऋतुकाल गर्भ धारण करने के योग्य समय है ॥ २ ॥

***सर्वासामेव चतुर्वर्णस्त्रीणां सर्ववादिसम्मतः पूर्वोक्तः समयः। ग्रन्थान्तरे तु विशेषः। तद्यथा—स्नानदिवसादूर्ध्वं द्वादशरात्रावधि ब्राह्मण्याः, दशरात्रावधि क्षत्रियायाः, अष्टरात्रावधि वैश्यायाः, षड्रात्रावधि शूद्राया गर्भधारणे शक्तिः ॥ २ ॥**

चारो वर्णों की सभी स्त्रियों के गर्भधारण करने के सम्बन्ध में पूर्वोक्त समय सभी विद्वानों के सम्मत है किन्तु दूसरे ग्रन्थों में इससे कुछ विशेष लिखा है, कि—जिस दिन रजस्वला स्त्री स्नान करके शुद्ध होती है, उस दिन से लेकर १२ रात्रि तक ब्राह्मणी, १० रात्रि तक क्षत्रिया, ८ रात्रि तक वैश्य और ६ रात्रि तक शूद्रा स्त्री की गर्भधारण करने में शक्ति (सामर्थ्य) रहती है ॥ २ ॥

अथ रजस्वलाया नियमानाह—

आर्त्तवस्रावदिवसादहिंसा ब्रह्मचारिणी। शयीत दर्भशय्यायां पश्येदपि पतिं न च ॥ ३ ॥
करे शरावे पर्णे वा हविष्यं त्र्यहमाहरेत्। अश्रुपातं नखच्छेदमभ्यङ्गमनुलेपनम् ॥ ४ ॥
नेत्रयोरञ्जनं स्नानं दिवास्वापं प्रधावनम्। अत्युच्चशब्दश्रवणं हसनं बहुभाषणम् ॥
आयासं भूमिखननं प्रवातञ्च विवर्जयेत् ॥ ५ ॥

रजस्वला स्त्रियों के नियम—रजस्वला स्त्री जिस दिन रजोधर्म हो जाय उस दिन से तीन दिन तक किसी जीव की हिंसा न करे, ब्रह्मचर्य से रहे, कुश की बनी हुई चटाई पर सोवे और पति का दर्शन न करे, तथा आँसू का गिराना (रोना), नखों का काटना या कटाना, तेल लगाना, चन्दनादिका लेप करना, आँखों में अजन लगाना, स्नान करना, दिन में सोना, दौडना, अत्यन्त ऊँचे शब्दों का सुनना, हंसना, बहुत बोलना, परिश्रम करना, जमीन का खोदना, जहाँ पर अधिक वायु हो वहाँ पर बैठना, ये सब छोड देवे ॥ ३–५ ॥

एतस्या नियमाकरणे दोषानाह—

अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वा लोभाद्वा दैवतश्च वा ॥ ६ ॥
सा चेत् कुर्यान्निषिद्धानि गर्भो दोषांस्तदाऽऽप्नुयात्। एतस्या रोदनाद्गर्भो भवेद्विकृतलोचनः ॥७॥
नखच्छेदेन कुनखी कुष्ठी त्वभ्यङ्गतो भवेत्। अनुलेपात्तथा स्नानाद् दुःखशीलोऽञ्जनादहक् ॥८॥
स्वापशीलो दिवास्वापाच्चञ्चलः स्यात् प्रधावनात्। अत्युच्चशब्दश्रवणाद्बधिरः खलु जायते ॥९॥
तालुदन्तौष्ठजिह्वासु श्यावो हसनतो भवेत्। प्रलापी भूरिकथनादुन्मत्तस्तु परिश्रमात् ॥
स्खलते भूमिखननादुन्मत्तो वातसेवनात् ॥ १० ॥

रजस्वला स्त्री के नियम नहीं पालन करने पर दोष—यदि रजस्वला स्त्री अज्ञान के वश या असावधानता के वश या लोभ के वश अथवा दैव के वश होकर पूर्वोक्त अश्रुपातादि निषिद्ध कार्यों को करे तो उसका गर्भ दोषों को प्राप्त करता है, जैसे—रोने से विकृति नेत्रवाला, नखों के काटने से खराब नखोंवाला, तेल लगाने से कोढी शरीर वाला, चन्दनादि का लेप तथा स्नान करने से सदा दुःखित रहनेवाला, अञ्जन लगाने से अन्धा, दिन में सोने से अधिक सोनेवाला, दौडने से चञ्चल स्वभाव वाला, अत्यन्त ऊँचे शब्द के सुनने से बहिरा, हँसने से तालु, दाँत, ओष्ठ और जिह्वा श्याव (कृष्णमिश्रित पीत वर्ण) वाला, अधिक बोलने से बकवाद करनेवाला, परिश्रम करने से पगला भूमि खोदने से चलते २ लडखडा कर गिर पड़नेवाला और जहा पर अधिक वायु हो वहा पर बैठने से गर्भस्थ शिशु पागल होता है ॥ ६–१० ॥

अथ रजस्वलाकृत्यम्—

पूर्वं पश्येदृतुस्नाता यादृशं नरमङ्गना। तादृशं जनयेत् पुत्रं ततः पश्येत्पतिं प्रियम् ॥ ११ ॥

स्नानोत्तर रजस्वला स्त्री का कर्त्तव्य—रजस्वला स्त्री ऋतुस्नान करके प्रथम जिस तरह के पुरुष को देखती है, उसी तरह के पुत्र को उत्पन्न करती है। अतः ऋतुस्नान करने के बाद सर्वप्रथम पति का अथवा जो अपना प्रिय हो उसका दर्शन करे ॥ ११ ॥

***प्रियमिति । भर्त्तर्यनासन्ने पुत्रादिकमपि पश्येत् ॥ ११ ॥**

'प्रिय' शब्द का तात्पर्य यह है कि यदि पति पास में न हो तो अपने प्रिय पुत्रादि का ही दर्शन करे ॥ ११ ॥

चतुर्थादिदिवसेऽपि रजोनिवृत्तौ स्त्री पत्या सङ्गच्छेन्न तु रजेऽनुवृत्तौ । यत आह—

प्रवहत्सलिले क्षिप्तं द्रव्यं गच्छत्यधो यथा । तथा वहति रक्ते तु क्षिप्तं वीर्यमधो व्रजेत् ॥ १२ ॥

चौथा पाँचवाँ आदि दिन होने पर यदि रजःस्राव वन्द हो गया हो तभी स्त्री पति के साथ सङ्ग करे, रजःस्राव हो रहा हो तो सङ्ग न करे। क्योंकि 'बहते हुये जल में फेंका हुआ द्रव्य जिस भाँति नीचे की तरफ वह कर चला जाता है, उसी भाँति रजःस्राव होते हुये में गिराया हुआ पुरुष का वीर्य वह कर नीचे की ओर चला जाता है अर्थात् गर्भाशय में नही ठहरने पाता, किन्तु रजःस्राव के साथ वाहर निकल जाता है ॥ १२ ॥

अथ भर्तृकृत्यम् । तत्र गर्भाधाने निषिद्ध विहितं च काल तयोः फलञ्चाह—

आयुः क्षयभयाद्भर्त्ता प्रथमे दिवसे स्त्रियम् ॥ १३ ॥

द्वितीयेऽपि दिने रत्यै त्यजेदृतुमतीं तथा । तत्र यश्चाहितो गर्भो जायमानो न जीवति ॥

आहितो यस्तृतीयेऽह्नि स्वल्पायुर्विकलाङ्गकः ॥ १४ ॥

रजस्वला स्त्री के साथ सम्भोग करने का निषेध—पति 'आयु का नाश होगा' इस भय से रजोधर्म का प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय दिन भी ऋतुमती स्त्री के साथ सङ्ग करना छोड देवे क्योंकि प्रथम और द्वितीय दिन में ऋतुमती स्त्री के साथ सङ्ग करने से आयु का क्षय होता है तथा जो गर्भ स्थित होता है, वह उत्पन्न होने पर जीता नहीं है और तीसरे दिन में जो गर्भ स्थित होता है, वह थोड़ी आयुवाला और विकलाङ्ग (न्यूनाधिक अङ्गोंवाला) होता है ॥ १३-१४ ॥

अतश्चतुर्थी षष्ठी स्यादष्टमी दशमी तथा । द्वादशी वाऽपि या रात्रिस्तस्यान्तां विधिना भजेत् ॥

ऋतुमती के साथ सम्भोग करने का प्रशस्त दिन—चौथी, छठी, आठवीं, दशवीं या वारहवीं जो रात्रि हो, जसमें विधि से ऋतुमती स्त्री के साथ सङ्ग करे ॥ १५ ॥

***विधिना = गर्भाधानोक्तविधिना ॥ १५ ॥**

'विधिना' पदसे 'गर्भाधान के विषय में कही हुई विधि से' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १५ ॥

तन्त्रान्तरे—

अत्रोत्तरोत्तरं विद्यादायुरारोग्यमेव च । प्रजासौभाग्यमैश्वर्यं वलञ्चाभिगमात् फलम् ॥ १६ ॥

उपर्युक्त रात्रियों में स्त्रीगमन करने से उत्तरोत्तर आयु, आरोग्य, प्रजा (सन्तान) का सौभाग्य, ऐश्वर्य और वल की प्राप्ति होती है। अर्थात्—४ थी रात्रि में स्त्रीगमन करने से आयु, ६ ठीं रात्रि में आरोग्य, ८ वीं रात्रि में प्रजा का सौभाग्य, १० वीं रात्रि में ऐश्वर्य और १२ वीं रात्रि में वल का लाभ होता है ॥ १६ ॥

अथ सर्वासा स्त्रीणा योनिमध्ये नाडीत्रयमस्तीत्याह—

मनोभवागारमुखेऽवलानां तिस्रो भवन्ति प्रमदाजनानाम् ।
समीरणा चन्द्रमुखी च गौरी विशेषमासामुपवर्णयामि ॥ १७ ॥

स्त्रियों को योनि की नाडियाँ—अवला जो स्त्रियाँ हैं उनके भगद्वार में समीरणा, चान्द्रमसी और गौरी नाम की तीन नाडियाँ होती हैं। उन सवों की जो विशेषता है उसका वर्णन निम्न है ॥१७॥

अथ तासा विशेपमाह—

प्रधानभूता मदनातपत्रे समीरणा नाम विशेषनाडी ।
तस्या मुखे यत् पतितं तु वीर्यं तन्निष्फलं स्यादिति चन्द्रमौलिः ॥ १८ ॥
या चापरा चान्द्रमसी च नाडी कन्दर्पगेहे भवति प्रधाना ।
सा सुन्दरी योषितमेव सूते साध्या भवेदल्परतोत्सवेषु ॥ १९ ॥
गौरीति नाडी यदुपस्थगर्भे प्रधानभूता भवति स्वभावात् ।
पुत्रं प्रसूते वहुधाऽङ्गना सा कष्टोपभोग्या सुरतोपविष्टा ॥ २० ॥

स्त्रीयोनि के नाडियों की विशेषता—मदनातपत्र (योनिद्वार) में प्रधानरूप से समीरणा नाम की जो एक विशेष प्रकार की नाडी है, उसके मुख में जो वीर्य पड जाता है, उससे गर्भ स्थित

नहीं होता और कन्दर्पगृह (भग) के मध्य में जो प्रधानरूप से चान्द्रमसी नाम की दूसरी नाडी होती है, उस नाड़ी के मुख में वीर्य गिरने पर वह सुन्दरी कन्या ही उत्पन्न करती है तथा वह स्त्री थोड़ी ही रतिक्रिया करने से साध्य हो जाती है और जिस स्त्री के भग के मध्य मे गौरी नाम की प्रधानरूप से जो नाड़ी रहती है उसके मुख में यदि वीर्य गिरे तो स्वभावतः वह स्त्री पुत्र ही उत्पन्न करती है तथा रतिक्रिया में प्रायः करके कष्ट से साध्य होती है (जल्दी उसका स्खलन नही होता ऐसा चन्द्रमौलि आचार्य का मत है) ॥ १८-२० ॥

अथ युग्मायुग्मरात्रीणां फलमाह—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ॥ २१ ॥

सम तथा विषम रात्रियों में स्त्रीगमन करने का फल—युग्म अर्थात् ४ थी, ६ ठी, ८ वीं, १० वीं, १२ वीं और १६ वीं रात्रियों में ऋतुमती स्त्रियों के साथ सङ्ग करने से पुत्र उत्पन्न होते हैं और अयुग्म अर्थात् ५ वी, ७ वी, ९ वी, ११ वीं, १३ वीं, १५ वी रात्रियों में स्त्रीगमन करने से पुत्रियाँ उत्पन्न होती हैं ॥ २१ ॥

तत्र दम्पत्योः सम्भोगे यादृक्पुमान्युक्तस्तादृगुच्यते—

स्नातश्चन्दनलिप्ताङ्गः सुगन्धसुमनोऽर्चितः। भुक्तवृष्यः सुवसनः सुवेशः समलङ्कृतः ॥ २२ ॥
ताम्बूलवदनस्तस्यामनुरक्तोऽधिकस्मरः । पुत्रार्थी पुरुषो नारीमुपेयाच्छयने शुभे ॥ २३ ॥

पुरुष के लिये स्त्री सम्भोग का विधान—स्त्री के साथ सम्भोग करने के दिन पुत्रप्राप्ति की इच्छा रखनेवाला पुरुष स्नान करके, शरीर में चन्दन का लेप करके, सुगन्धित फूलों की माला आदि पहन कर अथवा इत्र लगा कर, वीर्य को पैदा करनेवाले दुग्ध, घृतादि द्रव्य का भोजन करके, सुन्दर वस्त्र पहन कर, सुन्दर वेश वना कर तथा अच्छी तरह से अलंकृत होकर, मुख में पान का वीडा रक्खे हुये, अधिक कामान्वित तथा स्त्री मे अनुरक्त होकर उत्तम शय्या पर स्त्री के पास जावे ॥ २२-२३ ॥

तत्रायोग्यं पुरुषमाह—

अत्याशितोऽधृतिः क्षुद्वान् सव्यथाङ्गः पिपासितः। बालो वृद्धोऽन्यवेगार्त्तस्त्यजेद्रोगी च मैथुनम् ॥

स्त्री सम्भोग में अयोग्य पुरुष—जो अत्यन्त भोजन किये हो, भूखा और धैर्य से रहित हो तथा जिस के अङ्गों में दर्द हो रहा हो और जो प्यासा हो, वालक अथवा वृद्ध काम के वेग के अतिरिक्त अन्य मलमूत्रादिके वेग से व्याकुल तथा रोगी हो, वह पुरुष स्त्रीगमन करना छोड देवे ॥२४॥

तत्र स्त्री यादृशी योग्या तादृश्युच्यते—

पुरुषस्य गुणैर्युक्ता विहिता न्यूनभोजना। नारी ऋतुमती पुंसा सङ्गच्छेत्तु सुतार्थिनी ॥ २५ ॥

स्त्री के लिये पुरुष सम्भोग का विधान—सम्भोग करने के समय पुरुष के लिये जो २ उचित गुण कह आये हैं उन २ गुणों से युक्त होकर स्वल्प भोजन किये हुई, पुत्रप्राप्ति की इच्छा रखनेवाली ऋतुमती स्त्री पुरुष के साथ सङ्ग करे ॥ २५ ॥

तत्रायोग्या स्त्रियमाह—

रजस्वला व्याधिमती विशेषाद्योनिरोगिणी। वयोऽधिका च निष्कामा मलिना गर्भिणी तथा
एतासां सङ्गमात्पुंसां वैगुण्यानि भवन्ति हि ॥ २६ ॥

सम्भोग के अयोग्य—रजस्वला, रोगिणी पुरुष की अवस्था से अधिक अवस्थावाली, कामचेष्टा से रहित, मैली-कुचैली तथा गर्भिणी स्त्रियों के साथ सङ्ग करने से अनेक वैगुण्य (खरावियाँ) उत्पन्न होते हैं॥ २६ ॥

*तत्र रजस्वला दिनत्रय यावदृतौ निषिद्धा, यत उक्तम्—

***'प्रथमेऽहनि चाण्डाली द्वितीये ब्रह्मघातिनी। तृतीये रजकी पुंसां यथा वर्ज्या तथाङ्गना॥१॥'**

रजस्वला स्त्री के साथ सम्भोग निषेध—रजोधर्म होने के दिन से लेकर तीन दिन तक रजस्वला स्त्री के साथ सङ्ग करना निषिद्ध है। क्योंकि शास्त्र में कहा है कि—'रजस्वला स्त्री प्रथम दिन चाण्डाली, दूसरे दिन ब्रह्मघातिनी, तीसरे दिन धोविन की भाँति अस्पृश्य रहती है' ॥ १ ॥

***व्याधिमती च वर्ज्या । तत्र स्त्रीणां व्याधयः प्रदरादयस्तद्युक्ता निषिद्धा तत्रापि विशेषाद्योनिरोगिणी ॥ २६ ॥**

'व्याधिमती च वर्या' यहाँ 'व्याधिमती' का—प्रदरादि व्याधियुक्त अर्थ है। उसमें भी विशेष करके योनिसम्बन्धी रोगवाली स्त्री अवश्य निषिद्ध है॥ २६॥

गर्भावतरणक्रममाह—

कामान्मिथुनसंयोगे शुद्धशोणितशुक्रज.। गर्भः सञ्जायते नार्याः स जातो बाल उच्यते ॥२७॥

गर्भस्थिति का क्रम—काम के वश से स्त्री और पुरुष का परस्पर संयोग होने पर शुद्ध रज और वीर्य से उत्पन्न होकर स्त्री को गर्भ होता है, वही गर्भ उदर से बाहर निकलने पर बाल (शिशु) कहलाता है॥ २७॥

***गर्भः शुद्धः, अशुद्धस्तु गर्भोऽशुद्धशुक्रशोणितयोरपि दम्पत्योर्भवति यत आह—**

***'दम्पत्योः कुष्ठबाहुल्याद् दुष्टशोणितशुक्रयोः। यदपत्यन्तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम्' इति॥**

'गर्भ' से 'शुद्ध गर्भ' अर्थ समझना चाहिये, क्योंकि जिन स्त्री-पुरुषों के रज और वीर्य वातादि दोषों से दुष्ट होते हैं। उनका जो गर्भ होता है, वह अशुद्ध कहलाता है जैसा कि कहा है—'अधिक कुष्ठ (कोढ) होने से जिन स्त्री और पुरुषों का रज और शुक्र दुष्ट हो गया है, उन लोगों की जो सन्तान होती है वह भी कुष्ठित अर्थात् कुष्ठयुक्त (कोढी) होती है॥ २॥'

***कुष्ठं सञ्जातं यस्य तत् कुष्ठितम्। अत्र तारकादित्वादितच्प्रत्ययः॥ २॥**

जिसे कुष्ठ उत्पन्न हुआ हो वह 'कुष्ठित' कहलाता है यहां कुष्ठ शब्द से 'तारकादिभ्य इतच्' इस सूत्र से इतच् प्रत्यय होने पर कुष्ठित शब्द की सिद्धि हुई है॥ २॥

यत्तु—'वातादिदुष्टरेतसः प्रजोत्पादने न समर्थाः'। इति सुश्रुतः। तत्र शुद्धप्रजोत्पादने न समर्था इति बोद्धव्यम्। रोगादिनाऽशुद्धास्तु प्रजा वातादिदुष्टशुक्रा अपि जनयन्ति जन्मान्धबधिरपङ्ग्वादिसम्भवात्॥ २७॥

'सुश्रुत' में जो लिखा है कि 'वातादि दोषों से जिनके वीर्य दुष्ट हो गये हैं, वे सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते' वहा 'शुद्ध सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते' ऐसा समझना चाहिये। रोगादिकों के द्वारा अशुद्ध सन्तान वातादिक दोषों से दुष्ट शुक्रवाले उत्पन्न करते हैं, जन्म से अन्धे, बहिरे, लूले आदि देखने में आते हैं॥ २७॥

ऋतौ स्त्रीपुंसयोर्योगे मकरध्वजवेगतः॥ २८॥
मेढ्रयोन्यभिसङ्घर्षाच्छरीरोष्माऽनिलाहतः। पुंसः सर्वशरीरस्थं रेतो द्रावयतेऽथ तत्॥ २९॥
वायुर्मेहनमार्गेण पातयत्यङ्गनाभगे।
तत् संश्रुत्य व्यात्तमुखं याति गर्भाशयं प्रति। तत्र शुक्रवदायातेनार्त्तवेन युतं भवेत्॥ ३०॥

काम के वेग के वशीभूत होने से ऋतुकाल में जब स्त्री और पुरुष का सयोग होता है तब लिङ्ग और योनि के सङ्घर्ष (रगड) से शरीर की ऊष्मा (गर्मी) वायु से आहत होकर पुरुष के सम्पूर्ण शरीर में स्थित वीर्य को द्रवित (बहने लायक पतला) कर देती है। उसके बाद वायु उसी द्रवित वीर्य को लिङ्ग के मार्ग से स्त्री की योनि में गिराता है। उसके बाद वही वीर्य बहकर जिसका मुंह खुला हुआ है ऐसे गर्भाशय में जाता है और गर्भाशय में वीर्य की भाति आये हुए रज के साथ मिल जाता है॥

गर्भाशयस्य स्वरूपमाह—

शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्त्ता सा च कीर्त्तिता। तस्यास्तृतीये त्वावर्त्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता॥

गर्भाशय के स्वरूप—योनि को पण्डितोंने शङ्ख की नाभि (मुख के भीतर के भाग) के सदृश तीन आवर्त्तों से युक्त बतलाया है और उस योनि के तीसरे आवर्त्त में गर्भशय्या (गर्भाशय) है, ऐसा कहा है॥ ३१॥

यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः। तत्संस्थानां तथा रूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः॥

जिस प्रकार रोहू मछली का मुख देखने में होता है, गर्भाशय की भी आकृति और रूप उसी भाँति होते हैं॥ ३२॥

***अयमर्थः—गर्भशय्याया मुखं रोहितमत्स्यस्येव भवति यथा च रोहितमत्स्यस्य स्थितिर्जले भवति तथा पित्ताशयपक्वाशयमध्ये गर्भशय्यायाः स्थितिर्भवति रूपमपि तस्येव भवति यथा रोहितस्य मुखं स्वल्पमाशयस्तु महानित्यर्थः॥ ३२॥**

उपर्युक्त श्लोक का भाव यह है कि—गर्भाशय का मुख रोहित (रोहू) मछली की भाँति होता है

जैसे रोहित मछली की स्थिति जल के मध्य में रहती है गर्भाशय की भी स्थिति उसी भाँति पित्ताशय और पक्वाशय के मध्य में रहती है और गर्भशय्या का रूप भी रोहित मछली की भाँति होता है अर्थात् जिस भाँति रोहित का मुखभाग वहुत कम चौडा होता है और आशय (मुख के भीतर का भाग) वहुत चौड़ा होता है उसी भाँति गर्भाशय का भी मुखभाग वहुत छोटा और भीतर का भाग वहुत वडा होता है ॥ ३२ ॥

अथ गर्भे जीवप्रवेशप्रकारमाह—

शुक्रार्त्तवसमाश्लेषो यदैव खलु जायते ॥ ३३ ॥
जीवस्तदैव विशति युक्तः शुक्रार्त्तवान्तरः ॥
सूर्यांशोः सूर्यमणित उभयस्माद्युताद्यथा। वह्निः सञ्जायते जीवस्तथा शुक्रार्तवाद्युतात् ॥३४॥

गर्भ में जीव के प्रवेश करने का प्रकार—जिस समय शुक्र और आर्त्तव (रज) का संयोग होता है, उसी समय जीव उसी मिले हुए वीर्य और रज के भीतर प्रवेश करता है। सूर्य की किरण और सूर्यकान्तमणि इन दोनों का सयोग होने से जैसे अग्नि उत्पन्न होती है, उसी तरह शुक्र और रज का संयोग होने से जीव उत्पन्न होता है ॥ ३३–३४ ॥

आत्माऽनादिरनन्तश्चाऽव्यक्तो वक्तुं न शक्यते ॥ ३५ ॥
चिदानन्दैकरूपोऽयं मनसाऽपि न गम्यते।
एवम्भूतोऽपि जगतो भाविनी वलवत्तया। अविद्यास्वीकृते कर्मवशो गर्भे विशत्यसौ ॥ ३६ ॥

जीवात्मा अनादि, अनन्त तथा अव्यक्त है अतएव इस के विषय में मुख से कुछ कहा नही जा सकता और वह चिदानन्दरूप (चैतन्य आनन्दस्वरूप) एक है अतः मन के लिये भी अगम्य है अर्थात् उस के स्वरूप की कल्पना मन भी नही कर सकता किन्तु जगत् की उत्पत्ति करनेवाली माया वलवती होने से कर्म के वश हो कर अविद्या से स्वीकृत (अज्ञान से स्वीकार किये गये) गर्भ में प्रवेश करता है ॥ ३५–३६ ॥

***गर्भे = चतुर्विंशतितत्त्वमये ॥ ३५–३६ ॥**

यहां 'गर्भे' पद से 'चौवीस तत्त्वों से वने हुए गर्भ में' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३५–३६ ॥

स एव वेत्ता रसनो द्रष्टा घ्राता स्पृशत्यसौ। श्रोता वक्ता च कर्त्ता च गन्ता रन्तोत्सृजत्यपि ॥

(गर्भ में जाकर) वही जीवात्मा जाननेवाला, स्वाद ग्रहण करनेवाला, देखनेवाला, गन्ध ग्रहण करनेवाला, स्पर्श का वोध करनेवाला, सुननेवाला, वोलनेवाला, गमन करनेवाला, रमण करनेवाला तथा मलादि का त्याग करनेवाला होता है ॥ ३७ ॥

अथ गर्भाशयद्वारमुखसंवरणकालमाह—

दिने व्यतीते नियतं सङ्कुचत्यम्बुजं यथा। ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा ॥

गर्भाशय द्वार वन्द होने के समय—दिन के वीत जाने पर (रात्रि में) कमल जिस भाँति नियतरूप से सकुचित हो जाया करता है। उसी भाँति ऋतुकाल के वीत जाने पर स्त्रियों की योनि भी सङ्कुचित हो जाया करती हैं ॥ ३८ ॥

***ऋतौ = रजोदर्शनात् षोडशनिशाऽऽत्मके काले। योनिरत्र धराद्वारम् ॥ ३८ ॥**

'ऋतु' पद से 'रजोदर्शन होने के दिन से लेकर १६ सोलह रात्रि पर्यन्त जो काल है' उसका वोध करना चाहिये और 'योनि' पद से 'गर्भाशय का द्वार' समझना चाहिये ॥ ३८ ॥

अथ यमजसन्तानोत्पत्तौ हेतुमाह—

बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ। यमावित्यभिधीयेते धर्मेतरपुरःसरौ ॥ ३९ ॥

यमज (युग्म) सन्तान उत्पन्न होने का कारण—गर्भाशय के भीतर वायु के द्वारा जव रज वीर्य दो भागों में विभक्त हो जाता है तव जो दो जीव गर्भाशय में आते हैं, वे ही धर्मेतर–पुरःसर (धर्माधर्मजन्य) यमज कहलाते हैं ॥ ३९ ॥

***तौ धर्मेतरपुरःसरौ = धर्मस्तदितरोऽधर्मस्तौ पुरःसरौ ययोः, तेन यमौ धर्माधर्माभ्यां भवत इत्यर्थः ॥ ३९ ॥**

'धर्मेतरपुरःसरौ' इस पद का अर्थ यह है कि धर्म (पुण्यजनक कर्म) और उससे इतर अधर्म,

ये दोनों पुरःसर अर्थात् गर्भ में आने के कारण हैं जिनके, इसका फलितार्थ यह हुआ कि यमज धर्म और अधर्म से उत्पन्न होते हैं ॥ ३९ ॥

अथ स्त्रीपुंसनपुंसकसन्तानोत्पत्तौ हेतुमाह—

आधिक्ये रेतसः पुत्रः कन्या स्यादार्त्तवेऽधिके । नपुंसकं तयोः साम्ये यथेच्छा[1] पारमेश्वरी ॥४०॥

पुत्र, पुत्री और नपुसक सन्तान होने के कारण—शुक्र के अधिक होने से पुत्र, रज के अधिक होने से कन्या और रज तथा वीर्य का भाग बराबर होने से नपुसक सन्तान उत्पन्न होती है । क्योंकि ऐसी परमेश्वर की इच्छा है ॥ ४० ॥

***नन्वेवं सति कथं पुत्रोत्पत्तिः सदैवार्त्तवस्यैव वाहुल्यात् । यत उक्तम्—**

'आर्त्तवं चतुरञ्जलिप्रमाणं शुक्रं प्रसृतिमात्रम्' इति ।

वाग्भटेऽप्युक्तमात्रेयादिभिः—

'मज्जा मेदो वासा मूत्रपित्तश्लेष्मशकृन्त्यसृक् । रसो जलं च देहेऽस्मिन् त्वेकैकाञ्जलिवर्द्धितम् ॥
पृथक् च प्रसृतं प्रोक्तमोजोमस्तिष्करेतसाम् । द्वावञ्जली तु दुग्धस्य चत्वारो रजसः स्त्रियः ॥
समधातोरिदं मानं विद्याद् वृद्धिक्षयादृते' ॥ ४ ॥

इस जगह शङ्का यह होती है कि—तब पुत्रोत्पत्ति कैसे होगी ? क्योंकि सदैव वीर्य की अपेक्षा रज का परिमाण अधिक रहता है । कहा भी है—'रज का परिमाण चार अञ्जलि और शुक्र का १ प्रसृति (आधी अञ्जलि) है' । 'वाग्भट' में आत्रेयादि महर्षियों ने भी इसी वात को कहा है कि—'मज्जा, मेद, वसा (चर्वी), मूत्र, पित्त, कफ, पुरीष (मल), रक्त, रस और जल ये सब द्रव्य मनुष्य की देह में क्रमसे एक की अपेक्षा दूसरे एक २ अञ्जलि अधिक है और ओज मस्तिष्क तथा शुक्र इन सबों का पृथक् २ एक २ अञ्जलि प्रमाण है और स्त्रियों के शरीर में दूध २ अञ्जलि और रज ४ अञ्जलि प्रमाण रहता है, क्षय और वृद्धि से भिन्न समान धातु वाले का ही यह प्रमाण जानना' ॥ ३-४ ॥

***नैवं यतो गर्भाशयस्थमेव शुक्रमार्त्तवं च गर्भोत्पत्तिहेतुः, शुक्रं कदाचिदत्यन्तहर्षवशाद् दुग्धादिशुक्लद्रव्यसेवनाद् शुक्रवाहुल्याद् गर्भाशये वहु स्त्रवति कदाचिद्दैमनस्यादिना शुक्राल्पत्वात्वल्पमिति; एवमार्त्तवमपीति न दोषः ॥**

सुश्रुतः पुनराह—

'वैलक्षण्याच्छरीराणामस्थायित्वात्तथैव च । दोषधातुमलानां तु परिमाणं न विद्यते' ॥ ५ ॥

इसका उत्तर यह है कि—आपका शङ्का करना अनुचित है क्योंकि-गर्भाशय में ही स्थित जो शुक्र और रज हैं वे ही गर्भ उत्पन्न होने में कारण हैं न कि समस्त शरीर में स्थित रज और वीर्य । शुक्र कभी अत्यन्त हर्ष होने से अथवा दूध आदि शुक्र के वढानेवाले द्रव्यों का सेवन करने से अथवा शुक्र की अधिकता होने से गर्भाशय में अधिक परिमाण में गिर पड़ता है और कभी दुःखित मन होने से अथवा शुक्र की कमी होने से थोडा ही गिरता है, इसी तरह से आर्त्तव के भी न्यूनाधिक्य होने का कारण समझना । सुश्रुत भी इसी विषय में कहते हैं कि—'शरीरों की विलक्षणता तथा दोषादिकों की अस्थिरता होने से दोष, धातु और मल इन पदार्थों के परिमाण की स्थिरता नहीं रहती' ॥ ५ ॥

***वैलक्षण्यात् दीर्घह्रस्वकृशादिभेदेन सादृश्याभावाद् अस्थायित्वात् वयोऽहर्निशर्तुभुक्तेष्वेकमात्रानवस्थानात् (५) ॥ ४० ॥**

यहा पर 'विलक्षण्यात्' से 'दीर्घ (लम्बा) ह्रस्व (छोटा) और कृश (दुवला) आदि भेदों से परस्पर शरीरों का सादृश्य न होने से' और 'अस्थायित्वात्' से अवस्था, दिन, रात्रि, ऋतु (वसन्तादि) और भोजन इन सबों के आदि, मध्य और अन्त में दोषादिकों की मात्रा की स्थिरता न होने से' यह अर्थ समझना चाहिये (५) ॥ ४० ॥

एवं तामभिसङ्गम्य पुनर्मासाद् भजेदसौ ॥ ४१ ॥

पूर्वोक्त नियमों से ऋतुमती स्त्री का सङ्ग करने के वाद पुनः ऋतुमती होने पर एक मास के वाद उसका सङ्ग करे ॥ ४१ ॥

---

१. परमेश्वरीति पाठान्तर प्रामादिकम् ।

***मासादूर्ध्वमिति शेषः। अर्वाग्गमनेन गर्भद्वारविघट्टनाद् गर्भच्युतिप्रसङ्गः स्यात्, केचित्, पुनः पुष्पदर्शनेन गर्भालाभनिश्चये मासादूर्ध्वं गच्छेद्, लब्धगर्भे नैव गच्छेदिति वदन्ति॥**

श्लोक में 'मासात्' की जगह 'मासादूर्ध्वम्' का प्रयोग करके 'एक महीने के वाद' यह अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि एक महीने के पहिले स्त्रीगमन करने से गर्भाशय के द्वार पर धक्का लगकर गर्भ के गिर जाने का प्रसङ्ग आ जाता है। कोई तो कहते हैं कि—द्वितीय वार रजःस्राव होने से गर्भ की स्थिति नहीं हुई, ऐसा निश्चय होने पर १ महीने के वाद स्त्रीगमन करना चाहिये और यदि निश्चय हो जाय कि गर्भ है तो स्त्रीगमन नहीं करना चाहिये॥ ४१॥

तत्र परिहार्यपरिहारार्थं सद्योगृहीतगर्भाया लक्षणमाह—

शुक्रशोणितयोर्योनेरस्रावोऽथ श्रमोद्भवः। सक्थिसादः पिपासा च ग्लानिः स्फूर्त्तिर्भगे भवेत्॥

सद्यः गर्भवती हुई स्त्री के लक्षण—योनि के द्वार से शुक्र और रज का स्राव न होना, थकावट मालूम पड़ना, पैर का थहराना, प्यास का लगना, ग्लानि, भग का फड़कना, ये सव गर्भस्थिति के लक्षण मैथुन कर चुकने के वाद स्त्रियों में दिखाई पड़ते हैं॥ ४२॥

अथ तस्या एवोत्तरकालीनं लक्षणमाह—

स्तनयोर्मुखकार्ष्ण्यं[1] स्याद्रोमराज्युद्गमस्तथा।
अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः संमील्यन्ते विशेषतः॥ ४३॥

छर्दयेत्पथ्यभुक्त्वापि गन्धादुद्विजते शुभात्। प्रसेकः सदनं चैव गर्भिण्या [2]लिङ्गमुच्यते॥४४॥

गर्भवती के लक्षण—दोनों स्तनों के मुख (चूचुक) का काला हो जाना, रोंगटों का खड़ा होना (रोमाञ्च होना), विशेष रूप से नेत्र की पलकों का गिरना, अच्छा भोजन करने पर भी वमन होना, अच्छे गन्धवाले द्रव्यों के सूँघने से भी चित्त का उद्विग्न हो जाना, मुख से लार गिरना (जी मचलाना) और शरीर का शिथिल (आलस्ययुक्त) होना, ये सव गर्भवती स्त्रियों के लक्षण होते हैं॥ ४३–४४॥

तत्र पुत्रगर्भवत्या लक्षणमाह—

पुत्रगर्भयुतायास्तु नार्या मासि द्वितीयके। गर्भो गर्भाशये लक्ष्यः पिण्डाकारोऽपरं शृणु॥४५॥

पुत्र गर्भवती के लक्षण—जिसके गर्भ में पुत्र रहता है उस के गर्भ दूसरे महीने में पिण्ड के आकार के समान दिखाई पड़ते हैं और भी लक्षणों को सुनो—॥ ४५॥

***पिण्डो=वर्त्तुलाकृतिः, 'मासि द्वितीयके' इत्यस्य 'गर्भः पिण्डाकारो लक्ष्यः' इत्यनेनैवान्वयो न त्वग्रिमश्लोकेऽपि॥ ४५॥**

श्लोक में 'पिण्ड' पद का अर्थ 'गोल' है और 'मासे द्वितीयके' (दूसरे महीने में) इस पद का अन्वय 'गर्भः पिण्डाकारो लक्ष्य.' (गर्भ पिण्डाकार दिखलाई पड़ता है) इस वाक्य के साथ है न कि आगे के श्लोकों के साथ॥ ४५॥

दक्षिणाक्षिमहत्त्वं स्यात् प्राक्क्षीरं दक्षिणे स्तने। दक्षिणोरुः सुपुष्टः स्यात्प्रसन्नमुखवर्णता॥४६॥
पुन्नामधेयद्रव्येषु स्वप्नेष्वपि मनोरथः। आम्रादिफलमाप्नोति स्वप्नेषु कमलादि च॥ ४७॥

दहिने नेत्र का वड़ा हो जाना, दहिने स्तन में पहले दूध का उतरना, दक्षिण ऊरु (जंघा) का भलीभाँति पुष्ट होना, मुख के रंग का प्रसन्न (साफ) होना, स्वप्न में पुरुष संज्ञक द्रव्यों की अभिलाषा होना, स्वप्न में आम्रादि फलों और कमलादिक पुष्पों की प्राप्ति होना, ये सव लक्षण दूसरे महीने के वाद से प्रकट होते हैं॥ ४६–४७॥

अथ कन्यागर्भवत्या लक्षणम्—

कन्या गर्भवती गर्भे पेशी मासि द्वितीयके। पुत्रगर्भस्य लिङ्गानि विपरीतानि चेक्षते॥ ४८॥

कन्यागर्भवती स्त्रियों के लक्षण—जिसके गर्भ में कन्या रहती है, उस गर्भवती स्त्री का गर्भ दूसरे महीने में पेशी (लंवा) की तरह दिखलाई पडता है और पुत्रगर्भ के जो लक्षण हैं उनसे विपरीत लक्षण दिखलाई पड़ते हैं अर्थात् वायें नेत्र का वड़ा होना, वायें स्तन में पहले दूध उतरना इत्यादि विपरीत लक्षण समझना॥ ४८॥

---

१. कार्श्यमिति पाठान्तरमशुद्धम्। २. 'लिङ्ग उच्यते' इति पाठान्तरमसङ्गतम्।

***पेशी दीर्घाकृतिः ॥ ४८ ॥**

श्लोकमें 'पेशी' का अर्थ है लवा आकारवाला ॥ ४८ ॥

अथ नपुंसकगर्भवत्या लक्षणमाह—

नपुंसकं यदा गर्भे भवेद् गर्भोऽर्बुदाकृतिः । उन्नते भवतः पार्श्वे पुरस्तादुदरं महत् ॥ ४९ ॥

नपुंसक गर्भ के लक्षण—यदि गर्भ में नपुसक हो तो गर्भिणी का गर्भ आकार में अर्बुद के समान दिखाई पडता है और उदर के दोनों भाग ऊचे तथा सम्मुख भाग वडा दिखाई पड़ता है ॥ ४९ ॥

***अर्बुदं = वर्त्तुलफलार्द्धतुल्यम् ॥ ४९ ॥**

'अर्बुद' पद से 'गोलाकार फल के अर्धभाग के तुल्य' अर्थ समझना चाहिये ॥ ४९ ॥

नपुसकविशेषानाह[1]—

आसेक्यश्च सुगन्धी च कुम्भीकश्चेर्ष्यकस्तथा । अमी सशुक्रा बोद्धव्या अशुक्रः षण्डसंज्ञकः[2] ॥५०॥

नपुंसकों के भेद—आसेक्य, सुगन्धी, कुम्भीक और ईर्ष्यक, ये ४ प्रकार के नपुंसक को शुक्र होता है और षण्ढ नामक नपुंसक अशुक्र (शुक्ररहित) होता है ॥ ५० ॥

एतेषा लक्षणान्याह, तत्रादावासेक्यलक्षणमाह—

पित्रोस्तु स्वल्पवीर्यत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत् । सशुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोन्नतिमसंशयम् ॥५१॥

नपुंसकों के लक्षण—माता पिता का वीर्य कम होने से आसेक्य नामक नपुसक पुरुष उत्पन्न होता है । जव वह शुक्र पान करता है तभी निश्चित रूप से उसका लिङ्ग चैतन्य होता है ॥ ५१ ॥

***पित्रोर्मातापित्रोः स्वल्पवीर्यत्वात् स्वल्पशुक्रार्त्तवत्वाद्, आसेक्यनामा मुखयोनीति नामान्तरम् । स शुक्रं प्राश्येति स पुरुषोऽन्यपुरुषेण मैथुनं कारयित्वा तस्य शुक्रं प्राश्य मेहनोत्थानं लभत इत्यर्थः ॥ ५१ ॥**

श्लोक में 'पित्रो.' पद से 'माता पिता का' और 'स्वल्पशुक्रार्तवात्' इसे 'रज और वीर्य कम होने से' ऐसा अर्थ समझना चाहिये । 'आसेक्य' का दूसरा नाम 'मुखयोनि' भी है, अतः आसेक्य नामक नपुंसक अर्थात् मुखयोनि नामक जो नपुंसक है, वह शुक्र का पान करके अर्थात् अन्य पुरुष से अपने मुख में मैथुन करा कर मुख में स्खलित हुये उस पुरुष के वीर्य का पान करके अपने लिङ्ग के खड़े होने की शक्ति को प्राप्त करता है ॥ ५१ ॥

अथ सुगन्धिनपुसकलक्षणमाह—

यः पूतियोनौ जायेत स हि सौगन्धिको भवेत् । स योनिशेफसोर्गन्धमाघ्राय लभते बलम् ॥५२॥

जो दुर्गन्ध युक्त योनि से उत्पन्न होता है, वह सौगन्धिक नामक नपुंसक कहलाता है, और वह योनि तथा लिङ्ग के गन्ध को सूँघ कर मैथुन करने में सामर्थ्य प्राप्त करता है ॥ ५२ ॥

***सौगन्धिकः = सौगन्धिकनामा, नासायोनीति नामान्तरम् । बलं मैथुने शक्तिम् ॥५२॥**

श्लोक में 'सौगन्धिक' का दूसरा नाम नासायोनि भी है । 'वल' पद का अर्थ 'मैथुन करने में शक्ति' समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

अथ कुम्भीनपुसकलक्षणमाह—

स्वे गुदेऽब्रह्मचर्याद्यः स्त्रीषु पुंवत् प्रवर्त्तते । स कुम्भीक इति ज्ञेयो गुदयोनिस्तु स स्मृतः ॥५३॥

जो पुरुष अन्य पुरुष के द्वारा अपनी गुदा में मैथुन कराने पर मैथुन करने की शक्ति प्राप्त करता है, उसे कुम्भीक नामक नपुंसक समझना चाहिये । उसका दूसरा नाम 'गुदयोनि' भी प्रसिद्ध है ॥५३॥

***अब्रह्मचर्याद् = ब्रह्मचर्यममैथुनम् ; अब्रह्मचर्यम् = मैथुनम् , किन्तु स्त्रीवदधोभूतः स्वे गुदे पुरुषान्तरेण मैथुनं कारयति, तस्मात् ॥ ५३ ॥**

'अब्रह्मचर्यात्'—मैथुन से रहित, अत एव अब्रह्मचर्य का अर्थ मैथुन होने से इसका अर्थ जो 'अपनी गुदा में मैथुन कराने से' यह होता है, उसमें 'स्त्री की तरह स्वयं नीचे रह कर ऊपर से दूसरे पुरुष से अपनी गुदा में मैथुन कराने से' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ ५३ ॥

अथेर्ष्यकनपुंसकलक्षणमाह—

दृष्ट्वा व्यवायमन्येषां व्यवाये यः प्रवर्त्तते । ईर्ष्यकः स तु विज्ञेयो दृष्टियोनिस्तु स स्मृतः ॥५४॥

---

१. 'विशेषमाहे'ति पाठान्तरम् । २. 'षण्ड–खण्डे'ति च पाठान्तरे प्रामादिके ।

दूसरे पुरुष को मैथुन करते हुये देखकर जो मैथुन करने में प्रवृत्त होता है, उसे ईर्ष्यक नामक नपुंसक समझना चाहिये। इसका दूसरा नाम दृष्टियोनि भी प्रसिद्ध है॥ ५४॥

अथ षण्ढनपुंसकलक्षणमाह—

यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्त्तते, तत्र स्त्रीचेष्टिताकारो जायते [1]षण्ढसंज्ञकः॥ ५५॥

जो मोह (मूर्खता) वश हो कर ऋतुकाल में स्त्री की भाँति मैथुन करने में प्रवृत्त होता है अर्थात् स्वय स्त्री की भाँति नीचे रह कर और स्त्री को अपने ऊपर उठाकर स्त्री से मैथुन कराता है और उस समय जो गर्भ होता है, उस से स्त्री की तरह चेष्टा और आकारवाला षण्ढ नामक नपुंसक उत्पन्न होता है॥ ५५॥

***स्त्रीचेष्टिताकारः स्त्र्याकारश्मश्रुरहितः। स्त्रीचेष्टितः समेहनोऽपि पुरुषशक्तिरहितः॥ ५५॥**

'स्त्रीचेष्टिताकारः'=स्त्री की तरह दाढ़ी और मूँछ से रहित। 'स्त्रीचेष्टितः'='स्त्री की तरह चेष्टावाला' अर्थात् लिङ्ग होने पर भी पुरुष की जो मैथुन करने की शक्ति है, उससे रहित॥ ५५॥

अथ नरचेष्टितायाः कन्याया उत्पत्तौ हेतुमाह—

ऋतौ ऋतौ पुरुषवत् प्रवर्त्तेताङ्गना यदि। तत्र कन्या यदि भवेत् सा भवेन्नरचेष्टिता॥ ५६॥

पुरुष चेष्टा वाली कन्या उत्पन्न होने के कारण—प्रत्येक ऋतुकाल में यदि स्त्री पुरुष की तरह (पुरुष के ऊपर चढकर) मैथुन करने के लिये प्रवृत्त हो और उससे यदि कन्या उत्पन्न हो तो वह पुरुषों की भाँति चेष्टा करनेवाली होती है॥ ५६॥

***पुरुषवत् स्त्रियमारुह्य सा तस्या योनौ स्वयोनिवर्षणं करोति॥ ५६॥**

'पुरुष की भाँति चेष्टा करनेवाली' होती है अर्थात् (युवती होने पर) 'पुरुष की भाँति स्त्री के ऊपर चढ कर स्त्री की योनि में अपनी योनि को रगडनेवाली होती है' ऐसा समझना चाहिये॥५६॥

अपरा अपि गर्भप्रकृतीराह—

यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथञ्चन। मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते॥ ५७॥

अनस्थि सन्तानोत्पत्ति के लक्षण—यदि दो स्त्रियाँ काम से उन्मत्त हो करके परस्पर योनि रगड़ने के द्वारा शुक्र (रज) का त्याग करें, तो उससे अनस्थि सन्तान उत्पन्न होती है॥ ५७॥

***अनस्थिः=अत्रेषदर्थेनञ् तेनाल्पकोमलास्थिरित्यर्थः॥ ५७॥**

'अनस्थि' पद मे ईषदर्थ में नञ् होने से इसका 'थोडी और कोमल हड्डियोंवाली' अर्थ होता है॥

ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमाचरेत्। आर्त्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि॥५८॥

मासि मासि प्रवर्द्धेत स गर्भो गर्भलक्षणः। कललं जायते तस्य वर्जितं पैतृकैर्गुणैः॥५९॥

ऋतुस्नाता (रजोधर्म होने के वाद स्नान किये हुई) स्त्री यदि स्वप्न में मैथुन करे अर्थात् स्वप्न में देखे कि पुरुष उसके साथ मैथुन कर रहा है और वह भी उसमें प्रवृत्त हो रही है तो उस समय वायु उसके रज को गर्भाशय में पहुँचा कर गर्भ उत्पन्न कर देता है और वही गर्भ, गर्भ के लक्षणों से युक्त होकर महीने २ वढ़ा करता है, उसके वाद पैतृक गुणों से रहित वह गर्भ कललरूप (कीचड रूप) में उत्पन्न होता है॥ ५८-५९॥

***गर्भलक्षणः=प्रकृतगर्भलक्षणः। पैतृकैर्गुणैः=केशश्मश्रुलोमनखदन्तशिरास्नायुधमनीरेतः-प्रभृतिभिः॥ ५८-५९॥**

'गर्भलक्षणः' का अर्थ है वस्तुतः गर्भ के लक्षणों से युक्त और 'पैतृकैर्गुणैः' का अर्थ—केश, दाढी, मूँछ, रोम, नख, दाँत, शिरा, स्नायु, धमनी और शुक्र आदि से (वर्जितं=वर्जित)॥ ५८-५९॥

सर्पवृश्चिककूष्माण्डाकृतयो[2] विकृताश्च ये। गर्भास्ते योषितस्ताश्च ज्ञेयाः पापकृतो भृशम्॥६०॥

गर्भो वातप्रकोपेण दोहदे चापमानिते[3]। भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मिन्मिन एव च॥६१॥

जिन स्त्रियों को साँप, विच्छू और कूमाण्ड के आकार के तथा विकृत (कुष्ठादि विकारों से युक्त) जो गर्भ उत्पन्न होते हैं उन गर्भों को तथा उन स्त्रियों को अत्यन्त पापात्मा समझना चाहिये। गर्भिणी के दोहद को अपमानित करने पर अर्थात् गर्भिणी को अभिलषित वस्तु न देने पर वायु

---

१. 'षण्ड-खण्डे'ति पाठान्तरे अशुद्धे। २. 'कुष्माण्डे'ति पाठान्तरमसङ्गतम्।
३. 'चावमानिते' इति पाठान्तरम्।

के कोप से गर्भ कुब्जा, कुणि (जिसका हाथ टेढ़ा मेढ़ा हो गया हो), पङ्गु (लुञ्ज पैरोंवाला), गूंगा और मिनमिना अर्थात् मिनमिना कर बोलनेवाला उत्पन्न होता है ॥ ६०-६१ ॥

पुत्राणामाहाराचारचेष्टाभेदस्य हेतुमाह—

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ । स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः ॥६२॥

सन्तानों में चेष्टादि भेद के कारण—जिस तरह के आहार, आचार और चेष्टा से युक्त होकर स्त्री और पुरुष ऋतुकाल में मैथुन करते हैं, उन दोनों के पुत्र भी उत्पन्न होने पर उसी तरह के आहार, आचार और चेष्टा से युक्त होते हैं ॥ ६२ ॥

***समुपेयातां संयोगं गच्छेताम् ॥ ६२ ॥**

'समुपेयाताम्' अर्थात् 'मैथुन के लिये परस्पर संयुक्त होते हैं' ॥ ६२ ॥

अथ गर्भलक्षणमाह—

गर्भाशयगतं शुक्रमार्त्तवं जीवसंज्ञकः । प्रकृतिः सविकारा च तत्सर्वं गर्भसंज्ञकम् ॥ ६३ ॥
कालेन वर्द्धितो गर्भो यद्यङ्गोपाङ्गसंयुतः । भवेत्तदा स मुनिभिः शरीरीति निगद्यते ॥ ६४ ॥

गर्भ के लक्षण—गर्भाशयगत शुक्र, रज ,जीव और १६ विकारों से युक्त प्रकृति ये सब गर्भसंज्ञक हैं अर्थात् इन्हीं को गर्भ कहते है । काल पाकर बढा हुआ गर्भ जब अङ्ग और उपाङ्गों से युक्त हो जाता है, तब उसे मुनि लोग 'शरीरी' कहते हैं ॥ ६३-६४ ॥

***अङ्गोपाङ्गसंयुतः = व्यक्ताङ्गोपाङ्ग ॥ ६३-६४ ॥**

'अङ्गोपाङ्गसंयुत.' अर्थात् 'जब अङ्ग और उपाङ्ग व्यक्त हो जाते हैं' ॥ ६३-६४ ॥

तस्य त्वङ्गान्युपाङ्गानि ज्ञात्वा सुश्रुतशास्त्रतः। मस्तकादभिधीयन्ते शिष्याः! शृणुत यत्नतः॥६५॥
आद्यमङ्गं शिरः प्रोक्तं तदुपाङ्गानि कुन्तलाः । तस्यान्तर्मस्तुलुङ्गं च ललाटं भ्रूयुगन्तथा ॥६६॥
नेत्रद्वयं तयोरन्तर्वर्त्तेते द्वे कनीनिके । दृष्टिद्वयं कृष्णगोलौ श्वेतभागौ च वर्त्मनी ॥६७॥
पक्ष्माण्यपाङ्गौ शङ्खौ च कर्णौ तच्छष्कुलीद्वयम्। पालिद्वयं कपोलौ च नासिका च प्रकीर्त्तिता॥६८॥
ओष्ठाधरौ च सृक्किण्यौ मुखं तालु हनुद्वयम् । दन्ताश्च दन्तवेष्टश्च रसना चिबुकङ्गलः ॥६९॥
द्वितीयमङ्गं ग्रीवा तु यया मूर्द्धा विधार्यते । तृतीयं बाहुयुगलं तदुपाङ्गान्यथ ब्रुवे ॥७०॥
तत्रोपरि मतौ स्कन्धौ प्रगण्डौ भवतस्त्वधः । कफोणियुग्मं तदधः प्रकोष्ठयुगलन्तथा ॥७१॥
मणिबन्धौ तले हस्तौ तयोश्चाङ्गुलयो दश। नखाश्च दश ते स्थाप्या दश च्छेद्याः प्रकीर्त्तिताः॥७२॥

हे शिष्यो! मैं उस शरीरी के अङ्ग और उपाङ्गों को 'सुश्रुत' शास्त्र से जान कर मस्तक से आरम्भ करके कहता हूं। तुम लोग उसे यत्नपूर्वक सुनो—पहिला अङ्ग शिर कहा है और उसके उपाङ्ग केश, मस्तक के अन्दर रहनेवाला मस्तुलुङ्ग (घृत की तरह एक प्रकार का पदार्थ), ललाट, दो भौंहें, दो नेत्र, दोनों नेत्रों के अन्दर रहनेवाली दो कनीनिकायें (पुतलियाँ), दो दृष्टिमण्डल (निगाह—जिससे दिखाई पडता है), दो कृष्ण वर्ण के मण्डल, दो श्वेत भाग, दो पलकें, दो पक्ष्म (नेत्रलोम), दो अपाङ्ग (नेत्रों के प्रान्तभाग), दो शङ्ख (मस्तक की हड्डी—कान के पास की कनपटी), दो कान, दो कान की शष्कुलि (कान के छिद्रप्रदेश), दो पाली (पत्ते की भाँति कान के नीचे का भाग), दो कपोल (गाल), नाक, ओष्ठ और अधर (नीचे का ओष्ठ), दो सृक्किणी (ओष्ठों के दोनों प्रान्तभाग), मुख, तालु, दो हनु (दोनों कपोलों के नीचे तरफ के दोनों भाग), दाँत जबडा, (मसूडा), जिह्वा, चिबुक (ठोढी) और गला ये सब हैं। दूसरा अङ्ग ग्रीवा (गर्दन) है, जिसके आधार पर शिर स्थित है। तीसरा अङ्ग दोनों बाँहें हैं। अब उसके उपाङ्गों को कहते हैं—उसमें दोनों बाहुओं के ऊपर दो कन्धे और दोनों कन्धों के नीचे दो प्रगण्ड (बाजू), दोनों बाजुओं के नीचे दो कफोणि (केहुनी), उनके नीचे दो प्रकोष्ठ, उनके नीचे दो मणिबन्ध (कलाई), उसके नीचे दो हथेली और दो हाथ, दोनों हाथों की १० अङ्गुलियाँ, १० नख तथा उन नखों के ऊपर के १० स्थाप्य (नहीं काटने योग्य) और नीचे के नखों के १० अग्रभाग छेद्य (काटने योग्य) कहे हुए हैं। ये सब दोनों बाहुओं के उपाङ्ग हैं ॥ ६५-७२ ॥

चतुर्थमङ्गं वक्षस्तु तदुपाङ्गान्यथ ब्रुवे । स्तनौ पुंसस्तथा नार्या विशेष उभयोरयम् ॥ ७३ ॥
यौवनागमने नार्याः पीवरौ भवतः स्तनौ । गर्भवत्याः प्रसूतायास्तावेव क्षीरपूरितौ ॥ ७४ ॥

चौथा अङ्ग वक्षःस्थल (छाती) है, अब उसके उपाङ्गों को कहते हैं—दो स्तन, स्त्री और पुरुष के

जो दो स्तन हैं, उसमें विशेषता यह है कि युवावस्था आने पर स्त्री के दोनों स्तन मोटे हो जाते हैं और गर्भवती तथा प्रसूता स्त्री के वे ही दोनों स्तन दूध से भर जाते हैं और पुरुष के दोनों स्तन सदा एक ही अवस्था में बने रहते हैं ॥ ७३-७४ ॥

अथ हृदयस्य स्वरूपमाह—

हृदयं पुण्डरीकेण सदृशं स्यादधोमुखम्। जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतस्तु निमीलति ॥ ७५ ॥
आशयस्तत्तु जीवस्य चेतनास्थानमुत्तमम्। अतस्तस्मिंस्तमोव्याप्ते प्राणिनः प्रस्वपन्ति हि ॥

हृदय के स्वरूप—हृदय कमल के सदृश होता है, किन्तु कमल की भाति ऊर्ध्वमुख न होकर वह अधोमुखवाला होता है। प्राणी जब जागता रहता है तब वह विकसित (खिला) और जब सोता रहता है तब सङ्कुचित रहता है, वह हृदय जीव का आशय (रहने का स्थान) तथा सबसे बढ़कर प्रधान चेतना का स्थान है। अतएव जब वह (हृदय) तमोगुण से व्याप्त हो जाता है, तब प्राणिमात्र सो जाते हैं ॥ ७५-७६ ॥

ॐचेतनास्थानमुत्तममिति। अयमभिप्रायः—
'चेतनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः। [1]केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना' ॥ ६ ॥

'उत्तम चेतना का स्थान है' इसके कहने का अभिप्राय यह है कि—'केश, लोम, नखों के अग्र-भाग, अन्न का मल, द्रव पदार्थ मूत्रादिक और शब्दादि गुण, इन सब पदार्थों को छोड़कर इन्द्रियों के सहित सम्पूर्ण देह तथा मन चेतना का स्थान है' ॥ ६ ॥

इत्युक्तवता चरकेण सकलं शरीरं चेतनास्थानमुक्तं तदपेक्षया हृदयं विशेषतश्चेतना-स्थानमिति ॥ ७५-७६ ॥

यद्यपि इस प्रकार कहते हुये चरक भगवान् ने सम्पूर्ण शरीर को चेतना का स्थान बतलाया है, तथापि और अङ्गों की अपेक्षा हृदय विशेषरूप से चेतना का स्थान है ऐसा समझना चाहिये॥७५-७६॥

कक्षयोर्वक्षसः सन्धी जत्रुणी समुदाहृते। कक्षे उभे समाख्याते तयोः स्यातां च वङ्क्षणौ ॥७७॥

दो जत्रु अर्थात् दोनों कक्षा (काँख) छाती के दो सन्धि और दोनों काँखों के दो वङ्क्षण (बाहुओं की सन्धि) अर्थात् बगल, ये सब वक्षःस्थल के उपाङ्ग हैं ॥ ७७ ॥

उदरं पञ्चमञ्चाङ्गं षष्ठं पार्श्वद्वयं मतम्। सपृष्ठवंशं पृष्ठं तु समस्तं सप्तमं स्मृतम् ॥ ७८ ॥
उपाङ्गानि च कथ्यन्ते तानि जानीहि यत्नतः। शोणिताज्जायते प्लीहा वामतो हृदयादधः ॥
रक्तवाहिशिराणां स मूलं ख्यातो महर्षिभिः। हृदयाद्वामतोऽधश्च फुप्फुसो रक्तफेनजः ॥ ८० ॥
अधो दक्षिणतश्चापि हृदयाद्यकृतः स्थितिः। तत्तु रञ्जकपित्तस्य स्थानं शोणितजं मतम् ॥ ८१ ॥

पाँचवाँ अङ्ग (पेट), छठा अङ्ग दोनों पार्श्व (पँसुली) और सातवाँ अङ्ग पृष्ठवंश (मेरुदण्ड) के सहित समस्त पीठ है। अब उसके जिन उपाङ्गों को कहता हू, उन्हें यत्नपूर्वक समझो—हृदय के नीचे वामभाग में प्लीहा है, जो रक्त से उत्पन्न होती है और जिसे महर्षियों ने रक्तवाहिनी (जिसमें रक्त बहता है) शिराओं का मूल कहा है। हृदय के वाम भाग में नीचे की ओर फुप्फुस है, जो रक्त के फेन (झाग) से उत्पन्न होता है। हृदय के दक्षिण भाग में नीचे की ओर यकृत् है, जिसे मुनियों ने रञ्जक पित्त का स्थान और रक्त से उत्पन्न हुआ माना है ॥ ७८-८१ ॥

अधस्तु दक्षिणे भागे हृदयात् क्लोम तिष्ठति। जलवाहिशिरामूलं तृष्णाऽऽच्छादनकृन्मतम् ॥८२॥

हृदय के दक्षिण भाग में क्लोम रहता है, जिसे मुनियों ने जलवाहिनी शिराओं का मूल तथा तृष्णा (प्यास) का आच्छादन करनेवाला माना है ॥ ८२ ॥

ॐक्लोम = तिलकम्, एतत्तु वातरक्तजम्। अत्र वृद्धवाग्भटोऽप्याह—'रक्तादनिलसंयु-क्तात्कालीयकसमुद्भवः' (६) इति ॥ ८२ ॥

'क्लोम' का नाम तिलक भी है और यह क्लोम वात युक्त रक्त से उत्पन्न होता है। इस विषय में 'वृद्ध वाग्भट' भी कहते हैं कि 'वायु युक्त रक्त से क्लोम अर्थात् कालीयक की उत्पत्ति होती है' (६)॥८२॥

मेदःशोणितयोः साराद् [2]वृक्कयोर्युगलं भवेत्। तौ तु पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जठरस्थस्य मेदसः॥८३॥
अर्द्धव्यामेन हीनानि योषितोऽन्त्राणि निर्दिशेत् ॥ ८४ ॥

---

१. 'केशलोमनखाग्रं च मलं द्रव्यगुणैरिति पाठान्तरमसङ्गतम्। २ 'वृष्कयो'रिति पाठान्तरम्।

उक्ताः सार्द्धास्त्रयो व्यामाः पुंसामन्त्राणि सूरिभिः।
उन्दुकश्च कटी चापि त्रिकं वस्तिश्च वङ्क्षणौ। कण्डराणां प्ररोहः [1]स्यान्मेढ्रोऽध्वा वीर्यमूत्रयोः॥
स एव गर्भस्याधानं कुर्याद्गर्भाशये स्त्रियाः [2]। शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्त्ता सा च कीर्त्तिता॥
तस्यास्तृतीये त्वावर्त्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता। वृषणौ भवतः सारात्कफासृङ्मांसमेदसाम् [3]॥
वीर्यवाहिशिराधारौ तौ मतौ पौरुषावहौ। गुदस्य मानं सर्वस्य सार्द्धं स्याच्चतुरङ्गुलम्॥ ८८॥
तत्र स्युर्वलयस्तिस्रः शङ्खावर्तनिभास्तु ताः। प्रवाहिणी भवेत्पूर्वा सार्द्धाङ्गुलमिता [4] मता॥८९॥
उत्सर्जनी तु तदधः सा सार्द्धाङ्गुलसम्मिता। तस्याधः संवरणी [5] स्यादेकाङ्गुलसमा मता॥९०॥
अर्द्धाङ्गुलप्रमाणं तु बुधैर्गुदमुखं मतम्। मलोत्सर्गस्य मार्गोऽयं पायुर्देहे विनिर्मितः॥ ९१॥
पुंसः प्रोथौ स्मृतौ यौ तु तौ नितम्बौ च योषितः। तयोः कुकुन्दरे स्यातां सक्थिनी त्वङ्गमष्टमम्॥
तदुपाङ्गानि च ब्रूमो जानुनी पिण्डिकाद्वयम्। जंघे द्वे घुटिके [6] पार्ष्णी तले च प्रपदे तथा॥९३॥
पादाङ्गुल्यस्तत्र दश तासां नखा दश।

मेद और रक्त के सार से उत्पन्न हुए जो वृक्क (कटि में स्थित दो गोलक) हैं, जो उदर स्थित मेद की पुष्टि करनेवाले कहे गये हैं, पण्डित लोगों ने पुरुषों के अन्त्रों (आँतों) की लम्बाई साढ़े तीन व्याम कही है (व्याम पद से दोनों भुजाओं की लम्बाई जितनी होती है, उतनी लम्बाई ली जाती है) और स्त्रियों के आँतों की लम्बाई पुरुषों की आँतों की लम्बाई से आधे व्याम हीन अर्थात् तीन व्याम कहा है, उन्दुक (मलाशय), कटि, त्रिक (पृष्ठवंश के नीचे की तीन हड्डी), वस्ति, दोनों वङ्क्षण (दोनों ऊरुओं की सन्धि अर्थात् जघा और कटि की दोनों सन्धि), मेढ़ (लिङ्ग) यह कण्डराओं के प्ररोहों (अग्रभागों) से बना हुआ है तथा वीर्य और मूत्र के निकलने का मार्ग है; यही स्त्रियों के गर्भाशय में गर्भ का आधान करता है और स्त्रियों को मेढ़् के बदले योनि (भग) होती है, उनका रज और मूत्र इसी मार्ग से निकलता है। उसकी आकृति शङ्ख की नाभि की भाँति तीन आवर्त्तों से युक्त होती है और उसके तीसरे आवर्त्त में गर्भशय्या (गर्भाशय) स्थित रहती है। पुरुषों के कफ, रक्त और मेद के सार भाग से बने हुए दो वृषण (अण्डकोष) होते हैं, उन दोनों को ऋषियों ने वीर्यवहन करनेवाली शिराओं का आधर तथा पुरुषार्थ का देनेवाला (मैथुन करने के समय लिङ्ग को चैतन्य करने में प्रधान साधन) माना है। अत एव यह जिसको नहीं होता अथवा रोगाक्रान्त होता है तो वह मैथुन करने में समर्थ नहीं हो सकता। सम्पूर्ण गुदा का मान ४ अङ्गुल है, उसमें शङ्ख के आवर्त्त की भाँति तीन वली हैं, उसमें पहिली वली प्रवाहिणी नाम की है और उसका मान डेढ अङ्गुल का माना गया है। उसके नीचे उत्सर्जनी नाम की दूसरी वली है और उसका मान भी डेढ अङ्गुल है, फिर उसके नीचे सवरणी नाम की तीसरी वली है, जिसका मान एक अङ्गुल है और आधे अङ्गुल प्रमाण पण्डितों ने गुदा का मुख माना है। यही गुदामुख पायु कहलाता है। विधाता ने देह के बीच में इसी को अन्न के मल निकलने का मार्ग बनाया है। पुरुषों के जो दो प्रोथ (कूले) होते हैं, वे ही दोनों स्त्रियों के नितम्ब कहलाते हैं और उन दोनों (प्रोथ या नितम्बों) के दो कुकुन्दर अर्थात् नितम्बों के ऊपर के दो गड्ढे होते हैं, ये सब उदर के उपाङ्ग हैं। आठवाँ अङ्ग दोनों सक्थि अर्थात् दोनों पैर हैं। अब मैं इनके उपाङ्गों को कहता हूं—दो जानु, दो पिंडली, दो जघा, दो घुण्टिका (घुटने), दो एडी दो पैर के तलुये, दो चरण और दस पैर की अङ्गुलियाँ एव उनके दस नख ये सब उपाङ्ग हैं॥ ८३-९३॥

अथेद शरीरमपरेगापि येन येन समवायिकारणेनोत्पद्यते तानि सर्वाण्याह—

अथ दोषाः प्रवक्ष्यन्ते धातवस्तदनन्तरम्॥ ९४॥
अहारादेर्गतिस्तस्य परिणामश्च वक्ष्यते। आर्त्तवं चाथ धातूनां मलास्तदुपधातवः॥ ९५॥
आशयाश्च कलाश्चापि मर्माण्यथ च सन्धयः। शिराश्च स्नायवश्चापि धमन्यः कण्डरास्तथा॥९६॥
रन्ध्राणि भूरि स्रोतांसि जालैः कूर्चाश्च रज्जवः। सेवन्यश्चाथ सङ्घाताः सीमन्ताश्च तथा त्वचः॥
लोमानि लोमकूपाश्च देह एतन्मयो मतः।

---

१. 'स्थान तदि'ति पाठान्तरम्। २ 'स्त्रियः' इति पाठान्तरम्। ३. 'कफासृग्भ्या चे'ति पाठा०। ४. 'समे'ति पाठान्तरम्। ५ 'सञ्चरणी'ति पाठान्तरम्। ६ 'घुण्टिके' इति पाठान्तरम्।

शरीरोत्पत्ति में अन्यान्य समवायिकारण—अब प्रथम दोषों का वर्णन करेंगे, तदनन्तर धातुओं का, उसके बाद आहार आदि की गति और उसका परिणाम तथा आर्त्तव और धातुओं के मल तथा उपधातु, आशय, कला, मर्म, सन्धि, शिरा, स्नायु, धमनी, कण्डरा, रन्ध्र, स्रोत, जाल, कूर्च्च, रज्जु, सेवनी, सङ्घात, सीमन्त, त्वचा, लोम और लोमकूप, इन सबों का वर्णन करेंगे, क्योंकि इन्हीं सबों से शरीर बना हुआ है ॥ ९४–९७ ॥

तत्र दोषस्वरूपमाह वाग्भटः—

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः ॥ ९८ ॥
विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते[1]वर्द्धयन्ति च। ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधो मध्योर्ध्वसंश्रयाः।
वयोऽहोरात्रिभुक्तानामन्तमध्यादिगाः क्रमात् ॥ ९९ ॥

शरीरस्थ दोषों का स्वरूप—वायु, पित्त और कफ संक्षेप से यही तीन दोष कहे गये हैं और ये विकृत (दुष्ट) होने से देह का नाश तथा अविकृत (शुद्ध) होने से शरीर को बढ़ाते हैं। यद्यपि ये सब दोष शरीर में व्याप्त होकर रहने वाले हैं तथापि हृदय और नाभि के नीचे, मध्य तथा ऊपर भाग में विशेषरूप से रहते हैं। वायु, पित्त और कफ ये अवस्था, दिन, रात्रि और भोजन इन सबों के अन्त, मध्य और आदि में क्रम से विशेष रूप से बलवान् रहते हैं अर्थात् वृद्धावस्था में वायु, युवावस्था में पित्त, बाल्यावस्था में कफ, दिन तथा रात्रि के अन्त में वायु, मध्य में पित्त, आरम्भ में कफ, भोजन के अन्त में (पचजाने पर) वायु, मध्य (पचने के समय) पित्त आरम्भ (भोजन कर चुकने के बाद) कफ की वृद्धि होती है ॥ ९८–९९ ॥

दोषशब्दस्य निरुक्तिमाह—

धातवश्च मलाश्चापि दुष्यन्त्येभिर्यतस्ततः। वातपित्तकफा एते त्रयो दोषा इति स्मृताः॥१००॥

दोष शब्द की निरुक्ति—वात, पित्त और कफ ये ही तीनों धातुओं तथा सम्पूर्ण मल पदार्थों को दूषित कर देते हैं, इसी से ये वातादिक तीनों दोष कहलाते हैं ॥ १०० ॥

❀दोषा इत्यत्र 'दुष वैकृत्ये' इति दुषधातोर्दुष्यन्त्येभिरिति वाक्येन 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायामि'त्यनेन सूत्रेण करणेऽर्थे घञ्प्रत्ययः ॥ १०० ॥

'दोषाः' इस पद में 'दुष-वैकृत्ये' अर्थात् वैकृत्यार्थक दुष धातु से 'दुष्यन्त्येभिरिति वाक्येन' अर्थात् 'रस, रक्त आदि धातु और मल जिससे दूषित हों, उसे दोष कहते हैं' ऐसा अर्थ करने से 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्' इस सूत्र से करण अर्थ में घञ्प्रत्यय हुआ है ॥ १०० ॥

ते धातवोऽपि विद्वद्भिर्गदिता देहधारणात् ॥ १०१ ॥

वे ही वातादि देह को धारण करते हैं, इससे उनकी धातु संज्ञा भी है ॥ १०१ ॥

यत आह सुश्रुतः—

❀'विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा। धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा(७) इति'

चन्द्र, सूर्य और वायु जिस प्रकार विसर्ग (अमृत बरसाना), आदान (रसादिकों का ग्रहण करना) और विक्षेप के द्वारा जगत् को धारण करते हैं, उसी प्रकार से कफ, पित्त और वायु भी देह को धारण करते हैं(७) ॥ १०१ ॥

❀अत्र यथासङ्ख्येनान्वयो बोद्धव्यः। विसर्गादानं वातस्यैव। विक्षेपः शीतोष्णादीनां विविधप्रकारेण प्रेरणम्(७) ॥ १०१ ॥

यहाँ पर विसर्ग, आदान और विक्षेप इन तीनों का कफ, पित्त और वायु इन तीनों के साथ तथा चन्द्रादिक तीनों के साथ क्रम से अन्वय समझना चाहिये। विसर्ग और आदान ये दो क्रियायें यद्यपि क्रमानुसार कफ और पित्त की हैं तथापि वे वायु के द्वारा ही होती हैं ऐसा समझना चाहिये। अत एव विक्षेप का अर्थ शीत और उष्णादिकों का अनेक प्रकार से प्रेरणा करना है अर्थात् जो शीत और उष्णादि हैं सो क्रम से कफ और पित्तजन्य होते हैं, किन्तु इनका अनेक प्रकार से प्रेरणा करना वायु का ही काम है, अतः स्वतन्त्र विक्षेपणक्रिया वायु की ही हुई (७) ॥ १०१ ॥

मलाश्च ते रसादीनां मलिनीकरणान्मताः ॥

---

१. 'सम्' इति पाठान्तरम्।

ये ही वातादि तीन दोष, रसरक्तादिकों को मलिन कर देते हैं। अतएव 'मल' इस नाम से भी समझे जाते हैं॥

तत्र वायोः स्वरूपमाह—

दोषधातुमलादीनां नेता शीघ्रः समीरणः। रजोगुणमयः सूक्ष्मो रूक्षः शीतो लघुश्चलः॥१०२॥

त्रिदोषों में वायु के स्वरूप—वायु, दोष (कफ, पित्त), धातु (रसरक्तादि) और मलादि पदार्थों का नेता, शीघ्रकारी, रजोगुण से युक्त, सूक्ष्म, रूक्ष (रूखा), शीतल, हलका और चञ्चल है॥१०२॥

***नेता = स्थानान्तरं प्रापयिता। शीघ्रः = आशुकारी॥ १०२॥**

'नेता' का अर्थ है एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचानेवाला और 'शीघ्रः' का अर्थ है 'शीघ्रता करने वाला'॥ १०२॥

अन्यच्च—**उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टावेगप्रवर्त्तनैः॥ १०३॥**

सम्यग् गत्या च धातूनामिन्द्रियाणाञ्च पाटवैः। अनुगृह्णात्यविकृतो हृदयेन्द्रियचित्तधृक्॥१०४॥

रजोगुणमयः सूक्ष्मः शीतो रूक्षो लघुश्चलः। खरो मृदुर्योगवाही संयोगादुभयार्थकृत्॥१०५॥

दाहकृत् तेजसा युक्तः[1] शीतकृत्सोमसंश्रयात्। विभागकरणाद्वायुः प्रधानं दोषसंग्रहे॥१०६॥

पक्वाशयकटीसक्थिश्रोत्रास्थिस्पर्शनेन्द्रियम्। स्थानं वातस्य तत्रापि पक्वाधानं विशेषतः॥१०७॥

अधिकृत (शुद्ध) वायु उत्साह, उच्छ्वास (श्वास का लेना), निःश्वास (श्वास का छोड़ना), चेष्टा, मलमूत्रादिक का वेग होना तथा उसका प्रवर्त्तन (त्याग करना), धातुओं की गति अच्छी रखना, इन्द्रियों को अपने २ विषयों के ग्रहण करने में सामर्थ्य देना, इन सब कार्यों से हृदय, इन्द्रिय और चित्त को धारण करता हुआ अनुग्रह (देह की रक्षा) किया करता है और वायु रजोगुण से युक्त, सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोतों में गमन करने वाला, शीतल, रूक्ष, लघु, चलनशील, खर, मृदु (नरम) योगवाही, संयोग विशेष होने से दोनों अर्थों का करनेवाला है अर्थात् तेज सम्बन्धी पदार्थों से युक्त होकर दाह करनेवाला हो जाता है और सोमसम्बन्धी पदार्थों से युक्त होकर शीत करनेवाला हो जाता है, शरीर के सभी पदार्थों को परस्पर विभाग (अलग २) करने से दोषों का जहा संग्रह किया गया है, वहा पर वायु ही प्रधान माना गया है और पक्वाशय, कटि, सक्थि (जानु की ऊपरी भाग), श्रोत्र (कान), अस्थि (हड्डी) और स्पर्शनेन्द्रिय (त्वक्) ये सब वायु के स्थान हैं, इनमें विशेष करके पक्वाशय ही वायु का स्थान है। उसकी अपेक्षा और सब स्थान गौण हैं॥ १०३-१०७॥

एको वायुः पित्तवन्नामस्थानकर्मभेदैः पञ्चविधस्तेषा वायूनां नामान्याह—

उदानस्तदनुप्राणः समानोऽपान एव च। व्यानश्चैतानि नामानि वायोः स्थानप्रभेदतः॥१०८॥

५ प्रकार के वायुओं के नाम—उदान, प्राण, समान, अपान् और व्यान ये ५ नाम वायु के स्थानों के भेद से हुये हैं॥ १०८॥

अथोदानादीना स्थानान्याह—

कण्ठे हृदि तथाऽधस्तात्कोष्ठवह्नेर्मलाशये। सकलेऽपि शरीरेऽसौ क्रमेण पवनो वसेत्॥ १०९॥

उदानादि वायुओं के स्थान—उदान वायु कठ में, प्राण वायु हृदय में, समान वायु नाभिप्रदेश में, अपान वायु मलाशय में तथा व्यान वायु सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहता है॥ १०९॥

अथ तेषा कर्माण्याह—

उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः। तेन भाषितगीतादिप्रवृत्तिः कुपितस्तु सः॥ ११०॥

ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान्विदधाति विशेषतः। यो वायुः प्राणनामाऽसौ मुखं गच्छति देहधृक्॥१११॥

सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते। प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्काश्वासादिकान् गदान्॥

उदानादि वायुओं के कर्म—कण्ठ देश में स्थित उदानसज्ञक वायु जब कण्ठ के ऊपर होता है तब उससे प्राणी बोलने और गाने में प्रवृत्त होता है, और वही वायु जब कुपित होता है तब स्कंध और मस्तक की सन्धि में होने वाले रोगों को उत्पन्न करता है। देह का धारण करनेवाला हृदय में स्थित प्राणनामक वायु जब मुख की ओर जाता है तब भोजन के समय अन्न को पेट के अन्दर प्रवेश

[1] 'युक्तम्' इति पाठान्तरमसङ्गतम्।

कराता है तथा प्राणोंको अवलम्बन देता है और वही वायु जब कुपित होता है तब हिचकी, दमा आदि रोगों को पैदा करता है ॥ ११०-११२ ॥

आमपक्काशयचरः समानो वह्निसङ्गतः । सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान्विविनक्ति हि ॥ ११३ ॥

आमाशय और पक्काशय में रहनेवाला समान नामक वायु जठराग्नि से युक्त होकर अन्न को पचाता है तथा अन्न से उत्पन्न हुए विशेष पदार्थों को अलग करता है ॥ ११३ ॥

***तज्जानित्यादि । अन्नगतान् रसमलमूत्रादीन् पृथक्करोतीत्यर्थः ॥ ११३ ॥**

'तज्जान्' इत्यादि का अर्थ यह है कि अन्न से उत्पन्न हुए रस, मल और मूत्र आदि को पृथक् करता है ॥ ११३ ॥

स दुष्टो वह्निमान्द्यातिसारगुल्मान् करोति हि । पक्काशयालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम्॥
समीरणः शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्त्तवान्यधः । क्रुद्धस्तु कुरुते रोगान् घोरान्वस्तिगुदाश्रयान् ॥११५॥
शुक्रदोषप्रमेहांश्च व्यानापानप्रकोपजान् । कृत्स्नदेहचरो व्यानो [1]रससंवाहनोद्यतः ॥ ११६ ॥
स्वेदाऽसृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि । प्रस्पन्दनञ्चोद्वहनं पूरणञ्च विरेचनम्[2] ॥ ११७ ॥
धारणञ्चेति पञ्चैताश्चेष्टाः प्रोक्ता नभस्वतः । गत्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकाः ॥
प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन् प्रतिवद्धाः शरीरिणाम् ॥ ११८ ॥

वही समान वायु जब कुपित होता है तब अग्निमान्द्य (जठराग्नि का मन्द), अतीसार और गुल्मरोग को पैदा करता है । पक्काशय में रहनेवाला अपान नामक वायु मलमूत्रादि के निकलने के समय मल, मूत्र, वीर्य, गर्भ और रज, इन सवों को नीचे की ओर खींचता है अर्थात् वाहर निकालता है और वही वायु जव कुपित हो जाता है तव वस्ति तथा गुदा में होनेवाले भयङ्कर रोगों को उत्पन्न करता है और व्यान तथा अपान के प्रकोप से उत्पन्न हुये शुक्रदोष और प्रमेह को भी उत्पन्न करता है । सम्पूर्ण शरीर में विचरण करनेवाला व्यान नामक वायु रस के वहन कराने में सदा उद्यत रहता है अर्थात् उसी की प्रेरणा से रस नाडियों में बहा करता है । वह स्वेद (पसीना) तथा रक्त को वहाता है और प्रस्पन्दन (धीरे २ हिलना), उद्वहन (रसादि का वहाना), पूरण (पूर्ण करना), विरेचन (निकालना) तथा धारण पांच प्रकार की चेष्टायें भी करता है । और प्राणियों की भी जो गति (गमन करना), अपक्षेपण (नीचे को फेंकना), उत्क्षेप (ऊपर को फेंकना), निमेष (नेत्र वन्द करना) और उन्मेष (नेत्र खोलना) आदि सम्पूर्ण क्रियायें होती हैं, ये सव उसी व्यान वायु के आश्रय से होती हैं ॥ ११४-११८ ॥

क्रुद्धः सः कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् । युगपत् कुपिता एते देहं भिन्द्युरसंशयम् ॥११९॥

व्यान वायु जब कुपित होता है तब सम्पूर्ण शरीर के रोगों को प्रायः उत्पन्न करता है और उदानादि जो ५ प्रकार के वायु हैं, वे सब यदि साथ ही साथ कुपित हो जाते हैं तो निःसन्देह देह को भिन्न कर डालते हैं ॥ ११९ ॥

***देहं भिन्नं कुर्युर्मारयेयुरित्यर्थः ॥ ११९ ॥**

'देह भिन्नं कुर्यात्' अर्थात् 'प्राणी को मार डाले' ॥ ११९ ॥

अथ पित्तस्य स्वरूपमाह—

पित्तमुष्णं द्रवं पीतं नीलंसत्त्वगुणोत्तरम् । सरं कटु लघु स्निग्धं तीक्ष्णमम्लन्तु पाकतः ॥१२०॥

पित्त के स्वरूप—पित्त उष्ण (गरम), द्रव (पतला) पीला, नीला, प्रधान रूप से सत्त्व गुणवाला, सर (दस्त लानेवाला), कटु (कडुवा), लघु (हलका), स्निग्ध (घृतादिक की भाँति स्नेह से युक्त), तीक्ष्ण और पाक होने पर अम्ल (खट्टा) हो जाता है ॥ १२० ॥

***पीतं निरामम् । नीलं सामम् ॥ १२० ॥**

'पीतं' का निराम अर्थात् पाकको प्राप्त हुआ, पीला और 'नीलं' का साम अर्थात् विना पका हुआ नीला ॥ १२० ॥

एकं पित्त वातवन्नामस्थानकर्मभेदैः पञ्चविधम् । तेषा पित्तानां नामान्याह—

पाचकं रञ्जकञ्चापि साधकालोचके तथा । भ्राजकञ्चेति पित्तस्य नामानि स्थानभेदतः ॥१२१॥

---

१. 'संवहने'ति पाठान्तरम् । २. श्लोकोऽयं सर्वत्राग्रिमश्लोकानन्तरस्थो दृश्यते किन्तु विनोदिनी-कारेण स क्रमो नादृतो योग्यता विरहादित्यूह्यम् ।

पित्तों के नाम—स्थान के भेद से पित्त के पाचक, रञ्जक, साधक, आलोचक और भ्राजक ये ५ नाम हैं ॥ १२१ ॥

अथ पाचकादीनां स्थानान्याह—

अग्न्याशये यकृत्प्लीहोर्हृदये लोचनद्वये । त्वचि सर्वशरीरेषु पित्तं निवसति क्रमात् ॥ १२२ ॥

पाचकादि पित्तों के स्थान—पाचकादि पाचक पित्त अग्न्याशय में, रञ्जक पित्त यकृत् और प्लीहा में, साधक पित्त हृदय में, आलोचक पित्त दोनों नेत्रों में और भ्राजक पित्त सम्पूर्ण त्वचा में रहता है ॥१२२॥

अथ तेषां कर्माण्याह—

पाचकं पचते भुक्तं शेषाग्निबलवर्द्धनम् । रसमूत्रपुरीषाणि विरेचयति नित्यशः ॥ १२३ ॥

पाचकादि पित्तों के कर्म—पाचक-संज्ञक-पित्त खाये हुए अन्न को पचाता तथा शेष अग्नियों के बल को बढाता और रस, मूत्र तथा पुरीष (विष्ठा) का नित्य ही विरेचन (पृथक्) करता रहता है ॥

***पाचकं पित्तमामपक्वाशयमध्यस्थं षड्विधमाहारं भोज्यं भक्ष्यं चर्व्यं लेह्यं चूष्यं पेयं पचति, दोषरसमूत्रपुरीषाणि पृथक्करोति च । तदग्न्याशयस्थमेव स्वशक्त्या रसरञ्जनहृदयस्थकफतमोऽपनोदनरूपग्रहणप्रभाप्रकाशनाभ्यङ्गलेपादिपाचनाद्यग्निकर्मणा शेषाणां पित्तस्थानानामनुग्रहं करोति । शेषाण्यपि पित्तस्थानानि यकृत्प्लीहादीनि भागेन गत्वा तत्र तत्र रसरञ्जनादिकर्मभिरुपकरोतीत्यर्थः । कथम्भूतं पाचकं पित्तं शेषाग्निबलवर्द्धनम् । शेषा अग्नयः पृथिव्यादिमहाभूतगुणाः । यत उक्तं चरकेण—**

'भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः ।' इति ॥ ६ ॥

पाचक पित्त आमाशय और पक्वाशय के मध्य में स्थित होकर भोज्य, भक्ष्य, चर्व्य, लेह्य (चाटने लायक), चूष्य (चूसने लायक) और पेय (पीने लायक) इन ६ प्रकार के खाये हुये आहारों को पचाता और दोष, रस, मूत्र तथा पुरीष इन सबों को पृथक् २ करता है । वह पाचक पित्त अग्न्याशय में ही स्थित होकर अपनी सामर्थ्य से, रस का रञ्जक (लाल), हृदय में स्थित कफ का तथा तम का दूर, रूप का ग्रहण, प्रभा का प्रकाश, अभ्यङ्ग और लेपादि का पाक करना इत्यादि जो अग्नियों के कर्म हैं, उनके द्वारा शेष (अग्न्याशय के अतिरिक्त) जितने पित्त के स्थान हैं उन सबों के ऊपर अनुग्रह करता है, अर्थात् यकृत्प्लीहादि जो शेष पित्तस्थान हैं, उन सबों में जाकर अपने अंश से उन २ पित्तस्थानों का रस रञ्जन आदि कर्मों के द्वारा उपकार करता है, अर्थात् शेष अग्नियों के जो रस रञ्जनादि कार्य होते हैं वे सब इसी के अंश से होते हैं । 'पाचक पित्त शेष अग्नियों के बल का बढानेवाला है' इसकी व्याख्या यह है कि 'शेष अग्नि अर्थात् पृथिव्यादि ५ महाभूतसम्बन्धी गुण (अग्नि)' क्योंकि चरक ने भी कहा है कि 'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश सम्बन्धी ५ ऊष्मा है' ॥ ६ ॥

***ऊष्माणः अग्नयः ॥ ६ ॥**

'ऊष्मा' पद से अग्नि समझना चाहिये ॥ ६ ॥

यत उक्तं वाग्भटे—'दोषधातुमलादीनामूष्मेत्यात्रेयशासनम् ॥ ७ ॥' इति

इसके अतिरिक्त और भी अग्नियों के सम्बन्ध में वाग्भट में कहा है—'दोष (वातादि ३), धातु (रसरक्तादि ७) और मलादि की उष्मा (अग्नि) होती है । ऐसा अत्रेय का शासन (मत) है ॥

दोषधातुमलादीनामूष्मैवाग्निरित्यर्थः ॥ ७ ॥

यहा पर 'दोष, धातु और मलादि की ऊष्मा ही अग्नि होती है' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥७॥

***रसादिधातुगताः सप्त तेषां बलवर्धनम् । यथा गृहे स्थापितानि रत्नानि [1]खद्योतवददूरभास्वराणि तान्यपि दीपज्योतिषा दूरप्रकाशकानि भवन्ति । तथा—अग्न्याशयस्थपाचकाग्नितेजसा सर्वेऽग्नयो बलवन्तो भवन्ति ।** तथा च वाग्भट.—

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिको मतः। तन्मलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः' इति ॥८॥

रसादि ७ धातुओं के भी जो ७ अग्नि हैं, उन सबों के बल का पाचक पित्त बढानेवाला है । जिस प्रकार गृह में रखे हुए रत्न यद्यपि खद्योत (जुगनू) की भाँति थोडी दूर तक में ही प्रकाश

१. 'खद्योतवत्' इति पाठो भ्रान्तिमूलकः ।

करनेवाले होते हैं अर्थात् जिस भाँति खद्योत का प्रकाश थोड़ी दूर तक रहता है उसी भाँति यद्यपि रत्नों का भी रहता है, तथापि वे ही रत्न दीप का प्रकाश पड़ने से दूर तक प्रकाश पहुँचानेवाले हो जाते हैं, उसी तरह से यहाँ पर भी आमाशय में स्थित पाचकाग्नि के तेज से ही शरीर के सभी अग्नि वलवान् होते हैं। इसी विषय में 'वाग्भट' ने भी कहा है कि—'जितने रसादिकों के पचानेवाले (रसादि सम्बन्धी अग्नि) हैं, उन सबों की अपेक्षा अन्न को पचानेवाला ही अग्नि अर्थात् अग्न्याशय में रहनेवाला पाचकाग्नि ही प्रधान समझा जाता है। क्योंकि पाचकाग्नि के अतिरिक्त शेष जो सम्पूर्ण अग्नि हैं उन सबों का मूल वही पाचकाग्नि है, क्योंकि उस पाचकाग्नि की वृद्धि तथा क्षय होने पर ही उन सब शेष अग्नियों की वृद्धि तथा क्षय होता है'॥ ८॥

***ननु पित्तादन्योऽग्निराहोस्वित्पित्तमेवाग्निरिति सन्देहः। उच्यते। पित्तस्योष्णादिगुणद्वारा आहारपाचनरञ्जनदर्शनादिकर्मणश्च न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः। तस्मादग्निरूपस्यैव पित्तस्य स्थानभेदात्पाचकरञ्जकसाधकालोचकभ्राजकसंज्ञाः।** तथा च वाग्भटः—

'पाचकं तिलमानं स्यात् काठिन्यान्नास्य दोषता। अनुगृह्णात्यविकृतं पित्तं पाकोष्मदर्शनैः ॥९॥
क्षुत्तृड्रुचिप्रभामेधाधीशौर्यतनुमार्दवैः। पित्तं पञ्चात्मकं तच्च पक्वामाशयमध्यगम् ॥ १०॥
पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि यत्तैजसगुणोदयम्। त्यक्तद्रव्यत्वं पाकादिकर्मणाऽनलशब्दितम् ॥ ११॥
पचत्यन्नं विभजते सारकिट्टौ पृथक् तथा। तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम्।
करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतम् ॥ १२॥

अब यहाँ पर यह शङ्का होती है कि पित्त से अग्नि भिन्न है अथवा पित्त ही अग्नि है? इसे दूर करने के लिए उत्तर यह है कि जब कि पित्त के ही उष्णादि गुणों द्वारा आहार का परिपाक होना, खून बनने के लिये अन्नरस का लाल होना और आँख से दिखाई पड़ना इत्यादि कर्म सम्पन्न होते हैं तब निःसन्देह पित्त से भिन्न अग्नि कोई पदार्थ नहीं है। अर्थात् पित्त ही अग्नि है अत एव अग्निरूपी पित्त के ही स्थानभेद होने से पाचक, रञ्जक, साधक, आलोचक और भ्राजक ये ५ नाम होते हैं और इसी बिषय में वाग्भट भी कहते हैं कि 'पाचक पित्त प्रमाण में तिल के सदृश है और कठिन होने से यह दोष नहीं कहलाता, अर्थात् दोषों के मध्य में कहे हुये पित्त से भिन्न समझना चाहिये, और जब यह पित्त अविकृत अर्थात् विकार युक्त नही रहता तब पाक, ऊष्मा, दर्शन-क्रिया, भूख, प्यास, रुचि, प्रभा, मेधा, बुद्धि, शूरता और शरीर की कोमलता इन सब कार्यों के करने से प्राणी का उपकार करता है और यह पाचक पित्त पञ्चभूतात्मक है तथा पक्वाशय और आमाशय के मध्य में स्थित रहता है, किन्तु इसके पञ्चभूतात्मक होने पर भी इसमें तेज का ही गुण प्रधान रूप से रहता है। अत एव तेजोगुण का ही प्राधान्य होने से यह द्रवत्व से रहित (कठिन) होता है और पाकादि कर्म करने से यह अग्नि कहलाता तथा अन्न को पकाता है और उस (अन्न) के सारभाग रस तथा किट्टभाग (मलमूत्रादि) को अलग २ करता है, और उसी जगह अर्थात् पक्वाशय तथा आमाशय के मध्य में ही स्थित होकर भी शेष पित्तों को वलवान् बनाने से उन सबों का उपकार करता है। अत एव इसे पाचक पित्त कहते हैं॥ ९-१२॥

***ननु यदि पित्ताग्न्योरभेदस्तदा कथं घृतं पित्तस्य शमकमग्नेर्दीपकमिति। तथा मत्स्याः पित्तं कुर्वन्ति न च तेऽग्निदीपिकरा इति। तथा पित्ताधिक्यात्तीक्ष्णोऽग्निरित्यपि कथं स्यात्। तथा समदोषः समाग्निश्चेत्यपि वक्तुं न युज्यते। तथा—'द्रवं स्निग्धमधोगञ्च पित्तं वह्निरतोऽन्यथेति।' अत्रोच्यते। पित्तमग्नेः सन्तताधिष्ठानम्।** तथा चोक्तं तन्त्रान्तरे—

अग्निभिन्नगुणैर्युक्तः पित्तं भिन्नगुणैस्तथा ॥ १३॥
द्रवं स्निग्धमधोगञ्च पित्तं वह्निरतोऽन्यथा। तस्मात्तेजोमयं पित्तं पित्तोष्मा यः स शक्तिमान् ॥
स सञ्चरति कुक्षिस्थःसर्वतो धमनीमुखैः। सकायाग्निःसकायोष्मा सपक्ता स च जीवनम् ॥१४॥
अनन्यगतिरित्येवं देहे कायाग्निरुच्यते ॥ १५॥

अब इस जगह यह शङ्का होती है कि यदि पित्त और अग्नि का अभेद है अर्थात् दोनों एक हैं तो क्यों घृत पित्त का शमन करनेवाला तथा अग्नि का दीपन करनेवाला होता है तथा मत्स्य पित्त का उत्पन्न करनेवाला होता है किन्तु अग्नि का दीपन करनेवाला नहीं होता। पित्त की अधिकता से अग्नि तीक्ष्ण होता यह भी कैसे होता है तथा जिसके दोष समान होते हैं अर्थात् कोई दोष न्यूना-

धिक रूप से नहीं रहते हैं तो उसका अग्नि सम (न विषम और न मन्द) होता है यह भी कहना ठीक नहीं हो सकता, तथा 'पित्त द्रव (पतला)', स्निग्ध (स्नेह युक्त), और अधोगामी होता है किन्तु अग्नि इसके विपरीत (द्रवत्वादि रहित) यह भी कहना कैसे ठीक हो सकता ? इसका उत्तर यह है कि पित्त अग्नि के निरन्तर रूप से रहने का स्थान है और इसी विषय को लेकर दूसरे तन्त्रों में मुनियों ने कहा है—'अग्नि और पित्त भिन्न गुणों से युक्त है अर्थात् अग्नि और पित्त के गुण भिन्न २ हैं। अतएव उसमें से पित्त-द्रव, स्निग्ध और अधोगामी है और अग्नि उस (पित्त) से विपरीत है, इसीसे पित्त तेजोमय है तथा पित्त की जो ऊष्मा है वह शक्तिमान् है और वह उदर में स्थित होकर भी धमनियों के द्वारा शरीर में चारों ओर सञ्चार करता रहता है। वही शरीर की अग्नि और गर्मी है तथा वही पचानेवाला प्राणियों का जीवन है और वही देह के बीच में उसके समान अन्य किसी की गति नहीं है, अतएव वह कायाग्नि कहलाता है' ॥ १३-१५ ॥

अन्यच्च—*वामपार्श्वाश्रितं नाभेः किञ्चित् सोमस्य मण्डलम् ॥ १६ ॥

तन्मध्ये मण्डलं सौर्यं तन्मध्येऽग्निर्व्यवस्थितः। जरायुमात्रप्रच्छन्नः काचकोशस्थदीपवत् ॥

ग्रन्थान्तरों में और भी लिखा है—'नाभि के वाम भाग में अत्यन्त छोटा सा एक चन्द्रमण्डल है, फिर उसके मध्य में सूर्यमण्डल है और उस सूर्यमण्डल के मध्य में अग्नि स्थित रहता है तथा वह काँच (शीशे) के कोश (चिमनी) के मध्य में स्थित दीप की भाँति जरायु मात्र से ढँका हुआ है' ॥

तथा च मधुकोषे—***'द्रवतेजः समुदायात्मकस्यापि पित्तस्य तेजोभागोऽग्निरि'ति। तेन पित्तमप्यग्निवन्मन्यते। अतितापितायोगोलकवत्। परमार्थतस्तु—अग्निः पित्ताद्भिन्न एवेति सिद्धान्तः ॥** अत एवाह रसप्रदीपे—

'जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः। सौक्ष्म्याद्रसानाऽऽददानो विवक्तुं नैव शक्यते ॥१८॥
नाभिमध्ये[1] शरीरस्य विशेषात्सोममण्डलम्। सोममण्डलमध्यस्थं विद्यात्सूर्यस्य मण्डलम् ॥
प्रदीपवत्तत्र नृणां स्थितो मध्ये हुताशनः। सूर्यो दिवि यथा तिष्ठंस्तेजोयुक्तैर्गभस्तिभिः ॥२०॥
विशोषयति सर्वाणि पल्वलानि सरांसि च। तद्वच्छरीरिणां भुक्तं ज्वलनो नाभिमाश्रितः ॥२१॥
मयूखैः पचते क्षिप्रं नानाव्यञ्जनसंस्कृतम्। स्थूलकायेषु सत्त्वेषु यवमात्रः प्रमाणतः ॥ २२ ॥
ह्रस्वकायेषु सत्त्वेषु तिलमात्रः प्रमाणतः। कृमिकीटपतङ्गेषु वालामात्रोऽवतिष्ठते' ॥ २३ ॥

'मधुकोश' में भी यह कहा है कि—'द्रव के रूप में स्थित जो तेज है उसके समूहरूप से स्थित पित्त का जो तेजोभाग है वही अग्नि है' इससे पित्त को भी अग्नि की भाँति मुनि लोग मानते हैं, जैसे कि अत्यन्त तपाये हुये लोहे के गोले को भी अग्नि की तरह लोग मानते हैं। वस्तुतस्तु अग्नि पित्त से भिन्न ही है यही सिद्धान्त है। इसीसे 'रसप्रदीप' में भी कहा है कि—'भगवान् जठर (उदर) स्थित अग्नि ईश्वर अर्थात् सामर्थ्यवान् तथा उदरस्थित अन्न के पचानेवाले हैं, उनके सम्पूर्ण रसों को ग्रहण करते हुए भी उनके रूप का भलीभाँति से वर्णन नहीं हो सकता, क्योंकि वे अत्यन्त सूक्ष्म है शरीर के मध्य में नाभिस्थल में जो सोम (चन्द्र) मण्डल नामक एक विशेष स्थान है, उसीके मध्य में सूर्यमण्डल नामक एक दूसरा भी मण्डल है और उसी सूर्यमण्डल मे प्रत्येक मनुष्यों के शरीर में रहनेवाले अग्नि प्रदीप की भाँति रहते हैं। जिस भाँति सूर्य भगवान् आकाश में ही स्थित होकर तेज से युक्त अपने किरणों से सब पल्वल (छोटा जलाशय) और तालावों को सुखाते रहते हैं, उसी भांति अग्नि भी नाभि में स्थित होकर मनुष्यों के अनेक प्रकार के व्यञ्जनों से सस्कृत (युक्त) खाये हुये अन्न को अपनी किरणों के द्वारा अर्थात् अपने तेज से शीघ्र ही पचाते रहते हैं, मोटे (भारी) शरीरवाले हाथी आदि के शरीर में अग्नि यव (जौ) के बराबर, छोटे शरीरवाले (मनुष्यादि) जीवों के शरीर में तिल के बराबर कृमि, कीट (कीडे) और पतङ्ग (उडनेवाले मच्छड) आदि जीवों के शरीर में बाल के बराबर रहते हैं ॥ १८-२३ ॥ १२३ ॥

इत्यलमप्रकृतिचिन्तनेन, पुन. प्रकृतमनुसरति—

रञ्जकं नाम यत्पित्तं तद्रसं शोणितं नयेत्। यत्तु साधकसंज्ञं तत्कुर्याद् बुद्धि धृतिं स्मृतम् ॥१२॥

प्रकृति विषय का पुन. अनुसरण रञ्जक नाम का पित्त रस को रक्त के रूप में परिणत करता है साधक नाम का पित्त बुद्धि, धृति, स्मृति को उत्पन्न करता है ॥ १२४ ॥

---

१. 'नाभा'विति पाठान्तरम्।

*धृतिं = मेधाम् ॥ १२४ ॥

'धृति' का अर्थ है 'मेधा' अर्थात् धारण शक्तिवाली बुद्धि ॥ १२४ ॥

यदालोचकसंज्ञं तद्रूपग्रहणकारणम् । भ्राजकं कान्तिकारि स्याल्लेपाभ्यङ्गादिपाचकम् ॥१२५॥

आलोचक नाम का जो पित्त है वह रूप ग्रहण का कारण है अर्थात् उसीके सामर्थ्य से रूप का ग्रहण होता है, तथा भ्राजक नाम का जो पित्त है, वह शरीर में कान्ति पैदा करता है तथा किये गये लेप और अभ्यङ्गादिकों को पचाता है ॥ १२५ ॥

अथ श्लेष्मस्वरूपमाह—

श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीतलस्तथा। तमोगुणाधिकः स्वादुर्विदग्धो लवणो भवेत्॥

श्लेष्मा (कफ) का स्वरूप—कफ श्वेत, गुरु (भारी), स्निग्ध (स्नेह से युक्त), पिच्छिल (फिसलने वाला) शीतल, प्रधानरूप से तमोगुणी, स्वादु (स्वादयुक्त) तथा विदग्ध (परिपक्व) होने से लवण रसयुक्त (नमकीन) हो जाता है ॥ १२६ ॥

एकः श्लेष्मा वातपित्तवन्नामस्थानकर्मभेदैः पञ्चविधोऽतः श्लेष्मणां नामान्याह[1]—

कफस्यैतानि नामानि क्लेदनश्चावलम्बनः । रसनः स्नेहनश्चापि श्लेषणः स्थानभेदतः ॥१२७॥

पाँच प्रकार के कफों के नाम—क्लेदन, अवलम्बन, रसन, स्नेहन और श्लेषण ये पाँच नाम कफ के स्थानभेद से हैं ॥ १२७ ॥

अथ क्लेदनादीनां स्थानान्याह—

आमाशयेऽथ हृदये कण्ठे शिरसि सन्धिषु । स्थानेष्वेषु मनुष्याणां श्लेष्मा तिष्ठत्यनुक्रमात् ॥

क्लेदनादि कफों के स्थान—क्लेदन कफ आमाशय में, अवलम्बन कफ हृदय में, रसन कफ कण्ठ में, स्नेहन कफ मस्तक में और श्लेषण कफ सन्धिसमूह में यथाक्रम से स्थित रहता है ॥ १२८ ॥

***'दोषाणां सकलशरीरव्यापिनामपि पञ्च पञ्च स्थानानी'ति बाहुल्याभिप्रायेणोक्तानि ॥**
तथा च वाग्भटः—**'इति प्रायेण दोषाणां स्थानान्यविकृतात्मनाम् ।
व्यापिनामपि जानीयात् कर्माणि च पृथक् पृथक् ।' इति ।**
चरकश्च—**'ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रया ॥ २४ ॥' इति ।**

यद्यपि सभी (वातादि) दोष सारे शरीर में व्याप्त होकर रहते हैं, तथापि उन दोषों के पाँच २ स्थान हैं ऐसा जो कहा गया वह बाहुल्य के अभिप्राय से अर्थात् और स्थानों की अपेक्षा प्रत्येक दोष अपने पूर्वोक्त पाँचों स्थानों में अधिक रूप से रहते हैं । इसी विषय में 'वाग्भट' भी कहते हैं कि—जो विकृत नहीं हैं ऐसे सर्वशरीरव्यापी उन वातादि दोषों के प्रायः करके ये स्थान हैं अर्थात् पूर्वोक्त उन २ स्थानों में वे दोष अधिकता से रहते हैं ऐसा जानना चाहिये और उनके जो अलग २ कर्म हैं उन्हें भी जानना चाहिये ।

चरक में भी कहा है कि—वे वातादि दोष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर भी हृदय और नाभि के नीचे, मध्य और ऊपर के भाग में विशेष रूप से रहते हैं, अर्थात् वायु नाभि के नीचे पित्त हृदय तथा नाभि के मध्य में और कफ हृदय के ऊपर में विशेष रूप से रहता है ॥ २४ ॥ १२८ ॥

अथ तत्तत्स्थानगतस्य श्लेष्मणः (कर्माणि वक्तुकामस्तत्रादौ क्लेदनस्य) कर्माण्याह—

क्लेदनः क्लेदयत्यन्नमात्मशक्त्याऽपराण्यपि । अनुगृह्णाति च श्लेष्मस्थानान्युदककर्मणा ॥ १२९॥

क्लेदन नामक कफ के कार्य—क्लेदन नामक कफ भोजन किये हुये अन्नको क्लिन्न (गीला) करता है और अपनी सामर्थ्य से कफ के दूसरे और चौथे स्थानों का भी जलकर्म के द्वारा उपकार करता है ॥

***अयमर्थः—क्लेदनोऽन्नं क्लेदयति तेन संहतमन्नं भेदं प्राप्नोति। अपराण्यपि श्लेष्मस्थानानि हृदयादीनि भागेन गत्वा तत्र तत्र हृदयालम्बनत्रिकसन्धारणरसग्रहणसमस्तेन्द्रियतर्पणसन्धिसंश्लेषणाद्युदककर्मभिरनुगृह्णाति उपकरोति । तदेवोत्तरत्रोच्यते ॥ १२९ ॥**

ऊपर कहे हुये श्लोक का भाव यह है कि—क्लेदन नामक कफ खाये हुए अन्न को क्लेदयुक्त (गीला) करता है जिससे इकट्ठा हुआ अन्न अलग २ हो जाता है और दूसरे भाग जो कफ के स्थान हृदयादि हैं, उन सबों में वही क्लेदन नामक कफ भाग (अंश) से आकर हृदय का अवलम्बन, त्रिकसन्धान, रस ग्रहण करना, सम्पूर्ण इन्द्रियों को तृप्त करना और सभी सन्धियों को

---

१. 'तन्नामान्याहे'ति पाठान्तरम् ।

जोडना आदि जो उदक (जल) के कर्म हैं उनके द्वारा उन २ स्थानों का उपकार करता है। किस कर्म के द्वारा किस स्थान का क्या उपकार करता है उसे आगे के श्लोकों में कहते हैं॥ १२९॥

अथावलम्बनकफस्य कर्माण्याह—

रसयुक्तात्मवीर्येण हृदयस्यावलम्बनम्। त्रिकसन्धारणं चापि विदधात्यवलम्बनः॥ १३०॥

अवलम्बन नामक कफ के कर्म—अवलम्बन नामक कफ रस से युक्त होकर अपने वीर्य (सामर्थ्य) से हृदय का अवलम्बन और त्रिक का सन्धारण (भली भाँति से जुटा रहना) रूप कार्य करता है॥ १३०॥

***त्रिकं = शिरोबाहुद्वयसन्धिः॥ १३०॥**

'त्रिक' का अर्थ है 'शिर और दोनों बाहुओं की सन्धि'॥ १३०॥

अथ रसनकफस्य कर्माण्याह—

उभावपि ततः सौम्यौ तिष्ठतश्चान्तिके यतः। यतो रसान्विजानीतो रसनारसनौ समौ॥१३१॥

रसन नामक कफ के कर्म—रसना और 'रसन' नामक कफ ये दोनों ही सौम्य गुण युक्त पदार्थ हैं। क्योंकि ये दोनों पास २ रहते हैं तथा रस के स्वाद को भी दोनों ही जानते हैं अर्थात् रस का आस्वादन लेने में दोनों ही की शक्ति रहती है। अतः ये दोनों ही समान भाव से माने जाते हैं॥ १३१॥

***रसना = रसनेन्द्रियम्, रसनः = कण्ठस्थकफः॥ १३१॥**

'रसना' से 'रसनेन्द्रिय अर्थात् जिह्वाग्रवर्त्ती इन्द्रिय' और 'रसन' से 'कण्ठ में रहनेवाला कफ' ऐसा समझना चाहिये॥ १३१॥

अथ स्नेहनश्लेषणकफयोः कर्माण्याह—

स्नेहनः स्नेहदानेन समस्तेन्द्रियतर्पणः। श्लेषणः सर्वसन्धीनां संश्लेषं विदधात्यसौ॥ १३२॥

स्नेहन और श्लेषण नामक कफों के कार्य—स्नेहन नामक कफ अपने स्नेहदान करने के द्वारा समस्त इन्द्रियों को तृप्त करता रहता है, तथा श्लेषण नामक कफ सम्पूर्ण सन्धियों को भली भाँति जोडे रहता है॥ १३२॥

अथ धातुशब्दस्य निरुक्तिमाह—

एते सप्त स्वयं स्थित्वा देहं दधति यन्नृणाम्। रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धावतः॥१३३॥

'धातु' शब्द की निरुक्ति—रस, रक्त, मास, मेद, हड्डी, मज्जा और शुक्र ये सात पदार्थ स्वयं स्थित होकर मनुष्यों के देह को धारत करते हैं। अत एव ये धातु कहलाते हैं॥ १३३॥

***धावत इति। धाधातोस्तुप्रत्ययः॥ १३३॥**

'धा' धातु से तु प्रत्यय होने पर प्रथमा बहुवचन में 'धातवः' सिद्ध होता है॥ १३३॥

अथ धातूना कर्माण्याह—

प्रीणनं जीवनं लेपः स्नेहो धारणपूरणे। गर्भोत्पादश्च कर्माणि धातूनां कथितानि हि॥१३४॥

धातुओं के कार्य—प्रीणन (तृप्त करना), जीवन (जीवित रखना), लेप, स्नेह, धारण, पूरण और गर्भ को उत्पन्न करना, ये ७ कार्य रसादि धातुओं के यथाक्रम से हैं॥ १३४॥

तत्र रसशब्दस्य निरुक्तिमाह—

गत्यर्थो[1] रसधा[2] तुर्यस्ततोऽभवदयं[3] रसः। सद्रवं सकलं देहे रसतीति रसः स्मृतः॥ १३४॥

रस धातु की निरुक्ति—गत्यर्थक (गति अर्थ में वर्त्तमान) 'रस' धातु से 'रस' शब्द की सिद्धि होती है। यह द्रवयुक्त होकर सम्पूर्ण शरीर में गमन करता है अतः रस कहलाता है॥ १३४॥

अथ रसस्य स्वरूपमाह—

सम्यक् पक्वस्य भुक्तस्य सारो निगदितो रसः। स तु द्रवः सितः शीतः स्वादुः स्निग्धश्चलो भवेत्

रस के स्वरूप—खाये हुये अन्न के भलीभाँति परिपक्व (पच) जाने पर उससे जो सार पदार्थ उत्पन्न होता है वही रस कहलाता है। वह रस द्रव (बहनेवाले पानी की भाँति), श्वेतवर्ण, शीतल, स्वादयुक्त, स्नेहयुक्त (चिकना) और चलनशील होता है॥ १३५॥

***सारो यथा—गुडमधूकपुष्पबब्बूलत्वग्बदरीमूलादिभवः सारो मदिरा॥ १३५॥**

---

१. 'यत्पाथो' इति पाठान्तरम्। २. 'रसधातो'रिति पाठान्तरम्। ३. 'दपामि'ति पाठान्तरम्।

जैसे गुड, महुये का फूल, बबूल की छाल और बेर के मूलादि से निकाला हुआ सार मदिरा होता है। उसी भाँति अच्छी तरह से परिपक्क अन्न का सार रस होता है ॥ १३५ ॥

अथ रसस्य स्थानमाह—

सर्वदेहचरस्यापि रसस्य हृदयं स्थलम्। समानमरुता पूर्वं यदयं हृदये धृतः ॥ १३६ ॥

रस के स्थान—सम्पूर्ण देह में विचरनेवाला रसका मुख्य स्थान हृदय है। क्योंकि समान-वायु ने उसे शरीर के और भागों में जाने के पहले ही से हृदय में रख दिया है ॥ १३६ ॥

अथ रसस्य कर्माण्याह—

आरुह्य धमनीर्गत्वा धातून् सर्वानयं रसः। पुष्णाति तदनु स्वीयैर्व्याप्नोति च तनुं गुणैः ॥१३७॥

रस के कर्म—रस धमनी (नाडियों) में स्थित होकर उसी के द्वारा जाकर सम्पूर्ण रक्तादि ६ धातुओं को परिपुष्ट करता है। उसके बाद अपने गुणों के द्वारा शरीर में व्याप्त होकर रहता है।।१३७।।

***गुणैः=शीतस्निग्धपोषकत्वगुणैः ॥ १३७ ॥**

'गुणैः' का अर्थ है शीत, स्निग्ध और पोषकत्व गुणों के द्वारा ॥ १३७ ॥

मन्दवह्निविदग्धस्तु कटुर्वाऽम्लो भवेद्रसः। स कुर्याद्बहुलान् रोगान् विषकृत्यं करोत्यपि॥१३८॥

जठराग्नि के मन्द होने से विदग्ध होकर अर्थात् अग्नि मन्द होने से भोजन का परिपाक ठीक न होने पर जो रस बनता है, वह कटु (चरपरा) अथवा अम्ल (खट्टा) होता है और वह (विदग्ध रस) अनेक रोगों को उत्पन्न करता है तथा विषकृत्य अर्थात् विष के समान मारणादि कृत्य भी करता है ॥ १३८ ॥

अथ रक्तस्य स्वरूपमाह—

यदा रसो यकृद्याति तत्र रञ्जकपित्ततः। रागं पाकं च सम्प्राप्य स भवेद्रक्तसंज्ञकः ॥ १३९ ॥

रक्त के स्वरूप—जब रस यकृत् स्थान में जाता है तब वहाँ पर स्थित रञ्जक नामक पित्त के द्वारा लालवर्ण तथा परिपक्क होकर 'रक्त' नाम से कहलाने लगता है ॥ १३९ ॥

रक्तं सर्वशरीरस्थं जीवस्याधारमुत्तमम्। स्निग्धं गुरु चलं स्वादु विदग्धं पित्तवद्भवेत् ॥ १४० ॥

रक्त सम्पूर्ण शरीर में रहनेवाला, जीवात्मा का उत्तम आधार, स्निग्ध, गुरु (भारी), चलनशील और स्वादयुक्त होता है, यह विदग्ध (अच्छी तरह से परिपक्क) होने पर विदग्ध पित्त की भाँति हो जाता है ॥ १४० ॥

***पित्तवद्भवेत्=अम्लं भवेदित्यर्थः ॥ १४० ॥**

'पित्तवद्भवेत्' का अर्थ है 'अम्ल हो जाना' ॥ १४० ॥

***जीवस्याधारमुत्तममिति। यत आह—**

'जीवो वसति सर्वस्मिन्देहे तत्र विशेषतः। वीर्ये रक्ते मले यस्मिन् क्षीणे याति क्षयं क्षणात्'२६इति॥

रक्त जीव का उत्तम आधार है। क्योंकि कहा भी है कि—जीव सम्पूर्ण देह में रहता है किन्तु वीर्य, रक्त, तथा मल में विशेषरूप से रहता है। क्योंकि वीर्यादि में से जिस किसी के क्षय हो जाने पर वह जीव उसी क्षण क्षय को प्राप्त हो जाता है अर्थात् मर जाता है ॥ २६ ॥

***वीर्ये रक्ते मले च शरीरारम्भके वाग्भटोक्तपरिमाणमिते शुद्धे जीवो वसति न तु दुष्टे प्रवृद्धे च रक्तस्रावणोपदेशस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् ॥ २६ ॥**

'जीव, रक्त और मल में रहता है' इसका अभिप्राय यह है कि वाग्भट में कहे हुये रक्तादि के जो परिमाण है उन परिमाणों में स्थित अतएव शरीरारम्भक (शरीर को ठीक रखने वाले) विशुद्ध रक्तादि में ही विशेषरूप से जीव रहता है, क्योंकि यदि ऐसा नहीं माना जाय तो दोष युक्त तथा बढ़े हुए रक्त के निकालने का जो उपदेश ऋषियों ने दिया है वह अनुचित समझा जायगा।।२६।।

अथ रक्तस्य स्थानमाह—

यकृत् प्लीहा च रक्तस्य मुख्यस्थानन्तयोः स्थितम्। अन्यत्र संस्थितवतां रक्तानां पोषकं भवेत्॥

रक्त के स्थान—यकृत् (कलेजा) और प्लीहा (तिल्ली) ये दोनों रक्त के मुख्य स्थान हैं, इन दोनों स्थानों में स्थित जो रक्त है वही दूसरे स्थानों में स्थित रक्तों को परिपुष्ट करनेवाला होता है।।१४१।।

अथ मासस्य स्वरूपमाह—

शोणितं स्वाग्निना पक्वं वायुना च घनीकृतम्। तदेव मांसं जानीयात्तस्य भेदानपि ब्रुवे॥१४२॥

मांस के स्वरूप—रक्त जब अपने अग्नि (ऊष्मा) द्वारा परिपक्व हो जाने पर वायु के द्वारा घन (जम करकडा) हो जाता है तब 'मांस' इस नाम से कहा जाता है। उस मांस के जितने भेद होते हैं उन सबों को कहते हैं ॥ १४२ ॥

***शोणितमिति । शोणितस्थानगतत्वाद्रस एव शोणितसंज्ञां लभते । एवमग्रे रसस्यैव मांसादिव्यपदेशः ॥ १४२ ॥**

उपर्युक्त श्लोक का तात्पर्य यह है कि रस ही जब रक्तस्थान में पहुँचता है तब रक्त नाम से और जब उसके आगे मांसादि के स्थानों में पहुँचता है तब मासादि नाम से कहा जाता है अर्थात् रक्त-मांसादि सम्पूर्ण धातु एक रस का ही परिणाम है ॥ १४२ ॥

अथ मांसस्य पेशीमाह—

यथाऽर्थमूष्मणा युक्तो वायुः स्रोतांसि दारयेत्। अनुप्रविश्य पिशितं पेशीर्विभजते तथा॥१४३॥

मास पेशी—वायु जैसा प्रयोजन है उसके अनुसार ऊष्मा से युक्त होकर स्रोतों (शिराओं) को विदीर्ण करता हुआ मास के भीतर प्रवेश कर उसे पेशी के रूप में विभक्त करता है अर्थात् सूत्र के गुच्छे के रूप में परिणत कर देता है ॥ १४३ ॥

***यथाऽर्थ = यथाप्रयोजनम् ॥ १४३ ॥**

'यथाऽर्थ' पद में 'अर्थ' पद का 'प्रयोजन' अर्थ होने से 'यथाऽर्थ' का 'जैसे प्रयोजन है उसके अनुसार' यह अर्थ होता है ॥ १४३ ॥

अथ मासपेशीनां सख्यामाह—

मांसपेश्यः समाख्याता नृणां पञ्च शतानि हि ॥ १४४ ॥
तासां शतानि चत्वारि शाखासु कथितान्यथ ।
कोष्ठे षडुत्तरा षष्टिः कथिता मुनिपुङ्गवैः। ग्रीवाया ऊर्ध्वगास्तास्तु चतुस्त्रिंशत् प्रकीर्त्तिताः॥१४५॥

मासपेशियों की सख्या—मनुष्यों के शरीर में कुल ५०० मासपेशियाँ हैं, उनमें ४०० चारों शाखाओं में अर्थात् दोनों हाथों और दोनों पैरों में और उसके बाद कोष्ठ में अर्थात् गर्दन के नीचे से लेकर कमर तक ६६ और गर्दन के ऊपर भाग में ४४ मासपेशियाँ होती हैं ॥ १४४-१४५ ॥

ताः शाखागताः प्राह—

***एकैकस्यान्तु पादाङ्गुल्यां तिस्रस्तिस्रस्ताः पञ्चदश १५ । पादाग्रे दश १० । पादोपरि कूर्चसन्निविष्टा दश १० । गुल्फतलयोर्दश १० । गुल्फजानुनोरन्तरे विंशतिः २० । जानुनि पञ्च ५ । ऊरौ विंशतिः २० । वङ्क्षणे दश १० । एवमेकस्मिन् सक्थिनि शतं भवन्ति । एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ । एतासां समष्टिश्चतुःशतम् ।**

शाखागत मासपेशियाँ—एक एक पैर की अङ्गुलियों में तीन २ हैं इस प्रकार पाँचों अङ्गुलियों में कुल पन्द्रह, पैर के अग्रभाग में दश और पैर के ऊपर कूर्चस्थान में दस, गुल्फ और तालुओं में दश, गुल्फ और जानु के बीच में बीस और घुटने में पाँच, जाँघ में बीस और वङ्क्षण (ऊरु की सन्धि) में दस मासपेशियाँ हैं, इसप्रकार सब मिलकर एक सक्थि अर्थात् पाँव के पजे से लेकर जाँघ की सन्धि तक एक सौ मासपेशिया हैं, इसी प्रकार दूसरे पाँव तथा दोनों बाहुओं मे भी एक सौ मासपेशियाँ होती हैं। इन सब का योगफल चार सौ होता है ॥

अथ कोष्ठगताः प्राह—

***गुदे तिस्रः ३ । शेफस्यैका १ । सेवन्यामेका १ । वृषणयोर्द्वे २ । स्फिचोः पञ्च ५ पञ्च ५ । वस्तिमूर्धनि द्वे २ । उदरे पञ्च ५ । नाभ्यामेका १ । [1]पृष्ठोर्ध्वसन्निविष्टा उभयतः पञ्च ५ । पञ्च ५ दीर्घाः । पार्श्वयोः षट् ६ । वक्षसि दश १० । अक्षकांसौ प्रतिसमन्तात् सप्त ७ । अक्षकौ अधुआ इति लोके । अंसौ स्कन्धौ । हृदि द्वे २ । यकृति द्वे २ । प्लीह्नि द्वे २ उण्डुके[2] द्वे २ । एतासां समष्टिः षट्षष्टिः ६६ ॥**

कोष्ठगत मासपेशियाँ—गुदा में तीन, लिङ्ग में एक, सेवनी अर्थात् सीवन में एक, दोनों अण्डकोषों में दो, दोनों तरफ के स्फिचों (कूल्हों) में पाँच-पाँच, वस्ति के ऊपर भाग में दो, उदर

१. 'पृष्ठोर्ध्वमि'ति पाठान्तरम् । २. 'तुण्डके' इति पाठान्तरं प्रामादिकम् ।

में पाँच, नाभि में एक, पीठ के ऊपर मेरुदण्ड के दोनों तरफ लगी हुई लम्बी २ पाँच-पाँच (मिलकर दस), दोनों तरफ की पँसुलियों में तीन २ (मिलकर छ), छाती में दस, हँसुली और कन्धे के चारों तरफ सात, (यहाँ 'अक्षक' से लोक में प्रसिद्ध 'अखुआ' तथा 'अंस' से 'स्कन्ध' समझना चाहिये) हृदय में दो, यकृत् में दो, प्लीहा में दो और उण्डुक (मलाशय) में दो मांसपेशियाँ होती हैं। इन सब का योगफल ६६ होता है।

अथ ग्रीवोर्ध्वगाः प्राह—

ॐग्रीवायाञ्चतस्रः ४ । हन्वोरष्टौ ८ । एका काकलके कण्ठमणौ [1]घण्टिकायामिति यावत्। गले एका १। तालुनि द्वे २। जिह्वायामेका १। ओष्ठयोर्द्वे २। नासायां द्वे २। नेत्रयोर्द्वे २। गण्डयोश्चतस्रः ४। कर्णयोर्द्वे २। ललाटे चतुस्रः ४। शिरस्येका १। आसां समष्टिः चतुस्त्रिंशत् ३४। एवं मांसपेश्यः पञ्च शतानि ५०० भवन्ति ॥ १४४-१४५ ॥

गर्दन के ऊपर भाग की मासपेशियाँ—गर्दन में चार, दोनों हनुओं (कपोलों) के नीचे भागों में आठ, काकलक (कण्ठमणि) में एक, (कण्डमणि को लोक में घण्टिका (टेंढुआ) कहते हैं) गले में एक, तालु में दो, जिह्वा में एक, दोनों ओठों में दो, दोनों नाक में दो, दोनों नेत्रों में दो, दोनों गण्डस्थलों में चार, दोनों कानों में दो, ललाट में चार और शिर में एक माँसपेशियाँ होती हैं । इन सबों का योगफल चौंतीस होता है। इस प्रकार सब मिलकर सपूर्ण शरीर में पाँच सौ मांसपेशियाँ होतीं हैं ॥ १४४-१४५ ॥

स्त्रीणामपि भवन्त्येताः किन्तु विंशतिरुत्तराः। गर्भाशये गर्भमार्गे योनौ च स्तनयोरपि ॥१४६॥

स्त्रिया के भी इतनी ही मासपेशियाँ होती हैं किन्तु गर्भाशय, गर्भमार्ग, योनि तथा दोनों स्तनों में वीस मांसपेशियाँ अधिक होती हैं ॥ १४६ ॥

ॐएताः पञ्चशतानि मांसपेश्यः स्त्रीणामधिका विंशतिर्यथा—गर्भाशये तिस्रः ३ । गर्भच्छिद्रसंस्थिताः शुक्रार्त्तवप्रवेशिन्यस्तिस्रः ३ । योनावभ्यन्तरतो मुखाश्रिते प्रसृते द्वे २ । योनावेव बहिर्निर्गते स्रोतःपार्श्वद्वयस्थिते वर्तुले योनिकर्णिकेति यावत् द्वे २ । स्तनयोः पञ्च ५ पञ्च ५। यौवने तासां वृद्धिर्भवति ॥ १४६ ॥

स्त्रियों के वीस अधिक मासपेशियाँ—गर्भाशय में तीन, गर्भछिद्र अर्थात् गर्भमार्ग में स्थित शुक्र और आर्त्तव को गर्भाशय में प्रवेश करानेवाली तीन, योनि के भीतर मुखभाग की तरफ फैली हुई दो और योनि में ही वाहर की ओर निकली हुई स्रोत अर्थात् छिद्र के दोनों पार्श्वों में स्थित वर्तुलाकार (गोलाकार) योनिकर्णिका में दो तथा दोनों स्तनों में पाँच-पाँच मासपेशियाँ होती हैं । युवावस्था होने पर स्त्रीयों में इन मासपेशियों की वृद्धि होती है ॥ १४६ ॥

पुंसां पेश्यः पुरस्ताद्याः प्रोक्ता मेहनमुष्कजाः। स्त्रीणामावृत्य तिष्ठन्ति फलमन्तर्गतं हि ताः ॥

पुरुष के लिङ्ग तथा दोनों अण्डकोषों में जितनी मासपेशियाँ कह आये हैं, स्त्री के भीतर फल अर्थात् गर्भाशय को ढँक कर उतनी ही मासपेशियाँ होती हैं ॥ १४६ ॥

ॐअस्यायमर्थः। पुंसां मेहनमुष्कयोश्च यास्तिस्रो मांसपेश्यः पूर्वमुक्तास्ताः स्त्रीणां मेहनमुष्काभावात् फलं गर्भाशयमावृत्य तिष्ठन्ति गयदासस्त्वाह—

स्त्रीणां मांसपेश्यस्त्रिभिर्हीनानि पञ्चशतानि। तथा च भोजः—

पञ्च पेशीशतान्येव स्त्रीवर्जं विद्धि भूमिप! अतश्च तिस्रो हीयन्ते स्त्रीणां शेफसि मुष्कयोः॥२७॥

स्पष्टार्थ यह है कि पुरुष के लिङ्ग तथा दोनों अण्डकोषों में जो तीन मासपेशियाँ पहले कह आये हैं, वे ही स्त्रियों के लिङ्ग तथा अण्डकोश न होने से फल अर्थात् गर्भाशय को ढँक कर रहती हैं, किन्तु इस जगह 'गयदास' यह कहते हैं कि—'स्त्रियों के पुरुषों की अपेक्षा तीन कम पाँच सौ मासपेशियाँ होती हैं अर्थात् चार सौ सत्तानवे होती हैं और इसी वात को 'भोज' भी कहते हैं कि—"हे राजन्! माशपेशियाँ तो पाँच सौ ही होती हैं, किन्तु स्त्रियों को इतनी नहीं होती, उसका कारण यह है कि लिङ्ग तथा दोनों अण्डकोष स्त्रियों के नही होते अतः स्त्रियों में इन स्थानों की तीन मासपेशियाँ कम हो जाती हैं ॥ २७-१४७ ॥

---

१. 'घुण्टिकायामि'ति पाठान्तरम् ।

अथ मांसपेशीनां कर्माण्याह—

शिरास्नाय्वस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम्। पेशीभिः संवृतान्येव बलवन्ति भवन्ति हि ॥१४८॥

मांसपेशियों के कर्म—प्राणियों की शिरा (नस) स्नायु (दृढ मोटी २ नसें), हड्डी, पर्व (पोरुवे) और सन्धिस्थान ये सब मांसपेशियों से ढँके हुए रहने से बलवान् रहते हैं ॥ १४८ ॥

अथ मेदसः स्वरूपमाह—

यन्मांसं स्वाग्निना पक्वं तन्मेद इति कथ्यते। तदतीव गुरु स्निग्धं बलकार्यतिबृंहणम् ॥ १४९ ॥

मेद का स्वरूप—जो मांस अपनी अग्नि से परिपक्व हो जाता है वही 'मेद' नाम से कहा जाता है और वह अत्यन्त गुरु, स्निग्ध, बलकारी तथा शरीर को अत्यन्त बढानेवाला होता है ॥ १४९ ॥

अथ मेदसः स्थानमाह—

मेदो हि सर्वभूतानामुदरेष्वस्थि[1] संस्थितम्। अत एवोदरे वृद्धिः प्रायो मेदस्विनो भवेत्॥१५०॥

मेद का स्थान—मेद सभी प्राणियों में स्थित होता हुआ (लिपटा हुआ) उदर में विशेषरूप से रहता है, अतएव प्रायः करके मेदस्वी पुरुषों का उदर बढ जाता है ॥ १५० ॥

अथास्थ्नः स्वरूपमाह—

मेदो यत् स्वाग्निना पक्वं वायुना चातिशोषितम् ॥ १५१ ॥
तदस्थिसंज्ञां लभते स सारः सर्वविग्रहे। अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः ॥ १५२ ॥
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनो ध्रुवम्। तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाम् ॥
अस्थीनि न विनश्यन्ति सारा एतानि सर्वथा ॥ १५३ ॥

हड्डियों के स्वरूप—जब मेद (चर्बी) अपने अग्नि की गर्मी से परिपक्व होकर वायु से अत्यन्त सूख जाता है तब उसका अस्थि नाम पड जाता है और वही अस्थि (हड्डी) सम्पूर्ण शरीर में सार (दृढ) पदार्थ है। जिस प्रकार सब वृक्षों के भीतर सार होने पर वे दृढरूप से ठहरे रहते हैं, उसी प्रकार प्राणियों के भी शरीर, अन्दर में स्थित सारस्वरूप हड्डियों के द्वारा ही ठहरे रहते हैं। इसीसे प्राणियों के चमडे और मांस के भलीभाँति नष्ट हो जाने पर भी हड्डियाँ नष्ट नहीं होतीं। अतः ये हड्डियाँ सार (दृढ पदार्थ) कही जाती हैं ॥ १५१-१५३ ॥

आथास्थ्नां सख्यामाह—

शल्यतन्त्रेऽस्थिखण्डानां शतत्रयमुदाहृतम् ॥ १५४ ॥
तान्येवात्र निगद्यन्ते तेषां स्थानानि यानि च।
सविंशतिशतं त्वस्थ्नां शाखासु कथितं बुधैः ॥ १५५ ॥
पार्श्वयोः श्रोणिफलके वक्षःपृष्ठोदरेषु च ॥
जानीयाद्भिषगेतेषु शतं सप्तदशोत्तरम्। ग्रीवायामूर्ध्वगां विद्यादस्थ्नां षष्टिं त्रिसंयुताम् ॥१५६॥

हड्डियों की सख्या—शल्यतन्त्र में हड्डियों के टुकडों की सख्या जो तीन सौ कही हुई है, तथा उन हड्डियों के जो २ स्थान हैं उन्हें भी कह रहे हैं। पण्डितों ने शाखाओं (हाथ पैरों) में एक सौ बीस, दोनों पार्श्वों (पँसुलियों) में और श्रोणिफल (कटिप्रदेश) तथा वक्षःस्थल पीठ और उदर इन सब स्थानों में एक सौ सत्रह, ग्रीवा (गर्दन) तथा ग्रीवा के ऊपर तिरसठ हड्डियाँ कही हैं ऐसा वैद्यों को जानना चाहिये ॥ १५४-१५६ ॥

तानि शाखागतान्याह—

***एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश १५। पादतले ५ पञ्चास्थिशलाकास्तदाधारभूतमेकमस्थि १ एवं षट् ६। कूर्चे द्वे २। गुल्फे द्वे २। पार्ष्ण्यामेकम् १। जङ्घायां द्वे २। जानुन्येकम् १। ऊरावेकम् १। एवं त्रिंशदेकस्मिन् सक्थिनि भवन्ति। एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ॥**

शाखागत हड्डियाँ पैर की प्रत्येक अङ्गुलियों में तीन-तीन, सब मिलकर पन्द्रह, पैर के तलुये में पाँच अस्थिशलाकाएँ (सलाई की भाँति हड्डी) और उन्हीं के आधारभूत एक हड्डी इस प्रकार सब मिलकर छ, कूर्च में दो, गुल्फ (पैर के गाँठ) में दो, पार्ष्णि (एडी) में एक, जङ्घा में (एडी से जानु पर्यन्त भाग में) दो, जानु (घुटना) में एक और ऊरु (जानु से ऊपर कटि के नीचे

१. 'ध्वस्थिषु' इति पाठान्तरम्।

भाग तक) में एक हड्डियाँ हैं। इस प्रकार सब मिलकर तीस हड्डियाँ एक पैर में होती हैं, इसी प्रकार से दूसरे पैर तथा दोनों हाथों में भी तीस २ हड्डियाँ होती हैं ॥

अथ पार्श्वादिगतान्याह—

***पार्श्वयो षट्त्रिंशद् ३६ एवमेकस्मिन् द्वितीयेऽप्येवम् । शिश्ने भगे वा एकम् १। गुदे एकम् १। नितम्बयोरेकैकम् २। त्रिके एकम् १। वक्षस्यष्टौ ८। पृष्ठे त्रिंशत् ३०। अक्षकसंज्ञे द्वे २।**

पार्श्वादि स्थानों की हड्डियां—दोनों पँसुलियों के प्रथम में छत्तीस और दूसरे में भी छत्तीस इस प्रकार बहत्तर, लिङ्ग अथवा भग में एक, गुदा में एक, दोनों ओर के नितम्बों (कटि के पीछे के दोनों भागों) में एक एक (दो), त्रिकस्थान में एक, वक्षःस्थल में आठ, पीठ में तीस और अक्षक (हुँसुली) नामक दो हड्डियाँ हैं ॥

अथ ग्रीवोर्ध्वगतान्याह—

***ग्रीवायां नव ९। कण्ठनाड्यां चत्वारि ४। हन्वोरेकैकम् २। दन्ता द्वात्रिंशत् ३२। नासायां त्रीणी ३। तालुन्येकम् १। गण्डयोरेकैकम् २। कर्णयोरकैकम् २। भ्रुवोरेकैकम् २। शिरसि षट् ६॥ १५४–१५६॥**

ग्रीवा की हड्डियाँ—ग्रीवा में नौ, कण्ठ की नली में चार, दोनों हनुओं (दोनों कपोल के नीचे भागों) में एक एक (दो), दाँतों में बत्तीस, नाक में तीन, तालु में एक, दोनों गण्डस्थलों में एक एक (दो), दोनों भौहों में एक एक (दो) और शिर में छ हड्डियाँ होती हैं ॥१५१–१५६॥

एतान्यस्थीनि पञ्चविधानि भवन्ति तानि यथा—

तरुणानि कपालानि रुचकानि भवन्ति हि। वलयानीति तानि स्युर्नलकानि च कानि चित् ॥

हड्डियों की संज्ञा—जितनी हड्डियाँ होती हैं, उनमें से कोई तरुण, कोई कपाल, कोई रोचक, कोई वलय और कोई नलकसंज्ञक होती हैं ॥ १५७ ॥

अक्षिकोश श्रुतिघ्राणग्रीवासु तरुणानि च ॥ १५८ ॥
शिरःशङ्खकपोलेषु तात्वंसप्रोथजानुषु। कपालानि भवन्त्येषु दन्तेषु रुचकानि च ॥ १५९ ॥

अक्षिकोश (जहाँ पर नेत्र रहता है), कान, नासिका और गर्दन इन स्थानों में जो हड्डियाँ होती हैं उन्हें तरुणसंज्ञक और शिर (मस्तक), कपोल, तालु, कन्धा, प्रोथ (कटि भाग में स्थित मांसपिण्ड शङ्ख अर्थात् कूले), जानु (घुटने) इन स्थानों में जो हड्डियाँ होती हैं, उन्हें कपाल संज्ञक तथा दाँतों में जो होती हैं उन्हें रुचक संज्ञक जानना चाहिये ॥ १५८–१५९ ॥

***जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खशिरःसु कपालानि। दशनास्तु रुचकाः ॥ १५८–१५९ ॥**

जानु, नितम्ब, कन्धा, गण्डस्थल, तालु, शङ्ख और शिर में कपाल संज्ञक हड्डियाँ हैं और दाँत रुचक संज्ञक हड्डियाँ हैं ॥ १५८–१५९ ॥

पार्ष्ण्योः पार्श्वयुगे पृष्ठे वक्षोजठरपायुषु। पादयोर्वलयानि स्युर्नलकानि ब्रुवेऽधुना ॥ १६० ॥
हस्ते पादाङ्गुलितले कूर्च्चे च मणिबन्धके। बाहूजङ्घाद्वये चापि जानीयान्नलकानि तु ॥ १६१ ॥

दोनों हाथ, दोनों पँसुली, पीठ, वक्षःस्थल, उदर, गुदा और दोनों पैरों में वलयसंज्ञक हड्डियाँ होती हैं। और हाथ तथा पैर की अंगुलियों के तल-भाग, कूर्च, मणिबन्ध (कलाई), बाहु और दोनों जङ्घा (जानु से नीचे और एडी के ऊपर वाला भाग) इन स्थानों में जो हड्डियाँ हैं उन्हें नलकसंज्ञक जानना चाहिये ॥ १६०–१६१ ॥

अथास्थ्ना प्रयोजनमाह—

मांसान्यन्त्राणि[1] बद्धानि शिराभिः स्नायुभिस्तथा।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न दीर्यन्ते पतन्ति च ॥ १६२ ॥

हड्डियों के प्रयोजन—शिरा (नस) और स्नायुओं (दृढ ठोस नसों) से बँधी हुई मास और अंतड़ियाँ हड्डियों का सहारा लेकर स्थित हैं। अतएव वे न विदीर्ण होती हैं, न गिरती है अर्थात् हड्डी न होती तो वे नहीं रुक सकती थीं, अतएव इन सब को गिरने से रोकना ही हड्डियों का प्रयोजन समझना चाहिये ॥ १६२ ॥

---

१. 'मांसान्यत्र निबद्धानी'ति पाठान्तरम्।

अथ मज्जस्वरूपमाह—

अस्थि यत् स्वाग्निना पक्वं तस्य सारो भवेद्घनः। यः स्वेदवत् पृथग्भूतः स मज्जेत्यभिधीयते॥१६३॥

मज्जा के स्वरूप—जब अस्थि अपने अग्नि से परिपक्व हो जाता है तब उसका जो सार होता है वह घन हो जाता है और वही सार जो अस्थि से स्वेद की भाँति अलग होकर अस्थि के मध्य में स्थित रहता है उसी अस्थि के सार को मज्जा कहते हैं॥ १६३॥

अथ मज्जस्थानमाह—

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तरे स्थितः॥ १६४॥

मज्जा के स्थान—मोटी २ हड्डियों के भीतर ही मज्जा विशेषरूप से रहती है। अतः मज्जा का स्थान मोटी २ हड्डियों के भीतर का भाग समझना चाहिये॥ १६४॥

अथ शुक्रस्योत्पत्तिमाह—

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रस्य सम्भवः॥

शुक्र की उत्पत्ति—रस से रक्त, रक्त से मास, मास से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र की उत्पत्ति होती है॥ १६५॥

***सुश्रुतस्येति[1] वचनेन शुक्रसम्भव उक्तः॥ १६५॥**

ऊपर कहे हुए सुश्रुत के इसी वचन के द्वारा सिद्ध होता है कि मज्जा से शुक्र की उत्पत्ति होती है॥१६५॥

ननु 'मासेन रसः शुक्रो भवति स्त्रीणाञ्चार्त्तवं भवती'ति सुश्रुतस्यैव वचनेन रसादेव शुक्रस्योत्पत्तिरुच्यते तदेतत् कथं सङ्गच्छते? इममेव सन्देहं दूरीकर्तुमहारादेर्गतिं परिणामञ्चाह—

यात्यामाशयमाहारः पूर्वं प्राणानिलेरितः। माधुर्यं फेनभावं च षड्रसोऽपि लभेत सः॥ १६६॥

आहारादि की गति और परिणाम—प्राणवायु से प्रेरित होकर आहार (भोजन) सबसे पहले आमाशय में जाता है और अम्लादि छ प्रकार के रसों में से चाहे जिस प्रकार के रस से युक्त हो, वहा पहुच कर मधुरता तथा फेन भाव को प्राप्त करता है अर्थात् मीठा और झाग से युक्त हो जाता है॥१६६॥

***आहार इत्यत्र 'आह्रियते' इत्याहारः। 'अकर्त्तरि च कारके संज्ञाया'मिति सूत्रेण कर्मणि घञ्।** स च षड्विधः। तथा च—

आहार्यं षड्विधं भोज्यं भक्ष्यं चर्व्यन्तथैव च॥ २८॥

लेह्यं चूष्यं तथा पेयं तदुदाहरणानि तु। भोज्यमोदनसूपादि भक्ष्य मोदकमण्डकम्॥ २९॥

चर्व्यं चिपिटधान्यादि रसालादि तु लेह्यते। चूष्यमाम्रफलेक्ष्वादि पीयते पानकं पयः॥ ३०॥

'आहार' भोजन की सज्ञा है। 'अकर्त्तरि च कारके सज्ञायाम्' इस पाणिनीय सूत्र से कर्म में 'आङ्' उपपद रहते 'हृ' धातु से घञ् प्रत्यय तथा वृद्धि होने से आहार पद की सिद्धि होती है। वह आहार छ प्रकार का होता है—भोज्य, भक्ष्य, चर्व्य, लेह्य, चूष्य और पेय। भोजन करने योग्य भात, दाल प्रभृति भोज्य, भक्षण करने के योग्य लड्डू, मण्डक प्रभृति भक्ष्य, चवाने लायक चिउडा, चना प्रभृति, चर्व्य, चाटने लायक रसाला (रस-युक्त चटनी) आदि लेह्य, चूसने योग्य आम, ईख आदि चूष्य और पीने योग्य शरवत, दूध आदि पेय कहाता है॥ २८-३०॥

*आमाशयमाह चरकः—

'नाभिस्तनान्तरे जन्तोराहुरामाशयं बुधा.'॥ ३१॥

आमाशय का स्थान—'प्राणियों के नाभि और स्तन के मध्य में आमाशय रहता है॥ ३१॥

*अत्र विशेषमाह—

'नाभेर्वितस्तिमात्रं च कण्ठदेशात् षडङ्गुलम्। उरसस्तद्विजानीयात् शेषे तु हृदयं मतम्॥३२॥

उरो रक्ताशयस्तस्मादधःश्लेष्माशयः स्मृतः। आमाशयस्तु तदधस्तदधो दहनाशयः' इति॥३३॥

'नाभि से एक वालिश्त (वीता) ऊपर से लेकर और कण्ठस्थल से छ अङ्गुल नीचे तक उर.स्थल (छाती) और उसके नीचे का भाग हृदय कहलाता है। उर.स्थल में रक्ताशय रहता है, उसके नीचे श्लेष्माशय, उसके नीचे आमाशय और उसके नीचे अग्न्याशय का भाग समझना चाहिये॥ ३२-३३॥

---

१. 'शुक्रस्ये'ति पाठान्तर चिन्त्यम्।

❀प्राणानिलेरित इति । हृदयाधिष्ठानेन प्राणनाम्ना वायुना मुखं गतेनान्तःप्रवेशितः ।
तथा च सुश्रुतः—

यो वायुः प्राणनामाऽसौ मुखं गच्छति देहधृक् । सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते ॥ ३४ ॥

'प्राणानिलेरितः' का भाव यह है कि—हृदय में रहने वाला प्राणनामक वायु मुख तक जाकर वहां पर स्थित अन्न-ग्रास को आमाशय में प्रवेश करता है । इसी विषय में सुश्रुत भी कहते हैं कि—देह को धारण करनेवाला प्राणनामक वायु जो मुख की ओर जाता रहता है वह अन्न को उदर में प्रवेश करता है और प्राणियों का अवलम्बन करता रहता है अर्थात् रक्षा किया करता है ॥

❀क्लेदननामा कफः क्लेदयति क्लेदनात्संहतं भिनत्ति च । उक्तं च सुश्रुते—

'क्लेदनः क्लेदयत्यन्नं संहतं च भिनत्त्यतः' इति ॥ ३५ ॥

प्राण वायु द्वारा आमाशय में पहुँचाये गये उसी अन्न को क्लेदन नामक कफ क्लिन्न (गीला) करता है और क्लिन्न करने से इकट्ठे हुए अन्न को अलग २ करता है । यही विषय सुश्रुत में भी कहा है कि—'क्लेदन कफ अन्न को क्लिन्न करता है और इसी से संहत (इकट्ठे हुए) अन्न को भिन्न २ कर देता है ॥ ३५ ॥

❀स आहारः षड्रसोऽप्यामाशये माधुर्यं लभते, आमाशयस्थस्य मधुरस्य कफस्य योगात् ।
वह आहार पहले चाहे मीठा खट्टा आदि ६ रसों से किसी भी रस से युक्त क्यों न हो किन्तु आमाशय में पहुँचने पर आमाशय में स्थित मधुर रस से युक्त कफ के साथ योग हो जाने से मीठा ही हो जाता है ।

*उक्तञ्च श्लेष्मस्वरूपम्—

श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीतलस्तथा । तमोगुणाधिकः स्वादुर्विदग्धो लवणो भवेत् ॥
फेनभावञ्च लभते जठरानलतेजसा । इति ॥ ३६ ॥

कफ का स्वरूप—कफ श्वेत, गुरु (वजनदार), स्निग्ध (चिकना), पिच्छिल (फिसल ने वाला), शीतल, अधिक तमोगुण वाला, स्वादु (मधुर) और विदग्ध होने से लवण (नमकीन) होता है और जठराग्नि के तेज से आमाशय में स्थित माधुर्य को प्राप्त हुआ वह फेन युक्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

*यन आह वाग्भटः—

'सन्धुक्षितः समानेन पचत्यामाशयस्थितम् । औदर्योऽग्निर्यथा बाह्यः स्थालीस्थं तोयतण्डुलम्' इति ॥

वाग्भट ने भी कहा है कि—बाहर (रसोई की अग्नि जैसे बट्लोई में रखे हुये जल से युक्त चावल को पकाता है उसी भांति उदर की अग्नि (जठराग्नि) भी समान वायु से फूंक पाने पर तेज हो कर आमाशय में स्थित अन्न को पकाता है ॥ ३७ ॥

❀अथ स एवाहारः प्राणवायुना प्रेरितस्ततः किञ्चित् स्खलितः पाचकाख्यपित्तोष्मणेषत्पक्वोऽम्लरसो भवति ।

इस के बाद वही आहार प्राणवायु से प्रेरित होकर वहा से (आमाशय से) कुछ खसक कर पाचक नामक पित्त की ऊष्मा (गर्मी) से कुछ पक जाने पर खट्टा हो जाता है ॥

*उक्तं च—**अथ पाचकपित्तेन विदग्धं चाम्लतां व्रजेत् ॥ ३८ ॥**

कहा भी है कि—माधुर्य को प्राप्त करके प्राण वायु से प्रेरित होने के बाद, पाचक पित्त से आहार विदग्ध (कुछ पक्का कुछ कच्चा) हो कर खट्टा हो जाता है ॥ ३८ ॥

❀पाचकपित्तेन पाचकपित्तस्योष्मणा ॥ ३८ ॥

'पाचकपित्तेन' का अर्थ है पाचक पित्त की गर्मी से ॥ ३८ ॥

❀ततः स एवाहारो नाभिमण्डलाधिष्ठानेन समाननाम्ना वायुना प्रेरितो ग्रहणीमभिनीयते ॥ १६६ ॥

उस के बाद वही आहार नाभिमण्डल में रहनेवाले समान वायु से प्रेरित होकर ग्रहणी की ओर जाता है ॥ १६६ ॥

ग्रहणीलक्षणमाह—

षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्त्तिता । आमपक्काशयान्तःस्था ग्रहणी साऽभिधीयते ॥ १६७ ॥

ग्रहणी का लक्षण—आमाशय और पक्वाशय के मध्य में स्थित, पित्तधरा नाम की जो छठी कला मुनियों ने कही है, वही ग्रहणी कहलाती है ॥ १६७ ॥

***पित्तधरा = पाचकाख्यं पित्तं यदग्न्यधिष्ठानं तद्धारयति ॥ १६७ ॥**

'पित्तधरा' का अर्थ है अग्नि का अधिष्ठान (वासस्थान), जो पाचक नामक पित्त है उस को धारण करने वाली ॥ १६७ ॥

तत्र ग्रहण्यामामाशयपक्वाशयमध्यवर्त्तिपाचकाख्यपित्ताधिष्ठानेनाग्निनाऽऽहारः पच्यते स कटुश्च भवतीत्याह[1]—

'ग्रहण्यां पच्यते कोष्ठे वह्निना जायते कटुः' इति ॥ १६८ ॥

'ग्रहणी में कोष्ठस्थित अग्नि से आहार पकता है तथा कटु हो जाता है' ॥ १६८ ॥

***अयमर्थः । आहारो ग्रहण्यां कोष्ठवह्निना ग्रहणीस्थितपाचकपित्तेन वह्निना पच्यते पच्यमानः स ग्रहणीस्थितस्य कटुरसस्य योगात् कटुर्भवति ॥ १६८ ॥**

तात्पर्य यह है कि—आहार ग्रहणी में जाने पर कोष्ठस्थित अग्नि से पचता है और पचता हुआ वह आहार ग्रहणी में स्थित कटुरस युक्त पित्त के सयोग से कटु हो जाता है ॥ १६८ ॥

एतदाहारपाके विशेषमाह । शरीरं पाञ्चभौतिकम् । तत्र पञ्चसु भूतेषु पञ्चाग्नयस्तिष्ठन्ति, उक्तं च चरकेण[2]—

भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः । पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान्पार्थिवादीन् पचन्त्यनु ॥

पञ्च महाभूतों में चरकोक्त पञ्चाग्नि का निर्देश—भौम (भूमिसम्बन्धी), आप्य (जल सम्बन्धी), आग्नेय (अग्नि सम्बन्धी), वायव्य (वायु सम्बन्धी) और नाभस (आकाश सम्बन्धी) पाँच अग्नि हैं, ये सब अपने २ पृथ्वी आदि (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश) के सम्बन्धी पाच प्रकार के आहार के गुणों को पकाते हैं ॥ १६९ ॥

***अत्रोष्मपदेनाग्निरुच्यते ॥ १६९ ॥**

यहाँ 'ऊष्मा' से 'अग्नि' का ग्रहण होता है ॥ १६९ ॥

आहारोऽपि पाञ्चभौतिकः तत्र पाचकपित्तस्थेनाग्निनोत्तेजितेन शरीरवर्त्तिना भूभागाग्निना आहारवर्त्तिभूभागः पच्यते । पक्वो भूभागः स्वकीयान् गुणानभिवर्द्धयति । एवं जलादिभागा अपि पच्यन्ते । तथा च सुश्रुते—

'पञ्च भूतात्मके देहे आहारः पाञ्चभौतिकः । विपक्वः पञ्चधा सम्यग् गुणान् स्वानभिवर्द्धयेद्' इति ॥

पञ्च महाभूतों से बने हुये शरीर में पञ्च महाभूत सम्बन्धी आहार पाँच प्रकार से अच्छी तरह परिपक्व हो कर अपने गुणों को वढाता है' ॥ १७० ॥

***गुणशब्देनात्र गुणिनः पृथिव्यादय उच्यन्ते । तेन गुणान् शरीरवर्त्तिनः पार्थिवादीन् भागानभिवर्द्धयेदित्यर्थः ॥ १७० ॥**

यहा 'गुण' पद से गुणी पृथिवी आदि का ग्रहण किया जाता है, इससे 'गुणों को-अर्थात् शरीरवर्त्ती पृथ्वी आदि सम्बन्धी भागों को वढाता है' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ १७० ॥

एवमहोरात्रेण पक्व आहारो मिष्टः पटुश्च मधुरो भवति । अम्लस्त्वम्लो भवति । कटुस्तिक्तः कषायश्च कटुर्भवति । उक्तञ्च—

मिष्टः पटुश्च मधुरमम्लोऽम्लं पच्यते रसः । कटुतिक्तकषायाणां विपाको जायते कटुः' इति ॥ १७१ ॥

कटु, तिक्त, कसैला आहार रस का स्वाद—'मीठा और नमकीन रस युक्त आहार पकने पर मधुर और खट्टा पकने पर खट्टा ही होता है, तथा कटु, तिक्त और कसैला का परिपाक कटु होता है ॥

एवं विपक्वस्याहारस्य सारो निगदितो रसः, शेषो ग्रहणीस्थो मलद्रवः मलद्रवस्य जलभागः शिराभिर्वस्तिं नीतो मूत्रं भवति । उक्तञ्च—

आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः । शिराभिस्तज्जलं नीतं वस्तिं मूत्रत्वमाप्नुयात् ॥ १७२ ॥
शेषं किट्टञ्च यत्तस्य तत्पुरीषं निगद्यते । समानवायुना नीतन्तत्तिष्ठति मलाशये ॥ १७३ ॥

आहार से रसादि का निर्माण—'आहार का सार भाग रस और सारहीन भाग मलद्रव

---

१. 'भवति तथाचे'ति पाठान्तरम् । २. 'इत्याह चरक' इति पाठान्तरम् ।

कहलाता है, और मलद्रव का जो जलभाग होता है वह शिराओं द्वारा वस्ति में पहुँच कर मूत्र कहलाने लगता है, तथा उस मलद्रव का द्रव से हीन जो शेष भाग होता है वह पुरीष (विष्ठा) कहलाता है और वही पुरीष समान वायु के द्वारा पहुँचाये जाने पर मलाशय में जाकर ठहरता है॥

तत्र [1]मलाशयस्थेनापानवायुना प्रेरितं मूत्रं मेढ्रभगमार्गेण पुरीषं गुदमार्गेण शरीराद् बहिर्याति । उक्तञ्च—

मूत्रञ्चोपस्थमार्गेण पुरीषं गुदमार्गतः । अपानवायुना क्षिप्तं बहिर्याति शरीरतः ॥ १७४ ॥

मूत्र और पुरीषोत्सर्ग में कारण—'अपान वायु से प्रेरित होने पर उपस्थमार्ग से मूत्र और गुदा मार्ग से पुरीष शरीर के बाहर निकलता है ॥ १७४ ॥

***उपस्थः = शिश्नो भगश्च ॥ १७४ ॥**

'उपस्थ' का अर्थ 'लिङ्ग और योनि' समझना चाहिये ॥ १७४ ॥

रसस्तु समानवायुना प्रेरितो धमनीमार्गेण शरीरारम्भकस्य रसस्य स्थानं हृदयं गत्वा तेन सह मिश्रितोभवति । उक्तञ्च—

रसस्तु हृदयं याति समानमरुतेरितः । स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् विवर्द्धयेत् ॥१७५॥
केदारेषु यथा कुल्याः पुष्णन्ति विविधौषधीः । तथा कलेवरे धातून् सर्वान् वर्द्धयते रस ॥१७६॥

आहार रस का कार्य—समान वायु से प्रेरित होकर रस हृदय में जाता है और वहां से व्यान वायु के द्वारा फेके जाने पर वह रस सम्पूर्ण धातुओं को बढ़ाता है। जिस प्रकार खेतों में स्थित अनेक प्रकार के धान्यादि ओषधियों को कुल्या (नहरें) पुष्ट किया करती हैं, उसी भाति रस भी शरीर में सब धातुओं को बढाता रहता है ॥ १७५–१७६ ॥

रसस्तु तत्र तत्र त्रिधा विभज्यते । उक्तञ्च चरके—

स्थूलःसूक्ष्मस्तन्मलश्च तत्र तत्र त्रिधारसः । स्वं स्थूलोऽशः परं सूक्ष्मस्तन्मलो याति तन्मलम् ॥

आहार से उत्पन्न हुआ रस क्रम से शरीरारम्भ रसरक्तादि प्रत्येक धातुओं में जाकर प्रत्येक धातुओं के स्थानों में स्थूल, सूक्ष्म, और तन्मल (रस का मल) इस प्रकार से तीन अंशों में विभक्त हो जाता है और इनमें से स्थूलांश अपने स्थान में रहता है, सूक्ष्मांश दूसरे धातु में जाता है तथा रस का मलांश धातुओं के मल में जाता है ॥ १७७ ॥

***अयमर्थः । स्थूलोऽशः स्वं याति यथास्थितस्तिष्ठति, सूक्ष्मस्त्वंशः परं द्वितीयं धातुं याति, तन्मलो = रसादिमलः, तन्मलं = शरीरारम्भकं तत्तद्धातुमलं यातीत्यर्थः ॥ १७७ ॥**

स्पष्टार्थ यह है कि रस का स्थूल भाग अपने स्थान में रहता है अर्थात् रस जिस धातु में जाता है स्थूल भाग उसी धातु में रह जाता है, और सूक्ष्म भाग दूसरे रक्तादि धातुओं में जाता है और उसका मल भाग अर्थात् रसादिकों का मल भाग उस के मल को अर्थात् शरीराम्भक तत्तद्धातुओं के मल को जाता है ॥ १७७ ॥

यथा लौकिकाग्निनेक्षुरसः पच्यते तथा शरीरारम्भकस्य रसस्याग्निनाऽऽहाररसः पच्यते । पच्यमानः स पञ्चाहोरात्रात् सार्द्धदण्डमेकञ्च यावत् प्राक्तनरसधातावेव तिष्ठति । उक्तं च सुश्रुते—
'स खलु रसस्त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पञ्चदश कला एकैकस्मिन् धातावुपतिष्ठते' ।
अत्र कलानां विंशतिर्मुहूर्त्तः, स च दण्डद्वयात्मकः ([2]इत्यभिप्रेत्याह)—तथा च भोजः—
धातौ रसादौ मज्जान्ते प्रत्येकं क्रमतो रसः । अहोरात्रात्स्वयं पञ्च सार्द्धं दण्डं च तिष्ठति॥१७८॥

जिस प्रकार लोक की अग्नि से ईख का रस पकता है उसी प्रकार शरीर के आरम्भक रस के अग्नि से आहार का रस पकता है और पकता हुआ वह रस पांच अहोरात्र (रातदिन) १॥ डेढ दण्ड तक प्रथम जो रस धातु अर्थात् शरीराम्भक रस धातु है उसीमें रहता है, इसी वात को सुश्रुत में भी कहा है कि–वही रस (आहार से उत्पन्न रस) एक २ धातु में (शरीराम्भक प्रत्येक रसादि धातु में) तीन हजार पन्द्रह (३०१५) कला परिमित काल तक रहता है। २० कला का १ मुहूर्त्त होता है तथा १ मुहूर्त्त दो दण्ड का होता है अतः उसमें अर्थात् ३०१५ कला में ५ अहोरात्र १॥ दण्ड होता है। इन्ही सव अभिप्रायों को लेकर भोज ने भी कहा है कि—'शरीराम्भक रस धातु से लेकर मज्जाधातु तक प्रत्येक धातु में क्रम २ से जाकर रस प्रत्येक धातु में ५ अहोरात्र १॥ दण्ड तक रहता है ॥१७८॥

---

१ 'मलाशयेने'ति पाठान्तरं प्रामादिकम् । १. कोष्ठस्थः पाठः काचित्कः ।

***प्रत्येकमेकैकस्मिन्नित्यर्थः ॥ १७८ ॥**

'प्रत्येकम्' का अर्थ 'एक २ धातु में' समझना चाहिये ॥ १७८ ॥

ततो यथा पच्यमानादिक्षुरसान्मलो निर्गच्छति तथा पच्यमानादाहाररसान्मलो निर्गच्छति स कफः। उक्तं च सुश्रुते—

कफः पित्तं मलः खेषु प्रस्वेदो नखरोम च। नेत्रविट् त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः॥३९॥

धातुओं के मल—'कफ, पित्त, कर्णादि स्रोतों का मल, पीसना, नख, लोम, नेत्रमल और त्वचाओं के स्नेह, ये क्रम से धातुओं के मल हैं' ॥ ३९ ॥

खेषु मलः = कर्णादि स्रोतोमलः ॥ ३९ ॥

'खेषु मलः' का अर्थ 'कर्णादि स्रोतों का मल' समझना चाहिये ॥ ३९ ॥

स च कफः प्राणानिलप्रेरितो धमनीमार्गेण शरीरारम्भकं क्लेदनाख्यं कफं गत्वा पुष्णाति, ततः सारभूतस्याहाररसस्य द्वौ भागौ भवतः स्थूलः सूक्ष्मश्च तत्र स्थूलो[1] भागः शरीरारम्भकं रसं पोषयति सकलशरीराधिष्ठानेन व्यानवायुना प्रेरितो धमनीभिः सञ्चरन् पोषणस्नेहनजठरानलोष्मकृतसन्तापनिवारणादिभिर्गुणैः सकलशरीरं पुष्णाति। ततः सूक्ष्मो[2] भागः प्राणवायुना प्रेरितो धमनीमार्गेण शरीरारम्भकस्य रक्तस्य स्थानं यकृत्प्लीहरूपं गत्वा तेन सह मिलितो भवति। ततः प्राक्तनस्य रक्तस्याग्निना पुनः पच्यमानः पञ्चाहोरात्रात्सार्द्धदण्डञ्च यावत् प्राक्तनरक्तधातावेव तिष्ठति। ततो यथा अग्निना पुनः पुनः पच्यमानादिक्षुविकाराद्वारं वारं मलं निर्गच्छति तथा पुनः पुनः पच्यमानादाहाररसात् प्रतिवारं मलं निर्गच्छति। तत्र रक्ताग्निना पच्यमानान्मलं पित्तं निर्गच्छति। तच्च पित्तं समानवायुना प्रेरितं धमनीमार्गेण शरीरारम्भकं पाचकाख्यं पित्तं गत्वा पुष्णाति।

वह कफ प्राण वायु से प्रेरित होकर धमनी मार्ग से शरीरारम्भक क्लेदन नामक कफ को जाकर पुष्ट करता है, उस के वाद सारभूत आहारजात रस के दो भाग होते हैं एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म, उस में स्थूल भाग शरीरारम्भक रस को पुष्ट करता है, तथा सम्पूर्ण शरीर में रहनेवाले व्यान नामक वायु से प्रेरित होकर धमनियों के द्वारा सञ्चार करता हुआ अर्थात् वह करके पोषण, स्नेहन तथा जठरानल की गर्मी से उत्पन्न हुये सन्ताप के निवारण आदि गुणों से सम्पूर्ण शरीर को पुष्ट करता है। उस के वाद सूक्ष्मभाग प्राणवायु से प्रेरित हो कर धमनियों द्वारा शरीरारम्भक (शरीर को वनाने वाले) रक्त के स्थान पर अर्थात् यकृत् और प्लीहारूप रक्त के स्थान पर जाकर रक्त के साथ मिल जाता है। उस के वाद प्राचीन रक्त के अग्नि से पुनः पकता हुआ पाच अहोरात्र (दिन रात) और डेढ दण्ड तक उसी प्राचीन रक्तसञ्ज्ञक धातु में स्थित रहता है। उसके वाद जेसे लोक में अग्नि से पुनः पुनः पकाये जाते हुये ईख के रस से वारवार मल निकलता है, वैसे ही पुनः पुनः पकाये जाते हुये आहार के रस से भी प्रति वार मल निकलता है। उसमें रक्त की अग्नि से पकाये जाते हुये आहार रस से जो मल निकलता है वह पित्त कहलाता और वह पित्त समान नामक वायु से प्रेरित होकर धमनी-मार्ग से जाकर शरीरारम्भक पाचक नामक पित्त को पुष्ट करता है।

ततः सारभूतस्याहाररसस्य द्वौ भागौ भवतः स्थूलः सूक्ष्मश्च, स्थूलो[3] भागोरञ्जकाख्येन[4] पित्तेन[5] रक्तीकृतः शरीरारम्भकं रक्तं (पोषयन्[6]) व्यानवायुना प्रेरितो धमनीभिः सञ्चरन् सकलशरीरगतानि रुधिराणि पुष्णाति। ततः सूक्ष्मो[7] भागो व्यानवायुना प्रेरितो धमनीभिः शिराभिश्च शरीरारम्भकाणि मांसानि याति। ततो मांसाग्निना पुनः पच्यमानः पञ्चाहोरात्रात् सार्द्धदण्डञ्च यावन्मांसेष्वेव तिष्ठति। ततः पच्यमानात्तस्मान्मलं निर्गच्छति। तद्व्यानवायुना क्षिप्त कर्णावागत्य कर्णविड् भवति।

उसके वाद सारभूत उसी आहार-रस के दो भाग होते हैं, एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म, उसमें स्थूलभाग रञ्जकनामक पित्त के द्वारा रगा जाने पर रक्तरूप होकर शरीरारम्भक रक्त को पुष्ट करता हुआ व्यान-वायु से प्रेरित होकर धमनियों के द्वारा सचार करता हुआ सम्पूर्ण शरीरस्थित रुधिर

---

१. 'सूक्ष्म' इति पाठान्तर प्रामादिकम्। २. 'स्थूल' इति पाठान्तरं प्रामादिकम्। ३ 'सूक्ष्म' इति पाठान्तर चिन्त्यम्। ४. 'रञ्जकाग्निने'ति पाठान्तरम्। ५. 'पित्तेन स' इति पाठान्तरम्। ६. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः। ७. 'स्थूल' इति पाठान्तर चिन्त्यम्।

को पुष्ट करता है, उसके बाद सूक्ष्म भाग व्यान वायु से प्रेरित होकर धमनी और शिराओं के द्वारा शरीरारम्भक मांस में जाता है, उसके बाद मांस में स्थित अग्नि के द्वारा पुनः पुनः पकाया जाता हुआ पांच अहोरात्र और १॥ डेढ़ दण्ड तक मांस ही में स्थित रहता है, उसके बाद मांसाग्नि से पकाये जाते हुये उससे जो मल निकलता है, वह व्यान वायु से प्रेरित होने पर दोनों कानों में आकर कान का मैल होता है।

ततः सारभूतस्य रसस्य द्वौ भागौ भवतः। स्थूलः सूक्ष्मश्च। ततः स्थूलो[1] भागो मांसानि पुष्णाति। ततः सूक्ष्मो[2] भागो व्यानवायुना प्रेरितो धमनीभिः शरीरारम्भकस्य मेदसः स्थानमुदरं याति ततो मेदसोऽग्निना पुनः पच्यमानः पञ्चाहोरात्रात् सार्द्धदण्डं च यावन्मेदस्येव तिष्ठति। ततः पच्यमानात् तस्मान्मलो निर्गच्छति प्रस्वेदरूपः। स च शीतः स्रोतस्येव तिष्ठति शरीरोष्मणा तप्तश्चेत्तदा व्यानवायुना प्रेरितः शिरामार्गैर्लोमकूपेभ्यो वहिर्याति 'जिह्वादन्तकक्षामेढ्रादिमलश्च मेदोमलमि' त्येके।

उसके बाद सारभूत उसी आहार-रसके दो भाग होते हैं, एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म, उसमें से स्थूल भाग मांस को पुष्ट करता है और सूक्ष्म भाग व्यान-वायु से प्रेरित होकर धमनियों के द्वारा शरीरारम्भक मेद के स्थान उदर में जाता है, उसके बाद मेद की अग्नि से फिर पकाया जाता हुआ वह पञ्च अहोरात्र और डेढ़ दण्ड तक उसी मेद में ठहरता है, उसके बाद मेद की अग्नि से पकाये जाते हुये उससे प्रस्वेद रूप (पसीना-रूपी) मल निकलता है और वह शीत (ठण्ढा) रहने पर तो स्रोतों ही में रहता है और शरीर की गर्मी से तप्त होने पर पिघल जाने से व्यान वायु से प्रेरित होकर शिराओं के मार्ग से रोमकूपों (रोएँ के छिद्रों) से बाहर निकलता है 'जीभ, दांत, काख और मूत्रेन्द्रिय के मल को भी कोई २ मेद का मल कहते हैं' किन्तु यह सभी लोगों का मत नहीं है।

ततः सारभूतरसस्य द्वौ भागौ भवतः स्थूलः सूक्ष्मश्च, तत्र स्थूलो[3] भागो मेदः पुष्णाति, उदरे तिष्ठन् ([4]व्यानवायुना प्रेरितः स्रोतोमार्गैः सूक्ष्मास्थिस्थितान्यपि मेदांसि पुष्णाति। सूक्ष्मो भागो) व्यानवायुना प्रेरितो धमनीभिः शिराभिश्च शरीरारम्भकाण्यस्थीनि याति। ततोऽस्थ्यग्निना पुनः पच्यमानः पञ्चाहोरात्रात्सार्द्धदण्डञ्च यावदस्थिष्वेव तिष्ठति। ततः पच्यमानात् तस्मान्मलो निर्गच्छति। स च व्यानवायुना प्रेरितः [5]शिरामार्गैर्गत्वाऽङ्गुलिषु नखास्तनौ लोमानि भवन्ति।

उसके बाद सारभूत रस के दो भाग होते हैं, एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म, उसमें से स्थूल भाग उदर में रहता हुआ मेद को पुष्ट करता है तथा वहां से व्यान वायु से प्रेरित होकर स्रोतों के मार्ग से जाकर सूक्ष्म (पतली) हड्डियों में भी स्थित मेद को पुष्ट करता है और सूक्ष्म भाग व्यानवायु से प्रेरित होकर धमनी और शिराओं के द्वारा शरीराम्भक हड्डी को जाता है, उसके बाद हड्डी की अग्नि से पुनः पकाया जाता हुआ पांच अहोरात्र और डेढ दण्ड तक हड्डियों ही में ठहरता है, उसके बाद पकाये जाते हुये उस सारभूत से जो मल निकलता है वही व्यान वायु से प्रेरित होकर शिराओं के मार्ग से आकर अङ्गुलियों में नख और शरीर में रोम हो जाता है।

ततः सारभूतस्य रसस्य द्वौ भागौ भवतः स्थूलः सूक्ष्मश्च। तत्र स्थूलो[6] भागोऽस्थीनि पुष्णाति ततः सूक्ष्मो[7] भागो व्यानवायुना प्रेरितः स्रोतोमार्गैर्मज्जस्थानानि स्थूलास्थ्यभ्यन्तराणि याति। ततो मज्जाग्निना पुनः पच्यमानः पञ्चाहोरात्रात् सार्द्धदण्डञ्च यावन्मज्जस्येव तिष्ठति, ततः पच्यमानात्तस्मान्मलं निर्गच्छति। तच्च व्यानवायुना प्रेरितं शिरामार्गैर्नयनयोरागत्य नेत्रविट् त्वचां स्नेहश्च भवति।

उसके बाद सारभूत रस के दो भाग होते हैं, एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म उसमें से स्थूल भाग हड्डियों को पुष्ट करता है, उसके बाद सूक्ष्म भाग व्यानवायु से प्रेरित होकर स्रोतों के मार्ग से मज्जा के स्थान मोटी हड्डियों के भीतरी भाग को जाता है, उसके बाद मज्जा की अग्नि से फिर

---

१. 'सूक्ष्म' इति पाठान्तरमसङ्गतम्। २. 'स्थूल' इति पाठान्तरं चिन्त्यम्। ३. 'सूक्ष्म' इति पाठान्तरं चिन्त्यम्। ४. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः। ५ 'शिराभिर्मार्गेणागत्यागले'ति पाठान्तरम्। ६. 'सूक्ष्म' इति पाठान्तरमसङ्गतम्। ७. 'स्थूल' इति पाठान्तरमसङ्गतम्।

पकाया जाता हुआ पांच अहोरात्र और डेढ़ दण्ड तक मज्जा ही में ठहरता है, उसके बाद पकाये जाते हुये उससे जो मल निकलता है, वह व्यानवायु से प्रेरित होकर शिराओं के मार्ग से आकर नेत्रों में नेत्र का मल (कीचड) और त्वचाओं में स्नेह (चिकनाहट) हो जाता है ।

ततः सारभूतस्य रसस्य द्वौ भागौ भवतः स्थूलः सूक्ष्मश्च, तत्र स्थूलो भागो मज्जानं पुष्णाति ततः सूक्ष्मो भागो व्यानवायुना प्रेरितो धमनीभिः शिराभिश्च शुक्रस्य स्थानं सकलं शरीरं गत्वा शरीरारम्भकेण शुक्रेण सह मिश्रितो भवति । ततः शुक्रस्याग्निना पुनः पच्यते पच्यमाने तस्मिन्मलं नास्ति । सहि सहस्रधाध्मातसुवर्णवत् । इत्युत्तरत्रोपदिश्यते—

उसके बाद सारभूत रस के दो भाग होते हैं, एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म, उसमें से स्थूल भाग मज्जा को पुष्ट करता है और सूक्ष्म भाग व्यानवायु से प्रेरित होकर धमनी और शिराओं के द्वारा शुक्र के स्थान सम्पूर्ण शरीर में जाकर शरीरारम्भक शुक्र के साथ मिल जाता है । उसके बाद शुक्र के अग्नि से पुन. पकाया जाता है और पकते हुये उसमें फिर मल नहीं रहता है, क्योंकि वह हजार वार के तपाये हुये सोने के समान निर्मल हो जाता है, इसी वात को आगे के श्लोकों में कहते हैं

स्वाग्निभिः पच्यमानेषु मज्जान्तेषु रसादिषु । षट्सु धातुषु जायन्ते मलानि मुनयो जगुः ॥१७९॥
यथा सहस्रधा ध्माते न मलं किल काञ्चने । तथा रसे मुहुः पक्के न मलं शुक्रताङ्गते ॥ १८० ॥

'अपने २ अग्नियों से पकते हुये रस से लेकर मज्जा तक छ धातुओं में मल निकलता है' ऐसा मुनियों ने कहा है । जिस प्रकार हजार वार तपाये हुये सुवर्ण में मल नहीं रहता, उसी प्रकार वारंबार परिपक्व होने से जब आहाररस शुक्रत्व को प्राप्त हो जाता है तब उसमें भी मल नहीं रहता है ॥ १७९-१८० ॥

ततः सारभूतस्य रसस्य द्वौ भागौ भवतः स्थूलः सूक्ष्मश्च । तत्र स्थूलो भागः शरीरारम्भकं शुक्रं याति, सूक्ष्मः स्नेहभाग ओजस्तस्य लक्षणमाह—

ओजः सर्वशरीरस्थं स्निग्धं शीतं स्थिरं सितम् । सोमात्मकं शरीरस्य बलपुष्टिकरं मतम् ॥१८१॥

ओज के लक्षण—ओज सम्पूर्ण शरीर में रहने वाला, स्निग्ध, शीतल (ठण्ढा), स्थिर, सफेद और सोमात्मक होता है तथा शरीर में वल और पुष्टि का करनेवाला होता है ॥ १८१ ॥

***बलं = चेष्टापाटवम् ।** तथा च—**'चेष्टासु पाटवं यत्तु बलं तदभिधीयते ।** यत्तु सुश्रुते—
'रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत्खलु ओजस्तदेव बलम्' इति । तेजस्तेजोद्रवः । अत्रायमभिप्रायः—यस्माद्रसादोजो भवति स रसः सर्वधातुस्थानगतत्वात्तद्धातुवन्मन्यत इति । सर्वधातूनां स्नेहमोजः, क्षीरे घृतमिव तदेव बलमिति । तत्कार्यकारणयोरभेदोपचारात् । अभेदकथनञ्च चिकित्सैक्यार्थम् ॥ १८१ ॥

यहा 'वल' पद से 'चेष्टा करने में सामर्थ्य' यह अर्थ समझा जाता है, क्योंकि अन्यत्र भी कहा है कि—'चेष्टा करने में जो पाटव अर्थात् सामर्थ्य (फुर्तीलापन) होता है उसी को पण्डित लोग 'वल' कहते हैं और 'सुश्रुत' में जो यह कहा है कि 'रस से लेकर शुक्र पर्यन्त सात धातुओं का जो प्रधान तेज है वह ओज कहलाता है तथा वही वल भी कहलाता है' । यहाँ पर 'तेज' पद से 'तेज सम्बन्धी द्रव' लिया जाता है । इस वाक्य में 'सुश्रुत' का यह अभिप्राय है कि—जिस रस से ओज होता है वह रस सव धातुओं के स्थान में जाता है अत एव जव जिन २ धातुओं के स्थान में जाता है तव उन २ धातुओं के तरह से उन २ स्थानों में वह समझा जाता है, अतएव सव धातुओं का स्नेह ओज है, अर्थात् जिस प्रकार से दूध में घी होता है उसी प्रकार से ओज भी धातुओं में होता है और 'वही वल भी कहलाता है' ऐसा जो कहा है वह कार्य और कारण का अभेद मानकर कहा है अर्थात् ओज और वल यद्यपि एक नहीं हैं क्योंकि ओज से वल की उत्पत्ति होने से ओज कारण है तथा वल कार्य है, तथापि कार्य और कारण का अभेद होने से 'ओज ही वल कहलाता है' यह कहना सङ्गत ही है और अभेद कथन का फल यह है कि कार्य और कारणरूप जो बल और ओज है इन दोनों की चिकित्सा का ऐक्य हो ॥ १८१ ॥

अन्यच्च—

गुरु शीतं मृदुस्निग्धं सान्द्रं स्वादु स्थिरं तथा । प्रसन्नं पिच्छिलं सूक्ष्ममोजो दशगुणं स्मृतम् ॥

ओज—गुरु (भारी), शीतल, मृदु स्निग्ध, सान्द्र (गाढा), स्वादु (स्वादयुक्त), स्थिर, निर्मल, पिच्छिल और सूक्ष्म (सूक्ष्मस्रोतोगामी) इन दश गुणों से युक्त कहा गया है ॥ १८२ ॥

चरके तु—

अष्टविन्दुप्रमाणं तदीषद्रक्तं सपीतकम् । [1]अग्नीषोमात्मकत्वेन द्विरूपं वर्णितन्तु तत् ॥१८३॥

चरक में तो—ओज को आठ विन्दु प्रमाण तथा थोडा लाल तथा पीला वर्ण लिये हुये कहा है तथा अग्निसोमात्मक होने से दो तरह का कहा है अर्थात् ओज आग्नेय और सौम्य भेद से दो प्रकार का कहा है ॥ १८३ ॥

वाग्भटश्च—

ओजश्च तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम् । हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिवन्धनम् ॥
यस्य प्रवृद्धौ देहस्य तुष्टिपुष्टिवलोदयाः । यन्नाशे नियतो नाशो यस्मिंस्तिष्ठति जीवनम्॥
निष्पद्यन्ते यतो[2] भावा विविधा देहसंश्रयाः । उत्साहप्रतिभाधैर्यलावण्यसुकुमारताः ॥

और 'वाग्भट' ने भी कहा है कि—रस से लेकर शुक्र पर्यन्त सात धातुओं का प्रधान तेज ओज कहलाता है और वह यद्यपि सर्वशरीर व्यापी है तथापि प्रधानरूप से हृदय ही में अवस्थित रहता है, तथा देह की स्थिति का कारण है अर्थात् ओज से ही शरीर रक्षित रहता है और ओज की वृद्धि होने पर शरीर में तुष्टि, पुष्टि और वल का उदय होता है, तथा ओज ही के नाश होने पर शरीर का निश्चय नाश हो जाता है और ओज ही के रहने पर प्राणियों का जीवन स्थित रहता है तथा ओज से ही उत्साह, प्रतिभा, धैर्य, लावण्य और सुकुमारता इत्यादि देह के आश्रित रहने वाले अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं ॥ १८४-१८६ ॥

ततः स्थूलो भागो रसो मासेन पुंसां शुक्रं स्त्रीणान्त्वार्त्तवं शुक्रञ्च भवति । उक्तञ्च सुश्रुते—
'एवं मासेन रसः शुक्रो भवति । [3]स्त्रीणामार्त्तवञ्चे'ति । चकारात् स्त्रीणामपि शुक्रं भवति ।

अत एवोक्तं सुश्रुते—

योषितोऽपि स्रवत्येव शुक्रं पुंसः समागमे । तत्र गर्भस्य किञ्चित्तु करोतीति न चिन्त्यते ॥१८७॥

उसके बाद पूर्वोक्त प्रकार से आहार रस का स्थूल भाग एक मास में पुरुषों का शुक्र और स्त्रियों का आर्त्तव तथा शुक्र हो जाना है, और 'सुश्रुत' में भी कहा है कि 'इस प्रकार से १ मास में रस पुरुषों का शुक्र हो जाता है तथा स्त्रियों का आर्तव भी हो जाता है,' यहा पर मूल में 'च' का पाठ है अतएव उसका 'भी' अर्थ होने से यह समझा जाता है कि स्त्रियों का भी शुक्र होता है, ऐसा जानना चाहिये । इसी से सुश्रुत में पुनः स्पष्टरूप से भी कहा है कि—'पुरुषों के साथ समागम होने पर स्त्रियों के भी वीर्य स्खलित होता है, किन्तु वहां पर वह वीर्य गर्भ के लिये कुछ भी उपयोगी नहीं होता है ऐसा मुनि लोग मानते हैं ॥ १८७ ॥

***गर्भस्य = शुद्धस्य ।**

'गर्भस्य' का अर्थ 'शुद्ध गर्भ का' समझना चाहिये ।

*विकृतस्य तु गर्भस्य कारण तदपि भवति । यत उक्तम्—

'यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथञ्चन । मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योऽन्यमनस्थिस्तत्र जायते' इति॥

स्त्रियों का वीर्य विकृत गर्भ में कारण—जिस समय दो स्त्रिया कामातुरा होकर परस्पर समागम करने लगतीं हैं उस समय जो योनि पर योनि रगडने से उन दोनों के शुक्र स्खलित होने से गर्भ रहता है वह विना हड्डी के होता है ॥ ४० ॥ १८७ ॥

एवञ्च—**स्त्रीणां गर्भोपयोगि स्यादार्त्तवं सर्वसम्मतम् । तासामपि वलं वर्णं शुक्रं पुष्टिं करोति हि ॥**

स्त्रियों का आर्तव ही सर्वसम्मति से गर्भ के लिये उपयोगी सिद्ध होता है तथा शुक्र उन लोगों के वल, वर्ण और पुष्टि करने वाला होता है ॥ १८८ ॥

***एतेन स्त्रीणां सप्तमो धातुरार्त्तवं शुक्रमष्टममिति वोधितम् । आशयाधिक्यवत्[4] ॥१८८॥**

---

१. 'अग्निसोमात्मकत्वेने'ति पाठान्तरम् । २. 'ततो' इति पाठान्तरम् । ३. 'स्त्रीणाञ्चे'ति पाठा० । ४. अयं कोष्ठस्थः पाठः सर्वत्र १८८ तमश्लोकादुपरि लभ्यते किन्तु विनोदिनीकृताऽत्र स्थापित इति वोध्यम् ।

आर्तव को ही गर्भ के लिये उपयोगी सिद्ध होने से यह समझा गया कि स्त्रियों का सातवा धातु आर्त्तव और आठवा धातु शुक्र होता है। स्त्रियों को पुरुषापेक्षया गर्भाशयादिके भांति धातु भी अधिक होते हैं ॥ १८८ ॥

एवञ्च—**रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते। मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रस्य सम्भवः॥**

इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से रस से रक्त, रक्त से मास, मास से मेद, मेद से अस्थि (हड्डी), अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र की उत्पत्ति होती है॥ १८९ ॥

***एवं रस एव 'केदारकुल्या' न्यायेन सर्वान् धातून् पूरयन् मासेन नवदण्डोत्तरेण शुक्रमार्त्तवं भवतीति सिद्धान्तः। एवं सति रसाद्रक्तमित्यादि[1] सङ्गतमेव। ततो मांसम् = ततो रक्तोत्पत्तेरनन्तरं मांसं जायते रसादेवेत्यर्थः। मांसान्मेदः प्रजायत इति। मांसादनन्तरं मेदः प्रजायते रसादेवेत्यर्थः। मेदसोऽस्थि जायते, रसादेवेत्यर्थः। एवं ततो मज्जा (जायते,[2] रसादेवेत्यर्थः।) ततः[3] शुद्धं शुक्रं (रसादेव[4]) सम्भवतीत्यर्थः॥ १८९ ॥**

इस प्रकार से आहार रस ही 'केदारकुल्या' न्याय से अर्थात् कुल्या (थोडे जलवाली मनुष्यों द्वारा बनाई हुई नदी (नरह) जिस प्रकार केदार (खेत) स्थित धान्यादिकों का पोषण करती है, उसी प्रकार रस भी सम्पूर्ण धातुओं का पोषण करता हुआ एक मास और नौ दण्ड में शुक्र और आर्त्तव होता है, ऐसा सर्वसम्मत सिद्धान्त होने पर 'रस से रक्त' इत्यादि जो अभी ऊपर श्लोक में कह आये हैं वह सङ्गत ही है, अब उसी श्लोक की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि—'रक्त से मास' अर्थात् रक्तोत्पत्ति होने के बाद मास उत्पन्न होता है वह भी वस्तुत. रस से ही उत्पन्न होता है, तथा 'मास से मेद उत्पन्न होता है' अर्थात् मास के बाद रस से ही मेद उत्पन्न होता है, एवम् 'मेद से अस्थि उत्पन्न होता है' अर्थात् मेद के बाद रस से ही अस्थि उत्पन्न होती है। इसी प्रकार से 'अस्थि से मज्जा' अर्थात् अस्थि के बाद रस से ही मज्जा उत्पन्न होता है। तथा 'मज्जा से शुक्र की उत्पत्ति होती है' अर्थात् मज्जा के बाद रस से ही शुद्ध शुक्र की उत्पत्ति होती है॥ १८९ ॥

रसः शरीरे त्रिधा सञ्चरतीत्याह—

रसः शरीरे शब्दार्चिर्जलसन्तानवत् त्रिधा। सञ्चरत्यनुरूपोऽयं नित्यमेव हि देहिनाम् ॥१९०॥

शरीर में आहार-रस का सञ्चार—प्राणियों के शरीर के अनुरूप रस शब्द, अर्चि (ज्योति) और जल के सन्तान (प्रवाह) के तरह तीन प्रकार से नित्य ही सचार करता रहता है॥ १९० ॥

***अस्यायमभिप्रायः। पुरुषास्तीक्ष्णाग्नयो मध्यमाग्नयो मन्दाग्नयश्च भवन्ति, तत्र तीक्ष्णाग्नीनां स रसः शब्दसन्तानवच्छीघ्रं सञ्चरति, मध्यमाग्नीनामर्चिःसन्तानवन्मध्यवेगेन चरति, मन्दाग्नीनां जलसन्तानवन्मन्दं चरति। तेन मासेन रसाच्छुक्रं भवतीति, यदुक्तं तन्मध्यमाग्नीनधिकृत्योक्तम्, दीप्ताग्नीनान्तु रसः किञ्चिन्न्यूनेन मासेन शुक्रं भवति, मन्दाग्नेः किञ्चिदधिकेन मासेनेति सिद्धान्तः॥ १९० ॥**

इसका अभिप्राय यह है कि पुरुष तीन प्रकार के होते हैं—१ तीक्ष्णाग्निपुरुष, २ मध्यकाग्निपुरुष और ३ मन्दाग्निपुरुष। उनमें तीक्ष्ण अग्निवाले पुरुषों के शरीर में वह रस शब्द प्रवाह की भांति शीघ्रता से सञ्चार करता है, मध्यम अग्निवाले पुरुषों के शरीर में अर्चिः प्रवाह (ज्योतिः प्रवाह) की भाति मध्यवेग से सञ्चार करता है और मन्द अग्नि वाले पुरुषों के शरीर में जलप्रवाह की भाति मन्दवेग से सञ्चार करता है, इससे 'एक मास में रस से शुक्र होता है' ऐसा जो कहा गया है वह मध्यम अग्निवाले पुरुषों के ही विषय में कहा गया है, दीप्त (तीक्ष्ण) अग्नि वाले पुरुषों का तो रस कुछ कम एक मास में ही वीर्य हो जाता है, तथा मन्द अग्नि वाले पुरुषों का रस कुछ अधिक एक मास में वीर्य हो जाता है यह सिद्धान्त है॥ १९० ॥

तर्हि वाजीकरिणीनामोषधीना किं प्रयोजनमित्याह—

वाजीकरिण्य ओषध्यः स्वप्रभावगुणोच्छ्रयात्। विरेचयन्ति ताः शुक्रं विरेकिद्रव्यवन्नृणाम् ॥

वाजीकरण ओषधियों का प्रयोजन—वाजीकरण ओषधियाँ अपने प्रभाव की अधिकता से अथवा

---

१. 'रक्तमिती'ति पाठान्तरमसमीचीनम्। २. कोष्ठस्थः पाठः काचित्कः। ३. 'अग्रे' इति पा०। ४. कोष्ठस्थः पाठः काचित्कः।

गुण की अधिकता से अथवा प्रभाव और गुण दोनों की अधिकता से विरेचन (दस्त कराने वाली) ओषधियों की भाँति शुक्र का विरेचन करती हैं ॥ १९१ ॥

***वाजीकरिण्यः = याभिरोषधीभिः पुरुषः शुक्राधिक्यात् स्त्रीषु वाजिवत् सामर्थ्यं प्राप्नोति ता वाजीकरिण्यः, स्वप्रभावगुणोच्छ्रयात् = तत्र काश्चिदोषध्यः स्वप्रभावाधिक्यात्, काश्चित् स्वगुणाधिक्यात्, काश्चित् स्वप्रभावगुणाधिक्यात्। तत्र सङ्कल्पपादलेपविशिष्टकान्तास्पर्शादयः स्वप्रभावाधिक्यात् शुक्रं विरेचयन्ति। घृतक्षीरादयः स्वगुणाधिक्यात् = स्निग्धत्वाधिक्यात्, माषादयः स्वप्रभावस्निग्धत्वादिगुणाधिक्यात्। वाजीकरिण्य इति बहुवचनमाद्यर्थानुवर्त्तनम्। बल्यबृंहणजीवनीयगणादयः, तद्वद्बोद्धव्याः। विरेचयन्ति = स्वप्रभावगुणाधिक्याच्छीघ्रमेव रसाद्युत्पादनपूर्वकं शुक्रं जनयित्वा प्रवर्त्तयन्ति ॥ १९१ ॥**

'वाजीकरण ओषधियाँ' अर्थात् जिन ओषधियों से पुरुष शुक्र की अधिकता होने से स्त्रियों के साथ रमण करने में घोड़े की भाँति सामर्थ्य प्राप्त करता है वे वाजीकरण ओषधियाँ कहलाती हैं। 'वाजीकरण ओषधियाँ अपने प्रभाव और गुण की अधिकता से शुक्र का विरेचन करती हैं' इसका अर्थ यह है कि वाजीकरण ओषधियों में से कोई अपने प्रभाव की अधिकता से, कोई अपने गुण की अधिकता से तथा कोई अपने प्रभाव और गुण दोनों की अधिकता से शुक्र का विरेचन करती हैं। उनमें से सङ्कल्प (किसी स्त्री के विषय मे चिन्ता आदि करना), पैर में विशेष औषध का लेप करना और विशिष्ट (सुन्दरी) स्त्रियों का स्पर्श करना आदि जितने हैं वे सब केवल अपने प्रभाव की अधिकता से ही शुक्र का विरेचन करती हैं। घी, दूध आदि अपने स्निग्धत्व रूप गुण की अधिकतासे तथा माष (उडद) आदि अपने प्रभाव और अपने स्निग्धत्व गुण आदि की अधिकता से शुक्र का विरेचन करती हैं। यहा 'वाजीकरिण्यः' इस बहुवचनान्त पद के प्रयोग करने से यह समझना चाहिये कि—'आदि' इस अर्थ का अनुवर्त्तन हो, अर्थात्—केवल वाजीकरण ओषधियों का ही बोधन हो किन्तु 'वाजीकरण आदि' अर्थात् वाजीकरण से भिन्न चरकोक्त बल्य, बृंहण तथा जीवनीय गुणादि ओषधियों का भी वाजीकरण ओषधियों की भाति ही बोध हो। 'वाजीकरण आदि ओषधियाँ अपने प्रभाव तथा गुण की अधिकता से शीघ्र ही विरेचन करती है' ऐसा कहने से यह समझना चाहिये कि अपने प्रभाव और गुण की अधिकता से शीघ्र ही रस रक्तादि धातुओं को उत्पन्न करने के अनन्तर शुक्र को भी उत्पन्न करके प्रवर्त्तन (विरेचन) करती है ॥ १९१ ॥

यत आह[1]—

दुग्धं माषाश्च भल्लात[2] फलमज्जाऽऽमलानि च। जनकानि निगद्यन्ते रेचनानि च रेतसः ॥१९२॥

शुक्रवर्धक पदार्थ—दूध, उडद, भिलावा का फल तथा मीगी और आँवला ये सब ओषधियाँ शुक्र को उत्पन्न करनेवाली तथा विरेचन करनेवाली हैं ॥ १९२ ॥

ननु बालाना कथ शुक्रं न दृश्यत इत्याह—

**बालानां शुक्रमस्त्येव किन्तु सौक्ष्म्यान्न दृश्यते। पुष्पाणां मुकुले गन्धो यथा सन्नपि नाप्यते ॥
तेषां तदेव तारुण्ये पुष्टत्वाद्व्यक्तिमेति हि। कुसुमानां प्रफुल्लानां गन्धः प्रादुर्भवेद्यथा ॥१९४॥**

बालकों के अदृश्य शुक्र में कारण—बालकों के भी शुक्र होता है किन्तु सूक्ष्म होने से नहीं दिखाई पड़ता जैसे कि पुष्पों की कची कलियों में गन्ध होते हुए भी उसका घ्राणेन्द्रिय से कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। बालकों की तरुण अवस्था होने पर वही शुक्र पुष्ट हो जाने से दिखाई पडने लगता है, जैसे कि कलियों के खिलने पर पुष्पों का गन्ध मालूम पडने लगता है ॥ १९३-१९४ ॥

रोमराज्यादयः पुंसां नारीणामपि यौवने। जायतेऽत्र च यो भेदो ज्ञेयो व्याख्यानतः स च ॥

युवा अवस्था में पुरुषों के जैसे स्त्रियों के भी रोमावली आदि उत्पन्न होती है; किन्तु स्त्री और पुरुषों के रोमराजी आदि में जो भेद है, उसे निम्न व्याख्यान से जानना चाहिये ॥ १९५ ॥

***व्याख्यानं यथा-पुंसां रोमराजीश्मश्रुप्रभृतयः। नारीणान्तु रोमराजीस्तनस्तन्यार्त्तवप्रभृतयः ॥**

व्याख्यान यह है कि पुरुषों के रोमराजी–दाढी, मूछ आदि–है और स्त्रियों के रोमराजी–स्तन, दुग्ध, आर्त्तव (रज) आदि–हैं ॥ १९५ ॥

---

१. अतः पर कचित् 'उत्तरत्रे'त्यधिकः पाठोऽपि दृश्यते। २. 'भल्लातः' इति पाठान्तरमसमीचीनम्।

ननु अन्नरसो वृद्धस्य धातुवृद्धिं कथं न करोतीत्याह—

वार्द्धके वर्द्धमानेन वायुना रसशोषणात् । न तथा धातुवृद्धिः स्यात्ततस्तत्रानिलं जयेत् ॥१९६॥

वृद्धावस्था में शुक्रवृद्धि का ह्रास—वृद्धा अवस्था में वृद्धि को प्राप्त हुये वायु के द्वारा रस के सूख जाने से युवावस्था की भाँति धातु की वृद्धि नहीं होती इसलिये उस अवस्था में वायु को जीतना चाहिये अर्थात्—जिस प्रकार के आहार विहार करने से वायु वृद्धि को न प्राप्त होकर शान्त रहे वही करें ॥

अथ शुक्रस्य स्वरूपमाह—

शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं बलपुष्टिकरं स्मृतम् । गर्भवीजं वपुःसारो जीवस्याश्रय उत्तमः ॥

शुक्र के स्वरूप—शुक्र सौम्य (सोमात्मक), श्वेतवर्ण, स्निग्ध, बल और पुष्टि करनेवाला, गर्भ का वीज, शरीर का सार पदार्थ और जीवात्मा का उत्तम आश्रय है ॥ १९७ ॥

जीवस्याश्रय उत्तम इत्यत[1] आह—

जीवो वसति सर्वस्मिन्देहे तत्र विशेषतः । वीर्ये रक्ते मले यस्मिन् क्षीणे याति क्षयं क्षणात् ॥

जीव का आश्रय—यद्यपि जीव सम्पूर्ण शरीर में रहता है तथापि सम्पूर्ण शरीर की अपेक्षा विशेष रूप से वीर्य रक्त तथा मल में ही रहता है। क्योंकि इनमें से चाहे जिस किसी के नाश हो जाने पर तत्काल ही जीव का भी नाश हो जाता है ॥ १९८ ॥

अथ गर्भसञ्जननशुक्रस्य लक्षणमाह—

स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च । शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभञ्च तत् ॥

गर्भ उत्पन्न करनेवाले शुक्र के लक्षण—गर्भ को उत्पन्न करनेवाला शुक्र-स्फटिक मणि के तुल्य निर्मल, द्रव, स्निग्ध, मधुर और शहद के समान गन्धवाला होता है, कोई २ गर्भोत्पादक शुक्र को तैल तथा शहद के सदृश वर्ण का मानते हैं ॥ १९९ ॥

अथ शुक्रस्य स्थानमाह—

यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ[2] रसो यथा । एवं हि सकले काये शुक्रं तिष्ठति देहिनाम् ॥२००॥

शुक्र के स्थान—जिस प्रकार से दूध में घी, इक्षु (ऊख) में रस छिपा रहता है उसी भाँति प्राणियों के सम्पूर्ण शरीर के अन्दर शुक्र भी छिपा रहता है ॥ २०० ॥

***अत्र सर्पिर्दृष्टान्तो बहुशुक्रेऽल्पमथनेन सर्पिःशुक्रयोर्लाभात् । इक्षुरसदृष्टान्तस्तु स्वल्पशुक्रे पुंसि अतिपीडनेनेक्षुरसशुक्रयोर्लाभात् ॥ २०० ॥**

यहाँ पर घृत का दृष्टान्त जिसके शरीर में अधिक शुक्र है उसके विषय में समझना चाहिये, क्योंकि जैसे थोडा मथने से ही दुग्ध से घृत निकल आता है वैसे ही थोडे मैथुन करने से अधिक शुक्रवाले पुरुष का भी शुक्र शरीर से वाहर निकल आता है और जो इक्षु-रस का दृष्टान्त है उसे अल्प शुक्रवाले पुरुष के विषय में समझना चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार ईख को अत्यन्त पेरने से उससे रस निकलता है, उसी प्रकार अधिक मैथुन करने से अल्प शुक्रवाले पुरुष का शुक्र निकलता है ॥

अथ शुक्रस्य क्षरणमार्गमाह—

द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे वस्तिद्वारस्य चाप्यधः । मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं[3] पुरुषस्य प्रवर्त्तते ॥ २०१ ॥

शुक्र के निकलने के मार्ग—वस्ति द्वार के नीचे भाग में दो अङ्गुल दक्षिण पार्श्व की तरफ मूत्रवाही शिरा के मार्ग से पुरुष का शुक्र प्रवृत्त होता है अर्थात् निकलता है ॥ २०१ ॥

*वृद्धवाग्भटोऽप्याह—**'सप्तमी शुक्रधरा द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे वस्तिद्वारस्य चाप्यधो मूत्रमार्गमाश्रिता सकलशरीरव्यापिनी शुक्रं प्रवर्त्तयती'ति । सप्तमी कला ॥ २२१ ॥**

इसी विषय में 'वृद्ध वाग्भट' भी कहते हैं कि—वस्तिद्वार के नीचे के भाग में दो अङ्गुल दक्षिण पार्श्व की ओर सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर रहनेवाली, शुक्रधरा (शुक्र को धारण करनेवाली) जो सातवी कला मूत्र के मार्ग का आश्रय लेकर स्थित है, वही शुक्र को प्रवृत्त कराती है अर्थात् उसी से शुक्र का क्षरण होता है ॥ २०१ ॥

अथ शुक्रक्षरणकारणमाह—

कृत्स्नदेहस्थितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा । स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत् सम्प्रवर्त्तते ॥ २०२ ॥

शुक्र के क्षरण होने में कारण—प्रसन्न मन होकर स्त्री के साथ मैथुन रूप व्यायाम करते हुए पुरुष के हर्ष के वश होने से, सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त शुक्र का क्षरण होता है, अर्थात्

---

१. 'इत्याहे'ति पाठान्तरम् । २. 'चेक्षो'रिति पाठान्तरम् । ३ 'पथे' इति पाठान्तरम् ।

मैथुन के समय चित्त की प्रसन्नता तथा हर्ष होना यही शुक्रक्षरण के कारण हैं ॥ २०२ ॥

स्त्रीषु व्यायच्छतः = स्त्रीसुरतरूपं व्यायामं कुर्वतः ॥ २०२ ॥

'स्त्रीषु व्यायच्छतः' इसका स्त्री के साथ मैथुनरूप व्यायाम को करते हुए पुरुष के यह अर्थ है ॥२०२॥

अन्यच्च—

शुक्रं कामेन कामिन्या दर्शनात् स्पर्शनादपि । शब्दसंश्रवणाद् ध्यानात् संयोगाच्च प्रवर्त्तते ॥

कामभाव से स्त्रियों के देखने, स्पर्श करने, शब्द सुनने, ध्यान करने तथा संयोग से शुक्र प्रवृत्त (स्खलित) होता है ॥ २०३ ॥

अथार्त्तवस्य स्वरूपमाह—

स्त्रीणा रस एव मासेनार्त्तव भवतीत्युक्त्वा पुनराह सुश्रुत[1] एव—

रसादेव रजः स्त्रीणां मासि मासि त्र्यहं स्रवेत् । तद्वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥
मासेनोपचितं काले धमनीभ्यस्तदार्त्तवम् । ईषद्विवर्णं कृष्णञ्च वायुर्योनिमुखं[2] नयेत् ॥

आर्त्तव के स्वरूप—रस से ही स्त्रियों के रज उत्पन्न होकर प्रतिमास में तीन दिन तक निकलता रहता है और वह रज बारह वर्ष की अवस्था के बाद निकलता है और पचास वर्ष की अवस्था के बाद बन्द हो जाता है तथा प्रतिदिन एक मास तक थोडा २ करके सञ्चित होता रहता है बाद एक मास के स्राव का समय होने पर वायु उसे धमनियों के द्वारा योनि के मुख की तरफ ले आता है और उस समय वह देखने में कुछ विवर्ण तथा काले रङ्ग का मालूम पड़ता है ॥ २०४-२०५ ॥

गर्भग्रहणयोग्यस्यार्त्तवस्य लक्षणमाह—

शशासृक्प्रतिमं यच्च यद्वा लाक्षारसोपमम् । तदार्त्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत् ॥ २०६ ॥

गर्भ ग्रहण के योग्य आर्त्तव—जिस आर्त्तव का वर्ण खरगोश के रक्त के सदृश अथवा लाख के रस के सदृश हो तथा लगने पर जिससे कपड़े में दाग न पड़ सके ऐसे आर्त्तव की पण्डित लोग प्रशंसा करते हैं अर्थात् गर्भ ग्रहण के योग्य बतलाते हैं ॥ २०६ ॥

आर्त्तवस्य वर्णद्वयाभिधानम् । वातादिप्रकृतिभेदेन वर्णभेदात् । 'यद्वासो न विरञ्जयेत् ।' यद्वासोलग्नं प्रक्षालितं तद्वासस्त्यजति न तु विकृतरक्तं कुर्यात् । ऋतुः = स्त्रीणां रजोदर्शनात् षोडशनिशाः, तत्र भवमार्त्तवम्, गृहीतगर्भाणां स्त्रीणामार्त्तववहानां स्रोतसां गर्भेणावरोधादार्त्तवं न स्रवति । किन्तु तदेवाधःप्रतिहतमूर्ध्वमागतमुपचीयमानमपरा भवति । अपरा तु श्रीवर[3] इति लोके । शेषं चोर्ध्वतरमागत पयोधरौ याति, तस्माद्गर्भिण्यः पीवरपयोधरा भवन्ति ॥ २०६ ॥

आर्त्तव का वर्ण जो दो प्रकार का कहा है वह वातादि प्रकृति भेद से वर्ण का भेद होने से, क्योंकि वातादि द्वारा वर्ण होता है । मूल में जो 'यद्वासो न विरञ्जयेत्' यह वाक्य है इसका अर्थ यह है कि जो आर्त्तव कपडे में लगने पर धोने के बाद उस कपडे को छोड देता है न कि विकृत रङ्ग का दाग से युक्त कर देता है । स्त्रियों के रजोदर्शन के दिन से लेकर सोलह रात्रि पर्यन्त जो काल है उसे ऋतुकाल कहते हैं, उस ऋतुकाल में जो रज और रक्त निकलता है उसी को 'आर्त्तव' कहते हैं । गर्भवती स्त्रियों के आर्त्तव वहन करने वाली नाडियों का गर्भ के द्वारा अवरोध (रुकावट) होने से आर्त्तव बाहर नहीं निकलता किन्तु वही आर्त्तव नीचे से (गर्भ के द्वारा) रोके जाने पर ऊपर आकर इकट्ठा होता हुआ कुछ अंशों से अपरा अर्थात् जेर बन जाता है । इसी को लोक में 'श्रीवर' भी कहते है । और बाकी कुछ अशों से जेर बनने के बाद वहा से ऊपर आकर दोनों स्तनों में जाता है, इसी से गर्भिणी स्त्रियाँ मोटे स्तनों वाली हो जाती हैं ॥ २०६ ॥

अथ धातुष्वतिरिक्तान् गुणानाह—

अतिरिक्ता गुणा रक्ते वह्नेर्मांसे तु पार्थिवाः । मेदस्यपां [4]भुवश्चास्थ्नि पृथिव्यनिलतेजसाम् ॥
मज्ज्ञि शुक्रे च सोमस्य मूत्रे च शिखिनो गुणाः । भुवस्तथाऽऽर्त्तवे त्वग्ने रसे क्षीरे तथाऽम्भसः ॥

धातुगुण-वर्णन—रक्त में अग्नि के, मास में पृथ्वी के, मेद में पृथ्वी और जल के, अस्थि में पृथ्वी, वायु और अग्नि के, मज्जा और शुक्र में चन्द्र के, मूत्र में अग्नि के, आर्त्तव में पृथ्वी तथा अग्नि के और रस तथा दूध में जल के गुण अधिक हैं ॥ २०७-२०८ ॥

---

१. 'शुक्रत' इति पाठान्तरं चिन्त्यम् ।
२. 'योनेरि'ति पाठान्तरम् ।
३. 'आवरणा जरायू'रिति पाठान्तरम् ।
४. 'रसे' इति पाठान्तरं चिन्त्यम् ।

अथ धातूनां मलानाह—

कफः पित्तं मलः खेषु प्रस्वेदो नखलोम च। नेत्रविट्त्वचु[1] च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः॥

धातुओं के मल—कफ, पित्त, ख अर्थात् कर्णादिक स्रोतों के मल, पसीना, नख, लोम तथा नेत्र का मल तथा त्वचाओं के ऊपर के स्नेह, ये सब क्रम से रसादिक छै धातुओं के मल हैं॥ २०९॥

***'नेत्रजिह्वाकपोलानां जलञ्च रसजं मलम्' इत्येके। खेषु मलः=कर्णादिस्रोतःसु मलः, 'रसनादन्तकक्षामेढ्रादिमलमपि मेदोमलम्' इत्येके। नेत्रविट्त्वचां स्नेहश्च मज्जमलः, शुक्रस्य मलमेव नास्ति सहस्रधा ध्मातसुवर्णस्येव॥ २०९॥**

यहाँ कोई 'नेत्र, जिह्वा और कपोल के जल को रस का मल' बतलाते हैं। और 'खेषु मलः' इसका अर्थ 'कर्णादिक स्रोतों में स्थित मल' तथा कोई 'जिह्वा, दाँत, कक्षा (बगल), तथा लिङ्ग आदि के मल को भी मेद का मल' मानते हैं एवं नेत्रों के मल तथा त्वचाओं के ऊपर के स्नेह को मज्जा का मल तथा हजार बार तपाये हुये सुवर्ण में जैसे मल नहीं होता वैसे ही शुक्र में भी मल नहीं होता, ऐसा समझना चाहिये॥ २०९॥

अथोपधातूनाह—

वनितानां प्रसूतानां धमनीभ्यां स्तनौ गतात्। रसादेव हि जायेत स्तन्यं स्तनयुगाशयम्॥
शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्त्तिता। मेदसस्ताप्यमानस्य[2] स्नेहो वा कथिता वसा॥

उपधातु का लक्षण—प्रसूता स्त्रियों के दोनों स्तनों में दो धमनियों के द्वारा प्राप्त हुये रस से ही दूध होता है और उसके आशय दोनों स्तन हैं अर्थात् वह दूध दोनों स्तनों में रहता है। और शुद्ध मास का जो स्नेह होता है वह 'वसा' कहलाती है। अथवा तपाये जाते हुये मेद का जो स्नेह होता है वह 'वसा' कहलाती है॥ २१०–२११॥

शार्ङ्गधरे तु—

स्तन्यं रजो वसा स्वेदो दन्ताः केशास्तथैव च। ओजश्च सप्तधातूनां क्रमात् सप्तोपधातवः॥२१२॥

'शार्ङ्गधर' में दूध, रज, वसा, पसीना, दाँत, केश और ओज, ये रसादिक सात धातुओं के क्रम से सात उपधातु हैं॥ २१२॥

अथाशयानाह—

उरो रक्ताशयस्तस्मादधः श्लेष्माशयः स्मृतः। आमाशयस्तु तदधस्तल्लिङ्गं चरकोऽवदत्॥२१३॥

आशय के लक्षण—वक्ष स्थल ही रक्ताशय है, उसके नीचे श्लेष्माशय (कफाशय) और उस के नीचे आमाशय है, ऐसा चरकने कहा है॥ २१३॥

तद्यथा—***'नाभिस्तनान्तरं जन्तोराहुरामाशयं बुधाः' इति॥ २१३॥**

'नाभि और स्तन के बीच के भाग को पण्डितों ने आमाशय बतलाया है'॥ २१३॥

आमाशयादधः पक्वाशयादूर्ध्वन्तु या कला। ग्रहणी नामिका सैव कथितः पाचकाशयः॥२१४॥
ऊर्ध्वमग्न्याशयो नाभेर्मध्यभागे व्यवस्थितः। तस्योपरि तिलं ज्ञेयं तदधः पवनाशयः॥२१५॥
पक्वाशयस्तु तदधः स एव तु मलाशयः। तदधः कथितो वस्तिः स हि मूत्राशयो मतः॥२१६॥

आमाशय के नीचे तथा पक्वाशय के ऊपर जो 'कला' है उसीका नाम 'ग्रहणी' है और वही 'पाचकाशय' कहलाता है। नाभि के मध्य में ऊपर की ओर 'अग्न्याशय' है और उसके ऊपर तिल (पाचकाग्नि) और नीचे 'पवनाशय' है। पुनः उसके नीचे पक्वाशय जो 'मलाशय' नाम से भी प्रसिद्ध है और उसके नीचे 'वस्ति' है जो 'मूत्राशय' कहलाता है॥ २१४–२१६॥

आशयानुक्रमस्तु वाग्भटेनोक्त स यथा—

कफाऽऽमपित्तवातानामाशया मलमूत्रयोः। पुरुषेभ्योऽधिकाश्चान्ये नारीणामाशयास्त्रयः॥२१७॥
धरा गर्भाशयः प्रोक्तः पित्तपक्वाशयान्तरे। स्तनौ प्रवृद्धौ तावेव बुधैः स्तन्याशयौ मतौ॥२१८॥

वाग्भटोक्त आशयों का क्रम—कफाशय, आमाशय, पित्ताशय, पवनाशय, मलाशय और मूत्राशय ये पुरुषों के क्रम से आशय हैं स्त्रियों के इससे भिन्न अन्य तीन आशय अधिक होते हैं, जैसे—पित्ताशय और पक्वाशय के मध्य में 'धरा' है जिसे पण्डितोंने गर्भाशय और स्तनोंके वृद्ध होने पर उन्हीं को 'स्तन्याशय' कहा है॥ २१७–२१८॥

---

१. 'च त्वचः' इति पाठान्तरम्। २. 'स्रवमाणस्ये'ति पाठान्तरम्।

अथ कलास्वरूपमाह—

स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् सन्ततांश्च जरायुणा। श्लेष्मणा वेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तु तान्विदुः॥
धात्वाशयान्तरे धातोर्यः क्लेदस्त्वधितिष्ठति। देहोष्मणाऽभिपक्वश्च सा कलेत्यभिधीयते॥

कलाओं के स्वरूप—स्नायुओं से ढके हुये, जरायुओं से व्याप्त तथा कफ से वेष्टित धात्वाशयों के जो भाग हैं उन्हीं को कलाभाग समझना चाहिये। धात्वाशयों के मध्य में धातुओं का जो क्लेद (गीला) भाग है वह देह की ऊष्मा गर्मी से जब अत्यन्त परिपक्व हो जाता है तब उसे ही पण्डित लोग 'कला' कहते हैं॥ २१९-२२०॥

ताः सप्त—

आद्या मांसधरा प्रोक्ता द्वितीया रक्तधारिणी। मेदोधरा तृतीया तु चतुर्थी श्लेष्मधारिणी॥२२१॥
पञ्चमी तु मलं धत्ते षष्ठी पित्तधरा मता। रेतोधरा सप्तमी स्यादिति सप्त कलाः स्मृताः॥२२२॥

वे कलायें सख्यामें सात हैं, जैसे—१ मासधरा, २ रक्तधारिणी (रक्तधरा), ३ मेदोधरा, ४ श्लेष्मधारिणी (श्लेष्मधरा), ५ मल को धारण करनेवाली मलधरा, ६ पित्तधरा और ७ शुक्रधरा॥

अथ मर्माण्याह—

सन्निपातः शिरास्नायुसन्धिमांसास्थिसम्भवः। मर्माणि तेषु तिष्ठन्ति प्राणाः खलु विशेषतः॥२२३॥

मर्मस्थल के लक्षण—शिरा, स्नायु, सन्धि, मास और अस्थि इन सबों में से जो जहा जहां परस्पर संयुक्त होते हैं वे ही मर्मस्थल कहलाते हैं, अर्थात् एक शिरा के साथ दूसरी शिराके, एक स्नायु के साथ अन्य स्नायु के, एक सन्धि के साथ दूसरे सन्धि के, एक मास के साथ दूसरे मांस के और एक अस्थि के साथ दूसरे अस्थि के संयोगस्थल को मर्मस्थल कहते हैं। इन्ही मर्मस्थलों में विशेष करके प्राण रहते हैं॥ २२३॥

तेषा सङ्ख्याः स्थान चाह—

सप्तोत्तरशतं सन्ति देहे मर्माणि देहिनाम्। तान्येकादश मांसे स्युरष्टावस्थिषु सन्ति हि॥२२४॥
सन्धीनां विंशतिस्तानि स्नायूनां सप्तविंशतिः। चत्वारिंशत्तथैकञ्च शिरामर्माणि तत्र तु॥२२५॥
द्वाविंशतिः सक्थियुगे तावत्येव[1] भुजद्वये। द्वादशोरसि कुक्षौ च पृष्ठदेशे चतुर्दश॥२२६॥
ग्रीवायामूर्ध्वभागे तु सप्तत्रिंशन्मतानि हि। मर्माणि तानि सन्तीह पञ्चधा च भवन्ति हि॥२२७॥

मर्मों की संख्या तथा स्थान—मनुष्यों के शरीर में १०७ मर्मस्थल हैं। यथा—मास में ११, अस्थि में ८, सन्धियों में २०, स्नायुओं में २७, शिराओं में ४१, दोनों पैरों में २२, दोनों बाहुओं में २२, वक्षः स्थल में ९, कुक्षि में ३, पीठ में १४ और ग्रीवा तथा ऊर्ध्वभाग में ३७ मर्म हैं तथा वे मर्म पाच प्रकार के होते हैं॥ २२४-२२७॥

तान्याह—

सद्यःप्राणहराणि स्युर्मर्माण्येकोनविंशतिः। मर्मदेशास्त्रयस्त्रिंशत् स्युः कालान्तरमारकाः॥२२८॥
चत्वारिंशच्च चत्वारि वैकल्यं जनयन्ति हि। मर्माष्टकं रुजाकारि विशल्यघ्नं त्रिकं मतम्॥२२९॥

मर्मों के कार्य—१०७ मर्मों में से १९ मर्मस्थल तत्काल प्राण के हरण करनेवाले, ३३ कालान्तर में मारनेवाले, ४४ विकलता करनेवाले, ८ पीडा करनेवाले तथा ३ विशल्यघ्न मर्मस्थल हैं (जिस मर्मस्थल से बाण आदि निकाल लेने पर मृत्यु हो जाती है किन्तु मर्मस्थल में शल्य जितने क्षण रहता है उतने क्षण मृत्यु नहीं होती, उसे 'विशल्यघ्न' मर्मस्थल कहते हैं) इस प्रकार सद्य-प्राणहर १, कालान्तरमारक २, वैकल्यकर ३, रुजाकर ४ और विशल्यघ्न ५, ये पाच प्रकार के मर्मस्थल हुये॥

तत्र सद्योमारकाणि मर्माण्याह—

शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठशिरा गुदम्। हृदयं वस्तिनाभी च सद्यो घ्नन्ति हतानि चेत्॥२३०॥

उनमें से सद्य-प्राण हरण करनेवाले मर्मस्थल—शृङ्गाटक के ४, अधिपति के १, शङ्ख के २, कण्ठ की शिरा के ८, गुदा के १, हृदय के १, वस्ति के १, और नाभि के १, इन सब मर्मस्थलों में चोट लगने से शीघ्र प्राण नाश हो जाता है॥ २३०॥

***शृङ्गाटकानि—घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तर्पकाणां शिरामुखानां शिरसो मध्ये संयोगस्थानम्, तानि चत्वारि शिरामर्माणि चतुरङ्गुलप्रमाणानि हतानि घ्नन्ति=सद्योमारकाणि भवन्ति।**

---

१. 'तावन्त्येवे'ति पाठान्तर चिन्त्यम्।

शृङ्गाटक मर्म—मस्तक के मध्य में जिन ४ स्थानों में नाक, कर्ण, नेत्र और जिह्वा का सन्तर्पण करनेवाली शिराओं का मुख एकत्र मिलता है, उन्हीं चारों स्थानों को शृङ्गाटक मर्म कहते हैं। ये शिरासम्बन्धी मर्म ४ अङ्गुल प्रमाण के ४ हैं। चोट लगने पर ये सद्यः प्राणों के हरण करनेवाले होते हैं।

***अधिपतिः—मस्तकस्याभ्यन्तरे [1]शिरासन्धिसन्निपात उपरिष्टाद्रोमावर्त्तः, स-एकः, सन्धिमर्मैतदर्द्धाङ्गुलप्रमाणं सद्योमारकम्।**

अधिपति मर्म—मस्तक के भीतर शिरा सम्बन्धी सन्धियों का जो सयोग स्थान है उस के ऊपर बाहर रोमावर्त्त (भौरी) है, उसी को अधिपति मर्म कहते हैं। यह सन्धिसम्बन्धी मर्म एक है, इसका प्रमाण आधा अङ्गुल है, चोट लगने पर यह सद्य प्राण का हरण करनेवाला होता है।

***शङ्खौ—भ्रुवोरन्तोपरि कर्णललाटयोर्मध्ये[2] तौ द्वौ, अस्थिमर्मणी सार्द्धाङ्गुले सद्योमारके।**

दोनों भौहों प्रान्तभाग के ऊपर कर्ण और ललाट के मध्य में दो शङ्खनामक मर्म हैं, ये दोनों अस्थिसम्बन्धी मर्म १॥ अङ्गुल प्रमाण हैं। चोट लगने पर यह सद्य. प्राणनाशक होता है।

***कण्ठशिराः, शिरा मातृकाः—ग्रीवाया[3] उभयपार्श्वयोश्चतस्रश्चतस्रः शिरास्ता अष्टौ शिरामर्माणि चतुरङ्गुलानि सद्योमारकाणि।**

कण्ठशिरा या शिरामातृका मर्म—ग्रीवा के दोनों बगल में ४-४ शिरायें मिलकर ८ होते हैं। ये शिरासम्बन्धी मर्म ४ अगुल प्रमाण हैं। चोट लगने पर सद्य. प्राणनाशक होते हैं।

***गुदमर्म[4]—गुदम्प्रसिद्धम्। एकम्मांसमर्म चतुरङ्गुलं सद्योमारकम्।**

गुदमर्म—गुदा नाम से प्रसिद्ध एक मांससम्बन्धी गुदमर्म ४ अगुल प्रमाण का होता है। चोट लगने पर यह सद्यः प्राणनाशक है।

***हृदयम्—स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृद्यं नामैकं शिरामर्मैतद् चतुरङ्गुलं सद्योमारकम्।**

हृदय मर्म—दोनों स्तनों के मध्य वक्षःस्थल में आमाशय का द्वार जो सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों का आश्रय स्थान है, वही हृदय नाम से प्रसिद्ध एक शिरासम्बन्धी मर्म ४ अङ्गुल प्रमाण का है। चोट लगने पर वह भी सद्यः प्राणनाशक है।

*वस्तिमर्म—

वस्तिर्नाभिः पृष्ठकटी गुदवंक्षशेफसाम्। मध्ये वस्तिस्तनुत्वक् च एकद्वारो ह्यधोमुखः॥ ४१॥

वस्तिमर्म—नाभि, पीठ, कटि, गुदा, वक्षण (ऊरुसन्धि) और लिङ्ग इन सब के मध्य में वस्ति है। वस्ति का चमडा पतला होता है तथा इसका एक द्वार होता है और मुख नीचे की ओर रहता है॥

***स्नायुमर्मैतद्चतुरङ्गुलं सद्योमारकम्।**

स्नायुसम्बन्धी मर्म ४ अङ्गुल प्रमाण का होता है, चोट लगने पर यह सद्यः प्राणनाशक है।

***नाभिमर्म—नाभिः प्रसिद्धा, शिरामर्मैतद्चतुरङ्गुलं सद्योमारकम्॥ २३०॥**

नाभिमर्म—यह नाभि नाम से प्रसिद्ध है। शिरासम्बन्धी यह मर्म ४ अङ्गुल प्रमाण में होता है, चोट लगने पर यह सद्य. प्राणनाशक है॥ २३०॥

कालान्तरहराणि मर्माण्याह—

वक्षोमर्माणि सीमन्ततलक्षिप्रेन्द्रवस्तयः।
बृहत्यौ पार्श्वयोः सन्धी कटीकतरुणे च ये। नितम्बाविति चैतानि कालान्तरहराणि तु॥२३१॥

कालान्तर (देर) में प्राणहरण करनेवाले मर्म—वक्षो मर्म ८, सीमन्त ५, तल ४, क्षिप्र ४, इन्द्रवस्ति ४, बृहती २, पसलियों की सन्धि २, कटीकतरुण २, नितम्ब २, इन सब मर्मस्थलों में चोट लगने पर कालान्तर में प्राणनाश होता है॥ २३१॥

*वक्षोमर्माणि—

(स्तनमूल[5] स्तनरोहितापलापापस्तम्भाः। तत्र स्तनमूले—) स्तनयोरधस्ताद् द्व्यङ्गुलं यावत् स्तनमूले नाम द्वे शिरामर्मणी, तत्र कफपूर्णकोष्ठतया कालान्तरमारके।

---

१. 'सन्धिशिरसोरि'ति पाठान्तरं प्रामादिकम्। २ 'कर्णललाटमध्य' इति पाठान्तरम्।
३. 'ग्रीवामि'ति पाठान्तरम्। ४. 'गुदमर्म' पाठः क्वाचित्कः। ५. अयं कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः।

वक्षोमर्म—स्तनमूल २, स्तनरोहित २, अपलाप २, और अपस्तम्ब नामक २ मर्म, इस प्रकार ये ८ वक्षोमर्म हैं, उन में से दोनों स्तनों के नीचे दो दो अङ्गुल परिमित स्थान में स्तनमूल नामक दो मर्म हैं, वे शिरा सम्बन्धी मर्म हैं, वहा चोट लगने पर कफ से पूर्ण कोष्ठ हो जाने से वे कालान्तर में प्राणनाश होता है।

***स्तनरोहिते—स्तनयोरुपरि द्व्यङ्गुलं यावत्। द्वे मांसमर्मणी रक्तपूरितकोष्ठतया कालान्तरमारके[1]।**

स्तनरोहित मर्म—दोनों स्तनों के ऊपर दो दो अङ्गुल परिमित स्थान में स्तनरोहित नामक ये मांस सम्बन्धी २ मर्म हैं, इन में चोट लगने पर रक्त से पूर्ण कोष्ठ हो जाने से कालान्तर मे प्राण के हरण करनेवाले होते हैं।

***अपलापौ—अंसकूटयोरधस्तात् पार्श्वयोरुपरि द्वे[2] शिरामर्मणी। अर्द्धाङ्गुले रक्तेन पूयताङ्गतेन कालान्तरमारके[3]।**

अपलाप मर्म—दोनों ओर के असकूटों (कन्धे के ऊपर की उभरी हुई हड्डी) के नीचे एवं दोनो ओर पंसुलियों के ऊपर आधा अंगुल परिमित अपलाप नामक दो शिरासम्बन्धी मर्म है, इन में चोट लगने पर वहा के रक्त पूय (पीव) हो जाने से ये कालान्तर में मारक होते हैं।

***अपस्तम्बौ—उरस उभयतो[4] नाड्यौ वातवहे शिरामर्मणी। अर्द्धाङ्गुले वातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च कालान्तरमारके।**

अपस्तम्ब मर्म—वक्ष.स्थलके दोनों पार्श्व (बगल) में वायु को वहन करनेवाली दोनों नाडियो में आधे अगुल परिमित अपस्तम्ब नामक दो शिरासम्बन्धी मर्म हैं। इन में चोट लगने पर वात से पूर्ण कोष्ठ हो जाने से कास और श्वास उत्पन्न करके ये कालान्तर में प्राणनाशक होते हैं।

***सीमन्ताः—शिरसि पञ्च सन्धयः सन्धिमर्माणि चतुरङ्गुलानि, उन्मादभयचित्तविनाशैः कालान्तरमारकाणि[5]।**

सीमन्त मर्म—मस्तक में जो पाच सन्धियाँ हैं वे ही सीमन्तनामक मर्म हैं ये सन्धिसम्बन्धी पाच मर्म चार अङ्गुल परिमित हैं, इनमें चोट लगने पर उन्माद (पागलपन), भय और चित्त का विनाश, इन सब उपद्रवों के द्वारा ये कालान्तर से प्राणनाशक होते हैं।

***तलानि—मध्याङ्गुलिमनुक्रम्य हस्तस्य मध्यन्तलमेवमपरस्य हस्तस्य, पादयोश्चैवं[6] चत्वारि तलानि मांसमर्माणि द्व्यङ्गुलानि रुजाभिः कालान्तरमारकाणि।**

तलमर्म—दोनों हाथ पैर की बीचवाली अङ्गुली के सीध से लेकर हथेली तथा तलुओं के मध्य में दो अङ्गुल परिमित जो स्थान हैं वे ही तल नामक मर्म हैं, दोनों हथेलियों में दो और दोनों पैर के तलुओं में दो, इस प्रकार सब चार तल मर्म हैं। ये सब मास सम्बन्धी मर्म हैं, इन में चोट लगने पर पीडा पहुँचने से ये कालान्तर में प्राणनाशक हो जाते हैं।

***क्षिप्राणि—अङ्गुष्ठाङ्गुल्योर्मध्यं क्षिप्रम्। तच्च[7] हस्तयोर्द्वे पादयोर्द्वे चैवं चत्वारि स्नायुमर्माण्यर्द्धाङ्गुलान्याक्षेपकेण कालान्तरमारकाणि।**

क्षिप्रमर्म—अङ्गुष्ठ और तर्जनी अङ्गुली के मध्य में क्षिप्रनामक मर्म हैं, वे दोनों हाथों में दो और दोनों पैरों में दो होने से कुल मिल कर चार क्षिप्र मर्म हैं, ये स्नायुसम्बन्धी मर्म हैं, तथा आधे अङ्गुल परिमित हैं, इन में चोट लगने पर आक्षेपक नामक वायु सम्बन्धी रोग के द्वारा ये कालान्तर में मारक होते हैं।

***इन्द्रवस्तयः—प्रकोष्ठयोर्मध्ये द्वौ जङ्घयोर्मध्ये द्वौ। एवं चत्वारि मांसमर्माणि द्व्यङ्गुलानि शोणितक्षयेण कालान्तरमारकाणि[8]।**

इन्द्रबस्ति मर्म—दोनों प्रकोष्ठों (कलाई से ऊपर केहुनी के नीचे के भागों) के मध्य में दो और दोनों जङ्घाओं (जानु से नीचे और एडी से ऊपर के भागों) के मध्य में दो, सब मिल कर

---

१. 'मारकावि'ति पा०। २. 'द्वावि'ति पा०। ३ 'मारकावि'ति पा०। ४. 'उभयोरि'ति पा०।
५. 'मारका' इति पा०। ६. 'चैवमि'ति पा०। ७. 'तानि चे'ति पा०। ८. 'मारका' इति पा०।

चार और दो अङ्गुल परिमित मांससम्बन्धी इन्द्रवस्ति मर्म हैं। इनमें चोट लगने पर रक्त का क्षय होने से कालान्तर में ये प्राणनाशक होते हैं।

ॐबृहत्यौ—स्तनमूलादुभयतः पृष्ठवंशं यावत्। शिराममर्णी अर्द्धाङ्गुले[1] शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तैरुपद्रवैः कालान्तरमारके[2]।

बृहती मर्म—दोनों स्तनों के मूल भाग से लेकर पृष्ठवंश (पीठ की डण्डे के समान हड्डी) तक जो स्थान हैं, उनमें आधे अङ्गुल परिमित बृहती नामक शिरासम्बन्धी दो मर्म हैं। इनमें चोट लगने पर अत्यन्त रक्त निकलने से जो उपद्रव होते हैं उनके द्वारा ये कालान्तर में प्राणनाशक होते हैं।

ॐपार्श्वसन्धी—जघनपार्श्वयोः सन्धी[3] शिराममर्णी अर्द्धाङ्गुले[4] शोणितपूर्णकोष्ठतया कालान्तरमारके[5]।

पार्श्वसन्धि मर्म—जघन और दोनों पार्श्वभाग (काख के नीचे का हिस्सा कमरतक) की जो दो सन्धियाँ हैं उन्ही को पार्श्व सन्धिनामक मर्म कहते हैं, ये आधे अङ्गुल परिमित शिरासम्बन्धी मर्म हैं। इनमें चोट लगने पर रक्त से पूर्ण कोष्ठ हो जाने से कालान्तर में ये प्राणनाशक होते हैं।

ॐकटीकतरुणे—त्रिकसन्निधाने उभयतः श्रोणिकाण्डं[6]लक्ष्यीकृत्यास्थिस्थिते अस्थिमर्मणी अर्द्धाङ्गुले शोणितक्षयात्पाण्डुविवर्णरूपं कृत्वा कालान्तरमारके।

कटीकतरुण मर्म—त्रिक (पृष्ठवंश के नीचे की तीन हड्डी) के पास दोनों ओर दोनों श्रोणिकाण्डों को लक्ष्य करके जो दो हड्डिया हैं, उन्ही में आधे अङ्गुल परिमित दो कटीकतरुण नामक अस्थिसम्बन्धी मर्म हैं, इनमें चोट लगाने पर रक्त का क्षय होने से पाण्डु तथा विवर्ण रूप करके ये कालान्तर में प्राणनाशक होते हैं।

ॐनितम्बौ-प्रसिद्धौ। द्वे[7] अस्थिमर्मणी अर्द्धाङ्गुलावधः कायशोषेण दौर्बल्येन च कालान्तरमारके[8] ॥ २३१ ॥

नितम्बमर्म—नितम्ब नाम से प्रसिद्ध जो स्थान है, उसके दोनों भागों में आधे अङ्गुल परिमित दो अस्थिसम्बन्धी मर्म हैं, इनमें चोट लगने पर शरीर के नीचे भाग में शोष होने से तथा दुर्बलता होने से ये कालान्तर में प्राणनाशक होते है ॥ २३१ ॥

वैकल्यकराणि मर्माण्याह—

लोहिताक्षाणिजानूर्वी[9] कूर्चा विटपकूर्पराः। कुकुन्दरे कक्षधरे विधुरे सकृकाटिके ॥ २३२ ॥
अंसांसफलकापाङ्गा[10] नीले मन्ये फणे तथा। वैकल्यकरणान्याहुरावर्त्तौ द्वौ तथैव च ॥२३३॥

विकलता करनेवाले मर्मस्थल—लोहिताक्ष चार, आणि चार, जानु दो, ऊर्वी चार, कूर्च चार, विटप दो कूर्पर दो, कुकुन्दर दो, कक्षधर दो, विधुर दो, कृकाटिका दो, अंस दो, अंसफलक दो, अपाङ्ग दो, नीला दो, मन्या दो, फण दो, और आवर्त्त दो, ये सब मर्मस्थल चोट लगने पर अङ्ग मे विकलता उत्पन्न करनेवाले होते हैं ॥ २३२-२३३ ॥

ॐलोहिताक्षाणि—ऊर्व्या[11] ऊर्ध्वमधो वङ्क्षणसन्धेर्लोहिताक्षम्, ते च द्वे बाह्वोर्द्वे ऊर्वोरेवं तानि चत्वारि शिरामर्माण्यर्द्धाङ्गुलानि। वैकल्यकराणि। तत्र शोणितक्षयेण पक्षाघातः सक्थिसादो वा।

लोहिताक्ष मर्म—ऊर्वी नामक मर्म के ऊपर और वक्षण नामक सन्धि के नीचे लोहिताक्ष नामक मर्म रहता है, वे दोनों बाहुओं में दो तथा दोनों ऊरुओं में दो इस प्रकार कुल चार हैं, ये आधे अङ्गुल परिमित शिरासम्बन्धी मर्म कहलाते हैं, चोट लगने पर ये विकलता करनेवाले होते हैं। इन मर्मस्थलों में चोट लगने पर जब रुधिर का क्षय होता है तब पक्षाघात (वायु सम्बन्धी रोग) अथवा सक्थिसाद होता है।

ॐआणयः—जानुन ऊर्ध्वमुभयोः पार्श्वयोस्त्र्यङ्गुला एकस्मिन् जानुनि द्वे अपरस्मिन् द्वे एवञ्चतस्रः, स्नायुमर्माण्यर्द्धाङ्गुलानि वैकल्यकराणि, तत्र शोथाभिवृद्धिः सक्थिस्तम्भश्च।

---

१ 'अर्द्धाङ्गुलावृत्ते' इति पा०। २. 'मारकाणी'ति पा०। ३. 'सन्धी प्रती'ति पा०। ४ 'अर्द्धाङ्गुला'-विति पा०। ५ 'मारका' विति पा०। ६ 'लक्ष्मी'ति पा०। ७ 'द्वावि'ति पा०। ८ 'मारकावि'ति पा०। ९ 'जानूर्वोरि'ति पा०। १०. 'असासफलकापाङ्गावि'ति पाठान्तर प्रामादिकम्। ११ 'ऊर्वोरि'ति पा०।

आणिमर्म—जानुओं के ऊपर दोनों ओर तीन अङ्गुल परिमित जो स्थान है उसी को आणिमर्म कहते हैं। पैर में एक जानु के ऊपर दो और दूसरे पैर में जानु के ऊपर दो, इस प्रकार मिल कर चार आणिमर्म हैं। आधे अङ्गुल परिमित ये स्नायु सम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं, इन मर्मों में चोट लगने पर शोथ की अधिकता तथा सक्थिस्तम्भ रोग होता है।

***जानुनी—जङ्घोर्वोः[1] सन्धी सन्धिमर्मणी द्व्यङ्गुले वैकल्यकरे तत्र खञ्जता।**

जानुमर्म—जङ्घा और ऊरु की जो दो सन्धियां हैं वे ही जानु नामक मर्म कहलाती हैं, ये दो अङ्गुल परिमित सन्धिसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर खञ्जता (लङ्गड़ापन) रोग हो जाता है।

***[2]ऊर्व्यः—द्वे ऊर्वोर्मध्ये द्वे प्रगण्डयोर्मध्ये एवं चतस्रः, शिरामर्माणि एकाङ्गुल्यो वैकल्यकारिण्यस्तत्र[3] शोणितक्षयात्सक्थिबाह्वोः[4] शोषः।**

ऊर्वी मर्म—दोनों ऊरुओं के मध्य में दो और दोनों बाजुओं के मध्य में दो इस प्रकार मिल कर चार ऊर्वी मर्म हैं, ये एक अङ्गुल परिमित शिरा सम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले होते हैं, इनमें चोट लगने पर रक्तक्षय होने से सक्थि शोष (पैर का सूखना) और बाहुशोष (बाहु का सूखना) रोग हो जाता है।

***कूर्चाः—पादयोरङ्गुष्ठाङ्गुल्योर्मध्ये तयोरूर्ध्वमधश्च,[5] एवं चत्वारि स्नायुमर्माणि वैकल्यकराणि, तत्र पादयोर्भ्रमणवेपने भवतः।**

कूर्च मर्म—दोनों पैरों के अगूठे और अङ्गुलियों के मध्य में ऊपर और नीचे दो दो करके कूर्चनामक चार स्नायु सम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं, इन में चोट लगने पर पैर का भ्रमण (घूमजाना) तथा कम्पन (काँपना) होता है।

***विटपे—द्वे वङ्क्षणवृषणयोर्मध्ये स्नायुमर्मणी एकाङ्गुले वैकल्यकरे च तत्र षाण्ड्यमल्पशुक्रता वा।**

विटपमर्म—वङ्क्षण और अण्डकोश के मध्य में विटप नामक दो मर्म हैं, ये दोनों एक अङ्गुल परिमित स्नायुसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले होते हैं, इनमें चोट लगने पर नपुंसकता अथवा शुक्र की अल्पता हो जाती है।

***कूर्परौ—कफोणिजौ द्वौ सन्धिमर्मणी द्व्यङ्गुलौ वैकल्यकरौ तत्र बाहुमध्ये सङ्कोचः।**

कूर्परमर्म—दोनों कफोणि (केहुनी) कूर्परनामक मर्म कहलाते हैं, ये दोनों दो अङ्गुल परिमित सन्धिसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले होते हैं, इनमें चोट लगने पर बाहु के मध्य में सङ्कोच होता है।

***कुकुन्दरे—नितम्बकूपकौ[6] द्वे[7] सन्धिमर्मणी अर्द्धाङ्गुले वैकल्यकरे, तत्र स्पर्शाज्ञानमधःकायस्य चेष्टोपघातश्च।**

कुकुन्दर मर्म—दोनों नितम्बों के ऊपर जो दो गड्ढे से हैं, वे ही कुकुन्दर नामक मर्म कहलाते हैं। ये आधे अङ्गुल परिमित सन्धिसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले होते हैं। इनमें चोट लगने पर स्पर्शज्ञान का अभाव (सुन्न हो जाना) तथा शरीर के नीचे भाग की चेष्टाओं का नाश हो जाता है।

***कक्षधरे—वक्षःकक्षयोर्मध्ये द्वे स्नायुमर्मणी एकाङ्गुले वैकल्यकरे, तत्र पक्षाघातः।**

कक्षधर मर्म—वक्षःस्थल तथा कक्ष (काँख) के मध्य में दोनों ओर दो कक्षधर नामक मर्म हैं, ये दोनों एक अङ्गुल परिमित स्नायुसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले होते हैं, इनमें चोट लगने पर पक्षाघात होता है।

***विधुरे—कर्णपृष्ठतोऽधःसंश्रिते[8] किञ्चिन्निम्नाकारे द्वे स्नायुमर्मणी अर्द्धाङ्गुले वैकल्यकरे, तत्र बाधिर्यम्।**

विधुरमर्म—दोनों कानों के पीछे नीच के भाग में कुछ दबे हुये जो स्थान हैं उन्हीं स्थानों में विधुर नामक मर्म होता है, ये दोनों आधे अङ्गुल परिमित स्नायुसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले होते हैं। इनमें चोट लगने पर बाधिर्य (बहरापन) रोग हो जाता है।

---

१. 'जङ्घयो'रिति पा०। २. 'ऊर्वोरि'ति पा०। ३. 'वैकल्पकर्य' इति पा०। ४. 'सक्थिशोष' इति पा०। ५. 'हस्तयोरधश्चे'ति पाठान्तरं चिन्त्यम्। ६. 'कूर्पराविति पाठान्तरं चिन्त्यम्। ७. 'द्वावि'ति पा०। ८. 'पृष्ठाध' इति पा०।

कृकाटिके-शिरोग्रीवयोरुभयतः सन्धी द्वे सन्धिमर्मणी अर्द्धाङ्गुले वैकल्यकरे तत्र शिरःकम्पः।

कृकाटिका मर्म—शिर और ग्रीवा के दोनों भाग में जो दो सन्धिया हैं, वे ही कृकाटिका नामक मर्म हैं, ये आधे अङ्गुल परिमित सन्धिसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर शिरःकम्प रोग होता है।

अंसौ-स्कन्धौ स्नायुमर्मणी अर्द्धाङ्गुले वैकल्यकरे तत्र बाहुस्तम्भः।

अंसमर्म—दोनों अस (कन्धे) ही अस नामक मर्म कहलाते हैं, ये आधे अङ्गुल परिमित स्नायुसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर बाहुस्तम्भ (बाहुओं का जकड जाना) रोग होता है।

असंफलके-पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतस्त्रिकसम्बद्धे, (ग्रीवायमंसद्वयस्य च संयोगो यत्र तत्त्रिकम्।) अस्थिमर्मणी अर्द्धाङ्गुले वैकल्यकरे, तत्र बाह्वोः शून्यता शोषश्च।

असफलक मर्म-पीठ के ऊपर पृष्ठवश (मेरुदण्ड) के दोनों ओर त्रिक से सम्बन्ध रखे हुये जो दो मर्म हैं वे ही असफलक नामक मर्म कहलाते हैं, (यहां पर 'त्रिक' पद से 'ग्रीवा में दोनों कन्धों का जहा पर सयोग होता है' उस स्थान को समझना चाहिये) ये आधे अङ्गुल परिमित अस्थिसम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर बाहुओं की शून्यता (सुन्न हो जाना) तथा शोष (सूख जाना) रोग होता है।

अपाङ्गौ=नेत्रयोरन्तौ शिरामर्मणी अर्द्धाङ्गुलौ वैकल्यकरौ, तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा।

अपाङ्गमर्म—दोनों नेत्रों के जो दोनों प्रान्त भाग हैं वे ही अपाङ्ग मर्म कहलाते हैं दोनों आधे अङ्गुल परिमित शिरासम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं, इनमे चोट लगने पर आन्ध्य (अन्धा हो जाना) अथवा दर्शन शक्ति का ह्रास हो जाता है।

नीले मन्ये च-कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यः, द्वे नीले द्वे मन्ये। तत्र एका मन्या एका नीला एकस्मिन् पार्श्वे, एवं[1] मन्या मन्या नीला च अपरस्मिन् पार्श्वे द्वे द्वे शिरामर्मणी द्व्यङ्गुले द्व्यङ्गुले वैकल्यकरे, तत्र मूकता [2]विकृतस्वरताऽरसग्राहिता च।

नीला और मन्या मर्म—कण्ठ-नली के दोनों ओर नीला और मन्या नामक चार धमनियाँ है। उनमें से एक पार्श्व में एक नीला, एक मन्या और दूसरे पार्श्व में एक नीला तथा एक मन्या नामक धमनिया रहती हैं। इन्ही मन्या नामक धमनियों में मन्या मर्म और नीला नामक धमनियों में नीला मर्म रहता है। दो दो अङ्गुल परिमित ये दोनों शिरा सम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं। इनमें चोट लगने पर मूकता (गूगा हो जाना) या विकृतस्वरता (स्वर का विकृत हो जाना) अथवा अरसग्राहिता (किसी रस के भी स्वाद लेने की शक्ति का न रहना) हो जाता है।

फणे-घ्राणमार्गमुभयतः ([3]स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः) मांसमर्मणी अर्द्धाङ्गुले वैकल्यकरे तत्र गन्धाज्ञानम्।

फणमर्म—नासामार्ग के दोनों ओर (नासिका के भीतर स्रोतोमार्ग से लगे हुये) फण नामक दो मर्म हैं, आधे अङ्गुल परिमित ये दोनों मांससम्बन्धी मर्म विकलता करनेवाले हैं, इनमे चोट लगने पर गन्ध ग्रहण करने की शक्ति का नाश हो जाता है।

आवर्तौ-भ्रुवोरुपरि निम्नयोः सन्धिमर्मणी अर्द्धाङ्गुले वैकल्यकरे। तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा॥ २३२-२३३॥

आवर्त्त मर्म—दोनों भौंहों के ऊपर और नीचे जो दो सन्धिया हैं वे ही आवर्त्तक नामक मर्म कहलाती हैं, मर्म आधे अङ्गुल परिमित ये सन्धिसम्बन्धी विकलता करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर अन्धता अथवा दर्शन शक्ति का ह्रास हो जाता है॥ २३२-२३३॥

रुजाकराणि मर्माण्याह—

गुल्फौ द्वौ मणिबन्धौ द्वौ तथा कूर्चशिरांसि च।
रुजाकराणि [4]जानीयादष्टावेतानि बुद्धिमान्॥ २३४॥

---

१. 'एवमन्ये'ति पाठः क्वाचित्कः।　२. 'विकृती'ति पाठान्तरम्।
३. अयं कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः।　४. 'दृष्ट्वा चे'ति पाठान्तरम्।

पीडा करनेवाले मर्म—दो गुल्फ (एँडी), दो मणिवन्ध (कलाई), चार कूर्च शिरा, ये आठ रुजाकर मर्म हैं अर्थात् इन मर्मस्थलों में चोट लगने पर अधिक पीडा होती है ॥ २२४ ॥

***गुल्फौ—घुण्टिके सन्धिमर्मणी [1]द्व्यङ्गुले रुजाकरे तत्र रुजा पादस्तम्भः खञ्जता च।**

गुल्फमर्म—दोनों गुल्फ (एँडी) ही गुल्फ मर्म कहलाते हैं, ये दोनों सन्धि सम्बन्धी मर्म दो अङ्गुल परिमित और रुजा करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर रुजा पादस्तम्भ (पैर का जकड जाना) अथवा खञ्जता (लंगड़ा हो जाना) होता है।

***मणिबन्धि [2]द्वौ—हस्तप्रकोष्ठसन्धी सन्धिमर्मणी द्व्यङ्गुलौ रुजाकरौ। तत्र हस्तयोः क्रियाराहित्यम्।**

मणिवन्ध मर्म—दोनों मणिवन्ध (कलाई) को ही मणिवन्ध मर्म कहते हैं, ये दोनों सन्धि सम्वन्धी मर्म दो अङ्गुल परिमित और रुजा करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर हाथों की क्रिया (चेष्टा) नष्ट हो जाती है।

***कूर्च शिरांसि—पादसन्धेरधः ([3]गुल्फसन्धेरधः) उभयत एकस्मिन् पादे ([4]द्वे द्वे च द्वितीये) एवञ्चत्वारि स्नायुमर्माण्येकाङ्गुलानि रुजाकराणि तत्र रुजा शोफश्च ॥ २२४ ॥**

कूर्चशिरा मर्म—गुल्फसन्धि के नीचे भाग में दोनों तरफ एक एक करके जो मर्म हैं वे ही कूर्च-शिरा नामक मर्म कहलाते हैं। एक पैर में गुल्फसन्धि के दोनों पार्श्व में दो, और दूसरे पैर में भी गुल्फसन्धि के दोनों तरफ दो इस प्रकार सव मिल कर चार कूर्चशिरा मर्म होते हैं, ये स्नायु सम्वन्धी मर्म एक अङ्गुल परिमित और रुजा करनेवाले हैं, इनमें चोट लगने पर रुजा (पीडा) और शोथ (सूजन) होता है ॥ २२४ ॥

अथ विशल्यघ्नानि मर्माण्याह—

उत्क्षेपौ [5]स्थपनी चैव विशल्यघ्नं त्रिकम्मतम् ॥ २२५ ॥

विशल्यघ्न मर्म—दो उत्क्षेप और एक स्थपनी, यही तीन मर्म विशल्यघ्न (शल्य के निकालने पर प्राणनाशक) कहलाते हैं ॥ २२५ ॥

***उत्क्षेपौ—शङ्खयोरुपरि [6]केशान् यावत्। स्नायुमर्मणी अर्द्धाङ्गुले तयोर्विद्धयोः—सशल्यो जीवेत्पाकात्पतितशल्यो वा, उद्धृतशल्यस्तु म्रियेत। अत एव विशल्यमुद्धृतशल्यं—हन्तीति विशल्यघ्नं मर्म।**

उत्क्षेप मर्म—शिर में दोनों तरफ शङ्ख (कनपटी) के ऊपर केश पर्यन्त जो स्थान हैं उन्हीं स्थानों में उत्क्षेप नामक दो मर्म हैं, ये स्नायुसम्वन्धी मर्म आधे अङ्गुल परिमित हैं, इन मर्मों में जव शल्य (वाणादि) विध जाते हैं, तव जितने काल तक शल्य उनमें विंधे (पडे) रहते हैं उतने काल तक मनुष्य जीवित रहता है, और यदि विंधे हुये स्थान के पक जाने पर उसमें से शल्य आप ही आप वाहर निकल आवे तो भी मनुष्य जीवित रह सकता है, किन्तु यदि विंधे हुये शल्य को स्वयं निकाला जाय तो मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। ये विशल्यघ्न (विंधे हुये शल्य के निकालने पर) प्राणियों के मारनेवाले हैं।

***स्थपनी—एका भ्रुवोर्मध्ये शिरामर्मैदमर्द्धाङ्गुलं विशल्यघ्नम् ॥ २२५ ॥**

स्थपनी मर्म—दोनों भौहों के मध्यस्थल में एक स्थपनी नामक मर्म है। यह आधे अङ्गुल परिमित शिरासम्वन्धी मर्म विशल्यघ्न है ॥ २२५ ॥

सप्तरात्रान्तरे हन्युः सद्यः प्राणहराणि हि। कालान्तरप्राणहरं पक्षे मासे च मारकम् ॥ २२६ ॥

सद्यः प्राणहरण करनेवाले जितने मर्म है वे सव सात रात्रि के अन्दर प्राण ले लेते हैं और कालान्तर में प्राणहरण करनेवाले जितने मर्म हैं वे सव एक पक्ष में या एक मास के अन्दर प्राण हरण करते हैं ॥ २२६ ॥

सद्यः प्राणहरश्चान्ते विद्धं कालेन मारयेत्। कालान्तरप्राणहरमन्ते विद्धन्तु दुःखदम् ॥ २२७ ॥

---

१. 'द्व्यङ्गुलौ रुजाकरावि'ति पाठान्तरम्। २ 'द्वौ मणिवन्धावि'ति पाठान्तरम्। ३. अयं कोष्ठस्थः पाठः काचित्कः। ४. एतत्कोष्ठस्थपाठस्थाने 'एकमेकं च द्वितीये हस्तयोर्द्वे चे'ति पाठः कचिदुपलभ्यते स तु चिन्त्यः। ५. 'स्थापनी'ति पा०। ६. 'केशा' इति पा०।

सद्यः प्राणहरण करनेवाले पूर्वोक्त जितने मर्मस्थल हैं, उनके समीप में शस्त्रादि से यदि चोट लग जाय तो कालान्तर में प्राणनाश होता है। और यदि कालान्तर में प्राणहरण करनेवाले पूर्वोक्त मर्मस्थलों के समीप में चोट लग जाय तो केवल दुःख देनेवाला (रुजा करनेवाला) ही होता है॥

***अन्ते = मर्मसमीपे ॥ २३७ ॥**

'अन्ते' इस पदका 'समीप में' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ २३७ ॥

मर्माण्यधिष्ठाय हि ये विकारा मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम्।
प्रायेण ते कृच्छ्रतमा भवन्ति वैद्येन यत्नैरपि साध्यमानाः॥ २३८ ॥

मनुष्यों के शरीर में मर्मस्थलों का आश्रय लेकर चाहे जिस प्रकार के रोग उत्पन्न, हों, तथा वैद्य लोग यत्नपूर्वक चाहे जितनी चिकित्सा करें तो भी प्रायः करके देखा जाता है कि वे कष्टसाध्य ही होते हैं ॥ २३८ ॥

अथ सन्धयः।

ते द्विविधाश्चेष्टावन्तः स्थिराश्च।

शाखासु हन्वोः कट्याञ्च चेष्टावन्तो भवन्ति हि। शेषास्तु सन्धयः सर्वे स्थिरास्तज्ज्ञैरुदाहृताः॥

सन्धियों के लक्षण—सन्धिया दो प्रकार की होती है—चेष्टावाली और स्थिर। उनमें से दोनों हाथों, दोनों पैरों, दोनों हनुओं (कपोलों के नीचे की हड्डियों), और कटि (कमर) में जो सधिन्या हैं, वे चेष्टावाली हैं और शेष सब सन्धिया स्थिर (चेष्टाशून्य) हैं ॥ २३९ ॥

अथ सन्धिसंख्या आह—

कथिता देहिनां देहे सन्धयो द्वे शते दश। शाखासु तेऽष्टषष्टिश्च कोष्ठे त्वेकोनषष्टिकाः॥२४०॥
ग्रीवाया ऊर्ध्वदेशे तु त्र्यशीतिस्ते प्रकीर्त्तिताः। प्रथमं परिगण्यन्ते तेषु शाखागता इह ॥२४१॥

सन्धियों की संख्या—देहधारी मनुष्यों के शरीर में २१० सन्धिया हैं। उनमें से ६८ सन्धियाँ चारों शाखाओं में, ५९ कोष्ठ (ग्रीवा से नीचे पैर के ऊपर) में और ८३ ग्रीवा से लेकर उसके ऊपर भाग में कही हुई हैं। उन पूर्वोक्त सन्धियों में से जितनी चारों शाखाओं में हैं, इस समय उन्हीं का सर्व प्रथम परिगणन किया जा रहा है ॥ २४०–२४१ ॥

***एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां[1] त्रयस्त्रयो द्वावङ्गुष्ठे ते चतुर्दश। गुल्फजानुवंक्षणेष्वेकैकमेवं सप्तदश एकस्मिन् सक्थिनि भवन्ति। एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ। एवमष्टषष्टिः शाखासु।**

दोनों पैर की चार २ अङ्गुलियों में तीन-तीन और अँगूठे में दो २ इस प्रकार एक पैर की पांचों अङ्गुलियों में चौदह सन्धिया हैं और गुल्फ (एँडी), जानु (घुटना) और वङ्क्षण (ऊरु सन्धि) में एक-एक सन्धियाँ है, इस प्रकार एक पैर में सब मिल कर सत्रह सन्धिया हैं। इसी तरह दूसरे पैर तथा दोनों बाहुओं की भी सन्धिया कही हुई हैं। इस प्रकार अडसठ सन्धियाँ चारों शाखाओं में होती हैं।

अथ कोष्ठगतानाह—

***त्रयः [2]कटीकपालेषु, चतुर्विंशतिः पृष्ठवंशे, तावन्त एव पार्श्वयोरष्टावुरसि, एवमेकोनषष्टिः कोष्ठे।**

कोष्ठगत सन्धियाँ—कमर और कपालास्थि में तीन, पृष्ठवंश (मेरुदण्ड) में चौवीस, दोनों पसुलियों में चौवीस और वक्षःस्थल में आठ सन्धियाँ हैं। इस प्रकार सब मिल कर उनसठ सन्धियाँ कोष्ठ में होती हैं।

अथ ग्रीवोर्ध्वगतानाह—

***अष्टौ ग्रीवायां त्रयः कण्ठे [3]नाडीषु हृदयक्लोमफुप्फुसनिबद्धास्त्वष्टदश। द्वात्रिंशद्दन्तमूलेषु, एकः कण्ठमणौ नासायाञ्च एकः, द्वौ द्वौ[4] वर्त्ममण्डलजौ नेत्राश्रयौ, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकः, द्वौ हनुसन्धौ, द्वावुपरिष्टाद् भ्रुवोः शङ्खयोश्चोपरिष्टात्, पञ्च शीर्षकपालेष्वेको मूर्ध्नी-**

---

१. 'पदाङ्गुल्यामि'ति पा०। २ 'कटीकपोलेष्वि'ति पा०। ३ 'नाडीहृदयक्लोमफुप्फुसेषु निबद्धास्त्वष्टादशे'ति पा०। ४. 'द्वौ द्वौ वर्त्ममण्डलगण्डकर्णशङ्खेष्वि'ति पा०।

ति[1]। कण्ठमणौ घण्टिकेति प्रसिद्धे। एते सन्धयोऽष्टविधा भवन्तीत्याहोत्तरत्र ॥ २४०-२४१ ॥

ग्रीवा तथा उसके ऊपर की सन्धिया—ग्रीवा (गर्दन) में ३, कण्ठ में ३, हृदय क्लोम, और फुफ्फुस (फेफडा) के बँधी हुई नाडियों में १८, दाँतों के मूल में ३२, कण्ठमणि(घाँटी) में १, नासिका में १, नेत्र गत वर्त्म (पलक) मण्डल सम्बन्धी २, कपोल में २, कान में २, शङ्ख (कनपटी) में २, दोनों हनुओं में २, भौंहों के ऊपर २, दोनों शङ्ख के ऊपर २, शिर के कपोलों में ५ और मूर्धा में १ सन्धियाँ हैं। इसप्रकार ग्रीवा से लेकर ऊपर तक ८३ सन्धियाँ होती हैं। ये सब सन्धिया ८ प्रकार की होती हैं इसे आगे के श्लोकों से कहते है ॥ २४०-२४१ ॥

ते यथा—

कोरोदूखलसामुद्राः प्रतरस्तूणसेवनी[2]। काकतुण्डं मण्डलञ्च शङ्खावर्त्तोऽष्टसन्धयः ॥ २४२ ॥

आठ प्रकार की सन्धिया—कोर, उदूखल, सामुद्र, प्रतर, तूणसेवनी, काकतुण्ड, मण्डल और शङ्खावर्त्त, ये ८ प्रकार की सन्धियां होती हैं ॥ २४२ ॥

कोरः = गर्त्तः। नलिकेत्यन्ये। उदूखलः प्रसिद्धः, समुद्गः=सम्पुटः, समुद्ग एव सामुद्गः, अत्र स्वार्थे अण्। [3]प्रतरत्यनेनेति प्रतरो [4]वेलकः। तूणस्येव तूणीरस्य सेवनी स्यूतिस्तूणसेवनी। काकतुण्डं = काकमुखम्। मण्डलं प्रसिद्धम्। शङ्खस्यावर्त्तः शङ्खावर्त्तः। एते यथानामप्रकृतयः सन्धयो भवन्तीत्यर्थः।

एषामङ्गुलिमणिवन्धगुल्फजानुकूर्परेषु कोराः सन्धयः।
कक्षावंक्षणदन्तेषूदूखलाः। अंसपीठगुदभगनितम्बेषु सामुद्गाः।
ग्रीवापृष्ठवंशयोस्तु प्रतराः। शिरःकटीकपालेषु [5]तूणसेवन्यः।
हन्वोरुभयतः काकतुण्डाख्याः। कण्ठहृदयक्लोमनाडीषु मण्डलाख्याः। [6]श्रोत्रशृङ्गाटकेषु शङ्खावर्त्ताः ॥ २४२ ॥

(१) कोर सन्धि को कोई 'गड्ढे' और कोई 'नली' के सदृश बतलाते हैं। (२) उदूखल सन्धि ओखली (धानकूटने का काष्ठपात्र विशेष) के सदृश होती है। (३) सामुद्र सन्धि यहां समुद्ग पद से 'सम्पुट' समझना चाहिये। समुद्ग ही 'सामुद्ग' कहलाता है, यहा पर स्वार्थ में अण् प्रत्यय होने पर आदि पदकी वृद्धि होने से 'सामुद्ग' पद की सिद्धि होती है, यह 'सामुद्ग' सन्धि सम्पुट के आकार की होती है। (४) प्रतर सन्धि—जिससे जल में तैरा जा सके उसे प्रतर अर्थात् वेलन कहते हैं, 'प्रतर' सन्धि वेलन के आकार की होती है। (५) तूणसेवनी सन्धि-तूण अर्थात् बाण रखने के तरकश की भांति सेवनी (सिली हुई) के समान होने से तूणसेवनी सन्धि कहते है। (६) काकतुण्ड सन्धि—कौवें के मुख के समान होने से इसे काकतुण्ड सन्धि कहते हैं। (७) मण्डल सन्धि-लोक प्रसिद्ध मण्डल की भांति आकार होने से इसे मण्डलसन्धि कहते हैं। (८) शङ्खावर्त्त सन्धि-शङ्ख के आवर्त्त-(नाभिचक्र) की भांति आवर्त्त होने से इसे शङ्खावर्त्त सन्धि कहते हैं। इन पूर्वोक्त सन्धियों के नाम आकृति के अनुसार रखे गये हैं। इन सन्धियों के मध्य में कोर नामक सन्धि अङ्गुलि, मणिवन्ध (कलाई), गुल्फ (एडी), जानु (घुटना), कूर्पर (केहुनी), इन स्थानों में होती है। कांख, वङ्क्षण (ऊरुसन्धि) और दाँतों में उदूखलनामक सन्धि होती है। कन्धा, पीठ, गुदा, भग और नितम्ब में सामुद्गनामक सन्धि होती है। गर्दन और मेरुदण्ड में प्रतर नामक सन्धि होती है। शिर, कमर और कपाल में तूणसेवनी नामक सन्धि होती है। दोनों हनुओं के दोनों तरफ काकतुण्ड नामक सन्धि होती है। कण्ठ, हृदय, क्लोम और नाडी में मण्डलनामक सन्धि होती है। कान और शृङ्गाटक में शङ्खावर्त्त नामक सन्धि होती है ॥ २४२ ॥

अस्थ्नां तु सन्धयो ह्येते केवलाः समुदाहृताः। पेशीस्नायुशिराणान्तु सन्धिसंख्या न विद्यते ॥

ऊपर जिन सन्धियों का उल्लेख किया गया है, वे केवल हड्डियों की ही हैं। मासपेशी, स्नायु तथा शिराओं के सन्धियों की सख्या का उल्लेख नही किया गया है क्योंकि वे असङ्ख्य है ॥ २४३ ॥

अथ शिरामाह—

सन्धिबन्धनकारिण्यो दोषधातुवहाः शिराः। नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः॥

---

१. 'मूर्धनी'ति पा०। २. 'तूनसेविनी ति पा०। ३. 'प्रतरन्त्यनेनेति' पा०।
४. 'भेलक' इति पा०। ५. 'तूनसेविन्य' इति पा०। ६ 'शिर' इति पा०।

शिराओं का वर्णन—सन्धियों को बांधनेवाली तथा दोष (वात, पित्त, कफ) और धातु (रस, रक्तादि) को वहन करनेवाली शरीर में जितनी शिरायें हैं वे सभी नाभि में बँधी हुई हैं और वहां ही से निकल कर चारों तरफ शाखा प्रशाखा द्वारा शरीर में फैली हुई हैं ॥ २४४ ॥

शरीरं सकलञ्चैतच्छिराभिः पोष्यते सदा । प्रणालीभिरिवारामाः कुल्याभिः क्षेत्रधान्यवत् ॥

जैसे जल की नाली द्वारा बगीचा आदि का तथा कुल्या (नहर) द्वारा खेत में धानों का पोषण हुआ करता है, उसी भांति शिराओं द्वारा समस्त शरीर का भी पोषण हुआ करता है ॥ २४५ ॥

***अत्र प्रणालीभिः कुल्याभिरिति दृष्टान्तद्वयं स्थूलसूक्ष्मशिराभेदात् ॥ २४५ ॥**

यहां प्रणाली और कुल्या जो दो दृष्टान्त दिये गये हैं वे स्थूल और सूक्ष्म इन दो प्रकार की शिराओं के भेद से हैं ॥ २४५ ॥

प्रसारणाकुञ्चनादिक्रियाभिः सततं तनौ । शिरा एवोपकुर्वन्ति ताः स्युः सप्तशतानि तु ॥२४६॥
यथा द्रुमदले साक्षाद् दृश्यन्ते प्रतताः शिराः। तथैव देहिनो देहे वर्त्तन्ते सकले शिराः॥२४७॥
नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिरुपाश्रिता । शिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥

अवयवों का फैलाना और सिकोड़ना आदि क्रियाओं द्वारा जो शिरायें शरीर का उपकार करती हैं, वे संख्या में ७०० हैं। जिस प्रकार वृक्षों के पत्तों में फैली हुई शिरायें (नसें) प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पडती हैं, उसी प्रकार देहधारी मनुष्यादि के सम्पूर्ण शरीर में भी फैली हुई शिरायें (नसें) रहती हैं। प्राणियों प्राणवाहक शिरासमूह नाभि में स्थित रहता है, और नाभि भी प्राणवाहक शिरासमूहों के आश्रित रहती है। जैसे चक्र की नाभि (पहिये की मध्यका गोलाकार काष्ठ) अरक (काष्ठ के लम्बे २ टुकड़ों) के द्वारा घिरी हुई रहती हैं, वैसे ही शिराओं से नाभि आवृत (लिपटी) हुई रहती है ॥ २४६–२४८ ॥

***ता [1]यथा—तासां खलु मूलशिराश्चत्वारिंशत् । तासां दश वातवहाः, दश पित्तवहाः, दश श्लेष्मवहाः, दश रक्तवहाः, तासां खलु वातवहानां वातस्थानगतानां सपञ्चसप्तति शतं भवति[2] । तावत्य[3] एव पित्तवहाः पित्तस्थानगताः श्लेष्मवहास्ताः श्लेष्मस्थानगताः, रक्तवहा यकृत्प्लीहगताः । एवं शिराः सप्त शतानि भवन्ति। तत्र वातवहा एकस्मिन् सक्थिनि पञ्चविंशतिः, एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ । विशेषतः कोष्ठे चतुस्त्रिंशत्, तासां श्रोण्यां गुदमेढ्रादिसंश्रिता[4] अष्टौ । द्वे द्वे पार्श्वयोः । षट् ६ पृष्ठे । तावत्य एवोदरे ६ । दश वक्षसि १० । एकचत्वारिंशद् ४१ जत्रुणि ऊर्ध्वम् । तासां चतुर्दश १४ ग्रीवायाम् । ४ चतस्रः कर्णयोः । ९ नव जिह्वायाम् । ६ षट् नासिकायाम् । ८ अष्टौ नेत्रयोः ।**

एवं वातवहानां सपञ्चसप्तति शत भवति[5] । एवं विभागः पित्तवहानामपि विशेषस्तु पित्तावहा नेत्रयोर्दश १० । कर्णयोर्द्वे २ । एवं रक्तवहाः । श्लेष्मवहास्तु षोडश १६ ग्रीवायाम्, कर्णयोर्द्वे २ । एवं शिराणां सप्तशतानि व्याख्यातानि ॥ २४६–२४८ ॥

सिराओं के भेद—पूर्वोक्त ७०० शिराओं में से मुख्य शिरायें ४० हैं, उनमें १० वायु को, १० पित्त को, १० कफ को और १० रक्त को वहन करने वाली हैं। उनमें से पूर्वोक्त वायु के स्थान में स्थित वायु को वहन करने वाली जो मूल १० शिरायें हैं, वे ही शाखा प्रशाखा द्वारा १७५ हो जाती हैं। इसी प्रकार पित्त के स्थान में स्थित पित्त को वहन करनेवाली, कफ के स्थान में स्थित कफ को वहन करनेवाली और यकृत् तथा प्लीहा जो रक्त के स्थान हैं उनमें स्थित रक्त को वहन करनेवाली जो मुख्य दस दस शिरायें हैं उनमें से प्रत्येक शाखा प्रशाखा द्वारा वायु की भाँति १७५ हो जाती हैं। उनमें से वायु को वहन करनेवाली शिरायें एक पैर में २५ और दूसरे पैर में भी २५ हैं तथा दोनों बाहुओं में भी २५–२५ मिल कर ५० हैं, ऐसा समझना चाहिये। विशेषतः कोष्ठस्थान में वायु को वहन करने वाली ३४ शिरायें इस तरह से हैं—श्रोणि (कटि), गुदा और लिङ्ग आदि के आश्रित ८, दोनों पसुलियों में २–२ इस प्रकार ४, पीठ में ६, उदर में भी ६ और वक्षःस्थल में १०। जत्रु (ग्रीवा) के मूल भाग के ऊपर ४१ वात को वहन

---

१ 'तद्यथे'ति पा० । २. 'भवन्ती'ति पा० । ३. अत्र सर्वत्र 'तावन्त्य' इति पा० 'तावत्य' इत्यत्र पदे बोध्यम् । ४ 'श्रिते'ति पा० । ५ 'भवन्ती'ति पा० ।

करनेवाली शिरायें इस तरह से हैं—ग्रीवा में १४, दोनों कानों में २-२ करके ४, जिह्वा में ९, नासिका में ६, दोनों नेत्रों में ४-४ करके ८। इस प्रकार वात को वहन करनेवाली मुख्य १० शिरायें शाखा प्रशाखा द्वारा १७५ होती हैं। इसी प्रकार पित्त को वहन करने वाली १७५ शिराओं का भी विभाग होता है, किन्तु विशेष यह है कि पित्त को वहन करनेवाली शिरायें नेत्रों में १० और कानों में २ होती हैं। इस प्रकार अर्थात् ठीक पित्तवहा शिराओं की भांति ही १७५ रक्तवहा शिराओं का भी विभाग समझना चाहिये। कफ वहन करनेवाली १७५ शिराओं का भी विभाग इसी भांति होता है, किन्तु भेद इतना ही है कि ग्रीवा में १६, और कानों में २ ही कफ वहन करनेवाली शिरायें होती हैं। इस प्रकार ७०० शिरायें मुनियों ने कही हैं॥ २४६-२४८॥

क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम्। करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः शिराः पवनश्चरन्॥२४९॥

वायु अपनी शिराओं में विचरण करता हुआ क्रियाओं का अप्रतिघात करता है, अर्थात् शरीर की प्रसारणादि क्रियाओं में कोई बाधा नहीं आने देता और बुद्धिकर्मों का अमोह करता है अर्थात् बुद्धिन्द्रियों को मोह नहीं होने देता, तथा अन्य गुणों को भी करता है॥ २४९॥

***क्रियाणां = प्रसारणाकुञ्चनादीनाम्। अमोहं बुद्धिकर्मणाम् = बुद्धिन्द्रियाणां मनसो बुद्धेश्च स्वे स्वे विषये [1]ज्ञानं करोतीत्यर्थः। अन्यान् गुणान् = रसादिव्यापनद्वारा शरीर-पोषणादीन्॥ २४९॥**

'क्रियाओं का अप्रतीघात करता है' इसका अर्थ यह है कि फैलाना, सिकोडना आदि जितनी शरीर की क्रियायें हैं उन सबों का ठीक २ सम्पादन करता है तथा 'बुद्धिकर्मों का अमोह करता है' अर्थात् बुद्धीन्द्रिय जो आँख, नाक, कान आदि हैं उनको तथा मन और बुद्धि को, अपने २ विषयों में ज्ञान प्रदान करता है। 'अन्य गुणों को करता है' अर्थात् रसादिकों को सर्वत्र व्याप्त करने के द्वारा शरीर का पोषण करता है, ऐसा समझना चाहिये॥ २४९॥

यदा तु कुपितो वायुः स्वाःशिराः प्रतिपद्यते। तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते वातसम्भवाः॥२५०॥

जिस समय वायु कुपित होकर अपनी सिराओं में विचरण करता है उस समय प्राणियों के शरीर में वायु से उत्पन्न होने वाले अनेक रोग उत्पन्न होते हैं॥ २५०॥

भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम्। करोत्यन्यान् गुणांश्चापि पित्तमात्मशिराश्चरद्[2]॥२५१॥

पित्त जब अपनी शिराओं में विचरण करता है तब प्राणियों के शरीर में भ्राजिष्णुता (शरीर में कान्ति होना), अन्न में रुचि, जठराग्नि की दीप्ति, अरोगता (रोग का न होना) तथा अन्य भी गुणों को करता है॥ २५१॥

***अरोगतां=पैत्तिकरोगानुत्पत्तिं करोति। अन्यान् गुणान्=मेधाबुद्धिदर्शनशक्त्यादीन्॥२५१॥**

'अरोगता' से 'पित्तसम्बन्धी रोग का उत्पन्न न होना' तथा 'अन्य भी गुणों को' इससे 'मेधा (धारणशक्ति), बुद्धि और देखने की शक्ति को' यह अर्थ समझना चाहिये॥ २५१॥

यदा तु कुपितं पित्तं सेवते स्ववहाः शिराः। तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते पित्तसम्भवाः॥२५२॥

किन्तु वही पित्त जब कुपित होकर अपनी शिराओं में विचरण करता है तब प्राणियों के शरीर में पित्त से उत्पन्न होनेवाले अनेक रोग उत्पन्न होते हैं॥ २५२॥

स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यं बलमरोगताम्। करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासःस्वाःशिराश्चरन्॥२५३॥

कफ जब अपनी शिराओं में विचरण करता है तब अङ्गों में स्निग्धता अर्थात् अङ्गों का रूक्ष न होना, सन्धियों की स्थिरता, बल, अरोगता आदि अन्य गुणों को भी करता है॥ २५३॥

***अरोगतां = श्लैष्मिकरोगानुत्पत्तिम्। अन्यान् गुणान् = बलपुष्ट्यादीन्॥ २५३॥**

'आरोगता' पद से 'कफ सम्बन्धी रोगों का उत्पन्न न होना' तथा 'अन्य गुणों को' इससे 'बल तथा पुष्टि आदि को' ऐसा अर्थ समझना चाहिये॥ २५३॥

यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्वाःशिराः प्रतिपद्यते। तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसम्भवाः॥

किन्तु वही कफ जब कुपित होकर अपनी शिराओं में विचरण करता है तब प्राणियों के कफ से उत्पन्न होनेवाले अनेक रोग उत्पन्न होते है॥ २५४॥

धातूनां पूरणं[3] वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्। स्वशिरासु चरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि॥२५५॥

---

१. 'अज्ञान ने'ति पा०। २. 'चरन्नि'ति पाठः प्रामादिकः। ३. 'सम्यगि'ति पा०।

रक्त जब अपनी शिराओं में विचरण करता है तब प्राणिओं के सम्पूर्ण धातुओं का पूरण करता है अर्थात् सब धातुओं की मात्रा पूर्ण रूप से बनाये रहता है और वर्ण अर्थात् शरीर के गौरादि वर्ण, जैसा चाहिये वैसा निश्चितरूप से स्पर्श का ज्ञान, तथा अन्य भी गुणों को करता है ॥ २५५ ॥

***अन्यान् गुणान् = बलपुष्ट्यादीन् ॥ २५५ ॥**

'अन्यान् गुणान्' अर्थात् 'बल तथा पुष्टि आदि गुणों को' ऐसा समझना चाहिये ॥ २५५ ॥

यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्ववहाः शिराः। तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसम्भवाः॥२५६॥

किन्तु वही रक्त जब कुपित होकर अपनी शिराओं में विचरण करता है तब प्राणियों के रक्त से उत्पन्न होनेवाले अनेक रोग उत्पन्न होते हैं ॥ २५६ ॥

तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना शिराः।
पित्तादुष्णाश्च[1] नीलाश्च शीता गौर्यः स्थिराः कफात्।
असृग्धरास्तु ता रक्ताः स्युश्च नात्युष्णशीतलाः ॥ २५७ ॥

पूर्वोक्त सिराओं में से वायु को वहन करनेवाली शिरायें जब वायु से भरी रहती हैं तब देखने में अरुण वर्ण की मालूम पड़ती हैं। इसी भांति पित्तवहन करनेवाली शिरायें पित्त से नील वर्ण की तथा गरम और कफ वहन करनेवाली शिरायें कफ से शीतल; स्थिर तथा गौर वर्ण की मालूम पड़ती हैं, और जो रक्त वहन करनेवाली शिरायें हैं वे रक्त से न अत्यन्त गरम और न अत्यन्त शीतल तथा रक्त वर्ण की मालूम पड़ती हैं ॥ २५७ ॥

अथ स्नायुः—

तत्र स्नायोः स्वरूपमाह—

मेदसः स्नेहमादाय शिरा स्नायुत्वमाप्नुयात्। शिराणां हि मृदुः पाकः स्नायूनान्तु ततः खरः ॥
स्नायवो बन्धनानि स्युर्देहमांसास्थिमेदसाम्। सन्धीनामपि यत्तास्तु शिराभ्यः सुदृढाः स्मृताः॥

स्नायु के स्वरूप—जो शिरायें मेद के स्नेह भाग को ग्रहण कर लेती हैं वे ही पक कर स्नायु के रूप को प्राप्त कर लेती हैं, क्योंकि शिरा तथा स्नायु में इतना ही अन्तर है कि शिराओं का पाक मृदु होता है तथा स्नायुओं का पाक उसकी अपेक्षा खर होता है। सम्पूर्ण स्नायु देह में मांस, अस्थि, मेद और सन्धियों के बन्धन हैं अर्थात् इन्हीं से वे सब बँधे हुए हैं अत एव शिराओं की अपेक्षा ये सुदृढ कहे गये हैं ॥ २५८–२५९ ॥

नौर्यथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्बहुभिर्युता। नियुक्ताऽगाधसलिले भवेद्भारसहा भृशम् ॥ २६० ॥

जिस प्रकार फलकों (पटरों) से आस्तीर्ण तथा बहुत से रस्सी आदि से बँधी हुई नौका अगाध जल (समुद्रादिकों) में डाल देने पर अत्यन्त भार सँभालने में समर्थ होती है ॥ २६० ॥

***फलकैः = काष्ठपट्टैः। आस्तीर्णा = व्याप्ता ॥ २६० ॥**

'फलकैः' अर्थात् काठ की पटरियों से, 'आस्तीर्णा' अर्थात् व्याप्त ॥ २६० ॥

एवमेव शरीरेऽस्मिन्यावन्तः सन्धयः स्मृताः। स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः॥२६१॥

उसी प्रकार इस शरीर में जितनी सन्धियाँ हैं वे सब बहुत से स्नायुओं द्वारा बँधी हुई हैं, इसी से मनुष्यादि भार वहन करने में समर्थ होते हैं ॥ २६१ ॥

अथ स्नायुसंख्या आह—

शतानि नव जायन्ते शरीरे स्नायवो नृणाम्। तासां विवरणं ब्रूमः शिष्याः! शृणुत यत्नतः॥२६२॥
शाखासु षट्शतानि स्युः कोष्ठे त्रिंशच्छतद्वयम्। ग्रीवाया[2] ऊर्ध्वदेशे तु स्नायूनां सप्ततिः स्मृता॥

स्नायुओं की संख्या—मनुष्यों के शरीर में जो ९०० स्नायु हैं, उन सबों का विवरण हम कह रहे हैं, हे शिष्यों! तुम लोग यत्नपूर्वक सुनो। चारो शाखाओं में अर्थात् दोनों हाथों और दोनों पैरों में ६००, कोष्ठ में २३०, ग्रीवा से ऊपर भाग में ७० स्नायुयें हैं ॥ २६२–२६३ ॥

तत्र शाखागताः प्राह—

***एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां षट् षट् तास्त्रिंशत्। तावत्य एव तलकूर्चगुल्फेषु। तावत्य एव जङ्घायां, दश जानुनि। चत्वारिंशदूरौ। दश वङ्क्षणे। एवं सार्द्धशतमेकस्मिन् सक्थिनि भवन्ति। एतेनेतरसक्थिबाहु च व्याख्यातौ।**

---

१. 'पित्तदुष्टाश्चे'ति पा०। २. 'मूर्ध्वदेशे' इति पा०।

उनमें से शाखागत स्नायु—प्रत्येक पैर की अङ्गुलियों में ६-६ मिलकर ३०, पैर के तलुये, कूर्च तथा गुल्फ में ३०, जङ्घा में ३०, जानु में १०, उरु में ४० और वङ्क्षण में १०, इस प्रकार से सब मिलकर १५० स्नायु एक पैर में होते हैं। इसी प्रकार दूसरे पैर तथा दोनों बाहुओं में भी स्नायु की संख्या कही हुई है। इस भाँति शाखाओं में ६०० स्नायु होते हैं।

अथ कोष्ठगताः प्राह—

***षष्टिः कट्यां, तावत्य एव पार्श्वयोः, अशीतिः पृष्ठे, त्रिंशदुरसि।**

कोष्ठगत स्नायुओं की संख्या—कमर में ६०, दोनों पसुलियों में ६०, पीठ में ८० और वक्षःस्थल में ३०, इस प्रकार सब २३० स्नायु कोष्ठ में होते हैं।

अथ ग्रीवोर्ध्वगताः प्राह—

***षट्त्रिंशद् ग्रीवायाम्। चतुस्त्रिंशन्मूर्ध्नि। एवं स्नायूनां नवशतानि भवन्ति॥ २६२-२६३॥**

ग्रीवा से ऊपर भाग में स्थित स्नायुओं की संख्या—३६ ग्रीवा (गर्दन) में, और ३४ स्नायु मूर्धा में हैं। इस भाति सब ७० स्नायु ग्रीवा से ऊपरी भाग में होते हैं। इस प्रकार सब मिल कर ९०० स्नायु होते हैं॥ २६२-२६३॥

अथ धमन्यः।

धमन्यो नाभितो जाताश्चतुर्विंशतिसंख्यया। दशोर्ध्वगा दशाधोगाः शेषास्तिर्यग्गताःस्मृताः॥

धमनियों की संख्या—जितनी धमनियाँ हैं वे सब नाभि से उत्पन्न हुई हैं, तथा गिनती में २४ है जिनमें से १० धमनियाँ नाभि से निकल कर ऊपर को गई हैं और १० नीचे को तथा शेष ४ धमनियाँ तिरछी गई हैं॥ २६४॥

*** तत्रोर्ध्वगाः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुतहसितकथितरुदितगी[1]तादिविशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति।**

प्रश्वासः = अन्तःप्रविशन्[2] वायुः। उच्छ्वासः = ऊर्ध्वं गच्छन् वायुः।

तास्तु हृदयं गतास्त्रिधा जायन्ते। तास्त्रिंशत्। तासां मध्ये द्वे द्वे वातपित्तकफशोणितरसान् वहतः। ता दश। अष्टभिः शब्दरसरूपगन्धान् गृह्णाति पुरुषः। द्वाभ्यां भाषते। द्वाभ्यां घोषते। द्वाभ्यां स्वपिति। द्वाभ्यां जागर्ति। द्वे अश्रुवाहिन्यौ। द्वे स्तन्यं स्त्रियावहतः, [स्तनसंश्रिते[3]] त एव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यामभिवहतः। एतास्त्रिंशत् (सविभागा[4] व्याख्याताः) एताभि(रूर्ध्वं नाभे[5])रुदरपार्श्वपृष्ठोरःस्कन्धग्रीवा[6] बाहवो धार्यन्ते चाल्यन्ते च।

उनमें से जो धमनियाँ ऊपर गई हुई हैं वे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रश्वास, उच्छ्वास, जम्भाई, छींक, हँसी, बोलना, रोना और गीत आदि विशेष कर्मों को वहन करती हुई अर्थात् कार्यों का सम्पादन करती हुई शरीर को धारण करती हैं (यहाँ पर 'प्रश्वास' पद से 'उदर में प्रवेश करता हुआ वायु' और 'उच्छ्वास' पद से 'ऊपर अर्थात् उदर से बाहर निकलता हुआ वायु' यह अर्थ समझना चाहिये)। पूर्वोक्त ऊपर जाने वाली वे ही १० धमनियाँ नाभि से हृदय में पहुँच कर प्रत्येक तीन २ हो जाती हैं, इस प्रकार वे ३० होती हैं। उनमें से २-२ वायु, पित्त, कफ, रक्त और रस को वहन करती हैं, इस प्रकार वे १० हैं और ८ धमनियों से मनुष्य शब्द, रस, रूप और गन्ध को ग्रहण करता है अर्थात् दो से शब्द, दो से रस इत्यादि क्रम से ग्रहण करता है। तथा दो धमनियों से वात करता है, दो से शब्द करता है, दो से सोता है, दो से जागता है, दो धमनियाँ आँसू वहन करनेवाली हैं और दो धमनियाँ स्त्रियों के स्तनों में रह कर दूध को वहन करती हैं और वे ही दोनों धमनियाँ पुरुषों के दोनों स्तनों में रह कर वहाँ ही से शुक्र को वहन करती हैं। इस प्रकार ये ३० धमनियाँ विभाग के साथ अर्थात् अलग २ कही गईं। ऊपर को जाने वाली इन्हीं तीस धमनियों द्वारा नाभि से ऊपर के भाग में स्थित उदर, पंसुली, पीठ, वक्षःस्थल, कन्धा, ग्रीवा और बाहु धारण किया जाता है और हिलाया डुलाया जाता है।

---

१. 'कम्पिते'ति पा०। २. 'प्रविष्ट' इति पा०। ३. ४. ५. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः। ६. 'ग्रीवाशिर' इति पा०।

([1]अधोगताः प्रा०—)

अधोगतास्तु वातमूत्रपुरीषशुक्रार्त्तवादीनधो वहन्ति । तास्तु पित्ताशयं गतास्त्रिधा जायन्ते । तास्त्रिंशत् । तासां मध्ये द्वे द्वे वातपित्तकफशोणितरसान् वहतः । ता दश । द्वे अन्नवहे[2] अन्त्राश्रिते । द्वे तोयवहे । द्वे बस्तिगते मूत्रवहे । द्वे शुक्रस्य प्रादुर्भावाय । द्वे तद्विसर्गाय, त एव नारीणामार्त्तवप्रादुर्भावयतो विसृजतश्च[3] । द्वे स्थूलान्त्रप्रतिबद्धे पुरीषं विसृजतः । अष्टावन्यास्तिर्यग्गता स्वेदमर्पयन्ति । एतास्त्रिंशत् । एताभिरधो नाभेः पक्वाशयकटीमूत्रपुरीषबस्तिगुदमेढ्रसक्थीनि धार्यन्ते चाल्यन्ते च ।

नाभि से नीचे की ओर गई हुई धमनियाँ—नीचे की ओर गई हुई धमनियाँ अधो वायु, मूत्र, पुरीष, शुक्र और आर्त्तव (रज) आदि को नीचे की ओर ले जाती हैं । और ये ही पित्ताशय में जाकर प्रत्येक तीन २ हो जाती हैं । इस प्रकार ये सब १० से ३० धमनियां हो जाती हैं । उनमें से दो–दो वात, पित्त, कफ, रक्त और रस का वहन करती हैं, ये १० हैं और बाकी २० धमनियों में से दो धमनिया अतडियों के आश्रय रह कर अन्न को वहन करती हैं, दो धमनियां बस्ति (मूत्राशय) में स्थित होकर मूत्र वहन करती हैं । दो धमनिया शुक्र को उत्पन्न करने के लिये और दो शुक्र को त्याग करने के लिये होती हैं, और ये ही दो-दो धमनियाँ स्त्रियों के रज को उत्पन्न करती तथा निकालती हैं और दो धमनियां मोटी अँतडियों में बँधी हुई पुरीष का त्याग करती हैं, और बाकी ८ धमनियाँ तिरछी जाकर स्वेद (पसीना) उत्पन्न करती हैं, इस प्रकार ये ३० नाभि के अधोभाग की ओर गई हुई धमनियाँ होती हैं । ये ही सब धमनियां नाभिके नीचे भाग में स्थित पक्वाशय, कटि, मूत्र, पुरीष, गुदा, लिङ्ग और पैर को धारण करती और हिलाती डुलाती हैं ।

(तिर्यग्गताः [4]प्रा०—)

तिर्यग्गतानां तु चतसृणामेकैका शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यते । तास्तु असंख्येयास्ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितम्, निवद्धमायतम्, गवाक्षवद् निवद्धमायतम । गवाक्षो= वातायनम्, यथा गवाक्षे बहूनि छिद्राणि भवन्ति तथाऽस्मिन् देहे जालवद् शिरा व्याप्य तिष्ठन्तीति भावः । निवद्धमायतं गवाक्षितम् । [5]गवाक्षाकाररन्ध्रनिकरयुक्त कृतमित्यर्थः । तासां मुखानि रोमलग्नानि यैर्मुखैः स्वेदः स्रवति रसश्चाभिसन्तर्पयन्ति अन्तर्बहिश्च । तैरेवाभ्यङ्गपरिषेकावगाहनालेपनवीर्याणि त्वचि पक्वानि अन्तः प्रवेशयन्ति । तैरेव स्पर्शं शुभमशुभं वा गृह्णन्ति ॥ २६४ ॥

तिर्यग्गत धमनियाँ—तिर्यग्गत ४ धमनियों में हर एक में से उत्तरोत्तर विभक्त हो कर सैंकडों, हजारों धनियाँ हो जाती हैं, अतः उनकी सख्या नहीं हो सकती । उन्हीं असख्य धमनियों से मनुष्यादि का यह शरीर गवाक्ष (हवा आने की जालीदार खिडकी) की भाँति सर्वत्र निवद्ध अर्थात् भर रहा है । यहा पर मूल में 'गवाक्षितं निवद्धमायतञ्च' यह जो लिखा है उसका अर्थ यह है कि 'गवाक्ष की भाँति वहुत दूर में अर्थात् सर्वत्र निवद्ध (भर रहा) है ।' इसका भाव यह है कि 'गवाक्ष' (हवा के आने जाने की खिडकी) में जैसे वहुत से छिद्र होते है, उसी भाँति इस शरीर में भी जाल की भाँति शिरायें सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित हैं अर्थात् जालीदार खिडकी की भाँति छिद्र समूहों से युक्त हो रहा है । उन्ही असख्य शिराओं के मुख प्रत्येक रोमों के साथ लगे हुए है अत एव जो स्वेद (पसीना) निकलता है वह उन्ही असंख्य शिराओं के मुख से ही निकलता है तथा उन्हीं के द्वारा देहस्थित रस भीतर वाहर सर्वत्र पहुंच कर सन्तर्पण करता (सींचता) रहता है और उन्हीं के द्वारा अभ्यङ्ग (तैलादि की मालिश करना), परिषेक (शीतल जलादिकों से सेवन करना), अवगाहन (स्नान करना) और आलेपन (चन्दनादि का लेप करना) इन सबों के वीर्य (प्रभाव) त्वचा में जब परिपक्व हो जाते हैं तव शरीर के भीतर प्रवेश करते है और उन्ही के द्वारा पुरुष शुभ (भला) अथवा अशुभ (बुरा) स्पर्श का ज्ञान प्राप्त करता है ॥ २६४ ॥

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च । धमनीनां तथा खानि रसो यैरभितश्चरेत् ॥२६५॥

---

१. कोष्ठस्थः पाठः क्काचित्कः । २. 'अन्तर्वहे' इति पा० । ३. 'प्रादुर्भावाय ते अधिसृजतश्चे'ति पा० । ४ कोष्ठस्थः पाठः क्काचित्कः । ५ 'गवाक्षाकारान्त्रे'ति पा० ।

जिस प्रकार से कमल के नाल तथा कन्दों में स्वभावतः बहुत से छिद्र होते हैं उसी प्रकार पूर्वोक्त धमनियों में भी छिद्र होते हैं। जिनसे कि रस चारों तरफ सञ्चार करता रहता है ॥ २६५ ॥

पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वः पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति।
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले ॥ २६६ ॥

पञ्चभूतात्मक धमनियाँ पाँच इन्द्रियों से विशिष्ट जीवात्मा को श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियों के अधिष्ठानों में संयोजित करती हैं अर्थात् क्रमानुसार प्रत्येक इन्द्रियों के अधिष्ठान में सयोजित करती हैं न कि एक ही समय में जीवात्मा को पाँचों इन्द्रियों के अधिष्ठानों में सयोजित करती हैं। एवं श्रोत्रादि पाँच बुद्धीन्द्रियों और इनसे उपलक्षित हस्तादि पांच कर्मेन्द्रियों को तथा ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धीन्द्रिय संज्ञक मन को भी पृथिव्यादि सम्बन्धी पाँच बुद्धीन्द्रियों के गन्धादि विषयों में और उनमें उपलक्षित हस्तादि पाँच कर्मेन्द्रियों के विषयों में तथा मन के विषय मन्तव्य अर्थात् सभी इन्द्रियों के विषयों के ज्ञान करने में संयोजित करती हैं, तथा प्राणविनाश होने के समय सभी धमनियाँ पञ्चत्व अर्थात् आकाशादि पञ्च महाभूतों के भाव को प्राप्त हो जाती हैं। इसका भाव यह है कि—धमनियों की ही सहायता से जीवात्मा क्रम से श्रोत्रादि प्रत्येक इन्द्रियों के अधिष्ठानों का आश्रय लेता है तथा उसके आश्रय लेने के बाद वे ही इन्द्रियाँ अपने २ विषयों में सयोजित होती हैं यह प्रकृतावस्था की दशा है, विकृतावस्था में अपने २ महाभूतों के रूप में मिल जाती हैं ॥ २६६ ॥

॥अस्यायमर्थः—धमन्यः कथम्भूताः पञ्चाभिभूताः, पञ्चभ्य आकाशादिमहाभूतेभ्यः, अभिसमन्ताद् भूताः। पञ्चेन्द्रियम् = पञ्च इन्द्रियाणि उभयात्मकं मनश्च यस्य तं पञ्चेन्द्रियं जीवात्मानम्। पञ्चसु = इन्द्रियाधिष्ठानेषु श्रोत्रादिषु। पञ्चकृत्वः = पञ्चवारान्, पर्यायेण न तु एकदैव, भावयन्ति = प्रापयन्ति। पञ्चेन्द्रियं = पञ्चानामिन्द्रियाणां समाहारः पञ्चेन्द्रियं श्रोत्रादि तदुपलक्षितं कर्मेन्द्रियं मनश्च। पञ्चसु = पृथिव्यादिषु बुद्धीन्द्रियविषयेषु तदुपलक्षितेषु हस्तादिषु कर्मेन्द्रियविषयेषु मन्तव्ये मनोविषये च। भावयित्वा = प्राप्य, संयोज्येति यावत्। विनाशकाले पञ्चत्वमाकाशादिभावमायान्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ २६६ ॥

उपर्युक्त श्लोक स्थित पदों की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि—धमनियाँ कैसी हैं कि–'पञ्चाभिभूताः' अर्थात् आकाशादि पञ्चमहाभूतों से अभिभूत (सर्वतोभाव से उत्पन्न) हैं। 'पञ्चेन्द्रियम्' अर्थात् पाँच श्रोत्रादि इन्द्रियाँ तथा उभयात्मक (बुद्धीन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय स्वरूप) मन जिसकी इन्द्रियाँ हैं ऐसे जीवात्मा को। 'पञ्चसु' अर्थात् श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियों के अधिष्ठानों में। 'पञ्चकृत्वः' अर्थात् पाँच वार पर्याय से (क्रम से) न कि एक समय में ही। 'भावयन्ति' अर्थात् प्राप्त (सयोजित) करती हैं। 'पञ्चेन्द्रियम्' अर्थात् पाँचों इन्द्रियों के समूह जो श्रोत्रादि बुद्धीन्द्रियाँ तथा उनसे उपलक्षित हस्तादि कर्मेन्द्रियाँ एवं मन हैं उन सबों को। 'पञ्चसु' अर्थात् पृथिव्यादि सम्बन्धी जो बुद्धीन्द्रियों के गन्धादि विषय हैं तथा उनसे उपलक्षित हस्तादि कर्मेन्द्रियों के भी जो ग्राह्यादि (सृष्टिप्रकरणोक्त) विषय हैं, एवं मन के भी जो मन्तव्य अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियों के विषयों का ज्ञानरूप विषय हैं उन सबों में 'भावयित्वा' अर्थात् प्राप्त (सयोजित) कर के। विनाश का काल उपस्थित होने पर 'पचत्वम्' अर्थात् आकाशादि ५ महाभूतों के भाव को प्राप्त करती हैं—पञ्च महाभूतों के रूप में मिल जाती है ॥ २६६ ॥

अथ कण्डराः—

महत्यः स्नायवः प्रोक्ताः कण्डरास्तास्तु षोडश। प्रसारणाकुञ्चनयोर्दृष्टं तासां प्रयोजनम् ॥ २६७ ॥

चतस्रो हस्तयोस्तासां तावत्यः[1] पादयोः स्मृताः।
ग्रीवायामपि तावत्यस्तावत्यः[2] पृष्ठसङ्गताः ॥ २६८ ॥

कण्डराओं के स्वरूप और स्थान—बडी २ स्नायुओं को 'कण्डरा' कहते हैं, वे १६ हैं। कण्डराओं के द्वारा शरीर के अवयवों का फैलाना और सिकोडना क्रिया सम्पन्न होती है। उन १६ कण्डराओं में से ४ कण्डरायें दोनों हाथों में, ४ दोनों पैरों में, ४ गर्दन में और ४ ही पीठ में होती हैं ॥

॥तत्र पादहस्तगतानां कण्डराणां नखाः प्ररोहाः। ग्रीवानिबन्धनानामधोभागगतानां प्ररोहो मेढ्रः। पृष्ठनिबन्धनानां प्ररोहा [3]नितम्बमूर्धोरुवक्षोऽक्षिस्तनपिण्डाः ॥ २६८ ॥

---

१. 'तावन्त्य' इति पा०। २. 'तावन्त्यस्तावन्त्य' इति पा०। ३ 'मूर्ध्वा' रिति पा०।

उनमें से जो हाथों और पैरों में रहनेवाली कण्डरायें हैं उनके प्ररोह (अङ्कुर) भाग नख हैं। गर्दन में बँधी हुई और नीचे की ओर गई हुई कण्डराओं का प्ररोह (अङ्कुर) भाग मेढ्र (लिङ्ग) हैं। और पीठ में बँधी हुई कण्डराओं के प्ररोह (अङ्कुर) भाग नितम्ब, मस्तक, ऊरू, वक्षःस्थल, नेत्र, और स्तनपिण्ड हैं॥ २६७-२६८॥

अथ रन्ध्राणि—

नेत्रश्रवणनासानां द्वे द्वे रन्ध्रे प्रकीर्त्तिते। मुखमेहनपायूनामेकैकं रन्ध्रमुच्यते॥ २६९॥
दशमं मस्तके प्रोक्तं रन्ध्राणीति नृणां विदुः। स्त्रीणामन्यानि च त्रीणि स्तनयोर्गर्भवर्त्मनि॥२७०॥

रन्ध्रों की सख्या और स्थान—नेत्र, कान, नाक में दो-दो, मुख, लिङ्ग तथा गुदा में एक-एक और मस्तक में एक छिद्र होता है। इस प्रकार पुरुषों के शरीर में १० छिद्र होते हैं। स्त्रियों के शरीर में दोनों स्तनों में दो और गर्भाशय में एक इस प्रकार ३ छिद्र अधिक होते हैं॥२६९-२७०॥

अथ स्रोतांसि—

मनःप्राणान्नपानीयदोषधातूपधातवः। धातूनां च मला मूत्रं मलमित्यादयस्तनौ॥ २७१॥
सञ्चरन्ति हि यैर्मार्गैस्तानि स्रोतांसि सञ्जगुः। बहूनि तानि सख्याय शक्यन्ते नैव भाषितुम्॥

स्रोतों के लक्षण—जिन मार्गों से मन, प्राण, अन्न, जल, दोष, धातु, उपधातु, धातुओं के मल, मूत्र और विष्ठा आदि पदार्थ शरीर में सञ्चार करते हैं उन्हीं मार्गों को स्रोत कहते हैं। वे इतने अधिक हैं कि गिन नहीं सकते अर्थात् असख्य हैं॥ २७१-२७२॥

अथ जालानि—

जालानि तु शिरास्नायुमांसास्थ्नामुद्भवन्ति हि। तानि चत्वारि चत्वारि सर्वाण्येव च षोडश॥

जालों के लक्षण और सख्या—शिरा (नसें), स्नायु, मास और हड्डी इनका जाल होता है अर्थात् इन्ही से जालों की उत्पत्ति होती है। वे जाल प्रत्येक शिरा आदि में चार २ हैं अत एव सब मिल कर सोलह हैं॥ २७३॥

***निरन्तररन्ध्रनि[1] करकलितानि समूहितानि च जालानीव जालानि। तानि मणिबन्धगुल्फसंश्रितानि[2] परस्परनिबद्धानि परस्परसंश्लिष्टानि परस्परगवाक्षितानि चेति, यैर्गवाक्षितमिदं शरीरम्।**

निरन्तर (सघन) छिद्रसमूहों से बने हुये समूह युक्त जाल की भांति होने से ये जाल कहलाते हैं। ये मणिबन्ध (कलाई) और गुल्फ (पादग्रन्थि) में स्थित परस्पर बँधे हुये तथा परस्पर मिले हुये हैं अत एव गवाक्ष (जालीदार खिडकी) की भाँति छिद्रयुक्त होते हैं। जिन (जालों) से यह शरीर गवाक्षित (जालीदार खिडकी की भाति) होता है॥

***अयमर्थः—एकस्मिन् मणिबन्धे एकं जालं शिरायाः, अपरं स्नायोः, तृतीयं मांसस्य, चतुर्थमस्थ्नः, एवं चत्वारि जालानि। एतेनेतरमणिबन्धो गुल्फौ च व्याख्यातौ। गवाक्षितं विरचितनिरन्तरजालाकाररन्ध्रनिकरपरिकलितमित्यर्थः॥ २७३॥**

स्पष्ट अभिप्राय यह है कि—एक मणिबन्ध में एक जाल शिराओं का, दूसरा स्नायुओं का, तीसरा मास का, चौथा हड्डियों का, इस प्रकार चार जाल हैं। इसी प्रकार दूसरे मणिबन्ध तथा दोनों गुल्फों (पैर की एडी) में चार २ जाल कहे हुये हैं। तथा इन जालों से यह शरीर गवाक्षित अर्थात्—सघन बुने हुये जाल के आकार की भाँति छिद्रसमूहों से व्याप्त रहता है॥ २७३॥

अथ कूर्चाः—

कूर्चाः स्युर्हस्तयोर्द्वौ तु तावन्तौ पादयोरपि। ग्रीवायामेक एकस्तु मेढ्रे सर्वेऽपि षट् स्मृताः।
कूर्चा अपि शिरास्नायुमांसास्थिप्रभवाः[3] स्मृताः॥ २७४॥

कूर्चों के लक्षण और सख्या—दोनों हाथों में दो, दोनों पैरों में दो, ग्रीवा में एक और मेढ्र में एक, इस प्रकार सब मिलकर छै कूर्च हैं, कूर्च शिरा, स्नायु, मास तथा अस्थियों से ही बने होते हैं। कूर्च (कूँचा) के समान आकृति होने से ये कूर्च कहलाते हैं॥ २७४॥

---

१. 'रन्ध्राणि करे' ति पा०।　　२. 'सस्रुते'ति पाठान्तर सार्वत्रिक सुश्रुतासम्मतम्।
३. 'प्रभव' इति पा०।

अथ रज्ज्वः—

पृष्ठवंशस्योभयत्र महत्यो मांसरज्जवः । चतस्रो मांसपेशीनां बन्धनं तत्प्रयोजनम् ॥ २७५ ॥

रज्जुओं के लक्षण और सख्या—पृष्ठवंश (मेरुदण्ड) के दोनों तरफ बडी २ चार मांस की रज्जु (डोरियां) हैं, उनमें से दो बाहर की तथा दो भीतर की हैं । इनका प्रयोजन केवल यह है कि मांसपेशियों को ऊपर नीचे से अस्थियों में बाँध कर रखें जिससे बिखर न जायँ ॥ २७५ ॥

अथ सेवन्यः—

सेवन्यः सप्त तासां तु भवेयुः पञ्च मस्तके । एका शेफसि जिह्वायामेका विध्येन्न ताः क्वचित् ॥

सेवनियों के लक्षण और संख्या—शरीर में सेवनी सात होती हैं, उनमें पाँच मस्तक में, एक लिङ्ग में, तथा एक जीभ में होती है । सेवनियों का कभी शस्त्रादि से वेध नहीं करना चाहिये । सिले हुए की भांति जो स्थान होता है उसीको सेवनी समझना चाहिये ॥ २७६ ॥

अथ सङ्घाताः—

चतुर्दशास्थ्नां सङ्घातास्तेषां त्रयो गुल्फजानुवंक्षणेषु ।
एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ त्रिकशिरसोरेकैकम्[1] ॥ २७७ ॥

सङ्घातों की सख्या—हड्डियों के सङ्घात (एक जगह रहना) शरीर में १४ हैं । उनमें से तीन सङ्घात गुल्फ (एडी), जानु और वङ्क्षण (ऊरुसन्धि) में हैं, इसी तरह दूसरे पैर के भी गुल्फ, जानु तथा वङ्क्षण में तीन सङ्घात है । तथा दोनों बाहुओं में भी तीन-तीन सङ्घात है अर्थात् दोनों बाहुओं के मणिबन्ध, कूर्पर (केहुनी) तथा वंक्षण (बगल) में भी तीन तीन कुल छै सङ्घात हैं और त्रिकस्थान में एक तथा शिर में भी एक सङ्घात है ॥ २७७ ॥

⊛ अत्र तु त्रिकपदेन बाहुग्रीवास्थिसङ्घात उच्यते ॥ २७७ ॥

'त्रिक' पद से ग्रीवा और दोनों बाहुओं के मध्यमें स्थित अस्थिसङ्घात को समझना चाहिये ॥

अथ सीमन्ताः—

चतुर्दशैव सीमन्ताः कथिता मुनिपुङ्गवैः । सङ्घाताः सीविता यैस्तु सीमन्तास्ते प्रकीर्त्तिताः ॥

सीमन्तों के लक्षण और सख्या—मुनिश्रेष्ठों ने शरीर में चौदह सीमन्त कहे हैं । जिनसे अस्थियों के सङ्घात परस्पर जोडे जाते हैं, वे सीमन्त कहलाते हैं ॥ २७८ ॥

⊛ यैः—अस्थिभिः ॥ २७८ ॥

'जिन से' अर्थात् जिन हड्डियों से ॥ २७८ ॥

अथ त्वचः—

क्षीरस्य पच्यमानस्य यथा सन्तानिका भवेत् । पच्यमानस्य शुक्रस्य रजसश्च तथा त्वचः ॥
पूर्वावभासिनी तासां सिध्मस्थानं च सा स्मृता ॥ २७९ ॥

त्वचाओं के लक्षण और सख्या—जिस प्रकार अग्नि पर दूध के पकाये जाने पर उसके ऊपर सन्तानिका (मलाई) पड जाती है, उसी भांति धातुस्थित अग्नि से पकते हुए शुक्र तथा रज से भी जो उत्पन्न होता है वही त्वचा कहलाता है और एक के ऊपर दूसरी इस प्रकार से सब मिलकर सात प्रकार की त्वचायें हैं उनमें से सबसे पहली अवभासिनी नाम की त्वचा है, जो सिध्मनामक कोढ़ विशेष के उत्पन्न होने का स्थान है ॥ २७९ ॥

⊛ अथावभासिनी—भ्राजकेन पित्तेनावभासनात् । परिणाहेन विस्तारितस्य व्रीहे([2]विंशतिभागेष्व)ष्टादशो भागः प्रमाणं यस्याः । व्रीहिरत्र यवः, सा सिध्मपद्मकण्टकयोरधिष्ठानम् ॥

त्वचा का जो 'अवभासिनी' नाम है वह भ्राजक नामक पित्त से अवभासित (दीप्त) होने से ही है । परिणाह अर्थात् चौडाई में फैलाये हुये व्रीहि का (जव की चौडाई का) बीस भाग करने पर उनमें से केवल १८ भागों को मिला कर जितनी चौडाई होती है उतने प्रमाण इस त्वचा की मुटाई होती है । यहाँ पर 'व्रीहि' इस पद से जव नामक अन्न का ग्रहण करना चाहिये । यह केवल 'सिध्म' उत्पन्न होने का स्थान नही है, बल्कि 'सिध्म' और 'पद्मकण्टक' दोनों ही का उत्पत्तिस्थान है ॥

द्वितीया लोहिता ज्ञेया तिलकालकजन्मभूः ॥ २८० ॥

---

१. 'रेकैक' इति पा० । २. कोष्ठस्थः पाठः क्वाचित्कः ।

दूसरी त्वचा का नाम 'लोहिता' है यह 'तिलकालक' का उत्पत्तिस्थान है ॥ २८० ॥

ॐ द्वितीया यवषोडशभागप्रमाणा तिलकालकन्यच्छव्यङ्गानामधिष्ठानम् ॥ २८० ॥

दूसरी त्वचा की मुटाई जौ की चौडाई के २० भागों में से १६ भागों के वरावर होती है। यह केवल तिलकालक का ही नही किन्तु न्यच्छ और व्यङ्ग (झाईं) रोगों का भी उत्पत्तिस्थान है॥

तृतीया तु भवेच्छ्वेता स्थानं चर्मदलस्य सा ॥ २८१ ॥

तीसरी त्वचा श्वेता नाम की होनी है जो चर्मदल नामक रोग का उत्पत्तिस्थान है ॥ २८१ ॥

ॐ सा यवद्वादशभागप्रमाणा चर्मदलाजगल्लिकामशकानामधिष्ठानम् ॥ २८१ ॥

तीसरी त्वचा की मुटाई जव की चौडाई के २० भागों में से १२ भागों के बरावर होती है और वह केवल चर्मदल का ही नही, किन्तु अजगल्लिका और मस्सा का भी उत्पत्तिस्थान है ॥ २८१ ॥

ताम्रा चतुर्थी विज्ञेया किलासश्वित्रभूमिका ॥ २८२ ॥

चौथी त्वचा का नाम ताम्रा है, वह किलास तथा श्वित्र नामक कोढ का उत्पत्तिस्थान है ॥२८२॥

ॐ चतुर्थी यवाष्टभागप्रमाणा ॥ २८२ ॥

चौथी त्वचा की मुटाई जव की चौडाई के बीस भागों में से ८ भागों के वरावर होती है ॥२८२॥

(पञ्चमी[1] वेदिनी नाम्ना पञ्चभागप्रमाणिका। विसर्पकुष्ठाधिष्ठाना ज्ञेया षष्ठी तु रोहिणी ॥ विख्याता रोहिणी षष्ठी ग्रन्थिगण्डापचीस्थितिः ॥ २८३ ॥)

पाचवी त्वचा वेदिनी नाम की होती है। इसकी मुटाई जौ की चौडाई के २० भागों में से ५ भागों के वरावर होती है। यह विसर्प तथा कुष्ठों का उत्पत्तिस्थान है। छठी त्वचा रोहिणी नाम से प्रसिद्ध है, यह गाँठ, अपची और गलगण्ड रोग का उत्पत्तिस्थान है ॥ २८३ ॥

ॐ [2]व्रीहिमात्रप्रमाणा सा रोहिणी ग्रन्थ्यपचीगलगण्ड ([3]गण्ड) मालाऽर्बुदश्लीपदानामधिष्ठानम् ॥ २८३ ॥

'रोहिणी' नाम की जो छठीं त्वचा है, उसकी मुटाई एक जौ की चौडाई के वरावर है। वह केवल गाँठ, अपची और गलगण्ड का ही नहीं किन्तु गण्डमाला, अर्बुद और श्लीपद रोग का भी उत्पत्तिस्थान है ॥ २८३ ॥

स्थूला त्वक्सप्तमी ख्याता विद्रध्यादेः स्थितिश्च सा ॥ २८४ ॥

सातवीं त्वचा स्थूला नाम से प्रसिद्ध है और वह विद्रधि आदि रोगों का उत्पत्तिस्थान है ॥२८४॥

ॐ सा सप्तमी व्रीहिद्वयप्रमाणा ॥ अत[4] एवोक्तं शार्ङ्गधरेण—स्थूला व्रीहिद्विमात्रयेति। सप्तापि त्वचः समुदिता विंशतितमभागोनषड्यवप्रमाणाः। षड्यवप्रमाणं तु अङ्गुष्ठोदरतुल्यम्। यत उक्तम्—'एतत् प्रमाणं मांसलेषु स्थलेषु बोद्धव्यम्, न तु ललाटसूक्ष्माङ्गुल्यादिषु उदरे [5]त्वङ्गुष्ठप्रमाणमेव गाढं विध्येदि'ति ॥ २८४ ॥

सातवीं स्थूला नामक त्वचा की मुटाई दो जौ की चौडाई की भाँति होती है। क्योंकि 'शार्ङ्गधर' ने भी कहा है कि—'स्थूला नामक त्वचा की मुटाई दो जव के वरावर है' और इन सातों त्वचाओं की मुटाई सव मिलकर एक जौ के बीस भागों में से वीसवा भाग (अर्थात् एक भाग) कम ६ जौ के चौडाई के भाति है। ६ जौ की चौडाई तो हाथ के अगूठे के उदर भाग की चौडाई के वरावर होती है। किन्तु यह प्रमाण (चौडाई) मासल (मास से भरे हुए) स्थूल भागों में ही जानना चाहिये, न कि ललाट, तथा पतली अगुली आदि भागों में। क्योंकि कहा भी है कि 'पेट में यदि शस्त्र से वेध (छेदन) करना हो तो अगूठे के उदर की चौडाई के वरावर गहरा छेदन करना चाहिये॥

अथ लोमानि लोमकूपाश्च।

अस्थ्नो मलानि लोमानि चासंख्यानि भवन्ति हि। सन्ति यावन्ति लोमानि तावन्तो लोमकूपकाः॥

रोम तथा रोमकूप—रोम हड्डियों के मल से उत्पन्न होते हैं और वे असङ्ख्य हैं। तथा शरीर में जितने रोम हैं उतने ही रोमकूप (छिद्र) भी हैं ॥ २८५ ॥

---

१. एतच्छ्लोकपाठस्थाने क्वचित् 'पञ्चमी वेदिनी नाम्ना सर्वकुष्ठोद्भवा तु सा। विख्याता रोहिणी षष्ठी ग्रन्थिगण्डापचीस्थिति.' इति पाठो लभ्यते। २. 'सा पञ्चमी वेदिनी यवपञ्चभागप्रमाणिका। सा षष्ठी रोहिणी व्रीहिप्रमाणे'ति पाठान्तरम्। ३. क्वचिन्नाप्युपलभ्यते कोष्ठस्थः पाठः। ४ 'तत' इति पाठान्तरम्। ५. 'उदरेष्वङ्गुष्ठप्रमाणमेव गाढं विध्येदि'ति पा०।

अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते । सन्निवेशश्च गात्राणां नात्रास्ते कारणान्तरम् ॥२८६॥

अङ्ग और प्रत्यङ्गों की उत्पत्ति तथा इन सबों का भिन्न २ प्रकार की बनावट स्वभाव से ही होती है । इसमें दूसरा कारण कोई नहीं है ॥ २८६ ॥

***निर्वृत्तिः = सिद्धिः । स्वभावात् = ईश्वरात् । सन्निवेशो = रचनाविशेषः ॥ २८६ ॥**

'निर्वृत्ति' पद से सिद्धि अर्थात् उत्पत्ति और 'स्वभाव' पद से 'ईश्वर की इच्छा' तथा 'सन्निवेश' पद से 'रचना विशेष' अर्थात् 'बनावट' समझना चाहिये ॥ २८६ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तौ ये भवन्त्यगुणा गुणाः । ते ते गर्भस्य विज्ञेया धर्माधर्मनिमित्तजाः ॥२८७॥

दन्तानां पतनं जन्म पुनः पाते त्वसम्भवः । तलेष्वनुद्भवो लोम्नामेतत्सर्वं स्वभावतः ॥ २८८ ॥

गर्भ के अङ्ग तथा उपाङ्गों के बनने में जो गुण अथवा अवगुण (दोष) हो जाते हैं वे उसी गर्भस्थ जीव के धर्म तथा अधर्म के निमित्त से ही होते हैं । बाल्यावस्था में दाँतों का गिरना तथा उसके बाद पुन. जमना और दुबारा जमे हुये दाँतों के गिरने पर पुनर्वार न जमना, एवं हथेली तथा तलुए में रोमों का न होना, ये सब स्वभाव (ईश्वरेच्छा) से होते हैं, इनमें कोई दूसरा कारण नही है ॥ २८७–२८८ ॥

गर्भे मासि मासि यद्भवति तदाह—

गर्भाशये निपतितं यादृक्शुक्रं तथाऽऽर्तवम् । तादृगेव द्रवीभूतं प्रथमे मासि तिष्ठति ॥ २८९ ॥

प्रत्येक मास में गर्भ की अवस्था—गर्भाशय में जैसी अवस्था में शुक्र तथा रज गिरता है पहले महीने में वह वैसी (द्रवरूप में) ही रहता है ॥ २८९ ॥

मरुत्पित्तकफैस्तत्स्थैः पच्यमानो[1] द्वितीयके । [2]कललस्थमहाभूतसमुदायो घनीभवेत् ॥ २९० ॥

दूसरे मास में गर्भाशय में स्थित वायु, पित्त और कफ की ऊष्मा से पकता हुआ कलल में स्थित पृथिव्यादि पञ्चमहाभूतों से बना हुआ कललस्वरूप शुक्र और रज घन हो जाता है ॥ २९० ॥

***अत्र मरुत्कफयोरपि पाकहेतुत्वमेव[3] तयोरप्यूष्मणोऽधिकरणत्वात् । यत उक्तं चरके 'भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसीः' इति ॥ २९० ॥**

यहाँ पित्त की भाँति वायु और कफ को भी पाक का कारण समझना चाहिये क्योंकि इन दोनों में भी ऊष्मा होती है । अतएव चरक में भी कहा है कि—'भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश में रहनेवाली भी पाच ऊष्मा है' ॥ २९० ॥

तृतीये मासि शिरसो हस्तयोः पादयोस्तथा । पिण्डकाः पञ्च सिध्यन्ति सूक्ष्माङ्गावयवास्तनोः ॥२९१॥

तीसरे मास में शिर, दोनों हाथ और दोनों पैर इन पाच अवयवों के स्थान में पाच पिण्ड और शरीर के सूक्ष्मभाव से अङ्गों के अवयव भी निकलते हैं ॥ २९१ ॥

सर्वाण्यङ्गान्युपाङ्गानि चतुर्थे स्युः स्फुटानि हि । हृदयव्यक्तभावेन व्यज्यते चेतनाऽपि च ॥२९२॥

तस्माच्चतुर्थे गर्भस्तु नाना वस्तूनि वाञ्छति । ततो द्विहृदया यत्स्यान्नारी दौर्हृदिनी मता ॥२९३॥

दौर्हृदावज्ञया कुब्जं कुणिं षण्ढं च वामनम् । विकृताक्षमनक्षं वा पुत्रं नारी प्रसूयते ॥ २९४ ॥

यतः स्त्री दौर्हृदं प्राप्य वीर्यवन्तं चिरायुषम् । पुत्रं प्रसूयते तस्मात्तस्यै वाञ्छितमर्पयेत् ॥२९५॥

चौथे मास में जितने अङ्ग और उपाङ्ग हैं वे सभी स्फुट (साफ २ प्रगट) हो जाते हैं और साथ २ हृदय के व्यक्त हो जाने से चेतना भी व्यक्त हो जाती है । इसी से उस समय गर्भिणी स्त्री दो (एक अपना और दूसरा गर्भ का) हृदयवाली हो जाने से 'दौर्हृदिनी' कहलाने लगती है । अतएव दौहृद की अवज्ञा होने से अर्थात् गर्भिणी स्त्री अभिलषित वस्तु को न पाने से कुब्जा, लूला, नपुंसक, बौना, विकार से युक्त (बुरा) नेत्रोंवाला, अथवा अन्धा बालक उत्पन्न करती है । क्योंकि गर्भिणी स्त्री दौहृद (अभिलषित वस्तु) पाकरके वीर्यशाली और दीर्घ आयुवाली सन्तान पैदा करती है, अत. गर्भिणी को जो वांछित वस्तु हो देवे ॥ २९२–२९५ ॥

इन्द्रियार्थांस्तु यान्यान्सा भोक्तुमिच्छति गर्भिणी । गर्भबाधाभयात्तांस्तान्भिषगाहृत्य दापयेत् ॥

गर्भिणी स्त्री आँख, कान आदि जिन २ इन्द्रियों के विषयों को भोगने की इच्छा करे उन २ विषयों को न देने से भी गर्भ को बाधा पहुचेगी इस भय से वैद्य मंगवा करके दिलवे ॥ २९६ ॥

---

१. 'पाच्यमानमि'ति पा० । २. 'कललस्थ महाभूतं समुदायमि'ति पा० । ३. 'हेतुत्वे' इति पा० ।

*भोक्तुमुपभोक्तुमित्यर्थः ॥ २९६ ॥

'भोग करने की' अर्थात् 'उपभोग करने की' ऐसा समझना चाहिये ॥ २९६ ॥

सा प्राप्तदौहृदा पुत्रं जनयेत्तु गुणान्वितम् । अलब्धदौहृदा गर्भे लभेतात्मनि वा भयम् ॥ २९७ ॥

इस प्रकार से अभिलषित वस्तु को प्राप्त किये हुई जो गर्भिणी स्त्री होती है वह गुण से युक्त सन्तान पैदा करती है और जो अभिलषित वस्तु को नहीं प्राप्त करती है वह अपने गर्भ अथवा शरीर के विषय में बाधा प्राप्त करती है ॥ २९७ ॥

येषु येष्विन्द्रियार्थेषु दौहृदे साऽवमानिता । प्रसूयते सुतं सार्तिं तस्मिंस्तस्मिंस्तदिन्द्रिये ॥२९८॥

*सार्तिं = सव्यथम् ॥ २९८ ॥

जिन २ इन्द्रियों के विषय शब्द स्पर्शादि अभिलषित होते हुये भी यदि गर्भिणी को नहीं प्राप्त होते हैं तो वह उन २ इन्द्रियों ही के सम्बन्ध में पीडा युक्त सन्तान पैदा करती है अर्थात् जैसे गर्भिणी की इत्र सूँघने की इच्छा हुई और उसे इत्र नहीं प्राप्त हुआ तो उसके जो सन्तान पैदा होगी उसके घ्राणेन्द्रिय (नासिका) में अवश्य किसी न किसी रोग से पीडा पहुंचेगी ॥ २९८ ॥

दौहृदविशेषफलमाह—

राजसन्दर्शने यस्या दौहृदं जायते स्त्रियाः । अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते ॥ २९९ ॥
दुकूलपट्टकौशेयभूषणादिषु दौहृदात् । अलङ्कारैषिणं पुत्रं ललितं सा प्रसूयते ॥ ३०० ॥

गर्भिणी की इच्छा विशेष—जिस गर्भिणी स्त्री की अभिलाषा राजा के दर्शन करने की हो वह धनवान् और भाग्यशाली सन्तान पैदा करती है । यदि उत्तम सूती अथवा रेशमी वस्त्र तथा भूषणादि धारण करने की अभिलाषा हो तो वह अलङ्कारों (आभूषणों) को चाहने वाली सुन्दर सन्तान पैदा करती है ॥ २९९–३०० ॥

आश्रमे सन्यतात्मानं धर्मशीलं प्रसूयते । देवताप्रतिमायां तु प्रसूते पार्षदोपमम् ॥ ३०१ ॥

यदि (तपस्वियों के) आश्रम देखने या वहा पर रहने के विषय में अभिलाषा हो तो मन को वश में रखनेवाली धर्मशील सन्तान पैदा करती है । यदि देवताओं की प्रतिमा (मूर्त्ति) देखने अथवा पूजनादि करने की अभिलाषा हो तो पार्षद के समान सन्तान उत्पन्न करती है ॥ ३०१ ॥

***आश्रमे = तपस्विनामाश्रमे दौहृदात्, पार्षदोपमं = प्रमथोपमम् ॥ ३०१ ॥**

'आश्रमे' का अर्थ प्रकरण वश 'तपस्वियों के आश्रम देखने या वहा पर रहने के विषय में अभिलाषा हो' ऐसा किया गया है और 'पार्षदोपमम्' इस पद से प्रमथ (भगवान् शङ्कर के पार्षद) के समान ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ ३०१ ॥

दर्शने व्यालजातीनां हिंसाशीलं प्रसूयते । रक्ताक्षं लोमशं शूरं महिषामिषदौहृदात् ॥ ३०२ ॥
वाराहमांसे स्वप्नालुं शूरं सञ्जनयेत्सुतम् । मृगमांसे तु जङ्घालं[1] विक्रान्तं वनचारिणम् ॥३०३॥
अतोऽनुक्तेषु या नारी दौहृदं विदधाति हि । शरीराचारशीलैः सा समानं जनयिष्यति ॥३०४॥
पञ्चमे मानसं षष्ठे बुद्धिश्चातिप्रबुद्ध्यते । सर्वाण्यङ्गान्युपाङ्गानि भृशं व्यक्तानि सप्तमे ॥ ३०५ ॥
ओजोऽष्टमे सञ्चरति माता पुत्रौ मुहुः क्रमात् । तेन तौ म्लानमुदितौ स्यातां जातो न जीवति ॥

यदि हिंस्रजातिवाले व्याघ्रादि जीवों के देखने के विषय में अभिलाषा हो तो हिंसाशील सन्तान पैदा करती है । महिष (भैंसा) के मास खाने की अभिलाषा होने से लाल नेत्रवाली, बहुत रोयें से युक्त शरीरवाली और शूर (पराक्रमी) सन्तान पैदा करती है । सूअर के मास खाने की अभिलाषा होने से अधिक सोनेवाली और शूर सन्तान पैदा करती है । हरिण के मास खाने की अभिलाषा होने से जङ्घाल अर्थात् दौड लगानेवाली अथवा जङ्घा में अधिक ताकत रखनेवाली विक्रम से युक्त वन में विचरण करनेवाली सन्तान पैदा करती है । जो गर्भिणी स्त्री इन पूर्वोक्त जन्तुओं से भिन्न जन्तुओं के मांस खाने की इच्छा करे तो जैसा उस जन्तु का शरीर, आचरण और स्वभाव होगा उसी के समान शरीर, आचरण और स्वभाव रखनेवाली सन्तान पैदा करेगी । पांचवें महीने में मन और छठें महीने में बुद्धि उत्पन्न होती हैं । जितने अङ्ग तथा उपाङ्ग हैं वे सब सातवें महीने में भली भाँति व्यक्त हो जाते है और आठवें महीने में ओज उत्पन्न होता है । ओज माता तथा

१ 'तच्छ्रायमि'ति पा० ।

पुत्र (यहां पर 'पुत्र' शब्द उपलक्षणपरक है अतः सन्तान मात्र का बोधक समझना) दोनों में क्रम से वारंवार सञ्चार करता रहता है, अतः वे दोनों म्लान तथा हर्षित होते रहते हैं अर्थात् जिस समय ओज माता में सञ्चार करता है उस समय माता हर्षित और गर्भस्थ वालक म्लान हो जाता है; तथा जिस समय ओज वालक में सञ्चार करता है उस समय वालक हर्षित और माता म्लान हो जाती हैं, और आठवें महीने में उत्पन्न हुआ वालक प्रायः जीवित नहीं रहता है क्योंकि उस महीने में ओज स्थिर नहीं रहता है । यहा पर यह भी समझना चाहिये कि जिस समय ओज माता में चला गया होता है उस समय यदि वालक का जन्म होता है तो वह नहीं जीवित रहता है और यदि वालक ही में रहता है तो जन्म लेने पर जीवित रह सकता है ॥ ३०२-३०६ ॥

न जीवत्यष्टमे जातस्तत्रौजो न स्थिरं यतः । तथा नैर्ऋत्यभागत्वाद्दापयेत्तद्बलिं ततः ॥ ३०७ ॥

अष्टम मास में उत्पन्न हुई सन्तान के जीवित न रहने में एक यह भी कारण है कि नैर्ऋत्य नामक रुद्र के अनुचर का उस समय वालक के शरीर में अंश रहता है, अत एव वह अपनी पूजा प्राप्त करने की इच्छा से उस समय वालक को कष्ट देता है और पूजा न पाने पर मार डालता है, अतः उसकी शान्ति के लिये नैर्ऋत्य के उद्देश्य से वलि दिलानी चाहिये ॥ ३०७ ॥

***नैर्ऋत्याय भागश्च वालेषु रुद्रेण दत्तः, यत उक्तं कुमारतन्त्रे-'अष्टमे मासि नैर्ऋत्याय मांसोदनं वलिं दापयेदि'ति ॥ ३०७ ॥**

रुद्रने वालकों के शरीर में नैर्ऋत्य का भाग निर्दिष्ट कर दिया है। क्योंकि 'कुमारतन्त्र' में कहा भी है कि—'आठवें महीने में नैर्ऋत्य के लिये मांस और भात की वलि दिलावे' ॥ ३०७ ॥

नवमे दशमे मासि नारी वालं प्रसूयते । एकादशे द्वादशे वा ततोऽन्यत्र विकारतः ॥ ३०८ ॥

गर्भिणी स्त्री नवें या दशवें महीने में सन्तान पैदा किया करती हैं और कभी २ ग्यारहवें और वारहवें महीने में भी प्रसव करती हैं, इससे अधिक समय यदि हो जावे और प्रसव न हो तो यह समझना चाहिये कि कोई विकार गर्भ को हो गया है जिससे प्रसव नहीं हो रहा है ॥३०८॥

गर्भे यदङ्गं प्रथम भवति, तदाह—

शिरो भवति चाङ्गस्य पूर्वमित्याह शौनकः । शिरस्येवोपजायन्ते प्रधानानीन्द्रियाणि यत् ॥३०९॥
हृदयं जायते पूर्वं कृतवीर्योऽवदन्मुनिः । वुद्धेश्च मनसश्चापि यतस्तत्स्थानमीरितम् ॥ ३१० ॥
पाराशर्य इति प्राह पूर्वं नाभिसमुद्भवः । प्राणो यत्र स्थितो देहं वर्द्धयत्यूष्मसंयुतः ॥ ३११ ॥
प्राणिपादं भवेत्पूर्वं मार्कण्डेयमुनेर्मतम् । देहिनः सकलाश्चेष्टाः पाणिपादाश्रया यतः ॥ ३१२ ॥
प्रथमं जायते कोष्ठं ततः सर्वाङ्गसम्भवः । एतत्तु कथयामास गौतमो मुनिपुंगवः ॥ ३१३ ॥
सर्वाण्यङ्गान्युपाङ्गानि युगपत्सम्भवन्ति हि । सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मतं धन्वन्तरेरिदम् ॥३१४॥

गर्भ में अङ्गोत्पत्ति—शौनक मुनि यह कहते हैं कि-सव अङ्गों से पहले शिर उत्पन्न होता है क्योंकि जितनी प्रधान २ इन्द्रिया (आंख, नाक, कान, रसना नाम की ज्ञानेन्द्रिया) हैं वे सव शिर में ही उत्पन्न होती हैं और 'कृतवीर्य मुनि' कहते हैं कि-प्रथम हृदय उत्पन्न होता है क्योंकि उसी को वुद्धि और मन के रहने का स्थान कहा है' और 'पाराशर्य' मुनि यह कहते हैं कि-पहले नाभि की उत्पत्ति होती है, क्योंकि उसी नाभि में स्थित हो कर ऊष्मा से युक्त होता हुआ प्राण शरीर को वढाता है' यहा 'मार्कण्डेय' मुनि का मत यह है कि—हाथ और पैर पहले उत्पन्न होता है क्योंकि-प्राणियों की जितनी चेष्टायें होती हैं, वे सव हाथ पैर के सहारे से ही होती हैं और मुनियों में श्रेष्ठ 'गौतम' मुनि ने तो इस विषय में यह कहा है कि—पहले कोष्ठ (गर्दन से नीचे कमर तक के भाग) उत्पन्न होता है क्योंकि उसी कोष्ठ से सम्पूर्ण अङ्गों की उत्पत्ति होती है, किन्तु 'धन्वन्तरि' का मत यह है कि—जितने अङ्ग तथा उपाङ्ग हैं वे सव साथ ही साथ उत्पन्न होते हैं किन्तु उस समय सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं पडते हैं ॥ ३०९-३१४ ॥

आम्रस्याणुफले भवन्ति युगपन्मांसास्थिमज्जादयो
लक्ष्यन्ते न पृथक्पृथक्तनुतया पुष्टास्त एव स्फुटाः ।
एवं गर्भसमुद्भवे त्ववयवाः सर्वे भवन्त्येकदा
लक्ष्याः सूक्ष्मतया न ते प्रकटतामायान्ति वृद्धिं गताः ॥ ३१५ ॥

जैसे आम के अत्यन्त छोटे फल में मांस (गूदा), अस्थि (कुसुली) और मज्जा (मींगी)

आदि साथ ही साथ रहते हैं और अत्यन्त सूक्ष्म होने से अलग २ दिखलाई नहीं पडने और पुष्ट होने पर वे ही दिखलाई पडने लगते है, उसी भाति गर्भ रहने पर जितने अवयव हैं वे सभी एक साथ ही उसमें रहते हैं किन्तु सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं पडते और जब वे ही बढ जाते हैं तब साफ २ प्रकट हो जाते हैं ॥ ३१५ ॥

***मज्जादय इत्यादिशब्देन त्वक्केशरमज्जत्वमङ्कुरवृन्तानि गृह्यन्ते ॥ ३१५ ॥**

'मज्जादय' इस पद में आदि शब्द से छिल्का, केशर, मीगी के ऊपर का अत्यन्त पतला छिल्का, अङ्कुर, वृन्त (ढेपी) इन सबों का ग्रहण होता है ॥ ३१५ ॥

अथ शरीरे पितृज-मातृज-रसजात्मजा भागा उच्यन्ते । तत्र—

केशाः श्मश्रु च लोमानि नखा दन्ताः शिरास्तथा । धमन्यःस्नायवःशुक्रमेतानि पितृजानि हि॥
मांसासृङ्मज्जमेदांसि यकृत्प्लीहान्त्रनाभयः । हृदयं च गुदं चापि भवन्त्येतानि मातृतः ॥३१७॥
शरीरोपचयो वर्णो बलं देहस्थितिस्तथा । रसादेतानि जायन्ते भिषजो मुनयो जगुः ॥ ३१८ ॥

पितृज-मातृज शरीराकृति—बाल, दाढी, मूछ, रोम, नख, दात, शिरा, धमनी, स्नायु और शुक्र ये सब पितृज (पिता से उत्पन्न हुये) कहलाते हैं । मास, रक्त, मज्जा, मेदा, यकृत्, प्लीहा, अँतडी, नाभि, हृदय और गुदा ये सब माता से उत्पन्न होते है अत एव मातृज कहलाते हैं । शरीर की वृद्धि, गौरादि वर्ण, बल और देह का स्थित रहना, ये सब रस से उत्पन्न होते है अत एव रसज कहलाते हैं ऐसा वैद्यक के जानकार मुनियों ने कहा है ॥ ३१६-३१८ ॥

ज्ञानं विज्ञानमायुश्च सुखदुःखादिकंतथा। इन्द्रियाणि च सर्वाणि भवन्त्येतानि चात्मनः॥३१९॥

ज्ञान, विज्ञान, आयु और सुख दु खादि तथा सम्पूर्ण इन्द्रिया ये सब आत्मा से उत्पन्न होते हैं अत एव आत्मज कहलाते हैं ॥ ३१९ ॥

***([1]सुख) दुःखादिकमित्यादिशब्देन नानायोनिजन्मादिकमुच्यते । आत्मनः = आत्मसन्निकर्षाद् न त्वात्मनो जायन्ते, आत्मनो निर्विकारात् प्रकृतिभावानुपपत्तेः ॥ ३१९ ॥**

'सुखदु खादिकम्' इस पद में स्थित आदि शब्द से अनेक प्रकार की योनियों में जन्म लेना आदि का भी ग्रहण करना चाहिये और 'आत्मा से उत्पन्न होते हैं' ऐसा कहने से यह समझना चाहिये कि आत्मा के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं न कि साक्षात् आत्मा से ही उत्पन्न होते हैं, क्यों कि—आत्मा निर्विकार है अत एव वह प्रकृति के भावों को नहीं प्राप्त कर सकता अर्थात् प्रकृति के जैसे १६ विचार होते हैं वैसे इसके कोई भी विकार नहीं होते ॥ ३१९ ॥

गर्भस्य किंकि विशिष्टोपकारक तदाह—

अग्नीषोमौ मही वायुर्नभः सत्त्वं रजस्तमः। पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मा गर्भं सञ्जीवयन्ति हि॥३२०॥

गर्भ के विशेष उपकारक—अग्नि, सोम, पृथ्वी, वायु, आकाश, सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण, पाँच इन्द्रियाँ और भूतात्मा ये सब गर्भ का सजीवन करते हैं अर्थात् इन्हीं सबों से गर्भ उत्पन्न और रक्षित तथा वर्धित होता है ॥ ३२० ॥

***अग्निरत्र-पाचकालोचकरञ्जकभ्राजकसाधकानाम् ; तथा पाञ्चभौतिकानां तथा सप्तधातुगतानामग्नीनां शक्तिरूपतयाऽवस्थितो वाचोऽधिदेवत्वं प्राप्तो बोद्धव्यः, स च पाचकादिकर्मणा जीवयति । सोमश्च-पञ्चात्मकश्लेष्मरसशुक्रादीनां [2]तोयात्मकानां भावानां रसनेन्द्रियस्य[3] च शक्तिरूपतयाऽवस्थितो मनसश्चाधिदेवत्वं प्राप्तो बोद्धव्यः, स च सौम्यधातोरोजः प्रभृतेः पोषणेन पवनपावकसशुष्कभागस्यार्द्रताविधानेन जीवयतीति शेषः । मही च-जलेन क्लिन्नस्यापि कठिनविधानेन । वायु-र्दोषधातुमलाङ्गोपाङ्गादीनां सञ्चारणेनोच्छ्वासनिःश्वासाभ्याञ्च । नभो—([4]ऽनिलोनलविदारितस्रोतसामूर्ध्वाधस्तिर्यगवकाशदानेन । सत्त्वं रजस्तम इति-) मनोरूपतया परिणतं जीवात्मनः शरीरान्तरे जीवनग्रहणमोक्षणे हेतुरिति तदपि जीवयति । पञ्चेन्द्रियाणि-श्रोत्रत्वङ्नेत्रजिह्वाघ्राणानि, शब्दादिग्रहणकर्मणा । भूतात्मा-कर्मपुरुषः स चाशेषस्यैव राशेश्चैतन्यहेतुर्जीवतीति ॥ ३२० ॥**

---

१. कोष्ठस्थः पाठ. क्वाचित्क । २ 'सोमे'ति पा० । ३ 'रसे'ति पा० । ४ कोष्ठस्थ पाठ. क्वाचित्कः परन्तु समीचीनः ।

'अग्नि' पद से पाचक, आलोचक, रञ्जक, भ्राजक और साधक संज्ञक पाँच पित्त की ऊष्मा की तथा पाँच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) सम्बन्धी अग्नि की और रस-रक्तादि सात धातुओं के मध्य मे स्थित अग्नि की शक्तिरूप से अवस्थित एवं वाणी के अधिदेवत्व को प्राप्त हुआ अग्नि समझना चाहिये । वही अग्नि पाचकादि कर्म द्वारा गर्भ को जीवित रखता है । और 'सोम' शब्द से पाच प्रकार के श्लेष्मा, रस और शुक्रादि जितने जलात्मक भाव हैं उन सबों की तथा रसनेन्द्रिय की शक्तिरूप से अवस्थित एवं मन के अधिदेवत्व को प्राप्त हुए सोम को समझना चाहिये । वही सोम ओजः प्रभृति सौम्यधातु का पोषण करने से एवं वायु तथा अग्नि से शुष्क हुये भाग को आर्द्र करने से गर्भ को जीवित रखता है। पृथ्वी—जल से गीले हुये भाग को कठिन वनाने के द्वारा गर्भ को जीवित रखती है । वायु—दोष, धातु, मल, अङ्ग और उपाङ्गादिकों का सञ्चारण (चलाने-फिराने) के द्वारा तथा उच्छ्वास (सास लेना) और निःश्वास (सास छोड़ना) के द्वारा गर्भ को जीवित रखता है । आकाश—वायु और अग्नि से विदीर्ण किये हुये स्रोतों को ऊपर, नीचे और तिरछे (अगल वगल) अवकाश देने के द्वारा गर्भ को जीवित रखता है । सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—ये सब मन के रूप में परिणत होकर जीवात्मा का दूसरे शरीर में जीवन ग्रहण करने के अर्थात् दूसरे शरीर के धारण करने के तथा शरीरत्याग करने के कारण हैं, अत एव सत्त्वादि भी गर्भ को जीवित रखते हैं । पञ्चेन्द्रिय—अर्थात् कर्ण, त्वक्, नेत्र, जिह्वा और घ्राण ये पाच इन्द्रियां शब्दादिकों को ग्रहण करने के द्वारा गर्भ को जीवित रखती हैं । भूतात्मा—अर्थात् कर्मपुरुष सम्पूर्ण कर्मराशियों के ही चैतन्य का हेतु होकर गर्भ को जीवित रखता है । यह समझना चाहिये ॥ ३२० ॥

अपरं गर्भस्य जीवनोपायमाह—

गर्भस्य नाभिनाड्या तु नाडी रसवहा स्त्रियाः । संलग्ना तेन गर्भस्य वृद्धिर्भवति नित्यशः ॥३२१॥

गर्भ के जीवित रहने के हेतु—गर्भस्थ सन्तान की नाभि-नाडी के साथ माता की रस वहन करनेवाली नाडी मिली हुई रहती है, इसी से नित्य प्रति गर्भ की वृद्धि होती रहती है ॥ ३२१ ॥

निःश्वासोच्छ्वाससंक्षोभस्वप्नांशान्सोऽधिगच्छति । मातुर्निःश्वसितोच्छ्वाससंक्षोभस्वप्नसंभवान् ॥

माता के निःश्वास, उच्छ्वास, सक्षोभ (सञ्चलन) और निन्द्रा से सन्तान के भी निःश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ और निद्रासम्बन्धी सभी कार्य सम्पादित होते हैं ॥ ३२२ ॥

***संक्षोभः=सञ्चलनम्, माता निःश्वासादिकायाश्चेष्टाःकरोति तास्तागर्भोऽपि करोतीत्यर्थः ॥३२२॥**

'सक्षोभ' पद से सञ्चलन अर्थ समझना चाहिये और सब का साराश भी यही समझना चाहिये कि—माता जो २ निःश्वासादि चेष्टायें करती है गर्भ भी उन्हीं २ चेष्टाओं को करता है ॥ ३२२ ॥

अथ गर्भवृद्धेर्हेतूपायमाह—

गर्भस्य नाभिमध्ये तु ज्योतिःस्थानं ध्रुवं स्मृतम् । तदा धमति वातश्च देहस्तेनास्य वर्धते ॥३२३॥
ऊष्मणा सहितश्चापि दारयत्यस्य मारुतः । ऊर्ध्वं तिर्यगधस्ताच्च स्रोतांसि तु यथा तथा ॥३२४॥

गर्भवृद्धि के हेतु—गर्भस्थ सन्तान के नाभिमध्य में एक ज्योतिःस्थान रहता है । वायु उसी स्थान को आध्मापित (उत्तेजित) किया करता है अत एव उस गर्भ की वृद्धि हुआ करती है । अर्थात्-वायु ऊष्मा से युक्त होकर आधमन (फूक) के द्वारा सन्तान के सम्पूर्ण स्रोतों के ऊपर नीचे और इधर उधर सभी भागों में जैसे २ दारित (विस्तारित) करता जाता है वैसे २ सन्तान के देह की भी वृद्धि हुआ करती है ॥ ३२३-३२४ ॥

*** यथा दारयति विस्तारयति [1]तथा देहो वर्धत इति पूर्वेणान्वयः ॥ ३२३-३२४ ॥**

यहां पर ३२४ के श्लोक की टीका में जो 'जैसे दारित अर्थात् विस्तारित करता जाता है वैसे सन्तान के' इतना अंश है इसका पूर्व में ३२३ के 'श्लोक की टीका में' जो 'देह की वृद्धि हुआ करती है' यह अश है उसके साथ अन्वय है ऐसा समझना चाहिये ॥ ३२३-३२४ ॥

दृष्टिरोमकूपानामवृद्धिमाह—

दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते कदा च न । ध्रुवाण्येतानि मर्त्यानामिति धन्वन्तरेर्मतम् ॥३२५॥

१. 'तथा तथे'त्यधिकः पा० ।

समान गन्ध वाला, कुछ पाण्डुर वर्णयुक्त तथा मोटे केशरों से युक्त होता है और वह 'अधम' माना जाता है।

केशर—कटु तथा तिक्त रसयुक्त, स्निग्ध और वर्ण्य (शरीर के वर्ण के लिये हितकर) होता है तथा यह शिरोरोग, व्रण, कृमि, वमन, व्यङ्ग (झाई) तथा त्रिदोष इन सबों को नष्ट करने वाला होता है ॥ ७४-७८ ॥

२६ केशर

हि०–केशर। **म०, गु०**–केशर। **बं०**–जाफरान। **क०**–कुङ्कुम। **ते०**–कुङ्कुम पुव। **ता०**–कुङ्कुमपु। **फा०**–करकीमास। **अ०**–जाफरान। **अं०**–Saffron (सॅफ्रॉन)।

लै०–*Crocus sativus* (क्रोकस् सेटाइवस्)। N. O. Iridaceae (इरिडेसिइ)।

केशर का नैसर्गिक उत्पत्ति स्थान दक्षिण योरप है। यह स्पेन से बम्बई में बहुत आता है और भारतवर्ष के बाजारों बिकता है। ईरान, स्पेन, फ्रास, इटली, ग्रीस, तुर्की, चीन और फारस आदि देशों में इसकी खेती की जाती है। हमारे देश के काश्मीर में पम्पूर (४३०० फीट) नामक स्थान पर तथा जम्मू के किश्तवाड में इसकी खेती की जाती है। यहाँ का उत्पन्न हुआ केसर सर्वोत्तम समझा जाता है।

इसका बहुवर्षायु **क्षुप** १॥ फुट तक ऊँचा होता है। जड के नीचे प्याज के समान गांठदार कन्द (Corm) होता है। इसमें काड नही होता। **पत्ते**–घास के समान लम्बे, पतले, पनालीदार और जड ही से निकले हुए मूलपत्र (Radicle leaf) रहते हैं। इनके किनारे पीछे की तरफ मुडे हुए होते है। आश्विन कार्तिक में इस पर फूल आते हैं। **फूल**–एकाकी या गुच्छों में, नीललोहित वर्ण के, पत्तों के साथ ही शरदऋतु में आते हैं। नीचे के पत्रकोश (Spathe), पुष्पध्वज (Scape) को घेरे रहते हैं तथा दो हिस्सों में विभक्त रहते हैं। परिपुष्प (Perianth) निवापसम (Funnel-shaped), नाल (Tube) पतला, दल ६ खण्डों में विभक्त दो श्रेणियों में एव नाल का कण्ठ श्मश्रुल (बालों से युक्त) रहता है। कण्ठ पर ३ पुकेशर (Stamen) रहते हैं एव परागाशय (Anther) पीतवर्ण का रहता है। कुक्षिवृन्त (Style) परिपुष्प के बाहर निकले हुए (Exserted), नारगरक्त रंग के, मुद्गराकार, अखण्ड या खण्डित रहते हैं। **फल**–सामान्य स्फोटीफल (Capsule) आयताकार एव **बीज** गोल होते हैं।

इन फूलों के स्त्री केशर के सूखे हुये अग्रभाग जिन्हें कुक्षि (Stigma) कहा जाता है उन्हे ही केशर कहते हैं। कुक्षि (Stigma) ३, कुक्षिवृन्त के ऊपर लगी हुई या अलग, करीब १ इञ्च लम्बी गहरे लाल से लेकर हलके रक्ताभ भूरे रग की एव सामान्य दन्तुर या लहरदार होती है। कुक्षिवृन्त (Styles) करीब १ से मि लम्बे, करीब-करीब रम्भाकार, ठोस, पीताभ भूरे से लेकर पीताभ नारगी रग के रहते हैं। इसमें विशिष्ट प्रकार की तीव्र सुगन्ध रहती है तथा इसका स्वाद सुगन्धि तथा कडवापन लिये हुये होता है।

केशर के पौधे को बीज या उसके कन्द द्वारा लगाया जा सकता है। साधारणतः १ एकड भूमि से करीब ५०-५५ पौंड ताजा केशर प्राप्त होता है जो सूखने पर १०-११ पौंड रह जाता है। इसकी खेती तथा माल के तैयार करने में बहुत सावधानी की आवश्यकता रहती है। सूर्योदय के पहले जब फूल लगभग खिलने को होते है तब उनको तोड लेते है। उसमें से केशर को तोड कर चलनी में डालकर मन्द आच पर सुखाते हैं। केशर को हमेशा प्रकाशहीन बन्द पात्र में रखना चाहिये।

रासायनिक संगठन—केशर में एक स्नेहीय तैल ८-१३%, करीब १% उडनशील तैल, एक रगहीन कडुआ पिक्रोक्रोसिन (Picrocrocin) नामक ग्लाइकोसाइड् एव क्रोसेटिन (Crocetin) नामक रंजक द्रव्य का क्रोसिन (Crocin) ग्लाइकोसाइड ये पदार्थ पाये जाते हैं। क्रोसेटिन नामक रवेदार रजक द्रव्य ३ प्रकार का होता है। ॲल्फा क्रोसेटिन (a-crocetin, $C_{24} H_{28} O_5$) ०.६%, बीटा क्रोसेटिन (B-crocetin, $C_{25} H_{30} O_5$) ०.७%, एव गामा क्रोसेटिन (V-crocetin, $C_{26} H_{32} O_5$) ०.३% रहता है। क्रोसिन (Crocin) यह लाल रग का चूर्ण होता है जो जल तथा मद्यसार मे आसानी से घुल जाता है। सकेन्द्रित गन्धक के तेजाब में इसका गहरे

नीले रंग का घोल बनता है जो रखने पर नील लोहित, रक्त तथा अन्त में भूरे रंग का हो जाता है। शोरे के तेजाब से यह हरे रग का हो जाता है।

गुण और प्रयोग—केशर उष्ण, सुगन्धि, दीपन, पाचन, उद्वेष्टन-निरोधि, मनःप्रसादकर, रुचिकर, वर्ण्य, वल्य, कामोत्तेजक, विषघ्न, आर्तवजनक, मूत्रल एवं अल्प वेदनाहर है। आमाशयोत्तेजक एव उद्वेष्टननिरोधि गुणों के लिये यह बहुत प्रसिद्ध है तथा यह श्रेष्ठ उत्तेजक एव वृष्य औषध मानी जाती है। यह वातनाडियों के लिये शामक है। सुगन्धि रञ्जक द्रव्य के रूप में इसका बहुत व्यवहार किया जाता है। इसके उडनशील तैल मे अन्य उडनशील तैलों की तरह ही गुण होते हैं।

इसका उपयोग अतिसार, शूल, मूत्रकृच्छ्र, अनार्तव, पीडितार्तव, कास, श्वास, कण्ठरोग, यकृत-विकार, आमवात, नाडीशूल एवं शिरोरोगों में किया जाता है।

(१) पीडितार्तव में इसको पूर्ण मात्रा में देने से शूल कम होता है तथा आर्तव स्राव ठीक होने लगता है। गर्भाशय के पीडा युक्त विकारों में इसकी गोली योनि में धारण कराई जाती है। स्तनों पर इसके लेप से दूध वढता है।

(२) मूत्राघात में १ तोला केशर मधुयुक्त जल में रात में भिगों कर सुवह उसे पिलाने से लाभ होता है। (सु. उ. अ. ५८-३०)

(३) वच्चों की सरदी में गरम दूध में केशर खिलाते हैं तथा ललाट एव छाती पर लगाते हैं।

(४) केसर तथा शर्करा को घृत में भून कर उसके नस्य से सूर्यावर्त एव अर्धावभेदक आदि में लाभ होता है। शिरःशूल में इसे मस्तक पर लगाते है।

(५) मसूरिका तथा रोमान्तिका आदि में दाने बाहर निकालने के लिये इसे देते हैं।

(६) वच्चों के अतिसार, आध्मान तथा उदर शूल में इसे खिलाते हैं तथा पेट पर लगाते हैं।

प्रमाप तथा परीक्षा—केशर बहुमूल्य होने के कारण इसमें अनेक चीजों की मिलावट रहती है, इसलिये इसको अच्छी तरह परीक्षा कर खरीदना चाहिये। कुछ परीक्षाएं यहा दी जा रही हैं। स्पिरिट में केशर डालने पर यद्यपि स्पिरिट रगीन हो जाता है तथापि केशर के तन्तु अपने प्राकृतिक रंग में ही रह हैं। इसे गन्धक के तेजाव (Sulphuric acid) में डालने से गहरा नीला रग उत्पन्न होता है। जल में घुलनशील पदार्थ ५८% से कम न हों। मद्यसार (९०%) में घुलनशील पदार्थ ६०% से कम न हों। राख ७.५% से अधिक न हो। १००° उष्णता पर सुखाने से १४% से अधिक वजन कम न हों। कुक्षिवृन्त (Styles) १०% से अधिक न हों। इतर ऑर्गेनिक् द्रव्य २% से अधिक न हों। रग की तीव्रता-इसको ०.०२ ग्राम की मात्रा में १०० सी. सी जल में मिलाने पर पीत वर्ण का घोल वनता है जिसके रग की तीव्रता ०.१% पोटॅसियम् डाइक्रोमेट (Potassium dichromate) के घोल के समान या उससे कम नही होनी चाहिये।

व्यामिश्रण—इसमें केशर पुष्प के ही कुक्षिवृन्त, पुकेशर, आभ्यन्तर कोश एवं गेंदा (कॅलेण्डुला ऑफिसिनेलिस्) के मेथिल् आरेञ्ज के द्वारा रगे हुये पुष्प, कुसुम पुष्प के केशर तथा एक वीज पत्रीय पुष्प आदि मिलाये रहते हैं। कभी कभी सत्त्व निकाला हुआ केसर रग करके वेचा जाता है। केसर का वजन वढाने के लिये जल, तैल, शर्करा, ग्लूकोज, ग्लिसरीन तथा पोटॅशियम् या अमोनियम् नाइट्रेट के घोल आदि का उपयोग करते हैं।

मात्रा—२-४ र०।

अथ गोरोचना। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

गोरोचना तु मङ्गल्या वन्द्या गौरी च रोचना। गोरोचना हिमा तिक्ता वश्या मङ्गलकान्तिदा। विषालक्ष्मीग्रहोन्मादगर्भस्रावक्षतास्रहृत्॥ ७९॥

गोरोचन के नाम तथा गुण—गोरोचना, मङ्गल्या, वन्द्या, गौरी और रोचना ये सब गोरोचन के संस्कृत नाम हैं। **गोरोचन**—शीतवीर्य, तिक्तरस युक्त, वश्य (वशीकारक), मङ्गल तथा कान्ति को वढाने वाला एवं विष, अलक्ष्मी (दरिद्रता), ग्रहवाधा, उन्माद (पागलपन), गर्भस्राव तथा क्षतज रक्तस्राव को दूर करने वाला होता है॥ ७९॥

३० गोलोचन

हि०–गोलोचन, गोरोचन। बं०–गोरोचना। म०–गोरोचन। गु०–गोरूचन्दन, गोरोचन। ते०–गोरोचनमु। ता०–गोरोचनम्। फा०–सगगाव। अ०–हजरुल् बक्कर। अं०–Gall-stone (गॉल्-स्टोन), Serpent stone (सर्पेण्ट स्टोन)। ले०–*Bezoar* (बेझोर)।

गाय अथवा बैल के पित्ताशय में से अश्मरी के समान सुपारी से लेकर नींबू तक का गोल अथवा कुछ गोलाई लिये त्रिकोणाकार जो पदार्थ निकलता है उसको गोरोचन कहते है। यह ऊपर से कुछ मटमैला पीला और तोडने पर भीतर से पर्तदार पीले रग का होता है। यह कठोर नही, कुछ मुलायम होता है। किसी किसी का रङ्ग नारगी या लाली युक्त होता है। इसी प्रकार किसी किसी बकरी और ऊँट के पेट से भी ककर्डी निकलती है, 'कुछ ग्रन्थों में गाय के मस्तक का पित्त गोरोचन है' ऐसा उल्लेख मिलता है। हाथी के मस्तक में मिलने वाली गजमुक्ता और सर्प के फण में मिलने वाली मणि के सादृश्य के लिए गो-मस्तक से इसकी उत्पत्ति की परिकल्पना की गई होगी।

इसका स्वाद कुछ कडवा होता है तथा इसमें कुछ सुगन्ध भी होती है। औषध के अतिरिक्त तत्र शास्त्र में मोहन तथा वशीकरण के लिये इसका पर्याप्त उपयोग किया जाता है। गोपित्त में कुछ पदार्थो का मिश्रण कर बनाया हुआ नकली गोरोचन भी विकता है।

गुण और प्रयोग—गोरोचन शीतल, सुगन्धि, मृदु विरेचक, तिक्त, श्वित्रहर, मूत्रल, अश्मरीघ्न, वृंहण, आर्तवजनक एव विषहर है।

इसका उपयोग उन्माद, अपस्मार, अपतत्रक, आक्षेप, रोमान्तिका, मसूरिका, कुकास, अतिसार, कफज्वर, कामला, पाण्डु, गर्भस्राव, पित्त की न्यूनता एव आन्त्रिक विकार आदि में किया जाता है।

(१) अपस्मार में इसको २ माशे की मात्रा में गुलाव जल में घिस कर पिलाने से पुनराक्रमण नहीं होता, ऐसा हकीम मानते हैं। यूनानी में इसका लेप श्वित्र, चेहरे के काले दाग, चर्म रोग तथा नेत्र के जाले में लाभदायक मानते हैं।

(२) मसूरिका आदि में उष्णता कम करने के लिये इसको खिलाया जाता है।

(३) वच्चों के अतिसार, कुकास एव हरे दस्त आना आदि में इसको खिलाने से लाभ होता है।

मात्रा—१-२ र०।

नोट—पाश्चात्त्य चिकित्सा में गोपित्त को शुद्ध करके व्यवहार करने की पद्धति है। गोरोचन के स्थान में उसका प्रयोग करना उचित नही है। प्रसगत. उसका भी वर्णन यहां किया गया है।

ले०–*Extractum fellis bovini* (एक्स्ट्रॅक्टम् फेलिस् वोह्विनि)। अं०–Purified Ox-Gall (प्यूरिफाइड् ऑक्स-गॉल्)। हि०–गौ या वैल का शुद्ध पित्त, जहरमोहरा।

ताजे पित्त को सुखाकर जव चतुर्थांश शेष रहे तो उसमें मद्यसार (९०%) मिलाकर छानकर गोली वनाने लायक हो उतना सुखा लें। इसमें पित्त के लवण तथा रञ्जक पदार्थ पाये जाते हैं: यह गहरे पीताभ हरे रग का लचीला पदार्थ होता है। इसका स्वाद कडुआ तथा अरुचिकर होता है। यह जल तथा मद्यसार दोनों में घुल जाता है। इसको विशिष्ट आवरण युक्त गोलियों के रूप में भोजन के २ घण्टे पश्चात् प्रयोग करते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कडवा पदार्थ होते हुये भी वानस्पतिक कडवे पदार्थों के उतना अच्छा दीपन पदार्थ नही है। इससे पित्त का स्राव ठीक होने लगता है। जिनमें पित्त का उचित स्राव न होने के कारण अपचन तथा विवन्ध रहता है उनमें इसका उपयोग करते हैं। यह अग्न्याशय के स्नेह पाचक स्रावों को वढाता है तथा स्नेह द्रव्यों के प्रच्चूषण में सहायक होता है। स्नेह द्रव्यों का प्रचूषण ठीक होने के कारण उसमें घुलने वाले जीवतिक्ति (ह्विटामिन्) 'ए', 'डि' तथा 'के' का भी ठीक प्रचूषण होता है। रक्तस्राव की अवस्था में रक्त को जमाने वाले पदार्थों में से रक्त में प्रोथ्रॉम्बिन् (Prothrombin) के निर्माण के लिये ह्विटामिन् 'के' की वहुत आवश्यकता रहती है। जब मल वहुत कडा हो जाता है तब इसको २०-३० ग्रे की मात्रा में १ या २ औंस जल में घोल कर पिचकारी द्वारा वस्ति के रूप में देते हैं।

मात्रा—५-१५ ग्रेन।

अथ नखं नखी च (गन्धद्रव्यम्) तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

नखं व्याघ्रनखं व्याघ्रायुधं तच्चक्रकारकम् ॥ ८० ॥
नखं स्वल्पं नखी प्रोक्ता हनुर्हट्टविलासिनी । नखद्वयं ग्रहश्लेष्मवातास्रज्वरकुष्ठहृत् ॥ ८१ ॥
लघूष्णं शुक्रलं वर्ण्यं स्वादु व्रणविषापहम् । अलक्ष्मीमुखदौर्गन्ध्यहृत्पाकरसयोः कटु ॥ ८२ ॥

सुगन्धि द्रव्य नख तथा नखी के नाम तथा गुण—नख, व्याघ्रनख, व्याघ्रायुध और चक्रकारक ये सब संस्कृत नाम नख के हैं और दूसरा छोटा नख होता है उसे नखी कहते हैं उसके संस्कृत नाम—हनु तथा हट्टविलासिनी ये दो है। **दोनों प्रकार के नख**-ग्रहबाधा, कफ, वात, रक्तविकार (किंवा वातरक्त), ज्वर तथा कुष्ठ रोग को दूर करते है एव लघु, उष्णवीर्य, शुक्रजनक, वर्णकारक, स्वादिष्ट, व्रण तथा विषनाशक, एवं अलक्ष्मी (दरिद्रता) तथा मुख की दुर्गन्धिता को हरण करने वाले, पाक एवं रस में कटु रसयुक्त होते हैं ॥ ८०–८२ ॥

३१ नख-नखी

हिं०—नख, नखी, छोटा नख। **बं०**—नखी गन्ध द्रव्य, छोट नखी। **म०**—नखला, वाघनख। **ते०**—नखमुचिप्प। **गु०**—नखला, सावजना नख। **क०**—नख, वाघनख। **फा०**—नाखून पर्या। **अ०**—अजफारुतिव, इकलिलुलमुलुक। **अं०**—Shell (शेल)। **ले०**—*Helix aspera* (हेलिक्स ॲस्पेरा); *Achatina fulica* (ॲचॅटिना फूलिका)।

नख एक सुगन्धि द्रव्य है। यद्यपि इसे नख, व्याघ्रनख आदि नाम दिये गये हैं तथापि यह किसी जानवर का नाखून नहीं है। यह एक प्रकार के सीप की जाति के समुद्री जीव के मुख के ऊपर का आवरण है जो नख सदृश होने के कारण नख कहा जाता है। भावप्रकाशकार ने इनके दो भेद लिखे है। बडे को नख या व्याघ्रनख तथा छोटे को नखी लिखा है। अन्य ग्रन्थों में नखी के आकृति के अनुसार ५ भेद लिखे हैं। बेर के पत्ते के सदृश, कमलदल सदृश, घोड़े के खुर की आकृति के, हाथी के कान के समान आकार वाले तथा सुअर के कान के समान ये पाच प्रकार होते हैं। इनमें से सुअर के कान के समान निषिद्ध माना गया है। कुछ लोगों ने हाथी के कान सदृश और घोडे के खुर के समान आकृति वाले नख का उपयोग गन्धयोगों में तथा बेर या कमलदल सदृश नख का उपयोग धूपन में बतलाया है।

यह गहरे भूरे रग का तथा अनेक पटलों से बना हुआ कठोर, अपारदर्शक तथा नख के सदृश होता है। इसके उन्नतोदर पृष्ठ पर परत साफ दिखलाई देते है। इसको जलाने से दुर्गन्ध आती है लेकिन तैल के साथ पकाने से तैल सुगन्धित होता है। अन्य ग्रन्थों मे इसके शोधन का विधान मिलता है। भैंस के गोबरयुक्त जल, तिन्तिडी जल या मृत्तिकायुक्त जल के साथ स्वेदन करके, प्रक्षालन करने के पश्चात् भून कर गुडहरीतकी मिले जल में बुझाते हैं। फिर पीस कर उपयोग में लाते हैं। चरक में प्रायोगिक धूम्रपान की वर्ति के योग में (सू अ. ५ श्लो. २०), श्वयथुचिकित्सा (चि. अ. १६) में शैलेयकादि तैल और प्रदेह में, महासुगन्धहस्ती नामक अगद के योग में (चि. अ. २३), अमृतादि तैल (चि. अ. २८) तथा वातरक्त चिकित्सा (चि: अ. २९) में शतपुष्पादि तैल के योग में अन्य द्रव्यों के साथ नख का प्रयोग करने को लिखा है। सुश्रुत में एलादिगण में व्याघ्रनख का उल्लेख है। तैलों को सुगन्धित करने के लिये इसका अधिक उपयोग होता है।

अथ वालम् [सुगन्धवाला]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वालं ह्रीबेरबर्हिष्ठोदीच्यं केशाम्बुनाम च। वालकं शीतलं रूक्षं लघु दीपनपाचनम् ॥
हृल्लासारुचिवीसर्पहृद्रोगामातिसारजित् ॥ ८३ ॥

सुगन्धवाला के नाम तथा गुण—वाल, ह्रीवेर, बर्हिष्ठ, उदीच्य, केशनाम (केशवाचक सभी शब्द), एवं अम्बुनाम (जलवाची सभी शब्द) तथा वालक ये सब 'सुगन्धवाला' के संस्कृत नाम हैं। **सुगन्धबाला**-शीतवीर्य, रूक्ष, लघु, अग्निदीपक तथा पाचक दोनों है और यह

हृल्लास (उवकाई), अरुचि, वीसर्प, हृद्रोग, आम तथा अतिसार इन सब रोगों को दूर करने वाली होती है ॥ ८३ ॥

३२ सुगन्धवाला।

हि०–सुगन्धवाला, नेत्रवाला। **बं०**–वाला। **म०**–काला वाला। **गु०**–वालो, कालो वालो। **क०**–वलरकसी-गिडा। **ते०**–मुत्तुपलागसु, एर्राकुटी। **ता०**–पेरामुटिवेर। **लै०**–*Pavonia odorata* (पॅवोनिया ओडोरेटा)। N. O. Malvaceae (मालवॅसिइ)।

सुगन्धवाला—तृण जाति की वनौषधि पश्चिमोत्तर प्रदेश, सिन्ध, पश्चिम प्रायद्वीप और सिलोन में अधिक उत्पन्न होती है। इसके क्षुप में थोडी सी कस्तूरी की सुगन्ध रहती है।

इसका **क्षुप**–सीधा होता है और समस्त क्षुप पर वारीक तीक्ष्ण रोवें होते हैं। **पत्ते**–२॥ से ३ इञ्च लम्बे चौडे, गोलाकार हृदयाकृति, कवी के पत्तों के आकार वाले ३ से ५ भागों में विभक्त तथा प्रत्येक भाग त्रिकोणाकार और दन्तुर होता है। पत्तों को मसलने से चिपचिपापन मालूम होता है। शाखाओं के अन्त में फूलों के गुच्छे लगते हैं। **पुष्पदल**–किञ्चित् हलके गुलावी रङ्ग के होते हैं। **फल**–अण्डाकृति, छोटे एवं चने बराबर होते हैं। **बीज**–भूरे रंग के, तैल से युक्त लेकिन गन्धहीन होते हैं। **मूल**–७–८ इञ्च लम्बे, प्राय. ऐंठे हुए तथा अधिक से अधिक ¼ इञ्च मोटे, चिकने, भूरे रग के तथा अनेक उपमूलों से युक्त रहते हैं। इसमें कस्तूरी के समान सुगन्ध रहती है। औषध में इन्ही मूलों का व्यवहार किया जाता है।

नोट—बाजार में सुगन्धवाला के नाम से मिलने वाला गाठदार द्रव्य सुगन्धवाला नही है। उसे असली तगर मानते हैं। उसका वर्णन पहले किया गया है। कुछ लोगों ने इसके लैटिन नाम में खस का लेटिन नाम दिया है, वह उचित नहीं है। कुछ लोगों ने खस जाति के ही दूसरे तृण का लैटिन नाम सुगन्धवाला के लिए दिया है जिसको कुछ लोग खस का ही पर्याय मानते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें लुआवदार पदार्थ तथा उत्तेजक सुगन्धि द्रव्य है।

गुण और प्रयोग—सुगन्धवाला शीतल, स्नेहन, दीपन, वातानुलोमक, उत्तेजक एव वल्य है।

इसका उपयोग ज्वर, रक्तपित्त, दाह, तृषा, हृल्लास, वमन, अतिसार, व्रणशोथ एव विसर्प में किया जाता है।

(१) किसी भी प्रकार के ज्वर में षडङ्ग पानीय के रूप में नागरमोथा, पित्तपापडा, खस, श्वेत चन्दन, सुगन्धवाला एव सोंठ का क्वाथ देने से ज्वर का दाह एव प्यास कम हो जाती है।

(२) वेल के साथ इसका उपयोग सग्रहणी में लाभकर होता है। अतिसार में आदी के साथ इसको फाण्ट बना कर पिलाते हैं। बच्चों के अतिसार में चावल के धोवन के साथ मिश्री, मधु तथा सुगन्धवाला देते हैं। वमन, हृल्लास आदि में भी तण्डुलोदक के साथ इसको देते हैं।

(३) रक्तपित्त में चन्दन, मिश्री तथा तण्डुलोदक के साथ इसका प्रयोग किया गया है।

(४) विसर्प में इसके चूर्ण को घृत के साथ लेप करते हैं। श्वित्र में इसकी जली हुई काली राख का लेप लाभदायक माना जाता है।

मात्रा—३–६ माशा।

अथ वीरणम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

स्याद्वीरणं वीरतरुर्वीरश्च बहुमूलकम्। वीरणं पाचनं शीतं वान्तिहृल्लघु तिक्तकम् ॥ ८४ ॥
स्तम्भनं ज्वरनुद् भ्रान्तिमदजित्कफपित्तहृत्। तृष्णाऽस्रविषवीसर्पकृच्छ्रदाहव्रणापहम् ॥ ८५ ॥

वीरण अर्थात् गाडर घास के नाम तथा गुण—वीरण, वीरतरु, वीर और बहुमूलक ये नाम संस्कृत में वीरण के हैं। **वीरण**—पाचक, शीतवीर्य, वमन को दूर करने वाला, लघु, तिक्त रसयुक्त एवम् स्तम्भन होता है। यह ज्वर, भ्रमरोग, मदरोग, कफ, पित्त, तृषा, रक्तप्रकोप, विष, वीसर्प, मूत्रकृच्छ्र, दाह और व्रण को दूर करने वाला होता है ॥ ८४–८५ ॥

अथोशीरम् । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वीरणस्य तु मूलं स्यादुशीरं नलदञ्च तत् । अमृणालञ्च सेव्यञ्च समगन्धिकमित्यपि ॥ ८६ ॥
उशीरं पाचनं शीतं स्तम्भनं लघु तिक्तकम् ॥ ८७ ॥
मधुरं ज्वरहृद्वान्तिमदनुत्कफपित्तहृत् । तृष्णाऽस्रविषवीसर्पदाहकृच्छ्रव्रणापहम् ॥ ८८ ॥

खस के नाम तथा गुण—'वीरण' नामक घास के जड को 'खस' कहते हैं। उसके संस्कृत नाम-उशीर, नलद, अमृणाल, सेव्य और समगन्धिक ये सब हैं। **खस**-पाचक, शीतवीर्य, स्तम्भन, लघु, तिक्त तथा मधुर रस युक्त होता है और यह ज्वर, वमन, मदरोग, कफ, पित्त, तृषा, रक्तप्रकोप, विष, वीसर्प, दाह, मूत्रकृच्छ्र और व्रग को दूर करने वाला होता है॥ ८६-८८ ॥

३३ वीरण-खस

हि०—खस, वीरन मूल, गांडर, वेना। **बं**·वेणर मूल, खसखस। **म०**—वाला। **गु०**—वालो। **क०**—मुडिवाल। **ते०**—वेट्टिवेलु। **ता०**—वेट्टिवेर। **फा०**—रेशये वाला, वीखेवाला। **अं**-Cuscus grass (कस्कस् ग्रास)। **ले०**—*Andropogon muricatus* (एन्ड्रोपोगोन् म्युरिकेटस्); *Andropogon squarrosus* (एन्ड्रोपोगोन् स्क्वॅरोसस्), *Vetiveria zizanioides* (वेटिवेरिया झाइझेनिओइडिस्)। N. O. Gramineae (ग्रेमिनिइ)।

यह इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। यह अधिकतर खुले हुये दलदल वाले स्थानों में होता है।

खस-तृणजातीय औषधि का क्षुप २ से ५ फुट तक ऊंचा एवं दृढ होता है। यह गुच्छवद्ध और समूह वद्ध होकर उगता है। **पत्ते**-सरकण्डे के समान १-२ फुट लम्बे और पतले होते हैं। ये दो कतारों में तथा आधार पर परस्पराच्छादित रहते हैं। मूलीयपत्र कुछ अधिक लम्बे रहते हैं। मध्यशिरा दवी हुई तथा पत्तों के किनारों पर दूर दूर पर तीक्ष्ण कांटे रहते हैं। **फूलों** का घनहरा पीलापन या किंचित् लाली युक्त होता है। इसकी जड की शोरिया सुगन्धित होती हैं। इन्हीं शोरियों को खस कहते हैं। औषध के अतिरिक्त ग्रीष्म ऋतु में इसके वने परदे एव पखों आदि का उपयोग किया जाता है। सुगन्धि के लिये इसके इत्र का भी बहुत व्यवहार होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें उडनशील तैल, राल, रजक पदार्थ, अम्लद्रव्य, चूने का लवण, लौहभस्म तथा काष्ठयुक्त पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—खस शीतल, तिक्त, स्तम्भक, पाचक, पित्तनाशक, मूत्रजनक, पसीनें की दुर्गन्ध दूर करने वाला, ज्वरहर, दाहशामक, स्तन्यजनक, वमन को रोकने वाला, श्रमहर एव जल को सुगन्धित करने वाला है।

इसका उपयोग फांट के रूप में पित्तज्वर, प्रसूति ज्वर, तृष्णा, दाह, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, विष, स्वेद दुर्गन्धि, वमन, कुष्ठ एव आमाशयिक प्रक्षोभ आदि में किया जाता है। इसका लेप दाह, त्वचा के रोग तथा पसीने को रोकने वाला है।

(१) वमन रोकने के लिये ½ तो० खस को १ पाव उवलते जल में डालकर उसके फाट को पिलाते हैं। इसके साथ धनिया का भी उपयोग लाभदायक है। विसूचिका में वमन रोकने के लिये २ बूँद इत्र वताशा में भरकर खिलाते हैं।

(२) पसीने की अधिकता तथा मसूरिका में इसका लेप किया जाता है।

(३) लोहवान के साथ चिलम में रखकर या सिगरेट वनाकर इसका धूम्रपान करने से शिरःशूल दूर होता है।

मात्रा—२-४ माशा।

अथ जटामांसी । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

जटामांसी भूतजटा जटिला च तपस्विनी । मांसी तिक्ता कषाया च मेध्या कान्तिबलप्रदा ॥
स्वाद्वी हिमा त्रिदोषास्रदाहवीसर्पकुष्ठनुत् ॥ ८९ ॥

जटामांसी (वालछड़) के नाम तथा गुण—जटामासी, भूतजटा, जटिला, तपस्विनी और

मासी ये सब संस्कृत नाम जटामासी के हैं। जटामांसी (बालछड़)-तिक्त तथा कषाय रस युक्त, मेधाजनक, कान्तिकारक, बलप्रद, स्वादिष्ट और शीतल होती है और त्रिदोष, रक्तदोष, दाह, वीसर्प एवम् कुष्ठ को दूर करने वाली होती है॥ ८९॥

३४ जटामांसी

हि०-जटामांसी, बालछड़। पं०-, गु०-, म०-जटामांसी। ने०-[illegible]। क०-[illegible]। पं०-बिलीलोटन। ता०-जटामाशी। का०-भूतिजट। तु०-[illegible]। फा०-नार्दे हिन्दी। अ०-सुबुलुत्तीबे हिन्दी, सुन्बुले हिन्दी। अं०-Spikenard (स्पाइकनार्ड), Indian Nard (इण्डियन नार्ड), Nardus root (नार्डस् रूट)। ले०-*Nardostachys jatamansi* (नार्डोस्टेकिस् जटामांसी)। N. O. Valerianaceae (वेलेरियानेसि)।

जटामासी—यह हिमालय के जङ्गलों में कुमाऊँ से सिक्किम तक १७ हजार फीट की ऊँचाई पर तथा भूटान में उत्पन्न होती है। इसका बहुवर्षायु क्षुप सीधा खड़ा रहता है। राइज़ोम (भौमिकाण्ड) काष्ठमय, लंबा, मजबूत एवं सूखे हुये रेशेदार पर्णवृन्त से युक्त रहता है। भूमि के ऊपर इस से कई शाखाए निकलती है और वे ६-७ अंगुल तक सघन बारीक जटाकार रोवें से भरी रहती है। **पत्ते**-जटा को छोड़ कर ऊपर ६-७ इञ्च लम्बे तथा १ इञ्च चौड़े, जड़ की ओर संकुचित, मृदु रोमश या चिकने मूलीय पत्ते रहते हैं। **काण्डपत्र**-एक या दो जोड़, १-३ इञ्च लम्बे, [illegible], आयताकार या उपलट्वाकार होते हैं। टहनियों के अन्त में सफेद या किञ्चित् गुलाबी रङ्ग के छोटे-छोटे फूलों के गुच्छे लगते है। **फल**-छोटे-छोटे गोल, सफेद रोएँदार तथा उनके ऊपर बाह्यकोष के अंडाकार, तीक्ष्ण, दन्तुर बाह्यदल लगे रहते हैं।

इसके सूखे हुवे राइझोम (भौमिक तना) तथा मूल का औषध में व्यवहार किया जाता है। इसका **मूल** गहरे धूसर (Grey) रंग का, छोटी अंगुली के बराबर मोटा तथा रक्ताभ भूरे रंग के रोओं से युक्त होता है। ये रोएदार तन्तु इसके सूखे हुवे पर्णवृन्त तथा मूल के भाग हैं जिनके आपस में मिलने से जटासी बन जाती है। अन्दर से यह रक्ताभ भूरे रंग की होती है। इसमें एक प्रकार की विशिष्ट गन्ध (असली तगर के समान) होती है तथा इसका स्वाद सुगन्धियुक्त कड़ुवा होता है। इसको हमेशा ताजी खरीदना चाहिये।

नोट—अन्य निघण्टुओं में गन्धमासी, आकाशमासी, कृष्णा सुगन्धमासी आदि भेद लिखे हुवे हैं। प्राचीन ग्रन्थों में इसके स्वतन्त्र उपयोग बहुत कम मिलते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें का प्रधान तत्त्व एक उड़नशील तैल है जो ०.३-०.४% पाया जाता है। यह तैल हलके पीले रंग का कुछ हरिताभ, जल से हलका, हवा में जमने वाला, कपूर के समान गन्ध वाला, कड़वा तथा तीता होता है। इस तैल में ईस्टर, अल्कोहल तथा सेस्क्वी टर्पेन हाइड्रोकार्बन पदार्थ होते हैं। इस तैल के अतिरिक्त जटामांसी में ३% एक रवेदार किन्तु जल में न घुलने वाला अम्ल द्रव्य तथा राल पाई जाती है।

गुण और प्रयोग—जटामासी शीतल, सुगन्धि, दीपन, पाचन, बल्य, रक्ताभिसरणोत्तेजक, उद्वेष्टननिरोधि, वातानुलोमक, मूत्रल, मृदुविरेचक, आर्तवजनन, वातनाडीशामक, सज्ञास्थापन, मेध्य, त्रिदोषघ्न, केश्य, ज्वरहर, त्वग्दोषहर, कांतिवर्धक, वेदनास्थापन, हृदयबल्य एवं सौमनस्य जनन है। इसके सेवन से क्षुधा बढती है, पाचन ठीक होता है किन्तु कोष्ठबद्धता नहीं होती। इसके सेवन से उदर में उष्णता मालूम होती है, डकार आती है, सपूर्ण शरीर में उष्णता मालूम होकर पसीना आता है, मूत्र की मात्रा बढती है तथा नाडी सबल होती है। मस्तिष्क एवं नाडी तन्तुओं पर इसकी पोषक तथा उत्तेजक क्रिया होती है। अल्प मात्रा में बहुत दिन देते रहने से मन की चचलता शान्त होती हैं, काम करने में उत्साह बढ़ता है तथा नाडी का बल बढ़ता है।

अपस्मार, अपतन्त्रक तथा अन्य आक्षेपयुक्त व्याधियों में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है।

(१) मस्तिष्क तथा नाडी तन्तुओं के विकारों में जटामासी बहुत लाभप्रद होती है। शराबियों को व्रण होने पर या उन पर कोई शस्त्रक्रिया करने पर उनको एक तरह का भ्रमणयुक्त कम्प उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में जटामासी के प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है। अत्यन्त मानसिक

परिश्रम या अस्थैर्य से थकावट उत्पन्न होने पर इसका सेवन नाडियों के लिए बलकारक तथा श्रमहर होता है। अपतन्त्रक में इससे आवेग कम होते हैं। शिरःशूल के लिये यह उत्कृष्ट औषध है। मानसिक आघात में यह बहुत जल्दी काम करती है। हींग, कस्तूरी आदि की अपेक्षा जटामांसी इन विकारों में अधिक उपयोगी तथा शीघ्र कार्यकर मानी जाती है। भूतावेश जैसी चेष्टाओं में जटामासी, ब्राह्मी स्वरस तथा घोडवच का मधु के साथ प्रयोग करते हैं। अपस्मार, अपतन्त्रक, हृदय की धडकन, कम्पवात तथा अन्य आक्षेपयुक्त व्याधियों में इसका फाण्ट बहुत प्रभावशाली माना जाता है। इनमें इसे १ से २ औंस की मात्रा में दिन में ३ बार पिलाते हैं। अपस्मार में इसके तैल का २–५ बूँद की मात्रा में सेवन कराया जाता है।

(२) रक्ताभिसरण ठीक न होता हो तो यह बहुत ही उपयुक्त औषध है। इससे मस्तिष्कगत रक्तप्रवाह सन्तुलित होता है जिससे सर का भारीपन, चक्कर, मूर्च्छा, आंखों के सामने अंधियारी, सुनाई कम पडना आदि में लाभ होता है। हृदय की धडकन, कमजोरी तथा हृदय के कारण उदर में वायु सञ्चित होने पर इसे सुगन्ध द्रव्य तथा नवसादर के साथ खिलाते हैं। इससे रक्तवाहिनियों का सकोच होकर रक्तपित्त, विसर्प तथा रक्तस्राव में लाभ होता है।

(३) जटामासी ४, दालचीनी १, शीतलचीनी १, सौंफ १, सोंठ १ तथा मिश्री ८ भाग के चूर्ण को ३–९ माशे की मात्रा में आध्मान, शूल, आमाशयिक शूल तथा आक्षेपयुक्त विकारों में देते हैं। बच्चों के आध्मान, उदरशूल, सुशिक्षितों तथा नाजुक प्रकृति की स्त्रियों के मन्दशूल, कुपचन आदि पचन संस्थान के विकारों में जटामांसी और नवसादर के साथ सुगन्धि द्रव्यों को मिलाकर देते हैं। इससे पित्त का स्राव ठीक होकर पाचन सुधरता है।

(४) औपसर्गिक शोथयुक्त ज्वरों में त्रिदोष की वृद्धि होने से रोगी प्रलाप करता है तथा सन्निपात के लक्षण दिखलाई देने लगते हैं। इन अवस्थाओं में इसके प्रयोग से शीघ्र लाक्षणिक लाभ होता है। इससे रक्ताभिसरण ठीक होता है, नाडी तन्तुओं को बल मिलता है, कफ ढीला होता है, दाह कम होता है तथा शोथ में भी लाभ होता है। विषम ज्वर में भी इससे पर्याप्त लाभ होता है।

(५) विस्फोट एवं व्रणों में इसके लेप से जलन तथा पीडा कम होती है। मुखपाक में भी इससे जलन तथा पीडा का शमन होता है। झाई–व्यङ्ग आदि त्वग्दोषों में उबटन के रूप में व्यवहार करने से त्वचा की कान्ति बढती है। यह बालों के लिये भी लाभदायक है। शिर:शूल में इसका लेप करते हैं। दन्तशूल में इससे मञ्जन कराते हैं। मुखदुर्गन्ध में इसे चवाते हैं। स्वेदाधिक्य में इसके चूर्ण का उपयोग मर्दन के लिये करते हैं। बेहोशी में इसे पीस कर आंखों पर लेप करते हैं।

(६) पीडितार्तव में इसके सेवन से पीडा कम होती है तथा आर्तव स्राव ठीक होने लगता है। स्त्रियों में रजोनिवृत्ति के काल में कुछ विशिष्ट मानसिक तथा शारीरिक अवसाद के लक्षण उत्पन्न होते हैं ऐसी अवस्थाओं में जटामासी बहुत उपयोगी होती है।

मात्रा—५–१० रत्ती।

अथ शैलेयम् (भूरिछरीला)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

शैलेयन्तु शिलापुष्पं वृद्धं कालानुसार्य्यकम् ॥ ९० ॥
शैलेयं शीतलं हृद्यं कफपित्तहरं लघु । कण्डूकुष्ठाश्मरीदाहविषहृद् गुदरक्तहृत्[1] ॥ ९१ ॥

शैलेय (भूरिछरीला) के नाम तथा गुण—शैलेय, शिलापुष्प, वृद्ध और कालानुसार्यक ये सब संस्कृत नाम भूरिछरीला के हैं। **भूरिछरीला**—शीतवीर्य, हृद्य (हृदय को हितकर), कफ तथा पित्तनाशक, लघु, एवम् खुजली, कुष्ठ, पथरी, दाह, विष तथा गुदा से रक्त गिरना इन सब को दूर करने वाला है।

३५ छरीला

हि०—छरीला, भूरिछरीला, पत्थरफूल। **बं०**—शैलज। **म०**—दगडफूल। **गु०**—पत्थरफूल, छडीलो।

---

१. विषहल्लासरक्तजित् इति पाठा०।

क०—कल्लुहुवु। ते०—शैलेय मनेद्रव्यमु, रतिपंचे। ता०—कल्पसी। फा०—उशनह, गुलेसंग। अ०—उश्नः। अं०—Stone flowers (स्टोन फ्लावर्स); Yellow Lichen (यलो लाइचेन)। ले०—*Parmelia perlata* (पर्मेलिया परलेटा)। N. O. Lichenes (लाइचेनीस्)।

छरीला—यह क्षुद्र वनस्पति पहाड़ी जमीन के पत्थरों पर उत्पन्न होती है और जान पड़ता है मानो यह पत्थर से ही अपना आहार लेती है। यह हिमालय और नीलगिरी के पहाड़ों पर पाई जाती है। यह वृक्षों और दीवालों पर भी पाई जाती है। यह हरी पेड़ोंसी सफेद होकर जब सूख कर उतरती है तब इसके ऊपर का पृष्ठ काला और नीचे का सफेद होता है। जो अधिक सफेद होती है वही अच्छी समझी जाती है। इसकी कई जातियां पाई जाती हैं। इसका स्वाद फीका तिक्त-कषाय होता है। औषध के लिये हमेशा नया तथा सुगन्धयुक्त छरीला काम में लेना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें पीत रवेदार पदार्थ, गोंद, लाइचेनिन एवं कार्बोफेनिक् एसिड, ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—छरीला शीतल, सुगन्धि, हृद्य, सौम्य मूत्रल, दीपन, वेदनास्थापन, ग्राही एवं शोथहर है। यह कफ, पित्त, दाह, तृषा, वमन, श्वास, व्रण, कण्डू, अश्मरी, विष, हृल्लास, गुदरक्तस्राव एवं रक्तविकार दूर करने वाला है। पेशाब रुकने पर १ तो० छरीला के फांट में मिश्री एवं जीरा मिलाकर पिलाते हैं तथा इसे गरम जल में भिगोकर कमर पर बांधते हैं। इसे ठण्डे जल में पीस कर सर पर लेप करने से शिरःशूल दूर होता है। व्रण पर इसे लगाने से लाभ होता है। यकृत् शूल निवारण के लिये इसका उपयोग करते हैं। अञ्जन के योगों में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—२-४ माशा।

अथ मुस्तकं-नागरमुस्तकञ्च। (मोथा-नागरमोथा)। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

मुस्तकं न स्त्रियां मुस्तं त्रिषु वारिदनामकम्। कुरुविन्दश्च संख्यातोऽपरः क्रोडकसेरुकः ॥९२॥
भद्रमुस्तश्च गुन्द्रा च तथा नागरमुस्तकः। मुस्तं कटु हिमं ग्राहि तिक्तं दीपनपाचनम् ॥ ९३ ॥
कषायं कफपित्तास्रतृड्ज्वरारुचिजन्तुहृत्। अनूपदेशे यज्जातं मुस्तकं तत्प्रशस्यते।
तत्रापि मुनिभिः प्रोक्तं वरं नागरमुस्तकम् ॥ ९४ ॥

मोथा तथा नागरमोथा के नाम और गुण—मुस्तक (इसका स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर शेष लिङ्गों में प्रयोग होता है), मुस्त (यह तीनों लिङ्गों में होता है), वारिदनामक (मेघवाची सभी शब्द) और कुरुविन्द ये सब संस्कृत नाम मोथा के हैं। दूसरे प्रकार का जो मोथा है जिसे नागरमोथा कहते हैं, उसके संस्कृत नाम—क्रोडकसेरुक, भद्रमुस्त, गुन्द्रा तथा नागरमुस्तक ये सब हैं। **मोथा**-कटुतिक्त तथा कषाय रस युक्त, शीतवीर्य, ग्राही, अग्निदीपक तथा पाचक होता है और यह कफ, पित्त, रक्तप्रकोप, तृषा, ज्वर, अरुचि **और** कृमि का नाशक होता है। जो 'मोथा' अनूप देश में उत्पन्न होता है वही श्रेष्ठ होता है। उसमें भी मुनियों ने 'नागरमोथा' को ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है॥

३६ मोथा

हि०—मोथा। **बं०**—मुता, मुथा। **म०**—मोथा, बिम्बल, भद्रमुष्टि। **गु०**—मोथ। **क०**—कोरनारि। **ते०**—तुंगमुस्ते। **ता०**—कोरइ किलगु। **फा०**—मुश्के जमीं। **अ०**—सोअ(अ)द कूफी। **अं०**—Nut-grass (नट्ग्रास)। **ले०**—*Cyperus rotundus* (साइपरस् रोटन्डस्)। N. O. Cyperaceae (साइपरेसिइ)।

मोथा इस देश के सब प्रान्तों में बहुलता से होता है। यह तृणजातीय वनस्पति बारहो मास पायी जाती है किन्तु बरसात में सर्वत्र देखने में आती है। इसमें मूलीय पत्रगुच्छ होता है जो एक कठोर कन्द सदृश भौमिककाण्ड से निकलता है। नीचे सूत्राकार अन्तर्भूमिशायी कांड भी प्रायः होते हैं जिनसे पौन से एक इञ्च के घेरे में अंडाकार कंद निकले रहते हैं जो कसेरू के समान ऊपर से काले रंग के और भीतर से सफेद होते हैं और इनमें सुगंध आती है। **डंडी**–पतली, ६ से

२४ इञ्च तक ऊची, त्रिकोणाकर तथा पत्तों के बीच से निकली रहती है। **पत्ते**—लम्बे और पतले होते हैं। डडी के अग्रपर समस्थमूर्धजक्रम मे पुष्पवाहक शाखायें निकलती हैं जो छोटे-छोटे अवृन्त काण्डजव्यूहों का सयुक्तव्यूह होती हैं। पुष्पव्यूह का आधार भाग तीन पत्रसदृश कोणपुष्पकों से घिरा रहता है। इसके काले-काले कंदों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

नोट—भावप्रकाशकार ने मोथा एव नागरमोथा ये दो भेद लिखे हैं। नागरमोथा का ही दूसरा नाम भद्रमुस्ता लिखा है। अन्य निघण्टुओं में भद्रमुस्ता अलग लिखा है तथा मुस्ता का एक अन्य कैवर्तमुस्ता (जलजमुस्ता, केवटीमोथा) भेद लिखा है। सब मोथे के गुण करीब करीब समान ही हैं तथा एक दूसरे के स्थान पर इनका उपयोग किया जा सकता है। अनूप देश में होने वाला नागरमोथा अधिक प्रशस्त माना गया है। यह हमेशा ताजा तथा सुगन्धयुक्त खरीदना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धित उड़नशील तैल, वसा, शर्करा, गोद, कार्बोहाइड्रेट, ॲल्व्यूमिन सदृश पदार्थ, तन्तु तथा राख एव अत्यल्प मात्रा में क्षाराभ आदि पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—मोथा ग्राही, दीपक, पाचक, स्वेदजनक, मूत्रजनक, स्तन्यवर्धक, आर्तवजनक, किञ्चित् गर्भाशयोत्तेजक, केशवर्धक, व्रणरोपक एव कृमिघ्न है।

(१) कुपचन, वमन एवं अतिसार आदि आमाशय तथा आन्त्र के विकारों में इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। आमातिसार में ताजे कन्द को आर्द्रक के साथ पीसकर मधु मिला कर खिलाते हैं। इसमें २० मोथे के कन्दों को ३ गुने दूध तथा जल में उबाल कर दूध शेष रहने पर छानकर पिलाते हैं। सभी प्रकार के अतिसार में इसके क्वाथ में (क्वाथ ठडा होने पर) मधु मिलाकर पिलाने से लाभ होता है।

(२) स्वेदजनक, मूत्रजनक एव उत्तेजक होने से यह ज्वर, ज्वरातिसार एव पित्तज्वर में उपयोगी है।

(३) विसूचिका तथा मदात्यय में तृषा शान्ति के लिये इसके शीतल क्वाथ को पिलाते हैं।

(४) अक्षिव्रण में इसे घृत में भूनकर पीसकर लगाने से ३, ४ दिन में लाभ होता है। आंख की फूली एवं लालिमा में बकरी के मूत्र में इसे पीसकर उसका अंजन किया जाता है।

(५) इसकी ताजी जड को घिसकर गोघृत मिलाकर व्रण पर लगाते हैं तथा इसको जल मे पीसकर दुग्धवृद्धि के लिये स्तन पर लेप करते हैं।

(६) रोमन लोग आर्तवजनन औषध के रूप में गर्भाशय की बीमारियों में इसका व्यवहार करते थे।

मात्रा—३-६ माशा।

३७ नागर मोथा

हि०—नागर मोथा। **बं०**—नागरमथा। **म०**—नागर मोथा, लवाला। **मा०**—नागर मोथो। **गु०**—नागरमोथ। **क०**—कोन्नरि गड्डे। **ते०**—नागमुस्तेलु। **ता०**—मुट्टाकाचि। **फा०**—सुम्के जमीं। **अ०**—सोअद कूफी। **ले०**—*Cyperus scariosus* (साइपरस् स्केरिओसस्)।
N. O. Cyperaceae (साइपरेसिइ)।

नागरमोथा-मोथे के समान तृणजातीय वनौषधि बगाल, पेगु, सुन्दरवन, राजपुताना के तालाब तथा अन्यान्य प्रान्तों के सजल स्थान मे पाया जाता है। इसकी डडी १६ से ३६ इञ्च तक ऊची, पतली त्रिकोणाकार होती है। जड के नीचे कदवत् लम्बे-लम्बे, अंगुली प्रमाण मोटे, दबे हुये काले रंग के जो अन्तर्भूमिशायी काड होते हैं उन्हीं को नागरमोथा कहते हैं जिनका चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—मोथा के समान।

गुण और प्रयोग—नागरमोथा शीतल, दीपन, पाचन, वातानुलोमक, ग्राही, स्वेदजनन, कफघ्न, मेध्य, तृष्णानिग्रहण, स्तन्यजनन, स्तन्यशोधन, कण्डूघ्न, मूत्रजनन गुणों से युक्त, उत्तेजक

तथा जन्तुनाशक है। इसका उपयोग मोथे के समान ही किया जाता है। यद्यपि इसमें इतने उपयुक्त धर्म है तथापि इसका प्रयोग अन्य औषधों के साथ अधिक किया जाता है।

(१) अरुचि, आमातिसार, वमन, रक्तार्श तथा कुपचन में नागरमोथा गुणकारी है। सग्रहणी में इससे बहुत लाभ होता है।

(२) ज्वर, प्रसूतिज्वर तथा पैत्तिक ज्वर में हमेशा इसका प्रयोग करना चाहिये। इसमे प्यास कम होती है, पसीना आता है, उत्तेजना आती है, जांघ का स्वरूप अच्छा होता है, पेशाव साफ होता है तथा गर्भाशय का थोडा सा सकोच भी होता है। प्रसूता को दुग्ध शुद्धि तथा वृद्धि के लिये इसको खिलाते हैं तथा जल में घिस कर स्तन पर लेप करते है। इससे स्तन की दूध की गाठें कम होती हैं।

(३) परमा में नागरमोथा बहुत लाभदायक है। यह प्रथम एव द्वितीयावस्था में दिया जाता है।

(४) अपस्मार में उत्तर दिशा में होने वाले मोथे को पीसकर समान वर्ण वाली सवत्सा गौ के दुग्ध के साथ पिलाने से लाभ होता है।

(५) इसका जन्तुघ्न धर्म अधिक मात्रा में देने से ही मालूम होता है। कड्डू में इसका लेप किया जाता है।

मात्रा—३-६ माशा।

अथ कर्चूरः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कर्चूरो वेधमुख्यश्च द्राविडः कल्पकः शटी। कर्चूरो दीपनो रुच्यः कटुकस्तिक्त एव च ॥ ९५॥
सुगन्धिः कटुपाकः स्यात्कुष्ठार्शोव्रणकासनुत्। उष्णो लघुर्हरेच्छ्वासं गुल्मवातकफक्रिमीन् ॥९६॥

कचूर के नाम तथा गुण—कर्चूर, वेधमुख्य, द्राविड, कल्पक और शटी ये सब सस्कृत नाम कचूर के हैं। **कचूर**–कटु तथा तिक्त रस युक्त, अग्निदीपक, रुचिकारक, सुगंध युक्त, पाक में कटुरस युक्त, उष्णवीर्य और लघु होता है एव यह कुष्ठ, ववासीर, व्रण, खासी, श्वास, गुल्म, वात, कफ और कृमि इन सब रोगों का नाशक होता है॥ ९५-९६॥

३८ कचूर

हि०–कचूर। **बं०**–शटी, एकागी, शोरी, कचूरा। **म०**–कचोरा। **गु०**–कचूरो, पट् कचूरो। **ते०**–कचोरमु। **ता०**-किच्छिलिक किझगु। **क**—कचोरा। **अ०**–जरंबाद, एरकुल् काफुर। **फा०**–कजूर। **अं०**–Zedoary (झिडोअरी)। **ले०**–*Curcuma zedoaria* (कर्क्युमा झिडोरिआ)। N. O. Scitaminaceae (सिटॅमिनॅसिइ)।

पूर्व हिमालय, सिंहल द्वीप तथा बर्मा के पश्चिम में यह आपही आप उत्पन्न होता है और कई प्रान्तों के खेतों में रोपण भी किया जाता है।

इसका **क्षुप**–तीन चार फीट ऊँचा हलदी के समान होता है और जड के नीचे अनेक कद होते हैं। उनको कचरा कर सुखा लेते हैं। इसी को कर्चूर कहते है। **पत्ते**–१-२ फीट लवे, आयताकार, लवाग्र और नीचे की ओर क्रमश: सकुचित होकर पत्रवृन्त में परिणत हो जाते है। ये कुछ कालापन लिये हुये तथा मध्य शिरा पर नीलारुण रगीन धब्बों से युक्त होते हैं। पुष्पदण्ड पत्तियों के पहले निकलता है। कोणपुष्पक रक्ताभ और ऊपर के अपुष्प पत्र अधिक लाल होते है। **फूल**–नलिकाकार पीले रग के आते हैं। **बीजकोष**–त्रिकोणाकार और बीज अडाकार और सफेद होते हैं। अन्तर्भूमिशायी कन्द लवगोल, भीतर हलके पीले और पूर्णतः विकसित रहते हैं। मूलाग्र कन्द अनेक और भीतर मुक्तावर्ण के होते हैं। अन्तर्भूमिशायी कद कर्पूर तुल्य प्रियगंध वाले होते है। इन्हीं कदों का चिकित्सा मे उपयोग किया जाता है। इसकी पत्तियों को मछली भूनने के काम में लाते हैं। इसी क्षुप के समान **काली हलदी** का क्षुप होता है जिसका वर्णन पृ० ९८ पर किया गया है।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील तैल, कटु मुलायम राल, गोंद, स्टार्च, शर्करा एवं ऑर्गेनिक् अम्ल आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—कचूर सुगंधि, रुचिकर, दीपन, स्वर्य, कफहर, वातहर, मूत्रजनन एवं हृद्य है। इसका उपयोग कास, श्वास, अजीर्ण, अर्श, हिक्का, ज्वर, संग्रहणी, प्लीहा, गुल्म, कुष्ठ, कृमि एवं व्रण में किया जाता है।

(१) मुख को साफ करने के लिये इसको चवाते हैं। गायक इसको आवाज साफ करने के लिये चूसते हैं। इससे खांसी एवं गले की खराश में लाभ होता है।

(२) इसके ताजे कंदों का पाक या खण्ड प्रसूता के लिए पौष्टिक माना जाता है।

(३) विषमज्वर, प्रतिश्याय तथा शरीर में पीडा हो तो कचूर, छोटी पीपल एवं दालचीनी का क्वाथ मधु मिलाकर पिलाते हैं तथा पीडा में इसका लेप करते हैं।

(४) श्वेत प्रदर तथा पूयमेह में यह बहुत लाभप्रद है। परमा में इसके फांट से जलन कम होकर पेशाव साफ होता है।

(५) जलोदर में इसके पत्तों का रस पिलाया जाता है। गांठों तथा फोडे आदि पर इसके पत्तों को पीसकर बांधा जाता है। अर्श तथा अतिसार में इसका शाक के रूप में प्रयोग लाभप्रद माना जाता है।

(६) बच्चों के आक्षेप में कबोडियन माताएं इसको चबाकर सर तथा शरीर पर लगाती हैं।

(७) मोच में इसको पीसकर फिटकिरी मिलाकर लगाते हैं।

मात्रा—१-४ माशा।

अथ मुरा (मुरहरी, एकाङ्गी) । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मुरा गन्धकुटी दैत्या सुरभिः शालपर्णिका ॥ ९७ ॥
मुरा तिक्ता हिमा स्वाद्वी लघ्वी पित्तानिलापहा। ज्वरासृग्भूतरक्षोघ्नी कुष्ठकासविनाशिनी ॥९८॥

मुरा (एकाङ्गी) के नाम तथा गुण—मुरा, गन्धकुटी, दैत्या, सुरभि और शालपर्णिका ये सब संस्कृत नाम मुरा के हैं। **मुरा**–तिक्त रस युक्त, शीतवीर्य, स्वादिष्ट और लघु होती है एवं यह पित्त, वात, ज्वर, रक्तविकार, भूत और राक्षस सम्बन्धी बाधा, कुष्ठ तथा खांसी इन सबों को दूर करने वाली होती है ॥ ९७-९८ ॥

३६ मुरा

मुरा नामक गन्धद्रव्य के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोग इसे मरोडफली (Helicteres isora–हेलिक्टेरिस् आइसोरा) मानते हैं, जो उचित नहीं मालूम होता। श्री डा० कर्नल चोपरा की पुस्तक में एरिथ्रिना स्ट्रिक्टा (Erythrina stricta) का संस्कृत नाम मुरा लिखा मिलता है। पंजाबी में मुर्रा नाम साइनॅन्थस् का दिया है जिसके पुष्पों का दमें में उपयोग होता है। कुछ लोग इसे कचूर, कपूर कचरी या जटामासी का भेद मानते हैं। अधिक सभव है यह कपूरकचरी का भेद हो।

अथ गन्धपलाशी (कपूरकचरी) (सुगन्धिद्रव्यं काश्मीरे प्रसिद्धम्) । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शठी पलाशी षड्ग्रन्था सुव्रता गन्धमूलिका । गन्धारिका गन्धवधूर्वधूः पृथुपलाशिका ॥९९॥
भवेद्गन्धपलाशी तु कषाया ग्राहिणी लघुः। तिक्ता तीक्ष्णा च कटुकाऽनुष्णाऽऽस्यमलनाशिनी।
शोथकासव्रणश्वासशूलसिध्मग्रहापहा[1] ॥ १०० ॥

कपूर कचरी जो कि काश्मीर देश में प्रसिद्ध एक प्रकार का सुगन्धि द्रव्य है, उसके नाम तथा गुण—शठी, पलाशी, षड्ग्रन्था, सुव्रता, गन्धमूलिका, गन्धारिका, गन्धवधू, वधू, पृथुपलाशिका और गन्धपलाशी ये सब संस्कृत नाम 'कपूर कचरी' के हैं। **कपूर कचरी**–कटु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, ग्राही, लघु, तीक्ष्ण तथा थोडा उष्णवीर्य होती है एवम् यह मुख के मल को दूर

१. हिध्म इति पाठा०।

करने वाली, शोथ, खासी, व्रण, श्वास, शूल, सिध्म (या-हिक्का) और ग्रहबाधा इन सबों को दूर करने वाली है ॥ ९९-१०० ॥

४० कपूर कचरी

हि०—गधपलाशी, कपूर कचरी, सितरुटी। **बं०**—शठी, गन्ध शटी। **म०**—कपूर कचरी। **गु०**—कपूर काचरी। **क०**—गन्ध शठी। **ता०**—शिमैकिचिलिक् किशगु। **पं०**—कचूर काचु, शेदूरी। **ले०**—*Hedychium spicatum* (हेडिचिअम् स्पाइकेटम्)। N. O. Scitaminaceae (सिटॅमिनॅसिइ)।

यह हिमालय के साधारण प्रान्त, पजाव, नेपाल और कुमाऊँ में अधिक उत्पन्न होती है।

यह **क्षुप** जाति की वनौषधि प्रायः वारहो मास मिलती है। **जड़**-कन्दवत् भूमि के भीतर समतल वढती है। इसी को सुखा कर कार्य में लेते है। **डंठल**—लम्बा पत्रयुक्त होता है। **पत्ते**-हल्दी के पत्तों के समान एक फुट लम्बे, अनियमित चौडे एवं अंडाकार होते है। **फूल**—सफेद आते हैं। **फल**-त्रिदल, गोलाकार और चिकना होता है।

इसके मूलस्तभ (मूल) को काटकर सुखाये हुये, छोटे वडे सुगधित टुकडे वाजार में विकते हैं। यह सफेद रंग के एव पिष्टमय रहते है। इनका वाह्यत्वक् रक्ताभ भूरे रंग का होता है। इसका स्वाद कडवा एवं तीता रहता है। अवीर के निर्माण एव गुडाखु को सुगधित करने के लिये इसका उपयोग किया जाता है। कपूर कचरी नाम से इसी वर्ग के 'चन्द्रमूल' (Kaempferia galangal-केम्फेरिआ गॅलन्गाल्)[1] के मूल के टुकडे भी व्यवहार में लाये जाते हैं जो इसी के समान होते है। वाजार में एक चीनी कपूर कचरी नामक औषध भी विकती है जो देखने में अच्छी होते हुये भी उसमें सुगन्ध कम रहती है।

रासायनिक सगठन—इसमें स्टार्च, गोंद, सेल्युलोज, ॲल्ब्यूमिन्, तैल, राल एवं सुगन्धि द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—कपूरकचरी उष्ण, ग्राही, लघु, कटु, तिक्त, दीपन एव वातानुलोमक होती है। इसका उपयोग कास, श्वास, हिचकी, वमन, अपतन्त्रक, शूल एव व्रण में किया जाता है। दतशूल में इसके मंजन से लाभ होता है। इससे मुख की दुर्गन्धि दूर होती है।

मात्रा—१-४ माशा।

अथ प्रियङ्गुर्गन्धप्रियङ्गुश्च। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

प्रियङ्गुः फलिनी कान्ता लता च महिलाऽऽह्वया ॥ १०१ ॥
गुन्द्रा गन्धफला श्यामा विष्वक्सेनाङ्गनाप्रिया। प्रियङ्गुः शीतला तिक्ता तुवराऽनिलपित्तहृत्॥
[2]रक्तातीसारदौर्गन्ध्यस्वेददाहज्वरापहा। (वान्तिभ्रान्त्यतिसारघ्नी वक्त्रजाड्यविनाशिनी)॥
गुल्मतृड्विषमोहघ्नी[3] तद्वद् गन्धप्रियङ्गुका ॥

'प्रियङ्गु' तथा 'गन्धप्रियङ्गु' के नाम और गुण—प्रियङ्गु, फलिनी, कान्ता, लता, महिलाह्वया (स्त्रीवाचक सभी शब्द), गुन्द्रा, गन्धफला, श्यामा, विष्वक्सेनाङ्गना और प्रिया ये सव सस्कृत नाम 'प्रियङ्गु' के हैं। प्रियङ्गु-तिक्त तथा कषाय रसयुक्त और शीतवीर्य होती है। यह वात, पित्त, रक्तातिसार, दुर्गन्ध, पसीना, दाह, ज्वर, (वमन, चक्कर, अतिसार, मुँह की जडता) गुल्म, तृषा, विष और मोह इन सव रोगों को दूर करती है। इसी भाँति 'गन्धप्रियङ्गु' के भी गुण होते हैं ॥ १०१-१०३ ॥

---

१ **चन्द्रमूल** के क्षुप दक्षिण की तरफ वगीचों में लगाये मिलते हैं। इसमें १४% खनिज द्रव्य, सुगधि तैल, ४% गोंद तथा अधिक मात्रा में पिष्टमय पदार्थ रहते हैं। यह मूत्रल, वातानुलोमक, उत्तेजक एवं कफनि:सारक है। सर्दी-खासी में इससे सिद्ध तैल को नाक तथा छाती पर लगाते हैं एव मधु के साथ १-२ रत्ती चूर्ण चटाते हैं। मुख को सुवासित करने के लिये इसके छोटे टुकडे को मुख में रखते है। इसके उवटन का भी प्रयोग किया जाता है।

२. रक्तातियोग इति पाठा०। ३. मेहघ्नी इति पाठा०।

अथ तत्फलगुणानप्याह

तत्फलं मधुरं रूक्षं कषायं शीतलं गुरु। विबन्धाध्मानबलकृत्संग्राहि कफपित्तजित्॥ १०४॥

प्रियङ्गु का फल—मधुर तथा कषाय रसयुक्त, रूक्ष, शीतवीर्य और गुरु होता है। यह विबन्धकारक, आध्मानकारक, बलकारक एवं संग्राही तथा कफपित्त नाशक होता है॥ १०४॥

४१ प्रियंगु

प्रियंगु के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। इसी निघण्टु के धान्यवर्ग में कंगु (कंगुनी धान्य) के पर्याय में भी प्रियंगु नाम दिया हुआ है। इससे भ्रम होता है कि क्या यहां पर वर्णित प्रियंगु तथा धान्यवर्गोक्त प्रियंगु एक ही हैं? प्रियंगु से कौन सा प्रियंगु लिया जाय? वास्तव में कंगु के पर्याय में केवल प्रियंगु नाम देने से ही प्रियंगु से कंगु धान्य लेना उचित नहीं है। दोनों के गुण बिलकुल भिन्न हैं। जहां पर टीकाकारों ने स्पष्ट रूप से प्रियंगु के लिये कंगु लेने का निर्देश किया हो वहीं पर प्रियंगु के लिये कंगु का उपयोग किया जा सकता है अन्यथा प्रियंगु से कर्पूरादिवर्गोक्त प्रियंगु ही लेना उचित है। कुछ लोगों ने कंगु से पार्थक्य करने के लिये इसको गंधप्रियंगु लिखा है लेकिन भावप्रकाशकार ने यहां पर प्रियंगु तथा गंधप्रियंगु दो द्रव्यों का उल्लेख किया है। यहां पर इन दोनों के गुण समान बतलाये हैं। धान्यवर्गोक्त कंगु, जिसका एक पर्याय प्रियंगु है, उसके तथा यहां पर उल्लिखित प्रियंगु के गुण समान नहीं हैं, यह बात ध्यान में रखने की है। निम्नलिखित वर्णन केवल यहीं पर वर्णित प्रियंगु का है, कंगु (धान्य) का नहीं।

यहां पर उपर्युक्त श्लोकों में जिन दो द्रव्यों का उल्लेख किया गया है, उनके लिये गंधप्रियंगु नाम देना ठीक है। हो सकता है कि प्रियंगु के संदिग्ध द्रव्य रहने के कारण दो विभिन्न प्रकार के द्रव्यों का उपयोग भावप्रकाशकार के समय होता रहा हो, जिनमें से एक में गंध हो तथा दूसरे में गंध न हो या बहुत कम हो अथवा एक ही प्रकार के दो क्षुप हों जिनमें से एक में गंध हो और दूसरा निर्गंध हो, जिसका आगे स्पष्टीकरण होगा।

आजकल इसी उपर्युक्त 'प्रियंगु गंधप्रियंगु' के लिये ३ प्रकार के द्रव्यों का उपयोग किया जारहा है। बंबई की तरफ **घऊँला** नाम से प्रुनस् महालिब् (Prunus mahaleb) की फलमज्जा बिकती है, जिसका उपयोग प्रियंगु के रूप में वहां पर करते हैं। बंबई प्रान्त में श्वेतचंदन, घऊँला एवं कपूरकचरी को जल में पीस कर सुगंधित लेप के लिये प्रयोग किया जाता है। चरक ने रक्तपित्त में दाहशांति के लिये चन्दन और प्रियंगु के लेपन से उपलिप्त स्त्रियों के स्पर्श का विधान किया है।[1] यह मज्जा छोटी चिरौंजी जैसी, गोधूमवर्ण की स्वाद में तिक्त एवं सुगंधित होती है। दूसरा द्रव्य अॅग्लेइआ रॉक्सबर्घियाना (Aglaia roxburghiana) के फल हैं जो कुछ गोल, छोटे, निंब फल सदृश एवं सूखने पर सिकुड़नदार दिखलाई देते हैं। इनका व्यवहार बहुत दिनों से होता आरहा है लेकिन इसमें गंध नाम मात्र की होती है। तीसरा द्रव्य कॅलिकार्पा मॅक्रोफाइला (Callicarpa macrophylla) नामक लता (झाड़ी) की पुष्प कलिकायें हैं जो छोटी-छोटी कंगुनी धान्य सदृश होती हैं। इसका वर्णन अभिनव बूटी दर्पण में है लेकिन वहां पर इसका लेटिन नाम नहीं लिखा है। इसके लेटिन नाम के साथ इसका वर्णन श्रीमान् ठा० बलवन्त सिंह जी ने 'वनौषधिदर्शिका' एवं 'बिहार की वनस्पतियाँ' इन पुस्तकों में किया है। मूल श्लोक एवं अन्य निघण्टुओं में दिये हुए लता, फलिनी, कृष्णपुष्पी, गन्धफला, कृशाङ्गी, महिलाह्वया, पर्णभेदनी आदि इसके रूपपरिचयात्मक पर्याय इस लता से मिलते होने के कारण इसको प्रियंगु मानते हैं। श्रीमान् बाबू भीमचन्द्र चटर्जी द्वारा लिखित 'दि एकॉनॉमिक बोटॅनी ऑफ इण्डिया' से 'अभिनव बूटी दर्पण' में कुछ अंश उद्धृत किया गया है जिसमें वे लिखते हैं कि 'नेपाल, चटगांव तथा पूर्व बंगाल के कुछ भागों में इसी का व्यवहार प्रियंगु के रूप में लोग करते हैं। नेपाल में दयालो

---

१. प्रियङ्गुकाचन्दनरूषितानां स्पर्शाः प्रियाणां च वराङ्गनानाम्। (च. चि. अ. ४)

तथा श्वेतदयालो नाम से उपयोग में लाई जाने वाली लताओं का वर्णन उपर्युक्त लता से ठीक मिलता है। श्वेतदयालो तथा दयालो एक ही समान हैं किन्तु अन्तर इतना ही है कि श्वेतदयालो गधयुक्त होती है एव इसके पत्ते कुछ बडे, अधिक श्वेत तथा स्पर्श में खुरदरे होते हैं। इससे मालूम होता है कि भावप्रकाशोक्त प्रियगु तथा गधप्रियंगु यह दयालो तथा श्वेतदयालो हैं। जिला गढवाल और अलमोडा में **दहिया** के नाम से यह प्रसिद्ध है तथा कुमाऊँ प्रात के वैद्य इसको प्रियगु मानते है।'

इन तीन द्रव्यों के अतिरिक्त मेंहदी के फूल, कुमुदनी, सरसों के फूल, मालकागुनी एव गोंदनी आदि को भी कुछ लोग प्रियंगु मानते हैं। चरक में संधानीय, शोणिता-स्थापन, पुरीष सग्रहणीय एव मूत्रविरजनीय गणों में तथा सुश्रुत में अजनादि, एलादि तथा प्रियग्वादिगणों में प्रियगु का उल्लेख है। चरक ने रक्त और पित्त की अतिवृद्धि को शान्त करने वालों में गधप्रियगु को श्रेष्ठ माना है (च. सू. अ. २५)। उपर्युक्त तीन द्रव्यों का वर्णन यहा दिया जारहा है।

प्रियंगु १ (फूलप्रियंगु)

हि०—प्रियगु, फूलप्रियगु, गंधप्रियगु, बुड्ड, बूढीघासी, डइया, दहिया। **बं०**—मथुरा। **नेपा०**—दयालो, श्वेतदयालो। **पं०**—सुमाली। **ले०**—*Callicarpa macrophylla* (कॅलिकार्पा मॅक्रोफाइला)। N. O. Verbenaceae (व्हर्बिनॅसिइ)।

यह जगलों के किनारे, घाट और ऊँची चढाइयों तथा खुले हुये जगल और परती भूमि में होता है। यह नेपाल, देहरादून के जलप्राय स्थानों तथा विहार के अनेक स्थानों में पाया जाता है। वलिया स्टेशन के अहाते में लगे हुए इसी प्रकार के एक क्षुप का उल्लेख चौखम्बा सस्कृत पुस्तकालय से प्रकाशित 'सचित्र अभिनव बूटीदर्पण' में किया हुवा है।

इसकी **लता** (झाडी) जूही, वेला, वेली, मोतिया आदि पुष्प लताओं के समान होती है और जड से ही सघन शाखायें निकलती हैं। इसके डठल और शाखायें छोटी अङ्गुली प्रमाण से मोटी नहीं होती और जिस प्रकार उक्त फूलों की शाखायें अधिक वढने पर किसी दूसरे वृक्ष का सहारा पा, उसका आश्रय लेकर वढती हैं किन्तु सहारा नहीं मिलने से भूमि की ओर नत हो जाती हैं उसी प्रकार प्रियगु की लता भी होती है और इसी कारण से इसको लता और कृशाङ्गी कहते हैं। शाखा, पत्ती तथा पुष्पव्यूह आदि भागों में तूलसदृश सघन रोम होते हैं। **पत्ते**—५-१० इञ्च लवे, अडाकार, कभी कभी लट्वाकार प्रासवत्, लम्वाग्र तथा गोलदन्तुर होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ चिकना और निम्न पृष्ठ तूलरोमश होता है। आषाढ श्रावण से पत्रदड को जड से वारीक वारीक कलियों के सघन गुच्छे निकलने लगते है जो व्यास में २ इञ्च और लम्बाई में १ इञ्च होते है। फिर नन्हें नन्हें नील लोहित रग के फूल आते रहते हैं। पत्रदड की जड से पुष्प फलों के गुच्छे निकलने से 'पर्णभेदनी' और फूलों का रङ्ग वैगनी होने से 'श्यामा' और कृष्णपुष्पी कहलाती है। ज्यों ज्यों शाखायें वढती जाती हैं त्यों त्यों पत्रदड से गुच्छे निकलते जाते हैं और प्रथम के आये हुए फूल गिरते जाते हैं तथा गोल वारीक फल दिखाई देने लगते हैं। **फल**—इतने वारीक होते हैं कि हजारों फूलों का सग्रह करने पर एक तोला भर भी हो सकना असम्भव जान पडता है। इस प्रकार कार्तिक तक समस्त लतायें फलों के गुच्छों से लदकर नीचे की ओर झुक जाती हैं, इस कारण इसका नाम 'फलिनी' है। कार्तिक के अन्त और मार्गशीर्ष में वही फल वढने पर अत्यन्त कोमल ज्वार के दाने के समान और मोती के समान श्वेतवर्ण, चमकीले और मनोहर दीख पडते हैं। ये फल व्यास में •१२-•१८ इञ्च, अष्ठिलमासल, चार खण्डों या वीजों से युक्त होते हैं। पकने पर इनका ऊपरी पृष्ठ स्पज की तरह मालूम होता है। मोतियों के गुच्छे के समान आभूषणाकार होने से इसे महिलाप्रिया भी कहते हैं। फलों में मनोहर सुगन्ध आने से इसे 'गन्ध फल' कहते हैं।

इस लता की छोटी छोटी प्रियगु धान्य सदृश पुष्प कलिकाएँ फूल प्रियगु के नाम से मिलती हैं। इनके मसलने पर गध भी होती हैं। शास्त्रीय गधप्रियगु यही मालूम होती है। ग्रामीण लोग गठिया में इसकी पत्तियों से सेंक करते हैं।

प्रियंगु २ (घऊँला)

हि०-प्रियंगु, महालिव । **म०**-गहुला, गावल । **गु०**-घऊला । **अ०**-महलिव । **ले०**-*Prunus mahaleb* (प्रुनस् महालिव्) । N. O. Rosaceae (रोझेसिइ) ।

यह बलोचिस्तान में पाया जाता है । घऊला नाम से प्रियंगु की मज्जा बंबई के बाजार में बिकती है । यह छोटी चिरौंजी जैसी, गोधूम वर्ण की, कडवी और सुगंधित होती है । सुगंधि लेप में श्वेत चन्दन तथा कपूर कचरी के साथ इसका उपयोग बवई प्रान्त में लोग करते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसके कुछ बीजों में भी पद्मकाष्ठ में पाया जाने वाला हाइड्रोसायेनिक् एसिड (Hydrocyanic acid) नामक तीव्र विष रहने के कारण इसका उपयोग सावधानी के साथ करना चाहिये । इसके अतिरिक्त इसमें काउमॅरिन् (Coumarin), सॅलीसिलिक् एसिड (Salicylic acid) एवं ॲमिग्डॅलिन् (Amygdalin) ये पदार्थ पाये जाते हैं ।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त पौष्टिक, वेदनाहर, दीपन एव मूत्रल है । इसका उपयोग पीडायुक्त कुपचन, आमाशय के क्षत तथा आमाशय के अर्बुद में करते हैं ।

मात्रा—२-५ रत्ती ।

प्रियंगु ३

हि०-प्रियगु । **कं०**-तेतिलकामि । **ले०**-*Aglaia roxburghiana* (ॲग्लेइआ राक्सवर्घियाना) । N. O. Meliaceae (मेलियासिइ) ।

यह पश्चिमी प्रायद्वीप में कोंकण और मिदनापूर से दक्षिण की ओर सिलोन तक ६००० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है ।

इसका साधारण **वृक्ष** होता है । **छाल** किंचित् खाकी रग की और चिकनी होती है । लकडी मजबूत तथा चमकीले लाल रग की होती है । **पत्ते**-पक्षवत् पत्ते ३-१० इञ्च लम्बे और उनके पत्रक संख्या में ५, १½ से ५½ इञ्च लम्बे, पतले अण्डाकार या अण्डाकार-प्रासवत् और चिकने होते हैं । **पुष्प**-व्यास में १ इञ्च से कम, पीताभ और पत्ती के बराबर लम्बी मजरियों में होते हैं जो पत्र कोण के ऊपर निकलती हैं । **फल**-कुछ-कुछ गोल, निम्बफल सदृश, $\frac{1}{4}$-$\frac{3}{4}$ इञ्च व्यास के, रोमश तथा हरिण के रंग के रहते हैं जो सूखने पर भूरे रग के सिकुडन दार तथा आकार में छोटे हो जाते हैं । इसमें १ या २ बीज रहते हैं जो चिपटे करीब ½ इञ्च लम्बे (ताजी अवस्था में) तथा एक तरफ से उन्नतोदर रहते हैं । बीज का स्वाद खट्टा तथा कसैला रहता है तथा ताजी अवस्था में इसमें सुगन्ध रहती है जो सूखने पर नहीं रहती ।

इसके फलों का उपयोग बहुत दिनों से प्रियगु के नाम से किया जा रहा है । हो सकता है कि भावप्रकाशकारने प्रियगु का जो फल लिखा है वह यही हो ।

गुण और प्रयोग—यह शीतल एव ग्राही होता है । इसका उपयोग ज्वर, पित्त तथा शोथयुक्त रोगों में किया जाता है । **मात्रा**—१-३ माशा ।

अथ रेणुका । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

रेणुकाराजपुत्री च नन्दिनी कपिला द्विजा । भस्मगन्धा पाण्डुपुत्री स्मृता कौन्ती हरेणुका ॥१०५॥
रेणुका कटुका पाके तिक्ताऽनुष्णा कटुर्लघुः । पित्तला दीपनी मेध्या पाचनी गर्भपातिनी ।
बलासवातकृच्चैव[1] तृट्कण्डूविषदाहनुत् ॥ १०६ ॥

रेणुका के नाम तथा गुण—रेणुका, राजपुत्री, नन्दिनी, कपिला, द्विजा, भस्मगन्धा, पाण्डुपुत्री, कौन्ती तथा हरेणुका ये सब पर्यायवाची शब्द रेणुका के है । **रेणुका**-पाक में कटुरसयुक्त, किंचित् उष्णवीर्य, तिक्त तथा कटुरस युक्त और लघु होती है एवम् यह पित्तजनक, अग्निदीपक, मेधाके लिये हितकर, पाचक, गर्भ गिराने वाली, कफ तथा वातकारक होती है । यह तृषा, खुजली, विष और दाह को दूर करती है ॥ १०५-१०६ ॥

---

१. बलासवातवैक्लव्य इति पाठा० ।
तृष्णादाहविषक्लैब्यकफवातविनाशिनी ॥ (नि. र.)

४२ रेणुका

रेणुका एक सदिग्ध औषध है। रेणुक बीज नाम से ईरान में होने वाली निर्गुण्डी की जाति के वृक्ष के फल विकते हैं। लेकिन सम्भवतः ये फल शास्त्रीय रेणुका नही हैं। शास्त्रीय रेणुका शायद पिप्पलीवर्ग की पाइपर ऑरेण्टिएकम् (Piper aurantiaoum) के फल है। कुछ लोग निर्गुण्डी के बीज को ही रेणुका कहते हैं जो उसके प्रतिनिधि हो सकते हैं।

चरक में शिरोविरेचन एवं वमनोपग गणों में रेणुक बीज का पाठ है। ग्रहणी के मध्वरिष्ट में एव व्रणपीडन रूप में रेणुका का उल्लेख है। चरक, सुश्रुत तथा रा. नि. इसको गर्भपातक नहीं मानते। सुश्रुत में हरेणुका का उल्लेख एलादिगण, पिप्पल्यादिगण में तथा रेणुका का उल्लेख कटुवर्ग में एव भगंदर, नाडी, उपदश व्रण तथा विप में इसका प्रयोग किया गया है।

यहाँ पर वर्णन ईरान से आने वाले निर्गुण्डी की जाति के वृक्ष के फलों का किया गया है।

हि०—रेणुका, रेणुक, सभालू का बीज। **गु०**—हरेणु। **म०**—रेणुक बीज। **इरा०**—पजनगुस्त। **अ०**—अथलक्। **ले०**—*Vitex agnus castus* (विटेक्स् एग्नस् कास्टस्)। N. O. Verbenaceae (वर्बिनॅसिइ)।

यह ईरान में होता है। देहरादून के 'वैज्ञानिक बाग' में यह लगाया हुआ है।

इसका क्षुप या वृक्ष होता है जिसकी शाखाए चौपहल होती हैं। **पत्ते**—लम्बे पत्रनाल से युक्त, करतलाकार सयुक्त, पत्रक पाच कभी-कभी सात भी, भालाकार और लम्बे नोक वाले होते हैं। **फल**—साधारण मटर के बराबर, अण्डाकृति तथा धूसर वर्ण के होते हैं। वाह्य दल एव वृन्त इसमें लगा रहता है। ये फल बहुत कडे रहते हैं तथा काटने पर इसके अन्दर ४ खण्ड दिखलाई देते हैं जिनमें एक-एक छोटा चिपटा बीज रहता है। भारतीय निर्गुण्डी के फल से ये फल करीब आधे छोटे होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें कास्टाइन (Castine) नामक एक कडुवा पदार्थ, उडनशील दाहजनक पदार्थ, अम्लद्रव्य एव तैल, ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—ईरानी रेणुक बीज स्तम्भन, शोथघ्न, आनुलोमिक, मूत्रजनन एव उत्तेजक हैं। प्लीहावृद्धि तथा यकृत रोग के कारण उत्पन्न जलोदर में इसको देते हैं। हिचकी में छोटी पीपल के साथ इसको खिलाते हैं।

मात्रा—४ र०-१ मा०।

अथ ग्रन्थिपर्णम् (गठिवन)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

ग्रन्थिपर्णं ग्रन्थिकञ्च काकपुच्छञ्च गुच्छकम्। नीलपुष्पं सुगन्धञ्च कथितं तैलपर्णकम् ॥१०७॥
ग्रन्थिपर्णं तिक्ततीक्ष्णं कटूष्णं दीपनं लघु। कफवातविषश्वासकण्डूदौर्गन्ध्यनाशनम् ॥ १०८॥

गठिवन के नाम तथा गुण—ग्रन्थिपर्ण, ग्रन्थिक, काकपुच्छ, गुच्छक, नीलपुष्प, सुगन्ध और तैलपर्णक ये सब सस्कृत नाम गठिवन के हैं। **गठिवन**—तिक्त तथा कटुरस युक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, अग्निदीपक तथा लघु होता है। यह कफ, वात, विष, श्वास, खुजली और दुर्गन्ध इन सबों को दूर करनेवाला होता है॥ १०७-१०८॥

४३ गठिवन

गठिवन का स्वरूप भी सदिग्ध ही है। आगे स्थौणेयक तथा चोरक नामक दो ग्रन्थिपर्ण के भेद दिये हुवे हैं वे भी सदिग्ध ही हैं। कुछ विद्वान् इन तीनों नामों को एक दूसरे का पर्याय मानते हैं। तालीसपत्र के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों में से एक द्रव्य का स्थानिक नाम थुनेर होने से कुछ विद्वान् उसे ही स्थौणेयक मानते हैं। इस तरह यदि ग्रन्थिपर्ण एव चोरक को थुनेर सजातीय माना जाय तो ये सब द्रव्य तालीसपत्र (थुनेर) के वर्ग के हो जाते हैं।

श्री शालिग्राम जी ने इसे आसाम की ओर बहुत उत्पन्न होने वाली तृण जाति की गाठदार सुगन्धित वनस्पति माना है जिसमें पत्ते अगुली के समान लम्बे-लम्बे और फूल नीले गुच्छों में आते हैं। कुछ लोग वनतुलसी को गठिवन मानते हैं।

श्री डॉ. वा. ग. देसाई ने **ग्रन्थितृण** नाम से एक वनस्पति का वर्णन किया है। उसके गुण शास्त्रीय ग्रन्थिपर्ण से मिलते नहीं फिर भी सादृश्य होने से उसका संक्षेप में यहाँ वर्णन दिया जाता है।

सं०–ग्रन्थितृण। **हिं०**–केसरी, मचोटी। **पं०**–मचूटि, केसु। **काश्मी०**–द्रोब। **सिं०**–एंद्राणी। **इरा०**–हज़ार, वंदुक। **अं०**–Knot-grass (नॉट्-ग्रास्)। **लॅ०**–*Polygonum aviculare* (पोलिगोनम् एविक्युलेरी)। N. O. Polygonaceae (पोलिगोनेसिइ)।

यह उत्तरी भारतवर्ष में होता है। इसका छोटा सा क्षुप होता है। **जड़**–लम्बी, कुछ काष्ठमय एवं चिमडी होती है तथा उससे अनेक उपमूल निकले रहते हैं। **शाखाएं**–बहुत सी, जमीन पर फैली हुई एवं गोल होती हैं। इसकी टहनियों की ग्रथियाँ बहुत गांठदार होती हैं तथा वहीं से पत्र निकलते हैं। **पत्र**–एकान्तर, भल्याकृति, अखण्ड, धूसर रंग के एवं १ इञ्च से छोटे होते हैं। **पुष्प**–अनेक रंग के होते हैं। **बीज**–त्रिकोणयुक्त, चमकीले एवं काले होते हैं। सिन्ध में बीजों को **बीजबंद** कहते हैं। बला के बीजों को भी अनेक स्थानों में बीजबंद कहा जाता है। चिकित्सा में इसके मूल, पञ्चाग एवं बीजों का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें पोलिगोनिक् अम्ल तथा सुगन्धित तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी **जड़** रक्तसंग्राहक, मूत्रजनन, अश्मरीघ्न, आनुलोमिक, ज्वरघ्न एवं कफघ्न है। **बीज** स्रंसन मूत्रजनन एवं वामक होते हैं।

(१) अश्मरी या मूत्रकृच्छ्र में इसके पंचाग के क्वाथ या मूल रस का प्रयोग अधिक मात्रा में करने से बहुत लाभ होता है।
(२) जीर्ण अतिसार में मूल रस या पञ्चाग रस देते हैं।
(३) विषमज्वर में मूल रस का उपयोग करते हैं।
(४) फुफ्फुस विकारों में विशेष कर श्वसनिका शोथ एवं कुकास में पञ्चाग क्वाथ पिलाते हैं।
(५) सूखी हुई जड को पीसकर लगाने से वेदना कम होती है। विसर्प, वस्तिपीडा एवं आंव की पीडा में पत्तों का लेप किया जाता है।

अथ स्थौणेयकम्।
(ग्रन्थिपर्णस्यैव भेदः, ईषत्सुगन्धं 'थुनेर' इति लोके प्रसिद्धम्)
तस्य नामानि गुणाँश्चाह

स्थौणेयकं बर्हिबर्हं शुकबर्हञ्च कुक्कुरम्। शीर्णरोमशुकञ्चापि शुकपुष्पं शुकच्छदम्॥१०९॥
स्थौणेयकं कटु स्वादु तिक्तं स्निग्धं त्रिदोषनुत्॥ ११०॥
मेधाशुक्रकरं रुच्यं रक्षोघ्नं ज्वरजन्तुजित्। हन्ति कुष्ठास्रतृड्दाहदौर्गन्ध्यतिलकालकान्॥१११॥

'गठिवन' के ही भेद में थोड़ी सुगन्ध से युक्त जो 'थुनेर' नाम से लोक में प्रसिद्ध औषध है, उसके नाम तथा गुण—स्थौणेयक, बर्हिबर्ह, शुकबर्ह, कुक्कुर, शीर्णरोम, शुक, शुकपुष्प और शुकच्छद ये सब संस्कृत नाम 'थुनेर' के हैं। **थुनेर**—कटु, तिक्तरस युक्त, स्वादिष्ट, स्निग्ध, तीन दोषों को दूर करने वाला, मेधा तथा शुक्र को बढ़ाने वाला, रुचिकारक, रक्षोग्रहनाशक एवं ज्वर, कृमि, कुष्ठ, रक्तविकार, तृषा, दाह, दुर्गन्ध और तिलकालक नामक रोग इन सबों को दूर करने वाला होता है॥ १०९-१११॥

४४ थुनेर

स्थौणेयक भी एक संदिग्ध औषध है। इसे ग्रन्थिपर्ण का भेद माना गया है लेकिन जब ग्रन्थिपर्ण ही संदिग्ध है तब इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है। तालीसपत्र नाम से लिये जाने वाले द्रव्यों में से एक का स्थानिक नाम थुनेर है। इसलिये कुछ लोग इस थुनेर को स्थौणेयक मानते हैं। थुनेर का वर्णन तालीसपत्र के साथ किया गया है। चरक में स्थौणेयक का उपयोग अगुर्वादि तैल में (चि. अ. ३), मृतसंजीवन अगद में (चि. अ. २३), बलातैल में (चि. अ. २८) एवं मदनफल उत्कारिकामोदक योग में (क. अ. १) किया गया है। सुश्रुत में एलादिगण (सू. अ. ३८) में इसका पाठ है।

कुछ लोगों ने ले०—*Clerodendron infortunatum*, N. O. Verbenaceae (क्लिरोडेन्ड्रोन् इन्फोर्च्युनेटम् , वर्बिनेसिइ), हि०-भांट, सं०-कारी, भाण्डीर को स्थौणेयक लिखा है। इसके १२ फीट तक ऊँचे क्षुप प्रायः सभी स्थानों में पाये जाते हैं। प्रत्येक भाग कटु और दुर्गन्ध-युक्त होता है। **पत्र**-विपरीत, ४-९ इञ्च लम्बे, ३-६ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, लम्बे नोक एवं लम्बे पत्रनाल से युक्त होते हैं। वाह्यपुट स्थायी, वर्धनशील और लाल होता है। आभ्यन्तर पुट रक्ताभ श्वेत होता है। इसके पत्र एवं मूल का उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—भांट तिक्त पौष्टिक, उत्तम आनुलोमिक, पित्तसारक, कृमिघ्न एवं ज्वरघ्न है। तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वर में यह लाभदायक है। बच्चों को इसके पत्र का चूर्ण २-५ रत्ती मधु एवं सुगन्ध द्रव्यों के साथ दिया जाता है। केंचुवे में इसके पत्र-रस को पिलाते हैं तथा बस्ति भी देते हैं। उदरशूल एव अतिसार में इसकी जड़ को मट्ठे में पीस कर देते हैं। त्वचा के रोगों (खुजली) में इसका वाह्याभ्यन्तर प्रयोग करते हैं।

अथ ग्रन्थिपर्णस्यैव भेदः। 'भटेउर' इति नेपालदेशे भवति। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

निशाचरो धनहरः कितवो गणहासकः। चोरकः शङ्कितश्चण्डो दुष्पत्रः क्षेमको रिपुः।
चोरको[1] मधुरस्तिक्तः कटुः पाके कटुर्लघुः॥ ११२॥
तीक्ष्णो हृद्यो हिमो हन्ति कुष्ठकण्डूकफानिलान्। रक्षोऽश्रीस्वेदमेदोऽस्रज्वरगन्धविषव्रणान्॥

'गठिवन' का ही भेद 'भटेउर' है जो कि नेपाल देश में उत्पन्न होता है, उसके नाम तथा गुण—निशाचर, धनहर, कितव, गणहासक, चोरक, शङ्कित, चण्ड, दुष्पत्र, क्षेमक और रिपु ये सब सस्कृत नामक 'भटेउर' के है। **भटेउर**—मधुर, तिक्त तथा कटुरसयुक्त, पाक में कटु, लघु, तीक्ष्ण, हृदय के लिये हितकर और शीतवीर्य है। यह—कुष्ठ, खुजली, कफ, वात, रक्षोग्रह, अलक्ष्मी, पसीना, मेदरोग, रक्तविकार, ज्वर, दुर्गन्ध, विष और व्रण इन सबों को दूर करता है॥११०-११३॥

४५ भटेउर (चोरक)

चोरक यह भी सन्दिग्ध है। इसे ग्रन्थिपर्ण का भेद माना गया है। कुछ लोगों ने स्थौणेयक एव चोरक को एक ही वनस्पति माना है। चरक में 'सज्ञास्थापन दशेमानि' में इसका उल्लेख है। धूपन द्रव्यों के साथ इसका उल्लेख है और उन्मादोक्त महापैशाचिक घृत में इसका प्रयोग किया गया है। अपस्मार, हिक्का, श्वास एव पीनस नासारोग आदि में भी चोरक का उल्लेख है। कुछ लोग पान की जड़ का व्यवहार 'चोरक' नाम से करते हैं।

पञ्जाब की तरफ **चोरा** नाम से एक द्रव्य मिलता है। इसका लेटिन नाम *Angelica glauca* N. O. Umbelliferae (ॲन्जेलिका ग्लॉका, अम्बेलिफेरी) दिया हुआ है।

यह पश्चिम हिमालय में काश्मीर से लेकर सिमला तक ८०००-१०००० की ऊँचाई पर पाया जाता है।

इसका **क्षुप** ४-५ फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**-चिकना, स्वावलम्बी, पोला तथा महीन प्रसीताओं से युक्त रहता है। **पत्ते**-प्रायः बड़े, १-३ पक्षवत् होते हैं। **पत्रक**-सख्या में ३, अण्डाकार या भालाकार, अनियमित एव तीक्ष्ण दांतों से युक्त, ऊपरी पृष्ठ गहरे हरे रग का एव अधोपृष्ठ क्षौदलिप्त रहता है। **पुष्प**-बहुत सफेद या नीलारुण रग के तथा सवृन्तमूर्धज पुष्पव्यूहों में आते हैं। **फल**-चिकने, चिपटे आयताकार, १३ मि. मि. लम्बे एव ६ मि. मि. चौड़े होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह हृद्य एव उत्तेजक है और आध्मान एवं कुपचन में भी उपयोगी हैं।

अथ तालीसपत्रम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

तालीसमुक्तं पत्राढ्यं धात्रीपत्रञ्च तत्स्मृतम्॥ ११४॥

---

[1] रोचको इति पाठा०।

तालीसं लघु तीक्ष्णोष्णं श्वासकासकफानिलान्। निहन्त्यरुचिगुल्मामवह्निमांद्यक्षयामयान्॥

'तालीसपत्र के नाम तथा गुण—तालीस, पत्राढ्य और धात्रीपत्र ये संस्कृत नाम 'तालीसपत्र' के हैं। **तालीसपत्र-**लघु, तीक्ष्ण और उष्णवीर्य होता है एवं यह-श्वास, खांसी, कफ, वात, अरुचि, गुल्म, आम, अग्नि की मन्दता और क्षयरोग इन सबों को दूर करता है॥ ११४-११५॥

४६ तालीस पत्र

तालीसपत्र—यह नाम विभिन्न वर्गों के वृक्षों के पत्तों को भिन्न स्थानों में दिया हुआ दिखलाई देता है। पहले लोग प्राचीनामलक-फ्लेकुर्टिआ कॅटाफ्रेक्टा (Flacourtia cataphracta) के पत्तों को तालीसपत्र कहा करते थे। दक्षिण में कहीं-कहीं तमालपत्र-सिनॅमोमम् तमाल (Cinnamomum tamal) के पत्तों को तालीसपत्र कहा जाता है। उत्तर प्रदेश, राजपूताना, महाराष्ट्र एवं गुजरात आदि के वैद्य टॅक्सस् बॅकेटा (Taxus baccata) के पत्तों का व्यवहार तालीस पत्र के नाम से करते हैं। इसे कुछ लोग स्थौणेयक भी मानते हैं। वगाल के वैद्य एविस् वेविआना (Abies webbiana) के पत्तों का व्यवहार तालीसपत्र के रूप में करते हैं। नेपाल एवं पञ्जाब के कुछ वैद्य तालीसफर-रोडोडेन्ड्रोन एन्थोपोगोन (Rhododendron anthopogon) के पत्तों का व्यवहार करते हैं जिसकी २, ३ अन्य उपजातियाँ भी होती हैं। प्राचीनामलक का वर्णन आगे फलवर्ग में आया है तथा तमाल पत्र का वर्णन पहले (पृष्ठ १९०) किया जा चुका है। यहा पर वाकी तीनों का अलग अलग वर्णन किया गया है।

चरक में दशेमानि में इसका उल्लेख नहीं है। सुश्रुत में शिरोविरेचकगण में इसका पाठ है। तालीसपत्र के शास्त्रीय गुण इस प्रकार दिये हुए हैं—यह तिक्त, कटु, मधुर, उष्ण, लघु, तीक्ष्ण, शिरोविरेचन तथा कफ, वात, कास, श्वास, क्षय, वमन, अरुचि, गुल्म, आम, अग्निमांद्य और कृमि का नाश करने वाला है।

तालीसपत्र १

हि०-तालीसपत्र, थूनो, विर्मी। **गढ़०-**थुनेर। **काश्मी०-**पोस्तिल। **बंब०-**तालीसपत्र, वर्मि। **बं०-**विर्मी। **नेपा०-**तेहीरे। **खासि०-**दिगंरुह्हेर्। **अ०-**जर्नव। **अं०-**Himalayan Yew (हिमालयन् यू)। **ले०-***Taxus baccata* (टॅक्सस् बॅकेटा)। N. O. Coniferae (कोनिफेरी)।

हिमालय के काश्मीर, पूर्वी पञ्जाव का पहाड़ी प्रदेश, गढवाल, अफगानिस्तान तथा अपर वर्मा आदि स्थानों में ६-१० हजार फीट की ऊँचाई पर इसके मध्यम ऊँचाई के सदाहरित वृक्ष पाये जाते हैं। कहीं कहीं १०० फीट तक ऊँचे झोपड़ाकृतिक वृक्ष होते हैं।

इसका **स्तंभ** छोटा किन्तु उसकी गोलाई १०,१२ फीट होती है। **छाल-**पतली, किंचित् लालीयुक्त खाकी रंग की होती है। **लकड़ी-**दृढ, वाहरी भाग सफेद तथा अदर का भाग रक्ताभ श्वेत होता है। **पत्ते-**दो कतारों में निकले रहते हैं। ये १-१॥ इच लवे, दशमाश इञ्च चौडे, रेखाकार, कडे, चिपटे, नोकीले, ऊपरी पृष्ठ पर गहरे हरे रंग के और अधःपृष्ठ पर हलके पीले या मुरचई रंग के होते हैं। शिरा एक और पत्रनाल छोटा होता है। पत्तियों से विशेषत. सूखने पर एक प्रकार की गध आती है। लालकोष में घिरा हुआ हरिताभ वीज होता है जो शीर्ष पर खुला रहता है। पहाडी लोग इसकी छाल से एक प्रकार का चाय सदृश पानक वनाकर पीते हैं और इसके फलों को खाते हैं।

यद्यपि युक्तप्रान्त, राजपूताना, महाराष्ट्र एव गुजरात आदि के वैद्य तालीसपत्र के स्थान पर इसका प्रयोग करते हैं तथापि थुनेर नाम से इसके **स्थौणेयक** होने की अधिक सभावना है। विर्मि नाम से उत्तरी भारत में आर्तव प्रवर्तक एव शामक औषध के रूप में तथा अपस्मार, अपतंत्रक तथा नाडीदौर्बल्य आदि में इसके पत्तों का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके वीज तथा पत्र में एक विषैला द्रव्य है जो वीज के ऊपर के लालकोष में नहीं होता। इसमें टॅक्सीन (Taxine) नामक एक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—तालीसपत्र [illegible], [illegible], [illegible], वातानुलोमक, कफनिःसारक एव बल्य है। इसकी क्रिया कुछ डिजिटेलिस् के समान होती है। [illegible] मात्रा में प्रयोग करने पर नाडी एवं श्वास की गति मन्द होती है। [illegible] हृत्स्पन्द होता है। इससे गर्भाशय का संकोच होता है। गर्भपात कराने के लिये प्रयुक्त करने पर गर्भपात नहीं होता लेकिन मृत्यु हो सकती है। बड़ी मात्रा में विषैला परिणाम होने से [illegible], वमन, आक्षेप, नशा, आँखों की पुतलियों का विस्फार, [illegible] होकर मृत्यु होती है। विषैले परिणाम से आमाशय, आन्त्र तथा वृक्कों में शोथ भी हो जाता है। डिजिटेलिस् के समान इसका संचायी प्रभाव नहीं होता।

अपस्मार आदि आक्षेप युक्त व्याधियों में इसका प्रयोग किया जाता है। [illegible] कास, श्वासनलिका के जीर्णशोथ एव तमक श्वास आदि में देने से खाँसी की तकलीफ कम हो जाती है। प्रसूता को इसका फाट दिया जाता है। वस्तिशोथ में भी इससे लाभ होता है।

मात्रा—१-२ र०।

तालीसपत्र २

हिं०, बं०–तालीसपत्र। **गढ़०**–चिल्राग। **काश्मी०**–राटर, बुड्‌ड। **जनसार**–[illegible]। **नेपा०**–गोब्रिअ सुलह। **कुमा०**–राघ। **भूता०**–दुम्शिंग। **अं०**–Himalayan Silver Fir (हिमालयन् सिलवर फर)। **ले०**–*Abies webbiana* (एबिस् वेबिआना)। **N. O. Coniferae** (कोनिफेरी)।

इसके ऊँचे सदाहरित वृक्ष हिमालय पर नेपाल के प्रदेश में १० से १३ हजार फीट की ऊँचाई पर पाये जाते हैं।

इसके **वृक्ष** १५० फीट तक ऊँचे एव स्तम्भ की गोलाई ३० फीट तक होती है। **छाल**–धारी युक्त भूरे रंग की और खुरदरी होती है। नवीन शाखाएं प्रायः सूक्ष्म और भूरे रोमों से ढकी हुई रहती है। शाखाएँ प्रायः झुकी हुई रहती हैं। **पत्ते**–१-२ इञ्च लंबे, दशमांश इञ्च चौडे, पतले, रेखाकार और काण्ड से पेचदार क्रम से निकले हुवे परन्तु देखने में केवल दो कतारों में निकले हुए से मालूम होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ चमकीला तथा गहरे हरे रंग का होता है और अधःपृष्ठ पर मध्यशिरा के दोनों ओर दो दो सफेद धुंधली रेखाएं होती हैं। पत्ते नताग्र होते हैं और अग्र पर प्रायः दो तीक्ष्ण और कठोर नोक निकले रहते हैं। **फल**–लंब गोल या आयताकार २-४ इञ्च का और पकने पर गहरे बैंगनी रंग का होता है। **बीज**–करीब इञ्च का षष्ठमांश लंबा होता है।

इस जाति में मोरिण्डा नामक ले० एबिस् पिण्ड्रो (Abies pindrow) वृक्ष भी होता है जो इससे बहुत मिलता जुलता है। इसमें नवीन शाखाएं रोमरहित और पत्तियां २-३ इञ्च लंबी, दो कतारों में निकली हुई और दो दिशाओं में फैली हुई रहती हैं। एबिस् वेबिआना में वे ऊपर की ओर हर दिशा में फैली हुई रहती हैं। इसके फल भी दूसरे की अपेक्षा छोटे और मोटे होते हैं। ये जौनसार में प्राय. १० हजार फीट के नीचे (देववन, मुडाली आदि में) पाये जाते हैं।

प्राय. पूर्वी भारत में एबिस् वेबिआना के ही पत्र तालीशपत्र के नाम से बेचे जाते हैं। बंगाल के वैद्य इसी का व्यवहार करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उडनशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, पाचन, वातानुलोमक, कफनि.सारक, ग्राही एव बल्य है।

इसका उपयोग जीर्ण श्वास, कास, राजयक्ष्मा, अग्निमांद्य, अरुचि एव वस्तिविकार में किया जाता है।

(१) तालीसादि चूर्ण १०-२० र० की मात्रा में श्वास, कास, रक्तपित्त, अग्निमांद्य एव अतिसार आदि में दिया जाता है। बच्चों के श्वसनी फुफ्फुस पाक में १½ र० चूर्ण तथा कस्तूरी वटी १ र० की ६ मात्रा बना कर हर ४ घण्टे पर देने से लाभ होता है।

(२) इसके पत्तों का स्वरस ५-१० बूँद जल या दुग्ध के साथ बच्चों के दंतोद्भेद के समय

होने वाले ज्वर एवं कफविकार आदि में दिया जाता है। बंगाल में प्रसूता को बल्य औषध की तरह इसे देते हैं।

(३) स्वरभंग, जीर्णश्वसनिका शोथ, राजयक्ष्मा तथा अन्य कफविकारों में इसके क्वाथ या फाट का उपयोग करते हैं।

(४) इसके पत्तों का चूर्ण मधु एवं वासा स्वरस के साथ कास, श्वास तथा रक्तष्ठीवन में दिया जाता है।

मात्रा—१-२ माशा।

तालीसपत्र ३

इसकी कई उपजातियाँ होती हैं जिनमें से २, ३ के पत्तों का प्रयोग तालीसपत्र के स्थान पर नेपाल तथा पंजाब के कुछ वैद्य करते हैं। इनका संक्षेप में वर्णन किया गया है।

(क) हि०-तालीसफर, तालीसपर। **काश्मी०**-तजक्त्तुम। **झेलम**-निचनी, रतनकाट, नेरा। **पं०**-तालिस्री। **ले०**-*Rhododendron anthopogon* (रोडोडेन्ड्रोन् एन्थोपोगोन्)। N. O. Ericaceae (एरिकेसिइ)।

यह हिमालय में १०-१४ हजार फीट की ऊँचाई पर काश्मीर से भूटान तक उत्पन्न होता है।

इसके सदा हरित गंधयुक्त छोटे छोटे **क्षुप** १ से १॥ फीट ऊँचे होते हैं। शाखाओं पर वल्क पत्र और खुरदरापन होता है। **पत्ते**-सनाल, १-१॥ इञ्च लंबे, अंडाकार या चौड़े आयताकार, ऊपरी पृष्ठ पर चमकदार और अधःपृष्ठ पर भूरे रोमावरण से युक्त होते है। शाखाओं के अन्त में फूलों का गुच्छा लगता है। **फूल**-किंचित् पीले आते हैं। **बीजकोष**—छोटे और **बीज**-अंडाकार होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके पत्तों का धूम्रपान लाभदायक माना जाता है। **पत्ते**-उत्तेजक तथा सुगंधित होते हैं। इसके चूर्ण के नस्य से छींके आती हैं। ऐसी धारणा है कि हिमालय के पूर्वभाग में अधिक ऊँचाई पर चढते समय शिरःशूल तथा हल्लास उत्पन्न करने वाली वनस्पतियों में से एक यह हो।

मात्रा—२-८ रत्ती।

(ख) गढ़वाल-सिमरिस। **ने०, हि०**-चेरैलु। **काश्मी०**-गग्गर। **कुमाऊं**-चिमुल। **ले०**-*Rhododendron campanulatum* (रोडोडेन्ड्रोन् कम्पॅनुलॅटम्)।

यह भी हिमालय में काश्मीर से भूटान तक पाया जाता है। इसका **क्षुप**-कुछ बडा; **पत्ते**-३-५ इंच लंबे, अण्डाकार, आयताकार तथा दोनों सिरों पर गोल होते हैं। नीचे के पृष्ठ पर दालचीनी रंग के सघन रोमों से शिराएँ ढकी रहती हैं।

गुण और प्रयोग—इसके पत्ते बकरियों के लिये विषैले समझे जाते हैं। अर्धावभेदक तथा प्रतिश्याय में तम्बाकू के साथ इसके पत्तों का नस्य के रूप में प्रयोग किया जाता है। जीर्ण आमवात, फिरंग तथा गृध्रसी में इसके पत्तों का आभ्यन्तरिक उपयोग किया जाता है। नेपाल में इसके पञ्चांग का प्रयोग जीर्ण ज्वर तथा राजयक्ष्मा में किया जाता है।

मात्रा—२-८ र०।

(ग) गढवाल-सिमरिस। **भोटिया**-त्सलसुमा। **यू०, हि०**-तालीसफर। **ले०**-*Rhododendron lepidotum* (रोडोडेण्ड्रोन् लेपिडोटम्)।

यह भी हिमालय में काश्मीर से भूटान तक पाया जाता है।

इसका **क्षुप** छोटा तथा गन्धयुक्त होता है। **पत्ते**-$\frac{3}{4}$ इञ्च से १ इञ्च लम्बे, प्रायः विनाल, ऊपर से लट्वाकार और कुण्ठिताग्र या भालाकार और कुछ नोकीले और अधःपृष्ठ श्वेत या भुरचई रंग के रोमावरण से ढका हुआ रहता है। **फूल**-लाल, बैंगनी या पीले, ३-४ के गुच्छों में या अकेले रहते हैं। बीजकोष छोटे, ५ दलवाले होते हैं तथा बीज छोटे-छोटे अण्डाकार होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके गुण (क) के समान ही हैं।

अथ कङ्कोलं सुगन्धिद्रव्यम् 'सीतलचीनी' इति लोके। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कङ्कोलं[1] कोलकं प्रोक्तं तथा कोषफलं स्मृतम्।
कङ्कोलं लघु तीक्ष्णोष्णं तिक्तं हृद्यं रुचिप्रदम्। आस्यदौर्गन्ध्यहृद्रोगकफवातामयान्ध्यहृत्॥

'कङ्कोल नामक' सुगन्ध द्रव्य जो कि शीतल चीनी नाम से प्रसिद्ध है उसके नाम तथा गुण— कङ्कोल, कोलक और कोषफल ये सब संस्कृत नाम 'शीतलचीनी' के हैं। शीतलचीनी—लघु, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, तिक्त रस युक्त, हृदय को हितकर तथा रुचिकारक होती है। यह मुख की दुर्गन्धता, हृद्रोग, कफ तथा वात रोग और आन्ध्य (आँखों से न दीखना) इन सबों को दूर करती है॥ ११९॥

४७ शीतलचीनी

हि०—शीतलचीनी, कबाबचीनी, कङ्कोल, शीतलमिर्च। बं०—कबाबचिनि, सुगन्धमरिच। म०—कङ्कोल, कापूरचीनी। गु०—चणकबाब। क०—गन्धमेणसु। ते०—चलवमिरियालु। ता०—वालिमलगु। फा०—कबाबह, कबाबचीनी। अ०—हब्बुल् उरूस, कबाबेसीनी। अं०—Cubebs (क्यूबेब्स), Tailed Pepper (टेल्ड पेप्पर)। लै०—*Piper cubeba* (पाइपर क्यूबेबा)। N. O. Piperaceae (पाइपरेसिइ)।

शीतलचीनी—यह एक लता जाति की वनस्पति का पूर्ण रूप से विकसित किन्तु अपक्व अवस्था में सुखाया हुआ फल है, जो काली मरिच के समान होता है। यह जावा, सुमात्रा तथा बोर्नियों में होती है। लङ्का में इसकी खेती की जाती है। भारतवर्ष में विशेष कर मैसूर में इसकी कुछ उपज की जाती है।

इसकी आरोही बहुवर्षायु लता होती है। कांड—चिकना, लचीला एवं जोटदार होता है। पत्ते—अखंड, सवृन्त, आयताकार या लट्वाकार—आयताकार, नोकीले, गोल या हृद्वत् पर्णतलवाले, चर्मवत् तथा चिकने होते हैं। शिराएं बहुत होती हैं। पुष्प—अद्विलिंगी तथा अवृन्त—काण्टज पुष्पव्यूहों में आते हैं। फल—गोल, अष्ठिफल होते हैं जिनमें आधार की तरफ डंठल लगा रहता है। हरी अवस्था में ही इन्हें तोडकर धूप में सुखा लिया जाता है।

यह अपक्व फल काली मिर्च के समान, गोल, झुर्रीदार गहरे भूरे रंग के एवं करीब ४ मि० मि० व्यास के सूखे हुवे होते हैं। इसके शिखर पर त्रिकोणयुक्त कुक्षि लगी रहती है तथा आधार पर ४ मि० मि० लंबा डंठल रहता है। इसके अन्दर १ बीज रहता है। इसको चबाने से मनोरम तीक्ष्ण मसालेदार विशिष्ट गन्ध आती है, स्वाद कडुवा, चरपरा तथा जीभ ठंडी मालूम पड़ती है। औषध में इन्हीं फलों का व्यवहार किया जाता है। कुछ लोग इसके दो भेद मानते हैं। छोटे तथा पतले छिलके वाले फलों को शीतलचीनी एवं बडे तथा मोटे छिलके वाले फलों को कबाबचीनी कहा जाता है। वास्तव में एक ही लता के यह फल होते हैं। प्राचीन काल से मुखशुद्धि के लिये पान के साथ या स्वतन्त्र रूप में तथा मसालों में इसका प्रयोग किया जाता रहा है।

रासायनिक संगठन—कबाबचीनी में उडनशील तैल ५–२०%, क्यूबेबिन् (Cubebin, $C_{20}H_{20}O_6$), राल, तैल, स्टार्च, गोंद, क्यूबेबिक् एसिड (Cubebic acid) करीब ०.९६% तथा कॅलिशयम ऑक्झेलेट, फॉस्फेट एवं मॅलेट तथा मॅग्नेशियम् मॅलेट ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसमें के प्रधान गुणकारी तत्व उडनशील तैल एवं क्यूबेबिक् एसिड हैं। पुराने कबाबचीनी द्वारा निकाले तैल में गंधहीन एवं पारदर्शक एक प्रकार का कर्पूर (Camphor of cubeb, $C_{15}H_{26}O$) पाया जाता है।

इसमें का उडनशील तैल स्वच्छ, हलके पीताभ या नीलाभ हरित रंग का, विशिष्ट गंधयुक्त एवं उष्ण कर्पूरवत् स्वादवाला होता है। इस तैल में प्रधान रूप में टर्पेन्स (Terpenes) एवं सेस्क्विटर्पेन्स (Sesquiterpenes) पाये जाते हैं। भारतीय कबाबचीनी में भी उपर्युक्त तैल से मिलता

१ कक्कोल इति पाठा०।

घुलता उड़नशील तैल पाया जाता है। तैल को शीत तथा प्रकाशहीन स्थान में बन्द बोतलों में रखना चाहिये।

परीक्षा—किसी श्वेत पात्र में कबाबचीनी का चूर्ण रखकर उस पर १ बूंद गंधक का तेजाब रखकर ऊपर से देखने से नीलारुण (Purple) रंग दिखलाई देता है। अच्छी कबाबचीनी में सिकुडे हुये अविकसित फल १०% से अधिक, कांड ५% से अधिक, इनको छोडकर अन्य पदार्थ २% से अधिक, राख ८% से अधिक एवं अम्ल में न घुलने वाली राख २% से अधिक न होनी चाहिये।

गुण और प्रयोग—कबाबचीनी उष्ण, उत्तेजक, कफघ्न, वातघ्न, प्रतिदूषक (Antiseptic), मूत्रजनक, दीपन, पाचन, रुचिकर, वृष्य, तृष्णा शामक तथा मुख की दुर्गन्ध एवं जडतानाशक है। इसमें स्थानिक प्रक्षोभक गुणों के कारण यह श्लेष्मकला के लिये उत्तेजक है। प्रचूषण के पश्चात् इसके कार्यकारीसत्व का उत्सर्ग वृक्क एवं श्वसनसंस्थान द्वारा होता है। मूत्रजननेन्द्रिय संस्थान की श्लेष्मकला पर इसका स्पष्ट प्रभाव पडता है। अधिक मात्रा में सेवन करने पर यह पाचनक्रिया विकृत कर देती है। त्वचा की उत्तेजना से कभी कभी खुजली भी उत्पन्न होती है।

(१) प्रतिदूषक एवं मूत्रल औषध की तरह इसे पुराने सोजाक में देते हैं। ३०-६० र० चूर्ण दुग्ध के साथ या २½ र० फिटकिरी के साथ दिन में ३ बार देते हैं। इससे बस्तिशोथ में भी लाभ होता है।

(२) श्वसन संस्थान के विकारों में प्रतिदूषक एवं उत्तेजक कफनिःसारक रूप में खदिरादि गुटिका जैसी चूसने की गोली बनाकर उसे चूसने को दिया जाता है। गले की शिथिलता तथा मुखपाक आदि में भी इससे लाभ होता है। गायक गला साफ करने के लिये इसको चूसते हैं। खांसी आदि में इसके चूर्ण को मधु के साथ चटाते हैं। इसका धूम्रपान श्वास में लाभदायक है।

(३) नाक के श्लेष्मा को कम करने के लिये इसके नस्य का उपयोग किया जाता है।

(४) इसके तैल को मूत्रजननेन्द्रिय संस्थान के रोग, बस्तिशोथ, सोजाक तथा सोजाक की पुरानी अवस्था में शर्करा के साथ या गोंद के साथ एमल्शन बनाकर या कॅपसूल में रख कर प्रयोग करते हैं। जीर्ण श्वसनिका शोथ में इसको उष्ण जल में डालकर उसकी वाष्प सूंघी जाती है।

मात्रा—चूर्ण १-४ माशा। तैल ५-२० बूंद।

अथ गन्धकोकिला गन्धमालती च। तयोर्गुणानाह

स्निग्धोष्णा कफहृत्तिक्ता सुगन्धा गन्धकोकिला। गन्धकोकिलया तुल्या विज्ञेया गन्धमालती॥

'गन्धकोकिला' तथा 'गन्धमालती' के गुण—**गन्धकोकिला**—तिक्तरसयुक्त, स्निग्ध, सुगन्धयुक्त, उष्णवीर्य एवं कफनाशक होती है। 'गन्धकोकिला' के समान 'गन्धमालती' के भी गुण समझना चाहिये॥ ११७॥

४८ गन्धकोकिला एवं गंधमालती

ये दोनों ही संदिग्ध गन्ध द्रव्य हैं। बजार में गंधकोलिका नाम से एक प्रकार के फल बिकते हैं जो देखने में हवुषा के समान किन्तु कुछ चिपटे होते है। गन्धमालती नाम से एक प्रकार की जड़ के छोटे छोटे टुकड़े मिलते हैं जो रेशेदार किंचित् बादामी रंग के होते हैं।

आगे पुष्पवर्ग में मालती (जाती, चमेली) एवं स्वर्णजाती का वर्णन आया है। मालती (रतेट) नामक एक अन्य लता होती है जिसे कुछ लोगों ने गंधमालती लिखा है। इसकी एक अन्य उपजाति भी पाई जाती है। निघण्टुकारों ने जो जातीभेद लिखा है वह संभवतः यही रतेड हो या यह यहां पर वर्णित गंधमालती हो। गंधमालती (रतेड) का लैटिन नाम (Aganosma caryophyllata (ॲगॅनोस्मा कॅरियोफाइलॅटा) एवं इसी के भेद का A. calycina (ॲ० कॅलिसिना) है जिनका आगे वर्णन किया गया है।

अथ लामज्जकम् । (उशीरवत् पीतच्छवितृणविशेषः) । तस्य नामगुणानाह

लामज्जकं सुनालं स्यादमृणालं लवं[1] लघु । इष्टकापथकं सेव्यं नलदञ्चावदातकम् ॥ ११८ ॥
लामज्जकं हिमं तिक्तं लघु दोषत्रयास्रजित् । त्वगामयस्वेदकृच्छ्रदाहपित्तास्ररोगनुत् ॥ ११९ ॥

'लामज्जक' जो कि 'वीरण' घास की भांति पीत वर्ण का एक विशेष तृण होता है उस के नाम तथा गुण—लामज्जक, सुनाल, अमृणाल, लव, लघु, इष्टकापथक, सेव्य, नलद और अवदातक ये सब संस्कृत नाम 'लामज्जक' के हैं। लामज्जक-तिक्तरसयुक्त, शीतवीर्य और लघु होता है एवं यह त्रिदोष, रक्तविकार, चर्मरोग, पसीना, मूत्रकृच्छ्र, दाह और रक्तपित्त इन सबों को दूर करता है॥ ११८-११९ ॥

४६ लामज्जक

लामज्जक भी संदिग्ध द्रव्य है। भावप्रकाशकार इसे खस की तरह का पीतवर्ण का तृणविशेष मानते हैं। कुछ ग्रन्थकारों का कहना है कि जब तक इसका निर्णय नहीं हो जाता तब तक लामज्जक के स्थान पर खस का व्यवहार करना चाहिये। कुछ नवीन ग्रन्थकारों ने लामज्जक का लै० नाम Cymbopogon jwarankusa (साइम्बोपोगोन् ज्वरांकुश) लिखा है। श्रीयुत् यादव जी अपनी द्रव्यगुणविज्ञान पुस्तक में लिखते हैं कि यह (साइम्बो ज्वरांकुश) यूनानी औषध विक्रेताओं के यहां इजखिर नाम से बिकता है तथा इजखिर उष्णवीर्य द्रव्य होने से इसे लामज्जक नहीं मान सकते। वे इसे भूतृण मानते हैं।

बाजार में एक पीतवर्ण का खस मिलता है। हो सकता है कि उसका लैटिन नाम ज्ञात न हो या वह खस का ही भेद हो लेकिन लामज्जक के स्थानपर उसका प्रयोग किया जा सकता है। यहां निम्न वर्णन साइम्बोपोगोन् ज्वरांकुश का किया गया है।

हि०—लखवी, लामज्जक, करनकुश, घाटजारी। **मिर्जापुर**—इन्द्रवगई। **बं०**—काराकुस। **म०**—पिवलावाला। **पं०**—खूर, इभरकुश। **गु०**—पिलो वालो। **ते०**—वासनगड्डि। **ता०**—कामाट्-चिपिल्लु। **क०**—करिलावचा। **अ०**—इजखिर। **इरा०**—गुर्गियाह। **लै०**—*Andropogon jwarancusa* (एन्ड्रोपोगोन् ज्वरान्कुश), Cymbopogon jwarankusa (साइम्बोपोगोन् ज्वरान्कुश)। N. O. Gramineae (ग्रेमिनिइ)।

लामज्जक—यह सुगन्धित घास हिमालय के निचले भाग, उत्तरप्रदेश, पंजाब, सिन्ध और इरान में उत्पन्न होती है।

यह तृण जाति की वनौषधि ३-६ फुट ऊँची होती है। इसकी **डंडी**—मोटी, स्वावलम्बी, रोमश एवं कुछ लालिमा लिये होती है। **पत्ते**—चिपटे, चिकने, कडे, २ फीट तक लंबे और ऊपर की ओर क्रमशः कम चौडे होकर लंबे पतले नोकवाले होते हैं। पत्रकोश स्थाई, टेढे और उनके गुच्छों के बीच में डंडी निकली रहती है। पतली पतली डंडियों के अन्त में घास के फूल के समान सुगंधित, श्वेत तथा रोमश फूलों के घनहरे लगते हैं और वही बीजकोष हो जाते हैं। प्रायः वर्षा ऋतु में यह घास हरी भरी रहती है, वर्षा के अन्त में फूलती-फलती है और वसन्त ऋतु के प्रथम सूख कर नष्ट हो जाती है। सूखने पर यह घास सफेद हो जाती है। **जड़**—लंबी, कोमल, स्वाद में कडवी, तीती एवं अत्यंत सुगंधित तथा पीले रङ्ग की होती है। इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें सुगंधित तैल बहुत होता है।

गुण और प्रयोग—इसके फूल रक्तस्तंभक हैं तथा जड एवं पत्ते वातानुलोमक, उत्तेजक, आर्तवजनन, मूत्रजनन, स्वेदजनक एवं अल्प मात्रा में कफघ्न हैं।

रक्तस्राव रोकने के लिये इसके फूलों को क्षत पर बाँधते हैं। इसके पंचांग को पीस कर शोथ पर लेप किया जाता है। ज्वर में पंचांग के क्वाथ से स्नान कराते हैं। द्राक्षासव में इसका पंचांग

१ लयमिति पाठा०।

डाल कर गरम करके देने से पेशाव वहुत होता है। आमवात में विरेचन औषध के साथ इसे देते हैं। इसमें अल्प मात्रा में कफघ्न गुण होने के कारण कफ रोगों में दाह कम करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। गर्भाशय का थोडा सकोच करने के कारण इसको प्रसूति ज्वर में देते हैं। वातरक्त में इसका उपयोग किया जाता है। बच्चों के कुपचन के लिये भी यह उत्तम है।

मात्रा—¼-½ तो०।

अथैलवालुकम्। (कङ्कोलसदृशं कुष्ठगन्धि)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

एलवालुकमैलेयं सुगन्धि हरिवालुकम्। ऐलवालुकमेलालु कपित्थत्वच[1]मीरितम् ॥१२०॥
एलालु कटुकं पाके कषायं शीतलं लघु। हन्ति कण्डूव्रणच्छर्दितृट्कासारुचिहृद्रुजः॥
बलासविषपित्तास्रकुष्ठमूत्रगदक्रिमीन्॥ १२१॥

एलवालुक जो कि देखने में 'शीतलचीनी' की भाति तथा गंध में 'कूठ' के समान होती है, उसके नाम तथा गुण—एलवालुक, ऐलेय, सुगन्धि, हरिवालुक, ऐलवालुक, एलालु और कपित्थत्वग् ये सब सस्कृत नाम 'एलुआ' के है। **एलवालुक**-कषाय रस युक्त किन्तु पाक में कटुरसयुक्त, शीतवीर्य और लघु होती है। यह खुजली, व्रण, वमन, प्यास, खांसी, अरुचि, हृद्रोग, कफ, विष, रक्तपित्त, कुष्ठ, मूत्ररोग और कृमिरोग इन सबों को दूर करती है॥ १२०-१२१॥

५० एलवालुक

एलवालुक सदिग्ध द्रव्य है। भावप्रकाशकार इसे 'ककोलसदृश कुष्ठगधि' मानते हैं। चरक में शुक्रशोधन और वेदनास्थापन दशेमानि में एव कषायस्कध में इसका उल्लेख है। आसवयोनि में इसकी छाल का उल्लेख है। अर्शोक्त अभयारिष्ट, उन्मादोक्त कल्याणकघृत तथा पाडु के बीजकारिष्ट में इसका पाठ है। सुश्रुत के लोध्रादिगण में इसका पाठ है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट है कि एलवालुक, ॲलोज् (मुसब्बर) नही हो सकता जैसा कि कुछ लोग मानते हैं क्योंकि एलवालुक का पाठ त्वगासवयोनि मे होने से यह कोई वृक्ष है ऐसा मालूम होता है। अधिकाश विद्वान् प्रुनस् सिरेसस् को एलवालुक मानते हैं क्योंकि इसका एक नाम आलुबालु होने से यह शायद एलवालुक का अपभ्रश हो। डा० देसाई गिसेकिआ फॉर्नेसिओइडिस् को एलवालुक मानते हैं। इन दोनों का संक्षेप में वर्णन किया जारहा है। कुछ लोगों ने मुकिआ स्काब्रेला (Mukia scabrella) को माना है जो दीपन, मृदुविरेचन एवं मूत्रजनन है तथा जिसके पत्तों का प्रयोग चक्कर में, बीजों का प्रयोग स्वेद लाने के लिये एव मूल का आध्मान में उपयोग किया जाता है।

एलवालुक १

हि०—आलूबालू। **पं०**—गिलास। **अं०**—Dwarf cherry (ड्वार्फ चेरी)। **ले०**—*Prunus cerasus* (प्रुनस् सिरेसस्)। N. O. Rosaceae (रोझेसिइ)।

इसके वृक्ष हिमालय के पर्वतों में लगाये हुए मिलते हैं।

इसके **पत्ते**—२-३ इञ्च लबे, १-१॥ इञ्च चौडे, लट्वाकार-अडाकार, अग्र यकायक नोकीला तथा किनारा दन्तुर (तीक्ष्णाग्रगोल दात) होना है। **फल**—गोल, चिकना, चमकीला और घेरे मे आधा इञ्च तक होता है। इसके **बीज** बाजार में बिकते है जिनकी मज्जा का औषध में व्यवहार किया जाता हैं। इसका स्वाद कडुवा एव सुगन्धित रहता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक उडनशील तैल एवं पद्मकाष्ठ आदि में पाया जाने वाला हाइड्रोसायेनिक् एसिड (Hydrocyanic acid) नामक तीव्र विष रहता है।

गुण और प्रयोग—यह कडुवा पौष्टिक एवं वेदनास्थापक है। मज्जा तन्तु के रोगों में इसका व्यवहार किया जाता है। इसके अन्य गुण उपर्युक्त विष के समान हैं। इसकी छाल ग्राही एव ज्वरहर होती है।

मात्रा—२-५ र०।

---

१. कपित्थफल इति पाठा०।

पलवालुक २

हि०-वालूका साग। बं०-वालुक। म०-प(वा)वुची भाजी। ता०-नन्दुरि। ते०-एसकदन्तिकुर। ले०-*Gisekia pharnaceoides* (गिसेकिआ फार्नेसिओइडिस्)। N. O. Ficoideae (फिकोइडिइ)।

यह वनस्पति पंजाब, सिंध, दक्षिण तथा सिलोन में होता है। इसके क्षुप छोटे, फैले हुये तथा अनेक शाखाओं से युक्त होते हैं। पत्र-विपरीत, मांसल, अखंड, अंडाकृति, करीब १ इंच लम्बे तथा आधार की तरफ नोकीले होते हैं। बीज-काले से, चिकने होते हैं। बंगाल में वालुक नाम से यह बीज बिकते हैं। औषध में पचांग का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—पत्तों में वालू की तरह क्षार के कण रहते हैं। इसी से इसे वालू का साग कहा जाता है।

गुण और प्रयोग—इसका पचांग सुगंधि, आनुलोमिक एवं कृमिघ्न है। कृमिरोग में इसके पचांग का रस १ औंस तथा शीतजल १ औंस मिलाकर सुबह खाली पेट पिलाते हैं। इस दूसरे दिन ३, ४ बार के प्रयोग से स्फीतकृमि (Taenia) मर कर निकल जाते हैं।

अथ कैवर्तीमुस्तकम् (केवटी मोथा)। तस्य नामलक्षणगुणानाह

कुटन्नटं दासपुरं वालेयं परिपेलवम्। प्लवगोपुरगोनर्दकैवर्तीमुस्तकानि च ॥ १२२ ॥
मुस्तावत्पेलवपुरं[१] शुकाभं[२] स्याद्वितुन्नक ॥ १२३ ॥
वितुन्नकं हिमं तिक्तं कषायं कटु कान्तिदम्। कफपित्तास्रवीसर्पकुष्ठकण्डूविषप्रणुत् ॥ १२४ ॥

'केवटीमोथा' के नाम लक्षण तथा गुण—कुटन्नट, दासपुर, वालेय, परिपेलव, प्लव, गोपुर, गोनर्द, कैवर्तीमुस्तक और वितुन्नक ये सब संस्कृत नाम 'केवटीमोथा' के हैं। केवटीमोथा के लक्षण—यह मोथा की भांति सुन्दर कोमल पत्ते तथा शुक की भांति वर्ण से युक्त होता है। **केवटीमोथा**—कटु, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, शीतवीर्य और कान्तिवर्धक होता है और यह कफ, पित्त, रक्तविकार, वीसर्प, कुष्ठ, खुजली तथा विष को दूर करता है ॥ १२२-१२४ ॥

ॐ 'केवटीमोथा'—'गुडतजी' इति च लोके। इदं तु वितुन्नकनाम्नो वृक्षस्य त्वग् मुस्ताकृतिः ॥ १२२-१२४ ॥

यहां पर यह भी समझना चाहिये कि लोक में 'केवटीमोथा' गुडतजी नाम से भी प्रसिद्ध है तथा यह वितुन्नकनामक वृक्ष का छिल्का है एवं आकार में मोथा की भांति होने से इसे केवटीमोथा कहते हैं ॥ १२२-१२४ ॥

५१ केवटीमोथा

कैवर्तमुस्तक का उपर्युक्त वर्णन भ्रमात्मक मालूम पडता है। मुस्ता के आकार वाली वितुन्नक नामक वृक्ष की छाल कैवर्तमुस्तक है यह उपर्युक्त वर्णन से मालूम होता है। केवटीमोथा नाम से ग्रन्थिसदृश छोटे काले कन्द मिलते हैं जो मोथा वर्ग के ही होते हैं। यह अन्दर से सफेद होते हैं। इसको कुछ लोगों ने साइपरस् टेनुइफ्लोरस् (Cyperus tenuiflorus) नाम दिया है जो मुस्ता-वर्ग का ही द्रव्य होने से कैवर्तमुस्तक माना जा सकता है। इसके गुणों में तथा मोथे के गुणों में विशेष अन्तर नहीं हैं। 'वितुन्नक वृक्ष की छाल कैवर्तमुस्तक है' यह कथन समीचीन नहीं मालूम होता है। डा. देसाई ने ले-Celosia argentia N. O Amarantaceae (सिलोसिआ आर्जण्टिआ, ॲमॅरेन्टेसिइ) का संस्कृत नाम शितवार, वितुन्नक लिखा है। इसे हि. में सुर्वाली, सफेद मुर्गा कहा जाता है। इसका क्षुप उत्तरभारत में बहुत होता है। यह ३ फीट ऊँचा, **पत्ते**-एकान्तर, लम्बे, पतले तथा कम चौड़े, **पुष्प**-सफेद तथा गुलाबी एवं क्षुप के अन्त में गुच्छों में, **बीज**-बहुत, काले से भूरे रंग के होते हैं। पत्तों का शाक खाते हैं तथा बीजों का भी

---

[१]- पुटमिति पाठा०। [२] शुक्राभमिति पाठा०।

व्यवहार किया जाता है। बीज शीतल, स्नेहन तथा पौष्टिक होते हैं। १ तोला बीज, मिश्री तथा उष्ण दुग्ध के साथ कामोत्तेजना के लिये देते हैं। बीजों का फांट अतिसार में तथा मूत्राघात में मिश्री एवं बीज का उपयोग किया जाता है। बंगाल में निद्रा लाने के लिये पत्रशाक खिलाते हैं। मात्रा—½-१ तोला।

अथ स्पृक्का (असबरग) । सुगन्धिद्रव्यम् (शाकविशेषः) । 'लङ्कोइकपुरी'ति लोके च । तस्या नामगुणानाह-

स्पृक्काऽसृग् ब्राह्मणी देवी मरुन्माला लता लघुः । समुद्रान्ता वधूः कोटिवर्षा लङ्कोपिकेत्यपि । स्पृक्का स्वाद्वी हिमा वृष्या तिक्ता निखिलदोषनुत् । कुष्ठकण्डूविषस्वेददाहाश्री[1]ज्वररक्तहृत् ॥

स्पृक्का (असवरग) जो कि सुगन्धिद्रव्यों में से एक प्रकार का शाक ही है तथा जिसे लोक में लङ्कोईकपुरी' भी कहते हैं, उसके नाम तथा गुण—स्पृक्का, असृग्, ब्राह्मणी, देवी, मरुन्माला, लता, लघु, समुद्रान्ता, वधू, कोटिवर्षा और लङ्कोपिका ये सब संस्कृत नाम 'स्पृक्का' के हैं। **स्पृक्का**—स्वादिष्ट, शीतवीर्य, वृष्य, तिक्त रसयुक्त तथा सम्पूर्ण दोषों को दूर करने वाली होती है एवं यह कुष्ठ, खुजली, विष, पसीना, दाह, अलक्ष्मी, ज्वर तथा रक्तविकार को नष्ट करती है ॥ १२५-१२६ ॥

५२ स्पृक्का ।

स्पृक्का भी एक सन्दिग्ध द्रव्य है। डल्हण ने इसे 'कुटिलपुष्पा सुगन्धिद्रव्यमौत्तरापथिकम्' (सु. सू. ३८) लिखा है। चरक में भी इसका उल्लेख है। कुछ लोगों ने इसका ले नाम मार्सिलिआ क्वाड्रिफिडा (Marsilea quadrifida) तथा कुछ ने ट्रिफोलिअम् ऑफ़िसिनेल् (Trifolium officinale) लिखा है जो उचित नहीं मालूम पडता। डा देसाई ने एनिसोमिलस् मलबारिका को स्पृक्का लिखा है। वर्णन एव गुण-धर्म की दृष्टि से यह उचित मालूम होता है अतः इसी का वर्णन किया जा रहा है।

गु०-मखमली चोधारो। **म०**-कपूरीमधुरी, कालोतुवो, गावजवान, चोधारा। **क०**-करितुवे। **ते०**-मोगवीराक। **ता०**-पेयिमसरी। **अं०**-Malabar catmint (मॅलॅबर् केट्मिण्ट्)। **ले०**-*Anisomeles malabarica* (एनिसोमिलस् मलबारिका)। N. O. Labiatae (लेबिएटिइ)।

इसका **क्षुप** अत्यन्त रोमश तथा झाड़ीदार दक्षिण भारत में होता है। यह कमर तक ऊँचा रहता है। **पत्ते**-मोटे, लवगोल, कुछ शल्याकृति तथा सवृन्त रहते हैं। **पुष्प**-हलके जामुनी रग के रहते हैं। इसके पत्र सुगन्धि एवं कडवे रहते हैं।

रासायनिक संगठन—*इसमें उडनशील तैल तथा एक कडुवा क्षाराभ रहता है।*

गुण और प्रयोग—यह उत्तम स्वेदजनन, शीतप्रशमन तथा उत्तेजक है। यह तीव्र औषध है। उदर शूल, अपचन तथा कुपचन में इसे खिलाते हैं तथा इसका पेट पर लेप भी करते हैं। बच्चों मे दंतोद्भेद के समय होने वाले विकारों में इससे अच्छा लाभ होता है। कृमिज्वर तथा अन्य ज्वरों में विशेष कर जीर्ण ज्वर में इससे लाभ होता है। आमवातादि में इसके उडनशील तैल को लगाया जाता है तथा पत्तों के क्वाथ से सेंका जाता है। तैल का भी आतरिक प्रयोग पाचन के विकारों में किया जाता है।

मात्रा—स्वरस ¼-½ चम्मच। तैल २-५ बूंद।

'पर्पटी' इति प्रसिद्धं 'पद्मावती' इति चोत्तरदेशे, सुगन्धि द्रव्यम् । अथ पर्पटी [पनडी] । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

पर्पटी रञ्जना कृष्णा जतुका जननी जनी । जतुकृष्णाऽग्निसंस्पर्शा जतुकृच्चक्रवर्त्तिनी ॥ १२७ ॥ पर्पटी तुवरा तिक्ता शिशिरा वर्णकृल्लघुः । विषव्रणहरी कण्डूकफपित्तास्रकुष्ठनुत् ॥ १२८ ॥

'पर्पटी' जो कि 'पद्मावती' नाम से उत्तरदेश में प्रसिद्ध सुगन्धित द्रव्य है उसके नाम तथा

---

१. दाहास्र इति पाठा०।

गुण—पर्पटी, रञ्जना, कृष्णा, जतुका, जननी, जनी, जतुकृष्णा, अग्निसंस्पर्शा, जतुका और चक्रवर्त्तिनी ये सब संस्कृत नाम 'पर्पटी' के हैं। **पर्पटी**—कषाय तथा तिक्त रसयुक्त, शीतवीर्य, शरीर के वर्ण को उज्ज्वल करने वाली और लघु होती है। यह विष, व्रण, खुजली, कफ, पित्तास्र और कुष्ठ को दूर करने वाली है ॥ १२७-१२८ ॥

५३ पर्पटी

सुगन्धि पानडी के स्वरूप के बारे में भी पर्याप्त मतभेद मिलता है।

डा. देसाई ने **गु०**—सुगन्धी पानडी नाम से एक क्षुप का वर्णन किया है जिसका नीचे वर्णन दिया गया है।

सं०—पाची। **हिं०**—पाचोली। **बं०**—पाटचोली, पानपट। **गु०**—सुगन्धी पानडी। **म०**—पांन। **कोंक**—माली। **ले०**—*Pogostemon pachouli* (पोगोस्टेमन् पाचौली)। N. O. Labiatae (लेबिएटी)।

इसका स्वावलम्बी, अनेक शाखायुक्त क्षुप कोंकण में प्रसिद्ध है। यह जंगलों में होता है तथा इसकी उपज भी की जाती है। उपज से इसकी आकृति में परिवर्तन हो जाता है। **पत्ते**—अण्डाकृति, दन्तुर तथा लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**—बहुत छोटे तथा तुलसी की तरह गुच्छों में आते हैं। यह क्षुप बहुत सुगन्धित होता है। इसके पत्तों का उपयोग औषध में किया जाता है। रेशमी तथा ऊनी वस्त्रों में कीडे न लगे इसलिये उनमें इसके पत्ते रखते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक अत्यन्त सुगन्धि उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह रक्तस्तम्भक, मूत्रजनन तथा वातानुलोमक है। रक्तमूत्र में १ माशा भाग के साथ २ तोला पत्तों का रस देते हैं।

मात्रा—½-१ चम्मच।

अथ नलिका। उत्तरापथे प्रसिद्धा सुगन्धा प्रवालाकृतिः 'यवारी' इति च क्वचित्प्रसिद्धा। तस्या नामानि गुणांश्चाह

नलिका विद्रुमलता कपोतचरणा नटी। धमन्यञ्जनकेशी च निर्मध्या[1] सुषिरा नली ॥ १२९ ॥
नलिका शीतला लघ्वी चक्षुष्या कफपित्तहृत्। कृच्छ्राश्मवाततृष्णाऽस्रकुष्ठकण्डूज्वरापहा ॥

'नलिका' जो कि उत्तरदेश में प्रसिद्ध सुगन्धि द्रव्य देखने में मूगे के समान होती है और जो कि कहीं-कहीं 'यवारी' नाम से भी प्रसिद्ध है उसके नाम तथा गुण—नलिका, विद्रुमलता, कपोतचरणा, नटी, धमनी, अञ्जनकेशी, निर्मध्या, सुषिरा और नली ये सब संस्कृत नाम नलिका के हैं। **नलिका**—शीतवीर्य, लघु तथा नेत्र के लिये हितकर होती है। यह कफ, पित्त, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, वात, तृषा, रक्तदोष, कुष्ठ, खुजली तथा ज्वर को दूर करती है ॥ १२९-१३० ॥

५४ नलिका

नलिका नामक गन्धद्रव्य भी सन्दिग्ध है। कुछ लोग इसे रतनजोत मानते हैं। रतनजोत भी कुछ हदतक सन्दिग्ध ही है। नालुका नाम से एक सुगन्धित गोल मुडी हुई छाल के टुकडे बाजार में बिकते हैं। इसे मोटी तज भी दुकानदार कहते हैं तथा इसमें तज की तरह ही गन्ध होती है। इसे नलिका कहा जा सकता है कि नहीं, यह कहना कठिन है। नालुका का विशेष उपयोग शोथहर लेप के रूप में बहुत किया जाता है।

अथ प्रपौण्डरीकम्। सुगन्धि द्रव्यम् [पुण्डेरी] इति लोके प्रसिद्धम्। तस्य नामानि गुणांश्चाह

प्रपौण्डरीकं पौण्डर्यं चक्षुष्यं पौण्डरीयकम्।
पौण्डर्यं मधुरं तिक्तं कषायं शुक्लं हिमम्। चक्षुष्यं मधुरं पाके वर्ण्यं पित्तकफप्रणुत् ॥ १३१ ॥

१. निर्मथ्या इति पाठा०।

'पुण्डेरी' इस नाम से लोक में प्रसिद्ध सुगन्धि द्रव्य के नाम तथा गुण—प्रपौण्डरीक, पौण्डर्य, चक्षुष्य और पौण्डरीयक ये सब संस्कृत नाम 'पुण्डेरी' के हैं। **पुण्डेरी**–मधुर, तिक्त तथा कषाय रस-युक्त, शुक्रजनक, शीतवीर्य, नेत्र के लिये हितकर, पाक में मधुर और शरीर के वर्ण को उत्तम करने वाला तथा पित्तकफ का नाशक है ॥ १३१ ॥

५५ पुण्डेरी

प्रपौण्डरीक भी एक संदिग्ध द्रव्य है। कुछ लोगों ने पुण्डरीक तथा प्रपौण्डरीक में नाम तथा गुण सादृश्य होने से दोनों को एक मान लिया है लेकिन यह उचित नहीं है। पुण्डरीक श्वेत कमल का नाम है। पुण्डरीक नामसे सुश्रुत (क. अ. २) में कन्दविष का उल्लेख है। 'पुण्डरीकेण रक्तत्वमक्ष्णोर्वृद्धिस्तथोदरे।' प्रपौण्डरीक का एक नाम 'चक्षुष्य' होने से 'चाकसू' नामक वनस्पति को प्रपौण्डरीक के स्थान पर लिया जा सकता है। डा. देसाई ने चाकसू को 'वन्यकुलत्थ' लिखा है। वन्यकुलत्थ–रक्तपित्तकृत्, शीतल, कफवातहर एव कषाय रसयुक्त होती है। कुछ लोग यूनानी द्रव्य ममीरा मानते हैं क्योंकि उसका नेत्र रोगों में बहुत व्यवहार होता है। निम्न वर्णन चाकसू का है।

सं०–चक्षुष्या, अरण्यकुलत्थिका । **हि०**–चाक्षुस्, चाक्सू । **पं०**–चक्सू । **गु०**–चीमेड । **काठि०**–चमेड । **म०**–चिनोल, कानकुटी, चिम्न । **ता०**–करुकानम् । **ते०**–चनुपाल विट्टलु । **कं०**–क्रीड, निन्द्रताछ । **अ०**–चश्मीजज, हब्बुस्सूदान । **फा०**–चश्मीजज, चशूम । **ले०**–*Cassia absus* (कॅसिआ एब्सस्) । N. O. Caesalpiniaceae (सिसेल्पिनिएसिइ) ।

यह प्रायः सर्वत्र प्राप्त होता है।

इसके एक वर्षायु **क्षुप** ८–१८ इञ्च ऊँचे होते हैं। पत्रनाल बड़ा और पत्रदण्ड पर प्रत्येक पत्रकद्वय के बीच एक रेखाकार ग्रन्थि होती है। **पत्रक** सख्या में ४, आयताकार, •६–•९ इञ्च लंबे, करीब २ कुण्ठिताग्र और मध्यशिरा के दोनों ओर के उनके दोनों भाग आधार पर असमान होते हैं। **पुष्प** सवृन्त पीले या लाल जिसमें केवल ४ पुकेशर होते हैं और जो अग्रग्य मंजरी में रहते हैं। **फली**–चिपटी, रोमश तथा १–१½ इञ्च लंबी होती है। **बीज**–सख्या में पाच, चमकीले, काले भूरे, चिकने, चिपटे, अंडाकृति किन्तु एक सिरा पतला और लंबाई तथा चौडाई में ⅙ इञ्च होते हैं। बीज का कवच निकाल देने से पीले रंग की तथा कडवी मज्जा निकलती है। सिंध तथा कच्छ से ये बीज आते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में २½% राख होती है। उसमे मॅगेनीझ का अंश रहता है।

गुण और प्रयोग—यह सग्राहक एव नेत्राभिष्यदप्रशमन है। पूययुक्त नेत्राभिष्यद में भुने हुए बीजों की मज्जा का ½ र० चूर्ण पलकों के अन्दर रखते हैं। बीजों को पानी में साने हुए गेहू के आटे में रख, गरम राख में गरम कर, छिलका निकाल कर नेत्ररोगों में प्रयोग किया जाता है। चाकसू के २१ बीज तथा सफेद चंदन ५ माशे रात में जल में भिगो कर सुबह उस जल को छानकर पिलाने से रक्त मूत्र ठीक होता है।

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे वर्गप्रकरणे
तृतीयः कर्पूरादिवर्गः समाप्तः ॥ ३ ॥



अथ गुडूच्यादिवर्गः

अथ गुडूची । तस्या उत्पत्ति नामानि गुणाँश्चाह

अथ लङ्केश्वरो मानी रावणो राक्षसाधिपः रामपत्नीं बलात्सीतां जहार मदनातुरः ॥ १ ॥
ततस्तं बलवान् रामो रिपु जायाऽपहारिणम् । वृतो वानरसैन्येन जघान रणमूर्धनि ॥ २ ॥
हते तस्मिन्सुराराती रावणे बलगर्विते । देवराजः सहस्राक्षः परितुष्टश्च राघवे ॥ ३ ॥
तत्र ये वानराः केचिद्राक्षसैर्निहता रणे । तानिन्द्रो जीवयामास संसिच्यामृतवृष्टिभिः ॥ ४ ॥
ततो येषु प्रदेशेषु कपिगात्रात्परिच्युताः । पीयूषबिन्दवः पेतुस्तेभ्यो जाता गुडूचिका ॥ ५ ॥
गुडूची मधुपर्णी स्यादमृताऽमृतवल्लरी । छिन्ना छिन्नरुहा छिन्नोद्भवा वत्सादनीति च ॥ ६ ॥
जीवन्ती तन्त्रिका सोमा सोमवल्ली च कुण्डली । चक्रलक्षणिका धीरा विशल्या च रसायनी ॥
चन्द्रहासा वयस्था च मण्डली देवनिर्मिता । गुडूची कटुका तिक्ता स्वादुपाका रसायनी ॥८॥
सग्राहिणी कषायोष्णा लघ्वी बल्याऽग्निदीपिनी । दोषत्रयामतृड्दाहमेहकासांश्च पाण्डुताम् ॥
कामलाकुष्ठवातास्रज्वरक्रिमिवमीन्हरेत् । (प्रमेहश्वासकासार्शः कृच्छ्रहृद्रोगवातनुत्) ॥१०॥

अब यहां से गुडूच्यादिवर्ग आरम्भ होता है। उसमें प्रथम 'गिलोय' की उत्पत्ति, नाम तथा गुण कहते हैं।

उत्पत्ति—जब कि अभिमानी, लङ्का के राजा, राक्षसों के स्वामी रावण ने कामातुर हो श्रीरामचन्द्रजी की पत्नी श्रीसीताजी को बलपूर्वक हरण किया, तब बलवान् श्रीरामचन्द्रजी ने स्त्री के हरण करनेवाले उस शत्रु (रावण) को वानरों की सेनाओं से युक्त हो युद्ध में मारा। बल से गर्वीले, देवताओं के शत्रु उस रावण के मारे जाने पर हजार नेत्रों वाले देवताओं के राजा इन्द्र, श्रीरामचन्द्रजी पर अत्यन्त प्रसन्न हुये और उन्होंने उस युद्ध में जो कोई वानर राक्षसों के द्वारा मारे गये थे उन्हें अमृत की वर्षा से सींचकर जिला दिया उसके बाद जिन स्थानों पर वानरों के शरीर से अमृत की बूंदे पृथ्वी पर गिरीं, उनसे 'गिलोय' की उत्पत्ति हुई।

नाम—गुडूची, मधुपर्णी, अमृता, अमृतवल्लरी, छिन्ना, छिन्नरुहा, छिन्नोद्भवा, वत्सादनी, जीवन्ती, तन्त्रिका, सोमा, सोमवल्ली, कुण्डली, चक्रलक्षणिका, धीरा, विशल्या, रसायनी, चन्द्रहासा, वयस्था, मण्डली और देवनिर्मिता ये सब संस्कृत नाम 'गिलोय' के हैं।

गुण—**गिलोय** कटु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त एवं विपाक में मधुर रसयुक्त, रसायन, सग्राही, उष्णवीर्य, लघु, बलकारक, अग्निदीपक तथा त्रिदोष, आम, तृषा, दाह, मेह, कास, पाण्डुरोग, कामला, कुष्ठ, वातरक्त, ज्वर, क्रिमि और वमिको दूर करती है। (यह प्रमेह, श्वास, कास, अर्श, मूत्रकृच्छ्र, हृद्रोग और वात इन सबों का नाश करने वाली होती है)॥ १-१० ॥

१ गिलोय

हिं०—गिलोय, गुरुच, गुडुच्च। **बं०**—गुलच, पालो (सत्व)। **म०**—गुलवेल, गरुड वेल। **गु०**—गालो। **क०**—अमरदवल्ली, अमृत वल्ली। **ते०**—तिप्पतीगे। **ता०**—शिन्दिलकोडि, अमृडवल्ली। **उ०**—गुलचा। **प०**—गिलो। **क०**—गरुडवेल। **मला०**—अम्रितु। **गोआ०**—अमृतवेल। **फा०**—गिलोई, गिलोय। **अ०**—गिलोइ। **अं०**—टिनोस्पोरा (Tinospora)। **ले०**—*Tinospora cordifolia* (टिनोस्पोरा कॉर्डिफोलिया)। N. O. Menispermaceae (मेनिस्पर्मेसिइ)।

गिलोय—प्राय सब प्रान्तों के जंगल झाडियों में पाई जाती है विशेष कर गरम प्रान्तों में अधिक होती है। देहरादून और सहारनपुर के जङ्गलों में बहुत पाई जाती है।

इसकी बहुवर्षायु, चिकनी एवं मांसल **लता**—बहुत विस्तार में वृक्षों पर फैल जाती है। शाखाओं से डोरे के समान शोरियाँ निकल कर भूमि की ओर लटकती हैं। **पत्ते**—पान के समान २-४ इञ्च के घेरे में गोलाकार नुकीले, चिकने, पतले, ७-९ शिराओं से युक्त एवं १-३ इञ्च लंबे पर्णवृन्त से

युक्त होते हैं। प्रायः वसन्त ऋतु में इसके पुराने पत्ते पीले होकर गिर जाते हैं और ज्येष्ठ तक नवीन पत्ते निकल आते हैं। उसी समय हरापन युक्त पीले रंग के अथवा केवल पीले रंग के फूलों के गुच्छे आते हैं। **फल**-मटर के समान होते हैं और पकने पर ये लाल हो जाते हैं। **बीज**-कुछ टेढ़े तथा चिकने होते हैं।

इसके मूल तथा कांड का व्यवहार औषध के लिये किया जाता है। ताजी अवस्था में कांड की छाल हरी तथा मांसल रहती है तथा उस पर पतली भूरे रंग की वाह्य त्वचा रहती है जिसकी पपड़ी निकलती रहती है। इस पर छोटे छोटे गठ्ठे होते हैं। इसको काटने से अन्दर का भाग चक्राकार दिखाई देता है। ताजी एवं हरी गुडुच ज्यादा लाभप्रद होती है। गरमी में मई महीने के आखिर में इसका सग्रह करना चाहिये। प्रयोग के पूर्व इसके ऊपर की छाल खुरचकर निकाल दी जाती है। इसमें गन्ध नहीं होती किन्तु स्वाद कडवा होता है।

इससे कुछ भिन्न इसकी एक दूसरी जाति प्रायः बडी (४″-९″×८″), मृदु रोमश और प्रायः त्रिखण्ड पत्तियों वाली होती है। इसके बीज के कठोर आवरण पर छोटे-छोटे दाने होते हैं। इसे **सं०**-पद्मगुडूची, **बं०**-पद्मगुलच, **माल०, पं०**-बडी सरसटीलत एवं **ले०**-Tinospora malbarica (टिनोस्पोरा मलबारिका) कहते हैं। दोनों के गुण और स्वरूप में स्थूलरूप से कोई अन्तर न मिलने के कारण दोनों का ही व्यवहार गुडूची के नाम से किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी ताजी काड त्वक् में तीन रवेदार पदार्थ, गिलोइन ग्लूकोसाइड (Giloin, $C_{23}H_{32}O_{10}$, $5H_2O$), गिलोइनिन नामक कडवा पदार्थ (Giloinin, $C_{17}H_{18}O_5$) तथा गिलोस्टेरॉल (Gilosterol, $C_{28}H_{48}O$) पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें वर्बेरिन (Berberine) एव मोम की तरह का एक पदार्थ पाया जाता है।

गुडुचीसत्व—अच्छी मोटी गुडुच बरसात के पूर्व संग्रहकर ऊपर की छाल छुडाकर साफ धोकर छोटे टुकडे बना पत्थर के खरल में महीन कूट डाले। इसमें चौगुना जल डाल १२-२४ घंटा भींगने के बाद अच्छी तरह मसलकर कपडे से छान ले। सत्व नीचे बैठने के बाद ऊपर का जल धीरे से नितार कर सत्व को सुखाकर बन्द बोतलों में रखें। कुछ लोग नितरे हुवे जल में फिर से उसी गुडुच को मसल एवं उबाल कर छान लेते है तथा उस द्रव को पहले निकाले हुये सत्व में मिलाकर धूप में सुखा लेते हैं जिससे इसमें उष्ण जल में घुलनशील पदार्थ भी आजाते हैं। कुछ लोग नितारे हुये जल को औटाकर स्वतन्त्र प्रयोग भी करते हैं।

गुण और प्रयोग—गुडुच कडवी, उष्ण, त्रिदोषघ्न, रसायन, बल्य, ज्वरहर, दीपन, मूत्रजनन, त्वग्रोगहर, पित्तसारक तथा विषघ्न है। नवीन अनुसंधानों से गुडूची का व्याधिप्रतिकारक गुण व्यापक रूप में प्रमाणित हुआ है। जीर्ण पूतिकेन्द्र (Chronic septic focus) जनित विकार, जीर्ण विषमज्वर तथा यकृत् की हीन कार्यता आदि में कुछ काल तक गुडूची का प्रयोग करते रहने से अवश्य लाभ होता है।

इसका प्रयोग त्वग्रोग, विषमज्वर, जीर्णज्वर, कुष्ठ, वातरक्त, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, कामला, पांडु, मन्दाग्नि, वमन, तृषा, दाह, रक्तार्श एवं कृमि आदि अनेक रोगों में किया जाता है।

(१) ताजी गिलोय को साफ धोकर बनाया कल्क १० तो० एवं अनन्तमूल का चूर्ण १० तो० इनको १०० तो० उबलते जल में बन्द पात्र में दो घंटे बन्द रखें। फिर मसल कर छान लें। यह फाट उत्तम रसायन एवं मूत्रजनन है। कुष्ठ, फिरङ्गोपदंश की द्वितीयावस्था, वातरक्त तथा जीर्ण आमवात में यह बहुत लाभदायक होता है। ज्वर के पश्चात् उत्पन्न दौर्बल्य तथा अन्य दौर्बल्य युक्त व्याधियों में इसका उपयोग पौष्टिक रूप में किया जाता है। इसको ५-१० तो० दिन में ३ बार पिलाते हैं।

(२) सौम्य विषमज्वर तथा जीर्णज्वर में जो शीत मालूम पडता है वह इसके क्वाथ से दूर होता है। जीर्णज्वर में इसके क्वाथ में या स्वरस में छोटी पीपल एवं मधु मिलाकर पिलाते हैं जिससे ज्वर, कफ, प्लीहावृद्धि एव अरुचि आदि दूर होती है।

(३) प्रमेह, नवीन सोजाक तथा अन्य मूत्रविकारों में इसका स्वरस अधिक मात्रा में दिया जाता है। अधिक मात्रा से पाखाना भी साफ होता है। प्रमेह में २-३ ड्रा० स्वरस पाषाणभेद-चूर्ण ५-८ र० एवं मधु के साथ या दुग्ध एवं शर्करा के साथ दिन में ३ वार पिलाते हैं। गुडुच, हरिद्रा एव आंवला इनका क्वाथ अथवा गुडूची स्वरस एव मधु का प्रयोग भी लाभदायक होता है।

(४) गुडूची से पित्तमार्ग का अभिष्यन्द कम होने के कारण पित्त का स्राव ठीक होने लगता है। कुपचन, मन्द उदरशूल तथा कामला में इसका उपयोग किया जाता है। कामला में इसका स्वरस मधु मिलाकर सुबह पिलाना चाहिये। इसमें गुडुच के पत्तों का कल्क तक्र के साथ लाभदायक होता है। पैत्तिक वमन में इसका स्वरस पिलाने से लाभ होता है।

(५) त्वग्रोगों में यह प्रधान औषध है। इनमें एक हाथ प्रमाण में गुडुच, गुग्गुलु के साथ या कड़वा निंव या हरिद्रा, खदिर एवं आंवला के साथ देते हैं। इससे कण्डू, दाह, दाग एवं चकत्ते आदि अच्छे होते हैं। वातरक्त में दुग्ध के साथ सिद्ध किया हुआ इसका तैल लाभदायक माना जाता है। पित्ताधिक्य युक्त वातरक्त में इसका क्वाथ पिलाते हैं।

(६) अर्श में इसका स्वरस या चूर्ण तक्र के अनुपान से देते हैं।

(७) स्तन्यशुद्धि के लिये इसका क्वाथ पिलाया जाता है।

(८) रसायन रूप में इसका स्वरस या मधु एव गुड के साथ इसके चूर्ण का प्रयोग किया जाता है।

(९) **गुडूचीसत्व**—ज्वरहर रूप में इसका वहुत उपयोग किया जाने से इसे भारतीय क्विनीन कहा जाता है। प्लीहावृद्धि एव वस्तिशोथ में यह वहुत उपयोगी है। आव, जीर्ण अतिसार, रक्तातिसार, अम्लपित्त, मूत्रविकार एव शुक्रक्षय में यह लाभदायक है। औषधीय गुणों के अतिरिक्त यह उत्तम पोषक पदार्थ भी है।

मात्रा—चूर्ण १-३ मा०, क्वाथ ४-८ तो०, सत्व ५-२५ र०।

अथ नागवल्ली (पान)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

ताम्बूलवल्ली ताम्बूली नागिनी नागवल्लरी। ताम्बूलं विशदं रुच्यं तीक्ष्णोष्णं तुवरं सरम्॥११॥
वश्यं तिक्तं कटु क्षारं रक्तपित्तकरं लघु। बल्यं श्लेष्मास्यदौर्गन्ध्यमलवातश्रमापहम्॥१२॥

पान के तथा नाम तथा गुण—ताम्बूलवल्ली, ताम्बूली, नागिनी, नागवल्लरी और ताम्बूल ये सव संस्कृत नाम 'पान' के हैं। **पान**—विशदगुणयुक्त, रुचिकारक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, कसैला, दस्तावर, वशकारक, तिक्त, कटु रसयुक्त, क्षार गुणयुक्त, रक्तपित्त का उत्पादक, लघु तथा वलकारक होता है। यह कफ, मुख की दुर्गन्धता, मल, वात तथा श्रम को दूर करता है॥ ११-१२॥

२ पान

हि०—पान **वं०**—पान। **म०**—नागवेल, विड्याचेपान। **ते०**—तमाल पाकु। **ता०**—वेत्तिलै। **गु०, मा०**—नागरवेल। **मला०**—वेत्तिल। **फा०**—तवोल, वर्गे तम्बोल। **अ०**—तंवूल। **अं०**—Betel Leaf (विटल लीफ)। **लै०**—*Piper betle* (पाइपर वीटल)। N. O. Piperaceae (पाइपरेसिइ)।

पान—सर्वप्रसिद्ध और सर्वप्रिय एक वेल के पत्र हैं। भारतवर्ष, लंका एव मलयद्वीप के उष्ण एवं आर्द्र प्रदेशों में इसकी खेती की जाती है। इसकी मूलारोहिणी **लता**—अत्यन्त सुहावनी और कोमल होती है। **कांड**—अर्धकाष्ठमय, मजबूत तथा गांठों पर मोटा रहता है। **पत्ते**—पीपल के पत्तों के समान, वडे, चौडे अंडाकार, कुछ हृदयाकृति, कुछ लवाग्र, प्रायः ७ शिराओं से युक्त, चिकने, मोटे एव करीव १ इञ्च लवे पर्णवृन्त से युक्त रहते हैं। **पुष्प**—अवृन्त काण्डज (Spike) पुष्पव्यूहों में आते हैं। **फल**—करीव दो इञ्च लंवे, मासल, लटकते हुये व्यूहाक्ष में छोटे-छोटे वहुत फल रहते हैं। पान में मनोहर गंध रहती है तथा इसका स्वाद कुछ उष्ण एव सुगंधयुक्त रहता है।

इसके खेत की जमीन वीच में ऊंची और दोनों किनारे नीची होती है। इससे खेत में पानी नहीं ठहरता। धूप और पाले से वचाव के लिये खेत के चारों ओर फूस की दीवार और छाजनी वना देते हैं। खेत के भीतर क्यारी वनाकर फरहद, जियल इत्यादि की डालियाँ लगा देते हैं। इन्हीं के सहारे पान

की वेल फैलती है। बगला, सांची, महोबा, महाराज पुरी, बिलोआ, कपुरी, फुलवा इत्यादि नामों से इसकी कई जातियाँ होती है। ध० नि० में इसके कृष्ण और शुभ्र ये दो भेद लिखे हुये हैं। रा० नि० में श्रीवाटी (सिरिवाडीपान), अम्लवाटी (अवाडेपर्ण), सतसा (सातसीपर्ण), गुहागरे (अडगरपर्ण), अम्लसरा (मालव में होने वाला अंगरापर्ण), पट्ठलिका (आंध्र में होने वाला पोटकुली पर्ण) एवं ह्वेसणीया (समुद्रदेशपर्ण) ये पान के सात भेद लिखे हैं जिनके अलग-अलग गुण भी लिखे हैं।[1] स्थानादि भेद से पान विभिन्न प्रकार का होता है। अति प्राचीनकाल से अपने यहां पान का व्यवहार मुखशुद्धि, रुचिवृद्धि एव सुगंधि के लिये किया जाता है। चरक में मात्राशितीय अध्याय में 'धार्याण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता''कक्कोलकफलं पत्र तांबूलस्य शुभं तथा' एव सुश्रुत में अन्नपानविधि अध्याय में इसका उल्लेख है।

रासायनिक संगठन—पान के पत्तों में एक सुगधि उडनशील तैल (०.२–१.०%), स्टार्च, शर्करा, टॅनिन एवं डायास्टेस (Diastase, 0.3–1.8%) ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसका तैल हलके पीले रंग का, सुगधि, स्वाद में तीक्ष्ण तथा दाहकारक एवं ०.९५८–१.०५७ वि० गु० वाला रहता है। इस तैल में चविकॉल (Chavicol), कॅडेनीन (Cadenene), चविबेटॉल (Chavibetol), यूजेनॉल का समाजिक (Isomeride of Eugenol) एव सेस्क्विटर्पेन (Sesquiterpene) ये पदार्थ पाये जाते हैं। जावा एवं मनिला के तैल में फेनॉल (Phenols) की मात्रा बहुत (५५%) रहती है। पुराने पत्तों की अपेक्षा नवीन पत्तों में तैल, डायास्टेस एवं शर्करा की मात्रा अधिक रहती है। चविकॉल यह कार्बोलिक एसिड की अपेक्षा ५ गुना अधिक प्रतिदूषक (Antiseptic) है जो इसके स्वरस में रहता है।

गुण और प्रयोग—पान उत्तम दीपन, पाचन, श्लेष्मघ्न, वातहर, पित्तप्रकोपक, उष्ण, स्वर्य, सुगधि, शोथघ्न, व्रणरोपक, प्रतिदूषक, कृमिघ्न, वृष्य एव मुंह की कडू–मल–क्लेद–दुर्गन्ध नाशक है।

इसका प्रयोग पीनस, कास, कफविकार, आध्मान तथा शोथादि में एव कफविकारों में अनुपान के रूप में बहुत किया जाता है। सुपारी, चूना, कत्था एवं इलायची आदि पान के पत्ते में रख कर उसका बीड़ा बनाकर मुखशुद्धि आदि के लिये लोग खाते हैं। इसको खाते-खाते लोगों को इसका व्यसन हो जाता है। कोकेन खाने वाले पान में कोकेन रखकर खाते हैं। कई औषधों को पान में रख कर खाने की प्रथा है।

जिसने पान कभी नहीं खाया है उसे प्रथम इसके सेवन के पश्चात् मुंह में जलनसी मालूम होती है, गले में एक तरह की जकड़न मालूम होती है, स्वाद ग्रहण करने की शक्ति कम होती है एवं मुंह आदि में छाले पड जाते हैं। कुछ देर तक बेचैनी, जी का धंसना, मूर्च्छा, सन्यास, कुछ उत्तेजना एवं स्वेदोत्पत्ति आदि लक्षण किसी किसी में होते हैं।

---

१. श्रीवाटी मधुरा तीक्ष्णा वातपित्तकफापहा।
रसाढ्या सरसा रुच्या विपाके शिशिरा स्मृता॥
स्यादम्लवाटी कटुकाम्लतिक्ता तीक्ष्णा तथोष्णा मुखपाककर्त्री।
विदाहपित्तास्रविकोपनी च विष्टंभदा वातनिबर्हणी च॥
सतसा मधुरा तीक्ष्णा कटुरुष्णा च पाचनी।
गुल्मोदराध्मानहरा रुचिकृद्दीपनी परा॥
गुहागरे सप्तशिरा प्रसिद्धा तत्पर्णजूतातिरसाऽतिरुच्या।
सुगन्धितीक्ष्णा मधुरातिहृद्या सन्दीपनी पुंस्त्वकराऽतिबल्या॥
नाम्नाऽन्याऽम्लसरा सुतीक्ष्णमधुरा रुच्या हिमा दाहनुत्।
पित्तोद्रेकहरा सुदीपनकरी बल्या मुखमोदिनी॥
स्त्रीसौभाग्यविवर्धनी मदकरी राज्ञां सदा वल्लभा।
गुल्माऽऽध्मानविबन्धजिच्च कथिता, सा मालवे तु स्थिता॥
अन्ध्रे पट्ठलिका नाम कषायोष्णा कटुस्तथा। मलापकर्षा कंठस्य पित्तकृद्वातनाशनी॥
ह्वेसणीया कटुस्तीक्ष्णा हृद्या दीर्घदला च सा। कफवातहरा रुच्या कटुर्दीपनपाचनी॥ (रा० नि०)

इसके तैल के सेवन के पश्चात् मुख तथा आमाशय में उष्णता का अनुभव होता है। प्रारभ में केन्द्रीय वातनाडी संस्थान की उत्तेजना के पश्चात् अधिक मात्रा से एक तरह का नशा उत्पन्न होता है। इसमें डायास्टेस (Diastase) की पर्याप्त मात्रा होने के कारण यह स्टार्च आदि पिष्टमय पदार्थों के पाचन में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त पान चबाने से लालास्राव की वृद्धि होती है जो पाचन में सहायक होती है। भात खाने वालों में इससे विशेष लाभ होता है और यदि वे पान बद कर दें तो उनका पाचन ठीक नहीं होता।

पान खाने का जिन्हे व्यसन हो जाता है उन्हें पान खाने से अच्छा मालूम होता है। उनका मन प्रसन्न होता है, थकावट दूर होती है, प्यास तथा भूख मालूम नहीं पडती एव कुछ कामोत्तेजना होती है। यह तीव्र मादक नहीं होता तथा इसके व्यसन से कोई विषैले परिणाम नहीं होते। सोकर उठने पर, स्नान के पश्चात्, भोजन के पश्चात् एव वमन के पश्चात्, पान के सेवन का विधान है।[1]

(१) कफप्रधान रोगों में यह बहुत लाभदायक होता है। तमक श्वास, श्वसनिका शोथ एव स्वरयत्र शोथ आदि में पान का रस पिलाते हैं एव पान को ऊपर से बाधते हैं। बच्चों के कास-श्वासकृच्छ्र, श्वसनिकाशोथ एव प्रतिश्याय आदि में पान के पत्तों को एरडतैल लगाकर, गरम कर छाती पर बाधने से बहुत लाभ होता है।

(२) रोहिणी (डिफ्थीरिया Diphtheria) नामक बच्चों में अधिक होने वाले घातक गले के विकार में ४ पत्तों का रस थोडे गरम पानी में मिलाकर गरारा करने को देते हैं। पान के तैल को १ बूँद की मात्रा में करीब आध पाव उष्ण जल में मिलाकर इसी प्रकार प्रयोग करते हैं तथा उसकी वाष्प सूघते हैं।

(३) गाठ, शोथ एव व्रण पर इसके पत्तों को गरम कर बांधने से शोथ एव वेदना कम होती है एव व्रण जल्दी अच्छा होता है। इसी प्रकार स्तनों पर बाधने से दुग्ध रुक जाता है तथा सूजन कम होती है। पान के रस में थोडा चूना मिलाकर शोथ आदि पर पोल्टिस के रूप में व्यवहार करते हैं।

(४) कोंकण की तरफ पान के फलों को मधु के साथ खासी में देते हैं।

(५) उडीसा में इसके मूल को काली मिर्च के साथ सततिनियमन के लिये सेवन करते हैं।

(६) नेत्राभिष्यद एव रतौंधी में पत्तों का रस मधु मिलाकर आख में डाला जाता है।

निषेध—नेत्ररोग, रक्तपित्त, क्षत, वातविकार, विषबाधा, शोष, मदात्यय, मोह एव मूर्च्छा में इसका सेवन निषिद्ध है।[2]

मात्रा—स्वरस ½-१ तो०।

अथ बिल्वः (बेल)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

बिल्वःशाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि।[3] श्रीफलस्तुवरस्तिक्तो ग्राही रूक्षोऽग्निपित्तकृत्॥
वातश्लेष्महरो बल्यो लघुरुष्णश्च पाचनः॥ १३॥

बेल के नाम तथा गुण—बिल्व, शाण्डिल्य, शैलूष, मालूर और श्रीफल ये सब संस्कृत नाम बेल के हैं। **बेल**-कषाय तथा तिक्त रस युक्त, ग्राही, रूक्ष, अग्निवर्धक, पित्तकारक, वात कफनाशक, बलकारक, लघु, उष्णवीर्य तथा पाचक है॥ १३॥

३ बेल

हि०—बेल, श्रीफल। **बं०, म०**—बेल। **गु०**—बीली। **क०**—बेलपत्रे, । **ते०**—मारेडु, बिल्वपडु। **ता०**—विल्वम, विल्वपझम। **मा०**—बील, बोलो। **मल०**—कुवलप-पझम। **सिन्ध०**—बिल, कटोरी।

१. पथ्यं सुप्तोत्थिते स्नाते भुक्ते वांते च संगरे। सभायां विदुषां राज्ञां कुर्यात् तांबूलचर्वणम्॥

२ न नेत्ररोगे न च रक्तपित्ते क्षते न वाते न विषे न शोषे।
मदात्यये नापि च मोहमूर्च्छाश्वासेषु ताम्बूलमुशन्ति वैद्याः॥ (सुषेणदेव.)

३. गन्धगर्भः शलाटुश्च कण्टकी च सदाफलः। (क्वाचित्कः)

उडि०-बेलो। **अ०**-सफरजले हिंदी। **फा०**-वेह् हिंदी, बल, शुल्ल। **अं०**-Bengal Quince (बेंगॉल् क्विन्स); Bael fruit (बेल फ्रूट)। **ले०**-*Aegle marmelos* (इगल् मार्मेलोस्)। N. O. Rutaceae (रूटॅसिइ)।

यह आसाम, ब्रह्मा, बगाल, बिहार, युक्तप्रान्त, अवध, झेलम, मध्य और दक्षिण हिन्दुस्तान तथा सिलोन में जंगली और बागी दोनों प्रकार से उत्पन्न होता है।

इसका **वृक्ष**-मध्यमाकार का ५० फुट से भी ऊँचा होता है। शाखाओं पर सीधे, मोटे, तीक्ष्ण एक इञ्च तक लम्बे काटे होते हैं। टहनियों पर पत्ते विषमवर्त्ती रहते हैं। प्रत्येक सींक पर तीन-तीन पत्रकों से युक्त पत्ते रहते हैं। **पत्रक**-कसोंदी के पत्तों के आकार वाले एव अडाकार-भालाकार होते हैं। बीचवाला पत्ता अन्य दो से कुछ बडा होता है। फाल्गुन-चैत्र में पुराने पत्ते गिर जाते हैं और चैत्र-वैशाख में क्रम से नवीन पत्ते निकल आते हैं। इसी समय मे हरियाली लिये सफेद रङ्ग के, ४, ५ पखडियों (अन्तर्दल) वाले एवं करीब १ इञ्च चौड़े फूल लगते हैं और उनमें मधु के समान मन्द गन्ध निकलती है। **फल** (बीजिमांसल फल-Berry)-गोलाकार ३-८ इञ्च व्यास के, हरिताभ रग के, पकने पर पीताभ भूरे रग के एवं चिकने होते हैं। बहिर्भित्ति (Epicarp) से बाह्य कठोर काष्ठमय छिलका बनता है जो करीब ३ मि. मि. मोटा, रक्ताभ रग का एव अन्दर से रेशेदार होता है। मध्यभित्ति एवं अन्तर्भित्ति से गूदा बनता है जो आवरण से चिपका हुआ तथा हलके रक्ताभ नारंगी रंग का होता है। **बीज**-बहुत, १०-१५ समूहों में, बिनौले के सदृश सफेद रोमों से युक्त एवं चिकने तथा रंगहीन गोंद से लिपटे रहते हैं। फलों में मन्द सुगध आती है तथा इनका स्वाद गोंद की तरह होता है। बेल के दो तरह के फल होते है। लगाये हुये फल बडे, सुस्वादु एवं कम बीज वाले होते हैं। जगली फल छोटे, कुछ मादक एव इसके बीज अधिक गोंद से लिपटे होते हैं तथा ये मछली मारने के काम में आते हैं।

बेल अपने यहा बहुत पवित्र माना गया है। सूतिकागार के निर्माण में एव सूतिका के पलंग की लकडी बेल की लेने का चरकादि में विधान है। सुश्रुत में मेधायुष्कामीय अध्याय (चि० अ० २८) में विशिष्ट पद्धतिसे ऋग्वेदोक्त श्रीसूक्त के द्वारा बिल्व की आहुति आदि का विधान किया है जिससे अलक्ष्मी का नाश एवं आयुवृद्धि होती है।

बेल के मूल, त्वचा, पक्व-अपक्व फल, पत्र एवं पुष्प का औषध में व्यवहार किया जाता है। चूर्णादि के लिये कच्चे फल का, मुरब्बे के लिये अधपके फल का और पानक के लिये परिपक्व फल का गूदा लेना चाहिये। दशमूल आदि कषायों में मूल या वृक्ष की त्वचा ली जाती है।

रासायनिक संगठन—बेल के फलों में गोंद एव पेक्टिन (Pectin) के अतिरिक्त प्रह्रासक (Reducing) शर्करा ३·७%, संपूर्णशर्करा ४·६%, तैल जिसमें मार्मेलोसिन (Marmelosin, $C_{13}H_{12}O_3$) नामक एक महत्व का रवेदार पदार्थ रहता है तथा उडनशील तैल रहता है। पक्व फलों में टॅनिन सदृश पदार्थ अत्यल्प मात्रा में रहते हैं। इसके मूल, पत्र एवं छाल मे प्रह्रासक शर्करा एवं टैनिन पाया जाता है। इसके बीजों में एक हलके पीले रग का तैल होता है।

गुण और प्रयोग—**कच्चा बेल** कटु, तिक्त, कषाय, स्निग्ध, उष्ण, दीपन, ग्राही, वात-कफ-नाशक एवं आन्त्र को बल देने वाला है। **पक्व फल** मधुर, सुगन्धि, गुरु, विदाही, विष्टम्भि, दुर्जर, दोषकर, आनुलोमिक एवं दुर्गन्धयुक्त अधोवायु उत्पन्न करने वाला है। **बिल्वपत्र** वातहर, शोथहर, ज्वरहर, श्लेष्मनिःसारक, ग्राही एव आमशूलघ्न होते हैं। **बिल्वमूल**-वातनाडीसस्थान के लिये शामक, मधुर, छर्दिघ्न एव वातहर है। **पुष्प**-अतिसार, तृषा एव वमन में लाभदायक होते हैं। इसकी मज्जा का तैल उष्ण एवं उत्तम वातहर माना जाता है। इसके **बीज**-१॥ माशे की मात्रा में अच्छे विरेचक होते हैं।

बिल्व का उपयोग अतिसार, प्रवाहिका, संग्रहणी, मधुमेह, कर्णरोग, वातरोग, वमन, कामला, अर्श, शोथ एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) इसके पके फल का गूदा मृदुविरेचक होने के कारण इसका जल में शर्बत बनाकर लेने से जीर्ण विबन्ध, अर्श, आध्मान एव कुपचन में लाभ होता है। जिन्हें बार-बार विबन्ध एवं

अतिसार क्रमशः हुआ करता है उन्हें नित्य सुबह यह दिया जाता है। स्निग्ध एव मृदुविरेचक रूप में यह प्रवाहिका की रोग-निर्मुक्तावस्था एव सग्रहणी की प्रारम्भिक अवस्था में दिया जाता है। प्रवाहिका में इसको लेते रहने से विबन्ध नही होता जिससे आन्त्रिक व्रण जल्दी अच्छे होते हैं। सग्रहणी (Sprue) की प्रारम्भिक अवस्था में ताजा फल तथा शर्करा से अवश्य लाभ होता है।

(२) भुना हुआ कच्चा फल या कच्चे फल का सुखाया हुआ गूदा ग्राही एव दीपन होने के कारण अतिसार, रक्तातिसार एवं प्रवाहिका में दिया जाता है। जब ज्वर न हो, रोगी दुर्बल हो तथा पाचन खराब हो गया हो तब इससे विशेष लाभ होता है। आव, रक्त एव कुंथन युक्त तीव्र प्रवाहिका में यद्यपि इसके चूर्ण को लाभदायक माना गया है तथापि इन अवस्थाओं की अपेक्षा जीर्ण विकारों में इसका गुणकारी प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। इसके सेवन के पश्चात् धीरे-धीरे रक्त कम होकर पाखाना बँधा होने लगता है। अधिक दिन लेते रहने से आव भी कम हो जाती है तथा बाद में बिलकुल नही रहती। जीर्ण आव की शिकायत होने पर इसके साथ बर्टी सौंफ एव घोडवच मिलाकर क्वाथ बनाकर देते हैं। रक्तपित्त वाले रोगी को आव होने पर यह विशेष लाभदायक है। अरारुट के साथ इसकी पेया बनाकर देने से आन्त्र को बल प्राप्त होता है। प्रवाहिका में बेल का कल्क, तिल का कल्क, दही की मलाई तथा घृत देते हैं। पित्त एव रक्तातिसार में इसकी मज्जा एव मुलेठी, शर्करा, मधु एव तडुलाबु के साथ देने से लाभ होता है। बिल्व एव गुड का प्रयोग आमशूल, विबध, कुक्षिरोग तथा रक्तातिसार में लाभदायक होता है। अत्युग्र ग्रहणी में बिल्व के साथ सोंठ एव गुड मिलाकर सेवन करे एव आहार में तक्र का सेवन करें। पुराने विकारों में बेल का मुरब्बा भी लाभदायक होता है। पुराने सोजाक में ताजा गूदा एव कबाबचीनी दूध के साथ देते हैं।

(३) अर्श में सुखोष्ण मूलक्वाथ में रोगी को बैठावें। रक्तार्श में बिल्वमज्जा एव तक्र का उपयोग लाभदायक होता है।

(४) बेल की जड शामक होने के कारण हृदय की धडकन, उदासीनता, निद्रानाश तथा पागलपन इनमें दी जाती है। विषमज्वर में इसके जड की छाल का क्वाथ पिलाते हैं। जीरा एव मूलत्वक् को पीसकर घी के साथ शुक्र-तारल्य में देते हैं। विषैले जन्तुओं के दश मे इसका लेप किया जाता है। बच्चों को जब कै एव दस्त होते हैं तब इसको चावल के माड के साथ उबालकर वह माड चीनी मिलाकर देते हैं।

(५) इसके ताजे पत्तों का स्वरस ज्वर, कफज्वर, अभिष्यन्द, शोथ तथा कफ विकारों में देते हैं। दमा में इसका क्वाथ देते हैं। नेत्राभिष्यद में इसका स्वरस देते हैं तथा पत्तों का लेप पलकों पर करते हैं। शोथयुक्त विकारों में तथा व्रण पर पत्तों का पुल्टिस लाभदायक होता है। इसका स्वरस काली मिर्च के साथ जलशोथ, विबध एव कामला में देते हैं। यह शरीर की दुर्गंध को भी दूर करता है। मधुमेह में १-२ तोला स्वरस देने से लाभ होता है।

(६) बिल्वफल को गोमूत्र के साथ पीसकर अजाक्षीर के साथ तैल सिद्ध कर कर्णबिन्दु के रूप में प्रयोग करने से बाधिर्य में लाभ होता है।

मात्रा—चूर्ण २-८ माशा; प्रवाहीसत्व ½-२ ड्राम, क्वाथ ½-२ औंस।

अथ गम्भारी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

गम्भारी भद्रपर्णी च श्रीपर्णी मधुपर्णिका। काश्मीरी काश्मरी हीरा काश्मर्यः पीतरोहिणी॥१४॥
कृष्णवृन्ता मधुरसा महाकुसुमिकाऽपि च। काश्मरी तुवरा तिक्ता वीर्योष्णा मधुरा गुरुः॥१५॥
दीपनी पाचनी मेध्या भेदनी भ्रमशोषजित्। दोषतृष्णाऽऽमशूलार्शोविषदाहज्वरापहा॥१६॥

गम्भारी के नाम तथा गुण—गम्भारी, भद्रपर्णी, श्रीपर्णी, मधुपर्णिका, काश्मीरी, काश्मरी, हीरा, काश्मर्य, पीतरोहिणी, कृष्णवृन्ता, मधुरसा और महाकुसुमिका ये सब सस्कृत नाम गम्भारी के हैं। **गम्भारी-**मधुर, कषाय तथा तिक्त रस युक्त, उष्णवीर्य, गुरु, अग्निदीपक, पाचक, मेधा के लिये हितकर तथा मलभेदक होती है। वह भ्रम, शोष, वातादिक दोष, तृषा, आम, शूल, बवासीर, विष, दाह और ज्वर इन सब रोगों को दूर करने वाली होती है॥ १४-१६॥

अथ गम्भारीफलगुणानाह

तत्फलं बृंहणं वृष्यं गुरु केश्यं रसायनम् । वातपित्ततृषारक्तक्षयमूत्रविबन्धनुत् ॥ १७ ॥
स्वादु पाके हिमं स्निग्धं तुवराम्लं विशुद्धिकृत् । हन्याद्दाहतृषावातरक्तपित्तक्षतक्षयान् ॥ १८ ॥

इसके फल के गुण—इसका फल बृंहण (धातुवर्धक), वृष्य (वीर्यवर्धक), गुरु, बालों के लिये हितकर और रसायन होता है। यह वात, पित्त, तृषा, रक्तक्षय, मूत्र-सम्बन्धी विबद्धता का नाशक है और पाक में मधुर रस, स्वाद में कषाय तथा अम्ल रसयुक्त, शीतवीर्य, स्निग्ध एव शुद्धिकारक होता है। यह दाह, तृषा, वात, रक्तपित्त, क्षत और क्षय इन सब रोगों को दूर करता है ॥ १७-१८ ॥

४ गम्भारी

हि०,पं०—गम्भारी, खम्भारि, कम्भार, गम्भार, गम्हार, कुम्हार, कासमर। **बं०**—गामार गाछ, गम्वार। **म०**—शिवण। **गु०**—शीवण, सवन। **क०**—सीवर्नी। **ते०**—गुमारटेक। **ता०**—गुमडी। **आसाम**—गोमरी। **गरो०**—बोल्को बक। **मा०**—शेवण, शिवण, कुम्भेरन। **ले०**-*Gmelina arborea* (मेलीना आर्वोरिआ)। N. O. Verbenaceae (वर्बिनेसिइ)।

गम्भारी—इस देश के कई प्रान्तों में उत्पन्न होती है, विशेषकर दक्षिण, कोंकण, मध्यभारत, वरार, सिलोन, पश्चिमोत्तर-हिमालय, चट्टगांव, पूर्व बङ्गाल एव विहार आदि प्रान्तों में पाई जाती है। इसका **वृक्ष**—बडा होता है। ऊंचाई में कहीं-कहीं ६० फुट से भी ऊँचा वृक्ष देखने मे आता है। **छाल** का रंग सफेद, ताजी छाल किञ्चित् पीलापन युक्त हरियाली लिये सफेद तथा सफेदी लिये भूरे रग की होती है। छाल पर काले चिह्न या छोटे-छोटे गोल दाने होते है। इसकी **टहनियां**—श्वेताभ एव रोमश होती हैं। **काट**—प्रायः आधा इञ्च मोटा, विना रेशे का और हलका या गहरा नारंगी रंग से मिला रहता है। **पत्ते**—४-९ इञ्च लम्बे, ३-७ इञ्च चौडे, लट्वाकार, चौडे, प्रायः हृद्वत्, नोकीले, अधरतल पर प्रायः क्षोदलिप्त, २-६ इञ्च लम्बे वृन्त से युक्त और आमने-सामने, परन्तु प्रायः एक सन्धि के दोनों पत्ते कुछ छोटे-बड़े होते हैं। वसन्त ऋतु में पुराने पत्ते गिरकर नये पत्ते निकलते हैं। इसी समय ३-८ इञ्च लम्बी मजरियों में रक्ताम या पीले रग के १-१·५ इञ्च लम्बे **फूल** आते हैं और उन पर भूरे रग की छींटें रहती है। **फल**—बहेडे के समान परन्तु कुछ लम्बाई लिये अष्ठिल अभ्यण्डाकार, ·७५-१ इञ्च व्यास वाले और २-१ कोश तथा बीज वाले होते हैं। वे जेष्ठ-आषाढ तक पक कर भूमि में गिर पडते हैं।

इसके दो भेद भी पाये जाते हैं जिनमें से एक में पुष्पव्यूह बड़े होते हैं तथा दूसरे में पत्ते कुछ छोटे, चर्मल, अधर तल पर नसें उभरी हुई तथा पुष्पव्यूह छोटे होते हैं।

यह दशमूल गण की औषध है। इसका 'कासमर' नाम काश्मर्य का और 'गम्हार' गम्भारी की अपभ्रंश है। इसके फल, मूल, त्वक् एव पत्र का चिकित्सा में उपयोग होता है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में पीतवर्ण का गाढा तैल, राल, क्षाराभ, अत्यल्प बेंझोइक् एसिड एव मँगॅनीझ रहित राख ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसके फल में ब्यूटिरिक् (Butyric) तथा टार्टरिक् (Tartario) अम्ल, क्षाराभ, शर्करासदृश पदार्थ, राल तथा अत्यल्प टैनिन ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके कोमल पत्र शीतल तथा स्नेहन; फल तृषाहर, दाहशामक, स्नेहन एव रक्तपित्तघ्न, मूल कटु, दीपन, बल्य एव आनुलोमिक; पुष्प बल्य, वृष्य एव रक्तपित्तनाशक; बीजतैल कफ एव पित्त का शमन करनेवाला है।

(१) इसके कोमल पत्तों का स्वरस दुग्ध के साथ सोजाक में देते है। ग्रीष्मऋतु में होने वाले शिरःशूल में पत्तों को दुग्ध में पीसकर सर पर मलते हैं।

(२) दाह तथा तृषायुक्त पैत्तिक ज्वर में इसके फल की मज्जा का शीतल क्वाथ शर्करा मिलाकर पिलाते हैं। रक्तपित्त में मधु के साथ इसके फल की मज्जा का प्रयोग किया जाता है। वायु के कारण गर्भशोष या वालशोष हो तो मुलेठी के साथ इससे सिद्ध दुग्ध का उपयोग लाभदायक होता है।

(३) इसके मूल का क्वाथ ज्वर, अपचन तथा शोथ में देते हैं। मुलेठी के साथ बनाया हुआ

इसका क्वाथ मधु एव शर्करा मिलाकर दुग्धवृद्धि के लिये देते हैं। स्तनपुष्टि के लिये इसके रस से सिद्ध तिल तैल में रूई भिगोकर उसके धारण का विधान है।

मात्रा—मूलचूर्ण ३-६ माशा, फल १-३ माशा।

प्रतिनिधि एवं व्यामिश्रण—(क) अरिया कासमर या बूढ़ीकासमर के नाम की एक अन्य वृक्ष जाति (Premna flavescens-प्रेम्ना फ्लॅवेसेन्स) भी पाई जाती है जिसके पत्ते गंभारी के पत्तों से मिलते-जुलते हैं। इसकी पत्तियों में एक मद प्रिय गध होती है और इसके पुष्प तथा फल बहुत छोटे होते हैं जिनसे इसका भेद मालूम हो जाता है।

(ख) हि०—तुम्री, पिंडार, धवलपेट, पानी-गम्हार। म०—सिवनी, पितारी। बं०—पिताली। ले०—*Trewia nudiflora* (ट्रिविआ न्युडिफ्लोरा)। N. O. Euphorbiaceae (यूफोर्बिएसिइ)।

इसके भी गम्हार एव सिवनी (म) नाम होने के कारण वास्तविक गम्हार के स्थान पर इसका कहीं-कहीं प्रयोग लोग करते है। इसके बडे बडे वृक्ष होते हैं। छाल-चिकनी और धूसर वर्ण की होती है। पत्ते-अट्वाकार, ३-८ इञ्च लबे एव ४-७ इञ्च चौडे होते है। पर्णमूल गोल या हृद्वत् और पर्णवृन्त १·५-४ इञ्च लबा होता है। पुष्प-हरित पीत होते हैं और नवीन पत्तियों के आने के पहले ही निकलते हैं। नरपुष्पों की मजरिया ४-८ इञ्च लंबी और नीचे की ओर लटकी हुई तथा स्त्री-पुष्प एकाकी अथवा २-३ और अग्रस्थ होते हैं। फल-पकने पर छोटे आलू केस मान दिखाई देता है। नवीन शाखाओं पर जातच्युत उपपत्रों के कारण उभरी हुई स्पष्ट रेखाएं होती हैं जिनके द्वारा वास्तविक गम्हार से इसकी भिन्नता मालूम होती हैं। इसके अतिरिक्त गम्हार की तरह इसकी पत्ती में दो छोटी पीली ग्रन्थिया नहीं होतीं यद्यपि दोनों के शिराक्रम में बहुत साम्य होता है। इसके मूल का उपयोग किया जाता है। मूल की छाल मोटी एव चिकनी हलके भूरे रग की होती है। इसका स्वाद कसैला एव कडवा होता है। आमवात एवं वातरक्त में मूल को खिलाते हैं तथा लेप करते हैं। इससे उदरवात, पित्त एव आमदोष का निर्हरण होता है।

अथ पाटला (पाढल) घण्टापाटलिश्च। तयोर्नामानि गुणांश्चाह

पाटलिः पाटलाऽमोघा मधुदूती फलेरुहा। कृष्णवृन्ता कुबेराक्षी कालस्थाल्यलिवल्लभा ॥१९॥
ताम्रपुष्पी च कथिताऽपरा स्यात्पाटला सिता। मुष्कको मोक्षको घण्टापाटलिः काष्ठपाटला ॥२०॥

पाढल तथा घण्टापाढल के नाम और गुण—पाटलि, पाटला, अमोघा, मधुदूती, फलेरुहा, कृष्णवृन्ता, कुबेराक्षी, कालस्थाली, अलिवल्लभा और ताम्रपुष्पी ये सब संस्कृत नाम 'पाढल' के हैं। और जो दूसरा 'घण्टापाढल' है उसके सस्कृत नाम—पाटला सिता, मुष्कक, मोक्षक, घण्टापाटलि तथा काष्ठपाटला ये सब हैं॥ १९-२०॥

पाटला तुवरा तिक्ताऽनुष्णा दोषत्रयापहा। अरुचिश्वासशोथास्रच्छर्दिहिक्कातृषाहरी ॥ २१ ॥

पाढल—कषाय तथा तिक्तरस युक्त एव अनुष्णवीर्य है। यह त्रिदोष, अरुचि, श्वास, शोथ, रक्तप्रकोप, वमन, हिचकी और तृषा को दूर करने वाली है॥ २१॥

अथ तत्पुष्पफलयोर्गुणानाह

पुष्पं कषायं मधुरं हिमं हृद्यं कफास्रनुत्। पित्तातिसारहृत्कण्ठ्यं फलं हिक्काऽस्रपित्तहृत् ॥२२॥

इसके फूल तथा फल के गुण—**फूल**—कषाय तथा मधुररस युक्त, शीतवीर्य, हृदय को हितकर तथा कफ, रक्तविकार और पित्तातिसार का नाशक एवं कण्ठ के लिये हितकर है। **फल**—हिचकी तथा रक्तपित्त का नाशक है॥ २२॥

नोट—भावप्रकाशकार पाटला के दो भेद लिखते हैं एक 'पाटला' तथा दूसरी 'सिता पाटला'। किन्तु दोनों के गुणों में कोई भेद नहीं लिखा है। आधुनिक ग्रन्थकारों ने भी इसके दो प्रकार के वृक्षों का वर्णन किया है जिसमें से नं० ५ (पाटला) के पुष्प बाहर से लाल किन्तु अन्दर से पीली रेखाओं से युक्त होते हैं। यह दक्षिण में कम होने के कारण इसके स्थान पर वहा नं० ६

(१) कालस्थाली इति पाठा०।

(सिता पाटला) का प्रयोग किया जाता है जिसके पुष्प पीले तथा गुलाबी रंग के होते हैं। कुछ ग्रन्थों में इसी वर्ग (Bignoniaceae) के मिलिंग्टोनिआ हॉर्टेन्सिस् (Millingtonia hortensis) नामक वृक्ष का वर्णन मिलता है। इसके ८० फीट तक ऊँचे सुन्दर वृक्ष होते है। इसमें रजतसम चमकीले सफेद वर्ण के, घंटाकृति तथा सुगन्धित पुष्प आते हैं। इस वृक्ष के कार्क का उपयोग भी किया जाता है। इसे कहीं-कहीं आकाशनीम कहा जाता है। भावप्रकाशोक्त श्वेतपाटला संभवतः यह हो ?

५ पाढ़ल

हिं०–पाढ़ल, पाडर, पारल। **बं०**–पारुल गाछ। **म०, गु०**–पाडल। **क०**–हुदै। **उ०**–बोरो, पाटुली। **पं०**–पाढ़ल, पाडल। **कोल०**–कडियोर। **सन्ता०**–पपरी, पडेर। **ने०**–परैर। **लि०**–सिगियन। **गोंड०**–उन्तकार, पडर। **भील०**–पन, डन। **मा०**–पाडल, पडियालु। **ले०**–*Stereospermum suaveolens* (स्टेरिओस्पर्मम् स्वावियोलेन्स)। N. O. Bignoniaceae (बिग्नोनिएसिइ)।

यह भारत की गीली भूमि हिमालय की तराई से ट्रावनकोर और टेन सरीम तक तथा सिलोन के आर्द्र भागों में पाया जाता है। इसका **वृक्ष**–३० से ६० फुट तक ऊँचा एवं सुन्दर होता है। इसके ऊँचे स्तम्भ पर शाखाएँ दीख पडती हैं। इसके नवीन भाग चिपचिपे, रोमश और ग्रन्थिमय होते हैं। **छाल**–चौथाई इञ्च मोटी, लगभग चिकनी, धूसर और काटने पर हलके पीले रंग की होती है और उसमें कडे तथा मुलायम पर्त बारी-बारी से निकलते हैं। **पत्ते**–विपरीत, १–२ फीट लम्बे और अयुग्म पक्षाकार होते हैं। **पत्रक**–संख्या में ५–९ प्रायः ७, अण्डाकार या आयताकार, ३–८ इञ्च लम्बे, २–३॥ इञ्च चौड़े, यकायक लम्बाग्र, अवृन्त या छोटे वृन्त वाले, प्रायः मृदुरोमश परन्तु छोटे पौधे के पत्रक खुरखुरे और तीक्ष्ण दन्तुर होते हैं। वसन्त ऋतु में इसके पुराने पत्ते गिरकर नवीन पत्ते निकल आते हैं और प्रायः इसी समय वृक्षों पर नलिकाकार फूल आते है। **पुष्प**–अत्यन्त सुगन्धित, १–१·५ इञ्च लम्बे, बाहर से लाल परन्तु भीतर पीली रेखाओं से युक्त होते हैं। **फलियाँ**–१८ से २४ इञ्च तक लम्बी, गोल एव पृष्ठ पर बिन्दुकित होती हैं। **बीज**–सपक्ष होते हैं और कार्क सदृश और लम्बगोल रचनाओं मे छिपे रहते हैं।

यह भी दशमूलगण का एक प्रसिद्ध द्रव्य है। इसके फल के भीतर से लम्बगोल टुकडे निकाल कर झुलसित्ती तथा अधकपारी में बाँधे जाते हैं इसलिये कहीं-कहीं इस वृक्ष को अधकपारी कहते हैं। इसकी छाल, पुष्प तथा फलमज्जा का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके सूखे हुए फूलों में शर्करा, एक तरह का लुआब तथा मांसल पदार्थ पाये जाते हैं। पुष्प जल में डालने से जल सुगन्धित हो जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पुष्प वाजीकर, पौष्टिक एवं शीतल होते है। इसकी छाल कफघ्न, वातहर, अधोभाग दोषहर, त्रिदोषघ्न, विषघ्न एव शोथहर है।

कफ तथा वातप्रधान रोगों में पाटला का प्रयोग करते हैं।

(१) फूलों का रस मधु के साथ हिचकी में देते हैं।

(२) मधुमेह, अश्मरी एव मूत्राघात में इसके पचाग का क्षार तैल के साथ खिलाते हैं।

(३) इसके छाल का फाट अम्लपित्त में देते है।

(४) इसके फूलों का गुलकन्द पौष्टिक माना जाता है।

(५) इसके मूल के घन क्वाथ में तैल मिलाकर अग्निदग्ध व्रण पर लगाते हैं तथा कोमल पत्तों से व्रणबन्धन करते हैं।

मात्रा—चूर्ण १–३ माशा।

६ सफेद पाढ़ल (घंटा पाढ़र)

हिं०–सफेद पाढल, पाडर, परारी, घण्टा पाढर, कठपाडर। **बं०**–घंटा पारुल। **म०, गु०**–पाटला। **ता०**–पादिरि। **ते०**–कलिगोट्टु। **कोल०**–कटियोर। **ने०**–परारी। **भील०**–मडुरनी। **उ०**–बोगारी

पाडुली। अं०-Trumpet flower (ट्रम्पेट फ्लावर्)। ले०-*Stereospermum cholonoides* (स्टेरिओस्पर्मम् केलोनॉइडिस्)।

यह आसाम से सिलोन तक की गीली भूमि में, कुमाऊँ के पहाड पर, मध्य और दक्षिण हिन्दुस्तान तथा राजपूताना आदि कई प्रान्तों में होता है। यह दक्षिण में पहाडी प्रान्तों में विशेषकर पाया जाता है।

इसका **वृक्ष**-३०-४० फुट तक ऊँचा होता है तथा कहीं-कहीं ६० फुट तक ऊँचा वृक्ष भी देखने में आता है। **स्तम्भ**-सीधा, बहुत ऊचा एवं मोटा होता है और उस पर अनेक शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं। नीचे की शाखाएँ भूमि के समानान्तर एवं ऊपर की सीधी होती है। **छाल**-भूरे रग की, मोटी तथा खुरदरी होती है। **पत्ते**-१२-१८ इञ्च लम्बे, अयुग्म पक्षाकार, विपरीत और छोटी-छोटी टहनियों के अग्रपर समूहवद्ध होकर रहते हैं। **पत्रक**-सख्या में ७-११, चिकने, अडाकार और ३·५-५ इञ्च वडे होते हैं। पर्णवृन्त परई जैसा रहता है। **फूल**-वडे, तूर्याकृति, पीले और गुलावी रग के, अत्यन्त सुगन्धित एव रुचिकर होते हैं। **फलियां**-१०-२० इञ्च लम्बी, पतली, घेरे में गोल न होकर सपक्ष या चार उभरी हुई रेखाओं से युक्त होती हैं। इसके मूल की छाल स्वाद में मधुर रहती है।

प्रथम पाढल दक्षिण में कम मिलने के कारण वहा इस वृक्ष की छाल तथा पुष्प का पाटला के स्थान पर प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक रवेदार कडवा पदार्थ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, वातहर एव ज्वरघ्न है। मस्तिष्क तथा वातनाडी सस्थान पर इसकी अवसादक क्रिया होती है।

इसके मूल का फाट ज्वर में रोगी को शांतता लाने के लिये देते हैं। इसके फूलों का रस पाचन ठीक होकर दूषित पित्त का निर्हरण हो इसलिये देते हैं।

मात्रा—चूर्ण १-३ माशा।

अथाग्निमन्थः। (अगेथू, अरनी इति च लोके) तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अग्निमन्थो जयःस्यात्छ्रीपर्णी गणिकारिका। जया जयन्ती तर्कारी नादेयी वैजयन्तिका॥२३॥
अग्निमन्थः श्वयथुनुद्वीर्योष्णः कफवातहृत्। पाण्डुनुत्कटुकस्तिक्तस्तुवरो मधुरोऽग्निदः॥ २४॥

अगेथू या अरनी केनाम तथा गुण—अग्निमन्थ, जय, श्रीपर्णी, गणिकारिका, जया, जयन्ती, तर्कारी, नादेयी और वैजयन्तिका ये सव सस्कृतनाम 'अगेथू' या 'अरनी' के हैं। **अरनी** या **अगेथू**-शोथनाशक, उष्णवीर्य, कफवात तथा पाण्डु रोग को दूर करने वाला, कटु, तिक्त, कषाय तथा मधुर रस युक्त एव अग्निवर्धक है॥ २३-२४॥

नोट—भावप्रकाशकार ने यद्यपि एक ही अग्निमथ का वर्णन किया है तथापि अन्य निघण्टुओं में लघु एवं बृहद् ऐसे दो भेद अग्निमथ के लिखे हैं। दोनों के गुणों में विशेष अन्तर नहीं हैं किन्तु लघु अग्निमथ को लेप, उपनाह एव शोफ में विशेष उपयोगी लिखा है। 'लघ्वाग्निमंथस्य गुणाः प्रोक्ताः वृद्धाग्निमथवत्। विशेषाल्लेपने चोपनाहे शोफे च कीर्तितः॥' (नि र.)। सुश्रुत के वरुणादि गण में तर्कारी और अग्निमथ ये दोनों शब्द आये हैं। इससे ऐसा मालूम होता है कि ये दोनों भिन्न द्रव्य हैं। आधुनिकग्रन्थकारों ने प्रेम्ना एन्टिग्रिफोलिआ (बृहद् अग्निमथ) एवं क्लिरोडेन्ड्रोन फ्लोमिडीस् (क्षुद्रा अग्निमथ) ऐसे दो द्रव्यों का वर्णन किया है। ये दोनों ही एक वर्ग के हैं तथा इनके गुणों में भी साम्य होने के कारण दोनों को एक दूसरे के स्थान में प्रयोग किया जा सकता है। इनमें से प्रथम को कुछ लोगों ने तर्कारी माना है तथा द्वितीय को अग्निमंथ माना है। कुछ लोग इसके विपरीत मानते हैं। यहा दोनों का अलग-अलग वर्णन दिया जा रहा है।

७ क्षुद्राग्निमंथ

हिं०-अरनी (नी), टेकार, उरिन। **बं०**-अरनी, गणियारी। **संथा**-पनजोत। **मुंगे०**-रैन। **गु०**-अरणी। **म०**-ऐरण, टाकली। **ता०**-थलुजी। **ते०**-तलकि। **क०**-तगिग। **मल०**-तिरूनालि।

ले०–*Clerodendron phlomidis* (क्लिरोडेन्ड्रोन् फ्लोमिडीस्)। N. O. Verbenaceae (वर्बिनेसिइ)।

यह महाराष्ट्र, गुजरात, सिंध आदि सब प्रान्तों में प्रायः वाडों पर या सूखी जगहों में पाई जाती है।

इसके **गुल्म** वड़े (छोटे वृक्ष), प्रायः **शाखाएं** प्रसरणशील और टहनियां हलके खाकी रग की तथा मृदुरोमश होती हैं। **पत्ते**–विपरीत, चौडे लट्वाकार अथवा कुछ-कुछ तिर्यगायताकार, अखण्ड या दूर-दूर गोलदन्तुर, प्रायः २ × १.५ इञ्च वडे, सवृन्त और मृदुरोमश (नवीन) या चिकने होते हैं। **पुष्प**–श्वेत, सुगंधि, पत्रकोणीय या अग्रग्र्य गुच्छों में आते हैं। आभ्यंतर नाल .७५–१ इञ्च वड़ा और मुख व्यास में .७५ इञ्च होता है। **फल**–अष्ठिल फल, करौंदे इतने वड़े, शीर्ष पर दवे हुए परन्तु अन्त में शुष्क होकर चार खण्डों में फट जाते हैं। श्री हेन्स के मत से क्लि० डेनाल्डि (C. denaldi), **काला टेकार** नामक इसका एक भेद माना जाता है जिसके पत्ते वड़े होते हैं। जानवरों के प्रवाहिका तथा कृमिरोग में क्षुद्राग्निमंथ का उपयोग ग्रामीण करते हैं। वृहद् अग्निमंथ के अभाव में इसके पंचाग, मूल तथा पत्र का उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, दीपन, सारक, वल्य, रसायन, शोथहर एव वातकफहर है।

वायु, कफ तथा सूजन जिन-जिन रोगों में होती है उनमें इसका उपयोग करते हैं। आमवात तथा अन्तरित ज्वर में इसकी जड़ सोंठ एवं मिरिच के साथ दी जाती है। इसके मूल का क्वाथ सोजाक, विस्फोटक ज्वरों की रोगमुक्तावस्था, आमवात तथा नाडीशूल में देते हैं। आध्मान मे इसके पत्ररस से लाभ होता है। मोच तथा शरीरपीडा में पत्तों को पीसकर उसका लेप किया जाता है। त्वचा के रोगों में ½ औं० पत्ररस दिन में दो वार पिलाते हैं।

मात्रा—चूर्ण १–२ माशा।

८ वृहदग्निमंथ

हिं०–अरनी, अरणी, अंगेथु, गणियारी, गनियार, गनियारी, वाकर। **बं०**–गनिर, गनियारि। **मा०**–अरणी। **म०**–नरवेल, अरणी। **पं०**–अगेथु, गनियार। **गु०**–अरणी। **संथा०**–कण्ड्रा–मिया। **फा०**–गनियार। **अवधी**–गन्नियारी। **गढ़वाल**–चकोरचा। **ता०**–इरुमै मुल्लै, मुन्नै। **ने०**–गिनेरी। **उडि०**–गन्धौना। **ते०**–घेवुनेल्लि। **मला०**–अप्पेल। **उत्क०**–अगविथ। **ले०**–*Premna integrifolia* (प्रेम्ना एन्टीग्रिफोलिआ)। N. O. Verbenaceae (वर्बिनेसिइ)।

यह बङ्गाल, विहार, मध्यप्रदेश, अवध, गढवाल, राजपूताना, दक्षिण–हिन्दुस्तान, वम्बई, सिलोन तथा अन्यान्य प्रान्तों में विशेप रूप से समुद्री किनारों पर पाई जाती है।

इसका झाडीदार **वृक्ष**–३०–३५ फुट तक ऊँचा होता है। स्तम्भ छोटा तथा वहुत सी काटेदार टहनिया नीचे लटकी हुई रहती हैं। **छाल**–पतली सफेदी–युक्त हलके पीले रग की और लकडी हलकी किंचित् दृढ होती है। **पत्ते**–विपरीत, लवे, पर्णवृन्त से युक्त, साधारण हृदयाकृति किन्तु अग्र कुछ कटा हुआ तथा चिकने रहते हैं। चैत्र–वैशाख में छोटे-छोटे हरापन लिये सफेद रग के **फूल** झूमकों में आते हैं। **फल**–छोटी मकोय के समान झूमकों में लगते हैं और पकने पर काले हो जाते है। पूरे वृक्ष में एक प्रकार की उग्र गध आती है। इसका स्वाद खट्टा सा तथा कपाय रहता है। इसके मूल तथा पत्तों का व्यवहार किया जाता है।

इसके एक अन्य भेद को प्रेम्ना लॅटिफोलिया (Premna latifolia) कहते हैं। इसके पत्ते कुछ-कुछ दुर्गन्धयुक्त, प्रायः लट्वाकार, कभी-कभी अंडाकार, ३–५ इञ्च लवे, २–३ इञ्च चौड़े, अखड, लवे नोकवाले तथा एक ओर (नीचे) या नवीन रहने पर दोनों तलों पर मृदुरोमश होते हैं। पुष्पव्यूह–त्रि–विभक्त और व्यास में २–५ इञ्च, रोमश और कोण पुष्पकों से युक्त होता है। वाह्यकोश शीर्ष पर दन्तुर होता है और दांत पाच होते हैं। आभ्यन्तर कोश स्पष्टतः द्वयोष्ठ होता है। फल–गोल, अग्रपर दवा हुआ और .२५ इञ्च वडा होता है।

इसका जो भेद इस प्रान्त के शाल वनों में मिलता है उसे प्रे० मक्रोनॅटा (P. mucronata) कहते हैं। यह नम स्थानों में प्रायः वहुत वडा हो जाता है। नवीन शाखाओं पर प्रायः १–३ इञ्च

लंबे मजबूत कांटे होते हैं और इनकी पत्तियां तीन-तीन या चार-चार एक चक्र में होती हैं। काट प्रायः ½ इञ्च मोटा, सफेद और बिना रेशे का होता है। पत्तियां मसलने पर गन्धयुक्त और सूखने पर काली हो जाती हैं। इस वृक्ष की लकड़ियों को परस्पर रगड़ने से आग पैदा होती है। इसके अन्य भी कई भेद होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कटु, उष्ण, तिक्त, शोथघ्न, वातहर, दीपन, श्लेष्मघ्न, ज्वरघ्न, सारक, शीत प्रशमन, अनुवासनोपग तथा गर्भाशय के लिये अवसादक है।

इसका प्रयोग वातरोग, कफरोग, शोथ, आमवात, नाडीशूल, पांडु, अर्श, अग्निमांद्य, विबंध, प्रतिश्याय, ज्वर एवं पार्यायिक तथा विस्फोटक ज्वर में किया जाता है।

(१) इसकी २ छटाक जड को चौगुने जल में १५ मिनट उबाल कर १-२ छटाक की मात्रा में दीपन, पाचन, पौष्टिक रूप में दिन में दो बार पिलाते हैं।

(२) गण्डमाला तथा शोथ में इसको खिलाते हैं तथा बाह्य लेप भी करते हैं। ग्रन्थि पर आम के पत्तों के साथ इसकी जड का लेप करने से लाभ होता है।

(३) अर्श में इसके क्वाथ में बैठाने से पीडा शांत होती है।

(४) उरुस्तम्भ में इसकी जड को गोमूत्र में पीस कर लेप करते हैं या करंज के साथ क्वाथ बनाकर उससे सिंचन करते हैं।

(५) वसामेह तथा इक्षुमेह में इसकी जड का क्वाथ पिलाया जाता है।

(६) इसकी जड को पीसकर घृत के साथ सेवन करने से १ सप्ताह में शीतपित्त, उदर्द तथा कोठ आदि अच्छे होते हैं।

(७) अतिस्थौल्य में इसका रस दिया जाता है।

मात्रा—चूर्ण १-२ माशा।

अथ श्योनाकः (सोनापाठा-अरलू) । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

श्योनाकः शोषणश्च स्यान्नटकट्वङ्गटुण्टुकाः। मण्डूकपर्णपत्रोर्णशुकनासकुटन्नटाः॥ २५॥
दीर्घवृन्तोऽरलुश्चापि पृथुशिम्बः कटम्भरः। श्योनाको दीपनः पाके कटुकस्तुवरो हिमः।
ग्राही तिक्तोऽनिलश्लेष्मपित्तकासप्रणाशनः॥ २६॥

सोनापाठा या अरलू के नाम तथा गुण—श्योनाक, शोषण, नट, कट्वङ्ग, टुण्टुक, मण्डूकपर्ण, पत्रोर्ण, शुकनास, कुटन्नट, दीर्घवृन्त, अरलु, पृथुशिम्ब और कटम्भर ये सब संस्कृत नाम 'सोनापाठा' के हैं। **सोनापाठा**-अग्निदीपक, पाक में कटुरस तथा स्वाद में कषाय और तिक्तरस से युक्त, शीतवीर्य और मलसंग्राहक है। यह वात, कफ, पित्त तथा कास का विनाशक है॥ २५-२६॥

अथ श्योनाकस्य बालप्रौढफलयोर्गुणानाह

टुण्टुकस्य फलं बालं रूक्षं वातकफापहम्॥ २७॥
हृद्यं कषायं मधुरं रोचनं लघु दीपनम्। गुल्मार्शःकृमिहृत् प्रौढं गुरु वातप्रकोपणम्॥ २८॥

इसके कोमल तथा प्रौढ फल के गुण—सोनापाठा का कोमल फल—रूक्ष, वातकफनाशक, हृदय को हितकर, कषाय तथा मधुररस युक्त, रोचक, लघु तथा अग्निदीपक एवं गुल्म, बवासीर तथा कृमि का नाशक होता है। इसका प्रौढ (पूरा तैयार) फल-गुरु तथा वात को प्रकुपित करने वाला होता है॥ २७-२८॥

६ सोनापाठा

हिं०-सोनापाठा, शोनाक, सोनपत्ता, टेंटू, अरलु। **बं०**-शोग, सोनागाछ। **म०**-टेंटू। **गु०**-टेंटु। **ते०**-दुन्दिलुम्, पपन। **उ०**-पम्पोनिया। **पं०**-मुलिन, तात्पलङ्ग। **ता०**-पन, वग। **ने०**-तोतिल्ल। **कोल०**-अरेंगेवनु। **सन्ता०**-बनहाटक। **गोंड०**-जयमंगल। **आसा०**-केरिग। **का०**-तातर। **बर्मा**-क्योंग-शा। **सिलो०**-तोतिल्ल। **लै०**-*Oroxylum indicum* (ओरोक्झाइलम् इण्डिकम्)। N. O. Bignoniaceae(बिग्नोनिएसिइ)।

यह सब प्रान्तों में कहीं-कहीं पाया जाता है किन्तु पश्चिम प्रान्त की सूखी भूमि में यह देखने में नहीं आता।

इसका **वृक्ष**-मध्यमाकार का होता है तथा **शाखाएँ** थोडी होती हैं। **छाल**-चौथाई इञ्च तक मोटी, कार्कयुक्त तथा बादामी सफेद रङ्ग की चिकनी, हलकी और कोमल होती है। इसको काटने से किंचित् हरियाली लिये रस निकलता है। **काट**-½-१ इञ्च मोटा, अन्दर की ओर रेशेदार, पीला और बाहर की ओर हरिताभ होता है। **लकड़ी**-पीलापन युक्त सफेद, हलकी और साररहित होती है। **पत्ते**-२-४ फीट लम्बे, द्विपक्षवत्, सदल तथा शाखाग्रोंप र प्रायः समूहबद्ध होकर पाये जाते हैं। पत्रनाल और पत्रदण्ड पर दाने पडे होते हैं। **पत्रक**-२॥-५ इञ्च लम्बे, १॥-४ इञ्च चौडे, लट्वाकार या अण्डाकार, लम्बाग्र तथा अखण्ड होते हैं। **फूल**-बहुत बड़े, मांसल और जामुनी रंग के तथा अग्र्य मंजरियों में सवृन्तकाण्डज क्रम से निकले रहते हैं। इनकी गन्ध अच्छी नहीं होती। **फलियाँ**-१-३ फुट लम्बी, २-३॥ इञ्च चौडी, चिपटी, तलवार के समान टेढी एवं कठोर होती हैं। **बीज**-सफेद, चिपटे, गोल, २-३ इञ्च व्यास वाले तथा आधार के अतिरिक्त चारों ओर पक्षयुक्त होते हैं। इसके मूल की छाल का दशमूल में उपयोग किया जाता है। यह हलके पीले रंग की रहती है तथा इसका स्वाद कुछ कडवा तथा कुछ तीता रहता है। इसमें गन्ध नहीं होती।

रा० नि० ने इसके यद्यपि दो भेद लिखे हैं तथापि गुणों में अन्तर नही लिखा है। कुछ लोग 'अरलू' नाम से Ailantus excelsa (एइलेन्टस् एक्सेल्सा) लेते हैं और उसी को रा० नि० का श्योनाक भेद मानते हैं। एइलेन्टस् एक्सेल्सा को कुछ लोगों ने महानिंब माना है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में ओरोक्झाइलिन (Oroxylin) नामक एक कड़ुवा रवेदार ग्लूकोसाइड, कषायपदार्थ, पेक्टिन, तैल एवं मोम आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—सोनापाठा के मूल की छाल उत्तम स्वेदजनन, कुछ वेदनास्थापन, दीपन, बस्तिरोगहर, स्तम्भन, व्रणरोपण एवं शोथहर है। इसके बीज रेचक होते हैं। इसकी छाल का प्रयोग आमवात, अतिसार, कास, अरुचि एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) शोथ तथा वातप्रधान रोगों में श्योनाकमूल देते हैं। यह नवीन आमवात में बहुत लाभ करता है। सोंठ के साथ इसका फाट (१ : १०) बनाकर १ औंस दिन में त्रिवार देते हैं। इसके चूर्ण के साथ अफीम मिलाई जा सकती है। यह डोवर्स् पाउडर (Dover's powder की अपेक्षा उत्तम स्वेदजनन तथा वेदनाहर है। छाल का क्वाथ अधिक स्तम्भन होने के कारण इसके फाट का प्रयोग उचित है। विबन्ध होने पर एरडतैल का प्रयोग करना चाहिये। आमवात में इसके क्वाथ से शोथयुक्त सन्धियों को सेंकते हैं जिससे सूजन तथा पीडा कम होती है।

(२) इसकी छाल के कल्क तथा पद्मकेसर को गंभारी एवं कमल के पत्तों में लपेटकर, पुटपाक करके निकला हुआ रस शीत होने पर मधु मिलाकर, अतिसार में दिया जाता है।

(३) इसकी छाल से सिद्ध तैल का उपयोग कर्णस्राव तथा कर्णशूल में किया जाता है। बहुत दिन के प्रयोग के बाद इससे लाभ होता है।

(४) कहा जाता है कि अठन्नी भर छाल पीसकर छानकर दूध के साथ पिलाने से मिर्गी में लाभ होता है।

(५) कर्णमूल शोथ में इसके बीज और इरिमेद दोनों पीसकर लगाये या पिलाये जाते हैं।

मात्रा—चूर्ण १०-२० र० त्रिकटु के साथ।

अथ बृहत्पञ्चमूलम् । तस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

श्रीफलः सर्वतोभद्रा पाटला गणिकारिका । श्योनाकः पञ्चभिश्चैतैः पञ्चमूलं महन्मतम् ॥२९॥
पञ्चमूलं महत् तिक्तं कषायं कफवातनुत् । मधुरं श्वासकासघ्नमुष्णं लघ्वग्निदीपनम् ॥ ३० ॥

बृहत् पञ्चमूल के लक्षण तथा गुण—बेल, गम्भारी, पाढल, अरनी और सोनापाठा इन पाचों वृक्षों के मूल एकत्र करने से 'बृहत् पञ्चमूल' होता है। **बृहत् पञ्चमूल**-तिक्त, कषाय तथा

मधुर रसयुक्त, कफवात-नाशक एव श्वास तथा कास को दूर करने वाला, उष्णवीर्य, लघु और अग्निदीपक होता है ॥ २९-३० ॥

अथ शालिपर्णी (सरिवन) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शालिपर्णी स्थिरा सौम्या त्रिपर्णी पीवरी गुहा । विदारिगन्धा दीर्घाङ्गी[1] दीर्घपत्रांऽशुमत्यपि ॥
शालिपर्णी गुरुश्छर्दिज्वरश्वासातिसारजित् ॥ ३२ ॥
शोषदोषत्रयहरी बृंहण्युक्ता रसायनी । तिक्ता विषहरी स्वादुः क्षतकासकृमिप्रणुत् ॥ ३३ ॥

'सरिवन' के नाम तथा गुण—शालिपर्णी, स्थिरा, सौम्या, त्रिपर्णी, पीवरी, गुहा, विदारिगन्धा, दीर्घाङ्गी, दीर्घपत्रा तथा अशुमती ये सब संस्कृत नाम 'सरिवन' के हैं। **सरिवन**-पाक में गुरु और वमन, ज्वर, श्वास, अतीसार, शोष तथा त्रिदोष का नाशक है एव बृहण, रसायन, तिक्त तथा मधुर रसयुक्त और विष, क्षतकास तथा कृमि का भी नाशक है ॥ ३१-३३ ॥

१० शालिपर्णी

हि०-सरिवन, सालवन, गौरी, सर, दिंथ रौथ। **बं०**-शालपान, शलपानी, छालानी। **म०**-सालवण, रानभाल। **पं०**-सरिवन, समेर। **गु०**-सालवण, समेरवो, पादडियो। **क०**-मुई शेंवरा, मरुवल होने, मरुल होन्ने, काडगांजि। **ते०**-सप्पा कुपोव, सप्पा कपोवा, शिया कुपना, कोल कुपोन्ना, गिता नरम। **उ०**-शार पाणि। **ले०**-*Desmodium gangeticum* (डेस्मोडिअम् गेन्जेटिकम्)। **N. O.** Papilionaceae (पेपिलिओनेसिइ)।

यह भारत में प्रायः सर्वत्र प्राप्त होती है विशेषकर दून के शाल वनों में अधिक होती है।

इसके **पौधे** (उपक्षुप)-स्वावलबी परन्तु झुकी और फैली हुई शाखाओं से युक्त और २-४ फीट ऊँचे होते है। **काण्ड**-किंचित् कोणदार होते हैं। **पत्ते**-एकपत्रक, ३-६ इच लवे, भिन्न-भिन्न चौडाई के भालाकार-आयताकार या कम चौडे और लट्वाकार तथा क्रमशः तीक्ष्णाग्र होते हैं। इनका अपर पृष्ठ मसृण, हरे रग का और अधर पृष्ठ पीले हरे रंग का और रोमश होता है। **पुष्प**-श्वेताभ गुलावी या जामुनी रंग के और ६-१२ इञ्च लंबी, विरल, पतली तथा अग्रज मजरियों में श्रावणमास में लगते हैं। **फली**-आधा से पौन इञ्च लवी, ६-८ सधियों की, टेढी और टेढ़े सूक्ष्म रोमों से युक्त होने के कारण कपडों में चिपक जाने वाली होती है। जमीन पर फैले हुये अथवा न्यूनाधिक स्वावलवी दोनों प्रकार के पौधे होते हैं। अल्प वृद्धि वाले पौधों में पत्ते केवल ½-१½ इञ्च लवे और अति वृद्धि वाले पौधों में ३-६ इञ्च लवे पत्ते होते है। इसके पत्तों का आकार शालपर्ण सदृश होने के कारण इसे शालपर्णी माना जाता है। इसके मूल तथा पचाग का चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। इस जाति तथा वर्ग के कुछ अन्य पौधों को भी शालपर्णी के नाम से ग्रहण कर लिया जाता है।

शालपर्णी और पृश्निपर्णी के विषय में वैद्यों में मतभेद है। कहीं कहीं के वैद्य उसे शालपर्णी मानते हैं जिसे आगे पृश्निपर्णी लिखा गया है और इस शालपर्णी को वे पृश्निपर्णी मानते हैं। पृश्निपर्णी के पर्याय में क्रोष्टुविन्ना शब्द आया है जो Uraria (यूरेरिआ) जाति की पुच्छाकार मजरी वाले क्षुपों के लिये ही उपयुक्त हो सकता है। इस दृष्टि से Uraria picta (यूरेरिआ पिक्टा) को पृश्निपर्णी मानना उचित मालूम पड़ता है। Uraria lagopoides (यूरेरिआ लॅगोपाइडिस्) के पत्र शालपत्र जैसे होने के कारण उसे शालपर्णी माना जा सकता है। कुछ लोग शालिपर्णी से शालिधान्य के क्षुप जैसे पत्र वाले क्षुप मानते हैं। इसी तरह इसके विभिन्न निघण्टुओं में दिये हुये पर्याय नामों के आधार पर लोग विभिन्न क्षुपों को शालिपर्णी या पृश्निपर्णी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

गुण और प्रयोग—शालपर्णी उष्ण, ज्वरघ्न, शोथघ्न, मूत्रजनन, वल्य, रसायन, वयस्थापन, बृंहण, सर्वदोषहर, अगमर्द प्रशमन तथा विषघ्न है। इससे मूत्रदाह कम होता है।

इसका प्रयोग ज्वर, वातरोग, अतिसार, वमन, शोथ, प्रमेह, अर्श, कृमि, राजयक्ष्मा एव क्षत

१ दीर्घाग्री इति पाठा०।

कास में किया जाता है। श्वासनलिकाशोथ, फुफ्फुसशोथ तथा सूतिकाज्वर में इससे विशेष लाभ होता है। इसके पंचांग के क्वाथ में कालीमिर्च मिलाकर रक्तविकार में प्रयोग करते हैं।

मात्रा—चूर्ण ½-१ तोला।

अथ पृश्निपर्णी (पिठवन)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

पृश्निपर्णी पृथक्पर्णी चित्रपर्ण्यहिपर्ण्यपि[1]। क्रोष्टुविन्ना सिंहपुच्छी कलशी धावनिर्गुहा॥३४॥
पृश्निपर्णी त्रिदोषघ्नी वृष्योष्णा मधुरा सरा। हन्ति दाहज्वरश्वासरक्तातीसारतृड्वमीः॥३५॥

पिठवन के नाम तथा गुण—पृश्निपर्णी, पृथक्पर्णी, चित्रपर्णी, अहिपर्णी, क्रोष्टुविन्ना, सिंहपुच्छी, कलशी, धावनि और गुहा ये सब संस्कृत नाम पिठवन के हैं। **पिठवन**-त्रिदोष को दूर करने वाली, वृष्य, उष्णवीर्य, मधुररस युक्त तथा दस्तावर होती है। यह दाह, ज्वर, श्वास, रक्तातिसार, तृषा और वमन को दूर करती है॥ ३४-३५॥

११ पृश्निपर्णी (१)

हि०-पिठवन, डाब्रा। **बं०**-शंकरजटा। **पं०**-देतेर्डानी। **म०**-पृश्निपर्णी, पिठवण। **गु०**-पीठवण, पीलो समेरवो। **लै०**-*Uraria picta* (युरेरिआ पिक्टा)। N. O. Papilionaceae (पेपिलिओनेसिइ)।

यह देहरादून और बाहरी हिमालय में प्रायः ऊसर भूमि एवं खुले हुए जंगलों में पाया जाता है।

इसके **क्षुप**-२-६ फीट ऊँचे, स्वावलम्बी तथा अल्प शाखाओं वाले होते हैं जिसमें पत्ते एक ही क्षुप में भिन्न तरह के होते हैं। **पत्ते**-नीचे के पत्ते छोटे और लगभग वृत्ताकार, इनके ऊपर ३-५ पत्रक सदलपर्ण जिनके पत्रक रेखाकार और इनके साथ कभी-कभी बड़े-बड़े आयताकार, भालाकार, ६×१½ इञ्च बड़े अपत्रक पर्ण भी रहते हैं। ऊपर के पत्ते ५-९ पत्रक तथा पत्रक ३½-६ इञ्च बड़े होते हैं। पत्रकों के मध्य में पीलापन लिये भूरे या पीले सफेद रंग के पट्टे होते हैं। **पुष्प**-छोटे, लाल और ३-४ इञ्च लम्बी, सघन, अग्रज और रम्भाकार मञ्जरियों में निकले रहते हैं। फलवती होने पर ये मंजरिया पुच्छाकार मालूम होती हैं। **फली**-छोटी तथा ३-६ सन्धियों वाली होती है। अधिकाश लोग इसे पृश्निपर्णी मानते हैं। इसे शालिपर्णी मानना उचित नहीं है। पृश्निपर्णी (२) को शालिपर्णी माना जासकता है क्योंकि उसके पत्र शालपत्र जैसे होते हैं।

गुण और प्रयोग—पृश्निपर्णी उष्ण, लघु, त्रिदोषघ्न, दीपनीय, वृष्य, वातहर, संग्राही, सन्धानीय, शोथहर, अगमर्द प्रशमन तथा जीवाणुनाशक है।

इसका उपयोग ज्वर, कास, रक्तातिसार, रक्तार्श, तृषा एव दाह में किया जाता है।

(१) बला तथा पृश्निपर्णी का क्वाथ, रक्तार्श एव मदात्यय में लाभदायक है।

(२) अस्थिभग्न में मासरस के साथ इसके मूल का चूर्ण २१ दिन तक सेवन करना चाहिये।

(३) इसके पचांग का स्वरस फुरसा (Echis carinata) नामक सर्प के विष में लाभदायक माना जाता है।

मात्रा—½-१ तोला।

१२ पृश्निपर्णी (२)

हि०-पिठवन, पिठोनी, पितवन। **बं०**-चाकुले, चाकुलिआ। **म०**-डवला, पिठवण। **पं०**-पिठोनी, पिठौनी। **मा०**-पिठपन। **गु०**-नहानो समेरवो। **क०**-नवियल वोने। **ते०**-कोलकूपोन्ना। **लै०**-*Uraria lagopoides* (युरेरिआ लॅगोपॉइडिस्)। N. O. Papilionaceae (पेपिलिओनेसिइ)।

यह नेपाल, बगाल तथा अन्य प्रान्तों के जगली स्थानों में होती है।

इसके **क्षुप**-बहुवर्षायु काष्ठीय मूल से प्रतिवर्ष निकलते हैं। **शाखाएँ**-प्रसरी या अत्यन्त-प्रसरी और लगभग १२ इञ्च लम्बी होती हैं, जो मूल के समीप निकलती हैं। **पत्ते**-किंचित्

---

१. अंघ्रिपर्ण्यपि इति पाठा०।

वृत्ताकार या चौडाई लिये हुए आयताकार, एकपत्रक और त्रिपत्रक दोनों प्रकार के पत्ते मिले हुए या कभी-कभी केवल अपत्रक पत्ते होते हैं। **पुष्प**–पुष्पमजरी ८–१२ इञ्च तक लम्बी, गोल तथा पुच्छाकार होती है जो स्थायी वाह्यकोश के पंख सदृश खण्डों के कारण बहुत सघन और शृगालपुच्छ (क्रोष्टुविन्ना) जैसी दिखाई देती है इसीसे कही-कहीं जगलों में इसे सियारपुछिया भी कहते हैं। **फली**–एक इञ्च लम्बी, टेढी-मेढी तथा चिकनी होती है। इसके मूल का व्यवहार किया जाता है।

इसकी एक अन्य जाति युरेरिआ हॅमोसा (Uraria hamosa) होती है जिसमें मजरियाँ लम्बी परन्तु सघन नहीं होतीं तथा पर्ण अपत्रक या त्रिपत्रक होते हैं। इसे उडीसा में सालपानी (शालपर्णी) कहते है। वस्तुत. 'सालपानी' नाम कई जाति के पौधों को दिया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह रसायन, वल्य, श्लेष्मघ्न एवं त्रिदोषघ्न है। इसके मूल का व्यवहार ½–१ तोला की मात्रा में किया जाता है।

अथ वार्त्ताकी (बड़ी कटेरी) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

वार्त्ताकी क्षुद्रभण्टाकी महती बृहती कुली।
हिङ्गुली राष्ट्रिका सिंही महोष्ट्री दुष्प्रधर्षिणी। बृहती ग्राहिणी हृद्या पाचनी कफवातहृत् ॥३६॥
कटुतिक्ताऽऽस्यवैरस्यमलारोचकनाशिनी। उष्णा कुष्ठज्वरश्वासशूलकासाग्निमान्द्यजित् ॥३७॥

वडी कटेरी के नाम तथा गुण—वार्त्ताकी, क्षुद्रभण्टाकी, महती, बृहती, कुली, हिङ्गुली, राष्ट्रिका, सिंही, महोष्ट्री और दुष्प्रधर्षिणी ये सब सस्कृत नाम वडी कटेरी के हैं। **बड़ी कटेरी**–संग्राही (मलरोधक), हृदय को हितकर, पाचक, कफवात-नाशक, कटु तथा तिक्तरस-युक्त होती है। यह मुख की विरसता तथा मल और अरुचि का नाश करने वाली, उष्णवीर्य तथा कुष्ठ, ज्वर, श्वास, शूल, कास और अग्नि की मन्दता इन सबों को दूर करने वाली होती है ॥ ३६–३७ ॥

१३ बृहती (बड़ी कटेरी)

हि०–वनभटा, वनभाटा, वडी कटाई, वडी कटेरी, बरहटा, अजड। **बं०**–व्याकुड, व्याकुर। **म०**–डोरले, चिंचुरटी वागी। **गु०**–उभी रिंगणी। **ते०**–तेल्ल मुलक। **ता०**–पप्पर मुळ्ळी। **क०**–किरिगुलि। **मा०**–उभीकटाली। **मला०**–चेरुचुन्ड। **पं०**–कंडयारी। **फा०**–कटाई कलाँ। **ले०**–*Solanum indicum* (सोलेनम् इण्डिकम्)। N. O. Solanaceae (सोलेनेसिइ)।

यह भारत के प्राय. सब प्रान्तों में कही न कही पाई जाती है, विशेषकर ऊसर भूमि में अधिक मिलती है।

इसका **क्षुप**–३–६ फीट ऊँचा ठीक भण्टे के क्षुप के समान होता है। **शाखाएँ**–श्वेत रोमश और किंचित् टेढ़े तथा मृदु कांटों से भरी रहती हैं। **पत्ते**–३ से ६ इञ्च तक लम्बे तथा १ से ४ इञ्च तक चौडे, कटे किनारे वाले या लहरदार, ठीक भण्टे के पत्तों के आकार के लट्वाकार या आयताकार होते है। अधरतल पर रोमश होने के कारण ये मैले सफेद रग के और ऊपरी तल पर तारकाकार रोमों के कारण कुछ-कुछ खुरखुरे होते हैं। नीचे के तल पर मध्यपर्शुक पर अथवा नसों पर मृदु कटकों से युक्त रहते हैं। **फूल**–भटा के फूल के समान वैगनी रंग के या कभी कभी श्वेताभ, •७५ इञ्च व्यास के और पाच दल वाले होते हैं। **फल**–गोल, कच्ची अवस्था में हरे, पकने पर पीले, तिहाई इञ्च व्यास के एव प्रायः चिकने होते हैं। इनका स्थायी वाह्यकोश पहले जैसा छोटा ही रहता है। फल तथा फूल सालभर लगते रहते हैं। ताजे फल कडवे तथा कटु रहते हैं लेकिन सूखने पर इनका कडवापन चला जाता है।

इसका एक भेद ठडे तथा आर्द्र स्थानों में पाया जाता है जिसे **ले०**–*Solanum torvum* (सोलेनम् टोर्हम्) तथा स०–श्वेतबृहती कहते हैं।

इसके **क्षुप**–६–१० फीट ऊँचे तथा उपर्युक्त बृहती के समान होते हैं। ये अधिक ऊँचे, सीधे तथा शाखाएँ अल्प, सीधी, प्राय. मुलायम और उन पर कांटे बहुत कम होते हैं। **पत्ते**–३–७ इञ्च लम्बे, २–४ इञ्च चौडे, ऊपर कम और नीचे अधिक रोमश (रोम तारकाकार) होते हैं।

काटे भी प्रायः मध्यशिरा पर नीचे की ओर केवल एक या दो होते हैं। **फूल**-श्वेत तथा वाह्य-कोश में काटे नहीं होते। **फल**-पहले से वड़े, ·५ इञ्च व्यास के तथा पीले होते हैं।

इसका एक अन्य भेद शुष्क मार्गों में पाया जाता है जिसे **लै०**-*Solanum melongena* (सोलेनम् मेलोंगेना) एव **हि०**-वनभण्टा, जगली वैंगन, रोको, ठोको, गठेगनी कहते हैं।

यह वैंगन की ही जगली जाति होती है जिसमें काटे होते हैं। **पत्ते**-अडाकार, ४-७ इञ्च वडे, न्यूनाधिक अखड, लहरदार या किंचित् खडित (खडगोल) होते हैं। **फूल**-नीले और प्रायः व्यास में १ इञ्च होते हैं। वाह्यकोश फल में वढा हुआ रहता है। **फल**-चिकने, श्वेताभ-पीत, गोल और व्यास में करीव १ इञ्च होते हैं। इसके कृपिजन्य भेद में फल के रंग तथा आकारादि में वहुत भिन्नता आ जाती है।

नोट—प्राचीनों ने बृहतीद्वय का उल्लेख किया है जिससे कुछ लोग बृहती (वडी कटेरी) तथा कंटकारी (भटकटैया) ये दो द्रव्य लेते हैं। कुछ लोगों का मत है कि बृहतीद्वय अलग हैं तथा कंटकारी अलग है। बृहती के ३ भेद प्राप्त होते हैं जिनमें से २ को बृहतीद्वय कहा जा सकता है। श्वेतबृहती नामक जो भेद मिलता है वह सभवत. भावप्रकाशोक्त श्वेतकंटकारी हो। कुछ लोग कहते हैं कि श्वेतकंटकारी का अलग क्षुप होता है जिसके पुष्प सफेद होते हैं। श्वेतकटकारी का एक पर्याय लक्ष्मणा होने के कारण तथा यह भी गर्भकारिणी होने के कारण 'लक्ष्मणा' के स्थान पर इसका उपयोग किया जाता है। लक्ष्मणा का आगे स्वतन्त्र वर्णन आया हुआ है।

रासायनिक संगठन—इसमें सोलेनीन एव सोलेनिडीन नामक दो क्षाराभ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, दीपन, पाचन, ग्राही, वातघ्न, कफघ्न, हृद्य, कण्ठ्य, हिक्का-निग्रहण, शोथहर तथा अंगमर्द प्रशमन है।

इसकी मूल कफ रोगों में दी जाती है। इससे ज्वर कम होता है एव श्वासावरोध कम होता है। इसके प्रयोग से उदरगत वात कम होने से शूल एव मरोड दूर होती है। मूत्रकृच्छ्र में इसका उपयोग करते हैं। त्वग्रोगों में इसके पत्तों का लेप किया जाता है। वमन रोकने के लिये इसके पत्तों का स्वरस आर्द्रक के साथ पिलाते हैं। इसके फल अग्निदीपक माने जाते हैं तथा शिर:शूल में इसका लेप लाभदायक होता है।

मात्रा—चूर्ण १-२ माशा।

अथ कण्टकारी (भटकटैया, कटेरी)। तस्या नामान्याह

कण्टकारी तु दुःस्पर्शा क्षुद्रा व्याघ्री निदिग्धिका। कण्टालिका कण्टकिनी धावनी बृहती तथा ॥

भटकटैया के नाम—कण्टकारी, दु:स्पर्शा, क्षुद्रा, व्याघ्री, निदिग्धिका, कण्टालिका, कण्टकिनी, धावनी और बृहती ये सब सस्कृत नाम भटकटैया के हैं ॥ ३८ ॥

*** उभे च बृहत्यौ। यत आह सुश्रुतः—**
क्षुद्रा या क्षुद्रभण्टाकी बृहतीति निगद्यते ॥ ३८ ॥

दोनों ही अर्थात् वडी कटेरी तथा भटकटैया (छोटी कटेरी) 'बृहती' कहलाती हैं क्योंकि 'सुश्रुत' महर्षि ने भी कहा है कि—क्षुद्रा (भटकटैया) और क्षुद्रभण्टाकी (वडी कटेरी) जो यह दो प्रकार की कटेरी होती है वे दोनों ही 'बृहती' नाम से कहलाती हैं ॥ ३८ ॥

अथ श्वेतपुष्पायाः कण्टकार्या नामान्याह

श्वेता क्षुद्रा चन्द्रहासा लक्ष्मणा क्षेत्रदूतिका। गर्भदा चन्द्रमा चन्द्री चन्द्रपुष्पा प्रियङ्करी ॥३९॥

सफेद फूल वाली भटकटैया के नाम—श्वेता, क्षुद्रा, चन्द्रहासा, लक्ष्मणा, क्षेत्रदूतिका, गर्भदा, चन्द्रमा, चन्द्री, चन्द्रपुष्पा और प्रियङ्करी ये सब संस्कृत नाम सफेद फूल वाली भटकटैया के हैं ॥ ३९ ॥

अथ कण्टकारीगुणानाह

कण्टकारी सरा तिक्ता कटुका दीपनी लघुः ॥ ४० ॥
रूक्षोष्णा पाचनी कासश्वासज्वरकफानिलान्। निहन्ति पीनसं पार्श्वपीडाकृमिहृदामयान् ॥४१॥

भटकटैया के गुण—भटकटैया-दस्तावर, तिक्त तथा कटुरसयुक्त, अग्निदीपक, लघु, रूक्ष, उष्णवीर्य और पाचक होती है। यह खांसी, श्वास, ज्वर, कफ, वात, पीनस, पार्श्वपीडा (पसुली का दर्द), कृमि तथा हृद्रोग इन सबों को दूर करती है ॥ ४०-४१ ॥

अथ कण्टकारीद्वयफलगुणानाह

तयोः फलं कटु रसे पाके च कटुकं भवेत्। शुक्रस्य रेचनं भेदि तिक्तं पित्ताग्निकृल्लघु ॥
हन्यात्कफमरुत्कण्डूकासमेदः कृमिज्वरान् ॥ ४२ ॥

दोनों कटेरियों के फल के गुण—छोटी तथा बडी कटेरी के फल—पाक में कटुरसयुक्त, शुक्र का रेचन करने वाले, मल को भेदन करने वाले, कटु तथा तिक्तरस-युक्त, पित्त तथा अग्निवर्धक और लघु होते है और कफ, वात, खुजली, खाँसी, मेदरोग, कृमि तथा ज्वर को दूर करने वाले होते हैं ॥ ४२ ॥

अथ श्वेतपुष्पकण्टकार्या गुणानाह

तद्वत्प्रोक्ता सिता क्षुद्रा विशेषाद् गर्भकारिणी ॥ ४३ ॥

श्वेत फूल वाली भटकटैया के गुण—सफेद फूल वाली भटकटैया भी पूर्वोक्त इन सभी गुणों से युक्त होती है तथापि विशेष करके यह गर्भ धारण कराने वाली होती है ॥ ४३ ॥

१४ कंटकारी

हि०—कटेरी, लघुकटाई, कटकारी, छोटी कटाई, भटकटैया, रेंगनी, रिंगणी, कटाली, कटयाली। **बं०**—कटकारी। **म०**—रिङ्गणी, भुईरिङ्गणी। **गु०**—बेठी भोरिंगणी, भोयरिंगणी। **क०**—नेल्ल गुल्लु। **ते०**—चल्लन मुलग। **मा०**—रसरकटाई। **पं०**—कण्डियारी, वरुम्ब। **ता०**—कण्डनकत्तरि। **अ०**—हदक, इर्सिम, शौकतुल्अकरव। **फा०**—बादगानवरी, कटाई खुर्द। **ले०**—*Solanum xanthocarpum* (सोलेनम् झेन्थोकार्पम्)। N. O. Solanaceae (सोलेनेसिइ)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में और सब प्रकार की मिट्टी में पाई जाती है परन्तु रेतीली भूमि में यह अधिक उत्पन्न होती है। दक्षिण-पूर्व एशिया, मलाया एव आस्ट्रेलिया के उष्ण प्रदेशों में भी यह पाई जाती है।

इसका परिप्रसरी **क्षुप**-बहुवर्षायु तथा अत्यन्त काटेदार होता है। **काण्ड**-टेढ़े-मेढ़े एव अनेक शाखाओं से युक्त रहते हैं। **कांटे**-सीधे, पीले, चिकने, चमकीले एव ·५-·७ इञ्च तक लम्बे होते हैं। इनमें साथ में छोटे काटे भी होते हैं। **पत्ते**-२-४ इञ्च लबे, १-२ इञ्च चौडे, लट्वाकार, आयताकार या अण्डाकार, गहरे कटे हुए या पक्षवत् खण्डित होते हैं। पत्रखण्ड पुन. खण्डित या दन्तुर होते हैं। ये तारकाकार रोमों के कारण खुरदुरे होते हैं। **फूल**-गहरे नीले रग के उगते हैं। **फल**-गोल, ·५-१ इञ्च व्यास के, चिकने और पीले या कभी-कभी सफेद होते हैं तथा हरी धारियों से युक्त होते हैं। **बीज**-चिकने एवं छोटे होते हैं। इसके मूल का उपयोग किया जाता है। यह हमेशा ताजा उपयोग में लाना चाहिये।

रासायनिक सगठन—इसमें सोलेनीन सदृश सोलेकार्पिडिन (Solacarpidin, $C_{26}H_{44}O_3N$) नामक एक क्षाराभ बहुत अल्पमात्रा में होता है जो फल में अधिक होता है। पत्तों की अपेक्षा मूल में यह अधिक होता है। इसके पचाग में पोटेशियम् क्लोराइड् एव पोटेशियम् नाइट्रेट् (Potassium chloride and Potassium nitrate) पाये जाते है।

गुण और प्रयोग—यह उत्तम मूत्रल, कफनिःसारक एवं ज्वरहर है। इसके बीज वेदनास्थापक हैं। इसका उपयोग कास, श्वास, प्रतिश्याय, ज्वर, अगमर्द, पार्श्वपीडा, हृद्रोग, आध्मान, विवध, अश्मरी तथा वमन में किया जाता है।

(१) गुडुच एवं इसकी जड़ का क्वाथ ज्वर एवं कास में वल्य रूप में दिया जाता है। इससे शरीरपीड़ा कम होती है, कुछ पसीना होता है एवं मूत्र की मात्रा भी कुछ बढती है।

(२) इससे गला एवं श्वासनलिका की शुष्कता कम होकर कफ ढीला होने लगता है इसलिये गले का शोथ, स्वरयन्त्रशोथ एवं श्वासनलिकाशोथ इनकी प्रथमावस्था में इससे अच्छा लाभ होता है। कफ की प्रथमावस्था में मूल के क्वाथ के साथ मधु एवं सैंधव दिया जाता है। द्वितीयावस्था में पत्रस्वरस या मूलक्वाथ में छोटीपीपल एवं मधु मिलाकर देते है जिससे खाँसी की तकलीफ कम होती है। तमक श्वास एवं उद्वेष्टन युक्त कास में इसके मूल के क्वाथ में सैंधव एवं हींग मिलाकर देते हैं। सुश्रुत ने तमक श्वास के लिये इसका मूलचूर्ण १ तोला तथा हीग ½ तोला, मधु के साथ ३ दिन सेवन करने को लिखा है। कास, श्वास तथा स्वरभेद में इससे सिद्ध घृत का उपयोग लिखा है। कास में इसके स्वरस से सिद्ध मुद्गयूष आँवले की खटाई डालकर उपयोग करने को लिखा है।

(३) इसके मूल का स्वरस मद्य मिलाकर पिलाने से वमन वन्द होता है।

(४) इसके मूल के क्वाथ को मूत्रकृच्छ्र, वस्तिगत अश्मरी एव जलोदर में देते हैं। मूत्रदोष में इसके स्वरस में मधु मिलाकर पिलाते हैं। अश्मरी में बृहती तथा कटकारी के मूल का चूर्ण मीठे दही के साथ ७ दिन पीने का विधान है।

(५) इसके वीज के धूम्रपान से कृमिदन्तजन्य शूल कम होता है तथा कभी-कभी तत्काल लाभ होता है। मुखपाक में पचाग क्वाथ से गण्डूष कराते हैं। पीड़ायुक्त अर्श में इसके वीज की धूनी दी जाती है। वेदनायुक्त अंगोंपर इसके पत्तों का लेप किया जाता है।

(६) आमवात में इसके पत्रस्वरस में काली मिर्च मिलाकर पिलाते हैं तथा पत्तों का लेप करते हैं।

(७) गले की सूजन में फलों का स्वरस उपयोगी है।

(८) सोजाक में पचाग का क्वाथ पिलाते हैं।

मात्रा—पत्रस्वरस ½-१ तोला; मूलक्वाथ (अष्टमाश) २-४ तोला; मूलचूर्ण १-२ माशा।

अथ गोक्षुरः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

गोक्षुरः क्षुरकोऽपि स्यात्त्रिकण्टः स्वादुकण्टकः। गोकण्टको गोक्षुरको वनश्रृङ्गाट इत्यपि॥४४॥
पलङ्कषा श्वदंष्ट्रा च तथा स्यादिक्षुगन्धिका। गोक्षुरः शीतलः स्वादुर्बलकृद्वस्तिशोधनः॥४५॥
मधुरो दीपनो वृष्यः पुष्टिदश्चाश्मरीहरः। प्रमेहश्वासकासार्शःकृच्छ्रहृद्रोगवातनुत्॥४६॥

गोखरू के नाम तथा गुण—गोक्षुर, क्षुरक, त्रिकण्ट, स्वादुकण्टक, गोकण्टक, गोक्षुरक, वनश्रृङ्गाट, पलङ्कषा, श्वदंष्ट्रा तथा इक्षुगन्धिका ये सब सस्कृत नाम गोखरू के हैं। **गोखरू**—शीतवीर्य, स्वादु, बलकारक, बस्तिशोधक, मधुररसयुक्त, अग्निदीपक, वृष्य तथा पुष्टिकारक होता है। यह पथरी, प्रमेह, श्वास, खाँसी, बवासीर, मूत्रकृच्छ्र, हृद्रोग तथा वात को दूर करने वाला होता है॥ ४४-४६॥

१५ गोखरू (छोटा)

हि०—गोखरू, छोटा गोखरु, हाथीचिकार। **बं०**—गोक्षुर, गोखुरी। **म०**—सराटे, काटे गोखरू। **क०**—नेग्गिलुमुल्लु, नेगलु। **गु०**—न्हाना गोखरू, बेठा गोखरू। **ते०**—पल्लेरु मुल्लु। **ता०**—नेरिंजिल, नेरुंजी। **प०**—भखड़ा, भखर। **फा०**—खारे खसक, खारे सेहगोशा। **अ०**—हसक, बजरुल खस्क। **अं०**—Small Caltrops (स्माल् कॅल्ट्रोप्स्)। **ले०**—*Tribulus terrestris* (ट्रिब्युलस् टेरेस्ट्रिस्)। N. O. Zygophyllaceae (झाइगोफिलेसिइ)।

छोटा गोखरू—प्रसर जाति की वनौषधि है। यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है विशेषकर बंगाल, विहार, उत्तरप्रदेश, पश्चिमोत्तरप्रदेश, राजपूताना और मद्रास में अधिक उत्पन्न होता है। यह अन्य उष्णप्रदेशों में भी पाया जाता है।

इसका **प्रसर**—१½ फीट से ४ फीट के घेरे में भूमि पर फैला हुआ रहता है। **मूल**—पतला,

चीमड, करीव ५ इञ्च लम्बा, गोल एव हलके भुरे रग का रहता है। इसमें थोडी सी सुगन्ध रहती है एव इसका स्वाद कुछ मिठास लिये हुए कसैला होता है। **शाखाऍ**–१–२ फीट लम्बी, रोमश तथा जमीन पर फैली हुई रहती हैं। **पत्ते**–विपरीत, २–३ इञ्च लम्बे, प्रायः असम तथा जोडी में आते हैं। **पत्रक**–आयताकार, ४–७ जोडे, छोटे, ०.८–१.२ से. मि. लम्बे, आधार की तरफ कुछ तिरछे एवं इनका अग्र रोमश रहता है। **फूल**–छोटे-छोटे, पाँच पंखडी वाले, पीले रंगके तथा पत्रकोणों में आते हैं। **फल**–छोटे-छोटे गोल किञ्चित् चिपटे होते हैं और उनपर पाँच जोडे वारीक काटे लगे रहते हैं। ये पाँच दलवाले होते हैं और सूखने पर प्रायः पाँचो दल त्रिकोणाकार पृथक्-पृथक् हो जाते हैं तथा उनके दोनों छोर पर एक-एक कांटे रहते हैं। प्रत्येक दल में अनेक वीज पाये जाते हैं जिनके वीच में आडे परत होते हैं।

इसके मूल एव फल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। प्रायः चूर्ण के लिये फल एव क्वाथ के लिये मूल काम में लेते हैं।

इसी का एक जातिभेद सिंध, पजाव तथा वलुचिस्तान में होना है। इसे **ले०**—*Tribulus alatus* (ट्रिब्युलस् एलेटस्); **अं०**—*Winged caltrops* (विंग्ड् कॅल्ट्रोप्स्), **सिध**–लतक; **हिं०**–गोखुरेकलान; **पं०**–**हसक** कहते हैं। इसके फल एक तरफ मोटे तथा दूसरी तरफ सकुचित होते हैं एव इसे पख रहते हैं। इनमें दो वीज होते हैं। इसके गुण गोखरु के समान ही होते हैं। इससे पखाना साफ होता है एव प्रसूता को इसके फल की पेया पिलाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में अत्यल्प मात्रा में एक क्षाराभ, ३ ५% स्थिर तैल, कुछ उडनशील तैल, राल एवं अधिक मात्रा में नाइट्रेट (Nitrates) ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—गोखरू शीतल, स्नेहन, मूत्रविरेचनीय, शोथहर, वातहर, वल्य, वृष्य एव वेदनास्थापन है। मूत्र सस्थान की श्लेष्मकला पर इसका प्रभाव वकु (Buchu) के पत्र एव उवाअर्सी (Uva-ursi) के पुष्प सदृश होता है। इसका मूत्रल प्रभाव इसमें के नाइट्रेट एव उडनशील तैल के कारण होता है। यह शीतवीर्य होते हुवे वृक्कोत्तेजक है। अधिक मात्रा से इससे शौच साफ होता है।

इसका उपयोग मूत्रकृच्छ्र, सोजाक, अश्मरी, वस्तिरोग, वृक्कविकार, प्रमेह, स्वप्नदोष, नपुसकता एव वीर्यक्षीणता में किया जाता है।

इसके फलों का फाट वृक्कविकार, अश्मरी तथा वातरक्त में मूत्रल औषधि के रूप में वहुत उपयोगी है। इसका उपयोग मूत्राघात, कास तथा हृदयविकार में भी किया जाता है। सोजाक तथा वस्तिशोथ में इसका क्वाथ देते हैं। इसका वेदना स्थापन गुण अल्प होने के कारण इसके साथ खोरासानी अजवाइन या अफीम मिलाई जाती है।

मूत्रकृच्छ्र में इससे सिद्ध दुग्ध का प्रयोग किया जाता है। मूत्र वहुत अम्ल होने पर तथा मूत्रकृच्छ्र में इसके क्वाथ में यवक्षार मिलाकर देते हैं। वस्तिशोथ या वृक्कशोथ में जव मूत्र क्षारीय, दुर्गन्ध युक्त एव गदला रहता है तव इसके क्वाथ में शिलाजीत देते हैं।

इसके चूर्ण को मधु के साथ खाकर ऊपर से वकरी का दूध सात दिन पीने से अश्मरी में लाभ होता है।

गोखरू तथा तिल इनका समभाग चूर्ण मधु एव वकरी के दूध के साथ सेवन करने से हस्तमैथुन जन्य षाढ्य में लाभ होता है। गर्माशय शुद्ध होकर वन्ध्यत्व नष्ट होने के लिये गोखरू देते हैं।

मात्रा—३–६ माशा।

१६ गोखरू-वडा

हिं०–वडा गोखरू, फरीदवूटी, दक्षिणी गोखरू। **वं०**–वड गोखरू। **म०**–मोठें गोखरू। **गु०**–ऊमा गोखरू, म्होटा गोखरू, कडवा गोखरू। **पं०**–गोखरू कला, वडा भखडा (रा)। **उडि०**–गोक्षुरा। **क०**–आनेनेग्गिलु। **ते०**–पेद्दा पल्लेरू। **ता०**–पेरूनेरूञ्जि। **मल०**–ञ्ञ्ट्टु-

नेरिंजल। **सिंहा०**-अतिनेरंचि। **अं०**-हसके कवीर। **फा०**-खारेखस के कला, खसके कलाँ। **ले०**-*Pedalium murex* (पेडेलिअम् म्युरेक्स्)। N. O. Pedaliaceae (पेडेलिएसिइ)।

यह दक्षिण में समुद्र के किनारे तथा सिलोन में वहुत उत्पन्न होता है।

इसका **क्षुप**-वर्षायु, नरम, मांसल तथा चिकना होता है। **शाखाएँ**-६-१८ इञ्च लम्वी तथा उत्थित प्रसरी होती हैं। **पत्ते**-एकान्तर, १-२ इञ्च लम्वे, अण्डाकार तथा लहरदार दन्तुर किनारे वाले होते हैं। **पुष्प**-पीले रंग के, १ इञ्च लम्वे तथा पत्रकोणों में निकले हुए होते हैं। इनको मसलने से कस्तूरी जैसी सुगन्ध आती है। **फल**-चौकोनी, करीव ½ इञ्च लम्वा, ¼ इञ्च चौडा तथा आधार की ओर प्रत्येक कोन पर एक-एक सीधा काँटा होता है। इसके ऊपर का भाग शंकाकार और भीतर से दो कोशवाला होता है। **बीज**-प्रत्येक कोश में दो-दो वीज होते हैं। इसकी **जड़** नारंगी रंग की रहती है। इसके पत्तों को जल में डालने पर जल एकदम लुआबदार हो जाता है। इसमें न स्वाद होता है न गन्ध होती है तथा कुछ समय वाद इसका लुआव भी निकल जाता है। इसके पत्ते तथा फलों का चिकित्सा में व्यवहार होता है।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में एक क्षाराभ, वसा, राल तथा राख ५% होती है।

गुण और प्रयोग—वड़ा गोखरू स्नेहन, मूत्रजनन, वल्य तथा वाजीकर है। इसका मूत्रजनन धर्म वहुत उत्तम है तथा त्वरित मालूम पडता है।

(१) नये सोजाक में ताजे पचाग का हिम करीव एक पाव की मात्रा में प्रत्येक समय ताजा वनाकर देना चाहिये। फल का काढा देना हो तो उसके साथ मुलेठी एव नागरमोथा मिलाना चाहिये। इससे मूत्रत्याग के समय जलन नहीं होती। इसके पत्तों का चूर्ण एक तोला दुग्ध एव शर्करा के साथ सोजाक में तथा तज्जन्य सधिवात में देते हैं।

(२) स्वप्नदोप, कामशक्ति का ह्रास तथा अपने आप पेशाव हो जाना इन अवस्थाओं में इसके फल का फाट देते हैं। २½ तोला फल चूर्ण को २५ तोला उवलते जल में डालकर १ घंटे पश्चात् छान लें तथा वार-वार थोडा थोडा पिलावें। फलचूर्ण को २ माशे की मात्रा में शर्करा, घृत एव दुग्ध के साथ भी दे सकते हैं। इसका पौष्टिक तथा वाजीकर गुण कभी-कभी स्पष्ट प्रतीत होता है।

(३) प्रसूति रोग में फलों का क्वाथ या पत्रस्वरस पिलाते हैं।

(४) यकृत तथा प्लीहा वृद्धि में पंचाग का रस या क्वाथ पिलाते हैं।

मात्रा—पत्रचूर्ण १ तोला, फल २-३ तोला फाट वनाकर ; फलचूर्ण २-४ माशा।

अथ लघुपंचमूलम्। तस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

शालिपर्णी पृश्निपर्णी वार्त्ताकी कण्टकारिका। गोक्षुरः पञ्चभिश्चैतैः कनिष्ठं पञ्चमूलकम् ॥४७॥
पञ्चमूलं लघु स्वादु बल्यं पित्तानिलापहम्। नात्युष्ण बृंहणं ग्राहि ज्वरश्वासाश्मरी प्रणुत् ॥४८॥

लघु पञ्चमूल के लक्षण तथा गुण—सरिवन, पिठवन, वडी कटेरी, भटकटैया और गोखरू इन पाँचों के मूल एकत्र करने से लघु पञ्चमूल कहलाता है। **लघुपञ्चमूल**-लघु, स्वादु, वलकारक, वातपित्त-नाशक, बृहण, ग्राही एवम् ज्वर, श्वास और पथरी को दूर करने वाला होता है तथा यह अत्यन्त उष्णवीर्य नहीं होता है ॥ ४७-४८ ॥

अथ दशमूलम्। तस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

उभाभ्यां पञ्चमूलाभ्यां दशमूलमुदाहृतम्।
दशमूलं त्रिदोषघ्नं श्वासकासशिरोरुजः। तन्द्राशोथज्वरानाहपार्श्वपीडाऽरुचिर्हरेत् ॥ ४९ ॥

दशमूल के लक्षण तथा गुण—पूर्वोक्त दोनों अर्थात् वृहत् तथा लघु पञ्चमूल के योग को दशमूल कहते हैं। **दशमूल**-त्रिदोषनाशक तथा श्वास, खासी, शिर की पीडा, तन्द्रा, शोथ, ज्वर, आनाह, पार्श्वपीडा (पंसुलीका दर्द) एवम् अरुचि को दूर करनेवाला होता है ॥ ४९ ॥

अथ जीवन्ती (शाकविशेषः-शर्करावन्मधुरपुष्पा व्रततिर्भवति)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

जीवन्ती जीवनी जीवा जीवनीया मधुस्रवा। माङ्गल्यनामधेया च शाकश्रेष्ठा पयस्विनी ॥५०॥
जीवन्ती शीतला स्वादुः स्निग्धा दोषत्रयापहा। रसायनी बलकरी चक्षुष्या ग्राहिणी लघुः॥५१॥

जीवन्ती (जो कि एक प्रकार की शाक है तथा शक्कर के समान मीठे फूलों वाली लता होती है) के नाम तथा गुण–जीवन्ती, जीवनी, जीवा, जीवनीया, मधुस्रवा, मङ्गल्यनामधेया (मङ्गलवाचक सभी शब्द इनके पर्यायवाचक होते हैं), शाकश्रेष्ठा तथा पयस्विनी ये सब संस्कृत नाम जीवन्ती के हैं। **जीवन्ती**–शीतवीर्य, स्वादु, स्निग्ध, त्रिदोषनाशक, रसायन, बलकारक, नेत्र को हितकर, ग्राही और लघु होती है॥ ५०-५१ ॥

नोट—जीवन्ती नामक शाक श्रेष्ठ के विषय में मतभेद हैं। कुछ लोग जीवन्ती, स्वर्णजीवन्ती एवं ह्रस्व तथा दीर्घजीवन्ती आदि इसके भेद मानते हैं। अधिकांश विद्वान् लेप्टेडेनिआ रेटिक्युलेटा (Leptadenia reticulata) को जीवन्ती मानते हैं। कुछ लोग डेन्ड्रोबिअम् मॅक्रीइ (Dendrobium macraei) को जीवन्ती मानते हैं। इन्हीं दो का यहाँ वर्णन किया गया है। कुछ लोगों ने ड्रेगिआ होल्युबिलिस् (Dregia volubilis) को जीवन्ती लिखा है जिसे कहीं २ 'लाखन' कहा जाता है तथा उसका मूर्वा के स्थान पर भी कहीं कहीं प्रयोग किया जाता है। पंजाबी में जिउन्ती नाम सिमिसिफ्यूजा फिटिडा (Cimicifuga foetida) को दिया हुवा है जो जीवन्ती शाक से बिलकुल भिन्न मालूम होती है।

श्रीयुत यादवजी ने इसके दो लेटिन नाम लेप्टेडेनिआ रेटिक्युलेटा एवं होलोस्टेमा एन्युलर लिखे हैं तथा इसके नव्यमत में श्री डा० देसाई के होलोस्टेमा र्छिडिआई का वर्णन किया है। होलोस्टेमा र्छिडिआई को कुछ विद्वानों ने अर्कपुष्पी माना है तथा उसे जीवन्ती का भेद लिखा है। अर्कपुष्पी का आगे स्वतंत्र वर्णन आया हुआ है।

१७ जीवन्ती (१)

हि०–जीवन्ती, डोडी। **गु०**–डोडी, डोर्डी, खरखोडी, राडारुडी। **म०**–डोडी, राईदोडी, खीरखोडी। **ले०**–*Leptadenia reticulata* (लेप्टेडेनिआ रेटिक्युलेटा)। N. O. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसिइ)।

यह लता सहारनपुर, शिवालिक के नीचे तथा बरकाला, रानीपूर आदि में मिलती है। देहरादून में मोथ्रानवाला के समीप घास के मैदानों में भी होती है। इसकी मधुर कलियों का रुचिकर शाक बनता है अतः शाकश्रेष्ठ जीवन्ती इसे मानना चाहिये।

इसकी **लता**-क्षुप जातीय तथा चक्रारोही होती है। इसके पुराने **काण्ड** कार्क युक्त होते हैं और नवीन भाग श्वेताभ मृदु रोमश होते हैं। **पत्ते**–२-३ इंच लंबे, १-१॥ इंच चौडे, लट्वाकार–आयताकार या अंडाकार, नोकीले, सरल धार, चर्मसदृश और अधःपृष्ठ पर नीलाभ श्वेत रज से ढके होते हैं। इनका आधार प्रायः गोल या नोकीला होता है। **पुष्प**–कुछ मटमैले सफेद रंग के होते हैं। **फलिया**–एकाकी, २-३ इञ्च लम्बी, ॥-॥। इञ्च मोटी, सीधी, सरस परन्तु कठोर, चिकनी और उनका अग्रभाग मोटा परन्तु चोंचदार (टेढा) होता है।

गुण और प्रयोग—जीवन्ती जीवनीय, शीतल, मधुर, लघु, त्रिदोषनाशक, चक्षुष्य, स्वर्य, ग्राही, बल्य एवं वृष्य है।

इसका उपयोग रक्तपित्त, क्षय, दाह, ज्वर, अतिसार, विषदोष, नक्तान्ध्य एवं व्रण में किया जाता है।

(१) ज्वरजन्य दाह में इसके मूल के क्वाथ में घृत मिलाकर पीने से लाभ होता है।
(२) इसका साग घृत के साथ पकाकर खाने से रतौंधी में लाभ होता है।
(३) अतीसार में इसका साग दही, अनार तथा स्नेह के साथ उपयोगी होती है।

मात्रा—३-६ माशा।

१८ जीवन्ती (२)

सं०–स्वर्ण जीवन्ती ? **हिं०**–जिवसाग्। **बं०**–जिवै, जीवन्ती। **गु०**–जिवन्ती। **ले०**–*Dendrobium macraei* (डेन्ड्रोबिअम् मेक्रीइ)। N. O. Orohideae (ओर्काइडीइ)।

यह हिमालय पहाड, खासिया पहाड, सिक्किम, नीलगिरि के पहाड एवं दक्षिण, सीलोन, वर्मा तथा मलाया आदि में होती है।

इसके **बांदे** जामुन के वृक्षों पर पाये जाते हैं। **जड** (भौमिक काण्ड)-प्रसरणशील तथा वलय युक्त होती है जिससे अनेक लटकते हुवे, चमकीले तथा २–३ फीट लवे काण्ड निकले रहते हैं। काण्ड पर विभिन्न दूरी पर मूलकाकार, कुछ दवे हुवे चमकीले तथा २–२॥ इञ्च लवे कूटकद (Pseuodobulbs) रहते हैं। **पत्र**–कूटकन्द के अग्रभाग से, एकाकी, ४–८ इञ्च लवा, करीव १ इञ्च चौडा, रेखाकार-आयताकार, कुण्ठिताग्र एवं अनेक समानान्तर पतली शिराओं से युक्त होता है। **पुष्प**–पत्र के आधार से निकले हुवे, १–३, करीव १ इञ्च वड़े तथा श्वेत वर्ण के रहते हैं। इनके ओष्ठ एव चंचु (Spur) पीतवर्ण के रहते हैं। पुष्प कुछ ही घंटे विकसित रहते हैं।

इसके पंचाग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह लघु, मधुर, शीतल, रसायन, स्नेहन, वल्य एवं वृष्य है। इसका उपयोग श्वास, कास, गले के विकार, क्षय, ज्वर, दाह, नेत्रविकार एवं रक्तविकार में किया जाता है। इसके पंचाग का क्वाथ अन्य सुगधि पदार्थों के साथ त्रिदोष में देते हैं। धातुपात के कारण उत्पन्न दौर्वल्य में काथ पिलाते हैं।

मात्रा—३ से ६ माशा।

अथ मुद्गपर्णी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मुद्गपर्णी काकपर्णी सूर्यपर्ण्यल्पिका[1] सहा॥ ५२॥
काकमुद्गा च सा प्रोक्ता तथा मार्जारगन्धिका। मुद्गपर्णी हिमा रूक्षा तिक्ता स्वादुश्च शुक्रला॥५३॥
चक्षुष्या क्षतशोथघ्नी ग्राहिणी ज्वरदाहनुत्। दोषत्रयहरी लघ्वी ग्रहण्यर्शोऽतिसारजित्॥५४॥

मुगवन के नाम तथा गुण—मुद्गपर्णी, काकपर्णी, सूर्यपर्णी, अल्पिका, सहा, काकमुद्गा और मार्जारगन्धिका ये सव सस्कृत नाम मुगवन के हैं। **मुगवन**–शीतवीर्य, रूक्ष, तिक्तरसयुक्त, स्वादु, शुक्रजनक, नेत्र को हितकर, क्षत तथा शोथ का नाशक, ग्राही, ज्वर तथा दाह को दूर करने वाली, त्रिदोष नाशक तथा लघु होती है एवम् ग्रहणी, ववासीर तथा अतिसार को दूर करने वाली होती है॥ ५२–५४॥

१९ मुद्गपर्णी

हि०–मुगवन, मुगानी, वनमूग, जगली मूग, रखाल कलमी। **बं०**–मुगानी। **म०**–रानमुग। **गु०**–जगली मग, अडवाऊ मग। **क०**–कोहसरु, आवरेगिड। **ते०**–कारु पेसारा, पिल्ल पेसर चेट्टु, कलवन्द चेट्टु। **पं०**–मुगवन। **ता०**–नरिप्पयरू। **ले०**–*Phaseolus trilobus* (फेसिओलस् ट्रिलोवस्)। N. O Papilionaceae (पेपिलिओनेसिइ)।

यह मूग के समान ही लता जाति की वनौपधि प्रायः सव प्रान्तों में उत्पन्न होती है। इसके **काण्ड** प्रसरी, १–२ फीट लम्बे, रोमश या चिकने होते हैं। **पत्रक**–कद में प्रायः वहुत परिवर्तनशील होते हैं और प्रायः वृन्त से छोटे ही होते हैं। ये प्रायः सर्वदा खण्डित, खण्ड तीन और गोल होते हैं। उपपत्र वहुत वड़े और पीठ से जुडे हुए (प्रायः ½ तक) होते हैं। उपपत्रक छोटे परन्तु पर्णवत् होते हैं। मंजरी के शीर्ष पर पुष्प गुच्छ और वडा पुष्पदड होता है। **फली**—पतली, लगभग २" लम्बी एव चिकनी होती है। **वीज**–६–१२ और श्वेताभ होते हैं।

इसके वीजों को कभी-कभी गरीव लोग खाने के लिये एकत्र करते हैं। पत्रकों के आकार के अनुसार इसे सूर्यपर्णी कह सकते हैं।

---

(१) शूर्यपर्ण्यल्पिका इति पाठा०।

गुण और प्रयोग—मुद्गपर्णी शीतल, जीवनीय, शुक्रजनन, बलप्रद, चक्षुष्य एवं शामक है। इसका प्रयोग वातरक्त, क्षय, ज्वर एव दाह में किया जाता है। बिहार में ज्वर के लिये इसके पञ्चांग का प्रयोग किया जाता है। जीर्ण ज्वर में पुष्टि एव निद्रा लाने के लिये इसके पत्तों का क्वाथ पिलाया जाता है। चूहे के विषमें सिन्धुवार, मुद्गपर्णी एव माषपर्णी मधु के साथ खाने से लाभ होता है।

मात्रा—२-४ माशा।

अथ माषपर्णी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

माषपर्णी सूर्यपर्णी काम्बोजी हयपुच्छिका। पाण्डुलोमशपर्णी च कृष्णवृन्ता महासहा ॥५५॥
माषपर्णी हिमा तिक्ता रूक्षा शुक्रबलासकृत्। मधुरा ग्राहिणी शोथवातपित्तज्वरास्रजित् ॥५६॥

बनउर्दी के नाम तथा गुण—माषपर्णी, सूर्यपर्णी, काम्बोजी, हयपुच्छिका, पाण्डुलोमशपर्णी, कृष्णवृन्ता और महासहा ये सब सस्कृत नाम वनउर्दी के हैं। **वनउर्दी**-शीतवीर्य, तिक्त तथा मधुररसयुक्त, रूक्ष, ग्राही, शुक्र जनक तथा कफ कारक होती है। एवम् यह शोथ, वात, पित्त, ज्वर और रक्त विकार को दूर करने वाली होती है ॥ ५५-५६ ॥

२० माषपर्णी

हि०-मषवन, माषोनी, वन उडदी, जंगली उडद, वनउर्दी, वनउडद। **बं०**-माषानी। **म०**—रानउडीद। **गु०**-जंगली अडद। **क०**-काडउद्यु, काडुलद। **ते०**-रानो डिङ्ग, कारु मिनुरु। **ता०**-कट्टु अलदू। **ले०**-*Teramnus labialis* (टेरॅम्नस् लेबिएलिस्)। N. O. Papilionaceae (पेपिलिओनेसिइ)।

यह सब प्रान्तों के जगल झाडियों में कहीं न कहीं उत्पन्न होती है। यह लता जाति की वनौषधि झाडियों पर लिपटती हुई (चक्रारोही) वढती है और वर्षा ऋतु में अधिक पाई जाती है। **पत्ते**-त्रिपत्रक और पत्रक भिन्न-भिन्न कद के होते हैं। **पत्रक**-कभी ६-१·३ इञ्च और कभी १-३ इञ्च लम्बे होते हैं। ये अण्डाकार या लट्वाकार (अन्य पत्रक कभी-कभी अभिलट्वाकार), नीचे के तल पर तलशायी रोमों से युक्त होते हैं। सवृन्त पुष्पों की मञ्जरी बहुत पतली १½-५ इञ्च लम्बी और **पुष्प**-गुलाबी, नीलारुण या सफेद होते हैं। **फली**-पतली लम्बी, सीधी या कुछ-कुछ टेढी होती है। **बीज**-ताजी अवस्था में लाल तथा सूखने पर काले तथा सख्या में लगभग १० होते हैं।

गुण और प्रयोग—माषपर्णी शीतल, बल्य, वृष्य, पुष्टिकारक, शुक्रजनन एव जीवनीय है। इसका उपयोग ज्वर, दाह, रक्तपित्त, वात विकार, अगघात एवं आमवात में किया जाता है। चरक ने वाजीकरण के लिये माषपर्ण खिलाई हुई समान वर्ण वत्सवाली प्रथम प्रसवा गौ का दुग्ध, मधु, शर्करा एव घृत के साथ सेवन करने का विधान किया है। इससे सिद्ध तैल का पिचु धारण वातिक प्रदर में लाभदायक माना जाता है।

मात्रा—२-४ माशा।

अथ जीवनीयगणः। तस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

अष्टवर्गः सयष्टीको जीवन्ती मुद्गपर्णिका। माषपर्णी गणोऽयं तु जीवनीय इति स्मृतः ॥ ५७ ॥
जीवनो मधुरश्चापि नाम्ना स परिकीर्त्तितः। जीवनीयगणः प्रोक्तः शुक्रकृद् बृंहणो हिमः ॥५८॥
गुरुर्गर्भप्रदः स्तन्यकफकृत्पित्तरक्तहृत्। तृष्णां शोष ज्वरं दाहं रक्तपित्त व्यपोहति ॥ ५९ ॥

जीवनीय गण के लक्षण तथा गुण—जीवक, ऋषभकादि पूर्वोक्त अष्टवग की ओषधियाँ, मुलेठी, जीवन्ती (डोंटी), मुगवन और वनउर्दी इन सब ओषधियों को जीवनीयगण कहते हैं। जीवनीय गण का ही नामान्तर जीवन (जीवन गण) या मधुर (मधुर गण) भी ऋषियों ने कहा है। **जीवनीय गण**-शुक्रजनक, बृंहण, शीतवीर्य, गुरु, गर्भप्रद, स्तन्य (दुग्धवर्धक) तथा कफ

कारक एवं पित्त तथा रक्त दोष को दूर करने वाला तथा तृषा, शोष, ज्वर, दाह और रक्तपित्त इन सबों को नष्ट करने वाला होता है ॥ ५७-५९ ॥

अथ शुक्लरक्तैरण्डौ । तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

शुक्ल एरण्ड आमण्डश्चित्रो गन्धर्वहस्तकः । पञ्चाङ्गुलो वर्द्धमानो दीर्घदण्डो व्यडम्बकः ॥ ६० ॥
वातारिस्तरुणश्चापि रुबूकश्च निगद्यते । रक्तोऽपरो रुबूकः स्यादुरुबूको रुबुस्तथा ॥ ६१ ॥
व्याघ्रपुच्छश्च वातारिश्चञ्चुरुत्तानपत्रकः । एरण्डयुग्मं मधुरमुष्णं गुरु विनाशयेत् ॥ ६२ ॥
शूलशोथकटीबस्तिशिरःपीडोदरज्वरान् । ब्रध्नश्वासकफानाहकासकुष्ठाममारुतान् ॥ ६३ ॥

सफेद एरण्ड तथा लाल एरण्ड के नाम एवम् गुण—शुक्लैरण्ड, आमण्ड, चित्र, गन्धर्वहस्तक, पञ्चाङ्गुल, वर्धमान, दीर्घदण्ड, व्यडम्बक, वातारि, तरुण और रुबूक ये सब संस्कृत नाम सफेद एरण्ड के हैं । रक्तैरण्ड, रुबूक, उरुबूक, रुबु, व्याघ्रपुच्छ, वातारि, चञ्चु और उत्तानपत्रक ये सब लाल एरण्ड के संस्कृत नाम हैं । **दोनों एरण्ड**—मधुररसयुक्त, उष्णवीर्य तथा गुरु होते हैं एवम् ये दोनों—शूल, शोथ एवं कटि, वस्ति तथा शिरकी पीडा, उदररोग, ज्वर, ब्रध्ननामक-रोग, श्वास, कफ, आनाह, खाँसी, कुष्ठ और आमवात इन सबों को दूर करते हैं ॥ ६०-६३ ॥

अथैरण्डपत्राग्रपत्रफलमज्जगुणानाह

एरण्डपत्रं वातघ्नं कफकृमिविनाशनम् ।
मूत्रकृच्छ्रहरं चापि पित्तरक्तप्रकोपणम् । वातार्यग्रदलं गुल्मबस्तिशूलहरं परम् ॥ ६४ ॥
कफवातकृमीन्हन्ति वृद्धिं सप्तविधामपि । एरण्डफलमत्युष्णं गुल्मशूलानिलापहम् ॥ ६५ ॥
यकृत्प्लीहोदरार्शोघ्नं कटुकं दीपनं परम् । तद्वन्मज्जा च विड्भेदी वातश्लेष्मोदरापहः ॥ ६६ ॥

एरण्ड के पत्ते, फुनगी, फल तथा मींगी के गुण—**एरण्ड के पत्ते**—वातनाशक तथा कफ, कृमि और मूत्रकृच्छ्र को दूर करनेवाले एवम् पित्त तथा रक्त को कुपित करनेवाले होते हैं । **कोमल पत्ते** (अग्रभाग के पत्ते) गुल्म और वस्ति-शूल को अत्यन्त दूर करनेवाले तथा कफ, वात, कृमि और सात प्रकार के वृद्धि रोग (अण्डवृद्धि) को भी दूर करने वाले होते हैं । **एरण्ड के फल**—अत्यन्त उष्णवीर्य, गुल्म, शूल, वायु, यकृत, प्लीहा, उदररोग तथा ववासीर को दूर करनेवाले एवम् कटुरस-युक्त तथा अत्यन्त अग्निदीपक होते हैं । **फल की मींगी** भी गुणों में इसके फलों के समान होती हुई भी मल को भेदन करने वाली एव वात, कफ तथा उदर-सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाली होती है ॥ ६४-६६ ॥

नोट—भावप्रकाशकार ने श्वेत एवं रक्त भेद से एरण्ड के दो भेद लिखे हैं, यद्यपि दोनों के गुण समान ही होते हैं । सामान्यतः इसके दो भेद पाये जाते हैं । एक भेद बहुवर्षायु एव बडे फल तथा बडे और लाल वीजों वाला होता है । दूसरा भेद एकवर्षायु एवं छोटे, भूरे और चित्तीदार वीजों वाला होता है । यह प्रतिवर्ष बोया जाता है । प्रथम में ४०% तैल होता है लेकिन वह अधिकतर जलाने एव स्निग्धीकरण के काम आता है । इसके पत्तों का चिकित्सामें उपयोग किया जाता है । दूसरे में तैल ३७% होता है जो चिकित्सा में अधिकतर काम आता है । इसके मूल का भी उपयोग चिकित्सा में किया जाता है ।

एक अन्य प्रकार का एरड भी मिलता है जिसे **व्याघ्रैरण्ड** कहते हैं । इसके गुण एरड से काफी भिन्न हैं । इसकी एक दूसरी जाति होती है जिसे लाल व्याघ्रैरण्ड कहते हैं । एरड के पश्चात् व्याघ्रैरण्ड का वर्णन किया गया है ।

२१ एरण्ड

हि०—अरंड, एरंड, एरंडी, रेंडी । **बं०**—भेरेंडा । **म०**—एरड, एरंडी । **गु०**—एरंडो, एरंडियो, दिवेली, । **ते०**—आमुदामु, एरड्मु । **ता०**—आमणक्कम् । **मल०**—चिट्टामणक्कु, आवणक्का । **क०**—हरलु । **फा०**—बेदंजीर, तुख्मे बेदंजीर । **अ०**—खिरवा, बज्रुल, खिर्वअ । **अं०**—Castor-Oil plant (कॅस्टर

ऑइल् प्लॅंट)। ले०-*Ricinus communis* (रिसिनस् कॉम्युनिस्)। N. O. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसिइ)।

प्रायः सब प्रान्तों में एरड की खेती की जाती है। यह अपने आप ही मैदानों, सड़कों के किनारे, परती जमीन एव पहाड़ियों की खाली भूमि में उत्पन्न हुवा पाया जाता है।

इसका **क्षुप**–एक वर्षायु, ऊँचा, चिकना तथा क्षोदलिप्त रहता है। कभी कभी यह झाड़ीदार या छोटे वृक्षसदृश भी हो जाता है। **पत्ते**–एकांतर, चौड़े, खंडित (त्रिपादानुत्तर-पाणिवत्), खण्ड ७ या अधिक एव पत्रतट आरावत दन्तुर होता है। इसके डठल और पत्रदड हलके और पीले होते हैं। **पुष्प**–द्विलिंगी तथा सवृन्त-काण्डज पुष्पव्यूहों में आते हैं जिसमें पुपुष्प पुष्पव्यूह के ऊपर के भाग में रहते हैं तथा स्त्री पुष्प नीचे के भाग में रहते हैं। **फल**–गोल-गोल सघन गुम्मजदार लगते हैं, तथा उन पर मुलायम मुलायम काटे से होते हैं। फल पकने पर धूप की गरमी से फट जाते हैं और बीज भूमि में गिर पडते है। उसी समय गुच्छों को तोडकर सग्रह करते हैं। प्रत्येक फल में तीन तीन बीज होते हैं। **बीज**–गोल आयताकार तथा कुछ चिपटे, ४-१२ मि मि. लवे, एक तरफ से चिपटे किन्तु दूसरी तरफ कुछ गोल, लवाई की अपेक्षा $\frac{2}{3}$ चौड़े एवं $\frac{1}{3}$ मोटे होते हैं। बीज का बाह्य त्वक् पतला, भिदुर, चिकना, चमकीला, भूरे रग का तथा चितकवरा रहता है। इसका अन्तस्त्वक् पतला और मुलायम होता है। बीजावरण के ऊपर द्वारक के समीप एक सफेद बाह्य वृद्धि होती है जिससे कुछ २ ढँका हुआ वृन्तयु (Hilum) होता है। बीजावरण को हटा देने पर स्थूल तथा पीताभ श्वेत भ्रूणपोष (Endosperm) दिखाई देता है जिसके अन्दर तैलीय खाद्य पदार्थ सचित रहता है। भ्रूणपोष के मध्य में गर्भ होता है जिसमें दो पतले पत्र-सदृश बीज पत्र और उनके बीच छोटा भ्रूणाक्ष होता है। बीजों में नाममात्र की गंध एवं किंचित् तीता स्वाद होता है।

एरण्ड का अपने यहाँ बहुत प्राचीनकाल से प्रयोग होता आ रहा है। इसकी इतनी अधिक खेती होती है जिससे इसके तेल का एव बीजों का बहुत अधिक मात्रा में निर्यात होता है। तैल विशेषकर साबुन बनाने, मशीनों के स्निग्धीकरण (Lubrication) एव चर्म व्यवसाय आदि उद्योगों में उपयोग में लाया जाता है। चिकित्सा की दृष्टि से उत्तम प्रकार का तेल अपने यहाँ कम निकाला जाता है यद्यपि उसमें विशेष बाधाएँ नहीं हैं। उत्तम तेल फ्रास तथा इटली से आता है। इसमें पहले बीजों को खूब अच्छी तरह साफ कर, ऊपर का छिलका हटा, बिना उष्णता पहुँचाये केवल दबाव के द्वारा तेल निकालते हैं। प्रथम दबाव में करीब आधा तेल निकालते हैं इसे औषधि कार्य में व्यवहृत किया जाता है। फिर दुबारा दबाव देने पर करीब १६% तेल निकलता है वह अन्य व्यवसायों में काम में लाया जाता है। शीतविधि द्वारा निकाले तैल का स्वाद एव गन्ध कम अप्रिय होता है। उष्ण विधि में बीजों को जल के साथ उबालते हैं। गरमी के कारण तैल जल पर नितर आता है। फिर इस तैल को अलग कर लेते हैं। दूसरी विधि में तैल को दबाव से ही निकालते हैं किन्तु बाहर से मद आँच भी देनी पडती है। उष्णता से पतला हो जाने के कारण तेल अधिक मात्रा में तथा आसानी से निकलता है। इस तैल को धूप में रखकर शुभ्र बनाते हैं तथा बाद में जल के साथ उबालते हैं जिससे इसमें के अन्य पदार्थ निकलकर तेल स्वच्छ हो जाता है।

रासायनिक संगठन—रेंड के बीजों में करीब ५०% तैल रहता है। तैल निकालने के पश्चात् बची हुई खली में रिसिनाइन (Ricinine) नामक रवेदार पदार्थ, रिसिन (Ricin) नामक विषैला पदार्थ, तीव्र कार्य करने वाला लाइपेस् (Lipase) नामक किण्व एव अन्य किण्व पाये जाते हैं।

इसके तैल में अनेक ग्लिसराइड्स् (Glycerides) रहते हैं जिसमें से प्रधान स्नेहीय अम्ल रिसिनोलिक् एसिड (Ricinoleic acid, $C_{18}H_{34}O_3$) है जो इसका विरेचक द्रव्य माना जाता है। स्नेहीय अम्लों में ओलिक् (Oleic), लिनोलिक् (Linoleic) एव अल्प मात्रा में स्टियरिक् (Stearic) तथा हाइड्रॉक्सि स्टियरिक् (Hydroxy stearic) अम्ल पाये जाते हैं।

इसके बीजों में रिसिन नामक जो विषैला तत्व है वह इतना अधिक तीव्र है कि २, ३ बीज से मृत्यु तक हो सकती है। मुख की अपेक्षा सूचीवेध द्वारा प्रवेश करने से इस के विषैले परिणाम अधिक दिखलाई देते हैं। इससे आन्त्र में रक्तस्रावयुक्त शोथ हो जाता है। इसमें कोई विरेचक गुण नही रहता। रिसिन एरण्ड तैल में नही पाया जाता। औषधि कार्य में बीजों का प्रयोग करते समय बीजों को दो फाक करके भीतर की जीभी जिसमें यह विष अधिक रहता है निकाल देना चाहिये। कुछ समय तक दुग्ध में भिगोने एव एक दो बार उबालने से भी इस विष का पर्याप्त शोधन होता है।

गुण और प्रयोग—एरंड तैल सौम्य, संस्रन, स्तन्यजनन, दाहशामक एव वातहर है। इसका मूल वृष्य एव वातहर है। एरंड भेदनीय, स्वेदोपग, अंगमर्दप्रशमन, अधोभागहर एव वातसंशमन है।

एरंड तैल बहुत अच्छा विरेचक द्रव्य है। इसका प्रभाव क्षुद्रान्त्र (ग्रहणी) पर होता है। यह आन्त्र की ग्रन्थियों एव पुरस्सरण क्रिया को उत्तेजित करता है जिससे २-६ घटों में साधारण विरेचन होता है। इससे साधारण पतले २-४ पाखाने होते हैं। आखिरी पाखाने के साथ तैल निकल जाता है तथा कभी कभी मरोड होती है। इसका कुछ अश प्रचूषण के पश्चात् स्तन द्वारा उत्सर्गित होने के कारण स्तनपान करने वाले बच्चों को भी विरेचन हो जाता है। कुछ लोगों को इसकी आदत पड जाती है तथा कुछ लोगों में इससे विरेचन के पश्चात् विबध हो जाता है। यह सम्भवतः बृहदान्त्र की शिथिलता के कारण होता है जो २, ३ दिन रहती है।

बाल, वृद्ध, स्त्री, गर्भिणी एव प्रसूता के लिये तथा अर्शविकार, गुदविदार, उदरगत शल्यकर्म, श्रोणिविकार, उदरावरण शोथ, जीर्ण विबध तथा ज्वरजन्य विबध आदि अवस्थाओं के लिये यह उत्तम तथा हानिरहित सौम्य विरेचक है। अजीर्णजन्य अतिसार विशेषकर बच्चों में होनेवाले अतिसार में इससे लाभ होता है। तीव्र प्रवाहिका के प्रारभ में अहिफेन के साथ इसका प्रयोग लाभदायक होता है तथा जीर्ण विकार में भी इसका उपयोग किया जाता है। एरड तैल को सुबह खाली पेट आदी के रस के साथ दिया जाता है। सोंठ के फाट के साथ या उष्ण चाय, कॉफी आदि के साथ भी इसको दे सकते हैं। शीतऋतु में इसको कुछ उष्ण करके देना चाहिये। इसके स्वाद एवं गध को दूर करने के लिये इसे कैप्सूल में बदकर या गोंद के साथ एमल्शन् बनाकर ले सकते हैं। बडों में इसकी प्रभावोत्पादक न्यूनतम एव अधिकतम मात्रा ३० बूँद से लेकर १ पाव तक की है लेकिन प्रायः २ तोला की मात्रा मृदुरेचन के लिए पर्याप्त होती है। नवजात शिशु के लिये छोटे चाय के चम्मच बराबर मात्रा कोई बडी मात्रा नहीं है। विबध में एरड तैल की बस्ति भी दी जाती है।

कटिशूल, गृध्रसी, पार्श्वशूल, हृदयशूल, आमवात एव सधिशोथ में इसके मूल का क्वाथ सोंठ के साथ पिलाने से लाभ होता है। इन अवस्थाओं में इसके तैल को शिलाजतु के साथ पिलाते हैं तथा इसकी मालिश भी करते हैं। नूतन तथा जीर्ण आमवात में नित्य सुबह एरंड तैल का प्रयोग लाभदायक है।

स्तनों पर इसके तैल को मर्दन कर ऊपर से एरड पत्र बाँधने से उसमें की गाँठे विलीन होकर स्तन्य वृद्धि होती है। स्तन चूचुक विदार में इसके तैल को लगाने से लाभ होता है।

आँखों में कोई चीज चली जावे तो स्वच्छ एरंड तैल डालने से वह निकल जाती है तथा आँखों की खुरखुराहट दूर होती है।

अर्श में एरंड तैल तथा घृतकुमारी का स्वरस मिलाकर लगाने से जलन कम होती है।

शिरःशूल में रेंडी के तेल की मालिश से लाभ होता है। दाह के शमन के लिये एरंडमज्जा को बकरी के दूध में पीसकर पादतल में मलते हैं। एरड तैल के मर्दन से भी दाह का शमन होता है।

मात्रा—तैल १-२ तोला; मूलचू० ३-६ तोला;

२२ व्याघ्रेरण्ड

हि०—व्याघ्रेरन्ड, जगली एरड। बं०—नागा भेरेन्दा, बाघभेरट। म०—मोगली एरंट। गोवा—गलमर्क। कोंक—फाडएरडि। ता०—कट्टमनक्कु। ते०—अटविआमुदमु। क०—काडहरलु। अ०, फा०—डडेनहरी। ले०—*Jetropha curcas* (जेट्रोफा कर्कस्)। N. O. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसिइ)।

यह दक्षिण अमेरिका का आदिवासी है किन्तु प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। दक्षिण में इसे लोग घरों में लगाते हैं।

इसका **वृक्ष**—छोटा एवं करीब १०–२० फीट ऊँचा होता है। इसकी छाल धूसरवर्ण की एवं काष्ठ मुलायम होता है। **पत्ते**—चिकने, बड़े, व्यास में ४–६" इञ्च एवं ३–५ खडों में विभक्त होते हैं। **पुष्प**—पीताभवर्ण के होते हैं। **फल**—हरे रग के, १ इञ्च लम्बे एव सूखने पर भी बहुत दिन तक पेड में लगे रहते हैं। इसके बीजों में तैल होता है। इसके पत्तों को तोडने से सफेद रंग का बहुत दूध निकलता है। इसके दूध एव मूल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

इसी की दूसरी जाति जेट्रोफा गॉसिपिफोलिआ (J. Gossipifolia), लाल व्याघ्रेरण्ड सड़कों के किनारे तथा ऊसर भूमि में और अधिक मात्रा में उगी हुई पाई जाती है। इसके पौधे ३–६ फीट ऊँचे, पत्ते ३–५ खडों में विभक्त एवं पुष्प लाल होते हैं। पत्रतट, पर्णवृन्त और उपपत्रों के ऊपर श्लेष्मोत्पादक ग्रथियाँ रोमों के रूप में रहती हैं जिससे यह पौधा स्पर्श में चिपचिपा होता है। इसके मूल में कपूर जैसी गंध आती है। इसकी दातुन अच्छी समझी जाती है।

रासायनिक संगठन—व्याघ्रेरड के बीजो में हलके पीले रग का तैल ३०%, शर्करा, स्टार्च थात कर्सिन (Curcin) नामक रिसिन जैसा विषैला पदार्थ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—व्याघ्रेरण्ड का दुग्ध रक्तसाग्राहिक तथा व्रणरोपक है। इसकी जड वातानुलोमक, पाचन एवं ग्राही है। इसका तैल जमालगोटे जैसा तीव्र विरेचक होता है तथा इसकी क्रिया अनियन्त्रित होने के कारण तैल का आन्तरिक व्यवहार नही किया जाता।

इसके दुग्ध को क्षतपर लगाने से कोलोडिअन की तरह एक पतला स्तर व्रग पर बन जाता है जिससे रक्तस्राव रुकता है, उपसर्ग से व्रण की रक्षा होती है तथा व्रण का संकोच होने से व्रग जल्दी अच्छा होता है। इसे पामा, दाद तथा छाजन पर लगाते हैं। इसके पत्तों के क्वाथ का भी इसी तरह उपयोग होता है एव इससे कुल्ला करने से मसूडे से खून जाना बन्द होकर दाँत मजबूत होते हैं। इसकी दतुअन से भी लाभ होता है। इसके तैल को खुजली, परिसर्प, छाजन तथा अन्य चर्मरोगों में एव आमवात में लगाते हैं तथा व्रणशोधन के लिये भी इसका उपयोग करते हैं। दुग्धवृद्धि के लिये इसके पत्तों को जरा सा गरमकर स्तन पर बाँधते हैं या इसके क्वाथ से सेंककर फिर उन्ही पत्तों को बाँधते हैं।

कोंकण में अजीर्ण, अतिसार तथा उदरशूल के लिये इसकी एक अगुल लम्बी ताजी जड, ७ दाना काली मिर्च एव थोडा हीग इनको पीसकर उसका रस मट्ठे के साथ पिलाते हैं।

अथ शुक्लरक्तार्कौ [सफेद आक—लाल आक]। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

श्वेतार्को गणरूपः स्यान्मन्दारो वसुकोऽपि च। श्वेतपुष्पः सदापुष्पः स चालर्कः प्रतापसः॥६७॥
रक्तोऽपरोऽर्कनामा स्यादर्कपर्णो विकीरणः। रक्तपुष्पः शुक्लफलस्तथाऽऽस्फोटः प्रकीर्त्तितः॥६८॥
अर्कद्वयं सरं वातकुष्ठकण्डूविषव्रणान्। निहन्ति प्लीहगुल्मार्शः श्लेष्मोदरशकृत्कृमीन्॥६९॥

सफेद आक तथा लाल आक के नाम और गुण—श्वेतार्क, गणरूप, मन्दार, वसुक, श्वेतपुष्प, सदापुष्प, अलर्क और प्रतापस ये सब सस्कृत नाम सफेद आक के हैं। लाल आक के सस्कृत नाम—रक्तार्क, अर्कनामा (सूर्य के वाचक सभी शब्द इसके पर्यायवाचक हैं), अर्कपर्ण, विकीरण, रक्तपुष्प, शुक्लफल तथा आस्फोट हैं। **दोनों प्रकार के आक**—दस्तावर तथा वात, कुष्ठ, खुजली, विष, व्रग, प्लीहा, गुल्म, बवासीर, कफ, उदररोग एव मल के कृमि इन सबों को नष्ट करते हैं॥ ६७–६९॥

अथ शुक्लरक्तार्कयोः पुष्पगुणानाह

अलर्ककुसुमं वृष्यं लघु दीपनपाचनम् । अरोचकप्रसेकार्शःकासश्वासनिवारणम् ॥ ७० ॥
रक्तार्कपुष्पं मधुरं सतिक्तं कुष्ठकृमिघ्नं कफनाशनञ्च ।
अर्शो विषं हन्ति च रक्तपित्तं संग्राहि गुल्मे श्वयथौ हितं तत् ॥ ७१ ॥

सफेद आक तथा लाल आक के फूल के गुण—**सफेद आक का फूल**—वृष्य, लघु, अग्नि-दीपक तथा पाचक होता है एवम् यह अरुचि, प्रसेक (मुख से लार गिरना), बवासीर, खाँसी तथा श्वास को दूर करता है। **लाल आक का फूल**—मधुर तथा थोड़ा तिक्त रसयुक्त, संग्राही, गुल्म तथा शोथ में हितकर होता है एवम् यह कुष्ठ, कृमि, कफ, बवासीर, विष तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है ॥ ७०-७१ ॥

अथार्कदुग्धगुणानाह

क्षीरमर्कस्य तिक्तोष्णं स्निग्धं सलवणं लघु । कुष्ठगुल्मोदरहरं श्रेष्ठमेतद्विरेचनम् ॥ ७२ ॥

'आक' के दूध के गुण—यह तिक्त तथा कुछ लवणरस से युक्त, उष्णवीर्य, स्निग्ध और लघु होता है एवम् यह कुष्ठ, गुल्म तथा उदर रोग को दूर करता है और इसके प्रयोग से उत्तम विरेचन होता है ॥ ७२ ॥

नोट—चरक ने अर्क का एक ही भेद लिखा है। सुश्रुत ने अर्क एवं अलर्क ये दो भेद लिखे हैं। भावप्रकाशकार श्वेत एवं रक्त ये दो भेद लिखते हैं। धन्वन्तरी निघण्टु में अर्क एव राजार्क ये दो भेद दिये हैं। राजनिघण्टु में अर्क, राजार्क, शुक्लार्क एव श्वेतमन्दारक ये ४ भेद लिखे हैं। राजार्क के जो अन्य पर्याय रा० नि० में दिये हैं वे भावप्रकाशोक्त श्वेतार्क से मिलते हैं। अरुणदत्त ने मन्दारक को श्वेतपुष्प लिखा है (सू. अ. १५)। इससे अनुमान होता है कि राजार्क तथा श्वेतमन्दारक ये श्वेतार्क के ही भेद होंगे। रा. नि. ने राजार्क को सदापुष्प एवं श्वेत मन्दारक को दीर्घपुष्प लिखा है। इससे ऐसा मालूम होता है कि श्वेत पुष्पवाले किन्तु जिसमें बारहो मास पुष्प आते हों उसे राजार्क एवं जिसके पुष्प श्वेत एवं दीर्घ हों उसे मन्दारक कहा गया हो।

आधुनिक ग्रन्थों में इसके दो भेद पाये जाते हैं किन्तु उनके लेटिन नामों में विद्वानों में मतभेद हैं। केलोट्रोपिस् जाइगेन्टीआ को कुछ विद्वान् श्वेतार्क (अलर्क, मदार) तथा केलोट्रोपिस् प्रोसेरा को रक्तार्क (अर्क) मानते हैं किन्तु अन्य विद्वान् इसके विपरीत मानते हैं। यहां पर दोनों का वानस्पतिक वर्णन अलग-अलग दिया गया है। चिकित्सा की दृष्टि से मंदार के सभी भेदों के गुण समान होते हैं। रक्तार्क या श्वेतार्क के भेद से उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं होता।

२३ श्वेतार्क

सं०—अलर्क, मंदार। **हिं०**—मदार, आक। **म०**—रूई, आक। **बं०**—आकद। **गु०**—आकडो। **ता०**—बदावडम, एरुक्कु। **ते०**—मदारमु, जिल्लेडु। **क०**—एक्क। **मल०**—एरिक्का। **अ०**—उषर, उषार। **फा०**—खरक, जहूक। **अं०**—मडार (Mudar); जायगॅन्टिक् स्वॅलोवर्ट (Gigantic Swallow-wort)। **ले०**—*Calotropis gigantea* (केलोट्रोपिस् जाइगेन्टीआ)। **Fam. Asclepiadaceae** (एस्क्लेपिएडेसिइ)।

यह हिमालय में ३००० फीट की ऊँचाई तक तथा पजाब से लेकर दक्षिण भारत, आसाम, लंका एवं सिंगापूर में ऊसर भूमि में पाया जाता है। यह मलाया द्वीप तथा दक्षिण चीन में भी होता है।

इसका **क्षुप** या **छोटा वृक्ष**—बहु वर्षायु तथा ८-१० फीट तक ऊँचा रहता है। **पत्र**-अवृन्त, मोटे, क्षीरलिप्त हरे रग के, अडाकार या अभिलट्वाकार-आयताकार, ४-८ इंच लबे, १.५-४ इच चौड़े एवं पर्णतल की तरफ संकुचित हृदयाकार या प्रायः काण्ड को कुछ घेरे रहते हैं। **पुष्प**-१.५-२ इञ्च व्यास के, गंधहीन तथा अन्तर्दल फैले हुवे एव नीललोहित (Purplish) या श्वेत रंग के होते हैं। **फल**-करीब ४ इंच लबे, मुड़े हुवे एवं फूले से एक सेवनीक फल

(Folliole) रहते हैं। बीज-महीन सिल्क की तरह गुच्छेदार रूई से युक्त तथा छोटे एवं चिपटे होते हैं। इसकी शाखाओं तथा पत्रादि से दुग्ध निकलता है। इसके गुण और प्रयोग आगे रक्तार्क के साथ ही दिये गये है।

२४ रक्तार्क (अर्क)

ले०—*Calotropis procera* (केलोट्रोपिस् प्रोसेरा)।

यह भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों में उष्ण एवं शुष्क स्थानों में पाया जाता है। यह हिमालय के निचले भागों में तथा उत्तर पश्चिम में उसके समीप के मैदानों में अधिक होता है। वजीरिस्तान, अफगानिस्तान, पर्शिआ, अरब, इजिप्त तथा अफ्रीका का उष्ण प्रदेश इन स्थानों में भी यह पाया जाता है। इसका क्षुप-स्वावलंबी एव प्रायः ६-८ फीट ऊँचा होता है। पत्र-अवृन्त, प्राय: २।-६ इच लंबे, १।।-३। इञ्च चौडे, चौडे लट्वाकार-आयताकार, अण्टाकार या अभिलट्वाकार होते हैं। पुष्प-१ इञ्च व्यास के, सुगध युक्त एव गुच्छों में आते हैं। अन्तर्दल श्वेताभ रहते हैं तथा सीधे ऊपर की ओर उठे हुये दलखण्डों के ऊपर जामुनी (आनीलारुण) रग के दाग होते हैं। फल-३-४ इञ्च लवे, २-३ इञ्च चौडे, गोल अडाकार होते हैं। बीज-रूईदार श्वेतार्क की तरह ही होते हैं। इसके पत्ते आदि से भी दूध निकलता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के अर्क के मूल, पत्र, पुष्प एव क्षीर आदि का औषध में उपयोग किया जाता है। इनके मूल की छाल का विशेष उपयोग किया जाता है। इसके छोटे, मुडे हुवे, २-५ मि. मि. मोटे एव २-३.५ से मि. चौडे टुकडे होते हैं। कभी- कभी इनमें उपमूल लगे रहते हैं। इसका बाह्यभाग मुलायम, हलके पीतवर्ण (Buff) का एव लंबाई में नालीदार होता है एव अन्दर की सतह हलके पीले रग की एव रवेदार होती है। इसका भग्न छोटा एवं दुग्ध युक्त होता है। इसमें गध नहीं होती तथा इसका स्वाद कडुआ एव तीता होता है। ग्रीष्मऋतु में पुराने से पुराने वडे (के जाइगेन्टीआ) क्षुप के मूलकी छाल को निकाल कर, शीतल जल से जल्दी धोकर खुली हवा में सुखावें। धूप में न रखें। जब उसमें का दूध सूख जाय तब ऊपर की कार्कयुक्त सतह निकाल कर बाकी भाग को सुखा एव चूर्ण बना हवाबद बोतलों में रखें।

औषध के अतिरिक्त इसके बीजों की रूई एव छाल से ततुनिर्माण किया जा सकता है। इसके दुग्ध का चमडे के व्यवसाय में उपयोग किया जाता है। इससे नये चमडे की दुर्गंध दूर होकर उसका रग पीला हो जाता है। चमडे के बालों को साफ करने के लिये भी इसका उपयोग करते हैं।

इसके किसी-किसी वृक्ष पर एक प्रकार का शर्करावत् निर्यास सग्रहीत होता है ऐसा हकीम मानते हैं जिसे 'सुक्करूलउषर' कहा जाता है। जिन जातियों में लडकियों की हत्या की प्रथा है उनमें इसके दुग्ध को जबरदस्ती बच्चे को पिलाते हैं। गर्भपात के लिये भी इसका आतरिक तथा स्थानिक प्रयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—के जाइगेन्टीआ के मूल की छाल में बीटा-एमाइरिन (B.-amyrin) एव जाइगेन्टीओल् (Giganteol) तथा आइसो जाइगेन्टीओल् (Iso Giganteol) ये दो समाजिक रवेदार सुषव (Isomeric crystalline alcohols) पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसकी **मूलत्वक्** कटु, तिक्त, उष्ण, दीपन, पाचन, स्वेदजनन, पित्तस्रावी, कफघ्न, वामक, उद्वेष्टननिरोधी, रसग्रयी एव त्वचा के लिये उत्तेजक, जीवनविनिमय क्रिया को उत्तेजित करने वाली, वल्य एवं रसायन है। अल्प मात्रा में यह उत्तम स्वेदल एव कफनिःसारक होते हुए भी अधिक मात्रा से इससे वमन, विरेचन तथा प्रक्षोभ उत्पन्न होता है। इसका वामक प्रभाव आमाशयप्रक्षोभ एव वमनकेन्द्र की उत्तेजना से होता है। इसका उद्वेष्टननिरोधी गुण साधारण है किन्तु उसका श्वासनलिकाओं पर स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है। रसायन होने के कारण इसे वानस्पतिक पारद कहा जाता है। इससे यकृत् की क्रिया अच्छी होकर पित्तस्राव ठीक होने लगता है। इसका उत्सर्ग त्वचा के द्वारा होने के कारण इससे त्वचा पर उत्तेजक प्रभाव दिखलाई देता है एव छोटी रक्तवाहिनियों का विस्फार होता है।

(१) रक्तविकार, कुष्ठ, उपदंश या किसी भी कारण से उत्पन्न व्रण में इसका आंतरिक एवं बाह्य प्रयोग करते हैं। श्लीपद में इसके साथ रसकपूर या रससिन्दूर, सुरमा (स्रोतोञ्जन) एवं सांभरसींगभस्म देते हैं तथा कांजी में पीसकर शोथ पर लेप करते हैं। उपदंश में पारद की तरह इसका उपयोग होता है। उपदंश की द्वितीयावस्था में त्वचा पर उत्पन्न चकत्ते आदि इससे कम होते हैं। वद (Bubo) तथा गंडमाला में इसको खिलाते तथा इसके दूध को लगाते हैं। सभी प्रकार के चर्मरोगों में छाल को जल में पीस कर लगाते हैं या खुजली अधिक होने पर निमोली के तैल में घिसकर लगाते हैं। विशेषकर पुराने त्वग्रोगों में इससे अधिक लाभ होता है।

(२) सभी प्रकार के कफविकारों में इससे लाभ होता है। १५-३० र० चूर्ण को खिलाने से इपिकाक की तरह १ घंटे के अंदर वमन होकर कफ बाहर निकल जाता है तथा कभी कभी विरेचन भी होता है। प्रतिश्याय तथा गले का नूतन शोथ, श्वासनलिकाशोथ आदि में घोडवच के साथ अर्कादिचूर्ण (अर्कचूर्ण २, अफीम १, सैंधव ७, मात्रा-३-७ र०) का उपयोग किया जाता है। तमकश्वास तथा श्वसनिकाभिस्तीर्णता (Bronchiectasis) आदि व्याधियों में इसके प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है।

(३) यकृत् एवं प्लीहावृद्धि तथा उससे उत्पन्न उदर, पित्त का स्राव ठीक न होने के कारण उत्पन्न अतिसार तथा नई एवं पुरानी आँव में इसका बहुत उपयोग किया जाता है। आँव में छाल को ३०-४० रत्ती की बडी मात्रा में देना चाहिये किन्तु इसके साथ अफीम एवं सुगन्धि पदार्थ भी देने चाहिए अन्यथा वमन की संभावना रहती है। कुपचन में १ रत्ती छाल देने से पचनशक्ति बढ़ती है।

(४) जीर्ण ज्वर एवं विसर्गी ज्वर में इसका फांट पिलाते हैं। मलेरिया में इसकी छाल पान के साथ खिलाते हैं।

(५) जीर्ण आमवात में अर्कादिचूर्ण सोंठ के साथ रात को देने से पसीना होता है, संधिशूल कम होता है एवं निद्रा आती है।

इसके **दुग्ध** का मोटा लेप करने से त्वचा का दाह होकर फोड़े उत्पन्न होते हैं किन्तु पतला लेप अल्प वेदनाहर एवं लोमशातक है। इसके आन्तरिक प्रयोग से अत्यन्त विरेचन होता है। इसके गुण भी मूल की तरह ही होते हैं किन्तु इसका कम जादा प्रभाव होता है।

(१) यकृत् एवं प्लीहावृद्धि तथा तज्जन्य उदर में इसका आन्तरिक प्रयोग करते हैं।

(२) मोच, मरोड एवं संधिशोथ में नमक में इसको मिलाकर लगाने से सूजन कम होती है। दारुहरिद्रा के चूर्ण में इसको मिलाकर उसकी बत्ती भगंदर तथा नाडीव्रण में डालते हैं। दाद एवं छाजन आदि त्वचा के रोगों में एवं आमवात में इसको हलदी के साथ तिल के तैल में उबालकर मालिश करते हैं। अर्श में यद्यपि इसका लेप करते हैं तथापि इससे बहुत तकलीफ होती है। मुखरोगोंमें मधु के साथ इसे लगाते हैं। कृमिदन्त में दाँत के गढ़े में इसे लगाने से दर्द कम होता है।

इसके **पुष्प** दीपन, पाचन, कफघ्न एवं उद्वेष्टननिरोधी हैं। मूल की अपेक्षा ये गुण इसमें अधिक स्पष्ट दिखलाई देते हैं।

(१) क्षुधानाश तथा कुपचन में इससे अच्छा लाभ होता है।

(२) खाँसी एवं दमा में इसके फूलों को राब में उबालकर देते हैं।

इसके **पत्ते** वातहर, शोथहर, व्रणशोधक, व्रणरोपक एवं आनुलोमिक हैं।

(१) जीर्ण व्रण पर इसका चूर्ण डालने से व्रण जल्दी अच्छे होते हैं।

(२) इसके पत्तों को रेंडी का तेल लगाकर गरम करके सूजन पर बाँधने से सूजन तथा पीडा कम होती है।

(३) बच्चों के आध्मान में पेट पर इनको बाँधने से एकाधबार पाखाना होकर आध्मान कम होता है।

(४) इसके पत्तों को तेल में उबालकर चोट पर उसकी मालिश की जाती है।

(५) इसके पत्ते एव सैंधव को समान भाग में लेकर वन्द हाँड़ी में गरम करके बनाई हुई राख तक्र के साथ उदररोग में देते हैं।

मात्रा-मूलत्वक्चूर्ण १½-२½ रत्ती; वामक १५-३० रत्ती; दुग्ध १-२ रत्ती; पत्रचूर्ण २ रत्ती-१ माशा; फूल १-३ रत्ती।

अथ सेहुण्डः [सेहुण्ड, थूहर]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

सेहुण्डः सिंहतुण्डः स्याद्वज्री वज्रद्रुमोऽपि च। सुधासमन्तदुग्धा च स्नुक् स्त्रियां स्यात्स्नुही गुडा ७३
सेहुण्डो रेचनस्तीक्ष्णो दीपनः कटुको गुरुः। शूलामाष्ठीलिका[1]ऽऽध्मानकफगुल्मोदरानिलान्॥७४॥
उन्मादमोह[2]कुष्ठार्शः शोथमेदोऽश्मपाण्डुताः। व्रणशोथज्वरप्लीहविषदूषीविषं हरेत्॥ ७५॥

सेहुंड (थूहर) के नाम तथा गुण—सेहुंड, सिंहतुण्ड, वज्री, वज्रद्रुम, सुधा, समन्तदुग्धा, स्नुक् (स्नुह्), स्नुही (स्त्रीलिङ्ग में होता है) और गुटा ये सब संसकृत नाम थूहर के हैं। **थूहर**—रेचक, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, कटु रस युक्त तथा गुरु होता है। यह—शूल, आमदोष, अष्ठीलिका, आध्मान, कफ-गुल्म, उदररोग, वात, उन्माद (पागलपन), मोह (मूर्च्छा), कुष्ठ, बवासीर, शोथ, मेदरोग, पथरी, पाण्डुरोग, व्रणशोथ, ज्वर, प्लीहा, विष और दूषीविष को दूर करता है॥ ७३-७५॥

अथ स्नुहीदुग्धगुणानाह

उष्णवीर्यं स्नुहीक्षीरं स्निग्धञ्च कटुकं लघु। गुल्मिनां कुष्ठिनाञ्चापि तथैवोदररोगिणाम्॥७६॥
हितमेतद्विरेकार्थे ये चान्ये दीर्घरोगिणः।

थूहर का दूध—उष्णवीर्य, स्निग्ध, कटुरसयुक्त और लघु होता है तथा यह गुल्म, कुष्ठ और उदररोग वालों के लिये एवम् जो दीर्घकाल से रोगी हैं उनके लिये भी विरेचन कराने में हितकर है॥ ७६-७७॥

नोटः—सेहुण्ड की कई जातियाँ पाई जाती हैं। जिस सेहुण्ड में बहुत काँटे हों वह, अल्प एवं तीक्ष्ण काँटे वाले सेहुण्ड की अपेक्षा अच्छा माना गया है।[3] इसी प्रकार २-३ वर्ष पुराने सेहुण्डवृक्ष से शिशिर-ऋतु-के अन्त में दुग्ध निकाल कर व्यवहार करने को लिखा है।[4] सुश्रुत ने (सु. अ. ३९) अधोभागहरगण में सेहुण्ड के मूल और क्षीर दोनों का उपयोग करने को लिखा है तथा स्नुक् एवं महावृक्ष ये दो अलग-अलग द्रव्य लिखे हैं। सुश्रुतने (सु. अ. ३८) श्यामादिगण में सुधा नाम से इसका उल्लेख किया है। चरक ने इसके दुग्ध को तीव्रतम विरेचन माना है तथा उचित प्रयोग से यह दोषों के महान् सचय को भी शीघ्र हरता है ऐसा लिखा है। किन्तु मृदुकोष्ठ वाले में, दोषों का संचय अल्प होने पर एव अन्य उपाय से रोगी अच्छा हो सकता हो तो इसके प्रयोग का निषेध किया है।[5] चरक (सू. अ. १) में षोडशमूलिनी ओषधियों में अधोगुडा शब्द आया है। उसका अर्थ श्रीभगीरथजी स्वामी ने 'गुडायाः (स्नुहेः) अधः

---

१. शूलमष्ठीलिका इति पाठा०।

२. मेह इति पाठा०।

३. द्विविधः स मतो यश्च बहुभिश्चैव कण्टकैः।
सुतीक्ष्णैः कण्टकैरल्पैः प्रवरो बहुकण्टकः। (च. क. अ. १०)

४. तं विपाट्याहरेत्क्षीर शस्त्रेण मतिमान् भिषक्।
द्विवर्षं वा त्रिवर्षं वा शिशिरान्ते विशेषतः॥ (च क अ. १०)

५ विरेचनानां सर्वेषां सुधा तीक्ष्णतमा मता। सघात हि भिनत्याशु दोषाणा कष्टविभ्रमा॥
तस्मान्नैषा मृदौ कोष्ठे प्रयोक्तव्या कदाचन। न दोषनिचये चाल्पे सति चान्यपरिक्रमे॥
पाण्डुरोगोदरे गुल्मे कुष्ठे दूषीविषार्दिते। श्वयथौ मधुमेहे च दोषविभ्रान्तचेतसि॥
रोगैरेवविधै ग्रस्त ज्ञात्वा सप्राणमातुरम्। प्रयोजयेन्महावृक्ष सम्यग्स ह्यवचारितः॥
सद्यो हरति दोषाणां महान्तमपि संचयम्। (च. क. अ. १०)

(अधोभागः मूलं) इति अधोगुडा' यह लिखा है तथा श्रीयादवजी ने इसका समर्थन किया है। (द्रव्यगुणविज्ञानम्, उत्तरार्ध द्वितीय खण्ड, पृ० ३३०)।

आधुनिक उद्भिदवेत्ताओं ने इसकी निम्नलिखित जातियों का वर्णन किया है। यु० तिरुकेल्लि को कुछ लोगों ने सातला माना है तथा उसका वर्णन सत्पला के अन्तर्गत किया गया है।

१. Euphorbia neriifolia (युफोर्बिआ नेराइफोलिया), सेहुण्ड, थोहर, मन्सासिज।
२. E. nivulia (यु० निवुलिया), एटके, सिज, सेहुण्ड।
३. E. antiquorum (यु० एन्टिक्वोरम्), तिधारा सेहुण्ड।
४. E. trigona (यु० ट्राइगोना), तिधारा सेहुण्डभेद।
५. E. ligularia (यु० लिगुलेरिया), पंचधारा सेहुण्ड।
६. E. tirucalli (यु० तिरुकेल्लि), लंकासिज, अंगुलिया यूहर, छिमिया सेहुण्ड।
७. E. roylear [illegible] ० रायलिआना), थोर, सुरू।

२५ थूहर

हि०–थूहर, सेंहुड, सेंहुर, सेंड, मुठरिया सीज, मुठिया सीज, सीज, सौझ, थोहर, एटके। **सं०**–मनसा सिज। **म०**–वई निवडुङ्ग, मिनगुटयोर। **गु०**–थोर, कांटलो, कटालो। **ते०**–आकुजे, मुडु। **ता०, क०, मल**–इल्लैकल्लि। **फा०**–लादनाम्। **अ०**–जकुमफर्य्युन। **अं०**–Milk Hedge (मिल्क् हेज), Common Dulkhedge (कामन् डक हेज)। **ले०**–*Euphorbia neriifolia* (युफोर्बिआ नेराइफोलिआ)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसिइ)।

यह बङ्गाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, पश्चिमोत्तरप्रदेश, दक्षिण तथा अन्य प्रान्तों में पाया जाता है।

इसका **झाड़**–१०-१२ फीट तक ऊँचा होता है। **शाखाएँ**–सीधी, गोल और गूदेदार होती हैं। इसके डंठल और शाखाओं पर जगह-जगह काँटे रहते हैं और काँटे चौथाई से आध इञ्च तक लम्बे जोड़े में होते हैं। **लकड़ी**–कोमल होती है। प्रायः शाखाओं के अन्त में चारों ओर से गुच्छाकार **पत्ते** लगे रहते हैं। वे पत्थरचट्टे के समान मोटे ६ से १२ इञ्च तक लम्बे, अभि-लट्वाकार होते हैं। अधःपत्रावलि (Involucre) पीताभ होती है। **फूल**–छोटे-छोटे हरापनयुक्त पीले और बीजकोष–आधा इञ्च तक चौड़े होते हैं। **बीज**–चपटे तथाकोमल लोमयुक्त होते हैं। इसकी शाखाओं और पत्तों से दूध निकलता है।

इसकी दूसरी जाति यु० निवुलिया (E. nivulia) के **वृक्ष**–१०-३० फीट ऊँचे, **शाखाएँ**–सीधी, गोल, खण्डमय, चक्राकार क्रम में निकली हुई और सीधे दो-दो एक साथ कंटकीभूत उपपत्रों से युक्त होते हैं। **पत्ते**–अस्थायी, मासल, ९ इञ्च लम्बे, २½ इञ्च चौड़े, रेखाकार अभि-प्रासवत् अथवा स्रुवाकार कुण्ठिताग्र और अवृन्त होते हैं। शीत व ग्रीष्मकाल में पत्ते नहीं रहते। एकाभव्यूह (Cyathium) में अधः पत्रावलि (Involucre) पीली होती है। ये पौधे विशेषकर शुष्क तथा नग्न पहाड़ियों पर अधिक होते हैं। पहली जाति के पौधे गाँवों की बाड़ों पर अधिक पाये जाते हैं।

चिकित्सा में इनके ताजे वा सुखाये दुग्ध, पत्र एवं मूल का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें युफोर्बिन, राल, गोंद, रबर की तरह पदार्थ एवं कॅल्शियम् मलेट ये पदार्थ पाये जाते हैं। सेहुण्ड की जाति में पाये जाने वाला दाहजनक द्रव्य इसमें बहुत रहता है।

गुण और प्रयोग—इसका क्षीर अत्यन्त तीव्र विरेचन है। इससे वमन तथा पानी की तरह जुलाब होते हैं। इसके काण्ड का रस रेचन है। इसके पत्र का रस मूत्रजनन है। इसके मूल का रस उत्तजक एवं उद्वेष्टननिरोधि है।

(१) उदररोग में इसका क्षीर देते हैं। मिरिच को इसके क्षीर में डुबोकर सुखाकर रखते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर १-२ मिरिच के दाने खिलाते हैं। इसी प्रकार पिप्पली लौह एवं त्रिवृतमूल आदि को इसके क्षीर की भावना देकर उनका उपयोग अत्यन्त तीव्र विरेचन की आव-

श्यकता होने पर करते हैं। उदर रोगी को विबन्ध होने पर भोजन के पूर्व इसके पत्तों का शाक खिलाते हैं। क्षीर चर्म पर लगने से दाह उत्पन्न होकर फोटे उत्पन्न होते हैं।

(२) इसकी जड को मिरिच के साथ सूतिका-ज्वर एवं सर्पविष में देते हैं।

(३) इसके कांड का स्वरस त्वचा पर मलने से त्वचा लाल होती है। चर्मकील (Warts) में इसे लगाने से वे गिर पडते हैं। जीर्ण आमवात में सधिपीडा होने पर इसका स्वरस निर्गुण्डी के तेल में मिलाकर मलते हैं। इसके काण्ड को भूनकर उसका स्वरस निकाल कर मधु, टंकणक्षार तथा अडूसा के साथ कफविकारों में देते हैं। केवल स्वरस को कर्णशूल में डालते हैं।

(४) तमकश्वास में पत्तों का स्वरस या काण्ड का रस मधु के साथ देते हैं।

(५) व्रण में इसके क्षीर को घृत के साथ मिलाकर लगाया जाता है।

मात्रा—मूल २ से ४ रत्ती, स्वरस २-५ बूँद; क्षीर ½-१ रत्ती।

२६ तिधारा थूहर

सं०—वज्रकण्टक, वज्री। **हि०**—तिधारासेंहुड, तिधारा थूहर। **बं०**—बाजबारग, तेशिरेमनसा, तेकाँटासिज। **म०**—तीनधारी निवडुंग। **ता०, मल०**—चतुरकल्ली। **ते०**—बोम्मजेमुडु। **अं०**—Triangular sponge (ट्राएन्ग्युलर स्पॉन्ज्)। **ले०**—*Euphorbia antiquorum* (युफोर्बिआ एन्टिक्वोरम्)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसिइ)।

यह प्रायः सभी प्रान्तों में पाया जाता है। इसके **वृक्ष**—१२-२५ फीट ऊँचे होते हैं। **काण्ड**-खण्डमय और **शाखाएँ**-प्रायः ३ या कभी कभी ४-५ पक्षों वाली होती हैं। इन पर कंटकीभूत उपपत्र होते हैं जो छोटे होते हैं। काण्डखण्ड भी इसमें छोटे होते हैं तथा ऊपर के काण्टखंड प्रायः उतने ही लम्बे होते हैं जितने मोटे। **पत्ते**—छोटे-छोटे होते हैं तथा सब वृक्षों में नहीं होते **पुष्प**—द्विलिंगी प्रायः ½ इञ्च बडे हरिताभ पीत या लाल रग के होते हैं। **फल**—½ इञ्च बडे होते हैं। इसके दुग्ध, मूल एव काण्ड का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें युफोर्बिन ३५%, दो प्रकार की राल जिनमें से एक ईथर में घुलनशील तथा दूसरी न घुलने वाली, गोंद एव रबर सदृश पदार्थ १.५% ये द्रव्य पाये जाते हैं। थूहर के जाति में पाया जाने वाला दाहजनक द्रव्य इसमें बहुत अल्प मात्रा में है।

गुण और प्रयोग—यह कफघ्न, ज्वरघ्न, रेचन एव रक्तशोधक है। इससे कफ पतला होकर मुख एव गुदा के द्वारा निकल जाता है। इसका प्रयोग प्लीहावृद्धि, कामला, कुष्ठ तथा सर्पविष में किया जाता है।

(१) बच्चों के कफविकारों में इसके काड को गरम कर निकाले हुए रस में टंकणक्षार, मधु एव अडूसा मिलाकर बहुत प्रयोग किया जाता है। बच्चों को इससे नुकसान नहीं होता। यदि मात्रा अधिक भी हो जाय तो इससे अधिक से अधिक एकाध वमन होता है तथा पाखाना साफ होता है।

(२) इसके मूल का क्वाथ जीर्ण आमवात एवं उपदंश में दिया जाता है।

(३) इसके दुग्ध को आमवातिक पीडा, दतशूल एवं मरसे आदि में लगाते हैं।

(४) इसके दुग्ध को बेसन के साथ पकाकर गोली बनाकर सोजाक में देते हैं।

मात्रा—काण्डस्वरस बच्चों को १½-३ माशा, बडों को १½-२ तोला।

अथ सेहुण्डभेदः शातला। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शातला सप्तला सारा विमला विदुला च सा। तथा निगदिता भूरिफेना चर्मकषेत्यपि॥७८॥
शातला कटुका पाके वातला शीतला लघुः। तिक्ता शोथकफानाहपित्तोदावर्त्तरक्तजित्॥७९॥

शातला (सेंहुड भेद) के नाम एवम् गुण—शातला, सप्तला, सारा, विमला, विदुला, भूरिफेना और चर्मकषा ये सब संस्कृत नाम शातला के हैं।

शातला—पाक में कटु, वातकारक, शीतवीर्य, लघु और तिक्तरसयुक्त होती है तथा यह शोथ, कफ, आनाह, पित्त, उदावर्त तथा रक्त प्रकोप का नाश करती॥ ७८-७९॥

नोटः—सप्तला एक संदिग्ध द्रव्य है—चरक क. अ. ११ में 'सप्तला शंखिनी' कल्प का वर्णन है। वहाँ सप्तला के मूल का एवं शंखिनी के फल का जो अधिक शुष्क न हों तथा जिनका छिलका निकाल दिया गया हो उनका व्यवहार कफ की अधिकतायुक्त गुल्म, गरदोष, हृद्रोग, कुष्ठ, शोफ एवं उदररोग में करने को लिखा है क्योंकि यह विकासि, तीक्ष्ण एवं रूक्ष होता है।[1] चरक ने विरेचनद्रव्यों में (सू. अ. २, वि. अ. ८) इसका उल्लेख किया है। सुश्रुत में श्यामादि-गण में एवं उभयतोभागहर द्रव्यों में इसके स्वरस का तथा अधोभागहर द्रव्यों में मूल का उपयोग लिखा है। सप्तला के साथ साथ प्रायः प्रत्येक स्थान पर शखिनी का उल्लेख मिलता है। टीकाकारों ने शखिनी को यवतिक्ता तथा कहीं यवतिक्ता भेद लिखा है। सप्तला का अर्थ कहीं पर स्नुहीभेद तथा कहीं पर यवतिक्ताभेद किया गया है। कहीं पर 'बुध्नामाहुः' तथा 'अपरे श्रीफलिकामाहुः' इस प्रकार उल्लेख करते हुये बुध्ना या श्रीफलिका नामक वनस्पति की तरफ निर्देश किया है। कुछ लोगों ने पीतदुग्ध सेंहुण्ड को सप्तला लिखा है। उपर्युक्त वर्णन से यह मालूम होता है कि सप्तला यह कोई सेंहुड का ही भेद होगा। कुछ आधुनिक विद्वानों ने युफोर्बिआ तिरुकेल्लि (Euphorbia tirucalli) अंगुलिया थूहर–नामक सेंहुड के भेद को सप्तला माना है। श्रीमान् ठा. बलवन्त सिंह जी ने युफोर्बिआ ड्रेकन्क्युलॉइड्स (Euphorbia dracunculoids)–तितली के लिये सप्तला होने की सम्भावना पर विचार करने को लिखा है। (बिहार की वनस्पतियाँ, पृ. २४)

कुछ अन्य विद्वानों ने सप्तला को शिकाकाई (Acacia concinna) लिखा है। सप्तला के 'विमला', 'भूरिफेना' एवं 'चर्मकषा' के पर्याय शिकाकाई के होने की सम्भावना दर्शित करते हैं तथा यह भी वामक एव विरेचक है। कुछ लोगों ने ले०–*Origanum vulgare* (ओरिगॅनम् व्हलगेर्), हि०-**सथरा,** Fam. Labiatae (लेबिएटि) को सप्तला लिखा है जिसमें का सुगन्धि उडनशील तैल उत्तेजक एवं अतिसार में बल्य होता है तथा आमवात, दन्तशूल एवं कर्णशूल में उसका उपयोग किया जाता है।

यहाँ अगुलिया थूहर, तितली एवं शिकाकई तीनों का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

२७ सातला १ (अंगुलिया थूहर)

हिं०–अंगुलिया थूहर, छिमिया सेहुण्ड। **बं०**–जटालंका, लंकासिज। **म०**–निवल, थोर, शेर। **गु०**–डाडलीओ थोर, खरसाणी थोर। **ता०**–क्ळि। **ते०**–जेमुदु। **क०**–मोंडगलि। **मल०**–तिरुकळि। **ले०**–*Euphorbia tirucalli* (युफोर्बिआ तिरुकेल्लि)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह बंगाल, बिहार, सिन्ध, कोंकण एवं गुजरात आदि स्थानों में पाया जाता है। इसका आदिम स्थान अफ्रीका है।

इसका **वृक्ष**–छोटा, १५-२० फीट ऊँचा होता है। इसे कहीं से काटने से बहुत दूध निकलता है। इसकी मुख्य शाखायें सीधी परन्तु उपशाखायें हरी, चिकनी, चमकीली, गोल (घेरे में), चक्राकार निकली हुई और बहुत पतली होती हैं। इसपर कांटे नहीं होते। **पत्ते**–बरसात में ½ इञ्च तक लम्बे एव गूदेदार पत्र निकलते हैं। **बीजकोष**–चौथाई इञ्च लम्बा, धूसर वर्ण का एवं तीन भागों में विभक्त रहता है। **फल**–चपटा एवं **बीज**–गोलाकार तथा चिकना रहता है। इसके दुग्ध से मछली मरती है। इसके दुग्ध एवं छाल का प्रयोग चिकित्सा में किया जाता है।

रासायनिक संगठन—थूहर की तरह।

गुण और प्रयोग—इसका दुग्ध अत्यन्त प्रक्षोभकारक है। इससे वमन एव विरेचन होता है तथा त्वचा पर इसे लगाने से फोडे उत्पन्न होते हैं।

जीर्ण उपदंश में संधिपीडा के लिये इसके दुग्ध का प्रयोग करते हैं। नाडीशूल में दुग्ध का लेप लाभदायक होता है। इसको लगाने से मस्से गल कर गिर पडते हैं। इसको लगाते समय इसमें तिल का तेल मिला लेना चाहिये।

---

१. ते गुल्मगरहृद्रोगकुष्ठशोफोदरादिषु। विकासितीक्ष्णरूक्षत्वाद्योज्ये श्लेष्माधिकेषु तु॥ नातिशुष्कं फलं ग्राह्यं शखिन्या निस्तुषीकृतम्। सप्तलायाश्च मूलानि गृहीत्वा भाजने क्षिपेत्॥

विरेचन के लिये २ बूंद दुग्ध बेसन एव मधु के साथ गोली वना कर दिया जाता है। इसके कोमल कांड एवं मूल का क्काथ उदरशूल में दिया जाता है।

मात्रा—दुग्ध १-२ रत्ती।

२८ सातला २ (शिकाकाई)

हि०—शिकाकाई, सिकाकाई, चिकेकाई ऐला। **वं०**—वनरीठा। **म०**—शिकेकाई। **गु०**—चिकाखाई। **ता०**—शीयक्काय्। **ते०**—शीकाय। **क०**—शिगे। **ले०**—*Acacia concinna* (एकेसिआ कॉन्सिन्ना)। **Fam.** Mimosaceae (माइमोसेसिइ)।

उत्तर भारत तथा हिमालय में उत्पन्न होने वाले वृक्ष गुणों की दृष्टि से दक्षिण में होने वालों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानें जाते हैं। इसके गुल्म प्रायः कम मिलते हैं।

इसका **गुल्म** (क्षुप)-वहुत फैला हुआ, अत्यन्त काँटेदार एवं लवी आरोही शाखाओं से युक्त रहता है। उपशाखायें हल्की श्वेताभ और टेढे, मजबूत कांटो की पाँच कतारों से युक्त रहती हैं। **पत्ते**—पक्षाकार एवं पत्रक खट्टे होते हैं। **फूल**—मुण्डक (Capitulum) पीताभ श्वेत या गुलाबी रग के लगभग ½ इञ्च व्यास में होते हैं। **फली**—३-४ इञ्च लम्वी, १ इञ्च चौडी, मोटी, मांसल, चोंचदार एवं बीजों के वीच वीच सधियों पर सकुचित होती है। इसका स्वाद रीठे के समान परन्तु अधिक खट्टा, कम कडवा तथा अधिक तीता रहता है। इसे पानी में भिगोकर मसलने से रीठे के समान झाग निकलता है। सिर के वाल एव रेशमी वस्त्र धोने के लिये इसका उपयोग करते हैं। इसके पत्र एवं फली का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी फली में सॅपोनिन् (Saponin) ११.२%, मॅलिक् एसिड् (Malic acid) १२.७५%, राल १%, ग्लूकोज् १३.९%, गोंद एव रंजक द्रव्य २१.५%, तन्तु २२% एवं राख ३.७५% रहती है।

गुण और प्रयोग—इसकी फली उत्तेजक, कफघ्न, वामक एव आनुलोमिक है। इसकी क्रिया रीठा या सेनेगा जैसी होती है। इससे नाडी की गति कम होती है तथा मूत्र की मात्रा वढ़ती है। इसके पत्र खट्टे, रोचक, यकृदुत्तेजक तथा विरेचन होते हैं। इमली के वदले इनका उपयोग किया जा सकता है।

(१) पुराने कफविकारों में कफ पतला करने के लिये एवं श्वासावरोध कम करने के लिये इसके फलीयों का फांट (१-२०) २ से ४ तोले की मात्रा में देते हैं। इससे पाखाना भी साफ होता है।

(२) कामला में काली मिरिच के साथ इसके पत्तों का उपयोग किया जाता है। इससे विरेचन तथा कभी-कभी वमन भी होता है तथा पित्त का स्राव उचित होने लगता है। यकृत की क्रिया ठीक न होती हो तो भोजन में खटाई के लिये इसके पत्तों का एव लाल मिर्चा के स्थान पर काली मिरच का उपयोग किया जाता है।

(३) इसके फली के क्काथ से बाल धोने से जूए आदि मरती हैं, रूसी नष्ट होती है तथा केशवृद्धि होती है। क्काथ में वत्ती डुवोकर वच्चों के गुदा में डालने से पाखाना होकर कडी निकल जाती है।

मात्रा—फली का फांट २-४ तो०। पत्रचूर्ण २-४ माशा।

२९ सप्तला ३ (तितली)

हि०—जायची, तितली। **संथा०**—परवा। **वं०**—छागल पुपटी, जायची। **पं०**—कगी। **मद्रा०**—तिछा-काड। **ले०**—*Euphorbia dracunculoides* (युफोर्विआ ड्रॅकन्क्युलॉइडस्)। Fam Euphorbiaceae (युफोर्विएसिइ)।

इसके **क्षुप**—एकवर्षायु, प्रायः ४-८ इञ्च ऊँचे, चिकने तथा सामान्यतः धूसर वर्ण के होते हैं। इसमें पीताभ क्षीर होता है। शाखायें प्रायः द्विविभक्त क्रम में निकली हुई रहती हैं। **पत्ते**—अभिमुख (नीचे कुन्तल), अवृन्त, रेखाकार, रेखाकार प्रासवत् या रेखाकार आयताकार और .७-२ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्प**—पुष्पाकार व्यूह एकाकी और द्विविभक्त काण्ड के वीच में होते हैं।

इसे कुछ लोग यवतिक्ता भी मानते हैं क्योंकि जव आदि के साथ खेतों में ही इसके क्षुप अधिकतर पाये जाते हैं। श्रीयुत ठा. बलवन्त सिंह जी ने इसे सप्तला या शंखिनी होने की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है तथा उनके मत से इसकी सप्तला होने की अधिक सम्भावना है।

ग्रामीण इसके बीज तैल को जलाने के काम में लेते हैं। चर्म रोगों में भी यह उपयोगी बतलाया जाता है।

अथ कलिहारी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

कलिहारी तु हलिनी लाङ्गली शक्रपुष्प्यपि। विशल्याऽग्निशिखाऽनन्ता वह्निवक्त्रा च गर्भनुत्। कलिहारी सरा कुष्ठशोफार्शोव्रणशूलजित्॥ ८०॥

सक्षारा श्लेष्मजित्तिक्ता कटुका तुवराऽपि च। तीक्ष्णोष्णा कृमिहृल्लघ्वी पित्तला गर्भपातिनी॥८१॥

कलिहारी के नाम तथा गुण—कलिहारी, हलिनी, लाङ्गली, शक्रपुष्पी, विशल्या, अग्निशिखा, अनन्ता, वह्निवक्त्रा और गर्भनुत् से सब संस्कृत नाम 'कलिहारी' के हैं। **कलिहारी**—दस्तावर, कुष्ठ, शोथ, बवासीर, व्रण तथा शूल को नष्ट करनेवाली, क्षारगुणयुक्त, कफनाशक तथा तिक्त, कटु और कषायरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, कृमि को दूर करनेवाली, लघु, पित्तजनक तथा गर्भ को गिरानेवाली होती है॥ ८०-८१॥

३० कलिहारी

हिं०-कलिहारी, कलिकारी, करियारी, कलहिंस, कलारी, लांगुली, करिहारी। **बं०**-विषलांगुली, उलटचण्डाल। **म०**-कललावी, इदै, लालि, खड्यानाग, नागकरिआ। **गु०**-कलगारी, दूधियोबछनाग। **क०**-लागुलिक। **पं०**-मलिम, करियारी। **मा०**-राजाराड। **ते०**-अग्निशिखा, अडविनाभी। **ता०**-कलईपैकिशंगु। **मल०**-मेथोन्नि। **अं०**-The glory lily (दि ग्लोरी लिलि), Tiger's claws (टाइगर्स क्लॉज़)। **ले०**-*Gloriosa superba* (ग्लोरिओझा सुपर्बा)। Fam. Liliaceae (लिलीएसिइ)।

भारत के प्रायः सभी प्रान्तों के जंगल झाड़ियों में आप ही आप उत्पन्न होती है तथा वर्मा एवं लंका में भी पाई जाती है।

इसकी **लता**—मृदु, आरोहणशील और सुन्दर होती है जो झाड़ियों या छोटे वृक्षों के ऊपर चढ़ी हुई पाई जाती है। **काण्ड**—पतला, कलम जितनी मोटाई का, गोल, मृदु एवं हरे रंग का होता है। यह १॥-२ फीट लम्बी होने पर भूमि की ओर नत हो जाती है किन्तु जबउ से किसी दूसरे वृक्ष का आश्रय मिलता है तब उसके सहारे ८-१० फुट तक ऊँची बढ जाती है। यह चौमासे के प्रारंभ में निकलती है और शीतकाल के पहले ही सूख जाती है। इसका **भौमिक तना** हलाकार टेढ़ा, बेलनाकार परन्तु जगह-जगह कुछ सकुचित रहता है। इसीसे प्रतिवर्ष इसकी पुनरुत्पत्ति होती है। **पत्ते**—विषमवर्त्ती, ३ से ९ इञ्च तक लम्बे, पौन से एक इञ्च तक चौड़े, प्रायः विनाल, लट्वाकार-मालाकार एव उनके अग्र सूत्राकार होते हैं जिनसे आश्रय को लपेट कर यह बढ़ती है। वर्षा के अन्त में इसमें फूल आते हैं। **फूल**—व्यास में ३-४ इञ्च, अधोमुखी और सुन्दर होते हैं। **पुष्पनाल**—३-६ इञ्च लवा और उसका अग्र टेढा होता है। **पंखुड़ियाँ**—६, लहरदार, नीचे आधार की ओर पीताभ, ऊपर नारंगी लाल और अन्त में पूर्णतः लाल होती हैं तथा जैसे-जैसे इनका विकास होता है वैसे-वैसे इनका रंग भी पीत से रक्त होता जाता है। **फलियाँ**—केराव की फलियों के समान होती हैं। उनमें केराव के आकार के गोल-गोल लाल रङ्ग के बीज होते हैं।

कंदों के भेद से कलिहारी दो प्रकार की मानी जाती है। जिसका कन्द लम्बा, गोल, दो भागों में विभक्त अथवा दो लम्बे टुकडे समकोण के समान जुडे हुए होते हैं वह पुरुषजाति और जिसका कन्द गोल, किञ्चित् लम्बा एक ही रहता है वह स्त्री जाति कहलाती है। पुरुषजाति की जड़-फूलने के समय संग्रह करनी चाहिये और स्त्रीजाति का कन्द फलने के बाद संग्रह किया जाता है।

इसके **कन्द** (भौमिक तना) का व्यवहार किया जाता है। यह श्वेत, मृदु, मांसल और स्वाद में तिक्त होता है। इसकी गणना सप्त उपविषों में की गई है यद्यपि यह साधारण मात्रा में विषैला नहीं है। सुखप्रसव एवं अपरापातन के लिये इसके लेप धारण आदि का विधान है।

लांगली यह नाम कैंवाच के लिये भी आया हुआ है। कुछ लोग भूल से कोस्टस् स्पेसिओसस् (Costus speciosus) को लांगली मानते हैं जो वास्तव में केमुक है।

शोधन—इसके कन्द को टुकडे कर चार-पांच दिन कुछ सैंधव मिश्रित तक्र में भिगोकर गरम जल से धोकर सुखा लेने से इसका विष कम हो जाता है। प्रतिदिन तक्र नया डालना चाहिये। १ दिन गोमूत्र में भिगोकर रखने से भी यह शुद्ध हो जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें दो रालें, कषाय द्रव्य एक कडुआ विषैला क्षाराभ सुपर्वाइन (Superbine) एवं अन्य क्षाराभ ग्लोरिओसाइन (Gloriosine) ये द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कटु, उष्ण, दीपन, बल्य, वामक, रेचक, पित्तविरेचक, गर्भघातक एवं कृमिघ्न है। इससे आक्षेप एवं पचननलिका तथा गर्भाशय का दाह होता है। १-२ रत्ती की मात्रा में इससे भूख एवं शक्ति बढ़ती है।

इसका प्रयोग सोजाक, त्वग्रोग, विच्छू एवं सर्पविष, कुष्ठ, अर्श एवं कृमि में किया जाता है। यह गर्भ के लिये हानिप्रद माना जाता है।

(१) इसके कंद को कूट कर जल में बहुत देर तक धोते हैं जिससे नीचे पिष्टवत् पदार्थ जमता है। उसका प्रयोग सोजाक में करते हैं।

(२) इसके कद को पीसकर शुष्क त्वग्रोगों में एवं विच्छू आदि के काटने पर करते हैं जिससे वेदना कम होती है।

मात्रा—१-२ रत्ती।

अथ श्वेतरक्तकरवीरौ। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

करवीरः श्वेतपुष्पःशतकुम्भोऽश्वमारकः। द्वितीयो रक्तपुष्पश्च चण्डातो लगुडस्तथा॥ ८२॥
करवीरद्वयं तिक्तं कषायं कटुकञ्च तत्। व्रणलाघवकृन्नेत्रकोपकुष्ठव्रणापहम्॥ ८३॥
वीर्योष्णं कृमिकण्डूघ्नं भक्षितं विषवन्मतम्॥ ८४॥

सफेद और लाल करवीर (कनेर) के नाम तथा गुण—करवीर, श्वेतपुष्प, शतकुम्भ और अश्वमारक ये सब 'सफेद कनेर' के सस्कृत नाम है। 'लाल कनेर' सस्कृत नाम-रक्तपुष्प, चण्डात और लगुड ये सब हैं। दोनों **कनेर**-तिक्त, कषाय और कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य और व्रण में लघुता कारक होते हैं एवम् ये दोनों नेत्रकोप (नेत्रसम्बन्धी रोगविशेष), कुष्ठ, व्रण, कृमि और खुजली को नष्ट करते हैं। यह खालेने पर विष की भाँति हानिकारक होते हैं॥ ८२-८४॥

नोट—भावप्रकाशकार ने इसके श्वेत एव रक्त ये दो भेद लिखे हैं। धन्वन्तरीनिघण्टु में भी इसके दो भेद मिलते हैं किन्तु राजनिघण्टु ने श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्ण ये ४ भेद लिखे हैं। यह अत्यन्त विषैला होने के कारण इसका आंतरिक प्रयोग बहुत कम मिलता है। भावप्रकाश में 'भक्षित विषवन्मतम्' एवं ध० नि० में 'प्रक्षेपाद्विषमन्यथा' ऐसा लिखने से मालूम होता है कि इसका वाह्य प्रयोग ही अधिक किया जाता था। चरक एव सुश्रुत में भी कुष्ठ एव व्रण आदि के लिये इसके प्रयोग मिलते हैं। किन्तु चरक में कुष्ठ के लिये एवं सुश्रुत में अश्मरी और उदर के लिये इसके आन्तरिक प्रयोग भी मिलते हैं।[1] आन्तरिक प्रयोग के समय बहुत सावधानी की आवश्यकता है।

---

१ स्नाने पाने च मत. तथाष्टमश्चाश्वमारस्य (च. चि. अ. ७-९५)। दूष्योदारण तु प्रत्याख्याय······शुद्धकोष्ठन्तु मथेन अश्वमारकगुञ्जाकाकादनी मूलकल्कं पाययेत् इक्षुकाण्डानिवा (सु. चि. अ. १४-८)। तिलापामार्गकदलीपलाशयववल्कजः। क्षारः पेयोऽविमूत्रेण शर्करानाशनः परः। पाटलाकरवीराणा क्षारमेव समाचरेत् (सू. चि. अ. ७-२२-२३)।

आधुनिक विद्वानों ने श्वेत, रक्त एवं पीत इन ३ भेदों का ही उल्लेख किया है। कृष्ण करवीर का उल्लेख नहीं मिलता। श्वेत एवं रक्त करवीर का एक ही लेटिन नाम है। केवल पुष्प वर्ण में भिन्नता है। यहाँ पर श्वेत एव रक्त का एक साथ तथा उसके पश्चात् पीत करवीर का वर्णन किया गया है। चिकित्सा में श्वेत एव रक्त करवीर का ही अधिक व्यवहार किया जाता है।

३१ कनेर (श्वेत एवं रक्त)

हिं०–कनेर, कनइल, कनैल, करवीर। **वं०**–करावी, करवी। **म०**–कण्हेर। **गु०**–कणेर, करेण। **ता०**–अलरी। **ते०**–कस्तूरिपट्टे, गन्नेस। **क०**–कणगिलु। **मल०**–कणावीरम्। **सथा०**–राजवाड़ा। **पं०**–कनिर। **अ०**–दिफ्ली, सम्मुलहिमार। **फा०**–खरजह्‌रा। **अं०**–Sweet-scented oleander (स्वीट सेंटेड ओलिएण्डर), Rooseberry spurge (रूजबेरी स्पर्ज)। **लै०**–*Nerium odorum* (नेरियम् ओडोरम्)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसिइ)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। दक्षिण एवं उत्तरप्रदेश में यह जंगली होता है। बगीचों में फूलों के लिये यह लगाया हुआ मिलता है।

इसका **क्षुप**–मजबूत, सदा हरित, सीधी शाखाओं से युक्त एवं प्रायः १० फीट से अधिक ऊँचा नहीं होता। **पत्ते**–४-६ इञ्च लँवे, करीव १ इञ्च चौडे, नुकीले एव एक साथ ३-३ रहते हैं। **फूल**–सुगन्धयुक्त, श्वेत, रक्त एवं गुलावी वर्ण के, करीब १½ इञ्च व्यास के एवं व्यस्त छत्राकार (Salver shaped) होते हैं। **फली**–करीव ५-६ इञ्च लंवी, चिपटी एवं गोलाकार होती है। **वीज**–भूरे वर्ण के रोमावृत अनेक वीज होते हैं। इसके काण्ड को काटने से दुग्ध वहता है।

इसके सभी भाग विषैले होते हैं। जानवर इसको नहीं खाते। आत्मघात, परहत्या एवं गर्भपात आदि के लिये इसके जड़ को खाते है। इसके पुष्प शिवजी को चढाये जाते हैं। इसके मूलत्वक् एवं पत्र का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में नेरिओडोरिन (Neriodorin) नामक जल में अविलेय तथा नेरिओ डोरेन (Neriodorein) नामक जल में विलेय ये दो कडुवे पदार्थ पाये जाते हैं जो हृदय के लिये अत्यन्त विषैले होते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें उडनशील तैल, कषायाम्ल, मोम, डिजिटॅलिन के सदृश नेरिन (Neriene) नामक रवेदार पदार्थ एव रोसेजिनीन (Rosaginine) नामक ग्लूकोसाइड ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसके पत्तों में ओलिएण्ड्रिन (Oleandrine) नामक क्षाराभ, सूडोक्युरारीन (Pseudocurarine) नामक ग्लूकोसाइड एव नेरीन तथा नेरिएण्टाइन (Neriantine) ये द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, चक्षुष्य, ज्वरहर, शोथघ्न, हृदय के लिये घातक एवं कुष्ठ, कण्डू, नेत्रप्रकोप, त्वग्रोग तथा व्रण के लिये लाभदायक है। यह सब प्राणियों के लिये विषैला है। अल्प मात्रा में इसके मूल की क्रिया हृदय पर पीत कनेर की तरह होती है। मूल तीव्र मूत्रल एवं डिजिटॅलिस् तथा स्ट्रोफॅन्थस् के सदृश हृदय के लिये वलदायक है। पीत कनेर की अपेक्षा यह अधिक तीव्र है। ओलिएण्ड्रिन के सूचिकाभरण से हृदय की गति १०-१२ तक प्रतिमिनट कम हो जाती है जो स्वस्थावस्था में ७२-८० तक रहती है। यदि इसको और देते रहें तो हृदय एवं श्वसन दोनों की क्रिया वन्द हो जाती है। इसका आन्तरिक प्रयोग वहुत सावधानी के साथ करना चाहिये।

(१) अल्प मात्रा में हृद्रोग एवं तज्जन्य जलोदर में इसका वहुत सावधानी के साथ प्रयोग करने से मूत्रोत्सर्ग होकर जलोदर कम होता है। इसे खाली पेट नहीं देना चाहिये। अधिक मात्रा से शीत आकर नाडी की गति वहुत कम हो जाती है, आक्षेप आते हैं एव हृदय तथा श्वसन क्रिया बन्द पडती है।

(२) सर्पदंश में इसकी जड की छाल १-२ रत्ती की मात्रा में या १-२ पत्ते थोडे-थोड़े अन्तर से देते हैं। इतनी अधिक मात्रा से वमन तथा एकाध दो पाखाना हो जाता है। ज्यादा से ज्यादा यह ६ माशे तक दिया जाता है।

(३) इसकी जड़ की छाल एवं पत्तों का वाह्य प्रयोग ही अधिक किया जाता है। त्वग्रोग, व्रणशोथ, कुष्ठ, कण्डू, शुष्क एवं पपटी युक्त त्वचा के विकारों में इसके मूलको तैल में पकाकर

उस तैल की मालिश करते हैं। शोथ में पत्ते के क्वाथ से सेंकते हैं। व्रण, अर्श, कुष्ठ, दाद तथा चकत्ता आदि पर इसकी जड को गोमूत्र में घिसकर लगाने से शोथ एवं पीडा कम होती है। अधिक दीर्घ व्रण में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये अन्यथा इसमें के सत्त्व का शोषण होकर तीव्र विषैले सार्वदेहिक परिणाम हो सकते हैं। उपदंशजन्य व्रण पर इसके मूल को जल में घिसकर लगाने से वेदना कम होती है एवं इसी प्रकार इसके पत्तों के क्वाथ से प्रक्षालन करने से भी लाभ होता है। इसके पञ्चाग के स्वरस से सिद्ध तैल का व्यवहार पामा, कण्डू आदि त्वचा के रोगों में किया जाता है। नेत्रकोप में कोमल पत्तों को तोडने से प्राप्त रस को टालने से लाभ होता है। पलित में इसको दूध में पीसकर लगाने से लाभ होता है।

मात्रा—मूलत्वक् चूर्ण $\frac{1}{2}$–१ रत्ती।

३२ कनेर (पीत)

हि०–पीला कनेर। **बं०**–कल्केफुल, कोलका फूल। **म०**–पिंवली कण्हेर। **गु०**–पीली करेण। **ता०**–पच्चैअलरि। **ते०**–पच्चागन्नेरु। **अं०**–Yellow oleander (यलो ओलिएण्डर); Exile Tree (एक्साइल् ट्री); Lucky nut (लकी नट)। **ले०**–*Thevetia nerifolia* (थिवेटिआ नेराइफोलिआ)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसिइ)।

यह प्रायः सभी प्रान्तों में पाया जाता है। उष्ण प्रदेशों में यह अधिक होता है। यह अमेरिका का आदिवासी है परन्तु अब भारत में सर्वत्र फैल गया है। इसके पुष्पों के लिये यह बगीचों में लगाया जाता है।

इसका **क्षुप**–सदाहरित, सुन्दर एवं करीब १२ फीट ऊँचा होता है। **पत्ते**–रेखाकार-भालाकार, चमकीले एवं नुकीले होते हैं। **फूल**–घटाकृति, पीतवर्ण के, किञ्चित् गन्धयुक्त, पाँच दलवाले तथा शाखाओं के अग्र पर होते हैं। **फल**–गोल, कच्ची अवस्था में हलके हरे रंग का तथा पकने पर भूरे रंग का १$\frac{1}{2}$–२ इंच व्यास का होता है जिसके अन्दर एक विशिष्ट त्रिकोणाकृति गुठली होती है। **बीज**–गुठली के अन्दर हलके पीतवर्ण के २ बीज रहते हैं। इसके प्रत्येक भाग से दुग्ध निकलता है।

इसके बीज अत्यन्त विषैले होते हैं तथा आत्महत्या, परहत्या एवं गर्भपात आदि के लिये प्रयोग किये जाते हैं। जानवरों के लिये भी यह विषैले होते हैं। इसकी छाल का व्यवहार चिकित्सा में किया जाता है। कोमल टहनियों की छाल को खुली हवा में सुखाकर प्रयोग करना चाहिये। सुखाकर रखी हुई छाल कुछ महीनों में निःसत्त्व हो जाती है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों के गूदे में ५७% तैल पाया जाता है जिससे एक थिवेटीन (Thevetin) नामक रवेदार, श्वेतवर्ण का ग्लूकोसाइड प्राप्त किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें अन्य विषैले तत्त्व भी रहते हैं। इसकी छाल में भी यह पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसका क्षीर दाहजनक तथा तीव्र विषैला है। इसकी छाल कड़वी, भेदन, प्रभावशाली ज्वरघ्न तथा नियतकालिक-ज्वरप्रतिबन्धक है। छाल की मात्रा अधिक होने से पानी की तरह पतले दस्त एवं वमन होता है। इसके फल से वमन होता है। छाल की क्रिया तीव्र होने के कारण इसको हमेशा कम मात्रा में ही प्रयोग करना चाहिये।

बिल्ली में इसके ग्लूकोसाइड के सूचिकाभरण से देखा गया है कि •२ ग्राम प्रति कि॰ ग्राम की मात्रा में देने से वह दो घण्टे के अन्दर मर जाती है। इसका मुख्य विषैला परिणाम हृदय की मांसपेशियों पर होता है।

तीव्र विषैला होने के कारण इसका आन्तरिक प्रयोग बहुत कम किया जाता है।

(१) पार्यायिक ज्वर में इसकी छाल का टिंक्चर (५ में १) १०, १५ बूंद की मात्रा में दिन में ३ बार दिया जाता है। १ रत्ती इसकी छाल का चूर्ण १५ रत्ती सिंकोना के बराबर गुणकारक होता है। $\frac{1}{2}$ रत्ती घनक्वाथ देने से ज्वर की पारी नहीं आती। ज्वर आने पर फांट का प्रयोग करते हैं। इसको खाली पेट कभी भी प्रयोग न करें। इससे बहुत पसीना होकर शरीर ठंडा होता है। यदि थकावट हो तो उष्ण दुग्ध एवं थोड़ी अच्छी मदिरा देनी चाहिये।

(२) हृदयरोग तथा हृदयोदर में इसके प्रयोग से हृदय को बल मिलता है जिससे रुधिराभिसरणक्रिया ठीक होने लगती है। वृक्कों में रक्ताभिसरण अधिक होने से मूत्रोत्सर्ग अधिक होकर उदर कम होता है। इसका यह प्रभाव डिजिटेलिस् तथा इसी प्रकार कार्य करने वाली अन्य औषधियों जैसे कटू (हेलीबोर नाइग्रम), श्वेत रक्त कनेर एवं जंगली प्याज आदि की तरह होता है। इस प्रकार की औषधियों का मिश्रण करके नहीं देना चाहिये। इनके साथ स्वेदजनन, मूत्रजनन तथा विरेचन द्रव्यों का प्रयोग किया जा सकता है।

मात्रा—टिंक्चर (५ में १) १०–१५ बूंद; घनक्वाथ ½ रत्ती।

अथ धत्तूरः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

धत्तूरधूर्त्तधुत्तूरा उन्मत्तः कनकाह्वयः। देवता कितवस्तूरी महामोही शिवप्रियः॥ ८५॥
मातुलो मदनश्चास्य फले मातुलपुत्रकः। धत्तूरो मदवर्णाग्निवातकृज्ज्वरकुष्ठनुत्॥ ८६॥
कषायो मधुरस्तिक्तो यूकालिक्षाविनाशकः। उष्णो गुरुर्व्रणश्लेष्मकण्डूकृमिविषापहः॥ ८७॥

धतूर के नाम तथा गुण—धत्तूर, धूर्त्त, धुत्तूर, उन्मत्त, कनकाह्वय (सुवर्ण वाचक सभी शब्द), देवता, कितव, तूरी, महामोही, शिवप्रिय, मातुल और मदन ये सब इसके संस्कृत नाम हैं। इसके फल को 'मातुलपुत्रक' कहते हैं। धतूरा—मद, वर्ण तथा वातकारक एवं जठराग्निवर्धक, ज्वर-कुष्ठ-नाशक, कषाय, मधुर तथा तिक्तरसयुक्त, जूयें और लीखों को दूर करने वाला, उष्णवीर्य, गुरु तथा व्रण, कफ, खुजली, कृमि एवं विष का नाशक होता है॥ ८५-८७॥

३३ धतूरा

हिं०—धतूर, धतूरा, धातूरा। बं०—धुतुरा, धुत्तूरा। म०—धोत्रा। गु०—धंतूरो, धत्तूरो। पं०—धतूर, धत्तूरा। मल०—उम्म, उम्मत्तं। क०—मदकुणिके। ते०—उम्मेत्त, धुत्तुरम्। ता०—उम्मत्तई। फा०—तातूरह, तातूरा। अ०—जौजमासम, जौजुल्मासेल। अं०—Datura (दतूरा), Thornapple (थार्नेपल्)। Fam. Solanaceae (सोलेनॅसिइ)।

नोट—राजनिघण्टु ने इसके श्वेत, नील, कृष्ण, रक्त एवं पीत ये पाँच भेद लिखे हैं तथा उनमें से कृष्ण पुष्पवाला अधिक गुणकारी माना है[1]। धन्वन्तरिनिघण्टु एवं इसमें इसके भेदों का उल्लेख नहीं है। चरक में धुत्तूर का उल्लेख नहीं है किन्तु 'कनक' का उल्लेख आया है[2], लेकिन टीकाकारों ने कनक के कई अर्थ किये हैं। सुश्रुत ने अलर्कविष में इसका उपयोग लिखा है[3]। यद्यपि तमक श्वास में इसका बहुत उपयोग होता आ रहा है तथापि प्राचीनों ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

आधुनिक विद्वानों ने भी इसके कई भेदों का वर्णन किया है। इनके गुणों में विशेष अन्तर नहीं है। पाश्चात्य चिकित्सा में स्ट्रॅमोनिअम् (राजधतूरा) का उपयोग किया जाता है, जिसके बीज काले होते हैं।

यहाँ पर कुछ भेदों का वानस्पतिक वर्णन अलग-अलग किया गया है। किन्तु गुणों में साम्य होने के कारण उनको एक साथ ही लिखा गया है।

(क) लै०—Datura stramonium (दतूरा स्ट्रॅमोनिअम्), Datura tatula (दतूरा टॅट्डुला), हिं०—राजधतूरा।

यह हिमालय के मन्द कटिबन्ध में काश्मीर से लेकर सिक्किम तक ९००० फीट की ऊँचाई तक, मध्य भारत के पहाड़ी प्रदेश, दक्षिण एवं अन्य प्रान्तों में भी पाया जाता है।

इसका क्षुप—एकवर्षायु तथा करीब २-४ फीट ऊँचा होता है। काण्ड—हरा या जामुनी रंग

---

१. सितनीलकृष्णलोहितपीतप्रसवाश्च सन्ति धत्तूराः।
सामान्यगुणोपेतास्तेषु गुणाढ्यस्तु कृष्णकुसुमः स्यात्॥

२. च. चि. अ. ७, अ. २३।

३ श्वेतो पुनर्नवाश्चास्य दद्याद्धत्तूरकायुताम्। (सु. क. अ. ७)

का काला होता है। पत्ते–अण्डाकार, धार पर लहरदार या गहरे विच्छेदों से युक्त, करीव ७ इञ्च लवे, ५ इञ्च चौडे, हलके हरे रग के, चिकने (कोमल पत्र-लोमयुक्त) तथा पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। इनमें उग्रगन्ध रहती है तथा इनका स्वाद कडवा एवं अरुचिकारक होता है। **पुष्प–**श्वेत भूरे या कभी-कभी वैंगनी आभायुक्त, दलपत्र करीव ३–६ इञ्च लवे तथा सख्या में ५ रहते हैं। **फल–**अण्डाकार, ऊर्ध्वमुख, चार खण्डों से युक्त तथा कठोर, लवे एव छोटे कटकों से ढका हुआ, शीर्ष पर चार फाँक में खुलनेवाला एव इसके आधार पर वाहर और नीचे की ओर मुटा हुआ स्थायी प्रवृद्ध वाह्यदल रहता है। **बीज–**चिपटे, वृक्काकार, करीव ३ मि० मि० लवे, २ मि० मि० चौड़े, १ मि० मि० मोटे, काले से भूरे रंग के, खुरदरे, स्वाद में कटवे, तैलीय एव अत्यल्प गन्धवाले रहते हैं।

दतूरा टॅटुला के क्षुप ऊपर के समान ही होते हैं। इसके काण्ड, पर्णवृन्त एव पत्तों की प्रधान शिराएँ कुछ लालिमा लिये हुए होती हैं एव दलपत्र ताजी अवस्था में वैंगनीपन लिये हुए नीले रग के तथा सूखने पर वैंगनी आभायुक्त भूरे रंग के होते हैं। इसके पत्ते पहले की अपेक्षा कुछ गहरे हरे रग के होते हैं।

इनके बीज, पुष्पयुक्त अग्रभाग एव पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। पाश्चात्य-वैद्यक में इसके टिक्चर एवं शुष्क तथा प्रवाही सत्व का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों एव पुष्पयुक्त अग्रभाग में क्षाराभ की मात्रा ०·४७–०·६५% होती है जिसमें मुख्यतया हायोसायमीन (Hyoscyamine) एव अल्पमात्रा में ॲट्रोपीन (Atropine) तथा हायोसीन (Hyoscine) रहते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें क्लोरोजेनिक् एसिड (Chlorogenic acid) एव गहरे रग का उडनशील तैल (०·०४५%) पाया जाना है।

इसके बीजों में क्षाराभ की मात्रा ०·१–०·५% (औसतन ०·२%) रहती है जिसमें हायोसायमीन अधिक एव ॲट्रोपीन तथा हायोसीन अल्प रहते हैं। इसमें १५–३०% स्थिर तैल भी होता है।

(ख) **ले०–**Datura fastuosa (दतूरा फास्च्युओजा), **हिं–काला धतूरा।**

यह प्रायः सब प्रान्तों में विशेषकर परती भूमि में पाया जाता है।

इसका **पौधा–**वर्षजीवी एवं ३–५ फीट ऊँचा होता है। **काण्ड–**अग्र की ओर कुछ-कुछ वैंगनी रग का होता है। **पत्ते–**३–८ इञ्च लवे, २–४ इञ्च चौडे, लट्वाकार, नोकीले, पत्रतट पर लहरदार या कुछ कुछ दन्तुर एव इनके मध्यशिरा के दोनों ओर के भाग असमान होते हैं। **पुष्प–**६–७ इञ्च लवे एव आभ्यतरदल वाहर की ओर नीललोहित या कुछ-कुछ वैंगनी और भीतर की ओर सफेद होते हैं। **फल–**गोलाकार, व्यास में १। इञ्च, प्रायः अधोमुख, सूक्ष्म काँटों या कुण्ठित प्रवर्धनों से ढके हुए रहते हैं। इनका स्फुटन अनियमित होता है। **बीज–**कुछ पीलापन लिये भूरे रग के, चिपटे, अण्डाकार तथा ४–६ मि० मि० लवे वहुत बीज होते हैं।

काण्ड एव पुष्पादि के रग के कारण इसे काला धतूरा कहा जाता है। इसके बीज (क) के समान काले नहीं होते।

(ग) **ले०–**Datura fastuosa var. alba (दतूरा फास्च्युओजा भेद-ॲल्बा); **हिं०–श्वेत धतूरा।**

यह हिमालय के मन्द कटिवन्ध में काश्मीर से सिक्किम तक तथा विशेषकर काश्मीर, सिमला तथा सतलज की घाटी में वहुत होता है। यह (ख) के समान ही होता है केवल अन्तर यह है कि इसके पुष्प श्वेत होते हैं।

रासायनिक सगठन—(ख) एवं (ग) के मिश्रित बीजों में क्षाराभ की सम्पूर्ण मात्रा ०·२३% रहती है जिसमें से २ भाग हायोसायमीन (Hyoscyamine) एव १ भाग हायोसीन (Hyoscine) तथा अल्प मात्रा में ॲट्रोपीन (Atropine) रहता है। फल में ०·१% क्षाराभ रहते हैं जिसमें अधिकतर केवल हायोसीन रहता है।

ग—के बीजों में ०.२१६% हायोसीन, ०.०३४% हायोसायामीन एवं अत्यल्प मात्रा में एट्रोपीन रहता है।

(घ) **ले०**–Datura metel (दतूरा मेटल्), हिं–काला धतूरा।

यह भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में परती भूमि में पाया जाता है।

इसका **पौधा**-वर्षायु, ३–५ फीट ऊँचा एवं चिकना होता है। **पत्ते**-अंडाकार-भालाकार, नोकीले, पर्णवृन्त की तरफ असम, दन्तुर या खण्डित, दोनों पृष्ठों पर चिकने, पतले, अकेले या युग्म जिसमें से एक बडा (७–८ इञ्च) एक छोटा एवं प्रायः ४ इञ्च लंबे तथा ३ इञ्च चौडे होते हैं। **पुष्प**-सीधे एव ६·५–७ इञ्च लम्बे होते हैं। आभ्यतर दल श्वेत, प्रायः बाहर से नीललोहित एवं अन्दर से पीताभ होते हैं। **फल**-गोलाकार, लटकते हुये, छोटे काँटों से युक्त, १॥ इञ्च व्यास के एवं इनका स्फुटन अनियमित होता है। **बीज**-कर्णाकृति, चिपटे, ४–५ मि० मि० लम्बे, ३–४ मि० मि० चौडे एव १ मि० मि० मोटे होते हैं। इनका किनारा लहरदार, मोटा तथा ३ धारियों से युक्त होता है। इनकी बाह्य सतह पीताभ, भूरी तथा गढेदार होती है। इनमें गन्ध नहीं होती तथा इनका स्वाद कडवा होता है।

(ङ) ले०—Datura innoxia (दतूरा इन्नोक्सिआ)।

यह यद्यपि मैक्सिओ का आदिवासी है तथापि अपने यहाँ भी अब बहुत उत्पन्न होता है।

यह (घ) के समान ही होता है किन्तु यह मृदुरोमश होता है तथा इसके आभ्यन्तर कोश १० कोणों से युक्त होते हैं। इसके फल के काँटे कमजोर होते हैं तथा बीज भूरे रङ्ग के होते हैं।

रासायनिक सङ्गठन—(घ) एव (ङ) के पत्तों में क्षाराभ की मात्रा ०.२५–०.५५% रहती है जिसमें मुख्यतया हायोसायमीन एव अल्पमात्रा में हायोसीन रहता है।

घ—के बीजों में हायोसीन ०.२% एवं अल्पमात्रा में हायोसायमीन रहता है। इसके अतिरिक्त राल एव तैल भी इसमें पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—धतूरा के पत्ते एव बीज वेदनाहर, उद्वेष्टननिरोधी, संज्ञानाशक, कासहर, श्वासहर, नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक एवं शोथहर हैं। धतूरे की क्रिया बेलाडोना (Belladona) की तरह होती है किन्तु श्वासनलिकाओं पर इसकी क्रिया अधिक तीव्र होने के कारण उनका अधिक विस्फार होता है। यह ऍसीटिल्कोलीन् (Acetylcholine) के कार्य को रोकता है जिससे श्वासनलिकाओं में रहने वाले प्राणदा (Vagus) नाडी के अग्रों का घात होने से श्वासनलिकाओं का विस्फार होता है। कभी-कभी इससे हृदय की गति में अनियमितता आती है। इससे विबन्ध नहीं होता। अधिक मात्रा में यह अत्यन्त तीव्र विष है। कुछ लोगों में यह उन्मादकारक होने के कारण उनके लिये यह वाजीकर है।

(१) तमक श्वास में उद्वेष्टन रोकने के लिये इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। इसके चूर्ण का धूँआ या इसकी बनी सिगरेट का धूम्रपान इसमें लाभदायक होता है। इसका आन्तरिक प्रयोग भी किया जाता है। धूएँ के लिए धतूरा की पत्ती, कलमी सोरा, काले चाय की पत्ती, लोबेलिआ एवं अनीसी का तेल इनसे बना हुआ मिश्रण (पल्व लोबेलिआ कम्पाउण्ड) मिलता है जिसमें से चाय की चम्मच बराबर चूर्ण को कमरे में जलाते हैं।

(२) पारी से आने वाले शीतज्वर में इसके बीज दही के साथ ज्वर आने के पूर्व खिलाते हैं। इससे ज्वरजन्य तकलीफें कम होती हैं।

(३) उदरशूल, पित्ताश्मरीशूल एव वृक्कशूल आदि में वेदनाहर एवं उद्वेष्टननिरोधीरूप में इसका उपयोग करते हैं।

(४) शोथ पर इसके पत्तों का लेप करने से वेदना एव शोथ कम होता है। अण्डशोथ, आमवात, सन्धिशोथ, आध्मान, फुफ्फुसावरणशोथ, नाडीशूल एव गृध्रसी आदि में इसके पत्तों के क्वाथ से सेंक, पत्तों का बन्धन या इससे सिद्ध तैल की मालिश की जाती है। इसके पत्तों के स्वरस का भी उपयोग किया जाता है। शोथयुक्त अर्श तथा गुदविदार में इसका मलहम उपयोगी है। अनेक चर्मरोगों में तथा वातिकविकारों में इससे सिद्ध तैल का उपयोग किया जाता है। स्तनशोथ पर हरिद्रा के साथ इसका पोल्टिस बाँधने से शोथ एवं दुग्ध कम होता है।

(५) उन्माद, धनुर्वात एव जलसत्रास आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

शोधन—इसके बीजों को दुग्ध के साथ दोलायन्त्र में शोधन कर लेना आवश्यक है।

विषपरिणाम—इसके बीजों को ठग लोग दूसरों को बेहोश कर लूटने के लिये अन्नादि के साथ मिलाकर खिला दिया करते हैं या इसके सिगरेट आदि पिला देते हैं। इससे गले में शुष्कता, चक्कर, चेहरा लाल, आँखों की पुतलियों का विकास, उन्माद, प्रलाप, एव सन्यास ये लक्षण होकर मृत्यु हो सकती है। उन्माद में रोगी काल्पनिक वस्तुओं को पकड़ने जैसी क्रियायें करने लगता है।

विषचिकित्सा—वमन, आमाशयप्रक्षालन, उत्तेजक औषधियों का प्रयोग, शीतल जल से छींटा देना एवं कृत्रिम श्वसन करना चाहिये। प्रलाप अधिक होने पर अफीम का उपयोग किया जा सकता है। शर्करा मिश्रित दुग्ध तथा घृत पिलाना भी हितकर है। बिनौले की गरी को दुग्ध के साथ पीसकर पिलाते हैं। कपास के पचांग का क्वाथ, चौलाई की जड, गिलोय, दही, नीबू का रस इनका उपयोग भी किया जाता है।

पाश्चात्य वैद्यक के फाइसोस्टिग्मीन् या पाइलोकार्पीन नाइट्रेट ($\frac{1}{8}$-$\frac{1}{2}$ ग्रेन) इनका प्रयोग बहुत सावधानीपूर्वक किया जा सकता है।

मात्रा—बीजचूर्ण $\frac{1}{2}$-२ रत्ती; पत्रचूर्ण $\frac{1}{2}$-१$\frac{1}{2}$ रत्ती, धूम्रपान के लिये पत्रचूर्ण ५-१५ रत्ती; बीज का टिंक्चर (४ में १) ५-१५ बूंद (५ बूंद से प्रारम्भ करें), टिंक्चर स्ट्रैमोनिअम् ५-३० बूंद।

अथाटरूषः [अडूसा]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वासको वासिका वासा भिषङ्माता च सिंहिका। सिंहास्यो वाजिदन्ता स्यादाटरूषोऽटरूषकः॥
अटरूषो वृषस्ताम्रः सिंहपर्णश्च स स्मृतः। वासको वातकृत्स्वर्यः कफपित्तास्रनाशनः॥८९॥
तिक्तस्तुवरको हृद्यो लघुशीतस्तृडर्त्तिहृत्। श्वासकासज्वरच्छर्दिमेहकुष्ठक्षयापहः॥ ९०॥

अडूसा के नाम तथा गुण—वासक, वासिका, वासा, भिषङ्माता, सिंहिका, सिंहास्य, वाजिदन्ता, आटरूष, अटरूषक, अटरूष, वृष, ताम्र और सिंहपर्ण ये सब संस्कृत नाम अडूसा के हैं। **अडूसा**—वातकारक, स्वर उत्तम करनेवाला, तिक्त तथा कषाय-रसयुक्त, हृदय को हितकर, लघु और शीतवीर्य होता है। यह—कफ, पित्त, रक्तकोप (या रक्तपित्त), तृषा, श्वास, खासी, ज्वर, वमन, प्रमेह, कुष्ठ एव क्षय को दूर करता है॥ ८८-९०॥

नोट—प्राचीन ग्रन्थों में अडूसा एक ही प्रकार का लिखा है। श्री डा देसाई ने अडूसा, अधाटोडा वासिका (Adhatoda vasica) के अतिरिक्त एक श्वेत (रक्तपुष्प) अडूसा, जस्टिसिआ पिक्टा (Justicia picta) एव अन्य काला अडूसा (नील निर्गुण्डी), जस्टिसिआ जेण्डारुसा (Justicia gendarusa) इनका वर्णन किया है। केरल देश में अडूसा का अन्य छोटा भेद अधाटोडा बेड्डोमी (Adhatoda beddomei) का अधिक व्यवहार किया जाता है क्योंकि वह अधिक गुणकारी होता है ऐसा कोट्टयम से प्रकाशित 'आयुर्वेदिक् फ्लोरा मेडिका' में लिखा हुआ है। उसके पुष्प बिलकुल श्वेत होते हैं।

२४ अडूसा

हि०—अडूसा, अडुस, अरुस, वाकस, विसौंटा, रूसा, अरुशा। बं०—वासक, वाकस। म०—अडुलसा। मा०—अडुसो। गु०—अरडुसो (सी)। क०—आडुसोगे। ते०—आडा सार, अडुसरमु। मल०—वलिय आटलोटकम्। ता०—अटतोटै। प०—भेकर। फा०—बाँसः, ख्वाजा। अ०—हशीशतुस्सुआल। अं०—Malabar nut (मलाबारनट)। ले०—*Adhatoda vasica, Nees.* (अधाटोडा वासिका, नीज) Fam Acanthaceae (एकेन्थेसिइ)।

यह भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में एव हिमालय के निचले भागों में ४००० फीट की ऊँचाई तक उत्पन्न होता है।

इसका क्षुप-सदाहरित, झाडीदार, दुर्गन्धयुक्त, ३-८ फीट ऊँचा एवं प्रायः समूहबद्ध होकर उगता है। काण्ड की गाँठें फूली हुई रहती हैं। पत्ते-४-८ इञ्च लम्बे, १॥-२॥ इञ्च चौडे, भालाकार या अण्डाकार, दोनों सिरों पर नोकीले, अखण्ड, अत्यन्त सूक्ष्म मृदुरोमश, विशेषकर नये पत्ते एवं ½-१ इञ्च लम्बे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-श्वेत, विनाल, द्वयोष्ठी एवं १.३ इञ्च लम्बे होते हैं तथा १-३ इञ्च लम्बी मञ्जरिओं में पाये जाते हैं जो उपशाखाओं के अग्र पर प्रायः समूहबद्ध रहती हैं। पुष्पों पर २ टेढी बैंगनी धारियाँ होती हैं। इसमें बडे बडे कोणपुष्पक और वृन्तपत्र भी रहते हैं। फली-पौन इञ्च लम्बी, तिहाई इञ्च चौडी, मुद्गराकार, लम्बाई में धारीदार, मृदुरोमश एवं ४ छोटे बीजों से युक्त होती है। इसके पत्तों से एक प्रकार का पीला रंग निकलता है। इसके पत्र, पुष्प एवं मूलत्वक् का व्यवहार चिकित्सा में किया जाता है। मूलत्वक् पुराने क्षुप की लेनी चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में एक कडुवा रवेदार क्षाराभ वॅसिसिन (Vasicine, $C_{11}H_{12}N_2O$) करीब .२५% अधाटोडिक एसिड, उडनशील तैल, वसा, राल, शर्करा, गोंद एवं पीत रंजक द्रव्य ये पाये जाते हैं। मूलत्वक् में भी क्षाराभ की करीब इतनी ही मात्रा होती है। यह क्षाराभ मद्यसार में घुलनशील, शीत जल में अल्प एवं उष्ण जल में अधिक घुलनशील होता है। यह क्षाराभ हरमल (Peganum harmala) में पाये जाने वाले पेगॅनीन (Peganine) के सदृश होता है।

गुण और प्रयोग—अडूसा उत्तेजक, कफनिःसारक, शीतवीर्य, उद्वेष्टननिरोधी, स्वर्य, कृमिघ्न, कुष्ठहर, रक्तपित्तघ्न, श्वासहर, कासहर एवं क्षयघ्न है। इसके पुष्प तिक्त, कटु, ज्वरघ्न, मूत्रजनन, उद्वेष्टननिरोधी एवं शीतल हैं। इसकी मूलत्वक् ज्वरघ्न, मूत्रजनन, कफनिःसारक, नियतकालिक ज्वरहर, कृमिघ्न एव कोथप्रशमन है। उद्वेष्टननिरोधी गुण मूल एव पत्र की अपेक्षा पुष्पों में एव कफनिःसारक गुण पत्तों की अपेक्षा मूल में अधिक रहता है। पत्र स्वेदजनन है। इसका प्रधान गुण कफ को पतला करना एव आसानी से बाहर निकालना है। अधिक मात्रा में इससे वमन एव विरेचन होता है।

इसमें के क्षाराभ वासिसिन को जानवरों में शिरान्तर्गत सूचिकाभरण से देखा गया कि रक्तसवहन एव महास्रोत पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता। इससे श्वासनलिकाओं में अल्प किन्तु स्थायी विस्फार होता है जो ॲट्रोपीन साथ में देने से अधिक हो जाता है। इसमें का कफनिःसारक गुण सम्भवतः मुख्यतया इसमें के उडनशील तैल के कारण है।

इसके पत्ते निम्न श्रेणी के जलाश्रयी जीव, बुरा, पराश्रयी जीवाणु, मच्छर, मक्खी एव गोजर आदि के लिये विषैले माने जाते हैं।

(१) कफविकारों में इसका बहुत प्रयोग करते हैं। नवीन श्वसनीशोथ में इससे आराम मिलता है विशेषकर जब कफ गाढा तथा चिपचिपा होता है। जीर्ण श्वसनीशोथ में इससे खासी में आराम मिलना है तथा कफ ढीला होकर आसानी से बाहर निकल जाता है। कफयुक्त प्रलेपक ज्वर में इसका बहुत उपयोग करते हैं। इनमें इसके पुटपाक करके निकाले स्वरस को ½-१½ तो० की मात्रा में आर्द्रकस्वरस या छोटी पीपल, कुछ सैंधव एव मधु के साथ देते हैं। श्वास, कास एव रक्तपित्त में अडूसा, द्राक्षा एवं हर्रा इनका क्वाथ मधु एव शर्करा के साथ उपयोगी है। नये श्वसनीशोथ में कण्टकारी, जवासा, नागरमोथा, सोंठ एव अडूसा इनका क्वाथ उपयोगी है। बच्चों के कफविकारों में इसके स्वरस के साथ टकण देते हैं। वासावलेह का भी अच्छा उपयोग होता है।

(२) राजयक्ष्मा में हाथ पैर आदि में जलन, ज्वर एव ऊर्ध्वग रक्तपित्त होने पर वासाघृत (च. चि. अ. ८) का उपयोग किया जाता है। इसमें पत्रस्वरस, वशलोचन, तालीसपत्र, कोहडे का रस एवं मधु भी दिया जाता है। नवीन प्रयोगों से देखा गया है कि राजयक्ष्मा में इसका कोई प्रभाव नहीं है। केवल इससे वातनाडियों पर शामक प्रभाव के कारण एवं कफ के पतला होने से खाँसी में आराम मिलता है।

(३) तमकश्वास में इसके पत्तों का धूम्रपान लाभदायक है। इसके साथ धतूरे के पत्र का उपयोग करने से जल्दी गुण होता है। इसका आंतरिक प्रयोग भी किया जाता है। इससे सिद्ध घृत का प्रयोग करते हैं। यह तमकश्वास के आवेग को बन्द करने में समर्थ नहीं है।

(४) रक्तपित्त में इसका स्वरस मधु के साथ देते हैं। इसके फूलों के गुलकद तथा पत्रचूर्ण का भी उपयोग किया जाता है। वासाघृत (च चि. अ. ४) मधु के साथ सेवन करने से रक्तपित्त जल्दी रुकता है।

(५) मलेरिया में इसके पत्तों के चूर्ण या मूलत्वक्चूर्ण का उपयोग करते हैं।

(६) आध्मान, अतिसार एवं प्रवाहिका में इसका स्वरस दिया जाता है। इससे आन्त्रस्थ जीवाणुओं का नाश होता है एवं अन्न का सडन रुकता है।

(७) आमवातिक सन्धिशोथ, शोथ एवं नाडीशूल आदि में पत्तों का पोल्टिस लगाया जाता है।

(८) त्वचा के रोगों में इसका रस पिलाते हैं तथा इसके पत्तों का लेप, एवं क्वाथ से स्नान आदि कराते हैं।

(९) जन्तुघ्न होने के कारण इसके पत्तों को जल में रखने पर जल खराब नहीं होता। इसके पत्तों में फल बांध कर रखने से फल सडता नहीं। इसका मद्यसारीय अर्क मक्खी, पिस्सू एवं मच्छर आदि के लिये घातक होता है। खेत में इसके पत्तों का खाद देने से इनमें रोग नहीं होते। ऊनी कपडों में इसके पत्ते रखने से कीडे नहीं लगते।

मात्रा—पत्रचूर्ण १-२ माशा, स्वरस ½-१½ तोला, मूलत्वक् ४ र०-१ माशा, पुष्प ५-१० र०, क्वाथ १-२ तो०।

३५ रक्तपुष्प अडूसा

ले०—*Justicia picta* (जस्टिसिआ पिक्टा)।

इसके क्षुप बडे होते हैं। इसके पत्ते गहरे हरे रंग के एवं इन पर सफेद छींटे रहते हैं। इसके काण्ड की गांठें फूली हुई और रक्ताभ होती हैं। इसमें गहरे लाल वर्ण के पुष्प आते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके गुण अडूसा के समान ही होते हैं किन्तु इसमें स्नेहन एवं शोथघ्न ये गुण अधिक हैं। बच्चों के गले में जब कफ से घुरघुराहट होती है तब इसके पत्तों का पुटपाक करके निकाला स्वरस एवं टंकणक्षार देते हैं। इसको मधु एवं छोटी पीपल के साथ भी दिया जाता है। दुग्ध के कारण स्तन में शोथ होने पर या अन्य स्थान में शोथ होने पर इसके पत्तों को नारियल के रस में पीसकर बांधने से सूजन कम होती है।

मात्रा—बच्चों में १०-२० बूँद स्वरस मधु एवं छोटी पीपल के साथ।

३६ काला अडूसा

सं०—नीलनिर्गुण्डी ? हि०—काला अडूसा, नील निर्गुण्डी। बं०—जगतमदन, मामलक। म०—काला अडूलसा, कालीशमालू। बंब०—बाकस। ता०, मल०—करुनोचचि। ते०—नल्लनोचिलि। ले०—*Justicia gendarusa* (जस्टिसिआ जेन्डारुसा)। Fam. Acanthaceae (एकेन्थेसिइ)।

इसके क्षुप बागों में रास्ते के किनारों पर लगाये जाते है।

इसके क्षुप—२-४ फीट ऊँचे होते हैं। **काण्ड**—पतले, लम्बे एवं काले होते हैं। **पत्ते**—३-५ इञ्च लम्बे, प्रासवत् या रेखाकार प्रासवत्, चिकने एवं ¼ इञ्च लम्बे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**—बरसात में श्वेतवर्ण के पुष्प अवृन्त काण्डज क्रम में निकले रहते हैं। पुष्पों के अन्दर जामुनी रंग के चिह्न रहते हैं। बीजकोष-½ इञ्च, सूक्ष्म, लोमयुक्त तथा ४ बीजों से युक्त होता है। इसके पत्तों में मनोहर गन्ध आती है। इसके पत्तों का स्वरस चिकित्सा में उपयोग में लाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, उग्र, कफनिःसारक, वामक एवं रेचन है। यह वनस्पति अत्यन्त तीव्र होती है इसलिये बाल एवं वृद्ध में इसका उपयोग नहीं करना चाहिये। इससे वमन एवं विरेचन होने लगता है। इसके प्रयोग के समय चावल की मॉड घृत डालकर देनी चाहिये।

(१) फुफ्फुस के विकारों में इसका प्रयोग करते हैं। तीव्र कफविकारों में इसके २-४ पत्त

एवं अपामार्ग की राख ½ तो० एक तोला मधु के साथ देते हैं। न्युमोनिया (Pneumonia) में ४ पत्तों का रस, सहेजन की छाल का रस एवं सामुद्र नमक मधु के साथ देते हैं।

(२) ज्वर एवं आमवात में इससे पसीना निकलता है। आमवात में इसके पत्तों के क्वाथ से सेकने से आराम मिलता है।

(३) इसका रस सरसों के तेल के साथ पिलाने से वमन होता है।

(४) इसके रस को तैल में मिलाकर गांठों पर लगाया जाता है।

अथ पर्पटः [पित्तपापडा]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पर्पटो वरतिक्तश्च स्मृतः पर्पटकश्च सः। कथितः पांशुपर्यायस्तथा कवचनामकः॥ ९१॥
पर्पटो हन्ति पित्तास्रभ्रमतृष्णाकफज्वरान्। सग्राही शीतलस्तिक्तो दाहनुद्वातलो लघु॥९२॥

पित्तपापड़ा के नाम-तथा गुण—पर्पट, वरतिक्त, पर्पटक, पांशुपर्याय ('पांशु' वाचक समी शब्द इसके पर्यायवाची हैं) एवं कवचनामक ('कवच'वाची सभी शब्द इसके पर्यायवाचक हैं) ये सब संस्कृत नाम 'पित्तपापड़ा के हैं। **पित्तपापड़ा**—सग्राही, शीतवीर्य, तिक्तरसयुक्त, दाह को दूर करने वाला, वातकारक और लघु होता है एवं यह पित्त, रक्तदोष, भ्रमरोग, तृषा, कफ और ज्वर इन सबों को नष्ट करता है॥ ९१-९२॥

नोट—पित्तपापडा के नाम से विभिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न वर्गों की वनस्पतियों का एवं उनके उपभेदों का उपयोग किया जाता है इस कारण इसके लेटिन नामों में पर्याप्त विभिन्नता पाई जाती है। जिन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है उनमें उपर्युक्त शास्त्रीय गुणों में से कुछ न कुछ पाये जाते हैं। अन्य निघण्टुओं ने भी उपर्युक्त प्रकार के ही गुण लिखे हैं। चरक में तृष्णानिग्रहण गण में इसका पाठ है एवं रक्तपित्त, ज्वर, कुष्ठ, सग्रहणी, पांडु एवं अतिसार आदि में इसका उपयोग किया गया है।

विभिन्न ग्रन्थों में दिये हुये लेटिन नाम निम्नलिखित हैं—

(१) Oldenlandia corymbosa, Linn, Fam. Rubiaceae (ओल्डेन्लेण्डिआ कोरिम्बोसा, लिन, रुबिएसिइ), ब०–खेतपापड़ा।

इसका बंगाल में अधिक व्यवहार किया जाता है। श्रीयुत यादवजी ने अपनी पुस्तक में जो नव्य मत दिया है उसे श्री डॉ० देसाई ने इसी वर्ग के हेडिओटिस् बाइफ्लोरा (Hedyotis biflora) के अन्तर्गत किया है। लेकिन डॉ० देसाई ने इसका बंगाली नाम खेतपाप्रा ही लिखा है। श्री डॉ० चोप्रा ने खेतपाप्रा का नाम ओ० बाइफ्लोरा, राक्स. (O. biflora, Roxb.) लिखा है। श्री बापालालजी की पुस्तक में हे० बर्मानिआना (H. burmanniana) का भी उल्लेख है। इन उपर्युक्त नामों से ऐसा मालूम होता है कि ये या तो एक दूसरे के पर्याय हों या एक ही वनस्पति के उपभेदों में से हों।

(२) Fumaria parviflora, Lamk.; Fam. Fumariaceae (फ्युमेरिया पार्विफ्लोरा, लॅम, फ्युमेरिएसिइ), हिं०–शाहतराभेद—यह शाहतरा, फ्यु, ऑफिसिनेलिस् (Fumaria officinalis) का भेद है। इन दोनों का व्यवहार पंजाब, सिंध, राजपुताना, उत्तरप्रदेश और बिहार के वैद्य पर्पट नाम से करते हैं ऐसा श्री यादवजी ने लिखा है।

(३) Polycarpaea corymbosa, Lamk., Fam. Caryophyllaceae (पॉलिकार्पीआ कोरिम्बोसा, लॅम्, केरियोफाइलेसिइ)। श्री ठा. बलवन्तसिंहजी लिखते हैं कि उत्तरप्रदेश में अनेक स्थानों पर पर्पट के नाम से इसका व्यवहार किया जाता है।

(४) (क) Justicia procumbens, Linn, Fam. Acanthaceae (जस्टिसिआ प्रोकम्बेन्स, लिन, एकेन्थेसिइ)। बम्ब घाटी पित्तपापडा। इसे श्री डा. चोपरा ने न. २ का प्रतिनिधि लिखा है। इसे ही सम्भवतः कुछ लोगों ने ज. डिफ्यूजा (J. diffusa) लिखा है।

(ख) Rungia repens, Nees., Fam. Acanthaceae (रंजिआ रिपेन्स, नीज ; एकेन्थेसिइ)। श्री यादवजी ने लिखा है कि गुजरात के वैद्य 'खडसलियो' नाम से इसका व्यवहार करते हैं। श्री बापालालजी ने न० ४ (क) को 'खडसलीयो पीतपापडो' लिखा है।

(ग) Rungia parviflora, Nees. (रुंजिआ पार्विफ्लोरा, नीज.) । इसका भी 'पित्तपापड़ा' नाम से व्यवहार किया जाता है।

(घ) Peristrophe bicalyculata, Nees. (पेरिस्ट्रोफ बाइकेलिकुलेटा, नीज.) । श्री डा० सखाराम अर्जुन ने 'वाम्बेड्रग्स' पुस्तक में इसका 'घाटीपित्तपापड़ा' नाम से उल्लेख किया है।

(५) Glossocardia linearifolia, Cass, Fam. Compositae (ग्लॉसोकार्डिआ लिनिएरिफोलिआ, कॅस, कॉम्पोझिटि) । श्री डा० देसाई ने इसका 'पूना' का नाम पित्तपापड़ा दिया है तथा अन्य प्रान्तों में भी कहीं-कहीं इसका पित्तपापड़ा के स्थान पर व्यवहार किया जाता है।

(६) Mollugo stricta, Linn, Fam. Ficoideae (मोल्युगो स्ट्रिक्टा, लिन, फिकोइडिइ) श्री डॉ० देसाई ने इसका संस्कृत नाम 'पर्पटका' लिखा है।

३७ पर्पट (१)

सं०—क्षेत्रपर्पट, पर्पट । **हिं०**—दमनपापड़ा । **बं०**—खेतपापड़ा । **म०**—परिपाठ, पापटी । **गु०**—परपट । **ता०**—पर्पदागम । **ते०**—वेरिनेल्लविमु । **गोआ**—गोपटो, वज्रुरी । **ले०**—*Oldenlandia corymbosa* (ओल्डेन्लेण्डिआ कोरिम्बोसा), Fam. Rubiaceae (रुबिएसिइ) ।

यह भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में ६००० फीट की ऊँचाई तक होता है। इसके क्षुप गीले स्थानों एव सूखे धान के खेतों में पाये जाते हैं।

इसका **क्षुप**-वर्षायु, ३–१५ इञ्च ऊँचा, अनेक शाखाओंवाला, प्रसरणशील, प्रायः चिकना या कभी-कभी मृदुरोमश होता है। **पत्ते**-रेखाकार, रेखाकार-भालाकार या पतले लम्बे परन्तु अण्डाकार प्रासवत् एव •५–२ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्प**-सूक्ष्म, प्रायः दो दो एक साथ और सफेद होते हैं। **फली**-गोलाकार एव चिकनी होती है। **बीज**-हलके भूरे रग के एव कोणयुक्त होते हैं इसके तथा इसके अन्य उपभेदों के ताजे अथवा सुखाये हुये पौधे का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। बगाल के वैद्य पर्पट के नाम से इसका प्रयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पचाग में दो समान प्रकार के क्षाराभ बाइफ्लोरीन एवं बाइफ्लोरोन (Biflorine and Biflorone) तथा एक रजित द्रव्य ये पदार्थ पाये जाते हैं। क्षाराभ की मात्रा शुष्क पौधे के वजन के अनुपात में ०•१२% तक रहती है। इसकी राख में सोडियम्, पोटॅशियम् एव कॅल्शियम् के क्षार विशेषकर क्लोराइड पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—खेतपापड़ा शीतल, ज्वरघ्न, दाहशामक, कफघ्न, तिक्तपौष्टिक एव अल्प स्तम्भन है। इसका उपयोग ज्वर, यकृत्विकार, कामला एव कृमि में किया जाता है।

(१) पित्त तथा वातप्रधान ज्वर में इसका बहुत उपयोग किया जाता है। अर्धविसर्गी ज्वर एव जीर्ण मलेरिया में इसका क्वाथ दिया जाता है। इससे शरीर का दाह, तृष्णा, आमाशयिक प्रक्षोभ, भ्रम एव सुस्ती आदि दूर होती है तथा पसीना एव पेशाब अधिक होती है। पित्तज्वर में इसके साथ 'शाहतराभेद' का उपयोग करते हैं। सन्ततज्वर में वमन, विरेचन, भ्रम एव शरीर में शिथिलता आदि लक्षण होने पर इसके साथ हसराज, ब्राह्मी, चन्दन, खस, नागरमोथा, गुडुच एवं हरी चाय का क्वाथ बनाकर पिलाते हैं। खेतपापड़ा, गुडुच, नागरमोथा, चिरायता एव घोड़वच इनका पंचभद्र नामक क्वाथ सब प्रकार के ज्वरों में दिया जाता है। दाहशान्ति के लिये चन्दन एव इसका लेप किया जाता है। इसके स्वरस को हाथ पैर की जलन में लगाते हैं।

(२) क्षेत्रपर्पट रोमान्तिका (Measles) के लिये बिल्कुल निश्चित औषध मानी जाती है।

(३) गले एव श्वासनलिका की सूजन में इसके धूम्रपान से कफ ढीला होकर शीघ्र गिरने लगता है। तमकश्वास में छोटी पीपल, मुलेठी एव क्षेत्रपर्पट मधु के साथ देते हैं तथा इससे थोड़ा धूम्रपान भी कराते हैं।

मात्रा—२ से ८ माशा।

३८ पर्पट (२)

हिं०—शाहतराभेद, पित्तपापड़ा, धमगजरा । **बं०**—बनशुल्फा । **म०**—पित्तपापड़ा, शातरा । **गु०**—पित्तपापड़ा । **ता०**—तुरा । **ते०**—चाटराशि । **अ०**—शाहतरज । **फा०**—शाहतर । **ले०**—*Fumaria parviflora* (फ्युमेरिआ पार्विफ्लोरा); Fam. Fumariaceae (फ्युमेरिएसिइ) ।

यह पंजाब, दिल्ली, चित्तौड एवं खानदेश तथा अन्य प्रान्तों में गेहूँ के खेतों में जाडे के दिनों में पाया जाता है।

इसका **क्षुप**-(क्षुद्र वनस्पति) अनेक शाखाओंवाला स्वावलम्बी या प्रसरणशील एवं ½-१ फूट ऊँचा होता है। **पत्ते**-गाजर के पत्ते के समान बहु विभक्त होते हैं। **पुष्प**-श्वेताभ या गुलाबीलाल, सिरे पर जामुनी रंग के और ·२-·३ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प के वाह्यदल दो, आभ्यन्तर दल २-२, और इनमें बाहरवाले नीचे की ओर चोंचदार, भीतर के दोनों ऊपर की ओर सयुक्त, पुकेशर ६, तीन-तीन एक साथ मिले हुए रहते हैं। **फल**-गोलाकार और बीज छोटे होते हैं। इसके पचांग का उपयोग किया जाता है। **शाहतरा** नामक फारस से आने वाला द्रव्य इसी की दूसरी जाति फ्यु० ऑफिसिनेलिस् (F. officinalis) से प्राप्त होता है। यह स्वाद में कडुआ, कुछ तीता एवं कषाय रहता है। भारतीय की अपेक्षा फारसी शाहतरा अधिक गुणकारी होता है तथा उसी का अधिक प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—शाहतरा में फ्युमॅरिक् ॲसिड (Fumaric acid) एवं फ्युमेरिन (Fumarine) नामक एक क्षाराम रहता है। क्षाराम की मात्रा ६% तक रहती है जिस पर इसके गुण निर्भर हैं।

गुण और प्रयोग—शाहतरा स्वेदजनन, मूत्रल, स्रसन एव तिक्तपौष्टिक है। इसकी क्रिया 'धांटीपित्तपापडा' के समान होती है किन्तु उससे यह अधिक लाभदायक है।

इसके पंचांग के क्वाथ का उपयोग ज्वर, प्रतिश्याय, रक्तविकार, गंडमाला, राजयक्ष्मा दण्डाणुजन्य त्वचा के विकार, यकृत्पीडा, कुष्ठ, उपदंश एवं अन्य त्वचा के विकारों में किया जाता है। कंपज्वर में गोल मिरिच के साथ इसका क्वाथ देते हैं। पित्तज्वर में इसका क्वाथ बहुत ही लाभदायक है। प्रतिश्याय आदि में इसका बहुत व्यवहार करते हैं। इससे पसीना होता है, पेशाव अधिक होती है, शरीरपीडा कम होती है एव पाखाना साफ होता है। इसके लिये २½ तोला शाहतरा, वनफशाह ½ तोला, मिरिच एवं सोंठ ½ तोला, मुनक्का १ तोला एवं जल १ सेर इनका चतुर्थांश क्वाथ वनाकर ५ तोला दिन में ३-४ बार देते हैं। आंत्रशैथिल्य से उत्पन्न कुपचन में शाहतरा लाभदायक है।

मात्रा—क्वाथ २½ से ५ तोला; चूर्ण २ से ७ माशा।

३६ पर्पट (३)

हिं०-पित्तपापडा प्रतिनिधि। **गु०**-झीणा पाननो ओखराड। **ता०**-निलैसेदचि। **ले०**-*Polycarpaea corymbosa* (पोलिकार्पिआ कोरिम्बोसा)। Fam. Caryophyllaceae (केरियोफाइलेसिइ)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों में क्वार कार्तिक महीने में प्रायः बाजरे के खेतों में इसके पौधे उगे हुए मिलते हैं और ग्रामीण पित्तप्रकोप की शान्ति के लिये इसका पित्तपापडा के नाम से व्यवहार करते हैं। उत्तरप्रदेश में अनेक स्थानों पर पर्पट के नाम से इसका व्यवहार किया जाता है। छोटा नागपूर तथा सोन के आसपास पथरीली एव बलुई जमीन में यह पाया जाता है।

इसका **क्षुप**-अनेक शाखाओं से युक्त ३-६ इंच ऊँचा एवं कभी १२ इंच ऊँचा होता है। **शाखाएँ**-अत्यन्त कृश, तूलरोमश और सीधी होती हैं। **पत्ते**-रेखाकार और अभिमुख होते हैं। **पुष्प**-रजतवर्ण, बहुत छोटे तथा शीर्षस्थ सघन द्विविभक्त मजरियों में आते हैं। वाह्यदल भूरे और फल बन जाने पर चमकीले या रजतवर्ण और आभ्यन्तरदल सूक्ष्म एवं रक्तवर्ण के होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें साबुनसत्त्व पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसका उपयोग सर्पादि के दंश में विषनिवारण के लिये वाह्याभ्यन्तर करते हैं। इसके पत्तों को पीसकर व्रण, व्रणशोथ एव फोडे आदि पर बाँधते हैं। इसके पत्तों का स्वरस राब के साथ कामला में पिलाया जाता है।

मात्रा—१-३ माशा।

४० पर्पट (४)

म०—गांटी पित्तपापडा। **ता०**—नेरिपुट्टी। **ले०** *Justicia procumbens* (जस्टिसिआ प्रोकम्बेन्स)। Fam. Acanthaceae (एकेन्थेसिइ)।

यह दक्षिण में बरसात के दिनों में अधिक होता है।

इसका **क्षुप**—करीब ९–१० इञ्च ऊँचा होता है। इसके **पत्ते**—$\frac{3}{4}$–१$\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बे, $\frac{1}{4}$–$\frac{3}{4}$ इञ्च चौडे तथा सूक्ष्मरोमावृत होते हैं। **फूल**—छोटे तथा हलके जामुनी रंग के होते हैं। पुष्पित होने पर इनको उखाड कर सुखाकर रखना चाहिये। इसकी गंध हल्लासकारक होती है। इसी वर्ग के अन्य क्षुपों का भी पर्पट नाम से कहीं कहीं व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक कडुआ क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह मूत्रल, मृदुविरेचक एवं स्वेदकारक है। कडुए पदार्थों के साथ इसका क्वाथ पित्तज्वर में देने से पसीना होता है, दाह कम होता है, पेशाब अधिक होती है एवं एक दो पाखाना होकर यकृत्शोथ एवं यकृत्पीडा कम होती है। नेत्राभिष्यन्द में इसके पत्रस्वरस को डालने से लाभ होता है। इसका शाहतरा के स्थान पर प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—१–३ माशा।

४१ पर्पट (५)

हिं०—सेरी, दांतरीसा। **बम्ब०**—फत्तरसुवा। **पूना**—पित्तपापडा। **ते०**—गरपलकम्। **ले०**—*Glossocardia linearifolia* (ग्लॉसोकार्डिआ लिनिएरिफोलिआ)। Fam. Compositae (कॉम्पोझिटिइ)।

यह मध्यभारत, दक्षिण तथा अन्य प्रान्तों में प्रायः चट्टानों के ऊपर पाया जाता है।

इसका **क्षुप**—छोटा, सुन्दर, गंधयुक्त, १–६ इञ्च या कभी कभी १० इञ्च तक ऊँचा, चिकना तथा अनेक शाखाओंवाला होता है। **पत्ते**—१–२ बार पक्षवत्–खण्डित, एकान्तर और खण्ड रेखाकार होते हैं। **पुष्प**—छोटे तथा पीले रंग के मुण्डकों (Capitulum) में आते हैं। प्रान्तीय जिह्वाकार पुष्प, स्त्रीपुष्प और प्रायः अकेला रहता है। केन्द्रीय पुष्प उभयलिंग, संख्या में कम और नालाकार होते हैं। अधःपत्रावलि (Involucre) के पत्र बाहर की ओर प्रायः संख्या में तीन और छोटे तथा भीतर के आयताकार, बडे और धार पर झिल्ली सदृश होते हैं। इसका स्वाद कडुआ एवं गन्ध साधारण सोवा जैसी होती है। इसके पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में उडनशील तैल तथा पत्र, पुष्प एवं काण्ड में एक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह स्वेदजनन, ज्वरघ्न एवं गर्भाशयसंकोचक है। इसके गुण पित्तपापडा जैसे ही होते हैं किन्तु इसकी क्रिया यकृत् की अपेक्षा गर्भाशय पर अधिक होती है। इसका क्वाथ अन्य सुगंधि पदार्थों के साथ अनार्तव एवं पीडितार्तव में दिया जाता है। दाँतों से रक्तस्राव होने पर या दन्तकृमि में इसका उपयोग किया जाता है।

मात्रा—१–३ माशा।

४२ पर्पट (६)

सं०—पर्पटका। **हिं०**—नपझाड। **बं०**—जोलपप्र। **बम्ब०**—खरस। **ले०**—*Mollugo stricta* (मोल्युगो स्ट्रिक्टा)। Fam. Ficoideae (फिकोइडिइ)।

यह प्रायः सब जगह ऊसर या जोताऊ भूमि में होता है।

इसका **क्षुप**–(क्षुद्र वनस्पति) ३–१० इञ्च ऊँचा होता है। **शाखायें**—अनेक, पतली, नालीदार या कोणयुक्त होती हैं। **पत्ते**—अभिमुख या चक्राभास क्रम में निकले हुये, ·५–१·७ इञ्च लम्बे तथा प्रायः मांसल होते हैं। **पुष्प**—सूक्ष्म, हरित या श्वेत होते हैं। **फल**—आयताकार और तीन पक्षवाला होता है। इसका स्वाद कडवा होता है। इसकी साग बनाकर खाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, आनुलोमिक, विषमज्वरहर एवं आर्तवजनन है। प्रसूता को इसकी साग खिलाई जाती है। इससे भूख बढ़ती है, पाखाना साफ होता है तथा आर्तवशुद्धि होती है। विषमज्वर में भी इसे खिलाते हैं।

अथ निम्बः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

निम्बः स्यात्पिचुमर्दश्च पिचुमन्दश्च तिक्तकः। अरिष्टः पारिभद्रश्च हिङ्गुनिर्यास इत्यपि ॥९३॥
निम्बः शीतो लघुर्ग्राही कटुपाकोऽग्निवातनुत्[1]।
अहृद्यः श्रमतृट्कासज्वरारुचिकृमिप्रणुत्। व्रणपित्तकफच्छर्दिकुष्ठहृल्लासमेहनुत् ॥ ९४ ॥

नीम के नाम तथा गुण—निम्ब, पिचुमर्द, पिचुमन्द, तिक्तक, अरिष्ट, पारिभद्र और हिङ्गुनिर्यास ये सब संस्कृत नाम 'नीम' के हैं। **नीम**—शीतवीर्य, लघु, ग्राही, पाक में कटुरसयुक्त, जठराग्नि को मन्द करनेवाला, हृदय को अहितकर तथा वात, श्रम, तृषा, खाँसी, ज्वर, अरुचि, कृमि, व्रण, पित्त, कफ, वमन, कुष्ठ, हृल्लास (उबकाई) तथा प्रमेह इन सबों का नाशक होता है॥

अथ निम्बस्य पत्रफलयोर्गुणानाह

निम्बपत्रं स्मृतं नेत्र्यं कृमिपित्तविषप्रणुत्। वातलं कटुपाकञ्च सर्वारोचककुष्ठनुत् ॥ ९५ ॥
निम्बफलं रसे तिक्तं पाके तु कटुभेदनम्। स्निग्धं लघूष्णं कुष्ठघ्नं गुल्मार्शःकृमिमेहनुत् ॥९६॥

'नीम' के पत्ते तथा फलों के गुण : **नीम के पत्ते**—नेत्र को हितकर, कृमि-पित्त विष के नाशक, वातकारक, पाक में कटुरसयुक्त तथा सभी प्रकार की अरुचि और कुष्ठ को दूर करने वाले होते हैं। **नीम का फल**—रस में तिक्त तथा पाक में कटु, मल का भेदन करने वाला, स्निग्ध, लघु, उष्णवीर्य, कुष्ठ, गुल्म, ववासीर, कृमि तथा प्रमेह का नाशक होता है ॥ ९५–९६ ॥

४३ नीम

हि०—नीम। **बं०**—निम, निमगाछ। **म०**—निंब, लिंब, कडूनिंब, वालंतनिंब। **गु०**—लींबडो, लीमडो। **पं०**—निंव, निम। **उरि०**—नीमो। **ता०**—वेप्पु, वेम्बु। **ते०**—वेप। **मल०**—आर्यवेप्पू, वेप्पू। **क०**—बेविनमर। **अ०**—आजाद दरख्तुल हिंद। **फा०**—नीब। **अं०**—Neem Tree (नीम ट्री), Margosa (मार्गोसा), Indian Lilac (इन्डियन् लिलॅक्)। **लै०**—*Azadirachta indica, A. Juss* (एझाडिरेक्टा इन्डिका, ए. जस.), *Melia azadirachta, Linn.* (मेलिआ एझाडिरेक्टा, लिन.)। Fam. Meliaceae (मेलिएसिइ)।

नीम के लगाये वृक्ष इस देश के सभी प्रान्तों में पाये जाते हैं और सभी लोग इसको भली-भाँति जानते हैं। दक्षिण एवं बर्मा के शुष्क जंगलों में यह जंगली स्वरूप में पाया जाता है। यह ४०–५० फीट ऊँचा, अनेक शाखा-प्रशाखाओं से युक्त, सघन और छायादार होता है। छोटी-छोटी टहनियों के अन्त में ८–१५ इंच लम्बे असमपक्षवत् पत्ते रहते हैं। **पत्रक**-संख्या में १४–१९, विपरीत या एकान्तर, टेढ़े, मालाकार, ४-५ अंगुल लम्बे, १-१½ अंगुल चौडे, नुकीले और दन्तुर होते हैं। वसन्त ऋतु में पुराने पत्ते गिर जाते हैं और नवीन पत्ते निकलने के साथ छोटे छोटे सफेद रंग के सुगंधयुक्त फूलों के गुच्छे लगते हैं। **फल**—करीब ½ इंच खिरनी के समान लम्बाई लिये गोल होते हैं जिसमें एक एक बीज होते हैं। बीजों को निम्बोली कहते हैं। इसकी छाल से एक स्वच्छ, चमकीला अम्बर के वर्ण का गोंद निकलता है।

इसकी छाल करीब १० मि. मि. मोटी, बाहर से भूरे-धूसर वर्ण की, खुरदरी शल्कसम एवं फटी हुई तथा अंदर से पीताभ, परतदार एवं मोटे रेशों से युक्त होती है।

इसकी छाल, मूलत्वक्, पत्र, गोंद, फल, बीज, पुष्प, ताडी एवं तैल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके काण्डत्वक् में एक कडुवा पदार्थ मार्गोसीन (Margosine),

---

१. कृत इति पाठा०।

निम्बिडिन (Nimbidin, 0·5%), निम्बिन (Nimbin, $C_{28}H_{40}O_8$ 0·03%), निम्बिनिन् (Nimbinin $C_{27}H_{30}O_9$), निम्बोस्टेरोल् एव पुष्पों में पाये जाने वाले उडनशील तैल की तरह एक उडनशील तैल ये पदार्थ पाये जाते हैं इसमें करीब ६ टॅनिन भी रहता है। इसके वाह्यत्वक् में टॅनिन अधिक रहता है तथा अन्तस्त्वक् में कडुवे पदार्थ पाये जाते हैं। इसके अन्तस्त्वक् का क्वाथ बनाना चाहिये। इसके पत्तों में भी कडुवा पदार्थ रहता है जो छाल की अपेक्षा कम मात्रा में होते हुए भी जल में अधिक मात्रा में एव जल्दी घुलता है।

इसके बीजों में ३१% तक एक तेल रहता है जो गहरे पीले रग का, कडुवा, तीता एवं दुर्गन्धयुक्त होता है। इसमें करीब २% कडुवे पदार्थ रहते हैं जिनमें निम्बिन, निम्बिनिन, निम्बिडिन एव तैल में घुलनशील एक द्रव निम्बिडोल (Nimbidol, 0·6%) ये पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त इस तैल में ओलिक् ॲसिड (Oleic acid, 49–61·9%), लिनोलिक् ॲसिड (Linoleic acid, 2·12–15%), पामिटिक् ॲसिड् (Palmitic acid, 12. 62–15%), स्टियरिक् ॲसिड् (Stearic acid, 14·4–21·3%), ॲरॅचिडिक् ॲसिड् (Arachidic acid, 1·3–1·8%), एव लिग्नोसेरिक ॲसिड् (Lignoceric acid, 0·74%) ये रहते हैं। इस तैल के साबुन बनाने लायक भाग से बचे हुए हिस्से में निम्बोस्टेरॉल रहता है।

इस तैल में 0·427% गधक पाया जाता है। इसके तैल से अत्यन्त कडुआ एवं जल में घुलने वाला सोडियम् मार्गोसेट (Sodium margosate, B. C. P. W.) नामक एक लवण बनाया गया है।

गुण और प्रयोग—इसकी अन्दर की छाल शीतल, कडुवी, पौष्टिक, नियतकालिकज्वर-प्रतिबन्धक, ग्राही, त्वग्दोषहर, कृमिघ्न एव रसायन है। सम्पूर्ण छाल अधिक ग्राही होती है। त्वचा पर निम्बत्वक् की क्रिया सोमल की तरह होती है। इसका ज्वरघ्न गुण सिंकोना की तरह है। इसकी मूलत्वक् कृमिघ्न (आन्त्रिक) मानी जाती है।

इसके पत्ते शोथघ्न, त्वचा के लिये उत्तेजक, त्वग्दोषहर, व्रणशोधक, व्रणरोपक कृमिघ्न, प्रतिदूषक, यकृतोत्तेजक, कुष्ठहर एव अधिक मात्रा में वामक होते हैं।

इसका तेल उष्ण, वातहर, प्रतिदूषक, व्रणशोधक, व्रणरोपक, उत्तेजक, केश्य, कृमिघ्न, कुष्ठघ्न एव रसायन है। निम्ब के सभी अङ्गों की अपेक्षा इसका तैल अधिक प्रभावशाली है।

(१) नीम की छाल का चूर्ण **मलेरिया** के लिये बहुत लाभदायक है। शोथयुक्त ज्वर एवं विषमज्वर तथा ज्वर के पश्चात् दौर्बल्य दूर करने के लिये इसके चूर्ण या क्वाथ का उपयोग किया जाता है। क्विनीन आदि से जब लाभ नहीं होता तब इसका उपयोग करते हैं। ज्वर में इसके साथ धनियाँ, सोंठ, लौंग, दालचीनी या मिरिच, चिरायता तथा ग्राहीपन कम करने के लिये कुटकी का उपयोग किया जाता है। श्वेतप्रदर में बबूल की छाल एव नीम की छाल का क्वाथ लाभदायक होता है।

(२) इसके पत्तों का उपयोग त्वचा के विकार, व्रण, क्षत तथा कुष्ठ में किया जाता है। चर्मविकारों में इससे स्नान कराया जाता है। व्रण, पामा, कण्डू, छाजन, अरुषिका, दूषितव्रण, पुराने व्रण एव अन्य चर्मविकारों में इससे स्नान कराते हैं, इसके पत्तों को पीस कर बाँधते हैं या इससे सिद्ध घृत का मलहम आदि लगाते हैं। अर्श, बद, गांठ एव व्रणशोथ में इसका पोल्टिस बाँधा जाता है। विचर्चिका (Weeping eczema) में यदि इसके पत्तों को पीस कर बाँध दें और जब तक अपने से निकले नहीं तब तक रहने दें तो बहुत जल्दी लाभ होता है। कुष्ठ में इसके पञ्चाङ्ग के चूर्ण या क्वाथ का स्नान, पान एव लेपादि में उपयोग होता है। इसके पत्तों को पीस कर आँवला या हरीतकी के साथ खाने से कुष्ठ में लाभ होता है। यद्यपि इसके पत्तों का स्वरस आन्त्र के कृमियों (केंचुआ) में लाभदायक माना जाता है तथापि श्रीकेस और म्हसकर का मत है कि ४ ड्राम की मात्रा में इसके प्रयोग से कोई लाभ नहीं हुआ। इसके देने के पहले और पश्चात् विरेचन नहीं दिया गया था। फिरग में इसका रस १ पाव की मात्रा में सुबह शाम पिलाते हैं। सोजाक में शिश्न में शोथ होकर मूत्र रुकता है तब इसके क्वाथ में रोगी को बैठाते हैं जिससे पेशाब होने लगती है। कामला में अधिक मात्रा में इसका स्वरस मधु के साथ सुबह

पिलाया जाता है। इसके साथ सोंठ भी देते हैं। कभी कभी अधिक मात्रा से वमन हो जाता है। प्रसूता को प्रथम दिन से ही इसका स्वरस देने से हर प्रकार से लाभ होता है। इससे गर्भाशय का संकोच होकर स्राव की शुद्धि होती है एवं शोथ कम होता है। भूख लगना, पाखाना साफ होना, ज्वर न आना या कम आना एवं बच्चे का स्वास्थ्य अच्छा रहना ये सब लाभ इसके देने से होते हैं। मसूरिका (Small pox) में इसके पत्तों से हवा की जाती है एवं रोगी के बिस्तर पर इसको बिछाते हैं। इसके कोमल पत्तों की दो रत्ती की गोली बना कर मुलेठी के साथ देने से लाभ होता है। पत्तों को पुस्तक तथा कपड़े आदि में रखने से कीड़े नहीं लगते। ज्वर में घृत एवं मधु के साथ इसके पत्तों का धूप दिया जाता है।

(३) इसके तैल का कुष्ठ, फिरंग, श्लीपद, व्रण, दूषितव्रण, गण्डमाला, आमवात एवं विषमज्वर में उपयोग किया जाता है। कुष्ठ, फिरंग, त्वचा के रोग एवं विषमज्वर आदि में इसको ५–१० बूँद की मात्रा में दिन में २ बार देते हैं। इसका बाह्य प्रयोग भी करते हैं। अपची, नाडीव्रण, पामा, कण्डू, छाजन, दद्रु, विसर्प, आमवात, उदर्द, शीतपित्त एवं दूषित व्रण में तैल को लगाते हैं। कुष्ठव्रण में इसके साथ चौलमोगरा का तैल मिलाकर लगाते हैं। तैल से दाह होने पर इसमें ½ तिलतैल मिलाकर उपयोग करना चाहिये। आमवात में इसकी मालिश के साथ-साथ इसका आन्तरिक प्रयोग भी किया जाता है। शिरःशूल में सर पर इसको मलते हैं। खालित्य एवं पालित्य में इसके नस्य का विधान है। आन्त्रिक कृमि में पत्रस्वरस की तरह इसके तैल को १–४ ड्राम की मात्रा में देने से लाभ नहीं देखा गया, यद्यपि पूर्ण मात्रा से किसी-किसी में अतिसार, हल्लास तथा बेचैनी होती है।

इसके तैल से बने हुए लवण सोडियम या पोटेशियम मार्गोसेट (Margosate) का उपयोग त्वचा, मांसपेशी तथा सिरा के द्वारा किया जाता है। इसका शरीर में जीवाणुविरोधी कार्य होता है। पामा (Scabies), छाजन (Eczema) एवं स्फोट (Pemphigus) में इससे अच्छा लाभ होता है। फिरंग की प्रथम एवं द्वितीयावस्था में चिकित्सा जिनमें नहीं की गई उनकी अपेक्षा इसके द्वारा अधिक लाभ होता है। इसमें इसे ०·०१–०·३२ ग्राम सूचिकाभरण द्वारा दिया जाता है। फिरंग की तृतीयावस्था या द्वितीयावस्था के अन्त के ग्रन्थि (गमा) तथा त्वचा के विकार इससे जल्दी अच्छे होते हैं, यद्यपि इसका परिणाम पाश्चात्य चिकित्सा की अन्य पारद, आयोडाइड आदि औषधियों के इतना संतोषजनक नहीं होता। कुष्ठ एवं फिरंगादि में तैल की अपेक्षा इसके सूचिकाभरण एवं मार्गोसिक् ॲसिड के स्थानिक प्रयोग से अधिक लाभ होता है।

(४) इसके फल विरेचक एवं स्नेहन हैं तथा कृमि, अर्श एवं मूत्रविकार में इसका उपयोग करते हैं। अर्श में इसके बीज को गुड के साथ खिलाते हैं।

(५) इसके पुष्प का फांट ज्वर के पश्चात् बल्यरूप में एवं पाचन की खराबी में देते हैं।

(६) इसकी ताडी में शर्करा, ॲल्ब्युमिन, गोंद एवं लौह, खटिक तथा अल्युमिनिअम् के लवण होते हैं। यह दीपन, पोषक, बलप्रद, कृमिघ्न, रसायन एवं चर्मविकारों में लाभदायक मानी जाती है।

मात्रा—अन्तस्त्वक् चूर्ण २–४ माशा; स्वरस ½–२ छटाँक; तैल ५–१० बूँद।

अथ महानिम्बः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

महानिम्बः स्मृतो द्रेका रम्यको विषमुष्टिकः। केशमुष्टिर्निम्बकश्च कार्मुको जीव इत्यपि ॥९७॥
महानिम्बो हिमो रूक्षस्तिक्तो ग्राही कषायकः ॥ ९८ ॥
कफपित्तभ्रमच्छर्दिकुष्ठहृल्लासरक्तजित्। प्रमेहश्वासगुल्मार्शोमूषिकाविषनाशनः ॥ ९९ ॥

महानिम्ब के नाम तथा गुण—महानिम्ब, द्रेका, रम्यक, विषमुष्टिक, केशमुष्टि, निम्बक, कार्मुक और जीव ये सब संस्कृत नाम 'बकायन' के हैं। **बकायन**—शीतवीर्य, रूक्ष, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त और ग्राही (मलावरोधक) होता है। यह कफ, पित्त, भ्रम, वमन, कुष्ठ,

हृल्लास (उबकाई), रक्तदोष, प्रमेह, श्वास, गुल्म, बवासीर और चूहे का विष इन सबों का नाशक होता है ॥ ९७-९९ ॥

नोट—महानिंब के विषय में कुछ भ्रम है। भावप्रकाश, धन्वन्तरि एवं मदनपाल निघंटुओं में निंब तथा महानिंब ये दो भेद मिलते हैं। राजनिघंटु में एक तृतीय भेद कैडर्य का उल्लेख किया है। कैडर्य नाम कायफल के लिये आता है। किन्तु टीकाकारों ने उसका अर्थ पर्वतनिंब भी किया है। चरक एवं सुश्रुत में 'पर्वतनिंब' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। कुछ लोगों ने कैडर्य को मीठा नीम ले०-मुरया कोनिजीआई (Murraya koenigii) माना है किन्तु रा० नि० ने कैडर्य का स्वाद कटु तिक्त कषाय लिखा है। एइलेन्थस् एक्सेल्सा (Ailanthus excelsa) को कुछ लोगों ने महानिंब माना है जिसको पंजाबी में 'अरुअ' कहने के कारण कुछ लोग अरलू के स्थान पर प्रयोग करते हैं या अरलू (श्योनाक) का भेद मानते हैं। अधिकांश लोगों ने बकायन को, जिसका ले०-नाम मेलिआ एझेडेरॅक् (Melia azedarach) है उसे महानिंब माना है। निघंटुओं में महानिंब का पर्याय 'द्रेका' दिया हुआ है तथा बकायन को पंजाब में द्रेक कहते भी हैं। अर्श में महानिम्ब का प्रयोग वाग्भट ने किया है (चि० अ० ८) एवं वैद्य तथा हकीमों में बकायन के फलों का प्रयोग प्रचलित है। महानिंब का 'अक्षीर' यह पर्याय अन्य निघंटुओं ने दिया है तथा निंब का पर्याय 'हिंगुनिर्यास' दिया हुआ है जो क्रमशः बकायन एवं नीम की ओर संकेत करते हैं। सुश्रुत में पिप्पल्यादिगण (सू० अ० ३८) में महानिंब के फल का एवं अधोभाग हरवर्ग (सू० अ० ३९) में 'रम्यक' नाम से इसकी त्वचा का उल्लेख है।

यहाँ पर दोनों प्रकार के महानिम्बों का वर्णन अलग-अलग किया गया है।

४४ (क) महानिंब (बकायन)

हिं०-बकायन, बकाइन, महानीम। **बं०**-घोडानिम, महानिम। **म०**-बकाणानिंब। **गु०**-बकानलिंबडो। **क०**-बेट्टदबेव। **ते०**-तुरक वेधक, कोंड वेप। **ता०**-मलैवेम्बु। **पं०**-द्रेक, धरेक, बकइन। **कोल०**-गरनिम। **आसाम०**-थमगा। **ने०**-बकैनु। **सिन्धु०**-बकायुन, ड्रेक। **फा०**-आजाद दरख्त। **अ०**-बान्, हबींत। **अं०**-Persian Lilac (पर्शियन् लिलॅक्); The Bead Tree (बीड ट्री)। **ले०**-*Melia azedarach* (मेलिआ एझेडेरॅक्)। Fam. Meliaceae (मेलिएसिइ)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसका वृक्ष पाया जाता है। बकायन का वृक्ष सुन्दर, मध्यमाकार का, नीम वृक्ष से छोटा और अचिरस्थायी होता है। नीम के पत्तों के समान इसके भी पत्ते होते हैं। **पत्त**-प्राय. त्रिपक्षवत्, २ फीट लंबे और शाखाओं पर दलबद्ध होकर रहते हैं। **पत्रक**-प्रासवत्, आरावत् दन्तुर, लम्बाग्र, नीम जैसे किन्तु उससे कुछ कम लंबे तथा कम मुडे हुए होते हैं। **पुष्प**-लिलॅक (Lilac) एवं सुगंधित रहते हैं जिसके आभ्यंतर दल फैले हुए, श्वेत या बैंगनी रंग के होते हैं तथा बीच में पुंकेसरों की गहरे बैंगनी रंग की नलिका रहती है। **फल**-नीम की तरह अष्ठिल फल प्रायः १ इञ्च से कम लंबे होते हैं। **बीज**-प्रत्येक फल में ५ बीज होते हैं जिनके बीच में मणि के समान छिद्र होता है जिसके कारण इनकी माला बनाई जाती है।

इसके मूल की ताजी अन्तस्त्वक्, पुष्प, फलमज्जा एवं पत्र का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी अन्तस्त्वक् में हलके पीतवर्ण का, कडुवा तथा राल की तरह का पदार्थ रहता है जो उबलते जल में घुलता है। बाह्यत्वक् में टॅनिन रहता है। इसमें शर्करा भी पाई जाती है।

गुण और प्रयोग—बकायन के गुण साधारणत. नीम के समान हैं। यह कृमिघ्न, त्वग्दोषहर, गर्भाशयसंकोचक, वेदनाहर, अर्शोघ्न एवं शोधन है। अधिक मात्रा में यह वामक, विरेचक एवं संज्ञानाशन है। इससे केंचुए मरते हैं।

प्रसूता में शिरःशूल एवं गर्भाशयपीडा कम करने के लिये इसके पुष्पों को पीसकर सर पर एवं पेडू पर बाँधते हैं। रक्तविकार के कारण उत्पन्न कुष्ठ, गंडमाला एवं खालित्य आदि त्वचा के

विकारों में इसके बीज, छाल या पत्रस्वरस को देते हैं। अर्श में इसके फल की मज्जा का उपयोग किया जाता है। इसके पुष्प एवं पत्तों को पीसकर स्नायविक शिरःशूल में लेप करते हैं। इसके पत्तों का क्वाथ हिस्टीरिया में पिलाते हैं।

मात्रा—छाल ३ से ६ माशा; फलमज्जा २ से ८ रत्ती।

४५ (ख) महानिंब

हिं०—महानिंब, घोडाकरंज। **बं०**—महानिम। **म०**—महारूख। **गु०**—मोटो अर्डुसो, अरलवो। **पं०**—अरूअ। **ता०**—पेरुमरुत्तु। **ते०**—पेद्दमानु। **क०**—दोड्डुमणि। **मल०**—पेरुमरम्। **उरि०**—महानिम, महाल। **ले०**—*Ailanthus excelsa* (एइलेन्थस् एक्सेलसा)। Fam. Simarubeae (सिमारुबी)।

यह भारत के कई प्रान्त—उत्तरप्रदेश, विहार, पश्चिमी पेनिनसुला, कर्नाटक एवं गुजरात आदि में पाया जाता है।

इसका **वृक्ष** ६० से ८० फीट ऊँचा होता है। **छाल**—धूसर वर्ण की होती है। **पत्ते**—२-३ फीट लंबे, पक्षवत्, संयुक्त पत्र होते हैं। **पत्रक**—३½"–६" लंबे, २–३" चौड़े, अधरतल पर रोमश, नोकदार, दन्तुर धारवाले, तिरछे आधारवाले, संख्या में १०–१३ जोड़े, १–२" लंबे वृन्त से युक्त एवं आधार के पास दो रोमश ग्रंथियों से युक्त होते हैं। पत्तों में उग्र गंध आती है। **पुष्प**—पीताभ, बडी-बड़ी मंजरियों में आते हैं। **फल**—ढीमी की तरह बीच से फूला हुआ एवं अन्त में अकुड़ेदार होता है जिसमें एक बीज रहता है। इसकी लकडी हलकी तथा मुलायम होती है।

इसकी छाल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। इसमें गन्ध नहीं होती किन्तु इसका स्वाद बहुत कडवा होता है। यह मोटी, खुरदरी तथा रवेदार होती है। इसका बाह्यभाग तथा अन्दर का भाग पीताभ श्वेत रहता है तथा अन्दर रेशे मालूम होते हैं। भिगाने से यह फूलती है, चिपचिपी होती है तथा उसमें अप्रिय गन्ध आती है।

इसे कुछ लोगों ने महानिंब तथा कुछ लोगों ने श्योनाक-भेद माना है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में एइलेन्टिक् ॲसिड (Ailantic acid) नामक एक अत्यन्त कडुआ, रक्ताभ भूरे रंग का पदार्थ पाया जाता है जो जल में आसानी से घुल जाता है किन्तु मद्यसार में आसानी से नहीं घुलता।

गुण और प्रयोग—यह कडुआ, पौष्टिक, दीपन, ग्राही एवं ज्वरहर है। इसका प्रभाव कुरैया के समान होता है।

प्रसूता को इसके पत्रस्वरस या ताजी छाल के रस को नारियल के दूध, गुड़, मधु एवं सुगंधित पदार्थों के साथ खीर बनाकर देने से प्रसवपश्चात् पीडा कम होती है। इसकी छाल एवं पत्तों का क्वाथ प्रसवपश्चात् दौर्बल्य के लिये बल्यरूप में देते हैं। जीर्णज्वर या दौर्बल्य में इसके प्रयोग से बल बढ़ता है। अग्निमांद्य में इसके छाल का रस १½ औं० की मात्रा में दिन में दो बार देते हैं। एइलेन्टिक् एसिड को बल्य एवं रसायनरूप में ½–१½ र० की मात्रा में दिया जाता है किन्तु अधिक मात्रा में इससे हृल्लास, वमन एवं विरेचन होता है।

मात्रा—¼–½ तो०।

अथ पारिभद्रः (फरहद)। तस्य नामानि तत्पत्रस्य च गुणाँश्चाह

पारिभद्रो निम्बतरुर्मन्दारः पारिजातकः
पारिभद्रोऽनिलश्लेष्मशोथमेदःकृमिप्रणुत्। तत्पत्रं पित्तरोगघ्नं कर्णव्याधिविनाशनम्[1] ॥१००॥

फरहद के नाम तथा गुण—पारिभद्र, निंबतरु, मन्दार और पारिजातक ये सब संस्कृत नाम फरहद के हैं। **फरहद**—वायु, कफ, शोथ, मेदरोग और कृमि का नाशक होता है। इसके **पत्ते**—पित्तरोग तथा कान के रोगों को दूर करने वाले होते हैं॥ १००॥

नोट—पारिभद्र के जो पर्याय निंबतरु, मदार एवं पारिजातक दिये हुये हैं उनसे कुछ भ्रम उत्पन्न होता है। इसी प्रकार देवदार एवं पर्वतनिंब के लिये भी पारिभद्र नाम का उपयोग

१. पुष्पं पित्तरुजं हन्ति कर्णव्याधिं विनाशयेत्॥ (नि. र.)

किया गया है। पारिभद्र से अधिकांश विद्वान् फरहद का ग्रहण करते हैं। संदर्भ के आधार पर या टीकाकारों के मतानुसार पारिभद्र का अर्थ निंब, देवदार या पारिजातक किया जा सकता है। पारिजाता यह नाम हरसिंगार के लिये अधिक प्रचलित होने के कारण एव पारिभद्र का पारिजातक यह पर्याय होने के कारण हरसिंगार को ही कुछ लोग पारिभद्र मानते हैं। कुछ विद्वानों के मत से हरसिंगार 'शेफालिका' हो सकती है किन्तु भावप्रकाशकार तथा अन्य निघण्टुकारों ने शेफाली(लिका) को निर्गुण्डीभेद लिखा है।

पारिभद्रक नाम से सुश्रुत ने पूतनाप्रतिषेध (उ. अ. ३२-३) के लिये एव कृमि (उ. अ. ५४-२६) के लिये उपयोग लिखा है। पारिजातक नाम से प्लीहोदर (चि. १४-१२) में एव पारिजात नाम से उदकमेह (चि. ११-८) में उल्लेख है। यहाँ पर फरहद एवं हरसिंगार दोनों का अलग अलग वर्णन किया गया है।

४६ फरहद

हि०–फरहद, पागरा। **बं०**–पालते मादार। **मा०**–पाङ्गारा। **गु०**–पाडेरवो, पनरवो। **क०**–शेंगर, हलिवाणदमर। **ते०**–मोदुगो, वरिदे चेट्टु, बारिजमु। **ता०**–कल्याण मुरूक्क। **अं०**–Coral Tree (कोरल ट्री)। **ले०**–*Erythrina indica* (एरिथ्रिना इण्डिका)। Fam. Papilionaceae (पेपिलिओनेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाया जाता है, विशेषकर कोंकण और उत्तर कनारा में अधिक मिलता है।

इसका वृक्ष मध्यमाकार का, शीघ्रता से बढने वाला तथा समय पाकर नष्ट हो जाने वाला होता है। कोमल डालियों पर सीधे, काले रङ्ग के तीक्ष्ण काँटे रहते हैं। **छाल**–चिकनी तथा हरी, भूरी, हलकी पीली या श्वेत खडी रेखाओं से युक्त एव पतली पपड़ियाँ छूटने पर हरी होती है। **पत्ते**–पलाशपत्र के समान त्रिदल होते हैं। पत्रक—४-६ इञ्च के घेरे में गोलाकार और किञ्चित् नुकीले होते हैं। अग्र का पत्रक सबसे बडा होता है। पुष्पदण्ड ४ इञ्च लम्बा और मंजरी प्रायः ६ इञ्च लम्बी होती है। **फूल**–अत्यन्त रक्त वर्ण के सुहावने दीख पड़ते हैं। पुष्प का बाह्यकोश एक ओर मूल तक फट जाता है और अग्र पर पाँच दाँत बन जाते हैं। आभ्यन्तर दल पाँच होते हैं जिनमें एक सबसे बडा होता है। इनके बीच से लाल पुंकेसरों का गुच्छा निकला रहता है। इनमें गन्ध नहीं होती। **फलियाँ**–३-१० इञ्च लम्बी, चिपटी, चोंचदार, किंचित् टेढ़ी, ताजी अवस्था में हरी किन्तु बाद में काली हो जाती हैं। **बीज**–सख्या में ६-१२, चिकने, भूरे या लाल, अडाकार तथा करीब १ इञ्च बडे होते हैं।

इसी का एक उपभेद होता है जिसके पुष्प मटमैले श्वेताभ रंग के होते हैं।

इसकी दूसरी जाति ए. सुबरोजा (E. suberosa), **धवलढाक**–उत्तर भारत में अधिक होती है, इसके वृक्ष छोटे होते हैं। इसकी छाल मोटी कार्क वाली, पत्रक चौडे लट्वाकार या तिर्यगायताकार एव पुष्प का बाह्यकोश द्वयोष्ठक होता है।

फरहद की छाल एव पत्र का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। छाल ह्लासकारक तो होती है किन्तु कडवी नहीं होती।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में दो प्रकार की राल एवं एक कड़वा एरिथेराइन (Erytherine) नामक विषैला क्षाराभ पाया जाता है जो कुचले के क्षाराभ स्ट्रिकनीन (Strychnine) के विषैले प्रभाव का निवारक (Antidote) माना जाता है। यह क्षाराभ पत्तों में भी पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—फरहद की छाल ज्वरहर, ग्राही, बल्य, कृमिघ्न, स्वप्नजनन एवं शोथहर होती है। इसके पत्ते मूत्रल, मृदुविरेचक, आर्तवजनन, दुग्धवर्धक, शोथहर, व्रणशोधक एवं कृमिघ्न होते हैं। केन्द्रीयवातनाडीसस्थान के ऊपर इसकी छाल का शामक प्रभाव पडने के कारण उसकी क्रिया कम होती है या बन्द होती है। हृदय पर भी इसका शामक प्रभाव पडता है। कुचले के प्रभाव के विरुद्ध इसका प्रभाव पडता है।

इसकी छाल को रक्तयुक्त आँव, ज्वर तथा निद्रा लाने के लिये प्रयोग करते हैं। नेत्राभिष्यंद में छाल को पीसकर पलकों पर लगाते हैं। इसकी छाल के अन्दर के भाग पर घी लगाकर तथा उस पर घी के दिये का काजल जमाकर इसका नेत्र के विकारों में अञ्जन कराया जाता है। वाजीकरण के लिये सफेद फूल के फरहद की कोमल जड को पीस कर शीतल दूध के साथ पिलाते हैं।

इसके पत्तों का स्वरस फिरंग, उपदंश, ज्वर, अनार्तव, कष्टार्तव, मूत्रकृच्छ्र एवं कृमि में पिलाया जाता है। व्रणप्रक्षालन के लिये एव कर्णशूल, दंतशूल आदि के लिये भी इसका उपयोग करते हैं। पत्तों का लेप शोथ, बद, सधिपीडा तथा व्रण पर किया जाता है। इससे वेदना कम होती है। आर्तवशुद्धि तथा दुग्धवृद्धि के लिये नारियल के दूध के साथ इसके पत्तों को उबालकर बनाया हुआ क्वाथ प्रसूता को पिलाया जाता है।

मात्रा—त्वक्चूर्ण $\frac{1}{2}$-१ तो०; पत्रस्वरस $\frac{1}{2}$-१ तो०।

४७ पारिजाता, हरसिंगार

सं०-शेफालिका। **हिं०**-हरसिंगार, पारिजाता, कूरी, सिहारु। **बं०**-शेफालिका, शिउली। **म०**-पारिजातक। **गु०**-हारशणगार। **पं०**-कूरी, पुकर। **ता०**-पवळमल्लिकै। **ते०**-पगडमल्ले। **मल०**-पविझमल्लि। **क०**-पारिजात। **अं०**-Night Jasmine (नाइट जस्मीन), Weeping Nyctanthes (वीपिंग् निक्टेन्थिस्); Tree of Sorrow (ट्री ऑफ् सारो)। **ले०**-*Nyctanthes arbor-tristis, Linn.* (निक्टेन्थिस् आर्बोर्-ट्रिस्टिस्, लिन.)। Fam. Oleaceae (ओलिएसिइ)।

यह मध्यभारत तथा हिमालय के निचले प्रदेशों में बहुत होता है। यह प्रायः सब प्रांतों के बागों में लगाया हुआ मिलता है।

इसका **वृक्ष**-छोटा, झाडीदार तथा कभी-कभी २५-३० फीट ऊँचा होता है। **छाल**-हलके भूरे रंग की तथा खुरदरी होती है। **काष्ठ**-श्वेत तथा हरित हलके लाल या पीताभ भूरे रग की होती है। **पत्ते**-जपापत्र की तरह, करीब ४ इच लम्बे, २$\frac{1}{2}$ इंच चौडे, विपरीत, स्पर्श में अत्यन्त रूक्ष (खर), नुकीले, अडाकार, आधार की तरफ गोल, नीचे का पृष्ठ मृदुरोमश, पत्रतट अखड या दूर-दूर पर कुछ दन्तुर एवं मजबूत पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**-अत्यन्त सुगन्धित होते हैं। इनकी पंखडियाँ श्वेत एवं पुष्पवृन्त केसरिया वर्ण के होते है। ये रात को खिलते हैं तथा सुबह झड़ जाते हैं। **फल**-चिपटे, गोल, हरे रंग के, करीब $\frac{3}{4}$ इच व्यास के एवं किनारे पर दवे हुए रहते हैं। बाद में ये भिदुर एव भूरे रग के हो जाते हैं। **बीज**-छोटे, दो, चिपटे तथा अंडाकार होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पुष्पों में एक सुगधित उडनशील तैल रहता है। पुष्पवृन्त से एक प्रकार का रंग निकाला जाता है जिससे रेशमी वस्त्र रँगा जाता है। इसके पत्तों में एक निक्टेन्थाइन (Nyctanthine) नामक क्षाराम पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—पारिजातक ज्वरघ्न, कफघ्न, यकृदुत्तेजक, मृदुविरेचक एव शामक है। इसके पत्र सॅन्टोनिन् (Santonin) जैसे कृमिघ्न, ज्वरघ्न, तिक्तपौष्टिक, पित्तद्रावक एव मृदुविरेचक होते हैं। बच्चों के लिये इसके पत्तों का स्वरस अच्छा मृदुविरेचक होता है।

(१) इसके पत्तों का (शेफालिकादलैः) मंद आँच पर बनाया हुआ क्वाथ गृध्रसी (Sciatica) के लिये बहुत लाभदायक माना जाता है (चक्रदत्त)। शेफालिका यह नाम नीलनिर्गुण्डी के पर्याय में आया हुआ है तथा व्यवहार में निर्गुण्डी का उपयोग गृध्रसी में किया जाता है। इस दृष्टि से हरसिंगार के पत्तों की अपेक्षा निर्गुण्डी का प्रयोग उचित मालूम पड़ता है।

(२) जीर्ण ज्वर के लिये इसके ७-८ कोमल पत्तों का स्वरस, आर्द्रकस्वरस एवं मधु मिलाकर देते हैं। मलेरिया में यह बहुत लाभदायक है। जीर्ण मलेरिया में इसके साथ त्रिकटु का प्रयोग उचित है। इससे यकृत एवं प्लीहावृद्धि कम होती है। पाण्डु होने पर इसके साथ लौह क

प्रयोग किया जाता है। इसके सेवन के समय पथ्य में दुग्ध घृत एवं शर्करा का अधिक उपयोग किया जाता है।

(३) बच्चों के कृमि (केचुए) के लिये पत्तों के स्वरस को चीनी मिलाकर देते हैं।

(४) खाँसी तथा दमा में इसकी छाल के चूर्ण को १-२ र० की मात्रा में पान में रखकर दिन में ३-४ बार देने से कफ का चिपचिपापन कम होता है।

(५) इसके बीजों को जल में पीसकर सर के गंज पर लगाते हैं जिससे इसके जन्तु मर कर नये बाल उगते हैं।

मात्रा—पत्र २-४; छालचूर्ण १-२ र०।

अथ काञ्चनारो रक्तकाञ्चनारश्च, तयोर्नामानि तत्पुष्पस्य गुणाँश्चाह

काञ्चनारः काञ्चनको गण्डारिः शोणपुष्पकः॥ १०१॥
कोविदारश्च मरिकः कुद्दालो युगपत्रकः। कुण्डली ताम्रपुष्पश्चाश्मन्तकः स्वल्पकेशरी॥१०२॥
काञ्चनारो हिमो ग्राही तुवरः श्लेष्मपित्तनुत्। कृमिकुष्ठगुदभ्रंशगण्डमालाव्रणापहः॥१०३॥
कोविदारोऽपि तद्वत्स्यात्तयोः पुष्पं लघु स्मृतम्। रूक्षं संग्राहि पित्तास्रप्रदरक्षयकासनुत्॥१०४॥

कचनार तथा लाल कचनार के नाम और गुण—काञ्चनार, काञ्चनक, गण्डारि और शोणपुष्पक ये सब संस्कृत नाम कचनार के हैं। कचनारभेद कोविदार के संस्कृत नाम—कोविदार, मरिक, कुद्दाल, युगपत्रक, कुण्डली, ताम्रपुष्प, अश्मन्तक और स्वल्पकेशरी ये सब हैं। **कचनार**—शीतवीर्य, मलावरोधक, कषायरसयुक्त, कफ, पित्त, कृमि, कुष्ठ, गुदभ्रंश, गण्डमाला और व्रण को दूर करनेवाला होता है। इसी प्रकार से कचनारभेद कोविदार के भी गुण हैं। दोनों कचनारों के **फूल**—लघु, रूक्ष, मलावरोधक एव पित्त, रक्त-प्रदर, क्षय तथा कास (खाँसी) को दूर करने वाले होते हैं॥ १०१–१०४॥

नोट—भावप्रकाशकार ने काञ्चनार एवं कोविदार ये दो भेद लिखे हैं किन्तु दोनों के गुण समान ही लिखे हैं। रा० नि० एव ध० नि० ने कोविदार एवं काञ्चनार ये पर्यायरूप में लिये हैं किन्तु रा० नि० ने इसके 'पीत पुष्प', 'गिरिज', 'महापुष्प' आदि अन्य पर्यायों का भी उल्लेख किया है। नि० र० ने पीत, रक्त एवं श्वेत ये ३ भेद दिये हैं तथा उनके गुणों का स्वतंत्र उल्लेख किया है।

आधुनिक उद्भिद्वेत्ताओं ने भी इसकी कई जातियों का उल्लेख किया है। बौहिनिआ वेरिगेटा (Bauhinia variegata) को अधिकाश लोगों ने काञ्चनार माना है। इसके पुष्प चमकीले बैंगनी, गुलाबी, किरमिजी, श्वेत आदि रंगों के होते हैं। इसी प्रकार बौहिनिआ पर्प्यूरिआ (B. purpurea) को कोविदार मानते हैं क्योंकि इसको कहीं कहीं स्थानिक भाषा में कोइलार कहते हैं जो समवतः कोविदार का अपभ्रंश है। इसके पुष्प गहरे गुलाबी, नीलारुण या चमकीले बैंगनी आदि रंगों के होते हैं। इससे ऐसा मालूम होता है कि केवल पुष्पवर्ण के आधार पर कोविदार या काञ्चनार का भेद नहीं किया जा सकता। वास्तव में इनके गुणों में अन्तर न होने के कारण इसकी आवश्यकता भी नहीं है। वैसे तो ध० नि० एव रा० नि० ने इन्हें पर्याय ही माना है। कुछ लोगों ने श्वेत पुष्प को काञ्चनार एव रक्तपुष्प को कोविदार माना है।

बौ० टोमेन्टोसा (B. tomentosa) के पुष्प पीतवर्ण के होते हैं।

भावप्रकाशकार ने कोविदार के पर्याय में **अश्मंतक** का उल्लेख किया है। रा० नि० एवं ध० नि० दोनों ने अश्मतक का कोविदार से अलग स्वतंत्र वर्णन किया है। श्री ठा० बलवन्तसिंह जी 'बिहार की वनस्पतियाँ' नामक पुस्तक में लिखते हैं, 'उपर्युक्त दोनों जातियों को (इसी वर्ग के बौ० रेसिमोसा (B. racemosa) एव बौ० मलबारिका (B. malabarica)) कुछ ग्रन्थकारों ने प्राचीनों का अश्मतक माना है, परन्तु इसमें सन्देह है।'

४८ कचनार

(क) हिं०–कचनार, कञ्चनार, कचनाल, गोरिआव। **बं०**–काञ्चन, रक्त काञ्चन। **कोल०**–जुरजु, जुज, जुरंग। **म०**–कोरल, काञ्चन। **सन्ता०**–झिजर। **गु०**–चम्पाकाटी। **ने०**–टेकी।

मल०–चुवन्नमंदारम्। **क०**–कैयुमंदार। **ते०**–देवकाञ्चनमु। **ता०**–सेगपुमुन्थरी। **अं०**–Mountain Ebony (माउन्टेन् एबोनी)। **ले०**–*Bauhinia variegata* (बौहिनिया बेरिगेटा)। Fam. Caesalpiniaceae (सिसेल्पिनिएसी)।

यह हिमालय के नीचे वाली जमीन में, सिकम की ओर तथा सब प्रान्तों में उत्पन्न होता है। इसका वृक्ष मध्यमाकार का अचिरस्थायी होता है। **छाल**–भूरे रङ्ग की और **लकड़ी**–किञ्चित भूरापन युक्त बादामी रङ्ग की होती है। **पत्ते**–एकान्तर, ३–६ इञ्च लंबे तथा उतने ही चौड़े, द्विखण्डित, खण्ड लगभग चौथाई या तिहाई दूरी तक गहरे (युग्मपत्र), पत्राग्र गोल, पंखे की तरह फैली हुई संख्या में १३–१५ शिराओं वाले एव करीब १ इञ्च लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**–शीत ऋतु में पत्ते गिर जाने के पश्चात् ही सुगंधित पुष्प गिरे हुए पत्तों के कोणों से निकले रहते हैं। पुष्पदंड छोटे तथा आपद्म या नीलारुण रंग के होते हैं। कलिकाएँ घेरे में गोलाई लिये होती हैं। **पुष्प**–बड़े, श्वेत, गुलाबी, चमकीले बैंगनी तथा किरमिजी रंग के होते हैं। श्वेत पुष्पों का एक या अधिक दलपत्र चित्रित पीतवर्ण का होता है। दलपत्रों में मजबूत मध्यशिरा होती है और आधार से लाल बैंगनी रंग की शिराएँ निकली रहती हैं। **फली**–लंबी, चिपटी कुछ मुड़ी हुई, करीब १ फुट तक लंबी एवं १०–१५ बीजों से युक्त होती है।

(ख) सं०–कोविदार। **हिं०**–कोविदार, खैरवाल, सोना, कोइना(ला)र। **बं०**–देवकाञ्चन, रक्तकाञ्चन। **संथा०**–सिहरा। **ता०**–मंदारि, पेद्दाआरि। **ते०**–कांचनम्। **ले०**–*Bauhinia purpurea* (बौहिनिआ पर्प्युरिआ)।

इसके भी (क) की तरह के ही मध्यम ऊँचाई के वृक्ष होते हैं। ये छोटे रहने पर ही फूलने-फलने लगते हैं। **पत्ते**–बहुत गहराई तक कटे हुए, आयताकार, ५-७ इञ्च लम्बे, खंड के अग्र प्रायः कोणीय एवं पत्रसिराएँ ९-११ रहती हैं। **पुष्प**–पुष्पकलिका गहरे हरे या भूरे रंग की एवं पाँच कोणों से युक्त होती है। पुष्प (क) की अपेक्षा छोटे, पाँच दलपत्रों से युक्त, चमकीले बैंगनी, नीलारुण या गहरे गुलाबी रंग के होते हैं। काञ्चनार तथा कोविदार दोनों में बाह्यनाल लंबा और पूर्ण पुंकेशर ३-५ होते हैं। **फली**–लम्बी हरिताभ बैंगनी रंग की होती है। इसकी जड़ विषैली होती है।

(ग) सं०–पीत कोविदार। **ता०**–तिरूवत्ती। **ते०**–कांचीनी। **म०**–सोन। **सिलो०**–कहपेतन। **ले०**–*Bauhinia tomentosa* (बौहिनिया टोमेन्टोसा)।

यह लंका में अधिक होता है। इसके पुष्प पीतवर्ण के किन्तु आधार की तरफ कुछ हलके भूरे या किरिमिजी रंग के धब्बों से युक्त होते हैं।

सभी कांचनार की छाल, पत्र एव पुष्पों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। कोमल कलिकाओं का शाक बनाया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में टैनिन होता है। इससे एक प्रकार का गोंद भी निकलता है।

गुण और प्रयोग—कांचनार की छाल ग्राही, रसायन, वल्य, व्रणशोधक एवं व्रणरोपक है। इसके पुष्प रक्तपित्तहर हैं। छाल की क्रिया त्वचा तथा रसग्रंथियों पर होती है जिससे वहाँ की विनिमयक्रिया सुधरती है। इसकी अधिक मात्रा से वमन तथा विरेचन होता है।

(१) गंडमाला तथा अपची में इसकी छाल का बहुत प्रयोग किया जाता है। इसका क्वाथ गुग्गुल के साथ पिलाते हैं तथा इससे व्रणप्रक्षालन करते हैं। गंडमाला में सोंठ एवं इसका चूर्ण चावल के धोवन के साथ देते हैं। इसकी छाल को पीसकर लेप भी करते हैं। नये रोग में इससे अधिक लाभ होता है। इसकी छाल का क्वाथ कुष्ठ, चर्मरोग, अतिसार एवं व्रण में दिया जाता है। मसूरिका में इसके क्वाथ में सुवर्णमाक्षिक भस्म डालकर पिलाते हैं। खदिरफल, दाडिमपुष्प एवं इसकी छाल के क्वाथ से कुल्ला करने से अधिक लालास्राव तथा गले के विकारों में लाभ होता है।

रक्तपित्त में इसके पुष्प का चूर्ण मधु के साथ चटाते हैं तथा इसकी शाक खिलाते हैं। पुष्पों का क्वाथ रक्तप्रदर, रक्तार्श, रक्तमेह तथा कास एवं रक्तातिसार आदि में दिया जाता है। मृदुविरेचक रूप में इसके पुष्पों को चीनी के साथ खिलाते हैं।

इसके मूल का चूर्ण मट्ठे के साथ अर्श में दिया जाता है। मूल का क्वाथ अपचन तथा आध्मान में दिया जाता है।

मात्रा—त्वक्चूर्ण २-४ माशा। पुष्पकलिकाचूर्ण १-२ माशा।

अथ शोभाञ्जनः (सहिजना), (श्यामः श्वेतो रक्तश्च)
तन्नामानि तद्गुणाँश्चाह

शोभाञ्जनः शिग्रुतीक्ष्णगन्धकाक्षीवमोचकाः।
तद्बीजं श्वेतमरिचं मधुशिग्रुः सलोहितः। शिग्रुः कटुः कटुः पाके तीक्ष्णोष्णो मधुरो लघुः॥१०५॥
दीपनो रोचनो रूक्षः क्षारस्तिक्तो विदाहकृत्। संग्राही शुक्रलो हृद्यः पित्तरक्तप्रकोपणः॥१०६॥
चक्षुष्यः कफवातघ्नो विद्रधिश्वयथुक्रिमीन्। मेदोऽपचीविषप्लीहगुल्मगण्डव्रणान्हरेत्॥१०७॥
श्वेतः प्रोक्तगुणो ज्ञेयो विशेषाद्दाहकृद्भवेत्।
प्लीहानं विद्रधिं हन्ति व्रणघ्नः पित्तरक्तहृत्। मधुशिग्रुः प्रोक्तगुणो विशेषाद्दीपनः सरः॥१०८॥

सहिजन के भेद, नाम तथा गुण—सहिजन के १. श्याम सहिजन, २. श्वेत सहिजन तथा ३. लाल सहिजन इस प्रकार से ३ भेद होते हैं। शोभाञ्जन, शिग्रु, तीक्ष्णगन्धक, अक्षीव और मोचक ये सब संस्कृतनाम सहजन के हैं। सहजन के बीज को 'श्वेतमरिच' कहते हैं। जो 'लाल सहजन' होता है उसे 'मधुशिग्रु' कहते हैं। शिग्रु अर्थात् **श्याम सहजन**—स्वाद तथा पाक में कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, मधुर, लघु, अग्निदीपक, रोचक, रूक्ष, क्षार, तिक्तरसयुक्त, दाहकारक, मलावरोधक, शुक्रजनक, हृदय को हितकर, पित्त-रक्त को कुपित करने वाला, नेत्रों को हितकर, कफ-वात-नाशक एवं विद्रधि, शोथ, कृमि, मेदरोग, अपची, विष, प्लीहा, गुल्म, गलगण्ड और व्रण का नाशक होता है। इसी प्रकार से 'सफेद सहजन' के भी गुण हैं किन्तु वह विशेष करके दाहकारक तथा प्लीहा, विद्रधि, व्रण और पित्त-रक्त का नाशक होता है। मधुशिग्रु अर्थात् 'लाल सहजन' के भी पूर्वोक्त सभी गुण हैं किन्तु विशेष करके वह अग्निदीपक तथा सारक (दस्तावर) होता है॥ १०५-१०८॥

अथ शिग्रुवल्कलपत्रस्वरसगुणानाह

शिग्रुवल्कलपत्राणां स्वरसः परमार्त्तिहृत्॥ १०९॥

सहजन की छाल तथा पत्तों के स्वरस के गुण—सहजन की छाल तथा पत्तों का स्वरस असह्य पीडा को दूर करता है॥ १०९॥

अथ शिग्रुबीजगुणानाह

चक्षुष्यं शिग्रुजं बीजं तीक्ष्णोष्णं विषनाशनम्। अवृष्यं कफवातघ्नं तन्नस्येन शिरोऽर्त्तिनुत्॥११०॥

सहजन के बीज—नेत्रों को हितकर, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, विषनाशक, अवृष्य और कफ-वात-नाशक होते हैं। सहजन के बीजों का चूर्ण करके नस्य लेने (सूँघने) से शिर की पीडा दूर होती है॥ ११०॥

४६ सहिजना

हिं०—सहिजना, सहिजन, सहजन, सहजना, मैजन, मुनगा। **बं०**—सजिना। **म०**—शेवगा, शेगटा। **मा०**—सहिजनो, सहिंजणो। **क०**—नुग्गे। **ते०**—मुनग। **गु०**—सेकटो, सरगवो। **ता०**—मोरुङ्गै, मुरिणकै। **प०**—सोंहजना। **मला०**—मुरिण्णा। **ब्राह्मी०**—डोडलों विन। **यू०**—सिनोह। **फा०**—सर्वकोही। **अं०**—Horse Radish Tree (हॉर्स रेडिश ट्री), Drum Stick Tree (ड्रम स्टिक् ट्री)। **ले०**—*Moringa pterygosperma* (मोरिङ्गा टेरीगोस्पर्मा)। Fam. Moringaceae (मोरिंगेसी)।

यह हिमालय के निचले प्रदेशों में चेनाव से लेकर अवध तक जंगलीरूप में तथा भारत के प्रायः सभी प्रांतों में एवं बर्मा में लगाया हुआ मिलता है।

इसका **वृक्ष** साधारण-वृक्षों के समान छोटा २०–२५ फुट ऊँचा होता है। **छाल**–चिकनी, मोटी, कार्कयुक्त, भूरे रङ्ग की एवं लम्बाई में फटी हुई और लकडी कमजोर होती है। **पत्ते**–संयुक्त, प्रायः त्रिपक्षवत् तथा १–३ फीट क्वचित् ५ फीट तक लवे होते हैं। **पत्रक**–अंडाकार, लट्वाकार, विपरीत एवं करीव ½–¾ इञ्च लंबे होते हैं। कार्त्तिक महीने से वसन्त ऋतु के आरम्भ तक फूलों के गुच्छे टहनियों के अन्त में दिखाई पडते हैं। **पुष्प**–श्वेतवर्ण के तथा मधु की तरह गन्ध वाले होते हैं। **फलियाँ**–गोल, त्रिकोणाकार, अगुलिप्रमाण मोटी, ९-२० इञ्च लम्बी, बीजों के बीच बीच में पतली एवं बड़ी-बड़ी खड़ी ९ रेखाओं से युक्त होती हैं। उनमें सफेद, सपक्ष, त्रिकोणाकार तथा लगभग १ इञ्च लंबे बीज होते हैं। बीजों को **सफेद मरिच** भी कहते हैं। इससे गोंद भी निकलता है जो पहले दुधिया रहता है किन्तु बाद में वायु का सम्पर्क होने पर ऊपर से गुलावी या लाल हो जाता है। इसकी कच्ची सेमों का साग और अचार बनाते हैं। इसकी छाल के रेशों से कागज, चटाई, डोरी आदि बनाते हैं। जानवर—विशेषकर ऊँट—इसकी टहनिओं को खाते हैं।

इसके मूल, मूल की ताजी छाल, फली, पत्र, बीज एवं गोंद आदि का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। इसकी जड़ बाहर से खुरदरी, जालीदार, हलके भूरे रंग की एव अन्दर से श्वेत रग की होती है। हार्सरॅडिश की तरह इसका स्वाद कुछ तीता एवं गन्ध भी तीक्ष्ण होता है।

मोरिंगा कोन्केनेन्सिस् (Moringa concanensis) नामक एक जाति राजपूताना तथा सिन्ध में होती है। इसकी फलियाँ कडवी होती हैं। इसके पुष्प अधिकांश लाल होते हैं।

लाल, काले एवं श्वेतपुष्प भेद से सहजन ३ प्रकार का माना जाता है। अधिकांश श्वेतपुष्प का ही सहजन देखा जाता है। सम्भव है स्थानभेद से कहीं-कहीं रक्त तथा श्यामवर्ण के भी सहजन प्राप्त होते हों। भावप्रकाशकार रक्तपुष्प वाले को मधुशिग्रु कहते हैं। संभव है इस (श्वेत जो अधिकांश मिलता है) वृक्ष के पुष्पों में मधु की तरह गंध होने से इसका नाम मधुशिग्रु दिया हो।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में करीव ३६% एक निर्गन्ध स्वच्छ तैल रहता है जो सूक्ष्म यन्त्रों में स्निग्धीकरण के काम आता है। यह रखने से खराब भी नहीं होता। बेन ऑइल (Ben-oil) नामक तैल जो घड़ीसाज व्यवहार में लाते हैं वह अधिकतर अफ्रीका में होने वाले इसी की जाति के वृक्ष (M. aptera मो. आप्टेरा) के बीजों से निकाला जाता है। सुगध-व्यवसाय में भी इसका उपयोग करते हैं। अस्थिर गन्ध भी इसमें स्थाई हो जाती है।

इसके मूल में स्पाइरोचिन् (Spirochin) नामक कार्यशील क्षारीय द्रव्य (Basic) एव प्टेरिगोस्पर्मिन् (Pterygospermin) नामक एक प्रतिजैविकीय पदार्थ (Antibiotic) रहता है। इसमें एक उग्र दुर्गन्धयुक्त तैल भी पाया जाता है

स्पाइरोचिन नामक क्रियाशील द्रव्य ग्रामग्राही (Gram positive) उपसर्गों, विशेषकर स्तवक गोलाणु एव मालागोलाणुजन्य (Staphylococcal and streptococcal) उपसर्गों में लाभदायक है। यह अधिच्छदीय (Epithelial) कोषाओं की कार्यवृद्धि करता है तथा इसमें कुछ वेदनाहरण का भी गुण है। वातनाडियों पर इसका सामान्यतया अवसादक प्रभाव (General paralysing effect) पडता है। इससे गर्भाशय के अनियमित संकोचों का शमन होकर उसे बल मिलता है।

प्टेरिगोस्पर्मिन अनेक प्रकार के छत्राणुओं (Fungi) की वृद्धि को रोकता है। इसके साथ अल्प मात्रा में न्यूक्लिक ॲसिड (Nucleic acid) होने पर इसकी कार्यशीलता बहुत बढ जाती है। यह ७५००० में १ एवं ४०००० में १ इस अल्प प्रमाण में क्रमशः ग्रामग्राही एवं ग्रामत्यागी (Gram negative) जीवाणुविरोधी कार्य करता है। ॲलिसिन (Allicin) की तरह यह रक्त एव आमाशयिक रस की उपस्थिति में कार्यशील रहता है किन्तु अग्न्याशयिक रस (Pancreatic Juice) की उपस्थिति में इसकी कार्यशीलता नष्ट हो जाती है।

गुण और प्रयोग—सहिजन के मूल की ताजी छाल उष्ण, कटु, दीपन, पाचन, उत्तेजक, वातानुलोमक, वातहर, कफहर, कृमिघ्न, शिरोविरेचन, स्वेदजनन, मूत्रजनन, चक्षुष्य, शोथहर एवं व्रणदोषनाशक है। वृक्कशोथ में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसका बाह्यलेप त्वग्रागकारक है।

इसका उपयोग अपची, गुल्म, विद्रधि, शोथ, प्लीहावृद्धि, कृमि, रजःकृच्छ्र, हिक्का, श्वास, कफज्वर, पाचन के विकार एव व्रण में किया जाता है।

इसके नये वृक्ष की मूल को ज्वर, अपस्मार, अपतंत्रक, अंगघात, जीर्ण आमवात, जलोदर, यकृद्-वृद्धि, प्लीहावृद्धि तथा अपचन में देते हैं। सैंधव एवं हींग के साथ मूलत्वक् का क्वाथ विद्रधि, शोथ, फोड़े, अश्मरी, अपस्मार एवं अपतंत्रक में दिया जाता है। सत्रे का छिलका, जायफल एवं इसकी मूलत्वक् का मद्यसारीय अर्क मूर्च्छा, चक्कर, स्नायविक दौर्बल्य, अपतंत्रक, आध्मान एवं उद्वेष्टन-युक्त आंत्रिक विकारों में लाभदायक है। मुखजाड्य, अर्दित, पक्षाघात आदि वातनाड़ीसंस्थान के रोगों में इसका स्वरस दिया जाता है।

व्रणशोथ पर छाल को पीसकर लेप करते हैं तथा खिलाते हैं। गले की शिथिलता, मुखविकार, कृमिदंत में इसके क्वाथ से कुल्ला कराते हैं। इसकी ताजी जड को सरसों एवं अदी के साथ पीसकर प्रतिक्षोभक एव विस्फोटकारक प्रलेप के रूप में उपयोग करते हैं। सन्धिशोथ तथा शरीर की पीडा में छाल का उष्ण लेप थोडी देर के लिये करते हैं।

इसके बीजों के तेल की संधिवात, आमवात तथा वातरक्त में मालिश करते हैं। मूर्च्छा में बीजों का चूर्ण नाक में डालते हैं।

इसका गोंद ग्राही होता है तथा आमवात में प्रयोग किया जाता है। इसके पुष्प को दूध में उबालकर वाजीकरण के लिये पिलाते हैं। इसकी फली का साग आंत्रकृमिप्रतिबंधक मानते हैं। इसके कोमल पत्तों का साग खाने से शौच साफ होता है।

मात्रा—मूलत्वक् ४ से ८ माशा।

अथ श्वेतपुष्पा नीलपुष्पा चापराजिता (कोयल) तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

आस्फोता गिरिकर्णी स्याद्विष्णुक्रान्ताऽपराजिता। अपराजिते कटू मेध्ये शीते कण्ठ्ये सुदृष्टिदे॥
कुष्ठमूत्रत्रिदोषामशोथव्रणविषापहे। कषाये कटुके पाके तिक्ते च स्मृतिबुद्धिदे॥ ११२॥

सफेद तथा नीले फूल की कोयल के नाम तथा गुण—आस्फोता, गिरिकर्णी, विष्णुक्रान्ता और अपराजिता ये दोनों प्रकार की 'कोयल' के सस्कृत नाम हैं। **दोनों कोयल**—कटु, तिक्त तथा कषायरसयुक्त, मेधा के लिये हितकर, शीतवीर्य, कण्ठस्वर को उत्तम बनाने वाली, देखने की शक्ति को बढ़ाने वाली तथा कुष्ठ, मूत्ररोग, त्रिदोष, आम, शोथ, व्रण एव विष को नष्ट करनेवाली, विपाक में कटुरसयुक्त, स्मृति तथा बुद्धि को देने वाली होती है॥ १११-११२॥

नोट—भावप्रकाशकार आस्फोता, गिरिकर्णी, विष्णुक्रान्ता तथा अपराजिता ये चार पर्याय लिखते हैं। ध. नि. एव रा. नि. में इसके 'अश्वक्षुर', 'श्वेतस्पन्दा' आदि अन्य पर्याय दिये हुए हैं किन्तु विष्णुक्रान्ता का वहाँ उल्लेख नहीं है। आगे शखपुष्पीभेद में विष्णुक्रान्ता[1] का उन्होंने स्वतन्त्र उल्लेख किया है जिसके ध. नि. ने नील, शुक्ल एव रक्तपुष्पभेद से ३ भेद किये हैं। वहाँ पर रा. नि. ने (शखपुष्पी के अतिरिक्त) नीलपुष्पा, अपराजिता ये पर्याय विष्णुक्रान्ता के दिये हैं। भावप्रकाशकार शंखपुष्पी के पर्यायों में विष्णुक्रान्ता का उल्लेख नहीं करते।

अधिकांश विद्वानों ने अपराजिता को क्लिटोरिआ टर्नेटिआ (Clitoria ternatea) माना है तथा इसके नील एवं श्वेतपुष्प भेद पाये भी जाते हैं। किन्तु केरल में इसका (क्लि. टर्नेटिआ को) शखपुष्पी नाम से व्यवहार करते हैं ऐसा उल्लेख 'आयुर्वेदिक फ्लोरा मेडिका' में है। इसी प्रकार एव्होल्व्यूलस् अॅल्सेनॉइडीस् (Evolvulus alsenoides) जिसे अधिकांश विद्वान् शंखपुष्पी मानते हैं उसका केरल में विष्णुक्रान्ता नाम से व्यवहार किया जाता है।

१. विष्णुक्रान्ता कटुस्तिक्ता कफवातामयापहा। (ध. नि.)

श्री ठा० बलवन्तसिंह जी का मत है कि एह्वॉल्वयूलस् ॲल्सेनाइडीस् (पुष्प नीले) को ही विष्णुक्रान्ता मानना चाहिये तथा नीलापराजिता को विष्णुक्रान्ता नहीं मानना चाहिये। (इसे अधिकांश लोगों ने शंखपुष्पी माना है)। इसी प्रकार शंखपुष्पी के पुष्पों का श्वेत होना आवश्यक होने के कारण ए. ॲल्सेनॉइडीस् से मिलती जुलती उसी वर्ग की अन्य जाति कन्होह्वुलस् प्लुरिकॉलिस् (Convolvulus pluricaulis) को शखपुष्पी मानना चाहिये जिसके पुष्प हल्के गुलावी या श्वेत रंग के पाये जाते हैं तथा जिनके गुणों में विशेष अन्तर नहीं है। कुछ लोगों ने कन्स्कोरा डिकसेटा (Canscora decussata) को शंखपुष्पी माना है।

शखपुष्पी का आगे स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। यहाँ अपराजिता (क्लिटोरिआ टर्नेनिआ) का वर्णन किया गया है।

५० अपराजिता

हि०–अपराजिता, कोयल, कालीज़र। **बं०**–अपराजिता। **म०**–गोकर्णी, काजली, गोकर्ण। **पं०**–धनन्तर। **गु०**–गरणी। **क०**–शंखपुष्प, गिरिकर्णिके। **ता०**–काक्कणनकोटी। **ते०**–दिंटेन। **मल०**–शखपुष्पम्। **इरा०**–मझेरियुन्-इ-हिंदी। **अं०**–Winged-leaved clitoria (विंगड लिव्ड् क्लिटोरिआ)। **ले०**–*Clitoria ternatea* (क्लिटोरिआ टर्नेटिआ)। Fam. Papilionaceae (पेपिलिओनेसी)।

यह सव प्रान्तों में पाई जाती है। अधिकतर यह वगीचों में लगाई हुई मिलती है। वस्तियों के आस-पास वन्य अवस्था में भी कभी-कभी दिखाई देती है। पुष्पभेद से यह नील एवं श्वेत दो प्रकार की होती है।

इसकी **लता**–बहुवर्षायु, सुन्दर तथा पतले काण्ड की होती है। यह वृक्षों या झाड़ियों पर लिपटती हुई (चक्रारोही) वढ़ती है। **पत्ते**–सयुक्त, असम-पक्षवत (Imparipinnate) रहते हैं। **पत्रक**–प्रायः ५ कभी-कभी ७, अण्डाकार एव १-२ इंच लम्बे होते हैं। **पुष्प**–जलसीप के आकार वाले नलीयुक्त, गोल, चमकीले **नीले** अथवा कभी-कभी **श्वेत** पुष्प १½–२ इंच वडे एवं पत्रकोणीय पुष्पदंड में एकाकी रहते हैं। ध्वजदल चम्मच के आकार का और पक्षदलों के नीचे फैला रहता है। कोणपुष्पक वडे, स्थायी तथा पर्णसदृश होते हैं। **फली**–२-४ इंच लम्बी, चिपटी, नुकीली तथा सीधी या वहुत थोडी मुड़ी हुई होती है। **वीज**–६-१० अंडाकार, चिपटे, चिकने तथा गहरे भूरे रंग के होते हैं।

इसके मूल का अधिक उपयोग किया जाता है। इसके पुष्प, पत्र एवं वीज आदि का भी उपयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसकी जड़ की छाल में स्टार्च, टैनिन, राल तथा ११% राख होती है। वीज में तैल, कडुवी भूरे रंग की राल तथा ६% राख होती है।

गुण और प्रयोग—इसकी **जड़** भेदन, मूत्रल एव वेदनास्थापन है। इससे वमन भी होता है। वमन के साथ-साथ पेट में दर्द होकर विरेचन भी होता है। कभी-कभी वमन नहीं भी होता। इसके वीज जलप की तरह किन्तु सौम्य भेदन तथा अल्प मूत्रजनन हैं। विरेचन के लिये वीजों के साथ सोंठ एवं सेंधव का उपयोग किया जाता है।

इसका उपयोग उदर, कफविकार, ज्वर, मूत्रविकार, गलगण्ड, गण्टमाला, अपची, शोथ, नेत्ररोग, उन्माद, आमवात, कुष्ठ एवं विष में किया जाता है।

(१) सभी प्रकार के जलोदर में विरेचन के लिये इसका उपयोग करते हैं। इससे विष का निर्हरण होता है।

(२) शुक्रमेह, वस्तिशोथ एव मूत्रकृच्छ्र में इसकी जड़ का फांट पिलाया जाता है।

(३) बच्चों के कास श्वास में बीजों को सेंक पीसकर थोड़ा गुड एवं सेंधव मिलाकर पिलाने से दस्त के साथ कफ निकल कर आराम मिलता है। कफविकारों में मूल को दूध के साथ पिलाते हैं।

(४) अर्धावभेदक में श्वेत अपराजिता की जड़ के स्वरस का नस्य कराया जाता है।

(५) इसके पत्तों का रस, आर्द्रकरस के साथ पसीना रोकने के लिये देते हैं। त्वग्रोगों में पत्तों का फांट पिलाते हैं। कान के चारों तरफ सूजन होकर ग्रन्थियों की वृद्धि होने पर पत्तों को सैंधव के साथ पीसकर लगाते हैं।

(६) सर्पविष में इसकी जड़ की छाल तथा निर्गुण्डी मूलत्वक् को जल में पीस कर पिलाने से लाभ होता है। (च० चि० अ० २५)

मात्रा—मूलत्वक् चूर्ण १॥-३ माशा; बीजचूर्ण १०-२० र०।

अथ सिन्दुवारः (मेउड़ी-सेन्दुवार) निर्गुण्डी (नीलसम्हालू) इति च तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

सिन्दुवारः श्वेतपुष्पः सिन्दुकः सिन्दुवारकः।
नीलपुष्पी तु निर्गुण्डी शेफाली सुवहा च सा ॥ ११३ ॥
सिन्दुकः स्मृतिदस्तिक्तः कषायः कटुको लघुः।
केश्यो नेत्रहितो हन्ति शूलशोथाममारुतान्। क्रिमिकुष्ठारुचिश्लेष्मज्वरान्नीलापि तद्विधा ॥ ११४ ॥

सम्हालू जिसे लोक में मेउडी तथा सेन्दुवार कहते हैं, उसके भेद, नाम तथा गुण—सम्हालू दो प्रकार का होता है एक सफेद फूल वाला, दूसरा नीले फूल वाला। सफेद फूल वाले सम्हालू के संस्कृत नाम—सिन्दुवार, सिन्दुक और सिन्दुवारक ये सब हैं। नीले फूल वाले सम्हालू के संस्कृत नाम—निर्गुण्डी, शेफाली और सुवहा ये सब हैं। **सम्हालू**-(सफेद फूल वाला) स्मरणशक्तिवर्धक, तिक्त, कषाय और कटुरसयुक्त, लघु, केश तथा नेत्र के लिये हितकारी होता है एवं यह शूल, शोथ, आमवात, कृमि, कुष्ठ, अरुचि और कफ-ज्वर को नष्ट करता है। इसी भाँति नीले फूल वाले सम्हालू के भी गुण हैं ॥ ११३-११४ ॥

अथ सिन्दुवारपत्रगुणानाह

सिन्दुवारदलं जन्तुवातश्लेष्महरं लघु ॥ ११५ ॥

सम्हालू के पत्तों के गुण—**सम्हालू के पत्ते**—कृमि, वात और कफ को दूर करने वाले तथा लघु होते हैं ॥ ११५ ॥

नोट—सम्हालू के दो भेदों का भावप्रकाशकार ने वर्णन किया है। 'निर्गुण्डी' यह नीले सम्हालू के लिये कहा गया है। निर्गुण्डी का ही पर्याय शेफाली दिया गया है। ध० नि० ने 'सिन्दुवार' के श्वेत एवं नील भेद दिये हैं तथा 'शेफालिका' के भी निर्गुण्डी (नीलपुष्प) एवं शुक्ला ये भेद दिये हैं। इसी प्रकार रा० नि० एवं म० नि० ने भी शेफाली से नील (निर्गुण्डी) का ग्रहण किया है। श्री ठा० बलवन्त सिंहजी शेफालिका यह नाम हरसिंगार (Nyctanthes arbor-tristis) के लिए उचित समझते हैं। हरसिंगार का वर्णन पहले पृष्ठ २८१ पर किया गया है।

कुछ लोगों ने 'नीलनिर्गुण्डी' नाम जस्टिसिआ जेन्डारुसा (Justicia gendarusa) को दिया है जिसका पृष्ठ २७० पर वर्णन किया गया है।

आधुनिक उद्भिज्जवेत्ताओं ने भी इसके कई भेदों का वर्णन किया है। वाइटेक्स नेगुण्डो (Vitex negundo) में श्वेत या हलके नीले दोनों प्रकार के पुष्प पाये जाते हैं तथा पत्रक भी अखंड या दन्तुर दोनों प्रकार के होते हैं। इसके अतिरिक्त इसका एक भेद वाइटेक्स ट्राइफोलिआ (Vitex trifolia) भी पाया जाता है। रेणुकबीज, जिनका पृष्ठ २०९ पर वर्णन किया गया है वे भी ईरान में होनेवाली निर्गुण्डी जाति के वृक्षों के फल हैं।

५१ सम्हालू-निर्गुण्डी

हि०-सम्भालू, सम्हालू, सन्दुआर, सिनुआर, मेउडी। बं०-निशिन्दा। म०-लिंगड, निगड, निर्गुण्टी। पं०-बन्न, मरवन, मौरा। गु०-नगोड़, नगड। ता०-नोच्चि। म०-करिनोच्चि। ते०-वाविली, तेल्लावाविलि। क०-बिलिनेक्कि। फा०-पजवगुस्त। अ०-असलक। अं०—

Five Leaved Chaste Tree (फ़ाइव लीव्ड चेस्ट-ट्री), Indian Privet (इण्डियन प्रिवेट)।
ले०-*Vitex negundo* (वाइटेक्स नेगुण्डो)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

इसके वृक्ष प्रायः सब प्रान्त के वन, उपवन, नदियों के किनारे, गावों के आसपास की परती जमीन में और बागों में भी पाये जाते हैं।

इसके बड़े बड़े **गुल्म** प्रायः ६-१८ फीट ऊँचे अथवा कभी कभी बड़े वृक्ष के समान होते हैं। इस पर श्वेताभ रोमावरण होता है। **छाल**-पतली, चिकनी तथा धूसरवर्ण की होती है। **पत्ते**-सदल तथा ३-५ पत्रकों से युक्त होते हैं। **पत्रक**-भालाकार, लम्बाग्र, अखण्ड या गोल दन्तुर, २-५ इंच लम्बे, ½-१½ इञ्च चौड़े तथा छोटे बड़े आकार के होते हैं। अग्र का पत्रक लम्बा एवं उसका वृन्त भी लम्बा होता है। नीचे के पत्रक या बगल वाले पत्रक छोटे तथा छोटे या विना वृन्त के होते हैं। ये ऊपर से हरे तथा नीचे श्वेताभवर्ण के होते हैं। **पुष्प**-आयताकार और २-८ इञ्च लम्बी मञ्जरियों में निकले रहते हैं। ये श्वेत या हलके नीले (बैंगनी) रङ्ग के होते हैं। **फल**-छोटे, गोल, ¼ इञ्च व्यास के तथा पकने पर काले रङ्ग के होते हैं।

इसकी एक दूसरी जाति होती है जिसे (ले०) वाइटेक्स ट्रिफोलिया (Vitex trifolia) कहते हैं। इसके **पत्ते**-१-३ पत्रक होते हैं। पत्रक १-३ इंच लम्बे, सभी अवृन्त, अभिलट्वाकार या अभिलट्वाकार-आयताकार, अखण्ड तथा किञ्चित् कुण्ठिताग्र होते हैं। **पुष्प**-हलके नीले वर्ण के होते हैं। **फल**-काले रङ्ग के तथा ¼ इञ्च व्यास में होते हैं।

इनके पचांग तथा पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। कुछ विद्वानों के मत से दन्तुर पत्र अधिक लाभदायक माने जाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में एक रंगहीन गंधयुक्त उडनशील तैल तथा एक राल होती है। इसके बीजों में अम्ल राल, कषाय आर्गेनिक् अम्ल, मॅलिक् एसिड, अत्यल्प क्षाराभ तथा रंजक द्रव्य होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कटु, तिक्त, कषाय, उष्ण, लघु, दीपन, वेदनास्थापन, वातहर, कफहर, ज्वरघ्न, मूत्रजनन, आर्तवजनन, कृमिघ्न, मस्तिष्कबलदायक, शोथघ्न, विषहर, बल्य एवं रसायन है। शोथघ्न, वेदनास्थापन एवं वातहर गुण बहुत प्रभावशाली हैं। इसके पुष्प शीतल तथा पित्तनाशक हैं। (सु सू. अ. ४६)

इसका प्रयोग आमवात, वातव्याधि, कास, ज्वर, प्रदर, शूल, अपचन, आध्मान, अपची, क्षय, कुष्ठ, शोथ, व्रण, प्लीहावृद्धि एवं कृमि में किया जाता है। सभी प्रकार के रोगों में शिलाजतु के साथ इसका प्रयोग लाभदायक होता है।

(१) शोथयुक्त सभी व्याधियों में यह बहुत ही लाभदायक है। फुफ्फुसशोथ, फुफ्फुसावरण-शोथ, उदरावरणशोथ, किसी प्रकार का संधिशोथ, तीव्र आमवातिक संधिशोथ एव सोजाक में कभी-कभी होनेवाले अण्डशोथ में इसका अन्तर्बाह्य प्रयोग करते हैं। इसके पत्तों को पीसकर हाँडी में गरम कर शोथ पर दिन में ३, ४ बार बाँधना चाहिये। इसके साथ करंज, नीम तथा धतूरे के पत्तों का भी उपयोग करने से अधिक लाभ होता है। निर्गुण्डी में आनुलोमिक गुण न होने के कारण शोथ में प्रारंभ में नागदन्ती या रसकपूर जैसे विरेचक औषध का उपयोग करना चाहिये।

(२) कफज्वर, फुफ्फुसपाक तथा फुफ्फुसावरणशोथ आदि में इसके पत्तों का स्वरस या क्वाथ छोटी पीपल के साथ पिलाते हैं तथा पत्तों से सेकते हैं। प्रतिश्याय तथा गले के शोथ में इसके सूखे पत्तों का धूम्रपान कराया जाता है तथा पत्तों का क्वाथ छोटी पीपल एवं घोडबच के साथ पिलाते हैं। कास में पत्रस्वरससिद्धघृत का उपयोग लाभदायक है। राजयक्ष्मा में इसके पंचांग के स्वरस से सिद्ध घृत या स्वरस में घृत मिलाकर प्रयोग करते हैं।

(३) आमवात में निर्गुण्डी, तुलसी एव भगरैया का स्वरस अजवाइन के चूर्ण के साथ देते हैं तथा पत्तों से सेंकते हैं। गृध्रसी में नीले पुष्पवाली निर्गुण्डी के पत्तों का क्वाथ पिलाते हैं तथा पत्तों से सेंकते हैं।

(४) शीतज्वर, विषमज्वर एवं सूतिकाज्वर आदि में इसके पत्तों का चूर्ण, पंचांगस्वरस, फाट या क्वाथ को देते हैं तथा इसके क्वाथ से शरीर पोंछते हैं। इससे शरीर का दाह एवं दुर्गन्धि कम होती है। विषमज्वर में प्लीहावृद्धि होने पर इसके पत्र एवं हरीतकी को गोमूत्र के साथ देते हैं या पत्तों को कुटकी एवं रसौत के साथ देते हैं। सूतिकाज्वर में इससे आर्तवशुद्धि होती है तथा गर्भाशय एवं उसके आसपास के अंगों का शोथ भी कम होता है। इसमें आन्तरिक प्रयोग के साथ इसके पत्तों को गरम करके बाधते हैं। ज्वर में वमन तथा तृषाशान्ति के लिये इसके पुष्प मधु के साथ खिलाते हैं।

(५) नहरुवा कृमि में इसको खिलाते हैं तथा इससे सेंकते हैं।

(६) इसके मूल एवं पत्रस्वरस से सिद्ध तैल का शोथ, व्रण, नाडीव्रण, कुष्ठ, अपची, गंडमाला तथा सन्धिपीडा में व्यवहार किया जाता है। कर्णपूय में मधु के साथ इस तैल को कान में डालते हैं।

(७) सोजाक में पेशाब रुकने पर इसके उष्ण क्वाथ में रोगी को बैठाते हैं।

(८) पाँव की जलन में पत्तों को बाँधते हैं। शिरःशूल में पत्तों को पीसकर सर पर बाँधते हैं तथा फलों के चूर्ण का नस्य देते हैं। सोते समय सर के नीचे पत्तों की तकिया भी रखते हैं।

(९) कीड़े आदि से रक्षा करने के लिये चावल, कपडे तथा पुस्तकों में इसके पत्ते रखते हैं।

मात्रा—पत्रस्वरस १-२ तो०; पत्रचूर्ण ¼-½ तो०; मूलत्वक् १-३ मा०।

अथ कुटजः (कुडा-कोरैया) तस्य नामगुणानाह

कुटजः कूटजः कौटो वत्सको गिरिमल्लिका ॥ ११६ ॥
कालिङ्गः शक्रशाखी च मल्लिकापुष्प इत्यपि। इन्द्रो यवफलः प्रोक्तो वृक्षकः पाण्डुरद्रुमः॥११७॥
कुटजः कटुको रूक्षो दीपनस्तुवरो हिमः। अर्शोऽतिसारपित्तास्रकफतृष्णाऽऽमकुष्ठनुत् ॥११८॥

कुडा के नाम तथा गुण—कुटज, कूटज, कौट, वत्सक, गिरिमल्लिका, कालिङ्ग, शक्रशाखी, मल्लिकापुष्प, इन्द्र (इन्द्र पर्यायवाचक सभी शब्द), यवफल, वृक्षक और पाण्डुरद्रुम ये सब कुडा के संस्कृत नाम हैं।

कुडा—कटु तथा कषायरसयुक्त, रूक्ष, अग्निदीपक और शीतवीर्य होता है। एवम् यह बवासीर, अतिसार, पित्त, रक्त, कफ, तृषा, आम तथा कुष्ठ को दूर करता है॥ ११६-११८॥

५२ कुडा

हि०—कूडा, कोरया, कुडा, कौरैयाँ, कुरैय्याँ। **बं०**—कुरचि। **म०**—पाढरा कुडा। **गु०**—कडो। **क०**—कोरासिमिन। **ते०**—काककोडिसे, पला कोडसा। **उ०**—कुडिया। **ता०**—वेप्पालै, कोडगपल। **मल०**—वेनपाला। **फा०**—जवाने गुजस्खे तलख। **अ०**—लसनुलुास फिरुलमुर्र, तिवाज। **अं०**—Kurchi, Conessi or Tellicherry Bark (कुर्चि, कोनेसि या तेलिचेरि-बार्क) **ले०**—*Holarrhena antidysenterica* (होलेरेना एन्टिडिसेन्ट्रिका)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

यह भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में आर्द्र भूमि को छोडकर तथा हिमालय की ४००० फीट ऊँची चोटियों पर उत्पन्न होता है। इसके छोटे छोटे वृक्ष दून और सहारनपुर के जङ्गलों में बहुत होते हैं। कहीं कहीं इसको रोपित भी किया जाता है।

कूडे का **वृक्ष** बहुत ऊँचा नहीं होता, प्रायः ८-१० हाथ ऊँचा वृक्ष देखने में आता है। **छाल**—चौथाई इञ्च तक मोटी, खुरदरी, भूरे रङ्ग की होती है। लकड़ी हलकी पीली और कोमल होती है। **पत्ते**—५-१० इञ्च लम्बे तथा २-४ इञ्च चौडे, नोकिले, लट्वाकार-अण्डाकार या कुछ आयताकार चिकने या मृदुरोमश एव प्रधान शिराएँ १०-१४ युग्म होती हैं। **फूल**—सफेद आते हैं और उनमें कुछ सुगन्धि जान पडती है। **फलियाँ**—दो दो एक साथ परन्तु असयुक्त, ८ से १६ इञ्च तक लम्बी, पतली, तिहाई इञ्च मोटी और कुछ टेढी होती हैं। **बीज**—जई के समान आध इञ्च तक लम्बे, रेखाकार, आयताकार और अन्त के सिरे पर प्रायः हलके भूरे रङ्ग के रोम गुच्छ से युक्त होते हैं। इन्हें इन्द्रजव कहते हैं, और वे स्वाद में कडवे होते हैं। **इन्द्रजव** तथा इसकी **आर्द्र**

छाल का विशेष व्यवहार किया जाता है। इसी वृक्ष को श्वेत- कुटज या पुंकुटज कहा जाता है तथा गुण में यह 'प्रतिनिधि तथा व्यामिश्रण' में लिखित राइटिया टिन्क्टोरिया, सं०—कृष्ण कुटज या स्त्रीकुटज जिसके बीजों को मीठा इन्द्रजव कहते हैं उससे उत्कृष्ट है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल एवं बीजों में अनेक प्रकार के क्षाराभ (Alkaloids) पाये जाते हैं जिनमें कोनेसाइन (Conessine, $C_{24} H_{40} N_2$), कुर्चिन (Kurchine, $C_{23} H_{38} N_2$), कुर्चिसीन (Kurchicine, $C_{20} H_{36} ON_2$) तथा होलेह्निनाइन (Holarrhenine, $C_{24} H_{38} ON_2$) आदि मुख्य हैं। इसकी छाल में सम्पूर्ण क्षाराभों की अधिकतम मात्रा ४.५% से अधिक नहीं होती तथा बीजों में यह छाल की अपेक्षा कम होते हैं। प्रायः छाल में २.५% और बीज में .०२५% यह रहते हैं।

इसके विभिन्न क्षाराभों का प्रयोग जानवरों पर तथा मनुष्यों में किया गया है तथा उसके परिणामों का अध्ययन किया गया है जिसमें सम्पूर्ण क्षाराभ अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है।

(१) संपूर्ण क्षाराभ (Total alkaloids)—नवीन आमातिसार (Acute Amoebic Dysentery) में इसका ½ र० (१ ग्रेन) की मात्रा में प्रतिदिन पेश्यन्तर्य सूचिकाभरण करने से एमेटीन (Emetine) की अपेक्षा अधिक लाभ हुआ। एमेटीन के समान इससे कोई विषैला प्रभाव जैसे अवसाद (Depression), वमन, प्रक्षोभ (Irritation) एवं संचायि (Cumulative) प्रभाव नहीं हुआ। इसको प्र. दि. १ र० (२ ग्रेन) की मात्रा में भी सूचिकाभरण करने से एमेटिन के समान शारीरिक वा मानसिक किसी भी प्रकार का अवसाद (Depression) नहीं होता। सिवाय अत्यधिक मात्रा के इसका गर्भाशय पर कोई विषैला प्रभाव नहीं पड़ता। इसके सूचिकाभरण के स्थान पर केवल कुछ पीडा एवं सूजन हो जाती है जो २४ से ४८ घण्टे में दूर हो जाती है। इससे कोई स्थानिक कोथ (Necrosis) या रक्त स्राव नहीं होता जैसा एमेटीन में होता है। पुराने रोगियों में इसके सूचिकाभरण से विशेष लाभ नहीं होता।

(२) कुर्ची विस्मथ आयोडाइड (Kurchi bismuth iodide)—यह नारंगी लाल रंग का चूर्ण होता है। इसमें २७% सम्पूर्ण क्षाराभ तथा २२.८५% बिस्मथ तथा आयोडीन (Iodine) ५०.१५% रहता है। पुराने आमातिसार (Chronic Amoebic Dysentery) में इसका मुख द्वारा प्रयोग लाभदायक है। इसको ५ र० (१० ग्रेन) दिन में दो वार १० से २० दिन तक दिया जाता है। इससे नाडी की गति, वेग, बल एवं रक्त के दवाव पर कोई दुष्परिणाम नहीं होता। हृद्-विकारों के रोगियों में भी इसके देने से कोई विषैला प्रभाव नहीं दिखलाई देता। एमेटीन के समान वमन, अतिसार आदि अन्य प्रक्षोभक उपद्रव भी इसके प्रयोग से नहीं होते न कोई संचायि (Cumulative) प्रभाव ही होता है। इसके सेवन से ½ घंटा पूर्व क्षारीय मिश्रण देना चाहिये क्योंकि प्रायः अतिसार में पाखाने की प्रतिक्रिया अम्ल होती है जिसमें कुर्ची कम प्रभावशाली होती है। उपयुक्त सूचिकाभरण के साथ इसका प्रयोग किया जा सकता है अथवा इसके साथ एमेटीन की सूई भी दी जा सकती है। इन क्षाराभों का प्रभाव अमीबाजन्य यकृत् विकृति पर अभी निश्चित नहीं हुआ है।

(३) कोनेसाइन (Conessine)—इस क्षाराभ को भी सूचिकाभरण द्वारा दिया जा सकता है लेकिन इसकी अपेक्षा सपूर्ण क्षाराभ का प्रयोग करना अधिक अच्छा है। जानवरों में प्रयोग से मालूम हुआ है कि यह हृदय, श्वसन-संस्थान तथा मस्तिष्क के लिये हानिकर है। यह २८०, ००० में १ हिस्से के अनुपात में भी अमीबा के लिये क्षारीय घोल में ८ मिनट में तथा बिना क्षारीय घोल में १८ मिनट में घातक है जब कि एमेटीन २००, ००० में १ भाग में घातक होती है। इसके सूचिकाभरण से भी संपूर्ण क्षाराभ के समान स्थानिक प्रतिक्रिया होती है लेकिन जानवरों के समान मनुष्यों में कोई विशेष विषैला प्रभाव नहीं पडता। एक विशेष महत्त्व की बात यह है कि यह क्षाराभ परख नली (In vitro) में क्षय दण्डाणु (Tubercle bacillus) की वृद्धि रोकने में समर्थ है।

गुण और प्रयोग—इसकी आर्द्र छाल कड़वी, अग्निदीपक, पाचक, ग्राही, अतिसारहर, ज्वरहर एवं रक्तसंग्राहक है।

इसका प्रयोग रक्तातिसार, संग्रहणी, प्रवाहिका, ज्वरातिसार, जीर्णज्वर, पचन संस्थान के अनेक विकार, श्वास एवं वृक्कशूल आदि रोगों में किया जाता है। इसको पुटपाक, अवलेह, क्वाथ, फांट, चूर्ण या अरिष्ट के रूप में व्यवहार में लाते हैं। सुगन्धि, संग्राही तथा अतिसार-नाशक अन्य औषधियों के साथ इसके क्वाथ या चूर्ण का प्रयोग लाभदायक है। इसकी छाल को खट्टे मट्ठे के साथ पीस कर लेने से अधिक गुण होता है। यह बच्चों एव गर्भिणी में विना किसी भय के दी जा सकती है।

(१) अतिसार की किसी भी अवस्था में यह औषधि बहुत लाभदायक सिद्ध हुई है। विशेष कर रक्तातिसार तथा पुराने आमातिसार (Chronic amoebic dysentery) में इसके प्रवाही सत्त्व (Liquid extract) का स्वतत्र प्रयोग या उसके साथ इसवगोल, एरंड तैल या इन्द्रजव आदि को देने से बहुत लाभ होता है। इसके क्वाथ या फाट के साथ अतीस, घोडवच या मोचरस मिलाकर दे सकते हैं। एमेटीन के सूचिकाभरण के साथ इसको मुख द्वारा लेने से अधिक लाभ देखा गया है। इससे बनी हुई औषधिया जैसे कुर्चिसॉल (Kurchisol), कुर्चिलॉइड (Kurchiloid), कुर्चिबार्क एक्स्ट्राक्ट (Kurchi bark extract) आदि डाक्टरी दुकानों में बिकती हैं जिनका प्रयोग सुगम है एव उनके क्षाराभों की मात्रा भी निश्चित रहती है। कुटज एपिकाकुआन्हा के समान कार्यकर औषधि है तथा उसमें इसके कुछ भी दोष नही है। आयुर्वेदिक योगों में अवलेहादि के अतिरिक्त कुटजाष्टक क्वाथ (शार्ङ्ग) एव पाठाद्य चूर्ण (चक्र), लघु एवं वृहद् गंगाधर चूर्ण आदि उपयोगी हैं।

(२) प्रसूति के पश्चात् योनिमार्ग की शिथिलता दूर करने के लिये इसका प्रयोग किया जाता है।

(३) जीर्ण ज्वर में इसका प्रयोग लाभदायक सिद्ध हुआ है। इससे सिनकोना की तरह वमन, हृल्लास, शिर:शूल आदि नहीं होता।

(४) इसकी कोमल फली तथा पत्रों की साग बच्चों में केचुवें की बिमारी में देते हैं।

(५) इसका लेप आमवात एवं संधिशोथ में लाभदायक है तथा जलशोथ में इसके चूर्ण को शरीर पर मला जाता है।

(६) दन्तशूल में इसके क्वाथ से कुल्ला करने से लाभ होता है।

मात्रा—त्वक् चूर्ण १–४ मा; त्वक् चूर्ण २–४ तो. क्वाथ बना कर; फांट (१० में १) १ से २ औंस; प्रवाहीसत्त्व ६०–१२० बूंद; कुर्चि बिस्मथ आयोडाइड ४ ग्रा. दि. प्र. दि. २ हफ्ते तक।

नोट—इन्द्रयव प्रकरण भी देखें।

प्रतिनिधि और व्यामिश्रण—(क) राइटिया (Wrightia) की विभिन्न उपजातियाँ जैसे—रा० टिन्क्टोरिया, रा० टोमेन्टोसा, रा० झेलेनिका (W. tinctoria, W. tomentosa, W. zeylenica) विशेषकर रा० टिन्क्टोरिया का गलती से अथवा मिलावट के रूप में कुटज के स्थान पर प्रयोग किया जाता रहा, लेकिन इनमें कार्यकारी औषधि गुण बहुत ही अल्प मात्रा में रहते हैं। इसके **वृक्ष** छोटे तथा इसकी छाल लाल भूरे रग की करीब-करीब चिकनी होती है। इसके **मूल** गहरे भूरे रग के या काले, तथा कुटज से कम कडुवे होते हैं। इसके **पत्र** कुटज से छोटे होते हैं। इसके **पुष्प** श्वेत चमेली की तरह तथा सुगन्धित होते हैं। **फलियाँ** दो-दो एक साथ अग्रपर परस्पर जुडी हुई (फटने के समय दोनों अलग), ३-१२ इञ्च लम्बी और पृष्ठ पर सफेद दागों से युक्त होती हैं। **बीज** ½ से ¾ इञ्च लम्बे, आधार के निचले सिरे पर श्वेत रेशमी तूल गुच्छ से युक्त एव अन्त में नुकीले होते हैं। संस्कृत में इसको असित कुटज, या स्त्री कुटज कहते हैं तथा इसके बीजों को हिन्दी में मीठा इन्द्रजव कहा जाता है।

गुण और प्रयोग—अल्प मात्रा में इससे आमाशय तथा यकृत की क्रिया सुधरती है लेकिन अधिक मात्रा से वमन तथा विरेचन होता है।

(१) इसके पत्तों का स्वरस ½ चम्मच की मात्रा में कर्नाटक, तेलगुप्रांत और मद्रास की तरफ कामला के लिये बहुत व्यवहार में आता है।

(२) सड़े हुये दाँत के गढ़े के अन्दर इसके पत्तों को पीसकर रखने से दन्तशूल दूर होता है लेकिन यह मसूड़े तथा गाल में नहीं लगाना चाहिये, अन्यथा इससे दाह उत्पन्न होता है।

(३) इसके पत्तों तथा छाल का क्वाथ अन्य कड़ुवी औषधियों के साथ, दीपक, पाचक, बल्य तथा ज्वरहर है। इसका उपयोग ज्वर के पश्चात् अथवा अन्य तीव्र रोगों की सन्निवृत्तावस्था में एवं पचनसंस्थान के विकारों (Bowel complaints) में किया जाता है।

(४) मीठा इन्द्रजव बलवर्धक है तथा धातुपौष्टिक के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है।

अथ कण्टककरञ्जघृतकरञ्जौ। (करञ्ज-करञ्जभेद)। तयोर्नामानि गुणांश्चाह-

करञ्जो नक्तमालश्च करजश्चिरबिल्वकः। घृतपूर्णकरञ्जोऽन्यः प्रकीर्यः पूतिकोऽपि च ॥ ११९ ॥
स चोक्तः पूतिकरञ्जः सोमवल्कश्च स स्मृतः।
करञ्जः कटुकस्तीक्ष्णो वीर्योष्णो योनिदोषहृत्। कुष्ठोदावर्त्तगुल्मार्शोव्रणक्रिमिकफापहः॥१२०॥

करञ्ज के भेद, नाम तथा गुण—करञ्ज के दो भेद होते हैं—१ कण्टककरञ्ज, २ घृतकरञ्ज। 'कण्टककरञ्ज' के संस्कृत नाम—करञ्ज, नक्तमाल, करज और चिरबिल्वक ये सब हैं। 'घृतकरञ्ज' के संस्कृत नाम—प्रकीर्य, पूतिक, पूतिकरञ्ज और सोमवल्क ये सब हैं। **करञ्ज**—कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, योनिदोष को दूर करने वाला तथा कुष्ठ, उदावर्त्त, गुल्म, बवासीर, व्रण, कृमि तथा कफ का नाशक होता है॥ ११९-१२०॥

अथ करञ्जपत्रफलगुणानाह

तत्पत्रं कफवातार्शःक्रिमिशोथहरं परम्। भेदनं कटुकं पाके वीर्योष्णं पित्तलं लघु ॥ १२१ ॥
तत्फलं कफवातघ्नं मेहार्शःक्रिमिकुष्ठजित्। घृतपूर्णकरञ्जोऽपि करञ्जसदृशो गुणैः ॥ १२२ ॥

करञ्ज के पत्ते तथा फलों के गुण—**करञ्ज के पत्ते** कफ, वायु, बवासीर, कृमि तथा शोथ को अत्यन्त नष्ट करने वाले होते हैं। ये मल को भेदन करने वाले, पाक में कटु रस युक्त, उष्णवीर्य, पित्तजनक तथा लघु होते हैं। **इसके फल**—कफ, वात, प्रमेह, बवासीर, कृमि और कुष्ठ नाशक होते हैं। **घृतकरञ्ज** के गुण भी करञ्ज के समान ही हैं॥ १२१-१२२॥

नोट—भावप्रकाशकार करज के ३ भेद १. करंज (नक्तमाल, चिरबिल्व), २. घृतकरंज (प्रकीर्य, पूतिकरञ्ज, सोमवल्क) एवं ३. करञ्जी (उदकीर्य, षड्ग्रन्था, हस्तिवारुणी) लिखते हैं जिनमें से प्रथम दो के गुण समान लिखे हैं। अन्य निघण्टुकारों ने भी इसके कई भेदों का उल्लेख किया है किन्तु इनके पर्यायवाची नामों के कारण भ्रम उत्पन्न होता है। उन्हीं नामों को किसी ने एक के साथ जोड़ा है तो किसी ने दूसरों के साथ जोड़ा है। इस तरह यह कहना कठिन है कि जिसे भावप्रकाशकार करञ्ज लिखते हैं उसी को अन्य निघंटुकारों ने करञ्ज माना है या जिसे ये घृतकरञ्ज एवं करञ्जी लिखते हैं उसे ही अन्य निघण्टुकारों ने भी घृतकरञ्ज एवं करञ्जी माना है।

आधुनिक विद्वानों ने भी (वृक्ष) करञ्ज, कंटकरञ्ज एवं चिरबिल्व नाम से इसके ३ भेदों का वर्णन किया है। भावप्रकाशकार चिरबिल्व करञ्ज का पर्याय मानते हैं। कुछ विद्वान् उदकीर्य नाम करञ्ज को देते हैं जो यहाँ करञ्जी के लिये आता है। प्रकीर्य नाम कटकरञ्ज के लिये कहा जाता है। यहाँ पर वृक्ष करञ्ज एवं लताकरञ्ज का स्वतन्त्र वर्णन किया गया है तथा करञ्जी के अन्तर्गत चिरबिल्व का वर्णन किया गया है।

५३ करञ्ज (वृक्ष करञ्ज)

सं०—करंज, नक्तमाल, उदकीर्य। **हिं०**—करंज, करंजवा, किरमाल, पापर, दिठोरी। **बं०**—डहर करजा। **म०**—करंज। **गु०**—कणझी, करंज। **पं०**—सुखचैन। **ता०**—पुंगम्, पुंकु। **ते०**—पुंगु, कानुगुचेट्टु। **मला०**—पोन्नम्, उन्नेमरम्। **कं०**—होंगे। **अं०**—Smooth Leaved Pongamia

(स्मूथ लीव्ड पोंगेमिया), Indian beech (इण्डियन बीच)। ले०—*Pongamia glabra* (पोन्गेमिआ ग्लॅब्रा)। Fam. Papilionaceae (पेपिलिओनेसि)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। सड़कों के किनारे, बगीचों में एवं नदी तथा समुद्री किनारों पर यह बहुत पाया जाता है। इसका वृक्ष साधारण वृक्षों की ऊँचाई का होता है और सदा हरा-भरा रहता है। इसकी छाया ठण्ढी और प्रिय होती है। शाखायें लटकी हुई होती हैं। **पत्ते**—पक्षवत्, ८-१४ इञ्च लम्बे एव पत्रदण्ड आधार पर फूला हुआ होता है। **पत्रक**—हरे रङ्ग के चमकीले, चिकने, संख्या में ५-७, आयताकार या लट्वाकार, नुकीले, २-५ इञ्च लम्बे एवं छोटे वृन्त से युक्त होते हैं। **फूल**—जरा गुलाबी और आसमानी छाया लिये हुये श्वेतवर्ण के गुच्छों में आते हैं। एक दलपत्र बड़ा होता है जो अन्य चार दलपत्रों को ढक कर रखता है। सूखने के पहिले ही असख्य सख्या में पुष्प जमीन पर गिर कर भूमि को आच्छादित कर देते हैं। **फलियाँ**—चिकनी, चिपटी, कठोर, एक बीजयुक्त, गहरे घूसर रङ्ग की तथा १-२ इच लम्बी सेम के आकार की होती हैं। **बीज**—कौडी के समान गोल-गोल १½-२ इञ्च लम्बा तथा तैलयुक्त होता है।

इसके पत्र, कांड एव मूल की त्वचा, तैल एवं बीजों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। बीजों का तैल जलाने के काम भी आता है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में २७-३६.४% एक कडुवा, भूरे रङ्ग का एवं विशिष्ट गन्ध का तैल पाया जाता है। इसे पोन्गेमॉल (Pongamal) या होंगे तैल (Hongay oil) कहते हैं। इस तैल से करजीन (Karanjin, $S_{18} H_{12} O_4$) नामक एक रवेदार पदार्थ प्राप्त किया गया है। बीजों में अत्यल्प मात्रा में उड़नशील तैल रहता है। इसकी छाल में एक क्षाराभ एव हरिताभ भूरे रंग की अम्लस्वभावी राल पाई जाती है।

गुण और प्रयोग—करंज कुष्ठघ्न, आमवातघ्न, कृमिघ्न, व्रणरोपण, कासहर, पाचन एव त्वचा के रोगों में लाभदायक है।

(१) इसके बीजों का तेल बहुत अच्छा कृमिघ्न, पराश्रयी जीवाणुनाशक तथा व्रणरोपक है। खुजली (Scabies) के लिये यह बहुत उपयोगी है। यह दद्रु, पामा, विचर्चिका, विसर्प, सर की खुजली, परिसर्प (Herpes) आदि त्वचा के रोगों में एव सधिवात में लाभदायक है। त्वचा के रोगों में इसके साथ समान मात्रा में नींबू का रस मिलाकर लगाते हैं।

(२) वातिक पीडा, आमवात तथा संधिवात में इसके पत्तों के क्वाथ से सेंकते हैं तथा इसके बीजों के तैल से मालिश करते हैं।

(३) दुर्गन्धयुक्त व्रण की शुद्धि के लिये तथा नाडीव्रण के पूरण के लिये इसके मूल का स्वरस लगाते हैं।

(४) सोजाक में इसकी जड का स्वरस, नारियल का दूध एवं चूने का जल मिलाकर देते हैं।

(५) इसके बीजों का चूर्ण ज्वरहर तथा वल्य मानते हैं। कुकास एवं अन्य प्रकार की खाँसी में इसके बीज को घिसकर देने से लाभ होता है।

(६) इसके पत्तों को अपचन, अतिसार, आध्मान तथा गुल्म में खिलाते हैं। इससे उदर-शूल कम होता है एवं अन्न का पाचन भी ठीक होता है। शीतपित्त में पत्र-स्वरस, दही, नमक एव काली मिर्च के साथ देते हैं।

(७) मधुमेह में इसके पुष्पों का फाण्ट पिलाते हैं। खालित्य में पुष्प पीस कर सर पर बाँधते हैं।

(८) व्रणशोथ पर इसके पत्तों को निर्गुण्डी के पत्तों के साथ पीस कर बाँधने से सूजन कम हो जाती है।

(९) रक्तार्श में इसके मूल को गोमूत्र में पीस कर पिलाते हैं तथा पथ्य में तक्र देते हैं।

मात्रा—बीज ½-१½ रत्ती बच्चों को, १ माशा बड़ों को; मूलस्वरस ३ माशा; छाल १-३ माशा।

५४ करंज (कंट करंज)

सं०—पूतिकरंज, लताकरंज, कण्टकिकरंज, विटपकरंज, कुबेराक्ष, प्रकीर्य। **हिं०**—करंज, करंजवा, करंजुआ, कंटकरंज (जा), कंजा, करंजु, कट्कलेजा, सागरगोटा। **बं०**—काँटा करंजा, नाटा करंजा, नाटा। **म०**—सागर गोटा, गज्रा, गजरघोटा, गाजगा। **गु०**—कांचका, कांक। **क०**—गज्जिकेकायि। **ते०**—गचकाय। **ता०**—कझ शिक्के। **मला०**—कलंचिकुरु। **फा०**—खाये इब्लीस। **अ०**—अक्तमक्त, हज्रुलविलादत। **अं०**—Bonduc nut (बॉण्डक् नट्); Physic nut (फिझिक् नट्); Fever nut (फीवर् नट्)। **ले०**—*Caesalpinia bonducella* (सिसेल्पिनिआ बोन्ड्युसेला); C. Crista (सि. क्रिस्टा)। Fam. Caesalpiniaceae (सिसेल्पिनिएसि)।

यह भारतवर्ष, बर्मा एवं लंका के उष्ण प्रदेशों में विशेषकर समुद्री किनारों पर तथा पहाड़ियों पर २५०० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह बंगाल तथा दक्षिण में बहुत होता है। इसे खेत और बागों की मेंड पर लगाते हैं।

इसके सघन एवं विस्तृत कांटेदार **गुल्म** या लता होती है। **शाखाएं**—फैली हुई तथा आरोहणशील होती हैं। इन पर सीधे, तीक्ष्ण तथा पीले रंग के कांटे होते हैं। छोटी शाखाएं घनरोमश होती हैं। **उपपत्र** (Stipules) ६–८ जोड़े, २–३ इञ्च लंबे तथा पत्र के आधार पर रहते हैं। **पत्ते**—संयुक्त द्विपक्षाकार तथा १–२ फीट लंबे होते हैं। पत्रदण्ड के कांटे टेढ़े होते हैं। **पत्रक**—६–९ जोड़े, ¾–१½ इञ्च लंबे, ½–१ इञ्च चौड़े, मुलायम, पतले, लट्वाकार, आयताकार, रोमश कुण्ठिताग्र, ऊपर से चिकने किन्तु अधो पृष्ठ मृदुरोमश एवं अत्यन्त सूक्ष्म वृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**—हल्के पीले तथा लंबी मंजरियों में होते हैं। **फलियाँ**—चौड़ी, आयताकार, २–३ इञ्च लंबी, करीब २ इञ्च चौड़ी, १–२ बीजों से युक्त और ऊपर से कांटों से ढकी रहती हैं। **बीज**—संख्या में १–२, गोल या अंडाकार, करीब ½–¾ इञ्च बड़े, सीसे के रंग के चिकने तथा कठोर आवरण वाले होते हैं। बीजों के अन्दर पीताभ श्वेत रंग का गूदा रहता है जो स्वाद में अत्यन्त कड़वा होता है।

बीजों को फूलने तक सेंक कर या केवल फोड़कर अन्दर का गूदा निकालकर काम में लाया जाता है। इसके अतिरिक्त पत्र एवं मूलत्वक् का भी चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसके बीजों में मज्जा करीब ४२% एवं छिलका ५८% होता है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में बोन्ड्युसिन (Bonducin, $C_{20}H_{28}O_8$) नामक एक कड़ुआ ग्लुकोसाइड चूर्णरूप में पाया जाता है। यह श्वेत रंग का होता है। यह जल में नहीं घुलता किन्तु मद्यसार तथा तैलों में घुल जाता है। इसके अतिरिक्त बीजों में २०–२४% हलके पीले रंग का गाढ़ा दुर्गन्धयुक्त तैल, स्टार्च, शर्करा, सिटोस्टेरॉल (Sitosterol), फाइटोस्टेरॉल् (Phytosterol) एवं हेप्टोकोसेन (Heptocosane) ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके बीजों की मज्जा उष्ण, रूक्ष, बल्य, नियतकालिक ज्वर प्रतिबन्धक, ज्वरहर, शोथघ्न, अल्प स्तम्भन, रक्तस्तम्भक, वेदनाहर एवं कृमिघ्न है। इसका उपयोग विषमज्वर, सूतिकाज्वर, शूल, श्वास, वातविकार, चर्मरोग, शोथ एवं व्रण आदि में किया जाता है।

(१) इसके बीज अर्धविसर्गीज्वर, साधारणज्वर, सतत ज्वर, शीतज्वर तथा विशेषकर मलेरिया (Malaria) के लिये बहुत ही लाभदायक हैं। बीजों का चूर्ण काली मिरिच के साथ ५–१० र० की मात्रा में ज्वर आने के पूर्व दिया जाता है। इसे खाली पेट नहीं देना चाहिये। किनीन की तरह ही यह लाभदायक माना जाता है। ज्वर के पश्चात् बल्य रूप में भी इसका प्रयोग करते हैं।

(२) सूतिकाज्वर में या प्रसूतावस्था में बीजों के प्रयोग करने से सभी प्रकार से लाभ होता है। इससे ज्वर कम होता है। गर्भाशय का संकोच होता है, शूल कम होता है, आर्तव शुद्धि होती है एवं यदि कहीं व्रण हुआ हो तो वह भी अच्छा हो जाता है।

(३) उदरशूल में वेदना कम करने के लिये तथा वमन में करीब १ बीज की मज्जा, २, ३ लौंग के साथ देते हैं। शूल में इसका धूम्रपान भी लाभदायक होता है। अजीर्ण में हींग के साथ इसका उपयोग किया जाता है। कुपचन में मिरिच के साथ इसका चूर्ण मट्ठे के साथ देते हैं। रक्तातिसार में गाँजा के साथ इसका उपयोग किया जाता है।

(४) क्षयज कास तथा श्वास में बीजों का क्वाथ पिलाते हैं।

(५) इसके बीजों का चूर्ण एरण्डपत्र पर डालकर अंडवृद्धि एवं अंडशोथ पर बाँधते हैं तथा इसको खिलाते हैं। इसके (पूतिकरंज) पत्तों का स्वरस श्लीपद में लाभदायक होता है (सु० चि० १९)। बीजों को पीसकर एरंड तैल के साथ अन्य प्रकार के शोथ पर भी बाँधते हैं।

(६) बीजों को दबाकर निकाला हुआ तैल मुँह पर के दाग, तारुण्यपिटिका एवं आमवात में लगाया जाता है। कर्णस्राव में इसे डालते हैं। दुष्टव्रण एवं क्षत आदि में इससे लाभ होता है। बीजों को तैल में पकाकर सिद्ध किया हुआ तैल भी इस प्रकार उपयोग में लाया जाता है।

(७) इसकी जड एवं पत्ते ज्वरघ्न हैं। इसके पत्तों का स्वरस जीर्णज्वर, शीतपित्त, उपदंश की द्वितीयावस्था में उत्पन्न चर्मविकार, कृमि एवं यकृत् विकार में दिया जाता है।

मात्रा—बीजमज्जा ५-१० र०; मूल ५-१० र०; पत्रस्वरस १-२ तो०।

अथ करंजी (अरारी)। तस्या नामगुणानाह

उदकीर्यस्तृतीयोऽन्यः षड्ग्रन्था हस्तिवारुणी। मर्कटी वायसी चापि करञ्जी करभञ्जिका॥१२३॥
करञ्जी स्तम्भनी तिक्ता तुवरा कटुपाकिनी। वीर्योष्णा वमिपित्तार्शः क्रिमिकुष्ठप्रमेहजित्॥१२४॥

करंज के उक्त भेदों से भिन्न एक तीसरा करंज और होता है जिसे करञ्जी (अरारी) कहते हैं, उसके नाम तथा गुण—उदकीर्य, षड्ग्रन्था, हस्तिवारुणी, मर्कटी, वायसी, करञ्जी और करभञ्जिका ये सब करञ्जी के संस्कृत नाम हैं। **करञ्जी**—स्तम्भक, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, पाक में कटु रस युक्त और उष्णवीर्य होती है। यह—वमन, पित्त, बवासीर, कृमि, कुष्ठ तथा प्रमेह को दूर करने वाली होती है॥ १२३-१२४॥

नोट—यह भी करंज का एक भेद है। पहले वर्णन किये हुए वृक्ष करंज एवं लताकरंज के अतिरिक्त एक तीसरा भेद चिरविल्व नाम से पाया जाता है जिसका यहाँ वर्णन किया गया है। भावप्रकाशकार चिरविल्व नाम नक्तमाल के पर्याय में लेते हैं। कुछ लोग उदकीर्य नाम नक्तमाल के लिये उचित मानते हैं जो यहाँ करंजी के पर्याय में आया है।

५५ चिरविल्व (करंजभेद)

सं०—चिरविल्व, पूतिकरंज। **हिं०**—चिलबिल, चिरमिल, पापरी, करंजी, बनचिल्ला। **म०**—वावल। **गु०**—कणझो, चरेल। **उड़ि०**—दुरजा, करजी। **ता०**—अयम्। **ते०**—नविलि **क०**—रसविज। **ले०**—*Holoptelia integryfolia* (होलोप्टेलिआ इन्टेग्रिफोलिआ)। **Fam.** Urticaceae (अर्टिकेसि)।

यह प्रायः घाटियों तथा नदियों के किनारे पाया जाता है।

इसके **वृक्ष**—छोटे या बड़े एवं करंज के समान ही दिखलाई देते हैं। **शाखाएँ**—लटकी हुई, गुच्छाकार तथा श्वेत रंग की होती हैं। **काण्ड**—मजबूत होता है। **पत्ते**—दो कतारों में निकले हुये, अण्डाकार या लट्वाकार, प्रायः (परिपक्व) अखण्ड, २-४.५ इञ्च लम्बे, १.५-७.७५ इञ्च चौडे, नोकदार, दुर्गन्ध युक्त एवं बिन्दुकित होते हैं। हरे पत्तों में पारदर्शक बिन्दु होते हैं। शुष्क पत्तों में अधर तल पर छोटे छोटे उभरे हुये बिन्दु दिखाई देते हैं। **पुष्प**—बहुत छोटे, हरित, शाखाओं के अग्र पर गुच्छों में पतझड होने पर निकलते हैं। **फल**—सपक्ष, चिपटा, प्रायः १ इञ्च लम्बा, गोल या अण्डाकार एवं नताग्र होता है। फल भेद से इसके ३, ४ भेदों का उल्लेख है। इसके पत्तों एवं काष्ठ में दुर्गन्ध होती है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में लुआबदार पदार्थ बहुत होता है।

गुण और प्रयोग—यह शोथहर, शोणितोत्क्लेशक एवं करंज के समान गुण वाला है। इसकी छाल को उबाल कर उसका लुआब अथवा मूल को पीस कर संधिशोथ पर लगाते हैं तथा उबली हुई छाल को ऊपर से बांध देते हैं। इसके पत्तों का कल्क तेल में उबाल कर वह तैल व्रण पर लगाते हैं। दाद पर बीज को जल में घिसकर लगाया जाता है।

अथ गुञ्जा-श्वेता रक्ता च। तयोर्नामगुणानाह

श्वेता गुञ्जोच्चटा प्रोक्ता कृष्णला चापि सा स्मृता। रक्ता सा काकचिञ्ची स्यात्काकणन्ती च रक्तिका॥ काकादनी काकपीलुः सा स्मृता काकवल्लरी। गुञ्जाद्वयन्तु केश्यं स्याद्वातपित्तज्वरापहम् १२६ मुखशोषभ्रमश्वासतृष्णामदविनाशनम्। नेत्रामयहरं वृष्यं बल्यं कण्डूं व्रणं हरेत् ॥ १२७ ॥ कृमीन्द्रलुप्तकुष्ठानि रक्ता च धवलाऽपि ॥ १२८ ॥

सफेद तथा लाल गुञ्जा के नाम तथा गुण—श्वेतगुंजा, उच्चटा (श्वेतोच्चटा), और कृष्णला ये सब संस्कृत नाम सफेद घुँघुची के हैं। लाल घुँघुची के संस्कृत नाम—रक्तगुञ्जा, काकचिञ्ची, काकणन्ती, रक्तिका, काकादनी, काकपीलु और काकवल्लरी ये सब हैं। **दोनों प्रकार की घुँघुची** केश के लिये हितकर, वात, पित्त, ज्वर, मुख का सूखना, भ्रमरोग, श्वास, तृषा, मद तथा नेत्ररोग को नष्ट करने वाली होती है। यह वृष्य, बलकारक तथा खुजली, व्रण, कृमि, इन्द्रलुप्तरोग तथा कुष्ठ इन सबों को भी दूर करनेवाली होती है॥ १२५-१२८॥

५६ गुञ्जा (श्वेत, रक्त)

हि०—गुंजा, घुघची, घुँघुची, चिरमी, चिरमिटी, घुमची, करजनी, रत्ती, चौंटली। **बं०**—कुँच। **म०**—गुञ्ज। **गु०**—चणोठी। **क०**—गुलगुति, गुरुगुजी। **मल०**—कुन्नि। **ता०**—कुन्थमणि, कुँरि। **पं०**—चर्मटी। **ते०**—गुरुगिंज। **फा०**—चस्मे खरूस, सुर्ख। **अं०**—Jequirity (जेक्विरिटी)। **ले०**—*Abrus precatorius* (एब्रस् प्रिकेटोरिअस्)। Fam. Papilionaceae (पेपिलिओनेसि)।

गुंजा प्रायः सब प्रान्तों के जङ्गल-झाडियों में उत्पन्न होती है तथा हिमालय में ३००० फीट की ऊँचाई तक पायी जाती है। इसकी **लता**-सुन्दर तथा चक्रारोही होती है। **शाखायें**-पतली, लचीली तथा काष्ठमय होती हैं। यह बरसात के दिनों में खूब हरी भरी दिखाई देती है। **पत्ते**-इमली के जैसे, २-३½ इञ्च लम्बे, युग्म पक्षाकार होते हैं। **पत्रक**-१०-२० जोड़े, विपरीत, आधे से एक इञ्च लम्बे, ¼ इञ्च तक चौड़े, रेखाकार-आयताकार, अखण्ड तथा दोनों सिरों पर कुछ गोल रहते हैं। **पुष्प**-वर्षाकाल में १-३ इञ्च लम्बी और गुच्छे में निकली हुई मञ्जरियों में प्रायः सफेद या गुलाबी छाया लिये हुये या हलके बैंगनी रङ्ग के आते हैं। **फली**-१-१½ इञ्च लम्बी तथा नुकीली होती है। यह शीतकाल के अन्त तक पक जाती है। **बीज**-छोटे, चिकने, चमकीले, कड़े, काले दाग के साथ और सिन्दूरवर्ण के या कभी कभी बिलकुल श्वेत रंग के या बिलकुल काले, सख्या में ३-६ तथा अण्डाकार होते हैं। इसकी **जड़**-काष्ठमय, अनेक शाखाओं से युक्त टेढ़ी मेढ़ी होती है।

नोट—मूलविषों के अन्तर्गत सुश्रुत में इसका उल्लेख है (सु० क० अ० २)। चरक में स्थावर विष वर्ग में इसका पाठ नहीं है। उच्चटा नाम से वाजीकरण के लिये इसका प्रयोग किया गया है। गुञ्जा बीज में जो विष होता है वह उबालने से नष्ट हो जाता है तथा इसका विषैला प्रभाव केवल अधस्त्वगीय प्रवेश से ही होता है। वंगसेन ने गृध्रसी में वेदना शान्ति के लिये शिराप्रच्छन करके गुञ्जाकल्क लेप का निर्देश किया है।[1] बाह्य प्रयोग में गुञ्जा की उपयोगिता होने पर शुद्ध गुञ्जाबीज का ही व्यवहार करना चाहिये।

इसकी जड गुणों में कुछ कुछ **मुलेठी के समान** होती है तथा उसमें भी मुलेठी में पाया जाने वाला ग्लिसराइझिन (Glycyrrhizin) नामक तत्त्व होता है। इस कारण कभी कभी मुलेठी के प्रतिनिधि रूप में यह ले ली जाती है। किन्तु इसे मुलेठी मानना उचित नहीं है। गुञ्जा की जड़, शोधित (श्वेत) बीज एवं पत्र का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

---

१. द्वित्रिस्थानेषु गृध्रस्यां शिरा प्रच्छन्नवेधिता। गुञ्जाकल्केन लिप्ता च सद्यस्त्यजति वेदनाम् ॥ वंगसेनः॥

रासायनिक संगठन—गुंजा के बीजों में ॲब्रिन् (Abrin) नामक एक विषैला तथा प्रक्षोभक प्रभूजिन जातीय द्रव्य है। इसके अतिरिक्त बीजों में विषैले प्रभूजिन जातीय अन्य द्रव्य, वसाविच्छेदक किण्व (Fat-splitting enzyme), ॲब्रूसिक् ॲसिड (Abrussic acid), हीमॅग्लूटिनिन् (Haemagglutinin) एवं यूरिएस् (Urease) पाये जाते हैं। बीजों के छिल्कों में लाल रंजक द्रव्य होता है।

इसके मूल में मुलेठी में पाया जाने वाला द्रव्य ग्लिसराइझिन् (Glycyrrhizin) करीब १५% एवं अम्ल राल ८% पाई जाती है।

इसके पत्तों में भी करीब १०% ग्लिसराइझिन् (Glycyrrhizin) एवं ॲब्रिन् (Abrin) रहता है।

ॲब्रिन् (Abrin) यह अत्यन्त विषैला द्रव्य है। इसमें ग्लोब्युलिन् (Globulin) एवं ॲल्ब्युमोस (Albumose) ये दो प्रभूजिन (Protein) होते हैं जिनमें से प्रथम अधिक शक्तिशाली है। यह द्रव्य उबालने से नष्ट हो जाता है। इसको एरंड बीज में पाये जाने वाले रिसिन (Ricin) सदृश मानते हैं। शरीर भार के प्रति किलोग्राम के लिये $\frac{1}{10000}$ से $\frac{1}{20000}$ मिलिग्राम की मात्रा में इसका अधस्त्वगीय सूचिकाभरण घातक होता है। बीजों के क्वाथ को आँखों में डालने से भी मृत्यु हो सकती है क्योंकि वहां अत्यन्त तीव्र प्रक्षोभ उत्पन्न होता है तथा विष का प्रचूषण होता है। त्वचान्तर्गत प्रयोग से स्थानिक अत्यन्त तीव्र प्रक्षोभ उत्पन्न होकर शोथ एवं त्वचा में रक्तस्राव होता है। मुख द्वारा सेवन से इससे अल्प या बिलकुल ही प्रक्षोभ नहीं होता एवं आमाशय में पहुचने पर यह विषरहित हो जाता है। जानवरों में अतिसूक्ष्मातिसूक्ष्म मात्रा में सूचिकाभरण से उनमें इस विष के प्रति सहनशीलता उत्पन्न हो जाती है। चर्मकार चर्म के लोभ में जानवरों को मारने के लिये बीजों की वर्ति बनाकर चमड़े में प्रवेश करते थे। गर्भपात कराने के लिये भी इस प्रकार की वर्तियों का उपयोग किया जाता था।

शोधन—श्वेतगुंजा के बीज गो दुग्ध में १ प्रहर उबाल कर, छिलके निकाल कर गरम जल से धोकर फिर प्रयोग करना चाहिये। कांजी में भी स्वेदन करने से इनकी शुद्धि हो जाती है।

विष प्रभाव—बिना शोधन के बीजों का प्रयोग तीव्र वामक एवं विरेचक होता है। अधिक मात्रा में प्रयोग से भी इस प्रकार के विसूचिका सदृश लक्षण उत्पन्न होते हैं। यदि इसके प्रयोग से बेचैनी आदि हो तो चौलाई का रस मिश्री मिला कर पिलाना चाहिये तथा ऊपर से दूध पिलाना चाहिये।

गुण और प्रयोग—गुंजा की जड़ की क्रिया मुलेठी की तरह होती है। पत्ते भी मधुर होते हैं। यह भी मुलेठी की ही तरह मधुर, स्नेहन, कफ शामक, मूत्रजनन एवं व्रणरोपण है। इसके बीज उष्ण, बल्य, वृष्य, केश्य, वातहर एवं स्थानिक प्रक्षोभक हैं।

(१) स्वरभंग में श्वेत गुंजा के पत्र कबाबचीनी के साथ या अकेले मिश्री मिलाकर चूसने को दिये जाते हैं। मुखपाक में भी पत्र चूसने से लाभ होता है। वेदनायुक्त शोथ पर पत्र स्वरस या पत्र कल्क को तेल में मिलाकर लगाया जाता है। व्रण पर भी इसका उपयोग करते हैं। उपदंश में लाल गुंजा के पत्र २ माशा, जीरा २ माशा तथा मिश्री १ तोला मिलाकर दिन में दो बार ७ दिन तक प्रयोग किया जाता है।

(२) वीर्य विकार में २-माशे जड को दूध में पका कर भोजन के पूर्व रात में देते हैं। कास तथा मूत्र रोगों में भी जड़ का अन्य औषधों के साथ उपयोग करते हैं।

(३) इसकी जड तथा फल से सिद्ध तैल गण्डमाला, गलग्रन्थि आदि पर लगाया जाता है तथा उसका नस्य देते हैं।

(४) दाद तथा खुजली पर बीजों के कल्क तथा भृंगराजपत्र-स्वरस से सिद्ध तैल का उपयोग किया जाता है। श्वेत कुष्ठ में तैलपाक के पूर्व उसमें चित्रककल्क मिलाते हैं। पत्रस्वरस का भी चित्रकमूल के साथ श्वेत कुष्ठ में प्रयोग किया जाता है।

(५८) अंकुरने या छिलका निकाले बीजों का फांट आँखों की फूली या रोग में प्रक्षोभक औषध के रूप में उपयोग किया जाता था किन्तु कभी-कभी इससे अनियंत्रित शोथ आदि होकर आँख भी नष्ट हो जाने के कारण अब इसका उपयोग नहीं करते हैं।

(६) बीजों का कल्क खालित्य, गृध्रसी, अंगघात तथा अन्य वातिक विकारों पर लगाते हैं।

मात्रा—मूल २-४ माशा, बीज ½-१½ रत्ती।

अथ कपिकच्छूः (कौंच)। तस्या नामगुणानाह

कपिकच्छूरात्मगुप्ता वृष्या प्रोक्ता च मर्कटी। अजडा कण्डुरा व्यङ्गा दुःस्पर्शा प्रावृषायणी ॥१२९॥
लाङ्गली शूकशिम्बी च सैव प्रोक्ता महर्षिभिः।
कपिकच्छूर्भृशं वृष्या मधुरा बृंहणी गुरुः। तिक्ता वातहरी बल्या कफपित्तास्रनाशिनी ॥१३०॥

कौंच (केवांच) के नाम तथा गुण—कपिकच्छू, आत्मगुप्ता, वृष्या, मर्कटी, अजडा, कण्डुरा, व्यङ्गा, दुःस्पर्शा, प्रावृषायणी, लाङ्गली और शूकशिम्बी ये सब कौंच के पर्यायवाचक शब्द महर्षियों ने कहा है। **कौंच**—अत्यन्त वृष्य, मधुर तथा तिक्तरस युक्त, बृंहण, गुरु, वातनाशक, बलकारक तथा कफ, पित्त एवम् रक्तदोष नाशक है ॥ १२९-१३० ॥

अथ तद्बीजगुणानाह

तद्बीजं वातशमनं स्मृतं वाजीकरं परम् ॥ १३१ ॥

इसके बीज के गुण—**कौंच के बीज**-वातशामक एवम् अत्यन्त वाजीकरण हैं ॥ १३१ ॥

५७ कपिकच्छू (केवाँच)

हि०—केवाँच, कौंच, कौछ, केवाछ, खुजनी। **बं०**—आलकुशी। **म०**—खाज कुहिली, कुहिली, कवच। **गु०**—कवच, कौंचा। **क०**—नासुगुन्नी। **ते०**—पिछी अडुगु। **ता०**—पुनाइक काली, पुनैकलि। **पं०**—कवांच, कूंच। **अं०**—Cowhage (काउहेज); Cowitch (काउइच)। **ले०**—*Mucuna pruriens* (म्युक्युना प्रुरिएन्स)। Fam. Papilionaceae (पेपिलिओनेसि)।

यह भारतवर्ष के सभी मैदानी भागों में एवं लंका तथा बर्मा में पाया जाता है। यह सभी उष्ण प्रदेशों में होता है एवं इसकी खेती भी की जाती है।

इसकी **लता**—पतली, चक्रारोही, एकवर्षायु तथा चौमासे में अधिक होती है। **पत्ते**—त्रिपत्रक एवं २½-५½ इञ्च लम्बे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। **पत्रक**—३-६ इञ्च लम्बे, पार्श्वपत्रक किञ्चित् हृद्वत् और लट्वाकार एवं अग्रग पत्रक तिर्यगायताकार (Rhomboid), पतले तथा ऊपर चिकने किन्तु अधर तल पर तलशयी रोमों से युक्त होते हैं। **पुष्प**—नीलारुण (Purple), १½ इञ्च तक लम्बे, सघन, लटकी हुई और ६-१२ इञ्च लम्बी मंजरियों में आते हैं। **फली**—२-३ इञ्च लम्बी, ½ इञ्च चौडी, दोनों अग्रों पर विपरीत दिशाओं में टेढी, कुछ फूली सी एवं लम्बाई में धारियों से युक्त होती है। यह भूरे रग के करीब १ इञ्च लम्बे सघन दृढ रोमों से ढकी रहती है। ये रोम शरीर में लगाने से अत्यन्त खुजली उत्पन्न हो कर दाह तथा सूजन उत्पन्न होती है। **बीज**—प्रत्येक फली में ५-६ काले चमकीले तथा अन्तर्भित्ति के पतले आवरण में ढके रहते हैं।

कौंच जंगली और बागी दो प्रकार का होता है, जगली के फलियों के ऊपर तीक्ष्ण रोवें होते हैं। इसके शरीर में लगने से खुजलाहट, सूजन और पीडा उत्पन्न होती है। बागी किवाँच को बाग और खेतों में लगाते हैं। यह दो प्रकार का होता है। एक की फलियों के ऊपर रोवें कम होते हैं और उनमें अधिक तीक्ष्णता नहीं होती और दूसरे में रोवें नहीं होते हैं। दोनों की तरकारी बनती है। किन्तु इसकी तरकारी सर्वप्रिय नहीं होती। रोवें निकाल कर ही तरकारी बनाते हैं।

नोट—चरक में ऋषभी नाम से बल्यवर्ग में, कच्छुरा नाम से पुरीषविरजनीय गण में एवं मधुरस्कंध में ऋष्यप्रोक्ता नाम से तथा सुश्रुत में कच्छुरा नाम से विदारिगन्धादि गण तथा वातसंशमनवर्ग में इसका उल्लेख है। 'पजाब में सफेद रग के कौंच के बीज पन्सारी बेचने हैं। ये चरक में लिखी हुई **काकाण्डोला**[1] नाम की सेम की जाति के बीज हैं' (श्री यादवजी कृत द्रव्यगुणविज्ञानम्, उत्तरार्ध द्वितीय खण्ड, पृष्ठ १७३)।

---

१. काकाण्डोलात्मगुप्तानां माषवत्फलमादिशेत् (चरक सू० अ० २७-३२)।

इसके बीज, मूल एवं फली के ऊपर के रोमों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। चिकित्सा की दृष्टि से जंगली केवांच के बीजों का ही व्यवहार करना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें राल, टॅनिन, वसा एवं मॅन्गॅनीज रहता है। बीजों की मज्जा की अपेक्षा ऊपर के छिलके में मॅन्गॅनीज (Manganese) अधिक रहता है।

गुण और प्रयोग—केवांच के बीज पौष्टिक, उत्तेजक, वाजीकर एवं वातशामक होते हैं। फली के ऊपर के रोम उत्तम आन्त्रकृमिघ्न होते हैं। इसकी जड़ वातनाड़ियों के लिये बल्य, उत्तेजक एवं मूत्रजनन है। रोम के स्थानिक प्रयोग से कण्डू, दाह, शोथ एवं स्फोट उत्पन्न होता है।

(१) इसके रोमों को घृत, मधु या गुड़ के साथ गोली बनाकर केंचुए की बीमारी में खिला देते हैं। इससे प्रक्षोभ उत्पन्न होकर कृमि बाहर निकलते हैं। इसके पश्चात् विरेचन देना आवश्यक है।

(२) इसके बीजों की मज्जा का चूर्ण या पाक (वानरीवटिका) आदि बनाकर वाजीकरण के लिये प्रयोग किया जाता है। प्रायः वाजीकरण के प्रत्येक योग में इसका उपयोग किया जाता है।

(३) इसकी जड़ का क्वाथ या स्वरस वातनाड़ी-दौर्बल्य, अर्धांगवात, अर्दित एवं अवबाहुक आदि वातरोगों में तथा ज्वर में भ्रम उत्पन्न होने पर देते हैं। यह मूत्रजनन होने के कारण इसे वृक्करोग में पिलाते हैं तथा शरीर पर लेप भी करते हैं। हैजा में इसके फांट में मधु मिलाकर पिलाने से लाभ होता है। पक्वातिसार तथा रक्तातिसार में मूल का कल्क दिया जाता है तथा पथ्य में मूलसिद्ध दुग्ध का प्रयोग करते हैं (सु० उ० अ० ४०-७४)। श्लीपद में मूल का लेप किया जाता है। इसके मूलक्वाथ के धारण से योनिसंकोच होता है (भा० प्र०)।

(४) इसके रोमों से बनाया हुआ मलहम स्थानिक उत्तेजक तथा साधारण स्फोटोत्पादक माना जाता है।

मात्रा—बीजचूर्ण ३-६ माशा; रोम ५-१० रत्ती।

अथ मांसरोहिणी। तस्या नामगुणानाह

मांसरोहिण्यतिरुहा वृत्ता चर्मकषा[1] वसा[2]। प्रहारवल्ली विकशा वीरवत्यपि कथ्यते॥
स्यान्मांसरोहिणी वृष्या सरा दोषत्रयापहा॥ १३२॥

मांसरोहिणी के नाम तथा गुण—मांसरोहिणी, अतिरुहा (अग्निरुहा), वृत्ता, चर्मकषा, वसा, प्रहारवल्ली, विकशा और वीरवती ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। **मांसरोहिणी**—वीर्यवर्द्धक, सारक (दस्तावर) और त्रिदोषनाशक है॥ १३२॥

५८ मांसरोहिणी

हि०—मांसरोहिणी, रोहण, रोहिनी, रोहन, रोहिना, रकत रोहन। **म०, बं०**—रोहण। **गु०**—रोण, रोहणी। **कोल०**—रोहिनी। **सन्ता०**—रोहन। **गोंड०**—सोइमि। **भील०**—रोयटा। **ता०**—शेम्मरम्। **क०**—स्वामीमर। **ते०**—सूमि, सोमिडमनु। **अं०**—Red wood tree (रेड वुड ट्री)। **ले०**—*Soymida febrifuga* (सोयमिडा फेब्री फ्युजा)। Fam. Meliaceae (मेलिएसि)।

यह पश्चिमोत्तर प्रदेश, मध्य और दक्षिण भारत के पहाडी प्रान्तों में तथा दक्षिण में ट्रावनकोर आदि प्रान्तों में पाई जाती है।

इसका **वृक्ष**—बहुत ऊँचा और स्तम्भ मोटा होता है। इसकी **छाल**—तिहाई इञ्च मोटी नीलापन युक्त खाकी अथवा कालापनयुक्त भूरे रंग की एवं कडवी होती है। **लकड़ी**—लालीयुक्त भूरे रंग की और खूब टिकाऊ होती है। **पत्ते**—पक्षवत् तथा ९-१८ इञ्च लंबे होते हैं। **पत्रक**—२ से ४ इञ्च तक लम्बे, अण्डाकार या आयताकार, लगभग अवृन्त, चिकने, तिर्यक् आधार वाले तथा संख्या में ३ से ६ जोडे होते हैं। नवीन पत्ते ग्रंथियों से युक्त और लाल होते हैं। पत्रक-दण्ड तथा

१. चर्मकरी इति पाठा०।
२. कृशा इति पाठा०—गुण तथा आकृति की दृष्टि से इसका वसा पर्याय अधिक उचित है।

पत्रक-सिरा सर्वदा लाल बनी रहती है। फूल—नन्हें-नन्हें हरियाली लिये सफ़ेद रंग के अग्रस्थ मंजरियों में आते हैं। फल—२ से ३ इञ्च बड़े, बहुत कठोर, भूरे लाल रंग के किन्तु पकने पर काले एवं अग्र पर खुल जाते हैं। प्रत्येक फल में अगणित पक्षदार बीज होते हैं जो आषाढ़, श्रावण में पककर गिर जाते हैं।

इसकी छाल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

नोट—चरक में वल्य एवं सुश्रुत में न्यग्रोधादिगण में इसका उल्लेख है। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने रोहिणी का अर्थ कुटकी, कायफल, कड़ुवी तुम्बी तथा हरीतकी भेद आदि किये हैं। इसके रकतरोहन, रोहिनी आदि प्रचलित नाम मासरोहिणी के समानार्थक मालूम होते हैं तथा इसकी छाल भी मासवर्ण की होती है। इस दृष्टि से इसके मासरोहिणी होने में सन्देह नहीं मालूम पड़ता। अन्य निघण्टुकारों ने इसके गुणों में 'ग्राही' लिखा है जो अधिक उचित मालूम पडता है। उपर्युक्त डल्हण की टीका के अनुसार यदि किसी द्रव्य को रोहिणी माना जाय तो उस अवस्था में 'सरा' यह उचित हो सकता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में एक रंगहीन जल में न घुलने वाला किन्तु मद्यसार में घुलनशील रालयुक्त कडवा पदार्थ एवं अधिक मात्रा में टैनिक् ॲसिड् तथा गॅलिक् ॲसिड् रहता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल शीत, ग्राही, कषाय, वृष्य, पौष्टिक, अल्प नियतकालिक ज्वर-प्रतिबन्धक, सन्धानीय, व्रणरोपण एवं कण्ठशुद्धिकर है। अधिक मात्रा में इससे चक्कर एवं संज्ञानाश होता है। ओक वृक्ष की छाल की तरह इसका क्वाथ बाह्य प्रयोग में व्यवहार में लाते हैं। आन्तरिक प्रयोग के लिये चूर्ण का ही व्यवहार उचित है।

(१) विसर्गी या जीर्णज्वरों में शरीर व आर्तो में जब शिथिलता आती है तब इसका चूर्ण देते हैं। मलेरिया में इसका क्वाथ १ औंस की मात्रा में दिन में ३ बार देने से लाभ होता है।

(२) पुरानी आँव तथा अतिसार में इससे अच्छा लाभ होता है।

(३) इसकी छाल के क्वाथ से व्रण धोते हैं, बस्ति देते हैं तथा कुल्ले कराते हैं।

मात्रा—त्वक् चूर्ण ३० रत्ती त्रिवार।

अथ चिह्लकः 'चिह्ल' इति लोके तस्य नामगुणानाह

चिह्लको वातनिर्हारः श्लेष्मघ्नो धातुपुष्टिकृत्। आग्नेयो विषवद्यस्य फलं मत्स्यनिषूदनम् ॥१३३॥

चिह्लक के गुण—**चिह्लक** वातनाशक, कफ को दूर करने वाला, धातु की पुष्टि करने वाला और आग्नेय (अत्यन्त गरम) होता है और इसका **फल**—विषतुल्य मछलियों को मारने वाला होता है॥ १३३ ॥

५६ चिह्लक

हि०—चिह्ला, चिलर, चिह्लक। **म०**—मरसी, करी, लैंज। **संथा०**—चोरचो। **खर०**—वेरी। **कोल**—रोरी। **उड़ि०**—गिरटि। **ले०**—*Casearia tomentosa* (केसिएरिआ टोमेण्टोसा)। Fam. Samydaceae (सॅमिडेसि)।

यह सब जगह पाया जाता है। शाल वनों के पास या झाडीदार जगलों में यह बहुत होता है।

इसके **वृक्ष**—छोटे एवं शाखाएं दिगन्तसम फैली हुई होती हैं। **छाल**—मोटी, भंगुर एवं चौकोर टुकडों में छूटती है। **काष्ठ**—पीताभ श्वेत, कठोर एवं खुरदरा होता है। **पत्ते**—आयताकार (छोटे लट्वाकार या अण्डाकार), अधरपृष्ठ की नसों पर मृदु रोमश, २-७ इञ्च लम्बे, २ इञ्च चौड़े एवं दन्तुर होते हैं। पत्रसिरायें रक्ताभ होती हैं। **पुष्प**—हरिताभ पीत वर्ण के पुष्प नवीन टहनियों पर आते हैं। **फल**—मासल, अण्डाकृति- $\frac{3}{4}$ इञ्च बडे, कडवे एवं ६ रेखाओं से युक्त होते हैं। फलों का चूर्ण पानी में डाल देने से मछलियां मर जाती हैं। इसके सभी भागों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

नोट—अन्य निघण्टुओं में इसका उल्लेख नहीं पाया जाता। इसकी एक दूसरी उपजाति केसिएरिआ एस्क्युलेण्टा (C. esculenta), के मूल एव पत्र का उपयोग सप्तरंगा या स्वर्णमूला नाम से यकृत्-वृद्धि, अर्श तथा यकृतोद्भव मधुमेह में किया जाता है।

गुण और प्रयोग—जलशोथ में फल का गूदा खिलाते हैं, सर्वांग में छाल का लेप करते हैं तथा पत्रक्वाथ से स्नान कराते हैं। इससे पेशाब अधिक होता है।

अथ टङ्कारी। तस्या गुणानाह

टङ्कारी वातजित्तिक्ता श्लेष्मघ्नी दीपनी लघुः। शोथोदरव्यथाहन्त्री हिता पीठविसर्पिणाम् ॥१३४॥

टङ्कारी के गुण—**टङ्कारी** वातनाशक, तिक्तरसयुक्त, कफघ्न, अग्निदीपक, पाक में लघु तथा शोथ एव उदररोग को दूर करने वाली होती है। यह पीठ पर के विसर्प के लिये हितकर है॥१३४॥

नोट—टकारी का उल्लेख अन्य निघण्टुओं में नहीं मिलता। लघु अग्निमन्थ (Clerodendron phlomoides) को कहीं-कहीं 'टेकारी' कहते हैं जो 'तर्कारी' का अपभ्रंश मालूम पड़ता है। इसका वर्णन २३४ पृष्ठ पर किया गया है। टकारी नाम से फाइसेलिस् मिनिमा (Physalis minima) का वर्णन आधुनिक उद्भिदवेत्ताओं ने किया है जिसका यहाँ वर्णन किया जा रहा है। यह विदेश से आने वाले मकोय की जाति के फल 'काकनज' (Physalis alkekenji) के प्रतिनिधि माने जाते हैं। डॉ० देसाई ने सम्भवतः इसका उल्लेख फा. इण्डिका (P. indica) नाम से किया है।

६० टंकारी

सं०—टकारी, लक्ष्मीप्रिया, चिरपोटा। **हिं०**—तुलसीपति। **बं०**—बनटेपारि। **म०**—थानमोडी, चिरबोटी, चिरबुटले। **गु०**—पोपटी, पर्पोटी। **प०**—हुब्बककनज। **क०**—गोंडुल। **ता०**—सिसयक्कालि। **ते०**—कुपण्टे। **ले०**—*Physalis minima* (फाइसेलिस् मिनिमा)। Fam. Solanaceae (सोलेनेसि)।

यह सब प्रान्तों में पाया जाता है। इसका **क्षुप**—६-१८ इञ्च ऊँचा, नरम लोमयुक्त एव वर्षजीवी होता है। **पत्ते**—२ इञ्च लबे, अण्डाकार तथा दन्तुर होते हैं। **पुष्प**—घण्टाकृति, पीतवर्ण तथा ½ इञ्च बड़े होते हैं। **फल**—१½ इञ्च लबा, ½ इञ्च चौडा, लाल रग का रुचिकर होता है जिसमें छोटे छोटे अनेक बीज होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके फल बलकारक, मूत्रजनन एव विरेचक होते हैं। 'काकनज' के स्थान पर इनका उपयोग किया जाता है। सोजाक में फलों को खिलाते हैं। स्तनशिथिलता दूर करने के लिये इसके पचाग को चावल की धोवन में पीस कर लेप करते हैं। मलावष्टम्भ में इसके फलों का पाक बहुत लाभ दायक है। तमकश्वास में इसकी जड तथा टंकण का लावा मधु के साथ देने से श्वासावरोध कम होकर कफ निकलता है।

मात्रा—३-६ माशा।

अथ वेतसः। तस्य नामगुणानाह

वेतसो नम्रकः प्रोक्तो वानीरो वञ्जुलस्तथा। अभ्रपुष्पश्च विदुलो रथः शीतश्च कीर्त्तितः॥१३५॥
वेतसः शीतलो दाहशोथार्शोयोनिरुक्प्रणुत्। हन्ति वीसर्पकृच्छ्रास्रपित्ताश्मरिकफानिलान् १३६

वेतस के नाम तथा गुण—वेतस, नम्रक, वानीर, वञ्जुल, अभ्रपुष्प, विदुल, रथ और शीत ये सब वेतस के नाम हैं। **वेतस**-शीतल है तथा दाह, शोथ, अर्श (बवासीर), योनिरोग, विसर्प, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, अश्मरी (पथरी), कफ तथा वात को दूर करने वाला है॥ १३५-१३६ ॥

नोट—वेतस के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। भावप्रकाश, ध० नि०, रा० नि० आदि में वेतस तथा जलवेतस इन दो भेदों का उल्लेख है। रा० नि० ने वेत्र[1] नाम से एक स्वतन्त्र

१. वेत्रो वेतो योगिदण्डः सुदण्डो मृदुपर्वकः। वेत्रः पचविधः शैत्यकषायो भूतपित्तहृत्॥ रा. नि.

द्रव्य का भी उल्लेख किया है । अन्य निघंटुओं ने वेतस के पर्याय में या स्वतंत्ररूप से वेत्र का उल्लेख नहीं किया है । कुछ विद्वान् वेतस से बेंत का ग्रहण करते हैं जिसका लेटिन नाम कॅलॅमस् टेनुइस् (*Calamust enuis*) है । कुछ लोगों के मत से वेतस से वेदमुश्क का ग्रहण उचित है जिसका लेटिन नाम सेलिक्स केप्रिआ (*Salix caprea*) है । कुछ विद्वानों के मत से इसी जाति के से० ॲल्बा (S. alba) को वेतस मानना चाहिये । इसी जाति के अन्य उपभेद (जलमाला) से० टेट्रास्पर्मा (S. tetrasperma) एवं से० ॲक्मोफाइला (S. acmophylla) को जलवेतस माना जाता है ।

भावप्रकाशकार वञ्जुल और वानीर पर्याय में लिखते हैं किन्तु चरक[1] में दोनों का साथ-साथ उल्लेख होने से ऐसा मालूम होता है कि ये दो अलग वनस्पतियाँ हैं । च० चि० अ० ४-३६ में वेत्र तथा वेतस भी साथ-साथ आये हैं जिससे ये भी दो अलग द्रव्य हैं ऐसा मालूम होता है । वंजुल नाम से चरक में वेदनास्थापन महाकषाय में एवं आसवयोनिसार वृक्षों (सु० अ० २५) में तथा सुश्रुत में न्यग्रोधादिगण में उल्लेख है । 'विदुल' नाम चरक में वमनोपग महाकषाय (सू. अ. ४) में आया है जिसका अर्थ चक्रपाणि हिज्जल करते हैं । सुश्रुत (सू. अ. ३९) में ऊर्ध्वभागहर-गण में विदुल आया है वहाँ डल्हण उसका अर्थ वेतस करते हैं । श्रीयुत् यादवजी विदुल नाम हिज्जल के पर्याय में मानते हैं । हिज्जल (समुद्रफल) में वामक गुण देखा भी जाता है । चरक में वेतस नाम से उसकी मूलत्वक् का उपयोग रक्तपित्त (चि. अ. ४) में एवं सुश्रुत में जीर्णज्वर (उ. अ. ३९) में मूल का उपयोग किया हुआ है । चरक में वेत्र नाम से रक्तपित्त (चि. अ. ४), शोथ (चि. अ. १२) एवं ऊरुस्तम्भ (चि. अ. २७) में उपयोग किया गया है ।

गुणों की दृष्टि से वेदमुश्क के गुण भावप्रकाशोक्त वेतस से मिलते हैं । यहाँ पर वेदमुश्क एवं बेंत का अलग-अलग वर्णन किया गया है । जलवेतस के अन्तर्गत वेदमुश्क की अन्य उपजाति जलमाला का वर्णन किया गया है ।

६१ वेतस १ (वेदमुश्क)

सं०–वेतस, वानीर, गन्धपुष्प । **हिं०, पं०**–वेदमुश्क । **पश्तो०**–खवगवल । **अ०**–खिला-फुल् बलखी । **फा०**–बेदेमुश्क, गुर्बएबेद । **अं०**–Willow विलो, Sallow (सॅलो) । **ले०**–*Salix caprea* (सेलिक्स केप्रिआ) । Fam. Salicaceae (सेलिकेसि) ।

यह फारस, ईरान, उत्तरपश्चिम सीमाप्रान्त एवं भारतवर्ष में काश्मीर तथा पंजाब में होता है ।

इसका **वृक्ष**–छोटा तथा १५–३० फीट ऊँचा होता है । **छाल**–पतली, लचीली, कषाय एवं बहुत कड़वी होती है । **पत्ते**–एकांतर, हरे, बड़े, अंडाकार, दन्तुर एवं नुकीले होते हैं । मध्यशिरा ऊपर के पृष्ठ पर कुछ श्वेत किन्तु अधोपृष्ठ पर रोमश होती है । **पुष्प**–पीतवर्ण के तथा सुगन्धित होते हैं ।

इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है । इसके पुष्पों से बनाये अर्क का 'अर्क वेदमुश्क' नाम से यूनानी चिकित्सा में बहुत व्यवहार किया जाता है । इससे स्रवित हुई शर्करा, वेद अंगबीन का भी उपयोग किया जाता है ।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में ४–१०% टॅनिक ॲसिड, २–७% एक रवेदार ग्लुकोसाइड, सॅलीसिन (Salicin), मोम, वसा एवं गोंद होता है । इसके पुष्पों में एक सुगंधित उड़नशील तैल पाया जाता है ।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल ग्राही, शीतल, ज्वरहर, दाहप्रशमन, वेदनास्थापक, मूत्रल, शिरःशूलनाशक, हृदय को बल देने वाली, उत्तेजक एवं वाजीकर है । इसके पुष्प रोचक एवं पत्ते ज्वरहर होते हैं ।

(१) इसकी छाल का क्वाथ विषम ज्वर, पैत्तिक ज्वर, नूतन आमवात तथा कफक्षय में देते हैं । इससे दाह, शिरःशूल, संधिपीडा, संधिशोथ एवं रक्तष्ठीवन कम होता है । अर्श में छाल का लेप किया जाता है । रक्तष्ठीवन में इसके काण्ड की राख खिलाते हैं ।

---

१. क. अ. १, ९; सि. अ. १०, १९ ।

(२) इसके फूलों का अर्क उष्ण ज्वर तथा हृदय की धडकन में पिलाते हैं। नेत्राभिष्यद तथा शिरःशूल में इसमें कपडा भिगो कर उसकी पट्टी रखते हैं।

मात्रा—छाल ½-१ तो०; अर्क १-२ तोला।

६२ वेतस २ (बेंत)

सं०—वेत्र, वेतस। **हिं०**—बेंत। **बं०**—छाचि वेत। **म०**—वेत। **क०**—वेतसु। **गु०**—नेतर। **ते०**—जतयुर् कुली। **पं०**—बेंत। **ता०**—वेत्तम्। **फा०**—बेंत, हजां खिरज़ा। **अ०**—खीरज़ा, खलाफ, हरजा। **अं०**—Cane (केन)। **ले०**—*Calamus tenuis* (कॅलॅमस् टेनुइस्)। Fam. Palmeae (पामेइ)।

यह जलप्राय भूमि में २ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

इसकी **लता**—सघन, आरोही तथा कांटेदार होती है। यह कांटों की सहायता से फैलती है। **काण्ड**—चिकना, हरा, और कोषमय पत्राधारों से ढका हुआ रहता है। **पत्ते**—२-४ फीट लंबे, पक्षाकार और पत्रदण्ड काँटों से युक्त होते हैं। **पत्रक**—६-१२ इञ्च लंबे, ½-¾ इञ्च चौड़े, रेखाकार, भालाकार, नुकीले एवं तीन शिराओं से युक्त होते हैं। पत्रक के किनारे तथा शिरा पर भी कांटे होते हैं। पत्रनाल और पत्रकोष पर भी प्राय. १ इञ्च तक लंबे और सीधे कांटे होते हैं। पत्रकोष से चाबुक के सदृश ८ फीट तक लम्बी एक रचना फ्लॅजेलम् (Flagellum) निकली रहती है जिस पर भी टेढे कांटे होते हैं। **पुष्प**—पत्रकोषों के अन्दर एकलिंगी पुष्पों की विदण्डिक मंजरियाँ पाई जाती हैं। **फल**—प्रायः ½ इञ्च लंबा एवं काले किनारे के वल्कपत्रों से ढका हुआ रहता है। शीतऋतु में फल पक जाते हैं। बेंत की कई जातियाँ पाई जाती हैं।

गुण और प्रयोग—इसको कुछ विद्वान् वेतस मानते हैं तथा वेतस के स्थान पर इसका प्रयोग करते हैं। इसकी जड ज्वरहर, पित्तहर, पौष्टिक एवं विरेचक मानी जाती है। इसके फल का गूदा ग्राही होता है। इसके कोमल अंकुरों का शाक तिक्तपौष्टिक माना जाता है।

अथ जलवेतसः। तस्य नामगुणानाह

निकुञ्चकः परिव्याधो नादेयो जलवेतसः। जलजो वेतसः शीतः [१]कुष्ठहृद्वातकोपनः ॥१३७॥

जलवेतस के नाम तथा गुण—निकुञ्चक, परिव्याध, नादेय और जलवेतस ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। **जलबेंत**—शीतल, कुष्ठनाशक तथा वात को कुपित करनेवाला होता है ॥ १३७ ॥

६३ जलवेतस (जलमाला)

सं०—जलवेतस, वञ्जुल? **हिं०**—जलमाला, सुकूलवेत, वद। **म०**—वालुज। **बं०**—पानिजामा। **ता०**—अत्तुपलै। **ते०**—एतिपाल। **फा०**—वेदसादा, वेदलैला। **अ०**—खिलाफ्, सफ्साफ। **ले०**—*Salix tetrasperma* (सेलिक्स् टेट्रास्पर्मा)। Fam. Salicaceae (सेलिकेसि)।

इसका वृक्ष प्राय. नदी-नालों के किनारे पाया जाता है। हिमालय में ६००० फीट की ऊँचाई तक यह होता है। काश्मीर तथा पश्चिमोत्तर प्रान्त में इसे लगाते हैं।

इसका **वृक्ष**—साधारण ऊँचा तथा सुन्दर होता है। **छाल**—कृष्णाभ, ततुमय, चिमड, कडवी, कषाय तथा कुछ सुगंधित होती है। **पत्ते**—३-६ इञ्च लंबे, रेखाकार-भालाकार, चिकने, पत्रोदर हरा, पत्रपृष्ठ सफेद एवं पत्रवृन्त लाल रंग का होता है। **पुष्प**—सफेदी लिये पीले और कुछ सुगंधित मंजरियों में आते हैं। **फल**—करीब ५ इञ्च लम्बा होता है तथा प्रत्येक फल में ४-६ बीज होते हैं। इसकी छाल एवं पत्र का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसके लचीले पतले काण्ड से टोकरियाँ बनाई जाती हैं। इसकी अन्य उपजातियों को वेत, लैला, मजनूँ तथा भैंसा आदि नामों से पुकारा जाता है।

---

१. सग्राही इति पाठा०।

गुण और प्रयोग—इसके गुण भी वेदमुरक की तरह ही हैं। इसकी छाल पौष्टिक, ज्वरघ्न तथा नियतकालिकज्वरप्रतिबंधक है। रक्तातिसार, यकृत एवं प्लीहा शोथ तथा कामला में इसके ताजे पत्तों का रस देते हैं।

मात्रा—छाल ½-१ तो०; रस २-५ तो०; अर्क ५-१० तो०।

अथेज्जलः (समुद्र फल इति लोके) तस्य नामगुणानाह

इज्जलो हिज्जलश्चापि निचुलश्चाम्बुजस्तथा। जलवेतसवद्वेद्यो हिज्जलोऽयं विषापहः ॥ १२८ ॥

इज्जल (समुद्रफल) के नाम तथा गुण—इज्जल, हिज्जल, निचुल और अम्बुज, ये सब पर्याय-वाचक शब्द हैं। **इज्जल**-गुणों में 'जलवेतस' के ही समान है तथा विशेषतः यह विषनाशक है॥१२८॥

६४ इजल (समुद्र फल)

हिं०—इज्जल, इंजर, हिज्जल, समुद्र फल। **बं०**-हिज्जल। **म०**-सत्फल, समुद्रफल। **गु०**-समुद्र फल। **मा०**-समंदर फल। **आसा०**-हिंडोल। **सन्ता०**-हिंजल। **कोल०**-सपरुंग। **उरि०**-किंजोलो। **ते०**-कणपु, कणिगि। **ता०**-समुद्रपुछानि। **क०**-कंपुकणगिन। **मल०**-चरियसरकरवडि। **ले०**-*Barringtonia acutangula* (बेरिंगटोनिआ एक्युटेन्ग्युला)। Fam. Myrtaceae (मिर्टेसि)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है किन्तु बंगाल तथा दक्षिण में अधिक देखने में आता है।

इसका **वृक्ष**-छोटा और बारहों मास हरा-भरा रहता है। **छाल**-आध इञ्च तक मोटी कालापन युक्त भूरे रङ्ग की और खुरदरी होती है। **पत्ते**-अभि-लट्वाकार या अभि-प्रासवत्, २×५ इञ्च या कभी-कभी ९×४ इञ्च बड़े, सूक्ष्म दन्तुर तथा ½ इञ्च लबे वृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**-लाल रंग के पुष्प करीब २ फीट लबी, नीचे लटकती हुई सवृन्त काण्डज-मंजरियों में आते हैं तथा जल्दी ही झड़ जाते हैं। पुंकेशर लालवर्ण के होते हैं। **फल**-१॥-१॥ इञ्च लंबा, बादाम जैसा, चार उभारों से युक्त और अग्र पर स्थायी बाह्यपुट के साथ रहता है। यह ताजी अवस्था में लाल किन्तु पकने पर काला तथा कठोर हो जाता है। इसे जल में भिगोने पर यह मुलायम हो जाता है। इसका स्वाद प्रारभ में मधुर तथा बाद में कडवा और मितली लाने वाला होता है। फल की छाल पतली रहती है तथा इसमें १ बीज रहता है। इसके फल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसकी छाल मछलियों के लिये विषैली है।

नोट—मदनपालनिघण्टु में निचुल नाम जलवेतस के पर्याय में आया है किन्तु उसमें हिज्जल का भी स्वतत्र वर्णन किया हुआ है। ध० नि० में भी निचुल नाम वेतस के पर्याय में आया है। वास्तव में निचुल नाम हिज्जल (समुद्रफल) के लिये ही उचित है जिसका ऊपर वर्णन किया गया है। चरक (सू० अ० २) में निचुल नाम से विरेचनद्रव्यों में इसका उल्लेख है। श्रीयुत यादवजी ने 'विदुल' नाम इसके (हिज्जल) पर्याय में माना है जो गुणों की दृष्टि से उचित मालूम पडता है किन्तु भावप्रकाशकार विदुल नाम वेतस के पर्याय में लिखते हैं। चक्रपाणि विदुल का अर्थ वमनोपग महाकषाय (सू० अ० ४) की टीका में हिज्जल करते हैं किन्तु दूसरे स्थान (च० सि० अ० १०-२८) में विदुल का अर्थ वेतस भी किया मिलता है।

रासायनिक संगठन—इसके फल में साबुन की तरह एक पदार्थ रहता है। फल के चूर्ण को जल में हिलाने से फेन निकलता है जो बहुत देर तक रहता है। फेन का स्वाद प्रारभ में मधुर एव बाद में कड्वा तथा तीता मालूम होता है।

गुण और प्रयोग—समुद्रफल कफघ्न, वामक, आनुलोमिक एव वेदनास्थापन है। इसकी क्रिया मदनफल की तरह होती है। वृद्धों में मदनफल तथा बच्चों में समुद्रफल देते हैं। इसकी जड कडवी तथा पार्यायिक ज्वर में लाभदायक होती है।

(१) बच्चों के प्रतिश्याय, कास, फुफ्फुसपाक आदि कफविकारों में इसे देते हैं। यदि इसके देने के पश्चात् वमन न हो तो नमक डालकर उष्ण जल पिलाना चाहिये। इससे वमन होकर

कफ निकल जाता है तथा पाखाना भी होता है। यदि इसके प्रयोग से कुछ दुष्परिणाम मालूम पडे तो चावल की माड घी मिलाकर दें। समुद्रफल को पीसकर छाती तथा पेट पर भी लगाते हैं।

(२) तमकश्वास में ६ माशा समुद्रफल व सफेद कोयल की जड ६ माशे दूध में घिसकर देते हैं जिससे वमन विरेचन होकर आराम मिलता है।

(३) शिरःशूल में इसके बीजों का नस्य लाभदायक होता है।

(४) इसके पत्तों का रस मधु मिलाकर आमातिसार में देने से लाभ होता है।

(५) आँखों से पानी जाता हो तो समुद्रफल को जल में घिसकर लगाने से लाभ होता है।

(६) उदरशूल, आनाह आदि में नमक, अजवायन के साथ इसका चूर्ण दिया जाता है।

(७) पार्यायिक ज्वरों में काली मिर्च एवं तुलसी पत्र के साथ इसे देते हैं।

मात्रा—१-२ रत्ती।

अथाङ्कोटः (अङ्कोल—ढेरा)। तस्य नामगुणानाह

अङ्कोटो दीर्घकीलः स्यादङ्कोलश्च निकोचकः। अङ्कोटकः कटुस्तीक्ष्णः स्निग्धोष्णस्तुवरो लघुः॥
रेचनः कृमिशूलामशोफग्रहविषापहः। विसर्पकफपित्तास्रमूषकाहिविषापहः॥ १४०॥

अकोल के नाम तथा गुण—अकोट, दीर्घकील, अङ्कोल और निकोचक ये सब 'अङ्कोल' के नाम हैं। अङ्कोल—कटु तथा कषाय(कसेला)रसयुक्त, तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य, स्निग्ध, लघु (हलका), रेचक (दस्तावर) होता है एवं कृमि, शूल, आम, शोथ (सूजन), ग्रहबाधा, विष, विसर्प, कफ, पित्त, रक्तविकार एवं मूसा तथा सर्प के विषको दूर करनेवाला होता है॥१३९-१४०॥

अथाङ्कोटफलस्य गुणानाह

तत्फलं शीतलं स्वादु श्लेष्मघ्नं बृंहणं गुरु। बल्यं विरेचनं वातपित्तदाहक्षयास्रजित्॥१४१॥

अङ्कोल के फल का गुण—अङ्कोल का फल—शीतल, स्वादिष्ट, कफनाशक, बृंहण, पाक में गुरु, बलकारक, विरेचक एवं वायु, पित्त, दाह, क्षय तथा रक्तविकार को दूर करनेवाला होता है॥ १४१॥

६५ अङ्कोट

हि०—अङ्कोल, ढेरा, टेरा, ढेला। बं०—आकोड, बाघ, आंकडा, अकरकटा। म०—अकोल। गु०—आकोल, अंकोल। क०—अकोले-मर। ते०—ऊडगु, अकोलमु। ता०—अलगी। सन्ता०—डेला, ढेला। ले०—*Alangium lamarckii* (एलेन्जिअम् लॅमार्काइ)। Fam. Cornaceae (कॉर्नेसि)।

यह मध्य और दक्षिण भारत, उत्तर-प्रदेश, बगाल, बिहार, हिमालय की घाटी से गङ्गा तक और राजपुताना आदि कई प्रान्तों में पाया जाता है। यह प्रायः नदी नालों की ढालों पर अधिक होता है।

इसका छोटा वृक्ष अथवा बडा झाड काँटेदार देखने में सुन्दर और सघन होता है। पुराने वृक्षों से वड की जटा के समान जटा निकलती है। छाल—धूसर रङ्ग की, मोटी एवं खुरदरी होती है। जड़—भारी, पीताभ, तेलिया तथा मजबूत होती है। जड की छाल, दालचीनी की अपेक्षा भूरे रङ्ग की रहती है। पत्ते—कनेर के पत्तों के समान तीन से छः इञ्च लम्बे, १ से २ इञ्च चौडे, आयताकार, आयताकार-भालवत् या कोई अंडाकार होते हैं। पुष्पोद्गम के पूर्व पत्ते गिर जाते हैं। फूल—सुगन्धित, सफेद रङ्ग के होते हैं। फल—कच्ची अवस्था में नीले और पकने पर जामुनी लाल, •४-•६ इञ्च बडे तथा मासल होते हैं। बीज—गुठलीदार और बडे होते हैं। काले, लाल और सफेद फूलों के भेद से यह तीन प्रकार का होता है। Aesculus indica (एस्क्युलस् इन्डिका) को 'कढार, बखोर, अखोल' आदि नामों से कचित् वर्णित किया जाता है किन्तु प्रस्तुत अङ्कोट के प्रतिनिधि के रूप में उक्त वनस्पति का व्यवहार न करना चाहिये।

इसकी जड की छाल, पत्र, बीज एवं बीज तेल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। इसका स्वाद कटुवा एवं गन्ध अप्रिय होती है।

रासायनिक संगठन—इसकी जड़ की छाल में ॲलेन्जाइन (Alangine) नामक एक कडवा क्षाराभ एवं पोटॅशियम् क्लोराइड (Pótassium chloride) पाया जाता है। इस क्षाराभ के रवे नहीं बनते तथा यह जल में भी नहीं घुलता। यह मद्यसार में घुल जाता है।

बिल्ली में ॲलेन्जाइन सल्फेट (Alangine sulphate) नामक इसके लवण के शिरान्तर्गत सूचिकाभरण से रक्तनिपीड कम होता है जो १, २ मिनट में ही स्वाभाविक हो जाता है। इससे हृदय अवसादित होता है तथा आन्त्र की पुरःसरण क्रिया बढती है। इससे श्वास अनियमित हो जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल उष्ण, कड़वी, वामक, स्वेदजनक, मूत्रल, रेचक, ज्वरहर, कृमिघ्न एवं विषहर है। अल्प मात्रा में (१-३ र०) यह हृल्लासकारक, स्वेदजनन एवं मूत्रल है। अधिक मात्रा (३ माशा) में यह वामक एवं विरेचक है। इसके गुण मदार तथा एपिकाक के समान हैं। वामक मात्रा में प्रयोग से आमाशय में दाह तथा हृदय एवं रक्तवाहिनियों पर अवसादक प्रभाव पडता है।

(१) कुष्ठ, उपदंश तथा सभी प्रकार के त्वचा के विकारों में इसकी मूलत्वक् ½-१ रत्ती की मात्रा में दिन में तीन वार देते हैं तथा बीज तैल या जड को पीसकर लगाते हैं।

(२) प्रतिश्याय, इन्फ्लुएन्जा एवं संधिपीडा युक्त ज्वर (डेंग्यु) में इसकी जड़ घोडवच या सोंठ के साथ चावल की मांड में उबालकर देते हैं तथा पत्तों को पीसकर जरा गरम कर पीड़ा-युक्त स्थान पर बाँधते हैं।

(३) यकृतोदर, जलोदर एवं वृक्कजन्य शोफ में इसकी मूलत्वक् ३ रत्ती की मात्रा में देने से विरेचन होता है तथा यकृत् की क्रिया सुधरती है। इसके साथ यवक्षार का प्रयोग करने से मूत्र भी बढता है।

(४) चूहे के विष में तथा सर्पविष में यह लाभदायक माना जाता है। सर्प विष में २० रत्ती की मात्रा में मूल का चूर्ण चावल की धोवन के साथ देते हैं।

मात्रा—मूलत्वक् १-२ रत्ती; वामक ३ माशा।

अथ बलाचतुष्टयम् तस्य नामगुणानाह

बलावाट्यालिका वाट्या सैव वाट्यालकाऽपि च। महाबला पीतपुष्पा सहदेवी च सा स्मृता
ततोऽन्याऽतिबला ऋष्यप्रोक्ता कङ्कतिका च सा। गाङ्गेरुकी नागबला झषा ह्रस्वगवेधुका॥

बलाचतुष्टय (चारों प्रकार के बला) के नाम तथा गुण—(१) बला, वाट्यालिका, वाट्या तथा वाट्यालका ये सब नाम बला (खिरेंटी) के हैं। (२) महाबला, पीतपुष्पा और सहदेवी ये सब नाम महाबला के हैं। (३) अतिबला, ऋष्यप्रोक्ता और कङ्कतिका ये सब अतिबला (कंघी) के नाम हैं। (४) गागेरुकी, नागबला, झषा तथा ह्रस्वगवेधुका ये सब नाम नागबला के हैं॥ १४२-१४३॥

बलाचतुष्टयं शीतं मधुरं बलकान्तिकृत्। स्निग्धं ग्राहि समीरास्रपित्तास्रक्षतनाशनम्॥

बलाचतुष्टय—शीतवीर्य, मधुररसयुक्त, बलकारक, कान्तिकारक, स्निग्ध एवं ग्राही होता है और वायु, रक्तपित्त, रक्तविकार तथा व्रण को दूर करने वाला होता है॥ १४४॥

***बरियारा, सहदेवी, ककहिया, गुलशकरी, इति बलाचतुष्टयम्॥ १४४॥**

यहाँ पर 'बलाचतुष्टय' से १. बरियारा, २. सहदेई, ३. ककहिया, ४. गुलशकरी इन—चारों को ही समझना चाहिये॥ १४४॥

बलामूलत्वचश्चूर्णं पीतं सक्षीरशर्करम्। मूत्रातिसारं हरति दृष्टमेतन्न संशयः॥ १४५॥
हरेन्महाबला कृच्छ्रम् भवेद्वातानुलोमिनी। हन्याद‌तिबला मेहं पयसा सितया समम्॥१४६॥

'बरियारे' के जड की छाल का चूर्ण यदि दूध तथा शक्कर के साथ मिलाकर पीया जाय तो मूत्रातिसार को दूर करता है, यह परीक्षा करके देखा गया है, अत एव इसमें सन्देह नहीं करना

चाहिये। 'महाबला' मूत्रकृच्छ्र को दूर करती है तथा इससे वायु का अनुलोमन भी होता है। 'ककहिआ' का चूर्ण दूध तथा चीनी के साथ खाने से प्रमेह नष्ट होता है ॥ १४५-१४६ ॥

नोट—भावप्रकाशकार बला के ४ भेद लिखते हैं। आधुनिक उद्भिज्जवेत्ताओं ने भी बला प्रजाति (Sida) की कई जातियों का वर्णन किया है। इनमें से **अतिबला** (कघी) निस्संदेह ॲब्युटिलॉन् (Abutilon) प्रजाति की वनस्पति है। अधिकांश विद्वानों ने सिडा कॉर्डिफोलिआ (Sida cordifolia) को **बला** माना है। किन्तु श्री ठा० बलवन्तसिंह जी ने (पीत पुष्प) सिडा रॉम्बिफोलिया (Sida rhombifolia) को वास्तविक बला लिखा है जिसको अन्य विद्वानों ने महाबला माना है। कुछ विद्वान् रॉम्बिफोलिआ का अन्य उपभेद (श्वेत पुष्प) सिडा रॉम्बोइडिआ (Sida rhomboidea) को महाबला मानते हैं। भावप्रकाशकार महाबला के पर्याय में सहदेवी लिखते हैं लेकिन वास्तव में सहदेवी यह भिन्न वर्ग की व्हर्नोनिआ सिनेरिआ (Vernonia cinerea) है। चरकसुश्रुत में महाबला नाम नहीं आया है किन्तु सहदेवा नाम है। सम्भव है कि चरक, सुश्रुतोक्त सहदेवा ही महाबला हो तथा गलती से सहदेवा के स्थान पर सहदेवी छप गया हो।

नागबला—के सम्बन्ध में अधिक मतभेद हैं। सिडा व्हेरोनिसोफोलिआ या सिडा ह्युमिलिस् (Sida veronicaefolia Syn–Sida humilis) को अधिकांश विद्वान् नागबला मानते हैं। यह भूमि पर सर्प की तरह टेढ़ो-मेढ़ी फैलती है। कुछ विद्वान् गुलसकरी को नागबला मानते हैं क्योंकि नागबला के पर्याय में गागेरुकी आया है। गुलसकरी के ले० नाम के विषय में भी मतभेद है। सिडा स्पाइनोसा (Sida spinosa) को कुछ लोगों ने गुलसकरी लिखा है किन्तु श्री ठा० बलवन्तसिंह जी ने उसे अशुद्ध बतलाया है तथा वे ग्रेविआ हिर्सुटा (Grewia hirsuta) को गुलसकरी मानते हैं। नागबला का चतुष्फला पर्याय इसके लिये उपयुक्त मालूम होता है। इसे तथा इसके अन्य भेद ग्रे० पोप्यूलिफोलिया (Grewia populifolia) को गागेरुकी (गगरेन) कहते हैं जिससे इन्हें नागबला माना जाता है। इनके अतिरिक्त सिडा ॲक्यूटा (Sida acuta) एव अन्य भेद भी पाये जाते हैं। यहाँ पर सक्षेप में उपर्युक्त भेदों का स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। वास्तव में गुणों की दृष्टि से इनमें विशेष अन्तर न होने के कारण एक के स्थान में दूसरे का व्यवहार किया जा सकता है।

६६ बला (बरियारा)

हिं०—बरियार, बरियारा, बरियाल, खरैठी, खरैटी, खिरैंटी। **बीजबन्द** (बीज)। **बं०**—बेडेला। **म०**—चिकणा। **गु०**—बलदाणा (बीज), खरेटी, बल, बला। **क०**—किसगी, हेट्टुटि-गिडा। **ते०**—चिरिबेण्डा, मुत्तवु। **ता०**—अखिल-मनैपुण्डु। **मा०**—खरेंटी। **पं०**—खरैहटी, सिमक। **अं०**—Country mallow (कन्ट्री मॅलो); Sida (सिडा)। **ले०**—*Sida cordifolia* (सिडा कॉर्डिफोलिआ)। Fam. Malvaceae (माल्वेसि)।

यह सब प्रान्तों में प्रायः बारहों मास पाया जाता है। किन्तु वर्षा ऋतु में इसकी बहुलता खेतों और मेडों पर देखने में आती है। इसकी जड और डडी बहुत मजबूत होती है जो आसानी से नहीं टूटती।

इसका **क्षुप**—छोटा, २-४ फीट ऊँचा, स्वावलम्बी, मृदुरोमश तथा अनेक शाखाओं से युक्त रहता है। **स्तम्भ**—काष्ठमय एव रेशेदार होता है। छाल—हल्के पीताभ भूरे रङ्ग की होती है। **पत्ते**—१-२ इञ्च लम्बे, हृदयाकृति, लट्वाकार-आयताकार, तूलरोमश, गोलदन्तुर, ७-९ शिराओं से युक्त एव ½-१½ इञ्च लम्बे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**—बरसात के अन्त में छोटे पीले रङ्ग के फूल आते हैं जिनमें ७-१० स्त्रीकेसर होते हैं। **फल**—छोटे, मूग जितने बडे होते हैं। **बीज**—गहरे भूरे या काले रङ्ग के छोटे बीज रहते हैं जिन्हें **बीजबन्द** कहा जाता है। ग्रन्थितृण (पृ० २११) के बीजों को भी बीजबन्द कहा जाता है। **जड़**—प्रायः २-५ इञ्च लम्बी तथा ½ इञ्च मोटी होती है। इसकी जड, पत्र, बीज एव पञ्चाग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पञ्चांग में एक क्षाराभ, तैल, फाइटोस्टेरॉल् (Phytosterol), म्यूसिन, गाल, रालीय अम्ल एवं पोटॉशियम् नाइट्रेट (Potassium nitrate) ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसके पत्र, काण्ड एवं मूल में क्षाराभ की मात्रा ०·०८५% रहती है किन्तु बीजों में यह ०·३% होती है। इसके क्षाराभ में प्रधान अंश एफेड्रीन (Ephedrine) का रहता है।

गुण और प्रयोग—बला (बरियरा) शीतवीर्य, बल्य, रसायन, वृष्य, प्रजास्थापन, संग्राही वातपित्तहर एवं स्निग्ध है।

इसका उपयोग रक्तपित्त, प्रमेह, प्रदर, वातविकार एवं व्रण में किया जाता है।

(१) शुक्रमेह में इसके पञ्चांग का स्वरस देने से लाभ होता है।

(२) श्वेत प्रदर, वारबार पेशाब होना तथा सोजाक में इसके जड़ की छाल का चूर्ण शर्करा तथा दुग्ध के साथ प्रयोग करते हैं।

(३) अर्धांग, अर्दित, मन्यास्तम्भ, अववाहुक, गृध्रसी तथा शिरःशूल आदि वातविकारों में इसकी केवल जड या हींग और सैंधव मिलाकर जड का प्रयोग करते हैं तथा दुग्ध के साथ सिद्ध तैल का वाह्य प्रयोग करते हैं।

(४) नेत्राभिष्यंद में इसके पत्र पीसकर बाँधते हैं।

(५) उपदंश, फिरंग तथा क्षत में इसकी जड को पीसकर बांधने से व्रण जल्दी अच्छे होते हैं। पञ्चांग के क्वाथ से व्रण प्रक्षालन भी किया जाता है।

(६) (महा) बला की जड़ एवं सोंठ का क्वाथ कम्पयुक्त विषम ज्वरों में लाभदायक होता है।

(७) हृदय को बल देने के लिये मकरध्वज तथा कस्तूरी के साथ इसका प्रयोग करते हैं।

(८) राजयक्ष्मा में दूध के साथ इसकी जड से सिद्ध घृत का उपयोग मधु मिलाकर करते हैं।

(९) श्लीपद में (महा) बला की जड़ एवं हरिताल पीसकर लेप करते हैं।

(१०) रसायन के लिये इसकी जड (½–१ पल) को दूध के साथ पीसकर पिलाते हैं तथा आहार में घृत युक्त दूध भात खिलाते हैं। इससे आयु वृद्धि होती है।

मात्रा—मूल ६ माशा–१ तोला; पञ्चांग ६ मा०–१ तोला।

६७ महाबला, सहदेवी ?

सं०—सहदेवा, क्षेत्रबला। **हि०**—सहदेई, सहदैया, पीतबला। **बं०**—पीतबेडेला। **म०**—चिकणी, सहदेवी, तुपकडी। **गु०**—खेतराऊबल, खेतराऊबलदाणा। **पं०**—सहदेवि। **ते०**—मयिलमाणिक्यम्। **ता०**—मयिरमाणिक्कम्। **ले०**—*Sida rhombifolia* (सिडा रॉम्बिफोलिया)। Fam. Malvaceae (माल्वेसि)।

यह क्षुप जाति की वनौषधि प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाई जाती है। यह ऊसर भूमि में अधिक होती है। इसका **क्षुप** १–४ फीट ऊँचा, झाडदार और सीधा होता है। **पत्ते**–२–३ इञ्च लम्बे, अभिलट्वाकार या रॉम्बॉएड (Rhomboid) तथा दन्तुर होते हैं। **फूल**–पीले रङ्ग के बरियारे के फूलों के आकार वाले किन्तु उनसे कुछ बडे होते हैं। **फल**–बरियारे के ही समान होते हैं।

यह एक परिवर्तनशील जाति बतलाई जाती है जिसके अन्तर्गत कई उपभेद बतलाये गये हैं। इसी के उपभेद सिडा रोम्बॉइडिआ (Sida rhomboidea) के पुष्प श्वेतवर्ण के होते हैं।

यद्यपि भावप्रकाशकार इसे सहदेवी लिखते हैं तथापि यह वास्तविक सहदेवी नहीं है। सहदेवा यह नाम इसके लिये अधिक उपयुक्त है क्योंकि चरक सुश्रुत में बला के भेदों में सहदेवा का उल्लेख है। सहदेवी का आगे स्वतन्त्र वर्णन किया गया है जो भिन्न वर्ग की वनस्पति है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में लुआब बहुत होता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुण भी बला सदृश ही होते हैं। शीतज्वर तथा आमवात में सोंठ के साथ इसकी जड का क्वाथ पिलाते हैं। मूत्रकृच्छ्र में इसकी जड के क्वाथ से वेदना कम होती है।

क्षत पर मूलस्वरस की पट्टी रखने से व्रण जल्दी अच्छा होता है। हरिताल के साथ इसकी जड के लेप से श्लीपद में लाभ होता है।

मात्रा—६ मा० से १ तोला।

९८ सहदेवी

सं०–सहदेवी। **हिं०**—सहदेई, सहदेया। **बं०**–छोट कुकासिमा। **म०**–सहदेवी, सायिदेवि, सादोडी। **गु०**–सदोडी, शेदरडी। **ता०**–नैचिट्टे। **ते०**–घेरिट्टेकरनिना। **मल०**–पिरिना। **क०**–सहदेवी। **अं०**–Fleabane (फ्लीबेन)। **लै०**–*Vernonia cineria* (व्हर्नोनिआ सिनेरिआ)। Fam. Compositae (काम्पोझिटी)।

यह बरसात के दिनों में परित्यक्त भूमि में सब जगह होती है।

इसका **क्षुप**–स्वावलबी अथवा प्रसरणशील, रोमश तथा ८ इञ्च से ३ फीट तक ऊँचा होता है। **काण्ड**–पतला, रेखा युक्त एवं रोमश होता है। **शाखायें**–प्रायः श्वेताभ रोमश होती हैं। **पत्ते**–कई तरह के अर्थात् रेखाकार, अडाकार, लट्वाकार या अभि लट्वाकार, अखड या दन्तुर, रोमश, अवृन्त अथवा क्रमशः सकुचित होकर सूक्ष्म वृन्त से लगे होते हैं। **पुष्प**–हलके जामुनी रंग के पुष्प •२५ इञ्च लबे और आयताकार मुण्डक में आते हैं। अधःपत्रावलि–घटिकाकार, •२ इञ्च लबी और उसके पत्र प्रायः रेखाकार, लबाग्र और उनका अग्र कटक सदृश तीक्ष्ण होता है।

यह सहदेवी बलाभेद नहीं है किन्तु जिस सहदेवी की जड शिखा में बाँधने से ज्वर कम होता है वह यही है।

गुण और प्रयोग—यह शीतवीर्य, स्वेदजनक, कृमिघ्न एवं शोथहर है। ज्वर में पसीना लाने के लिये इसका क्वाथ या स्वरस पिलाते हैं तथा शरीर पर लगाते हैं। अर्श में इसका स्वरस दिया जाता है। यह पेशाब की जलन तथा वस्ति के उद्वेष्टन में लाभदायक है। इसका लेप शोथ में उपयोगी है।

इसके बीज कृमिनाशक, विषहर तथा घोड़ों के लिये पौष्टिक माने जाते हैं। नेत्राभिष्यन्द में पुष्पों का व्यवहार किया जाता है।

मात्रा—स्वरस ६ मा०–१ तोला; बीज ४ र०–१ मा०।

९९ अतिबला (कंघी)

हिं०–कंघी, ककही, ककहिया, कगहो। **बं०**–पेटारी। **म०**–मुद्रा, मुद्रिका, करडी, पेटारी। **पं०**–पीली बूटी, अतिखिरते। **गु०**–खपाट, कासकी, डाबली। **मा०**–डाबी। **क०**–श्रीमुद्रिगिडा। **ते०**–तुत्तुरबेंड। **सिन्ध०**–सिम्बुल। **सन्ता०**–मिरुबहा। **ता०**–तुत्ति। **फा०**–दरख्ते शाहनाह। **अ०**–मश्तुलगूल। **अ०**–Indian Mallow (इण्डियन् मॅलो)। **लै०**–*Abutilon indicum* (एब्युटिलोन् इन्डिकम्)। Fam. Malvaceae (माल्वेसि)।

यह वनौषधि प्रायः गरम प्रान्तों में अधिक पाई जाती है। इसका **क्षुप**–झाडदार, २–२॥ हाथ ऊँचा और पुराना होने पर ४–५ हाथ तक ऊँचा देखा जाता है। इस पर मृदु श्वेताभ मखमली रोमावरण होता है। **पत्ते**–एकातर, ३/४–१इञ्च लम्बे, गिलोय के पत्तों के आकार वाले, दन्तुर, मृदु-रोमश तथा लम्बे वृन्त से युक्त होते हैं। **फूल**–पीले नारङ्गी रङ्ग के प्रायः सन्ध्याकाल में खिलते हैं। **फल**–चक्राकार गोल कघी की तरह होते हैं। इनसे प्रायः बालक छापा किया करते हैं। **बीज**–हरियारे के बीजों से कुछ बडे होते हैं। इन्हें भी बीजबद कहा जाता है।

इसकी एक दूसरी जाति होती है जिसे **हिं०**–बडी कंघी, **लै०**–*Abutilon hirtum* (एब्युटिलोन् हिर्टम्) कहते हैं। इसमें मृदुरोमावरण के अतिरिक्त चिपचिपे रोम, तथा शाखाओं और पुष्पदंडों पर लम्बे मुलायम रोयें भी होते हैं। इसका भी अतिबला के नाम से प्रयोग किया जा सकता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में लुआब बहुत होता है जो उष्ण जल में आ जाता है। पत्तों की राख १६% होती है जिसमें क्षारीय सल्फेट, क्लोराइड, मॅग्नेशियम् फास्फेट यथा कॅल्शियम् कार्बोनेट आदि लवण होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ वातहर, रसायन, मूत्रजनन; बीज स्नेहन, मृदुरेचन, वाजीकर, कासहर; छाल मूत्रजनन एवं पत्र स्नेहन, वेदनाहर हैं।

(१) सोजाक, मूत्रकृच्छ्र एवं बस्तिविकार आदि में इसके पत्तों का क्वाथ या बीजों का प्रयोग बहुत लाभदायक होता है। मूत्रकृच्छ्र तथा रक्तमूत्र में मूल का क्वाथ लाभदायक है। प्रमेह में पेशाब साफ होने के लिये दूध एव शर्करा के साथ इसकी छाल देते हैं।

(२) मसूढ़े ढीले हों तथा दाँत में दर्द हो तो इसके पत्ते के क्वाथ से कुल्ला कराते हैं। वेदनायुक्त स्थान पर इससे सेंकते हैं। व्रण तथा फोड़े आदि पर इसके पुष्प तथा पत्तों का लेप किया जाता है।

(३) ज्वर में दाहशान्ति के लिये इसके पत्ते तथा मूल का क्वाथ दिया जाता है।

(४) रक्तप्रदर में इसकी जड़ का चूर्ण शर्करा एवं मधु के साथ दिया जाता है।

(५) इसके बीज नपुंसकता, अर्श, सोजाक तथा बस्तिविकारों में दिये जाते हैं।

(६) पित्तातिसार में पत्रस्वरस में घृत मिलाकर खिलाते हैं।

(७) गुदा पर इसके बीजों के धूप से सूत्र-कृमि नष्ट होते हैं।

मात्रा—मूल ६ माशा–१ तोला; बीज ४–८ माशा।

७० नागबला १

सं०—भूमिबला, नागबला, विश्वदेवा। **हिं०**—फरीदबूटी ? **म०**—भुईबल, भुईचिकणा। **गु०**—भोंयबल। **बं०**—जोंका। **ता०**—पलुपन्दु। **ते०**—गायपूआकु। **ले०**—*Sida veronicaefolia* (सिडा व्हेरोनिसीफोलिआ); Syn–Sida humilis (सिडा ह्युमिलिस्)। Fam. Malvaceae (माल्वेसि)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाई जाती है। इसका **क्षुप** (प्रसर)–बहुवर्षायु, रोमश, लम्बी शाखाओं से युक्त तथा जमीन पर अथवा झाड़ियों पर फैला हुआ होता है। भूमि पर सर्प की तरह टेढ़े-मेढ़े यह फैला होने के कारण इसे नागबला कहते हैं। **पत्ते**–½–१ इंच लम्बे, प्रायः लट्वाकार, हृद्वत, दन्तुर, रोमश तथा लबाग्र होते हैं। **पुष्प**–पीले रङ्ग के छोटे अनेक पुष्प आते हैं।

गुण और प्रयोग—गर्भिणी अतिसार में इसके पत्तों का फाण्ट देते हैं। मूत्र-कृच्छ्र में पुष्प तथा कोमल फल चीनी के साथ देते हैं। क्षत तथा ठोकर लगने पर पत्तों को पीसकर बाँधते हैं।

नागबला की जड़—यह बहुत उत्तम रसायन, पुष्टिदायक, आयुवर्धक तथा बलवर्धक मानी गयी है। राजयक्ष्मा तथा क्षतक्षय आदि में यह बहुत लाभदायक मानी जाती है। रसायन के लिये इसकी जड़ की छाल ½–१ तोले दूध में पीसकर अथवा घृत एवं मधु के साथ इसका चूर्ण-सेवन का विधान है। पथ्य में घृत-दुग्धयुक्त रक्तशालि अथवा साठी चावल का भात खावे (च. चि. अ. १)। इसी प्रकार प्रतिदिन ½ तोले से बढ़ाकर ४ तोले तक की मात्रा में इसका चूर्ण दूध के साथ खावे तथा आहार में दूध ही पीवे। क्षतक्षयी के लिये इस प्रकार एक महीने प्रयोग से पुष्टि, आयु, बल तथा आरोग्य की वृद्धि होती है (च० चि० अ० ११)। राजयक्ष्मा में दूध के साथ नागबला का चूर्ण सेवन करने से लाभ होता है (सु० उ० अ० ४१)। शोढल ने घृत एवं मधु के साथ क्षय के लिये इसका प्रयोग लिखा है। हृद्रोग, कास तथा श्वास में भी दूध के साथ इसका चूर्ण दिया जाता है (चक्र)।

उपर्युक्त गुण जिसमें मिलें वही शास्त्रीय नागबला हो सकती है। **मात्रा**—मूल ½ से १ तो०।

७१ नागबला २ (गुलसकरी ?)

सं०—कण्टकिनीबला। **हिं०**—गुलशकरी, जङ्गली मेथी। **बं०**—गोरक्षचाकुले, बोन मेथी। **म०**—नागबला। **मा०**—गङ्गेरण। **पं०**—गङ्गेरण, गङ्गेरन। **गु०**—कांटालोबल। **फा०**—ग्रनबकिदेवरी।

अ०–शमलोदेदस्ती। **ले०**-*Sida spinosa* (सिडा स्पाइनोसा)। Fam. Malvaceae (माल्वेसि)। यह इस देश के अधिक उष्ण भागों में पश्चिमोत्तर प्रदेश से दक्षिण तक पाई जाती है।

इसका **क्षुप**–अनेक शाखाओं से युक्त, स्वावलम्बी तथा श्वेताभ वर्ण का होता है। **शाखायें**–पतली, खुरदरी एवं किञ्चित् सूक्ष्म रोवेंदार होती है। **पत्ते**–१–१½ इञ्च लम्बे, अण्डाकार, कुछ नुकीले, दन्तुर और मोटे होते हैं। पत्तों के नीचे सन्धि पर प्रायः तीक्ष्ण काटे होते है। **फूल**–आध इञ्च के घेरे में गोलाकार, ५ पंखडियों से युक्त सफेद रङ्ग के आते हैं। **फल**–पाँच पखडीवाले होते हैं तथा सूखने पर ५ भाग हो जाते हैं। **बीज**–५–९ बीज होते हैं। कुछ विद्वानों ने इसके दो भेद माने हैं जिसमें श्वेतपुष्प के क्षुप को सि० ॲल्बा (S. alba) तथा पीतपुष्प वाले को सि० ॲल्निफोलिआ (S. alnifolia) लिखा है। इसकी जड तथा पत्तों का उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्र स्नेहन तथा मूत्रजनन हैं। इसकी जड वल्य तथा ज्वरघ्न है। विषम ज्वर में मूलत्वक् तथा सोंठ का क्वाथ पिलाते हैं। मूत्रकृच्छ्र, सोजाक तथा मूत्रेन्द्रिय के अन्य विकारों में इसके पत्तों का उपयोग किया जाता है। **मात्रा**—६ माशा–१ तोला।

७२ नागबला ३ (गुलसकरी, गांगेरुकी)

सं०–गुडशर्करा। **हि०**–गुलसकरी, कुकुराड, कुकुरबिचा। **संता०**–सेतकट, सेताण्डीर। **बिहा०**–सेतारेपडी, सेतापेट्टू, सेताजरका। **म०**–गोवाली। **ले०**-*Grewia hirsuta, vanb.* (ग्रेविआ हिर्सुटा, वॅन्ब)। Fam. Tiliaceae (टिलिएसि)। यह उत्तरपश्चिम भारत, नेपाल तथा कोंकण में पाया जाता है।

इसके **क्षुप**–१½–२ फीट ऊँचे तथा रोमश होते हैं। इसकी जड के पास से अनेक शाखायें निकली रहती हैं। **पत्ते**–विचित्र प्रकार के, रेखाकार,-लट्वाकार–भालाकार या गोलाई लिये हुये आयताकार, लम्बाग्र, अल्पवृन्त युक्त तथा तीक्ष्ण दन्तुर होते हैं। **पुष्प**–पीतवर्ण के होते हैं। **फल**–प्रायः चार खण्ड वाले तथा मृदुरोमों से ढँके रहते हैं।

नागवला का चतुष्फला यह पर्याय इसे उपयुक्त होने के कारण कुछ इसे नागवला मानते हैं। किन्तु श्री ठा० वलवन्त सिंह जी इसे गुलसकरी मानते हैं तथा इसे 'गुडशर्करा' का अपभ्रंश मानते हैं। अन्य विद्वानों ने गुलसकरी पूर्वोक्त नागवला २ को माना है।

इसे या इससे मिलती जुलती एक छोटी वृक्ष जाति ग्रेविआ पोप्युलीफोलिया (Grewia populifolia) को गांगेरुकी (गगरेन) कहते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि यह ग्रे० पोप्युलीफोलिआ ही गांगेरुकी है जिसे नागवला नहीं मानना चाहिये क्योंकि गांगेरुकी यह नागवला का पर्याय मानना उचित नहीं। गांगेरुक (फल) का चरक सू० अ० २७ तथा सू० अ० ४६ में उल्लेख है। गांगेरुक (फल) यह धन्वन के समान गुण वाला मधुर, कुछ कषाय, शीतल तथा पित्त-कफ-नाशक है। तलवार आदि से घाव होने पर इसके (गाङ्गेरुकी) मूल का स्वरस उसमें भरकर बाँधने से वेदना नष्ट होती है (शा० ध० म० ख० अ० १–२०)।

गुण और प्रयोग—शुक्र-दौर्बल्य में इसके मूल का उपयोग किया जाता है। फोड़े पर इसके मूल को पीसकर बाधने से फोडा पककर जल्दी अच्छा होता है। आमातिसार में इसके पत्तों के क्वाथ से बहुत लाभ होता है।

अथ लक्ष्मणा। तस्या लक्षणगुणानाह

पुत्रकाकाररक्ताल्पबिन्दुभिर्लाञ्छितच्छदा॥ १४७॥
लक्ष्मणा पुत्रजननी वस्तगन्धाकृतिर्भवेत्। कथिता पुत्रदाऽवश्या लक्ष्मणा मुनिपुङ्गवैः॥१४८॥

'लक्ष्मणा' के लक्षण तथा गुण—जिसके पत्तों पर लाल रङ्ग के छोटे-छोटे विन्दुओं से पुरुष का आकार बना हो, तथा जो देखने में वस्तगन्धा (वन अजवायन) के समान मालूम पड़े उसे पुत्र को उत्पन्न करने वाली 'लक्ष्मणा' समझनी चाहिये। श्रेष्ठ मुनियों ने इसे अवश्य पुत्र देनेवाली बतलाया है॥ १४७–१४८॥

७२ लक्ष्मणा

लक्ष्मणा यह एक सन्दिग्ध वनस्पति है। भावप्रकाशकार इसके परिचय में लिखते हैं कि इसके पत्तों पर पुरुषाकृति रक्त-चिह्न होते हैं तथा इसका आकार वस्तगन्धा की तरह होता हैं। वस्तगन्धा का अर्थ कुछ लोगों ने वन अजवायन किया है। कुछ ने इसका अर्थ बकरे की गन्ध सदृश गध वाला किया है जो उचित नहीं मालूम पडता। तुलसी की तरह के क्षुप को भी वस्तगन्धा कहागया है। मदनपाल निघण्टु में लक्ष्मणा के परिचय में 'गोक्षीरसदृश पुष्प रोमवल्लिसमन्वितम्। रक्तविन्दु-युतं पत्रं लक्ष्मणाऽऽकार उच्यते' लिखा है। कोश में लक्ष्मणा का अर्थ हंस जाति का पक्षी दिया हुआ है। ध० नि० एवं रा० नि० में एक विशेष प्रकार की श्वेत कंटकारी का लक्ष्मणा नाम से उल्लेख किया हुआ है किन्तु रा० नि० ने आगे मूलकादि वर्ग में फिर से लक्ष्मणा नामक अन्य वनस्पति का उल्लेख किया है जिसके गुणों में 'स्त्रीवन्ध्यत्वविनाशिनी' दिया हुआ है। इससे ऐसा मालूम होता है कि उस समय भी श्वेन जाति की कंटकारीविशेष को लक्ष्मणा मानते थे जैसा आजकल कुछ विद्वान् मानते हैं। यद्यपि श्वेत कटकारी में गर्भकारक गुण हैं तथापि लक्ष्मणा उससे भिन्न है क्योंकि एक ही स्थान पर दोनों का उल्लेख मिलता है (अ० हृ० शा० अ० १-४०)। अन्य निघंटुओं ने इसे शीत, मधुर, रसायन, बल्य, त्रिदोषघ्न एव स्त्रीवन्ध्यत्वविनाशक लिखा है। पुत्रप्राप्ति के लिये सुश्रुत (शा० अ० २-३३) में लक्ष्मणा को दूध के साथ कूचकर उसका रस दाहिने नासा पुट में डालने के लिये लिखा है। नवजात शिशु के लिये उत्पन्न होने के दूसरे दिन लक्ष्मणासिद्ध घृत के पान कराने का विधान है (सु० शा० अ० १०)। वन्ध्यत्व-नाशन के लिये इसकी जड को दूध के साथ सेवन करने का विधान है।

चीन में ॲरॅलिआ क्विन्क्वीफोलिआ (Aralia quinquefolia, Fam. Araliaceae) नामक एक पौधा पाया जाता है जिसे वहाँ जिन्सेंग (Ginseng) कहते हैं। इसकी जड को वहाँ अत्यन्त प्रभावशाली औषध मानते हैं। संभवतः इसका कारण इसका मानवाकृति से सादृश्य हो सकता है। इसको वहाँ के चिकित्सक रोग निवारक एव जराव्याधि विनाशक मानते हैं। लक्ष्मणा के वर्णन में 'पुत्रकाकार' का अर्थ यदि मानवाकृति कंद करे तो दोनों में पर्याप्त साम्यता मालूम होती है क्योंकि जितना महत्व अपने यहाँ लक्ष्मणा को दिया जाता है वैसा ही जिन्सेंग को चीन में दिया जाता है। इसका पौधा छोटा एवं पत्ते करतलाकार होते हैं। इसकी जड का स्वाद कुछ कडुआ तथा सुगन्धयुक्त होता है।

निम्नलिखित वनस्पतियों को लक्ष्मणा नाम दिया हुआ मिलता है किन्तु इनके लक्ष्मणा होने में सन्देह है।

(क) Ipomoea sepiaria (आइपोमिआ सेपिएरिआ)।
Fam Convolvulaceae (कन्वोल्व्युलेसि)। गु०—हनुमानवेल।

(ख) Atropa mandragora (एट्रोपा मेण्ड्रागोरा)। Fam. Atropaceae (एट्रोपेसि)।

(ग) Smithia geminiflora (स्मिथिआ जेमिनिफ्लोरा)। Fam Leguminosae (लेग्युमिनोसि)।

(घ) Biophytum sensitivum (बायोफिटम् सेन्सिटिव्हम्)। Fam. Geraniaceae (जिरॅनिएसि)।

अथ स्वर्णवल्ली (सोनबेल)। तस्या नामगुणानाह—

स्वर्णवल्लीरक्तफला काकायुःकाकवल्लरी। स्वर्णवल्ली शिरःपीडां त्रिदोषान्हन्ति दुग्धदा ॥१४९॥

'सोनबेल' के नाम तथा गुण—स्वर्णवल्ली, रक्तफला, काकायु और काकवल्लरी ये सब संस्कृत नाम 'सोनबेल' के हैं। **सोनबेल**—शिर की पीडा तथा त्रिदोष को दूर करती है, एवं दूध को बढ़ाने वाली होती है॥ १४९॥

७४ स्वर्णवल्ली

'स्वर्णवल्ली' की लता कैसी होती है, इस सम्बन्ध में कोई वर्णन अन्य ग्रन्थों में नहीं मिलता। रक्तफला विशेषण के उल्लेख के कारण आकाशवल्ली इसका पर्याय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त आकाशवल्ली का स्वतन्त्र रूप में भी भावप्रकाशकार ने इसी वर्ग में वर्णन किया है। प्राचीन ग्रन्थों में भी स्वर्णवल्ली का स्वतन्त्र रूप में कोई विशिष्ट प्रयोग नहीं वर्णित है। इसीलिये व्यवहार में भी इसका शुद्ध या व्यामिश्रित रूप उपलब्ध नहीं है।

अथ कार्पासी (कपास)। तस्या नामगुणानाह

कार्पासी तुण्डकेशी च समुद्रान्ता च कथ्यते। कार्पासकी लघु कोष्णा मधुरा वातनाशिनी १५०

'कपास' के नाम तथा गुण—कार्पासी, तुण्डकेशी और समुद्रान्ता ये सब नाम 'कपास' के हैं। **कपास**—लघु, किञ्चित् उष्णवीर्य, मधुर तथा वातनाशक होता है ॥ १५० ॥

अथ तत्पत्रबीजयोर्गुणानाह

तत्पलाशं समीरघ्नं रक्तकृन्मूत्रवर्द्धनम्। तत्कर्णपिडकानादपूयास्रावविनाशनम् ॥ १५१ ॥
तद्बीजं स्तन्यदं वृष्यं स्निग्धं कफकरं गुरु ॥ १५२ ॥

इसके पत्ते तथा बीजों के गुण—**कपास के पत्ते**-वायुनाशक, रक्त तथा मूत्रवर्धक होते हैं एवम् कर्णपिडका (कान की फुन्सी), कर्णनाद (कान में शब्द होना) और कर्णपूयास्राव (कान से पीव का आना) इन सब को नाश करने वाले होते हैं। **कपास के बीज**-दुग्धवर्धक, वृष्य (वीर्यवर्धक), स्निग्ध, कफकारक तथा पाक में गुरु होते हैं ॥१५१-१५२॥

७५ कपास

हि०-कपास, रूई। **म०**-कापसी, कापूस। **गु०**-वोण, कपास। **बं०**-कार्पास, तुला। **ते०**-पत्तिचेट्टु, कार्पासमु। **क०**-हत्ति। **ता०**-परुत्ति। **फा०**-पव। **अ०**-नवातुलकुल। **अं०**-Cotton Plant (कॉटन प्लॅण्ट), Indian Cotton (इण्डियन कॉटन)। **ले०**-*Gossypium herbaceum.* (गोसिपिअम् हर्बेसिअम्), Fam Malvaceae (मालवेसि)।

कपास के बीज के नाम—**हि०**-बिनौला। **म०**-सरकी। **गु०**-कपासिया। **मा०**-काकडा। **अ०**-हब्बुलकुत्न। **फा०**-पबः दाना।

जिसकी रूई से रङ्ग विरङ्ग के कपडे तैयार किये जाते हैं, और सभी अमीर गरीब व्यवहार में लाते हैं, उसी को कपास कहते हैं। भारतवर्ष के अनेक भागों में बहुलता से इसकी खेती की जाती है। मिस्र, अमेरिका तथा संसार के अन्य उष्ण प्रदेशों में भी इसकी खेती की जाती है।

यह गुल्म जाति की वनस्पति ४-५ फीट तक ऊँची होती है। इसके **पत्ते**-हाथ के पंजे के समान कई भागों में विभक्त रहते हैं। प्रायः ३ से ७ भाग तक देखने में आते हैं। **फूल**—घंटाकार पीले रङ्ग के होते हैं, उनके बीच का हिस्सा बैंगनी रङ्ग का होता है। **फल**-डोडी या फल गोलाकार होता है तथा उसके भीतर सफेद रूई से लिपटे हुये ५-७ बीज होते हैं। **बीज**-किंचित् काले रङ्ग के, चने के समान गोल होते हैं और उनके भीतर सफेद मज्जा होती है। **जड़**-बाहर से पीले रङ्ग की तथा अन्दर से सफेद होती है। जड की छाल गंधयुक्त, पतली, चिमड, रेशेदार, धारीदार एवं करीब १ फीट तक लम्बी होती है। छाल का स्वाद कुछ तीता एवं कषाय होता है। प्रतिवर्ष प्रायः चौमासे के आरम्भ में खेतों में बीजों को रोपण करते हैं, और फाल्गुन-चैत में रूई संग्रह कर पौधे को काट कर खेत साफ कर देते हैं।

जाति—इसकी निम्न अन्य जातियाँ भी पाई जाती हैं। देशभेद से भी यह अनेक प्रकार का होता है।

उद्यान कार्पास—**सं०**-उद्यानकार्पास। **हि०**-नर्मा। **म०**-देवकापसीण। **गु०**-हिरवणी। **पं०**-कपस। **संता०**-हुदिकरकोम। **ले०**-*Gossypium arboreum* (गोसिपिअम् आर्बोरिअम्)।

यह एक प्रकार की कपास होती है, जिसका बागों में रोपण करते हैं। इसके पौधे-बहुवर्षायु, ८-१० फीट तक ऊँचे होते हैं। पत्ते और फल भी कुछ बड़े होते हैं, तथा फूल लाल रङ्ग के होते हैं।

अरण्य कार्पासी—सं०-भारद्वाजी (च० सू० अ० ४, रा० नि०)। **हि०**-जंगली कपास, वन-कपासी। **म०**-रानकापूस। **ले०**-*Thespesia lampas* (थेस्पेसिआ लॅम्पस्)।

यह जाति जंगलों में स्वयं उत्पन्न होती है। इसके **क्षुप**—झाड़ीदार, दृढ़ तथा ४-६ फीट ऊँचे होते हैं। **पत्ते**-करतलाकार, ३ खण्डयुक्त या अखण्ड एवं व्यास में ४-५ इञ्च होते हैं। **फूल**-पीले रङ्ग के तथा मध्य में प्रायः लाल रङ्ग के होते हैं। इसकी रुई कुछ पीताभ होती है।

रासायनिक संगठन—कपास के जड़ की छाल में एक रङ्गहीन या पीताभ अम्ल राल ८% तक पाई जाती है जो आक्सीजन के संयोग से चमकीले रक्ताभ भूरे रङ्ग की हो जाती है। इसके अतिरिक्त इसमें डिहाइड्रोक्सि बेन्जोइक एसिड (Dihydroxy benzoic acid), सॅलिसिलिक एसिड (Salicylic acid), स्नेहाम्ल, बिटेन (Betaine), सेरिल ॲल्कोहोल् (Ceryl alcohol), फाइटोस्टेरॉल् (Phytosterol), शर्करा एवं फेनॉल के सदृश दो पदार्थ पाये जाते हैं। बीजों में १०-२९% हलके पीले रङ्ग का गन्धहीन तथा स्वादहीन तैल पाया जाता है जिसमें ग्लिसराइड्स्, स्नेहाम्ल, फॉस्फोलिपिन (Phospholipiin), फाइटोस्टेरॉल् (Phytosterols) तथा रंजक द्रव्य पाये जाते हैं। तैल के फेनॉलयुक्त भाग से एक सुनहले वर्ण का गॉसिपाल् (Gossypol) नामक विषैला रवेदार पदार्थ पाया जाता है जो जल में नहीं घुलता किन्तु मद्यसार आदि अन्य द्रवों में घुलता है। यह छाल में पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—कपास के **बीज**-स्तन्यजनन, स्नेहन, स्रंसन, श्लेष्म-निःसारक, बल्य एवं नाड़ीसंस्थान के लिये पौष्टिक हैं। इसकी **रुई** उपशोषण तथा रक्षण है। **पुष्प**-उत्तेजक तथा सौमनस्यजनन हैं। कोमल **पत्ते**-स्नेहन तथा मूत्रजनन हैं। **तैल**-स्नेहन, पौष्टिक तथा अधिक मात्रा में स्निग्ध विरेचक है।

इसकी **जड़ की छाल** गर्भाशयसंकोचक एवं आर्तवजनन है। गर्भाशय पर इसकी क्रिया अर्गट (Ergot) की तरह होती है। इससे गर्भाशय का अच्छी तरह संकोच होकर रक्तस्राव रुकता है। इसकी अधिक मात्रा से गर्भपात होता है।

(१) प्रसव के बाद इसकी छाल का क्वाथ पिलाने से गर्भाशय का संकोच होता है। यह ऑवल (अपरा) गिरने के बाद पिलाना चाहिए। यदि आधे घण्टे में गर्भाशय संकुचित होकर गेंद की तरह न मालूम पड़े तथा नाड़ी की गति तेज हो तो फिर दुबारा इसे देना चाहिये। पीडितार्तव तथा शीत से उत्पन्न अनार्तव में छाल के क्वाथ से लाभ होता है। श्वेत प्रदर में इसकी जड़ को चावल के धोवन के साथ देते हैं।

(२) प्रसूता को दुग्ध वृद्धि के लिये बीजों की पेया बनाकर देते हैं। बीजों की चाय प्रवाहिका में उपयोगी है। शीतज्वर में ज्वर के पूर्व इसका क्वाथ पिलाते हैं।

(३) इसके पुष्पों का शरबत उदासीनता-प्रधान मानसिक रोगों (Hypochondriasis) में पिलाते हैं।

(४) घाव में रुई जलाकर भरने से रक्तस्राव रुकता है तथा घाव जल्दी अच्छा होता है। रुई का उपयोग शीत से रक्षा, उष्णता पहुँचाने तथा व्रण संरक्षण के लिये करते हैं।

(५) इसके कोमल पत्तों का रस आमातिसार में देते हैं।

मात्रा—मूलत्वक् २-४ माशा; बीजचूर्ण ३-६ माशा।

वनकपासी[1]—इसका उपयोग कपास की तरह ही किया जाता है। इसकी जड़ तथा फल सोजाक में देते हैं।

---

१. भारद्वाजी हिमा रुच्या व्रणशस्त्रक्षतापहा। (रा. नि.)

नर्मा—इसमें कपास की अपेक्षा स्निग्धता अधिक रहने के कारण इसके पत्ते तथा जड का लेपों में अधिक उपयोग करते हैं। मूत्रकृच्छ्र में पत्तों को दूध में पीसकर पिलाते हैं।

अथ वंशः (बांस)। तस्य नामगुणानाह

वंशस्त्वक्सारकर्मारत्वचिसारतृणध्वजाः। शतपर्वा यवफलो वेणुमस्करतेजनाः ॥ १५३ ॥
वंशः सरो हिमः स्वादुः कषायो वस्तिशोधनः। छेदनःकफपित्तघ्नः कुष्ठास्रव्रणशोथजित् १५४

'बाँस' के नाम तथा गुण—वंश, त्वक्सार, कर्मार, त्वचिसार, तृणध्वज, शतपर्वा, यवफल, वेणु, मस्कर और तेजन ये सब नाम 'बाँस' के हैं। **बाँस**—सारक, शीतवीर्य, स्वादिष्ट, कषायरसयुक्त, वस्तिशोधक, छेदक, कफपित्तनाशक एवं कुष्ठ, रक्तविकार, व्रण तथा शोथ इन सब को दूर करने वाला होता है ॥ १५३-१५४ ॥

अथ वंशस्य करीरयवयोर्गुणानाह

तत्करीरः कटुः पाके रसे रूक्षो गुरुः सरः। कषायः कफकृत्स्वादुर्विदाही वातपित्तलः ॥१५५॥
तद्यवास्तु सरा रूक्षाः कषायाः कटुपाकिनः। वातपित्तकरा उष्णा बद्धमूत्राः कफापहाः॥१५६॥

'बाँस' के अङ्कुर तथा यव (चावल) के गुण—**बाँस का अङ्कुर**—पाक में कटु रसयुक्त, रूक्ष, गुरु, सारक, कटु तथा कषायरसयुक्त, कफकारक, स्वादिष्ट, दाहजनक एवं वात-पित्त को उत्पन्न करने वाला होता है। **बाँस के यव (चावल)**—सारक, रूक्ष, कषायरसयुक्त, पाक में कटुरसयुक्त, वातपित्तकारक, उष्णवीर्य, मूत्ररोधक तथा कफनाशक होते है ॥ १५५-१५६ ॥

७६ बाँस

हि०—बाँस। **गु०**—वाँस। **म०**—बांबू। **बं०**—बाँश। **ते०**—वेदरू, वोंगा। **ता०**—मुगिल। **कोल०**—कटगा। **मा०**—बाब। **सन्ताल०**—माट। **अ०**—कसब। **अं०**—Bamboo (बाबू)। **लै०**-*Bambusa arundinacea* (बांबुसा अरुन्डिनेसिया)। Fam. Gramineae (ग्रॅमिनि)।

बाँस इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न किया जाता है और छोटी-छोटी पहाडियों के आस-पास आप ही आप जगली भी उत्पन्न होता है। छोटे, बडे, मोटे, पतले, ठोस और पोले इन भेदों से बाँस कई प्रकार का होता है। इसकी ऊँचाई ३०-४० फीट से १०० फीट तक होती है और मोटाई ३-४ से १२-१६ इच तक होती है। इसके **पत्ते**-१-१॥ इञ्च चौडे और ५-६ इञ्च तक लम्बे होते हैं। प्रायः बाँस का वृक्ष पुराना होने पर फूलता फलता है और कोई-कोई बाँस अवधि के पूर्व ही फूलने-फलने लगता है। इसके **फूल**-छोटे छोटे सफेद होते हैं और **बीजकोष**-जई के आकार के देख पडते हैं। इसको वेणुबीज कहते हैं। इसकी कई अन्य जातियाँ होती हैं। बाँस के संबंध में शेष वर्णन वंशलोचन के साथ पृष्ठ ४९ पर किया गया है।

अथ नलः (नरसल) तस्य नामगुणानाह

नलः पोटगलः शून्यमध्यश्च धमनस्तथा। नलस्तु मधुरस्तिक्तः कषायः कफरक्तजित्।
उष्णो हृद्वस्तियोन्यर्त्तिदाहपित्तविसर्पहृत् ॥ १५७ ॥

'नरसल' के नाम तथा गुण—नल, पोटगल, शून्यमध्य और धमन ये सब नाम 'नरसल' के हैं। **नरसल**-मधुर, तिक्त तथा कषायरसयुक्त और उष्णवीर्य होता है, एवम् कफ, रक्तविकार, हृदय, वस्ति तथा योनि सम्बन्धी पीडा, दाह, पित्त और विसर्प को दूर करने वाला होता है ॥ १५७ ॥

नोट—नल के संबंध में जो वर्णन निघण्टुओं में मिलता है उससे कुछ भ्रम उत्पन्न होता है। भावप्रकाशकार नल का एक ही भेद लिखते हैं तथा इन्होंने इसे उष्णवीर्य लिखा है किन्तु इनको पित्तविकार, कफविकार, रक्तदोष एवं विसर्प इत्यादि में लाभदायक माना है। रा० नि० तथा ध० नि० में नल एवं महानल (देवनाल) ये दो भेद मिलते हैं जिनमें से नल को शीतवीर्य एवं

रक्तपित्तहर माना है तथा महानल को अधिक वीर्यशाली एवं रसक्रिया में उपयोगी लिखा है। नल के जो प्रयोग सुश्रुत-चरकादि में मिलते हैं उनसे ऐसा मालूम होता है कि यह शीतवीर्य है तथा पित्त विकार, विसर्प, मूत्रविकार आदि में उपयोगी है। उन प्रयोगों में इसके साथ कुश, दूर्वा आदि पित्तशामक एवं मूत्रजनक इसी प्रकार के द्रव्यों का उल्लेख है जिससे ऐसा अनुमान होता है कि नल भी इन्हीं के वर्ग का द्रव्य है। कुछ आधुनिक ग्रन्थकारों ने ग्रेमिनी (Gramineae) वर्ग के फ्रॅग्माइटीज कर्का (Phragmites kirka) को नल माना है। इसी वर्ग में कुश, दूर्वा आदि द्रव्य भी आते हैं।

कुछ अन्य आधुनिक विद्वानों ने नल को लोवेलिआ निकोटिआनिफोलिआ (Lobelia nicotianifolia) माना है जो कम्पॅनुलेसि (Campanulaceae) वर्ग का है तथा जिसका पाश्चात्य चिकित्सा में कफनिःसारक रूप में तमकश्वास के लिये प्रयोग किया जाता है। यह विषैला द्रव्य है। नल के परिचय में कहीं पर 'वंशपत्रो मृदुच्छद.। छिद्रान्तो नर्तको रन्ध्री मृत्युपुष्पो विभीषणः' यह भी श्लोक मिलता है जो उपर्युक्त लोवेलिआ के लिये अधिक उचित मालूम पडता है। भावप्रकाशकार भी नल को उष्ण एवं कफहर मानते हैं किन्तु इन्होंने भी इसका वर्णन कुश, कास, दूर्वा आदि के साथ किया है अतः नलके ग्रेमिनी वर्ग के फ्रॅग्माइटीज कर्का होने की संभावना भी कम नहीं है। स्वरूप की दृष्टि से दोनों द्रव्यों में पर्याप्त साम्यता पाई जाती है। लोवेलिआ दक्षिण की तरफ ही प्राप्त होता है। यहाँ पर दोनों द्रव्यों का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

७७ नरकट

हि०—नरकट। **म०**—नल। **गु०**—नाली, नाइरी। **कोल०**-जकई। **ले०**-*Phragmites kirka* (फ्रॅग्माइटीज कर्का)। Fam. Gramineae (ग्रेमिनी)।

यह दलदलों या नदियों के किनारे होता है।

इसका **पौधा**—१०-१२ फीट ऊँचा तथा बाँस की तरह दिखलाई देता है। इसके कांड के पर्व पीले तथा छोटे होते हैं। लंबे भूमिशायी कांडो द्वारा ये शीघ्र अपनी संख्या-वृद्धि करते हैं। **पत्ते**—कडे, सीधे, खडे, १-२ फीट लंबे एव १ से १½ इञ्च चौडे होते हैं। पुष्पव्यूह की छोटी दण्डिकायें धूसर या भूरे रंग की होती हैं।

इसका एक अन्य भेद अरुण्डो डोनॅक्स (Arundo donax) भी पाया जाता है जो ६-१२ फीट ऊँचा होता है।

इसके मूल का क्वाथ स्वेदन, मूत्रल, आर्तवजनन एवं दुग्ध कम करने वाला है। इसमें ग्रेमाइन (Gramine, $C_{11}H_{14}N_2$) तथा डोनेक्सेराइन (Donaxarine, $C_{15}H_{16}O_2N_2$) नामक दो क्षाराभ पाये जाते हैं जिनमें से प्रथम की अल्पमात्रा से कुत्ते में रक्त दवाव बढता है किन्तु अधिक मात्रा से कम हो जाता है।

७८ नरसल, देवनल

हि०—नरसल, नल। **म०**—देवनल, वोकेनल, ढवनल, नल। **बं०**—बडानल। **क०**—काडहोगे सोप्पु। **ता०**—काट्टुपुगैयिलै। **कच्छ०**—आँची। **गु०**—नाली। **ते०**—अडवियोगाकु। **अं०**—Wild tobacco (वाइल्ड टोबॅको), Lobelia (लोवेलिआ)। **ले०**-*Lobelia nicotianifolia* (लोवेलिआ निकोटिआनिफोलिआ)। Fam. Campanulaceae (कम्पॅनुलेसि)।

यह पश्चिमी घाट में बम्बई से त्रावनकोर तक २-७ हजार फीट की ऊँचाई तक, कोंकण, माथेरान, दक्षिण, महाराष्ट्र का दक्षिण प्रदेश, नीलगिरी, मलाबार तथा मैसूर में पाया जाता है।

इसका **क्षुप**-५-१२ फीट ऊँचा, द्विवर्षायु या बहुवर्षायु होता है। **काण्ड**—ऊपर की तरफ पोला तथा ऊपर की ओर इससे शाखाएँ निकली रहती हैं। **पत्ते**—तमाकू की तरह, संख्यामें बहुत, हलके हरे रग के, छोटे पर्णवृन्त से युक्त, नीचे के १२×२ इञ्च बडे तथा ऊपर के क्रमशः छोटे, मालाकार, महीन दाँतों से युक्त एव मृदुरोमश होते हैं। **पुष्प**—जामुनी आभायुक्त, श्वेत वर्ण के, १ फीट तक लंबी मंजरिओं में आते हैं। **फल**—८ मि० मि० व्यास के गोल सामान्य स्फोटीफल

होते हैं। **बीज**–बहुत छोटे, अंडाकार, दबे हुवे, पीताभ भूरे रंग के तथा स्वाद में अत्यन्त तीते होते हैं। इसके पुष्पदंड पर एक गाढा, पीले रंग का स्राव जमा हुआ पाया जाता है। इसमें एक प्रकार की अप्रिय गंध होती है। इसके **वायवीय भाग** को अक्तूबर तथा नवम्बर में तोडकर छाया में सुखाकर उपयोग में लाया जाता है। सूखे हुए पौधे पर राल की तरह एक पदार्थ लगा रहता है तथा इसका स्वाद उष्ण एवं तीता होता है। इसकी धूल से नाक तथा गले में तबाकू की तरह प्रक्षोभ होता है। इसकी नली से बन्सी बनाई जाती है जिसे कोंकण में पावा कहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें मुख्यतया लोबेलीन (Lobeline, C_{22} H_{27} O_2 N) नामक एक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—लोबेलीन की क्रिया बहुत कुछ तबाकू में पाये जाने वाले निकोटीन (Nicotine) की तरह होती है। इससे हृल्लास उत्पन्न होकर कफ निकलना है। पाश्चात्य चिकित्सा में उद्वेष्टनयुक्त श्वसनिकाशोथ (Bronchitis) के लिये इसका बहुत उपयोग किया जाता है। तमकश्वास (Asthma) में आवेग के समय तथा बाद में भी इसके टिंक्चर का १० बूँद दिन में ३ बार अन्य औषधियों के साथ उपयोग किया जाता है। उद्वेष्टनयुक्त कास में भी इससे लाभ होता है। इसके श्वसनकेन्द्र को उत्तेजित करने के कारण फुफ्फुसपाक तथा कार्बन मॉन् आक्साइड एवं मॉर्फीन की विषाक्तता में इसका उत्तेजक रूप में प्रयोग करते हैं।

इसकी फली या पत्तों को थोडी देर चबाने से चक्कर, शिर-शूल, कप एवं अन्त में हृल्लास तथा वमन होता है। पूर्ण मात्रा से शीघ्र ही तीव्र वमन होता है तथा इसके साथ-साथ हृल्लास, प्रस्वेद तथा शिथिलता उत्पन्न होती है।

विष प्रभाव—अधिक मात्रा से उपर्युक्त लक्षण अत्यंत तीव्र होते हैं तथा साथ में गले में जलन, ऐच्छिक क्रियाओं का धीरे धीरे ह्रास, तीव्र तथा कमजोर नाडी, शैत्य, निपात एवं मूर्च्छा या सन्यास होता है। कुछ में मृत्यु के पूर्व आक्षेप होते हैं। मृत्यु श्वसन के रुकने से होती है। ५--८ र० पत्रचूर्ण या बीज से तीव्र वमन होता है तथा ४ माशे (१ ड्राम) पत्रचूर्ण से मृत्यु हुई है। इसका विषैला परिणाम इसके प्रयोग के पश्चात् कभी कभी वमन के द्वारा ओषधि न निकलने के कारण होता है। **मात्रा**–चूर्ण ½–१½ र०, टिंक्चर लोबेलिआ इथेरिआ ५–१५ बूँद।

प्रतिनिधि एवं व्यामिश्रण—(१) लोबेलिआ एक्सेल्सा (Lobelia excelsa) का इसके प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार किया जाता है। यह इसी की तरह होता है किन्तु इसमें मुलायम रोमयुक्त मोटे पत्र होते हैं तथा मंजरी बैंगनी आभायुक्त हलके पीताभ रंग के घने पुष्पों से युक्त होती है। इसके परागाशय (Anther) पृष्ठ भाग पर चिकने होते हैं।

(२) लोबेलिआ इन्फ्लेटा (Lobelia inflata) का पाश्चात्य चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है जो अमेरिका में उत्पन्न होता है।

(३) वर्वेस्कम् थॅप्सस् (Verbascum thapsus), Fam. Scrophulariaceae (स्क्रोफ्युलेरिएसि) तथा कम्पोझिटी (Compositae) वर्ग के पौधों की कभी-कभी इसमें मिलावट रहती है।

अथ भद्रमुञ्जः (रामशर-सरपत इति वा) मुञ्जश्च (मूंज)। तयोर्नामगुणानाह

भद्रमुञ्जः शरो बाणस्तेजनश्चेक्षुवेष्टनः ॥ १५८ ॥
मुञ्जो मुञ्जातको बाणः स्थूलदर्भः सुमेखलः। मुञ्जद्वयन्तु मधुरं तुवरं शिशिरं तथा ॥ १५९ ॥
दाहतृष्णाविसर्पास्रमूत्रकृच्छ्राक्षिरोगजित्। दोषत्रयहरं वृष्यं मेखलासूपयुज्यते ॥ १६० ॥

'सरपत' तथा 'मूँज' के नाम और गुण—भद्रमुञ्ज, शर, बाण, तेजन और इक्षुवेष्टन ये सब नाम 'सरपत' के हैं। मुञ्ज, मुञ्जातक, बाण, स्थूलदर्भ और सुमेखल ये सब नाम 'मूञ्ज' के हैं। उक्त दोनों प्रकार के मूञ्ज—मधुर, कषाय रसयुक्त, शीतवीर्य और वृष्य होते हैं एवं दाह, तृषा, विसर्प, रक्तविकार, मूत्रकृच्छ्र, नेत्ररोग तथा त्रिदोष को दूर करनेवाले होते हैं और 'मेखला' बनाने में इनका उपयोग होता है ॥ १५८–१६० ॥

७९ भद्रमुञ्ज

हिं०–भद्रमुञ्ज, रामसर, सरपत, कंडा । **क०**–रामसपु, सरगोल्लु । **सन्ताल०**–सर । **ते०**–वेल्लु पोनिक । **सिन्ध०**–मर । **बं०**–शर । **म०**–शर । **पं०**–करकाना । **गु०**–तीरकांस । **ले०**–*Saccharum munja* (सेकेरम् मुंज) । Fam. Gramineae (ग्रेमिनी) ।

भद्रमुञ्ज—इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होता है ।

यह तृणजाति की बहुवर्षायु वनस्पति प्रायः नदियों के किनारे गुच्छों में उगती है । यह देखने में ईख की तरह दिखाई देती है । इसकी जड से ही एक साथ अनेक काण्ड निकलते हैं । इसका डंठल १० से १२ फीट तक ऊंचा होता है । **पत्ते**–बहुत पतले-पतले, ३-५ फीट लम्बे, २-३ इञ्च चौड़े तथा तीक्ष्णाग्र होते हैं । डठल के अन्त में सफेद बारीक फूलों का धनहरा लगता है । इसके काड, पत्र तथा पत्रकोषों से निकाले रेशे काम में लिये जाते हैं । इसकी एक और जाति होती है जिसे मूज कहा जाता है जो आकार प्रकार में छोटी होती है ।

शर तथा मूज की जड का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है ।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, तृष्णानिग्राहक, मूत्रल एव वृष्य है । व्रण में तथा प्रसूता के कमरे में इसकी जड से धूपन किया जाता है ।

मात्रा—मूल ३–६ माशा ।

अथ कासः । तस्य नामगुणानाह

कासः कासेक्षुरुद्दिष्टः स स्यादिक्षुरसस्तथा । इक्षवालिकेक्षुगन्धा च तथा पोटगलः स्मृतः ॥ १६१ ॥
कासः स्यान्मधुरस्तिक्तः स्वादुपाको हिमः सरः । मूत्रकृच्छ्राश्मदाहास्रक्षयपित्तजरोगजित् ॥ १६२ ॥

'कास' के नाम तथा गुण—कास, कासेक्षु, इक्षुरस, इक्षवालिका, इक्षुगन्धा तथा पोटगल ये सब नाम कास के हैं । कास—मधुर तथा तिक्तरसयुक्त, विपाक में मधुर, शीतवीर्य और सारक होता है एवं मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी(पथरी), दाह, रक्तविकार, क्षय तथा पित्तसम्बन्धी रोग को दूर करता है ॥ १६१-१६२ ॥

८० कास

हिं०–कास, कासी, कास घास । **बं०**–केशे । **म०**–कसई । **गु०**–कासडो । **क०**–किरयिकागच्छ, कासलु । **ते०**–रेलु । **ता०**–नाणलू । **मा०**–कास । **अं०**–Thactch grass (थॅच ग्रास) । **अं०**–Saccharum spontaneum (सेकेरम् स्पॉण्टेनियम्) । Fam. Gramineae (ग्रेमिनी) ।

कास तृणजातीय वनस्पति प्रायः नदियों के किनारे तथा दलदलों के आस-पास अधिक देखने में आती है । इसके पौधे ५–७ फीट (कभी कभी १५ फीट तक) ऊँचे होते हैं । काण्ड ठोस होते हैं । **पत्ते**–बहुत कम चौडे तथा उनके किनारे मुडे हुवे होते हैं । **पुष्पदण्ड**–१-२ फीट लम्बा होता है जिस पर श्वेत वर्ण के पुष्प गुच्छों में आते हैं । शरदृऋतु में ये पुष्पित होते हैं तथा शीत ऋतु में फलते हैं । इसका प्रायः छप्पर और टट्टी बनाने में उपयोग किया जाता है । इसके मूल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है ।

गुण और प्रयोग—इसकी जड स्तन्यजनन एवं मूत्रल है । इसका उपयोग मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, रक्तार्श, रक्तप्रदर एवं कपोत, पारावत आदि के मांस के खाने से उत्पन्न अजीर्ण में किया जाता है ।

मात्रा—मूल ३–६ माशा ।

अथ गुन्द्रः (पटेर-गोंदपटेर इति च) । तस्य नामगुणानाह

गुन्द्रः पटेरको गुल्मः शृङ्गवेराभमूलकः । गुन्द्रः कषायो मधुरः शिशिरः पित्तरक्तजित् ।
स्तन्यशुक्ररजोमूत्रशोधनो मूत्रकृच्छ्रहृत् ॥ १६३ ॥

गोंद पटेर के नाम तथा गुण—गुन्द्र, पटेरक, गुल्म और शृङ्गवेराभमूलक ये सब नाम 'गोंदपटेर' के हैं । **गोंद पटेर**–कषाय तथा मधुर रसयुक्त, शीतवीर्य, रक्तपित्त एव मूत्रकृच्छ्र को दूर करनेवाला, एवं दूध, शुक्र, रज और मूत्र का शोधन करनेवाला होता है ॥ १६३ ॥

८१ गोंद पटेर (गुन्द्र)

हि०-पटेर, गोंदपटेर। म०-रामवाण। ले०-*Typha angustata* (टाइफा अँगस्टॅटा)। Fam. Typhaceae (टाइफेसि)।

नोट—आगे वर्णित एरका और गोंदपटेर एक ही जाति की वनस्पति है। इनका वर्णन आगे एक साथ ही किया गया है।

अथैरका (मोथीतृणविशेषः)। तस्या नामगुणानाह

एरका गुन्द्रमूला च शिविर्गुन्द्रा शरीति च। एरका शिशिरा वृष्या चक्षुष्या वातकोपिनी।
मूत्रकृच्छ्राश्मरीदाहपित्तशोणितनाशिनी॥ १६४॥

'एरका' के नाम तथा गुण—एरका, गुन्द्रमूला, शिवि, गुन्द्रा और शरी ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। **एरका**-शीतवीर्य, वृष्य, नेत्रों के लिये हितकर, वात को कुपित करने वाली एवं मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, दाह, पित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाली होती है॥ १६४॥

८२ एरका

हि०-एरका, पटेरा। बं०-होगला। म०-रामवाण। गु०-घाबाजरीयु। अं०-Elephant grass (एलिफेण्ट ग्रास)। ले०-*Typka elephantina* (टाइफा एलिफेण्टीना)। Fam. Typhaceae (टाइफेसि)।

एरका—पश्चिमोत्तर हिन्दुस्तान में आसाम तक के दलदलों में अधिक पाई जाती है, एवं बम्बई प्रान्त के दलदलों में और वानगङ्गा नदी में बहुत पाई जाती है। यह दलदलों में उत्पन्न होने वाली तृणजातीय वनस्पति ६ से १२ फीट तक लम्बी होती है तथा यह समूहबद्ध होकर उगती है। **पत्ते**-मूलीय, ४-६ फीट लंबे, पौन से डेढ इञ्च तक चौडे और नतोदर होते हैं। इनकी धार अग्र की ओर लहरदार होती है। **पुष्प**-नारीपुष्पों की विदण्डिक मंजरियाँ ८-२० इञ्च लंबी और भूरी नारंगी रंग की होती हैं। इन्हीं पुष्पदण्डों से ८-२२ इञ्च लंबी नरपुष्पों की मंजरियाँ भी निकली रहती हैं। इसकी एक दूसरी जाति T angustata (टाइफा अँगस्टेटा) भी पाई जाती है। इनमें मुख्य भेद दोनों की पत्तियों में होता है। पहली जाति में कोषमय पत्राधार के ऊपर पत्ती का घेरा त्रिभुजाकार और दूसरी जाति में कंचित् गोलाकार होता है। इनकी पत्तियों की चटाइयाँ बनती हैं।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, मूत्रल, ग्राही, वीर्यवर्धक, चक्षुष्य तथा अश्मरी, दाह एवं रक्तपित्तनाशक है। इसके पुष्पों को कूटकर व्रण पर बांधने से व्रण जल्दी भर जाता है।

मात्रा—३-६ माशा।

अथ कुशः (कुशा) क्षुरपत्रश्च (डाभ) तयोर्नामानि गुणांश्चाह

कुशो दर्भस्तथा बर्हिः सूच्यग्रो यज्ञभूषणः। ततोऽन्यो दीर्घपत्रः स्यात्क्षुरपत्रस्तथैव च॥१६५॥
दर्भद्वयं त्रिदोषघ्नं मधुरं तुवरं हिमम्। मूत्रकृच्छ्राश्मरीतृष्णाबस्तिरुक्प्रदरास्रजित्॥ १६६॥

कुशा तथा डाभ के नाम और गुण—कुश, दर्भ, बर्हि, सूच्यग्र और यज्ञभूषण ये सब 'कुशा' के नाम हैं, और दीर्घपत्र एवं क्षुरपत्र ये दो नाम 'डाभ' के हैं। **दर्भद्वय** (उपर्युक्त कुशा तथा डाभ ये दोनों)-त्रिदोषनाशक, मधुर तथा कषायरसयुक्त, शीतल एवं मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी (पथरी), तृषा, बस्तिसम्बन्धी रोग तथा रक्त प्रदर को दूर करने वाले होते हैं॥ १६५-१६६॥

८३ कुश, दर्भ

हि०-कुशा, दाभ, कुस घास। म०-दर्भ। बं०-कुश। पं०-दभ, द्रम। गु०-दाभडो, दरभ। फा०-ग्रौलीय मुकद्दसी। ते०-कुश, दर्भालु। ता०-दर्भ। ले०-*Eragrostis cynosuroides* (इरेग्रॉस्टिस् साइनोसुरोइडीस्), Syn. Desmostachya cynosuroides (डिस्मोस्टेचिआ साइनोसुरोइडीस्)। Fam. Gramineae (ग्रेमिनी)।

कुश—मूञ्ज की जाति की मूञ्ज से छोटी एक प्रकार की घास है। इसके पत्ते, काण्ड, धनहरा आदि मूञ्ज के ही आकार के परन्तु मूञ्ज से छोटे होते हैं। यह खुले हुए घास के मैदानों में सर्वत्र पाया जाता है।

इसके पौधे मोटे, बहुवर्षायु, दृढ तथा १-३ फीट ऊँचे होते है। **मूलस्तम्भ**—सीधा खडा परन्तु बहुत गहराई तक होता है। **पत्ते**—१८ इञ्च तक लम्बे, ·२ इञ्च चौडे, अग्र पर काँटे की तरह तीक्ष्ण और पत्रतट सूक्ष्म रोमों के कारण तेज धार का होता है। **पुष्पदण्ड**—६-१८ इञ्च लम्बा तथा सीधा होता है। **बीज**—⅛ इञ्च लम्बे, अण्डाकार तथा चपटे होते हैं। वर्षाऋतु में पुष्प तथा शीतऋतु में फल लगते हैं।

इसकी छोटी जाति को **कुश** तथा वडी जाति को **दर्भ** कहते हैं। दर्भ के पत्ते लम्बे तथा खर होते हैं। चरक सुश्रुत में कुश, काश तथा दर्भ इनका एक साथ अनेक स्थानों में प्रयोग आया है। डल्हण ने इन तीनों का परिचय इस प्रकार दिया है—कुशः ह्रस्वदर्भः। ह्रस्वो मृदुः सूचीपत्रः॥ कासः चामरपुष्पः चामरपत्रः॥ दर्भः पृथुलः खरपत्रः दीर्घः॥ रा० नि० ने इसका एक श्वेत दर्भ भेद लिखा है जिसे अधिक गुणकारी माना है। इनके मूल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—कुश एवं दर्भ शीतल, मूत्रविरेचन, स्तन्यजनन एवं पिपासाहर है। प्रदर, आँव, दाह, रक्तार्श, अश्मरी एव वस्तिविकारों में इसका उपयोग किया जाता है। प्रदर, रक्तप्रदर एवं रक्तार्श में इसकी जड एव वला को चावल के धोवन के साथ पीसकर देने से लाभ होता है। **मात्रा**—३-६ माशा।

अथ कत्तृणम् (रोहिस इति च)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

कत्तृणं रौहिषं देवजग्धं सौगन्धिकं तथा। भूतिकं ध्यामपौरञ्च श्यामकं धूपगन्धिकम्॥
रौहिषं तुवरं तिक्तं कटुपाकं व्यपोहति। हृत्कण्ठव्याधिपित्तास्रशूलकासकफज्वरान्॥ १६८॥

'रोहिस' नाम से प्रसिद्ध कत्तृण के नाम तथा गुण—कत्तृण, रौहिष, देवजग्ध, सौगन्धिक, भूतिक, ध्यामपौर, श्यामक तथा धूपगन्धिक ये सब 'रोहिस'वाचक शब्द है। **रोहिस**—स्वाद में कषाय तथा तिक्तरसयुक्त एवं विपाक में कटुरसयुक्त होता है और हृदय तथा कण्ठसम्बन्धी रोग, पित्तरक्त (रक्त पित्त), शूल, कास (खाँसी) तथा कफज्वर को नष्ट करता है॥ १६७-१६८॥

८४ रोहिस घास

हि०-रोहिस, रूसा घास, रतहर, मिरचा गन्ध। **बं०**-अगम घास। **म०**-रोहिषगवत। **क०**-डुल्लु। **फा०**-खवालमागून, खलालमामून, खवालमामून। **गु०**-रोंसडो। **अं०**-Rosha Grass (रोशा ग्रास)। **ले०**-*Cymbopogon martini* (साइम्बोपोगोन् मार्टिनी); *Andropogon sohoenanthus* (एन्ड्रोपोगोन् स्कीनैन्थस)। Fam. Gramineae (ग्रेमिनी)।

यह मध्य भारत, दक्षिण और पश्चिमोत्तर प्रान्त तथा पञ्जाब में अधिक पाई जाती है। यह वन उपवनों में आपही आप उत्पन्न होती है, और वाटिकाओं में भी रोपण की जाती है।

यह ५-६ फीट ऊँची एक सुगन्धित घास है। इसकी जड बारहों मास जीवित रहती है। **काण्ड**-चिकने, पत्रयुक्त तथा प्रायः रक्ताभ होते हैं। **पत्ते**-बहुत लम्बे, क्रमशः पतले, चिकने, कोमल, नुकीले, काण्डासक्त तथा आधार पर गोल या ताम्बूलाकार होते हैं। पत्तों को मसलने से सुगन्ध आती हैं। **पुष्प**-लाल, बादामी रङ्ग के पत्रकोश से ढकी हुई विदण्डिक मञ्जरियाँ आता हैं। वर्षा एव शीतकाल में फूल-फल आते है।

रासायनिक संगठन—इसकी पत्तियों से एक सुगन्धित तेल (Geranium oil जिरेनियम् ऑयल) निकाला जाता है। कोमल घास से तेल अधिक एव उत्तम प्रकार का निकलता है। इसका रङ्ग फीका ललाई लिये हुये जामुनी रङ्ग का होता है। इसमें गन्ध गुलाब जैसी तथा स्वाद में यह अदरख की तरह चरपरा एव रुचिकर होता है।

गुण और प्रयोग—इसमें का तेल उष्ण, स्वेदजनन, मूत्रजनन, ज्वरघ्न, उत्तेजक, चेतनाकारक एव त्वग्रागकारक है। नूतन आमवात में तैल मलने से लाभ होता है। टक्कल (इन्द्रलुप्त) पर इस तैल को मलते हैं। प्रतिश्याय, ज्वर, अजीर्ण तथा कफविकारों में इसके क्वाथ से लाभ होता है।

मात्रा—३-६ माशा।

अथ भूतृणम् (शरवाण) तस्य नामगुणानाह

गुह्यबीजं तु भूतीकं सुगन्धं जम्बुकप्रियम्। भूतृणं तु भवेच्छत्रा मालातृणकमित्यपि ॥१६९॥
भूतृणं कटुकं तिक्तं तीक्ष्णोष्णं रेचनं लघु। विदाहि दीपनं रूक्षमनेत्र्यं मुखशोधनम् ॥१७०॥
अवृष्यं बहुविट्कञ्च पित्तरक्तप्रदूषणम् ॥ १७१ ॥

शरवाण के नाम तथा गुण—गुह्यबीज, भूतीक, सुगन्ध, जम्बुकप्रिय, भूतृण, छत्रा और मालातृणक ये सब शरवाण के नाम हैं। **शरवाण**—कटु तथा तिक्तरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, रेचक, लघुपाकी, दाहजनक, अग्निदीपक, रूक्ष, नेत्रों के लिये अहितकर, मुख को शुद्ध करनेवाला अवृष्य (वीर्यवृद्धि नहीं करने वाला), अत्यन्त मल उत्पन्न करने वाला और पित्तरक्त को दूषित करने वाला होता है ॥ १६९-१७१ ॥

नोट—भूतृण के लेटिन नाम के सम्बन्ध में मतभेद हैं। श्री यादवजी ने साइम्बोपोगोन् ज्वरांकुश (Cymbopogon jwarankusa) को भूतृण माना है जिसका वर्णन पहले पृष्ठ २१८ पर 'लामज्जक' के अन्तर्गत किया जा चुका है। कुछ विद्वानों ने हरी चाय, साइम्बोगोन् साइट्रेटस् (Cymbopogon citratus) को भूतृण माना है किन्तु इसे श्री यादवजी 'जम्बीरतृण' मानते हैं जिसका चरक सू० अ० २७ में हरित वर्ग में एव सुश्रुत सू० अ० ४६ में शाक वर्ग में वर्णन आया है। यहाँ पर निम्न वर्णन हरीचाय का किया गया है।

८५ भूतृण ? (हरीचाय)

हि०—शरवाण, भूतृण, गन्धतृण,अगियाखर, हरीचाय, गन्धवेना। **बं०**—गन्धतृण। **गु०**—लीलीचा। **म०**—हिरवा चहा, ओला चहा। **क०**—मज्जिगेहुल्लु। **पं०**—गन्धतृण, शरवाण, रामकर्पूर। **ता०**—कर्पूर पुल्ल। **ते०**—चिप्पगड्डि। **अं०**—Lemon Grass (लेमन ग्रास)। **ले०**—*Cymbopogon citratus* (साइम्बोपोगोन् साइट्रेटस्); *Andropogon citratus* (एण्ड्रोपोगोन साइट्रेटस्)। Fam Gramineae (ग्रेमिनी)।

यह भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में विशेषकर पजाब और सयुक्त प्रान्त की पहाडी भूमि तथा वाटिकाओं में भी उत्पन्न होती है। यह ५-७ फीट ऊँची घास है। **पत्ते**-३-४ फीट लम्बे, पौन इच चौडे होते हैं। **पुष्प**-उभयलिङ्गी पुष्प की मञ्जरियाँ वर्षाकाल में आती हैं। इसकी पत्ती को मसलने से उसमें से नींबू की तरह सुगन्ध आती है। इस तृण का फांट बनाकर उसमें दूध और चीनी मिलाकर चाय की तरह पीते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धित उडनशील तैल होता है जिसे Indian Melissa oil (इडियन् मेलिसा ऑइल्), Indian oil of Verbena (इण्डियन् ऑइल् ऑफ् वर्बेना) कहते हैं। यह गहरे पीत या भूरे से लाल रङ्ग का नींबू की गन्ध जैसा होता है। इस तैल में प्रधान रूप से सिट्राल् (Citral, $C_{10}H_{16}O$) नामक पदार्थ होता है जिसे आयोनॉन् (Ionone) नामक एक अन्य पदार्थ में रासायनिक विधि से परिवर्तित किया जा सकता है। आयोनान् का सुगन्धि द्रव्यों एव विटामिन् ए (Vitamin A.) के बनाने में उपयोग होता है। आयोनॉन् में वॉयोलेट जैसी तीव्र सुगन्ध होती है।

गुण और प्रयोग—हरी चाय उष्ण, स्वेदजनन, मूत्रजनन, ज्वरघ्न, वातानुलोमन, उत्तेजक, चेतनाकारक, उद्वेष्टननिरोधि, मुखशुद्धिकर, कफघ्नानहर, दीपन, पाचन एव रुचिकर है। इसका तैल बाह्य प्रयोग में त्वग्रागकारक एव वातहर है।

प्रतिश्याय, ज्वर, वमन, अतिसार, आध्मान, शूल, आक्षेप एवं विसूचिका में इसके फाण्ट से बहुत लाभ होता है। विसूचिका में इससे वमन रुकना है एव उत्तेजना आती है। इसका तैल आध्मान, शूल तथा विसूचिका में १-३ बूँद की मात्रा में देते हैं। मलेरिया ज्वर में हरी चाय का उपयोग किया जाता है। कटिशूल, आमवात तथा पीडा आदि में इसके तैल की मालिश की जाती है।

मात्रा—तैल १-३ बूँद, तृण ३-६ माशा।

अथ नीलदूर्वा (हरीदूब) तस्या नामानिगुणाँश्चाह

नीलदूर्वा रुहाऽनन्ता भार्गवी शतपर्विका। शष्पंसहस्रवीर्या च शतवल्ली च कीर्त्तिता॥१७२॥
नीलदूर्वा हिमा तिक्ता मधुरा तुवरा हरेत्। कफपित्तास्रवीसर्पतृष्णादाहत्वगामयान्॥१७३॥

'हरी दूब' के नाम तथा गुण—नीलदूर्वा, रुहा, अनन्ता, भार्गवी, शतपर्विका, शष्प, सहस्रवीर्या और शतवल्ली ये सब 'हरी दूब' के नाम हैं। **हरी दूब**—शीतवीर्य, तिक्त, मधुर तथा कषायरसयुक्त एवं कफ, पित्तरक्त, विसर्प, तृषा, दाह और चर्मरोग को दूर करने वाली होती है॥ १७२-१७३॥

८६ नीलदूर्वा

हि०—हरी दूब, नीली दूब, रामघास। **बं०**—नीलदूर्वा, दूर्वा। **म०**—नीलदूर्वा, हरली, नीली-हरियाली। **मंथाल०**—घोबीघास। **गु०**—खडध्रो, लीलीध्रो, धरो। **क०**—गरिके। **पं०**—दूबडा। **ते०**—दूलु, गरिकेग। **ता०**—अरुवमपिल्लू। **अ०**—उश्च। **फा०**—मर्ग। **अं०**—Creeping Cynodon (क्रीपिंग साइनोडोन्)। **लै०**—*Cynodon dactylon* (साइनोडोन् डेक्टीलोन्)। Fam. Gramineae (ग्रेमिनी)।

दूब—तृणजाति की वनस्पति सब प्रान्तों के वन, उपवन, खेत, मकान सब जगह उत्पन्न होती है। गर्मी के दिनों में प्रायः सूख-सी जाती है, परन्तु बरसात का पानी पडने से फिर हरी-भरी हो जाती है। जलाशय और कुये के पास बारहों मास हरी-भरी देखने में आती है। इसकी डडियाँ पतली-पतली होती हैं, और भूमि पर फैली हुई रहती है। अन्तवाली शाखायें जिन पर कोमल बारीक फूल आते हैं, वे जमीन से उठी रहती हैं। **पत्ते**—पतले, ४-६ अगुल लवे, रेखाकार होते हैं। **बीज**—बहुत छोटे होते हैं।

गुण और प्रयोग—दूर्वा शीतल, वर्ण्य, प्रजास्थापन, रक्तस्कंदन, व्रणरोपण, मूत्रजनन तथा कफपित्तहर है।

(१) वस्तिशोथ, सोजाक तथा मूत्रमार्ग के दाह में इसकी जड का क्वाथ पिलाते हैं।

(२) त्वचा के रोगों में इसकी जड का क्वाथ पिलाते हैं। सद्योव्रण तथा त्वचा के रोगों में इसकी पत्तियों का लेप उपयोगी है। इससे रक्तस्राव रुकना है।

(३) अतिसार, पैत्तिकवमन, उदर, जलोदर, अत्यार्तव, गर्भपात, उन्माद, अपस्मार तथा रक्तमेह आदि में इसका स्वरस पिलाया जाता है।

(४) नेत्राभिष्यंद में पत्र कल्क का लेप करते हैं।

(५) अर्श में जलन कम करने के लिये पत्तों का लेप किया जाता है।

मात्रा—स्वरस ६ माशा-१ तोला; मूल ३-६ माशा।

अथ श्वेतदूर्वा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

दूर्वा शुक्ला तु गोलोमी शतवीर्या च कथ्यते।
श्वेता दूर्वा कषाया स्यात्स्वाद्वी व्रण्या च जीवनी। तिक्ता हिमा विसर्पास्रतृट्पित्तकफदाहहृत्॥१७४॥

'सफेद दूब' के नाम तथा गुण—शुक्लदूर्वा, गोलोमी और शतवीर्या ये नाम सफेद दूब के हैं। **सफेद दूब**—कषाय, तिक्त एवं स्वादु रसयुक्त, व्रण (घाव) के लिये हितकर, जीवनशक्ति को बढाने वाली, शीतवीर्य एवं विसर्प, रक्तविकार, तृषा, पित्त, कफ तथा दाह को दूर करने वाली होती है॥ १७४॥

८७ श्वेत दूर्वा

हि०-सफेद दूब।

सफेद दूब उक्त नीली दूब से कोई भिन्न तृणजातीय वनस्पति नहीं है। नीली दूब के पौधे पर जब किसी कारण से सूर्य की किरणें नहीं पड़ती तब यह श्वेत वर्ण की हो जाती है। यह अधिक पित्त शामक मानी जाती है।

अथ गण्डदूर्वा (गांडरदूब) तस्या नामानि गुणाँश्चाह

गण्डदूर्वा तु गण्डाली मत्स्याक्षी शकुलादनी। गण्डदूर्वा हिमा लोहद्राविणी ग्राहिणी लघु १७५
तिक्ता कषाया मधुरा वातकृत्कटुपाकिनी। दाहतृष्णाबलास्रास्रकुष्ठपित्तज्वरापहा॥ १७६॥

गांडर दूब के नाम तथा गुण—गण्डदूर्वा, गण्डाली, मत्स्याक्षी और शकुलादनी, ये सब नाम गांडर दूब के हैं। **गांडर दूब**-शीतवीर्य, लोहे को पिघलाने वाली, मलग्राहक (मल को रोकने वाली), लघु, तिक्त, कषाय एवं मधुर रसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, वातकारक एवं दाह, तृषा, कफ, रक्तविकार, कुष्ठ तथा पित्तज्वर को दूर करने वाली होती हैं॥ १७५-१७६॥

८८ गण्डदूर्वा

हि०-गाडरदूब, गठीलादूब, गण्डदूर्व्वा।

गांडरदूब—दूब की जाति की एक वनस्पति है, जो दूब से बडी होती है और यह प्रायः जलाशयों के किनारे अधिक उत्पन्न होती है। उसकी डंठी मोटी और बडी होती है। पत्ते-दूब के समान परन्तु दूब से बहुत बडे होते हैं। गांठें मोटी होती हैं।

वाराहीकन्दः (गेठी इति लोके)। तस्य लक्षणनामगुणानाह

वाराहीकन्दसंज्ञस्तु पश्चिमे गृष्टिसञ्ज्ञकः। वाराहीकन्द एवान्यैश्चर्मकारालुको मतः॥ १७७॥
अनूपसम्भवे देशे वराह इव लोमवान्। वाराहवदना गृष्टिर्वरदेत्यपि कथ्यते॥ १७८॥
वाराही तु रसे स्वाद्वी तिक्ता पाके पुनः कटुः।
शुक्रायु'स्वरवर्णाग्निबलपित्तविवर्द्धिनी। कफकुष्ठमरुन्मेहकृमिहच्च रसायनी॥ १७९॥

वाराहीकन्द के लक्षण नाम और गुण—जिसका 'वाराहीकन्द' नाम है, उसी को पश्चिम देश में 'गृष्टि' कहते हैं और 'वाराहीकन्द' को ही कुछ लोग 'चर्मकारालुक' कहते हैं। अनूप (जलप्राय) देश में यह सूअर के बालों की तरह कठिन रोम से युक्त कन्द वाला होता है। इसका वाराहवदना, गृष्टि, वरदा ये सब नाम हैं।

वाराहीकन्द—यह मधुर तथा तिक्तरसयुक्त, पाक में कटु और रसायन एवं शुक्र, आयु, स्वर, वर्ण, जठराग्नि, बल और पित्त को बढाने वाला एवं कफ, कुष्ठ, वात, प्रमेह तथा कृमि को दूर करने वाला होता है॥ १७७-१७९॥

नोट—वाराही कद के स्थान पर डायोस्कोरिआ बल्बिफेरा (Dioscorea bulbifera) एवं टेका एस्पेरा (Tecca aspera) इन दो द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। अधिकाश विद्वान् प्रथम के कंद को वाराही कन्द मानते हैं। इसकी अनेक उपजातियाँ भी पाई जाती हैं। यहाँ दोनों का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

८९ वाराही कन्द (१)

हिं०-वाराही कन्द, गेंठी। **म०**-डुक्कर कन्द, कड़्करादा। **गु०**-डुक्करकद, वणा वेल। **बं०**-रताळु। **ले०**-*Dioscorea bulbifera* (डायोस्कोरिआ बल्बिफेरा)। Fam. Dioscoreaceae (डायोस्कोरिएसी)।

यह दून और सहारनपुर के वनों में एवं ५ हजार फीट की ऊँचाई तक पर्वतीय जंगलों में पाया जाता है।

इसकी लता—आरोही तथा वामावर्त होती है। कांड-चिकने तथा पत्रकोणों में लगभग १ इञ्च व्यास की दानेदार कन्द सदृश रचनाएँ होती हैं। पत्ते-साधारण एकान्तर, २॥-६ इञ्च लंबे, १॥।-४ इंच चौड़े, पतले, पुच्छाकार, लंबे नोक वाले तथा आधार पर ताम्बूलाकार होते हैं। इनके आधारीय खण्ड गोल और पत्राधार पर ९ शिराएँ होती हैं। पुष्प-नरपुष्पों की मञ्जरियाँ नीचे की ओर लटकी हुई, २-४ इंच लंबी और प्रायः पत्रकोणों में समूहबद्ध होकर निकली हुई रहती हैं। नारीपुष्पों की मञ्जरियाँ ४-१० इंच लंबी होती हैं। फल-३ पंख वाले और बीज भी आधार पर सपंख होते हैं। कन्द-छोटे आकार का भूरे रंग का होता है जिस पर सूअर की तरह रोम होते हैं। यह भीतर से पीताभ श्वेत होता है। इसकी अन्य जातियों का भी प्रयोग किया जाता है। कुछ में कन्द बहुत गहरे बैठते हैं तथा वे अधिक मुलायम होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसकी लता में एक विषैला ग्लूकोसाइड पाया जाता है। इसके कंद में स्टार्च होता है।

गुण और प्रयोग—यह कुछ रक्तसंग्राहक तथा ग्राही है। रक्तातिसार, प्रवाहिका, उदरशूल, अर्श आदि रोगों में इसके फलों को जीरा तथा शर्करा के साथ देते है। त्वचा के रोगों में भी इसका व्यवहार किया जाता है।

मात्रा—३-६ माशा।

९० वाराहीकंद (२)

हि०-वाराहीकंद, गेंवरके कंद, गेंवर की बेल। **ले०**-*Tacca aspera* (टेका एस्पेरा)। N. O. Taccaceae (टेकेसी)।

यह कोंकण, मध्यभारत तथा उष्ण भागों में पर्वतों पर होता है।

इसकी लता होती है। इसके **पत्ते**-पान की तरह होते हैं। **कन्द**-लंबगोल, काले तथा सूअर की तरह रोमों से आवृत होते हैं। इसका स्वाद कडुवा होता है। अन्दर से यह हलके पीले रङ्ग का होता है।

रासायनिक सङ्गठन—इसमें स्टार्च होता है।

गुण और प्रयोग—इसमें का स्टार्च हलका तथा पौष्टिक होता है। पुरानी आँव में इसकी पेया देते हैं।

मात्रा—३-६ माशा।

अथ विदारीकन्दः। तस्य नामगुणानाह

विदारी स्वादुकन्दा च सा तु क्रोष्ट्री सिता स्मृता। इक्षुगन्धा क्षीरवल्ली क्षीरशुक्ला पयस्विनी॥
विदारी मधुरा स्निग्धा बृंहणी स्तन्यशुक्रदा॥ १८१॥
शीता स्वर्या मूत्रला च जीवनी बलवर्णदा। गुरुः पित्तास्रपवनदाहान् हन्ति रसायनी॥१८२॥

विदारीकन्द के नाम तथा गुण—विदारी, स्वादुकन्दा, क्रोष्ट्री, सिता, इक्षुगन्धा, क्षीरवल्ली, क्षीरशुक्ला तथा पयस्विनी ये सब नाम विदारीकन्द के हैं।

विदारीकन्द—मधुर रसयुक्त, स्निग्ध, बृंहण, दुग्धवर्धक और शुक्र को बढाने वाली, शीतवीर्य, स्वर को उत्तम बनाने वाला, मूत्रकारक, जीवनी शक्ति बढ़ाने वाला, बल तथा वर्ण को देनेवाला, गुरु, रसायन एवं पित्त, रक्त, वायु और दाह को नष्ट करने वाला होता है॥१८१-१८२॥

विदारीकन्द के विदारी एवं क्षीरविदारी ये दो भेद चरक ने मधुरस्कंध (वि. अ. ८) में लिखे हैं। प्युरेरिआ ट्युबरोज़ा (Pueraria tuberosa) को विदारी एवं आइपोमिआ डिजिटेटा (Ipomoea digitata) को क्षीरविदारी अधिकांश विद्वानों ने माना है। 'भुइकुम्हड़ा' नाम उपर्युक्त दोनों कन्दों को तथा ट्राइकोसॅन्थस् कॉर्डेटा (Trichosanthes cordata) के कन्द को भी देते हैं। सम्भव है डायोस्कोरिएसी (Dioscoreaceae) वर्ग जिस वर्ग का वाराहकन्द है, उसी वर्ग के विदारी एवं क्षीरविदारी भी हों। उत्तरप्रदेश में अधिकतर प्यु. ट्युबरोज़ा कोम्वं

बंगाल में आ. डिजिटेटा को विदारीकन्द माना जाता है। यहाँ पर प्रथम दो का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

६१ विदारीकन्द (१)

हि०–विदारीकन्द, बिलाईकन्द, भुइकुम्भटा, सुराल, पाताल कोहड़ा। **म०**–येंदर, घोटवेल। **गु०**–खाखर वेल, फगियो, फगढानो वेला, विदारी। **वं०**–शिमीय। **ते०**–दारी, नेलगुम्मुडु। **मा०**–गोरवेल। **ले०**–*Pueraria tuberosa* (प्युरेरिआ ट्युबरोसा N. O. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह कोंकण के पहाडों पर, दक्षिण, कनारा, पश्चिम-हिमालय, शिमला, कुमाऊँ, नेपाल, विन्ध्याचल, उडीसा और छोटा नागपुर में उत्पन्न होता है और विहार में भी कहीं कहीं पाया जाता है। यह नदी-नालों के करारों में अधिक पाया जाता है।

यह अत्यन्त विस्तार में फैलने वाली लताजाति की वनस्पति अचिरस्थायी होती है। इसका काड पोला-सा होता है। **छाल**–भूरे रङ्ग की आध इच तक मोटी होती है। **लकड़ी**–छिद्रयुक्त कोमल होती है। **पत्ते**–पलाश के समान पक्षाकार त्रिपत्रक होते हैं। **पत्रक**–४-६ इञ्च लम्बे, ३-४ इञ्च चौड़े, अग्रय पत्रक तिर्यगायताकार और पार्श्वपत्रक तिरछे लट्वाकार तथा अधरतल पर श्वेत तलशायी रेशमतुल्य सघन रोओं से युक्त होते हैं। **पुष्प**–६–१८ इंच लम्बी मंजरियों में आते हैं। पुष्प नीले या नीलरक्त रङ्ग के सुन्दर दिखलाई देते हैं। **फलियाँ**–२-३ इच तक लम्बी, चिपटी, बीजों के बीच दबी हुई और खाकी रङ्ग के रोवें से भरी रहती हैं। प्रत्येक फली में २–६ तक बीज रहते हैं। प्रायः पत्तों के गिरने पर नवीन पत्तों के निकलने के प्रथम ही फूल आते हैं।

जमीन के नीचे इसमें प्रायः कई कन्द रहते हैं, जो काड से दृढ़मूल शाखा के द्वारा जुडे रहते हैं और नीचे भी मूल शाखा पुनः निकली रहती है। इन्हीं को विदारीकन्द कहते हैं। यह गोल कुम्हडे के आकार के भूरे रङ्ग का एवं लम्बाई में २ फीट तक तथा घेरे में २॥ फीट तक बडा होता है। पुराना कन्द २० सेर से भी अधिक वजन का देखने में आता है, किन्तु छोटे कन्द की अपेक्षा बडे कन्द हीनवीर्य्य समझे जाते हैं। छोटे कन्द उखाडने के बाद कुछ दिनों तक बिगडते नहीं हैं परन्तु बडे कन्द बहुत जल्द सड गल जाते हैं। छोटे छोटे कन्दों के पतले-पतले कतरे कर सुखाने से वे दूध के समान श्वेत दिखाई पडते हैं तथा विदारीकन्द नाम से बाजार में बिकते हैं। बड़े कन्द की अपेक्षा छोटे कन्द का स्वाद अच्छा और मीठा होता है। छोटे-छोटे मुलायम और नवीन कन्द हरिद्वार आदि की सब्जीमण्डियों में 'सराल' के नाम से बिकते हैं। कन्दों में कुछ-कुछ मुलेठी का स्वाद आता है इसलिये विदारी को 'स्वादुकन्दा', 'इक्षुविदारी' आदि नाम दिया गया है। ये लताएँ घोडों को बहुत प्रिय होती हैं जिससे इन्हें 'गजवाजिप्रिया' 'घोडवेल' कहा गया है।

गुण और प्रयोग—यह स्तन्यजनन, मूत्रजनन तथा पौष्टिक है। शोथ पर पीस कर इसे बाँधते हैं। बल एवं दुग्धवृद्धि के लिये इसका प्रयोग किया जाता है। अधिक मात्रा से इससे वमन होता है।

मात्रा—½-१ तोला।

६२ विदारीकन्द (२) क्षीरविदारी

हि०–बिलाईकन्द, विदारीकन्द, भुइकुम्हडा। **वं०**–भुई कुमडा। **म०**–भुईकोहला। **गु०**–विदारीकन्द। **क०**–नेलकुम्बल। **ते०**–मत्तपलतिगा, नेलगुम्मुडु। **माल०**–मोनल्कुंट। **ता०**–फलमोदिक। **ले०**–*Ipomoea digitata* (आइपोमिया डिजिटेटा)। N.O. Convolvulaceae (कॉन्वॉल्व्युलेसिइ)

यह भारतवर्ष के गरम प्रान्तों में विशेषकर बङ्गाल और आसाम से सिलोन तक बेंगुला और थाना जिला में पाया जाता है। पश्चिम की ओर सूखे प्रान्तों में यह देखने में नहीं आता।

यह लता जाति की वनस्पति झाडदार और विस्तार में फैलने वाली होती है। **डंडियाँ**–पीली सी होती हैं। **पत्ते**–३-७ इञ्च के घेरे में हाथ के पञ्जे के समान ५-७ भागों में विभक्त रहते हैं। **फूल**–नलिकाकार, चौथाई इंच गोल, ऊपर का भाग १॥ इंच से २॥ इंच के घेरे में होता है, और यह बैंगनी रङ्ग का दिखाई पडता है। **फल**–चार छिलके वाले गोलाकार छोटे-छोटे होते हैं और वे झूमकों में आते हैं। उनके भीतर एक प्रकार की पर्तदार रूई से ढके हुये त्रिकोणाकार अर्द्धगोल बीज रहते हैं। बीजों के रोपण करने से लता उत्पन्न होती है। इसके नीचे जो कन्द बैठता है वह रतालू के आकार का होता है। इसका वजन एक सेर से अधिक नहीं होता। कन्द बाहर से भूरे रङ्ग का तथा खुरदरा होता है। काटने पर अन्दर से यह श्वेत रग का दिखलाई देता है तथा उसमें से बहुत क्षीर निकलता है। इसकी सुखाई हुई कचरी बहुत हल्की रहती है तथा उसमें मण्डल दिखलाई देते हैं। इसका स्वाद पिष्टमय, कुछ कसैला एवं कडुआ सा होता है।

रासायनिक संगठन—इसके कन्द में पिष्टमय पदार्थ अधिक होता है। इसके अतिरिक्त १०%शर्करा, एवं अत्यत अल्प प्रमाण में जालप में पायी जाने वाली आनुलोमिक राल होती है।

गुण और प्रयोग—यह अनुलोमक, पित्तसारक, स्तन्यजनक, स्नेहक तथा उत्तम पौष्टिक है। इससे भूख लगती है, अन्न पचता है, शौच साफ होता है, शरीर का वर्ण सुधरता है एवं वजन बढ़ता है। काडलीहर तेल से अधिक अच्छा इससे कार्य होता है।

किसी भी कारण से शिथिलता आयी हो और वजन कम हुआ हो तो इसके चूर्ण को घृत में भूनकर दूध एवं शर्करा के साथ पेया बनाकर देने से बहुत जल्दी वजन बढता है। यकृत् एवं प्लीहावृद्धि में इसका चूर्ण देने से पित्तस्राव ठीक होकर शौच साफ होता है। दुग्धवृद्धि के लिये द्राक्षासव के साथ इसे देते हैं।

मात्रा—कन्द चूर्ण $\frac{1}{4}$-$\frac{1}{2}$ तोला।

अथ मुशलीकन्दः। तस्य लक्षणगुणानाह

तालमूली तु विद्वद्भिर्मुशली परिकीर्त्तिता।
मुशली मधुरा वृष्या वीर्योष्णा बृंहणी गुरुः। तिक्ता रसायनी हन्ति गुदजान्यनिलं तथा १८३

काली मूसली के नाम तथा गुण—विद्वान् लोग 'तालमूली ही को 'मुशली' कहते हैं, अर्थात् तालमूली, मुशली ये दोनों नाम 'काली मूसली' के हैं। **काली मूसली**–मधुर तथा तिक्त रस युक्त, वृष्य (वीर्यवर्धक), उष्णवीर्य, बृंहण (रक्तादिधातुवर्धक), गुरुपाकी, रसायन एवम् अर्श (बवासीर) तथा वात का नाशक होती है॥ १८३॥

मुसली दो प्रकार की होती है। काली एवं सफेद। काली मुसली का लेटिन नाम कर्क्युलिगो ओर्किओइडिस् (Curculigo orchioides) एवं सफेद मुसली का एस्पेरेगस् एडस्केन्डेन्स् (Asperagus adscendens) जो दो विभिन्न वर्गों की हैं। कुछ लोग क्लोरोफाइटम् एरून्डिनेसिअम् (Chlorophytem arundinaceum) को सफेद मुसली मानते हैं। यहाँ पर इनका अलग अलग वर्णन किया गया है।

९३ काली मूसली

हि०–स्याह मूसली, काली मूशली। **म०, गु०**–काली मूसली। **बं०**–तालमूली। **क०**–नेलताल **ते०**–नेल तडि गड्डा। **ता०**–निलधनैका। **पं०**–स्याह मूसली। **मा०**–काली मूसली। **फा०**–मुशली स्याह। **अ०**–मुसली अवियज। **ले०**–*Curculigo orchioides* (कर्क्युलिगो ओर्किओइडिस्)। N. O. Amaryllidaceae (अँमेरिलिडेसिइ)।

यह बंगाल, विहार, युक्तप्रान्त, दक्षिण देश के बाँस के वनों में तथा हिमालय में यमुना से खासिया पहाड तक प्रायः सर्वत्र उत्पन्न होती है।

काली मूसली—तृणजातीय वनौषधि, वर्षा ऋतु में घास अथवा दूसरे वृक्षों की छाया में देखने में आती है। ४-५ पत्ते वाले खजूर के वृक्ष की तरह इसका नवीन क्षुप होता है। मूलस्तम्भ

मोथा और मोटा होता है। पुरानी चक्राकार पत्र सन्धिओं के कारण यह ताल वृक्ष के स्कन्ध जैसा दिखलाई देता है। इसकी सन्धियों से सूत्राकार परन्तु मांसल उपमूल निकले रहते हैं और शीर्ष से लगभग ३ या ४ पत्ते भूमि के ऊपर निकले रहते हैं। इसके पत्ते-बिना डंठल के, खजूर के पत्तों से कुछ पतले, सकरे और बर्छीनुमे होते हैं। इसकी लम्बाई ६ से १८ इञ्च तक और चौड़ाई १-१॥ इञ्च तक होती है। पुष्पदण्ड-छोटा, बीज से निकला हुआ ऊपर की ओर क्रमशः मोटा (Clavate) और कुछ चिपटा होता है। इसके फूल-नलिकाकार पीले रङ्ग के दो कतारों में होते हैं। फल-½ इञ्च तक लम्बे अण्डाकार होते हैं। बीज-काले और चमकीले होते हैं। इसके मूलस्तम्भ का चिकित्सा में व्यवहार होता है। यह बाहर से काले भूरे रङ्ग का तथा अन्दर से श्वेत होता है। दो वर्ष पुराने क्षुप का कन्द प्रयोग में लाना चाहिये। इसका स्वाद कुछ कडुवा तथा लबाबदार होता है।

रासायनिक सङ्गठन—इसमें तैलीय द्रव्य १½%, राल तथा कषाय द्रव्य ४%, गोंद २०%, पिष्टमय पदार्थ ४३½%, सीठी १४% एव जल ४½% रहता है। सूखे कन्द से ८½% राख मिलती है। जिसमें चूना (Calcium oxalate) रहते हैं।

गुण और प्रयोग—काली मुसली स्नेहन, मूत्रजनन, बल्य तथा कुछ वृष्य है। मूत्रमार्ग पर इसकी विशेष क्रिया होती है। अर्श, कामला, श्वास, अतिसार तथा शूल में इसका उपयोग किया जाता है। त्रावणकोर की तरफ दूध के साथ इसकी पेया बनाकर सोजाक, मूत्रकृच्छ्र तथा अल्पार्तव में बहुत प्रयोग करते हैं। रोगयुक्तावस्था में इसका सेवन किया जाता है। अनेक वृष्य पाकों में इसका उपयोग किया गया है। जङ्गली लोग चोट तथा अस्थिभङ्ग पर इसका बाह्य प्रयोग करते हैं।

मात्रा—कन्द ¼-½ तो०।

६४ सफेद मूसली (१)

सं०-श्वेत मुशली, मुसली। **हि०**-सफेद मुशली, खैरूव। **म०**-सफेद मुसली, पाटली मुसली। **गु०**-धोली मुसली। **ता०**-तन्निरविट्टग। **ते०**-सल्लोगड्डा। **मल०**-शेडेवेली। **अ, फा०**-शकाकुले-हिन्दी। **ले०**-*Asparagus adscendens* (एस्पेरेगस् एड्स्केन्डेन्स्)। N. O. Liliaceae (लिलिएसी)।

यह पश्चिम हिमालय, पञ्जाब, गुजरात, रतलाम, बम्बई, रुहेलखण्ड, अवध तथा मध्य भारत में पाया जाता है। उत्तम सफेद मुसली रतलाम से आती है।

इसका **क्षुप**-स्वावलम्बी तथा कांटेदार होता है। **शाखाएँ**-झुकी हुई, आरोहणशील, धूसर-वर्ण की नालीदार और कोणयुक्त होती हैं। प्रधान **कांड**-लम्बा, ऊँचा, मोटा, गोल और चिकना होता है। **कांटे**-आधे से पौन इञ्च लम्बे, सीधे और मोटे होते हैं। पत्राभास काण्ड-आधे से दो इञ्च लम्बे, केशाकार, गोल और ६-२० की संख्या में एक साथ गुच्छबद्ध रहते हैं।

मूलस्तम्भ से श्वेत, कन्दसदृश तथा लम्बगोल मूलों का गुच्छा निकला रहता है। छाल निकालकर सुखाई हुई सफेद, झुर्रीदार, २-२½ इञ्च लम्बी, सूजा के इतनी मोटी, कुछ ऐंठी हुई, कड़ी तथा आसानी से टूटने वाली, जडें बाजार में मिलती हैं। अधिक से अधिक यह ½ इञ्च मोटी रहती है। इसका स्वाद लबाबदार किन्तु अच्छा रहता है। इसे पानी में डालने से यह फूलकर शतावरी जैसी दिखलाई देती है।

रासायनिक सङ्गठन—इसके जल में घुलनशील भाग ७९½% जल ८% तथा सीठी १२½% रहती है। जलविलेय भाग में मांसल पदार्थ रहता है। इसमें पिष्ट बिल्कुल नहीं रहता। सूखी हुई जड में ३½% राख रहती है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, लघु, स्नेहन एव उत्तम बल्य है।

इसमें स्टार्च न होने के कारण इसको मधुमेह में दिया जा सकता है। सभी प्रकार के

दौर्बल्य में १ तोला चूर्ण १ तोला चीनी मिलाकर दूध के साथ देते हैं। नपुंसकता, शुक्रमेह, प्रदर, अतिसार तथा प्रवाहिका में इसे देते हैं।

मात्रा—चूर्ण ½ से १ तोला।

६५ सफेद मूसली (२)

हि०—सफेद मूसली, गेरैंग अडा। **ले०**-*Chlorophytum arundinaceum* (क्लोरोफिटम् एरुण्डिनेसिअम्)। N. O. Liliaceae (लिलिएसी)।

यह इस देश के कई प्रान्तों में प्रायः बरसात के दिनों में देखने में आती है, इसका क्षुप होता है। **पत्ते**-१५"×२·५" बड़े तथा प्रासवत् होते हैं। पुष्पध्वज पहले ५-१५" इंच लम्बा और पुष्प श्वेत होते हैं। पुष्पों की भाजी बनाकर खाई जाती है। इसकी जड़ के पास लम्बे सूत्राकार जड़ों के गुच्छे निकलते हैं। जिनके अग्र पर मोटे, बेलनाकार, १-१५"×·५-·६ इंच बड़े कन्द होते हैं जो भीतर से भूरे सफेद रङ्ग के रहते हैं। इसकी अन्य दो जातियाँ C. laxum (क्लो. लॅक्सम्) एवं C. tuberosum (क्लो. ट्युबरोजम्) भी पाई जाती हैं।

इन कन्दों को कुछ लोग सफेद मुसली मानते हैं तथा पहले जिस सफेद मुसली का वर्णन किया जा चुका है उसे शतावरी भेद मानते हैं। इसका भी उपयोग सफेद मुसली के समान किया जाता है।

अथ शतावरी महाशतावरी च। तयोर्नामानि तयोस्तदङ्कुरस्य च गुणांश्चाह

शतावरी बहुसुता भीरुरिन्दीवरी वरी। नारायणी शतपदी शतवीर्या च पीवरी॥१८४॥
महाशतावरी चान्या शतमूल्यूर्ध्वकण्टिका। सहस्रवीर्या हेतुश्च ऋष्यप्रोक्ता महोदरी॥१८५॥
शतावरी गुरुः शीता तिक्ता स्वाद्वी रसायनी। मेधाऽग्निपुष्टिदा स्निग्धा नेत्र्या गुल्मातिसारजित्
शुक्रस्तन्यकरी बल्या वातपित्तास्रशोथजित्। महाशतावरी मेध्या हृद्या वृष्या रसायनी१८७
शीतवीर्या निहन्त्यर्शोग्रहणीनयनामयान्। तदङ्कुरस्त्रिदोषघ्नो लघुरर्शःक्षयापहा॥ १८८॥

'छोटी शतावर' तथा 'बडी शतावर' के नाम और गुण तथा उन दोनों के अंकुर के क्रम से गुण—शतावरी, बहुसुता, भीरु, इन्दीवरी, वरी, नारायणी, शतपदी, शतवीर्या और पीवरी ये सब नाम 'छोटी शतावर' के हैं। 'बडी शतावर' के नाम—महाशतावरी, शतमूली, ऊर्ध्वकण्टिका, सहस्रवीर्या हेतु, ऋष्यप्रोक्ता और महोदरी ये सब हैं। **छोटी शतावर**—मधुर तथा तिक्त रसयुक्त, गुरु, शीतवीर्य, रसायन, मेधा (धारणा शक्ति) कारक, जठराग्निवर्धक, पुष्टिदायक, स्निग्ध, नेत्रों के लिये हितकर, शुक्रवर्धक, स्तनों में दूध बढाने वाली, बलकारक एवम् गुल्म, अतिसार, वात, पित्तरक्त तथा शोथ को दूर करने वाली होती है। **बड़ी शतावर**—मेधा तथा हृदय के लिये हितकर, वृष्य, रसायन, शीतवीर्य, एवम् अर्श, ग्रहणी तथा नेत्ररोग को दूर करने वाली होती है। इन दोनों के **अङ्कुर**—लघु एवम् त्रिदोष, अर्श तथा क्षय के नाशक होते है॥ १८४-१८८॥

६६ शतावर

हि०—सतावर, सतावरि, सतमूली, शतावर, सरनोई। **बं०**-शतमूली। **म०**-शतावरी। **गु०**-शतावरी। **ता०**-गणियनाकु। **ले०**-*Asparagus racemosus.* (एसपेरेगस् रेसिमोसस्) N. O. Liliaceae (लिलिएसी)।

शतावर—इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होती है। उत्तरी भारत में यह अधिक होती है। इसका **क्षुपक**—कांटेदार, बहुवर्षायु, आरोहणशील तथा लता की तरह अनेक शाखाओं से युक्त फैला हुआ रहता है। **शाखायें**-त्रिकोण युक्त, चिकनी किन्तु रेखान्वित होती हैं। इनमें वास्तविक पत्र के स्थान पर कांटे होते हैं। **कांटे**—कुछ कुछ टेढ़े तथा ¼-½ इंच लम्बे होते हैं। **पत्राभासकाण्ड**—पत्र की तरह दिखलाई देने वाले, कांटों के कोणों में सूत्राकार पतले ½-१ इंच

लम्बे तथा दृढ पत्राभास काण्ड के गुच्छे होते हैं। **फूल**-छोटे, सफेद रङ्ग के तथा सुगन्धित गुच्छों में आते हैं। **फल**-छोटे छोटे, गोल तथा पकने पर लाल रग के हो जाते हैं, जिनमें १-२ वीज रहते हैं। मूलस्तम्भ से कन्दसदृश श्वेत लम्बगोल परन्तु दोनों सिरों पर पतले मूलों के गुच्छे निकले रहते हैं जिनका चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

जाति—इसकी एक बडी जाति होती है जिसे **सं**-महाशतावरी एवं **ले०**-*A. sarmentosa* (ए. सार्मेन्टोजा) कहते हैं। यह दक्षिण में अधिक होती है। इसकी लता बडी होती हैं तथा इसके मूलस्तम्भ से बहुत से कन्द निकले रहते हैं जो स्वादहीन होते हैं। इसकी एक कण्टकहीन जाति 'शरनोई', कौण्टा, ले०-A. filicinus (ए० फिलिसिनस्) जौनसार में ९ हजार फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है। यह स्वावलम्बी होती है। इसमें काँटे नहीं होते एव पत्राभासकाण्ड चिपटे होते हैं। सफेद मुसली (१) शतावरी जाति की है।

रासायनिक संगठन—दोनों शतावरी के ताजे कन्दों में जल में घुलने वाला पदार्थ ५२३/४%, सीठी ३३३/४% तथा जल ९% रहता है। जल में घुलनशील भाग में ७% शर्करा होती है। शुष्ककन्द की राख ४% निकलती है।

गुण और प्रयोग—शतावरी मधुर, शीत, गुरु, स्नेहन, स्तन्यजनन, मूत्रजनन, शुक्रजनन, वल्य, वृष्य, वयःस्थापन, चक्षुष्य, अग्निवर्धक, अल्पसग्राहक एवं त्रिदोषघ्न हैं।

इसका उपयोग अन्य औषधों के साथ नपुसकता, शुक्रमेह, शुक्रतारल्य, नेत्ररोग, अतिसार, ग्रहणी, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त तथा अपस्मार में किया जाता है। वलवृद्धि के लिये दुग्ध एव शर्करा के साथ इसकी पेया बनाकर देते हैं। इसके अकुरों की तरकारी कुपचन में देते हैं। इससे सिद्ध तैलों का बाह्य प्रयोग शिरोरोग, चर्मरोग, वातव्याधि तथा दौर्बल्य में करते हैं।

मात्रा—२ तोला दुग्ध के साथ।

अथाश्वगन्धा। तस्या नामगुणानाह

गन्धान्ता वाजिनामादिरश्वगन्धा हयाह्वया। वराहकर्णी वरदा वलदा कुष्ठगन्धिनी ॥१८९॥
अश्वगन्धाऽनिलश्लेष्मश्वित्रशोथक्षयापहा। बल्या रसायनी तिक्ता कषायोष्णाऽतिशुक्रला ॥

'असगन्ध' के नाम और गुण—अश्वगन्धा, हयाह्वया (हय के पर्यायवाचक समस्त शब्द इसके द्योतक हैं), वराहकर्णी, वरदा, वलदा, कुष्ठगन्धिनी और वाजी (घोडा) के जितने पर्यायवाचक शब्द हैं वे आदि में लगाकर अन्त में 'गन्ध' शब्द लगाने से जितने शब्द हों, उन सबों को इसका पर्यायवाची शब्द समझना चाहिये, जैसे—वाजिगन्धा, हयगन्धा इत्यादि।

असगन्ध—तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, उष्णवीर्य, वलकारक, अत्यन्त शुक्रवर्धक, रसायन एवं वात, कफ, श्वित्र (श्वेत कुष्ठ), शोथ और क्षय को दूर करने वाला होता है ॥ १८९-१९० ॥

९७ असगन्ध

हि०-असगन्ध, अश्वगन्धा, नागोरी असगन्ध। **बं०**-अश्वगन्धा, आसकन्द, ढोरगुंज। **गु०**-आसन्ध। **सं०**-घोडा हन, घोडाआकुन। **क०**-अगरवेरु। **ते०**-पैनेरुगड्डु, पिल्ली आंङ्गा, अश्वगधी **ता०**-चुवदिग। **फा०**-वेहमनवर्री। **अं०**-Winter cherry (विंटरचेरी) ले०-*Withania somnifera* (विथेनिआ सोम्नीफेरा। N O Solanaceae (सोलेनेसिइ)।

असगन्ध इस देश के अनेक भागों के कुछ गरम और साधारण प्रान्तों में विशेषकर पश्चिम के शुष्क प्रदेशों में अधिक होती है। भारत के अतिरिक्त यह लका, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, सिंध, भूमध्यसागरीय प्रदेश, उत्तमाशाअन्तरीप, आदि देशों में पाई जाती है। मालवा में इसकी खेती की जाती है। इसका **क्षुप**-भटा के क्षुप के समान सघन होता है। इसकी **ऊँचाई**—१-७ फीट की होती है। **शाखायें**—टेढी मेढी तारकाकार रोमों से युक्त होती हैं। **पत्ते**-अखड, लटवाकार, लगभग कुण्ठिताग्र, सरलधार से युक्त, २ ४ इञ्च लम्बे १ २ इञ्च

चौडे सूक्ष्म तारकाकार रोमों से युक्त, फलकमूल क्रमशः संकुचित एवं ½-¾ इञ्च तक लम्बे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-प्रायः ५ एक साथ सचूडाकार गुच्छों में, छोटे, हरिताभ या पीताभ पत्रकोणों में निकलते हैं। फल-पत्रदण्ड के पास ¼ इञ्च बड़े फल लगते हैं और वे प्रवृद्ध वाह्य कोश के पतले छिलके के परदे में रहते हैं। उनका आकार मटर के समान होता है और पकने पर वे लाल हो जाते हैं। फलों से दूध जम जाता है। बीज—वनमण्टा के बीज के समान छोटे छोटे चिपटे बीज होते हैं। इसका क्षुप ३-४ वर्ष के बाद नष्ट हो जाता है।

इसकी जड १-१½ फीट लम्बी, १-१½ इञ्च मोटी, मूली की तरह शंक्वाकार, मजबूत, चिकनी, बाहर से हलके भूरे रङ्ग की तथा अन्दर से श्वेत होती है। मूल का भाग छोटा तथा स्टार्च युक्त होता है। ताजी जड़ में अश्व के मूत्र सदृश गन्ध आती है जिससे इसे अश्वगन्धा कहा जाता है। सका स्वाद कड़वा तथा तीक्ष्ण होता है।

नोट—असगन्ध दो प्रकार की होती है। एक अपने आप जगल में उत्पन्न होने वाले क्षुप की जड तथा दूसरी बाजार में बिकने वाली सफेद रङ्ग की जड़ जिसे नागौरी असगन्ध कहते हैं। नागौरी यह खेती की हुई असगन्ध की जड़ होती है जो खेती करने, खाद देने तथा मिट्टी आदि के परिवर्तन के कारण जंगली की अपेक्षा गुणों में पर्याप्त भिन्न होती है। सम्भवतः इसी कारण डा० देसाई ने 'औषधि संग्रह' पुस्तक में यह लिखा है कि 'ढोरगुञ्ज' (जङ्गली असगन्ध) की जड़ से शास्त्रीय एवं बाजार में बिकने वाली असगन्ध के गुण मिलते नहीं क्योंकि ढोरगुंज (जङ्गली असगन्ध) की जड़ विषैली होती है।

वाजीकर, बल तथा बृंहण गुण के लिये खाने के काम में बाजारी असगन्ध (नागौरी) लेना चाहिये तथा वातघ्न गुण के अपस्मारादि व्याधियों में लेपादि वाह्य प्रयोगों में तथा तैलादि में जङ्गली असगन्ध के मूल लेने चाहिये। जङ्गली असगन्ध का दुग्ध में स्वेदन करके शोधन कर लेना चाहिये। असगन्ध के पञ्चांग तथा विशेषकर जड का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी जड में उडनशील तैल, रवेदार विथेनियॉल (Withaniol, C_2क H_3क Oक) नामक पदार्थ, हेन्ट्रियाकॉन्टेन् (Hentriacontene), फाइटोस्टेरॉल तथा तैल ये पदार्थ होते हैं। इनके अतिरिक्त इसमें २ विभिन्न क्षाराम्ल (Alkaloid) होते हैं जिनमें से सोम्निफेरिन Somniferin, C_{12} H_{16} N_2) रवेदार होता है।

गुण और प्रयोग—नागौरी (बाजारी) असगन्ध उष्ण, मधुर, बृंहणीय, बल्य, रसायन, वृष्य एवं शोथहर है। क्षय, बालशोष, सुखण्डी, वार्धक्य आदि में इसके ½-१ तो० चूर्ण को थोडे घृत में गरम कर दूध एव शर्करा मिलाकर देते हैं। यह उत्तम पौष्टिक है। बच्चों के लिये यह बहुत ही अच्छा है। इससे बच्चों का सूखना बन्द हो जाता है। स्त्रियों के कटिशूल एव श्वेत प्रदर में इससे लाभ होता है।

जङ्गली असगन्ध—अवसादक, स्वापजनक एव मूत्रजनक है। इसका अवसादक प्रभाव वातनाडियों पर होता है न कि हृदयपर। अल्प मात्रा में धतूरे जैसा मद इससे उत्पन्न होना है तथा कामोत्तेजना होती है।

बद, ग्रन्थि, शोथ तथा फोडे आदि पर इसके लेप से लाभ होता है। तिलाओं में इसका उपयोग किया जाता है। इससे सिद्ध तैल दौर्बल्य तथा वातव्याधि में मालिश के उपयोग में आता है।

इसके बीज स्वापजनन एवं मूत्रजनन है। अधिक मात्रा में विषैले होते हैं। आमवात में इसके ताजे पत्ते बाँधते हैं।

मात्रा-नागौरी असगन्ध चूर्ण ३-६ माशा।

अथ पाठा (पाढ)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

पाठाऽम्वष्ठाऽम्वष्ठकी च प्राचीना पापचेलिका। एकाष्ठीला रसा प्रोक्ता पाठिका वरतिक्तिका॥१९१॥
पाठोष्णा कटुका तीक्ष्णा वातश्लेष्महरी लघुः।
हन्ति शूलज्वरच्छर्दिकुष्ठातीसारहृद्रुजः। दाहकण्डूविषश्वासकृमिगुल्मगरव्रणान्॥ १९२॥

'पाढ' के नाम तथा गुण—पाठा, अम्बष्ठा, अम्बष्ठकी, प्राचीना, पापचेलिका, एकाष्ठीला, रसा, पाठिका और वरतिक्तिका ये सब नाम 'पाढ' के हैं। पाढ—उष्णवीर्य, कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण, लघु, वात-कफनाशक एवं शूल, ज्वर, वमन, कुष्ठ, अतीसार, हृद्रोग, दाह, कण्डू (खुजली), विष, श्वास, क्रिमि, गुल्म, उदररोग और व्रण को दूर करने वाली होती है ॥ १९०-१९२ ॥

प्राचीनों ने पाठा के दो भेद माने हैं। एक लघु पाठा तथा दूसरी राजपाठा (बड़ी पाठा)। इनमें से लघु पाठा यह सिसेम्पेलोस् पॅरेरा (Cissampelos pareira) है। राजपाठा या पाठा के स्थान पर इसी वर्ग की अन्य वनस्पतियों का भी उपयोग विभिन्न स्थानों में किया जाता है। साइक्लिआ पेल्टेटा (Cyclea peltata) एवं साइक्लिआ वर्मेनी (Cyclea burmanni)- यह केवल आसाम एवं खासिया पर्वत से पूर्व की तरफ तथा दक्षिण में पश्चिमी घाट एवं कोंकण में पाई जाती है तथा दक्षिण में इन्हीं का अधिक प्रयोग होता एवं यहाँ पाठा के नाम से किया जाता है यद्यपि पॅरेरा भी वहाँ पाई जाती है। उत्तरी भारत में यह (साइक्लिआ) नहीं पाई जाती, किन्तु स्टिफेनिआ हर्नेण्डिफोलिआ (Stephania hernandifolia, walp) नामक बड़ी जाति पाई जाती है, जिसे राजपाठा कह सकते हैं। बंगाल की तरफ आकनादि नाम से इसका अधिक उपयोग किया जाता है। गुजरात तथा काठियावाड़ में इसी वर्ग की [illegible] का उपयोग पाठा के स्थान पर करते हैं जो उचित नहीं है। एक ही वर्ग की तथा स्वरूप गुणादि में साम्य होने के कारण पाठा नाम से इनका उपयोग भिन्न भिन्न स्थानों में किया जाता है।

९८ पाठा

सं०-लघुपाठा, पीलुफला, अविद्धकर्णी। हि०-पाढा, पाढ, पाढ़, पाढी, पाठी, पुरइन पाढी। बं०-आकनादि, निमुक, एकलेजा। म०-पहाड़ वेल। गु०-वेणीवेल, करेढियु। क०-[illegible]। ता०-अप्पाट्टा, पोंमुतूते। गोवा०-पारवेल। से०-पाटा, विन्दोहि। ले०-*Cissampelos pareira* (सिसेम्पेलोस् पॅरेरा)। अं०-Velvet leaf (वेल्वेट लीफ)। N. O. Menispermaceae (मेनिस्पर्मेसी)।

यह इस देश के सभी उष्ण एवं साधारण भागों में सिंध, पंजाब, शिमला, देहरादून तथा दक्षिण में कोंकण से लंका तक पाई जाती है। एशिया, पूर्व अफ्रिका तथा अमेरिका के उष्ण प्रदेशों में भी होती है।

यह लता-खुली हुई पथरीली जगहों में प्रायः छोटे वृक्षों और झाड़ियों पर फैली हुई पाई जाती है। शाखाएँ-पतली, सीधी एवं क्वचित् लोमयुक्त होती हैं। पत्र-लट्वाकार या कभी कभी वृत्ताकार-वृक्काकार हृदयाकृति, एकांतर, २-४ इञ्च बड़े, नोकरहित एवं क्वचित् नुकीले रहते हैं। पर्णनाल प्रायः पृष्ठ भाग से जुड़ा हुवा तथा पृष्ठ के बराबर या अधिक लंबा होता है। पुष्प—एकलिंग, छोटे, श्वेताभ, किंचित् पीत वर्ण के वर्षा काल में आते हैं। नरमंजरी लंबी, अनेक पुष्पों से युक्त, मृदुरोमश तथा पत्रकोणों से निकली रहती है। फल-रक्त या नारंग वर्ण के, कुछ गोलाकार, ४ मि मि. बड़े एवं रोमावृत रहते हैं। बीज-मुड़े हुवे होते हैं।

इसके मूल का उपयोग चिकित्सा में किया जाता है। इसकी सूखी हुई जड़ के लंबे गोल, अण्डाकार या दबे हुवे टुकड़े, कभी-कभी लंबाई में टूटे हुवे मिलते हैं। ये व्यास में ½ से ४ इञ्च तक मोटे एवं ४ इञ्च से लेकर ४ फीट तक लंबे होते हैं। बाहर से ये भूरे, बादामी रंग के तथा लंबाई में झुर्रीदार होते हैं। इन झुर्रियों पर अनुप्रस्थ चक्राकार कुछ उभार रहते हैं। अन्दर से ये काष्ठमय, पीताभ भूरे रंग के एवं सुषिर होते हैं तथा इनमें स्पष्ट किन्तु प्रायः अपूर्ण चक्राकार रेखाएँ तथा मज्जक किरणें (Medullary rays) दिखलाई देती हैं। इनका स्वाद प्रारम्भ में कुछ मधुर एवं सुगन्धि तथा बाद में अत्यन्त कड़ुवा होता है।

रासायनिक संगठन—इसकी जड़ में ०.७८% क्षाराभ पाये जाते हैं जिसमें बेबीराइन (Bebeerine) भी रहता है। अल्प मात्रा में एक रवेदार डेयामेट्टीन (Deyamettin) नामक पदार्थ एवं एक राल पाई जाती है।

गुण एवं प्रयोग—पाठामूल, उष्ण, तिक्त, ग्राही, स्तन्यशोधक, ज्वरहर, बल्य, बस्तिशोधक एवं मूत्रजनक है। अल्प मात्रा में इससे भूख बढ़ती है, अन्न का पाचन होता है तथा आन्त्र की श्लेष्मलकला को बल मिलता है। अधिक मात्रा से पाखाना साफ होता है। इसके सपूर्ण क्षाराम का अनैच्छिक मांसपेशी पर अवसादक प्रभाव पड़ता है।

इसका उपयोग कुपचन, अतिसार, ज्वर, मूत्रविकार, शोफ, कास, आर्तव-विकार एव अर्श में किया जाता है। पॅरेरारूट (Parerra root) जो कि कोण्ड्रोडेण्ड्रोन टोमेण्टोजम (Chondrodendron tomentosum) की जड है उसके स्थान पर इसका उपयोग किया जाता है। मूत्रमार्ग की श्लेष्मल त्वचा पर इसका शामक, संग्राही एवं बलदायक प्रभाव पडता है। यह बस्ति के लिये उत्तम प्रतिदूषक (Antiseptic) है।

(१) मूत्रसस्थान के विकारों में इसकी जड का फांट दिया जाता है। बस्तिशोथ, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, सान्द्रमेह, रक्तमूत्र तथा अन्य विकारों में इससे अच्छा लाभ होता है। इन विकारों में इसे अधिक मात्रा में देते हैं। इसके साथ मुलेठी तथा गुडूची का प्रयोग अधिक उपयोगी है।

(२) कुपचन, उदरशूल, अतिसार, रक्तातिसार एवं ज्वरातीसार आदि विकारों में इसको अन्य सुगन्धि द्रव्यों के साथ देते हैं।

मात्रा—चूर्ण १ से ३ माशा।

प्रतिनिधि—

(१) **ले०**-*Stephania hernandifolia, walp.* (स्टिफेनिआ हर्नेण्डिफोलिआ, वाल्प)। **सं०**-राजपाठा। **बं०**-आकनादि, नेमुक।

यह भी देखने में पाठा के समान लता होती है किन्तु दोनों की पुष्पमजरिओं में अन्तर होता है। पाठा में बाह्यकोश के दल ४ (पु-पुष्प) और २ (स्त्री-पुष्प) एवं आभ्यतर दल ४ संयुक्त (पु पुष्प) और १ (स्त्री पुष्प) होते हैं। इसमें बाह्य कोश के दल ६-१० एव आभ्यतर दल ३ ५ होते हैं। इसमें पाठा की अपेक्षा पत्ते वडे (३ - ५" × २½ = ४") और शिराजाल कम सघन होता है। इसके फल वडे एव बीज मुडकर करीव-करीव गोल हो जाते हैं।

इसमें कुछ सॅपोनिन् (Saponin) होते हैं। इसकी जड का भी उपयोग पाठा की तरह अतिसार, कुपचन तथा मूत्रविकारों में किया जाता है। इसका सत्त्व मेढक के लिये अत्यन्त विषैला होता है।

(२) **ले०**-*Cyclea peltata* (साइक्लिआ पेल्टेटा)। **स०**-राजपाठा भेद। **म०**-पाडल, पाडावल। **गु०** कालीपाट।

यह लता आसाम तथा खासिया से पूर्व की तरफ एवं दक्षिण में कोंकण, मायेरोन, महाबलेश्वर तथा सिलोन तक पाई जाती है।

इसकी **शाखाएँ**-धारीदार एवं अल्प रोमश होती हैं। **पत्ते**-पतले, रोमश ३-६" × २-४" बडे एव १-२½" लबे पर्णवृन्त से युक्त रहते हैं। पर्णवृन्त पाठा की तरह ही फलक से पृष्ठ की ओर जुड़ा रहता है। **पुष्प**-बहुत छोटे, हरे रग के एव **फल** वृक्काकार तथा रोमश रहते हैं। इसी का एक और भेद सा बर्मेनी (C Burmanni) भी पाया जाता है।

लघुपाठा (सि. पॅरेरा) में बाह्य कोश के दल आपस में मिले नहीं रहते किन्तु इसमें ये मिले हुवे तथा संख्या में ४-८ होते हैं।

दक्षिण में पाठा नाम से इसका बहुत उपयोग किया जाता है। इसके पचाग का उपयोग होता है।

गुण और प्रयोग—यह रूक्षी, वातहर, स्वेदजनक एव मूत्रजनक है। छोटे बच्चों के उदर शूल, आँव, अतिसार एवं अर्श में इसकी जड पीस कर देते हैं। इसके साथ अतीस एवं करज देते हैं। पैत्तिक कुपचन में इसका स्वरस सोंठ के साथ देते हैं। प्रमेह में मट्ठे के साथ जड देते हैं।

मात्रा— मूल चूर्ण १-२ आने भर।

अथ श्वेता त्रिवृत् (निसोत श्वेत)। तस्या नामगुणानाह

श्वेता त्रिवृत्त्रिभण्डी स्यात् त्रिवृता त्रिपुटाऽपि च। सर्वानुभूतिः सरला निशोत्रा रेचनीति च॥१९३॥
श्वेता त्रिवृद्रेचनी स्यात्स्वादुरुष्णा समीरहृत्। रूक्षा पित्तज्वरश्लेष्मपित्तशोथोदरापहा॥१९४॥

सफेद निसोत के नाम तथा गुण—श्वेता त्रिवृत, त्रिभण्डी, त्रिवृता, त्रिपुटा, सर्वानुभूति, सरला, निशोत्रा और रेचनी ये सब नाम सफेद निसोत के हैं।

सफेद निसोत—रेचक, स्वादु, उष्णवीर्य, रूक्ष, वातनाशक एव पित्तज्वर, कफ, पित्त, शोथ और उदररोग को दूर करने वाली होती है॥ १९३-१९४॥

९९ निसोत

हि०-निसोत, निशोथ, पितोहरी। **बं०**-तेउडी, तिउरी, दूधकलमी। **म०**-निशोत्तर, तेंड, फुटकरी, शेतवड। **क०**-तिगडे। **ते०**-तेल्ल, तेगड। **ता०**-शिवदे, चिवदे। **गु०** नसोतर। **अ०**-तुर्बुद,। **अं०**-Turpeth root. (टरपेथ रूट), Indian Jalap (इण्डियन जालप)। **ले०**-*Operculina turpethum, Silva Manso* (आपेर्क्युलिना टर्पेथम्, सिल्वा मैन्सो) Syn. *Ipomoea turpethum* (आइपोमिआ टरपेथम्)। Fam. Convolvulaceae (कॉन्वॉल्व्युलेसी)।

निशोत इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में ३००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है। बगीचों में लगाई हुई भी मिलती है। लका, मलाया द्वीप एव ऑस्ट्रेलिया में भी यह अधिक होती है।

यह लता जाति की वनौषधि बारहो मास पाई जाती है परन्तु वर्षा ऋतु में विस्तार से फैली अधिक देखने में आती है। इसकी **काण्ड** तीन धार वाली होती है इसलिये इसको त्रिवृता कहते हैं। यह बहुत लबा, आरोही तथा ऐठा हुआ रहता है। पुराना होने पर यह कुछ कडा, भूरे रङ्ग का तथा मृदु रोमश हो जाता है। स्राव कुछ कुछ दुग्धसदृश होता है। **पत्ते**—नीचे के पत्ते चौडाई लिये हुए लट्वाकार, हृद्वत् प्रायः २-४ इञ्च लम्बे ½ से ३ इञ्च तक चौडे, लम्बाग्र तथा तीक्ष्णाग्र होते हैं। ऊपर के पत्ते प्रायः आयताकार, कुण्ठित रोमश अग्रयुक्त एवं सवृन्त (वृन्त ·७५-३ इञ्च लम्बे) होते हैं। **पुष्प**—घंटिकाकार सफेद तथा २-३ इञ्च लम्बे होते हैं। परागाशय (Anthers) जल्दी ही आपस में ऐठ जाते हैं। **फल**—½-¾ इंच बड़े तथा गोल होते हैं। फलत्वक् का बाहरी भाग जब फट जाता है तो भीतरी पारदर्शी रह जाता है जिसके अन्दर दो गह्वर और ४-१ भूरे एवं चिकने **बीज** होते हैं।

इसकी जड लम्बी, पतली, मांसल एव बहुत शाखायुक्त होती है। बाहर से भूरे या अरुणाभ भूरे रङ्ग के ½-२ इञ्च तक मोटे तथा एक तरफ फटे हुए टुकडे मिलते हैं। इस पर बाहर से गहरी धारियाँ होती हैं जिससे यह देखने में रस्सी की तरह दिखलाई देती है। इसका मध्य छाल में छोटा एव काष्ठ में रेशेदार होता है। इसमें साधारण गन्ध एव स्वाद में यह अरुचिकर होती है।

आयुर्वेद में दो प्रकार की त्रिवृत् का वर्णन किया गया है। एक अरुण (श्वेताभ) या दूसरी श्याम (काली) रङ्ग की। काली निशोथ अधिक तीव्र होने के कारण मूर्च्छा, दाह भ्रम आदि उपद्रव करती है। अधिक दोष होने पर तथा क्रूरकोष्ठवालों के लिए इसका उपयोग किया जा सकता है। अच्छी भूमि में उत्पन्न, गम्भीर, श्लक्ष्ण तथा सरल मूल को लेकर उसके भीतर का काष्ठ भाग निकाल दें और बाहरी त्वचा को सुखाकर रख लें। (च० क० अ० ७) बाजार में इसमें काण्डके टुकडे भी मिले रहते हैं जिनमें विरेचक गुण कम रहता है।

रासायनिक संगठन—इसकी जड में ५-१०% एक राल पाई जाती है जिसका कुछ भाग ईथर में घुलनशील रहता है जो दो प्रकार के अॅल्फा-टर्पेथीन (A-turpethein) एव बीटा-टर्पेथिन (B-turpethein) का निर्माण होता है। ईथर में अविलेय राल को टर्पेथिन (Turpethin) कहते हैं। राल के अतिरिक्त कुछ उड़नशील तैल, वसा द्रव्य, अलब्यूमिन, स्टार्च, पीत रङ्ग पदार्थ, लिगनिन् एवं लौहकान्त पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—निशोथ विरेचक, भेदनीय एवं अधोभागहर है। यह सुखविरेचनों में श्रेष्ठ मानी गई है। पाश्चात्य चिकित्सा में प्रयुक्त जालप (Jalap) की तरह ही इसके भी गुण हैं। इससे पतले एवं पीले रंग के दस्त होते हैं। पेट में मरोड न हो इसलिये इसके साथ सोंठ जैसे सुगन्धि पदार्थ तथा सैंधव का उपयोग किया जाता है। जालप की अपेक्षा यह अल्प एवं विलम्ब से कार्य करती है इसलिये इसकी अपेक्षा अधिक मात्रा में देना पडता है किन्तु इससे किसी प्रकार का दुष्परिणाम नहीं होता। इसका स्वाद एवं गन्ध भी हृल्लासकारक नहीं होती।

ज्वर, रक्तपित्त, अर्श, विसर्प, वातशोफ, कामला एवं राजयक्ष्मा आदि में इसका प्रयोग किया जाता है। वातरोग, विशेषतः आवातयुक्त या खिन्नवृत्ति रहने पर यह उपयोगी है। अर्श, उदर एवं गुल्म में इसकी शाक का उपयोग करते हैं।

मात्रा—३-५ माशा।

अथ श्यामा त्रिवृत् (काली निसोत)। तस्या नामानि गुणांश्चाह—

त्रिवृच्छ्यामाऽर्द्धचन्द्रा च पालिन्दी च सुषेणिका। मसूरविदला काली कैषिका कालमेषिका॥
श्यामा त्रिवृत्ततो हीनगुणा तीव्रविरेचिनी। मूर्च्छादाहमदभ्रान्तिकण्ठोत्कर्षणकारिणी॥१९६॥

'काली निसोत' के नाम तथा गुण—श्यामा, त्रिवृत्, अर्धचन्द्रा, पालिन्दी, सुषेणिका, मसूरविदला, काली, कैषिका और कालमेषिका ये सब 'काली निसोत' के नाम हैं। काली निसोत सफेद निसोत की अपेक्षा हीन गुणवाली तथा तीव्र रेचक होती है एवं मूर्च्छा, दाह, मद और भ्रान्ति को उत्पन्न करने वाली कण्ठ का उत्कर्षण करने वाली होती है॥ १९५-१९६॥

काली निसोत की बेल उक्त सफेद निसोत के समान होती है किन्तु फूल कालापन लिये बैंगनी रङ्ग के, पत्ते गोल नोकदार उक्त निसोत से छोटे होते हैं और फल भी उक्त निसोत से छोटे होते हैं। इसकी जड कालापन लिये हुए होती है।

अथ लघुदन्ती बृहद्दन्ती च (एरण्डवत्पत्रविटपा) तयोर्नामानि गुणाँश्चाह—

लघुदन्ती विशल्या च स्यादुदुम्बरपर्ण्यपि। तथैरण्डफला शीघ्रा श्येनघण्टा घुणप्रिया १९७
वाराहाङ्गी च कथिता निकुम्भश्च मकूलकः। द्रवन्ती शम्बरी चित्रा प्रत्यक्पर्ण्याखुपर्ण्यपि॥
उपचित्रा श्रुतश्रोणी न्यग्रोधी च तथा वृषा। दन्तीद्वयं सरं पाके रसे च कटु दीपनम्॥
गुदाङ्कुराश्मशूलार्शःकण्डूकुष्ठविदाहनुत्। तीक्ष्णोष्णं हन्ति पित्तास्रकफशोथोदरक्रिमीन्॥

छोटी दन्ती तथा बडी दन्ती के नाम और गुण—लघुदन्ती, विशल्या, उदुम्बरपर्णी, एरण्डफला शीघ्रा, श्येनघण्टा, घुणप्रिया, वाराहाङ्गी, निकुम्भ और मकूलक ये सब नाम **छोटी दन्ती** के हैं। द्रवन्ती, शम्बरी, चित्रा, प्रत्यक्पर्णी, आखुपर्णी, उपचित्रा, श्रुतश्रोणी, न्यग्रोधी और वृषा ये सब नाम **बड़ी दन्ती** के हैं। इनके पत्ते और शाखायें एरण्ड (रेंड) के तरह होती हैं। **दोनों प्रकार की दन्ती**—स्वाद तथा विपाक में कटुरस युक्त, सारक, अग्निदीपक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य एवं अर्श के मस्से, पथरी, शूल, रक्तविकार, कण्डू (खुजली), कुष्ठ, दाह, पित्तरक्त, कफ, शोथ, उदररोग और क्रिमि को नष्ट करने वाली होती है॥ १९७-२००॥

नोट—भावप्रकाशकार दन्ती के दो भेद लघुदन्ती एवं द्रवन्ती (बृहद्दन्ती) लिखते हैं। इनमें लघुदन्ती यह प्रसिद्ध है जिसे ले० में बॅलिओस्पर्मम् मोन्टेनम् कहते हैं। द्रवन्ती के सम्बन्ध में मतभेद है कुछ लोगों ने व्याघ्रैरण्ड (जेट्रोफा कर्कस्) को द्रवन्ती माना है। किन्तु इसकी जड में रेचक गुण न होने के कारण श्री यादवजी इसको स्वीकार नहीं करते। भावप्रकाशकार आगे 'क्षुद्रदन्तीफलं तु स्यान्मधुरं रसपाकयोः' एवं उसके आगे 'जयपालो दन्तिबीजं विख्यातं ·······' लिखते हैं। लघुदन्ती के बीज जयपाल नहीं हैं यह निश्चित है किन्तु इसका स्वतन्त्र वृक्ष होता है जिसे ले० मेकोटन् टिग्लिअम् कहते हैं। इसलिये 'जयपालो दन्तिबीजं विख्यातम्' में दन्ती का अर्थ बृहद्दन्ती (द्रवन्ती) किया जाय तो उपर्युक्त श्लोक का अर्थ ठीक हो जाता है। यदि

भावप्रकाशकार को यहाँ दन्ती से लघुदन्ती का तात्पर्य होता तो वह स्पष्ट लिखते क्योंकि पहले वह 'क्षुद्रदन्तीफल तु स्यान्मधुर.........' ऐसा क्षुद्रदन्तीफल के लिये स्पष्ट लिख चुके हैं। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यदि द्रवन्ती (वृहद्दन्ती) यह जयपाल वृक्ष को मान लिया जाय तो सब सन्देह दूर हो जाता है। श्री यादवजी का भी मत जयपाल वृक्ष को द्रवन्ती मानने की तरफ है। कुछ लोगों ने क्रोटन पॉलिएण्ड्रम् (Croton polyandrum) को द्रवन्ती माना है किन्तु वास्तव में यह केवल दन्ती (बॅलिओस्पर्मम् मोन्टेनम्) का पर्याय है न कि कोई अलग भेद। चरक में दन्ती का एक तीसरा भेद नागदन्ती आया है। इसे श्री डॉ० वा० ग० देसाई एवं श्री ठा० बलवन्त सिंह जी ने क्रोटन ऑब्लॉंगिफोलिआ माना है जो सर्वसम्मत है। यहाँ पर, द्रवन्ती (जयपाल वृक्ष) एवं नागदन्ती का अलग-अलग वर्णन किया गया है। जेट्रोफाकर्कस् (व्याघ्रैरण्ड) का वर्णन पहले पृष्ठ पर किया जा चुका है।

१०० दन्ती

हि०-दन्ती, छोटीदन्ती, ताम्बा। **म०**-दान्ती, लघुदन्ती, दांतरा। **ब०**-दन्ती, हाकुन। **ते०**-कोंदाआमादम्। **ता०**-नागदन्ती। **गु०**-दन्ती। **फा०**-दन्द, वेदञ्जीर खताई। **अ०**-हब्बुस्सला। **लै०**-*Baliospermum montanum*, (बॅलिओस्पर्मम् मोन्टेनम्), *Muell* (मुएल) Fam Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

छोटी दन्ती प्रायः सब प्रान्तों में पाई जाती है। विशेषकर काश्मीर से भूटान तक तथा आसाम और खासिया पहाड से चटगाँव तक एवं दक्षिण में कोंकण ट्रावनकोर तक जङ्गलों में उत्पन्न होती है। आर्द्र स्थानों में प्रायः अन्य वृक्षों आदि की छायादार जगहों में अधिक पाई जाती हैं।

यह **गुल्म**-जाति की वनस्पति ३ से ६ फीट तक ऊँची होती है। प्रायः जड से ही अधिक शाखाएं निकलती हैं। **पत्ते**-प्रायः अञ्जीर और गूलर के आकार के होते हैं, इस लिये इसको उदुम्बरपर्णी कहते हैं। लम्बाई, चौडाई में इसका आकार भिन्न भिन्न होता है। नीचे वाले पत्ते ६ से १२ इञ्च लम्बे अञ्जीर के पत्तों के समान कटे किनारे वाले ३ से ५ भागों में विभक्त तथा किञ्चित् नुकीले होते हैं और ऊपर वाले पत्ते गूलर के पत्तों के आकार वाले २-३ इञ्च लम्बे और मालाकार होते हैं। **फूल**-एकलिंगी, गुच्छाकार हरिताभ रंग के होते हैं। **फल** किंचित् रोमश, ३ खण्ड का एवं करीब ½ इञ्च लम्बा होता है। **बीज**-भूरा, बाह्यवृद्धि से युक्त तथा एरण्ड से छोटे होते हैं। इसकी जड एवं बीज औषधि के काम में आते हैं। **जड** अङ्गुली के बराबर मोटी, सीधी और कभी-कभी टूटी हुई होती है। जड की छाल भूरे रंग की खुरदरी एवं काष्ठ भाग श्वेत। पीताभ, मुलायम किन्तु चीमड रहता है। यद्यपि जमालगोटे को दन्तीबीज कहते हैं तथापि जमालगोटा उक्त दन्ती का बीज नहीं है।

संग्रहविधि—दन्ती तथा द्रवन्ती के हाथी दाँत के सदृश कठिन, स्थूल एवं श्याम ताम्र वर्ण के मूल को छोटी पीपल के चूर्ण एवं मधु का लेप करके कुशा के बीच में रख कर मिट्टी का लेप करके पुटपाक करे। फिर धूप में सुखा लें। इस प्रकार अग्नि एवं धूप से इसका विकाशी गुण नष्ट हो जाता है। (च० क० अ० १२)

रासायनिक संगठन—इसकी जड में राल एवं स्टार्च पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—दन्ती की जड, कटु, उष्ण, शोथघ्न, ज्वरघ्न, रेचन एवं कफपित्तनाशक है। इसका उपयोग, उदर, जलोदर, शोथ, कामला, यकृद्विकार, आध्मान, गुल्म, अर्श एवं ज्वर में किया जाता है। इसके बीज अत्यन्त तीव्र रेचन होते हैं। इसके बीजों का तैल तिक्त, कटु, कषाय एवं अधोभाग दोषहर है तथा कृमि, कुष्ठ, कफ, वात और दूष्योदर को दूर करने वाले दुष्टव्रण शोधक है।

(१) ज्वर में तक्र के साथ इसकी जड़ देने से यकृत् की क्रिया ठीक होकर शौच के द्वारा दूषित पित्त निकल जाता है।

(२) जलोदर, हृदयोदर, यकृदुदर, वृक्कविकृतिजन्य उदर आदि में इसकी जड का विरेचनार्थ प्रयोग करते हैं, कामला में भी विरेचन के लिये इसका उपयोग करते हैं।

(३) श्वास में इसके पत्तों का उपयोग किया जाता है।

(४) त्वचा के विकारों में इसका उपयोग किया जाता है।

(५) इसके बीज एवं तैल जमालगोटे की तरह तीव्र रेचक होते हैं।

प्रयोगविधि—इसको सौंफ आदि सुगन्धि पदार्थों के साथ क्वाथ के रूप में देना चाहिये। अधिक मात्रा में यह क्षोभ एवं मादक है जिसके निवारण के लिये मधुर-स्निग्ध पदार्थ, शर्बत तथा दूध आदि का उपयोग करना चाहिये।

मात्रा—१-३ माशा; बीज ½-१ र०।

अथ लघुदन्तीफलम्। तस्य गुणानाह—

क्षुद्रदन्तीफलं तु स्यान्मधुरं रसपाकयोः। शीतलं सृष्टविण्मूत्रं गरशोथकफापहम्॥ २०१॥

छोटी दन्ती के फल का गुण—छोटी दन्ता का फल—रस और पाक में मधुर रसयुक्त, शीतवीर्य, मल और मूत्र को निकालने वाला, विष, शोथ तथा कफ का नाशक होता है॥ २०१॥

अथ जयपालः (जमालगोटा)। तस्य नामानि गुणांश्चाह—

जयपालो दन्तिवीजं विख्यातं तिन्तिडीफलम्। जयपालो गुरुः स्निग्धो रेची पित्तकफापहः॥

जमालगोटा के नाम तथा गुण—जयपाल, दन्तिबीज, तिन्तिडीफल ये सब जमालगोटा के विख्यात नाम हैं। **जमालगोटा**—गुरु, स्निग्ध, रेचक एवं पित्त-कफ का नाशक होता है॥२०२॥

नोट—यहाँ दन्तिवीज का अर्थ बडीदन्ती (द्रवन्ती) का वीज उचित मालूम पडता है क्योंकि क्षुद्रदन्ती का बीज जयपाल नहीं है।

१०१ जमालगोटा (द्रवन्तीवीज)

हि०-जमालगोटा। **बं, म०**-जयपाल। **प०**-जपोलोटा। **गु०**-नेपालो। **ता०**-नेवलिम्। **ते०**-नेपालवेमु। **क०**-नेपाल, जापालवीज। तुख्मे वेदअञ्जीर, तुख्मे वेदजीरखताई। **अ०**-हब्बुस्सलातीन। **फा०**-तुख्मे बेदअञ्जीर खताई। **अं०**-Croton oil seed (क्रोटन आइल सीड)। **ले०**-*Croton tiglium* (क्रोटन् टिग्लिअम्)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह आसाम, वंगाल, ब्रह्मा तथा समस्त भारत में पाया जाता है। इसका वृक्ष छोटा होता है और वह बारहो मास हरा-भरा रहता है। इसकी शाखायें रोमयुक्त छोटी छोटी होती हैं। **पत्ते**-२-४ इंच लम्बे, चौडे अण्डाकार, चिकने किंचित् अनीदार, नोकीले, दन्तुर और ३-५ शिराओं से युक्त होते हैं। **फूल**-हरिताभ पीत रङ्ग के मजरी के रूप में आते हैं। **फल**-प्रायः १ इंच लम्बा, अण्डाकार और त्रिकोणयुक्त होते हैं। **बीज**-बादामी रङ्ग के होते हैं जिन्हें जयपाल (जमालगोटा) कहा जाता है। इसके बीज एवं बीज-तैल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

शोधन—आयुर्वेद में शोधन करके ही जमालगोटे का व्यवहार किया जाता है। जमालगोटे के छिलके एवं दो दलों के बीच के अकुर (जीभ) को निकाल, गोदुग्ध में ३ घण्टे तक स्वेदन करे। फिर शीतल होने पर गरम जल से धो, नींबू के रस में पीस, मिट्टी के कोरे तवे पर बिछा कर सुखा ले। इस प्रकार करने से यह शुद्ध हो जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में एक स्थिर तैल, टिग्लिनिक अम्ल (Tiglinic acid) क्रोटनिक या कार्टेनिलिक अम्ल (Crotonic or quartenylic acid) एवं क्रोटन तैल (Croton oil) रहता है। क्रोटन तैल में मुख्यभारी तत्त्व क्रोटोनोलिक अम्ल (Crotonolic acid) होता है। जिसके अतिरिक्त टिग्लिक अम्ल या मेथिल क्रोटानिक अम्ल (Tiglic acid or Methyl crotonic acid) क्रोटोनाल (Crotonol) जिसमें रेचनगुण नहीं होता किन्तु जो त्वचा के लिये प्रक्षोभक होता है, कुछ उडनशील तैल जिनके कारण इसमें गन्ध होती है एवं कुछ स्नेहाम्ल पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कटु, उष्ण, विरेचन, दीपन, कफ वातहर, कृमि एवं जलोदर नाशक है। वाह्य प्रयोग में यह प्रक्षोभक एवं विस्फोटजनक है। यह अत्यन्त तीव्र रेचन है। अधिक मात्रा में यह विष है। इसके तैल के एक बूँद प्रयोग से पचीसों पतले दस्त होते हैं तथा पेट में बहुत मरोड होता है। इससे आन्त्र की श्लेष्मकला में कुछ शोथ भी हो जाता है। यद्यपि इससे कृमि भी गिरते हैं तथापि कृमि के लिये इसका प्रयोग नहीं करते, रक्तगत जलीय अंश को जब जल्दी कम करना रहता है तब इसका उपयोग करते हैं।

(१) मस्तिष्कगत रक्तस्रावजन्य अर्धांग आदि में इसका प्रयोग करते हैं। इससे जलीय अंश कम होकर रक्तस्राव कम होता है तथा मस्तिष्कगत दवाव कम होता है। रोगी बेहोश हो तो तैल का एक बूंद मक्खन में मिलाकर जीभ पर लगा दें।

(२) हृदयोदर में भी जलीय अंश को कम करने के लिये इसका प्रयोग करते हैं, किन्तु कभी-कभी इसके प्रयोग के वाद दस्त वन्द नहीं होते।

(३) आमवात, सन्धिशोथ, वातविकार तथा तिलाओं के रूप में इसके तैल का वाह्य प्रयोग किया जाता है।

विषप्रभाव—इसकी अधिक मात्रा से दाह, मरोड, शूल, रक्तयुक्त दस्त, एवं दौर्वल्य आदि लक्षण होते हैं। इसके निवारण के लिये जल में कत्था घिसकर या नींबू का रस पिलावे।

मात्रा—बीज ¼-½ र०, तैल ½-१ बूंद मक्खन के साथ।

१०२ नागदन्ती

नागदन्ती कटुस्तिक्ता रूक्षा वातकफापहा। मेधाकृद्विषदोषघ्नी पाचनी शोथनाशिनी॥
गुल्मशूलोदरव्याधिकुष्ठदोषनिकृन्तनी॥ (रा० नि०)

सं०-हस्तिदन्ती (च० सू० अ० १), नागदन्ती (च० वि० अ० ८)। **हि०**-हकूम, पुतेर, पुतरी, चुक। **म०**-घणसर। **बं०**-दरागाच्छ। **ने०**-अच। **ते०**-मुनन् कुसुम। **लै०**-*Croton oblongifolius, Roxb* (क्रोटन् ऑव्लॉंगिफोलिअम्, राक्स)।

यह प्रायः समस्त भारत में विशेषकर दक्षिण कोंकण, लंका, वंगाल, विहार एवं वर्मा में होता है। इसका **वृक्ष**-छोटे आकार का तथा दूर से देखने पर आम की तरह दिखलाई देता है। **मूलस्तम्भ**—सीधा एवं छाल चिकनी तथा राख के रङ्ग की होती है। **पत्ते**—६-१२ इञ्च लम्बे, सवृन्त, चिमडे, एकान्तर तथा शाखाओं पर समूहबद्ध, दन्तुर, आयताकार या अण्डाकार तथा चिकने होते हैं। **पुष्प**-एकलिङ्ग, हलके हरे रङ्ग के ५-१२ इञ्च लम्बी मंजरियों में आते हैं। **फल**-गोल, मांसल, ४५ इञ्च वडे एवं ६ धारियों से युक्त होते हैं। **बीज**-चिकने और भूरे रंग के होते हैं। **मूल**-ऐंठी हुई एवं कुछ चिपटी होती है। इसकी छाल मोटी, खुरदरी, भूरे रङ्ग की एवं अन्दर से पीली एवं उस पर कुछ भूरे रङ्ग के धब्बे होते हैं। मूलत्वक् का स्वाद कपूर की तरह तीता एवं सुगन्धयुक्त होता है। इसकी मूलत्वक्, पत्र एवं बीजों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

गुण और उपयोग—इसकी मूलत्वक् शोथघ्न, ज्वरघ्न, रेचक, शिरोविरेचक एवं विषनाशक है।

(१) तीव्र शोथयुक्त आभ्यन्तर विकार (Acute inflammatory conditions) जैसे—न्युमोनिया, फुफ्फुसावरण शोथ, अण्डशोथ, यकृत् शोथ, फोडा तथा गलका आदि अवस्थाओं में इसको निर्गुण्डी तथा करञ्ज के साथ देने से लाभ होता है। इनमें इसका वाह्य लेप भी करते हैं। इसकी अधिक मात्रा से सिवाय विरेचन के कोई अन्य तीव्र परिणाम नहीं होता एवं विरेचन से लाभ ही रहता है।

(२) ज्वर में नवसादर के साथ इसका उपयोग करते हैं। इससे यकृत् की क्रिया ठीक होकर पित्त की शुद्धि होती है एवं दूषित पित्त शौच द्वारा निकल जाता है तथा यकृतदाह कम होती है। यकृत के शोथ में यह बहुत ही उत्तम औषध है।

(३) सर्पविष में इसको १ से २ तोला की मात्रा में हर दो घण्टे पर देते हैं। कोंकण में इसका बहुत प्रचार है।

मात्रा—½-१ तोला सुगन्धि द्रव्यों के साथ।

अथेन्द्रवारुणी महेन्द्रवारुणी च। (इन्द्रायण–बड़ी इन्द्रायण)। तयोर्नामगुणानाह—

ऐन्द्रीन्द्रवारुणी चित्रा गवाक्षी च गवादनी। वारुणी च पराऽप्युक्ता सा विशाला महाफला॥२०३॥
श्वेतपुष्पा मृगाक्षी च मृगैर्वारुर्मृगादनी। गवादनीद्वयं तिक्तं पाके कटु सरं लघु॥२०४॥
वीर्योष्णं कामलापित्तकफप्लीहोदरापहम्॥ २०५॥
श्वासकासापहं कुष्ठगुल्मग्रन्थिव्रणप्रणुत्। प्रमेहमूढगर्भामगण्डामयविषापहम्॥ २०६॥

'इन्द्रायण' तथा 'बडी इन्द्रायण' के नाम और गुण—ऐन्द्री, इन्द्रवारुणी, चित्रा, गवाक्षी, गवादनी और वारुणी ये सब नाम 'इन्द्रायण' के हैं। दूसरी जो 'बडी इन्द्रायण' है, उसके नाम—विशाला, महाफला, श्वेतपुष्पा, मृगाक्षी, मृगैर्वारु और मृगादनी ये सब हैं। **इन्द्रायण-बड़ी इन्द्रायण ये दोनों**—स्वाद में तिक्त रस और विपाक में कटु रसयुक्त, सारक, लघु, उष्ण-वीर्य एवम् कामला, पित्त, कफ, प्लीहा, उदररोग, श्वास, कास, कुष्ठ, गुल्म, ग्रन्थि, व्रण, प्रमेह, मूढगर्भ, आमदोष, गण्डरोग (गलगण्ड, गण्डमाला आदि) तथा विष को दूर करने वाली होती हैं॥

नोट—उपर्युक्त इन्द्रवारुणी एवं विशाला के अतिरिक्त इन्द्रवारुणी का एक अन्य भी भेद पाया जाता है। ध. नि. ने भी ३ भेद लिखे हैं।

१०३ इन्द्रायण

हि०-इनारुन, इन्द्रायण, इन्द्रायन, इन्दारुन। **बं०**-राखालशा। **म०**-इन्द्रावण, कडुवृंदावन, कडु इन्द्रायण। **मा०**-तूसणवेल, तूसतूंबा, तूस। **गु०**-इन्दरवरणा, इन्द्रावणा। **क०**-हामेके, हावुमेक्के कायि। **ते०**-एतिपुच्छा, एटिपुचा, पुस्तकाय, पापर, एटि पुच्चकायि। **ता०**-पेयक्कूमुट्टी, पेदिकारि। **कौड**, तुम्त्री, घोरूम्बा, तुम्बा। **फा०**-खुरबुज एतलख, हिन्दवानहे तल्ख। **अ०**-इब्जल, अलकम। **अं०**-Colocynth (कोलोसिंथ)। **ले०**-*Citrullus colocynthis* (सिट्रुलस् कोलोसिन्थिस्) Fm. Cucurbitacae (कुकुर्बिटेसी)।

यह बङ्गाल, विहार, मध्यप्रदेश, पश्चिमोत्तर प्रदेश, मध्य और दक्षिण भारत तथा राजपूताना आदि अनेक प्रान्तों में पाई जाती है। रेतीली भूमि में अधिक उत्पन्न होती है तथा गङ्गा, यमुना सोन, सरयू आदि नदियों के किनारे में बाहुल्य से देखने में आती है। जहाँ यह अधिक रहती है वहाँ दूसरे अन्न की उत्पत्ति अधिक परिमाण में नहीं होती। इस कारण किसान लोग इसको समूल नष्ट करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं तो भी यह कहीं २ उगाही करती है। इस देश में कहीं २ इसकी खेती भी की जाती है, किन्तु अधिकांश ये आप ही आप उत्पन्न हुआ करती है। यह एशिया एवं अफ्रीका के उष्ण प्रदेशों में भी पाई जाती है।

यह **लता** जाति की वनस्पति वर्षजीवी अर्थात् प्रतिवर्ष उत्पन्न होने वाली होती है। वर्षा ऋतु के सिवा सब ऋतुओं में मिलती है। वर्षा ऋतु में नदियों की बाढ़ के कारण रेतीली भूमि के पानी में डूबने से इसकी लता नष्ट हो जाती है, किन्तु जड सजीव रहती है और वही वर्षान्त के बाद अंकुरित होकर लता रूप में बढ करके वसन्त ऋतु तथा गरमी के दिनों में फूल, फल देती है। जिस भूमि में वर्षा का पानी इकट्ठा नहीं होता अथवा जहाँ नदियों की बाढ नहीं आती, वहाँ ऊँची भूमि वाली लता नष्ट नहीं होती, वल्कि वर्षा ऋतु में भी फूल फल देती रहती है। फलों का सग्रह करना गरमी में ही अच्छा होता है, क्योंकि इसके फल कडी धूप के कारण खूब सूख जाते हैं और बिगडने नहीं पाते तथा बरसात में सग्रह किये हुए फल प्रायः सड़-गल कर खराब हो जाते हैं। इसकी **लता** बहुधा भूमि पर फैली एव स्पर्श में अत्यन्त कर्कश होती है। इसके सूत्र (Tendrils) निःशाख या द्विशाख होते हैं। **पत्ते**-विषमवर्त्ती २-३॥ इन्च के घेरे में लम्बे-चौडे, ऊपर से हलके हरे एवं नीचे से धूसर रग के, स्पर्श में कर्कश, अनियमित कटे किनारे वाले तथा तरबूज के पत्तों के आकार वाले त्रिकोणाकार होते हैं। खेतों में रोपण की हुई इन्द्रायण के पत्ते बड़े एव तरबूज के पत्तों के बराबर दिखाई पडते हैं। **फूल**-पाँच पखडी वाले हलके पीले

रङ्ग के तथा व्यास में ·५-·७ इंच होते हैं। फल-२-२॥ इंच के घेरे में गोलाकार, कच्ची अवस्था में हरे रंग के और पकने पर सन्तरे के समान पीले रंग के सफेद धारीदार एवं चिकने होते हैं। फलों के भीतर किंचित् पीलापनयुक्त सफेद रङ्ग की सूखी हुई सुषिर एवं अत्यन्त कटवी गूदी होती है और गूदी के बीच छोटे छोटे ⅛-⅙ इंच बड़े, चिपटे तरबूज के बीज के आकार वाले हलके भूरे रङ्ग के **बीज**-होते हैं। फल का **छिलका**-कोमल होता है। मूल एवं बीज विरहित फल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। पाश्चात्य चिकित्सा में केवल अपक्व फल की सुखाई हुई मज्जा का व्यवहार करते हैं। इसके सभी अङ्ग कडवे होते हैं तथा इसकी सूखी गर्द नाक एवं आँखों में जाने से अत्यन्त प्रक्षोभ करती है।

रासायनिक संगठन—इसकी **फलमज्जा** में एक कडुवा विरेचक क्षाराभ, विरेचक राल एवं अल्प मात्रा में ग्लाइकोसाइट पाया जाता है। ये सभी अनियत रूप (Amorplous) होते हैं। इनके अतिरिक्त अॅल्का-एलॅटेरिन (a-elaterin) आदि अन्य द्रव्य जो होते हैं उनका कोई विशिष्ट प्रभाव नहीं होता। छिलका निकाले फल में बीजों की मात्रा ७५% होती है। बीजों में १५% तैल, अत्यल्प मात्रा में एक क्षाराभ, एक किण्व (Enzyme) एवं फाइटोस्टॅरॉल् (Phytosterol) द्रव्य होते हैं।

इसके **मूल** में अॅल्फा एलॅटेरिन् (a-elaterin), सॅपोनिन् (Saponin) तथा कुछ राल पाई जाती है।

गुण और प्रयोग—इसकी फलमज्जा अत्यन्त कडवी एवं तीव्र विरेचक है। इसकी १–२ रत्ती की मात्रा से २, ३ घंटे में पानी जैसे पतले दस्त होते हैं। इससे यद्यपि मूत्र की मात्रा भी बढती है तथापि इस कार्य के लिये इसका प्रयोग नहीं करते क्योंकि इससे बहुत मरोड होता है। इसका अल्पमात्रा में शोषण होकर मूत्र एवं दुग्ध द्वारा उत्सर्ग होता है। इसकी अधिक मात्रा से विषैला परिणाम होकर मृत्यु होती है। इसकी विषैली मात्रा ०·६–१ ग्राम (४–८ रत्ती) एवं घातक मात्रा ४ ग्राम (३० रत्ती) है। एक स्त्री ने गर्भपात के लिए ६० रत्ती की मात्रा खाई किन्तु ५० घंटे में उसकी मृत्यु हुई।

इसकी जड विरेचक एवं शोथहर है। बीजों में विरेचक गुण नहीं है।

(१) कफप्रधान रोगों में इसका प्रयोग करते हैं। इससे स्रोतोवरोध दूर होता है। आमवात, सन्धिशोथ, जलोदर, कामला, यकृद्दाल्युदर, प्लीहोदर तथा तीव्र विबन्ध में इसकी जड़ का चूर्ण सोंठ एवं गुड के साथ देते हैं। पाश्चात्य चिकित्सा में प्रयुक्त एक्स्ट्रॅक्टम् कोलोसिन्थिडिस् कम्पोजिटम् (Extractum Colocynthidis Compositum) का भी व्यवहार किया जा सकता है। अनार्तव में मूल का उपयोग करते हैं।

(२) इसकी जड को नूतन शोथ पर लेप करते हैं। स्तनशोथ तथा बच्चों के उदर आदि पर इसको जल में घिस कर लगाते हैं।

(३) इसके बीजों के तैल का उपयोग बाल काले रहने के लिये करते हैं।

विष चिकित्सा—कषाय द्रव्य (Dil Tannic acid solution) से आमाशय प्रक्षालन के पश्चात् दुग्ध पिलाना चाहिये।

मात्रा—फलचूर्ण १–२½ रत्ती; मूलचूर्ण १–३ माशा।

१०४ इन्द्रायण भेद

हि०-माकुरा। **म०**-विसलबी। **बं०**-गोमुक। **गु०**-कोठिंबन। **पं०**-कचरी। **ले०**-*Cucumis trigonus, roxb.* (कुकुमिस् ट्राइगोनस, राक्स)। F. M. Cucurbtaceae (कुकुर्बिटेसी)।

यह भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में खुली हुई शुष्क जगहों में कहीं न कहीं पायी जाती है।

यह लता जातिकी वनौषधि प्रसरणशील एवं स्पर्श में कर्कश होती है। इसमें तंतु (Tendrils) निःशाख होते हैं। यद्यपि इसके लता पत्र नष्ट हो जाते हैं परन्तु इसकी जड भूमि के भीतर जीवित रहती है। समय आने पर उसी जड में से अंकुर निकल कर लता रूप में परिणत

होता है। **पत्ते**-स्पर्श में कर्कश, १-२ इञ्च लम्बे तथा चौड़े (कभी-कभी और बड़े), गोलाकार किन्तु पांच से सात भागों में विभक्त रहते हैं और प्रत्येक भाग किंचित् लम्बाई युक्त गोलाकार, अग्र पर गोल और कुछ दंतुर सा होता है। **पुष्प**-पीले रंग के और व्यास में ½ इञ्च बड़े होते हैं। पुरुष जाति के फूल गुच्छों में और स्त्री जाति के फूल एक-एक करके आते हैं। **फल**-चिकने तरबूज के आकारवाले गोलाकार, किंचित् त्रिकोणाकार १॥ इञ्च लम्बे और १। इञ्च मोटे तथा १० हरी रेखाओं से युक्त होते हैं। पकने पर ये रेखाएं हलके पीले रंग की हो जाती हैं। इसकी मज्जा कडुवी होती है। **बीज**-श्वेत एवं दीर्घ वृत्ताभ होते हैं।

यह इस देश के आर्द्र जङ्गलों में तथा बङ्गाल, बिहार, संयुक्तप्रान्त आदि प्रदेशों में ५००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है। इस प्रजाति (Genus) के विभिन्न जंगली एवं रोपित जातियों तथा भेदों के नामों के संबन्ध में पर्याप्त मतभिन्नता पाई जाती है।

रासायनिक संगठन—इसके फल में कोलोसिन्थिन (Colocynthin) या तत्सम पदार्थ पाया जाता है। बीजों से निकाला तेल जलाने के काम आता है।

गुण और प्रयोग—इन्द्रायण के स्थान पर इसका उपयोग किया जाता है। इसकी मज्जा कडुवी तथा तीव्र विरेचक होती है। इसके मूल का क्वाथ सौम्य विरेचक होता है। इसके बीज शीतल, ग्राही तथा पित्त विकार में उपयोगी होते हैं।

१०५ विशाला (महाकाल, इन्द्रायण भेद)

सं०-विशाला, महाकाल। **हि०**-लाल इन्द्रायण, महुरार, महर। **म०**-कौंडल, काकतोंडि, कवंडल। **गु०**-राता इन्द्रायणा। **बं**-माकाल। **ता०**-कुरट्टै। **ते०**-अव्वरगुद्द। **क०**-कालेमंदलि। **अ०**-हंजले-अहमर। **फा०**-हजले सुर्ख। **लै०**-*Trichosanthes palmata, roxb.* (ट्राइकोसॅन्थिस् पामेटा, राक्स)। F. M. Cucurbitaceae (कुकुर्बिटेसी)।

इसकी विशाल आरोही **लता** झाडियों पर फैली हुई अथवा ऊँचे वृक्षों पर चढी हुई पाई जाती है। शाखाएं लम्बी तथा नीचे की ओर लटकी हुई रहती हैं। सूत्र (Tendrils) २-५ शाखाओं वाले होते हैं। **पत्ते**-२½-६ इञ्च लम्बे तथा उतने ही चौड़े। **छाल**-दन्तुर, प्रायः पाणिवत् खण्डित, खण्ड ३-५ एवं प्रायः अधर तल पर फैली हुई गोल ग्रन्थियों से युक्त होती है। **पुष्प**-श्वेत एवं व्यास में २½-३ इञ्च होते हैं। **फल**-१½-२ इञ्च व्यास के गोल या दीर्घ वृत्ताभ; पकने पर लाल रंग के एवं १० नारंगी रंग की पतली धारियों से युक्त होता है। फल का छिलका मोटा होता है एवं मज्जा कृष्णाभ हरित होती है। **बीज**-दीर्घ वृत्ताभ एवं चिकने होते हैं।

इसकी जड़ एवं मूल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक ट्राइकोसॅन्थिन (Trichosanthin) नामक कडवा द्रव्य पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी फलत्वक् वामक किन्तु अल्प मात्रा में कफनिःसारक है। मज्जा भेदन है। मूल श्वयथुहर एवं ज्वरहर है। यद्यपि जंगली जाति के फल तीव्र विरेचक होते हैं किन्तु रोपित विशाला के फल पकाकर खाने योग्य हो जाते हैं।

तमक श्वास, डिफ्थीरिया एवं गले के शोथयुक्त विकार तथा श्वासनलिका-शोथ में कफ चिपचिपा हो कर श्वासावरोध होता है तब इसके फलत्वक् या मूलकी छाल को थोडासा चिलम में रख कर धूम्रपान कराते हैं जिससे वमन हो कर कफ निकलने लगता है। कभी-कभी रक्त भी गिरता है। इससे श्वासावरोध कम होता है एवं गले की सूजन भी कम होती है। फुफ्फुस-शोथ में मूलत्वक् का क्वाथ देने से ज्वर एवं श्वासावरोध कम होता है।

व्रणशोथ पर इसकी जड घिस कर लगाते हैं। स्तनशोथ, गलका, कार्बंकल आदि फोडे पर इन्द्रायण की जड के साथ इसकी जड को शीतल जल में घिस कर मोटा लेप करते हैं। इसके फल से सिद्ध गरी का तेल कर्णस्राव में डालते हैं तथा शिर:शूल एवं प्रतिश्याय में प्रयोग करते हैं।

मात्रा—फलत्वक् ½-१ र० दिन में ३ वार।

अथ नीली [नील] । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

नीली तु नीलिनी तूणी काला दोला च नीलिका। रञ्जनी श्रीफली तुच्छा ग्रामीणा मधुपर्णिका॥
क्लीतका कालकेशी च नीलपुष्पा च सा स्मृता। नीलिनी रेचनी तिक्ता केश्या मोहभ्रमापहा॥
उष्णा हन्त्युदरप्लीहवातरक्तकफानिलान्। आमवातमुदावर्त्तं मदं च विषमुद्धतम्॥ २०९॥

'नील' के नाम तथा गुण—नीली, नीलिनी, तूणी, काला, दोला, नीलिका, रञ्जनी, श्रीफली, तुच्छा, ग्रामीणा, मधुपर्णिका, क्लीतका, कालकेशी और नीलपुष्पा ये सब नाम 'नील' के हैं। नील-तिक्त रसयुक्त, रेचक, बालों के लिये हितकर, उष्णवीर्य, एवम् मोह, भ्रम, उदररोग, प्लीहा, वातरक्त, कफ, वायु, आमवात, उदावर्त्त, मदरोग और उग्र विष को दूर करने वाला होता है॥

१०६ नील

हि०-नीली, नीली वृक्ष, लील। **म०**-गुली, नीळ। **बं०**-नील। **मा०**-लील। **गु०**-गली। **क०**-नीली। **ता०**-अवरि। **तै०**-निलि चेट्टु, अविरि। **फा०**-नील, नीलज, हिमामजनुन। **अ०**-नीलज, वस्मा। **अं०**-Indigo (इण्डीगो)। **ले०**-*Indigofera tinctoria Lin.* (इण्डीगोफेरा टिङ्क्टोरीआ, लिन)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

पहले इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में नील रङ्ग के लिये नीलहे साहेब लोग इसकी खेती करते थे। किन्तु इस समय कृत्रिम नील रङ्ग के आने से इसकी खेती प्रायः नष्ट ही हो गयी है।

इसका क्षुप-४ से ६ फीट तक ऊँचा होता है। **शाखाएं**-पतली, दुर्बल, कोणदार, अल्परोमयुक्त एव फैली हुई होती हैं। **पत्ते**-असम पक्षवत् सयुक्त पत्र होते हैं। **पत्रक**-३-६ जोडे, शरपुखा के समान, अंडाकार या अंडाकार लट्वाकार, ५ ६ इञ्च लबे, पतले तथा कालापन लिये हुए हरे रग के होते हैं। तोडने से इसके पत्ते सीधे टूटते हैं। **पुष्प**-पतली पत्रकोणज मजरियों में हलके नीलाभ गुलाबी रग के आते हैं। **फलियाँ** पतली एक इञ्च तक लबी होती हैं, जिनमें ८ से १२ तक बीज होते हैं। इसकी कई अन्य जातियाँ होती हैं। इसकी जड, पत्र, बीज तथा नील रग का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पौधों को सडा करके एक इण्डिकन (Indican) नामक ग्लूकोसाईड प्राप्त किया जाता है। इसके पौधे से ५०% तक नील प्राप्त किया जाता है।

गुण और प्रयोग—नील रग का बाह्यलेप दाहशामक, व्रणरोपण, त्वग्दोषहर, केशवर्धक एव केशरजक हैं।

यह विषघ्न, यकृदुत्तेजक, शामक, विरेचन, अल्प मूत्रजनन, कामकर एवं कृमिघ्न है। अधिक मात्रा से पतले दस्त होते हैं। किन्तु अल्प मात्रा में इससे शौच साफ होता है। अन्य गुण गौण हैं। इसकी जड में भी यही गुण कम मात्रा में पाये जाते हैं। पत्तों में जड़ की अपेक्षा और कम गुण होता है।

(१) यकृत एव प्लीहा वृद्धि तथा जलोदर में मूल का घन देते हैं। अर्श में इसके साथ-साथ नील तथा पत्तों का लेप भी करते हैं। इसका उपयोग कुकास तथा न्युमोनिया में भी होता है।

(२) अपस्मार तथा लघु वातविकारों में नील देते हैं।

(३) पागल कुत्ता काटने पर इसका स्वरस २ औंस की मात्रा में पिलाते हैं तथा दशस्थान पर पत्तों का लेप करते हैं। इतनी अधिक मात्रा से कुछ शिरःशूल तथा विरेचन होते हैं। यह सखिया के विष में भी उपयोगी है।

(४) त्वचा के विकार में नील का बहुत अधिक प्रयोग कराते हैं। दग्धव्रण एव जीर्णव्रण आदि में इसका लेप करने से व्रण जल्दी अच्छे होते हैं। खिजावों में पत्तों का उपयोग किया जाता है। विषैले जन्तुओं के काटने पर इसका लेप उपयोगी है।

मात्रा—नील ½-र०; मूल का घन १-२ र०; क्वाथ ५-१० तो०।

अथ शरपुङ्खः [सरफोंका] । तस्य नामलक्षणगुणानाह

शरपुङ्खः प्लीहशत्रुर्नीलीवृक्षाकृतिश्च सः । शरपुङ्खो यकृत्प्लीहगुल्मव्रणविषापहः ।
तिक्तः कषायः कासास्रश्वासज्वरहरो लघुः ॥ २१० ॥

सरफोंका के नाम तथा गुण-शरपुंख, प्लीहशत्रु और नीलीवृक्षाकृति (लीलवृक्ष के समान आकारवाला) ये सब नाम 'सरफोंका' के हैं । **सरफोंका**-तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, लघु एवम्-यकृत् , प्लीहा, गुल्म, व्रण, विष, कास, रक्तविकार, श्वास और ज्वर को दूर करता है ॥ २१० ॥

१०७ सरफोंका ।

हि०-सरफोंका, सरफोका । **बं०**-बननील । **म०**-उन्हाली । **गु०**-शरपंखो । **तै०**-तेल्ल वेंपलि, मुलु बेम्पली । **क०**-फकी । **पं**-झोजरु । **ता०**-काटकोरिनिल् । **ले०**-*Tephrosia purpurea, Linn.* (टेफ्रोसिया पर्पुरिया, लिन) Fam Leguminosae (लेग्युमिनोसी) ।

सरफोंका-क्षुपजाति की वनस्पति प्रायः सब प्रान्तों में आपही आप उत्पन्न होती है । यह हिमालय में ६००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है । इसका क्षुप-लगभग २-२॥ फीट ऊँचा, झाडदार, सीधा एवं बहुत शाखाओं से युक्त होता है । काड चिकने या किंचित् रोमश होते हैं । **पत्ते**-३-६ इञ्च लंबे होते हैं । **पत्रक**-संख्या में १३-२१, ¾-१ इञ्च लबे, नील या मेथी के पत्तों के समान आयताकार, नताग्र या रोमशाग्र एव ऊपर से चिकने किन्तु नीचे से अस्पष्ट मृदु रोमश होते हैं । पत्रक को तोडने से वह वाण के पुख के आकार के समान टूटता है इसलिये इसे शरपुखा कहा जाता है । **फूल**-¼ इञ्च लंबे; सवृन्त, लाल या जामुनी एव ५ इञ्च लम्बी मजरियों में निकले रहते हैं । **फली**-१½-२ इञ्च लंबी, अल्प मुड़ी हुई, ६-१० वीजों से युक्त एवं अन्ततः चिकनी होती है । यह बरसात में अधिक होता है ।

इसकी जड एवं पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है ।

नोट—इसका एक अन्य भेद श्वेत शरपुखा का भी उल्लेख है जो रसायन आदि में उपयोगी होती है । T. villosa (टे० विलोसा) नामक एक भेद पाया जाता है जिसका क्षुप छोटा, जमीन पर फैला हुआ एवं श्वेतरोम से आवृत रहता है । सभवतः यही शास्त्रीय श्वेत शरपुंखा है ।

रासायनिक संगठन—इसकी जड में टेफ्रोसिन् (Tephrosin), डेग्युलिन् (Deguelin), आइसो टेफ्रोसिन् (Isotephrosin), रोटेनॉन् (Rotenone) आदि द्रव्य पाये जाते हैं । पत्तों में करीब २% एक ओसिरिटिन् (Osyritin) नामक ग्लूकोसाइड होता है । पंचांग में करीब ६% राख निकलता है । जिसमें थोडी मात्रा में मैंगनीज रहता है ।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, कडुवा, आनुलोमिक, पित्तसारक, मूत्रजनक, कफघ्न, विषहर, बल्य, कृमिघ्न एव रक्तशोधन है । इसकी जडका उपयोग आध्मान, कुपचन, जीर्ण अतिसार, कास, पैत्तिक ज्वर, यकृत-प्लीहवृद्धि एवं रक्तस्राव में किया जाता है ।

(१) यकृत् एवं प्लीहावृद्धि में इसकी जड़ को हरीतकी के साथ देने से अच्छा लाभ होता है । गुल्म में पचांग का क्षार ४ माशे हरीतकी के साथ देते हैं । अर्श में तक्र के साथ जड को देते हैं । रक्तस्राव में तण्डुलांबु के साथ इसको देते हैं ।

(२) कास में मूल का धूम्रपान कराया जाता है ।

(३) उदरशूल में जड की ताजी छाल मिरिच के साथ पीसकर गोली बनाकर देते हैं ।

(४) खुजली में बीजों का लेप या बीजतैल का लेप उपयोगी है । गंटमाला में मूल का लेप किया जाता है ।

मात्रा—मूलचूर्ण ३-६ माशा; स्वरस १-२ तोला; क्षार १-२ माशा ।

अथ वृद्धदारुकः (विधारा) । तस्य नामगुणानाह—

[[1] वृद्धदारुक आवेगी छागान्त्री वृष्यगन्धिका । वृद्धदारुः कषायोष्णः कटुस्तिक्तो रसायनः॥१॥

१. अयं कोष्ठस्थः पाठः क्वचित्कस्तथाऽप्युपयोगित्वादत्रोल्लिखितः ।

वृष्यो वातामवातार्शःशोथमेहकफप्रणुत् । शुक्रायुर्बलमेधाऽग्निस्वरकान्तिकरः सरः ॥ २ ॥]

'विधारा' के नाम तथा गुण—वृद्धदारुक, आवेगी, छागान्त्री और वृष्यगन्धिका ये नाम 'विधारा' के हैं। **विधारा**-कषाय, कटु तथा तिक्त रसयुक्त, रसायन, वृष्य (वीर्यवर्धक), सारक, उष्णवीर्य तथा शुक्र, आयु, बल, मेधाशक्ति, जठराग्नि, स्वर और कान्ति को उत्पन्न करने वाला, एवम् वायु, आमवात, अर्श, शोथ, प्रमेह तथा कफ का नाशक है ॥ १-२ ॥

विधारा भी एक संदिग्ध द्रव्य है। कुछ विद्वान् घावपत्ता को विधारा मानते हैं। ठा० बलवन्तसिंहजी के मत से आइपोमिया पेटलॉएडिआ (Ipomoea petaloidea, Chois.) या कम से कम इसी कुल की कोई लता विधारा हो सकती है। श्री डा० देसाई ने आइपोमिआ बाइलोबा (Ipomoea biloba, Forsk.) की जड को वृद्धदारक माना है। अष्टांगसंग्रह की टीका में इसका परिचय इस प्रकार है।

त्रिकोणकाण्डा सुबहुप्रताना फलेषु पीता कुसुमेषु रक्ता।
पत्रैः सदुग्धैः मृदुरोमवद्भिस्ताम्बूलतुल्यैर्घनमूलकन्दैः ॥

उपर्युक्त वर्णन से यह निश्चित ही मालूम होता है कि विधारा अवश्य ही त्रिवृत् कुल की ही लता है। यहाँ पर उपर्युक्त तीनों का सक्षेप में वर्णन किया गया है।

१०८ वृद्धदारक (घावपत्ता)

सं०-वृद्धदारु। **हि०**-समुद्रशोख, घावपता, विधारा। **म०**-समुद्रशोक। **गु०**-समुदरशोष, वरधारो। **बं०**-बिजताडक, बिद्धताडक। **ते०**-समुद्रपाल। **ता०**-समुद्रपच्चै। **अं०** Elephant Creeper)। **ले०**-*Argyreia speciosa, sweet.* (आर्जीरिआ स्पेशिओझा, स्वीट)। Fam Convolvulaceae (कन्वोल्व्युलेसी)।

यह पश्चिमी शुष्क प्रदेशों को छोड़कर भारतवर्ष के सब भागों में १००० फीट की ऊचाई तक पाई जाती है।

इसकी **लता**-वृक्षों पर फैली हुई बडी लता होती है। नवीन शाखाओं पर श्वेताभ या तूल रोमश सघन आवरण रहता है। **पत्ते**-लट्वाकार, हृद्वत्, व्यास में ६-१२ इञ्च, कुण्ठित या तीक्ष्णाग्र, ऊपरी पृष्ठ पर चिकने, अधः पृष्ठ पर मखमली श्वेताभ रोमावरण से युक्त एव ३-९ इञ्च लम्बे पर्ण वृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**-घटाकृति, २-३ इञ्च बडे, बाहर से सफेद और तूल रोमश एव भीतर से गहरे गुलाबी या जामुनी रग के होते हैं। **फल**-लम्बगोल, ½ इञ्च बड़े, कच्ची अवस्था में हलके हरिताभ तथा पकने पर पीताभ भूरे रंग के होते हैं। **बीज**-भूरापन लिये सफेद रंग के तथा ३ धार वाले होते हैं।

इसके काण्ड के टुकडे एव जड का विधारा नाम से प्रयोग होता है। इसके पत्तों का एव नई लता की जड का भी चिकित्सा में व्यवहार होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड को ३-६ माशा देने से दस्त साफ होता है। बगाल में पौष्टिक रूप में इसकी जड का प्रयोग करते हैं। आमवात तथा वात विकारों में इसकी जड़ से लाभ होता है। आमवात में इसके पत्तों को पीस कर गरम करके सन्धिशोथ पर बांधते हैं। व्रण-शोथ पर इसके पत्तों को बाधते हैं।

असगध एव विधारे का सम भाग चूर्ण ३ माशा दूध के साथ सेवन से श्वेत प्रदर में लाभ होता है।

मात्रा—मूल चूर्ण १॥-३ माशा।

१०९ वृद्धदारु (दोपातीलता)

सं०-वृद्धदारु, मर्यादवल्ली[1]। **हि०**-दोपातीलता, विधारा। **बं०**-छागलखुरी। **म०**-मर्याद

---

१ मर्यादवल्लिका शीता ग्राहिणी सारिका गुरुः। पाककाले चोषणा स्याद्दातला गर्भकारिणी ॥ विसूचिकां च शूलं च वान्तिं चामं च नाशयेत् ॥ (नि० र०)

बेल, मर्दाबेल । गु०-मरजादवेल । क०, ता०-अडुंबु । ले०-*Ipomoea biloba, forsk.* (आइपोमिआ बाइलोबा) । Fam convolvulaceae (कन्वोल्व्युलेसी) ।

यह भारतवर्ष के सभी भागों में, विशेषतया समुद्र के किनारे रेतीली भूमि में अधिक पाई जाती है ।

इसकी **लता**-बहुवर्षायु तथा विस्तृत फैलने वाली होती है । काण्ड-रेती पर फैले हुये, नये रहने पर मांसल एवं जामुनी रंग के तथा पुराने होने पर रस्सी की तरह हो जाते हैं । **पत्ते**-मोटे १·५-२·५ इञ्च लंबे तथा प्रायः उससे अधिक चौड़े एवं अग्र से द्विविभक्त होने के कारण कचनार की तरह दिखलाई देते हैं । पत्ते बकरे के खुर सदृश दिखलाई देने के कारण इसे छागलखुरी कहते हैं । आधार की तरफ पत्ते रक्ताभवत् होते हैं तथा वहाँ दो बडी रंगीन ग्रंथियाँ होती है । **पुष्प**-बड़े तथा रक्ताभ जामुनी रंग के होते है । **फल**-आधा इञ्च बडे, अडाकार तथा चिकने होते हैं । **बीज**-मृदुरोमश होते हैं । **मूल**-बडा, लंबा, काष्ठमय, मजबूत, ऐंठा हुआ करीब ½ इंच मोटा तथा अनेक उपमूलों से युक्त रहता है । इसकी जड एवं पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार करते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसके पंचांग में राल ७ २७%, अल्प मात्रामें उड़नशील तैल बहुत लुआबदार पदार्थ तथा समुद्र के अनेक क्षार एवं स्नेहन पदार्थ रहते हैं । जड़ में गाढ़ा पीले रंग का दूध, पिष्ट पदार्थ एवं क्षाराभ पाये जाते हैं ।

गुण और प्रयोग—इसके पत्ते शोथहर, वेदनास्थापक, कासहर, एवं मूत्रजनक हैं । मूल अनन्तमूल की तरह रसायन है तथा इसका सुखाया हुआ स्वरस रेचक होता है ।

(१) आमवात तथा सन्धिशोथ में इसकी जड देते हैं तथा पत्तों को पीसकर लेप करते हैं ।

(२) जलोदर, उदरशूल तथा कास में इसका पत्र-स्वरस पिलाते हैं ।

(३) शोथ, बद, जलशोथ, शिरःशूल एवं मोच आदि में पत्तों को पीस कर बाधते हैं ।

मात्रा—पत्रस्वरस ½-१ तो०, शुष्कमूल ¼-½ तो०, सुखाया हुआ मूल स्वरस ५-६ र० ।

११० वृद्धदारु

ले०-*Ipomoea petaloidea, chois* (आइपोमिआ पेटलॉयडिआ) । Fam convolvulaceae (कन्वोल्व्युलेसी) ।

इसकी लता बहुत विस्तृत तथा झाडदार होती है । काण्ड-चिकना तथा उस पर २-४ उभरी हुई रेखायें अथवा पंख सदृश धारायें होती हैं । **पत्ते**-नीचे को लट्वाकार, प्रायः ७ इञ्च ५-५ इञ्च बड़े, २-३ इञ्च के वृन्त से युक्त और ऊपर में लट्वाकार-प्रासवत् से प्रासवत्-आयताकार, १·५-३ इञ्च एवं चिकने तथा रक्ताभ एवं दृढ़ मध्यपर्शुक वाले होते हैं । पत्राग्र-द्विविभक्त या कुण्ठित-रोमश होता है । **पुष्प**-न्यूनाधिक पीत (कभी-कभी श्वेत भी) होते हैं । **फल**-आधा इञ्च अंडाकार होता है । **बीज**-छोटे तथा सूक्ष्म लहरदार होते हैं ।

इसके काण्ड एवं मूल के टुकडे विधारा के नाम से प्रयोग में लाये जाते हैं ।

अथ यवासो दुरालभा च । [जवासा·धमासा] तयोर्नामानि गुणांश्चाह—

यासो यवासो दुःस्पर्शो धन्वयासः कुनाशकः । दुरालभा दुरालम्भा समुद्रान्ता च रोदिनी ॥
गान्धारी कच्छुराऽनन्ता कषाया हरिविग्रहा । यासः स्वादुः सरस्तिक्तस्तुवरः शीतलो लघुः ॥
कफमेदोमदभ्रान्तिपित्तासृक्कुष्ठकासजित् । तृष्णाविसर्पवातास्रवमिज्वरहरः स्मृतः ॥२१३॥
यवासस्य गुणैस्तुल्या बुधैरुक्ता दुरालभा ॥ २१४ ॥

'जवासा' और 'धमासा' के नाम तथा गुण—यास, यवास, दुःस्पर्श, धन्वयास और कुनाशक ये नाम 'जवासा' के हैं । दुरालभा, दुरालम्भा, समुद्रान्ता, रोदिनी, गान्धारी, कच्छुरा, अनन्ता, कषाया और हरिविग्रहा इतने नाम 'धमासा' के हैं । **जवासा**—मधुर, तिक्त और कषाय रसयुक्त, सारक, शीतवीर्य, लघु एवं कफ, मेद, मदरोग, भ्रान्ति, रक्तपित्त, कुष्ठ, कास, तृष्णा,

विसर्प, वातरक्त, वमन और ज्वर को दूर करता है। **धमासा**–इसे पण्डितों ने 'जवासा' के समान गुणवाला बताया है। यवासा (जवासा) तथा दुरालभा (धमासा) ये दो भिन्न द्रव्य हैं। गुणों में समानता होने के कारण कहीं कहीं एक दूसरे के स्थान में इनका प्रयोग हुआ है। मरुयवास (मरुभूमि में होने वाला यवास) यह दुरालभा का पर्याय अधिक उचित है॥ २१२–२१४॥

२१२ जवासा

हिं, म०–जवासा, यवासा। **बं०**–जवसा। **गु०**–जवासो। **फा०**–खारेशुतुर, शुतुरखार। **अ०**–अलगुल, हाज। **अं०**–Arabian of Persian Manna Plant (अरेबियन या पर्शियन मन्नाप्लांट) **ले०**–*Alhagi Camelorum, Fisch.* (अल्हागी कैमेलोरम्) Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह दक्षिण महाराष्ट्र, गुजरात, सिंध, बलूचिस्तान, पंजाब उत्तरप्रदेश तथा राजपूताना में ही होता है। यह शुष्क ऊसर भूमि में या नदियों के किनारे पाया जाता है। ग्रीष्म में जब अन्य वनस्पतियाँ सूख जाती है तब यह हरा भरा रहता है।

इसके **गुल्म**–छोटे छोटे १–१॥ हाथ ऊँचे, अनेक शाखाओं से युक्त कांटेदार होते हैं। **पत्ते**–छोटे-छोटे, चिकने, आयताकार रोमश कुठिताग्र तथा नीचे की ओर झुके हुए होते हैं। पत्रकोणों में सामान्य शाखाओं के अतिरिक्त प्रायः १½ इंच तक लम्बे कांटे होते हैं। **फूल**–वसन्त में लाल रंग के फूल १½ इंच लम्बी मंजरियों में आते हैं। **फली**–एक इंच लम्बी, सीधी या टेढी तथा मालाकार होती है।

यास शर्करा[1]—यवासा के क्षुप से एक प्रकार का निर्यास निकल कर कुछ रक्ताभ या भुराई लिये सफेद रंग के दानों के रूप में जम जाता है उसे यूनानी में **तुरंजबीन** नाम से बहुत व्यवहार में लाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि यह फारस से संगृहीत हो कर भारत में आती है। भारतीय पौधों से यह शर्करा प्राप्त होता है या नहीं इसकी जानकारी नहीं है। डल्हण ने 'यवासक्वाथघनीभावात्–शर्करा कृता यवासशर्करा' लिखा है अर्थात् इसके घनसत्त्व को वह यासशर्करा मानते हैं।

रासायनिक संगठन—इसकी शर्करा में कई प्रकार की शर्करा जैसे इक्षुशर्करा २६·४%. इतर शर्करा (Innert sugar 11·6%) एवं मेलिशिटोज (Melsitoze. 47·1%) पाई जाती है।

गुण और प्रयोग—यवासा–शीतवीर्य, कफघ्न, स्वेदजनन, मूत्रजनन आनुलोमिक एवं पित्तहर है। इसका उपयोग प्रतिश्याय, कास, श्वास, ज्वर, रक्तपित्त, भ्रम, तृषा एवं अर्श में किया जाता है। ऊँट को यह खाने को देते हैं।

(१) मुलेठी एवं जवासे का मिश्रित घन क्वाथ कफज विकारों की प्रारम्भिक अवस्थाओं में बहुत लाभदायक है। इनमें इसका क्वाथ पीने को देते हैं तथा इसके वाष्प से धूपन कराते हैं जिससे कफ ढीला हो कर निकलने लगता है। तमक श्वास में इसका धूम्रपान लाभदायक है।

(२) अर्श में इसके आंतरिक प्रयोग के साथ इसके क्वाथ से धोते है या पंचांग का लेप करते हैं। आमवात में इससे सिद्ध तैल का बाह्य प्रयोग किया जाता है।

तुरंजबीन—यह कफहर, वृष्य, पित्तविरेचक एवं मृदु सारक है। बच्चों या मृदुकोष्ठ वालों के लिये सारक रूप में या अन्य सारक औषधियों की शक्ति बढाने के लिये यह प्रयोग में लाया जाता है।

मात्रा—क्वाथ ४–८ तोला, घनसत्त्व ४–७ रत्ती; यासशर्करा १–३ माशा।

---

१. कषायमधुरा शीता सतिक्ता यासशर्करा। (च सू अ. २७)
यवासशर्करा मधुरकषाया तिक्तानुरसा श्लेष्महरा सरा च। (सु. सू. अ. ४५)

११२ धमासा

हिं०-धमासा, हिंगुआ, धमहर । **बं०**-दुरालभा । **मा०-गु०**-धमासो । **म०**-धमासा । **पं०**-धमाह, धमाहा । **फा०**-बादा वर्द । **अ०**-शुकाई । **लै०**-*Fagonia arabica* (फॅगोनिया अरेबिका) । Fam.-Zygophyllaceoe (झाइगोफाइलॅसी) ।

यह पंजाब, प० राजपुताना, दक्षिण, प० खानदेश, कच्छ, सिंध, बलूचिस्तान, वजीरिस्तान तथा पश्चिम में अफगानिस्तान तक पाया जाता है ।

इसका **क्षुप**-फीके हरे रंग का अनेक शाखाओं वाला, छोटा फैला हुआ, १-२ फीट ऊँचा तथा तीक्ष्ण कांटेदार होता है । **पत्र**-विपरीतपत्रक-सनाय के दल जैसे १-१॥ इञ्च लम्बे, अखण्ड, रेखाकार, अण्डाकार पत्र होते हैं । दो पत्र, चार कांटे तथा एक पुष्प यह चक्राकार क्रम में एक साथ रहते हैं । **पुष्प**-पत्रकोण में फीके गुलाबी रंग के फूल आते हैं । **फल**-पांच पख वाला तथा उसपर एक लंबा तीक्ष्ण कांटा रहता है । घास के रंग के इसके टुकडे बाजार में बिकते हैं । इसका स्वाद लुआबदार तथा जल में डालने पर ये चिपचिपे हो जाते हैं । इसके पचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है ।

गुण और प्रयोग—धमासा शीतवीर्य, ज्वरहर, कफहर, दाहप्रशमन, तृष्णानिग्रहण, मूत्रजनन, कोपप्रशमन, एवं व्रणरोपण है ।

अर्श, दाह, वमन, भ्रम, प्रलाप, विषमज्वर एवं रक्तपित्त[1] में इसके हिम का प्रयोग करते हैं । मसूरिका के प्रतिबंधन के लिये भी इसे देते हैं ।

(१) ज्वर में आधे से १ तोला चूर्ण का हिम पिलाते हैं तथा इसी हिम से शरीर भी पोछते हैं जिससे प्यास कम होती है तथा शरीर का दाह एवं कंडू कम होती है । कफज ज्वर में तथा गले और श्वसनसंस्थान के विकारों में इससे अच्छा लाभ होता है । इससे गले की खुश्की कम हो कर कफ निकलने लगता है । श्वास में धूम्रपान लाभदायक है । इसको ईख के रस के साथ उबाल कर अवलेह बनाते हैं जिसका गले तथा फुफ्फुसों के विकारों में अनुपान के रूप में प्रयोग करते हैं । इसकी गोली मुंह में रखकर चूसते हैं ।

(२) इसके क्वाथ से व्रण-प्रक्षालन करने से बिना पूय हुये व्रण जल्दी अच्छा होता है । मुखपाक में इसके क्वाथ से गण्डूष करने से लाभ होता है ।

मात्रा—½-१ तोला हिम बना कर ।

अथ मुण्डी महामुण्डी च । तयोर्नामगुणानाह

मुण्डी भिक्षुरपि प्रोक्ता श्रावणी च तपोधना । श्रवणाह्वा मुण्डतिका तथा श्रवणशीर्षका ॥२१५॥
महाश्रावणिकाऽन्या तु सा स्मृता भूकदम्बिका । कदम्बपुष्पिका च स्यादव्यथाऽतितपस्विनी
मुण्डतिका कटुः पाके वीर्योष्णा मधुरा लघुः । मेध्या गण्डापचीकृच्छ्रकृमियोन्यर्त्तिपाण्डुनुत् २१७
श्लीपदारुच्यपस्मारप्लीहमेदोगुदार्तिहृत् । महामुण्डी च तत्तुल्या गुणैरुक्ता महर्षिभिः॥२१८॥

मुण्डी तथा महामुण्डी के नाम व गुण—मुण्डी, भिक्षु, श्रावणी, तपोधना, श्रवणाह्वा, मुण्डतिका और श्रवणशीर्षका इतने नाम 'मुण्डी' के हैं । महामुण्डी के नाम-महाश्रावणिका, भूकदम्बिका, कदम्बपुष्पिका, अव्यथा और अतितपस्विनी ये सब हैं । **मुण्डी**-विपाक में कटु, स्वाद में मधुर रसयुक्त, उष्णवीर्य, लघु, मेधा के लिये हितकर एवं गलगण्ड, अपची, मूत्रकृच्छ्र, कृमिरोग, योनिरोग, पाण्डु, श्लीपद, अरुचि, अपस्मार (मिर्गी), प्लीहा, मेदरोग तथा गुदासम्बन्धी पीडा (अर्श) को दूर करने वाली होती है । महामुण्डी-इसे महर्षियों ने गुणों में 'मुण्डी' के समान ही बतलाया है ॥ २१५-२१८ ॥

---

१. अनन्ता संग्राहकरक्तपित्तप्रशमनानाम् (च० सू० अ० २५)

११३ मुण्डी

हि०-मुण्डी, गोरखमुण्डी। बं०-मुरमुरिया, छागल नादी। म०-मुण्डी, वरस बोंडी। गु०-गोरखमुण्डी, बोडीयोकल्हार। त०-बोडे सोंर, बोडा तरपु। ता०-कोट्टक, कोट्टक करण्दई। मला०-मिरनगनी, अट्टकामन्नी। अ०-कमदर्युस्। फा०-रानदरुम्मी-नरस। लै०-*Sphaeranthus indicus, linn.* (स्फिरॅन्थस् इण्डिकस् लिनः)। Fam compositae (काम्पोसिटी)।

यह प्रसरजाति की वनौषधि भारतवर्ष के प्रायः सब गरम प्रान्तों में, हिमालय में कुमाऊ से सिकम ५००० हजार फीट की ऊँचाई तक तथा आसाम, सिलहट एव दक्षिण की ओर सिलोन तक पाई जाती है। जलाशयों के समीप जहाँ वर्षा का पानी इकट्ठा होकर शरद् ऋतु में सूख गया हो, धान, जव, गेहूं, चने आदि के खेतों में, चैत्र, वैशाख के महीने में बहुलता से देखने में आती है।

यह प्रतिवर्ष वर्षा के बाद जाडे के दिनों में उत्पन्न होती है और बरसात का पानी पडने पर सड गल कर नष्ट हो जाती है। इसका **क्षुप**-सुगन्धित, अनेक शाखाओं से युक्त एक फुट तक ऊँचा होता है किन्तु डण्डियों के कोमल होने से प्रायः भूमि की ओर नत होकर प्रसररूप मे १-२ फीट के घेरे में फैल जाता है। **शाखायें**-कोमल, किञ्चित् रोमयुक्त तथा सपक्ष होती हैं। **पत्ते**-अवृन्त, आगे लट्वाकार या आगे प्रासवत्, दन्तुर, आधार की तरफ सकुचित होकर काण्ड सम्पृक्त मृदुरोमश तथा १-२ इञ्च लम्बे होते हैं। मुण्डक पत्राभिमुख, किरमिजीरग के, विषमलिंग, सयुक्त, '५-'७५ इञ्च लम्बे दीर्घित व्यूहाक्ष और अधःपत्रावलि के पत्र रेखाकार तथा तीक्ष्णाग्र होते हैं।

इसके पचाग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

भेद—बगाल तथा सिलहट की तरफ दल्दल वाले स्थानों में स्फिरॅन्थस् अफ्रिकन्स (S. Africans) नामक एक भेद पाया जाता है जिसमें काण्ड के ऊपर के पक्षों पर रोम नहीं होते, पत्र १-३ इञ्च लम्बे, मुण्डक ¼-⅓ इञ्च तथा अध.पत्रावलि के पत्र बहुत छोटे तथा तीक्ष्ण नहीं होते।

दक्षिण में मैसूर, त्रावनकोर की तरफ धान के खेतों में एक भेद स्फिरॅन्थस् अॅमेरन्थॉइडिस् (S. Amaranthoides) पाया जाता है जिसमें काण्ड कभी कभी छोटी उगली बराबर मोटा किन्तु छोटा, **शाखायें**-८-१२ इञ्च, **पत्ते**-२-४ इञ्च लम्बे तथा मुण्डक ½-१ इञ्च बडे होते हैं। सभवतः यह दूसरा भेद **महामुण्डी** हो सकता है।

रासायनिक सगठन—इसमें स्फेरेन्थाईन (Sphaeranthin) नामक एक कडुवा क्षाराभ तथा ताजे पुष्पित पौधे में '०२२% एक उडनशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—मुडी दीपन, मूत्रजनन, आनुलोमिक, रक्तशोधक, रसायन, बल्य एव कृमिघ्न है। इसकी जड एव बीज कृमिघ्न हैं। **पुष्प**-रसायन, शीतल तथा बल्य है। फल या पचाग मछलियों के लिये विषैला है। इसमें का तैल त्वचा एव मूत्र द्वारा उत्सर्गित होता है।

(१) मूत्रेन्द्रिय विकार में इससे लाभ होता है। सम्पूर्ण मूत्र मार्ग का शोधन होकर बार-बार पेशाब होना कम होता है। परम तथा जीर्ण अष्ठीला शोथ (Chronic Prostatitis) में इससे लाभ होता है। इसमें इसका अर्क भी देते हैं।

(२) त्वचा के रोगों में इसका लेप करते हैं तथा इसके क्वाथ को पिलाते हैं। वातरक्त में इसका चूर्ण मधु एव घृत के साथ देते हैं तथा अनुपान में गुडूची क्वाथ पिलाते हैं। गात्र दौर्गन्ध्य में मुण्डीचूर्ण कांजी के साथ देते हैं। बार-बार फोड़े फुन्सी होने में इससे लाभ होता है।

(३) ग्रथि, गण्डमाला, अपची, दौर्बल्य, श्लीपद, अर्श आदि जीर्ण रोगों में इसको अधिक देने से लाभ होता है। इसमें इनका स्वरस पिलाते हैं।

मात्रा—पुष्प चूर्ण १-२ माशा; स्वरस १-२ तोला।

अथापामार्गः [चिरचिरा]। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अपामार्गस्तु शिखरी ह्यधःशल्यो मयूरकः। मर्कटी दुर्ग्रहा चापि किणिही खरमञ्जरी ॥२१९॥
अपामार्गः सरस्तीक्ष्णो दीपनस्तिक्तकः कटुः। पाचनो रोचनश्छर्दिकफमेदोऽनिलापहः।
निहन्ति हृद्रुजाध्मार्शःकण्डूशूलोदरापचीः ॥ २२० ॥

'चिरचिरा' के नाम तथा गुण—अपामार्ग, शिखरी, अधःशल्य, मयूरक, मर्कटी, दुर्ग्रहा, किणिही, खरमञ्जरी इतने नाम 'चिरचिरा' के हैं। **चिरचिरा**–तिक्त तथा कटु रसयुक्त, सारक, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, पाचक, रोचक (भोजन में रुचि उत्पन्न करनेवाला) एव वमन, कफ, मेद, वायु, हृद्रोग, आध्मान (अफरा), अर्श, कण्डू, शूल, उदररोग और अपची को दूर करता है॥

११४ चिरचिरा।

हि०–लटजीरा, चिंचिरी, चिरचिरा, चिचड़ा। **म०**–आवाडा। **बं०**–आपांग। **गु०**–अघेडो। **क०**–उत्तरणी। **तै०**–अपामार्गमु। **मा०**–आंधी झाडो, ओंगा। **ता०**–नायु रुवि। **मला०**–वलियकटलाट। **फा०**–खारवाझ गूनह। **अ०**–अत्कुमह। **अं०**–The Prickly-Chaff Flower (दी प्रिक्ली-चॅफ फ्लावर)। **ले०**–*Achyranthes aspera, Linn* (एचिरेन्थस-एस्पेरा लिन)। Fam. Amaranthaceae (एमेरेन्थसी)।

यह शहर या गाँव के बाहर बागों या जंगलों में बिना बोए ही उत्पन्न होता है। यह प्रायः भारतवर्ष के सब प्रान्तों में ३००० फीट तक पाया जाता है। इसका **क्षुप**–स्वावलम्बी, १–३ फीट ऊंचा तथा शाखायें कुछ आरोहणशील एवं पर्वों के ऊपर मोटी होती हैं। **पत्ते**–चौलाई के पत्तों की तरह कुछ गोल, अंडाकार, नोकीले एवं १–५ इञ्च लम्बे होते हैं। इसके पत्तों के दूसरे तरफ और कांड पर बहुत सूक्ष्म सफेद-सफेद रोम होते हैं। पत्तों के पास एक सींक लगभग एक फुट निकलती है उस पर कुछ लाल गुलाबी पीलापन लिये हुए फूल निकलते हैं। उसी डंडी या सींक पर काँटेदार छोटे-छोटे फल उल्टे लगते हैं। ये काँटेदार फल कपड़े पर चिपट जाते हैं इसलिए कहीं कहीं इसे 'कुत्ता' नाम से भी पुकारते हैं। जब फल पक जाते हैं तो इनके अन्दर से चावल निकलते हैं। इसके मूल, बीज, पत्र एवं पचांगक्षार का चिकित्सा में प्रयोग करते हैं॥

रासायनिक संगठन–इसके पत्र में २४, शाखाओं में ८ तथा मूल में ८½% राख रहता है। इसमें यवक्षार बहुत पाया जाता है। जो पत्तों में २१½% शाखाओं में ३८ तथा मूल में २८½% रहता है। इसके अतिरिक्त चूना, सोराखार, नमक, लौह तथा गंधक आदि अन्य द्रव्य इसमें पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—अपामार्ग उष्ण, तिक्त, कटु, तीक्ष्ण, दीपन, पाचन, पित्तविरेचन, वामक, मूत्रजनन, कफघ्न, विषघ्न, कृमिघ्न, अम्लतानाशक एव शिरोविरेचन (बीज) है।

इसका प्रयोग कफ, मेद, वात, अर्श, आनाह, शूल, जलोदर, शोफ, अपची, व्रण, त्वचा के विकार एवं सर्पादि के विष में करते हैं।

(१) कुपचन, आमाशय की शिथिलता, पीडा एवं हृल्लास में अपामार्ग अन्य कडुवे पदार्थों के साथ भोजन के पूर्व देते हैं जिससे पाचक रस की वृद्धि होती है तथा शूल कम होता है। भोजनोपरांत देने से अम्लता कम होती है तथा श्लेष्मा का विलयन होता है। इसमें भोजन के २–३ घण्टे बाद गरम गरम क्वाथ देते हैं। इसका यकृत पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। इससे पित्तवाहिनी नलिका का शोथ कम होकर पित्तस्राव उचित होता है। पित्ताश्मरी तथा अर्श में इससे अच्छा लाभ होता है। अर्श में इसकी जड को तडुलोदक के साथ पीसकर मधु मिलाकर देते हैं। रक्तार्श में बीज का लेप भी उपयोगी होता है।

(२) मूत्रेन्द्रिय विकारों में इसके साथ मुलेठी, गोखरू तथा पाठा का उपयोग करते हैं। वृक्कजन्य जलोदर में इससे लाभ होता है। इससे मूत्र की अम्लता कम होने से तथा इसका दाहशामक प्रभाव होने के कारण परमा, बस्तिशोथ, वृक्कशोथ तथा अश्मरी में इसको देते हैं। अश्मरी में इसका क्षार भेट के मूत्र के साथ दिया जाता है।

(३) जीर्ण कफ विकारों में इसका क्षार बहुत ही लाभदायक होता है। इससे गाढा कफ पतला होकर निकलने लगता है। इसमें चतुःषष्टि पिप्पली, अतीस तथा कुपीलु घृत एवं मधु के साथ अपामार्गक्षार दिया जाता है।

(४) सर्पविष, वृश्चिकदंश, मूषिक-विष, तथा पागल कुत्ते के काटने पर इसका उपयोग करते हैं। इनमें मूल, पंचांग या बीज का लेप तथा मूल पीसकर पिलाते हैं।

(५) आँख की फूली में इसकी जड को मधु के साथ पीसकर अंजन कराते हैं। दतशूल में पत्रस्वरस मसूढों पर मलते हैं तथा दांतों के गढों में क्षार भरते हैं। इससे दतुअन करने से लाभ होता है। वाधिर्य, कर्णशूल तथा नाद में इससे सिद्ध तैल कान में डालते हैं। सन्धिशोथ में पत्तों को पीसकर गरमकर बांधते हैं। इसके पचांग के क्वाथ से स्नान कराने से कण्डू दूर होती है। सद्यः क्षत में खून रोकने के लिये इसका पत्रस्वरस लगाते हैं।

मात्रा—मूल तथा बीज-½-१ तोला; क्षार ४-८ रत्ती; मूल क्वाथ २½-५ तोला।

अथ रक्तापामार्गः [लाल ओंगा]। तस्य गुणानाह

रक्तोऽन्यो वशिरो वृत्तफलो धामार्गवोऽपि च। प्रत्यक्पर्णी केशपर्णी कथिता कपिपिप्पली॥
अपामार्गोऽरुणो वातविष्टम्भी कफहृद्धिमः। रूक्षः पूर्वगुणैर्न्यूनः कथितो गुणवेदिभिः॥

'लाल (ओंगा) चिरचिरा' के नाम तथा गुण—दूसरा जो 'लाल चिरचिरा' है, उसके नाम—वशिर, वृत्तफल, धामार्गव, प्रत्यक्पर्णी, केशपर्णी कपिपिप्पली ये सब हैं। लाल चिरचिरा—वायु को स्तब्ध करने वाला, कफकारक, शीतवीर्य तथा रूक्ष होता है। इसे द्रव्यगुण के जानने वालों ने उपर्युक्त चिरचिरा के गुणों से न्यून गुणवाला बताया है ॥ २२१-२२२ ॥

११५ लाल चिरचिरा

हि०-रक्तापामार्ग; लाल-चिरचिरा। **बं०**-रक्तापांग। **म०**-तांबडा-आघाडा, लाल आगाडा। **गु०**-रातो अघेडो।

लाल चिरचिरे का क्षुप उक्त (सफेद) चिरचिरे के समान ही होता है। पत्ते इत्यादि भी एक ही समान होते हैं। परन्तु पत्ते पर लाल धब्बे होते हैं और डण्डियों पर भी कुछ ललाई होती है। इसके पत्ते सफेद की अपेक्षा कुछ मोटे और बडे होते हैं और बीज कुछ पतले होते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से इसको कोई अलग जाति (Species) नहीं होती किन्तु केवल भेद (Variety) मात्र का उल्लेख पाया जाता है जिसका लेटिन नाम A. rubro-fusca (ए० रूब्रो-फ्युस्का) हैं।

अथापामार्गफलगुणानाह

अपामार्गफलं स्वादु रसे पाके च दुर्जरम्। विष्टम्भि वातलं रूक्षं रक्तपित्तप्रसादनम्॥२२३॥

'चिरचिरा' के फल का गुण—यह स्वाद तथा विपाक में मधुर रस युक्त, दुर्जर (जल्दी हजम नहीं होने वाला), विष्टम्भताकारक, वातजनक, रूक्ष तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है॥ २२३॥

अथ कोकिलाक्षः (तालमखाना)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कोकिलाक्षस्तु काकेक्षुरिक्षुरः क्षुरकः क्षुरः। भिक्षुः काण्डेक्षुरप्युक्त इक्षुगन्धेक्षुवालिका॥२२४॥
क्षुरकः शीतलो वृष्यः स्वाद्वम्लः पिच्छिलस्तथा। तिक्तो वातामशोथाश्मतृष्णादृष्ट्यनिलास्रजित्

'तालमखाना' के नाम और गुण—कोकिलाक्ष, काकेक्षु, इक्षुर, क्षुरक, क्षुर, भिक्षु, काण्डेक्षु, इक्षुगन्धा और इक्षुवालिका ये सब नाम तालमखाना के हैं। तालमखाना-शीतवीर्य, मधुर,

अम्ल तथा तिक्त रसयुक्त, पिच्छिल एवं वात, आम, शोथ, अश्मरी (पथरी), तृषा, दृष्टि रोग और वातरक्त को दूर करने वाला होता है ॥ २२४-२२५ ॥

११६ तालमखाना ।

हि०-तालमखाना । **बं०**-कुलियाखारा, कुलेखाडा । **गु०**-एखरो । **म०**-तालीखाना, कोल सुन्दा । **ते०**-गोलिमिडि चेट्टु, निर्गुविवेरु । **क०**-कुलुगोलिके, वलिकेल । **ता०**-निरमुल्ली । **ले०**-*Hygrophila spinosa, T. Anden* (हाइग्रोफिला स्पाइनोसा) । syn. Asteracantha longifolia Nees (एस्टेरा केन्था लोंगिफोलिआ) । Fam. Acanthaceae (एकेन्थेसी) ।

तालमखाना-क्षुपजाति की वनस्पति प्रायः ताल, तलैया में जल के निकट उत्पन्न होती है। इसके छोटे छोटे **क्षुप**-गूमा के समान पर गूमा से बड़े, गठीले और कहीं कहीं २-२½ हाथ तक ऊँचे देखे जाते हैं। गाँठों के चारों ओर प्रायः १ इञ्च लम्बे पीले रंग के तीक्ष्ण काँटे होते हैं, जो प्रायः ६-६ की संख्या में चक्रिक क्रम में निकले रहते हैं। **पत्ते**-अवृन्त, गाँठों पर चक्रिक क्रम में ६ की संख्या में जिनमें से बाहरी दो पत्ते अधिक लम्बे (७"×.७") आयताकार मालाकार या अभिमालाकार तथा भीतरी ४ पत्ते १½ इञ्च लंबे होते हैं। **पुष्प**-गाँठों पर समूहबद्ध होकर ४ जोडे में नीले बैंगनी रंग के करीब १½ लंबे तथा द्वयोष्ठ होते हैं। **फल**-पतला, चिपटा, ८ मि० मि० लंबा, रेखाकार, आयताकार नुकीला तथा ४-८बीजों से युक्त होता है। **बीज**-छोटे रक्ताभ और रोमश होते हैं। बीजों को जल में भिगाने से लुआब बनता है।

इसके बीज, मूल, पत्र एवं पंचांग के क्षार का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में २३% एक पीले रंग का स्थिर तैल पाया जाता है। इसके अतिरिक्त डायास्टेस (Diastase), लाइपेस (Lipase) एवं प्रोटिएस (Protease) ये द्रव्य भी इसमें होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, मूत्रजनन, मधुर, स्निग्ध शुक्रशोधन, स्तन्यजनन, सतर्पण, बल्य एवं वृष्य है। इसकी जड़ तथा बीजों में विशेष रूप से मूत्रल गुण है। बीजों में रहने वाले पोटाशियम के लवण एवं पिच्छिल द्रव्य के कारण इसका मूत्रल प्रभाव पड़ता है।

इसका उपयोग जलोदर, यकृतोदर, शोथ, मूत्रकृच्छ्र, परमा, बस्तिशोथ, कामला, वातरक्त, एवं जननेन्द्रिय-विकारों में किया जाता है। यकृत में अवरोध उत्पन्न होने के कारण उत्पन्न शोथमें इससे लाभ होता है।

(१) परमा तथा बस्तिशोथ में इसके मूल का क्वाथ देते हैं जिससे मूत्र की वृद्धि होती है तथा वेदना कम होती है। इसमें बीजों को भी दूध के साथ दिया जाता है।

(२) यकृतोदर में मूल का क्वाथ या पञ्चांग की राख देते हैं।

(३) शोथ में भी इसकी राख गोमूत्र या जल के साथ देते हैं।

(४) वाजीकरण के लिये केवाँच एवं इसके बीजों का शर्करायुक्त चूर्ण धारोष्ण दुग्ध के साथ देते हैं।

(५) कास में पत्ते उपयोगी होते हैं तथा सन्धि पीडा एवं परमा में इसका लेप किया जाता है।

मात्रा—मूलक्वाथ ४ तो०; बीजचूर्ण २-४ माशा; क्षार २-५ र०, भस्म १-२ माशा।

अथास्थिसंहारः (हड़संहारी) । तस्य नामानि गुणांश्चाह

ग्रन्थिमानस्थिसंहारीवज्राङ्गीवाऽस्थिशृङ्खला । अस्थिसंहारकःप्रोक्तोवातश्लेष्महरोऽस्थियुक् ॥ उष्णः सरः कृमिघ्नश्चदुर्नामघ्नोऽक्षिरोगजित् । रूक्षः स्वादुर्लघुर्वृष्यः पाचनः पित्तलः स्मृतः ॥

हड़संघारी के नाम व गुण—ग्रन्थिमान्, अस्थिसंहारी, वज्राङ्गी, अस्थिशृंखला, ये सब हड़संघारी के नाम हैं। **हड़संघारी**—वात-कफनाशक, टूटी हुई हड्डियों को जोड़नेवाली,

उष्णवीर्य, सारक तथा कृमि, अर्श (बवासीर) और नेत्र रोग को दूर करने वाली, रूक्ष, स्वादिष्ट, हलकी, वृष्य, पाचक और पित्तजनक होती है ॥ २२६-२२७ ॥

अथ तद्वटिकाया निर्माणविधि गुणांश्चाह

काण्डं त्वग्विरहितमस्थिशृङ्खलाया-माषार्द्धद्विदलमकञ्चुकं तदर्द्धम् ।
सपिष्टं घृतनु ततस्तिलस्य तैले-संपक्वं वटकमतीव वातहारि ॥ २२८ ॥

इसकी गोली बनाने की विधि तथा गुण—हडसंघारी के टुकडों के छिलके को दूर कर उसमें छिलका अलग की हुई उरद के दाल को आधा परिमाण मिलाकर पीसने के बाद टिकिया बनाकर तिल के तेल में पका डाले, यह टिकिया वात को हरण करने वाली होती है ॥ २२८ ॥

११७ हड़संघारी

गु०-हडजोड, हडसंघारी, हटजोडी, हडजोरवा । **बं०**-हाडभागा, हाटजोडा । **गु०**-हाड सॉंकल । **म०**-कांडवेल । **क०**-मगरवल्ली । **ते०**-नाल्लेरु, नुल्लेरोतिगे । **ता०**-पेरंडै । **ले०**-*Vitis quadrangularis, Wall.* (विटस् कॉड्रैन्ग्युलेरिस्, वाल.) Syn. Cissus quadrangularis, Linn (सिसस् कॉड्रैन्ग्युलेरिस् , लिन.) Fam. Vitaceae (विटेसी) ।

हडजोडी **लता**जाति की वनौषधि प्रायः गरम प्रदेशों में अधिक होती है । इसको वाटिकाओं में भी लगाते हैं ।

जिस प्रकार लतायें वृक्षों की डालियों से लिपटती हुई फैलती हैं उस प्रकार यह नहीं बढ़ती । पर वृक्षों का सहारा ले उस पर चढती और लटकती रहती है । **काण्ड**-चौपहल, हरा, बीच-बीच में सन्धियों से युक्त एव मांसल होता है । संधियों पर सूत्र होते हैं और नवीन काण्ड-सधियों पर तन्तुओं के विपरीत दिशा में पत्र होते हैं । **पत्र**-एकान्तर, छोटे वृन्तवाले, हृद्वत् चौडे, १-२½ इञ्च बडे, मोटे, दन्तुर, उपपत्रयुक्त एवं संख्या में अल्प रहते हैं । **पुष्प**-छोटे तथा हरित-श्वेतवर्ण के आते हैं । **फल**-गोल, करीब ६ मि० मि० वड़े, पकने पर लाल तथा एक बीजयुक्त होते हैं । **बीज**-हलके भूरे रग के, ५ मि० मि० बडे तथा चिकने होते हैं । दक्षिण की तरफ कोमल काण्ड एवं पत्तों का साग बना कर खाते हैं । काण्ड तोडने पर बहुत रस निकलता है । इसके काण्ड एव पत्तों का उपयोग चिकित्सा में किया जाता है ।

रासायनिक सगठन—इसमें कॅल्शियम् ऑक्जॅलेट् (Calcium oxalate) एव १०० ग्राम ताजे पौधे में २६७ मि० ग्रा० कॅरोटीन (Carotene), १०० ग्रा० कोमल काण्ड में ३९८ मि० ग्रा०, नीचे के भाग में २३२ मि० ग्रा० तथा ताजे स्वरस में ४७९ मि० ग्राम बिटामिन सी (Vitamin C) की मात्रा पाई जाती है ।

गुण और प्रयोग—यह रूक्ष, वात-कफशामक, रक्तशोधक, दीपन, पाचन, अर्शोघ्न, वृष्य, सन्धानीय एव रक्तसग्राहक है ।

इसका प्रयोग अस्थिभग, पाचनविकार, स्कर्वी (Scurvy), आर्तवविकार, तमकश्वास एवं रक्तदोष में किया जाता है ।

(१) कुपचन में कोमल काड एव पत्तों का शाक खिलाते हैं या इनको बन्द पात्र में जलाकर उसकी राख खिलाते हैं ।

(२) आर्तव की अधिकता में इसका स्वरस, गोपीचन्दन, घृत एवं मधु खिलाते हैं ।
(३) तमकश्वास में काण्ड को पीसकर देते हैं ।
(४) अस्थिभग में इसका बाह्याभ्यन्तर प्रयोग किया जाता है ।
(५) कर्णस्राव एवं नासा से रक्तस्राव होने पर इसका स्वरस डालते हैं ।
मात्रा-स्वरस १ से २ तोला ।

अथ कुमारी (घीकुआँर) । तस्या नामगुणानाह

कुमारी गृहकन्या च कन्या घृतकुमारिका । कुमारी भेदनी शीता तिक्ता नेत्र्या रसायनी ॥
मधुरा बृंहणी बल्या वृष्या वातविषप्रणुत् । गुल्मप्लीहयकृद्वृद्धिकफज्वरहरी हरेत् ॥
ग्रन्थ्यग्निदग्धविस्फोटपित्तरक्तत्वगामयान् ॥ २३० ॥

'घीकुआर' के नाम तथा गुण—कुमारी, गृहकन्या, कन्या और घृतकुमारिका ये नाम 'घीकुआर' के हैं। **घीकुआर**—मल को भेदन करने वाली, शीतल, तिक्त तथा मधुर रसयुक्त, नेत्रों के लिये हितकर, रसायन, बृंहण, बलकारक, वृष्य एवं वात, विष, गुल्म, प्लीहा, यकृत् की वृद्धि, कफज्वर, ग्रन्थि, अग्निदग्ध (आग से जलजाना), विस्फोटक, पित्त, रक्तविकार और चर्मरोग को नाश करने वाली होती है ॥ २२९-२३० ॥

११८ घीकुआँर

हि०-घीकुआँर, ग्वार पाठा, घीग्वार, कारपाठी । **बं०**-घृतकुमारी । **म०**-कोरफड, कोरकांड। **गु०**-कुवार । **क०**-लोलिसर । **तै०**-कलबन्द । **ता०**-कत्तालै । **फा०**-दरखते सिब्र । **अ०**-तसब्वार अलसी । **ले०**-*Aloe barbadensis, Mill.* (एलोई बार्बेडेन्सेस् मिल.) । Syn, A. vera tourn ex linn (ए० वेरा) । Fam. Liliaceae (लिलिएसी) ।

कुमारीसार—ऐलेयक, कृष्ण बोल-**हि०**-एलुआ, एलुवा, मुसब्बर । **म०**-कालाबोल, एलिया। **बं०**-मोषब्बर । **गु०**-एलियो । **फा०**-शबयार । **अ०**-सिब्र । **अं०**-Common Indian Aloe (कॉमन् इण्डियन् एलो); Curacao Aloe (क्युराकाओ एलो), Barbados Aloe (बार्बाडोस् एलो) । Musabbar (मुसब्बर) ।

यह भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र होती है । इसका **क्षुप**-छोटा, बहुवर्षायु, मांसल एवं १ से २ फीट ऊँचा होता है । **पत्ते**-मांसल, मोटे हरे, मालाकार, सीधे फैले हुये, कुछ नतोदर, १ से २ फीट लम्बे ४ इञ्च तक चौडे एवं दन्तुर होते हैं । इनके भीतर घी के समान पीताभ गूदा रहता है । **पुष्प**-पत्तों के बीच से लम्बा पुष्पदण्ड निकलता है जिसमें रक्ताभ पीत पुष्प आते हैं ।

भारतवर्ष में इसके २-३ भेद (Varietis) पाये जाते हैं । दक्षिण एव मध्यप्रदेश में होने वाले के पत्ते आधार की तरफ नीलारुण रंग के एव उनके काटे कम दृढ होते हैं । मद्रास से रामेश्वरम् तक समुद्री किनारे पर होने वाले क्षुप छोटे तथा उनके दांत सामान्य दन्तुर (Dentate) होते हैं। काठियावाड के किनारे होने वाले क्षुप से जाफराबादी मुसब्बर प्राप्त किया जाता है । इसे गलती से कुछ लोगों ने ए० अबीसानिया कहा है ।

इसके पत्तों को काटने से एक पीले रग का पिच्छिल रस निकलता है जिसे सग्रह करके गाढा कर लेते हैं । शीत होने पर यह जम जाता है जिसे एलुआ कहते हैं । विभिन्न स्थानों से प्राप्त घीकुवार तथा गाढा बनाने की भिन्न-विधि के परिणामस्वरूप यह कई प्रकार का मिलता है । यदि सूर्यताप से या हल्की आंच पर रस गरम करके बनाया जाता है तो यह कुछ चिकना तथा अपारदर्शक बनता है जिसे यकृताभ (Hepatic) एलुवा कहते हैं । किन्तु यदि रस को तीव्र अग्नि पर जल्दी से गाढ़ा करते हैं तो यह कुछ पारदर्शक बनता है जिसे ग्लासी या विट्रिअस (Glassy or vitreous) एलो कहते हैं । इसमें एक प्रकार की विशिष्ट गंध आती है तथा इसका स्वाद कडुआ एव हृल्लासकारक होता है ।

एलुआ के भेद—ब्रिटिशफार्माकोपिआ में चार प्रकार का एलुआ राजमान्य है ।

(१) Curacao Barbados aloes) क्यूराकाओ या बार्बाडोस् एलो)—यह चाकलेटी बादामी रङ्ग का होता है जो इसके भेद Var officinalis (ऑफिसिनेलिस्) से बनाते हैं ।

(२) Socotrine aloes (सोकोट्राइन एलो)—यह A. Perryi (ए० पेरी) से प्राप्त होता है तथा इसका रंग पीताभ या कृष्णाभ बादामी होता है ।

(३) Zangibar aloes (जंजिबार एलो)—यह भी ए० पेरी से प्राप्त किया जाता है किन्तु इसका वर्णयकृताभ बादा नो होता है ।

(४) Cape aloes (केप एलो)—यह A. ferox (ए० फेरॉक्स) से प्राप्त करते हैं तथा इसका वर्ण गहरा बादामी या हरिताभ बादामी रहता है। इन चार में से यही लाल स्वरूप का होता है।

इनके अतिरिक्त केप एलो सदृश नेटाल एलो, अरबी कोका-एलो एवं जाफर बादी एलो आदि भेद भी पाये जाते हैं।

परीक्षा एवं प्रमाण—इसमें काला कत्था, पत्थर या लोहा आदि की मिलावट करते हैं। मद्यसारीय घोल की नील लोहितातीत प्रकाश में परीक्षा करने पर इसके घोल का वर्ण गहरा बादामी एव कत्थे सा काला दिखाई देता है। एलुआ में आर्द्रता ११% से कम राख ४% से कम मद्यसार में अविलेय भाग १०% से कम एव जल में विलेय भाग ५०% से अधिक होता है। शोरे के तेजाब में इसका चूर्ण डालने से बादामी या रक्ताभ बादामी घोल बनता है तथा फेन निकलता है।

रासायनिक संगठन—एलुआ में एलोइन (Aloin) नामक एक कार्यकारी तत्त्व रहता है जो कई ग्लूकोसाइड का मिश्रण है। एलोइन की मात्रा पहले में ३०%, दूसरे तथा तीसरे भेद में उससे कम एव चौथे में १०% रहती है। एलोइन का मुख्य भाग Berbaloin (बार्बालोइन) नामक हलका पीला ग्लूकोसाइड है जो जल में विलेय होता है। इनके अतिरिक्त Isobarbaloin (आइसोबार्बालोइन) जो केवल क्युराकाओ एलो में रहता है एव C barbaloin (बिटा बार्बालोइन) Aloe emodin (एलो एमोडिन), राल तथा जल में घुलनशील कुछ पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण एवं प्रयोग—घीकुआँर तिक्त, मधुर, शीतवीर्य, भेदन, दीपन, पाचन, बल्य, शोथहर, व्रणरोपण, नेत्र्य एव शोणितास्थापन है।

एलुआ भेदन, उष्ण, तीक्ष्ण, आर्तवजनन एव कृमिघ्न है। अल्पमात्रा में यह दीपन-पाचन, तिक्त एवं बल्य है। इससे यकृत् की क्रिया में सुधार होकर अन्न का सात्मीकरण ठीक होता है, अधिक मात्रा (१-२ रत्ती) से पेट में मरोड होकर १०-१२ घटे में विरेचन होता है। इसका प्रभाव बड़ी आत पर होता है, जिससे कटिस्थ अगों जैसे गर्भाशय, गुदा तथा अन्य अवयवों में रक्ताधिक्य होता है।

(१) विरेचक गुण के कारण विबन्ध में इसका प्रयोग अन्य वातानुलोमक एव उद्वेष्टन विरोधी औषधियों के साथ करते हैं। गर्भिणी या स्तनपान कराने वाली स्त्रियों में इसका प्रयोग नहीं करते। बाजार में बिकने वाली अनेक विरेचक औषधियों में यह रहता है। घीकुआँर के रस का भी सैन्धव एव हरिद्रा के साथ विबंध, गुल्म, पांडु, पाचनविकार तथा यकृत् प्लीहा रोगों में उपयोग करते हैं।

(२) स्त्रियों के विकार जैसे अनार्तव, पांडु, विबध में इसको देने से लाभ होता है।

(३) इसके स्वरस का बाह्य लेप स्तनकोप, नेत्राभिष्यन्द, चर्मविकार, अर्श एव व्रण में हरिद्रा के साथ करने से शोथ एव दाह कम होता है। सूत्रकृमि में एलुवा की बस्ति देते हैं।

मात्रा—स्वरस १-२ तोला; एलुवा १-२ रत्ती।

पुनर्नवा

पुनर्नवा के दो भेद रक्त एव श्वेत निघण्टुओं में मिलते हैं। रा. नि. में एक नील भेद भी लिखा है, जो दिखलाई नहीं देता। दो भिन्न वर्गों की दो वनस्पतियाँ Boerhaavia diffusa (बोर्हेविया डिफ्यूजा) एव Trianthema portulacastrum (ट्राएन्थिया पोर्टुलेकॅस्ट्रम्-पथरी) का उपयोग पुनर्नवा के नाम से हो रहा है। इनमें से प्रथम को अधिकांश विद्वानों ने रक्त-पुनर्नवा माना है जो उचित नहीं है। वास्तव में प्रथम में ही रक्तपुष्प एव श्वेतपुष्प के भेद से दो भेद पाये जाते हैं तथा द्वितीय में भी श्वेतपुष्प एव रक्तपुष्प भेद देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में केवल बोर्हेविया को रक्त पुनर्नवा एवं ट्राएन्थिमा (पथरी) को श्वेतपुनर्नवा मानना उचित नहीं

है। रा. नि. में पुनर्नवा के भेदों के अतिरिक्त वर्षाभू एवं वसुक[1] नामों से दो अलग वनस्पतियों का उल्लेख किया गया है। पुनर्नवा के पर्यायों में क्षुद्रवर्षाभू यह पर्याय आया हुआ है। श्री ठा० बलवन्त सिंह जी पुनर्नवा और वर्षाभू दो भिन्न वनस्पतियाँ मानते हैं न कि पर्याय। इस सम्बन्ध में 'बिहार की वनस्पतियाँ' नामक पुस्तक में वे लिखते हैं—

'मेरे मत से पुनर्नवा और वर्षाभू दो सर्वथा भिन्न वनस्पतियाँ हैं परन्तु दोनों के रूप और गुणों में बहुत कुछ साम्य होने से निघण्टुकारों ने दोनों में बहुत गड़बड़ कर दिया है। अनेक स्थान के वैद्य आज भी इसे ही (ट्राएन्थिमा) पुनर्नवा और कुछ इसे केवल श्वेतपुनर्नवा मानते हैं। स्मरण रखना चाहिये कि श्वेत और रक्त भेद पुनर्नवा और वर्षाभू दोनों में ही होते हैं। अतः रक्तपुनर्नवा और श्वेतपुनर्नवा Boerhaavia (बोर्हविया) जातियों को और रक्तवर्षाभू तथा श्वेतवर्षाभू Trianthema (ट्राएन्थिमा पथरी) की जातियों को कहना चाहिये। वर्षाभू की ही किसी जाति को वसुक मानना चाहिये।'

उपर्युक्त स्पष्टीकरण के आधार पर The Wealth of India (Row Materials) Vol I नामक पुस्तक में उल्लिखित श्री चक्रवर्ती का यह मत कि B. diffusa को रक्तपुनर्नवा एवं T. portulacastrum को श्वेत पुनर्नवा मानना चाहिये उचित नहीं मालूम पड़ता। दोनों वनस्पतियों में गुणों में कुछ समता पाई जाती है जिस कारण संभव है निघण्टुकारों ने दोनों नामों को पर्याय में लिख दिया हो। निघण्टुकारों ने वर्ण के आधार पर श्वेत एवं रक्त के गुण अलग लिखे हैं या इन दो उपर्युक्त भेदों के अलग अलग गुण दिये हैं यह कहना कठिन है। वर्षाभू (पथरी) केवल बरसात में उगती है तथा शीतकाल तक सूख जाती है इसी कारण इसे वर्षाभू कहा गया है। पुनर्नवा यद्यपि वर्षाकाल में अधिक होती है तथापि अन्य ऋतुओं में भी मिलती है। यहाँ पर दोनों का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

अथ श्वेतपुनर्नवा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

पुनर्नवा श्वेतमूला शोथघ्नी दीर्घपत्रिका। कटुः कषायानुरसा पाण्डुघ्नी दीपनी परा।
शोफानिलगरश्लेष्महरी ब्रध्नोदरप्रणुत्॥ २३१॥

सफेद पुनर्नवा के नाम और गुण—पुनर्नवा, श्वेतमूला, शोथघ्नी और दीर्घपत्रिका इतने नाम सफेद पुनर्नवा के हैं। **सफेद पुनर्नवा**—कटु तथा कषाय रसयुक्त, पाण्डुरोगनाशक, अत्यन्त अग्निदीपक, एवं शोथ, वायु, विष, कफ, ब्रध्न और उदररोग को दूर करने वाली होती है॥२३१॥

अथ रक्तपुष्पा पुनर्नवा। तस्या नामगुणानाह

पुनर्नवाऽपरा रक्ता रक्तपुष्पा शिलाटिका। शोथघ्नी क्षुद्रवर्षाभूर्वर्षकेतुः कठिल्लकः॥ २३२॥
पुनर्नवाऽरुणा तिक्ता कटुपाका हिमा लघुः। वातला ग्राहिणी श्लेष्मपित्तरक्तविनाशिनी॥

लाल पुनर्नवा के नाम व गुण—रक्तपुनर्नवा, रक्तपुष्पा, शिलाटिका, शोथघ्नी, क्षुद्रवर्षाभू, वर्षकेतु और कठिल्लक ये सब हैं। **लाल पुनर्नवा**—तिक्त रसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, शीतल, हलकी, वातकारक, मलसग्राही एव कफ, पित्त और रक्तविकार को दूर करने वाली होती है॥ २३२-२३३॥

११९ वर्षाभू (पथरी)

हि०—सफेद पुनर्नवा, पथरी, विषखपरा, सुफेद गदपुरना। **बं०**—साबुनी। **म०**—वसु। **गु०**—साटोडी। **क०**—बिलेगणजलि, मुच्चुकोनि। **ते०**—गलिजेरू,। **ता०**—शरूनै। **पं०**—विशकापरा। **ले०**—*Trianthema Portulacastrum linn.* (ट्रायथिमा पोर्ट्युलेकॅस्ट्रम्, लिन)। Fam. Ficoideae (फिकॉइडी)।

---

१. वर्षाभूवसुकौ वर्णकफमान्द्यानिलापहौ। शाके रूक्षतरौ गुल्मप्लीहशूलापहारकौ॥

यह भारतवर्ष के सभी भागों में एवं बलूचिस्तान, लंका तथा अन्य उष्ण प्रदेशों में पाई जाती है। इसका **क्षुप**-प्रसरणशील, मांसल तथा अनेक द्विविभक्त शाखाओं वाला होता है। यह बरसात में उगता है और शीत काल तक सूख जाता है। कोमल अवस्था में पुनर्नवा जैसा दिखलाई देने के कारण कुछ लोग इसे श्वेत पुनर्नवा मानते हैं। **पत्तियाँ**-मांसल लगभग अभिमुख, किन्तु प्रत्येक जोडे में एक छोटी तथा दूसरी बडी, ऊपर वाली बडी १८ से २७ मि. मि. लबी, १८-३१ मि. मि. चौडी तथा नीचे की ९-१८ मि. मि. लबी एव ६-१८ मि. मि. चौड़ी, चिकनी, अभिलट्वाकार, आयताकार या अण्डाकार, प्रायः लाल एवं लहरधार धार वाली होती हैं। पर्णवृन्त ६-१८ मि. मि. लबा, आधार की तरफ फैला हुआ एव पतला रहता है। **पुष्प**-एकाकी, विनाल, श्वेत या गुलाबी रंग के फूल द्विविभक्त शाखाओं के बीच से निकलते हैं। नरकेसर सख्या में १०-२० होते हैं। बीजकोश छोटा एवं १-५ काले रंग के वृक्काकार छोटे बीजों से युक्त होता है। **जड़**-ताजी अवस्था में कुछ मधुराभ किन्तु सूखने पर कडुई एव ह्रास कारक होता है।

इसकी जड एवं पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—पुनर्नवा में पाया जाने वाला क्षाराभ पुनर्नवीन (Punarnavine) इसमें भी पाया जाता है जो शुष्क द्रव्य में ०.०१% तक होता है। इसके अतिरिक्त सेपोनिन् (Saponin) एवं एक अन्य क्षाराभ जिसका रासायनिक सूत्र $C_{32} H_{46} O_6 N_2$ है, पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पत्र मूत्रल होते हैं तथा इनका उपयोग पुनर्नवा जैसा होता है किन्तु **जड़**-तीव्ररेचन होती है। गर्भिणी को देने पर आंत्र-प्रक्षोभ के साथ साथ गर्भाशय पर भी प्रभाव होने से कभी-कभी गर्भपात भी होता है। इसके पत्तों का शाक दीपन वातहर एव कफघ्न है।

(१) जिनमें तीव्र रेचन की आवश्यकता रहती है उन रोगों में इसके मूल का चूर्ण सोंठ के साथ मिला कर २, ३ बार में थोडा-थोडा करके देते हैं। यकृतोदर, जीर्ण मलावष्टम्भ एवं तज्जन्य कडु आदि त्वचा के रोग तथा पांडु में इसे देते हैं। इससे रेचन होकर शोथ कम हो जाता है। इससे श्वास में भी लाभ होता है।

(२) गर्भाशय विकार के कारण उत्पन्न अनार्तव में भी इसका प्रयोग करते हैं।

मात्रा—१५-६० गुजा।

१२० पुनर्नवा

हि०-लाल पुनर्नवा, सांठ, गदहपुर्ना। **बं०**-पुनर्नवा। **म०**-पुनर्नवा, घेंटुली। **गु०**-राती साटोडी, वसेडो। **क०**-सनाडिका। **ते०**-अटात मामिडि। **पं०**-खट्टन। **ता०**-मुकत्तै। **अ०**-इन्दकूकी। **अं०**-Hogweed, horse purslene (हागवीड, हॉर्स पर्सलेन)। **ले०**-*Boerhaavia diffusa linn.* (बोर्हविया डिफ्यूझा लिन) Fam. Nyctaginaceae (निक्टेजिनेसी)।

यह भी भारतवर्ष, बलूचिस्तान, लका तथा अन्य उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है। यह रेतीली तथा परती जमीन में अधिक होता है। इसका **क्षुप**-फैलने वाला, बहुवर्षायु, मृदुरोमश या चिकना होता है। इसके काण्ड ०.६-०.९ मि मी. लम्बे, प्रायः ललाई लिये हुये कडे, पतले, गोल एव पर्वसन्धि पर मोटे होते हैं। क्वचित् केवल हरे काण्ड के क्षुप भी देखने में आते हैं। शाखाएं कई गज तक फैल जाती हैं। **पत्ते**-सनाल, चौडे, लट्वाकार, प्रत्येक पर्वसन्धि पर छोटे बडे जोडे में। बडे २.५-२.७ से मि. मी. लम्बे एवं छोटे १२-१७ मि. मी. लबे तथा अधर तल पर श्वेताभ चिकने होते हैं। **पुष्प**-छोटे, गुलाबी या श्वेत लगभग अवृन्त, ४-१० की सख्या में एक लम्बे दण्ड पर आते हैं। पुकेशर २-३ होते हैं। **फल**-६ मि. मि. लबा, ५ धारीदार चिपचिपा तथा एक बीज से युक्त होता है। **जड़**-बडी तथा मूलकाकार होती है।

भेद—इसके दो भेद और पाये जाते हैं। एक में मूल कन्द सदृश तथा पत्रादि छोटे होते हैं।

यह शुष्क भूमि में अधिक होती है। दूसरी लता जाति की होती है। इसे B. repanda, willd (बो. रिपन्डा, वाइल्ड) कहते हैं। यह आरोहणशील या प्रसरणशील होती है। इसमें आमने सामने के दोनों पत्ते प्रायः कद में समान होते हैं। इसकी जड़ कन्द सदृश मोटी किन्तु भगुर होती है।

चिकित्सा में इसके पत्र एवं मूल का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में पुनर्नवीन (Punarnavine) नामक कार्यकारी क्षाराभ की मात्रा शुष्क द्रव्य में ०.०१% तक होती है। मूल में संपूर्ण क्षाराभ की मात्रा ०.०४% होती है। इसके अतिरिक्त इसमें पोटेशियम् नाइट्रेट (Potassium nitrate), सल्फेट (Sulphates), क्लोराइड (Chlorides) ६.५% एवं स्थिर तैल होता है। बिल्ली में क्षाराभ के शिरान्तर्गत सूचिकाभरण से रक्त का दवाव बढ़ता है तथा मूत्रत्याग अधिक होता है।

गुण और प्रयोग—पुनर्नवा मधुर, तिक्त, उष्ण, रूक्ष, स्वेदोपग, वयःस्थापन, विरेचन, दीपन, मूत्रविरेचन, कफघ्न, अधिक मात्रा में वामक एवं शोथहर है।

इसका प्रयोग शोथ, सर्वांगशोथ, उदर, कामला, मूत्राल्पता, पाण्डु, हृद्रोग, श्वास, उरःक्षत, सोजाक, विषविकार एवं नेत्रविकारों में किया जाता है।

(१) पुनर्नवा के मूत्रल गुण के कारण अनेक शोथयुक्त विकारों में इसका प्रयोग किया जाता है। नूतन यकृत-विकार तथा जीर्ण उदरावरणशोथ के कारण उत्पन्न जलोदर में अन्य मूत्रल ओषधियों की अपेक्षा इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। जब वृक्क का कार्य ठीक होता रहता है उस अवस्था में यह अच्छा कार्य करती है। इसमें उपस्थित पोटेशियम् के लवण इसमें के कार्यकारी क्षाराभ के कार्य को बढ़ाते हैं। उन रोगियों में जिनके मूत्र में अल्ब्यूमिन अधिक रहता है उतना अच्छा मूत्रल प्रभाव नहीं पड़ता। यकृत, वृक्क, उदरावरण आदि अवयवों में जब बहुत अधिक अवयवीय विकार हो जाता है तब इससे केवल अस्थायी लाभ होता है। शोथ में इसको पीस कर गरम कर लेप भी करते हैं।

(२) हृद्रोग में कास, श्वास, जलोदर एवं पैर की सूजन कम करने के लिये कुटकी, चिरायता एवं सोंठ के साथ इसका प्रयोग करते हैं। हृदय पर इसकी क्रिया कुछ डिजिटैलिस सदृश होती है।

(३) कामला में पित्त के निर्हरण के लिये इसका प्रयोग करते हैं।

(४) कफयुक्त श्वास में तथा श्वसनिकाशोथ में सोंठ तथा वच के साथ इसको देने से कफ निकलता है। अधिक मात्रा से वमन होकर भी कफ निकल जाता है।

(५) इसके शाक का उपयोग शोथ में तथा कुपचन में करते हैं।

(६) अभिष्यन्द आदि नेत्र रोगों में इसकी ताजी जड मधु में पीस कर आँख में लगाते हैं तथा आंतरिक प्रयोग भी करते हैं।

(७) वृश्चिकदंश, सर्पदंश, मूषिकविष आदि में इसका बाह्य एवं आंतरिक प्रयोग लाभदायक माना जाता है।

(८) रसायन के लिये इसके मूल के उपयोग का विधान है।

मात्रा—मूल-स्वरस ६ मा०-१ तो०; पत्रस्वरस १-२ तो०-वामक-मूल चूर्ण ५-१० माशा।

अथ गन्धप्रसारणी (पसरन)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

प्रसारणी राजबला भद्रपर्णी प्रतानिनी। सरणी सारणी भद्रा बला चापि कटम्भरा ॥२३४॥
प्रसारणी गुरुर्वृष्या बलसन्धानकृत्सरा। वीर्योष्णा वातहृत्तिक्ता वातरक्तकफापहा ॥२३५॥

प्रसारणी के नाम तथा गुण—प्रसारणी, राजबला, भद्रपर्णी, प्रतानिनी, सरणी, सारणी, भद्रा, बला और कटम्भरा इतने नाम 'पसरन' के हैं। प्रसारणी-तिक्तरसयुक्त, गुरु, वृष्य, बलकारी, सन्धानकारक, उष्णवीर्य एवं वात, वातरक्त और कफ को दूर करने वाली होती है ॥२३४-२३५॥

नोट—गन्धप्रसारणी नाम से उत्तर भारत में पेडेरिया फिटीडा (Paederia foetida) का व्यवहार किया जा रहा है। दक्षिण में केरल में प्रसारणी नाम से मेरेमिया ट्राइडेन्टेटा (Me-

rrimia tridentata) का व्यवहार किया जाता है। ऐसा 'आयुर्वेदिक फ्लोरामेडिका, कोट्टयम्' नामक पुस्तक में दिया हुआ है। कहीं-कहीं कन्वॉल्व्यूलस् आर्वेन्सिस् (Convolvulus arvensis) का प्रसारणी नाम से व्यवहार किया जाता है। इस दृष्टि से शास्त्रीय प्रसारणी का निर्णय अभी नहीं हो सका है।

१२१ गन्धप्रसारिणी

हि०-प्रसारणी, प्रसरनी, पसरन, गन्धाली। **बं०**-गन्ध भादुलिया। **म०**-प्रसारण, हिरनवेल। **गु०**-प्रसारणि। **ते०**-सविरेला। **आसाम०**-वेडोली सुट्टा। **ले०**-*Paederia foetida linn* (पेंडेरीया फिटीडा लिन) Fam Rubiaceae (रूबिएसी)।

यह भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पायी जाती है। मध्य और पूर्व हिमालय में ५००० फीट तक एवं दक्षिण की ओर तथा मलाया एवं बंगाल में उत्पन्न होती है।

यह **लता**जाति की वनौषधि बहुत विस्तार में फैलने वाली होती है। इसकी **डंडियाँ**-पतली, चिकनी, लम्बी एवं मजबूत होती हैं। नवीन **शाखें**-कोमल होती हैं। पुरानी लताओं की **जड़**-१-१॥ इञ्च मोटी होती है। **पत्ते**-अभिमुख (आमने सामने), आकार में छोटे बड़े, २ से ६ इञ्च तक लम्बे, १-२॥ इञ्च चौड़े, अण्डाकार-लट्वाकार, आयताकार-लट्वाकार या लम्बे लट्वाकार, नोकीले एवं लम्बे पत्रदण्ड से युक्त होते हैं। दोनों पत्तों के बीच में प्रतिग्रन्थि पर दो-दो संयुक्त पुखपत्र होते हैं। **पुष्प**-जामुनी गुलाबी रंग के, नलिकाकार पुष्प-मंजरियों में आते हैं। **फल**-चिपटा, चिकना, पांच रेखाओं से युक्त तथा १ बीजयुक्त होता है। **बीज**-चिकना, चिपटा एवं पतले आवरण से युक्त होता है।

इसकी लताओं में एक प्रकार की बुरी गन्ध होती है। जहाँ यह फैली हुई होती है वहाँ इसके निकट जाने पर इसकी बुरी गन्ध जान पड़ती है किन्तु जब इसको मसलते हैं तब बड़ी बुरी गन्ध पैदा होती है। पत्तों को उबाल कर क्वाथ बनाने पर दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है।

इसकी जड़ एवं पत्रादि का उपयोग किया जाता है। इसको मूल के साथ शरद्काल में उखाड़ कर संग्रह करना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें उड़नशील तैल एवं एक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, तिक्त, सर, गुरु, वृष्य, बल्य एवं वातकफ-शामक है। मूल की अधिक मात्रा से वमन होता है।

(१) आमवात, वातरक्त तथा सन्धिविकार में इसका बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयोग बहुत लाभदायक माना जाता है। इसको खिलाते हैं तथा लेप करते हैं। इसके साथ चित्रकमूल एवं त्रिकटु का भी उपयोग लाभदायक है। साथ में पत्तों का शाक भी खिलाते हैं।

(२) वातविकारों में इसके तैल का अभ्यङ्ग एवं आन्तरिक प्रयोग बहुत लाभदायक है।

(३) उदरशूल, आनाह एवं विबन्ध में पत्तों का कल्क उष्ण करके खिलाते हैं।

मात्रा—स्वरस १-२ तोला; चूर्ण २-४ माशा।

अथ कृष्णशारिवा (करिआवांसा)। तस्या नामान्याह

कृष्णा तु शारिवा श्यामा गोपी गोपवधूश्च सा ॥ २३६ ॥

कृष्णशारिवा (काली अनन्तमूल) के नाम—शारिवा, श्यामा, गोपी और गोपवधू ये नाम कृष्णशारिवा के हैं ॥ २३६ ॥

***इयं जम्बूवत्पत्रा सुगन्धा 'कलघण्टिके'ति प्रसिद्धा। गोपी-गोपस्य स्त्री पुंयोगान्ङीप् २३६**

इसके पत्ते जामुन के पत्तों के समान होते हैं, और इसमें सुगन्धि होती है। एवं यह 'कलघण्टिका' के नाम से प्रसिद्ध है।

यहाँ पर 'गोपी' इस पद में 'गोप की स्त्री' इस अर्थ में 'पुंयोगादाख्यायाम्' (४-१-४८) इस सूत्र से पुंयोग होने से 'गोप' शब्द से 'ङीप्' प्रत्यय हुआ है, ऐसा समझना चाहिये ॥ २३६ ॥

अथ श्वेतशारिवा । तस्या नामान्याह

धवला शारिवा गोपा गोपकन्या कृशोदरी । स्फोटा श्यामा गोपवल्ली लताऽऽस्फोता च चन्दना

श्वेतशारिवा के नाम—धवलशारिवा, शारिवा, गोपा, गोपकन्या, कृशोदरी, स्फोटा, श्यामा, गोपवल्ली, लता, आस्फोता और चन्दना ये नाम 'श्वेत शारिवा के हैं ॥ २३७ ॥

इयमपि जम्बूदलपत्रा दुग्धगर्भा प्रततिर्भवति । गोपा–गां पातीति गोपा, गोपकन्या । श्यामापदेन कृष्णा श्वेताऽपि शारिवा कथ्यते, शाश्वतेन शारिवामात्रे शारिवापदस्य प्रयुक्तत्वात् । तद्यथा—

'शारिवायां निशि श्यामाश्यामौ च हरितासितौ' इति ॥ २३७ ॥

यह भी जामुन के समान पत्तोंवाली तथा दुग्धगर्भा (भीतर जिसके दूध हो ऐसी) लता होती है। यहाँ पर 'गोपा' का 'गायों को पालन करने वाली' अर्थ है । 'आतोऽनुपसर्गे कः (३-२-३) इस सूत्र से क प्रत्यय हुआ बाद को टाप् प्रत्यय होने से 'गोपा' पद सिद्ध हुआ ऐसा समझना चाहिये ॥

और 'श्यामा' पद से काली तथा श्वेत दोनों शारिवा को समझना चाहिये । क्योंकि 'शाश्वत' कोशकार ने 'शारिवा' पद का शारिवा मात्र में (दोनों शारिवा में) प्रयोग किया है 'शारिवायाम्०' इत्यादि से ॥ २३७ ॥

अथ सारिवाद्वयस्य गुणानाह

सारिवायुगलं स्वादु स्निग्धं शुक्रकरं गुरु । अग्निमान्द्यारुचिश्वासकासामविषनाशनम् । दोषत्रयास्रप्रदरज्वरातीसारनाशनम् ॥ २३८ ॥

दोनों शारिवा (अनन्तमूल) के गुण—दोनों शारिवा—स्वादिष्ट, स्निग्ध, शुक्र को उत्पन्न करने वाली, गुरु एवं अग्निमन्दता, अरुचि, श्वास (दमा), खांसी, आम, विष, त्रिदोष, रक्त-प्रदर, ज्वर और अतिसार को नष्ट करती है ॥ २३८ ॥

नोट—सारिवा के दो भेद श्वेत एवं कृष्ण में हैं । इनमें से श्वेत सारिवा, अनन्तमूल (कपूरी) है । कृष्णसारिवा के स्थान पर करण्टा एवं दुधलत दो चीजों का व्यवहार किया जाता है। अनन्तमूल (श्वेत सारिवा) कम मिलने के कारण उत्तरप्रदेश के बाजारों में अधिकतर सारिवा के नाम से करण्टा के काण्ड बिकते हैं । जब केवल सारिवा लेने को लिखा हो तब अनन्तमूल लेना चाहिये एवं सारिवाद्वय लिखा हो तब अनन्तमूल एवं दुधलत या करण्टा का ग्रहण उचित है । करण्टा की पत्तियाँ कुछ-कुछ जामुन की पत्ती से मिलती जुलती होने के कारण इसे 'जम्बुपत्रा सारिवा' भी कहते हैं । यहाँ सब का वानस्पतिक वर्णन अलग-अलग किया गया है एवं गुण प्रयोगादि अनन्तमूल के दिये हैं ।

१२२ कृष्णसारिवा, दुधलत

सं०–कृष्णसारिवा । **हि०**–कालीसर, काली अनन्तमूल, दुधलत । **बं०**–कृष्ण अनन्तमूल, श्यामालता । **म०**–श्यामलता । **क०**–करीउंबु । **ते०**–नलतिग । **ले०**-*Ichnocarpus frutescens* (इक्नोकार्पस् फ्रूटेस्सेन्स) Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी) ।

यह हिमालय प्रान्त के नैपाल, गङ्गा नदी के आस-पास, बङ्गाल, आसाम, सिलहट, चटगाव और दक्षिण में उत्पन्न होती है । यह **लता** जाति की वनौषधि छोटे वृक्षों या गुल्मों पर चढ जाती है और सदा हरी भरी रहती है । **शाखाएँ**–प्रायः मुरचई रंग की होती हैं । **पत्ते**–अण्डाकार या चौडाई लिए हुए आयताकार, तीक्ष्णाग्र, या कुछ-कुछ लम्बाग्र, चिकने, २-३ इञ्च लम्बे तथा $\frac{3}{4}$ से $1\frac{1}{2}$ इञ्च चौड़े, एवं $\frac{1}{4}$ इञ्च लम्बे वृन्त से युक्त होते हैं । **पुष्प**–१-३ इंच लम्बी पुष्पमंजरियाँ पत्रकोण या शाखाग्र से निकलती रहती हैं जिनमें छोटे छोटे श्वेत सुगन्धित पुष्प रहते हैं । आभ्यन्तर दलों के खण्ड रोमश एवं मरोडे हुए रहते हैं । **फलियाँ**–पतली, लम्बी एवं दो दो एक साथ रहती हैं । **बीज**–नालीदार एवं रोमगुच्छ से युक्त होते हैं ।

इसकी जड़ अनन्तमूल जैसी ही दिखलाई देती है। इस पर की छाल कृष्णाभ भूरे रंग की एवं काष्ठ से चिपकी रहती है। काष्ठ भाग अनन्तमूल की अपेक्षा अधिक कड़ा रहता है। क्वचित् यह फटी हुई रहती है। इसमें अनन्तमूल जैसी गंध नहीं रहती।

गुण और प्रयोग—इसके गुणधर्म अनन्तमूल जैसे ही हैं। सारिवाद्य कहने पर इसका (कृष्ण) एवं अनन्तमूल (श्वेत) का ग्रहण करते हैं। ज्वर में पत्रयुक्त काण्ड का क्वाथ देते हैं।

कृष्ण सारिवा नाम से या अनन्तमूल के स्थान पर कहीं-कहीं [illegible] का व्यवहार किया जाता है।

१२३ कृष्णसारिवा, जम्बुपत्राकारिका, करण्टा

ले०-*Cryptolepis buchanani Roem* (क्रिप्टोलेपिस् बुचनेनी)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

इसकी **लता** भारतवर्ष के सभी भागों में होती है। यह बहुत फैलने वाली एवं काष्ठीय होती है। **पत्ते**-चिकने, आयताकार, अण्डाकार, जामुन के पत्र-सदृश क्षोद लिप्त रहते हैं। पत्रसिरायें पत्रतट के पहले ही परस्पर मिली हुई रहती हैं। **पुष्प**-पाण्डुरपीत और **फलियाँ**-दो-दो एक साथ रहती हैं। **काण्डत्वक्**-रक्ताभ कृष्ण एवं पतले परतों में छूटने वाली होती है। इस लता से अत्यधिक दूध निकलता है। इसके **मूल** में कोई गन्ध नहीं होती।

१२४ श्वेतसारिवा, अनन्तमूल, कपूरी

हि०-अनन्तमूल, कपूरी, सालसा। **बं०**-अनन्त मूल। **म०**-उपलसर, उपलसरी। **गु०**-उपलसरी, कागडियो कुढेर, कपूरी मधुरी। **ते०**-पालसुगन्धी। **ता०**-नन्नारी। **क०**-नमदवेरू। **अं०**-Indian Sarsaparilla (इंडियन् सारसापरिला)। **ले०**-*Hemidesmus indicus R. Br.* (हेमीडेस्मस् इंडिकस्)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)।

यह इस देश के सब प्रान्तों में विशेषतः बिहार, बगाल, सुन्दरवन, पश्चिमी घाट, मध्य प्रदेश, दक्षिण एव लंका में पाई जाती है। इसकी **लता**-बहुवर्षायु, पतली, फैलने वाली या लपेट कर चढ़ने वाली गुल्मजातीय होती है। **मूलस्तम्भ**-काष्ठमय होता है। **काण्ड**-पतला, गोल, चिकना या सूक्ष्म रोमयुक्त, लम्बाई में सूक्ष्म धारियों से युक्त एवं पर्व पर मोटा होता है। **पत्र**-विपरीत परन्तु प्रायः दूर-दूर, विभिन्न आकार के दीर्घवृत्त आयताकार से लेकर रेखाकार भालाकार, २-४ इञ्च लम्बे तथा विभिन्न चौडाई के ('३-१'५ इच), ऊपर से चिकने, गहरे हरे रग के एवं सफेद चिन्हों से युक्त, नीचे से हलके रंग के या कभी-कभी श्वेत-मृदुरोमश, नोकीले किन्तु चौड़े पत्र के अग्र कुण्ठित, जालिका विन्यास युक्त एव ३-४ मि. मि. लंबे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। **पुष्प**-छोटे, बाहर से हरिताभ किन्तु भीतर बैंगनी रग के पत्र कोणीय गुच्छों में आते हैं। **फली**-४-६ इच लंबी, पतली, गोल, दो दो एक साथ परन्तु अपसारी, अग्र की ओर क्रमशः संकुचित, सीधी या कुछ टेढी-मेढ़ी, सूक्ष्म धारीदार तथा चिकनी होती है। **बीज**-६ ८ मि. मि. लम्बे, अण्डाकार, आयताकार, चिपटे, काले रंग के एवं श्वेत रोमगुच्छ से युक्त होते हैं।

मूल—इसके मूल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। यह करीब १२ इञ्च लंबा, ३-६ मि मि. मोटा, गोल, कठोर, मुडा हुआ कुछ पतले उपमूलों से युक्त, बाहर से गहरे बादामी रंग का तथा कभी कभी कुछ भूरे रग का होता है। मध्य भाग पीत एव काष्ठमय रहता है जिसके चारो ओर का भाग श्वेत रहता है। इसकी छाल भूरे रग की, कार्क युक्त, चौडाई में फटी हुई एवं लंबाई में धारीदार एव आसानी से मध्य भाग से अलग की जा सकती है। इसमें कुछ कपूर जैसी मधुर गन्ध आती है तथा इसका स्वाद कुछ कडुआ, तिक्त किन्तु रोचक होता है। इसके स्थान पर करण्टा के काण्ड भी बिकते हैं जिसमें गन्ध नहीं होती। पुरानी गन्धहीन हो जाने पर इसका व्यवहार नहीं करना चाहिये। इसमें उड़नशील गधयुक्त कार्यकारी तत्त्व होने के कारण इसका क्वाथ न बनाकर फांट बना व्यवहार करना चाहिये। यह तत्त्व विशेषतया इसकी छाल में रहता है इसलिए पतली-पतली जड़ या जड की छाल का उपयोग करना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसकी ताजी जड़ में ०·२२५% एक उड़नशील तैल होता है जिसका ८०% भाग एक काउमॅरिन (Coumarin) सदृश गन्धयुक्त रवेदार पदार्थ (2-Hydroxy-4-Methoxy benzaldehyde) से युक्त होता है। इसके अतिरिक्त दो स्टेराल् (Sterol-Hemidesterol, Hemidesmol), राल, कषाय द्रव्य, शर्करा, कुछ ठोस पदार्थ एव कुछ ग्लाइकोसाइड (Glycoside) के पदार्थ इसमें पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—अनन्तमूल मूत्रविरेचन, मूत्रविरजन, स्वेदजनन, अग्निवर्धक, त्वक्-दोषहर, रक्तशोधक, वर्ण्य, जीवनविनिमय क्रिया के लिए उत्तेजक, रसायन, बल्य, दाहप्रशमन, पुरीषसंग्रहणीय एवं स्तन्यशोधन है। इसका प्रयोग ज्वर, कुष्ठ, कण्डू आदि चर्म रोग, फिरंग, जीर्ण आमवात, प्रदर, अग्निमांद्य, अरुचि, अतिसार, प्रमेह एवं श्वास-कासादि में किया जाता है। इसके फांट से मूत्र की मात्रा द्विगुनी या चौगुनी बढ़ती है तथापि इससे वृक्क को कोई हानि नहीं होती। इसका स्वेदजनन कार्य साधारण हैं इसलिये साथ में अन्य ज्वरघ्न औषधियों का प्रयोग करना चाहिये। इसमें जीवन-विनिमय क्रिया को उत्तेजित करने वाला धर्म बहुत महत्त्व का है। इसके साथ गुडूची एवं सुगन्धि द्रव्य मिलाकर प्रयोग करने से अधिक लाभ होता है।

(१) वृक्कशोथ जिसमें मूत्र की मात्रा कम हो, मूत्र गाढा एवं लाल रग का हो तव इसका फांट गुडुच एव जीरे के साथ देने से मूत्रमार्ग का शोथ तथा दाह कम होता है।

(२) फिरंग की द्वितीयावस्था तथा अन्य चर्म रोगों में इसको गुडुच के साथ देने से अच्छा लाभ होता है।

(३) बच्चों को दुर्बलता तथा पाण्डु आदि में वायविडंग के साथ इसको देने से बहुत लाभ होते हैं।

(४) प्रदर में इससे अच्छा लाभ होता है। उपदंश या सोजाक से गर्भस्राव होता हो तो इसका प्रारम्भ से ही उपयोग करते हैं। इससे बच्चा गौर वर्ण का होता है।

(५) व्रण पर इसकी मूल का लेप करते हैं। नेत्राभिष्यंद में इसका दुग्ध डालते हैं।

मात्रा—फांट ५-१० तोला; कल्क ३-६ माशा।

अथ भृङ्गराजः (भाँगरा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

भृङ्गराजो भृङ्गरजो मार्कवो भृङ्ग एव च। अङ्गारकः केशराजो भृङ्गारः केशरञ्जनः॥ २३९॥
भृङ्गारः कटुकस्तीक्ष्णो रूक्षोष्णः कफवातनुत्॥ २४०॥
केश्यस्त्वच्यः कृमिश्वासकासशोथामपाण्डुनुत्। दन्त्यो रसायनो बल्यः कुष्ठनेत्रशिरोऽर्त्तिनुत्॥

भाङ्गरा के नाम तथा गुण—भाङ्गरा के सस्कृत नाम-भृङ्गराज, भृङ्गरज, मार्कव, भृङ्ग, अङ्गारक, केशराज, भृङ्गार और केशरञ्जन ये सब हैं। **भांगरा**-कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण, रूक्ष, गरम, कफ-वात नाशक, केशों के लिये हितकर, त्वचा को साफ करने वाला, दाँतों के लिये हितकर, रसायन, बलकारक एवं कृमि, श्वास, कास, शोथ, आम, पाण्डुरोग, कुष्ठ, नेत्ररोग तथा शिरोरोग को दूर करता है॥ २३९-२४१॥

नोट—अन्य निघण्टुओं में इसके श्वेत, पीत एवं कृष्ण (नील) इन तीन भेदों का वर्णन है। कृष्ण भृङ्गराज क्या है, इसका निर्णय नहीं हुआ है। श्वेत पुष्प का भृङ्गराज सर्वत्र पाया जाता है जिसे Eclipta alba (एक्लिप्टा एल्बा) कहते हैं। पीत पुष्प का भृङ्गराज बंगाल, आसाम, कोंकण तथा मद्रास के समतल भागों में होता है जिसे Wedelia calendulacea (वेडेलिआ कॅलेण्डुलेसिआ) कहते हैं। दोनों एक ही वर्ण के हैं तथा गुणों की दृष्टि से दोनों में विशेष अन्तर नहीं है इसलिये दोनों के गुण तथा प्रयोग एक साथ ही दिये हैं।

१२५ भाङ्गरा

हि०-भाङ्गरा, भङ्गरा, भंगरैया। **बं०**-भीमराज, केशुरिया, केसरी। **म०**-माका। **गु०**-भांगरो। **क०**-गर्ग। **ते०**-गुटकल, लगरा। **ता०**-करीशलकन्नी। **फा०**-जमर्दर। **अ०**-कदमुल-रिंत। **ले०**-*Eclipta alba haosk.* (एक्लिप्टा एल्बा)। Fam. Compositae (कम्पोज़िटी)।

श्वेत भांगरा—इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में जलाशय के निकट उत्पन्न होता है। पहाड़ों पर यह ६००० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

इसका क्षुप-प्रसर की तरह भूमि पर फैला हुआ रहता है। शाखायें अनेक, भूमि से उठी हुई, खुरखुरी रहती हैं। पत्ते-छोटे बडे विविध आकार वाले दो इञ्च तक लम्बे, चौथाई इञ्च चौडे, अण्डाकार और ग्रथियों पर प्राय. मूलयुक्त नोकीले या आयताकार समवर्ती रहते हैं। पुष्प-छोटे वृन्त से युक्त एवं छोटे-छोटे मुण्डकों में आते हैं जिनमें प्रान्तीय पुष्प स्त्रीलिंग और जिह्वाकार एवं केन्द्रीय पुष्प घटिकाकार होते हैं।

पीले फूल का भाङ्गरा—आसाम, बङ्गाल, कोंकण तथा मद्रास आदि प्रान्तों में पाया जाता है। इसको लेटिन् में Wedelia calendulacea less (वेडेलिआ कॅलेण्डुलेसिया) कहते हैं। इसका प्रसर १८ इञ्च तक लम्बा होता है। इसके काण्ड जमीन के नीचे प्रायः १-२ फीट लगाई में फैले रहते हैं जिनसे स्वावलम्बी शाखायें ऊपर की ओर निकली रहती हैं। पत्ते-आयताकार प्रासवत्, २-३ इंच लबे, लगभग अखण्ड या दन्तुर होते हैं। अधः पत्रावली के पत्र लगभग दो चक्रों में और बाहर के ३-५ पत्र बडे एव पर्णाकार होते हैं। पुष्पों के मुण्टक पीले होते हैं जिसमें प्रान्तीय जिह्वाकार पुष्प सख्या में लगभग आठ होते हैं।

भृङ्गराज के स्वरस एव पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। इसको उबालने से इसका गुण नष्ट होता है इस लिये इसके स्वरस का प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक सगठन—श्वेत भृङ्गराज में अधिक मात्रा में राल तथा एक्लिप्टाइन (Eclip-tine) एव निकोटीन (Nicotine) नामक क्षाराभ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—भृङ्गराज तिक्त, उष्ण, दीपन, पाचन, वातानुलोमक, रसायन, कफवातहर, चक्षुष्य, त्वग्दोषहर, केश्य एव वर्ण्य है। इसका प्रयोग कुपचन, यकृतविकार, पाण्डु, कास, श्वास, कुष्ठ, चर्म रोग एवं पलित में करते हैं। इसकी अधिक मात्रा से वमन होता है।

(१) यकृत पर इसकी विशेष क्रिया होती है जिससे पाचन सुधर कर शरीर की सभी क्रियाएं ठीक होती हैं। यकृत दोष के कारण उत्पन्न यकृत् वृद्धि, प्लीहा वृद्धि, कामला, अर्श, उदर, शिरःशूल, त्वचा के रोग, चक्कर आदि में इससे लाभ होता है।

(२) जीर्ण चर्मरोग जैसे कुष्ठ, कण्डू, व्रण, पलित, इन्द्रलुप्त तथा वृश्चिक-दशपर इसका लेप करते हैं तथा पिलाते हैं। बाल काला करने के लिये तथा बढाने के लिये इसका रस काशीश के साथ लेप करते हैं। अग्निदग्ध व्रण पर मरवा, मेंहदी तथा इसकी पत्ती का लेप करने से जलन दूर होती है तथा व्रण का दाग भी नहीं रहता। इससे सिद्ध तैल का भी नस्य एव केश्य रूप में प्रयोग किया जाता है जिससे शिरःशूल, दृष्टिमान्द्य एव पालित्य आदि में लाभ होता है।

(३) रसायन के लिये विशेष कर नील भृङ्गराज के सेवन का विधान है। एक महीने तक इसके स्वरस-पान के साथ दुग्धाहार पर रहने से बल एवं वीर्य की वृद्धि होती है तथा शतायु होता है।

(४) छोटे बच्चों की कास में इसका १-२ बूद स्वरस मधु के साथ देते है, जिससे गले की घरघराहट भी कम होती है।

(५) इसके बीज वाजीकर होते हैं।

मात्रा—स्वरस ½-१ तोला, बीज १-२ माशा।

अथ शणपुष्पी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शणपुष्पी स्मृता घण्टा शणपुष्पसमाकृतिः। शणपुष्पी कटुस्तिक्ता वामिनी कफपित्तजित्॥२४२॥

शणपुष्पी के नाम तथा गुण—शणपुष्पी, घण्टा तथा शणपुष्पसमाकृति (शणपुष्प के समान आकृति वाली) ये नाम 'शणपुष्पी' के हैं। शणपुष्पी-यह कटु तथा तिक्तरसयुक्त, वमन कराने वाली एवं कफ-पित्तनाशक होती है॥ २४२॥

१२६ शणपुष्पी

हि०-शनपुष्पी, झुनक, सनई, बनसन, पटसन, झुनझुनिया। बं०-वनशण। म०-घागरी, तिरत, खुलखुल। गु०-घुघरो। क०-गिज्जि गिल। ते०-घेलेफेरिंटा। ता०-वेल्लैनिकलुकिलुप्पै। ले०-*Crotalaria verrucosa lim* (क्रोटेलेरिया वेर्रुकोसा)। Fam. Leguminioscae (लेगुमिनोसी)।

शणपुष्पी—प्रायः भारत के गरम प्रान्तों में उत्पन्न होती है और सिलोन में भी पाई जाती है।

अथ त्रायमाणा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

बलभद्रा त्रायमाणा त्रायन्ती गिरिजाऽनुजा। त्रायन्ती तुवरा तिक्ता सरा पित्तकफापहा।
ज्वरहृद्रोगगुल्मार्शोभ्रमशूलविषप्रणुत् ॥ २४३ ॥

त्रायमाणा के नाम तथा गुण—बलभद्रा, त्रायमाणा, त्रायन्ती, गिरिजा तथा अनुजा ये नाम 'त्रायमाणा' के हैं। **त्रायमाणा**-तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, सारक, पित्त कफनाशक एवम् ज्वर, हृद्रोग, गुल्म, अर्श, भ्रम, शूल और विष को दूर करने वाली होती है ॥ २४३ ॥

नोट—त्रायमाण एक संदिग्ध द्रव्य हो गया है। विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न द्रव्यों का त्रायमाण नाम से उल्लेख किया है किन्तु आजकल अधिकाश विद्वान् जेन्शियाना कुर्रो (Gentiana curroo) को त्रायमाण मानते हैं। इसका वर्णन पहले कुटकी के वर्णन के पश्चात् किया जा चुका है क्योंकि कुटकी में प्रायः इसकी मिलावट रहती है। जिन गुणों के लिये आचार्यों ने त्रायमाण का प्रयोग किया है वे इसमें मिलते हैं तथा इसका प्रादेशिक पर्वतीय नाम त्रायमान भी कहीं कहीं मिलता है। तिक्त, सारक आदि गुण तथा ज्वर, गुल्म आदि में लाभ करने के कारण एव पर्वतीय स्थानों में होने वाले (गिरिजा) इस अत्यन्त उपयोगी द्रव्य की त्रायमाणा होने की अधिक समावना है। चरक में तिक्त स्कध में (वि. अ. ८) रक्तपित्त के लिये (चि. अ. ४), ज्वर में (चि. अ. ३), गुल्म की चिकित्सा में (चि. अ. ५), पैत्तिक अतिसार में (चि. अ. १०) एवं विसर्प में (चि. अ. ११) तथा सुश्रुत में लाक्षादिगण (सू. अ. ३८) में इसका उल्लेख है। इसके सबध में अन्य मतों का सक्षेप में उल्लेख अप्रासंगिक न होगा।

(१) श्री डा० वा० ग० देसाई ने ओषधि-सग्रह नामक ग्रन्थ में त्रायमाणा नाम से डेल्फिनिअम झलिल् (Delphinium zalil) का वर्णन किया है जिसका पंचांग ईरान से आता है इसका पंजावी नाम उन्होंने 'गाफिइन्', ईरानी नाम अस्फ़क (अस्परग) किया है। मुहति आजम नामक ग्रंथ में गाफिस का सस्कृत नाम त्रायमाण दिया है। इसी पुस्तक में श्री देसाई ने 'घाफिय्', गाफिम् नाम से ईरान में होने वाला जेन्शियाना का भेद जेन्शियाना डेहुरिका (Gentiana deharica) का उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि ईरान से आनेवाले इन दोनों द्रव्यों को गाफिस् के नाम से प्रयोग करते हैं।

(२) श्री यादवजी ने 'द्रव्यगुणविज्ञान' में श्री वैद्यराज विद्याधरजी विद्यालंकार, पो० सोलन, जि० शिमला के मत का उल्लेख करते हुए एक वनस्पति का वर्णन किया है, किन्तु उसके लेटिन नाम को नहीं लिखा है। श्री प्रियव्रतजी शर्मा ने 'द्रव्यगुणविज्ञान' में त्रायमाण नाम से जेन्शियाना कुर्रो का वर्णन किया है जो उपर्युक्त श्री यादवजी की पुस्तक में वर्णित वनस्पति से मिलता है। इससे ऐसा मालूम होता है कि श्री यादव जी की पुस्तक में की वनस्पति जेन्शियाना कुर्रो ही है किन्तु इन्होंने इसमें श्री देसाई के नव्यमत का उल्लेख किया है वह श्री देसाई ने अपनी पुस्तक में डेल्फिनिअम के अन्तर्गत किया है न कि जेन्शियाना के वर्णन में।

(३) श्री ठाकुर दलजीत सिंहजी 'यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान' में गाफिस नाम से जे० डेहुरिका का वर्णन करते हैं जिसका भारतीय भेद जे० कुर्रो मानते हैं। इसका स्थानीय नाम त्रायमाण होने का उल्लेख है।

(४) कुछ वंगीय वैद्य, त्रायमाण नाम से शुष्क उदुम्बर जातीय अन्यफल 'बलाडुमूर', 'भुईडुमूर' Ficus heterophylla (फिकस् हेटेरोफाइला) या उसके भेद का प्रयोग करते हैं जिसमें सारक गुण न होकर कुछ स्तंभन गुण ही होता है।

(५) कुछ लोग वनफशा को, कुछ पियारांगा या कहीं कहीं ममीरी नाम से भी बिकने वाली थॅलिक्ट्रम् फोलियोलोसम (Thalictrum foliolosum) की जड़ को त्रायमाणा मानते हैं। ममीरी का नेत्र रोगों में अधिक उपयोग होता है किन्तु त्रायमाणा के गुणों में उसके नेत्र्य होने के संबध में कुछ भी उल्लेख नहीं हैं। पहले कुटकी में जेन्शियाना कुरों का वर्णन किया जा चुका है। यहाँ डेल्फिनिअम् जलिल् का वर्णन किया जा रहा है।

१२७ त्रायमाण (१)

ले०-*Delphinium zalil A. tch. & Hemse* (डेल्फिनिअम् जलील)। Fam. Ranunculaceae (रेनन्क्युलेसी)। **हिं०**-असबर्। **बं०**-गुल्जलील। **पं०**-असवर्ग, गाफिस्। **इरा०**-झलिल् असफ़क्। **अ०**-झरिर।

अफगानिस्तान, फारस आदि देशों में यह होता है। इसका क्षुप बहुवर्षायु होता है। **पत्र**-छोटे तथा पीताभ होते हैं। **पुष्प**-चमकीले, पीले रंग के मृदुरोमश तथा उनके नीचे कोमल कंटि रहते हैं। **फल**-छोटे, शिराओं से युक्त, नोकदार, डंठलदार एवं तीन कोष्ठयुक्त होता है। **बीज**-कोणयुक्त, हलके भूरे या कपिल रंग के होते हैं। **जड़**-लंबी होती है, इसके पुष्पयुक्त पंचांग का आयात होता है जो वस्त्र रंगने के काम आता है। यह हलके हरिताभ पीले रंग का एवं ताजी अवस्था में मधु जैसा सुगंधित रहता है।

रासायनिक संगठन—इसमें आइसोहॅम्नेटिन् (Isorhamnetin, $C_{16}H_{12}O_7$), क्वेर्सेटिन् (Quercetin) तथा संभवतः केम्फेरोल (Kaempferol) नामक तत्त्व पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त, पौष्टिक, मूत्रजनन, कोष्ठवातप्रशमन, आनुलोमिक, दीपन, वेदनाहर एवं पूतिहर (detergent) है। इससे पित्तस्राव होता है, जिससे पाचन उत्तेजित होता है। भूख लगती है तथा शौच साफ होता है। इसका क्वाथ बनाकर दिया जाता है। अधिक मात्रा से हानि होती है।

इसका प्रयोग कुपचन, आध्मान, अग्निमांद्य, उदरशूल, अर्श, कामला, प्लीहावृद्धि, शोथ, सभी प्रकार के उदर, जीर्णज्वर एवं पित्तज्वर में किया जाता है। पित्तज्वर में इसका अधिक उपयोग करते हैं।

इसकी राख नीबू के रस के साथ मिलाकर या घृत के साथ खुजली आदि त्वचा के रोगों में लगाई जाती है। जव के आटे के साथ इसके पञ्चाग का चूर्ण पकाकर उसकी लुगदी सूजन या फोडे पर बाँधते हैं।

मात्रा—½-१ तो० क्वाथ बनाकर।

१२८ त्रायमाण (२)

ले०-*Thaleitrum foliolosum D C.*(थेलिक्ट्रम फोलिओ लोसम)। Fam. Ranunculaceae (रेनन्क्युलेसी)। **हिं०**-ममीरा, पीली जड़ी, शुद्रक, चवन्नीगाछ। **बं०**-गुरवियानि। **बंब**-ममीरी, पीआरग। **अ०**-ममीरा चीनी।

त्रायमाण सदृश कुछ गुण इसमें मिलने के कारण इसको कुछ लोग त्रायमाण मानते हैं। यह नेत्र्य होने के कारण वास्तविक ममीरी Coptis teeta wall (कॉप्टिस टीटा) का प्रतिनिधि भी इसे मानते हैं। पिआरंग नाम से बजार में बिकनेवाला द्रव्य इसी की जड है, ऐसा मानते हैं। किन्तु इसमें सन्देह है।

यह हिमालय में सर्वत्र ५००० से ८००० फीट तक एवं खासिआ पहाडों पर ४००० से ६००० फीट की ऊँचाई तक होता है। इसका **क्षुप**-४-८ फीट ऊँचा, बहुवर्षायु तथा दृढ होता है।

पत्ते-पक्षाकार संयुक्त एवं पत्राधार कोषमय होता है। पत्रक-४-६ मि० मि०, बडी चवन्नी की तरह गोलाई लिये हुए तथा धार पर प्रायः गोल दन्तुर होते हैं। पुष्प-श्वेत या हलके हरे रंग के गुच्छे में आते हैं। फल-छोटे, आयताकार, दोनों तरफ नोकीले तथा धारीदार होते हैं।

मूलस्तम्भ—गाँठदार, पतले उपमूलों से युक्त एव तोडने पर पीला होता है। इसका स्वाद कड़ुवा होता है। इसके मूल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें ८३/४% बर्बेरीन (Berberine) एवं थॉलिक्ट्राइन (Tholiotrine) नामक तत्त्व होते हैं। मूल में का यह भाग जल में आसानी से घुल जाता है किन्तु मद्यसार में कम घुलता है।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त-पौष्टिक, विषमज्वरनाशक, सारक, एवं मूत्रल है। इसका प्रयोग विषमज्वर, अग्निमांद्य, कुपचन एवं रोगनिवृत्ति के पश्चात् की दुर्बलता में करते हैं। नेत्ररोग में इसको घिसकर पलकों पर लेप करते हैं।

मात्रा—२-५ रत्ती।

१२६ त्रायमाण (३)

ले०-*Ficus heterophylla Linn.* (फिकस हेटेरोफाइला); Fam. Moraceae (मोरॉसइ)। बं०-भुइंडुमूर, बालाडुमूर।

इसे बंगीय वैद्य त्रायमाण नाम से प्रयोग में लाते हैं। यह भारत के सभी उष्ण स्थानों में होता है। इसका **गुल्म**-झाड़दार या कभी-कभी जमीन या चट्टानों पर फैला हुआ होता है। **शाखाएँ**-मृदुरोमश होती हैं। **पत्ते**-सनाल, आकार मे छोटे बडे, अण्डाकार या कुछ भालाकार खुरदरे एव कटे किनारेवाले होते हैं। **फल**-का अग्र भाग मोटा तथा गोलाकार होता है। **बीज** गोलाकार होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके मूल का रस शूल में देते हैं। इसके पत्तों का रस दूध के साथ अतिसार में दिया जाता है। कास, श्वास में इसके मूल की छाल धनिया के साथ चूर्ण रूप में दी जाती है।

अथ मूर्वा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मूर्वा मधुरसा देवी मोरटा तेजनी स्रुवा। मधूलिका मधुश्रेणी गोकर्णी पीलुपर्ण्यपि ॥२४४॥
मूर्वा सरा गुरुः स्वादुस्तिक्ता पित्तास्रमेहनुत्। त्रिदोषतृष्णाहृद्रोगकण्डूकुष्ठज्वरापहा ॥२४५॥

मूर्वा के नाम तथा गुण—मूर्वा, मधुरसा, देवी, मोरटा, तेजनी, स्रुवा, मधूलिका, मधुश्रेणी, गोकर्णी और पीलुपर्णी ये सब नाम मूर्वा के हैं। मूर्वा स्वादिष्ट, तिक्त रसयुक्त, सारक, गुरु एवं पित्तरक्त, प्रमेह, त्रिदोष, तृषा, हृद्रोग, कण्डू (खुजली), कुष्ठ तथा ज्वर को दूर करनेवाली होती है॥

मूर्वा एक सदिग्ध द्रव्य है। अनेक स्थानों पर विभिन्न प्रयोगों में मूर्वा का उल्लेख मिलता है। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण के समय ही यह द्रव्य संदिग्ध रहा है ऐसा उनकी टीका से मालूम होता है क्योंकि उन्होंने उसके परिचय में निम्न तीन प्रकार के मतों का विभिन्न स्थानों पर वर्णन किया है।

(१) मूर्वा चोरस्नायुः, यया पूर्वदेशे गुणान् कुर्वन्ति धनुषाम् (सु सू अ. २२);
मूर्वा कन्दलीसदृशः स्वल्पविटपः 'हगौड' इति लोके। (सु. सू. अ. २९)

(२) मूर्वा धनुर्गुणोपयोग्या 'दुधक' इति लोके।

(३) अन्ये कोविदारयुग्मपत्रां लताविशेषां मूर्वामाचक्षते।

इन वचनों से ऐसा मालूम पडता है कि प्रथम एवं द्वितीय मत उन्हें कुछ मान्य थे और तृतीय मत स्वीकार्य नहीं था। इसी प्रकार श्रीकण्ठ (सन् १२००-१२५०) ने 'मूर्वा स्वनामख्याता तदभावे जिललमूलम्' लिखा है जिससे यह अनुभव होता है कि उनके समय में भी यह सन्दिग्ध द्रव्य रहा है।

विभिन्न निघण्टुओं के अनुसार मूर्वा मधुर, तिक्त, सर, गुरु, त्रिदोषशामक एव ज्वर, प्रमेह, हृद्रोग, कुष्ठ, वमन एवं पाण्डु रोग में लाभदायक है। सुश्रुत में आरग्वधादिगण, पटोलादिगण, पित्तसंशमन वर्ग एव विरेचन विकल्प अध्याय में इसका उल्लेख है। चरक में तृतिघ्न, स्तन्यशोधन, दशेमानि में एवं तिक्तस्कन्ध में इसका पाठ है। क्षीरशोधन एव वमनोपग द्रव्य के रूप में भी इसका उल्लेख है।

इसके स्वरूप वर्णन से ऐसा मालूम होता है कि यह कोई मजबूत रेशेवाली लता विशेष होगी जिसका मौर्वी आदि बनाने में उपयोग किया जाता रहा है। विभिन्न निघण्टुओं ने इसके रूप-परिचयात्मक जो नाम दिये हैं वे सम्भवतः एक ही वनस्पति के लिये नहीं हैं। आज मूर्वा नाम से ली जानेवाली वनस्पतियों में से किसी में एक तो दूसरी में दूसरा नाम सार्थक मालूम पड़ता है। सम्भव है कि प्रत्यक्षतः न देखने के कारण विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रयुक्त सभी नामों को एक साथ पर्याय में लिख दिया गया है। इसी प्रकार मोरटा को कुछ निघण्टुकारों ने इसके पर्याय में लिखा है और कुछ ने मूर्वा-विशेष कहकर दूसरे द्रव्य के रूप में भी उल्लेख किया है।

निम्नलिखित द्रव्यों का मूर्वा नाम से प्रयोग हो रहा है।

(१) **मरुआबेल, चिन्हार**—सम्भवतः डल्हण ने इसे ही-धनुर्गुणोपयोग्या 'दुधक' इति लोके-कहा है। अतिरसा, गोकर्णी, स्रुवा आदि पर्याय इसके लिये उचित मालूम पडते हैं। यह क्षीरबहुल-लता होती है। रॉक्सवर्ग के मतानुसार वनस्पति सृष्टि में अत्यन्त मजबूत रेशों में इसके काण्डत्वक् के निकाले हुये रेशों की गणना की जानी चाहिये। इसके स्थानिक थारू नाम मारवी या मरुआवेल मूर्वा से मिलते-जुलते मालूम पडते हैं। इसमें मूर्वा के गुण भी मिलते हैं। इन्हीं आधारों से श्री ठा० बलवन्तसिंहजी ने इसे मूर्वा माना है।

(२) **वंगीय मूर्वा**—यहाँ डल्हणोक्त प्रथम द्रव्य चोरस्नायु या हगौड मालूम पडता है। इसे बंगाल के वैद्य मूर्वा मानते हैं।

(३) **मालझन, मालुआ बेल**—सम्भवतः यही डल्हणोक्त कोविदारयुग्मपत्रा वा अन्योक्त पृथक्पर्णी है जिसकी बडी विस्तृत लतायें होती हैं तथा पत्ते कचनार जैसे द्विविभक्त होते हैं।

(४) **मोरवेल, रानजाई**—बम्बई के तरफ इसको मूर्वा मानते हैं इसके लिये त्रिपर्णी नाम सार्थक मालूम पडता है।

(५) **मुरहरी, मोरहरी**—चित्रकूट में यह मुरहरी नाम से प्रसिद्ध है। मधुरसा, पीलुपर्णी, तेजनी आदि पर्याय इसके लिये उपयुक्त प्रतीत होते हैं। सम्भवतः डल्हण-निर्मित मोरटा यह हो।

(६) **मरोडफली**—इसके ऐंठे हुये फलों को उत्तरप्रदेश में मूर्वा नाम से लिया जाता है जो वास्तव में 'आवर्तनी' है न कि मूर्वा।

सक्षेप में प्रत्येक का स्वतन्त्र वर्णन यहाँ किया जा रहा है। इनमें से चिन्हार की मूर्वा होने की अधिक सम्भावना है।

१३० मूर्वा (१)

मिर्जापुर-जरतोर, चिन्हार। **थारु**-मारवी, मरुआवेल। **खर**-सिटी, चिटी। **सथा**-कोंगा, सिटकी। **ले०**-*Marsdenia tenacissima, W. & A.* (मार्सडेनिया टेनॉसीसिसमा)। Fam, Asclepiedaceae (एस्कलेपिएडॅसी)।

यह दून के खैर के जगल, हिमालय के नीचे का भाग तथा विहार में प्रायः शुष्क पर्वतमालाओं एव झाडीदार जगलों में पाई जाती है।

इसकी **लता**—मोटी, मजबूत काण्ड की, दुग्धयुक्त एव चक्रारोही होती है। इसका नवीन भाग रोमश एव काण्डत्वक् धूसर, कार्कयुक्त एव नालीदार होता है। **पत्ते**-४ ६ इञ्च लबे ३ ४ इंच चौडे स्पर्श में मखमली तलवाले, चौडाई लिये हुये लट्वाकार, लम्बाग्र एव आधार की

तरफ फलकमूल यकायक बहुत गहरा फटा हुआ हृद्वत् होता है। **पत्रनाल**-२-५ इञ्च लम्बा होता है। **पुष्प**-हरित-पीत प्रायः दुर्गन्धयुक्त एवं गुच्छों में आते हैं। **फली**-४·५-५ इञ्च लम्बी एव व्यास में १·२-१·४ इञ्च, रोमश और आधार से एक तिहाई दूरी पर सबसे अधिक मोटी होती है।

नवीन शाखाओं की त्वचा से सफेद रेशम जैसे रेशे निकलते हैं जिनसे मछली मारने की रस्सी एवं धनुष की डोरी (मौर्वी) बनाई जाती है। यह **विषमज्वर** में बहुत उपयोगी बतलायी जाती है।

इसकी एक दूसरी उपजाति M. hamiltonii, wight (मॉ० हमिल्टोनाइ) भी मिलती हैं जिसे मोरन अडा भी कहीं-कहीं कहते हैं। इसमें पुष्प छोटे और आभ्यन्तर कोश बाहर से सफेद होते हैं।

लाखन—नामक एक और इसी वर्ग की बड़ी लता होती है जिसे लकवा में बहुत लाभदायक समझा जाता है। इसका ले० नाम Dregia volubilis (ड्रेगिया ह्वल्यूबिलिस) है।

१३१ मूर्वा (२)

सं०-चोरस्नायु? **बं० म०**-घणरूप। **बं०**-गोराचक्र, मूर्वा। **उ० प्र०**-नागदमन। **ले०**-*Sansevieria roxburghiana Schult* (सेन्सेह्वेरिया राक्सबर्घियाना); Fam. Haemodoraceae (हेमोडोरेसी)।

यह कारोमंडल तट पर पाया जाता है। बगीचों में गमलों में यह लगाया हुआ मिलता है।

इसमें जमीन के नीचे दिगन्तसम फैला हुआ अन्तर्भूमिशायी काण्ड होता है, जिससे जगह-जगह पत्रगुच्छ ऊपर निकले रहते हैं।

पत्ते-खड़े, १२-१८" लम्बे, १-१·३" चौड़े, अधरतल पर उन्नतोदर, बीच में सबसे अधिक चौडे, दोनों तटों पर श्वेताभ पट्टियों से युक्त होने के कारण चित्रित एव इनका अग्र तीक्ष्ण, कठोर एवं १ इञ्च लम्बा होता है। पत्तों के बीच से **पुष्पध्वज**-निकलता है। व्यूह सवृन्त काण्डज, घना १२"×२" बड़ा एवं पुष्प २-३ एक साथ उन्नत स्थानों से निकलते हैं।

इससे भी मजबूत रेशे निकलते हैं, जिनका मौर्वी बनाने में उपयोग होता है। पूर्वी भारत, बगाल एवं उड़ीसा में इसका मूर्वा के नाम से प्रयोग कहीं-कहीं होता है।

इसके पत्र एव मूल का चिकित्सा में उपयोग होता है।

गुण और प्रयोग—पुरानी खाँसी में इसकी जड का रस मधु के साथ देते हैं। इसके कोमल पत्तों का रस बच्चों को गले का कफ ढीला होकर निकालने के लिये देते हैं।

१३२ मूर्वा (३)

सं०-कोविदार युग्मपत्रा, पृथक्पर्णी। **हि०**-मालझन, माहुल, मालो, महुलाइन। **बं०**-चेहुर। **ते०**-अड्डा। **था०**-महुलन। **खर०**-महुलान। **संथा०**-लमकलर, गोमलर। **उ०**-सियालपत्ता। **ले०**-*Banhinia vahlii W & A.* Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह हिमालय के निम्न भागों में ३००० फीट तक एव आसाम, मध्यप्रदेश तथा बिहार में नम एव छायादार स्थानों में वृक्षों पर फैली हुई पाई जाती हैं।

इसकी **लता**-बहुत बडी तथा आरोहणशील होती है। शाखाओं के अग्र पर प्रायः दो-दो सूत्र रहते हैं। नवीन शाखाओं, पत्रनालों एवं पत्तों के अधः पृष्ठों पर रक्ताभ या मखमली रोमावरण होता है। **पत्ते**-१ से १½ फीट तक चौडे, चौडाई में कभी-कभी अधिक नहीं तो लम्बाई-चौड़ाई में बराबर, द्विखण्डित, खण्ड गहराई तक कटे हुये एवं फलकमूल गहरा, हृद्वत् होता है। **पुष्प**-श्वेत या मलाई के रंग के, समस्थ काण्डज व्यूह में आते हैं। **फली**-कठोर, ९-१२ इञ्च लम्बी, १½-२ इञ्च चौडी एव रोमश होती है।

इसके पत्तों के पत्तल आदि बनाये जाते हैं। छाल के रेशों से रस्सियाँ बनाई जाती हैं। इसकी फलियों को आग में चिटका कर बीज निकाले जाते हैं, जिन्हें खाते हैं।

देहरादून के व्यापारियों द्वारा इसके मूल **मूर्वा**-नाम से वेचे जाते हैं। टल्हण ने इसका मालू नाम से उल्लेख किया है एव इसे कोविदार-सदृश पर्ण वाला कहा है। डल्हण के समय से ही कुछ लोग इसे मूर्वा नाम से प्रयोग करते रहे हैं। किन्तु वह मत टल्हण को मान्य नहीं था क्योंकि अश्मतक के परिचय में उसके लिये 'मालुया-सदृशपत्रः' लिखा है न कि 'मूर्वासदृशपत्रः'।

इसमें एक गोंद होता है। बाह्यत्वक् में टैनिन की मात्रा १७% एवं काण्ड में ७% होती है।

इसका मूल ज्वरघ्न, फल अतिसारघ्न एवं मूल-स्वरस क्षय में पिलाने के लिये लाभदायक माना जाता है। बीज बल्य माने जाते हैं।

१३३ मूर्वा (४)

हि०-चुरनहार। उ०-गोलरंग। देह०-वेलकगु, वेलकम। म०-रानजाई। गु०-मोरवेल। ले०-*Clematis gouriana Rox b* (क्लेमॅटिस गोरियाना राक्स)। Fam. Ranunculaceae (रेननक्युलेसी)।

यह पश्चिम हिमालय में ५००० फीट तक एवं भारत के सभी प्रान्तों में १ से ३ हजार फीट तक होती है।

यह लता जाति का एक विस्तृत क्षुप है, जिसकी कई उपजातियाँ इस प्रान्त में पाई जाती हैं। नवीन भाग मृदु रोमश होता है। **पत्ते**-सयुक्त पक्षवत् होते हैं। पत्रनाल सूत्रसदृश होता है, जिससे ये लताएँ दूसरे वृक्षों पर चढती हैं। **पत्रक**-अण्डाकार, आयताकार, हृद्वत्, तीक्ष्णाग्र, एवं ऊपर से चमकीले होते हैं। **पुष्प**-प्रायः श्वेत वर्ण के एवं त्रिविभक्त मञ्जरियों में होते हैं। **फल**-रोमश एव पंखवत् पुच्छदार होते हैं।

महाराष्ट्र के कुछ लोगों ने इसे मूर्वा माना है, किन्तु इसके किसी भाग से रेशे नहीं निकलते; इसलिये इसे मूर्वा मानना उचित नहीं है। मूर्वा को 'धनुर्गुणोपयोग्या' होना आवश्यक है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक तिक्त विषैला तत्त्व पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह स्रसन, कुष्ठघ्न एवं स्वेदजनन है। इसके पत्ते तथा ताजे काण्ड को पीसकर चर्म पर लगाने से छाले पड़ते हैं।

उपदंश, गण्डमाला, रक्तपित्त, कुष्ठ एव खुजली में इसके पञ्चांग का फाट देते हैं। इससे त्वचा की विनिमय-क्रिया ठीक होती है। ज्वर एव नये सन्धिवात में इससे लाभ होता है।

१३४ मूर्वा (५)

सं०-पीलुपर्णी, मधुरसा, तेजनी, मोरटा। चित्रकूट-मुरहरी। ता०-भूमि चक्करे। ते०-मोरिनिका। गु०-विका। ले०-*Maeruá arenaria Hook. f. & Th.* (मेरुआ एरेनेरिया हुक)। Fam. Capparidaceae (कॅपेरिडेसी)।

यह पंजाब, सिंधु, गुजरात, दक्षिण एवं मध्यभारत में होती है।

इसकी आरोही झाडीदार लता होती है। **पत्र**-१ से २ इञ्च लम्बे, ½-१ इञ्च चौड़े, अण्डाकार-आयताकार, कुण्ठिताग्र एवं चिकने होते हैं। **पुष्प**-हरिताभ श्वेत, समशिख (कोरिम्ब) गुच्छों में आते हैं। **फल**-हलके भूरे रग के तथा प्रत्येक बीजों के बीच में सकुचित होते हैं। **बीज**-भूरे, गोल तथा काँटेदार होते हैं।

इसकी जड रसायन, वल्य एव उत्तेजक मानी जाती है।

१३५ मूर्वा (६)

सं०-मूर्वा, आवर्तनी, आवर्तमाला। हि०-मरोडफली, मरोरफली, ऐंठनी, गोमठी। म०-केवण, मुरडशेंग। बं०-आरमोरा। गु०-मरडासिंग, मरडासिंगी। ता०-वलंबुरि। ते०-आडामति। ले०-*Helicteres isora Linn.* (हेलिक्टेरीज आइसोरालिन); Fam. Sterculeaceae

यह पश्चिम एव मध्य भारत के शुष्क जंगलों में विहार से लेकर जम्मू तक तथा पश्चिमी पेनिनसुला में पाई जाती है।

इसका गुल्म या छोटा वृक्ष होता है। पत्ते-फालसे की तरह तथा ऊपर से खुरदरे होते हैं, मध्यनाड़ी के भाग असमान होते हैं। शिराएँ-५-७ होती हैं। पुष्प-टेढ़े, अनियताकार तथा लालरंग के होते हैं। फल-१-२ इञ्च लम्बे ऐंठे हुये तथा पाँच खण्ड युक्त होते हैं। यह पाँच स्त्री-केशरों से बने हुए होते हैं। इनका मूर्वा नाम गलती से प्रयोग किया जा रहा है। इसकी छाल से सफेद दृढ़ रेशे भी निकाले जाते हैं।

गुण और प्रयोग—

यह शीतल, कषाय, त्रिदोषघ्न एवं कृमिनाशक है।

इसके फल स्तंभन एवं ग्राही होते हैं तथा बच्चों के मरोड़ एवं आनाह में लाभदायक हैं।

इसकी छाल या फल अतिसार तथा प्रवाहिका में लाभदायक है। शूल में मूल, छाल या फल दिया जाता है। पेट की बीमारियों में इसका चूर्ण भूनकर २½-३ माशे की मात्रा में घृत एवं शर्करा के साथ दिया जाता है।

इसके मूल की छाल का क्वाथ मधुमेह में दिया जाता है। खुजली में इसके फल को घिस कर लेप करने से लाभ होता है।

मात्रा—१½-३ माशा।

अथ काकमाची (मकोय)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

काकमाची ध्वाङ्क्षमाची काकाह्वा चैव वायसी। काकमाची त्रिदोषघ्नी स्निग्धोष्णा स्वरशुक्रदा॥
तिक्ता रसायनी शोथकुष्ठार्शोज्वरमेहजित्। कटुर्नेत्रहिता हिक्काच्छर्दिहृद्रोगनाशिनी ॥२४७॥

मकोय के नाम तथा गुण—काकमाची, ध्वाङ्क्षमाची, काकाह्वा और वायसी ये सब नाम मकोय के हैं। **मकोय**—तिक्त तथा कटुरस युक्त, त्रिदोषनाशक, स्निग्ध, उष्ण, स्वर को ठीक करने वाली, शुक्रजनन, रसायन, नेत्र के लिये हितकर एवं शोथ, कुष्ठ, अर्श (बवासीर), ज्वर, प्रमेह, हिक्का, वमन और हृद्रोग को दूर करने वाली होती है॥ २४६-२४७॥

१३६ मकोय

हि०-मकोय। **बं०**-काकमाची, गुडकामाई। **म०**-कानोणी। **गु०**-पीलुडी। **फा०**-रूबाह-तुर्बुक। **अ०**-इनबुस्सालब। **अं०**-Garden Nightshade (गार्डेन नाइटशेड)। **लै०**-*Solanum nigrum Linn* (सोलॅनम्-नाइग्रम्)। Fam. Solanaceae (सोलेनॅसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में एवं ८००० फीट तक पश्चिम हिमालय में उत्पन्न होती है।

इसका **क्षुप**-१-१॥ हाथ तक ऊँचा होता है और **शाखायें**-सघन होती हैं। यह गर्मी में नष्ट हो जाता है और वर्षा के अन्त में उत्पन्न हो जाड़े में खूब हरा-भरा दिखाई पड़ता है। इसके **पत्ते**-अखण्ड, लहरदार या कभी कभी दन्तुर या खण्डित, लट्वाकार, प्रासवत् लट्वाकार या आयताकार, ४×१·७ इञ्च तक बड़े और उनका **फलक**-प्रायः वृन्त पर नीचे तक फैला रहता है। **पुष्प**-छोटे, सफेद और पत्रकोण से हट कर निकले हुए पुष्पदंड पर समस्थ मूर्धज क्रम में निकले रहते हैं। **फल**-गोल और पकने पर काले हो जाते हैं। कभी-कभी लाल या पीले भी होते हैं।

इसके फल एवं पचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। चरक में तिक्तस्कन्ध में इसका पाठ है। इसके शाक का प्रयोग चरक ने वातरक्त, अर्श, ऊरुस्तम्भ आदि में किया है।

रासायनिक संगठन—इसमें सोलेनिन (Solannin) नामक एक क्षाराभ पाया जाता है। इसके अतिरिक्त सॅपोनिन भी इसमें होता है। सॅपोनिन का विषैला द्रव्य बहुत अल्प मात्रा में इसमें होता है। इसकी विषाक्तता की परीक्षा करने के लिए भेड़ों को खिला कर देखा गया है।

गुण और प्रयोग—यह त्रिदोषशामक, अनुष्णाशीत, तिक्त, कटु, रसायन, कुष्ठघ्न, भेदन (सारक), मूत्रजनन, वृष्य, स्वेदजनन एव वेदनाहर है। इसके ताजे पत्तों का स्वरस गरम करके दिया जाता है। इसके फल ज्वर, अतिसार, नेत्ररोग एव हृद्रोग में लाभदायक है।

इसका प्रयोग शोथ, कुष्ठ, नेत्ररोग, हृद्रोग, जीर्णयकृत्-वृद्धि, रक्तष्ठीवन, अर्श, ज्वर एव कंडू में किया जाता है।

(१) इसका प्रधान कार्य यकृत् पर होता है। जीर्ण यकृत्वृद्धि, अर्श, उदर, रक्तष्ठीवन, चर्मरोग तथा आंव आदि यकृत् विकार के कारण होने वाले रोगों में इससे लाभ होता है। इससे शौच साफ होता है तथा मूत्र द्वारा भी दोष निकलते हैं।

(२) जीर्ण चर्मरोग विशेष कर कडू, सॉराइसिस् (Psoriasis) तथा दाद में इसके कोमल काड तथा पत्तों का शाक खिलाते हैं एव पत्रलेप भी करते हैं।

(३) किसी भी प्रकार के शोथ में इसका बाह्यान्तर प्रयोग लाभदायक है। इसका शाक शोथ में खिलाते हैं। जलशोथ में इसका स्वरस अधिक मात्रा में दिया जाता है।

मात्रा—स्वरस १-२ तोला।

अथ काकनासा । तस्या नामगुणानाह

काकनासा तु काकाङ्गी काकतुण्डफला च सा ॥ २४८ ॥
काकनासा कषायोष्णा कटुका रसपाकयोः। कफघ्नी वामनी तिक्ता शोथार्शश्वित्रकुष्ठहृत् ॥

काकनासा के नाम तथा गुण—काकनासा, काकाङ्गी और काकतुण्डफला ये नाम काकनासा के हैं। काकनासा—कषाय, कटु तथा तिक्त रसयुक्त, उष्णवीर्य, विपाक में कटु रसयुक्त, कफनाशक, वमन कराने वाली एव शोथ, अर्श, सफेद कुष्ठ को दूर करने वाली होती है ॥ २४८-२४९ ॥

काकनासा संदिग्ध द्रव्य है। कई वनस्पतियों के फलों को जो काक तुण्ड सदृश दिखलाई देते हैं, काकनासा नाम से ग्रहण किया जाता है। चरक में मधुर स्कन्ध में तथा च्यवनप्राश में इसका उल्लेख है। कासचिकित्सा के त्र्यूषणादि घृत में एव अपस्मार, योनिरोग आदि की चिकित्सा में उल्लेख है। सुश्रुत में अनुवासनवस्ति-द्रव्यों में इसका उल्लेख है। चक्रपाणि एवं डल्हण की टीकाओं में इसे 'वायसफला' लिखते हैं। अन्य टीकाकारों ने इसका प्रादेशिक नाम कौवाटोटी, कौवाठोडी, कौआडोडी आदि दिया है। कहीं-कहीं काकनासा एव काकजघा ये एक दूसरे के पर्याय दिये हैं, जो उचित नहीं मालूम होता। इस वनस्पति के निर्णय में काकतुण्डवत् फल का होना आवश्यक है। साथ ही इसमें उष्ण, कटु, कफनाशक, वामक एव चर्मरोगनाशक गुण भी होना आवश्यक है। अर्वाचीन निघटुकारों एव टीकाकारों ने जिन विभिन्न वनस्पतियों का उल्लेख कौवाटोडी या काकनासा नाम से किया है उनमें अधिकाश विदेशी वनस्पतियाँ हैं जो कुछ काल से यहाँ भी प्रचुर होने लग गई हैं। काकनासा तो चरक-सुश्रुत के समय से चली आ रही है ऐसी अवस्था में इन्हें काकनासा मानना कहाँ तक उचित होगा? काकनासा के स्थान पर ली जाने वाली कुछ वनस्पतियों का सक्षेप में यहाँ वर्णन किया गया है। पटोलभेद, **कौआरोटी**, **ले०**-*Trichosanthes cucumerina linn* (ट्राइकोसेन्थस् क्युकुमेरिना लिन.) के फल पकने पर कौवे खाते हैं इसलिये कुछ लोग इसके काकनासा होने का अनुमान करते हैं। इसका वर्णन पटोल के साथ किया गया है। कुछ लोगों ने Pentatropis microphylla W. & A. (पेन्टाट्रोपिस् माइक्रोफाइला); Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी) को तथा कुछ ने बृहती (Solanum indicum सोलेनम् इण्डिकम्) को काकनासा माना है।

१२७ काकनासा (१)

ले०-*Asclepias curassavica Linn* (एस्क्लेपिअस् कुरेसेविका लिन.), Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)। **सं०**-काकतुण्डी, रक्तपुष्पा। **बं०**-कुरकी, कुर्की। **पं०**-काकतुण्डी। **अं०**-Bastard Ipecacuanha (बॅस्टर्ड इपेकॅक्युआन्हा)।

यह वेस्ट इण्डीजका विदेशी पौधा है किन्तु अब बागों में तथा गावों के आस-पास मिलता है। इसका क्षुप-स्वावलम्बी तथा २ फीट ऊँचा होता हैं। **पत्र**-आमने-सामने २-३ इञ्च लम्बे, भालाकार या आयताकार-भालाकार होते हैं। **पुष्प**-नारंग या (स्कारलेट) रक्त रंग के गुच्छों में आते हैं। **फली**-दो-दो एक साथ, ३ इञ्च लंबी तथा काकतुण्ड सदृश होती है। **जड़**-बहुत, पतली, हलके पीले रंग की तथा भीतर से श्वेत रहती है। स्वाद कडुवा तथा तीता होता है। इसमें दुग्ध होता है। इसकी जड, पञ्चाग एवं पत्र का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पंचांग में एस्क्लेपिॲडिन् (Asclepiadin) नामक एक ग्लुकोसाइड होता है। इसकी जड में विंसेटॉक्सिन (Vincetoxin) नामक द्रव्य होता है जिसकी क्रिया इमेटीन (Emetine) सदृश होती है।

गुण और प्रयोग—इसके कार्यकारी तत्त्व की क्रिया इमेटीन सदृश होती है। अर्क से भी इसका सादृश्य है। इससे रक्तवाहिनियों का सकोच एवं बडी धमनियों का विस्फार होता है। हृदय के लिये यह अवसादक है। अल्प मात्रा में यह आमाशय उत्तेजक, यकृत के लिये उत्तेजक, पित्तस्रावक, स्वेदजनन एवं कफघ्न है। अधिक मात्रा में यह वामक एवं विरेचक है।

इसका प्रयोग कृमि, रक्तस्राव, राजयक्ष्मा, सोजाक, आमातिसार तथा अर्शमें किया जाता है।

(१) इसके पत्तों या पुष्पों का लेप रक्तस्राव रोकने के लिये करते हैं।

(२) कफविकारों में इसको देने से कफ पतला हो कर निकलता है।

(३) सोजाक में इसका क्वाथ ताजा बनाकर देते हैं।

१३८ काकनासा (२)

हि०-बिछुआ। **म०**-विंचु। **बं०**-बाघनोकी। **लै०**-*Martynia diandra glox.* (मार्टिनिआ डाइएन्ड्रा) Fam. Pedaliaceae (पेडॅलिएसी)।

यह मेक्सिको (Mexico) का आदिवासी होते हुये भी भारत में काफी फैल गया है तथा कूड़े आदि के स्थानों पर होता है।

इसका **क्षुप**-३, ४ फीट ऊँचा, मोटा, स्पर्श में मृदु रोमश, चिपचिपा तथा भींगा हुआ सा होता है। **पत्ते**-६-९ इञ्च लम्बे, विपरीत, ताम्बूलाकार, दूर-दूर पर दन्तुर एवं तट पर लहरदार होते हैं एवं इनका पृष्ठ प्रायः ओसकणों के समान एक चिपचिपे पदार्थ के सूक्ष्म बिन्दुओं से ढका रहता है। **फूल**-३-४ इञ्च लंबी और अग्रय मजरिओं में नीचे की ओर लटके हुये, गुलाबी या गहरे बैंगनी रंग के एवं आकार में तिलपुष्प के समान होते हैं। **फल**-काले रङ्ग का, बहुत कठोर, अग्र पर दो तीक्ष्ण एवं टेढ़े कांटों से युक्त होता है। इन फलों का भ्रमवश काकनासा या वृश्चिकाली नाम से प्रयोग चल रहा है, जो गलत है। फल का स्वरूप कुछ कुछ बिच्छू के समान होने से तथा बिच्छू के काटने पर इसका लेप उपयोग में आने से इसे बिछुआ कहते हैं।

गुण और प्रयोग—बिच्छू के काटने पर इसके फल को घिस कर लेप करते हैं। भभके से फल का निकाला हुआ तैल पाका आदि चर्म रोगों में उपयोगी बतलाया जाता है। इसके पत्तों को अपस्मार में प्रयोग करते हैं तथा अपची में लेप करते हैं।

१३९ काकनासा (३)

लै०-*Thunbergia alata* (थन्बर्जिआ एलेटा); Fam. Acanthaceae (एकेन्थेसी)।

यह लता देहरादून के वैज्ञानिक उद्यान में लगाई हुई है। **पत्ते**-लट्वाकार, लम्बाग्र एवं **पुष्प** बड़े, नील बैंगनी रङ्ग के एवं **फल**-काकतुण्ड सदृश होते हैं। कुछ लोग इसे काकनासा मानते हैं।

अथ काकजङ्घा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

काकजङ्घा नदीकान्ता काकतिक्ता सुलोमशा। पारावतपदी दासी काका चापि प्रकीर्त्तिता॥
काकजङ्घा हिमा तिक्ता कषाया कफपित्तजित्। निहन्ति ज्वरपित्तास्रव्रणकण्डूविषक्रिमीन्॥

काकजङ्घा के नाम तथा गुण—काकजङ्घा, नदीकान्ता, काकतिक्ता, सुलोमशा, पारावतपदी, दासी और काका ये सब नाम काकजङ्घा के हैं। काकजङ्घा शीतवीर्य, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त एवं कफ, पित्त, ज्वर, रक्तपित्त, व्रण (घाव), कण्डू (खुजली), विष और क्रिमि को दूर करनेवाली होती है॥ २५०-२५१ ॥

नोट—काकजङ्घा के स्थान पर उत्तर प्रदेश में मसी का ग्रहण किया जाता है किन्तु यह निःसदिग्ध रूप से काकजङ्घा नहीं माना जा सकता। डॉ० देसाई ने Leea hista (लीआ हिस्टी) को काकजङ्घा माना है। श्री ठा. बलवन्तसिंह जी ने 'सिकजगा' नामक वृक्ष की तरफ ध्यान आकर्षित किया है क्योंकि उसमें स्थानिक नाम तथा गुण काकजङ्घा से मिलते-जुलते हैं। शास्त्रादि गुणों की दृष्टि से काकजङ्घा विषमज्वरनाशक, कफ-पित्तशामक, तिक्त, चर्मरोगनाशक एवं रक्तपित्त, बाधिर्य, क्षत, विष, एवं कृमि में लाभदायक होनी चाहिये। रा. नि. एवं ध. नि. इसे उष्ण मानते हैं। काकनासा, काकजङ्घा, काकमाची आदि काकसम्बन्धी वनस्पतियों का उल्लेख ग्रन्थों में आया है और टीकाकारों ने कहीं कहीं एक को दूसरे का पर्याय बतलाया है।

१४० काकजंघा (१)

हि०—काकजंघा, मसी। **बं०**—नासकागा। **म०**—रान किरायता। **ले०**-*Peristrophe bicalyculata Nees* (पेरिस्ट्रोफ वाईकेलीक्युलेटा नीस्) Fam. Acanthaceae (एके-थेसी)।

यह सर्वत्र पाया जाता है। इसका **क्षुप**-३-६ फीट ऊँचा एव **शाखायें**-प्रसरणशील होती हैं **काण्ड**-षट्कोण एवं सन्धियाँ फूली हुई रहती हैं। **पत्ते**-रोमश, नोक वाले तथा नीचे बडे एवं ऊपर छोटे होते हैं। नीचे के पत्ते ४·२५"×२·७५" होते हैं। पुष्पवाहक शाखाएँ अत्यन्त शाखाओं से युक्त और अन्तिम छोटी छोटी शाखाएँ केवल दो-दो पुष्पों वाली होती हैं जिनमें प्रायः एक पुष्प अर्ध विकसित रहता है। **पुष्प**-छोटे, गुलाबी या जामुनी रग के आते हैं।

गुण और प्रयोग—काकजंघा के स्थान पर उत्तरप्रदेश में इसी का व्यवहार किया जा रहा है। किन्तु इसके काकजघा होने में सन्देह है। इसको सर्पविष में उपयोगी बतलाया जाता है।

१४१ काकजंघा (२)

सं०—काकाजंघा। **हि०**—चिरईगोडा, मिजुरगोरवा। **असा०**—ओसाई। **बं०**—बोरूना गोडा। **ले०**-*Vitex peduncularis Wall* (वाइटेक्स पेडक्युलेरिस् वाल.)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

यह बिहार, मध्यप्रदेश, आसाम तथा पूर्वी बंगाल से तेनासरिम तक होता है।

इसके **वृक्ष**-छोटे २०, २५ फीट ऊँचे, एवं शाखाएँ मृदुरोमश होती हैं। **पत्ते**-संयुक्त-एवं त्रिपत्रक होते हैं। **पत्रक**-लम्बे, भालाकार, ४·५"×१" बडे नोकीले, अधरतल पर सूक्ष्म पीतवर्ण की ग्रन्थियों से युक्त होते हैं। वृन्त प्रायः सपक्ष होते हैं। **पुष्प**-६-११ इञ्च लम्बी मञ्जरियों में श्वेतवर्ण के तथा कण्ठ में पीले पुष्प आते हैं। **फल**-मासल, गुठलीदार एवं ·३५-·४ इञ्च बडा होता है।

इसके पत्तों का व्यवहार किया जाता है। इसकी एक अन्य जाति V. Leucoxylon (वा. ल्यूकोक्साइलोन) पायी जाती है।

इनके स्थानिक नाम सिमजघा, मुरगी-गोडा, चिरई गोडा आदि काकजंघा के समानार्थक मालूम पडते हैं तथा इसका जगली लोग विशिष्ट विषमज्वर Blackewater Fever (ब्लैक वाटर फीवर) में प्रयोग भी करते हैं। काकजघा को शास्त्रकारों ने विषमज्वर में उपयोगी बतलाया है। वरुण वृक्ष के पत्तों की तरह इसकी त्रिपत्रक पत्तियां होने के कारण इसे कहीं कहीं वरुना भी कहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में एक उडनशील तैल, अधिक मात्रा में टॅनिन्, गोंददार पदार्थ एवं कुछ ग्लूकोसाइड सदृश पदार्थ होते हैं।

गुण और उपयोग—इसके पत्तों का फांट मलेरिया जैसे ज्वरों में विशेषकर Blackewater

fever (ब्लैक वाटर फीवर) में प्रयोग किया जाता है। दो औंस ताजे या छाया में सुखाये पत्तों को ४० औंस जल में ५।१० मिनट उबाल कर १ घण्टा सीझने देते हैं। चाय की तरह बना यह फाट कुछ चीनी मिला कर दिन भर में ८ से १० औंस की मात्रा में दिया जाता है।

१४२ काकजंघा (३)

सं०, हि०, बं०, म०-काकजघा। **ले०**-*Leea hirta rox b* (लीआ हिर्टा राक्स.)। Fam. Vitaceae (विटेसी)।

यह सिक्किम हिमालय, आसाम, पूर्व बंगाल, सिलहट एवं अण्डमान में होती है। इसकी सदाहरित पत्रयुक्त झाडी होती है। **काण्ड**-खुरदुरा **पत्र**-लंबगोल, नोकीले, दन्तुर, ऊपरी पृष्ठ खुरदरा एवं अधःपृष्ठ मृदुरोमश होता है। **पुष्प-मंजरी** लोमयुक्त एवं बड़े फूलों से युक्त होती है। **फल**-चने बराबर एव पकने पर काले हो जाते हैं। इसकी **जड़** का चिकित्सा में व्यवहार करते हैं।

गुण और प्रयोग—यह लेहन तथा सग्राहक है।

अथ नागपुष्पी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

नागपुष्पी श्वेतपुष्पा नागिनी रामदूतिका। नागिनी रोचनी तिक्ता तीक्ष्णोष्णा कफपित्तनुत्।
विनिहन्ति विषं शूलं योनिदोषवमिक्रिमीन् ॥ २५२ ॥

नागपुष्पी के नाम तथा गुण—नागपुष्पी, श्वेतपुष्पा, नागिनी और रामदूतिका ये नाम नागपुष्पी के हैं। **नागपुष्पी**—तिक्त रसयुक्त, रोचक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य एवं कफ, पित्त, विष, शूल, योनिसम्बन्धी दोष, वमन तथा क्रिमि को नष्ट करने वाली होती है॥ २५२ ॥

१४३ नागपुष्पी

हि०-नागपुष्पी। **म०**-नागाली।

नागपुष्पी लता जाति की वनौषधि जङ्गल में वृक्षों पर फैली हुई रहती है। एक २ शाखा में एक २ पत्ता होता है। **फूल**-सफेद और काले रङ्ग के होते हैं। वेल के नीचे कन्द बैठता है।

नागपुष्पी का उल्लेख रा. नि. ध. नि. में नहीं मिलता। चिकित्सा में भी इसका विशेष प्रयोग नहीं होता।

अथ मेषशृंगी (मेढाशिङ्गी)। तस्या नामानि तत्फलस्य च गुणाँश्चाह

मेषशृङ्गी विषाणी स्यान्मेषवल्ल्यजशृङ्गिका। मेषशृङ्गी रसे तिक्ता वातला श्वासकासहृत्॥
रूक्षा पाके कटुः पित्तव्रणश्लेष्माक्षिशूलनुत् ॥ २५४ ॥
मेषशृङ्गीफलं तिक्तं कुष्ठमेहकफप्रणुत्। दीपनं स्रंसनं कासक्रिमिव्रणविषापहम् ॥ २५५ ॥

मेढाशिंगी के नाम तथा गुण—मेषशृङ्गी, विषाणी, मेषवल्ली और अजशृङ्गिका ये सब संस्कृत नाम हैं। **मेढाशिंगी**—तिक्त रसयुक्त, वातकारक, रूक्ष, विपाक में कटु रसयुक्त एवं श्वास, कास, पित्त, व्रण, कफ और नेत्रशूल को दूर करने वाली होती है। **मेढाशिंगी का फल**—तिक्त रसयुक्त, अग्निदीपक, स्रंसन एवं कुष्ठ, प्रमेह, कफ, कास, कृमि, व्रण और विष को नष्ट करने वाला होता है॥ २५३-२५५ ॥

नोट—मेषशृङ्गी भी सन्दिग्ध द्रव्य है। अधिकाश विद्वानों ने 'गुडमार' को मेषशृङ्गी माना है। कुछ ने 'मरोडफली' को मेषशृङ्गी माना है। मरोटफली को कुछ मूर्वा के स्थान पर ग्रहण करते हैं तथा इसका पहले मूर्वा के अन्तर्गत वर्णन किया जा चुका है। मेषशृङ्गी का सुश्रुत में वरुणादिगण एवं सालसारादिगण में उल्लेख है। सुश्रुत में वरुणादिगण में अजशृङ्गी एव मेषशृङ्गी दोनों का एक जगह पाठ किया है इससे ये दो अलग द्रव्य मालूम पडते हैं किन्तु भावप्रकाश एवं ध. नि. दोनों का पर्याय के रूप में उल्लेख करते हैं। चरक में तिल्वक कल्प एव शीतज्वरोक्त अगुर्वादि तैल में उल्लेख है। सुश्रुत ने विष एव अक्षिविकार में इसका प्रयोग किया है। यहाँ गुडमार का सक्षेप में वर्णन किया जा रहा है।

१४४ मेढ़ाशिंगी।

सं०-मधुनाशिनी। **हि०**-मेढासिंगी, गुडमार। **बं०**-मेषसिंगी। **म०**-मेढाशिंगी, कावकी। **ता०**-शिरुकुरज। **ते०**-पोडापत्री। **ले०**-*Gymnema sylvestres R. Br.* (जिमनेमा सिल्वेस्टर)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)।

यह कोकण, त्रावणकोर, गोवा, दक्षिण भारत में विशेष रूप से होती है। बिहार में भी कहीं-कहीं मिलती है। उ० प्र० में बागों में लगाई हुई मिलती है।

इसकी **लता**-चक्रारोही, पतले काण्डवाली, काष्ठमय, रोमश तथा बहुत फैली हुई होती है। **पत्ते**-अभिमुख अण्डाकार आयताकार या लट्वाकार, कभी-कभी हृद्वत्, १-२ इञ्च लम्बे, कभी-कभी ३ इच लम्बे, नोकदार एव मृदुरोमश होते हैं। **पुष्प**-रूक्ष, पीले, समस्थ मूर्धजक्रम में निकले हुए एवं आभ्यन्तर कोश घण्टिकाकार चक्राकार होत हैं। **फली**-२-३ इञ्च लम्बी, २-३ इञ्च मोटी, कठोर, भालाकार क्रमशः नोकीली होती हैं। दो में से प्रायः एक फली का विकास नहीं होता। इसके सर्वांग में दूध होता है। **मूल**-कनिष्ठिका जितना मोटा तथा बाहर से मुलायम एव उसपर सीधी धारियाँ होती हैं। मूल सूखने पर छाल पतली होकर आड़ेबल में फट जाती है। इसका स्वाद नमकीन एव तीता होता है।

इसकी पत्तियों को चबाने से जीभ की स्वाद ग्रहणशक्ति नष्ट हो जाती है। जिससे १-२ घण्टे तक मधुर तथा तिक्तरस का स्वाद नहीं मालूम पडना। इसी से इसे **गुडमार** या मधुनाशिनी कहते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें Gymnemic acid (जिम्नेमिक एसिड) नामक एक पदार्थ होता है। पत्तों में अन्थ्राक्विनोन कम्पाउण्ड (Anthraquinone compound) होता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुण इपिकाक तथा उतरण जैसे हैं। यह कफघ्न तथा वामक है। इसके पत्तों के सेवन से मधुमेह में लाभ होता है।

(१) मधुमेह में इसके पत्तों को चबाने से या इसके पत्र चूर्ण को १-२ माशे की मात्रा में गोदुग्ध वा मधु के साथ सेवन से लाभ होना है।

(२) जड की छाल से हृल्लास, स्वेदोत्पत्ति एव अधिक मात्रा (१५-३० र०) से वमन होता है। इससे कफ निकलता है एव शरीर पीडा कम होती है।

(३) सर्पदंश में मूल का क्वाथ पिलाते हैं तथा लेप करते हैं जिससे वमन, विरेचन होकर विषकम होता है। बाद में उत्तेजक औषधियाँ देते हैं।

(४) पत्तों को पीसकर सूजन तथा व्रण पर लेप करते हैं।

मात्रा—पत्रचूर्ण १-२ माशा, मूलत्वक् १-२ र० कफघ्न, १५-३० र० वामक।

अथ हंसपदी (हंसराज)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

हंसपादी हसपदी कीटमाता त्रिपादिका। हसपादी गुरुः शीता हन्ति रक्तविषव्रणान्।
विसर्पदाहातीसारलूताभूताग्निरोहिणीः॥ २५६॥

हसराज के नाम तथा गुण—हसपादी, हसपदी, कीटमाता और त्रिपादिका ये सस्कृत नाम हसराज के हैं। **हसराज**—गुरु, शीतवीर्य एव रक्तविकार, विष, व्रण, विसर्प, दाह, अतीसार, लूताविष, भूतग्रह और अग्निरोहिणी को दूर करती है॥ २५६॥

१४५ हंसराज

हि०-हंसपदी, समलपत्ती, हसराज, गोधापदी। **बं०**-गोयलिया लता, कालीसाइ। **गु०**-हस राजा। **म०**-हनपदी, हसराजा। **फा०**-परसा वशा, परस्यां वशां। **अ०**-शारूजीनां, शारूल अर्ज। **अं०**-Maiden hair (मैडेन हेयर)। **ले०**-*Adiantum-lunulatum Burm.* (एडी एण्टम् ल्युन्युलेटम् बर्म)। Polypodiaceae (पॉलिपोडिएसी)।

यह उत्तरी भारत के आर्द्र स्थानों में एव दक्षिण के पश्चिमी मैदानों तथा पहाड़ियों के निचले भागों में होती है।

यह वनस्पति सुन्दर तथा छोटी होती है। इसमें अन्तर्भूमिशायी कांड होता है। इससे केवल पत्ते बाहर निकले रहते हैं। पत्रदण्ड काला, चमकीला होता है। **पत्रक**–कुछ कुछ वृत्ताकार या अण्डाकार, आयताकार, ·५–१·३ इंच लम्बे, अग्र की ओर का किनारा सरल और आधार की ओर का किनारा घुमावदार होता है। इसमें **पुष्प** नहीं होते। अधर तल के किनारे पर बीजाणु कोष (Sporagia) होते हैं। इसका चरक में कण्ठ्य महाकषाय, मधुर स्कन्ध तथा सुश्रुत में विदारिगन्धादि गण में पाठ है। चिकित्सा में पंचांग का व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह मधुर, शीत, कण्ठ्य, कुछ ग्राही, कफघ्न एवं कुछ मूत्रजनन है। अधिक मात्रा से वमन होता है। इसका प्रयोग ज्वर, रक्तविकार, विसर्प, विषविकार एवं कण्ठ विकार में करते हैं। बच्चों के कास में इससे लाभ होता है। इसके पचांग का शरबत बना कर ½–१ तो० की मात्रा में प्रयोग करते हैं।

मात्रा—१०-३० रत्ती।

अथ सोमलता। तस्या नामगुणानाह

सोमवल्ली सोमलता सोमक्षीरी द्विजप्रिया। सोमवल्ली त्रिदोषघ्नी कटुस्तिक्ता रसायनी २५७

सोमलता के नाम तथा गुण—सोमवल्ली, सोमलता, सोमक्षीरी और द्विजप्रिया ये सब सोमलता के पर्यायवाची शब्द हैं। **सोमलता**–कटु तथा तिक्तरसयुक्त, त्रिदोषनाशक एवं रसायन होती है॥

सोमलता

सोमलता नामक दिव्य औषधि क्या है? इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने विचार किया है किन्तु अभी तक इसका निर्णय नहीं हो सका है। वास्तव में सुश्रुत में ही इसके सबंध में लिखा है कि अधर्मी, कृतघ्न, भेषजद्वेषी तथा ब्राह्मणद्वेषी लोगों को यह दिखलाई नहीं देती। आधुनिक युग में कौन सा ऐसा व्यक्ति होगा जो किसी न किसी अवगुण से युक्त न हो। उपर्युक्त वचन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह वनस्पति उस काल में भी अप्राप्य या दुष्प्राप्य रही हो और उसके स्थान पर उसके प्रतिनिधि द्रव्यों का प्रयोग होता रहा हो। सोम का वर्णन ऋग्वेद तथा पौराणिक साहित्य में भी है। यज्ञ के पूर्व आनन्ददायक पेय के रूप में सोमरस-पान किया जाता रहा। सोम को ओषधिराज लिखा है। इसी प्रकार के एक द्रव्य का उल्लेख प्राचीन पारसी धर्म ग्रंथ 'जन्द अवस्ता' में है, जिसे होम कहते हैं। सभव है होम यह सोम का परिवर्तित रूप हो। इसी आधार पर होम नाम से प्रयुक्त द्रव्यों को कुछ विद्वानों ने सोम माना है।

सुश्रुत में इसके संबध में विशद वर्णन मिलता है। यह हिमालय, विन्ध्य, काश्मीर, मलय आदि स्थानों में होती है। इसके स्थान, नाम, आकृति, वीर्य भेद से २४ प्रकार होते हैं। इस लता में शुक्ल पक्ष में एक-एक पत्र प्रतिदिन बढ कर पूर्णिमा को १५ पत्ते हो जाते हैं तथा कृष्ण पक्ष में एक-एक पत्र घट कर अमावस्या को यह बिना पत्र के हो जाती है। इस लता में दुग्ध होता है तथा नीचे कन्द भी होता है। कायाकल्प के लिये कुटी प्रावेशिक विधि से इसके सेवन का वर्णन सुश्रुत में किया है। यह श्रेष्ठ मादक द्रव्य है। इससे बल, वाक्शक्ति, स्फूर्ति, सौमनस्य एव अमरत्व की प्राप्ति होती है। प्रत्येक रोग को दूर कर यह मन को आनन्द देने वाली लता है। इसमें अन्य मादक द्रव्यों का कोई दोष नहीं होता।

सोम के नाम से जिनका उल्लेख किया जाता है उनमें से कुछ का सक्षेप में यहाँ वर्णन किया गया है, यद्यपि दिव्य गुण वाली सोम इनमें से कोई मालूम नहीं पडती।

१४६ सोम (१)

सं०–सोम। **हि०**–टुटगठा। **पं०**–असमानिया, बुद्शुर, चेवा। **स०**–फोग। **ई०**–होम, हुम्। **क०**–खम, खड। **अं०**–Ephedra, ma-huang (एफेड्रा, मा-हॉंग)। **ले०**–*Ephedra gerardiana (Wall) Stapf; E. neberodensis (Tineo) Stapf* (एफेड्रा गेरॅर्डिआना; ए. नेब्रोडेन्सिस)। Fam. Gnetaceae.

इनमें से ए. गेरार्डिआना हिमालय के शुष्क एवं ऊँचे स्थानों में ७-१४ हजार फीट तक बहुत होता है। पंगी, लाहौल, कनवार, सिमला जिले के शाल्गी स्थान एवं लद्दाख में बहुत होता है। ए० नेब्रोडेन्सिस, लाहौल, पश्चिमी तिब्बत, बलूचिस्तान एवं वजीरीस्तान में होता है।

औषध के लिए इसके कांड का संग्रह वसन्त ऋतु में करते हैं।

ए० गेरार्डिआना का **क्षुप**-छोटा, सर्पणशील, कड़ा तथा गुच्छे के रूप में होता है। **शाखाएं**-प्रतिग्रंथि पर दो और अभिमुख या अनेक एक चक्र में निकली रहती हैं। ये सीधी, हरी एवं रेखा युक्त होती हैं। पर्व करीब ½ इञ्च से १½ इञ्च लम्बे होते हैं तथा डियामण्टाई की नोक की तरह दिखलाई देते हैं। पुराने काण्ड की त्वचा धूसर हो जाती है। **पत्ते**-शल्क सदृश होते हैं और प्रत्येक ग्रन्थि पर इन वल्कपत्रों के मिलने से एक पीताभ या भूरा करीब २ मि. मि. लम्बा द्विविभक्त कोण बना होता है। **पुष्प**-नरपुष्पों की अण्डाकार विदण्डिक मञ्जरियाँ अकेली या २-३ के गुच्छे में रहती हैं। जिनमें ७-८ नरपुष्प होते हैं। नारीपुष्पों की मञ्जरी प्रायः अकेली और १-२ पुष्पों से युक्त होती है। **फल**-७.५-१० मि. मि. लम्बा, लट्वाकार, लाल, मधुर तथा खाने लायक होता है। **बीज**-१-२ दोनों तरफ फूले हुये होते हैं।

काण्ड में तीव्र गन्ध होती है तथा इसका कषाय स्वाद होता है।

रासायनिक संगठन—इसके काण्ड में लीवो-एफेड्रीन (L-ephedrine), डेक्स्ट्रो-स्यूडो-एफेड्रीन (D-phiephedrine) तथा तत्सम अन्य क्षाराभ पाये जाते हैं। भारतीय एफेड्रा में सम्पूर्ण क्षाराभ की मात्रा ०.२८-२.८% तक पाई जाती है तथा उसमें L-ephedrine (लीवो-एफेड्रीन) की मात्रा ७०% तक होती है।

गुण और प्रयोग—एफेड्रा के गुण-धर्म उसमें के उपर्युक्त दो क्षाराभों के कारण होते हैं, जिनमें से द्वितीय का रक्तभार, श्वसनिका एवं मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों पर हलका प्रभाव पड़ता है। यह कम विषैला है तथा इसमें अन्य आनुबन्धिक दोष कम होते हैं। तमक श्वास (Asthma) के आवेगों को रोकने के लिये सोम का सत्त्व (Extract) उपयोगी है। विशुद्ध क्षाराभों की अपेक्षा, यह सस्ता होने के कारण गरीबों के लिये यह अधिक अच्छा पड़ता है।

हृदय को उत्तेजना (Cardiac stimulant) देने की दृष्टि से भी यह उपयोगी है। इसका टिंक्चर (Tincture), एपिडेमिक ड्राप्सी (Epidemic dropsy) के कारण उत्पन्न हृदय दौर्बल्य (Left heart failure) में बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। न्युमोनिया, डिप्थेरिया आदि औपसर्गिक रोगों के कारण उत्पन्न हृदय की विषाक्तता में यह बहुत ही अच्छा हृदयोत्तेजक सिद्ध हुआ है। हृदय की विकृति में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसके प्रवाही सत्त्व की ५ सी० सी० मात्रा में ½ ग्रेन सम्पूर्ण क्षाराभ होते हैं।

मात्रा—सोमसत्त्व क्षाराभ (एफेड्रीन) ¼-१½ ग्रेन; प्रवाही सत्त्व २% (एफेड्रीन) २० से ३० बूंद, टिंक्चर एफेड्रा ९०-१२० बूंद।

१४७ सोम (२)

सं०-सोम, सौम्या (राजनिघण्टु)। **हिं०**-सोम, सोमलता, वाघ दूध। **म०**-रानशेर, **गुं०**-कुलुनोभा (शेर का दूध)। **ले०**-*Sarcostemma brevistigma wightarm's* (सार्कोस्टेमा ब्रेविस्टिग्मा); Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)।

यह कोंकण, डेक्कन, उत्तरी सरकार, कर्नाटक तथा हॉर्सलीकोंडा में ४५०० फीट तक शुष्क पत्थरों के बीच होती है राची, सिंगभूमि, मुंगेर, पुरी तथा बंगाल में भी पायी जाती है।

यह प्रसरणशील वनस्पति होती है जो चट्टानों तथा झाड़ियों पर फैली रहती है। इसमें दूध बहुत होता है। इसमें **पत्ते**-स्थाई नहीं होते जिससे शाखा-काण्ड हरे, चिकने, $\frac{1}{8}$-$\frac{1}{4}$ इञ्च व्यास के तथा ४-८ इञ्च की दूरी पर सन्धियुक्त होते हैं। **पुष्प**-श्वेत, $\frac{3}{8}$ इञ्च व्यास में, सुगन्धित और प्रायः शाखाओं पर सवृन्त मूर्धज (Umbel) क्रम में निकले रहते हैं। **फली**-पतली ४-५ इञ्च लम्बी क्रमशः नुकीली तथा सीधी होती है।

इसका सोम प्रतिनिधि के रूप में व्यवहार किया जाता है। कुछ तो वास्तविक सोम ही इसे मानते हैं राजनिघण्टु ने इसका सोमवल्ली प्रतिनिधि के रूप में वर्णन किया है-सौम्या महिषवल्ली च प्रतिसोमाऽन्यवल्लिका। अपत्रवल्लिका प्रोक्ता काण्डशाखा षडाह्वया। रसवीर्यविपाके च सोमवल्लीसमा स्मृता ॥ रा० नि०

गुण और प्रयोग—अर्क दुग्ध की तरह इसके दूध का भी उपयोग होता है जो बहुत गुणकारी माना जाता है और इसी लिये इसको वाघ दूध कहते हैं। राक्सवर्ग के मतानुसार इसका दूध खट्टा होता है तथा यात्री तृषा शमन के लिये इसका उपयोग करते हैं। शुष्क काण्ड वामक माना जाता है।

अथाकाशवल्ली (अमरवेल)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

आकाशवल्ली तु बुधैः कथिताऽमरवल्लरी ॥ २५८ ॥
खवल्ली ग्राहिणी तिक्ता पिच्छिलाऽक्ष्यामयापहा। तुवराऽग्निकरी हृद्या पित्तश्लेष्मामनाशिनी

अमरवेल के नाम तथा गुण—आकाशवल्ली का ही पर्यायवाचक शब्द अमरवल्लरी है, ऐसा पण्डित लोग कहते हैं, अर्थात्-आकाशवल्ली, खवल्ली, अमरवल्लरी ये नाम अमरवेल के हैं।

अमरवेल—तिक्त तथा कषाय रस युक्त, मलसंग्राहक, पिच्छिल, नेत्ररोगनाशक, जठराग्निवर्धक, हृदय के लिये हितकर एवं पित्त, कफ तथा आम को नष्ट करनेवाली होती है ॥२५८-२५९॥

नोट—प्राचीन ग्रन्थों में अमरबेल का उल्लेख नहीं है। अमृतवल्ली शब्द आया है, जिसका अर्थ टीकाकारों ने गुडूची किया है। कुछ विद्वानों ने अमरबेल नाम (Cuscuta reflexa (कुस्कुटा रिफ्लेक्सा) को दिया है तथा आकाशबेल (Cassytha filiformis) कॉसिथा फिलिफॉर्मिस को दिया है। दोनों ही पराश्रयी लताएँ (Parasitic climber) हैं। दोनों एक स्थान पर उगी हुई नहीं पाई जाती। दोनों का स्वतन्त्र वर्णन किया गया है।

१४ अमरवेल (१)

हि०-आकाश वेल, अमर वेल। **बं०**-आलोक लता। **म०**-आकाश वेल, अमर वेल। **गु०**-अमर वेल,। **अ०**-मून, कसूस। **पं०**-निराधार। **फा०**-अफ्तीमून। **अं०** Dordar (डॉर्डर)। **लै०**-(I) *Cuscuta reflexa Roxb* (कुस्कुटारेफ्लेक्सा)। Fam. Convolulaceae (कॉनव्हॉल्व्हुलेसी)।

यह भारत के सभी मैदानी भागों में तथा ८००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है।

इसकी **लता**—परोपजीवी होती है तथा जिस किसी वृक्ष पर फैलती है उसे अपने बोझ से झुका तक देती है। कभी-कभी इतनी फैलती है कि सारे वृक्ष को ढक देती है। अधिकतर वेर, बबूल के वृक्षों पर फैली रहती है। इसमें पत्ते नहीं होते। **काण्ड**-पतले एवं प्रायः पीले रंग के आपस में गुथे हुये होते हैं। **पुष्प**-⅛-⅙ इञ्च लम्बे, श्वेताभ या गुलाबी, सुगंधित, नलिकाकार, एकाकी या गुच्छों में आते हैं। **फल**-⅛-⅙ इञ्च व्यास के, दबे हुवे, गोल एवं मांसल होते हैं। इसके मूल आधारादि वृक्ष के कांडों से ससक्त रहते हैं, जहाँ से वे अपना आहार ग्रहण करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें कुस्कुटिन (Cuscutin) नामक एक रवेदार रंजक पदार्थ ०·२% होता है। इसके अतिरिक्त लॅक्टोन (Lacton) के समान गुण वाला कुस्कुटॅलिन (Cuscutalin) १%, बदामी रंग का मोम ०·१% तथा शर्करा प्रतिरूप (Reducing sugar) होती हैं।

इसके बीजों में स्थिर तैल ३%, रंजक द्रव्य अमरबेलिन (Amarbelin) कड़ुआ रालादि द्रव्य तथा शर्करा प्रतिरूप (Reducing sugar) पाई जाती हैं।

गुण और प्रयोग—यह आनुलोमक, पित्तसारक, तथा यकृदुत्तेजक है। आश्रयी वृक्ष के अनुसार इसके गुण धर्म में कुछ परिवर्तन हो सकता है।

(१) इसका फाण्ट खुजली तथा व्रण प्रक्षालन के काम में आता है।

(२) यकृत् वृद्धि तथा विबंध हो तो इसका रस देने से दूषित पित्त निकल जाता है तथा विबंध भी दूर होता है।

(३) इसके बीजों को उबाल कर उससे पेट सेंकने से वायु का अनुलोमन होता है।

(४) कुछ लोगों ने इसका घाघरबेल नाम से उल्लेख किया है तथा लिखा है कि पंजाब में दाइयाँ इसके क्वाथ को गर्भपात कराने के लिये प्रयोग में लाती हैं।

१५९ अमर बेल (२)

हि०-अमर बेल। **लै०**-*Cassytha filiformis Linn.* (कॅसिया फिलिफोर्मिस्। Fam Piperaceae (पाइपरेसी)।

यह भारत में सभी स्थानों पर विशेषकर समुद्री किनारों पर अधिक होती है।

इसकी लता—पराश्रयी, पत्रहीन, उपर्युक्त प्रथम अमरबेल की तरह होती है, तथा शाल, करौंदा, कुटज तथा जामुन आदि वृक्षों पर फैली रहती है। इसका रंग पहली की अपेक्षा अधिक हरा होता है। **पुष्प**-अवृन्त, श्वेत, ·५-१·५ इञ्च लम्बी मंजरियों में रहते हैं और इनके आधार पर तीन चौडे तथा लम्बे और लट्वाकार कोणपुष्पक होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें एक क्षाराभ होता है।

गुण और प्रयोग—यह बल्य, केश्य, व्रणरोपण एवं वृष्य हैं।

(१) इससे सर के बाल धोने से जूयें आदि नष्ट होते हैं। इसे पीसकर तेल में मिलाकर केश शुद्धि के लिये काम में लाते हैं। मखन तथा सोंठ के साथ इसे व्रणरोपण के लिये काम में लाते हैं।

(२) इसका क्वाथ यकृत प्लीहोदर, गण्डमाला, क्षय आदि लक्षणयुक्त व्याधि में प्रयोग करते हैं।

अथ पातालगरुडी। तस्या नामगुणानाह

छिलिहिण्टो महामूलः पातालगरुडाह्वयः। छिलिहिण्टः परं वृष्यः कफघ्नः पवनापहः॥२६०॥

'पातालगरुडी' के नाम तथा गुण—छिलिहिण्ट, महामूल, पातालगरुड, ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। **पातालगरुडी**—अत्यन्त वृष्य (वीर्यवर्धक), कफ तथा वायु को शमन करने वाली होती है॥ २६०॥

१५० पाताल गरुड़ी

हि०-पातालगरुडी, छिरेटा, फरीदबूटी, चिरहिंटा, छिरइटा, जलजमनी। **बं०**-हयेर। **म०**-वासनवेल, भुर्यूपाडल, तान्हीचावेल। **गु०**-पातालगलोरी, वेवडी। **ते०**-दूसरैतिगे। **क०**-दागुडी। **ता०**-कातुक कोदी। **लै०**-*Cocculus hirsutus Diels* (कॉक्युलस् हिर्सुटस्) Fam. Menispermaceae (मेनिस्पर्मेसी)।

यह इस देश के प्रायः सब गरम और साधारण प्रान्तों में हिमालय से दक्षिण तक पायी जाती है।

इसकी **लता**-नदियों के ऊपर फैली हुई रहती है। शाखायें तथा पत्र मृदु श्वेताभ रोमावरण से ढके रहते हैं। **पत्ते**-इनके आकार और कद में बडी विभिन्नता रहती है। नीचे के पत्ते प्रायः लट्वाकार, आयताकार, ३"×२" तक बडे और ऊपर के क्रमशः छोटे और आयताकार होते हैं। **पुष्प**-एकलिंग, हरिताभ एवं सूक्ष्म होते हैं। **फल**-काले बैंगनी रङ्ग के, चने के बराबर चिकने होते हैं तथा इनके भीतर काला रस रहता है। पुष्प वर्षा में एवं फल शीत में लगते हैं। **मूल**-काफी नीचे चला जाता है। तथा मजबूत होता है।

इसके पत्तों को जल में मसलने से जल जम जाता है। इसलिये इसे जलजमनी कहते हैं। इसकी जड को सर्पविष में बहुत उपयोगी बतलाया गया है इसलिये इसका पातालगरुडी नाम सार्थक मालूम पडता है। प्राचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन नहीं पाया जाता। इसकी जड एवं पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। पाठामूल के स्थान पर इसकी जड ली जाती है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ उष्ण, स्वेदजनन, सौम्य, वलवर्धक, मूत्रजनन, मूत्रमार्ग के लिये शामक एवं ग्राही, ज्वरहर, वायुहर एवं शोधन है। यह सार्सापरिला की तरह उपयोगी है। पत्ते दाहप्रशमन, मूत्रजनन, शोथहर, स्तन्यजनन एवं त्वक्दोष नाशक हैं।

(१) इसकी जड़ का बकरी के दूध में तैयार किया हुआ क्वाथ पीपल, सोंठ, आदि सुगन्धि द्रव्यों के साथ जीर्ण आमवात, विशेषकर यदि उपदंश के कारण उत्पन्न हो, सन्धिशोथ तथा त्वचा के रोगों में देते हैं।

(२) जमाया हुआ स्वरस शीतवीर्य होने के कारण जीरक एव मिश्री के साथ नूतन सोजाक में बहुत उपयोगी है।

(३) पत्तों को पीसकर शोथ, चोट आदि पर बाँधने से लालिमा एवं पीड़ा कम होती है। शिरःशूल में भी बाँधते हैं।

(४) इसकी जड का प्रयोग बस्तिशोथ तथा अन्य प्रमेहों में किया जाता है।

मात्रा—स्वरस १-२ तोला मूल-३-६ माशा।

अथ वन्दा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

वन्दा वृक्षादनी वृक्षभक्ष्या वृक्षरुहाऽपि च। बन्दाकः स्याद्धिमस्तिक्तः कषायो मधुरो रसे। मङ्गल्यः कफवातास्ररक्षोव्रणविषापहः॥ २६१॥

'वन्दा' के नाम तथा गुण—वन्दा, वृक्षादनी, वृक्षभक्ष्या, वृक्षरुहा और वन्दाक ये नाम 'बान्दा' के हैं। **बान्दा**-तिक्त, कषाय तथा मधुर रसयुक्त, शीतवीर्य, मङ्गलप्रद एव कफ, वातरक्त, राक्षसबाधा, व्रण और विष को दूर करता है॥ २६१॥

१५१ बान्दा (१)

हि०-बन्दा, बांदा, बंदाक। **बं०**-बरमांदा, मान्दा। **म०**-बांडागुल। **गु०**-बांदो। **ते०**- बादनीका। **अ०**-खरकताना। **ले०**-*Laranthus longifilorus Dear.* (लॉरेन्थस् लॉगिफ्लोरस्); Sgn. Dendrophthoe falcata Linn. (डेन्ड्रोफथो फॅलकेटा) Fam. Lorantheceae (लोरेन्थेसी)।

यह भारत में सर्वत्र पाया जाता है। इस कुल की वनस्पतियाँ अर्धपराश्रयी होती हैं। जिन वृक्षों के ऊपर यह उगती हैं, उनसे अपना भोजन ग्रहण करती हैं तथा स्वतः हरी होने के कारण स्वय भी अपने लिये भोजन निर्माण करती हैं।

उपर्युक्त बांदा अनेक प्रकार के वृक्षों पर उगा हुआ पाया जाता है। यह काष्ठीय होता है। **शाखायें**-चिकनी, चीमड, कुछ लटकती हुई तथा कुछ सीधी एव ३-४ फीट लम्बी होती हैं। **पत्ते**-३-६ इञ्च लम्बे, १-२ इञ्च चौडे, चिकने, अनेक आकार के तथा मोटे होते हैं। **फूल**-रक्त, नारङ्ग या गुलाबी रंग के १-२ इञ्च लम्बे और उनका सवर्ण कोश नालाकार होता है। **फल**-मांसल एवं बीज चिपचिपे होते हैं। इसके पुष्प एवं पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शीत, कषाय, कफघ्न, वातनाशक, मूत्रविरेचनीय, रक्तविकार नाशक एव व्रणरोपक है।

(१) शोथ पर इसके पत्तों एव पुष्प को पीस-गरम कर लेप करने से सूजन दूर होती है।

(२) इसके पुष्पों का प्रभाव हृदय एवं रक्तवाहिनियों पर होता है। हृदयोद्भूत श्वास, क्षयोद्भूत श्वास, फुफ्फुस शोथ, रक्तपित्त, अपस्मार, उन्माद एवं ज्वर में प्रलाप होने पर इसे देते हैं।

मात्रा—स्वरस १-२ तोला।

नोट—उपर्युक्त बांदे की और दो-तीन जातियाँ होती हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रजाति का बादा होता है, जिसकी भी दो उपजातियाँ पाई जाती हैं। इनमें किशमिश कावली प्रभावकर द्रव्य है जिसका सक्षेप में यहाँ वर्णन किया गया है।

१५२ बाँदा (२)

ले०-*Viscum album Linn* (विस्कम आल्बम लिन); Fam. Loranthaceae (लोरेन्थेसी)। पं०-कुल्ल का बांदा। यू०-विशामिश कादरी। अ०-दिबक, मर्दान्जे आमली।

यह हिमालय में काश्मीर से नेपाल तक ३०००-७००० फीट तक होता है। ये प्रायः अखरोट एवं गुलाब कुल के पौधों पर उगते हैं। कहीं-कहीं रास्ना पत्र के नाम से भी इसका प्रयोग होता है।

इसके क्षुप-पराश्रयी होते हैं। इसके सब भाग हरे होते हैं। शाखाएं-द्विविभक्त या चाक्रिक क्रम में निकली रहती हैं। पत्ते-२ इञ्च लम्बे, ½ इञ्च चौड़े, विनाल, आयताकार या ऊपर से भालाकार होते हैं। आधार पर इनमें ३-५ शिराएं होती हैं। पुष्प-प्रति गुच्छे में ३-५ पुष्प होते हैं। फल-¼ इञ्च लम्बे, सफेद, चिकने तथा पारदर्शक होते हैं। बाजार में मटर जितने बड़े, नरम, झुर्रीदार और भूरे रंग के सूखे फल मिलते हैं। इसके भीतर एक छोटा बीज तथा चिपचिपा पदार्थ होता है।

इन फलों का चिकित्सा में प्रयोग होता है।

गुण और प्रयोग—इसकी क्रिया हृदय पर डिजिटेलिस सदृश होती है, जिससे हृदय को बल मिलता है तथा मूत्र की वृद्धि होती है। गर्भाशय पर इसका प्रभाव अर्गट की तरह होता है, जिससे गर्भाशय का सङ्कोच होता है।

(१) हृद्रोग एवं जलोदर में इसे देने से लाभ होता है।

(२) अत्यार्तव एवं प्रसवोत्तर रक्तस्राव में पिपरामूल के साथ इसका फाण्ट देने से लाभ होता है।

(३) प्लीहावृद्धि, अपस्मार, कटिपीडा, गुल्म, अर्श, क्षत, व्रण, कर्णपूय आदि में इसका व्यवहार किया जाता है।

मात्रा—फल ५-१५ रत्ती।

अथ वटपत्री। तस्या नामगुणानाह

वटपत्री तु कथिता मोहिन्यैरावती बुधैः। वटपत्री कषायोष्णा योनिमूत्रगदापहा॥ २६२॥

'वटपत्री' के नाम तथा गुण—वटपत्री को विद्वान् लोग मोहिनी और ऐरावती कहते हैं। **वटपत्री**-कषाय रसयुक्त, उष्णवीर्य एवम् योनि तथा मूत्रसम्बन्धी रोगों को दूर करने वाली होती है॥ २६२॥

१५३ वटपत्री

हि०-वटपत्री, वडपत्री, वढपत्री, पाषाणभेदी। **म०**-वटपत्री, वडपती। **बं०**-वट पतार कुचा, पडपाथर कुची, पातर कुचा। **तै०**-पिण्डि। **गु०**-वड़पती। **ते०**-पिण्डिवण्ड चेट्टु। **पं०**-वटपत्री। **ले०**-*Saxifragaligulata* (सॅक्सी फ्रेगालीगुलेटा)। Fam. Saxifragacea (सॅक्सी फ्रेगेसइ)।

यह पाषाणभेद का ही भेद है तथा इसका वर्णन हरीतक्यादि वर्ग में पाषाणभेद के अंतर्गत किया गया है।

अथ हिङ्गुपत्री। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

हिङ्गुपत्री तु कवरी पृथ्वीका पृथुका पृथु॥ २६३॥

हिङ्गुपत्री भवेद्रुच्या तीक्ष्णोष्णा पाचनी कटुः। हृद्वस्तिरुग्विबन्धार्शःश्लेष्मगुल्मानिलापहा॥

हिङ्गुपत्री के नाम तथा गुण—हिङ्गुपत्री, कवरी, पृथ्वीका, पृथुका और पृथु ये सब नाम हिङ्गुपत्री के हैं। **हिङ्गुपत्री**-कटुरसयुक्त, रुचिजनक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, पाचक एवं हृद्रोग, वस्तिरोग, विबन्ध, अर्श, कफ, गुल्म और वायु को दूर करने वाली होती है॥ २६३-२६४॥

१५४ हिंगुपत्री

हिंगुपत्री तथा आगे वर्णन की हुई वंशपत्री के विषय में थोडा मतभेद है। चरक में अपस्मार एवं उन्माद की चिकित्सा में क्रमशः हिंगुपत्री एवं हिंगुशिवाटिका इनका प्रयोग आया है। इसकी टीका में चक्रपाणि 'वंशपत्री' लिखते हैं। 'नाडीहिंगु' या 'डीकामाली' जिसका वर्णन पहले हरीतक्यादि वर्ग में किया जा चुका है, उसे 'हिंगुपत्री' कह सकते हैं, क्योंकि उसकी पत्र-कलिकाओं के ऊपर किसी-किसी ऋतु में पीला गोंद बूंद के रूप में निकला रहता। इसकी छाल कट जाने पर वहाँ से भी गोंद निकलता है। इसमें उग्र गन्ध होती है। इसे डीकामाली या नाडीहिंगु कहते हैं। इस आधार पर नाडीहिंगु को हिंगुपत्री माना जा सकता है। हरीतक्यादि वर्ग में नाडी हिंगु (डिकामाली) का वर्णन देखें।

वंशपत्री । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

वंशपत्री वेणुपत्री पिण्डा हिङ्गुशिवाटिका । हिङ्गुपत्रीगुणा विज्ञैर्वंशपत्री च कीर्त्तिता ॥ २६५॥

वंशपत्री के नाम तथा गुण—वंशपत्री, वेणुपत्री, पिण्डा और हिङ्गुशिवाटिका ये नाम वंशपत्री के हैं। **वंशपत्री**–इसे विद्वानों ने गुणों में हिङ्गुपत्री के समान बताया है ॥ २६५ ॥

१५५ वंशपत्री

वंशपत्री भी संदिग्ध है। भावप्रकाशकार इसके गुण हिंगुपत्री की तरह ही बतलाते हैं। चक्रपाणि हिंगुपत्री की टीका में वंशपत्री लिखते हैं। सम्भव है ये दोनों एक ही हों और डीकामाली या नाडीहिंगु के ही पर्याय हों। हींग का पेड़ जिस प्रजाति (Genus) का है उसी प्रजाति (Ferula-फेरूला) के अन्य पेडों के पत्ते देखने में कुछ बांस के पत्तों की तरह ही दिखलाई देते हैं। सम्भव है उसी में से किसी का वंशपत्री नाम हो।

अथ मत्स्याक्षी । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मत्स्याक्षी वाह्लिका मत्स्यगन्धा मत्स्यादनीति च । मत्स्याक्षी ग्राहिणी शीतकुष्ठपित्तकफास्रजित् ।
लघुस्तिक्ता कषाया च स्वाद्वी कटुविपाकिनी ॥ २६६ ॥

मत्स्याक्षी के नाम तथा गुण—मत्स्याक्षी, बाह्लिका, मत्स्यगन्धा और मत्स्यादनी ये नाम मत्स्याक्षी के हैं।

मत्स्याक्षी—मलसंग्राहक, शीतवीर्य, लघु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, स्वादिष्ट, विपाक में कटुरस युक्त एवं कुष्ठ, पित्त, कफ और रक्तविकार को दूर करने वाली होती है॥ २६६ ॥

नोट—यह भी संदिग्ध द्रव्य है। ब्राह्मी के पर्याय में अमरसिंह ने मत्स्याक्षी लिखा है। कुछ **गुडरी साग** को मत्स्याक्षी कहते हैं। संक्षेप में इसका यहाँ वर्णन किया है।

१५६ मत्स्याक्षी ? गुडरी साग

ले०-*Alternanthera sessilis, Br.* (आल्टरनेन्थेरा सेसिलिस्); Fam. Amaranthaceae (एमरेन्थेसी)। **बं०**–शालिञ्च।

यह भारत के सभी उष्ण प्रदेशों में नम जगहों में पाया जाता है।

इसका **क्षुप**-परिप्रसरी अथवा ग्रन्थिमूल प्रसरी होता है। कभी-कभी शाखायें उत्थित प्रसरी होकर आस-पास की झाडियों पर फैली रहती है। **पत्ते**–लम्बे, अण्डाकार, आयताकार या अन्य प्रकार के भी होते हैं। **पुष्प**–श्वेत या गुलाबी रंग के मुण्डकाकार गुच्छों में आते हैं। पुष्प खिलने पर आधार भाग में गुलाबी और ऊपर सफेद होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके नूतन भाग पौष्टिक (Nutritious) होते हैं तथा इसमें प्रोटीन (Protein) ५% तथा लौह १६ ७ मि० ग्रा० प्रति १०० ग्रा० होता है।

गुण और प्रयोग—यह ज्वरहर, पित्त-विरेचक तथा दुग्धवर्धक है। इसके पत्रशाक का उपयोग किया जाता है।

अथ सर्पाक्षी ('सरहटी-गण्डिनी'ति च)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

सर्पाक्षी स्यात्तु गण्डाली तथा नाडीकलापकः ॥ २६७ ॥
सर्पाक्षी कटुका तिक्ता सोष्णा कृमिनिकृन्तनी। वृश्चिकोन्दुरुसर्पाणां विषघ्नी व्रणरोपिणी ॥

सर्पाक्षी के नाम तथा गुण—सर्पाक्षी, गण्डाली और नाडीकलापक, ये नाम सर्पाक्षी के हैं।

सर्पाक्षी—कटु तथा तिक्त रसयुक्त, उष्णवीर्य, व्रणका रोपण करने वाली, कृमिनाशक तथा विच्छू, मूषक और सर्प के विषों को नष्ट करने वाली है ॥ २६७-२६८ ॥

नोट—सर्पाक्षी भी बिलकुल निःसन्दिग्ध द्रव्य नहीं है। रास्ना के नाम से लिये जाने वाले द्रव्यों में से एक ऑसिओराइज़ा मुन्गोस् को कुछ लोगों ने सर्पाक्षी माना है। कुछ ने पोलिगोनम् प्लेबेजम् को सर्पाक्षी माना है। दूर्वा के पर्याय में सर्पाक्षी, मीनाक्षी ये शब्द आये हैं। चरक ने कल्प स्थान अ० ६ में इसे 'रक्तपुष्पा पूर्वदेशे प्रसिद्धा' एवं अ० ८-११७ में 'लोहितपुष्पा शङ्खपुष्पी-भेदा' लिखा है। वगीय ब्राह्मी के साथ कुछ विद्वानों ने इसका वर्णन किया है। यहाँ संक्षेप में दोनों का वर्णन किया गया है।

१५७ सर्पाक्षी (१)

ले०—Ophiorrhiza mungos (ऑफिओराइज़ा मुन्गोस्)। N.O. Rubiaceae (रुबिएसिई) **सं०**—सर्पाक्षी। **हि०**—सरहटी। **बं०**—गन्धनाकुली। **म०**—मुंगसवेल, नागवेली। **ता०**—कीरिप्पुंडु। **कोंक०**—गर्डपातालि। **क०**—पाताल गरुड।

इसकी जड का उपयोग रास्ना नाम से होता है। इसकी छोटी बहुवर्षायु लता आसाम, बर्मा, पश्चिमी प्रायद्वीप एवं लंका में होती है। यह झाडीनुमा, १ हाथ ऊँची तथा बरसात में उत्पन्न होती है। **पत्र**—विपरीत, लम्बगोल, पतले, चिकने २-३ इञ्च लम्बे। **पुष्प**—गुच्छों में श्वेत, विनाल। **बीज**—विपुल। **मूल**—बहुत मजबूत, टेढ़े मेढे, ६ इञ्च लंबे स्वाद में कडवे तथा उनकी छाल पतली कपिश। इसकी जड का प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें स्टार्च, राल, स्नेह तथा एक क्षाराभ रहता है।

गुण और प्रयोग—यह तिक्त पौष्टिक, दीपन एवं पाचन है। इसकी जड का क्वाथ कुपचन, अतिसार आदि में दिया जाता है। लंका में सर्पदंश, वृश्चिक दंश, कुत्ते का विष आदि के लिये इसकी बहुत प्रशंसा है।

१५८ सर्पाक्षी ? (२) मुनियारा

ले०—*Polygonum plebejum R. Br.* (पोलिगोनम् प्लेबेजम्), Fam. Polygonaceae (पोलिगोनेसी)। **हि०**—रानी फूल।

यह भारत के सभी उष्ण स्थानों में तथा कभी-कभी ७००० फीट की ऊँचाई पर काश्मीर से भूटान तक होती है।

इसके **क्षुप**-प्रसरी होते हैं। मूल के पास से अनेक शाखायें निकल कर इतस्ततः फैली रहती हैं। पुष्पित अवस्था में शाखायें २-८ इञ्च तक लम्बी होती हैं। **पत्ते**-रेखाकार, आयताकार एवं छोटे पौधों में अभिलट्वाकार, आयताकार तथा १-७ इञ्च लम्बे होते हैं। उपपत्र नालाकार होते हैं। **पुष्प**-छोटे, हरित या गुलाबी एवं परिसवर्ण पत्रों में मध्यपर्शुक हरा होता है। इसके कई भेदोपभेद होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका शाक की तरह उपयोग किया जाता है। इसकी जड का आन्त्र विकारों में एवं पचांग का चूर्ण न्युमोनिया में दिया जाता है।

अथ शङ्खपुष्पी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शङ्खपुष्पी तु शङ्खाह्वा मङ्गल्यकुसुमाऽपि च। शङ्खपुष्पी सरा मेध्या वृष्या मानसरोगहृत् ॥
रसायनी कषायोष्णा स्मृतिकान्तिबलाग्निदा। दोषापस्मारभूताश्रीकुष्ठकृमिविषप्रणुत् २७०

शङ्खपुष्पी के नाम तथा गुण—शङ्खपुष्पी, शङ्खाह्वा (शङ्ख के पर्यायवाची सब शब्द), मङ्गल्य-कुसुमा ये सब नाम 'शङ्खपुष्पी' के हैं। **शङ्खपुष्पी**-कषाय रस युक्त, उष्णवीर्य, सारक, मेधा के लिये हितकर, वृष्य, मानसरोग को दूर करने वाली, रसायन, स्मृतिशक्ति, कान्ति, बल, जठराग्नि इन सबों को बढाने वाली एव दोष, अपस्मार, भूतबाधा, दरिद्रता, कुष्ठ, कृमि और विष को नष्ट करने वाली होती है ॥ २६९–२७० ॥

नोट—शंखपुष्पी या 'विष्णुक्रान्ता' यह भेद अन्य निघण्टुकारों ने दिया है। भावप्रकाशकार ने 'विष्णुक्रान्ता' यह अपराजिता का पर्याय दिया है। वास्तव में विष्णुक्रान्ता यह अपराजिता या नीलापराजिता नहीं है। यह नीले फूल वाली शंखपुष्पी-भेद ही होना चाहिये। अन्य निघण्टुकारों ने विष्णुक्रान्ता के नील, श्वेत, एवं रक्त ये तीन भेद दिये हैं, जिनमें रक्त पुष्प वाले भेद को **सर्पाक्षी** नाम दिया है। अधिकाश विद्वानों ने एह्वोल्व्हुलस् ॲल्सिनॉइडीस् को शङ्खपुष्पी माना है। वास्तव में इसके पुष्प नीले होते हैं। इस दृष्टि से इसे विष्णुक्रान्ता मानना अधिक उपयुक्त है। उसी वर्ग की तथा उससे मिलती जुलती अन्य वनस्पति कन्व्होल्व्हुलस् पण्डरिकालिस् को, जिसके पुष्प श्वेत होते हैं, शखपुष्पी मानना अधिक उपयुक्त है। कुछ विद्वानों ने 'दानकुनी' को शंखपुष्पी माना है जो उचित नहीं मालूम पडता। विष्णुक्रान्ता एवं शंखपुष्पी के गुण एक साथ ही दिये गये हैं तथा दानकुनी का अलग वर्णन किया गया है। शंखपुष्पी विशेष रूप से **मेध्य** होती है। (च० चि० अ० १)

१५९ शङ्खपुष्पी

हि०-शङ्खाहुली, शङ्खपुष्पी। **ले०**-*Convolvulus pluricaulis, Chois.* (कन्होल्व्हयुलस् प्लुरिकॉलिस्); Fam. Convolvulaceae (कन्होल्व्हयुलेसी)।

इसके **क्षुप**-प्रायः प्रसरणशील होते हैं। मूलस्तम्भ—काष्ठीय होता है। शाखाएं ४–१२ इञ्च लम्बी, रोमश, कुछ उठी हुई या फैली हुई रहती हैं। **पत्ते**-रेखाकार या नीचे की ओर के न्यूनाधिक अभिप्रासवत् एव ·५–१·५ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्प**-हलके गुलाबी रंग के या श्वेत होते हैं। बाह्यदल रोमश, रेखाकार प्रासवत् एव आभ्यन्तर अश कुप्पी के आकार का और बाहर से रोमयुक्त होता है। विष्णुक्रान्ता तथा शंखपुष्पी में अन्तर यह है कि विष्णुक्रान्ता में कुक्षिवृन्त दो और प्रायः पुनः द्विविभक्त होते हैं और शखपुष्पी में केवल दो कुक्षियाँ होती हैं।

१६० विष्णुक्रान्ता (नील शङ्खपुष्पी)

हि०-शंखावली, शखपुष्पी। **म०**-साखवेल। **गु०**-शंखावली। **ले०**-*Evolvulus alsinoideslinn.* (एह्वाल्व्हुलस् अल्सेनाइडीस्)। Fam. Convolvulaceae (कन्होल्व्हयुलेसी)।

यह भारत के सभी प्रदेशों में तथा हिमालय पर ६००० फीट तक होती है।

इसके **क्षुप**-प्रसरणशील तथा सुन्दर होते हैं। **शाखाएं**-मूल के ऊपर से ४–१५ इञ्च लम्बी अनेक शाखाएं निकल कर चारो ओर फैली रहती हैं। **पत्त**-अखण्ड, रेखाकार से लेकर अण्डाकार तक ·२५–·५ इंच तक लम्बे, (कभी-कभी १ इच), एवं पृष्ठलग्न तथा रेशम तुल्य मुलायम रोमों से युक्त होते हैं। **पुष्प**—भडकीले नीले रग के होते हैं और दो या तीन की सख्या में पतले पुष्पदण्डों के अग्रपर रहते हैं। बाह्यदल रोमश और प्रासवत् होते हैं। आभ्यतर कोश कभी कभी श्वेत और कुछ कुछ चन्द्राकार होते हैं। फल में २–४ फाँक होते हैं।

गुण और प्रयोग—शखपुष्पी सारक, मेध्य, वृष्य, बल्य, कषाय, कटु, तिक्त एवं दीपन है। इसका उपयोग मानसरोग, उन्माद, अपस्मार, अनिद्रा, भ्रम एवं विष में किया जाता है।

(१) उन्माद में २–४ तोला ताजी शंखपुष्पी का स्वरस देने से दस्त साफ होता है और मद उतरता है। ज्वर में भी निद्रा के लिये एव प्रलाप कम करने के लिये इसका फाट या इसे जीरक के साथ दूध में पीसकर देते हैं।

(२) बद्धकोष्ठ, गुल्म, आनाह आदि में इसकी जड देने से दस्त साफ होता है तथा शारीरिक विष निकल जाता है।

(३) इसके पत्तों का धूम्रपान जीर्णकास तथा श्वास में लाभदायक है।

(४) रक्तस्राव विशेषकर रक्तवमन में इसके स्वरस से लाभ होता है।

(५) पूयमेह, मूत्रकृच्छ्र तथा शुक्रदौर्बल्य में भी यह लाभदायक है। गर्भाशय-दौर्बल्य के कारण जिनमें गर्भ धारणता नहीं होती उन्हें इससे लाभ होता है।

मात्रा—स्वरस २-४ तोला, चूर्ण ३-६ माशा। फाट ४-८ तोला।

१६१ दानकुनी (शंखपुष्पी ?)

सं०-शखपुष्पी। **हि०**-संखाहुली ? **बं०**-दानकुनी। **म०**-ययोची, दण्टोत्पल। **ले०** *Canscora decussata Schult* (कन्स्कोरा डिकसेटा)। Fam. Gentianaceae) (जेन्शिआनेसी)।

यह आर्द्र स्थानों में तथा ४००० फीट की ऊँचाई तक सब प्रदेशों में पायी जाती है।

यह वास्तव में शखपुष्पी नहीं है। बगाल के वैद्यों के द्वारा इसे शखपुष्पी मानकर ग्रहण करने के कारण इसको कहीं कहीं सखाहुली कह दिया जाता है।

इसके **क्षुप**-६-१५ इच ऊँचे तथा चौकोर, सीधे, चिकने एव सपक्ष काण्ड के होते हैं। **पत्ते**-अवृन्त, विपरीत, प्रासवत या आयताकार प्रासवत ३-३ शिराओं वाले, नीचे १ इच तक लबे किन्तु ऊपर क्रमशः छोटे होते हैं। **पुष्प**-श्वेत, अनियताकार और कुछ कुछ द्वयोष्ठ होते हैं। वाह्यदल सपक्ष और चार पुकेसरों में एक बहुत बड़ा होता है। फली में बहुत बीज होते हैं। दानकुनी का स्वाद कडवा होता है।

इसके पंचाग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह दीपन, आनुलोमक तथा मज्जातंतु के लिये बलकारक है। उन्माद में इसका स्वरस २-४ तोले की मात्रा में देने से शौच होता है एव मद उतरता है। यकृत्कोष्ठ, गुल्म, एव आनाह आदि में इसकी जड देने से शौच साफ होकर शारीरिक विष निकल जाता है।

मात्रा—स्वरस १-२ तोला।

अथार्कपुष्पी। तस्या नामगुणानाह—

अर्कपुष्पी क्रूरकर्मा पयस्या जलकामुका। अर्कपुष्पी कृमिश्लेष्ममेहपित्तविकारजित् ॥२७१॥

अर्कपुष्पी के नाम तथा गुण—अर्कपुष्पी, क्रूरकर्मा, पयस्या और जलकामुका ये नाम अर्कपुष्पी के हैं। **अर्कपुष्पी**-क्रिमि, कफ, प्रमेह और पित्तविकार को दूर करने वाली होती है ॥ २७१ ॥

नोट—अर्कपुष्पी को कुछ लोगों ने जीवन्ती भेद माना है। रा. नि. में इसके परिचय में 'खर्णेरेति च कथ्यते' लिखा है। गुजराती में निम्नलिखित लता को खरणेर कहा जाता है। जिसके कारण इसे श्री बापालालजी ने अर्कपुष्पी माना है। डल्हण के समय में भी यह सदिग्ध ही रही है सु शा. अ. १० में अर्कपुष्पी की टीका में—अर्कपुष्पी पयस्या अर्कसदृशपत्र-पुष्पा, श्वेतदूर्वाविशेषां केचिदाहु', वृक्षजातिमन्ये' लिखा है। दूसरे स्थान पर इसे 'अर्कपुष्पी अर्कपत्र-सदृशी लता' लिखा है।

१६२ अर्कपुष्पी

हिं०-अर्कपुष्पी, मोरन अडा, रानी मारवी, छरिवेल। **म०**-खानदोडका, शिरढोडी, तुलतुली। **गु०**-खरणेर, खरिवेल। **ले०**-*Holostemma rheedianum Spreng* (होलोस्टेमा हिडियेनम् स्प्रेंग)। Fam. Asclepiadaceae (एस्क्लेपिएडेसी)।

यह हिमालय के उष्ण प्रदेश तथा पश्चिमी पेनिनसुला में पायी जाती है।

इसकी **लता**-बडी, आरोही, चिकनी, चमकदार तथा कांड पोले रहते हैं। **पत्ते**-आयताकार, लट्वाकार, गुडुच के समान, ३-७ इच लबे, लम्बाग्र, फलकमूल के पास बहुत भीतर की ओर धँसे हुये, कठोर एव अधरतल पर मृदु रोमश होते हैं। **पुष्प**-सुगंधयुक्त, भीतर लाल बैगनी और बाहर श्वेत या हलके गुलाबी रग के प्रायः सचूड क्रम में आते हैं। **फली**-४-५ इंच लंबी, आयताकार परन्तु सिरे पर क्रमशः पतली होकर कुंठिताग्र रहती है तथा उसके पृष्ठ पर दाने रहते हैं। इसकी जड़ तथा पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह स्नेहन, शीतल, मूत्रजनन तथा शोथघ्न है। इसका प्रमेह, अश्मरी, मूत्ररोग में प्रयोग किया जाता है। इसके पत्तों का शाक के रूप में भी प्रयोग होता है।

(१) नये सोजाक में इसकी जड़ का क्वाथ जीरा, मिश्री तथा दूध मिलाकर देने से पेशाव की जलन कम होती है।

(२) शुक्रमेह में इसकी जड तथा सफेद सेमल की जड घिसकर ६ माशे की मात्रा में चीनी मिलाकर दिन में दो वार देते हैं।

(३) नेत्राभिष्यंद में इसे घिसकर पलकों पर लेप करते हैं।

मात्रा—मूल चूर्ण $\frac{1}{2}$ तो० क्वाथ बनाकर।

अथ लज्जालुः। तस्या नामानि गुणांश्चाह

लज्जालुः स्याच्छमीपत्रा समङ्गा जलकारिका। रक्तपादी नमस्कारी नाम्ना खदिरकेत्यपि॥ लज्जालुः शीतला तिक्ता कषाया कफपित्तजित्। रक्तपित्तमतीसारं योनिरोगान् विनाशयेत्॥

लज्जावन्ती के नाम तथा गुण—लज्जालु, शमीपत्रा, समङ्गा, जलकारिका, रक्तपादी, नमस्कारी और खदिरका ये सब नाम लज्जावन्ती के हैं। **लज्जावन्ती**—तिक्त तथा कषाय रस युक्त, शीतवीर्य एवम् कफ, पित्त, रक्तपित्त, अतीसार और योनिरोग को नष्ट करने वाली होती है।

नोट—अधिकांश विद्वानों ने माइमोसा प्युडिका को लज्जालु माना है। कुछ विद्वान् बायोफाइटम् सेनसिटिव्हम् को लज्जालु मानते हैं। भावप्रकाशकार ने अलम्बुषा नाम से लज्जालु भेद दिया है, जिसे बायोफाइटम् मान सकते हैं। श्रीकण्ठ ने अलम्बुषा का अर्थ मुण्डितिका (गोरखमुण्डी) किया है, जो उचित मालूम नहीं पड़ता। यह माइमोसा प्युडिका होनी चाहिये। चरक में सन्धानीय एवं पुरीषसंग्रहणीय महाकषाय में तथा सुश्रुत में प्रियङ्ग्वादिगण एवं अम्बष्ठादिगण में समङ्गा नाम से इसका उल्लेख है। इनमें लज्जालु एवं 'नमस्कारी' नाम का उल्लेख नहीं है।

अभिधानमञ्जरी में काञ्चनपुष्पी पर्याय जो दिया है वह बायोफाइटम् की दृष्टि से ठीक है, जिसे लज्जालु-भेद (अलम्बुषा) कह सकते हैं। कुछ विद्वानों ने नेप्च्यूनिआ ओलेरेसिआ (Neptunia olerecea) Fam. Laguminosae (लेग्युमिनोसी) को लज्जालु माना है। यह नालावों में होता है तथा यह शीतल एवं संग्राही होता है।

१६२ लज्जालु।

हि०—लज्जावन्ती, छुई-मुई, लजारू, लाजवती, लजउनी। **बं०**—लज्जावती, लाजक। **म०**—लाजाळू, लाजरी। **गु०**—रीसामणी। **ता०**—तोट्टा चुरंगी। **तै०**—मुणुगु दामरगु। **लै०**—*Mimosapudica, Linn.* (माइमोसा प्युडिका, लिन)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

यह सम्भवतः उष्ण कटिबन्धज अमेरिका का आदिवासी है। अब यह समस्त भारत में पाया जाता है। इसको बागों में भी लगाते हैं।

इसका **गुल्म**-काँटेदार तथा फैला हुआ होता है। **पत्रवृन्त**-लम्बे होते हैं जिनसे चार पत्रक दण्ड पाणिवत् निकले रहते हैं। **पत्रक**-रेखाकार एवं अधिक से अधिक $\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बे, बबूल की तरह होते हैं। **मुण्डक** (पुष्प गुच्छ)—गुलाबी रंग के पुष्पों के मुण्डक पत्र कोणीय पुष्पदण्डों के अग्र पर होते हैं। पुंकेशर ४ और बहुत बड़े होते हैं। **फली**-$\frac{1}{2}$-$\frac{3}{4}$ इञ्च लम्बी होती है जिस पर बीजों के बीच की सन्धियों पर सूक्ष्म काँटे होते हैं। **बीज**-प्रत्येक में ३-४ होते हैं। शीतकाल में पुष्प आते हैं। **जड़**-चीमड, खट्टी एवं कुछ तीनी होती है। इसको स्पर्श करने से इसके पत्रक संकुचित हो जाते हैं। इसकी जड़ का विशेष प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें माइमोसीन (Mismosine) नामक एक क्षाराभ पाया जाता है। इसकी जड़ में कषाय द्रव्य रहता है तथा इसकी राख ५$\frac{1}{2}$% निकलती है।

गुण और प्रयोग—यह संग्राहक है। इससे छोटी रक्तवाहिनियों का संकोचन होता है। रक्त तथा पित्तप्रधान रोगों में इसे देते हैं।

(१) इसकी जड का क्वाथ रक्तयुक्त आँव तथा सिकतामेह में देते हैं।

(२) अर्श में इसके पत्तों का चूर्ण दुग्ध के साथ पिलाते हैं।

मात्रा—स्वरस १-२ तोला।

अथालम्बुषा (लज्जालुभेदः)। तस्या नामगुणानाह

अलम्बुषा खरत्वक् च तथा मेदोगला स्मृता। अलम्बुषा लघुः स्वादुः क्रिमिपित्तकफापहा॥

अलम्बुषा के नाम तथा गुण—अलम्बुषा, खरत्वक् और मेदोगला ये नाम अलम्बुषा के हैं। यह लज्जावन्ती का भेद है। **अलम्बुषा**—लघु (हलकी), स्वादिष्ट एवं क्रिमि, पित्त तथा कफ को दूर करने वाली होती है॥ २७४॥

१६४ अलम्बुषा ? (१) (लकजन)

हि०-लज्जालू, लकजन। **म०**-लाजरी। **गु०**-रीसामणी, झरेर। **मल०**-मुक्कुट्टी, तीणरानाझी। **ले०**-*Biophytum sensitivum (Linn) DC.*। (बायोफिटम् सेन्सिटिवम्, लिन डी सी.)। Fam. Geraniaceae (जिरेनिएसी)।

यह भारत के सभी उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है।

इसके **क्षुप**-छोटे तथा सुन्दर होते हैं। सदलपर्ण तथा पुष्पदण्ड जमीन के बराबर ३-४ इंच लंबे, रोमश एवं कभी कभी सशाख काण्ड के अग्र से एक साथ निकले रहते हैं। **सदलपर्ण**-१½-५" लंबे, इनके अग्रस्थित दल ·३-·५" लंबे, नीचे की ओर के दल क्रमशः छोटे, अवृन्त, आयताकार या आयताकार-अभिलट्वाकार होते हैं। **पुष्पदण्ड**-प्रायः पत्तियों से लंबे, घन रोमश, अनेक कोणपुष्पकों एवं सवृन्त और पीले पुष्पों से युक्त रहते हैं। निद्रागति (Sleep movement) के कारण दो दो पत्रक रात्रि में परस्पर सट जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, तिक्त, कषाय तथा कफहर है। रक्तपित्त, अतीसार तथा योनिरोगों में इसका प्रयोग किया जाता है।

(१) मूत्राश्मरी एवं सोजाक में इसके मूल का क्वाथ देते हैं।

(२) कुकास में जड को मधु के साथ देते हैं।

(३) अर्श में इसे पीसकर लेप करते हैं। अंडवृद्धि में भी इसको बाधते हैं।

अथ दुग्धिका (दुद्धी)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

दुग्धिका स्वादुपर्णी स्यात्क्षीरा विक्षीरिणी तथा। दुग्धिकोष्णा गुरू रूक्षा वातला गर्भकारिणी॥
स्वादुक्षीरा कटुस्तिक्ता सृष्टमूत्रा मलापहा। स्वादुर्विष्टम्भिनी वृष्या कफकुष्ठक्रिमिप्रणुत्॥२७६॥

दुद्धी के नाम तथा गुण—दुग्धिका, स्वादुपर्णी, क्षीरा, विक्षीरिणी ये नाम दुद्धी के हैं। **दुद्धी**-कटु तथा तिक्तरस युक्त, उष्णवीर्य, गुरु, रूक्ष, वातकारक, गर्भकारक, स्वादिष्ट दूध युक्त, मूत्र का प्रवर्त्तन तथा मल का निवारण करने वाली, स्वादिष्ट, विष्टम्भजनक, वृष्य (वीर्यवर्धक), एवं कफ, कुष्ठ और क्रिमिको नष्ट करनेवाली होती है॥ २७५-२७६॥

नोट—दूधी के अतिरिक्त एक छोटी दूधी होती है जिसके २, ३ प्रकार पाये जाते हैं।' इनका संक्षेप में स्वतन्त्र वर्णन किया गया है।

१६५ दुद्धी

हि०-दुद्धी, दुधिया, दुद्धि, दूधी। **बं०**-बरा, खरूई। **म०**-मोठी, नायटी। **गु०**-नागला, दुधेली, राती। **ते०**-नननाल। **ता०**-अमूपच्छै अरिस्सि। **ले०**-*Euphorbia hirta. Linn.* (युफोर्बिया हिर्टा, लिन), Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह भारत के समस्त उष्ण भागों में होती है।

इसके क्षुप-वर्षायु, रोमश तथा २ फीट तक ऊँचे होते हैं। **काण्ड**-प्रायः चतुष्कोणीय होते हैं। **पत्र**-अभिमुख, मध्यशिरा के दोनों ओर के खण्ड छोटे-बड़े, तीक्ष्ण दन्तुर, अण्डाकार आयताकार या आयताकार प्रासवत्, $\frac{3}{4}$-१$\frac{1}{2}$ इञ्च तक लम्बे एवं तीक्ष्ण या संकुचित अग्रवाले होते हैं। एकामव्यूह सूक्ष्म एवं गुच्छीकृत होता है। **फली**-छोटी एवं रोमावृत होती है। जिसमें रक्ताभ भूरे रंग के छोटे बीज होते हैं। इसको तोड़ने से दूध निकलता है। पुष्प एवं फल आने पर इसे सुखा कर रखते हैं। इसके पचांग का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें जलविलेय पदार्थ जैसे गॅलिक एसिड (Gallic acid), क्वेर्सेटिन (Quercetin), फिनॉलीय द्रव्य, एक ग्लाइकोसाइड तथा शर्करा पाई जाती है। इनके अतिरिक्त सुरासार विलेय द्रव्य, कुछ उड़नशील द्रव्य एवं मोम भी होता है।

गुण और प्रयोग—हृदय एवं श्वसनक्रिया पर इसका अवसादक प्रभाव पड़ता है तथा केन्द्रीय प्रभाव से श्वसनिकाओं का विस्फार होता है। आमाशय में इससे स्थानिक क्षोभ उत्पन्न होकर अधिक मात्रा से उत्क्लेश एवं वमन होता है। इसलिये इसका प्रयोग भोजनोपरान्त अधिक जल के साथ थोड़ी-थोड़ी मात्रा में करना चाहिये।

(१) जीर्ण कफविकारों एवं तमकश्वास में इसका क्वाथ देते हैं। इसके साथ अन्य कफ-निःसारक द्रव्य देने चाहिये।

(२) इसका स्वरस रक्तयुक्त आंव तथा शूल में दिया जाता है।

(३) बच्चों के कृमि, पेट के विकार तथा कफविकारों में इसे देते हैं।

(४) स्तन्यवर्धक रूप में इसका स्वरस पिलाया जाता है।

(५) वमन रोकने के लिये इसकी जड़ का प्रयोग किया जाता है।

(६) चर्मकील तथा दद्रु पर इसका दूध लगाते हैं।

मात्रा—स्वरस १०-२० बूँद; शुष्क चूर्ण २-५ रत्ती।

१६६ छोटी दूधी (१)

ले०-*Eufhorbia thymifolia, Linn.* (युफोर्बिआ थाइमीफोलिया, लिन) Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह भी भारत के सभी मैदानी एवं छोटे पहाड़ी स्थानों पर एवं काश्मीर में ५५०० फीट तक होती है।

इसके **पौधे** बहुत छोटे ताम्रवर्ण के तथा फैली हुई शाखाओं से युक्त होते हैं। **पत्ते**-सूक्ष्म, अभिमुख, द्विपंक्ति, तिर्यक् आयताकार या गोल एवं गोलदन्तुर होते हैं। गुच्छीकृत एकामव्यूह हरित या गुलाबी तथा मृदुरोमश होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह विशेष रेचक तथा उत्तेजक है। इसका रस दाद तथा अन्य चर्मरोगों में लगाते हैं। कफ एवं पित्त को निकालने के लिये इसका स्वरस दूध के साथ देते हैं। इसकी जड़ अनार्तव में दी जाती है।

१६७ छोटी दूधी (२)

ले०-*Euphorbia microphylla, Heyne* (युफोर्बिआ माइक्रोफाइला, हेन); Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह बंगाल, बुन्देलखण्ड, बिहार तथा प० प्रायद्वीप में होती है।

इसका **क्षुप** भी पहले की तरह होता है। यह श्वेतवर्ण का होता है। **पत्ते**-कुछ छोटे और कभी कभी केवल अग्र पर दन्तुर होते हैं। इसमें एकामव्यूह चिकने होते हैं।

गुण और प्रयोग—स्तन्यवर्धक रूप में इसका प्रयोग करते हैं।

१६८ छोटी दूधी (३)

पं०-हजारदाना। **ले०**-*Euphorbia hypericifolia. Linn* (युफोर्बिआ हाइपेरिसीफोलिया, लिन)। Fam. Euphorbaceae (युफोर्बिएसी)।

यह भारत के समस्त उष्ण भागों में तथा ४५०० की ऊँचाई तक हिमालय पर होती है।

इसका **क्षुप**-कोमल, वर्षायु तथा एक वित्ता ऊँचा होता है। इस पर रोम नहीं होते। यह बडी दूधी की तरह दिखलाई देता है किन्तु वह मजबूत होती है और इस पर रोम होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें फेनॉलीय द्रव्य, सुगन्धि तैल एवं क्षाराभ होता है।

गुण और प्रयोग—यह संग्राही एवं मादक है।

(१) बच्चों के उदरशूल में पत्र-स्वरस दूध के साथ देते हैं।

(२) शुष्क पत्र का फांट आव, अतिसार, अत्यार्तव तथा श्वेतप्रदर में देते हैं।

(३) इसका दूध चर्मकील पर लगाते हैं।

अथ भूम्यामलकी (भुँइआमला)। तस्या नामगुणानाह

भूम्यामलकिका प्रोक्ता शिवा तामलकीति च। बहुपत्रा बहुफला बहुवीर्याऽजटाऽपि च॥२७७॥
भूधात्री वातकृत्तिक्ता कषाया मधुरा हिमा। पिपासाकासपित्तास्रकफकण्डूक्षतापहा॥२७८॥

भुँइ आमला के नाम तथा गुण—भूम्यामलकिका, शिवा, तामलकी, बहुपत्रा, बहुफला, बहुवीर्या, अजटा और भूधात्री ये सब नाम भुइ आमला के हैं।

भुँइ आमला—तिक्त, कषाय एवं मधुर रस युक्त, वातकारक, शीतवीर्य एवं तृषा, खाँसी, पित्त, रक्त, कफ, खुजली और क्षत को दूर करने वाली है॥ २७७-२७८॥

१६९ भूआमला

हि०-भुई आमला, भूमि आंवरा, जर आवला। **बं०**-भुई आम्ला। **क०**-किरूनेल्लि। **ते०**-नेल उसिरि। **गु०**-भोंयआवली। **म०**-भुई आंवली। **ले०**-*Phyllanthus niruri, Linn* (फाइलेन्थस् नीरुरी, लिन) Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में वर्षा ऋतु में अधिक मिलती है।

इसका **क्षुप**-६ से १८ इञ्च तक ऊँचा होता है। **शाखाएं**-सीधी, पतली तथा हरित या श्वेत होती हैं। **पत्ते**-बहुत सघन आंवला के पत्ते के आकारवाले पर उनसे छोटे-छोटे होते हैं। **फूल**-बारीक तथा श्वेत या हरे आते हैं और **फल**-पत्रदण्ड के नीचे की ओर बहुत छोटे छोटे आंवला के फल के आकारवाले होते हैं। फलों का स्वाद आवले की तरह होता है।

इसकी एक अन्य जाति होती है जिसे Phyllanthus urinaria (फाइलेन्थस् युरिनेरिआ) कहते हैं। इसकी पत्तियाँ बडी तथा काण्ड रक्ताभ होते हैं। इनके पंचाग का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में एक कडुआ द्रव्य फाइलेन्थिन (Phyllanthin) पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह कासहर, श्वासहर, शीत, मूत्रजनन, स्रंसन, दाहशामक, शोथहर, व्रणरोपण तथा नियतकालिक ज्वर प्रतिबन्धक है।

यह कामला, मलेरिया, यकृत्-प्लीहावृद्धि, दाह, मूत्ररोग, रक्तविकार तथा व्रण में उपयोगी है।

(१) इसके पंचाग का क्वाथ मलेरिया में दिया जाता है।

(२) मूत्रमार्ग के विकारों तथा जलशोथ में इससे लाभ होता है। इससे मूत्र की मात्रा बढती है तथा जलन कम होती है।

(३) कामला में इसकी १ तोला जड दूध में पीस कर दोनों समय देते हैं।

(४) इसके कोमल काण्ड का फाण्ट आंव में देते हैं।

(५) [illegible]शोथ तथा व्रण पर इसके पंचांग का चावल की पेया के साथ बना पोल्टिस बांधा जाता है।

(६) त्वचा के रोगों में पत्तों को नमक के साथ पीस कर बांधते हैं।

मात्रा—स्वरस १ से २ तोला; चूर्ण ३-६ माशा।

अथ ब्राह्मी मण्डूकपर्णी च। तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

ब्राह्मी कपोतवङ्का च सोमवल्ली सरस्वती। मण्डूकपर्णी माण्डूकी त्वाष्ट्री दिव्या महौषधी॥
ब्राह्मी हिमा सरा तिक्ता लघुर्मेध्या च शीतला। कषाया मधुरा स्वादुपाकाऽऽयुष्या रसायनी॥
स्वर्या स्मृतिप्रदा कुष्ठपाण्डुमेहास्रकासजित्। विषशोथज्वरहरी तद्वन्मण्डूकपर्णिनी॥२८१॥

ब्राह्मी और मण्डूकपर्णी के नाम तथा गुण—ब्राह्मी, कपोतवङ्का, सोमवल्ली और सरस्वती ये नाम ब्राह्मी के हैं। मण्डूकपर्णी, माण्डूकी, त्वाष्ट्री, दिव्या और महौषधी ये नाम मण्डूकपर्णी के हैं। **ब्राह्मी**-शीतवीर्य, सारक (दस्तावर), तिक्त, कषाय और मधुर रसयुक्त, लघु, मेधा के लिये हितकर, शीतल, विपाक में मधुर रस युक्त, आयु को बढ़ाने वाली, रसायन, स्वर को उत्तम करने वाली, स्मरण शक्ति को बढाने वाली एवं कुष्ठ, पाण्डु, प्रमेह, रक्तविकार, खासी, विष, शोथ तथा ज्वर को दूर करने वाली होती है। **मण्डूकपर्णी**-इसके भी समस्त गुण ब्राह्मी के समान ही हैं॥

नोट—भावप्रकाशकार ब्राह्मी तथा मण्डूकपर्णी दोनों के समान गुण लिखते हैं। वास्तव में ये दो भिन्न वनस्पतियाँ हैं। सुश्रुत चि० २८-४ में ब्राह्मी तथा मण्डूकपर्णी दोनों के अलग-अलग प्रयोग दिये हुये हैं। उत्तर प्रदेश के अधिकांश वैद्य जिसको ब्राह्मी मानते हैं वह वास्तव में मण्डूकपर्णी है जिसका लेटिन नाम हाइड्रोकोटाइल् एशियाटिका है। इसकी २, ३ किस्में तथा एक अन्य जाति भी पाई जाती है। इनके अतिरिक्त बंगाल के वैद्य जलनीम (हर्पेस्टिस् मोनिएरा) को ब्राह्मी मानते हैं। हो सकता है कि दोनों के गुणों में कुछ समानता पाई जाती हो और इसी कारण भावप्रकाशकार ने इनके गुण एक समान लिखे हों। इनमें से हाइड्रोकोटाइल एशियाटिका निश्चित रूप से मण्डूकपर्णी मालूम होती हैं क्योंकि इसका विहार प्रान्त का स्थानिक नाम बेंगसाग है, जिसका अर्थ मेंढक का शाक है। यहाँ दोनों का अलग अलग वर्णन किया गया है।

१७० ब्राह्मी (वंगीय), जलनीम

हि०-ब्राह्मी, जलनीम, ब्रह्मी। **बं०**-ब्राह्मीशाक, ऊधाविर्नि। **म०**-ब्राह्मी। **ते०**-शम्ब्रनी चेट्टु। **ता०**-नीराब्रह्मि। **अं०**-Bacopa (बॅकोपा)। **ले०**-*Bacopa monnieri pennell* (बॅकोपा मोनिएराइ पेन्नेल); B monniera Wetht (बॅ० मोनिएरा वेटस्ट); Herpestis monniera H. B. & K. (हर्पेस्टिस् मोनिएरा)। Fam Scropfhulariaceae (स्क्रोफ्युलेरिएसी)।

पानी के समीप आर्द्र स्थानों में यह सर्वत्र पाई जाती है। पंजाब से लेकर सीलोन तक तथा ४००० फीट की ऊँचाई तक यह होती है।

इसका **क्षुप**-प्रसरी एवं किंचित् मासल होता है। **पत्ते**-अभिलट्वाकार, आयताकार या स्रुवा के आकार के अखण्ड, अवृन्त, कुण्ठिताग्र, सूक्ष्म काले चिह्नों से युक्त एवं ६-२५×२ ५-१० मि० मि० बड़े होते हैं। **पुष्प**-जामुनी मिला हुआ श्वेत या गुलाबी रंग का होता है। **फली**-५ मि० मि० लम्बी, अण्डाकार, चिकनी तथा नुकीली होती है, जिसमें सूक्ष्म बीज होते हैं।

इसका स्वाद कडवा होने से तथा जल के समीप होने से इसे जलनीम भी कहते हैं। इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक क्षाराभ ब्राह्मीन (Bramhine, 0·01–0·02%) पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसमें का क्षाराभ मेंढक, चूहे तथा गिनीपिग आदि के लिये बहुत ही विषैला है। इससे रक्त का तनाव कम होता है। अल्प मात्रा से रक्त का तनाव कुछ बढ़ता है तथा श्वसन क्रिया को भी बल मिलता है। अत्यल्प मात्रा से भी अनैच्छिक मांसपेशियाँ, जैसे आन्त्र, गर्भाशय आदि उत्तेजित होती हैं। चिकित्सा की मात्रा में इसके क्षाराभ का प्रभाव स्ट्रिक्नीन की तरह पडता है जिससे हृदय को बल मिलता है।

यह वातनाडी-संस्थान के लिये बल्य, मूत्रल एवं विरेचक है। इसका प्रयोग अपस्मार, उन्माद तथा स्वरभंग में किया जाता है।

(१) आमवात में इसका स्वरस बाह्य प्रयोग में लाया जाता है।

(२) बच्चों के सर्दी, खांसी आदि में इसका स्वरस एक चम्मच देने से वमन तथा विरेचन हो कर लाभ होता है।

(३) अवसाद, मानसिक दौर्बल्य आदि अवस्थाओं में इसके पत्तों का चूर्ण उपयोगी है।

(४) अपस्मार, हिस्टीरिया आदि में इससे बना ब्राह्मी घृत उपयोगी है।

मात्रा—स्वरस ½–१ तोला; चूर्ण ४–८ रत्ती।

१७१ मण्डूकपर्णी

हि०–ब्रह्ममाण्डूकी, ब्राह्मीभेद। ब०–थोलकुरी। गु०–खडब्राह्मी। क०–वदेलग। ते०–मण्डूक ब्रह्मी। ता०–वल्लै। म०–कारिवणा। अं०–Indian Pennywort (इण्डियन पेनीवर्ट)। ले०–*Centella asiatica (Linn) urbau* (सेन्टेल्ला एशियाटिका (लिन) उरबउ); Hydrocotyle asiatica, Linn (हाइड्रोकोटाइल एशियाटिका, लिन)। Fam. Umbelliferae (अम्बेलीफेरी)।

यह भारत तथा लंका में आर्द्र स्थान पर २००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है। यह विदेशों में भी होती है।

इसका क्षुप-रूप में कुछ भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। काण्ड-लंबे, प्रसरी एवं ग्रंथियों पर मूलों से युक्त होते हैं। पत्ते-गोल वृक्काकार, अखण्ड परन्तु धार पर प्रायः गोल दन्तुर, १ ३–६ ३ से. मी. व्यास में एवं लंबे वृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-ग्रन्थियों से कई पुष्पदण्ड एक साथ निकलते हैं, जिनमें लाल रंग के पुष्प संख्या में ३–५, सवृन्त मूर्धज होते हैं। फल-८ मि. मी. लंबे तथा चिपटे होते हैं, जिनमें चिपटे बीज होते हैं।

इसकी अन्य किस्में होती हैं, जिनमें एक में पत्ती बडी एवं फल सफेद तथा दूसरी में पत्ती छोटी तथा लाल फल होते हैं। एक अन्य जाति हा. रोटन्डिफोलिया (H. rotendifolia) भी होती है, जिसका क्षुप-बहुत कोमल, पत्ते-पतले झिल्ली के समान, स्पष्टतः ५–७ खण्डित एवं व्यास में १८ मि मी. तक होते हैं। इसमें प्रत्येक पुष्पदंड में पुष्प १०–१५ तक एवं अवृन्त होते हैं। इसमें कोणपुष्पक सूक्ष्म होते हैं। पहली में वे प्रत्येक पुष्पदण्ड के साथ दो दो, स्पष्ट चौडे लट्वाकार कोणपुष्पक होते हैं। इसके पत्तों एवं काण्ड का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसको छाया में सुखाकर चूर्ण बनाकर बन्द बोतलों में रखना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें एक क्षाराभ हाइड्रोकोटिलिन (Hydrocotylin C_{22} H_{33} No_8), एक ग्लाइकोसाइड, एशियाटिकोसाइड (Asiaticoside), अल्प उड़नशील तैल, स्थिरतैल तथा रालीय द्रव्य पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त वेलेराइन (Vellarine), पेक्टिक एसिड (Pectic acid) तथा विटामिन सी (Ascorbic acid) पाये जाते हैं। शुष्क पौधे में सेन्टोइक् एसिड (Centoic acid, C_{30} H_{48} O_6) तथा सेन्टेलिक् एसिड (Centellic acid, C_{30} H_4 C_6) पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह रसायन, बल्य, मूत्रजनन, वयःस्थापन, मेध्य, रक्तशोधक, कुष्ठघ्न, व्रणशोधक एवं व्रणरोपक है। अधिक मात्रा में यह मादक है। इससे शिरःशूल, चक्कर आना तथा कभी-कभी सन्यास (Coma) की अवस्था भी हो जाती है। इससे त्वचा की रक्तवाहिनियों का विस्फार होता है।

इसका प्रयोग वातिक विकार, चर्मरोग एवं रक्तविकार में किया जाता है।

(१) त्वचा के विकारों में यह अच्छी लाभदायक है। कुष्ठ में इससे कुछ लाक्षणिक लाभ एवं साधारण स्वास्थ्य ठीक होता है। फिरंग की द्वितीयावस्था एवं तृतीयावस्था तथा जीर्ण आमवात में इसको देते हैं। फिरंग में इसके देने से एक सप्ताह में त्वचा मुलायम पडकर छूटने लगती है। अन्य त्वचा रोगों में भी इससे लाभ होता है। इसका चूर्ण व्रण पर लगाते हैं तथा इसे खिलाते हैं। इसके प्रयोग से यदि कण्डू हो तो कुछ दिन इसे रोकना चाहिये तथा रेचक औषध देनी चाहिये।

(२) बच्चों के खूनी आँव में २ से ४ पत्तों का स्वरस, जीरक एवं मिश्री के साथ पिलाते हैं तथा नाभि के नीचे लेप करते हैं।

(३) बच्चों को शब्दोच्चारण ठीक करने के लिये इसे चबाने को देते हैं।

(४) स्मरणशक्ति बढाने के लिये इसका चूर्ण दुग्ध के साथ दिया जाता है।

मात्रा—चूर्ण २-४ रत्ती; ताजे पत्ते ८-१२ प्रौढ के लिये; २-४ बालकों के लिये।

अथ द्रोणा (गूमा)। तस्या नामगुणानाह

द्रोणा च द्रोणपुष्पी च फलेपुष्पा च कीर्त्तिता। द्रोणपुष्पी गुरुः स्वादू रूक्षोष्णा वातपित्तकृत्॥
सतीक्ष्णलवणा स्वादुपाका कट्वी च भेदिनी। कफामकामलाशोथतमकश्वासजन्तुजित्॥२८३॥

गूमा के नाम तथा गुण—द्रोणा, द्रोणपुष्पी और फलेपुष्पा ये नाम गूमा के हैं। **गूमा**-गुरु, स्वादिष्ट, रूक्ष, उष्ण, वात-पित्त कारक, तीक्ष्ण, लवणरसंयुक्त, विपाक में मधुररसयुक्त, कटु, मल को भेदन करने वाली एवं कफ, आम, कामला, शोथ, तमकश्वास और क्रिमि को दूर करती है॥ २८२-२८३॥

१७२ गूमा

हिं०-गूमा। **बं०**-घलघसे, हलकषा, दण्ड कलस। **गु०**-कुबो। **म०**-तुंबा। **ले०**-*Leucas cephalotes Spreng* (ल्युकस् सिफेलोटस् स्प्रेंग) Fam. Labiatae (लेबिएटी)।

यह प्रायः सब स्थानों में वर्षा में अधिक दिखाई पडती है। इसका **क्षुप**-आधे से २-३ फीट तक ऊँचा होता है और इस पर ४ या इससे अधिक शाखायें होती हैं। शाखायें चौपहल एवं रोमश होती हैं। **पत्ते**-२-३ इंच लम्बे तथा आधा इंच चौड़े अथवा न्यूनाधिक होते हैं। ये अण्डाकार प्रासवत् या लट्वाकार, गोल एवं भारावत् दन्तुर एवं रोमश दन्तुर होती हैं। **पुष्पगुच्छ**-श्वेत, प्रायः अग्रग, गोल, व्यास में १-२ इंच एवं प्रायः लम्बाग्र कोणपुष्पकों से घिरे हुये रहते हैं और पुष्पगुच्छ के शीर्ष पर प्रायः दो पत्तियाँ रहती हैं। पुष्प आकृति में द्रोण के सदृश होते हैं, इसलिये इसे द्रोणपुष्पी कहते हैं। पुष्प शरद् में आते हैं तथा ग्रीष्म में यह सूख जाता है। इस प्रजाति में अनेक जातियाँ हैं जिनमें से कई एक को गूमा कहा जाता है।

इसके पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक सुगन्धित तैल तथा क्षाराभ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, कटु, स्वेदजनन, वातप्रशमन, स्रंसन एवं कफघ्न है।

इसका प्रयोग प्रतिश्याय, कास, अग्निमांद्य, विषमज्वर एवं त्वचा के रोगों में किया जाता है।

(१) जुकाम में इसका फाट या स्वरस देते हैं। कफज्वर में टंकणक्षार तथा मधु के साथ इसका स्वरस देते हैं। इसके फूलों का शर्बत भी जुकाम आदि में लाभदायक है।

(२) आध्मान तथा उदरशूल में इसका स्वरस दिया जाता है।

(३) खुजली में इसका रस शरीर पर मलते हैं।

(४) सरदी से उत्पन्न शिरःशूल में इसके स्वरस का नस्य उपयोगी है।

(५) कामला में इसके पत्तों का रस नेत्रों में डालते हैं।

मात्रा-स्वरस ½-१ तोला।

अथ सुवर्चला (हुरहुर-श्वेत, पीत)। तयोर्नामगुणानाह

सुवर्चला सूर्यभक्ता वरदा बदराऽपि च। सूर्यावर्त्ता रविप्रीताऽपरा ब्रह्मसुवर्चला[1] ॥२८४॥
सुवर्चला हिमा रूक्षा स्वादुपाका सरा गुरुः। अपित्तला कटुः क्षारा विष्टम्भकफवातजित्॥
अन्या तिक्ता कषायोष्णा सरा रूक्षा लघुः कटुः। निहन्ति कफपित्तास्रश्वासकासारुचिज्वरान्॥
विस्फोटकुष्टमेहास्रयोनिरुक्कृमिपाण्डुताः॥ २८६॥

हुरहुर तथा ब्रह्मसुवर्चला के नाम और गुण—सुवर्चला, सूर्यभक्ता, वरदा, बदरा, सूर्यावर्त्ता

---

१. ब्रह्मसुवर्चला इति पाठा०।

और रविप्रीना ये नाम हुरहुर के हैं। एक दूसरे प्रकार की भी 'हुरहुर' होती है, जिसका ब्रह्मसुदुर्लभा नाम है। **हुरहुर**-शीतवीर्य, रूक्ष, विपाक में मधुररसयुक्त, सारक, गुरु, किञ्चित् पित्तजनक, कटुरसयुक्त, क्षारीय एवं विष्टम्भ, कफ और वात को दूर करने वाली होती है। और द्वितीय हुरहुर (ब्रह्मसुदुर्लभा)-तिक्त-कषाय और कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य, सारक, रूक्ष, लघु एवं कफ, पित्त-रक्त, श्वास, कास, अरुचि, ज्वर, विस्फोटक, कुष्ठ, प्रमेह, रक्तविकार, योनिरोग, कृमि तथा पाण्डुरोग को दूर करने वाली होती है ॥ २८४-२८६ ॥

नोट—उपर्युक्त वनस्पति को अधिकांश विद्वानों ने आजकल मिलने वाली हुरहुर माना है। हुरहुर के दो भेद पाये जाते हैं। गाइनेन्ड्रोप्सिस् पेन्टाफाइला (Gynandropsis pentaphylla) नामक श्वेत हुरहुर तथा क्लिओम् वाइकोसा (Cleome vicosa) नामक पीत हुरहुर। एक अन्य क्लि० मोनोफाइला (C. monophylla) नामक बैंगनी हुरहुर भी होता है।

श्वेत हुरहुर के पत्र पर्णनाल पर सूर्य के साथ घूमते हैं, जिससे उपर्युक्त सूर्यभक्ता, सूर्यावर्ती, रविप्रीता आदि नाम इस (श्वेत हुरहुर) के लिये सार्थक मालूम पड़ते हैं। कुछ विद्वान् इसमें उग्रगन्ध होने से इसे उग्रगन्धा, अजगन्धा मानते हैं। इसका मराठी नाम हिताबण इसके तिलपर्णी होने का सन्देह पैदा करता है। कुछ ने इसे कर्णस्फोटा माना है। बंगाली वैद्य सुवर्चला नाम से इसे लेते हैं। यहाँ दोनों हुरहुर का वर्णन किया गया है। हुरहुर को शास्त्रीय सुवर्चला, अजगन्धा, तिलपर्णी, आदित्यभक्ता, सूर्यमुखी या कर्णस्फोटा इनमें से क्या माना जाय यह सन्देहास्पद है।

१७३ हुरहुर (श्वेत)

हि०-हुरहुर सफेद, करेला, चमनी। **को०**-सेत काटाझड़ा। **म०**-तिक्तवण, भाटवण, माल्ली **बं०**-हुरहुरिया। **गु०**-धोली तलवर्णी। **ते०**-वामिटम्। **मल०**-तैवेल। **ता०**-कडुगु, वेलै। **ले०**-*Gynandropsis pentaphylla, DC* (गाइनेन्ड्रोप्सिस पेन्टाफाइला डीसी)। Fam. Capparidaceae (कॅपेरिडेसी)।

यह भारत के सभी उष्ण स्थानों में होता है।

इसका **क्षुप** १-२ फीट ऊँचा एवं दुर्गन्धयुक्त होता है। **पत्ते**-सपत्रक, पाणिवत्, पत्रक प्रायः पाँच, अभिलट्वाकार, ग्रन्थिक रोमश एवं चिपचिपे होते हैं। **पुष्प**-श्वेत या बैंगनी होते हैं, जिसमें ६ नरकेशर होते हैं। **फली**-गोल, चिकनी, लम्बी एवं लम्बे वृन्त से युक्त होती है। **बीज**-राई के समान किन्तु छोटे होते हैं। इसके बीज एवं मूल का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन-इसमें एक उडनशील तैल होता है। बीजों में क्लिओमिन (Cleomin) नामक तत्त्व होता है।

गुण और प्रयोग—इसके बीज राई की तरह दाहजनक, दीपन, पाचन, उत्तेजक एवं कृमिघ्न हैं। जड उत्तेजक तथा स्वेदजनन है। पत्तों को पीसकर त्वचा पर लेप करने से यह पीत हुरहुर को अपेक्षा कम रक्तिमोत्पादक है।

(१) ज्वर में कमजोरी आने पर उत्तेजना लाने के लिये समूल क्षुप का स्वरस ½-१ तो० पिलाते हैं।

(२) पूतिकर्ण एवं कर्णशूल में इसके पत्तों का रस कान में डालते हैं, किन्तु इससे जलन होकर तकलीफ होती है।

(३) ग्रन्थि बैठाने के लिये इसके पत्तों का लेप किया जाता है।

१७४ हुरहुर (पीत)

हि०-चमनी, हुरहुरपीला, केदार हनावर (सं०)। **म०**-पिवळी तिलवण। **गु०**-पीली तकवर्णी। **बं०**-हुरहुरिया। **ले०**-*Cleome viscosa, Linn.* (क्लिओम् विस्कोसा, लिन)। Fam. Capparidaceae (कॅपेरिडेसी)।

यह भारत के सभी भागों में होती है। इसका क्षुप-भी पहले की तरह होता है किन्तु इसमें सपत्रक पर्ण में पत्रकों की संख्या ३–५ तक होती है एवं फूल-पीले होते हैं। इसमें नरकेशर छोटे होते हैं। फली-चिपटी, रेशादार एवं छोटे वृन्त से युक्त होती है। इसके बीज एवं पत्तों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसीकी एक अन्य जाति क्लि० मोनोफाइला, लिन (C. monophylla, Linn.) होती है, जिसमें पर्ण अपत्रक एवं पुष्प बैंगनी होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में ०·१% विस्कोसिक अम्ल (Viscosic acid) ०·०४% विस्कोसिन (Viscosin) पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह स्वेदजनन, उत्तेजक, कोष्ठवात-प्रशमन एवं कृमिघ्न है। पत्तों का रस कोथप्रशमन एवं मूल कृमिघ्न है। इसके बीज एवं पत्तों का प्रभाव राई की तरह होता है। श्वेत की अपेक्षा इसके पत्ते अधिक दाहजनक हैं, क्योंकि इसके लेप से त्वचा त्वरित लाल हो जाती है एवं फोडे भी हो आते हैं।

(१) इसके बीज केंचुओं की बीमारी में देते हैं।

(२) आन्तरिक शोथ कम करने के लिये राई की अपेक्षा इसके पत्तों का लेप अधिक प्रभावशाली होता है। स्फोटोत्पादन के लिये या त्वक् रागोत्पादन के लिये इसके पत्ते या पञ्चांग का लेप करते हैं।

(३) पूतिव्रण एवं बाधिर्य में इसके पत्तों का स्वरस तेल मिलाकर कान में डालते हैं।

मात्रा—बीज १–३ माशा।

अथ बन्ध्याकर्कोटकी (वनककोडा)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

वन्ध्याकर्कोटकी देवी कन्या योगीश्वरीति च। नागारिर्नक्रदमनी विषकण्टकिनी तथा ॥२८७॥
वन्ध्याकर्कोटकी लघ्वी कफनुद् व्रणशोधिनी। सर्पदर्पहरी तीक्ष्णा विसर्पविषहारिणी ॥२८८॥

वन ककोड़ा के नाम तथा गुण—वन्ध्याकर्कोटकी, देवी, कन्या, योगीश्वरी, नागारि, नक्रदमनी और विषकण्टकिनी ये नाम वन ककोडा के हैं। **वनककोड़ा**-लघु, कफनाशक, व्रणशोधक, सांप के अहङ्कार को दूर करने वाली (विष के प्रभाव को दूर करने वाली), तीक्ष्णवीर्य एवं विसर्प तथा विष को नष्ट करने वाली होती है॥ २८७–२८८॥

१७५ वनककोड़ा

हि०-बाँझककोडा, वनककोडा, बांझखेखसा। **बं०**-तित्काकरोल। **म०**-वांझकर्टोली। **गु०**-बाँझकटोला, ककोडां। **क०**-माडहागल। **ता०**-पलुप्पकै। **ते०**-आगाकर। **ले०**-*Momordica dioica Roxb.* (मोमोर्डिका डायोइका राक्स.) Fam. Cucurbitaceae (कुकुरबिटेसी)।

यह इस देश के प्रायः सब प्रान्तों के जङ्गल झाडियों में उत्पन्न होती है और वर्षा ऋतु में अधिक पाई जाती है। हिमालय में ५००० फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है।

इसकी **लता, पत्र** आदि खेखसा के समान ही होते हैं, केवल अन्तर यह है कि खेखसा में फल लगता है और इसमें फल नहीं लगता। फल के स्थान में केवल एक कोष होता है, इसलिए इसको वन्ध्याकर्कोटकी कहते हैं। इसका कारण यह है कि यह द्विधैकलिंगक वनस्पति है, इसलिये नर और नारी पुष्पों की लतायें पृथक् होती हैं। नरपुष्पों की लता को वन्ध्याकर्कोटकी या बांझ-ककोडा और फल देने वाली नारी पुष्पों को उत्पन्न करने वाली लताएँ कर्कोटकी कही जाती हैं। इसकी लता आरोही, चिकनी प्रायः दुर्गन्धयुक्त एवं कोनदार काण्ड वाली होती है। तन्तु निःशाख होते हैं। **पत्ते**-आकार में छोटे-बडे हुआ करते हैं जो २ से ४ इञ्च के घेरे में लम्बाई युक्त गोलाकार, हृद्वत् ३ भागों में विभक्त या अखण्ड, प्रायः लहरदार एवं दन्तुर धार वाले रहते हैं। **पुष्प**-नरपुष्प पतले एवं २–६ इञ्च लम्बे पुष्पदण्डों से युक्त होते हैं एवं नारीपुष्पों के दण्ड छोटे या उतने ही बडे होते हैं। **फल**-यह १–३ इञ्च लम्बा, दीर्घवृत्ताभ और तीक्ष्णाग्र

अथवा अण्डाकार होता है तथा इस पर मुलायम काटे सदृश वाह्य वृद्धियाँ होती है। **जड़**-दड़-वर्षायु एव कन्दवत् होती है।

इसकी पत्ती एवं फल का शाकार्थ उपयोग होता है तथा कन्द एव पत्रादि का चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। कर्कोटकी का स्वतत्र वर्णन (गुण, प्रयोग आदि) आगे शाकवर्ग में आया है।

रासायनिक संगठन—इसकी राख में मैंगनीज होता है। इसमें क्षाराभ भी पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह थोडीसी रक्तसंग्राहक, विषनाशक, कफघ्न एव व्रणहर है। इसका कन्द कफनाशक एव सभी विषों को दूर करने वाला है।

(१) इसके कन्द को भूनकर या उसका चूर्ण रक्तार्श में देते हैं।

(२) सर्पविष तथा विच्छू के काटने पर इसका प्रयोग करते हैं। इसकी जड को पीस कर पिलाते हैं तथा नस्य देते हैं।

(३) ज्वर में शाक के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है (सु० उ० ३९-१५०)। तीव्र ज्वर एव प्रलाप में इसका वाह्य लेप किया जाता है।

(४) मूत्रकृच्छ्र में मूल को दूध के साथ पिलाते हैं।

मार्कण्डिका (सनाय)। तस्या नामगुणानाह

मार्कण्डिका भूमिवल्ली मार्कण्डी मृदुरेचनी ॥ २८९ ॥

मार्कण्डिका कुष्ठहरी ऊर्ध्वाधःकायशोधिनी। विषदुर्गन्धकासघ्नी गुल्मोदरविनाशिनी ॥

सनाय के नाम तथा गुण—मार्कण्डिका, भूमिवल्ली, मार्कण्डी और मृदुरेचनी ये नाम सनाय के हैं। **सनाय**—कुष्ठनाशक, ऊपर तथा नीचे से शरीर का शोधन करने वाली एवं विष, दुर्गन्ध, खांसी, गुल्म तथा उदर रोग को दूर करने वाली होती है और यह मृदु विरेचन करने वाली होती है अतएव 'मृदुरेचनी' इस नाम से भी कही जाती है॥ २८९-२९० ॥

१७६ सनाय

हि०-देशी सनाय। **बं०**-सोनपात, सोनामुखी। **म०**-सोनामुखी। **गु०**-मींठीभाकवल, सोनामुखी। **ते०**-नेलातिनगेडु। **ता०**-निलाविरै। **अ०**-सनाय मक्की। **अं०**-Indian or Tinnevelly Senna (इंडियन या तिनेवेल्ली सेना)। **ले०**-*Cassia angustifolia, Vahl* (केसिया अँगष्टि फोलिया)। Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसी)।

इसका आदि स्थान अरव तथा सोमालीलैंड है। किन्तु अब इसकी खेती दक्षिण भारत में तिनेवेल्ली, मदुरा तथा त्रिचनापल्ली जिलों में होती है। मैसूर में भी इसकी उपज का प्रयत्न किया गया है।

इसका सीधा गुल्म २-३ फीट ऊँचा होता है। **पत्ते**-सयुक्त होते हैं जिनमें पत्रक १-८ जोडे होते हैं। **पत्रक**-अण्डाकार-भालाकार, २·५-७ से० मी० लम्बे तथा ७-८ मि० मि० चौडे (१-२ इञ्च × ०·२-०·६ इच) एव चिकने होते हैं। **पुष्प**-पत्रकोणीय सदण्डिक (Raceme) मजरियों में पीतवर्ण के पुष्प आते हैं। **फली**-चिपटी १ ४-२ ८ इञ्च लम्बी, करीव ०·८ इंच चौडी एवं हरिताभ भूरी होती है। यह के० ॲक्यूटिफोलिया की फली से कम चौडी किन्तु अधिक लम्वी होती है। **बीज**-संख्या में ५-७, गहरे भूरे रंग के, अभिलट्वाकार एव दवे हुए होते हैं। इसकी फली एव पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

ब्रिटिश फारमाकोपिया (British pharmacopoeia) में दो जाति की सनाय मान्य है। एक उपर्युक्त सनाय तथा दूसरी ॲलेक्सॅण्ड्रियन सेना (Alexandrian senna) जो कि केशिया ॲक्यूटिफोलिया (Cassia acutifolia Delile) के जंगली पौधों से प्राप्त होती है। यह अफ्रीका तथा सूडान में होती है। इसको भारत में भी उगाने का प्रयत्न किया गया है। एक तीसरा भेद के० ओंव् होटा (Cassia obovata Collad) होता है, जिसे इटालियन, सेना (Italian, senna)

कहते हैं, सिंध, पंजाब, गुजरात, दक्षिण महाराष्ट्र एवं डेक्कन में पाया जाता है। यह देशी सनाय (Country senna) के नाम से भारतीय बाजार में सनाय के प्रतिनिधि रूप में बिकती है।

रासायनिक संगठन—इसमें हीन (Rhein, $C_{14}H_5O_2(OH)_2COOH$) एलो-एमोडीन (Aloe-emodin, $C_{14}H_5O_2(OH)_2CH_2OH$)। केम्फेरिन (Kaempferin), एवं आइसोहम्नेटिन (Isorhamnetin) मुक्त रूप में यह ग्लाइकोसाइड के रूप में होते हैं। इनके अतिरिक्त केम्फेरॉल (Kaempferol), माइरिसिल् अॅल्कोहोल (Myricyl alcohol) तथा फाइटोस्टेरोलिन (Phytosterolin) भी पाये जाते हैं।

इनके अतिरिक्त इसके पत्तों में गोंद, कॅल्शियम ऑक्सॅलेट (Calcium oxalate), राल तथा कुछ ग्लाइकोसाइड द्रव्य होते हैं। मेथिल ॲन्थ्राकिनोन (Methyl-anthraquinone) से संजात (Derivatives) कुल द्रव्य की मात्रा १·४% तक पाई गई है।

गुण और प्रयोग—यह रेचन औषध है। इसका छोटी आंतों पर प्रभाव होता है, जिससे पुरस्सरण की क्रिया बढ़ती है। सेवन के ६-१० घण्टे पश्चात् साफ शौच होता है। इसमें कुछ मरोड होती है जो संभवतः इसके पत्तों में के रालीय द्रव्य के कारण या पत्तों में रहने वाले एमोडीन (Emodin) के कारण होती है। इसे दूर करने के लिये तथा स्वाद ठीक करने के लिये इसके साथ सुगन्धि द्रव्य या क्षारीय विरेचन एव मुलेठी या द्राक्षा देना चाहिये। इसका उत्सर्ग दूध द्वारा होने के कारण दूध में विरेचक गुण आ जाता है।

(१) जिनको कब्ज की शिकायत रहती है, उन्हें इसको दिया जाता है।

(२) पित्तज्वर में विरेचन के लिये इसे देने से दूषित पित्त निकल जाता है, जिससे दाह, शिरःशूल आदि कम हो जाते हैं।

(३) आवेष्टन युक्त विबन्ध (Spastic constipation), या प्रक्षोभयुक्त बृहदांत्र (Irritable colon) एवं बृहदांत्र शोथ (Colitis) में इसका प्रयोग निषिद्ध है।

मात्रा—५-१५ रत्ती।

अथ देवदाली पीतदेवदाली च। खेखसावत्फलव्रततिः। तयोर्नामानि गुणांश्चाह

देवदाली तु वेणी स्यात्कर्कटी च गरागरी। देवताडो वृत्तकोशस्तथा जीमूत इत्यपि ॥२९१॥
पीता परा खरस्पर्शा विषघ्नी गरनाशिनी। देवदाली रसे तिक्ता कफार्शःशोफपाण्डुताः।
नाशयेद्वामनी तीक्ष्णा क्षयहिक्काकृमिज्वरान् ॥ २९२ ॥

देवदाली के नाम तथा गुण—देवदाली, वेणी, कर्कटी, गरागरी, देवताड, वृत्तकोश और जीमूत ये नाम देवदाली के हैं। दूसरी पीतदेवदाली के नाम-खरस्पर्शा, विषघ्नी और गरनाशिनी ये सब हैं। देवदाली-तिक्तरसयुक्त, वमन कराने वाली, तीक्ष्ण, एवं कफ, अर्श (बवासीर), शोथ, पाण्डुरोग, क्षय, हिचकी, कृमि तथा ज्वर को नष्ट करने वाली होती है ॥ २९१-२९२ ॥

अथ तत्फलगुणानाह

देवदालीफलं तिक्तं कृमिश्लेष्मविनाशनम्। स्रंसनं गुल्मशूलघ्नमर्शोघ्नं वातजित्परम् ॥२९३॥

देवदाली **घघरबेल** के फल का गुण—यह तिक्तरसयुक्त, स्रंसन एवं कृमि, कफ, गुल्म, शूल, अर्श तथा वायु को दूर करने वाला होता है ॥ २९३ ॥

१७७ देवदाली

हि०-देवदाली, सोनैया, बन्दाल, घघरबेल, घुसरान । **बं०**-विदाल, घोपालता, देवताड, देयाताट। **म०**-देवडांगरी, कुकरवेल। **गु०**-कुकडवेल। **ते०**-पनिबिर। **क०**-देवटगर। **अं०**-Bristly Luffa (ब्रिस्टलि लफा)। **ले०**-*Luffa achinata Roxb* (लफा एकिनेटा)। Fam. Cucurbitaceae (कुकुरबिटेसी)।

यह-सिन्ध, गुजरात, पूर्निया, ढाका और बङ्गाल आदि प्रान्तों में अधिक उत्पन्न होती है तथा विहार, संयुक्तप्रान्त और पश्चिमोत्तर भारत में कहीं २ पाई जाती है। प्रायः किसान लोग इसे खेत की वाड पर लगा देते हैं।

यह लता जाति की वनौषधि प्रतिवर्ष उत्पन्न होती है, अर्थात इसकी जड भूमि में सजीव रहती है और बरसात का पानी पडने पर अंकुरित होकर लतारूप में देख पडती है तथा कार्तिक-अगहन तक सूख कर नष्ट हो जाती है।

इसकी वेल खेकसा (कर्कोटकी) के समान होती है, कर्कोटकी का विस्तार अधिक सघन होता है, परन्तु देवदाली का विस्तार बहुत कम होता है। इसके काण्ड पतले एवं पांच कोन वाले होते हैं। तन्तु द्विशाख शाखाओं वाले होते हैं।

पत्ते-१-२½ इञ्च के घेरे में गोलाकार, वृक्काकार, लट्वाकार, पञ्च कोणाकार, अथवा पाँच भागवाले एवं गहरे कटे किनारे वाले तथा प्रत्येक भाग दन्तुर दीर्घवृत्ताभ होते हैं। **पत्रदण्ड**-१-२ इञ्च लम्बा होता है। **पुष्प**-श्वेत तथा व्यास में ½-१ इञ्च होते हैं, **पुं-पुष्प**-२-८ इञ्च लवी मजरियों में और उन्हीं पत्रकोणों में एकाकी स्त्री-पुष्प निकले रहते हैं।

फल-१ से १॥ इञ्च लम्बे, लगभग आधा इञ्च मोटे, ⅙-⅛ इञ्च लबे सघन कडे रोम (बाह्यवृद्धि) अथवा कोमल काटों मे आच्छादित रहते हैं। फल कच्चे होते हैं, तो यह काटे हरे रङ्ग के और सूखने पर भूरे रङ्ग के हो जाते हैं। फलों के मुँह पर सूक्ष्म ढक्कन (Lid) होता है। जव फल जाड़े में पक कर सूख जाता है, तव यह ढक्कन अपने आप फल से चिरकर गिर जाता है और फल के अन्दर के रेशेवाले तीन छिद्रों में से बीज निकलना आरम्भ होता है। इस लता का स्वाद वहुत कडुवा होता है। इसके फल का उपयोग किया जाता है। पचांग का प्रयोग भी किया जा सकता है।

इसी प्रजाति की एक दूसरी लता लफा ग्रेविओलेन्स (Luffa graveolens, Roxb) होती है, जिसमें पुष्प पीले रंग के, तन्तु ३-४ शाखाओं वाले, पुपुष्प गुच्छवद्ध, पु-केशर पांच (देवदाली में केवल ३) किन्तु फल देवदाली की तरह कांटेदार होते हैं। कांटे कुछ मुलायम होते हैं।

पीले, लाल और सफेद फूलों के भेद से देवदाली तीन प्रकार की मानी जाती है। इसमें सफेद फूल की देवदाली अधिक मिलती है, पीले फूल की कहीं कहीं देखने में आती है और लाल फूल की देवदाली कम देखने में आती है। परन्तु गुणों में सव समान ही हैं। रक्त एवं पीत का रसायन के लिये उपयोग होता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक लफिन (Luffein) नामक कडवा पदार्थ होता है, जो इन्द्रायण की तरह वामक एवं विरेचन होता है। बीजों में तेल होता है जो कडवा नहीं होता।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, कडवा, मूत्रजनन, विरेचन, शिरोविरेचन, व्रणशोधक एवं व्रणरोपक है। अधिक मात्रा से हैजे की तरह वमन एव विरेचन होता है। गर्भिणी में गर्भपात हो जाता है। इसका प्रभाव कडवी तरोई की तरह होता है।

इसका प्रयोग कामला, जलोदर, हिक्का, कास, श्वास, क्षय, कृमि, यकृत् प्लीहावृद्धि एवं आन्त्रशूल में किया जाता है।

(१) इसके एक फल को कूटकर रात में जल में भिगो दे। सुवह इसे मसल, कपडे से छान ५-१० वूँद शिरोविरेचन के लिये नाक में डाले। इससे दिनभर पानी वहता है। कफज शिरोरोग तथा कामला में इसका प्रयोग करते हैं। कामला में इसके फल को मट्ठे के साथ खिलाते हैं तथा इसके पंचांग के क्वाथ से नहलाते हैं। नस्य के लिये १ रत्ती चूर्ण का भी नस्य कराते हैं।

(२) इसका फाट या टिंक्चर (१ में २०), १०-२० वूँद की मात्रा में यकृत्-प्लीहावृद्धि, वाल यकृत् की प्रारंभिक अवस्था तथा इनसे उत्पन्न जलोदर में लाभदायक है। इससे मूत्र की मात्रा वढती है तथा विरेचन भी होता है।

(३) इसके फांट से व्रण, दूषित व्रण आदि धोये जाते हैं।

(४) कफज्वर में अन्य कफनिःसारक द्रव्यों के साथ इसका प्रयोग लाभदायक है।

(५) चूहे के विष में दही के साथ इसके देने से लाभ होता है। (सुश्रुत)।

मात्रा–१–२ रत्ती।

अथ जलपिप्पली। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

**जलपिप्पल्यभिहिता शारदी शकुलादनी। मत्स्यादनी मत्स्यगन्धा लाङ्गलीत्यपि कीर्त्तिता॥
जलपिप्पलिका हृद्या चक्षुष्या शुक्रला लघुः॥ २९५॥
संग्राहिणी हिमा रूक्षा रक्तदाहव्रणापहा। कटुपाकरसा रुच्या कषाया वह्निवर्द्धिनी॥२९६॥**

जलपीपल के नाम तथा गुण—जलपिप्पली, शारदी, शकुलादनी, मत्स्यादनी, मत्स्यगन्धा और लाङ्गली ये नाम जलपीपल के हैं। **जलपीपल**–हृदय तथा नेत्रों के लिये हितकर, शुक्रजनक, लघु, मलसंग्राहक, शीतवीर्य, रूक्ष, रक्तविकार, दाह और व्रण को नष्ट करने वाली, विपाक में कटुरस युक्त, रुचिकारक, कटु तथा कषाय रसयुक्त एवं अग्निवर्धक होती है॥ २९४–२९६॥

१७८ जलपीपल

हि०–जलपीपल, पनिसि (स)गा, भुईओकरा, बुक्कन बूटी। **बं०**–बुक्कन, कांचडा। **म०**–जलपिप्पली, रतवेल। **गु०**–रतवेलीयो। **अं०**–Purple Lippia (पर्पल लिपिआ)। **ले०**–*Lippia nodiflora Mich* (लिप्पिआ नोडिफ्लोरा) Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों की गीली भूमि में अधिक पाई जाती है तथा बलूचिस्तान में भी होती है।

यह **प्रसर**–(प्रसरी क्षुप) जाति की वनौषधि भूमि पर छत्ते सी प्रसरी हुई रहती है। यों तो यह बारहो मास मिलती है, किन्तु बरसात में अधिक देखने में आती है। **पत्ते**–अभिमुख, अभिलट्वाकार, आरावत् दन्तुर कुंठिताग्र तथा ·५–१ इंच लंबे होते हैं। **पुष्प**–श्वेत रंग के छोटे पुष्प आते हैं, जो कोणपुष्पकों से युक्त पत्रकोणीय, सदण्ड मुण्डकाकार व्यूह में आते हैं। **फल**–यही बाद में फल में परिवर्तित हो जाते हैं, जो पिप्पली की तरह दिखलाई पडते हैं। इसके स्वरस का उपयोग करते हैं। चरक में शाकवर्ग में इसका उल्लेख मिलता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक कडवा पदार्थ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह कटु, स्नेहन, मूत्रजनन, संग्राही एव ज्वरहर है।

(१) सूजन पर इसका पोल्टिस बांधने से जलन कम होती है तथा जल्दी पकती है।

(२) इसके पत्तों का फाट बच्चों के अजीर्ण, अतिसार, साधारण सरदी तथा प्रसूति ज्वर में दिया जाता है।

मात्रा–स्वरस ½–२ चम्मच।

अथ गोजिह्वा। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

**गोजिह्वा गोजिका गोभी दार्विका खरपर्णिनी। गोजिह्वा वातला शीता ग्राहिणी कफपित्तनुत्॥
हृद्या प्रमेहकासास्रव्रणज्वरहरी लघुः। कोमला तुवरा तिक्ता स्वादुपाकरसा स्मृता॥२९८॥**

गोजिह्वा के नाम तथा गुण—गोजिह्वा, गोजिका, गोभी, दार्विका और खरपर्णिनी ये नाम गोभी के हैं। **गोजिह्वा**–वातकारक, शीतवीर्य, ग्राही, कफ-पित्तनाशक, हृदय के लिये हितकर, प्रमेह कास रक्तविकार व्रण तथा ज्वर को दूर करने वाली एवं लघु, कोमल, कषाय, तिक्त तथा मधुर रसयुक्त और विपाक में मधुर होती है॥ २९७–२९८॥

नोट—गोजिह्वा के विषय में विद्वानों में कुछ मतभेद देखा जाता है। कुछ ने एलिफन्टोपस् स्केबर (Elephantopus scaber) को गोजिह्वा माना है किन्तु श्री ठा० बल्वन्तसिंहजी ने इसके स्थानिक नामों के आधार पर इसे गोजिह्वा न मानकर 'मयूरशिखा' माना है। कुछ ने

यूनानी में प्रचलित द्रव्य गावजवान इसे माना है, जिसका लै० नाम ओनोस्मा ब्रेक्टिएटम् है। कुछ इसे गावजबान से भिन्न मानते हैं। कुछ ने **कॅकसीनिया ग्लॉका** (Cacoinia Glauca, Sari) को गावजबान माना है जो बलूचिस्तान में होता है तथा गुण में बल्य, मूत्रल एवं स्नेहन है तथा इसका आमवात एवं फिरंग में प्रयोग किया जाता है।

चरक के दशेमानि में गोजिह्वा का उल्लेख नहीं है। शाक में इसका उल्लेख मिलता है, तथा विसर्प के लेपों में भी वर्णन है। चरक, सुश्रुत दोनों इसे व्रणरोपण मानते हैं। सुश्रुत में उपदंश, व्रण एवं ग्रन्थिविसर्प में तथा शाक के रूप में इसका प्रयोग मिलता है।

यहाँ पर दोनों का वर्णन किया गया है।

१७९ गोजिह्वा (१)

सं०-मयूरशिखा ? **हि०**-गोभी। **बं०**-लता, गोजिया। **म०**-गोजीभ, हस्तिपत। **गु०**-भोंपाथरी, गलजीभी। **वि०**-मयूरजूटी, माराचूडा, मयूरचुटिया, मयूरशिखार। **लै०**-*Elephantopus scaber Linn.* (एलिफन्टोपस् स्केबर लिन) Fam. Compositae (कम्पोझिटी)।

यह भारत के सभी उष्ण भागों में होती है। इसका **क्षुप**-स्वावलम्बी तथा ८–१८ इंच ऊँचा होता है। मूलीय **पत्ते**-पत्र-गुच्छों के रूप में, ४–६ इंच लंबे एवं अभिलट्वाकार या अभिप्रासवत् होते हैं। काण्ड पतला, द्विविभक्त तथा रोमयुक्त होता है, जिस पर पत्ते १–३ इंच लंबे, अवृन्त एवं काण्डससक्त तथा दूर दूर होते हैं। **पुष्पव्यूह**-मुण्डक के रूप में आते हैं जो सूक्ष्म तथा समूहबद्ध होकर प्रायः ३, पत्रवत् एवं हृद्वत् कोणपुष्पकों के बीच में रहते हैं। प्रत्येक मुण्डक में पुष्प-संख्या प्रायः २–५ तक होती है।

मुण्डकगुच्छ कोणपुष्पकों के साथ मयूर की शिखा के सदृश दिखलाई देते हैं। इसके आदिवासियों में प्रचलित नाम मयूरशिखा के समानार्थक हैं, जिससे इसे श्री ठा० बलवन्त सिंहजी ने शास्त्रीय मयूरशिखा माना है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्ते एवं काण्ड के सुरासारीय सत्त्व में प्रति जैविकीय क्रिया (Antibiotic activity) पाई गई है।

गुण और प्रयोग—यह स्नेहन, शीतल, मूत्रजनन, बल्य एवं ज्वरनाशक है।

(१) इसके पचांग का क्वाथ मूत्रकृच्छ्र में पिलाते हैं।

(२) ज्वर में इसके पचांग को चावल की पेया में पका कर देते हैं। इससे पेट का दर्द भी दूर होता है।

(३) रक्तातिसार तथा वर्चों के अतिसार में इसका मूल उपयोगी होता है।

(४) इसको गरी के तेल में पका कर व्रण एवं छाजन पर लगाते हैं।

(५) इसकी जड़ को वमन रोकने के लिये देते हैं तथा मिरिच के साथ चूर्ण बनाकर दन्तशूल में लगाते हैं।

१८० गोजिह्वा (२) गावजवान

सं०-गोजिह्वा, दर्वीपत्रा, वृषजिह्वा, खरपत्रा। **हि०-म०-गु०-फा०**-गाजबाँ, गावजबान। **अ०**-लिसानुस्सौर। **लै०**-*Onosma bracteatum Wall.* (ओनोस्मा ब्रेक्टिएटम्); Fam. Boraginaceae (बोरेजिनेसी)।

यह ईरान, अफगानिस्तान तथा पश्चिमी हिमालय में काश्मीर से कुमाऊँ तक ११५०० फीट तक पाया जाता है।

इसका **क्षुप**-छोटा होता है। **पत्र**-मांसल, खुरदरे तथा साबूदाने की तरह छोटे-छोटे चिह्नों से युक्त होते हैं। **पुष्प**-ताजी अवस्था में नीले किन्तु बाद में रक्ताभ हो जाते हैं। इसके पचांग का व्यवहार किया जाना है। यूनानी वाले इसके पत्तों को वर्ग गावजबान एवं पुष्पों को गुलेगावजवान के नाम से व्यवहार करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों को जल में भिगोने से काफी लुआब निकलता है, जिसका स्वाद नमकीन होता है। इसकी राख में सोडियम् ९½%, पोटॅशियम् १४½%, कैलशियम् २७%, मैग्नेशियम् २¾% एवं लौह १% आदि के लवण पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह वल्य, हृद्य, मूत्रल, रसायन, स्नेहन एवं सौमनस्यजनन है। इसका प्रयोग फिरंग, आमवात, हृदय की धड़कन, मूत्रकृच्छ्र, आमाशय एवं बस्तिप्रक्षोभ एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) विषमज्वर में जब ठंड लगती है तब इसे आसव के साथ देने से प्यास कम होती है तथा बेचैनी दूर होती है।

(२) फिरंग तथा सोजाक से उत्पन्न सन्धिशोथ में चोपचीनी के साथ इसका क्वाथ उपयोगी है।

(३) हृदय की धड़कन तथा मूत्रकृच्छ्र में इसके फांट का प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—४-६ माशा दूध के साथ; पुष्प ३-६ माशा।

अथ नागदमनी । तस्या नामगुणानाह

विज्ञेया नागदमनी बलामोटा विषापहा । नागपुष्पी नागपत्रा महायोगेश्वरीति च ॥२९९॥
बलामोटा कटुस्तिक्ता लघुः पित्तकफापहा । मूत्रकृच्छ्रव्रणान् रक्षो नाशयेज्जालगर्दभम् ॥३००॥
सर्वग्रहप्रशमनी निःशेषविषनाशिनी । जयं सर्वत्र कुरुते धनदा सुमतिप्रदा ॥ ३०१ ॥

नागदमनी के नाम तथा गुण—नागदमनी, बलामोटा, विषापहा, नागपुष्पी, नागपत्रा और महायोगेश्वरी ये नाम नागदमनी के हैं। **नागदमनी**—कटु तथा तिक्त रसयुक्त, लघु एवं पित्त, कफ, मूत्रकृच्छ्र, व्रण, राक्षसबाधा, जालगर्दभ, सम्पूर्णग्रहबाधा और समस्त विष को दूर करने वाली तथा सर्वत्र जय करने वाली, धन तथा सुन्दर मति को देने वाली होती है ॥२९९-३०१॥

नोट—यह सन्दिग्ध द्रव्य है। मूर्वा नाम से पूर्वी भारत में प्रयुक्त सेन्सेविरिया राक्स-बर्घियाना को कुछ लोग नागदौन मानते हैं। इसका पहले मूर्वा के साथ वर्णन किया जा चुका है। डा० वा० ग० देसाई ने सुदर्शन की एक जाति (Orinum asiaticum) को नागदमनी लिखा है। कुछ ने दमनक (आर्टिमिसिआ), जिसका भावप्रकाशकार पुष्पवर्ग में स्वतन्त्र वर्णन करते हैं, नागदमन नाम से उल्लेख किया है। श्री ठा० बलवन्त सिंहजी ने 'विहार की वनस्पतियाँ' नामक पुस्तक में एक वनस्पति प्युपेलिया लेप्पासिया का उल्लेख किया है जिसे कुछ लोग नागदमनी मानते हैं। सुदर्शन एवं दमनक का आगे स्वतंत्र वर्णन आया हुआ है। यहाँ संक्षेप में प्युपेलिया लेप्पासिया का वर्णन किया गया है।

१८१ नागदमनी ?

सं०-नागदमनी ? **ले०**-*Pupalia lappacea, moq.* (प्युपेलिया लेप्पॉसिया मो०) Fam. Amarantaceae (ॲमेरेन्टेसी)।

बिहार में यह मुंगेर, पलामू, संथाल परगना आदि स्थानों में विशेषकर पथरीली भूमि में होती है।

इसमें गुल्मक रोमश होते हैं। शाखायें कमजोर होती हैं। **पत्ते**-मृदुरोमश, अभिमुख, लट्वाकार, लट्वाकार-आयताकार या प्रासवत्, १-४ इञ्च लम्बे होते हैं। **फलगुच्छ**-मुण्डकाकार। व्यास में ५ इञ्च एवं उस पर टेढ़े सूक्ष्म कांटे होते हैं, जिससे सम्पर्क में आने पर ये कपड़ों में चिपट जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसे कुछ लोगों ने सर्पविष में उपयोगी माना है।

अथ वीरतरुः । तस्य नामानि गुणाँश्चाह—

वेल्लन्तरो जगति वीरतरुः प्रसिद्धः श्वेतासितारुणविलोहितनीलपुष्पः ।
स्याज्जातितुल्यकुसुमः शमिसूक्ष्मपत्रः स्यात्कण्टकी विजलदेशज एव वृक्षः ॥ ३०२ ॥

वेल्लन्तरो रसे पाके तिक्तस्तृष्णाकफापहः। मूत्राघाताश्मजिद्ग्राही योनिमूत्रानिलार्त्तिजित्॥

वीरतरु के नाम तथा गुण—वेल्लन्तर और वीरतरु ये दो नाम जगत् में प्रसिद्ध हैं, इसके **पुष्प**-जाती (चमेली) के फूलों के समान होते हैं और वे सफेद, काले, अरुण, गाढ़े लाल तथा नीले रङ्ग के होते हैं। **पत्ते**-शमी के पत्तों के समान सूक्ष्म होते हैं और यह कांटेदार तथा निर्जल प्रदेशों में उत्पन्न होने वाला वृक्ष होता है। **वीरतरु**-विपाक तथा रस में तिक्त तथा ग्राही होता है एवं तृषा, कफ, मूत्राघात, पथरी, योनिरोग, मूत्ररोग को नष्ट करने वाला होता है॥

१८२ वीरतरु

हि०-वेलन्तर, वीरतरु, वरवेल, वरतुली। **ते०**-लतुरा। **मा०**-खडी कलई, कुंरान, खेरी। **अजमेर०**-खेडी। **राजपुताना०**-खेन। **म०**-सिगमकाटी। **गु०**-केह्लतरो। **ता०**-विडतर्ले' वेल्लतुरू। **लै०**-*Dichrostachys cinerea W. S. A,* (डिक्रॉस्टेचिस् सिनेरिया) Fam. Leguminosae (लेग्युमिनोसि)।

यह पश्चिमोत्तर प्रदेश, मध्य भारत, राजपूताना, डेक्कन, दक्षिण महाराष्ट्र तथा उत्तरी कच्छ से सिलोन तक होता है। मलाया तथा उत्तरी आस्ट्रेलिया में भी यह पाया जाता है।

यह **वृक्ष**-झाडदार, मध्यमाकार का या छोटे कद का कांटेदार होता है। इस पर सीधे, दृढ और तीखे कांटे रहते हैं। **पत्ते**-शमी के समान होते हैं। ये द्विपक्षवत् ३·२-६·२ से० मी० लम्बे होते हैं, जिसमें प्रधान पत्रदण्ड मृदुरोमश तथा प्रत्येक उपपक्ष के बीच ग्रन्थि होती है। **उपपक्ष**-८-१४ जोडे, १-१ ६ से० मी० लम्बे एवं विनाल होते हैं, जिस पर सूक्ष्म, तिर्यक्, रेखाकार, विनाल **पत्रक**-१२-२० जोडों की संख्या में होते हैं। उष्णकाल में इस पर २·४-३·८ से० मी० लम्बी विदडिक पुष्पमञ्जरी में पुष्प आते हैं। मञ्जरी का ऊपर का आधा भाग पीत एवं नीचे का आधा भाग लाल रहता है। ऊपर के पुष्पों के परागयुक्त पुंकेसर पीत रहते हैं तथा नीचे के परागरहित पुंकेसर बहुत लम्बे एवं लाल रहते हैं। **फली**-५-७ ५ से० मी० लम्बी, ० ६-१·० से० मी० चौडी, चिपटी, गहरे भूरे रंग की तथा पकने पर ऐंठी हुई रहती है, जिसमें ६-१० बीज होते हैं। सुश्रुत में इसका उल्लेख मिलता है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड ग्राही होती है तथा आमवात, पथरी तथा वृक्क विकार में प्रयोग की जाती है। नेत्र-विकार में इसके कोमल पत्तों को पीसकर लगाते हैं।

अथ छिक्कनी (नकछिकनी)। तस्या नामगुणानाह—

छिक्कनी क्षवकृत्तीक्ष्णा छिक्किका घ्राणदुःखदा। छिक्कनी कटुका रुच्या तीक्ष्णोष्णा वह्निपित्तकृत्। वातरक्तहरी कुष्ठक्रिमिवातकफापहा॥ ३०४॥

नकछिकनी के नाम तथा गुण—छिक्कनी, क्षवकृत्, तीक्ष्णा, छिक्किका और घ्राणदुःखदा ये नाम नकछिकनी के हैं। **नकछिकनी**—कटुरसयुक्त, रुचिकारक, तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य, अग्नि तथा पित्तजनक, एवं वातरक्त, कुष्ठ, क्रिमि, वात और कफ को नष्ट करने वाली होती है॥ ३०४॥

१८३ नकछिकनी

हि०-नकछिकनी, छिकनी। **बं०**-हाचुटी, मैचिट्ट। **म०**-नाक शिंकणी। **गु०**-नाक छींकणी। **लै०**-*Centipeda obrbicularis, our* (सेंटिपीडा ऑर्बिक्युलेरिस्)। Fam. Compositae (कम्पोझिटी)।

यह प्रायः इस देश के सब प्रान्तों में विशेषकर आर्द्रभूमि में अधिक उत्पन्न होती है।

क्षुप-बहुत छोटे, सुन्दर छत्ते से एक वालिस्त या इससे कम घेरे में पृथ्वी पर फैले हुए रहते हैं। **शाखायें**-मूल के पास से निकलकर फैली हुई रहती हैं। **पत्ते**-बहुत छोटे, अभिप्रासवत् या अभिलट्वाकार, आयताकार और दूर दूर दन्तुर होते हैं। **पुष्प**-छोटे छोटे गोल मुण्डक में आते हैं, जिनमें प्रान्तीय पुष्प स्त्री-पुष्प कई चक्रों में और जिह्वाकार; केन्द्रीय पुष्प उभयलिंग तथा नालाकार एवं संख्या में कम होते हैं। अध पत्रावलि दो चक्रों में रहती है।

इसका चरक तथा सुश्रुत दोनों में उल्लेख है । चरक में इसे शिरोविरेचनोपग माना है तथा शिरोरोग एवं कटुस्कंध में पाठ है और सुश्रुत में अतिसार एवं विसूचिका के लिये इसे उपयोगी बतलाया है ।

रासायनिक संगठन—इसमें एक क्षाराभ, अत्यल्प सॅपोनिन, एक ग्लाइकोसाइड, उडनशील तैल एवं अम्लस्वभावी कडवा द्रव्य माइरियोगाइनिन् (Myriogynin) पाया जाता है ।

गुण और प्रयोग—यह शिरोविरेचन, दीपन, ग्राही, उष्ण, कृमिघ्न एव वातनाशक है ।

(१) प्रतिश्याय, सिर के भारीपन एव अर्धावभेदक में इसके स्वरस या चूर्ण का नस्य देते हैं, जिससे बहुत छींकें आकर आराम मिलता है ।

(२) दन्तशूल में इसके पचाग का उष्ण कल्क गालों के बाहर से लगाया जाता है ।

(३) इसके बीज कृमिघ्न होते हैं ।

अथ कुकुन्दरः (कुकुरवँदा) । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कुकुन्दरस्ताम्रचूडः सूक्ष्मपत्रो मृदुच्छदः ॥ ३०५ ॥
कुकुन्दरः कटुस्तिक्तो ज्वररक्तकफापहः । तन्मूलमार्द्रं निक्षिप्तं वदने मुखशोषहृत् ॥ ३०६ ॥

कुकरवँदा के नाम तथा गुण—कुकुन्दर, ताम्रचूड, सूक्ष्मपत्र और मृदुच्छद ये नाम कुकुरवँदा के हैं । **कुकुरवँदा**-कटु तथा तिक्तरसयुक्त, ज्वर, रक्त और कफ को दूर करने वाला होता है । इसकी जड गीली (ताजी) यदि मुख में रक्खी जाय तो मुख का सूखना बन्द हो जाता है ॥ ३०५-३०६ ॥

१८४ कुकुरवंदा

हि०-कुकरोंदा, कुकुरवंदा, कुकसुगा । **बं०**-कुकुरनिर्मुली, भावूर्डा, भागरूड, गगावली । **ता०**-नारक्करडे । **ले०**-*Blumea lacera, DC.* (ब्लुमिया लॅसेरा) । Fam. Compositae (कम्पोझिटी) ।

यह सब प्रान्तों में २००० फीट तक उत्पन्न होता है । यह **क्षुप**-जाति की वनस्पति बरसात के अन्त में अङ्कुरित होकर जाडे में हरी भरी दिखाई पडती है । पहले इसके पत्ते छत्ते से पृथ्वी पर बिछे हुए रहते हैं और काशनी के पत्तों के समान दीख पडते हैं, परन्तु ज्यों-ज्यों क्षुप बढता जाता है त्यों-त्यों पत्ते छोटे होते जाते हैं । समस्त क्षुप पर सूक्ष्म रोवें होते हैं । **पुष्प**-पीताभ, कभी बैगनी या सफेद रग के मुण्डक में आते हैं । ग्रीष्म में यह सूख जाता है । इसकी ३, ४ अन्य जातियाँ देखने में आती हैं । समस्त क्षुप में उग्र गध आती है ।

रासायनिक संगठन-इसमें उडनशील तैल, तथा कपूर पाया जाता है । इससे तथा विशेषकर ब्लु. बालसमीफेरा नामक जाति से जो कपूर निकाला जाता है, उसे नागी कपूर या पत्री कपूर कहते हैं, जिसका वर्णन कर्पूर के साथ किया जा चुका है ।

गुण और प्रयोग—यह कडवा, दीपन, वायुनाशी, कफघ्न, रक्तस्तंभक तथा ज्वरनाशक है । इसके गुण कपूर से मिलते-जुलते हैं । इसका स्वरस कृमिघ्न, ग्राही, ज्वरहर, उत्तेजक एव मूत्रल है । मूल का विसूचिका में प्रयोग किया जाता है । इसकी जड़ मुख में रखने से मुखशोष में लाभ होता है ।

(१) रक्तार्श में इसका स्वरस मिरिच के साथ देते हैं ।

(२) इसके (ब्लु. बालसमीफेरा के) स्वरस में बना लौहभस्म का प्रयोग वृक्कजन्य उदर में देते हैं । मूत्र रुकने पर स्वरस देते हैं ।

(३) ज्वर में इसको निर्गुण्डी-क्वाथ के साथ देने से पसीना होता है तथा कफ निकलता है ।

मात्रा—पत्रचूर्ण ५-१५ रत्ती; स्वरस १ तोला ।

अथ सुदर्शना । तस्या नामगुणानाह

सुदर्शना सोमवल्ली चक्राङ्का मधुपर्णिका । सुदर्शना स्वादुरुष्णा कफशोथास्रवातजित् ॥ ३०७ ॥

सुदर्शन के नाम तथा गुण—सुदर्शना, सोमवल्ली, चक्राङ्गा और मधुपर्णिका ये नाम सुदर्शन के हैं। **सुदर्शन**-स्वादिष्ट, उष्णवीर्य एवं कफ, शोथ और रक्तवात को दूर करने वाला होता है॥२०७॥

नोट—क्राइनम् (Crinum) की विभिन्न जातियों को सुदर्शन माना जाता है। श्री डा० वा० ग० देसाई ने क्रा० एशियाटिकम् को (स०) नागदमनी माना है, किन्तु इसका हिन्दी नाम सुदर्शन भी दिया है। कुछ ने गुडूचीभेद टिनोस्पोरा मलबारिका (Tinospora malabarica) जो पद्मगुडूची है, उसको सुदर्शन लिखा है। क्राइनम् की ३ जातियाँ पाई जाती हैं जिनमें कुछ बागों में भी लगाई मिलती हैं। यहाँ क्राइनम् का वर्णन किया गया है।

१८५ सुदर्शन

हि०-सुदर्शन, सुखदर्शन। **बं०**-सुखदर्शन। **म०**-गदामी कंद, गदनीया कांदा। **ता०**-विष मुंगिल। **लै०**-*Crinum latifolium Linn.* (क्राइनम् लेटिफोलियम् लिन)। Fam. Amaryllidaceae (एमेरिलिडेसी)।

यह समस्त भारत में होता है तथा बागों में लगाया हुआ भी पाया जाता है।

इसका **क्षुप**-बहुवर्षायु तथा २, ३ हाथ ऊँचा होता है। **पत्ते**-भूमि से निकलते मालूम पडते हैं, जो २॥-४ फीट तक लम्बे होते हैं एवं जिनकी चौडाई मध्य भाग में ३-४॥ इञ्च तक होती है। **पुष्प**-सफेद रंग के सुन्दर फूल बीच में से निकलते हैं। **कन्द**-गोलाकार, व्यास में ५ इञ्च तक एवं उसकी मोटी गर्दन ३-५ इञ्च तक लम्बी होती है।

इसकी अन्य जातियाँ क्रा० एशियाटिकम् (C. asiaticum), क्रा० डेफिक्सम् (C defixum) भी पाई जाती है।

इसके पत्र एवं कन्द का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, मधुर, तीक्ष्ण, जतुघ्न, कुष्ठघ्न, शोथहर, वामक, कफनाशक एवं ज्वरहर है।

(१) कर्णशूल में इसके पत्तियों को गरम करके उसका स्वरस निकाल कर डालते हैं।

(२) इसके पत्तों को गरम कर तथा एरण्ड तैल लगाकर बाँधने से सभी प्रकार की सूजन, फोडे, बवासीर आदि कम होती है। सधि शोथ पर यह उपयोगी है। त्वचा के रोगों में इसका स्वरस या इससे सिद्ध तैल लगाते हैं।

(३) कद का प्रयोग कफज विकारों में वामक द्रव्य के रूप में किया जाता है। शुष्क द्रव्य (क्रा० एसियाटिकम्) की मात्रा दुगनी देनी पडती है।

मात्रा—कंदस्वरस १-२ तोला वमनार्थ।

अथाखुकर्णी (मूसाकर्णी)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

आखुकर्णी त्वाखुपर्णी पर्णिका भूदरीभवा। आखुकर्णी कटुस्तिक्ता कषाया शीतला लघुः।
विपाके कटुका मूत्रकफामयकृमिप्रणुत्॥ ३०८॥

मूसाकर्णी के नाम तथा गुण—आखुकर्णी, आखुपर्णी, पर्णिका और भूदरीभवा ये नाम मूसाकर्णी के हैं। **मूसाकर्णी**-कटु, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, शीतल, लघु, विपाक में कटुरसयुक्त एव मूत्र तथा कफ सम्बन्धी रोग और कृमि को दूर करने वाली होती है॥ ३०८॥

१८६ मूसाकर्णी

हि०-मूसाकानी, चूहाकानी, मूसाकर्णी। **बं०**-इन्दुरकाणीपाना। **म०**-उन्दिरकानी। **गु०**-उन्दरकानी। **लै०**-*Ipomoea reniformis, Chois* (आईपोमियारेनीफॉर्मिस्)। Fam. Convolvulaceae (कन्वॉल्व्युलेसी)।

यह प्राय. सब प्रान्तों में पाई जाती है, विशेष कर उड़ीसा, बगाल तथा दक्षिण हिन्दुस्तान में उत्पन्न होती है।

यह प्रसरी क्षुप जाति की वनस्पति प्रायः चौमासे में उत्पन्न होती है और घनी शाखाओं से

युक्त भूमि पर फैली हुई देखने में आती है। इसकी लम्बाई १ से ३ फीट या इससे भी अधिक होती है। इसकी शाखायें कभी एक ओर और कभी चारों ओर फैलती है। इसकी प्रायः प्रत्येक गांठ से जड निकल कर भूमि को पकडती या धरती जाती है एवं यह बढती जाती है। **पत्ते**–वृक्काकार, आध से १॥ इञ्च घेरे में लम्बाई की अपेक्षा चौडाई में अधिक होते है, और वे चूहे के कान के आकार वाले बीच में कमानदार गोलाई लिये हुए हरे रङ्ग के होते हैं। इसी कारण इसका नाम मूसाकर्णी है। **फूल**–छोटे तथा पीले रग के आते हैं। **फल**–दो-दो बीज वाले होते हैं। चिकित्सा में इसके पचांग का व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शोधन, मूत्रल, रसायन, कृमिघ्न, त्वक् दोषहर एवं आनुलोमिक है। इसकी क्रिया मण्डूकपर्णी की तरह होती है तथा अनन्तमूल की तरह या उसके साथ इसका प्रयोग किया जाता है।

(१) इसका प्रयोग त्वचा के रोगों में किया जाता है। इससे पाखाना साफ होता है तथा शारीरिक शिथिलता दूर होती है।

(२) कृमि के लिये इसके स्वरस एवं रक्त शालि (लाल चावल) की पीठी के साथ बनी पूपलिका (पुआ) निर्धूम अंगारे पर पका कर, विडङ्ग तैल एव लवण के साथ देने का विधान है। (चरक वि० ७-२६, सु० उ० ५४-२७)

मात्रा—५-१० रत्ती फांट बनाकर।

अथ मयूरशिखा (मोरशिखा)। तस्या नामगुणानाह

मयूराह्वशिखा प्रोक्ता सहस्राहिर्मधुच्छदा। नीलकण्ठशिखा लघ्वी पित्तश्लेष्मातिसारजित्॥

मोरशिखा के नाम तथा गुण—मयूराह्वशिखा ('मयूर' के पर्यायवाचक शब्दों के अन्त में 'शिखा' जोड़ देने से जो शब्द बनते हैं वे सब; जैसे—नीलकण्ठशिखा आदि), सहस्राहि और मधुच्छदा ये नाम मोरशिखा के हैं। **मोरशिखा**–लघु एवं पित्त, कफ तथा अतिसार को नष्ट करने वाली होती है॥ ३०९॥

नोट—अनेक वनस्पतियों को जो मयूरशिखा की आकृति की तरह दिखलाई देती हैं, मयूर-शिखा के नाम से विभिन्न स्थानों पर प्रयुक्त किया जा रहा है। चरक-सुश्रुत में इसका वर्णन देखा नहीं जाता। भा० प्र० में इसे लघु एवं पित्त-कफनाशक तथा अतिसार में उपयोगी लिखा है।

गोजिह्वा के अन्तर्गत वर्णित एलिफण्टोपस् स्केबर (Elephantopus scaber) को श्री डा० बलवन्त सिंह जी उसके स्थानिक नामों के आधार पर मयूरशिखा मानते हैं। सेलोसिआ क्रिस्टॅटा (Celosia cristata) को कुछ ने मयूरशिखा माना है। कुछ ने एडिएण्टम् कॉडेटम् (Adiantum caudatum) को तथा कुछ ने ॲक्टिनोप्टेरिस् डाइकोटोमा (Actinopteris dichotoma) को मयूरशिखा लिखा है। यहाँ सक्षेप में इनका वर्णन किया गया है।

१८७ मयूरशिखा (१)

ले०–*Actinopteris dichotona, Bedd* (ॲक्टिनोप्टेरिस् डाइकोटोमा); Fam. Polypodiaceae (पॉलिपोडिएसी)

यह सभी स्थानों पर विशेषतया पेनिनसुला, शुष्क पहाडी स्थानों में ४००० फीट तक एवं नीलगिरी पर २००० फीट तक एव कुमाऊ में होती है।

इसका क्षुप बहुत सुन्दर छोटे ताड की तरह दिखलाई देता है। बरसात में सूखी पहाड़ियों में पत्थरों के बीच में कहीं-कहीं यह दिखलाई देती है। **पत्ते**–तालपत्र की तरह लम्बे पतले पत्र दण्ड पर रहते हैं जो मयूरशिखा की तरह दिखलाई देते हैं।

गुण और प्रयोग—इसका रक्तस्तम्भक एवं कृमिघ्न रूप में प्रयोग किया जाता है।

१८८ मयूरशिखा (२)

ले०-*Adiantum caudatum linn* (एडियण्टम् कॉडेटम्) । Fam. Polypodiaceae (पॉलिपोडिएसी) ।

यह सभी स्थानों में, मैदानी भागों एवं पहाडियों के निचले ढालों पर पाई जाती है।

इसका **क्षुप**-हंसपदी की जाति का होता है। **पत्रदण्ड**-६-१२ इञ्च लंबा होता है जिसमें २-४ इञ्च लंबे पत्तों का गुच्छ निकला रहता है।

गुण और प्रयोग—इसका चर्मरोग, मधुमेह, कास तथा ज्वर में प्रयोग किया जाता है।

१८९ मयूरशिखा (३)

हि०-लालमुर्गा। **ले०**-*Celosia cristata Linn.* (सेलोसिआ क्रिस्टॅटा) Fam. Amaranthaceae (एमेरेन्थेसी) ।

यह बागों में लगायी हुई पाई जाती है। इसका **क्षुप**-मरसे के समान होता है। केवटीमोथा के अन्तर्गत वर्णित सफेद मुर्गा का यह भेद है। इसके पत्र प्रायः चौडे होते हैं। **पुष्प**-अत्यन्त सघन मजरी में आते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पौधे में बिटॅनिन् (Betanin) तथा नाइट्रोजन पदार्थ एवं इसके बीजों में एक स्थिर तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पुष्प ग्राही होते हैं। इनका प्रयोग अतिसार तथा रक्तप्रदर में किया जाता है।

इसके बीज स्नेहन हैं तथा मूत्रकृच्छ्र, कास एवं सग्रहणी में प्रयोग किये जाते हैं।



इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे पूर्वखण्डे मिश्रप्रकरणे चतुर्थो गुडूच्यादिवर्गः समाप्तः ॥ ४ ॥



अथ पुष्पवर्गः

तत्रादौ कमलम् । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम् । सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम् ॥ १ ॥
पङ्केरुहं तामरसं सारसं सरसीरुहम् । विसप्रसूनराजीवपुष्कराम्भोरुहाणि च ॥ २ ॥
कमलं शीतलं वर्ण्यं मधुरं कफपित्तजित् । तृष्णादाहास्रविस्फोटविषवीसर्पनाशनम् ॥ ३ ॥

कमल के नाम—पद्म (यह नपुंसकलिङ्ग कभी-कभी पुंलिङ्ग मे भी व्यवहृत होता है), नलिन, अरविन्द, महोत्पल, सहस्रपत्र, कमल, शतपत्र, कुशेशय, पङ्केरुह, तामरस, सारस, सरसीरुह, विसप्रसून, राजीव, पुष्कर और अम्भोरुह ये सब संस्कृत नाम कमल के होते हैं ।

गुण—कमल शीतल, वर्ण (शरीर के रङ्ग) को उत्तम करने वाला, मधुररसयुक्त, कफ-पित्त-नाशक एवं तृष्णा, दाह, रक्तविकार, विस्फोट (शरीर में छोटी छोटी फुन्सियों का होना), विष और विसर्प को दूर करने वाला होता है ॥ १-३ ॥

अथ नामोल्लेखपूर्वकं कमलभेदांस्तद्गुणाँश्चाह

विशेषतः सितं पद्मं पुण्डरीकमिति स्मृतम् । रक्तं कोकनदं ज्ञेयं नीलमिन्दीवरं स्मृतम् ॥४॥
धवलं कमलं शीतं मधुरं कफपित्तजित् । तस्मादल्पगुणं किञ्चिदन्यद्रक्तोत्पलादिकम् ॥ ५ ॥

कमल के भेदों के नाम—विशेष कर श्वेत कमल 'पुण्डरीक' कहा जाता है । लाल कमल को 'कोकनद' एवं नीले कमल को 'इन्दीवर' कहते हैं ।

गुण—श्वेत कमल शीतल, मधुर एवं कफ-पित्त का नाशक होता है । रक्त कमल आदि श्वेत कमल की अपेक्षा न्यून गुण वाले होते हैं ॥ ४-५ ॥

१ कमल

हि०-कमल, पुरइन । **बं०**-पद्म । **उड़ि०**-पदम । **म०, गु०**-कमल । **पं०**-पम्बन । **क०**-बिलिया तावरे । **सिन्ध०**-निलोफर । **ते०**-कलावा, तम्मिपुव्वु । **मु०**-कमल ककडली । **ता०**-तामरै, अम्बल । **मला०**-तमर । **अ०**-करम्बुलमा । **सिलोन०**-तमरई । **अं०**-Lotus (लोटस्) **ले०**-*Nelumbium speciosum* (नीलबियम स्पेसिओजम) ।

यह प्रायः सब प्रान्तों के किसी-किसी जलाशय में उत्पन्न होता है । सिलोन, फारस, चीन, जापान, मलाया टापू और गरम आस्ट्रेलिया में भी पाया जाता है ।

कमल की उत्पत्ति बड़े-बड़े तालाब और तलाइयों में होती है । विना जलाशय के कमल उत्पन्न होता ही नहीं । यह पानी में लता की भाँति एक प्रकार से बढता है । इसकी जड कीचड़ में लता की तरह फैलती है । इसमें **गांठें**-होती हैं, गांठों से डडियाँ निकलती हैं जिसको नाल कहते हैं । **डंडियाँ**-बहुत लम्बी-लम्बी पानी के सतह तक कई फुट बढती हैं । उन्हीं पर फूल आते हैं । **पत्ते**-२-३ फुट के घेरे में गोलाकार बडी लम्बी डडियों पर पानी के ऊपर तैरते रहते हैं । इन पर जल की बूँदें नहीं ठहरतीं । इसके फूल अत्यन्त शोभायमान गुलाबी या सफेद रंग के आते हैं । **फूल**-सूर्योदय होने पर फूलते और सूर्यास्त के साथ-साथ संकुचित हुआ करते हैं । लाल, सफेद और नीले फूलों के भेद से कमल तीन प्रकार का होता है ॥ १ ॥

अथ पद्मिनी । तस्या लक्षणनामगुणानाह

मूलनालदलोत्फुल्लफलैः समुदिता पुनः । पद्मिनी प्रोच्यते प्राज्ञैर्विसिन्यादि च सा स्मृता ॥

पद्मिनी के लक्षण—मूल, नाल, पत्र और फल से युक्त, खिले हुए कमल को विद्वान् लोग 'पद्मिनी' कहते हैं । **नाम**—पद्मिनी के 'विसिनी' आदि भी नाम हैं ॥ ६ ॥

*आदिशब्दान्नलिनी, कमलिनीत्यादि ॥ ६ ॥

यहाँ 'आदि' पद से नलिनी, कमलिनी इत्यादि नामान्तर समझना चाहिये ॥ ६ ॥

पद्मिनी शीतला गुर्वी मधुरा लवणा च सा । पित्तासृक्कफनुद्रूक्षा वातविष्टम्भकारिणी ॥ ७ ॥

गुण—पद्मिनी शीतल, पाक में गुरु, मधुर तथा लवण रसयुक्त, रूक्ष एव वातविष्टम्भ (अधोवायु का शुद्ध न खुलना) पैदा करने वाली होती है तथा पित्त, रक्तविकार और कफ का नाशक होती है ॥ ७ ॥

अथ नवपत्रादि । तस्य नामान्याह

संवर्त्तिका नवदलं बीजकोशस्तु कर्णिका । किञ्जल्कः केशरः प्रोक्तो मकरन्दो रसः स्मृतः ।
पद्मनालं मृणालं स्यात्तथा बिसमिति स्मृतम् ॥ ८ ॥

कमल के नवीन पत्ते आदि के नाम—**संवर्तिका**-यह कमल के नवीन पत्तों का नाम है। **कर्णिका**-बीजकोश (जिसमें बीज रहते है) का नामान्तर है। **किञ्जल्क**-कमल के केशर को कहते हैं। **मकरन्द**-कमलपुष्प के रस का वाचक है। **मृणाल** तथा **बिस**-ये दो नाम कमल के नाल के हैं ॥

अथ संवर्तिका (नये पत्ते)। तस्या गुणानाह

संवर्तिका हिमा तिक्ता कषाया दाहतृट्प्रणुत् । मूत्रकृच्छ्रगुदव्याधिरक्तपित्तविनाशिनी ॥९॥

संवर्तिका के गुण—सवर्तिका (कमल के नवीन पत्र) शीत, तिक्त तथा कषाय रस युक्त एव दाह, प्यास, मूत्रकृच्छ्र, गुदासम्बन्धी रोग (अर्श आदि) और रक्तपित्त को नष्ट करने वाली होती है ॥ ९ ॥

अथ कर्णिका । तस्या गुणानाह

पद्मस्य कर्णिका तिक्ता कषाया मधुरा हिमा । मुखवैशद्यकृल्लघ्वी तृष्णाऽस्रकफपित्तनुत्॥१०॥

कर्णिका के गुण—कमल की कर्णिका (बीजकोश) तिक्त, कषाय तथा मधुर रस युक्त, शीतल, लघु और मुख को स्वच्छ करने वाली एवं तृषा, रक्तविकार, कफ तथा पित्त को नाश करने वाली होती है ॥ १० ॥

अथ किञ्जल्कः (केशर)। तस्य गुणानाह

किञ्जल्कः शीतलो वृष्यः कषायो ग्राहकोऽपि सः । कफपित्ततृषादाहरक्तार्शोविषशोथजित् ॥

किञ्जल्क के गुण—किञ्जल्क (कमल का केशर) शीतल, वृष्य (वीर्यवर्धक), कषाय रसयुक्त, ग्राही एव कफ, पित्त, तृषा, दाह, रक्तार्श (खूनी बवासीर), विष और शोथ को दूर करने वाला होता है ॥ ११ ॥

अथ मृणालं शालूकञ्च । तयोर्गुणानाह

मृणालं शीतलं वृष्यं पित्तदाहास्रजिद् गुरु ॥ १२ ॥
दुर्जरं स्वादुपाकञ्च स्तन्यानिलकफप्रदम् । संग्राहि मधुरं रूक्षं शालूकमपि तद्गुणम् ॥१३॥

मृणाल के गुण—मृणाल (कमल नाल) शीतल, वृष्य (वीर्यवर्धक), गुरु, कठिनता से पचने वाला, विपाक में मधुर, सग्राही, मधुर रसयुक्त, दुग्धवर्धक, वायु तथा कफ को उत्पन्न करने वाला एव पित्त, दाह और रक्तविकार को दूर करने वाला है।

शालूक के गुण—शालूक (कमलकन्द) भी गुणों में मृणाल के तुल्य ही होता है ॥ १२-१३ ॥

अथ स्थलकमलम् । तस्य नामगुणानाह

पद्मचारिण्यतिचराऽव्यथा पद्मा च शारदा । पद्माऽनुष्णा कटुस्तिक्ता कषाया कफवातजित् ।
मूत्रकृच्छ्राश्मशूलघ्नी श्वासकासविषापहा ॥ १४ ॥

नाम—पद्मचारिणी, अतिचरा, अव्यथा, पद्मा और शारदा ये सब स्थलकमल के नाम हैं।

गुण—स्थलकमल किञ्चित् उष्णवीर्य, कटु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त एवं कफ, वात, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, शूल, श्वास, कास तथा विष को दूर करने वाला है ॥ १४ ॥

२ स्थलकमल

हि०-स्थलकमल, स्थलपद्म, वेंट तामर। **बं०**-स्थलपद्म। **गु०**-रतन परास। **मा०**-स्थल-कमलिनी। **ता०**-ओरीलै इमरय। **क०**-कलुदावरे। **ते०**-स्थलपद्म मनेपुष्पमु। **लै०**-*Ionidium suffruticosum* (आइओनिडियम सफ्फरुटिकोजम)

यह इस देश के अनेक प्रान्तों में होता है विशेषकर बङ्गाल और सिलोन में अधिक पाया जाता है।

इसका **क्षुप**-६ से १२ इञ्च तक ऊँचा होता है। **पत्ते**-अरहर के पत्ते के समान दो दो इञ्च तक लम्बे तथा तिहाई इञ्च तक चौडे और बर्छीनुमे होते हैं। **फूल**-छोटे छोटे लाल रङ्ग के आते हैं। फूलों की गन्ध अच्छी होती है॥ २॥

अथ कुमुदम् ('कमोदनी' इति लोके)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

श्वेतं कुवलयं प्रोक्तं कुमुदं कैरवं तथा। कुमुदं पिच्छिलं स्निग्धं मधुरं ह्लादि शीतलम्॥ १५॥

कुमुद के नाम—श्वेत कुवलय, कुमुद, कैरव, ये सब संस्कृत नाम हैं। इसे लोक में 'कमोदनी' कहते हैं।

गुण-कुमुद पिच्छिल, स्निग्ध, मधुर रसयुक्त, शीतल एवं चित्त को आह्लादित (प्रसन्न) करने वाला है॥ ९५॥

अथ कुमुदिनी। तस्या नामगुणानाह

कुमुद्वती कैरविका तथा कुमुदिनीति च॥ १६॥

सा तु मूलादिसर्वाङ्गैरुक्ता समुदिता बुधैः। पद्मिन्या ये गुणाः प्रोक्ताः कुमुदिन्याश्च ते स्मृताः॥

कुमुदिनी के नाम—कुमुद्वती, कैरविका और कुमुदिनी ये सब हैं। **लक्षण**-मूल, नाल, पत्रादि के सहित जो कुमुद है उसे 'कुमुदिनी' कहते हैं।

गुण—पद्मिनी के जो गुण पूर्व में कह चुके हैं वे ही सभी कुमुदिनी के भी समझने चाहिये॥

अथ कह्लारम्। तन्नामगुणानाह

सौगन्धिकं तु कह्लारं हल्लकं रक्तसन्ध्यकम्। कह्लारं शीतलं ग्राहि विष्टम्भि गुरु रूक्षणम्॥१८॥

कह्लार के नाम—सौगन्धिक, कह्लार, हल्लक और रक्तसन्ध्यक ये सब कह्लार (लालकुमुद) के पर्यायवाची शब्द हैं। **गुण**-कह्लार शीतल, ग्राही, वातविष्टम्भ को उत्पन्न करने वाला, पाक में गुरु एवं रूक्ष होता है॥ १८॥

३ कुमुद

हि०-कुमुद, बबूला, कमोदनी, कोई, घघोल, कुई। **बं०**-हेला फुल, नालि फुल, सुन्दी। **मा०**-पांढरे कमल, पांढरे उत्पल। **क०**-बिलिय नेदिलु, बिलिय नेद टिरु। **गु०**-पोयना। **ते०**-कोद्दि गायरगावुण्डी। **फा०**-नीलोफर, नीलोफल। **अ०**-करनबुलमाय। **लै०**-*Nymphaea Lotus* (निम्फेइया लोटस्)।

यह गरम प्रान्तों के ताल, तलैया आदि जलाशयों में अधिक उत्पन्न होता है। विशेष कर बम्बई, थाना जिला, सिलोन के तालाव-पोखरे आदि में बहुत पाया जाता है।

इसके **पत्र, डंडी** और **फूल**-कमल के समान पर कमल से छोटे और **फल**-गोल अनार के समान होते हैं। इसका फूल रात्रि में खिलता है और सूर्योदय होने पर सूर्य के ताप से सकुचित हो जाता है। नीले, लाल और सफेद फूलों के भेद से यह तीन प्रकार का होता है॥ ३॥

अथ वारिपर्णी शैवालश्च (जलकुम्भी-सिवार)। तयोर्नामानि गुणांश्चाह

वारिपर्णी कुम्भिका स्याद्वारिमूली खमूलिका। शैवालं जलनीली स्याच्छैवलं जलजञ्च तत्॥
वारिपर्णी हिमा तिक्ता लघ्वी स्वाद्वी सरा कटुः। दोषत्रयहरी रूक्षा शोणितज्वरशोषकृत्॥
शैवालं तुवरं तिक्तं मधुरं शीतलं लघु। स्निग्धं दाहतृषापित्तरक्तज्वरहरं परम्॥ २१॥

वारिपर्णी (जलकुम्भी) के नाम—वारिपर्णी, कुम्भिका, वारिमूली, खमूलिका ये सब हैं।

गुण—जलकुम्भी शीतल, तिक्त तथा कटुरसयुक्त, स्वादिष्ट, पाक में लघु, दस्तावर, रूक्ष, त्रिदोष-नाशक एवं रक्तविकार, ज्वर तथा शोष को उत्पन्न करने वाली है।

शैवाल (सेवार) के नाम—शैवाल, जलनीली, शैवल और जलज ये सब हैं। **गुण**-सेवार-कषाय, तिक्त तथा मधुर रसयुक्त, शीतल, लघु, स्निग्ध और दाह, तृषा, पित्त, रक्तविकार और ज्वर को अत्यन्त दूर करने वाला होता है॥ १९-२१॥

४ जलकुम्भी (वारिपर्णी)

हि०-कुम्भी, जलकुम्भी, काई। **बं०**-पानी टोका, पाना। **म०**-जलव मडी। **गु०**-जल ऊपरना वेला। **क०**-इवला। **ते०**-तुटि कूर। **अं०**-The wester-Lettuce (दी वेस्टर लेट्यूज)। **ले०**-*Pistia-stratiotes* (पिस्टिया स्ट्रेटीओटिस)।

यह इस देश के प्रायः सब प्रान्तों के सजल स्थानों में होती है।

जलकुम्भी को कोई आचार्य सिवार जो जल के ऊपर हरे-पीले रग की छोटे-छोटे तालाब और गढी में फैली हुई दीख पडती है, ऐसा मानते हैं। परन्तु जलकुम्भी जल में होने वाला एक भिन्न पदार्थ है। इसका समस्त **क्षुप** सिंघारे के क्षुप के समान होता है और पानी पर तैरता रहता है। लौकिक में जलकुम्भा और जलकुम्भी दो जाति मानी हैं। बड़े को जलकुम्भा और छोटे को जलकुम्भी कहते हैं।

५ सिवार

हि०-सिवार, सेवार, काई। **बं०**-शेहला, शेओयाला। **म०**-शेवाल, शेवाले। **गु०**-शेवाल, लील, शेवाल। **पं०**-काई। **ते०**-नासु। **मा०**-काई, कांजी। **फा०**-तुहिल, जवाल, चरमदुजग। **अ०**-तुहलव।

सिवार एक प्रसिद्ध जलज वस्तु तालाब, पोखरा, गडहा आदि पुराने जलस्थान में जल के ऊपर हरे रङ्ग के बालों से आच्छादित तरती रहती है। यह कई प्रकार की होती है और इस देश में चीनी साफ करने के काम में आती है॥ ४-५॥

अथ शतपत्री [सेवती गुलाब] तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शतपत्री तरुण्युक्ता कर्णिका चारुकेशरा। महाकुमारी गन्धाढ्या लाक्षापुष्पाऽतिमञ्जुला॥२२॥
शतपत्री हिमा हृद्या ग्राहिणी शुक्रला लघुः। दोषत्रयास्रजिद्वर्ण्या कट्वी तिक्ता च पाचनी॥

शतपत्री (सेवती गुलाब) के सस्कृत नाम—शतपत्री, तरुणी, कर्णिका, चारुकेशरा, महाकुमारी, गन्धाढ्या, लाक्षापुष्पा और अतिमञ्जुला ये सब हैं।

गुण—शतपत्री शीतल, हृदय को हितकर, सग्राही, शुक्रजनक, लघु, त्रिदोष तथा रक्तविकार को दूर करनेवाली, शरीर के वर्ण को उत्तम बनाने वाली, कटु तथा तिक्त रस युक्त और पाचक होती है॥॥ २२-२३॥

६ गुलाब

हि०-गुलाब, गुलाब फूलवृक्ष, गूलाव। **बं०**-गोलाप। **म०**-गुलाबाचे फूल। **गु०**-मोशमी गुलाब। **क०**-वेवडे, गुलाबि। **ते०**-गुलाबीपुवु, चेमङ्डि चेट्टु, रोजा पुष्पमु। **फा०**-गुले सुर्ख, गुल गुले सुर्ख। **अ०**-जरज वीन, विर्द एहमर, बर्द अहमर, नसरीन, मवलमर्द। **द्रा०**-राजा पुष्प। **ले०**-*Rosa-damascena* (रोजा डमैस्सीना)।

गुलाब का फूल सुप्रसिद्ध है। इसके **पत्ते**-हरे अडाकार अनीदार होते हैं। शाखाओं पर काटे होते हैं। गुलाब फूल से गुलकन्द, गुलाब के इत्र, गुलाबजल आदि अनेक उपयोगी वस्तु तैयार किये जाते हैं। इसलिये यह सर्वप्रिय और आदरणीय है। कहते हैं कि प्राचीन सस्कृत ग्रन्थों में गुलाब का नाम नहीं पाया जाता इसलिये यह विदेशी फूल है। पर हिन्दी भाषा के प्राचीन कई कवियों ने निज ग्रन्थों में इसका नाम लिखा है। इस समय इस देश में अनेक प्रकार के गुलाब हो गये हैं। अरब और तुर्किस्तान का गुलाब अच्छा समझा जाता है। इसके **फूल**-गुलाबी, पीले, लाल और सफेद होते हैं। इससे मनोहर सुगन्ध निकलती है। इसका **स्वाद**-फीका किञ्चित् कसैला और मीठा होता है।

७ सेवती

हि०-सेवती, सदा गुलाव, सफेद गुलाब, गुलचीनी । **बं०**-श्वेत गोपाल, सेउती, सेउती गुलाव । **म०**-शेवती, शेवन्ती । **गु०**-शेवती, काँटे सेवती । **क०**-शेवतिङ्गे, चेवड्डे, शामन्ती हुव्वु । **ते०**-चामन्ती, चामन्ति पुव्वु । **ता०**-सामन्तिप्पु । **द्रा०**-शामन्तिप्पु । **बु०**-गुलदन्ती । **फा०**-गुलमुश्की । **अ०**-दर्वसीनी, नसरी, नसरीन । **ले०**-*Rosa alba* (रोजा एल्वा) ।

सेवती-एक प्राचीन और प्रसिद्ध फूल है । यह वन-उपवन और वाटिकाओं में लगाई जाती है । इसके **पत्ते** और फूलों के दल गुलाव से वहुत मिलते-जुलते हैं और गुलाव के समान इसकी डालियों पर काँटे होते हैं । **फूल**-प्रायः सफेद रङ्ग का होता है और इससे गुलाव के समान गन्ध आती है । छोटे, वडे, सफेद, पीले तथा नारंगी रङ्ग इत्यादि भेदों से यह कई प्रकार की होती है ॥

अथ वासन्ती (नेवारी) । तस्या नामानि गुणांश्चाह

नेपाली कथिता तज्ज्ञैः सप्तला नवमालिका । वासन्ती शीतला लघ्वी तिक्ता दोषत्रयास्रजित् ॥

वासन्ती (नेवारी) के संस्कृत नाम—नेपाली, सप्तला, नवमालिका और वासन्ती ये सब हैं । **गुण**-वासन्ती तिक्तरसयुक्त, शीतल, लघु एवं त्रिदोष तथा रक्तविकार को दूर करने वाली है ॥२४॥

८ नेवारी

हि०-नेवारी, बासन्ती, वसन्ती नेवारी, निवाडी । **बं०**-नेपाली, नेओयार, नवमल्लिका । **म०**-नेवाली, रायनेवाली, रोमाली, वीरवन्ती । **गु०**-वटमोगरा । **क०**-विरवतिगे, विरवन्ति भेद । **मु०**-मोगरा । **फा०**-गुलनिवारी । **ले०** *Jasminum arberescena* (जासमिनम आर्वेरेस्सिना) ।

नेवारी-पुष्पवृक्ष की वाटिकाओं में शोभा बढाने के लिये रोपण करते हैं । यह उपवनों में भी आप ही आप उत्पन्न होती है । इसका झाडदार **वृक्ष**-२-३ गज तक ऊँचा होना है और जङ्गली नेवारी का वृक्ष इससे भी अधिक ऊंचा और झाड़दार पाया जाता है । **पत्ते**-जड की ओर से गोलाई लिये लम्बे नोकदार होते हैं । **फूल**-पांच पखुरी वाले सफेद रङ्ग के वृक्षों में लगते हैं उनमें मनोहर सुगन्ध आती है और स्वाद फीका होता है ॥ ८ ॥

अथ वार्षिकी (वेला) । तस्या नामानि गुणांश्चाह

श्रीपदी षट्पदानन्दा वार्षिकी मुक्तबन्धना ॥ २५ ॥
वार्षिकी शीतला लघ्वी तिक्ता दोषत्रयापहा । कर्णाक्षिमुखरोगघ्नी तत्तैलं तद्गुणं स्मृतम् ॥

वार्षिकी (वेला) के संस्कृत नाम—श्रीपदी, षट्पदानन्दा, वार्षिकी और मुक्तवन्धना ये सब हैं । **गुण**-वेला शीतल, लघु, तिक्तरसयुक्त एव त्रिदोष, कान, नेत्र, मुखसम्बन्धी समस्त रोग को दूर करने वाली होती है । इसके तेल के भी ये ही सब गुण हैं ॥ २५-२६ ॥

९ वेला

हि०-वेल, वार्षिकी, वेला, राय वल । **म०**-साटई मोगरी, राग मोगरी । **गु०**-लवारो, चिलिलियो, जङ्गली वेरय, लवारा । **क०**-काड मल्लिगे । **ता०**-काट्टु मल्लि । **बं०**-वेल फुल, मल्लिका फुल । **ते०**-कुलव क्रान्त चेट्टु, कुल क्रान्ता चेट्टु । **ले०**-*Jasminum sambac* (जैस्मिनम संवक्) ।

वेला का वृक्ष जङ्गलों में अधिक होता है और वाटिकाओं में भी इसे लगाते हैं । इसका **वृक्ष**-५-७ फीट ऊँचा होता है । **पत्ते**-मल्लिका के समान पर उनसे वड़े होते हैं । **फूल**-उज्वल मल्लिका के फूल से वडे और सुगन्धित होते हैं । ये वर्षा ऋतु में फूलते हैं ॥ ९ ॥

अथ मालती स्वर्णजाती च (जाई-पीलीजाई) तयोर्नामानि गुणांश्चाह

जातिर्जाती च सुमना मालती राजपुत्रिका । चेतिका हृद्यगन्धा च सा पीता स्वर्णजातिका ॥
जातीयुग तिक्तमुष्णं तुवरं लघु दोषजित् । शिरोऽक्षिमुखदन्तार्त्तिविषकुष्ठानिलास्रजित् ॥२८॥

जाई-पीलीजाई के संस्कृत नाम—जाति, जाती, सुमना, मालती, राजपुत्रिका, चेतिका और हृद्यगन्धा ये सब 'जाई' के नाम हैं । यदि पीली जाई हो तो उसे 'स्वर्णजातिका' कहते हैं । **गुण**-दोनों जाती (जाई-पीलीजाई) तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, उष्ण, लघु, दोषनाशक एवं शिर, आंख,

मुख और दाँतों के रोगों को दूर करने वाली तथा विष, कुष्ठ, वायु और रक्तविकार को नष्ट करने वाली होती है ॥ २७-२८ ॥

१० चमेली

हि०-चमेली, चम्बेली, चवेली। **बं०**-चामिली, जाति। **म०**-मोगऱ्याचा भेद, चम्बेली, जाई। **क०**-मोगरा चा भेदु, जाती। **पं०**-जाई। **ते०**-जाति। **क०**-जातिपुष्पग। **फा०**-यास मीन, यास मी, गुले हासमन्। **अ०**-यास मन। **ले०**-*Jasminum grandiflorum* (जैस्मिनम ग्रैंडीफ्लोरम)।

चमेली प्रसर जाति का पुष्पवृक्ष प्रायः सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसके पत्ते-छोटे-छोटे गोल और नोकीले होते हैं और फूल सफेद होता है। इसका वृक्ष मोटा नहीं होता परन्तु पतली-पतली डण्डियाँ बहुत लम्बी बढ जाती हैं। इसलिये उसकी डालियों को किसी प्रकार का सहारा न मिलने से वे भूमि पर ही फैल जाती हैं इसलिये इसको कोई-कोई लता वृक्ष मानते हैं। यद्यपि इसके फूल देखने में सुन्दर नहीं होते तथापि उनकी सुगन्धि बहुत ही मनोहर सर्वप्रिय और दूरव्यापी होती है। इस पर सावन मास में खूब फूल आते हैं ॥ १० ॥

अथ यूथिका पीतयूथिका च (जूही-सुवर्णजूही) तयोर्नामानि गुणांश्चाह

यूथिका गणिकाऽम्बष्ठा सा पीता हेमपुष्पिका। यूथीयुगं हिमं तिक्तं कटुपाकरसं लघु ॥२९॥
मधुरं तुवरं हृद्यं पित्तघ्नं कफवातलम्। व्रणास्रमुखदन्ताक्षिशिरोरोगविषापहम् ॥ ३० ॥

जूही तथा सुवर्णजूही के संस्कृत नाम—यूथिका, गणिका, अम्बष्ठा ये नाम जूही के हैं; यदि पीली जूही हो तो उसे 'हेमपुष्पिका' कहते हैं। **गुण**-दोनों जूही शीतल, तिक्त, मधुर तथा कषाय रस युक्त एवं पाक तथा स्वाद में कटुरस युक्त, लघु, हृदय को हितकर, पित्तनाशक, कफ तथा वातजनक और व्रण, रक्तविकार, मुख, दाँत, नेत्र तथा शिरसम्बन्धी समस्त रोग तथा विषविकार को दूर करने वाली है ॥ २९-३० ॥

११ जूही

हि०-जूही। **बं०**-जुही। **म०**-पाढरी लहान जूयी, पाढरी जूयी। **गो०**-जुई, जिंगरी। **क०**-विलि अमल्ले, यरदध मल्ले। **ते०**-जुई पुष्पालु, नन्दी वट्टा। **ता०**-रट्टई मुल्लई। **म०**-श्वेत जुई। **ले०**-*Jasminum-aurieculatum.* (जैस्मिनम-औरिक्युलेटम)।

जूही फूल का वृक्ष—वन, उपवन और पुष्पवाटिकाओं में होता है। वेला की अपेक्षा जूही फूल के वृक्ष अधिक ऊँचे होते हैं। इसकी शाखायें पतली-पतली होती हैं इसलिये अवलम्बन के अभाव से झुक कर पृथ्वी पर फैलती है। अतएव कोई कोई इनको वेल मानते हैं, फूल की पखडी सफेद रङ्ग की होती है। इससे सुगन्धि आती है ॥ ११ ॥

अथ चम्पकः (चम्पा)। तस्य नामगुणानाह

चाम्पेयश्चम्पकः प्रोक्तो हेमपुष्पश्च स स्मृतः। एतस्य कलिका गन्धफलेति कथिता बुधैः॥३१॥
चम्पकः कटुकस्तिक्तः कषायो मधुरो हिमः। विषक्रिमिहरः कृच्छ्रकफवातास्रपित्तजित् ॥३२॥

चम्पा के संस्कृत नाम—चाम्पेय, चम्पक, हेमपुष्प ये सब हैं इसकी कली को पण्डित लोग 'गन्धफली' कहते हैं। **गुण**-चम्पा कटु-तिक्त-कषाय मधुर रस युक्त, शीतल एवं विष, क्रिमि, मूत्रकृच्छ्र, कफ, वात, रक्तविकार या वातरक्त और पित्त को दूर करने वाली है ॥ ३१-३२ ॥

१२ चम्पा

हि०-चम्पा। **बं०**-चापा, चाम्पा फुलेर गाछ। **म०**-सोन चाफा, पिंवला चाफा। **गु०**-चम्पो, राय चम्पो, पीलो चम्पो। **क०**-सम्पगे, चंपगे। **ते०**-चपागी पुवुल, सम्पङ्गी। **ता०**-शेण्बकम्। **फा०**-फाखरह। **अ०**-फागरह। **मा०**-चम्पो। **द्रा०**-शम्पा। **ले०**-*Michelia-champaca* (मिचेलिया चम्पका)।

चम्पे के वृक्ष प्रायः वाटिकाओं में रोपण किए जाते हैं किन्तु नैपाल से पूरब की ओर जङ्गलों में भी पाये जाते हैं।

इसका वृक्ष छोटा होता है और बारहो मास हरा-भरा रहता है। पत्ते-८-१० इञ्च लम्बे २॥ से ४ इञ्च तक चौडे अनीदार, चिकने और चमकीले होते हैं। फूल-२ इञ्च के घेरे में घटाकार फीके पीले या नारङ्गी रंग के सुगन्धित होते हैं॥ १२॥

अथ वकुलः ('मौलसिरी' इति लोके)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

वकुलो मधुगन्धश्च सिंहकेसरकस्तथा। वकुलस्तुवरोऽनुष्णः कटुपाकरसो गुरुः॥
कफपित्तविषश्वित्रकृमिदन्तगदापहः॥ ३३॥

मौलसिरी के संस्कृत नाम—वकुल, मधुगन्ध, सिंहकेसरक ये सब हैं। गुण—मौलसिरी कषाय रसयुक्त, किञ्चित् उष्ण, पाक तथा रस में कटु, गुरु एवं कफ, पित्त, विष, श्वेतकुष्ठ, कृमि, और दाँतों के रोगों को दूर करने वाली है॥ ३३॥

अथ बृहद्बकुलः (बड़ी मौलसिरी)। तस्य नामगुणानाह

शिवमल्ली पाशुपत एकाष्ठीलो वको वसुः॥ ३४॥
वकोऽनुष्णः कटुस्तिक्तः कफपित्तविषापहः। योनिशूलतृषादाहकुष्ठशोथास्रनाशनः॥ ३५॥

बडी मौलसिरी के संस्कृत नाम—शिवमल्ली, पाशुपत, एकाष्ठील, वक, वसु ये सब हैं। गुण—बडी मौलसिरी किञ्चित् उष्ण, कटु तथा तिक्त रसयुक्त एवं कफ, पित्त, विष, योनिशूल, तृषा, दाह, कुष्ठ, शोथ और रक्तविकार को दूर करने वाली है॥ ३४-३५॥

१३ मौलसिरी

हि०-मौलसिरी, मौलेसरी, मौरसरी, मोलछरि, मौलछरि। **बं०**-बकुल गाछ। **मा०**-वकुल, वकुली, बगवलेइ, वरशोली। **गु०**-बोलसिरी, बोलसरी। **क०**-वकुल, करकपगडेमर, बूकल, रंजल। **तै०**-पामरा, पाघरा, पोंगर चेट्टु। **ता०**-मोगदम, मोगलमरम, पाघडा, पोगड चेट्टु, पोगड गानु। **उ०**-बौरकुरी। **द्रा०**-घोलसरी, धोलसरी, मइंल, मर। **मू०**-वकुली। **पं०**-मौलसिरी। **अं०**-Surinam-medlar. (सुरिनम मेड्लार) **ले०**-*Memusops-elengi.* (मिमुसोप्स एलेङ्गी)।

१४ बड़ी मौलसिरी

हि०-मौलसिरी बडी वनहुला, बृहन्मौलसिरी। **बं०**-पद्मावक। **म०**-थोर वकुल। **गु०**-मोटी बोलसिरी, मोटी वोलसरी, वरशोली। **तै०**-आविसी।

यह भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होती है। विशेष कर दक्षिण, मलाया प्रायद्वीप और उत्तर भारत में अधिक देखने में आती है। वनों उपवनों के अतिरिक्त वाटिकाओं में भी रोपण करते हैं।

इसके वृक्ष-५० फीट तक ऊँचे, सघन चिकने पत्तों से युक्त झोपडाकार और सुहावने दीख पडते हैं तथा बारहो मास हरे-भरे रहते हैं। पत्ते-राजजामुन के पत्तों के समान ३॥ इञ्च लम्बे और १॥ इञ्च चौडे अनीदार होते हैं। पत्रदण्ड-पौन इञ्च लम्बा होता है। फूल-सफेद लगभग एक इञ्च गोल चक्राकार होते हैं और उससे अत्यन्त सुगन्धि आती है। फल-किञ्चित् लम्बाई लिए गोल, पौन इञ्च से १ इञ्च लम्बे, ऊपर से साफ, कच्ची अवस्था में हरे रङ्ग के और पकने पर पीले हो जाते हैं। इनमें लुआबदार से लिपटे हुए बीज रहते हैं। इसका वृक्ष आषाढ़-श्रावण में फूलता फलता है।

मौलसिरी के वृक्ष स्त्री और पुरुष संज्ञक दो जाति के होते हैं। जिस पर फूल फल दोनों आते हैं वह स्त्री और जिस पर केवल फूल आते हैं वह पुरुष जाति के कहलाते हैं। स्त्री जाति की अपेक्षा पुरुष जाति के फूल कुछ बड़े और अधिक श्वेत होते हैं और स्त्री जाति के फूल कुछ लाली युक्त होते हैं॥ १३-१४॥

अथ कदम्बः । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कदम्बः प्रियको नीपो वृत्तपुष्पो हलिप्रियः । कदम्बो मधुरः शीतः कषायो लवणो गुरुः ॥
सरो विष्टम्भकृद्रूक्षः कफस्तन्यानिलप्रदः ॥ ३५ ॥

कदम्ब के संस्कृत नाम—कदम्ब, प्रियक, नीप, वृत्तपुष्प और हलिप्रिय ये सब हैं । गुण-कदम्ब मधुर, कषाय तथा लवण रसयुक्त, शीतल, गुरु, सारक, रूक्ष, विष्टम्भ (वायु का न खुलना) को उत्पन्न करने वाला, कफकारक, दुग्धवर्धक और वायुजनक होता है । ॥ ३६ ॥

१५ कदम्ब

हि०-कदम, कदम्ब । बं०-कदम गाछ । म०-राज कदम्ब, कदम्ब, कळम्ब । गु०-कदम्ब । क०-कडव, कडवे । ते०-कडिमि चेट्टु । कोल०-सङ्को । ता०-वेल्लै कदम्ब । लै०-*Anthocephalus cadamba* (एन्थोसिफालस कदम्बा) ।

यह उत्तर और पूर्व बंगाल, पेगू आदि जङ्गलों में आप ही आप जङ्गली उत्पन्न होता है, उत्तर भारत, उत्तर प्रदेश, बिहार आदि प्रान्तों में रोपण करते हैं ।

कदम्ब का **वृक्ष** बहुत जल्द बढ़कर बड़ा हो जाता है और अन्य बड़े वृक्षों की भाँति अधिक दिन न जीवित रह कर नष्ट हो जाता है । **पत्ते**-महुवे के पत्तों के समान लम्बाई युक्त अण्डाकार होते हैं । **फूल**-१-२ इञ्च के घेरे में गोलाकार नारङ्गी रङ्ग के होते हैं और इनसे विशेष कर रात्रि में सुगन्धि आती है । फूलों की बारीक पखुटियों के गिरने पर उसी के आकार वाले गोल फल दीख पड़ते हैं जो कच्चे में हरे और पकने पर फीके नारङ्गी रङ्ग के हो जाते हैं ॥ १५ ॥

अथ कुब्जकः (कूजा) । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कुब्जको भद्रतरुणी वृत्तपुष्पोऽतिकेसरः । महासहा कण्टकाढ्या नीलालिकुलसंकुला ॥३७॥
कुब्जकः सुरभिः स्वादुः कषायानुरसः सरः । त्रिदोषशमनो वृष्यः शीतहर्त्ता च स स्मृतः ॥३८॥

कूजा के संस्कृत नाम—कुब्जक, भद्रतरुणी, वृत्तपुष्प, अतिकेशर, महासहा, कण्टकाढ्या, नीलालिकुलसकुला ये सब हैं । **गुण**-कूजा सुगन्ध युक्त, आरम्भ में मधुर अन्त में कषाय रस युक्त, सारक, त्रिदोषनाशक, वृष्य (वीर्यवर्धक) और शीत को दूर करने वाला है ॥ ३७-३८ ॥

१६ कूजा

हि०-कूजा, सदा गुलाब । बं०-श्वेत गोलाप । गु०-कुजटो, कुजडा । म०-काटे सेवती । अ०-वर्दवर्री ।

इसके **वृक्ष** जलों के निकटवर्ती वन उपवनों में सघन देखने में आते हैं । वे दृढ़ और बड़े होते हैं । **डंडियों** और **पत्तों** का आकार गुलाब वृक्ष के समान होता है परन्तु गुलाब से बड़ा होता है और इन पर काटे अधिक सघन होते हैं । **फूल**-सेवती के समान सफेद होते हैं गुलाब और सेवती के फूलों की अपेक्षा इनमें सुगन्धि बहुत कम होती है ॥ १६ ॥

अथ मल्लिका । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मल्लिका मदयन्ती च शीतभीरुश्च भूपदी ॥ ३९ ॥
मल्लिकोष्णा लघुर्वृष्या तिक्ता च कटुका हरेत् । वातपित्तास्यदृग्व्याधिकुष्ठारुचिविषव्रणान् ॥

मल्लिका (बेल मोतिया) के संस्कृत नाम—मल्लिका, मदयन्ती, शीतभीरु, भूपदी ये सब हैं । **गुण**-मल्लिका उष्ण, लघु, वृष्य, तिक्त तथा कटु रसयुक्त एवं वात, पित्त, मुख नेत्र-सम्बन्धी रोग, कुष्ठ, अरुचि, विष तथा व्रण को दूर करने वाली है ॥ ३९-४० ॥

१७ मल्लिका

हि०-मल्लिका, मोतिया भेद, घुघुर मोतिया, बेल मोगरा, बेल मोतिया, बेली । **बं०**-मल्लिका फुल । **म०**-बेल मोगरा, मोगरी, बेलिमोगरा । **क०**-बल्लि मल्लिगे । **ते०**-मल्ले चेट्टु, मल्लि पुष्पालु ।

मल्लिका पुष्पवृक्ष को प्रायः पुष्पवाटिकाओं में लगाते हैं । इसके **वृक्ष, फूल, पत्त** बेला के समान होते हैं परन्तु बेला के फूल पत्तों से इसके छोटे होते हैं । **पत्ते**-समवर्ती २-३ इञ्च लम्बे अण्डाकार

होते हैं।-फूलों की **कलियाँ**-गोल-गोल शोभायमान होती हैं और उनसे मनमोहनी सुगन्धि आती है। **फूल**-सफेद होते हैं ॥ १७ ॥

अथ माधवी (वासन्ती) । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

माधवी स्यात्तु वासन्ती पुण्ड्रको मण्डकोऽपि च। अतिमुक्तो विमुक्तश्च कामुको भ्रमरोत्सवः॥
माधवी मधुरा शीता लघ्वी दोषत्रयापहा ॥ ४१ ॥

माधवी के संस्कृत नाम—माधवी, वासन्ती, पुण्ड्रक, मण्डक, अतिमुक्त, विमुक्त, कामुक, भ्रमरोत्सव ये सब हैं। **गुण**—माधवी मधुर रसयुक्त, शीतल, लघु तथा त्रिदोषनाशक है ॥ ४१ ॥

१८ माधवी

हि०-माधवी, बसन्ती । **बं०**-माधवी लता, माधवी फुलेर गाछ । **म०**-पीतवेल, मधु माधवी, इलढवेल । **गु०**-मधुमाधवी, रक्तपिति, माधवी लता । **क०**-इन्द्रगोचे, विखन्तिगे, विरवन्तिगे, गुरुविन्द । **ले०**-माधवतोगे, पुन्पुल गुरिविन्द, पुव्वुल गुरिविन्द । **पं०**-माधवी । **अं०**-Clustered hiptage (क्लस्टर्ड हिप्टेज) । **ले०**-*Hiptage madabloia* (हिप्टेज मैडब्लोटा) ।

इसको पुष्प वाटिकाओं में लगाते हैं। इसका **झाड़**-लता की भाँति बहुत विस्तार में फैलने वाला होता है और निकटवर्ती वृक्ष पर चढ़कर उसको ढक देता है। इसका **स्तम्भ**-मजबूत होता है और **डंडियाँ**-मोटी होती हैं। **पत्ते**-चम्पा के पत्तों के समान ३ से ६ इञ्च तक लम्बे, अण्डाकार और अनीदार होते हैं। **फूल**-आध से एक इञ्च के घेरे में लम्बाई-युक्त गोलाकार गुच्छों में सफेद रङ्ग के आते हैं। इनकी सुगन्ध बहुत अच्छी होती है। पंखयुक्त फल होते हैं जो वैशाख में पकते हैं॥

अथ केतकः सुवर्णकेतकी च (केवड़ा-पीला केवड़ा) । तयोर्नामानि गुणाँश्चाह

केतकः सूचिकापुष्पो जम्बुकः क्रकचच्छदः। सुवर्णकेतकी त्वन्या लघुपुष्पा सुगन्धिनी ॥४२॥
केतकः कटुकः स्वादुर्लघुस्तिक्तः कफापहः। उष्णा तिक्तरसा ज्ञेया चक्षुष्या हेमकेतकी ॥४३॥

केवडा के सस्कृत नाम—केतक, सूचिकापुष्प, जम्बुक, क्रकचच्छद ये सब हैं। पीला केवड़ा के संस्कृत नाम—सुवर्णकेतकी, लघुपुष्पा, सुगन्धिनी ये सब हैं। केवडा के **गुण**—केवडा कटु तथा तिक्त रस युक्त, स्वादिष्ट, लघु तथा कफनाशक है। पीला केवडा के **गुण**—पीला केवडा उष्ण, तिक्तरस युक्त एव नेत्रों के लिये हितकर होता है ॥ ४२-४३ ॥

१९ केवड़ा

हि०-केवडा, गगनधूल । **बं०**-केयागाछ । **म०**-पांढराकेवडा । **गु०**-केवडो । **ते०**-मुगलीपुवु, मोगलिचेट्टु । **ता०**-तालपु । **क०**-केदगे, लाल **पं०**-केउडा । **द्रा०**-ताल, तालई । **मु०**-केंडा । **फा०**-करज । **अ०**-काटी । **ले०**-*Pandanus fascicutaris* (पेण्डनस फास्सिकटेरिस) ।

इस देश के अनेक प्रान्तों के वन, उपवन और वाटिकाओं में इसके वृक्ष उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा, सिलोन तथा अण्डमन में भी पाया जाता है।

इसका **वृक्ष** छोटा होता है। इसकी जड के अगले भाग से **शाखा**-प्रशाखा निकल कर जमीन में घुस जाती है। **पत्ते** बहुत सघन, ३ से ५ फीट तक लम्बे, पतले और चमकीले होते हैं। पत्तों के दोनों किनारे आरी के समान तीक्ष्ण काँटे होते हैं। सावन के महीने में इस पर **फूल** आते हैं। पत्तों के बीच से एक मोटी **बाल** निकलती है जो सफेद पत्तों से घिरी रहती है। यही उनका अत्यन्त सुगन्धित फूल है। उनके भीतर पराग सा लगा रहता है। उसी को गगनधूल कहते हैं। सफेद और पीले फूलों के भेद से यह दो प्रकार का होता है। इसके जगल में साँप रहा करते हैं।

२० स्वर्णकेतकी (पीला केवड़ा)

हि०-पीला केवडा, पीली केतकी । **बं०**-सोनाकेया । **म०**-केतकी ।

पीला **केवड़ा**-केवडा ही का भेद है। इसके **वृक्ष, पत्ते-पुष्प** आदि केवडे के समान होते हैं पर उनसे छोटे होते हैं। **फूल**-पीले रंग का होता है ॥ १९-२० ॥

अथ किङ्किरातः (गौडादौ प्रसिद्धः)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

किङ्किरातो हेमगौरः पीतकः पीतभद्रकः ॥ ४४ ॥
किङ्किरातो हिमस्तिक्तः कषायश्च हरेदसौ । कफपित्तपिपासाऽस्रदाहशोषवमिक्रिमीन् ॥४५॥

किङ्किरात (गौड आदि देशों में प्रसिद्ध) के संस्कृत नाम—किङ्किरात, हेमगौर, पीतक, पीतभद्रक ये सब हैं। गुण-किङ्किरात तिक्त, कषाय रसयुक्त, शीतल तथा कफ, पित्त, प्यास, रक्तविकार, दाह, शोष, वमन और क्रिमि को दूर करता है ॥ ४४-४५ ॥

२१ किंकिरात

हि०-किंकिरात, रामबबूर । म०-देव बाभूल, पिंगला गोरटा । क०-होबणद गोरटे । ते०-कोंटगोगु । गु०-रामबबूल । फा०-मघिलान । गोर०-बाणपुष्प ।

किङ्किरात क्षुप-जाति की वनस्पति कटसरैया का भेद है अथवा जङ्गली कटसरैया है। इसमें कटसरैया से कांटे अधिक होते हैं। पत्ते-बबूर के समान और फूल-पीले होते हैं ॥ २१ ॥

अथ कर्णिकारः ('पांगरा' इति महाराष्ट्रे प्रसिद्धः)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कर्णिकारः परिव्याधः पादपोत्पल इत्यपि ॥
कर्णिकारः कटुस्तिक्तस्तुवरः शोधनो लघुः । रञ्जनः सुखदः शोथश्लेष्मास्रव्रणकुष्ठजित् ॥४६॥

कर्णिकार के संस्कृत नाम—कर्णिकार, परिव्याध, पादपोत्पल ये सब हैं। गुण-कर्णिकार कटु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, कोष्ठशोधक, लघु, वर्ण देने वाला, सुख पहुँचाने वाला एवं शोथ, कफ, रक्तविकार, व्रण और कुष्ठ को दूर करने वाला होता है ॥ ४६ ॥

२२ कर्णिकार

हि०-कर्णिकार, कनियार । म०-पांगारा ।

यह एक भ्रमात्मक पुष्पवृक्ष है। कोई इसको अमलतास का भेद याने छोटा अमलतास मानते हैं। कोई उलटकमल (द्रुमोत्पल) को ही कर्णिकार कहते हैं। कोई कर्णिकार का अर्थ कनेर लगाते हैं। अधिकाश लोग कनकचम्पे को कर्णिकार कहते हैं ॥ २२ ॥

अथाशोकः (असोगि)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अशोको हेमपुष्पश्च वञ्जुलस्ताम्रपल्लवः। कङ्केलिः पिण्डपुष्पश्च गन्धपुष्पो नटस्तथा ॥ ४७ ॥
अशोकः शीतलस्तिक्तो ग्राही वर्ण्यः कषायकः । दोषापचीतृषादाहक्रिमिशोषविषास्रजित् ॥

अशोक के संस्कृत नाम—अशोक, हेमपुष्प, वञ्जुल, ताम्रपल्लव, कंकेलि, पिण्डपुष्प, गन्धपुष्प, नट ये सब हैं। गुण-अशोक तिक्त तथा कषाय रस युक्त, शीतल, ग्राही, शरीर के वर्ण को उत्तम करने वाला एव वातादिदोष, अपची, तृषा, दाह, क्रिमि, शोष, विष और रक्तविकार को दूर करने वाला होता है ॥ ४७-४८ ॥

२३ अशोक

हि०-अशोक, अशोग, अशोगि, असोक, आसा पाला । बं०-अशोक, अस्पाल । म०-अशोक गु०-आसुपालो । क०-अशोक, अशुङ्कर । कटक०-असेक । मू०-जासुन्दी, असोक। ले०-*Saraca Indica* (सराका इन्डिका), Syn-jonesia-asoka (जानेसिया अशोक)।

यह मध्य और पूर्व हिमालय, पूर्व बगाल और दक्षिण भारत में पाया जाता है तथा अनेक प्रकारकी वाटिकाओं में भी देखने में आता है। बगाल में इसका अधिक आदर है। और प्रायः वहाँ की सब वाटिकाओं में देखा जाता है।

इसका वृक्ष बडा, सीधा और झोपडाकार होता है तथा यह बारहो मास हरा-भरा दीख पडता है। लकड़ी-हलकी किंचित् लाली युक्त भूरे रग की होती है। पत्ते-पतली-पतली टहनियों पर ३ से ६ जोडे रहते हैं और वे ३ से ९ इञ्च तक लम्बे किंचित् अनीदार होते हैं। नई नई टहनियाँ नीचे की ओर झुकी हुई रहती हैं और उनके पत्ते अत्यन्त कोमल, एक दूसरे से सटे हुए, तामे के रग के लाल मनोहर दीख पड़ते हैं। इसीलिये इसको **ताम्रपल्लव** कहते हैं। वसन्त ऋतु में

इस पर फूल-फल आते हैं। **फूल**-सघन गुच्छों में लगते हैं और वे नारंगी रंग के समान अत्यन्त रक्तवर्ण के परम सुहावने होते हैं। **फलियाँ**-६ से १० इञ्च तक लम्बी चिपटी और १ से १॥ इञ्च चौडी होती हैं। प्रत्येक फली में ४ से ८ तक बीज रहते हैं। **बीज**-१-१॥ इञ्च लम्बे कुछ चिपटे होते हैं।

२४ दूसरी जाति का अशोक

हिं०-अशोक, असोक, देवदारी, देवदारु, देवदार। **बं०**-देवदारु, देवद। **उड़ि०**-देवदारु। **मु०**-असोक, असोका, असोपुल, आसुपाल, असुपाल। **गु०**-आसो पुलो, अशोपुलो। **तै०**-देवदारु, अम्नोक, अमोकम। **ता०**-अस्सोथि। **क०**-असोक, पुत्रजीव। **सिलोन०**-मरइलु पइ। **लै०**-*Polyalthia-longia folia* (पोली एल्थिया लौंगिया फोलिया)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है, विशेष कर सड़कों के किनारे देखने में आता है। तजोर और पश्चिम प्रायद्वीप के सडकों के किनारे रोपण किये हुए वृक्ष सुहावने दीख पडते हैं। कहीं कहीं वाटिकाओं में भी इसे लगाते हैं। सिलोन और बम्बई की सडकों के किनारे भी देखने में अधिक आता है।

इसका **वृक्ष**-सीधा खडा होता है। **शाखायें**-सघन नहीं होतीं। पतली पतली टहनियों पर पत्ते विषमवर्त्ती रहते हैं। **छाल**-पतली और **लकड़ी**-किञ्चित् पीलापन युक्त सफेद होती है। **पत्ते**-६ से ९ इञ्च तक लम्बे किंचित् अडाकार वर्छीनुमे मुड़े किनारीदार और चमकीले होते हैं। वरसात में इसका वृक्ष फूलता-फलता है। **फूल**-हरापन युक्त पीले रंग के अथवा पीलापन युक्त सफेद रङ्ग के आते हैं और वे पाँच दलवाले होते हैं तथा प्रत्येक दल आधा इञ्च लम्बा और अनीदार होता है। **फल**-जामुन के समान गोल होते हैं। कच्ची अवस्था में नीले रङ्ग के और पकने पर लाल हो जाते हैं॥ २३-२४॥

अथाम्लाटनः (वाणपुष्प इति गौडादौ प्रसिद्धः) तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अम्लातोऽम्लाटनः प्रोक्तस्तथाऽम्लातक इत्यपि॥ ४९॥
कुरण्टको वर्णपुष्पः स एवोक्तो महासहः। अम्लाटनः कषायोष्णः स्निग्धः स्वादुश्च तिक्तकः॥

अम्लाटन ('बाणपुष्प' नाम से गौड आदि देशों में प्रसिद्ध) के संस्कृत नाम—अम्लात, अम्लाटन, अम्लातक, कुरण्टक, वर्णपुष्प, महासह ये सब हैं। **गुण**-अम्लाटन कषाय तथा तिक्तरस युक्त, उष्ण, स्निग्ध एवं स्वादिष्ट होता है॥ ४९-५०॥

२५ बाणपुष्प

बाणपुष्प के दूसरे नाम नहीं मिलते। इसके सस्कृत नाम—अम्लात, अम्लाटन, अम्लातक, कुरण्टक आदि कटसरैया के बोधक हैं। इसलिये बाणपुष्प कटसरैये का भेद जान पडता है॥२५॥

अथ सैरेयकः (कटसरैया)। तस्य नामानि भेदान् गुणाँश्चाह

सैरेयकः श्वेतपुष्पः सैरेयः कटसारिका। सहाचरः सहचरः स च भिन्द्यपि कथ्यते॥ ५१॥
कुरण्टकोऽत्र पीते स्याद्रक्ते कुरबकः स्मृतः। नीले वाणा द्वयोरुक्तो दासी चार्त्तगलश्च सः॥५२॥
सैरेयः कुष्ठवातास्रकफकण्डूविषापहः। तिक्तोष्णो मधुरोऽनम्लः सुस्निग्धः केशरञ्जनः॥५३॥

सफेद फूलवाली कटसरैया के सस्कृत नाम—सैरेयक, श्वेतपुष्प, सैरेय, कटसारिका, सहाचर, सहचर, भिन्दी ये सब हैं। पीले फूलवाली कटसरैया का सस्कृत नाम 'कुरण्टक' है। लाल फूलवाली का संस्कृत नाम 'कुरबक' है। नील फूलवाली कटसरैया के सस्कृत नाम—बाणा, वाण, (बाण शब्द पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग दोनों में है), दासी, आर्तगल ये सब हैं। **गुण**-कटसरैया तिक्त, मधुर, किञ्चित् अम्ल रसयुक्त, उष्ण, अतिस्निग्ध तथा केशों को रंगने वाली होती है॥ ५१-५३॥

२६ कटसरैया

हिं०-कटसरैया, सैरेयक, झाटि, पियाबासा। **बं०**-झिंटी, झांटी, वांटी, कुलझांटी। **म०**-कोराटा। **गु०**-अशेलियो, कांटा अशेलियो। **क०**-गोरण्टे, गारटे गल्लु। **तै०**-गोरेण्ड। **सं०**-अम्लाटन। **लै०**-*Barleria prionitis* (बार्लेरिया प्रायोनिटिस)।

२७ सफेद कटसरैया

हि०-सफेद फूल की कटसरैया। वं०-कुल झांटि। म०-पांढरा कोरण्टा। गु०-धोला फुलनो (धोलो) काटा अशेलियो। फ०-सर छुछ गोरण्टे, विलो गोरण्टे, विले गोरण्टे।

२८ पीली कटसरैया

हि०-पीली कटसरैया। बं०-पीली झिंटी, पीत झांटी। म०-पिंवला कोरटा। गु०-पीला फुलनो काटा अशेलियो। क०-होवणद गोरण्टे। लै०-*Barleria prionitis* (बारलेरिया प्रायोनिटिस)।

२९ लाल कटसरैया

हि०-लाल कटसरैया। वं०-रक्त झांटि, लाल झिंटी। म०-तांवडा कोरंटा। गु०-राता फुलनो कांटा अशेलियो। क०-वणदगिंडु। लै०-*Barleria-cristat* (बारलेरिया क्रिस्टाट)।

३० नीली कटसरैया

हि०-नीली कटसरैया, नीली पीया बांसा। वं०-नील झांटी। म०-निला कोरटा। गु०-काला फुलनो काटा अशेलियो। क०-करिय गोरण्टे। लै०-*Barleria-noctiflora* (बारलेरिया नोक्टीफ्लोरा)।

कटसरैया—इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में पायी जाती है। रत्नगिरि जिले में सफेद और नीले फूल की कटसरैया अधिक मिलती है। यह जङ्गली आप ही आप उत्पन्न होती है। इसको खेत और उपवाटिकाओं की मेढ पर लगाते हैं। सफेद फूल की कटसरैया बङ्गाल में बहुत होती है।

इसका **क्षुप**-२-४ या ५ फीट तक ऊँचा तथा झाडदार होता है। समस्त क्षुप पर काँटे होते हैं। बीजकोश में भी काँटे होते हैं। **पत्ते**-३ से ५ इञ्च लम्बे अण्डाकार और नोकीले होते हैं। **ढोडी**-१ इञ्च तक लम्बी और चिपटी होती है। **फूल**-जाडे के दिनों में छोटे छोटे किंचित् घटाकार होते हैं। सफेद, पीले, लाल और नीले फूलों के भेद से यह चार प्रकार की होती है। सबके क्षुप लगभग एक समान होते हैं।

नीले फूल की कटसरैया को आर्त्तगल, पीले फूल की कटसरैया को कुरण्टक, लाल फूल की कटसरैया को कुरवक और सफेद फूल की कटसरैया को सैरेयक कहते हैं॥ २६-३०॥

अथ कुन्दम्। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कुन्दं तु कथितं माघ्यं सदापुष्पञ्च तत्स्मृतम्। कुन्दं शीतं लघु श्लेष्मशिरोरुग्विषपित्तहृत्॥

कुन्द के संस्कृत नाम—कुन्द, माध्य, सदापुष्प ये सब हैं। **गुण**-कुन्द शीतल, लघु तथा कफ, शिरोरोग, विष और पित्त को दूर करने वाला है॥ ५४॥

३१ कुन्द

हि०-कुन्द, कुन्दे का वृक्ष, कुन्द पुष्पवृक्ष, कुन्द फूल, कुन्दे का फूल। वं०-कुन्द। म०-कुन्द। क०-सुरागि, सुरगि। तै०-मोछ। गु०-डोलर, कुन्द कागडो। लै०-*Jasminum-pubescens* (जैसमीनम् प्युवेस्सेन्स)।

कुन्द का वृक्ष सर्वत्र वाटिकाओं में रोपण किया जाता है। इसका **क्षुप**-लता के समान १० फीट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**-अण्डाकार, ऊपर नोकदार, **फूल**-वेला के समान पर वेला से कुछ लम्बे होते हैं। इसकी सुगन्ध तेज और उग्र होती है। वसन्त ऋतु में यह भली प्रकार फूलता है॥ ३१॥

अथ मुचुकुन्दः। (नाम्नैव प्रसिद्धः)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

मुचुकुन्दः चत्रवृक्षश्चित्रकः प्रतिविष्णुकः। मुचुकुन्दः शिरःपीडापित्तास्रविषनाशनः॥ ५५॥

मुचुकुन्द के संस्कृत नाम—मुचुकुन्द, क्षत्रवृक्ष, चित्रक, प्रतिविष्णुक ये सब हैं। **गुण**-मुचुकुन्द शिर की पीडा, पित्त, रक्तविकार एवं विष का नाशक है॥ ५५॥

३२ मुचुकुन्द

हि०-मुचुकुन्द, मचकन्द, मेकचन्द । **बं०, गु०, म०, क०**-मुचुकुन्द, कनकचम्पा । **ते०**-लोलगु । **ता०**-तडै, टड्डी, टड्डो । **उ०**-बइलो । **ले०**-*Pterospermum-suberfolium* (प्टेरोस्पर्मम सुबेर्फोलियम)।

कोंकण, कनारा, उड़ीसा के जङ्गलों तथा उत्तर सरकार, कर्नाटक, ब्रह्मा, सिलोन आदि प्रान्तों में मुचुकुन्द पाया जाता है और कितनी ही वाटिकाओं में भी देखने में आता है।

इसका **वृक्ष**-मध्यमाकार का होता है। **पत्ते**-गोलाकार कुमुद के पत्तों के समान होते हैं। उनमें २-४ कोणे से निकले रहते हैं और वे खरदले होते हैं। **फूल**-बड़े-बड़े कमल के फूलों के समान किञ्चित् पीलापन सहित आते हैं और उनसे मीठी गन्ध आती है। **फलियां**-२ इञ्च लम्बी तीन और चौथाई इञ्च गोल सेमर की फली के समान काष्ठवत् होती हैं ॥ ३२ ॥

अथ तिलकः (तिलाभपुष्पस्तिलकनाम्नैव प्रसिद्धः)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

तिलकः क्षुरकः श्रीमान्पुरुषश्छिन्नपुष्पकः ॥
तिलकः कटुकः पाके रसे चोष्णो रसायनः। कफकुष्ठक्रिमीन्वस्तिमुखदन्तगदान्हरेत् ॥५६॥

तिलक के संस्कृत नाम—तिलक, क्षुरक, श्रीमान् , पुरुष, छिन्नपुष्पक ये सब हैं। **गुण**—तिलक पाक तथा रस में कटु, उष्ण, रसायन एवं कफ, कुष्ठ, क्रिमि, वस्ति-मुख-दन्त सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाला है ॥ ५६ ॥

३३ तिलक

हि०-तिलक पुष्प, तिलक, तिलपुष्पी, तिलक नाम फूल का वृक्ष। **गु०**-तिलक, तिलक वृक्ष। **म०**-तिलक वृक्ष। **क०**-तिलक पुष्प।

तिलक एक प्रकार का फूल का पेड है। इसके **फूल** तिल के फूल के समान होते हैं और उन फूलों से सुगन्धि आती है। **फल**-पीपल के समान और मीठा होता है ॥ ३३ ॥

अथ बन्धुजीवः (गोजुनिया)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

बन्धूको बन्धुजीवश्च रक्तो माध्याह्निकोऽपि च। बन्धूकः कफकृद् ग्राही वातपित्तहरो लघुः॥५७॥

दुपहरिया के संस्कृत नाम—बन्धूक, बन्धुजीव, रक्त, माध्याह्निक ये सब हैं। **गुण**—दुपहरिया कफकारक, ग्राही, वात-पित्तनाशक और लघु है ॥ ५७ ॥

३४ दुपहरिया

हि०-दुपहरिया, गोजुनिया। **बं०**-बान्धुली फुलेर गाछ। **म०**-दुपारींचे फूल, वांदुजा। **गु०**-बपोरियों, बपोरिया। **क०**-बन्दुरे। **ते०**-निति मल्ली, मकिन चेट्टु, वेगसित चेट्टु। **पं०**-गुल दुपहरिया। **ले०**-*Pentapetes-phaenicea.* (पेण्टापिटेस् फीनिसिया)

दुपहरिया-एक प्रसिद्ध पुष्पवृक्ष है। इसका **क्षुप** होता है। घर और वाटिकाओं में लगाते हैं। यह फूलों के भेद से चार प्रकार का होता है, लाल, सिन्दूरी, सफेद और फीके पीले रङ्ग के फूल होते हैं। इसका फूल दोपहर दिन को खिलता है और सन्ध्या समय मुर्झा जाता है इसके **पत्ते**-लम्बे अनीदार और **फूल**-गोल होते हैं ॥ ३४ ॥

अथ जपापुष्पम् (गुडहर, अढ़ौल)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

ओड्रपुष्पं जपा चाथ त्रिसन्ध्या साऽरुणा सिता। जपा संग्राहिणी केश्या त्रिसन्ध्या कफवातजित्॥

अढौल के संस्कृत नाम—ओड्रपुष्प और जपा है। लाल तथा सफेद फूल वाली अढ़ौल का नाम—त्रिसन्ध्या है। **गुण**-अढौल संग्राही और केशों को उत्तम बनाने वाला होता है। **त्रिसन्ध्या**-कफ तथा वायु को नाश करने वाली होती है ॥ ५८ ॥

३५ गुड़हर

हि०-ओड्हुल, ओ(अ)ड्हुल, अढौल, गुडहल(र), झांसी, जवाकुसुम। **बं०**-जवाफुलेर गाछ,

जवाफुल। म०-जासवन्द, जासविन्द। गु०-जासुद, जासुस। ते०-मन्दारपु। ता०-शप्प शुप्पु। क०-दासनल। फा०-अंबरी हिन्द। अं०-Shoe flower (शू फ्लावर)। ले०-*Hibiscus rosa sinensis* (हिबिस्कस रोज साइनेन्सिस)।

यह प्रायः सब प्रान्तों की वाटिकाओं में रोपण किया जाता है।

इसका **वृक्ष**-गुल्म के समान छोटा होता है और अनेक शाखा-प्रशाखाओं में झाड़दार होता है। **पत्ते**-जड़ की ओर गोलाकार, आगे की ओर नुकीले और कंगूरेदार होते हैं तथा तून के पत्तों के समान दीख पडते हैं। **फूल**-घंटाकार लाल रङ्ग के होते हैं। विविध प्रकार के फूलों के भेद से यह कई प्रकार का होता है किन्तु वृक्ष और पत्ते एक समान होते हैं। एकहरा, दुहरा, तिहरा, लाल, पीले, सफेद आदि अनेक प्रकार के फूल होते हैं॥ ३५॥

अथ सिन्दूरी (सेन्दुरिया)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

सिन्दूरी रक्तबीजा च रक्तपुष्पा सुकोमला। सिन्दूरी विषपित्तास्रतृष्णावान्तिहरी हिमा॥५९॥

सेन्दुरिया के संस्कृत नाम—सिन्दूरी, रक्तबीजा, रक्तपुष्पा और सुकोमला ये सब हैं। **गुण**-सेन्दुरिया शीतल तथा विष, पित्त, रक्तविकार, तृषा और वमन को दूर करने वाली है॥५९॥

३६ सिन्दुरिया

हि०-सें(सिं)दुरिया, सेनुरिया, जाफर, लटकन, सदा सुहागन, सदा सुहागिन। **बं०**-सिन्दूर पुष्पी। **म०**-शेन्द्री, शेंदरी। **गु०**-सिन्दूरी, राता फुलना जासुद। **पं०**-लटकण, जाफर। **क०**-सिन्दूरी। **ता०**-जाफरा मरम। **अं०**-Arnotoa (आर्नोटो)। **ले०**-*Bix orellana* (बिक्सा ओरिलाना)।

सेंदुरिया एक प्रसिद्ध फूल है जिसके वृक्ष को वाटिकाओं में लगाते हैं।

इसका **वृक्ष**-१½-२ हाथ ऊँचा, शाखा-प्रशाखाओं करके सघन और झाड़ीदार होता है। **पत्ते**-छोटी अरनी के समान गोलाकार, डंडी की ओर चौड़े, आगे को पतले, झालर के समान कटे हुए किनारेदार या कंगूरेदार और कोमल होते हैं। **फूल**-छोटे-छोटे अत्यन्त रक्तवर्ण पांच दलवाले होते हैं और इनके बीच से एक-एक बाल निकलता है। **फल**-छोटे-छोटे गोल होते हैं और गूदा लाल होता है। इसको जल में डालने से लाल हो जाता है। सफेद, लाल, गुलाबी तथा प्याजी रङ्ग के फूलों के भेद से यह कई प्रकार का होता है॥ ३६॥

अथ मुनिवृक्षः (अगस्तिया)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

अथागस्त्यो वङ्गसेनो मुनिपुष्पो मुनिद्रुमः॥ ६०॥
अगस्तिः पित्तकफजिच्चातुर्थिकहरो हिमः। रूक्षो वातकरस्तिक्तः प्रतिश्यायनिवारणः॥६१॥

अगस्तिया के संस्कृत नाम—अगस्त्य, वङ्गसेन, मुनिपुष्प, अगस्ति और मुनिद्रुम ये सब हैं। **गुण**-अगस्तिया तिक्तरसयुक्त, शीतल, रूक्ष, वातकारक एवं पित्त, कफ, चातुर्थिक (चौथिया) ज्वर और प्रतिश्याय (जुखाम) को दूर करने वाला है॥ ६०-६१॥

३७ अगस्त

हि०-अगस्त, हथिया, अगथिया, अगस्तिया। **बं०**-बक, बकफुलेर गाछ। **म०**-हदगा, अगस्ता। **मा०**-अगस्त्या। **क०**-अगचे। **गु०**-अगथियो। **पं०**-हदगा, हथिया। **ते०**-अविसी, अनिसे। **ता०**-अगति। **द्रा०**-अहती। **ले०**-*Sesbania grandiflora* (सिस्बेनिया ग्राण्डिफ्लोरा)।

इसको वाटिकाओं में लगाते हैं।

इसका **वृक्ष**-मझोला २०-३० फीट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**-इमली के पत्तों के समान, उनसे आकार में बड़े होते हैं। **फूल**-२-४ इञ्च लम्बे, तिरछे और सदल होते हैं। **फलियां**-१०-१२ इञ्च लम्बी और चिपटी होती हैं। वर्षाऋतु से शीतकाल तक फूल-फल लगते-रहते हैं। सफेद और लाल फूलों के भेद से यह दो प्रकार का होता है॥ ३७॥

अथ तुलसी शुक्ला कृष्णा च । तयोर्नामगुणानाह

तुलसी सुरसा ग्राम्या सुलभा बहुमञ्जरी । अपेतराक्षसी गौरी भूतघ्नी देवदुन्दुभिः ॥ ६२ ॥
तुलसी कटुका तिक्ता हृद्योष्णा दाहपित्तकृत् । दीपनी कुष्ठकृच्छ्रास्रपार्श्वरुक्कफवातजित् ॥
शुक्ला कृष्णा च तुलसी गुणैस्तुल्या प्रकीर्त्तिता ॥ ६३ ॥

तुलसी के संस्कृत नाम—तुलसी, सुरसा, ग्राम्या, सुलभा, बहुमञ्जरी, अपेतराक्षसी, गौरी, भूतघ्नी, देवदुन्दुभि ये सब हैं। **गुण**-तुलसी कटु, तिक्तरस युक्त, हृदय को हितकर, उष्ण, दाह तथा पित्तकारक, अग्निदीपक एवं कुष्ठ, मूत्रकृच्छ्र, रक्तविकार, पसली की पीडा, कफ और वायु को दूर करने वाली है। सफेद तथा काली तुलसी दोनों ही गुणों में समान मानी जाती हैं ॥

३८ तुलसी

हि०-तुलसी, तुलस, तुलशी, बरंडा। **बं०**-तुलसी। **द्रा०**-तुलसी। **गु०**-तुलसी। **ते०**-गग्गेर चेट्टु, इयुलसी। **म०**-तुलशी चे झाड़, तुलस। **ता०**-तुलशी। **क०**-एरेड तुलसी। **फा०**-रेहां, रेहान्, शाह सिपरम। **अ०**-तुलसी बदरुत, शाह शफरम। **अं०**-Holy basil (होली बेसील)। **लै०**-*Ocinum sanctum* (ओसीनम सेंक्टम)।

यह प्रायः सब गरम और साधारण प्रान्तों के वन-उपवनों में आप ही उत्पन्न होती है। इसे पवित्र जानकर पूजा के निमित्त घर में भी लगाते हैं।

यह **क्षुप**-जाति की वनस्पति १ से २॥ फीट तक ऊँची होती है। इसके क्षुप से तीव्र गन्ध आती है। **शाखायें**-सीधी और फैली हुई रहती हैं। **पत्ते**-१ से २॥ इञ्च तक लम्बे और अण्डाकार तथा बारीक कंगूरेदार होते हैं। शाखाओं के अन्त में मञ्जरी लगती है। जिसके पत्ते हरे सफेदी मायल होते हैं, उसको तुलसी और जिसके पत्ते और डण्डिया कालापन युक्त हरे होते हैं उसको काली तुलसी कहते हैं। तुलसी कई प्रकार की होती है ॥ ३८ ॥

अथ मरुबकः (मरुवा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

मारुतोऽसौ मरुबको मरुन्मरुरपि स्मृतः । फणी फणिज्जकश्चापि प्रस्थपुष्पः समीरणः ॥ ६४ ॥
मरुदग्निप्रदो हृद्यस्तीक्ष्णोष्णः पित्तलो लघुः ॥ ६५ ॥
वृश्चिकादिविषश्लेष्मवातकुष्ठक्रिमिप्रणुत् । कटुपाकरसो रुच्यस्तिक्तो रूक्षः सुगन्धिकः ॥६६॥

मरुवा के संस्कृत नाम—मारुत, मरुवक, मरुत्, मरु, फणी, फणिज्जक, प्रस्थपुष्प, समीरण ये सब हैं। **गुण**-मरुआ पाक तथा रस में कटु, रुचिकारक, तिक्त रसयुक्त, रूक्ष, सुगन्धयुक्त, अग्निवर्धक, हृदय को हितकर, तीक्ष्ण, उष्ण, पित्तजनक, लघु एवं बिच्छू आदि के विष, कफ, वात, कुष्ठ और क्रिमिनाशक है ॥ ६४-६६ ॥

३९ मरुआ

हि०-मरुआ, मरुवा, गेदरेत। **बं०**-मरुया, गन्ध तुलसी। **म०**-सब्जा मरवा। **गु०**-मरवो। **ते०**-रुद्र जरई, रुद्रजार, मरवमु। **क०**-मरुगो पत्री, मरुआ, मरवा। **पं०**-मरुआ। **फा०**-मरजन गोस, मर्ज गुस। **अ०**-मर्जन जोश, मर्ज जुश। **यू०**-आफिस्ती। **अं०**-Sweet Marjoram (स्वीट मरजोरम)। **लै०**-*Origanum-marjorana* (ओरीगनम-मारजोराना)।

मरुआ प्रायः सब प्रान्तों की वाटिकाओं में रोपण किया जाता है।

यह क्षुपजाति की वनस्पति १-२ फीट ऊँची होती है और इससे सुगन्धि आती है। **पत्ते**-लम्बे अण्डाकार किञ्चित् लालिमायुक्त सफेदी मायल होते हैं। उस पर तुलसी के समान मञ्जरी लगती है। सफेद और काले रंगों के भेद से यह दो प्रकार का होता है। इनमें सफेद औषधियों के काम और काला शिव-पूजन में आता है ॥ ३९ ॥

अथ दमनकः (दवना)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

उक्तो दमनको दान्तो मुनिपुत्रस्तपोधनः । गन्धोत्कटो ब्रह्मजटो विनीतः कलपत्रकः ॥ ६७ ॥
दमनस्तुवरस्तिक्तो हृद्यो वृष्यः सुगन्धिकः । ग्रहणाद् विषकुष्ठास्रक्लेदकण्डूत्रिदोषजित् ॥६८॥

दवना के संस्कृत नाम—दमनक दान्त, मुनिपुत्र, तपोवन, गन्धोत्कट, ब्रह्मजट, विनीत,

कलपत्रक और दमन ये सब हैं। **दवना**-कषाय तथा तिक्त रसयुक्त, हृदय को हितकर, वृष्य (वीर्यवर्धक), सुगन्धित एवं विष, कुष्ठ, रक्तविकार, क्लेद, खुजली तथा त्रिदोष का नाशक है॥

४० दवना

हि०-दौना, दवना, धारो। **बं०**-दोना, दना। **म०**-दवणा, रान दवणा। **क०**-चित्त रटे, दवना। **ते०**-सावित्र चेट्टु। **ता०**-दवनम। **गु०**-डमरो। **पं०**-दोणा, झन। **फा०**-अफसतीन। **लै०**-*Artemesia vulgaris* (आर्टिमेसिया वल्गरिस)।

इसको वाटिकाओं में लगाते हैं। पश्चिम हिमालय, खासिया पहाड, आबू, मनीपुर आदि जगहों में यह आप ही आप जङ्गली उत्पन्न होता है।

दवना—क्षुप जाति की वनस्पति २-४ फीट ऊँची होती है किन्तु जंगली दवना ७-८ फीट तक ऊँचा पाया जाता है। **पत्ते**-अजमोदे के पत्तों के आकार वाले २-२॥ इञ्च लम्बे गहरे कटे कनारे वाले होते हैं। पीलापन युक्त भूरे रङ्ग की फूलों की घुण्डियाँ लगती हैं। इसका समस्त **क्षुप**-सफेद रोवेंदार होता है और उसमें मसाले के समान गन्ध आती है॥ ४०॥

अथ बर्वरी (वनतुलसी)। तस्या भेदसहितं नामानि गुणाँश्चाह

बर्वरी तुवरी तुङ्गी खरपुष्पाऽजगन्धिका। पर्णाशस्तत्र कृष्णे तु कठिल्लककुठेरकौ॥ ६९॥
तत्र शुक्लेऽर्जकः प्रोक्तो वटपत्रस्ततोऽपरः। बर्वरीत्रितयं रूक्षं शीतं कटु विदाहि च॥७०॥
तीक्ष्णं रुचिकरं हृद्यं दीपनं लघुपाकि च। पित्तलं कफवातास्रकण्डूकृमिविषापहम्॥७१॥

वनतुलसी के संस्कृत नाम—बर्वरी, तुवरी, तुङ्गी, खरपुष्पा, अजगन्धिका, पर्णाश ये सब हैं। काली वनतुलसी का संस्कृत नाम—कठिल्ल और कुठेरक है। सफेद वनतुलसी का संस्कृत नाम—अर्जक है। तीसरी जाति की वन तुलसी का नाम—वटपत्र है। **गुण**-तीनों प्रकार की वन तुलसी-रूक्ष, शीतल, कटुरसयुक्त, विदाही, तीक्ष्ण, रुचिकारक, हृदय को हितकर, अग्निदीपक, पाक में लघु, पित्तजनक तथा कफ, वात, रक्तविकार, खुजली, कृमि और विष का नाशक होती है॥

४१ वनतुलसी

हि०-बर्बरी, बर्बरी, वनतुलसी, बावरी सब्जा। **बं०**-बाबुई तुलसी। **बिहा०**-गटिवन, गेठिवन। **म०**-अजवला, आजबला, रानतुलस। **क०**-गगेर, कगेरले, कामकस्तूरी, निरू तुलसी। **गु०**-रान तुलसी भेद, रान तुलसी। **ते०**-तेल गेर चेट्टु, कारु चेट्टु, रुद्र जडे। **ता०**-निरूनिकु, तिरू नितरू। **पं०**-बवरि, बबुई तुलसी। **फा०**-फलञ्ज मुश्क, तुलसी जङ्गली, रेहा दस्ती, दवान शाह। **अ०**-फरंज मुश्क, रेहाँनुलबरी, रेहा। **अं०**-Common Sweet-Basil (कामन स्वीट् बेसील)। **लै०**-*Ocimum-basilicum* (ओसीनम बेसिलीकम)।

यह भारतवर्ष के गरम तथा साधारण प्रान्तों में विशेष कर पञ्जाब से ट्रावनकोर तक अधिक पाई जाती है। पंजाब की पहाडी भूमि में भी देखने में आती है।

इसका **क्षुप**-सीधा १-२ फीट तक ऊँचा होता है, **डंडियां** और **शाखायें**-हरे रङ्ग की अथवा फीकी पीलापन युक्त हरे रङ्ग की होती हैं। **पत्ते**-१-२ इञ्च लम्बे अण्डाकार, अनीदार और नोकीले होते हैं। शाखाओं के अन्त में फूलों की मञ्जरी लगती है। उसी में बीजकोष लगते हैं। **बीज**-नन्हें नन्हें काले रङ्ग के किञ्चित् लम्बे, एक ओर महराब का चिह्न और दूसरी ओर चिपटे तथा मोटी नोकवाले होते हैं। वे गन्धहीन होते हैं परन्तु उनका स्वाद तेलिया और कुछ चरपरा होता है। इनको पानी में भिगोने से लुवावदार से दीख पडते हैं। सूखने पर इसके वृक्ष से अच्छी सुगन्धि आती है। इसके पञ्चाङ्ग का अर्क निकालने से अर्क के ऊपर तैरता हुआ तेल देख पडता है। यह तेल कुछ पीले रङ्ग का हलका और उडने वाला होता है और कुछ दिनों तक रखा रहने से जम जाता है॥ ४१॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे
मिश्रप्रकरणे पञ्चमः पुष्पवर्गः समाप्तः॥ ५॥



अथ वटादिवर्गः

तत्रादौ वटः । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वटो रक्तफलः श्रृङ्गी न्यग्रोधः स्कन्धजो ध्रुवः । क्षीरी वैश्रवणो वासो बहुपादो वनस्पतिः ॥
वटः शीतो गुरुर्ग्राही कफपित्तव्रणापहः । वर्ण्यो विसर्पदाहघ्नः कषायो योनिदोषहृत् ॥ २ ॥

बरगद के संस्कृत नाम—वट, रक्तफल, श्रृङ्गी, न्यग्रोध, स्कन्धज, ध्रुव, क्षीरी, वैश्रवण, वास, बहुपाद, वनस्पति ये सब हैं । **गुण**-बरगद कषाय रसयुक्त, शीतल, गुरु, ग्राही, शरीर के वर्ण को उत्तम करने वाला एवं कफ, पित्त, व्रण, विसर्प, दाह और योनिसम्बन्धी दोष को दूर करता है ॥

१ बड़

हि०-बड, बड़(र)गद, बर्गद । **बं०**-वट, बडगाछ । **म०**-वट, वड । **क०**-आल, आलदमारा । **ते०**-मर्रिचेट्टु, मारि, पेडिमरि । **उ०**-वोरु । **ता०**-अल । **गु०, मा०**-वड । **पं०**-बरगद । **द्रा०**-आलं, पालं । **क०**-आलदमर, आल । **फा०**-दरख्तरेशा, बडवाई । **अ०**-जातु जायब । **अं०**-Benyan tree (बनियन ट्री) । **ले०**-*Ficus bengalensis* (फिकस बेंगालेन्सिस) ।

यह सब प्रान्तों में उत्पन्न होता है । ग्राम के पास लोग इसको पवित्र जान कर लगाते हैं । हिमालय के जङ्गल और दक्षिण के पहाडियों पर यह जगली उत्पन्न होता है ।

इसका **वृक्ष**-बहुत विशाल और शाखायें फैली हुई प्रायः भूमि की ओर नत हो जाती हैं । **पत्ते**-लंबे, चौडे और मोटे होते हैं । **फल**-छोटे-छोटे झरबेर के समान कच्ची अवस्था में हरे रंग के और पकने पर लाल हो जाते हैं । शाखाओं से लाल तथा पीले रंग के अङ्कुर निकल कर भूमि की ओर वढते हैं । इसको वटजटा, बरोह या बड की दाढी कहते हैं । यह जटा बढते-बढते पृथ्वी में घुस जाती है और खम्भे के समान दीख पडती है ॥ १ ॥

अथ पिप्पलः (पीपल) । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

बोधिद्रुः पिप्पलोऽश्वत्थश्चलपत्रो गजाशनः । पिप्पलो दुर्जरः शीतः पित्तश्लेष्मव्रणास्रजित् ।
गुरुस्तुवरको रूक्षो वर्ण्यो योनिविशोधनः ॥ ३ ॥

पीपल के संस्कृत नाम—बोधिद्रु, पिप्पल, अश्वत्थ, चलपत्र और गजाशन ये सब हैं । **गुण**-पीपल कषाय रसयुक्त, कठिनता से हजम होने वाला, शीतल, गुरु, रूक्ष, वर्ण को उत्तम बनाने वाला, योनि का शोधन करने वाला एव पित्त, कफ, व्रग तथा रक्तविकार को दूर करने वाला है ॥ ३ ॥

२ पीपल

हि०-पीपल वृक्ष । **बं०**-अश्वत्थ, अशोथा गाछ । **म०**-पिंपल, पिम्पले । **क०**-अरली । **गु०**-पीपलो, पीपुल, पीपुले । **ते०**-राईचेट्टु, कुलुजुब्बिचेट्टु । **ता०**-अरशमरम, अरस, अश्वत्थ । **फा०**-दरख्त लरजा । **पं०**-पीपल, बोर । **ते०**-रैंगा, रगी, रावि, कुछरावि, हस्पेथ, अस्वलता, अरली । **नेपाल०**-पिपली । **सन्ताल०**-हेबक । **उड़ि०**-जारी । **ले०**-*Ficus-religiosa* (फाईकस रीलीजीओसा) ।

पीपल के वृक्ष-इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होते हैं और हिमालय पहाड के जङ्गलों में भी पाये जाते हैं । इसका वृक्ष बहुत ऊँचा होता है और खूब फलता है । **पत्ते**-गोलाकार और नोकीले होते हैं । **पत्रदण्ड**-लम्बा होता है । इसमें भी वड के समान छोटे-छोटे गोल फल लगते हैं । इसकी छाया सघन और प्रिय होती है । पीपल वृक्ष पवित्र माना जाता है ॥ २ ॥

अथ पिप्पलभेदः (गजदण्डसहोरा इति लोके)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पारीषोऽन्यः पलाशश्च कपिचूतः कमण्डलुः । गर्दभाण्डः कन्दरालः कपीतनसुपार्श्वकः ॥ ४ ॥
पारीषो दुर्जरः स्निग्धः कृमिशुक्रकफप्रदः । फलेऽम्लो मधुरो मूले कषायस्वादुमज्जकौ ॥ ५ ॥

गजदण्डसहोरा (पीपल के भेद) के संस्कृत नाम—पारीष, पलाश, कपिचूत, कमण्डलु, गर्दभाण्ड, कन्दराल, कपीतन और सुपार्श्वक ये सब हैं।

गुण—गजदण्डसहोरा-दुर्जर (कठिनता से हजम होने वाला), स्निग्ध (चिकना), कृमि, शुक्र तथा कफ को उत्पन्न करने वाला, फल में अम्ल, जड में मधुर, मज्जा (मींगी) में कषाय रसयुक्त एवं स्वादिष्ट होता है ॥ ४-५ ॥

३ गजदण्डसहोरा

हि०-पारिसपीपल, गजदण्ड, गजहुड, परास पीपल, पारस पीपर, गज हदुआ, गजदण्ड सिहारे (सहोरा)। **बं०**-गजशुण्डी, पलाश पिपुल, पराश पिपुल। **म०**-पिंपरी वृक्ष, पारस पिंपल, भेंड, परोसा पीपल। **गु०**-पारश पीपलो। **क०**-बगरली, बूरग, बूरगा। **ते०**-वेल माखी, गङ्गरय, गगरेय, घेन गाखी, गेग्राणी। **ता०**-पोरिस, पूव रशु, मरम। **फा०**-येला मवेल्य। **मु०**-भेंदि। **को०**-मणेर वृक्ष। **द्रा०**-पूव रस। **ले०**-*Thespasia populnea* (थेसपेसिया पोपुल्निया)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाया जाता है, विशेष कर बङ्गाल में अधिक पाया जाता है।

इसका **वृक्ष**-मध्यमाकार का सदा हरा-भरा और जल्दी बढने वाला होता है। **पत्ते**-पीपल के पत्तों के आकार वाले और पीपल से छोटे, नोकवाले होते हैं। **फूल**-घटाकार पाँच पखडी वाले गुलाबी रङ्ग के और हलके पीले रङ्ग के होते हैं और वे गुच्छों में लगते हैं। **फल**-गूलर के समान और समानता में एक सा होता है परन्तु दृढ होता है। इसके अन्दर ४ बीज एरण्ड के बीज की आकृति के परन्तु बहुत बडे होते हैं। हरे फलों को चीरने से बहुत सा स्वर्ण वर्ण पीला दूध निकलता है। फल सूखने पर हरापन छोड कर खाकी रङ्ग के होकर चिटक जाते हैं परन्तु अलग नहीं होते ॥ ३ ॥

अथ नन्दीवृक्षः (वेलिया पीपर)। तस्य नामगुणानाह

नन्दीवृक्षोऽश्वत्थभेदः प्ररोही गजपादपः । स्थालीवृक्षः क्षयतरुः क्षीरी च स्याद्वनस्पतिः ॥६॥
नन्दीवृक्षो लघुः स्वादुस्तिक्तस्तुवर उष्णकः । कटुपाकरसो ग्राही विषपित्तकफास्रजित् ॥७॥

वेलिया पीपर के संस्कृत नाम—नन्दीवृक्ष, अश्वत्थभेद, प्ररोही, गजपादप, स्थालीवृक्ष, क्षयतरु, क्षीरी और वनस्पति ये सब हैं। **गुण**-वेलिया पीपर स्वादिष्ट, तिक्त तथा कटुरस युक्त, पाक में कटु रस युक्त, लघु, ग्राही, उष्ण एवं विष, पित्त, कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है ॥ ६-७ ॥

४ वेलिया पीपल

हि०-वेलिया पीपल (र)। **बं०**-गया अस्वत्थ। **ते०**-बद्दिचेट्ट, वट्टिचेट्टु। **गु०**-वेलियो पीपलो। **क०, म०**-नन्दीवृक्ष।

वेलिया पीपल का वृक्ष वास्तव में कैसा होता है इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता अभीतक मेरे देखने में नहीं आया है। यह पीपल वृक्ष का भेद है। इसकी जड मोटी होती है और शाखाओं में अङ्कुर निकलते हैं ॥ ४ ॥

अथोदुम्बरः (गूलर)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

उदुम्बरो जन्तुफलो यज्ञाङ्गो हेमदुग्धकः ॥ ८ ॥
उदुम्बरो हिमो रूक्षो गुरुः पित्तकफास्रजित्। मधुरस्तुवरो वर्ण्यो व्रणशोधनरोपणः ॥ ९ ॥

गूलर के संस्कृत नाम—उदुम्बर, जन्तुफल, यज्ञाङ्ग और हेमदुग्धक ये सब हैं। **गुण**–गूलर–मधुर तथा कषाय रसयुक्त, शीतल, रूक्ष, गुरु, वर्ण को उत्तम करने वाला, व्रण का शोधन तथा रोपण (घाव को पूरा) करने वाला एवं पित्त, कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाला है ॥८-९॥

गूलर

हि०–गूलर, गुल्लर, गूलड । **बं०**–यज्ञ डुमुर । **म०**–उम्बर, उम्बराचे झाड़ । **उ०**–उदुम्बर । **गु०**–उम्बरो, ऊमरो । **क०**–अति । **अ०**–जमाज़ । **ते०**–अति चेट्टु, मेडिचेट्टु । **ता०**–अत्तिमरम, अट्टि । **फा०**–अञ्जीरे आदम, समर पिस्ता । **ने०**–डुमरी । **अं०**–Fig tree (फिग् ट्री) । **ले०**–*Ficus glomerata* (फीकस ग्लोमेराटा) ।

गूलर इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। पहाड़ी भूमि और पहाड़ों पर भी इसके वृक्ष पाये जाते हैं।

इसके **वृक्ष** ६० फीट तक ऊँचे होते हैं। **पत्ते**–५–७ इंच लम्बे अण्डाकार और चिकने चमकीले होते हैं। **फल**–शाखाओं में सटे हुए गुच्छों में लगते हैं। कच्चे फल हरे और पकने पर लाल हो जाते हैं। फलों के भीतर छोटे-छोटे कीड़े होते हैं। गूलर वृक्ष पर फूल नहीं आता ॥ ५ ॥

अथ काकोदुम्बरिका (कठूमर) । तस्या नामानि गुणांश्चाह

काकोदुम्बरिका फल्गुर्मलयूर्जघनेफला । मलयूः स्तम्भकृत्तिक्ता शीतला तुवरा जयेत् ।
कफपित्तव्रणश्वित्रकुष्ठपाण्डूवर्शकामलाः ॥ १० ॥

कठूमर के संस्कृत नाम—काकोदुम्बरिका, फल्गु, मलयू और जघनेफला ये सब हैं।

गुण–कठूमर तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, मलस्तम्भ करने वाला (मल को बाँधने वाला), शीतल एवं कफ, पित्त, व्रण, श्वेतकुष्ठ, पाण्डु, अर्श तथा कामला रोग को दूर करने वाला है ॥ १० ॥

६ कठूमर

हि०–कठूमर, कठूम्बर, कोठा डुमर, तट मिला, कट(ठ)गुलरिया, कठगूलर । **बं०**–काक डुमुर, डुमुर, काल डुमर । **म०**–कालाउम्बर, टेड उम्बरो । **क०**–काभति, काडत्ति । **ते०**–बह्म मेडिचेट्टु, काकिवाडिचेट्टु । **पं०**–फगवाडी । **मा०**–कठगूलर । **को०**–कोटङ्ग, सोसो केरा । **नेपाल०**–खरवा । **ता०**–पेअट्टिस । **फा०**–अञ्जीरे दस्ती । **अ०**–तीन बरीं, तीने बरीं । **ले०**–*Ficus-hispida* (फीकस–हीस्पीडा) ।

कठूमर भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है, विशेष कर पश्चिमोत्तर प्रान्त में पञ्जाब से मलाया और सिलोन तक अधिक देखने में आता है।

इसका **वृक्ष**–मध्यमाकार शीघ्र बढने वाला होता है। किन्तु कहीं कहीं पथरीली भूमि का वृक्ष बड़ा झाड सा दीख पडता है। इसकी कोमल टहनियों पर सूक्ष्म रोवें होते हैं। **पत्ते**–समवर्ती, लम्बे, किञ्चित् अण्डाकार, जड की ओर गोलाकार अनीदार और कगूरेदार होते हैं। आकार में वे एक समान नहीं होते बल्कि, छोटे-बडे हुआ करते हैं। वे साधारणतः ४ इञ्च तक चौडे तथा ९ इञ्च लम्बे होते हैं और **पत्रदण्ड**–१॥ इञ्च तक लम्बा होता है। नई शाखों के पत्ते १२ इञ्च तक लम्बे सूक्ष्म रोवेंदार होते हैं। स्पर्श में वे रुखड़े और खरदरे होते हैं। गूलर के समान इस पर फूल नहीं आते और फल भी गूलर के समान लगते हैं। इस कारण इसको 'उदुम्बरफल' तथा 'जङ्गल गूलर' कहते हैं। देखने में फलों का आकार—अञ्जीर के समान होता है इस कारण–जङ्गली अञ्जीर भी कहते हैं। फलों के ऊपर सूक्ष्म रोवें होते हैं ॥ ६ ॥

अथ प्लक्षः (पाखर) । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

प्लक्षो जटी पर्करी च पर्कटी च स्त्रियामपि ॥ ११ ॥
प्लक्षः कषायः शिशिरो व्रणयोनिगदापहः । दाहपित्तकफास्रघ्नः शोथहा रक्तपित्तहृत् ॥ १२ ॥

पाखर के संस्कृत नाम—प्लक्ष, जटी, पर्करी, पर्कटी (यह स्त्रीलिङ्ग भी होता है) ये सब हैं।

गुण—पाखर कषाय रसयुक्त, शीतल एवं व्रण, योनिसम्बन्धी रोग, दाह, पित्त, कफ, रक्त-विकार, शोथ तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला है ॥ ११-१२ ॥

७ पाकर

हि०–पाकर, पाखर, पिलखन, पकरिया, पकरी। **बं०**–पाकुड गाछ, पाकुर। **म०**–पिंपरी वृक्ष। **गु०**–पीपर्य, पीपर। **क०**–इसुरी, वसरीमारा, वसुरी, वसरी। **ते०**–मंगरच्य जुव्वि, गगरयजुव्वि। **ता०**–पोरिश रावि। **पं०**–पिलखन। **मा०**–पाकड। **द्रा०**–कल्ला लेमर। **ले०**–*Ficus infectoria* (फिकस इन्फेक्टोरिया)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है।

पाकर के वृक्ष, वड, पीपर के समान जङ्गल और ग्रामों में वडे वडे होते हैं। **पत्ते**–लम्वे लम्वे आम के पत्तों के समान पर इनसे चौडे होते हैं। इसकी शाखायें सघन और छाया उत्तम होती है। इन पर गूलर के समान फूल नहीं लगते। **फल**–पत्तों के डडियों पर छोटे-छोटे पीपर वृक्ष के फल के समान लगते हैं॥ ७॥

अथ शिरीषः (सिरस)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

शिरीषो भण्डिलो भण्डी भण्डीरश्च कपीतनः। शुकपुष्पः शुकतरुर्मृदुपुष्पः शुकप्रियः॥१३॥
शिरीषो मधुरोऽनुष्णस्तिक्तश्च तुवरो लघुः। दोषशोथविसर्पघ्नः कासव्रणविषापहः॥ १४॥

सिरस के संस्कृत नाम—शिरीष, भण्डिल, भण्डी, भण्डीर, कपीतन, शुकपुष्प, शुकतरु, मृदुपुष्प और शुकप्रिय, ये सब हैं। **गुण**–सिरस मधुर, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, किञ्चित् उष्ण, लघु एवं वातादि दोष, शोथ, विसर्प, कास (खांसी), व्रण तथा विष को दूर करने वाला है॥

८ सिरस

हि०–सिरस, सेरसा, सिरिस, शिरीष। **बं०**–शिरीषगाछ, चटका। **म०**–शिरसी, शिरषी, सिरसाचे झाड। **गु०**–सरसडियो, शरशडो। **क०**–शिरसु, शिरीष मारा, वागेमर। **ते०**–दिरसन, शिरीषमानु, दिरसेनमु। **ता०**–काटुङ्ग वालै। **प्रा०**–लसरीन, कल सिस। **मा०**–सिरस। **पं०**–सिरस। **द्रा०**–काड वाडई। **फा०**–जकरिया, दरख्ते जकरिया, दरख्त ग़ुजरिया। **अ०**–सुल्तानुल् असजार। **अं०**–Albizzia lebbeck (आल्बिज़िया लेबेक)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है।

सिरस के वृक्ष वडे वडे और सघन, वन और उपवन में तथा प्रायः सब प्रान्तों में होते हैं। इसके **पत्ते**–इमली के पत्तों के समान पर इनसे लम्वे, चौडे एक एक सींक पर दोनों ओर ९ जोड़े तक लगते हैं। चैत, वैशाख में फूलता-फलता है। इसके **फूल**–सुगन्धयुक्त सफेद किञ्चित् पीलाई लिये हरे छोटे-छोटे तन्तुओं से सुसज्जित अत्यन्त कोमल तथा मनोहर दीख पडते हैं। इसकी **फलियां**–सेम के समान ८ से १२ इञ्च लम्बी, २ इञ्च चौडी और पतली और हलके पीले रङ्ग की होती हैं। इनमें से भूरे रंग के छोटे छोटे दस-दस बीज निकलते हैं। वृक्ष से एक प्रकार का बबूर के गोंद के समान गोंद निकलता है जो पानी में डालने से गल जाता है॥ ८॥

अथ क्षीरिवृक्षपञ्चकं त्वक्पञ्चकञ्च। तयोर्लक्षणं तत्पत्रस्य च गुणांश्चाह

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थपारीषप्लक्षपादपाः। पञ्चैते क्षीरिणो वृक्षास्तेषां त्वक्पञ्चवल्कलम्॥१५॥

क्षीरिवृक्ष-पञ्चक तथा पञ्चवल्कल के हिन्दी नाम—वरगद, गूलर, पीपल, गजदण्डसहोरा, पाकर इन्हीं पाँचों क्षीरिवृक्षों के समुदाय को 'क्षीरिवृक्ष-पञ्चक' समझना चाहिये। इन्हीं पाँचों के वल्कल को 'पञ्चवल्कल' भी कहते हैं॥ १५॥

केचित्तु पारीषस्थाने शिरीषं, वेतसं परे वा वदन्तीति विशेषः॥ १५॥

यहाँ कोई पारीष (गजदण्डसहोरा) के स्थान में शिरीष (सिरस) तथा कोई वेतस (वेंत) का पाठ मानते हैं॥ १५॥

क्षीरिवृक्षा हिमा वर्ण्या योनिरोगव्रणापहाः। रूक्षाः कषाया मेदोघ्ना विसर्पामयनाशनाः॥
शोथपित्तकफास्रघ्नाः स्तन्या भग्नास्थियोजकाः। त्वक्पञ्चकं हिमं ग्राहि व्रणशोथविसर्पजित्॥
तेषां पत्रं हिमं ग्राहि कफवातास्रनुल्लघु। विष्टम्भाध्मानजित्तिक्तं कषायं लघु लेखनम्॥

क्षीरिवृक्षपञ्चक के गुण—क्षीरिवृक्ष पञ्चक (बरगद आदि पाँच) कषाय रसयुक्त, शीतल, वर्ण को उत्तम करने वाले, रूक्ष, दुग्धवर्धक, टूटी हुई हड्डियों के जोड़ने वाले एवं मेद, विसर्प, शोथ, पित्त, कफ तथा रक्तविकार के नाशक हैं। पञ्चवल्कल (उक्त क्षीरिवृक्षों के वल्कल) के **गुण**-पञ्चवल्कल शीतल, ग्राही एव व्रण, शोथ तथा विसर्पनाशक हैं।

क्षीरिवृक्षों के पत्रों के गुण—क्षीरिवृक्षपत्र तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, शीतल, ग्राही, लघु, किंचित् लेखन एवं कफ, वात, रक्तविकार, विष्टम्भ और आध्मान को दूर करने वाले होते हैं ॥

अथ शालः (साखू)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

शालस्तु सर्जकार्श्याश्वकर्णकाः शस्यशम्बरः। अश्वकर्णः कषायः स्याद् व्रणस्वेदकफक्रिमीन् ॥
ब्रध्नविद्रधिबाधिर्ययोनिकर्णगदान् हरेत् ॥ १९ ॥

साखू के संस्कृत नाम—शाल, सर्ज, कार्श्य, अश्वकर्णक और शस्यशम्बर ये सब हैं। **गुण**-साखू कषाय रसयुक्त एव व्रण, स्वेद, कफ, क्रिमि, ब्रध्न, विद्रधि, बहरापन, योनि तथा कर्णसम्बन्धी रोग को दूर करने वाला है ॥ १९ ॥

९ शाल

हि०-शाल, साल, साखु, सांखु, सखुआ। **बं०**-शालगाछ, लताशाल। **म०**-लघुरालेचा वृक्ष, रालचा वृक्ष, सजरा, शालवण, लघरालचा वृक्ष। **गु०**-सज्जरदामर, गलरालनुं नहानुं झाड। **ते०**-एपचेट्टु। **ता०**-कुङ्गलियम्। **क०**-सज्जर दामर, विलीमत्ते। **द्रा०**-कुंगिलियम्। **ले०**-*Shorea robusta* (सोरिया रोबस्टा)।

शाल के वृक्ष बहुत बड़े विशाल होते हैं। ये हिमालय पहाड़, सतलज नदी से आसाम तक, मध्य हिन्दुस्तान के पूर्वी भाग, बंगाल के पश्चिमी भाग और छोटा नागपुर के जङ्गलों में होते हैं। जिस प्रकार यह वृक्ष विशाल होता है उसी प्रकार इसके पत्ते भी बहुत बड़े-बड़े होते हैं। **फूल**-पीले रङ्ग झुमकों में बसन्त ऋतु में लगते हैं और **फल**-छोटे-छोटे होते हैं। इसकी लकड़ी बहुत मजबूत और बड़े काम की होती है। इसके गोंद को राल कहते हैं। फल वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में पक जाते हैं ॥ ९ ॥

अथ शालभेदः (सर्जकः)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

सर्जकोऽन्योऽजकर्णः स्याच्छालो मरिचपत्रकः ॥ २० ॥
अजकर्णः कटुस्तिक्तः कषायोष्णो व्यपोहति। कफपाण्डुश्रुतिगदान् मेहकुष्ठविषव्रणान् ॥२१॥

सर्ज (साखू के भेद) के संस्कृत नाम—सर्जक, अजकर्ण, शाल और मरिचपत्रक ये सब हैं। **गुण**—सर्ज कटु, तिक्त तथा कषायरसयुक्त, उष्ण एवं कफ, पाण्डु, कर्णसम्बन्धी रोग, प्रमेह, कुष्ठ, विष तथा व्रण को दूर करने वाला होता है ॥ २०-२१ ॥

११ सर्जक

हि०-बड़ा शाल, बडा साल। **बं०**-झाजी शाल। **म०**-सर्ज वृक्ष, थोर रालेचा वृक्ष। **गु०**-रालनु मोटुझाड, रालनु झाड। **क०**-सज्जर दमर। **ते०**-शालमु। **द्रा०**-वेळ्ळे कुन्नारेक। **पं०**-सर्जराल। **अं०**-(१) Indian-copal (इण्डियन कोपाल), (२) White-dammer (ह्वाइट डामर)। **ले०**-*Vateria indica* (वैटेरिया इण्डिका)।

यह पश्चिम प्रायद्वीप से ट्रावनकोर तक और दक्षिण हिन्दुस्तान के जंगलों में बहुत होता है। अफ्रिका में भी इसका वृक्ष बहुत पाया जाता है। इसका **वृक्ष**-धूप की जाति का माना जाता है और इसके **गोंद** को 'चन्द्रस' कहते हैं। इसका वृक्ष बहुत हरा-भरा और सुहावना दीख पड़ता है। **पत्ते**-४ से १० इञ्च तक लम्बे तथा ३॥ इञ्च तक चौड़े जड़ की ओर गोलाकार और अण्डाकार होते हैं। **फूल**-आध से पौन इञ्च के घेरे में गोलाकार होते हैं। **फल**-२-२॥ इञ्च लम्बे गोल होते हैं॥

अथ शल्लकी (सलई)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शल्लकी गजभक्ष्या च सुवहा सुरभी रसा। महेरुणा कुन्दुरुकी वल्लकी च बहुस्रवा ॥ २२ ॥
शल्लकी तुवरा शीता पित्तश्लेष्मातिसारजित्। रक्तपित्तव्रणहरी पुष्टिकृत्समुदीरिता ॥ २३ ॥

सलई के संस्कृत नाम—शल्लकी, गजमदया, सुवहा, सुरभि, रसा, महेरुणा, कुन्दुरुकी, वल्लकी और बहुस्रवा ये सब हैं। **गुण**-सलई कषाय रसयुक्त, शीतल, पुष्टिकारक एवं पित्त, कफ, अतिसार, रक्तपित्त तथा व्रण को दूर करने वाली कही हुई है ॥ २२-२३ ॥

११ सालई

हि०-सालई, सलई, शालई, सलग, सलैया, शलग। **बं०**-शलई, शाक विशेष, सल्लकी। **म०**-शालई, वृक्ष, धूप शलाई। **गु०**-शालेडु, धूपेडो, सालेडा। **क०**-तदीकु, आनेभ्याल। **ता०**-कुलि। **मा०**-सेलो। **ते०**-अन्दगु। **ले०**-*Boswellia serrata* (बोस्वेलिया सेर्रेटा)।

यह पश्चिम हिमालय के नीचे के जगलों में, मध्य भारत, बिहार से राजपूताना तक, दक्षिण और कोकण आदि प्रान्तों में होता है।

शाल का वृक्ष-३० फीट तक ऊँचा होता है। कोमल पत्ते और शाखायें रोवेंदार होती हैं। **पत्ते**-आमने-सामने वा कुछ अन्तर देकर ८ से १५ जोड़े और ८ से १५ इञ्च लम्बे नीम के पत्तों के समान और तिखूंटे पीले **फल** अथवा फल में तीन रेखायें होती हैं। इसी वृक्ष के गोंद को कुन्दरू कहते हैं ॥ ११ ॥

अथ शिंशपा (शीसम)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

शिंशपा पिच्छिला श्यामा कृष्णसारा च सा गुरुः। कपिला सैव मुनिभिर्भस्मगर्भेति कीर्त्तिता॥
शिंशपा कटुका तिक्ता कषाया शोषहारिणी। उष्णवीर्या हरेन्मेदःकुष्ठश्वित्रवमिक्रिमीन् ॥
वस्तिरुग्व्रणदाहास्रबलासान् गर्भपातिनी ॥ २५ ॥

शीसम के संस्कृत नाम—शिंशपा, पिच्छिला, श्यामा और कृष्णसारा ये सब हैं। यदि वही शीसम भारी एव कपिल (भूरा) रग का हो तो उसका संस्कृत नाम 'भस्मगर्भा' है।

गुण—शीसम कटु, तिक्त तथा कषायरसयुक्त, उष्णवीर्य, गर्भ गिराने वाला एव शोष, मेद, कुष्ठ, श्वेतकुष्ठ, वमन, क्रिमि, वस्तिसम्बन्धी रोग, व्रण, दाह, रक्तविकार और कफ का नाशक है॥

१२ शीसम

हि०-सीसम, कपीलवर्ण-शीसम, सीसो, शीशों, शीसव। **ब०**-शिशु गाछ, शादा शिशु गाछ, शिशु। **म०**-काला शिसवा, शिसवा। **गु०**-शिशम। **क०**-करीय इविडु, विडु, अगरू गिड। **ते०**-जिट्टरेगुचेट्टु, शिशुकर्र, इरुवुडु। **ता०**-जानुक् कुकुट्ट, पश के दर। **अ०**-सासम। **द्रा०**-शिंशपा। **मा०**-सीसम। **ले०**-*Dalbergia sissoo* (डाल्बेर्जिया सिस्सू)।

सीसो के वृक्ष प्रायः सब प्रान्तों में वन, उपवन तथा वाटिकाओं के किनारे लगाये जाते हैं। इसका वृक्ष बड़ा और विशाल हुआ करता है। इसकी **लकड़ी** मजबूत होती है। इसकी लकडी से बहुत सुन्दर बडी सन्दूक, पलग, प्रभृति अनेक वस्तुयें तैयार होती हैं। इसके **पत्ते**-गोल, नोकदार वेर के पत्तों के समान पर इनसे कुछ बडे तथा पाढ़ी के पत्तों के समान होते हैं। ये चिकने और ऊपर से चमकीले होते हैं। **फूल**-बहुत छोटे-छोटे गुच्छों में और **फली**-लम्बी, पतली और चिपटी होती है। **बीज**-छोटे-छोटे और चिपटे होते हैं, इसकी लकडी श्यामता और ललाई लिये भूरे रग की दृढ होती है ॥ १२ ॥

अथ ककुभः (कोह)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

ककुभोऽर्जुननामाख्यो नदीसर्जश्च कीर्त्तितः। इन्द्रद्रुर्वीरवृक्षश्च वीरश्च धवलः स्मृतः ॥ २६ ॥
ककुभः शीतलो हृद्यः क्षतक्षयविषास्रजित्। मेदोमेहव्रणान् हन्ति तुवरः कफपित्तहृत् ॥२७॥

कोह (अर्जुन) के संस्कृत नाम—ककुभ, अर्जुन के सज्ञावाचक सभी शब्द (जैसे-अर्जुन, गाण्डीवी, पार्थ, धनञ्जय, कर्णारि आदि), नदीसर्ज, इन्द्रद्रु, वीरवृक्ष, वीर और धवल ये सब हैं।

गुण-कोह कषाय रसयुक्त, शीतल, हृद्य (हृदय को हितकर) एवं क्षत, क्षय, विष, रक्तविकार, मेद, प्रमेह, व्रण (प्रमेहसम्बन्धी व्रण), कफ तथा पित्त का नाशक होता है ॥ २६-२७ ॥

१३ अर्जुन

हि०-अर्जुन, कहू, कोह, अंजन । **बं०**-अर्जुन गाछ । **म०**-अर्जुन, सारढोल । **गु०**-अर्जुन, धोलोंसाजड, साडडो, कडायो । **पं०**-कौ,कोह । **ते०**-यर्रमद्दि, मद्दिचेट्टु, वरेमड्डी । **क०**-तारमेति, तोरेमति, सारढोल, कम्पुमत्त । **ता०**-वेल्लमर्द, वेछई मरुदमरम । **लै०**-*Terminalia arjuna* (टर्मिनेलिया अर्जुना) ।

यह सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाया जाता है । पश्चिमोत्तर प्रान्त की पथरीली भूमि और दक्षिण में अधिक उत्पन्न होता है ।

इसका **वृक्ष**—६०-७० फीट तक ऊँचा होता है । **छाल**-चिकनी सफेदी मायल खाकी रङ्ग की होती है और उस पर हल्के बैंगनी रङ्ग की आभा दिखाई देती है । **पत्ते**-अमरूद के पत्तों के समान ३ से ६ इञ्च तक लम्बे छोटी-छोटी टहनियों पर कहीं समवर्ती और कहीं विषमवर्ती लगे रहते हैं । हलके पीले रङ्ग के नन्हें-नन्हें फूलों के धनहरे से आते हैं । **फल**-कमरख के समान ५-७ पहल वाले १-१॥ इञ्च लम्बे होते हैं ॥ १३ ॥

अथासनः (विजयसार) । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

बीजकः पीतसारश्च पीतशालक इत्यपि । बन्धूकपुष्पः प्रियकः सर्जकश्चासनः स्मृतः ॥ २८ ॥
बीजकः कुष्ठवीसर्पश्वित्रमेहगुदक्रिमीन् । हन्ति श्लेष्मास्रपित्तञ्च त्वच्यः केश्यो रसायनः ॥२९॥

विजयसार के संस्कृत नाम—बीजक, पीतसार, पीतशालक, बन्धूकपुष्प, प्रियक, सर्जक और असन ये सब हैं। **गुण**-विजयसार त्वचा के लिये हितकर, बालों को उत्तम बनाने वाला, रसायन एवं कुष्ठ, वीसर्प, श्वेतकुष्ठ, प्रमेह, गुदा के कृमि, रक्तविकार, पित्त या रक्तपित्त को दूर करने वाला है ॥ २८-२९ ॥

१४ विजैसार

हि०-विजयसार, विजेसार, विजैसार, असना । **बं०**-पियाशाल, पियाल । **म०**-बिवला । **गु०**-बीयो, हीरादखन, आसन । **ते०**-मद्दि, वेगि । **क०**-केपित्र होन्ने, होन्नेमर । **को०**-असाणा । **मु०**-अहन । **म०**-असाणा, बिवला । **मा०**-विजैसार । **फा०**-दमर कस । **अं०**-Indian kino tree (इण्डियन किनो ट्री) । **लै०**-*Pterocarpus marsupium* (टेरोकार्पस मार्सुपियम्) ।

यह मद्रास, मध्यभारत और राजमहल के पहाड़ियों पर उत्पन्न होता है ।

इसका **वृक्ष**-बहुत बडा किन्तु अचिरस्थायी होता है । **छाल**-तिहाई इञ्च मोटी, भूरे रङ्ग की खरदरी होती है । **पत्ते**-गोलाई लिये अण्डाकार होते हैं । **फूल**-चौथाई इञ्च के घेरे में किंचित् पीले या सफेद आते हैं । वैशाख-जेठ में यह फूलता-फलता है । **फलियाँ**-१॥-२ इञ्च लम्बी चिपटी होती हैं ॥ १६ ॥

अथ खदिरः । तस्य नामानि गुणांश्चाह

खदिरो रक्तसारश्च गायत्री दन्तधावनः । कण्टकी बालपत्रश्च बहुशल्यश्च यज्ञिय. ॥ ३० ॥
खदिरः शीतलो दन्त्यः कण्डूकासारुचिप्रणुत् ॥ ३१ ॥
तिक्तः कषायो मेदोघ्नः कृमिमेहज्वरव्रणान् । श्वित्रशोथामपित्तास्रपाण्डुकुष्ठकफान् हरेत् ॥

खैर के संस्कृत नाम—खदिर, रक्तसार, गायत्री, दन्तधावन, कण्टकी, बालपत्र, बहुशल्य और यज्ञिय ये सब हैं । **गुण**—खैर तिक्त तथा कषायरसयुक्त, शीतल, दाँतों के लिये हितकर एव खुजली, खाँसी, अरुचि, मेद, कृमि, प्रमेह, ज्वर, व्रण, श्वेतकुष्ठ, शोथ, आम, पित्त, रक्तविकार, पाण्डु, कुष्ठ तथा कफ को दूर करने वाला है ॥ ३०-३२ ॥

अथ श्वेतखदिरः (पपरिया कत्था) । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

खदिरः श्वेतसारोऽन्यः कदरः सोमवल्कलः । कदरो विशदो वर्ण्यो मुखरोगकफास्रजित् ॥३३॥

सफेद खैर के संस्कृत नाम—श्वेतखदिर, श्वेतसार, कदर और सोमवल्कल ये सब हैं ।

गुण-सफेद खैर विशद गुणयुक्त, वर्ण को उत्तम बनाने वाला एवं मुखरोग, कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाला है ॥ ३३ ॥

१५ खैर

हि०-खैर, खयर। **बं०**-खयेर गाछ, खदिर। **म०**-खैर। **गु०**-खेर, खेरियो, गैर। **क०**-कैंपिन खैर, कग्गलि मर। **ते०**-चंड चेट्टु, चड्ड्र। **पं०**-खैर। **द्रा०**-काशुकट्टि। **ता०**-वोदलइ, वोदलम। **आसाम०**-खोइर, कोइर। **ले०**-*Acasia catechu* (अकेसिया कैच्यु)।

१६ सफेद खैर

हि०-सफेद खैर, पपरिया खैर। **बं०**-श्वेत खदिर, पापरि खयरगाछ। **म०**-पांढरा खैर। **गु०**-गोरड, खेर धोला सार वालो। **क०**-बिलिय तर्जि, बिलियति। **ते०**-तेल चंड, ख्वाडु तेल चंड। **ले०**-*Mimosa catechu* (माइमोसा कैच्यू)।

यह हिमालय पहाड, पश्चिमोत्तर प्रदेश, गोंडा, अवध, छोटा नागपुर, बम्बई, अहमदाबाद, भरोंच आदि अनेक प्रांतों में पाया जाता है।

इसका **वृक्ष**-मध्यमाकार का, बबूर, शमी आदि की जाति का तथा इनके ही समान पत्ते वाला होता है। इस पर छोटे-छोटे कांटे होते हैं। टहनियों पर ११-१२ जोडे सीकें रहती हैं। उन पर शमी के पत्तों के समान ३० से ५० जोडे तक **पत्ते**-रहते हैं। वैशाख से आषाढ तक हलके पीले रङ्ग के फूल आते हैं। वसन्त ऋतु में फलियां लगती हैं और बहुत समय तक इसी पर लगी रहती हैं। ये **फलियां**-२ से ३॥ इञ्च तक लम्बी, पौन इञ्च तक चौडी पतली और चमकदार होती हैं॥

अथ रोहितकः (रोहेडा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

इरिमेदो विट्खदिरः कालस्कन्धोऽरिमेदकः। इरिमेदः कषायोष्णो मुखदन्तगदास्रजित्।
हन्ति कण्डूविषश्लेष्मकृमिकुष्ठविषव्रणान्॥ ३४॥

दुर्गन्ध खैर के संस्कृत नाम—इरमेद, विट्खदिर, कालस्कन्ध और अरिमेदक ये सब हैं।

गुण—दुर्गन्ध खैर कषाय रस युक्त, उष्ण, एव मुख तथा दाँतसम्बन्धी रोग, रक्तविकार, खुजली, विष, कफ, कृमि, कुष्ठ और विष-व्रण को दूर करने वाला है॥ ३४॥

१७ दुर्गन्ध खैर

हि०-दुर्गन्ध खैर, बबुरी, गन्धाबुल, विलायती कीकर, गूकीकर। **बं०**-गुये बाब्ला, विटखेर, विटखयेर, गुया बावला। **म०**-शेण्याखेर, गन्धियो हिम्बर, गन्धी हिम्बर, घाणेरा खैर। **गु०**-गन्धिलो खर, इरिमेद। **क०**-करर्यवेलु। **अं०**-Sponge tree (स्पञ ट्री)। **ले०**-*Acacia farnesiana* (अकेसिया फार्नेसियाना)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है।

इसका **वृक्ष** छोटा या झाड बडा कांटेदार होता है। **छाल**-हलके रंग की खरदरी होती है। कांटे चौथाई से आध इंच लम्बे सीधे होते हैं। **पत्ते**-बबूर के पत्तों के समान सीकों पर बारीक होते हैं। **फूल**-चमकीले पीले रंग के आते हैं और उनसे मीठी गन्ध आती है। **फलियां**-२-३ इञ्च लम्बी, आध इञ्च तक चौडी और चिपटी होती हैं॥ १७॥

अथ रोहीतकः (रोहेड़ा)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

रोहीतको रोहितको रोही दाडिमपुष्पकः। रोहीतकः प्लीहघाती रुच्यो रक्तप्रसादनः॥३५॥

रोहेडा के संस्कृत नाम—रोहीतक, रोहितक, रोही तथा दाडिमपुष्पक ये सब हैं।

गुण—रोहेडा रुचिकर, रक्त को साफ करने वाला एव प्लीहा को नष्ट करने वाला है॥ ३५॥

१८ रोहेडा

हि०-रोहेडा, रोहिडा, रोहेडा। **बं०**-रोढा, रयना, रोडा, नयना, कडार। **म०**-रक्त रोहिडा, रगत रोहिडा। **गु०**-रगत रोहिडो, मुत्तलु, रोहिडो। **क०**-यरडु मलु। **ते०**-मुलुमोदुग चेट्टु, मुलुमोट्टुग चेट्टु। **प्रा०**-रहेरा। **प०**-रुहेडा। **मा०**-रोहिडा। **ले०**-*Tecoma-undulata* (टेकोमा अण्ड्यूलेटा), Amoora-rohituka (अमूरा रोहितका)।

यह सिन्ध, पञ्जाव, गुजरात और राजपूताना से पूरव की ओर यमुना तक पाया जाता है।

इसका **वृक्ष**-झाडदार मध्यमाकार का होता है और बारहो मास हरा भरा रहता है। **छाल**-चौथाई इञ्च मोटी फीके लाल रंग की हलकी होती है। **पत्ते**-६ इंच लम्बे अण्डाकार होते हैं। **फूल**-अनार के फूल के समान अत्यन्त लाल या नारङ्गी रंग के आते हैं। **फलियाँ**-६-७ इंच लम्बी, तिहाई इञ्च चौडी और पतली होती हैं। लाल और सफेद फूलों के भेद से रोहिडा दो प्रकार का होता है। सफेद फूल वाले रोहिडा को लेटिन में (अमूरा रोहितका) कहते हैं॥ १८॥

अथ बब्बूलः (बबूर)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

बब्बूलः किङ्किरातः स्यात्किङ्किराटः सपीतकः॥ ३६॥
स एव कथितस्तज्ज्ञैराभा षट्पदमोदिनी। बब्बूलः कफनुद् ग्राही कुष्ठक्रिमिविषापहः॥३७॥

बबूल के संस्कृत नाम—बब्बूल, किङ्किरात, किङ्किराट, सपीतक तथा आभा, षट्पदमोदिनी ये सब द्रव्य-गुण के जानने वालों ने बतलाये हैं।

गुण—बबूर ग्राही एवं कफ, कुष्ठ, क्रिमि तथा विष का नाशक है॥ ३६-३७॥

१९ बबूल

हि०-बबूर, बबूल, कीकर, झरकट। **बं०**-बाबूलगाछ, बाबला। **म०**-बाभूल, बाभल, बाबूल। **गु०**-बावल। **क०**-पुलई, गोब्बलि। **ते०**-नलवनडु, नल्लतुम्म, बलबतुडु, तुम्मचेट्टु। **ता०**-बेलमरम्। **उ०**-गुइड़ा। **मु०**-रोमकड़ि। **रा०**-बम्बल। **द०**-कालि कीकर। **यू०**-बम्बूल। **फा०**-मुगिला। **अ०**-अमुगिलां, अम्मगिला, उम्मुगिलां। **पं०**-किक्कर। **मा०**-बम्बल, बूल्यो। **द्रा०**-बेलम्मर। **ले०**-*Acasia arabica* (अकेसिया अरेबिका)।

बबूर के वृक्ष-जङ्गलों में और जलाशय के किनारे अधिकता से उत्पन्न होते हैं। **पत्ते**-बहुत छोटे छोटे आमले के पत्तों के समान, **फूल**-पीले रङ्ग के गोल, वर्षा में फूलते हैं। इमली के समान टेढ़ी और पतली **फलियां** लगती हैं। समस्त वृक्ष पर सूई के समान महार्तादग दो-दो कांटे एकत्र खडे रहते हैं। स्वाद में यह कडवा और कसैला होता है। इस वृक्ष की अनेक जातियाँ हैं। इनमें एक छोटे कांटे का और दूसरा बड़े कांटे का प्रसिद्ध है॥ १९॥

अथारिष्टकः (रीठा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

अरिष्टकस्तु मङ्गल्यः कृष्णवर्णोऽर्थसाधनः। रक्तबीजः पीतफेनः फेनिलो गर्भपातनः॥
अरिष्टकस्त्रिदोषघ्नो ग्रहजिद् गर्भपातनः॥ ३८॥

रीठा के संस्कृत नाम—अरिष्टक, मङ्गल्य, कृष्णवर्ण, अर्थसाधन, रक्तबीज, पीतफेन, फेनिल और गर्भपातन ये सब हैं।

गुण-रीठा त्रिदोषनाशक, ग्रहबाधा को दूर करने वाला एवं गर्भ को गिराने वाला है॥ ३८॥

२० रीठा

हि०-रीठा। **बं०**-रीठेगाछ, रीठे करञ्ज। **म०**-रीठा, रिठा, अरिठो। **गु०**-अरीठा। **ते०**-कुकडि, कुकड, कुकुडु, कयलु, रीठा करञ्ज मने चेट्टु। **को०**-रिंगी। **फा०**-फिंदक हिन्दी। **क०**-कुकुटे कायि। **प०**-रेठा। **ता०**-पोन्नान कोट्टइ। **मु०**-रिथा। **अ०**-बुन्दक हिन्दी। **अं०**-Soap nut tree (सोप नट ट्री)। **ले०**-*Sapindus trifoliatus* (सैपिण्डस ट्रिफोलियेटस)।

इसका वृक्ष दक्षिण भारत के ग्रामों में तथा सिलोन, बम्बई, बरोदा, बङ्गाल आदि प्रान्तों में पाया जाता है। इसका **वृक्ष** बडा होता है। **छाल**-चमकीली भूरे रङ्ग की होती है। **पत्ते**-एक-एक डण्डी पर २-३ जोडे, ३ से ७ इञ्च तक लम्बे होते हैं। **फूल**-मञ्जरियों में सफेद या किञ्चित् हरापन युक्त सफेद होते हैं। **फल**-गुच्छेदार लगते हैं। ये कालापन लिये भूरे रङ्ग के, ऊपर का **भाग**-ऊँचा नीचा, **आकार**-छोटा बडा कई प्रकार का, गूदे में चपचपाहट और पानी में मिलने से फेन उठता है। इसके **बीज**-काले रङ्ग के गोल होते हैं॥ २०॥

अथ पुत्रजीवः (पितौंजिया)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पुत्रजीवो गर्भकरो यष्टीपुष्पोऽर्थसाधकः ॥ ३९ ॥
पुत्रजीवो गुरुर्वृष्यो गर्भदः श्लेष्मवातहृत्। सृष्टमूत्रमलो रूक्षो हिमः स्वादुः पटुः कटुः॥४०॥

पितौंजिया के संस्कृतनाम—पुत्रजीव, गर्भकर, यष्टीपुष्प और अर्थसाधक ये सब हैं।

गुण—पितौंजिया स्वादिष्ट, कटु तथा लवण रस युक्त, गुरु, वृष्य (वीर्यवर्धक), गर्भदायक, मूत्र तथा मल की प्रवृत्ति कराने वाला, रूक्ष तथा शीतल है एवं कफ तथा वात को नष्ट करने वाला है ॥ ३९-४० ॥

२१ पितौंजिया

हि०-जियापोता, पितौंजिया, पतिजिया, पतजू, पितवझिया, पतजिया, हिनाजिय। बं०-जिया पुन्ता, पुतजिया। म०-पुत्रजीवक वृक्ष, जीवनपुत्र, जीवन पुतर। गु०-पुत्रजीवक। क०-पुत्रजीव। ते०-शीश, कुँवर जुवि, कुत्र जुवि, कव्र जुवि। प्रा०-जिता पुटज। ले०-*Putranjiva roxburghii* (पुत्रञ्जीव रौक्सबरघाई)।

पितौंजिया—इस देश के गरम प्रान्तों में कुमाऊ से पूरब तथा पेगू और सिलोन में पाया जाता है। यह वन-उपवन में उत्पन्न होता है और किसी किसी बागों में भी उत्पन्न किया जाता है। इसका **वृक्ष**-मध्यमाकार का होता है और बारहो मास हरा भरा सुहावना दीख पड़ता है। **छाल**-कालापन युक्त खाकी रङ्ग की होती है। **पत्ते**-अशोक भेद के आकार वाले २-३ इञ्च लम्बे वर्छीनुमे और चमकीले होते हैं। **फूल**-छोटे-छोटे गुच्छों में आते हैं और **फल**-झर बेर के आकार के और नुकीले होते हैं। **बीज**-झरबेरी के समान काष्ठवत् हैं। उनकी माला बनाकर पहनते हैं ॥ २१ ॥

अथेङ्गुदः (हिङ्गोट)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

इङ्गुदोऽङ्गारवृक्षश्च तिक्तकस्तापसद्रुमः। इङ्गुदः कुष्ठभूतादिग्रहव्रणविषक्रिमीन् ॥
हन्त्युष्णः श्वित्रशूलघ्नस्तिक्तकः कटुपाकवान् ॥ ४१ ॥

हिङ्गोट के संस्कृत नाम—इङ्गुद, अङ्गारवृक्ष, तिक्तक और तापसद्रुम ये सब हैं।

गुण—हिङ्गोट तिक्तरसयुक्त, विपाक में कटुरसयुक्त, उष्ण एवं कुष्ठ, भूतादि-ग्रहबाधा, व्रण, विष, क्रिमि, श्वेतकुष्ठ तथा शूल का नाशक है ॥ ४१ ॥

२२ हिंगोट

हि०-हिंगोट, गोंदी, गौंदी, इगुन, इगुदी। ब०-हिंगोट, इगुदी। म०-हिंगण बेट, हिंगणी। गु०-इङ्गोरीओ, हिंगर। क०-इङ्गलगिद। ते०-गाड चेट्टु, गरा, गारी। प०-इङ्गोट। द०-हिंगन बेट। ता०-ननजुन्द। अ०-हिमेलजे। अ०-Dalil (डैलिल)। ले०-*Balanites roxburghii* (वेलेनाईटीस रौक्सबरघाई)।

यह कानपुर, सिकम, बिहार, गुजरात, खानदेश, दक्षिण, मध्यप्रदेश, राजपूताना आदि अनेक प्रान्तों के वन-उपवन में उत्पन्न होता है तथा वाटिकाओं में भी रोपण किया जाता है।

इसका **वृक्ष**-झाड के समान छोटा ३० फीट तक ऊँचा होता है। वृक्ष पर शाखाएँ कम रहती हैं और वे बुरी दशा में दीख पड़ती हैं। इसका अन्त का भाग काँटों के समान नोकीला होता है और शाखाओं पर सीधे तीक्ष्ण काँटे होते हैं। **पत्ते**-प्रायः एक साथ दो रहते हैं और वे लम्बाई-युक्त अण्डाकार होते हैं। वसन्त ऋतु में नीम के फूल के समान किञ्चित उनसे लम्बे फूलों के गुच्छे लगते हैं और उनसे सुगन्धि आती है। **फल**-२-२॥ इञ्च के घेरे में लम्बाई युक्त गोल होता है। गुठली के चारो ओर गिरी लिपटी हुई रहती है ॥ २२ ॥

अथ जिङ्गिनी। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

जिङ्गिनी झिङ्गिनी झिङ्गी सुनिर्यासा प्रमोदिनी ॥ ४२ ॥
जिङ्गिनी मधुरा सोष्णा कषाया योनिशोधिनी। कटुका व्रणहृद्रोगवातातीसारहृत् पटुः ॥४३॥

जिङ्गिनी के संस्कृत नाम—जिङ्गिनी, झिङ्गिनी, झिङ्गी, सुनिर्यासा तथा प्रमोदिनी ये सब हैं।
गुण—जिङ्गिनी, मधुर, कटु, कषाय तथा लवण रसयुक्त, उष्ण, योनिशोधक एवं व्रण, हृद्रोग, वात तथा अतीसार को दूर करने वाली है ॥ ४२-४३ ॥

२३ जिंगिनी

हि०-जिंगिनी, जीयाल, जीअल । **म०**-मोई मोक । **गु०**-जिंगिनी, मवेडी, मोलेडु, मवडी । **क०**-ओगीथ, मरम । **बं०**-दुऊदुली । **पं०**-काली सिम्बल । **ते०**-गिलो गिरिना । **मा०**-जिंगणी । **लै०**-*Odina wodier* (ओडिना वोडियर) ।

यह इस देश के प्रायः गरम प्रान्तों में अधिक पाया जाता है। इसका **वृक्ष**-मध्यमाकार का होता है और वह अधिक दिन तक नहीं ठहरता। इसके स्तम्भ से एक प्रकार का गोंद निकलता है। **पत्ते**-अम्बाडा के पत्तों के समान ३-४ जोडे और एक अन्त में रहता है। वे अण्डाकार अनीदार और बर्छीनुमे होते हैं। **फूल**-मञ्जरियों में किंचित् लाली लिये पीले रङ्ग के आते हैं। **फल**-चिकने आध इञ्च तक गोल और किञ्चित् चिपटे होते हैं ॥ २३ ॥

अथ तमालः । तस्य नामानि गुणांश्चाह

तमाल उक्तस्तापिच्छः कालस्कन्धोऽमितद्रुमः। लोकस्कन्धो नीलध्वजो नीलतालश्च स स्मृतः॥
तमालः शालवद्वेद्यो दाहविस्फोटहृत् पुनः ॥ ४४ ॥

तमाल के संस्कृत नाम—तमाल, तापिच्छ, कालस्कन्ध, अमितद्रुम, कालस्कन्ध, नीलध्वज और नीलताल ये सब हैं। **गुण**-तमाल गुणों में साखू को भाँति समझना चाहिये, किन्तु विशेषतः यह दाह तथा विस्फोट का नाशक है ॥ ४४ ॥

२४ तमाल

हि०-तमाल, श्याम तमाल, पर्मेंदु । **ब०**-तमाल गाछ । **ते०**-तमालु, कानुगचेट्टु । **म०**-तमाल वृक्ष । **गु०**-तमाल । **द्रा०**-पुङ्ग मरम । **क०**-होंगे मरा । **लै०**-*Garcinia morilla* (गर्सिनिया मोरिल्ला) ।

तमाल—पूर्वी बङ्गाल के जङ्गलों में और खासिया पहाड, पश्चिम प्रायद्वीप, मालाबार और कनर आदि के जङ्गलों में पाया जाता है। इसका **वृक्ष** छोटा होता है और **शाखायें** खूब फैली हुई होती हैं। **पत्ते**-३-४ इञ्च लम्बे चौडे और बर्छीनुमे होते हैं। **फूल**-हरापन युक्त सफेद रङ्ग के आते हैं और **फल**-छोटे-छोटे गोलाकार होते हैं। **बीज**-गुर्दाकार दीख पडते हैं ॥ २४ ॥

अथ तूणी । तस्या नामगुणानाह

तूणी तुन्नक आपीनस्तुणिकः कच्छकस्तथा। कुठेरकः कान्तलको नन्दिवृक्षश्च नन्दकः॥
तूणी रक्तः कटुः पाके कषायो मधुरो लघुः। तिक्तो ग्राही हिमो वृष्यो व्रणकुष्ठास्रपित्तजित् ॥

तुन के संस्कृत नाम—तूणी, तुन्नक, आपीन, तुणिक, कच्छक, कुठेरक, कान्तलक, नन्दिवृक्ष और नन्दक ये सब हैं। **गुण**-तुन कषाय, मधुर तथा तिक्त रसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, रक्तवर्ण, लघु, ग्राही, शीतल, वृष्य (वीर्यवर्धक) एवं व्रण, कुष्ठ, रक्तविकार और पित्त या रक्तपित्त का नाशक है ॥ ४५-४६ ॥

२५ तून

हि०-तुन, तून, तूनी, महानिम । **बं०**-तुन्दगाछ, तूनगाछ । **म०**-तूनी, नांदुरखी, नांदरूख । **गु०**-तूणी । **कों०**-नादरूख । **पं०**-द्रवी, तुण । **गु०, म०**-नन्दीवृक्ष । **मा०**-तूण । **उ०**-महालिम्बु । **ते०**-नन्दि वृक्षमु । **क०**-नन्दपट्टे । **अं०**-The toon (दि टून) । **लै०**-*Indian mahogany tree* (इण्डियन मैहोगनी ट्री) ।

यह सिन्ध से पूर्व की ओर और मध्य तथा दक्षिण भारत के जङ्गलों में पाया जाता है।
इसका **वृक्ष**-बडा होता है। **लकडी**-ईंट के समान लाल, कोमल, चमकीली और सुगन्धित होती है। लम्बी लम्बी सींकों के दोनों ओर अडाकार, अनीदार और नुकीले **पत्ते** रहते हैं। **फल**-

लाल रङ्ग के आते हैं और उनसे शहद की गन्ध आती है। **फल**-लम्बाई युक्त गोल होते हैं और **बीज**-भूरापन युक्त लाल होते हैं ॥ २५ ॥

अथ भूर्जपत्रः (भोजपत्र) । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

भूर्जपत्रः स्मृतो भूर्जश्चर्मी वहुलवल्कलः । भूर्जो भूतग्रहश्लेष्मकर्णरुक्पित्तरक्तजित् ॥ ४७ ॥
कषायो राक्षसघ्नश्च मेदोविषहरः परः ॥ ४८ ॥

भोजपत्र के संस्कृत नाम—भूर्जपत्र, भूर्ज, चर्मी तथा वहुलवल्कल ये सब हैं। **गुण**-भोजपत्र कषाय रसयुक्त एवं भूतग्रहबाधा, कफ तथा कर्णसम्बन्धी रोग, पित्त, रक्तविकार तथा राक्षसबाधा का नाशक है। विशेषतः यह मेद तथा विष को दूर करने वाला है ॥ ४७-४८ ॥

२६ भोजपत्र

हि०-भोजपत्र, भूजपत्र, भोजपत्तर । **बं०**-भूर्जिपत्र, भूर्जिपत्र । **म०**-भूर्जपत्र । **पं०, गु०, म०**-भोजपत्र । **ते०**-भोजपत्रमु । **क०**-भुजपत्र । **द्रा०**-भुजपत्र । **ने०**-फटक । **अं०**-The Birch (दि बर्च) । **ले०**-*Betula utilis* (वेटुला यूटिलिस) ।

यह गरम हिमालय में काश्मीर से सिक्कम और भूटान तक उत्पन्न होता है। इसको कहीं कहीं वाटिकाओं में भी लगाते हैं।

इसका **वृक्ष**-४०-५० फीट तक ऊँचा होता है। **छाल**-चिकनी, चमकीली, सफेद या किञ्चित् लालीयुक्त सफेद, लम्बे धब्बेदार, पर्त के पर्त कागज के समान एक साथ सटी रहती है और आसानी से पृथक् पृथक् हो जाती है। **पत्ते**-बाँस के पत्ते के आकार वाले किन्तु उनसे छोटे-छोटे, ३ इञ्च तक लम्बे होते हैं। **फूल**-बारीक मञ्जरियों में आते हैं और **फल**-काष्ठवत् गोल होते हैं। वृक्ष की छाल को ही भोजपत्र कहते हैं वाटिकाओं में उत्पन्न हुए वृक्ष से उत्तम भोजपत्र नहीं प्राप्त हो सकता है ॥ २६ ॥

अथ पलाशः (ढाक) । तस्य नामानि गुणांश्चाह

पलाशः किंशुकः पर्णो यज्ञियो रक्तपुष्पकः । क्षारश्रेष्ठो वातपोथो ब्रह्मवृक्षः समिद्वरः ॥४९॥
पलाशो दीपनो वृष्यः सरोष्णो व्रणगुल्मजित् । भग्नसन्धानकृद् दोषग्रहण्यर्शःक्रिमीन् हरेत्॥
कषायः कटुकस्तिक्तः स्निग्धो गुदजरोगजित् ॥ ५० ॥

ढाक के संस्कृत नाम—पलाश, किंशुक, पर्ण, यज्ञिय, रक्तपुष्पक, क्षारश्रेष्ठ, वातपोथ, ब्रह्मवृक्ष तथा समिद्वर ये सब हैं। **गुण**-ढाक कषाय, कटु तथा तिक्त रस युक्त, अग्निदीपक, वृष्य (वीर्यवर्धक), सारक, उष्ण, टूटी अस्थियों को जोड़ने वाला, स्निग्ध एवं व्रण, गुल्म, वातादिक दोष, ग्रहणी, अर्श (बवासीर), क्रिमि तथा गुदा में उत्पन्न होने वाले रोगों को दूर करता है ॥४९-५०॥

अथ तत्पुष्पफलयोर्गुणानाह

तत्पुष्पं स्वादु पाके तु कटु तिक्तं कषायकम् ॥ ५१ ॥
वातलं कफपित्तास्रकृच्छ्रजिद् ग्राहि शीतलम् । तृड्दाहशमकं वातरक्तकुष्ठहरं परम् ॥५२॥
फलं लघूष्णं मेहार्शःक्रिमिवातकफापहम् । विपाके कटुकं रूक्षं कुष्ठगुल्मोदरप्रणुत् ॥ ५३ ॥

ढाक के फूलों के गुण—ढाक के फूल स्वादिष्ट, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, विपाक में कटु रस युक्त, वातजनक, कफ-पित्त, रक्तविकार तथा मूत्रकृच्छ्रनाशक, ग्राही, शीतल, तृषा और दाह को शमन करने वाले एवं वातरक्त तथा कुष्ठ को अत्यन्त दूर करने वाले होते हैं। **ढाक के फलों के गुण**-ढाक के फल लघु, उष्ण, विपाक में कटु रसयुक्त, रूक्ष एवं प्रमेह, अर्श, क्रमि, वात, कफ, कुष्ठ, गुल्म तथा उदररोग के नाशक हैं ॥ ५१-५३ ॥

२७ ढाक

हि०-ढाक, पलाश, परास, टेसू, केसू, धारा, कांकरिया, छिउल । **बं०**-पलाश, गाछ । **म०**-पल्हश । **गु०**-खाखरो । **सु०**-खाखरो । **क०**-मुत्तलु, मदुगदगिड । **ते०**-मातुका चेट्टु, मोदुगु । **ता०**-परशना । **उ०**-पराशु । **मा०**-छिवरो । **द्रा०**-पेलाश । **पं०**-पलाश । **फा०**-फलह् ।

अं०-The forest fame (दि फारेस्ट फेम)। ले०-*Butea frondosa* (बुटिया फ्रान्डोसा)।

यह प्रायः सब प्रान्तों के वन-उपवनों में पाया जाता है और इसको वाटिकाओं में भी रोपण करते हैं।

इसका **वृक्ष**-मध्यमाकार होता है। **पत्ते**-गोल-गोल एक एक डंडी पर तीन-तीन लगते हैं और वे कुछ बड़े-बड़े होते हैं। **डण्डी** की ओर का हिस्सा कुछ पतला होता है और उसके नीचे का भाग कुछ चिकना तथा ऊपर का भाग रोवेंदार होता है। **पत्तों** का पत्तल बनाया जाता है। वसन्त ऋतु में इसके सब पत्ते गिर जाते हैं और उसी समय इस पर फूल आते हैं। किंचित् पीलापनयुक्त लाल-लाल **फूल** बहुत सुहावने दीख पड़ते हैं। **फलियाँ**-सेम के समान चिपटी, पतली और लम्बी-लम्बी होती हैं। **बीज**-गोल तथा चिपटे होते हैं॥ २७॥

अथ शाल्मलिः (सेमर)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

शाल्मलिस्तु भवेन्मोचा पिच्छिला पूरणीति च। रक्तपुष्पा स्थिरायुश्च कण्टकाढ्या च तूलिनी॥
शाल्मली शीतला स्वाद्वी रसे पाके रसायनी। श्लेष्मला पित्तवातास्रहारिणी रक्तपित्तजित्॥

सेमर के संस्कृत नाम—शाल्मलि, मोचा, पिच्छिला, पूरणी, रक्तपुष्पा, स्थिरायु, कण्टकाढ्या तथा तूलिनी ये सब हैं। **गुण**-सेमर रस तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, शीतल, रसायन, कफजनक एवं पित्त, वात, रक्तविकार या वातरक्त तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है॥

२८ सेमर

हि०-सेमर, सेम्हल, सेमल, शेम्बल। बं०-शिमुल गाछ, रक्ती सिमुल। म०-काँटे साँवर, शेमला, शेवरी, साँवरी। गु०-शेमला, शिमुल। ते०-रुगचेट्टु, मुन्दल बुराग चेट्टु। ता०-पुला, शानमली। मा०-शेमल, सरमलो। क०-यवल बदमर। द्रा०-यल वगरम्। पं०-सिम्बल। अं०-Silk cotton tree (सिल्क काटन ट्री)। ले०-*Bombax malabaricum.* (बौमबैक्स मालाबारिकम)।

सेमर—इस देश के प्रायः सब प्रान्तों के वन, उपवन और वाटिकाओं में उत्पन्न होता है।

इसके **वृक्ष** बहुत विशाल और मोटे हुआ करते हैं। **डालियों** पर छोटे छोटे नुकीले काँटे होते हैं। सतिवन के पत्तों के समान इसके **पत्ते** एक-एक डण्डो के अन्त में ५-७ चौगिर्द होते हैं। **फूल**-लाल और **पुष्पदल**-मोटा लुआबदार २-३ इंच तक लम्बा होता है। **फल**-५-६ इंच लम्बे, गोलाकार काष्ठवत् होते हैं और उनके भीतर रूई होती है॥ २८॥

अथ मोचरसः। तस्य नामानि गुणांश्चाह

निर्यासः शाल्मलेः पिच्छा शाल्मलीवेष्टकोऽपि च। मोचास्रावो मोचरसो मोचनिर्यास इत्यपि॥
मोचास्रावो हिमो ग्राही स्निग्धो वृष्यः कषायकः। प्रवाहिकाऽतिसारामकफपित्तास्रदाहनुत्॥

मोचरस के संस्कृत नाम—शाल्मलिनिर्यास, पिच्छा, शाल्मलीवेष्टक, मोचास्राव, मोचरस और मोचनिर्यास ये सब हैं।

गुण—मोचरस कषाय रसयुक्त, शीतल, ग्राही, स्निग्ध, वृष्य (वीर्यवर्धक) एवं प्रवाहिका, अतिसार, आम, कफ, पित्त, रक्तविकार तथा दाह को दूर करने वाला होता है॥ ५६-५७॥

२९ मोचरस

हि०-मोचरस, सेमर का गोंद। बं०-मोचरस, शिमुलेर आटा। म०-सावरी चा डीक। गु०-शेमलानो गुन्द। क०-बूलर अट्टम्याण। ते०-बूरगुवग। क०-यलवदह गिनुं। द्रा०-यलव-पशिन। अं०-Gum of silk cotton tree (गम आफ् सिल्क काटन ट्री)।

सेमर **वृक्ष** के गोंद को 'मोचरस' कहते हैं। यह सेमर वृक्ष के स्तम्भ से निकलता है और कालापन मिश्रित लाल रङ्ग का होता है। इसका **स्वाद** लसीला और फीका होता है॥ २९॥

अथ कूटशाल्मलिः (काला सेमर)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कुत्सितः शाल्मलिः प्रोक्तो रोचनः कूटशाल्मलिः। कूटशाल्मलिकस्तिक्तः कटुकः कफवातनुत्॥ भेद्युष्णः प्लीहजठरयकृद्गुल्मविषापहः। भूतानाहविबन्धास्रमेदःशूलकफापहः॥ ५८-५९॥

काला सेमर के संस्कृत नाम—कुत्सित-शाल्मलि, रोचन, कूटशाल्मलि और कूटशाल्मलिक ये सब हैं। **गुण**-काला सेमर तिक्त तथा कटु रसयुक्त, मल का भेदन करने वाला, उष्ण एवं प्लीहा, उदररोग, यकृत्, गुल्म, विष, भूतबाधा, आनाह (अफरा), मलबन्ध, रक्तविकार, मेद, शूल तथा कफ का नाशक है॥ ५८-५९॥

३० कूटशाल्मलि (काला सेमर)

हि०-कालासेमल, कूटसेमर, रोहिड़ा। बं०-रक्तरोहितक। म०-रक्तरोहिरा, काली साम्वरी। गु०-रगत रोहिरा। क०-मुछ मुत्तल।

इसके **वृक्ष** जङ्गलों में बहुत पाये जाते हैं। इसका **फूल**-काले रङ्ग का होता है। परन्तु कोई कोई काला सेमर और लाल रोहीरा एक ही वृक्ष का नाम मानते हैं।

एक प्रकार का और सेमर का वृक्ष होता है जिसका **फूल**-सफेद होता है और **फल**-सेमर से छोटे होते हैं॥ ३०॥

अथ धवः (धौं) तस्य नामानि गुणांश्चाह

धवो धटो नन्दितरुः स्थिरो गौरो धुरन्धरः। धवः शीतः प्रमेहार्शःपाण्डुपित्तकफापहः॥ मधुरस्तुवरस्तस्य फलञ्च मधुरं मनाक्॥ ६०॥

धौं के संस्कृत नाम—धव, धट, नन्दितरु, स्थिर, गौर तथा धुरन्धर ये सब हैं।

गुण—धौं मधुर तथा कषाय रसयुक्त, शीतल एवं प्रमेह, अर्श, पाण्डु, पित्त तथा कफनाशक है।

धौं के फल का गुण—धौं का फल थोड़ा मधुर रसयुक्त होता है॥ ६०॥

३१ धौं

हि०-धाय, धौं, धव, धों, धववृक्ष। बं०-धाउया गाछ। म०-धावड़ा, धामोडा। गु०-धावडो। क०-सिरि वरु। ते०-नारिश्च चेट्टु। प०-धौं, कहुवा। मा०-धोकडो। ले०-*Anogeissus latifolia* (एनोजिस्सस लैटिफोलिया)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाया जाता है। इसका **वृक्ष** बहुत बडा होता है किन्तु अधिकतर वृक्ष छोटे-छोटे देखने में आते हैं। **पत्ते**-चौडे १॥ से ३॥ इञ्च तक लम्बे और गोलाकार होते हैं। **फूल**-तिहाई इञ्च के घेरे में अनेक दल वाले होते हैं। **फल**-गोल और चिकने होते हैं॥

अथ धन्वङ्गः (धामिन)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

धन्वङ्गस्तु धनुर्वृक्षो गोत्रवृक्षः सुतेजनः॥ ६१॥ धन्वङ्गः कफपित्तास्रकासहृत्तुवरो लघुः। बृंहणो बलकृद्रूक्षः सन्धिकृद् व्रणरोपणः॥ ६२॥

धामिन के संस्कृत नाम—धन्वङ्ग, धनुर्वृक्ष, गोत्रवृक्ष तथा सुतेजन ये सब हैं।

गुण-धामिन कषाय रसयुक्त, लघु, बृंहण (रस-रक्तादि-वर्धक), बलकारक, रूक्ष, सन्धानकारक (अस्थियों के टूटने पर जोडने वाला), व्रण का रोपण करने वाला एवं कफ, पित्त, रक्तविकार तथा खासी को दूर करने वाला है॥ ६१-६२॥

३२ धामिन

हि०-धामिन, धामन। म०-धामणीचा वृक्ष। गु०-धामण। बं०-धामना गाछ, धाओया वृक्ष भेद। ले०-*Grewia Tiliaefolia* (ग्रिविआ टिलियेफोलिया)।

यह हिमालय पहाड़ के ऊपर तथा छोटे जङ्गलों में पाया जाता है। ब्रह्मा और सिलोन में भी देखने में आता है। इसका **वृक्ष**-मध्यमाकार का होता है। **पत्ते**-२ से ५ इञ्च तक लम्बे तथा १ से ४ इञ्च तक चौटे नुकीले और बारीक कँगूरेदार होते हैं। सफेद रङ्ग के छोटे-छोटे **फूलों** के गुच्छे लगते हैं जिनके भीतर पीलापन झलकता है। **फल**-मटर के समान पकने पर काले पड जाते हैं॥

अथ करीरः। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

**करीरः क्रकरीपत्रो ग्रन्थिलो मरुभूरुहः। करीरः कटुकस्तिक्तः स्वेद्युष्णो भेदनः स्मृतः॥
दुर्नामकफवातामगरशोथव्रणप्रणुत्॥ ६३॥**

करील के संस्कृत नाम—करीर, क्रकरीपत्र, ग्रन्थिल तथा मरुभूरुह ये सब हैं।

गुण—करील कटु तथा तिक्त रसयुक्त, स्वेदजनक, उष्ण, मल का भेदन करने वाला एवं अर्श, कफ, वात, आम, विष शोथ तथा व्रण को दूर करने वाला होता है॥ ६३॥

३३ करील

हि०-करीर, करील, करेल, कचड़ा, टेंटी, सेंत। **बं०**-करील। **म०**-नेवती, नेपती, थट्ट, भारंगी, कारबी। **गु०**-केरडो, केर, करेडी। **क०**-तिप्पतिगे, निप्पतिगे। **ते०**-कवर, कुराक, एतुग दन्दमुमोदतु। **फा०**-कवार। **पं०**-पैंचू, पैंचू, टींट, कचड़ा, करीर। **ले०**-*Capparis Aphylla* (कैपैरिस ऐफिल्ला)।

करील का वृक्ष ऊसर जमीन तथा जङ्गलों में बारहो मास पाया जाता है। इसका **वृक्ष**-झाड़-दार, घना बारीक शाखाओं से भरा हुआ ६-७ फीट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**-इसके इतने सूक्ष्म होते हैं जो दीख नहीं पड़ते, मानो इस पर पत्ता नहीं होता। इसकी **डंठी**-नीले रंग की, **फूल**-गुलाबी रङ्ग, वसन्त ऋतु में फूलते, फलते, पत्ते न होने से डालियों में फूल ही फूल सुहावने दीख पड़ते हैं। **फल**-हरा और काला करौंदे के समान, स्वाद में खट्टा मीठा होता है॥ ३३॥

अथ शाखोटः (सहोरा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

शाखोटः पीतफलको भूतावासः खरच्छदः। शाखोटो रक्तपित्तार्शोवातश्लेष्मातिसारजित्॥

सहोरा के संस्कृत नाम—शाखोट, पीतफलक, भूतावास और खरच्छद ये सब हैं।

गुण—सहोरा रक्तपित्त, अर्श, वात, कफ तथा अतिसार को दूर करने वाला होता है॥ ६४॥

३४ सिहोरा

हि०-सहोरा, सिहोड, सिहोरा (डा), सि (सिं) होर। **बं०**-शेओड़ा, श्याओड़ा, शेउड़ा गाछ। **म०**-सहोड़, सागसहोडा, साहोड़। **गु०**-साहोडा। **ते०**-भारिणिके चेट्टु, मारणिके चेट्टु। **क०**-आखोड़, मरण। **ले०**-*Streblus Asper* (स्ट्रेब्लस अस्पर)।

सहोरे के वृक्ष जांगल देशों के अधिक शुष्क भागों में रुहेलखण्ड से पूर्व और दक्षिण की ओर और ट्रावनकोर तक तथा बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश आदि प्रान्तों में अधिक होते हैं। ये **वृक्ष** अत्यन्त गठीले झाड़दार और मध्यमाकार तथा २० फीट तक ऊँचे होते हैं। इसके **पत्ते**-कुछ गोल छोटे-छोटे दोनों ओर से खरदरे और २-३ इञ्च लम्बे होते हैं। उन पर छोटी-छोटी उठी हुई **बून्दे** होती हैं। **फूल**-सफेद रङ्ग पुरुष और स्त्रीजाति के अलग-अलग लगते हैं। **फल**-पीले रंग के और उनमें एक एक **बीज** निकलते हैं। पूस से फागुन महीने तक इसके फूल लगते और वैशाख से आषाढ़ तक फल पक जाते हैं॥ ३४॥

अथ वरुणः (बरना)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

**वरुणो वरणः सेतुस्तिक्तशाकः कुमारकः। वरुणः पित्तलो भेदी श्लेष्मकृच्छ्राश्ममारुतान्॥६५॥
निहन्ति गुल्मवातास्रकृमींश्चोष्णोऽग्निदीपनः। कषायो मधुरस्तिक्तः कटुको रूक्षको लघुः॥६६॥**

बरना के संस्कृत नाम—वरुण, वरण, सेतु, तिक्तशाक और कुमारक ये सब हैं।

गुण—बरना कषाय, मधुर, तिक्त तथा कटु रसयुक्त, रूक्ष, लघु, पित्तजनक, मल का भेदन करने वाला, उष्ण, अग्निदीपक एवं कफ, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, वायु, गुल्म, वातरक्त तथा कृमि को दूर करने वाला होता है॥ ६५-६६॥

३५ बरना

हि०-वरुन, बरना। **बं०**-वरुन गाछ, वरुण गाछ। **म०**-वाय वरणा, वायवर्णा। **का०**-भाट बरणा, हाडवरणा, हाट वर्णा। **गु०**-वरणो। **मा०**-वरणो। **क०**-मदवसले, उलिमिरी वसले।

ते०-उरुमट्टि, जाजिचेट्टु, उलिमिरि चेट्टु। **गु०**-वायवर्णा। **पं०**-वरना। **ता०**-मरलिङ्गम। **ले०**-*Crataeva Religiosa* (क्रैटिवा रिलिजिओसा)।

यह मालाबार और कन्नर में नदियों के आस पास पाया जाता है। इसका **वृक्ष**-मध्यमाकार का होता है और **शाखायें**-फैली हुई रहती हैं। **छाल**-आध इञ्च मोटी खाकी रङ्ग की होती है। शाखाओं के अन्त में २-४ इञ्च लम्बी डंडियों पर **पत्तों** के गुच्छे रहते हैं और वे ३ से ६ इञ्च तक लम्बे १॥ से २॥ इञ्च चौड़े बर्छीनुमे होते हैं। **फूल**-२ इञ्च के घेरे में गोलाकार पहले हरापन युक्त पीले रङ्ग के फिर फीके लाल रङ्ग के हो जाते हैं। **फल**-२-३ इञ्च लम्बाई युक्त गोलाकार छोटे-बड़े हुआ करते हैं। **बीज**-पीली गूदी से लिपटे रहते हैं॥ ३५॥

अथ कटभी। तस्या नामानि तत्फलस्य च गुणाँश्चाह

कटभी स्वादुपुष्पश्च मधुरेणुः कटम्भरः। कटभी तु प्रमेहार्शोनाडीव्रणविषक्रिमीन्॥ ६७॥
हन्त्युष्णा कफकुष्ठघ्नी कटू रूक्षा च कीर्तिता। तत्फलं तुवरं ज्ञेयं विशेषात्कफशुक्रहृत्॥ ६८॥

कटभी के संस्कृत नाम—कटभी, स्वादुपुष्प, मधुरेणु तथा कटम्भर ये सब हैं।

गुण—कटभी कटुरसयुक्त, रूक्ष, उष्ण एवं प्रमेह, अर्श, नाडीव्रण (नासूर) विष, क्रिमि, कफ तथा कुष्ठ को नाश करने वाली होती है।

कटभी के **फल के गुण**—कटभी का फल कषाय रसयुक्त तथा विशेषत. कफ और शुक्र का नाशक होता है॥ ६७-६८॥

३६ कटभी

हि०-कटभी, करही, हरिमल, काली कटभी। **म०**-वाकुम्भा। **गु०**-टीवरू, वापुगा। **क०**-वेल्लाल। **ले०**-*Carelya arborea* (केरिल्या आर्बोरिया)।

यह इस देश के सब प्रान्तों में पाया जाता है। इसका **वृक्ष**-बड़ा होता है। **पत्ते**-महुआ के आकार वाले ऊपर की ओर चौड़े किञ्चित् नुकीले और नीचे की ओर सङ्कुचित होते हैं। शाखाओं के अन्त में **फूलों** के गुच्छे रहते हैं। **फल**-२-३ इञ्च के घेरे में गोलाकार और गूदेदार होते हैं॥

अथ मोक्षः (मोखावृक्ष) पलाशवत्पर्वतवृक्षः। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मोक्षस्तु मोक्षकोऽपि स्याद् गोलीढो गोलिहस्तथा। क्षारश्रेष्ठः क्षारवृक्षो द्विविधः श्वेतकृष्णकः॥
मोक्षकः कटुकस्तिक्तो ग्राह्युष्णः कफवातहृत्। विषमेदोगुल्मकण्डूवस्तिरुक्कृमिशुक्रनुत्॥७०॥

मोखा के संस्कृत नाम—मोक्ष, मोक्षक, गोलीढ, गोलिह, क्षारश्रेष्ठ तथा क्षारवृक्ष ये सब हैं। यह सफेद तथा काले के भेद से दो प्रकार का होता है। **गुण**-मोखा कटु तथा तिक्त रसयुक्त, ग्राही, उष्ण एवं कफ, वात, विष, मेद, गुल्म, खुजली, बस्तिसम्बन्धी रोग, कृमि तथा शुक्र का नाशक है॥ ६९-७०॥

३७ मोखा

हि०-मोखा, फरवाह, मोषा, कठपाढ़र, कठपाढल। **ब०**-घण्टा पारुल। **म०**-मोखाडा, मोकडी, मोखावृक्ष, मोखे, पारुल। **गु०**-मरखो। **क०**-मोखदलाई, मोक्के। **ते०**-मोकपुचेट्टु, मुष्क तुण्डु चेट्टु, मोकमु। **मा०**-मोखा। **पं०**-घण्टा पाटली।

मोखे का **वृक्ष**-पथरीली जमीन तथा पर्वतों पर उत्पन्न होता है। इसका **आकार**-ढाक वृक्ष के समान होता है। इसके **पत्ते**-बडे बडे होते हैं और इनसे आक के समान दूध निकलता है। **फल** घण्टाकार लगते हैं। यह सफेद और काला दो प्रकार का होता है॥ ३७॥

अथ जलशिरीषिका (जलसिरसि-टिण्टिनी-ढाढोन इति च)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शिरीषिका टिण्टिनिका दुर्बलाऽम्बुशिरीषिका। त्रिदोषविषकुष्ठार्शोहरी वारिशिरीषिका॥७१॥

ढाढोन के संस्कृत नाम—शिरीषिका, टिण्टिनिका, दुर्बला, अम्बुशिरीषिका तथा वारिशिरीषिका ये सब हैं। **गुण**-ढाढोन त्रिदोष, विष, कुष्ठ तथा बवासीर को दूर करने वाला होता है॥ ७१॥

३८ ढाढोन

हि०-जल सिरस, जल सिरिस, ढाढोन, टिंटिनी। **मा०**-जलशिरसी, जलसिरिसी। **गु०**-जल सरसडियो।

ढाढोन—सिरस का ही भेद है किन्तु यह जल में उत्पन्न होता है। इसके **वृक्ष** और **पत्ते**-सिरस से छोटे होते हैं॥ ३८॥

अथ शमी (छोंकरा)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

शमी शक्तुफला तुङ्गा केशहन्त्री शिवाफला। मङ्गल्या च तथा लक्ष्मीः शमीरः साऽल्पिका स्मृता॥
शमी तिक्ता कटुः शीता कषाया रेचनी लघुः। कफकासभ्रमश्वासकुष्ठार्शःकृमिजित् स्मृता॥

शमी के संस्कृत नाम—शमी, शक्तुफला, तुङ्गा, केशहन्त्री, शिवाफला, मङ्गल्या तथा लक्ष्मी ये सब हैं। छोटे शमी वृक्ष का नाम 'शमीर' है।

गुण-शमी तिक्त, कटु तथा कषाय रसयुक्त, शीतल, रेचक, लघु एवं कफ, कास (खांसी), भ्रमरोग, श्वास, कुष्ठ, अर्श तथा कृमि का नाशक है॥ ७२-७३॥

३९ छोंकर

हि०-छोंकर, शमी, सफेद कीकर, छिकुर, छोंकरा। **बं०**-शांई, शाईबावला, शाई गाछ, छुईबावला। **म०**-शमी, खर्री। **गु०**-खीजडी, खिजडी। **क०**-बन्नि, कावन्नि, वनि, वन्निमर। **त०**-शमी चेट्टु, जम्मि। **उ०**-शुमि। **मा०**-खेजडी। **पं०**-जड, जडी। **द्रा०**-वन्निमर। **ले०**-*Prosopies Spicigera* (प्रोसोपिस स्पाईसिगेरा)।

यह पञ्जाब, सिन्ध, राजपूताना, गुजरात, बुन्देलखण्ड और दक्षिण में अधिक होती है, इसे लोग वाटिकाओं में भी लगाते हैं। इसका **वृक्ष**-छोटा और **शाखायें**-पतली होती हैं। **पत्ते**-बबूल के पत्तों के समान पर उनसे छोटे होते हैं। **फूलों** का धनहरा लगता है। **फलियाँ**-लम्बी होती हैं॥

अथ सप्तपर्णः (छतिवन-सतौना)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

सप्तपर्णो विशालत्वक् शारदो विषमच्छदः॥ ७४॥
सप्तपर्णो व्रणश्लेष्मवातकुष्ठास्रजन्तुजित्। दीपनः श्वासगुल्मघ्नः स्निग्धोष्णस्तुवरः सरः॥७५॥

छतिवन के संस्कृत नाम—सप्तपर्ण, विशालत्वक्, शारद तथा विषमच्छद ये सब हैं।

गुण—छतिवन कषायरसयुक्त, अग्निदीपक, स्निग्ध, उष्ण, सारक एवं व्रण, कफ, वात, कुष्ठ, रक्तविकार, जन्तु, श्वास तथा गुल्म का नाशक है॥ ७४-७५॥

४० सतौना

हि०-सतौना, सतवन, छतिवन, सतिवन, छतवन, छातियान। **बं०**-छातिमगाछ, छेनेन, छातिम। **म०**-सातविण, सातविण, सातवण। **गु०**-सातिवन, सप्तपर्ण, सातवीण। **क०**-एलेलेग, एलेलग। **तै०**-एडा कुल, अरिटाकु। **मु०**-छात विण। **पं०**-सतोना। **ता०**-एझिल इप्पालइ। **ले०**-*Alstonia Scholaris* (आल्स्टोनिया स्कोलैरिस)।

छतिवन का **वृक्ष**-प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। यमुना नदी से पूर्व की ओर बङ्गाल और दक्षिण हिन्दुस्तान एवं आस्ट्रेलिया, अमेरिका आदि देशों में भी यह पाया जाता है। यह वृक्ष जल्दी बढ़ने वाला और साधारण वृक्षों के समान बडा होता है। इसके **पत्ते**-कदम के पत्तों के समान पर कम चौड़े एक साथ सेमर के पत्तों के समान ७-७ लगते हैं। ये ऊपर की ओर चमकदार होते हैं। इसकी **छाल**-काली, भूरी और खरदरी होती है। **फूल**-कुछ हरे सफेद रङ्ग, वसन्त ऋतु के आरम्भ में फूलते और जेठ तक फल जाते हैं। फूलों से मद की समान गन्ध आती है॥

अथ तिनिशः (तिरिच्छ)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

तिनिशः स्यन्दनो नेमी रथद्रुर्वञ्जुलस्तथा। तिनिशः श्लेष्मपित्तास्रमेदःकुष्ठप्रमेहजित्॥
तुवरः श्वित्रदाहघ्नो व्रणपाण्डुकृमिप्रणुत्॥ ७६॥

तिरिच्छ के संस्कृत नाम—तिनिश, स्यन्दन, नेमी, रथद्रु तथा वञ्जुल ये सब हैं।

गुण—तिरिच्छ कषाय रस युक्त एवं कफ, पित्त, रक्तविकार, मेद, कुष्ठ, प्रमेह, श्वेतकुष्ठ, दाह, व्रण, पाण्डु तथा कृमि का नाशक है ॥ ७६ ॥

४१ तिरिच्छ

हि०-तिनिश, तिरिच्छ, तिनसुना, जरिल, जारुल। **बं०**-तिनाश, साइन गाछ। **म०**-निवस। **गु०**-ह्र्म्मों, मिणो ह्र्मों। **क०**-स्यन्दन, हुलगति। **पं०**-तिरिच्छा। **ले०**-*Lagerstraemia Flod-Reginae* (लाजरस्ट्रेमिया फ्लौड रेजिने)।

यह पूरब बङ्गाल, आसाम, रत्नागिरी और लाहौर आदि प्रान्तों में उत्पन्न होता है।

इसका **वृक्ष**-बड़ा ५०-६० फीट तक ऊँचा होता है। **छाल**-चिकनी भूरे रंग का होती है। **पत्ते**-४ से १० इञ्च तक लम्बे कुछ चौड़े किञ्चित् अण्डाकार और नुकीले होते हैं। **फूल**-२-३ इञ्च के घेरे में बैंगनी युक्त लाल होते हैं। **फल**-गोल होता है।

एक दूसरी जाति का तिरिच्छ वृक्ष होता है, जिसको लेटिन में Ougeinia Dalbergia oides (ओजीनिया डालबर्जिया ओइडिस) कहते हैं। इसके **पत्ते**-पलाश के पत्तों के समान त्रिदल होते हैं॥

अथ भूमीसहः (सागोन)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

भूमीसहो द्वारदारुर्वरदारुः खरच्छदः। भूमीसहस्तु शिशिरो रक्तपित्तप्रसादनः ॥ ७७ ॥

सागोन के संस्कृत नाम—भूमीसह, द्वारदारु, वरदारु तथा खरच्छद ये सब हैं।

गुण—सागोन शीतल एवं रक्तपित्त को शुद्ध करने वाला है ॥ ७७ ॥

४२ सागोन

हि०-सागोन, सागवन, सागु (ग) वान, सेगुन। **बं०**-शेगुन। **म०, गु०**-साग, सागवन, शाग, सोयें। **क०**-तैगु, न्याग। **ते०**-टेकु चेट्टु, टेंक। **ता०**-टेकु। **फा०**-फिल गोस। **अ०**-फिल जोश, उज तुल फिल। **मा०**-सागवान। **अं०**-Indian Teak Tree (इण्डियन टीक ट्री)। **ले०**-*Tecton Granadis* (टेक्टोन ग्राडिस)।

सागोन—एक प्रयोजनीय और प्रसिद्ध काष्ठ है। इसकी **लकड़ी** से तख्ते, बक्सा, आलमारी इत्यादि बहुत चीजें बनाते हैं। ये हलके चिक्कन और टिकाऊ होते हैं तथा इनमें दीमक नहीं लगते। इसके वृक्ष पश्चिमोत्तर प्रदेश, दक्षिण, मध्यभारत, बंगाल, आसाम, सिकम, मनीपुर, उडीसा, झांसी आदि प्रदेशों में अधिक होते हैं। यह **वृक्ष** बहुत ऊचा, सीधा और विशाल होता है। ५०-६० फीट की ऊंचाई पर शाखायें लगती हैं। इसके **पत्ते**-बहुत लम्बे चौड़े ऊपर से खरदरे और नीचे से सफेद रोवेंदार होते हैं। इनको हाथ से मलने से हाथ लाल हो जाता है। **फूल**-सफेद रङ्ग के और फल में ८ तक **बीज** रहते हैं। आषाढ, सावन तक फूलता-फलता है और पूस तक फल पकते हैं ॥ ४२ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे

मिश्रप्रकरणे षष्ठो वटादिवर्गः समाप्तः ॥ ६ ॥



अथ आम्रादिफलवर्गः

तत्रादावाम्रः (आम) । तस्य नामान्याह

आम्रश्चूतो रसालश्च सहकारोऽतिसौरभः । कामाङ्गो मधुदूतश्च माकन्दः पिकवल्लभः ॥ १ ॥

आम के संस्कृत नाम—आम्र, चूत, रसाल, सहकार, अतिसौरभ, कामाङ्ग, मधुदूत, माकन्द और पिकवल्लभ ये सब हैं ॥ १ ॥

अथाम्रपुष्पगुणानाह

आम्रपुष्पमतीसारकफपित्तप्रमेहनुत् । असृग्दुष्टिहरं शीतं रुचिकृद् ग्राहि वातलम् ॥ २ ॥

आम के फूल के गुण—आमका फूल शीतल, रुचिकारक, ग्राही, वातजनक एवं अतीसार, कफ, पित्त, प्रमेह तथा रक्तदोष को दूर करने वाला होता है ॥ २ ॥

अथामाम्रफलम् (कच्चा आम) । तस्य गुणानाह

आमं बालं कषायाम्लं रुच्यं मारुतपित्तकृत् । तरुणं तु तदत्यम्लं रूक्षं दोषत्रयास्रकृत् ॥३॥

अमिया (कच्चा आम) के गुण—अमिया कषाय तथा अम्लरसयुक्त, रुचिकारक एवं वात और पित्त को उत्पन्न करने वाला होता है। प्रौढ आम का कच्चा फल तो अत्यन्त अम्ल रस युक्त तथा रूक्ष होता है एव त्रिदोष तथा रक्तविकार को उत्पन्न करने वाला होता है ॥ ३ ॥

अथ शुष्काम्रफलम् । तस्य लक्षणगुणानाह

आम्रमामं त्वचाहीनमातपेऽतिविशोषितम् । अम्लं स्वादु कषायं स्याद्भेदनं कफवातजित्॥४॥

आम की खटाई के लक्षण—कच्चे आम के ऊपर का छिलका उतार कर यदि उसे धूप में डाल दिया जाय तो अत्यन्त सूख जाने पर उसे आम की खटाई कहते हैं।

गुण—आम की खटाई अम्ल तथा कषाय रस युक्त, स्वादिष्ट, मल का भेदन करने वाला एवं कफ तथा वात को दूर करने वाला होता है ॥ ४ ॥

अथ पक्वाम्रफलम् (पका आम) । तस्य गुणानाह

पक्वं तु मधुरं वृष्यं स्निग्धं बलसुखप्रदम् । गुरु वातहरं हृद्यं वर्ण्यं शीतमपित्तलम् ॥
कषायानुरसं वह्निश्लेष्मशुक्रविवर्द्धनम् ॥ ५ ॥

पक्के आम के फल के गुण—पक्का आम का फल आरम्भ में मधुर तथा अन्त में कषाय रसयुक्त, वृष्य (वीर्यवर्धक), स्निग्ध, बल तथा सुख को देने वाला, गुरु, वातनाशक, हृदय को हितकर, वर्ण को उत्तम करने वाला, शीतल, थोड़ा पित्तजनक एवं जठराग्नि, कफ तथा शुक्र का बढाने वाला होता है ॥ ५ ॥

अथ वृक्षपक्वाम्रफलगुणानाह

तदेव वृक्षसम्पक्वं गुरु वातहरं परम् । मधुराम्लरसं किञ्चिद्भवेत्पित्तप्रकोपणम् ॥ ६ ॥

वृक्ष ही में पके आम के गुण—वृक्ष में यदि आम पका हो तो वह मधुर तथा अम्ल रस युक्त, गुरु, अत्यन्त वातनाशक तथा किञ्चित् पित्त को प्रकुपित करने वाला होता है ॥ ६ ॥

अथ कृत्रिमपक्वचूषिताम्रफलयोर्गुणानाह

आम्रं कृत्रिमपक्वञ्च तद्भवेत्पित्तनाशनम् । रसस्याम्लस्य हीनस्तु माधुर्याच्च विशेषतः ॥ ७ ॥
चूषितं तत्परं रुच्यं बलवीर्यकरं लघु । शीतलं शीघ्रपाकि स्याद्वातपित्तहरं सरम् ॥ ८ ॥

कृत्रिम रीति से पकाये हुए (पाल के) आम के गुण—यदि आम का फल कृत्रिम रीति से पकाया गया हो तो वह पित्तनाशक होता है क्योंकि उसका अम्ल रस निकल जाता है तथा मधुर रस की विशेषता हो जाती है। यदि वह चूसा जाय तो अत्यन्त रुचिजनक, बल वीर्यकारक, लघु, शीतल, शीघ्र हजम होने वाला, सारक एव वात-पित्त नाशक होता है ॥ ७-८ ॥

अथ गालिताम्ररसगुणानाह

तद्रसो गालितो बल्यो गुरुर्वातहरः सरः। अहृद्यस्तर्पणोऽतीव बृंहणः कफवर्द्धनः॥ ९॥

आम के रस के गुण—निचोडा हुआ आम का रस बलकारक, गुरु, वातनाशक, सारक, हृदय के लिये अहितकर, अत्यन्त सन्तर्पण करने वाला, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक) एवं कफ की वृद्धि करने वाला होता है॥ ९॥

अथाम्रखण्डगुणानाह

तस्य खण्डं गुरु परं रोचनं चिरपाकि च। मधुरं बृंहणं बल्यं शीतलं वातनाशनम्॥ १०॥

आम के गूदों के गुण—पक्के आम के टुकडे गुरु, अत्यन्त रोचक, देर में हजम होने वाले, मधुर रस युक्त, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), बलकारक, शीतल एवं वातनाशक होते हैं॥ १०॥

अथ दुग्धयुक्ताम्रगुणानाह

वातपित्तहरं रुच्यं बृंहणं बलवर्द्धनम्। वृष्यं वर्णकरं स्वादु दुग्धाम्रं गुरु शीतलम्॥ ११॥

दूध के साथ आम खाने के गुण—दुग्धाम्र स्वादिष्ट, वातपित्तनाशक, रोचक, बृंहण, बलवर्धक, वृष्य (वीर्यवर्धक), वर्ण को उत्तम करनेवाला, गुरु तथा शीतल होता है॥ ११॥

अथाम्रातियोगः (आम बहुत खाना)। तस्य दोषानाह

मन्दानलत्वं विषमज्वरं च रक्तामयं बद्धगुदोदरं च।
आम्रातियोगो नयनामयं वा करोति तस्मादति तानि नाद्यात्॥ १२॥

एतदम्लाम्रविषयं मधुराम्लपरं न तु। मधुरस्य परं नेत्रहितत्वाद्या गुणा यतः॥ १३॥

अधिक आम खाने से दोष—आम्रातियोग (आम का अधिक भक्षण) जठराग्नि की मन्दता, विषमज्वर, रक्तसम्बन्धी रोग, अत्यन्त मल का अवरोध और नेत्रसम्बन्धी रोग उत्पन्न करता है। इससे अधिक आम नहीं खाना चाहिये। यह निषेध अम्ल (खट्टे) आम के विषय में है नकि मधुर तथा अम्ल रस युक्त आम के विषय में, क्योंकि मधुर रस में नेत्रों को हित पहुँचाना आदि गुण वर्तमान ही है॥ १२-१३॥

अथाम्रातियोगदोषनिवृत्त्युपायमाह

शुण्ठ्यम्भसोऽनुपानं स्यादाम्राणामतिभक्षणे। जीरकं वा प्रयोक्तव्यं सह सौवर्चलेन च॥१४॥

आम्रातियोग से उत्पन्न दोषों की निवृत्ति का उपाय—आम अधिक खा लेने पर सोंठ के साथ जल पीना चाहिये अथवा काले नोन के साथ जीरा खाना चाहिये॥ १४॥

१ आम

हि०-आम। **बं०**-आम्र। **म०**-आम्बा। **गु०**-आम्बो। **ते०**-माविडी, मामिडिकाय, मामिडि चेट्टु। **ता०**-मामर, मामर। **मा०**-अम्बो। **क०**-माविनकायि, माविन फल, मावयहण्णे (माविनहन्नु)। **द्रा०**-मागाय। **फा०**-आम्बा, अम्बे। **अ०**-अम्बज। **अं०**-Mango Tree मैङ्गो ट्री)। **ले०**-*Mangi Fera Indica* (मैंगि फेरा इन्डिका)।

आम सर्वप्रिय और सर्वप्रसिद्ध फल है। इस देश में कोई ऐसा मनुष्य न होगा जो आम को न जानता हो। इसका **वृक्ष**-बडा होता है और छोटी-छोटी टहनियों के अन्त में **पत्ते** सघन लगते हैं। माघ-फागुन में आम का बौर होता है और ग्रीष्म ऋतु में फल पकते हैं। **फल**-किञ्चित् लम्बाई लिये गोल होता है और उसके भीतर गुद्दी होती है जो गुठली से लिपटी रहती है।

आम का **वृक्ष**—इस देश में प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। इसकी दो जाति होती है-बीजू और कलमी। बीजू-बीज से उत्पन्न होता है और **कलमी**-डालियों में जोड कलम कर के उत्पन्न किया जाता है। बीजू-वृक्ष बडे बडे होते हैं और कलमी के वृक्ष अधिक ऊँचे नहीं होते। ये दोनों ही स्वाद के भेद से अनेक प्रकार के होते हैं, किसी का स्वाद खट्टा, किसी का खट्टा-मीठा और किसी का केवल मीठा होता है। कलमी आम प्रायः सुस्वादु होते हैं, अतः इसी को लोग पसन्द करते हैं।

इसके फल भी छोटे और बडे के भेद से कई प्रकार के होते हैं तथा इनके रग भी मिश्रित हरे, पीले, गुलावी अनेक प्रकार के होते हैं।

संसार के सब फलों में उत्तम और अधिक गुणकारी आम का ही फल है इसीलिये इसको फलों का राजा कहते हैं। कवियों की कल्पना है कि जिस प्रकार स्वर्ग में अमृत है उसी प्रकार पृथ्वी पर आम का फल है॥ १॥

अथाम्रावर्त्तः (अमावट)। तस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

पक्वस्य सहकारस्य पटे विस्तारितो रसः। घर्मशुष्को मुहुर्दत्त आम्रावर्त्त इति स्मृतः॥ १५॥
आम्रावर्त्तस्तृषाच्छर्दिवातपित्तहरः सरः। रुच्यः सूर्यांशुभिः पाकाल्लघुश्च स हि कीर्त्तितः॥१६॥

अमावट के लक्षण—पके आम के रस को निकाल कर कपड़े पर पसार कर धूप में सुखावे, जब सूख जाय तब उसी पर पुनः रस डाले और सुखावे, इसी भाँति सुखा कर जो मोटी पर्त्त तैयार होती है उसी को 'अमावट' कहते हैं।

अमावट के गुण—अमावट प्यास, वमन, वात तथा पित्त का नाशक, सारक एवं रोचक होता है। यह सूर्य के किरणों से सूख कर परिपक्व होने से लघु होता है॥ १५-१६॥

२ आम्रावर्त्त (अमावट)

हि०-अमावट, आमावट, अम्बावट, आम का सत्त, आम की रोटी। **बं०**-आम्रसत्त्व, आमट। **म०**-आम्ब्याचे साट।

पके हुए आम के रस को कपडे पर छोड कर हाथ से फैला देते हैं और धूप में सुखाते हैं। इस प्रकार अनेक बार उस पर रस डाल-डाल कर हाथ से फैलाते और धूप में सुखाते जाते हैं। जब वह सूखा हुआ रस मोटा हो जाता है तब उस पर अधिक रस नहीं डालते और धूप में खूब सुखा कर कपडे से छुडा कर सुरक्षित रखते हैं॥ २॥

अथाम्रबीजम् (कोइलिया)। तस्य गुणानाह

आम्रबीजं कषायं स्याच्छर्द्यतीसारनाशनम्। ईषदम्लञ्च मधुरं तथा हृदयदाहनुत्॥ १७॥

आम के गुठली की मींगी के गुण—आम्रबीज (आम की गुठली की मींगी) कषाय, मधुर एवं किञ्चित् अम्ल रस युक्त तथा वमन, अतिसार एव हृदय के दाह को दूर करने वाला होता है॥१७॥

अथाम्रनवपल्लवः। तस्य गुणानाह

आम्रस्य पल्लवो रुच्यः कफपित्तविनाशनः॥ १८॥

आम्र के नवीन पल्लव के गुण—आम के नवीन पल्लव रुचिकारक तथा कफ और पित्त के नाशक होते हैं॥ १८॥

अथाम्रातकः (अम्बाडा)। तन्नामानि तत्पक्वापक्वफलगुणाँश्चाह

आम्रातकः पीतनश्च मर्कटाम्रः कपीतनः। आम्रातमम्लं वातघ्नं गुरूष्णं रुचिकृत्सरम्॥१९॥
पक्वन्तु तुवरं स्वादु रसे पाके हिमं स्मृतम्। तर्पणं श्लेष्मलं स्निग्धं वृष्यं विष्टम्भि बृंहणम्॥
गुरु बल्यं मरुत्पित्तक्षतदाहक्षयास्रजित्॥ २०॥

अम्बाडा के संस्कृत नाम—आम्रातक, पीतन, मर्कटाम्र, कपीतन और आम्रात ये सब हैं।

गुण—अम्बाडा अम्ल रस युक्त, वातनाशक, गुरु, उष्ण, रुचिकारक और सारक होता है।

अम्बाडे के पके फल के गुण—पका फल कषाय रस युक्त, स्वादिष्ट, विपाक में मधुर, शीतल, सन्तर्पण करने वाला, कफजनक, स्निग्ध, वृष्य, विष्टम्भक (वायु को स्तब्ध करने वाला), बृंहण, गुरु, बलकारक एव वात, पित्त, क्षत, दाह, क्षय और रक्तविकार का नाशक है॥ १९-२०॥

३ अम्बाडा

हि०-अम्बाडा, अमडा, अमरा, अमला, आमडा। **बं०**-आमडा, आमडा। **म०**-अंबाडा, आंबचार। **गु०**-जगली आंबो, अमेडा, अवेडा। **क०**-आम्रोडे कायि। **ते०**-आमोट, अंबालमु।

पं०-अमरा, अंबडा। **अं०**-Hogplum (हौगप्लम)। **लै०**-*Spondias mangifera* (स्पाउण्डीयस मगिफेरा)।

अम्बाडा का **वृक्ष** बहुत बडा होता है। **पत्ते**-पियाल वृक्ष के पत्तों के समान पर इनसे बडे और मोटे होते हैं। वसन्त ऋतु में इसके सब पत्ते गिर जाते हैं और मञ्जरी लगती है। **फल**-गुच्छों में अण्डाकार लगते हैं। इनका अँचार बनाते हैं। यह देशी और विलायती भेद से दो प्रकार का होता है। पके विलायती अम्बाडे का स्वाद खट्टा-मीठा होता है और देशी ज्यादा खट्टा होता है इसलिये लोग विलायती ही को पसन्द करते हैं॥ ३॥

अथ राजाम्रः (कलमी आम)। तन्नामानि तत्फलस्य गुणाँश्चाह

राजाम्रष्टङ्क आम्रातः कामाङ्गो राजपुत्रकः॥ २१॥
राजाम्रं तुवरं स्वादु विशदं शीतलं गुरु। ग्राहि रूक्षं विबन्धाध्मवातकृत्कफपित्तनुत्॥ २२॥

कलमी आम के संस्कृत नाम—राजाम्र, टङ्क, आम्रात, कामाङ्ग तथा राजपुत्रक ये सब हैं।

गुण—कलमी आम कषाय तथा मधुर रसयुक्त, विशद गुणयुक्त, शीतल, गुरु, ग्राही, रूक्ष एवं विबन्ध, आध्मान तथा वातकारक होता है और कफ तथा पित्त का नाशक होता है॥२१-२२॥

४ कलमी आम

हिं०-कलमी आम, मालदह आम। **बं०**-लता आम। **म०**-राज आम्बा। **गु०**-हाफुस आम्बो। **क०**- राय मच्चू। **ते०**-राय मामिडी चेट्टु।

सब प्रकार के कलमी आमों में **लंगड़ा** आम प्रसिद्ध है। हाजीपुर और बनारस का लंगड़ा आम सबसे अच्छा होता है, बम्बई का लंगडा मध्यम प्रकार का समझा जाता है। पूर्व का गोला, लखनऊ का सफेदा, रामपुर का फजली, मुरादाबाद का कलमी आदि आम अच्छे होते हैं। जिस आम में रेशा बहुत कम रहता है, गूदा अधिक रहता है तथा जो स्वाद में खूब मीठा सर्वप्रिय होता है उसी को उत्तम समझना चाहिये। यह जितना मीठा होता है उतने ही उसमें गुण भी अधिक होते हैं। आम में जो पुष्टिकारक, बलकारी, वीर्य को उत्पन्न करना इत्यादि गुण हैं, वे सब भली प्रकार से पके हुए और मीठे आम में ही होते हैं॥ ४॥

अथ कोशाम्रः (कोशम्भ आम)। तस्य नामानि तत्फलस्य च गुणाँश्चाह

कोशाम्र उक्तः क्षुद्राम्रः कृमिवृक्षः सुकोशकः। कोशाम्रः कुष्ठशोथास्रपित्तव्रणकफापहः॥२३॥
तत्फलं ग्राहि वातघ्नमम्लोष्णं गुरु पित्तलम्। पक्वन्तु दीपनं रुच्यं लघूष्णं कफवातनुत्॥२४॥

कोशम्भ आम के संस्कृत नाम—कोशाम्र, क्षुद्राम्र, कृमिवृक्ष तथा सुकोशक ये सब हैं।

गुण—कोशम्भ आम कुष्ठ, शोथ, रक्तविकार, पित्त या रक्तपित्त, व्रण और कफ का नाशक है। कोशम्भ आम का **फल**-ग्राही, वातनाशक, अम्लरसयुक्त, उष्ण, गुरु तथा पित्तजनक होता है। यदि इसके फल पके हों तो अग्निदीपक, रुचिकारक, लघु, उष्ण एवं कफ तथा वात के नाशक होते हैं॥ २३-२४॥

५ कोशम्भ आम

हिं०-कोशम्भ, छोटा आम, कोसम, कोशाम्र, क्षुद्राम्र, वनाम्र। **बं०**-केओडा, जलपाइ। **क०**-जूरिमाचु, कोंड मामिडि। **म०**-कोशिंब, लाल रान आंबा। **गु०**-हलकी जाननो आम्बो, डंगरी आम्बो, कोशम। **पं०**-कोशाम, कोशाम्र, झारी आम्वा,। **द्रा०**-वेट्टर माबु। **लै०**-*Schleichera Trijuga* (स्क्लेचेरा ट्राईजगा)।

कोशम्भ एक प्रकार का आम का वृक्ष पहाडी प्रदेशों में उत्पन्न होता है। सतलज से नेपाल तक तथा सिवालिक पहाड के ऊपर मध्य भारत में पाया जाता है।

इसका **वृक्ष** बडा होता है। **पत्ते**-समवर्ती ५-७ इञ्च लम्बे, १-३ इञ्च चौडे किञ्चित् अण्डाकार और अनीदार होते हैं। नीचे वाले पत्ते ऊपर के पत्तों की अपेक्षा छोटे होते हैं। **फूल**-मञ्जरी में आते हैं और वे पीलापन युक्त हरे रंग के होते हैं। **फल**-१ इञ्च लम्बे गोल और किञ्चित् नोकीले होते हैं॥ ५॥

अथ पनसः (कटहल) । तन्नामानि तत्पक्वापक्वफलगुणाँश्चाह

पनसः कण्टकिफलः पलसोऽतिबृहत्फलः । पनसं शीतलं पक्वं स्निग्धं पित्तानिलापहम् ॥२५॥
तर्पणं बृंहणं स्वादु मांसलं श्लेष्मलं भृशम् । बल्यं शुक्रप्रदं हन्ति रक्तपित्तक्षतव्रणान् ॥२६॥
आमं तदेव विष्टम्भि वातलं तुवरं गुरु । दाहकृन्मधुरं बल्यं कफमेदोविवर्द्धनम् ॥ २७ ॥

कटहर के संस्कृत नाम—पनश, कण्टकिफल, पलस तथा अतिबृहत्फल ये सब हैं ।

गुण—कटहर के पके फल शीतल, स्निग्ध, पित्त तथा वात के नाशक, सन्तर्पणकारक, बृंहण, स्वादिष्ट, मांस तथा कफ की अत्यन्त वृद्धि करने वाले, बलदायक, शुक्रजनक एवं रक्तपित्त, क्षत तथा व्रण को दूर करनेवाले होते हैं । वे ही यदि कच्चे हों तो विष्टम्भक, कषाय तथा मधुर रस युक्त, गुरु, दाहकारक, बलदायक, कफ तथा मेद की वृद्धि करने वाले होते हैं ॥ २५-२७ ॥

अथ पनसबीजगुणानाह

पनसोद्भूतबीजानि वृष्याणि मधुराणि च । गुरूणि बद्धविट्कानि सृष्टमूत्राणि संवदेत् ॥२८॥

कटहर के बीज के गुण—कटहर के बीज वृष्य (वीर्यवर्धक), मधुर रस युक्त, गुरु, मल को बांधने वाले एवं मूत्र की प्रवृत्ति करानेवाले होते हैं ॥ २८ ॥

अथ पनसमज्जगुणानाह

मज्जा पनसजो वृष्यो वातपित्तकफापहः । विशेषात्पनसो वर्ज्यो गुल्मिभिर्मन्दवह्निभिः ॥२९॥

कटहल के बीज की मींगी के गुण—बीज की मींगी वृष्य (वीर्यवर्धक) एवं वात, पित्त तथा कफ का नाशक होती है । विशेषरूपसे कटहल खाना गुल्म तथा मन्दाग्निरोग वाले रोगियों को छोड़ देना चाहिये ।

६ कटहर

हि०-कटहर, कटहल, कठैल, कठैर, पनस। **बं०**-कांटाल, कांठाल। **म०**-फणस । **गु०**-फनस। **क०**-हलसिन हन्नु (ण्णु) । **ते०**-पनसकायि, पनसपांडु । **ता०**-पेलाकायि, पिल्ला, पिलापज़्हम । **अं०**-Jack Fruit Tree (जैक फ्रुट ट्री) । **ले०** *Antiaris Toxicaria* (आटिपरिस टोक्सिकेरिया) ।

कटहर—विशेष कर गरम प्रान्तों में रोपण किया जाता है । पश्चिमी घाट के जङ्गलों में यह आप ही आप उत्पन्न होता है और दक्षिण में भी पाया जाता है ।

इसका **वृक्ष**-बडा होता है । **पत्ते**-४-८ इञ्च लम्बे, कुछ चौडे, मोटे, किंचित् अण्डाकार और किंचित् कालापनयुक्त हरे रङ्ग के होते हैं । **स्तम्भ**-और मोटी शाखाओं पर फूल लगते हैं । **फूल**-२ से ६ इञ्च तक लम्बे, १-२ इञ्च गोल अण्डाकार और किंचित् पीले रङ्ग के होते हैं । **फल**-बहुत बडे-बडे लम्बाई युक्त गोल होते हैं । उसके ऊपर कोमल कांटे होते हैं । **गूदा**-बीज के चारों तरफ लिपटा हुआ मोटा होता है ॥ ६ ॥

अथ लकुचः (बडहर) । तन्नामानि तत्पक्वफलगुणाँश्चाह

लकुचः क्षुद्रपनसो लिकुचो डहुरित्यपि । आमं लकुचमुष्णञ्च गुरु विष्टम्भकृत्तथा ॥ ३० ॥
मधुरञ्च तथाऽम्लञ्च दोषत्रितयरक्तकृत् । शुक्राग्निनाशनं चाऽपि नेत्रयोरहितं स्मृतम् ॥ ३१ ॥
सुपक्वं तत्तु मधुरमम्लं चानिलपित्तहृत् । कफवह्निकरं रुच्यं वृष्यं विष्टम्भकञ्च तत् ॥ ३२ ॥

बडहर के संस्कृत नाम—लकुच, क्षुद्रपनस, लिकुच तथा डहु ये सब हैं ।

गुण—बडहर के कच्चे फल उष्ण, गुरु, विष्टम्भकारक, मधुर तथा अम्ल रसयुक्त, त्रिदोष एवं रक्तविकार को उत्पन्न करने वाले, शुक्र और जठराग्नि को नष्ट करने वाले तथा नेत्रों के लिये अहितकर होते हैं । यदि वे पके हों तो मधुर तथा अम्ल रसयुक्त, वात तथा पित्त के नाशक, कफ और जठराग्नि के वर्धक, रोचक, वृष्य (वीर्यवर्धक) तथा विष्टम्भक होते हैं ॥ ३०-३२ ॥

७ बड़हल

हि०-बडहल (र), बरहर, बरहल । **बं०**-डेओ, मादर, मान्दार गाछ, डेलो मान्दार, डहुया

गाछ, डेयोमादार, डहुक। **म०**-वठार फल, क्षुद्र फणस, वटार फल। **गु०**-क्षुद्रपनस, लकुच। **पं०**-वडहल। **मा०**-वडहर। **ले०**-*Antiaris Lakoocha* (ऐन्टियेरिस लकूचा)।

यह गरम प्रान्त में कुमायू से पूरब की ओर और दक्षिण में ट्रावनकोर तक तथा अनेक प्रान्तों में उत्पन्न होता है।

वडहर का वृक्ष-वडा होता है। इसके **पत्ते**-बादाम के पत्तों के समान होते हैं। **फल**-गोल, गाठदार और वडे वडे होते हैं। कच्चे में हरे तथा स्वाद में खट्टे और पकने पर नारङ्गी रङ्ग और स्वाद में खट्टे-मीठे होते हैं। इनके भीतर कटहर के समान **रेशा** और **वीज** होते हैं पर कटहर से छोटे होते हैं। इसलिये इसको क्षुद्रपनस भी कहते हैं। वसन्त ऋतु में यह फूलता फलता है॥ ७॥

अथ कदली (केला)। तन्नामानि तत्पक्वापक्वफलगुणाँश्चाह

कदली वारणा मोचाऽम्बुसाराऽंशुमतीफला। मोचाफलं स्वादु शीतं विष्टम्भि कफकृद् गुरु॥३३॥
स्निग्धं पित्तास्रतृड्दाहक्षतक्षयसमीरजित्। पक्वं स्वादु हिमं पाके स्वादु वृष्यञ्च बृंहणम्॥
क्षुत्तृष्णानेत्रगदहृन्मेहघ्नं रुचिमांसकृत्॥ ३४॥

केला के संस्कृत नाम—कदली, वारणा, मोचा, अम्बुसारा तथा अंशुमतीफला ये सब हैं।

गुण—केला के कच्चे फल स्वादिष्ट, शीतल, विष्टम्भक, कफकारक, गुरु, स्निग्ध एवं पित्त, रक्तविकार, प्यास, दाह, क्षत, क्षय तथा वात को दूर करने वाले होते हैं।

पके फल—स्वादिष्ट, शीतल, विपाक में मधुर रसयुक्त, वृष्य (वीर्यवर्धक), बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), रुचि तथा मांस को बढाने वाले एवं भूख, प्यास, नेत्ररोग तथा प्रमेह के नाशक हैं॥

अथ कदलीभेदान् गुणनिर्देशपूर्वकमाह

माणिक्यमर्त्यामृतचम्पकाद्या भेदाः कदल्या बहवोऽपि सन्ति।
उक्ता गुणास्तेष्वधिका भवन्ति निर्दोषता स्याल्लघुता च तेषाम्॥ ३५॥

केले के भेदों के नाम—माणिक्यकदली, मर्त्यकदली, अमृतकदली तथा चम्पककदली इत्यादि केले के वहुत से भेद हैं।

उक्त भेदों के गुण—जो गुण सामान्यरूप से पूर्व में केले के कह आये हैं वे सब इनमें विशेष रूप से रहते हैं तथा ये निर्दोष एवं लघु भी अपेक्षाकृत अधिक होते हैं॥ ३५॥

८ केला

हि०-केला, कदली, केरा, केदली। **बं०**-केला, कला। **म०**-केल, मोनकेल, मुठेली, लोखडी, आवेली, चवई। **गु०**-केळ, केल्य। **क०**-बालि, मरवालेकाष्ठ, कावालेतव। **ते०**-अरटि, चक्रा केली, काया, आरटी चेट्टु। **ता०**-पाजम व्रनपिपसी। **फा०**-मावज, मोज, मोझ। **अ०**-तना, मोजिदतिला। **अं०**-Plantain (प्लान्टेन)। **ले०**-*Musa Sapientum* (मूसा सेपिऐन्टम)।

केले का **वृक्ष**-प्रायः सब प्रान्तों में होता है। फलने पर इसका पेड नष्ट हो जाता है। जड में अंकुर निकल कर वृक्ष तैयार हो जाता है। इसके वडे वडे लम्वे **पत्ते**-मुलायम होते हैं। हवा के झकोडे से जगह-जगह फट जाते हैं। इसके पत्तों पर भोजन करते हैं।

भारतवर्ष में उत्पन्न होने वाले फलों में आम के वाद केला ही है। सब प्रकार के केलों में वम्बई का लाल केला, कलकत्ते का चाटिम केला, चम्पक केला (पीला केला) प्रशंसा के योग्य हैं। पर्वती केला, काला केला, राजभोग, मानभोग, मालभोग, चीनिया आदि केले भी वढिया गिने जाते हैं॥

अथ चिर्भिटम् (कचरिया, फूट)। तन्नामानि पक्वापक्वतत्फलगुणाँश्चाह

चिर्भिटं धेनुदुग्धं च तथा गोरक्षकर्कटी॥ ३६॥
चिर्भिटं मधुरं रूक्षं गुरु पित्तकफापहम्। अनुष्णं ग्राहि विष्टम्भि पक्वं तूष्णञ्च पित्तलम्॥३७॥

कचरिया (फूट) के संस्कृत नाम—चिर्भिट, धेनुदुग्ध तथा गोरक्षकर्कटी ये सब हैं।

गुण—फूट मधुर रसयुक्त, रूक्ष, गुरु, किंचित् उष्ण, ग्राही, विष्टम्भी (दस्त साफ न लाने वाला) होता है एवं पका **फल**-उष्ण तथा पित्तजनक होता है॥ ३६-३७॥

९ फूट

हि०-फूट, फूट, कचरिया सेंव, गोरख ककडी। बं०-फुटि, गोमुक, काकुड। म०-शेंदार, चिभूड, शेंदाड़। गु०-कोठीवा, चिमडो, चिभड़। ता०-ककरीकै। ते०-पेड्डुकै, पेड्डुदोसरे, बुरङ रंग पंडु। फा०-खयार। लै०-*Cucumis Momordica* (क्युक्युमिस मोमोर्डिका)।

फूट-प्रायः सब प्रान्तों की रेतीली भूमि में उत्पन्न होता है और खेतों में इसको रोपण करते हैं। इसकी **लता** होती है। **पत्ते**-गोलाकार गहरे कटे किनारे वाले या प्रायः पांच भागवाले तथा बारीक कंगूरेदार होते हैं। **फूल**-छोटे-छोटे होते हैं। **फल**-बड़े बड़े लम्बेपन युक्त गोल होते हैं। यह खरबूजे की जाति का फल है॥ ९॥

अथ नारिकेलः (नारियल)। तन्नामानि तत्फलसाधारणगुणाँश्चाह

नारिकेलो दृढफलो लाङ्गली कूर्चशीर्षकः। तुङ्गः स्कन्धफलश्चैव तृणराजः सदाफलः॥ ३८॥
नारिकेलफलं शीतं दुर्जरं वस्तिशोधनम्। विष्टम्भि बृंहणं बल्यं वातपित्तास्रदाहनुत्॥३९॥

नारियल के संस्कृत नाम—नारिकेल, दृढफल, लाङ्गली, कूर्चशीर्षक, तुङ्ग, स्कन्धफल, तृणराज तथा सदाफल ये सब हैं।

गुण-नारियल का फल शीतल, दुर्जर (देर में हजम होने वाला), वस्तिशोधक, विष्टम्भक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), बलकारक एवं वात, पित्त, रक्तविकार तथा दाह को दूर करने वाला होता है॥ ३८-३९॥

अथ कोमलजीर्णतत्फलयोर्गुणानाह

विशेषतः कोमलनारिकेलं निहन्ति पित्तज्वरपित्तदोषान्।
तदेव जीर्णं गुरु पित्तकारि विदाहि विष्टम्भि मतं भिषग्भिः॥ ४०॥

नारियल के कोमल फल के गुण—नारियल का कोमल फल विशेषतः पित्तज्वर तथा पित्तदोष को दूर करने वाला होता है। पुराने फल के गुण-पुराना फल गुरु, पित्तकारक, विदाही तथा विष्टम्भक होता है ऐसा वैद्यों का मत है॥ ४०॥

अथ नारिकेलजलगुणानाह

तस्याम्भः शीतलं हृद्यं दीपनं शुक्रलं लघु। पिपासापित्तजित्स्वादु वस्तिशुद्धिकरं परम्॥४१॥

नारियल के जल के गुण—नारियल का जल स्वादिष्ट, शीतल, हृदय को हितकर अग्निदीपक, शुक्रजनक, लघु, अत्यन्त वस्तिशोधक एवं प्यास तथा पित्त को शान्त करने वाला होता है॥ ४१॥

अथ नारिकेलादीनां शिरोगुणानाह

नारिकेलस्य तालस्य खर्जूरस्य शिरांसि तु। कषायस्निग्धमधुरबृंहणानि गुरूणि च॥ ४२॥

नारियल आदि के शिरा (रेशा) के गुण—नारियल, ताड तथा खजूर के शिरा (रेशा), कषाय तथा मधुर रसयुक्त, स्निग्ध, गुरु एवं बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक) होते हैं॥ ४२॥

१० नारियल

हि०-नारियल, नरियल, नरियर, खोपड़ा, गरी, गिरी। बं०-नारिकेल, नारकोल, नारिकोल गाछ। म०-नारली, नारल, माड़। गु०-नालीएर, नालीयर, नारीयेल। ते०-टकाया, नारिकदम, टेंकाई चेट्टु। ता०-तेंगाई, टेंगा, टेंगा। फा०-जोज हिन्दी नारीयल, नारगील। अ०-नारजिल्। मु०-नारली। क०-नारियल, नारियल रसु, तेंगि नमर। उ०-नड्डिया। मा०-नारेल। द्रा०-तेंगाई। अ०-Coconut Palm (कोकोनट पाम)। लै०-*Cocos Nucifera* (कोकस न्यूसिफेरा)।

नारियल का **वृक्ष**-ऊँचा खजूर तथा ताड़ वृक्ष के समान होता है। जिस प्रकार ताड, खजूर में शाखा नहीं होती उसी प्रकार इसमें भी शाखा नहीं होती। यह कलकत्ता, जगन्नाथपुरी और पूर्वीय प्रान्त तथा बम्बई में अधिकता से होता है। विशेष कर समुद्र और नदियों के किनारे बहुत मिलते हैं। **पत्ते**-खजूर के पत्तों के समान होते हैं और **फल**-ताड के फल के समान लगते हैं॥ १०॥

अथ कालिन्दम् (तरबूज)। तन्नामानि पक्वापक्वतत्फलगुणांश्चाह

कालिन्दं कृष्णबीज स्यात्कालिङ्गञ्च सुवर्त्तुलम्। कालिन्दं ग्राहि दृक्पित्तशुक्रहृच्छीतलं गुरु॥
पक्वन्तु सोष्णं सक्षारं पित्तलं कफवातजित्॥ ४३॥

तरबूज के संस्कृत नाम——कालिन्द, कृष्णबीज, कालिङ्ग तथा सुवर्त्तुल ये सब हैं।

गुण—तरबूज के कच्चे फल ग्राही, शीतल, गुरु एवं दृष्टि की शक्ति, पित्त तथा शुक्र को नष्ट करने वाले होते हैं। पके फल उष्ण, क्षारयुक्त, पित्तजनक एवं कफ तथा वात को दूर करने वाले होते हैं॥ ४३॥

११ तरबूज

हि०-तरबूज, तरबूजा, कालिन्द, हिनवाना, हिन्दोना। बं०-तरमुज, चेलना। म०-कालिंगड, खडुया। गु०-तडबूच, कालिंगडु। क०-कौंड़े। ते०-पुच्चकाया, तरबूज। फा०-हिन्दवाना, हीनवाना, हिन्ददानह। अ०-बतिख हिन्दी, जब्सी। अं०-Water Melon (वाटर मेलन्)। ले०-*Citrullus Vulgaris* (सिट्रलस वलगेरिस)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है। नदियों के किनारे, दियारे पर, रेतीली भूमि में अच्छा फल लगता है।

इसकी **लता**-खेतों में पसरी हुई रहती है। **पत्ते**-इन्द्रायन के पत्तों के समान गहरे कटे किनारे वाले होते हैं। **फूल**-एक इञ्च के घेरे में गोलाकार होते हैं। **फल**-बडे बडे पेठे और कोहडे के आकार वाले होते हैं। **गूदी**-लाल या सफेद होती है। **बीज**-चिपटे, लाल या काले होते हैं॥११॥

अथ खर्बूजम् (खर्बूजा)। तन्नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

दशाङ्गुलं तु खर्बूजं कथ्यन्ते तद्गुणा अथ॥ ४४॥
खर्बूजं मूत्रलं बल्यं कोष्ठशुद्धिकरं गुरु। स्निग्धं स्वादुतरं शीतं वृष्यं पित्तानिलापहम्॥ ४५॥
तेषु यच्चाम्लमधुरं सक्षारञ्च रसाद्भवेत्। रक्तपित्तकरं तत्तु मूत्रकृच्छ्रकरं परम्॥ ४६॥

खर्बूजा के संस्कृत नाम—दशाङ्गुल और खर्बूजा ये हैं। **गुण**-खर्बूजा के फल अत्यन्त स्वादिष्ट, मूत्रजनक, बलकारक, कोष्ठशुद्धि करने वाले, गुरु, स्निग्ध, शीतल, वृष्य (वीर्यवर्धक) एवं पित्त तथा वायु को दूर करने वाले होते हैं। इनमें जो अम्ल, मधुर एवं क्षार रसयुक्त होते हैं वे रक्त-पित्त तथा मूत्रकृच्छ्र को अत्यन्त करने वाले होते हैं॥ ४४-४६॥

१२ खरबूजा

हि०-खरबूज, खरबूजा, खर्बूजा, लालमी। बं०-खरबुजा, खरमुज। म०-खर्बुज, खरबूज। गु०-तलिया शकर टेटी, तलियामीमडा। ते०-खरबूज। क०-खढजसौते, खडजसौते, षड्भुजा। फा०-खरपुजह, खरपुजा। अ०-बितिख, खर्पुजह, खरपुजाह। अं०-Melon (मेलन्)। ले०-*Cucumis melo* (क्युक्युमिस मेलो)।

प्रायः सब प्रान्तों के खेतों में यह रोपण किया जाता है नदियों के किनारे रेतीली भूमि में यह अधिक उत्पन्न होता है।

इसकी **लता**-भूमि पर पसरी हुई रहती है। **पत्ते**-गोलाकार, उनमें कहीं-कहीं नोक सा निकला रहता है। **फूल**-पीले रंग के आते हैं। **फल**-गोलाकार कुछ चिपटे रहते हैं। पकने पर वे किञ्चित् हरापन युक्त पीले रंग के या सफेदी मायल हो जाते हैं। उसके चारों ओर रेखायें रहती हैं जो नीले रंग की होती हैं। **गूदी**-के भीतर बीजों के समूह का लसीला गोला रहता है। **बीज**-लम्बाई युक्त चिपटे होते हैं॥ १२॥

अथ त्रपुसम् (खीरा, बालमखीरा)। तस्य नामानि पक्वापक्वतत्फलतद्बीजगुणाँश्चाह

त्रपुसं कण्टकिफलं सुधावासः सुशीतलम्। त्रपुसं लघु नीलञ्च नवं तृट्क्लमदाहजित्॥४७॥
स्वादु पित्तापहं शीतं रक्तपित्तहरं परम्। तत्पक्वमम्लमुष्णं स्यात्पित्तलं कफवातनुत्॥
तद्बीजं मूत्रलं शीतं रूक्षं पित्तास्रकृच्छ्रजित्॥ ४८॥

खीरा के संस्कृत नाम—त्रपुस, कण्टकिफल, सुधावास तथा सुशीतल ये सब हैं। **गुण**-खीरे के छोटे, नीले तथा नवीन फल स्वादिष्ट, शीतल एवं प्यास, क्लान्ति दाह तथा पित्त को दूर करने वाले और रक्तपित्त को तो अत्यन्त नष्ट करने वाले होते हैं। **खीरे के पके फल**-अम्ल रसयुक्त, उष्ण, पित्तजनक एवं कफ तथा वात को नष्ट करने वाले होते हैं। **खीरे के बीज**-मूत्रजनक, शीतल, रूक्ष एवं पित्त, रक्तविकार तथा मूत्रकृच्छ्र को दूर करने वाले होते हैं॥ ४७-४८॥

१३ खीरा

हि०-खीरा, वालमखीरा। **बं०**-क्षीरा, शशा, शंशा समा। **म०**-तौसे कांकडी, खिरा, कर्कटी। **क०**-तसेयकायि, तवसें। **गु०**-तासली, तासली। **ते०**-दोजकइय, दोजकाई। **ता०**-महेवेहरी, मुल्लुवेल्लेरी। **फा०**-शिथार खुर्द, खयार, वावरङ्ग। **अ०**-कंशद। **अं०**-Cucumber (क्युकम्बर)। **लै०**-*Cucumis sativus* (क्युक्युमिस सेटिवस)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है।

इसकी **लता**-खेतों में फैली हुई रहती है। **पत्ते**-५-६ इञ्च के घेरे में गोलाकार और पांच कोण वाले होते हैं। **फूल**-पीले रङ्ग के आते हैं। **फल**-६ से १२ इञ्च तक लम्बे और उसमें ककडी के समान बीज होते हैं। एक बडी जाति का खीरा होता है जिसको 'वालम खीरा' कहते हैं। इसकी लम्बाई अधिक होती है॥ १३॥

अथ गुवाकः (छोटी सुपारी)। तन्नामानि तत्फलनामगुणाँश्चाह

घोरण्टः पूगी पूगश्च गुवाकः क्रमुकोऽस्य तु। फलं पूगीफलं प्रोक्तमुद्वेगं च तदीरितम्॥४९॥
पूगं गुरु हिमं रूक्षं कषायं कफपित्तजित्। मोहनं दीपनं रुच्यमास्यवैरस्यनाशनम्॥ ५०॥

सुपारी के संस्कृत नाम—घोरण्ट, पूगी, पूग, गुवाक तथा क्रमुक और फल के संस्कृत नाम—पूगीफल तथा उद्वेग है। **गुण**—सुपारी कषाय रसयुक्त, गुरु, शीतल, रूक्ष, मोहजनक, अग्निदीपक, रोचक एवं कफ, पित्त तथा मुख की विरसता को दूर करने वाली होती है॥ ४९-५०॥

अथार्द्रस्विन्नतत्फलगुणानाह

आर्द्रं तद् गुर्वभिष्यन्दि वह्निदृष्टिहरं स्मृतम्। स्विन्नं दोषत्रयच्छेदि दृढमध्यं तदुत्तमम्॥५१॥

कच्ची सुपारी के फल के गुण—कच्ची सुपारी गुरु, अभिष्यन्दी एवं जठराग्नि तथा दृष्टि को मन्द करने वाली और स्विन्न (चिकनी) सुपारी त्रिदोषनाशक होती है तथा जिसका मध्यभाग दृढ हो वह सुपारी उत्तम है॥ ५१॥

१४ सुपारी

हि०-सुपारी, सोपारी, सुपाडी, कसेली, कसैली, कसइली। **बं०**-सुपारी, सुपारि, सुपारी। **म०**-सुपारी, पोफल। **गु०**-सोपारी, सुपारी, शोपारी। **क०**-अडिके यड्डेसरु, अडिके, आडिके, अडकेयसरनु। **ते०**-पोका काया, क्रमकमु, पोक। **फा०**-पोपिल। **अ०**-फोफिल। **मा०**-सुपारी। **द्रा०**-पाक। **उ०**-गुया। **पं०**-सुपारी। **अं०**-Betal nut palm (बिटल् नट् पाम)। **लै०**-*Areca catechu* (एरीका कटेचू)।

सुपारी-एक बहुत प्रसिद्ध वस्तु है जो प्रतिदिन के व्यवहार में आती है। इसके वृक्ष बङ्गाल, आसाम, सिलहट, मैसूर, कनारा, मालावार तथा दक्षिण भारत के कई प्रान्तों में होते हैं। यह **वृक्ष**-ताड़ और नारियल के समान लम्बा ऊँचा पर बांस के समान पतला होता है। **पत्ते**-बडे बडे झाडदार नारियल के पत्तों के समान, **फल**-छोटे छोटे गोल और उन पर नारियल के समान छिलके होते हैं। सुपारी अनेक प्रकार की होती है। परन्तु एक साधारण सुपारी (सफेद रङ्ग की) और दूसरी दक्षिणी सुपारी (लाल सुपारी) ये ही दो प्रसिद्ध हैं॥ १४॥

अथ तालः (ताड)। तन्नामानि तत्पक्वफलमज्जगुणाँश्चाह

तालस्तु लेख्यपत्रः स्यात्तृणराजो महोन्नतः॥ ५२॥
पक्वं तालफलं पित्तरक्तश्लेष्मविवर्द्धनम्। दुर्जरं बहुमूत्रञ्च तन्द्राऽभिष्यन्दशुक्रदम्॥ ५३॥
तालमज्जा तु तरुणः किञ्चिन्मदकरो लघुः। श्लेष्मलो वातपित्तघ्नः सस्नेहो मधुरः सरः॥ ५४॥

ताड के संस्कृत नाम—ताल, लेख्यपत्र, तृणराज तथा महोन्नत ये सब हैं।

गुण—पका ताड का फल पित्त, रक्त तथा कफ की वृद्धि करने वाला, देर में हजम होने वाला, मूत्र की अत्यन्त प्रवृत्ति करने वाला एव तन्द्रा, अभिष्यन्द तथा शुक्र को उत्पन्न करने वाला होता है। ताड की मींगी जो कि खूब तैयार हो गई हो वह किञ्चित् मदकारक, लघु, कफजनक, स्नेहयुक्त, मधुर, सारक एव वात तथा पित्त का नाशक होती है ॥ ५२-५४ ॥

अथ तालरसः (ताडी) नवीनस्य प्राचीनस्य च तस्य नामानि गुणाँश्चाह

तालज तरुणं तोयमतीव मदकृन्मतम्। अम्लीभूतं तदा तु स्यात्पित्तकृद्वातदोषहृत् ॥५५॥

नवीन ताडी के गुण—ताड का नवीन जल (ताडी) अत्यन्त मदकारक होता है। यदि वही पुराना होने से खट्टा हो गया हो तो पित्तकारक एवं वात दोष को दूर करने वाला होता है ॥५५॥

१५ ताड़

हि०-ताड, ताल, तार। बं०-ताल। म०-ताड, खरताल। ता०-पनै मरम, पनम। क०-तालिमारा, बालेमर। ते०-ताति, ताडु। गु०-तड। द्रा०-पानम्मर। फा०-ताल। अ०-तार। अं०-Palm Tree (पाम ट्री)। ले०-*Borassus Flabelliformis* (बोरैसस फ्लैबेलिफोर्मिस)।

ताड का वृक्ष—१०० फीट तक ऊँचा होता है और उसके स्तम्भ की गोलाई दो फीट तक होती है। स्तम्भ के सिरे पर ३ से ५ फीट के घेरे में ६०-७० पत्ते एक साथ सटे हुये गोलाकार और झझरदार होते हैं। पत्रदंड-३ से ५ फुट का होता है। यह पुरुष और स्त्री जाति के भेद से दो प्रकार का होता है। स्त्री जाति पर नारियल के फूल के समान फल लगते हैं और पुरुष जाति पर वाल आते हैं। इसके रस को ताड़ी कहते हैं।

अथ बिल्वः (बेल)। तन्नामानि तद्बालफलनामगुणांश्चाह

**बिल्वः शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि। बालं बिल्वफलं बिल्वकर्कटी बिल्वपेशिका ॥
ग्राहिणी कफवातामशूलघ्नी बिल्वपेशिका ॥ ५६ ॥**

[1]बेल के संस्कृत नाम—बिल्व, शाण्डिल्य, शैलूष, मालूर तथा श्रीफल ये सब हैं। बेल के कच्चे फल के नाम—बालबिल्वफल, बिल्वकर्कटी तथा बिल्वपेशिका ये सब हैं।

गुण—बेल के कच्चे फल—ग्राही एव कफ, वात, आम तथा शूल को नष्ट करने वाले होते हैं ॥ ५६ ॥

अन्यच्च

बालं बिल्वफल ग्राहि दीपनं पाचन कटु। कषायोष्ण लघु स्निग्धं तिक्तं वातकफापहम् ॥५७॥

कच्चे बेल के गुण—कच्चे बेल ग्राही, अग्निदीपक, पाचक, कटु-तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, उष्ण, लघु, स्निग्ध एव वात तथा कफ को दूर करने वाले होते हैं ॥ ५७ ॥

अथ पक्वतत्फलगुणानाह

पक्वं गुरु त्रिदोषं स्याद् दुर्जरं पूतिमारुतम्। विदाहि विष्टम्भकरं मधुरं वह्निमान्द्यकृत् ॥५८॥

गुण—पका बेल मधुर रसयुक्त, गुरु, त्रिदोषजनक, देर में हजम होने वाला, दुर्गन्धयुक्त अधोवायु को करने वाला, विदाही, विष्टम्भ तथा अग्निमन्दता को उत्पन्न करने वाला होता है ॥५८॥

अथ पक्वापेक्षया बालस्य बिल्वफलस्य गुणाधिक्यमाह

**फलेषु परिपक्व यद् गुणवत्तदुदाहृतम् ॥ ५९ ॥
बिल्वादन्यत्र विज्ञेयमाम तद्धि गुणाधिकम्। द्राक्षाबिल्वशिवाऽऽदीनां फलं शुष्कं गुणाधिकम् ॥**

कच्चे बेल के गुणाधिक्य का वर्णन—सामान्यरूप से फलों में पका फल ही अधिक गुणकारी

[1] गुडूच्यादि वर्ग में इसका अनेक भाषाओं में नाम दिया जा चुका है।

कहा गया है किन्तु यह नियम-बेल के फल के लिये नहीं है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि बेल का कच्चा फल ही विशेष गुणकारी होता है।

द्राक्षा (दाख), बेल तथा हरड़ आदि के फल यदि सूखे हों तो अधिक गुणकारी होते हैं॥

अथ कपित्थः (कैथ)। तन्नामानि तत्पक्वापक्वफलगुणाँश्चाह

कपित्थस्तु दधित्थः स्यात्तथा पुष्पफलः स्मृतः। कपिप्रियो दधिफलस्तथा दन्तशठोऽपि च॥६१॥
कपित्थमामं संग्राहि कषायं लघु लेखनम्। पक्वं गुरु तृषाहिक्काशमनं वातपित्तजित्॥
स्यादम्लं तुवरं कण्ठशोधनं ग्राहि दुर्जरम्॥ ६२॥

कैथ के संस्कृत नाम—कपित्थ, दधित्थ, पुष्पफल, कपिप्रिय, दधिफल तथा दन्तशठ ये सब हैं।

गुण—कैथ का कच्चा फल कषाय रसयुक्त, सग्राही, लघु तथा लेखन होता है। पक्का **फल**—अम्ल तथा कषाय रसयुक्त, गुरु, कण्ठ को साफ करने वाला, ग्राही, देर में हजम होनेवाला एवं प्यास तथा हिक्का को शमन करने वाला और वात तथा पित्त को दूर करने वाला होता है॥६१ ६२॥

१६ कैंथ

हि०-कै(कैं)थ, कैथा, कैंत, कइत। **बं०**-कयेथ गाछ, कत्बेल, कयेत् बेल, कयेत् बेल, कयेद्वाछ। **म०**-कवठ, कवट, कवट, कविठ। **गु०**-कोठ, काठ, कोठु। **क०**-वेललु, वेलडा, वलुवत, व्यालदमर। **ते०**-एलाग काया, वेलग चेट्टु, एकागा काया। **यू०**-कवेट। **मा०, पं०**-कैथ। **द्रा०**-बलामर। **अं०**-Wood Apple (उड एपुल्)। **ले०**-*Feronia Elephantum* (फेरोनिया एलिफैन्टम्)।

यह इस देश के प्रायः सूखे प्रान्तों में अधिक उत्पन्न होता है।

इसका **वृक्ष**-बहुत बडा होता है और उस पर सीधे काटे होते हैं। वृक्ष से बबूर के गोंद के समान एक प्रकार का गोंद निकलता है। **पत्ते**-छोटे-छोटे एक-एक सींक पर तीन-तीन अथवा ५ या ७-७ रहते हैं। **फूल**-फीके लाल रंग के होते हैं। **फल**-२-३ इञ्च के घेरे में गोल होते हैं और **छिलका**-कठोर होता है। भीतर गूदी होती है और गूदी में छोटे छोटे अनेक बीज होते हैं। इसमें एक आश्चर्यजनक गुण यह है कि यदि हाथी कैंथ के फल को खा जावे तो इसका गूदा हाथी के पेट में रह जाता है और गूदा रहित अखडित फल मल के साथ बाहर निकल आता है॥ १६॥

अथ नारङ्गः (नारङ्गी)। तन्नामानि मधुराम्लनारङ्गयोर्गुणाँश्चाह

नारङ्गो नागरङ्गः यात्त्वक्सुगन्धो मुखप्रियः॥ ६३॥
नारङ्गो मधुराम्लः स्याद्रोचनो वातनाशनः। अपर त्वम्लमत्युष्णं दुर्जरं वातहृत् सरम्॥६४॥

नारङ्गी के संस्कृत नाम—नारङ्ग, नागरङ्ग, त्वक्सुगन्ध तथा मुखप्रिय ये सब हैं।

गुण—नारङ्गी मधुर तथा अम्लरसयुक्त, रोचक एव वातनाशक होती है और दूसरी जाति की नारङ्गी अम्लरसयुक्त, अत्यन्त उष्ण, देर में हजम होने वाली, सारक तथा वातनाशक होती है॥ ६३-६४॥

१७ नारङ्गी

हि०-नारङ्गी, सतरा, सन्त्रा। **बं०**-कमलालेंबु, नारङ्गालेबु, नारङ्गीलेबु। **म०**-नारिंग। **क०**-माधवला। **ते०**-दयाकाया, गजनिम्म, नारजिचेट्टु। **उ०**-नारिंगी। **ता०**-किचिली। **गु०**-नारङ्गी लिंबु। **फा०**-किस्मे अज नारज, नारंज। **अ०**-नारज। **अं०**-Orange (आरेंज)। **ले०**-*Citrus Aurantium* (सिट्रस औरैण्टियम)।

इसका वृक्ष सब प्रान्तों की वाटिकाओं में रोपण किया जाता है। यह हिमालय गढवाल से पूरब की ओर सिक्किम तक मनीपुर आदि पहाडी जगहों में भी पाया जाता है।

इसका **वृक्ष**-छोटा होता है। **पत्ते**-चिकने ४-५ इञ्च लम्बे नीबू के पत्ते के आकार वाले होते हैं। **फूल**-सफेद रंग के आते हैं और उनसे सुगन्ध आती है। **फल**-२ इञ्च के घेरे में गोलाकार और दोनों ओर दबे हुए होते हैं, पकने पर वे नारङ्गी रङ्ग के हो जाते हैं॥ १७॥

अथ तिन्दुकः (तेंदू)। तन्नामानि पक्वापक्वतत्फलगुणाँश्चाह

तिन्दुकः स्फूर्जकः कालस्कन्धश्चासितकारकः। स्यादामं तिन्दुकं ग्राहि वातलं शीतलं लघु॥
पक्वं पित्तप्रमेहास्रश्लेष्मघ्नं मधुरं गुरु॥ ६५॥

तेंदू के संस्कृत नाम—तिन्दुक, स्फूर्जक, कालस्कन्ध तथा असितकारक ये सब हैं।

गुण—तेंदू का कच्चा फल ग्राही, वातजनक, शीतल एव लघु होता है। पका फल-मधुर रसयुक्त, गुरु एव पित्त, प्रमेह रक्तविकार तथा कफ का नाशक होता है॥ ६५॥

१८ तेंदू

हि०-तेंदू, तैन्दू, गाव, गाभ। **बं०**-गाव, तदू, तेर, माकडा केंद। **म०**-टेंभुर्गी, आयन, देम्व रूपणी, आपन। **गु०**-टिंवरवो, टींवरू, टेमरू। **क०**-टुंवरु, रुवुरु, रुवरु, तुम्बर। **ते०**-तामिकू, तुमि। **ता०**-तुम्बिक। **फा०**-अवनुसुझाड। **मु०**-तिम्बोरी। **कों०**-काकटेंभुर्णी, काटेंटेमुरणी। **मा०**-तींदू। **पं०**-तेंदू। **अ०**-अवनूस। **अं०**-Ebony (एवोनी)। **ले०**-*Diospyros Embryopteris* (डायोस्पाइरोस एम्ब्रिओप्टेरिस)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। विशेष कर बगाल में अधिक होता है।

इसका **वृक्ष**-मध्यमाकार का शाखा-प्रशाखा करके सघन और बारहो मास हरा-भरा रहता है। **छाल**-भूरे रग की होती है। **पत्ते**-२ इञ्च चौडे ५॥ इञ्च तक लम्वे किंचित् अण्डाकार चिकने और चमकीले होते हैं। **फूल**-सफेदीयुक्त लाल, पत्रदण्ड के पास झुमकों में आते हैं। **फल**-१-२ इञ्च के घेरे में गोलाकार और पकने पर कुछ पीले रग के हो जाते हैं। इसके भीतर लसीली गूदी होती है। मल्लाह लोग सन के साथ इसकी गूदी को मिला कर नाव के छेदों को वन्द करते हैं।

अथ कुपीलुः। (यस्य फलं कुचिला इति लोके 'मकरतेंदुआ' इति च) तन्नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

तिन्दुको यस्तु कथितो जलदो दीर्घपत्रकः॥ ६६॥
कुपीलुः कुलकः काकतिन्दुकः काकपीलुकः। काकेन्दुर्विषतिन्दुश्च तथा मर्कटतिन्दुकः॥६७॥
कुपीलुः शीतलं तिक्तं वातलं मदकृल्लघु। परं व्यथाहरं ग्राहि कफपित्तास्रनाशनम्॥ ६८॥

कुपीलु 'कुचिला' अथवा 'मकर तेंदुआ' के संस्कृत नाम—तिन्दुक, जलद, दीर्घपत्रक, कुपीलु, कुलक, काकतिन्दुक, काकपीलुक, काकेन्दु, विषतिन्दु तथा मर्कटतिन्दुक ये सब हैं।

गुण—कुचिला तिक्तरसयुक्त, शीतल, वातजनक, मदकारक, लघु अत्यन्त व्यथा को दूर करने वाला, ग्राही एव कफ, पित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है॥ ६६-६८॥

१९ कुचिला

हि०-कुचला, कुचिला, कोंचिला। **बं०**-कुचिले, कूचिला। **म०**-काजरा, कारस्कार। **गु०**-झेर कोंचला (लु)। **क०**-कजिवार, हेमुष्टि, कासर कानमारा। **ते०**-मुष्टिगिजा, मुस्टिड़े, मुष्टि चेट्टु। **ता०**-एट्टेमार, काकोर्ठी। **माला०**-कन्निराम। **ब्रह्मी०**-खावों। **फा०**-इफाराकी, अझेरकी। **अ०**-कातिलुल् कल्क, फिलूजमाही, इजराकी। **अं०**-Poison Nut (पाइजन नट)। **ले०**-*Strychnos Nux Vomica* (स्ट्रिक्नास नक्स वामिका)।

यह भारतवर्ष के गरम प्रान्तों में होता है। विशेष कर मद्रास में अधिक पाया जाता है। बङ्गाल में नहीं होता।

इसका **वृक्ष**-४० फीट तक ऊँचा होता है। **स्तम्भ**-मोटा और सीधा रहता है। **पत्ते**-३ से ६ इञ्च तक लम्बे समवर्त्ती लगते हैं। **फूल**-छोटे छोटे हरापन युक्त सफेद आते हैं। फूला हुआ वृक्ष बहुत सुहावना दीख पड़ता है। **फल**-गोल, चिकने, नारङ्गी के वरावर और उसी रङ्ग के आते हैं। इसके भीतर एक प्रकार का कड़वा, सफेद कोमल पदार्थ (गूदी) भरा रहता है। जिसमें २ से ५ तक वीज रहते हैं। **वीज**-आध इञ्च के घेरे में चमकीले, सफेद मखमली रेशों से भरे रहते हैं।

२० मकर तेंदुआ

हि०-मकर केंद, मकर तेंद, मकर तेंदु, मकर तेंदुआ, केन्दु, तेन्दु, आवनूस। बं०-तेंद, केंद, माकडा गाव, माकडा तेंदु, आबनूस। म०-कांकटेंमुर्णी। गु०-काकटिंवर वो। ते०-तुमि, तुमकी। ता०-तुम्वी। प्रा०-काकतेन्दु। ले०-*Diospyros Melanoxylon* (डायोस्पाइरोस मिलैनोक्सिलन)।

यह उत्तर के जङ्गली प्रान्तों में पाया जाता है।

इसका वृक्ष-मध्यमाकार का ५० फीट तक ऊँचा होता है। स्तम्भ की गोलाई ६ फीट तक होती है। लकड़ी-छाली युक्त भूरे रङ्ग की होती है परन्तु सारभाग काला होता है। पत्ते-विषमवर्ती तेंदु के पत्तों के आकार वाले होते हैं। फूल-घण्टाकार होते हैं। फल-१-१॥ इञ्च के घेरे में गोलाकार चिकने और पकने पर पीले पड़ जाते हैं। इसके भीतर गूदी होती है जो पीले रङ्ग की होती है॥ १९-२०॥

अथ राजजम्बूः (बड़ी जामुन)। तन्नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

फलेन्द्रा कथिता नन्दा राजजम्बूर्महाफला। तथा सुरभिपत्रा च महाजम्बूरपि स्मृता॥
राजजम्बूफलं स्वादु विष्टम्भि गुरु रोचनम्॥ ६९॥

बड़ी जामुन के संस्कृत नाम—फलेन्द्रा, नन्दा, राजजम्बू, महाफला, सुरभिपत्रा और महाजम्बू ये सब हैं। **गुण**—बड़ी जामुन का फल स्वादिष्ट, विष्टम्भक, गुरु तथा रोचक होता है॥ ६९॥

२१ बड़ी जामुन

हि०-बड़ी जामुन, फरेन्द्र(न), फडेना, फलेन्द्रा, राजजामुन। बं०-बडजाम। म०-रायजाम्भूल, थोर जाम्बुलं। गु०-जाम्बुन, राजजाम्बु। क०-दोड्डुनिरलु, दोदुनिरली (लु)। ते०-पेद्दनेरडि, नेरडु चेट्टु। को०-राजिले। अं०-Jambul Tree (जाम्बुल ट्री)। ले०-*Eugenia Jambolana* (युजिनिया जाम्बोलाना)।

यह सब प्रान्तों में पायी जाती है। इसका वृक्ष बड़ा होता है और वह सदा हरा-भरा रहता है। पत्ते-आम के पत्तों के समान लम्बे और आम के पत्तों से चौड़े होते हैं। फूलों की मंजरियाँ किञ्चित् हरापन युक्त सफेद होती हैं और उससे सुगन्ध आती है। फल-आध से एक इञ्च तक लम्बे, गोल, पकने पर बैंजनी युक्त काले रङ्ग के हो जाते हैं। उसमें गूदी होती हैं॥ २१॥

अथ जलजम्बुका (छोटी जामुन, नदी जामुन)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

क्षुद्रजम्बूः सूक्ष्मपत्रा नादेयी जलजम्बुका। जम्बूः संग्राहिणी रूक्षा कफपित्तास्रदाहजित्॥७०॥

छोटी जामुन के संस्कृत नाम—क्षुद्रजम्बूः सूक्ष्मपत्रा, नादेयी तथा जलजम्बुका ये सब हैं।

गुण—छोटी जामुन संग्राही, रूक्ष एवं कफ, पित्त, रक्तविकार तथा दाह को दूर करने वाली होती है॥ ७०॥

२२ छोटी जामुन

हि०-छोटी जामुन, कठ जामुन, वन जामुना। बं०-क्षुद्रे जाम, बन जाम। गु०-क्षुद्र जम्बु, डुङ्गरी जांबु। ले०-*Premna Herbacea* (प्रेम्ना हर्बेसिया)।

यह हिमालय के साधारण प्रान्त और दक्षिण में होती है।

इसका झाड़-छोटा होता है। शाखायें-प्रायः जड़ से ही अधिक निकलती हैं। पत्ते-४ इञ्च तक लम्बे और २-३ इञ्च चौड़े होते हैं। फूल-४ पखडी वाले हरापनयुक्त सफेद रंग के आते हैं। फल-चौथाई इञ्च के घेरे में गोल और पकने पर वे काले हो जाते हैं।

एक प्रकार की और जामुन होती है जिसको जलजामुन या नदीजामुन कहते हैं। यह जामुन का ही भेद है। इसके पत्ते कनेर के पत्तों के समान और फल बहुत छोटे-छोटे वनजामुन के समान होते हैं॥ २२॥

अथ बदरी (बेर)। तस्या नामान्याह

पुंसि स्त्रियाञ्च कर्कन्धूर्बदरी कोलमित्यपि ॥ ७१ ॥
फेनिलं कुवलं घोण्टा सौवीरं बदरं महत्। अजप्रिया कुहा कोली विषमोभयकण्टका ॥७२॥

छोटे बेर के संस्कृत नाम—कर्कन्धू (यह पुल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग में होता है), बदरी, अजप्रिया, कुहा, कोली, विषमा तथा उभयकण्टका ये सब हैं। बडे बेर के संस्कृत नाम—फेनिल, कुवल, घोण्टा और सौवीर ये सब हैं। बडे बेर से कुछ छोटा जो होता है। उसे 'कोल' कहते हैं ॥७१-७२॥

तत्र बदरविशेषाणां लक्षणानि गुणाँश्चाह

पच्यमानं सुमधुरं सौवीरं बदरं महत्। सौवीरं बदरं शीतं भेदनं गुरु शुक्रलम् ॥ ७३ ॥
बृंहणं पित्तदाहास्रक्षयतृष्णानिवारणम्। सौवीरं लघु सम्पक्वं मधुरं कोलमुच्यते ॥ ७४ ॥
कोलन्तु बदरं ग्राहि रुच्यमुष्णञ्च वातहृत्। कफपित्तकरं चापि गुरु सारकमीरितम् ॥ ७५ ॥
कर्कन्धूः क्षुद्रबदरं कथितं पूर्वसूरिभिः। अम्लं स्यात्क्षुद्रबदरं कषायं मधुरं मनाक् ॥ ७६ ॥
स्निग्धं गुरु च तिक्तञ्च वातपित्तापहं स्मृतम्। शुष्कं भेद्यग्निकृत्सर्वं लघु तृष्णाक्लमास्रजित् ॥ ७७ ॥

बेर के भेद तथा उनके लक्षण और गुण—सौवीर के लक्षण-जो बेर पका हुआ अत्यन्त मीठा और बडा हो उसे 'सौवीर' कहते हैं। **गुण**-सौवीर (बेर) शीतल, मल का भेदन करने वाला, गुरु, शुक्रजनक, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक) एव पित्त, दाह, रक्तविकार, क्षय तथा प्यास को दूर करने वाला होता है। कोल के लक्षण—जो सौवीर नामक बेर छोटा, मधुर तथा पका हुआ हो उसे 'कोल' समझना चाहिये।

गुण-कोल (बेर) ग्राही, रोचक, उष्ण, कफ तथा पित्तजनक, गुरु, सारक एव वातनाशक होता है।

कर्कन्धू के लक्षण—छोटे बेर को 'कर्कन्धू' कहते हैं। **गुण**-कर्कन्धू अम्ल, पित्त, कषाय तथा किञ्चित् मधुर, रसयुक्त, स्निग्ध, गुरु एव वात तथा पित्तनाशक है।

सभी प्रकार के बेर यदि सूखे हों तो वे मलभेदक, जठराग्निवर्धक, लघु एव प्यास, क्लान्ति तथा रक्तविकार के नाशक होते हैं ॥ ७३-७७ ॥

२३ बेर

हि०-बेर, बैर, बइर, बेरी, बयर। **बं०**-कुल, बसर। **म०**-बोर, बोरीचे झाड। **गु०**-बोरडी। **क०**-बोरे, यरनु, यचले। **पं०**-बेर। **ता०**-रेयन्ती। **द्रा०**-यलदै। **ते०**-रेगु चेट्टु, रेष गोट्टे चेट्टु। **उ०**-कुडि। **फा०**-कुनार, सिदुर। **सु०**-बोर। **अ०**-सिदर नबक्क। **मा०**-बोरडी, बोर। **अं०**-Plum (प्लम)। **ले०**-*Zizyphus Jujuba* (जिजिफस जुजुबा)।

बेर प्रायः सब प्रान्तों में होता है। यह जगलों में आप ही आप उत्पन्न होता है और बागों में रोपण किया जाता है।

इसका **वृक्ष**-मध्यमाकार का होता है और शाखायें बहुत होती हैं। वृक्ष और शाखाएँ छोटे छोटे तीक्ष्ण काँटों से भरे रहते हैं। **पत्ते**-१-२॥ इञ्च के बेरे में गोलाई लिये लम्बे होते हैं। **फूल**-हरापन युक्त सफेद आते हैं। **फल**-अण्डाकार पकने पर फीके पीले या नारङ्गी रङ्ग के होते हैं। **गुठली**-कठोर होती है।

बेर—छोटे बडे फलों के भेद से लम्बे गोल, पैमदी, कठा, पौंडा, रामपुरी आदि कई प्रकार के होते हैं। बडे और पक कर मीठे हो गये हों ऐसे बेर को 'सौवीर' कहते हैं। सौवीर से छोटे सामान्य बेर, जो पक कर मीठे हो गये हों उसे 'कोल' कहते हैं और छोटे बेर को 'कर्कन्धू' कहते हैं।

इस प्रकार का और बेर होता है जिसको संस्कृत में-भूबदरी, हिन्दी में-झारबेर या झरबेरी कहते हैं। इसका लेटिन नाम-जिजिफस न्युम्मु लेरिया है। यह भी प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है।

इसका वृक्ष-झाड के समान एक गज तक ऊँचा और शाखायें-सूक्ष्म काँटों से भरी हुई पतली-पतली भूमि की ओर नत रहती हैं। पत्ते-उक्त बेर के पत्तों के आकार के परन्तु उनसे छोटे होते हैं। फूल-छोटे-छोटे उन्नाव के समान होते हैं ॥ २३ ॥

अथ प्राचीनामलकम् (पानी आंवला)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

प्राचीनामलकं लोके पानीयामलकं स्मृतम्। प्राचीनामलकं दोषत्रयजिज्ज्वरघाति च ॥७८॥

पानी आंवला के संस्कृत नाम—प्राचीनामलक तथा पानीयामलक हैं।

गुण—पानी आंवला त्रिदोष तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है ॥ ७८ ॥

२४ पानी आमला

हि०-पानी आमला, पानी आंवडा(रा), पनियाला। **बं०**-पानिअम्वरा, पानिआमला। **म०**-पान आंवले, पाण आवला(ली)। **गु०**-पाणि आंवले, पाण आवला। **ते०**-प्राचीनामलकमु। **ता०**-तालीस पत्री। **ले०**-*Flacourtia Cota Phracta* (फ्लाकोर्सिया काटाफ्राक्टा)।

यह बंगाल, आसाम, चट्टगांव, कोंकण आदि प्रान्तों में पाया जाता है।

इसका **वृक्ष**-छोटे कद का होता है और शाखाओं पर कांटे होते हैं। **पत्ते**-३ से ५ इञ्च लम्बे अण्डाकार और बर्छीनुमे होते हैं। **फूल**-बहुत छोटे छोटे बेर के समान होते हैं। **फल**-झरबेर के समान गोलाकार और पकने पर लाल हो जाते हैं ॥ २४ ॥

अथ लवली (हरफारेवडी)। तस्या नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

सुगन्धमूला लवली पाण्डुः कोमलवल्कला ॥ ७९ ॥

लवलीफलमश्माऽर्शःकफपित्तहरं गुरु। विशदं रोचनं रूक्षं स्वाद्वम्लं तुवरं रसे ॥ ८० ॥

हरफारेवडी के संस्कृत नाम—सुगन्धमूला, लवली, पाण्डु तथा कोमलवल्कला ये सब हैं।

गुण-हरफारेवडी का फल विशद गुणयुक्त, रोचक, रूक्ष, गुरु, स्वादिष्ट, अम्ल तथा कषाय रसयुक्त एवं पथरी, अर्श, कफ तथा पित्त को नष्ट करने वाली होती है ॥ ७९-८० ॥

२५ हरफारेवड़ी

हि०-हरफारेवडी (री), लवली, हरफरौरी। **बं०**-नोयाल, नोयाड, लेयोयार, लोयाड। **म०**-रायआँवला, हरपर रेवडी, कायआवला। **गु०**-हरफारेवडी, खाटी आवली। **पं०**-हरपा रेवडी। **ले०**-*Phyllanthus Distichus* (फिलान्थस डिस्टिकस)।

प्रायः यह सब प्रान्त की वाटिकाओं में देखने में आती है।

इसका **वृक्ष**-मध्यमाकार का सुहावना दीख पडता है। **पत्ते**-कसौंदी के पत्तों के आकार वाले सींकों के दोनों ओर आमने-सामने लगते हैं। वसन्त ऋतु में इस पर फूल लगते है। **फूल**-बारीक गुलाबी रङ्ग के गुच्छों में मोटी मोटी डालियों पर आते हैं। **फल**-गूलर के समान शाखाओं पर सफेदी मायल हरे रङ्ग के होते हैं और वे दोनों ओर से दबे रहते हैं ॥ २५ ॥

अथ करमर्दः, करमर्दिका च (करौंदा-करौंदी)। तयोर्नामानि पक्वापक्वतत्फलगुणाँश्चाह

करमर्दः सुषेणः स्यात्कृष्णपाकफलस्तथा। तस्माल्लघुफला या तु सा ज्ञेया करमर्दिका ॥८१॥

करमर्दद्वयं त्वाममम्लं गुरु तृषाहरम्। उष्णं रुचिकरं प्रोक्तं रक्तपित्तकफप्रदम् ॥

तत्पक्वं मधुरं रुच्यं लघु पित्तसमीरजित् ॥ ८२ ॥

करौंदा के संस्कृत नाम—करमर्द, सुषेण तथा कृष्णपाकफल ये सब हैं। इसकी अपेक्षा छोटे फल जिसके हों उसे संस्कृत में 'करमर्दिका' कहते हैं।

गुण—उक्त दोनों प्रकार के करौंदे के फल यदि कच्चे हों तो वे अम्ल (खट्टे), पाक में गुरु, तृष्णानाशक, उष्ण, रुचिजनक तथा रक्तपित्त और कफवर्धक होते हैं और यदि पके हों तो मीठे, रुचिजनक, लघु, एवं पित्त तथा वायु के नाशक होते हैं ॥ ८१-८२ ॥

२६ करौंदा

हि०-करौंदा, करवँदा, करोंदा, करोना। **बं०**-करमचा, करुमिया। **म०**-करवन्द। **गु०**-करमदा, करमर्द। **क०**-करिजिगे। **ते०**-वाका, करवन्दे। **मु०**-करिन्दा। **मा०**-करवदा। **ले०**-*Carissa Carandas* (केरिसा कारन्दास)।

यह प्रायः बाग-बगीचों में रोपण किया जाता है।

इसका **वृक्ष**–छोटा, झाडदार और सदा हरा-भरा रहता है। इस पर तीक्ष्ण काटे होते हैं। **पत्ते**–१॥–२ इञ्च लम्बे और १–१॥ इञ्च चौडे नीबू के पत्तों के समान होते हैं। **फूल**–सफेद रङ्ग के आते हैं और उनसे सुगन्ध आती है। **फल**–झरबेर के आकारवाले काले या सफेदीयुक्त लाल रग के होते हैं। **स्वाद**–अत्यन्त खट्टा होता है।

२७ करोंदी

हि०–करोंदी, करौंदी, करवदी। **बं०**–करमचा। **म०**–करवदी। **गु०**–करमदी। **ते०**–वारिक चेट्टु।

इसके **वृक्ष**–करोंदे से छोटे पथरीली भूमि पर होते हैं। इसके **फल**–उक्त करोंदे से छोटे होते हैं॥ २६-२७॥

अथ प्रियालः (चिरौंजी)। तस्य नामानि तत्फलस्य गुणाँश्चाह

प्रियालस्तु खरस्कन्धश्चारो बहुलवल्कलः। राजादनस्तापसेष्टः सन्नकद्रुर्धनुष्पटः॥ ८३॥ चारः पित्तकफास्रघ्नस्तत्फलं मधुरं गुरु। स्निग्ध सरं मरुत्पित्तदाहज्वरतृषाऽपहम्॥ ८४॥

चिरौंजी के सस्कृत नाम—प्रियालु, खरस्कन्ध, चार, बहुलवल्कल, राजादन, तापसेष्ट, सन्नकद्रु और धनुष्पट ये सब हैं।

गुण–चिरौंजी पित्त तथा कफ को दूर करने वाली होती है। चिरौंजी के **फल**–मधुर, गुरु, स्निग्ध, मल-सारक एवं वात, पित्त, दाह, ज्वर तथा तृषा को दूर करने वाले होते हैं॥ ८३-८४॥

अथ तन्मज्जगुणानाह

प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः। हृद्योऽतिदुर्जरः स्निग्धो विष्टम्भी चामवर्द्धनः॥

चिरौंजी की मींगी—मधुर रसयुक्त, वृष्य (वीर्यवर्धक), हृदय को हितकर, अत्यन्त देर में पचने वाली, स्निग्ध, मल का विष्टम्भ करने वाली, आम को बढाने वाली तथा पित्त और वायु को नष्ट करने वाली होती है॥ ८५॥

२८ चिरौंजी

हि०–चिरोंजी, चिरौंजी, चिरवँजी। **बं०**–चिरौंजी, पियाल, पिया शाल। **म०**–चारोली, चार। **गु०**–चारोली। **क०**–चारनीज, चारवीज, मोरप्पि मोरवे। **ते०**–सारुपपु, चारपप्पु। **ता०**–काट्टुमांगोट्टै, काटमरा। **को०**–चारवृक्ष बीज। **उत्क०**–चरु, चिरोली। **फा०**–नुकले खाजा, नुकुलख्वाजह। **अ०**–हब्बुस्समाना, हब्बुल समनह। **लै०**–*Buchanania latifolia* (वुचनानिया लेटिफोलिया)।

यह इस देश के गरम और सूखे प्रान्तों में अधिक पाई जाती है।

चिरोंजी का **वृक्ष** मध्यमाकार का होता है। कहीं कहीं ५० फीट तक ऊँचा वृक्ष देखा जाता है। **पत्ते**–महुवे के पत्तों के समान छोटी छोटी टहनियों के अन्त में सघन रहते हैं। **फूल**–मञ्जरियों में चौथाई इञ्च के घेरे में गोलाकार होते हैं। **फल**–लम्बाई युक्त गोलाकार दबे हुए काले रङ्ग के होते हैं॥ २८॥

अथ राजादनः (खिरनी)। तस्य नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

राजादनः फलाध्यक्षो राजन्या क्षीरिकाऽपि च॥ ८६॥
क्षीरिकायाः फल वृष्यं बल्यं स्निग्ध हिमं गुरु। तृष्णामूर्च्छामदभ्रान्तिक्षयदोषत्रयास्रजित्॥

खिरनी के सस्कृत नाम—राजादन, फलाध्यक्ष, राजन्या तथा क्षीरिका ये सब हैं।

गुण—खिरनी के फल वृष्य, बलकारक, स्निग्ध, शीतल, गुरु एव तृषा, मूर्च्छा, मद, भ्रान्ति, क्षय, त्रिदोष तथा रक्तविकार दूर करने वाले होते हैं॥ ८६-८७॥

२९ खिरनी

हि०-खिरनी, खिर्नी, खिन्नी। **बं०**-क्षीर खेजूर, क्षीरणी, राजनी, कशिरनी। **म०**-खिरनी, रांजनी, रायणी, रेवणे। **गु०**-रायण, रायणी। **क०**-खिरणी मारा, खनेमारिले, हालेमर। **ता०**-पल्ल। **मु०**-केर्णि। **ते०**-पालमानु। **ले०**-*Mimusops Hexadra* (माइमुसोप्स हेक्सेड्रा)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पायी जाती है। विशेषकर दक्षिण से गुजरात तक और बान्दा में अधिक मिलती है।

इसके **वृक्ष**-कहीं बड़े और कहीं छोटे दीख पडते हैं। **पत्ते**-२-३ इञ्च लम्बे, १-१॥ इञ्च चौड़े अण्डाकार होते हैं और वे टहनियों के अन्त में सघन रहते हैं। **फूल**-चक्राकार छोटे-छोटे सफेद या फीके पीले रङ्ग के आते हैं। **फल**-आध इञ्च तक लम्बे, चिपटे और पकने पर पीले हो जाते हैं॥

अथ विकङ्कतः (कण्टाई)। तस्य नामानि तत्पक्वफलगुणाँश्चाह

विकङ्कतः स्रुवावृक्षो ग्रन्थिलः स्वादुकण्टकः। स एव यज्ञवृक्षश्च कण्टकी व्याघ्रपादपि॥
विकङ्कतफलं पक्वं मधुरं सर्वदोषजित्॥ ८८॥

कण्टाई के संस्कृत नाम—विकङ्कत, स्रुवावृक्ष, ग्रन्थिल, स्वादुकण्टक, यज्ञवृक्ष, कण्टकी तथा व्याघ्रपाद् ये सब हैं।

गुण—कण्टाई के **फल**-यदि पके हों तो वे मधुर रसयुक्त सभी दोषों को दूर करने वाले होते हैं॥ ८८॥

३० विकंकत (कण्टाई)

हि०-कंटाई, किंकिणी, विकंकत, वंज, रामवबूर। **बं०**-वइंचि गाछ, वैंची, बोंचफल। **म०**-वेहकल, गुलघोंटी, पिंडरोहिणी। **गु०**-विकलो, वेहफल। **क०**-हुलुमाणिका मालेगु, हुलसानिका। **ते०**-कानवेगु चेट्टु। **उ०**-बइचकुडि। **पं०**-कुकोया। **द्रा०**-वछवेलम। **ले०**-*Flacourtia Ramontchi* (फ्लेकोर्टिया रामोंची)।

यह विहार, मध्यभारत, दक्षिण, कोंकण आदि प्रदेशों में उत्पन्न होता है।

इसका **वृक्ष**-छोटा होता है। शाखाओं पर कांटे रहते हैं। **पत्ते**-छोटे-छोटे अण्डाकार होते हैं। **फूल**-बारीक होता है। **फल**-आध इञ्च के घेरे में गोलाकार, गूदेदार, चिकने और पकने पर काले हो जाते हैं॥ ३०॥

अथ पद्माक्षम् (कमलगट्टा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पद्मबीजं तु पद्माक्षं गालोड्यं पद्मकर्कटी। पद्मबीजं हिमं स्वादु कषायं तिक्तकं गुरु॥ ८९॥
विष्टम्भि वृष्यं रूक्षञ्च गर्भसंस्थापकं परम्। कफवातकरं बल्यं ग्राहि पित्तास्रदाहनुत्॥९०॥

कमलगट्टा के संस्कृत नाम—पद्मबीज, पद्माक्ष, गालोड्य तथा पद्मकर्कटी ये सब हैं। **गुण**—कमलगट्टा स्वादिष्ट, कषाय तथा तिक्तरसयुक्त, शीतल, गुरु, विष्टम्भक, वृष्य (वीर्यवर्धक), रूक्ष, गर्भ को विशेषतः स्थापित करने वाला, कफ तथा वातजनक, बलदायक, ग्राही एवं पित्त, रक्तविकार या रक्तपित्त और दाह को दूर करने वाला होता है॥ ८९-९०॥

३१ कमलगट्टा

हि०-कमलगट्टा, कमल के बीज। **बं०**-पद्म बीचि। **म०**-कमलाक्ष, कमलाच बीज। **गु०**-कमल काकडी। **क०**-तावडे बीज, पद्माक्ष। **ते०**-तामरकारा, तामरकाई। **यू०**-गुलहार। **अ०**-वालके कुवति।

कमल के बीजों को कमलगट्टा कहते हैं। यह रीठे की गुठली के समान परन्तु लम्बाई युक्त गोल होता है और कमलकोष के भीतर से निकलता है। **छिलका**-कठोर होता है और गिरी सफेद होती है। गिरी के बीच में हरे रंग की पत्ती रहती है। उसको निकाल कर व्यवहार में लाना चाहिये॥ ३१॥

अथ मखान्नम् (मखाना)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

मखान्नं पद्मबीजाभं पानीयफलमित्यपि। मखान्नं पद्मबीजस्य गुणैस्तुल्यं विनिर्दिशेत्॥ ९१॥

मखाना के संस्कृत नाम—मखान्न, पद्मबीजाभ तथा पानीयफल ये सब हैं।

गुण—मखाना गुणों में कमलगट्टा के समान ही समझना चाहिये॥ ९१॥

३२ मखाना

हि०-मखाना, मखाना। बं०-माखाना, माखना, पानफल,। म०-मखाणे, मकाणे। गु०-मखाना(णा)। दे०-गिलागिच। पं०, मा०-फूलमखाना। उडि०-कन्न पद्म। लै०-*Euryale Ferox* (युर्यलि फेराक्स)।

यह बंगाल, आसाम, मनीपुर, काश्मीर आदि प्रान्तों के मीठे पानी वाले तालावों में उत्पन्न होता है।

यह कमल के समान पानी में उत्पन्न होता है और काँटे से भरा रहता है। पत्ते-बड़े-बड़े कमल के पत्तों के समान गोलाकार होते हैं। फूल-१-२ इञ्च लम्बे, भीतर की ओर लाल चमकीले और बाहर से हरे रङ्ग के होते हैं। फूल-दो से चार इञ्च के घेरे में गोलाकार होते हैं। बीज-मटर या मटर से कुछ बड़े होते हैं। इनको भुनने से मखाना होता है॥ ३२॥

अथ शृङ्गाटकम् (सिंघाडा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

शृङ्गाटकं जलफलं त्रिकोणफलमित्यपि॥ ९२॥

शृङ्गाटकं हिमं स्वादु गुरु वृष्यं कषायकम्। ग्राहि शुक्रानिलश्लेष्मप्रद पित्तास्रदाहनुत्॥९३॥

सिंघाडा के संस्कृत नाम—शृङ्गाटक, जलफल तथा त्रिकोणफल ये सब हैं।

गुण-सिंघाडा-स्वादिष्ट तथा कषायरसयुक्त, शीतल, गुरु, वृष्य (वीर्यवर्धक), ग्राही, शुक्र, वात तथा कफजनक एवं पित्त, रक्तविकार और दाह को दूर करने वाला होता है॥ ९२-९३॥

३३ सिंघाड़ा

हि०-सिंघाडा (रा), सिंहाडा (रा)। बं०-पानीफल, सिंगाडे, पाणिफल। म०-सिंघाडे। गु०-सिंगोडा। क०-सिंगाड़े। ते०-परिकिगड्डु, दुम्पगड्डु। फा०-सुरजान। लै०-*Trapa Bispinosa* (ट्रापा बिसपाइनोसा)।

सिंघाड़ा—प्रसिद्ध पानीयफल अनेक प्रान्तों के बडे-छोटे ताल-तलैयों में उत्पन्न होता है। इसका क्षुप-जलकुम्भी के समान पानी के ऊपर फैला रहता है। पत्ते-भी जलकुम्भी के समान होते हैं परन्तु वे त्रिकोणाकार होते हैं। फूल-सफेद आते हैं। फल-त्रिधारे होते हैं और उनके ऊपर तीनों ओर काँटे के समान नोक होते हैं। छिलका-मोटा होता है और गुदी सफेद होती है॥ ३३॥

अथ कैरविणीफलम् (भेंट)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

उक्तं कुमुदबीजन्तु बुधैः कैरविणीफलम्। भवेत्कुमुद्वतीबीजं स्वादु रूक्षं हिमं गुरु॥ ९४॥

कमोदनी बीज के संस्कृत नाम—कुमुद्वतीबीज, कैरविणीफल तथा कुमुदबीज ये सब विद्वानों ने बताये हैं।

गुण—कमोदनी के बीज-स्वादिष्ट, रूक्ष, शीतल तथा पाक में गुरु होते हैं॥ ९४॥

३४ कैरविणीफल (बेरी)

हि०-बेरी, कुमुद के बीज, कुमुदबीज, बेरा, बघोल के दाने, भटबेरा, भेटबेरा। बं०-हेलाबीज, सुन्दी बीज। गु०-पोयणाना बीज। फा०-तुख्म नीलोफर। अ०-करनबुल् माय।

कुमुद फूल के बीज को कैरविणीफल कहते हैं॥ ३४॥

अथ मधूकः (महुआ, वनमहुआ)। तस्य नामानि तत्पुष्पफलगुणाँश्चाह

मधूको गुडपुष्पः स्यान्मधुपुष्पो मधुस्रवः। वानप्रस्थो मधुष्ठीलो जलजेऽत्र मधूलकः॥९५॥

मधूकपुष्पं मधुरं शीतलं गुरु बृंहणम्। बलशुक्रकरं प्रोक्तं वातपित्तविनाशनम्॥९६॥

फलं शीतं गुरु स्वादु शुक्रलं वातपित्तनुत्। अहृद्यं हन्ति तृष्णाऽस्रदाहश्वासक्षतक्षयान् ॥९७॥

महुआ के संस्कृत नाम—मधूक, गुडपुष्प, मधुपुष्प, मधुस्रव, वानप्रस्थ तथा मधुष्ठील ये सब हैं। जो महुआ जल में होता है उसे 'मधूलक' कहते हैं।

गुण-महुये के फूल मधुर, शीतल, गुरु, बृंहण (रसरक्तादि-वर्धक), बल तथा शुक्रजनक एवं वात और पित्त को दूर करने वाले होते हैं।

महुये के फल—स्वादिष्ट, शीतल, गुरु, शुक्रजनक, हृदय के लिए अहितकर, वात तथा पित्त को दूर करने वाले एवं तृषा, रक्तविकार, दाह, श्वास, क्षत तथा क्षय नाशक है ॥ ९५-९७ ॥

३५ महुआ

हि०-महुआ, महुया, महुवा। **बं०**-मौल, मउल, मोल, मौया। **म०**-मोहाचा वृक्ष, मोहवृक्ष, मोहोवृक्ष। **गु०**-महुडो, महुडा। **क०**-इप्पेमारा, महुइप्पे, दिप्पेमर। **ते०**-इपा, पिन्ना, इप्प। **ता०**-कटइल्लुपि, कटइछुपि, इल्लुप्पै। **मु०**-मोहा। **पं०**-महुआ। **मा०**-महुवो। **द्रा०**-इलुप्पं। **फा०**-चका, सफर्जल, आबी विही, गुलचका। **अं०**-Elloopa Tree. (इल्लूपा ट्री)। **लै०**-*Bassia Latifolia* (बैसिया लाटिफोलिया)।

यह बगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्यभारत आदि प्रान्तों में बोया जाता है और कुमाऊँ की तराइयों में आप ही आप जगली उत्पन्न होता है।

इसका **वृक्ष**-बड़ा हुआ करता है और सदा हरा-भरा रहता है। **पत्ते**-५ से ९ इञ्च तक लम्बे हरीतकी, बादाम या बहेड़े के पत्तों के समान टहनियों के अन्त में एक साथ गुच्छों में रहते हैं। **फूल**-सफेद रङ्ग के गूदेदार छोटी-छोटी शाखाओं के अन्त में गुच्छों में आते हैं और वे सूखने पर दाख के समान हो जाते हैं। **फल**-अण्डाकार नुकीले गूदेदार होते हैं। किञ्चित् लाली युक्त बीज होते हैं। उनके भीतर सफेद गूदी होती है। गूदी से तेल निकाला जाता है ॥ ३५ ॥

३६ जलमहुआ

हि०-जलमहुआ। **बं०**-जल मउल। **म०**-जलमोहा। **क०**-तोरे इप्पे। **ते०**-पिन्ना। **गु०**-जलमहुडो। **क०**-जल महे। **लै०**-*Bassia Longifolia* (बैसिया लांगिफोलिया)।

जलमहुआ—नदी-नालाओं के किनारे या आर्द्र जंगलों में उत्पन्न होता है। इसके वृक्ष पत्ते आदि महुवे के समान होते हैं पर उनसे छोटे होते हैं ॥ ३६ ॥

अथ परूषकम् (फालसा)। तस्य नामानि तत्पक्वापक्वफलगुणांश्चाह

परूषकं तु परुषमल्पास्थि च परापरम्। परूषकं कषायाम्लमामं पित्तकरं लघु ॥ ९८ ॥
तत्पक्वं मधुरं पाके शीतं विष्टम्भि बृंहणम्। हृद्यन्तु पित्तदाहास्रज्वरक्षयसमीरहृत् ॥ ९९ ॥

फालसा के संस्कृत नाम—परूषक, परुष, अल्पास्थि तथा परापर ये सब हैं।

गुण—फालसा के कच्चे फल कषाय तथा अम्ल रसयुक्त, पित्तकारक तथा लघु होते हैं। यदि पके फल हों तो वे विपाक में मधुर रसयुक्त, शीतल, विष्टम्भक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), हृदय के लिए हितकर एव पित्त, दाह, रक्तविकार, ज्वर, क्षय तथा वात को दूर करने वाले होते हैं ॥

३७ फालसा

हि०-फालसा, परुषा, पेरुसा, फरुसा, फलहे। **बं०**-परुष, फलसा। **म०**-पर्पका, फालसा। **गु०**-भ्रामण। **क०**-बेट्टहा, दागल, दोगली। **ते०**-पुटिकी, चिट्टिदु। **मा०**-फालस्या। **फा०**-फालसा, पालसह। **अ०**-फालसह। **लै०**-*Greevia Asiatica* (ग्रीविया एसियाटिका)।

इसको अनेक प्रान्तों के लोग बागों में रोपण करते हैं।

इसका **वृक्ष**-छोटा होता है। **पत्ते**-४-५ इञ्च लम्बे और २-२॥ इञ्च चौडे गोलाकार होते हैं। कोई-कोई तीन भाग वाले होते हैं। **फूल**-झूमकों में पीले रंग के आते हैं। **फल**-मटर के समान गोल, कच्ची अवस्था में हरे रग के और पकने पर जामुनी रंग के हो जाते हैं ॥ ३७ ॥

अथ तूतः (सहतूत)। तस्य नामानि तत्पक्वापक्वफलगुणाँश्चाह

तूतस्तूलश्च पूगश्च क्रमुको ब्रह्मदारु च। तूतं पक्वं गुरु स्वादु हिमं पित्तानिलापहम् ॥
तदेवामं गुरु सरमम्लोष्णं रक्तपित्तकृत् ॥ १०० ॥

सहतूत के संस्कृत नाम—तूत, तूल, पूग, क्रमुक तथा ब्रह्मदारु ये सब हैं।

गुण-सहतूत के पके फल स्वादिष्ट, गुरु, शीतल एवं पित्त तथा वात के नाशक होते हैं। यदि कच्चे फल हों तो वे अम्ल रसयुक्त, उष्ण, पाक में गुरु एव रक्तपित्त को उत्पन्न करने वाले होते हैं॥ १०० ॥

३८ तूत

हि०-सहतूत, तूत, तून, शाहतूत, तूतरो, साहुड। बं०-तूँन, तूँद, पलाश पिपुल। म०-तूने, सेंतूल, पारसा पिंपल, पारिस पिंपलु। गु०-शेतूत,। ते०-कम्बली चेट्टु। ता०-मुपुक वर चेडि। क०-वगरलि। को०-तूतीचीं फले। फा०-शाहतून, तूततुर्श। अ०-तूत, तूर, हामीज। अं०-Mulberries (मल्बेरिज)। ले०-*Morus Indica* (मोरस इण्डिका)।

तूत—आसाम, बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश आदि प्रान्तों में उत्पन्न होता है।

इसका वृक्ष-मध्यमाकार का होता है। पत्ते-२ से ५ इञ्च लम्बे और २-३ इञ्च चौड़े अञ्जीर के पत्तों के समान कटे हुए होते हैं। फूल-मञ्जरियों में आते हैं।

फलों के आकार भेद से तूत का वृक्ष-तीन प्रकार का होता है और तीनों के पत्ते आदि एक समान होते हैं। इसके पत्ते को रेशम के कीडे चाव से खाते हैं। इसलिए रेशम के कीड़े पालने वाले प्रायः इसका वृक्ष रोपण कर रखते हैं।

जिसका फल लम्बाई युक्त गोल और पकने पर काले होते हैं उसको लेटिन में-(मोरस इण्डिका) कहते हैं। लाल रङ्ग के फल वाले को (मोरस एलबा) कहते हैं और हरापन युक्त सफेद रङ्ग के लम्बे फल वाले को (मोरस निगरा) कहते हैं॥ ३८ ॥

अथ दाडिमः (अनार)। तस्य नामानि तत्फलभेदाँश्चाह

दाडिमः करको दन्तबीजो लोहितपुष्पकः। तत्फलं त्रिविधं स्वादु स्वाद्वम्लं केवलाम्लकम्॥१०१॥

अनार के संस्कृत नाम—दाडिम, करक, दन्तबीज तथा लोहितपुष्पक ये सब हैं।

फल के भेद—अनार के फल स्वाद में तीन प्रकार के होते हैं। (१) कोई मधुर रसयुक्त, (२) कोई मधुर तथा अम्ल रसयुक्त और कोई केवल अम्ल ही होते हैं॥ १०१ ॥

अथ तत्फलभेदानां गुणानाह

तत्र स्वादु त्रिदोषघ्नं तृड्दाहज्वरनाशनम्। हृत्कण्ठमुखगन्धघ्नं तर्पणं शुक्रलं लघु॥ १०२॥
कषायानुरसं ग्राहि स्निग्धं मेधाबलावहम्॥ १०३॥
स्वाद्वम्लं दीपनं रुच्यं किञ्चित्पित्तकरं लघु। अम्लन्तु पित्तजनकमम्लं वातकफापहम्॥१०४॥

गुण—मीठे अनार आरम्भ में मीठे अन्त में कसैले, सन्तर्पण करने वाले, शुक्रजनक, लघु, ग्राही, स्निग्ध, मेधा तथा बलवर्धक एवम्—त्रिदोष, तृषा, दाह, ज्वर, हृदय तथा कण्ठ सम्बन्धी रोग और मुख क दुर्गन्ध को दूर करने वाले होते हैं।

कुछ मीठे कुछ खट्टे अनार—अग्निदीपक, रुचिजनक, लघु तथा किञ्चित् पित्तकारक होते हैं। खट्टे अनार-अम्ल रसयुक्त, पित्तजनक एव वात तथा कफ के नाशक होते हैं॥ १०२-१०४ ॥

३९ अनार

हि०-अनार, दाडिम, धालिम। बं०-दाड़िम, डालिम गाछ। म०-डालिम्ब, दालिम्ब। गु०-दालिम, दाडमनु झाड। क०-दालिम्बा, दालिम्ब। ते०-डानिम्मचेट्टु, दालिम्बकाया। ता०-मादले, मडलै, मडलम, मुगिलम। मा०-दाडम। द्रा०-मादल। अ०-Pomegranate पोमेग्रेनेट। ले०-*Punica Granatum* (प्युनिका ग्रानेटम)।

प्रायः सब प्रान्त की वाटिकाओं में अनार के वृक्ष लगाये जाते हैं। इसका वृक्ष-छोटा अनेक शाखा-प्रशाखा करके झाडदार होता है। शाखाओं पर पत्ते-विषमवर्ती २-२॥ इञ्च लम्बे तथा आध से पौन इञ्च तक चौडे अनीदार और दोनों ओर से पतले रहते हैं। फूल-अत्यन्त लाल रङ्ग के होते हैं। फल-गोल और छिल्का मोटा होता है। फलों में सफेदी युक्त लाल अथवा गुलाबी रङ्ग के अगणित नोकदार दाने होते हैं। सूखने पर वह अनारदाना कहलाता है॥ ३९ ॥

अथ बहुवारः (लिसोडा) । तस्य नामानि तत्पक्वापक्वफलस्य च गुणाँश्चाह

बहुवारस्तु शीतः स्यादुद्दालो बहुवारकः । शेलुः श्लेष्मातकश्चापि पिच्छिलो भूतवृक्षकः १०५
बहुवारो विषस्फोटव्रणवीसर्पकुष्ठनुत् । मधुरस्तुवरस्तिक्तः केश्यश्च कफपित्तहृत् ॥ १०६ ॥
फलमामन्तु विष्टम्भि रूक्षं पित्तकफास्रजित् । तत्पक्वं मधुरं स्निग्धं श्लेष्मलं शीतलं गुरु ॥१०७॥

लिसोडा के संस्कृत नाम—बहुवार, शीत, उद्दाल, बहुवारक, शेलु, श्लेष्मातक, पिच्छिल तथा भूतवृक्षक ये सब हैं।

गुण—लिसोडा विष, विस्फोट, व्रण, वीसर्प, कुष्ठ, कफ तथा पित्त का नाश करने वाला, केशों के लिये हितकर एवं मधुर, कषाय तथा तिक्त रसयुक्त होता है।

लिसोडा के कच्चे फल—विष्टम्भक, रूक्ष तथा पित्त, कफ और रक्तविकार को दूर करने वाले हैं। पक्के फल-मधुर, स्निग्ध, कफजनक, शीतल तथा गुरु होते हैं ॥ १०५-१०७ ॥

४० लिसोड़ा

हि०-लिसोडा, लिसोरा, बहुवार, लभेडा, लसफसिचा। **बं०**-बहुयार, चालता गाछ। बोहरी। **म०**-भोंकर, शेलवंट, शेलवट। **गु०**-गुन्दी, गुदो मोटो। **क०**-चेल्लु गोंदिणी, दोड चल्लु, चल्ले कायि। **ते०**-नाकेरु, नुककेरु, पेद्दानाक्केरु, चेन्न नक्कर। **ता०**-विडि। **मु०**-भोंकर। **उ०**-अड, अत। **मा०**-लेसवो। **द्रा०**-नरिविली। **फा०**-सपिस्तां, सिपिस्तां। **अ०**-सपिस्तां दबक। **अं०**-Sebesten (सेबेस्टेन्)। **ले०**-*Cordia Myxa* (कार्डिया मिक्सा)।

यह प्रायः सब प्रान्तों के वन-उपवनों में उत्पन्न होता है।

इसका **वृक्ष**-४०-५० फीट तक ऊँचा होता है। **डालियाँ**-टेढी-मेढ़ी कुबडी सी होती हैं। **पत्ते**-१ से ४-५ इञ्च के घेरे में गोलाकार और शाखाओं पर विषमवर्ती लगते हैं। **फल**-गोल-गोल किञ्चित् नुकीले गुच्छे में आते हैं और वे पकने पर फीके गुलाबी रङ्ग के हो जाते हैं।

छोटे बड़े फलों के भेद से लिसोडा तीन प्रकार का होता है। बडे फल वाले 'लिसोड़ा' को 'श्लेष्मान्तक', मध्यम फल वाले को 'कर्बुदार' और लेटिन में—*Cordia Obliqua* (कार्डिया ओब्लिका) तथा छोटे फल वाले को 'गोंदी' या 'गोदिनी' और लेटिन में (कार्डिया राथाइ) कहते हैं। फागुन-चैत में लिसोड़े के वृक्ष पर सफेद रङ्ग के फूल लगते हैं और आषाढ़ तक फल पक जाते हैं ॥ ४० ॥

अथ कतकः (निर्मली) । तस्य नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

पयःप्रसादी कतकः कतकं तत्फलं च तत् । कतकस्य फलं नेत्र्यं जलनिर्मलताकरम् ॥
वातश्लेष्महरं शीतं मधुरं तुवरं गुरु ॥ १०८ ॥

निर्मली के संस्कृत नाम—पयःप्रसादी और कतक ये हैं। इसके फल को भी 'कतक' ही कहते हैं किन्तु यह नपुंसकलिङ्ग में होता है।

गुण—निर्मली के फल मधुर तथा कषाय रसयुक्त, नेत्रों के लिये हितकर, जल को निर्मल करने वाले, गुरु एवं वात तथा कफ को दूर करने वाले होते हैं ॥ १०८ ॥

४१ निर्मली

हि०-निर्मली, पाय पसारी। **बं०**-निर्मल फल। **म०**-निवली, निर्मली, चिल्हार। **गु०**-निर्मली। **क०**-चिल्लिकायि। **द०**-चिलबिंज। **ता०**-तेनरन कोट्टई। **ते०**-चिलगिन जालु। **क०**-चिलिगिड्डु। **मा०**-निर्मली, निवली। **ले०**-*Strychnos Potatorum* (स्ट्रिक्नोस पोटैटोरम्)।

इसका **वृक्ष**-सोन नदी के किनारे तथा दक्षिण की ओर पाया जाता है। यह ४० फीट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**-प्रायः २॥ इञ्च लम्बे और एक इञ्च चौड़े अंडाकार होते हैं। **फूल**-सफेद रङ्ग के आते हैं और उनसे सुगन्ध आती है। **फल**-गोल पकने पर काले रङ्ग के होते हैं। इसमें गोल कुछ चिपटे बीज होते हैं जो चिमडे होते हैं ॥ ४१ ॥

अथ द्राक्षा (दाख)। तस्या नामानि तत्पक्वापक्वफलस्य तद्भेदानां च गुणाँश्चाह

द्राक्षा स्वादुफला प्रोक्ता तथा मधुरसाऽपि च। मृद्वीका हारहूरा च गोस्तनी चापि कीर्त्तिता॥
द्राक्षा पक्वा सरा शीता चक्षुष्या बृंहणी गुरुः। स्वादुपाकरसा स्वर्या तुवरा सृष्टमूत्रविट्॥
कोष्ठमारुतकृद् वृष्या कफपुष्टिरुचिप्रदा ॥ १११ ॥
हन्ति तृष्णाज्वरश्वासवातवातास्रकामलाः। कृच्छ्रास्रपित्तसमोहदाहशोषमदात्ययान् ॥११२॥
आमा स्वल्पगुणा गुर्वी सैवाम्ला रक्तपित्तकृत्। वृष्या स्याद् गोस्तनी द्राक्षा गुर्वी च कफपित्तनुत्॥

दाख के संस्कृत नाम—द्राक्षा, स्वादुफला, मधुरसा, मृद्वीका, हारहूरा और गोस्तनी ये सब हैं।

गुण—दाख के पके फल मधुर तथा कषाय रसयुक्त, विपाक में मधुर रसयुक्त, सारक, शीतल, नेत्रों के लिये हितकर, बृंहण, गुरु, स्वर को उत्तम करने वाले, मूत्र तथा मल की प्रवृत्ति कराने वाले, कोष्ठ में वातकारक, वृष्य, कफ-पुष्टि तथा रुचि उत्पन्न करने वाले एवं तृषा, ज्वर, श्वास, वात, वातरक्त, कामला, मूत्रकृच्छ्, रक्तपित्त, मोह, दाह, शोथ तथा मदात्यय रोग को दूर करने वाले होते हैं। कच्चे दाख के फल पके की अपेक्षा अल्प गुण वाले एवं गुरु होते हैं। वे ही यदि खट्टे हों तो रक्तपित्तकारक होते हैं।

गोस्तनी-दाख (मुनक्का)-वीर्यवर्धक, गुरु तथा कफ और पित्त का नाशक होती है॥१०९-११३॥

*गोस्तनी 'मुनक्का' इति लोके ॥ १०९-११३ ॥

यहाँ 'गोस्तनी' पद से 'मुनक्का' का बोध लोक में होता है ॥ १०९-११३ ॥

अबीजाऽन्या स्वल्पतरा गोस्तनीसदृशी गुणैः। द्राक्षा पर्वतजा लघ्वी साऽम्ला श्लेष्माम्लपित्तकृत्॥
द्राक्षा पर्वतजा यादृक् तादृशी करमर्दिका ॥ ११४ ॥

दूसरी जाति की जो थोडे बीजवाली दाख होती है वह-यद्यपि गुणों में मुनक्का के ही समान होती है तथापि उसमें अपेक्षाकृत स्वल्प गुण होते हैं।

पर्वत पर उत्पन्न होने वाली जो दाख है उसे 'पर्वतजा' द्राक्षा कहते हैं। वह पाक में लघु होती है। किन्तु यदि खट्टी हो तो कफ तथा अम्लपित्त को उत्पन्न करने वाली होती है।

'करमर्दिका' के गुण-जिस भाँति 'पर्वतजा' दाख के होते हैं वैसे ही इसके भी होते हैं॥११४॥

*अबीजा = ईषद्बीजा 'किसमिस' इति लोके। पर्वतजा = 'पहाड़ी' इति लोके। करमर्दिका = 'करौंदी' इति लोके ॥ ११४ ॥

यहा 'अबीजा' पद से 'थोडे बीज वाली' अर्थ समझना चाहिये। इसी को लोक में 'किसमिस' कहते हैं। 'पर्वतजा' को 'पहाडी दाख' तथा 'करमर्दिका' को लोक में 'करौंदी' दाख कहते हैं॥११४॥

४२ दाख

हि०-दाख, मुनक्का, मोनक्का। बं०-बेदाना, मनेका। म०-बेदाणा, कालीद्राक्षे। गु०-धराख, द्राक्ष। क०-वेडगण द्राक्षे, चिकु द्राक्षे। ते०-द्राक्षापण्डु, द्राक्षचेट्टु। ता०-कोडिमडी, कोडिमुन्दिरी। फा०-मुनक्का। अ०-इबुस् सजीब। अं०-Grapes (ग्रेप्स)। ले०-*Vitis vinifera* (विटिस विनिफेरा)।

अंगूर, किसमिस, दाख, बडी दाख सब एक ही जाति की लताओं के फल हैं। कच्चे, पके, बीजहीन तथा छोटे-बडे, सूखे आदि फलों के भेद से यह भिन्न भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं।

यह लता जाति की वनस्पति फारस, अफगानिस्तान आदि विदेशों के सिवा इस देश में भी कई जगह उत्पन्न होती है। पत्ते-गोलाकार, पाच दल तथा कटे किनारे वाले और कंगूरेदार होते हैं। फूल-हरे रङ्ग के सुगन्धित होते हैं। प्राय. डालों पर फूलों की सींक लगती है और फूल तथा फल गुच्छों में आते हैं।

अफगानिस्तान और फारस आदि देशों के अंगूर अच्छे होते हैं। काश्मीर में किसमिस, मुनक्का, हेंसानी और मस्का नामक कई जातियों के अंगूर उत्पन्न होते हैं। औरङ्गाबाद का अंगूर श्याम और स्वादिष्ट होता है। दौलताबाद के अंगूर देश-देशान्तरों में भेजे जाते हैं। सब जगह के

जल-वायु समान नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक स्थान के फलों में कुछ न कुछ भेद हुआ ही करता है ॥ ४२ ॥

अथ क्षुद्रखर्जूरी-पिण्डखर्जूरी-छोहारा च । तासां नामानि गुणाँश्चाह

भूमिखर्जूरिका स्वाद्वी दुरारोहा मृदुच्छदा । तथा स्कन्धफला काककर्कटी स्वादुमस्तका ॥
पिण्डखर्जूरिका त्वन्या सा देशे पश्चिमे भवेत् । खर्जूरी गोस्तनाकारा परद्वीपादिहागता ॥
जायते पश्चिमे देशे सा छोहारेति कीर्त्यते । खर्जूरीत्रितयं शीतं मधुरं रसपाकयोः ॥ ११७ ॥
स्निग्धं रुचिकरं हृद्यं क्षतक्षयहरं गुरु । तर्पणं रक्तपित्तघ्नं पुष्टिविष्टम्भशुक्रदम् ॥ ११८ ॥
कोष्ठमारुतहृद् बल्यं वान्तिवातकफापहम् । ज्वरातिसारक्षुत्तृष्णाकासश्वासनिवारकम्॥११९॥
मदमूर्च्छामरुत्पित्तमद्योद्भूतगदान्तकृत् । महतीभ्यां गुणैरल्पा स्वल्पखर्जूरिका स्मृता॥१२०॥

खजूर के संस्कृत नाम—भूमिखर्जूरिका, स्वाद्वी, दुरारोहा, मृदुच्छदा, स्कन्धफला, काककर्कटी तथा स्वादुमस्तका ये सब हैं। दूसरी जाति का जो खजूर है वह पश्चिम (काबुल आदि) देशों में उत्पन्न होता है उसका संस्कृत नाम—पिण्डखर्जूरिका, हिन्दी नाम—पिण्डखजूर एवं तीसरी जाति का जो खजूर है जो कि आकार में गौ के स्तन की भाँति होता है तथा दूसरे द्वीप से भारत वर्ष में आया है उसको लोग 'छुहारा' कहते हैं और वह भी पश्चिम के देशों में उत्पन्न होता है।

गुण—उक्त तीनों प्रकार के खजूर रस तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, शीतल, स्निग्ध, रुचिकर, हृदय को हितकर, गुरु, सन्तर्पणकारक, बलवर्धक एवं क्षत, क्षय, रक्तपित्त, कोष्ठस्थित वायु, वमन, वात, कफ, ज्वर, अतिसार, भूख, प्यास, कास, श्वास, मद, मूर्च्छा, वातपित्त, मद्य से उत्पन्न रोग को दूर करने वाले होते हैं। दोनों बड़े खजूर (पिण्डखजूर-छुहारा) से गुण में कम होने से खजूर को 'स्वल्पखर्जूरिका' कहते हैं ॥ ११५-१२० ॥

अथ खर्जूरीतरुतोयगुणानाह

खर्जूरीतरुतोयं तु मदपित्तकरं भवेत् । वातश्लेष्महरं रुच्यं दीपनं बलशुक्रकृत् ॥ १२१ ॥

खजूर के वृक्षों के जल के गुण—खजूर के वृक्षों के जल रुचिकारक, अग्निदीपक, मद, पित्त, बल तथा शुक्र को उत्पन्न करने वाले एवं वात तथा कफ के नाशक होते हैं ॥ १२१ ॥

अथ पिण्डखर्जूरीभेदः (सुलेमानी खजूर)। तस्य नामगुणानाह

सुलेमानी तु मृदुला दलहीनफला च सा । सुलेमानी श्रमभ्रान्तिदाहमूर्च्छाऽस्रपित्तहृत् ॥

सुलेमानी खजूर । ('पिण्डखर्जूर' के भेद) के संस्कृत नाम—सुलेमानी, खर्जूरी, मृदुला तथा दलहीनफला ये सब हैं।

गुण—सुलेमानी खजूर श्रम, भ्रांति, दाह, मूर्च्छा तथा रक्तपित्त को दूर करनेवाला होता है॥

४३ खर्जूरी-पिण्डखर्जूरी (खजूर)

हि०-खजूर, देशी खजूर, खिजूर । बं०-खेजूर गाछ । म०-शिन्दी, लघु शिंदी, शिंधी । क०-इचुली, इचुल, करि इचुली । ते०-इण्टाचेट्टु, खजूर पडु । गु०-खजूरी । फा०-तमर रुतब, खुरमाय हिन्दी । अ०-खुरमातर, रतब हिन्दी । अं०-Wild Date (वाइल्ड डेट) । ले०-*Foenix Sylvestris* (फोनिक्स सिल्वेस्ट्रिज) ।

देशी खजूर इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होती है। इसका वृक्ष-ताड़वृक्ष के समान होता है किन्तु इसकी ऊँचाई कम होती है। पत्ते-नारियल के पत्तों के समान छोटे-छोटे होते हैं। ग्रीष्म ऋतु में पत्रदण्डों की जड़ से अनेक शाखायुक्त झाड़ से निकलते हैं। इन्हीं पर १ इञ्च लम्बे गोल-गोल फल गुच्छों में लगते हैं जो पकने पर लाली युक्त नारङ्गी रंग के हो जाते हैं। बीज-लम्बा होता है जो एक ओर फटा सा दीख पड़ता है।

प्रायः देहाती लड़के इसके झाड़दार फल के गुच्छों को तोड़ कर किसी खूँटी में रस्सी के सहारे टाग देते हैं और अधपके फलों में नमक और कडु तेल लगाकर छोड़ देते हैं। २-३ दिनों में वे फल पक कर गूदेदार मुलायम हो जाते हैं और लड़के खाते हैं।

बङ्ग देश के यशोहर आदि कई स्थानों में खजूर की अच्छी आबादी की जाती है। वहां के

लोग खजूर से गुड और चीनी बनाते हैं और देश देशान्तरों में बिकने के लिये भेजते हैं। खजूर से प्रायः सब प्रान्तों में ताडी निकाली जाती है परन्तु सब प्रान्तों में चीनी नहीं बनाई जाती। खजूर की ताडी से थोड़े खर्च में चीनी बनती है परन्तु ऊख के रस से जो चीनी बनती है उसमें अधिक खर्च पडता है। खजूर के गुड अथवा चीनी से ऊख के गुड और चीनी अच्छी होती है क्योंकि खजूर के गुड में एक प्रकार का लासा होता है। लासे को अच्छी तरह साफ न करने से वह खजूरी चीनी में रह जाता है और कुछ दिनों के बाद वह लासा मिठास के साथ मिल कर दुर्गन्धित हो जाता है। अब कुछ दिनों से वहां के लोग इसकी चीनी को विलायती तरीके से खूब साफ कर लासा निकाल देते हैं। जिससे चीनी खराब नहीं होती।

४४ छुहारा

हि०-छुहारा, छोहारा। **बं०**-सोहारा। **म०**-शिंदी खजूरी। **गु०**-खारक। **क०**-इन्चुलु, करिइञ्चुली, करिइञ्चुचुलु। **ते०**-खजूरपुपण्डु। **फा०**-खुर्मा, खुर्मा खुश्क। **अ०**-तमर। **अं०**-Date Palm (डेट पाम)। **ले०**-*Phoenix Dactylifera* (फोनिक्स डाक्टिलिफेरा)।

छुहारा—ईरान, फारस, काबुल आदि देशों में उत्पन्न होता है और इस देश के पञ्जाब, सिन्ध आदि प्रान्तों में रोपण किया जाता है।

उसके **वृक्ष**-ताड और नारियल के वृक्षों के समान होते हैं और **पत्ते**-खजूर के पत्तों के समान पर उनसे कुछ बडे होते हैं। **फल**-भी खजूर से बडा होता है। अधपके सूखे फल ही छुहारा हैं।

४५ पिण्ड खजूर

हि०-पिण्ड खजूर, पिनखजूर। **बं०**-पिण्डखेजूर। **गु०**-खजूर। **क०**-सिंह इञ्चिल। **पं०**-पिण्ड खजूर। **ले०**-*Phoenix Dactylifera* (फोनिक्स डाक्टिलिफेरा)।

यह अफगानिस्तान, बिलोचिस्तान और फारस आदि देशों में उत्पन्न होता है और इस देश के पञ्जाब और सिन्ध में रोपण किया जाता है। इसका **वृक्ष**-ताड के समान बहुत ऊँचा होता है। **पत्ते**-आदि भी खजूर के ही समान होते हैं।

जिस प्रकार अंगूर, किसमिस, मुनक्के आदि एक ही जाति के लताओं के फल हैं और कच्चे, पके, बीजहीन, छोटे, बडे, सूखे आदि फलों के भेद से वे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं उसी प्रकार खजूर, छोहारा, पिण्डखजूर आदि एक ही जाति के वृक्षों के फल हैं। इस देश में होने से उसको देशीय खजूर कहते हैं और वह गुण में हीन होता है। जिस प्रकार काबुल, फारस आदि देशों के अंगूर, अनार, नासपाती आदि फल इस देश में उत्पन्न हुए फलों की अपेक्षा सुस्वादु और वीर्यवह होते हैं। उसी प्रकार काबुल, फारस प्रभृति देशों के खजूर सुस्वादु और अधिक गुणवान् होते हैं। खजूर, छुहारा, पिण्डखजूर आदि एक ही जाति के वृक्षों के फल हैं। छुहारे और पिण्डखजूर दोनों ही के वृक्षों के लेटिन में *Foenix Sylvestris* (फोनिक्स सिल्वेस्ट्रिज) कहते हैं। क्योंकि इसके अधपके सूखे फल को छुहारा और पके हुए फलों को पिण्डखजूर कहते हैं। इसके सिवा सुलेमानी खजूर पिण्डखजूर का ही भेद है। इसको गुजराती में सुलेमानी और मुसी खोरेक तथा मराठी में खारीक कहते हैं॥ ४५॥

अथ वातादः (बादाम)। तस्य नामानि तन्मज्जगुणाँश्चाह

वातादो वातवैरी स्यान्नेत्रोपमफलस्तथा। वाताद उष्णः सुस्निग्धो वातघ्नः शुक्रकृद् गुरुः॥
वातादमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः। स्निग्धोष्णः कफकृन्नेष्टो रक्तपित्तविकारिणाम्॥१२४॥

बादाम के संस्कृत नाम—वाताद, वातवैरी तथा नेत्रोपमफल ये सब हैं।

गुण—बादाम उष्ण, स्निग्ध, शुक्रकारक गुरु एवं वातनाशक होता है। बादाम में मींगी—मधुर, वीर्यवर्धक, स्निग्ध, उष्ण, कफकारक एवं पित्त तथा वात को दूर करने वाली होती है तथा रक्तपित्त के रोगियों को हितकर नहीं होती है॥ १२३-१२४॥

४६ बादाम

हि०-बादाम, बदाम। **बं०**-बादाम। **म०**-बदाम, गोडेबादाम, कडवेबादाम। **गु०**-बदाम। **ते०**-बेदम, बेदमा। **ता०**-नटवडुम। **फा०**-बदाम, बदामशीरी, बादामतल्ख। **अ०**-लोजल,

लोज, लोज लइलु, लोजलमुर । अं०-Alnond (आल्नन्ड) । ले०-*Prunus Amygdalus* (प्रुनस एमिग्डैलस्) ।

यह काबुल और मालाबार में होता है तथा इस देश के शीतल प्रान्तों में रोपण किया जाता है। इसका **वृक्ष**-मध्यमाकार का होता है। टहनियों के अन्त में पत्ते गुच्छों में रहते हैं। **पत्ते**-अण्डाकार, अनीदार, कुछ नुकीले और बारीक कंगूरेदार होते हैं। **फूल**-सफेद रङ्ग के आते हैं जिन पर लाल रङ्ग के धब्बे रहते हैं। फल-लम्बाई युक्त गोल होते हैं। **बीज**-अण्डाकार और चिपटे होते हैं ॥ ४६ ॥

अथ सेवम् । तस्य नामगुणानाह

मुष्टिप्रमाणं बदरं सेवं सिवितिकाफलम् ॥ १२५ ॥

सेव समीरपित्तघ्नं बृंहणं कफकृद् गुरु । रसे पाके च मधुरं शिशिरं रुचिशुक्रकृत् ॥ १२६ ॥

सेव के संस्कृत नाम—मुष्टिप्रमाण, बदर अथवा मुष्टिप्रमाणबदर, सेव तथा सिवितिकाफल ये सब हैं।

गुण—सेव रस तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), कफकारक, गुरु, शीतल, रुचि तथा शुक्र को उत्पन्न करने वाला होता है ॥ १२५-१२६ ॥

अथामृतफलम् (यद् बदक्सान-काबुल-प्रभृतिषु देशेषु 'नाशपाती'ति नाम्ना प्रसिद्धम्) । तस्य गुणानाह

अमृतफलं लघु वृष्यं सुस्वादु त्रीन्हरेद्दोषान् । देशेषु मुद्गलानां बहुलं तल्लभ्यते लोकैः॥१२७॥

अमृतफल—यह बदक्सान तथा काबुल आदि देशों में 'नाशपाती' नाम से प्रसिद्ध है।

इसके **गुण**—नाशपाती लघु, वृष्य (वीर्यवर्धक), अत्यन्त स्वादिष्ट एवं तीनों दोषों को दूर करने वाली होती है और मुगलों के देश में इसे बहुलता से लोग पाते हैं ॥ १२७ ॥

४७ सेव

हि०-सेव, सेव । **सं०**-सेऊ, सेउफल । **म०**-मोठे बोर, सेवफल । **क०**-सेव । **गु०**-सेवफल । **मा०**-सेव । **पं०**-सेव । **फा०**-सेब । **अ०**-तुफाह, तुफ्फाह । **अं०**-Apple (एप्पल) ।

सेव एक प्रसिद्ध काबुली मेवा है। इसके **वृक्ष**-हिमालय, पंजाब, सिन्ध, उत्तर प्रदेश, मध्य-भारत और दक्षिण आदि प्रान्तों में होते हैं, पर जिस प्रकार काबुली सेव स्वादिष्ट होता है उसी तरह और देश का नहीं होता। सेव, बीह और नासपाती तीनों एक ही जाति के वृक्षों के फल हैं। इनमें अन्तर इतना ही समझना चाहिये जितना खजूर, पिण्डखजूर और छुहारे में। सेव के वृक्ष काश्मीर और काबुल में उत्तम होते हैं पर नासपाती भारत में भी अच्छी होती है। सेव का वृक्ष मध्यमाकार अमरूद के वृक्ष के समान, पत्ते भी अमरूद के पत्तों के समान पर इनसे चौड़े होते हैं और इनके नीचे के अन्त का भाग सफेद रोवेंदार होता है। **फूल**-सफेद रङ्ग और उन पर लाल छींटे होते हैं। **फल**-हरा, पीला और लाल होता है स्वाद कच्चे फल का खट्टा वा फीका और पकने पर मीठा और लाल हो जाता है। काबुली **सेव**-मधुर और काश्मीर का तुर्शी मायल होता है पर काश्मीर की नासपाती बहुत मधुर होती है। सेव वृक्ष फागुन से वैशाख तक फूलते-फलते और सावन-भादों तक फल जाते हैं ॥ ४७ ॥

अथ पीलुः । तस्य नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

पीलुर्गुडफलः स्रंसी तथा शीतफलोऽपि च । पीलु श्लेष्मसमीरघ्नं पित्तलं भेदि गुल्मनुत् ॥
स्वादु तिक्तञ्च यत्पीलु तन्नात्युष्णं त्रिदोषहृत् ॥ १२८ ॥

पीलू के संस्कृत नाम—पीलु, गुडफल, स्रंसी तथा शीतफल ये सब हैं।

गुण—पीलू मल का भेदन करने वाला, पित्तजनक एवं कफ वायु तथा गुल्म को दूर करने वाला होता है। जो पीलु स्वादिष्ट तथा तिक्तरस युक्त होता है वह अत्यन्त उष्ण नहीं होता तथा त्रिदोपनाशक होता है ॥ १२८ ॥

४८ पीलु

हि०-पीलु, पीलू, झल। बं०-पीलुगाछ। म०-लघु पीलु, पिलु किक चेला वृक्ष। गु०-पीलु, जाल्य, खारी जल्य क०-मिरीये ऊगनि, गेनुमर। ते०-गोलगु चेट्टु, पिन्नवर गोंट, वर गोगु। ता०-फोकु, कोकू,। प०-पीलु। मा०-जाल। फा०-दरख्ते, मिस्वाक्। अ०-ईराक, अराक।

यह इस देश के सूखे गरम प्रान्तों में उत्पन्न होता है। इसका वृक्ष-छोटा सदा हरा-भरा रहता है। स्तम्भ-टेढ़ा-मेढा होता है और शाखायें बहुत होती हैं। पत्ते-१-२॥ इञ्च लम्बे अण्डाकार होते हैं। इस पर फूल बारहो मास आते रहते हैं और वे हरापन युक्त सफेद होते हैं। फल-आधा इञ्च गोल, चिकने और पकने पर लाल हो जाते हैं।

एक दूसरा बडा पीलु होता है जिसको लैटिन में-*Salbadora Oleoides* (सालवेडोरा आलीओ आईडीस) कहते हैं। इसके फल पकने पर पीले, सूखने पर लाल लिये भूरे रङ्ग के होते हैं॥

अथाक्षोटः (अखरोट)। तस्य नामगुणानाह

पीलुः शैलभवोऽक्षोटः कर्परालश्च कीर्तितः। अक्षोटकोऽपि वातादसदृशः कफपित्तकृत् ॥१२९॥

अखरोट के संस्कृत नाम—पीलु, शैलभव, अक्षोट तथा कर्पराल ये सब हैं। जो पीलू पर्वत पर उत्पन्न होता है उसी को 'अखरोट' कहते हैं।

गुण—अखरोट-गुणों में बादाम के सदृश होता है एवं-कफ तथा पित्त का नाशक होता है॥

४९ अखरोट

हि०-अखरोट, अक्षोट, पहाडी पीलु। बं०-आखरोट, आकरोट, आक्रोट। प०-अखरोट। म०-आक्रोड, अक्रोड, अक्रोड। गु०-अकरोड, अखोड। ते०-अक्षोलमु, कोड गोगुमु। द्रा०-अक्रोट्ठ। क०-आखोट, बेट्टद गोनुमर। फा०-चार मग्ज, जिर्दगा। अ०-जोज़ हिन्दी, जोज़ुल हिन्द, जोज़। अं०-Wal nut (वाल नट)। ले०-*Juglans Regia*(जगलान्स रेजीया)

अखरोट-दो प्रकार का होता है, एक कागजी अखरोट जिसका छिलका पतला और दूसरा जिसका छिलका मोटा होता है। जो बोया जाकर उत्पन्न होता है और भली प्रकार सींचा जाता है उसका छिलका पतला और जो आप ही आप उगता है उसका मोटा होता है। अखरोट एक प्रसिद्ध काबुली मेवा है। इसके बड़े बडे वृक्ष इस देश के हिमालय में काश्मीर से लेकर मनीपुर आदि अनेक प्रान्तों में होते हैं। इसके पत्ते-शीतकाल में गिरकर माघ से चैत तक नवीन पत्ते निकल आते हैं॥ ४९॥

अथ बीजपूरः (बिजौरा)। तस्य नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

बीजपूरो मातुलुङ्गो रुचकः फलपूरकः। बीजपूरफलं स्वादु रसेऽम्लं दीपनं लघु ॥ १३० ॥
रक्तपित्तहरं कण्ठजिह्वाहृदयशोधनम्। श्वासकासारुचिहरं हृद्यं तृष्णाहरं स्मृतम् ॥ १३१ ॥

बिजौरा नीबू के संस्कृत नाम—बीजपूर, मातुलुङ्ग, रुचक तथा फलपूरक ये सब हैं।

गुण-बिजौरा के फल स्वादिष्ट, अम्लरसयुक्त, अग्निदीपक, लघु, हृदय के लिये हितकर, कण्ठ, जिह्वा तथा हृदय को शोधन करने वाले एवं रक्तपित्त, श्वास, कास, अरुचि तथा तृषा को दूर करने वाले होते हैं॥ १३०-१३१॥

५० बिजौरा

हि०-बिजौरा नींबु, बिजबरा नीमो, बिजौरानेबू। बं०-टाबालेबु। म०-महालुङ्ग, माहुलिङ्ग। गु०-बिजोरू लिम्बु। क०-माधवल, माधवला, महाफल, माधला। ते०-दावाकाया, मादिफलमु, मोधोफल पुचेट्टु। उ०-कलम्बा। प्रा०-महूर। फा०-तुरन, तरञ्ज। अ०-ऊत्तरञ्ज, उतरञ्ज। अं०-Citrus Acida (सिट्रस एसिडा)।

इसके वृक्ष-छोटे होते हैं और वाटिकाओं में लगाये जाते हैं। इसके पत्ते-नीबू के पत्ते के आकार वाले परन्तु लम्बाई-चौडाई में उनसे बडे होते हैं। फूल-सफेद आते हैं। फल-लम्बाई

युक्त गोल और नोकदार सा होता है। पकने पर लाली सहित पीले रंग का होता है और इसका स्वाद नीबू से भी अधिक खट्टा होता है। इसमें सूई डालने से वह गल जाती है ॥ ५० ॥

अथ मधुकर्कटी (बिजौराभेद, चकोतरा)। तस्या नामगुणानाह

वीजपूरोऽपरः प्रोक्तो मधुरो मधुकर्कटी ॥ १३२ ॥

मधुकर्कटिका स्वाद्वी रोचनी शीतला गुरुः। रक्तपित्तक्षयश्वासकासहिक्काभ्रमापहा ॥ १३३ ॥

चकोतरा नीबू के संस्कृत नाम—दूसरी जाति का जो बिजौरा होता है। उसे मधुर तथा मधुकर्कटी कहते हैं।

गुण—चकोतरा (नीबू) स्वादिष्ट, रोचक, शीतल, गुरु एवं रक्तपित्त, क्षय, श्वास, कास, हिक्का तथा भ्रम रोग को दूर करता है ॥ १३२-१३३ ॥

५१ चकोतरा

हि०-चकोतरा, पपई, अंडकाकड़ी, गलगल, गागल। **बं०**-वातादिलेबु, मधुकाकडी, मउफुटी। **म०**-पोपई, एरंड पपई, पपनस, गोडमहाळुङ्ग। **गु०**-पोपैयो, एरंडकाकडी। **त०**-वोप्पई। **पं०**-मीठा नीबू। **फा०**-लीमुने शर्वती। **अं०**-Polemo (पोलेमो)। **ले०**-*Citrus Decumana* (सिट्रस डिक्युमाना)।

इसको बागों में लगाते हैं। इसका **वृक्ष**-छोटा होता है और सदा हरा-भरा रहता है। **पत्ते**-उक्त बिजोरे से भी बडे-बडे होते हैं। **फूल**-सफेद रंग के आते है। **फल**-बड़े बडे गोल होते हैं। तौल में २-२॥ सेर के फल भी देखने में आते हैं। पकने पर फीके पीले रग के होते हैं। गूदी के दाने फीके गुलाबी रग के होते हैं और स्वाद में मीठे होते हैं ॥ ५१ ॥

अथ जम्बीरद्वयम्। तस्य नामानि तत्फलगुणांश्चाह

स्याज्जम्बीरो दन्तशठो जम्भजम्भीरजम्भलाः। जम्बीरमुष्णं गुर्वम्लं वातश्लेष्मविबन्धनुत् ॥
शूलकासकफोत्क्लेशच्छर्दितृष्णाऽऽमदोषजित्। आस्यवैरस्यहृत्पीडावह्निमान्द्यक्रिमीन् हरेत् ॥
स्वल्पजम्बीरिका तद्वत्तृष्णाच्छर्दिनिवारिणी ॥ १३५ ॥

जम्बीरी नीबू के संस्कृत नाम—जम्बीर, दन्तशठ, जम्भ, जम्भीर तथा जम्भल ये सब हैं।

गुण—जम्बीरी नीबू उष्ण, गुरु, अम्लरसयुक्त एवं वात, कफ और मल का विबन्ध, शूल, कास, कफोत्क्लेश, वमन, तृषा, आमसम्बन्धी दोष, मुख की विरसता, हृदय की पीड़ा, अग्नि की मन्दता तथा क्रिमि को दूर करने वाला होता है। छोटा जमीरी नीबू का संस्कृत नाम-स्वल्पजम्बीरिका है। यद्यपि यह गुणों में जमीरी नीबू के समान है परन्तु विशेषतः तृषा तथा वमन का नाशक है ॥

५२ जमीरी नीबू

हि०-जमीरी नीबू। **बं०**-जामोरालेबू, गोंडा लेंबु। **म०**-ईड लिंबू। **गु०**-लावा लींबु, दो डिंगा लिम्बु, इडलिम्बु, गधर लिम्बू। **क०**-कनीले, कञ्चीले, काडलिम्बे। **ते०**-जामिर निम्म, निम्म-चेट्टु। **फा०**-लिमुने शिरी।

इसका **वृक्ष**-बागों में लगाया जाता है। **पत्ते**-कागजी नीबू के आकार वाले परन्तु उनसे लम्बाई-चौडाई में अधिक होते हैं। **फल**-गोल और बडे होते हैं। कच्चे में हरे और पकने पर पीले पड जाते हैं ॥ ५२ ॥

अथ निम्बूकम् (कागजी नीबू)। तस्य गुणांश्चाह

निम्बू' स्त्री निम्बुकं क्लीबे निम्बूकमपि कीर्त्तितम्। निम्बूकमम्लं वातघ्नं दीपनं पाचनं लघु ॥

कागजी नीबू के संस्कृत नाम—निम्बू (यह स्त्रीलिङ्गी है), निम्बुक (यह नपुंसकलिङ्गी है) तथा निम्बूक ये सब हैं।

गुण—कागजी नीबू अम्लरसयुक्त, अग्निदीपक, पाचक, लघु तथा वातनाशक होता है ॥ १३६॥

अन्यच्च—

निम्बुकं कृमिसमूहनाशनं तीक्ष्णमम्लमुदरग्रहापहम्।
वातपित्तकफशूलिने हितं कष्टनष्टरुचिरोचनं परम् ॥ १३७ ॥

त्रिदोषवह्निक्षयवातरोगनिपीडितानां विषविह्वलानाम् ।
मन्दानले बद्धगुदे प्रदेयं विसूचिकायां मुनयो वदन्ति ॥ १३८ ॥

कागजी नीवू के और भी गुण—कागजी नीवू कृमिसमूह का नाशक, तीक्ष्ण, अम्लरसयुक्त, उदरपीडा तथा ग्रहबाधा को दूर करने वाला, वात, पित्त तथा कफ सम्बन्धी शूल रोग वालों के लिये हितकर, कष्ट से जिनकी अन्न की रुचि नष्ट हो गई है उसे पुनः उत्पन्न करने वाला होता है और त्रिदोष, अग्निक्षीणता तथा वातरोग से पीडित, विष से विह्वल, मन्दाग्नि, मलबन्ध तथा हैजा रोग से युक्त रोगियों को कागजी नीवू खिलाना हितकर है ॥ १३७–१३८ ॥

५३ नींबू

हि०–कागजी नीबु, नींबू, लेमु, नेमू, कागदी नीमो, निवुआ । बं०–कागदी लेंबु, पति लेंबु । म०–कागदी लिंबु, लघु इण्टलिम्बु, निम्बे । गु०–खाटां गोल लींबु, कागदी लिम्बु । क०–कचिले निम्बू । ते०–निम्म पंडु । फा०–लिमुने तुर्श, लींबू, लीमू । अ०–लिमुने हाजिम, लेमू हाजिम । अं०–Lemon (लेमन) । लै०–*Citrus Acida* (सिट्रस एसिडा) ।

नींबू के **वृक्ष**–मध्यमाकार के होते है । ये बागों में लगाये जाते हैं । पर कहीं-कहीं इसका वृक्ष वन में भी देख पडता है । **पत्ते**–गोलाकार और किञ्चित् लम्बे किसी के छोटे और किसी के बडे होते हैं । **फूल**–सफेद और सुगन्धित होते हैं । **फल**–कच्चे में हरे और पकने पर पीले हो जाते हैं ॥

अथ मिष्टनिम्बूफलम् (मीठा नींबू) । तस्य गुणानाह

मिष्टनिम्बूफलं स्वादु गुरु मारुतपित्तनुत् ॥ १३९ ॥
गररोगविषध्वंसिकफोत्क्लेशि च रक्तहृत् । शोषारुचितृषाच्छर्दिहरं बल्यञ्च बृंहणम् ॥१४०॥

मीठे नीवू के संस्कृत नाम—मिष्टनिम्बू, मधुजम्भल, शङ्खद्रावी, पित्तद्रावी तथा शर्करक ये सब हैं।

गुण—मीठा नीवू स्वादिष्ट, गुरु, बलकारक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), कफसम्बन्धी रोगों को उत्पन्न करनेवाला एवं वात, पित्त, विषजन्य रोग, विष, रक्तविकार, शोष, अरुचि, तृषा तथा वमन को दूर करने वाला होता है ॥ १३९–१४० ॥

५४ मीठा नीवू

हि०–मीठा नीवू, सरवती नींबू, कमला नींबू, केवला । बं०–कमला लेंबू । म०–साखरलेंबू, गोडलिंबू, गु०–मीठा लिम्बू, मीठू लिम्बू, मोसम्बी । क०–कनीले, कोत्तीले । यू०–कवला मोसम्बी । फा०–लिमुने शिरी । अ०–लिमू नेहुलु । अं०–Sweet Lemons (स्वीट लेमन्स्) ।

कमला नीवू—सबसे सुस्वादु होता है और सब प्रान्त की वाटिकाओं में रोपण किया जाता है । इसके **वृक्ष**—छोटे-छोटे होते हैं । **फल**—कागजी नीवू से कुछ बड़े और दोनों ओर से दबे हुए होते हैं तथा पकने पर नारङ्गी रंग के हो जाते हैं ॥ ५४ ॥

अथ कर्मरङ्गम् (कमरख) । तस्य नामगुणानाह

कर्मरङ्गं शिरालं च बृहदम्लं रुजाकरम् । कर्मरङ्गं हिमं ग्राहि स्वाद्वम्लं कफवातहृत् ॥१४१॥

कमरख के संस्कृत नाम—कर्मरङ्ग, शिराल, बृहदम्ल तथा रुजाकर ये सब हैं ।

गुण—कमरख स्वादिष्ट तथा अम्ल रसयुक्त, शीतल, ग्राही एवं कफ तथा वात को दूर करने वाला होता है ॥ १४१ ॥

५५ कमरख

हि०–कमरख । बं०–काम रागा, काम रंगा । म०–कर्मराचे झाड, कर्मर । क०–कमरक । गु०–कमरक, कर्मरग । मा०–कमरख । पं०–कमरख । ते०–तमती । द्रा०–तमर्त । अं०–Gooseberry tree (गूज बेरी ट्री), Carambola (कारम्बोला) । लै०–*Averrhoa Carambola* (एवर्रहोआ कारम्बोला) ।

यह गरम प्रान्त की वाटिकाओं में रोपण किया जाता है । इसका **वृक्ष** छोटा होता है और शाखायें बहुत होती हैं । **पत्ते**–कसौंदी के पत्तों के समान अण्डाकार और नुकीले होते हैं ।

फूल-छोटे-छोटे सफेद या किञ्चित् लाली लिये आते हैं। फल-२-३ इञ्च लम्बे पाँच कोनेवाले और गूदेदार होते है ॥ ५५ ॥

अथाम्लिका (इमली) । तस्या नामानि तत्पक्वफलगुणाँश्चाह

अम्लिका चुक्रिकाऽम्ली च चुक्रा दन्तशठाऽपि च ।
अम्ला च चिञ्चिका चिञ्चा तिन्तिडीका च तिन्तिडी ॥ १४२ ॥
अम्लिकाऽम्ला गुरुर्वातहरा पित्तकफास्रकृत् । पक्वा तु दीपनी रूक्षा सरोष्णा कफवातनुत् ॥

इमली के सस्कृत नाम—अम्लिका, चुक्रिका, अम्ली, चुक्रा, दन्तशठा, अम्ला, चिञ्चिका, चिञ्चा, तिन्तिडीका तथा तिन्तिडी ये सब हैं।

गुण—कच्ची इमली अम्ल रसयुक्त, गुरु, वातनाशक एवं पित्त, कफ तथा रुधिरविकार को करने वाली होती है। पकी इमली-अग्निदीपक, रूक्ष, सारक, उष्ण एव कफ तथा वात का नाशक होती है ॥ १४२-१४३ ॥

५६ इमली

हि०-इमली, तिन्तिडी, अम्लिका, अम्ली । **पं०**-इम्ली, अंवली । **वं०**-तेंतुल, आमरुल, तेंकल। **म०**-चिञ्च । **क०**-लुणिसे, हुणिसे, हुणिसेहूण । **गु०**-आंवली । **ते०**-चिंट, चिताचेट्टु । **उ०**-कंआं। **ता०**-पुलि । **मु०**-टिंटज । **मा०**-आमली । **द्रा०**-पुलि। **फा०**-तिमिर हिन्दी । **अ०**-तमर हिन्दी। **अं०**-Tamarind Tree (टैमरिंड ट्री) । **ले०**-*Tamarindus Indica* (टैमरिण्डस इण्डिका) ।

इमली के **वृक्ष**-प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होते हैं। इसका वृक्ष बहुत बड़ा होता है और सदा हरा-भरा रहता है। **शाखाएँ**-बहुत फैली हुई होती हैं। **पत्ते**-सींकों पर आमले के पत्तों के समान होते हैं। फूल-लाली युक्त पीले रग के आते हैं। **फलियां**-लम्बी और टेढी होती है ॥५२॥

अथाम्लवेतसः (अमलबेंत) । तस्य नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

स्यादम्लवेतसश्चुक्रं शतवेधि सहस्रनुत् । अम्लवेतसमत्यम्लं भेदनं लघु दीपनम् ॥ १४४ ॥
हृद्रोगशूलगुल्मघ्नं पित्तलं लोमहर्षणम् । रूक्षं विण्मूत्रदोषघ्नं प्लीहोदावर्त्तनाशनम् ॥१४५॥
हिक्काऽऽनाहारुचिश्वासकासाजीर्णवमिप्रणुत् ॥
कफवातामयध्वंसि च्छागमांसद्रवत्वकृत् । चणकाम्लगुणं ज्ञेयं लोहसूचीद्रवत्वकृत् ॥१४६॥

अम्लबेंत के संस्कृत नाम—अम्लवेतस, चुक्र, शतवेधि तथा सहस्रनुत् ये सब हैं।

गुण-अम्लबेंत अत्यन्त अम्ल रसयुक्त, मलभेदक, लघु, अग्निदीपक, पित्तजनक, खाने से रोमाञ्च करने वाला, रूक्ष, बकरे के मांस को पकाने के समय डालने से शीघ्र गलाने वाला, लोहे की सूई को गलानेवाला, गुणों में चनाखार के समान एव हृद्रोग, शूल, गुल्म, मल तथा मूत्रगत दोष, प्लीहा, उदावर्त्त, हिचकी, आनाह (अफरा), अरुचि, श्वास, कास (खासी), अजीर्ण, वमन, कफ तथा वातसम्बन्धी रोग इन सबों को नष्ट करने वाला होता है ॥ १४४-१४६ ॥

५७ अमलबेंत

हि०-अमलबेंत, अम्लबेंत। **वं०**-थकर, अमलवेतस। **म०**-चुका। **यू०**-अमलबेद। **गु०**-अम्लवेद । **फा०**-तुर्षक ।

अमलबेंत की सत्यता में मतभेद है। आजकल बाजार में जो अमलबेंत पसारियों के यहाँ मिलता है वह किसी चीज की गूदी या लम्बी लता की रेशा चीटी सी गुथी रहती है। विद्वानों की सम्मति है कि अमलबेंत एक प्रकार का फल है। परन्तु यह कैसा होता है। इसका निर्णय अभी तक नहीं हुआ ॥ ५७ ॥

अथ वृक्षाम्लकम् (विंषाम्बिल, कोकम) । तस्य नामानि तत्पक्वापक्वफलगुणाँश्चाह

वृक्षाम्लं तिन्तिडीकञ्च चुक्रं स्यादम्लवृक्षकम् । वृक्षाम्लमाममम्लोष्णं वातघ्नं कफपित्तलम् ॥
पक्वन्तु गुरु संग्राहि कटुकं तुवरं लघु ॥ १४८ ॥
अम्लोष्णं रोचनं रूक्षं दीपनं कफवातकृत् । तृष्णार्शोग्रहणीगुल्मशूलहृद्रोगजन्तुजित् ॥१४९॥

कोकम के संस्कृत नाम—वृक्षाम्ल, तिन्तिडीक, चुक्र तथा अम्लवृक्षक ये सब हैं।

गुण—कोकम का कच्चा फल अम्लरसयुक्त, उष्ण, कफ तथा पित्त को उत्पन्न करने वाला एवं वातनाशक होता है।

पका फल—कटु, थोडा कषाय तथा अम्लरसयुक्त, गुरु, संग्राही, उष्ण, रोचक, रूक्ष, अग्निदीपक तथा वातकारक एवं तृषा, अर्श, ग्रहणी, गुल्म, शूल, हृद्रोग तथा जन्तु नाशक होता है॥

५८ कोकम

हि०-विषांबिल, कोकम, बिखाबिल, महादा। **बं०**-महादा, अमलकुटा, चुका, तेंतुल। **म०**-आमसोल, कोकम, आमटें। **गु०**-कोकम। **क०**-तित्तोडिक। **कों०**-कोकमसोल। **गोवा०**-भिडोओ। **मा०**-कोकम, टासर्या। **पं०**-डांसरा, समाक दाना। **अं०**-Kokam Butter Tree (कोकम बटर ट्री)। **ले०**-*Garcia Indica* (गार्सिया इण्डिका)।

कोकण और कनारा में यह पाया जाता है। इसका **वृक्ष**-छोटा और पतला होता है। **शाखाएँ**—झुकी हुई रहती हैं। **पत्ते**-२-४ इञ्च लम्बे बर्छीनुमे होते हैं। **फूल**-छोटे छोटे आते हैं। **फल**-नारङ्गी के समान गोल होते हैं। कच्ची अवस्था में हरे और पकने पर लाल हो जाते हैं। इसके पत्ते, फल, छाल, **बीज**-सभी अम्ल होते हैं॥ ५८॥

अथ चतुरम्लं पञ्चाम्लं च। तयोर्लक्षणमाह

अम्लवेतसवृक्षाम्लबृहज्जम्बीरनिम्बुकैः। चतुरम्लं हि पञ्चाम्लं बीजपूरयुतैर्भवेत्॥ १५०॥

चतुरम्ल के लक्षण—अम्लवेत, कोकम, जम्भीरी नीबू (बडा) और कागजी नीबू इन चारों के योग को 'चतुरम्ल' कहते हैं।

पञ्चाम्ल के लक्षण—यदि चतुरम्ल (अम्लवेत, कोकम, जमीरी नीबू, कागजी नीबू) में विजौरा नीबू का और योग कर दिया जाय तो 'पञ्चाम्ल' हो जाता है॥ १५०॥

अथ परिभाषामाह

फलेषु परिपक्वं यद् गुणवत्तदुदाहृतम्। बिल्वादन्यत्र विज्ञेयमामं तद्धि गुणाधिकम्॥
फलेषु सरसं यत्स्याद् गुणवत्तदुदाहृतम्॥ १५१॥
द्राक्षाबिल्वशिवादीनां फलं शुष्कं गुणाधिकम्। फलतुल्यगुणं सर्वं मज्जानमपि निर्दिशेत्॥
फलं हिमाग्निदुर्वातव्यालकीटादिदूषितम्। अकालजं कुभूमीजं पाकातीतं न भक्षयेत्॥

फलविषयक परिभाषा—फलों में जो पका होता है वह कच्चे की अपेक्षा अधिक गुणकारी होता है किन्तु यह नियम बेल के फल के लिये नहीं है क्योंकि बेल का फल कच्चा ही अधिक गुणकारी होता है। फलों में जो सरस होता है वह सूखे की अपेक्षा अधिक गुणकारी होता है किन्तु दाख, बेल तथा हरड आदि के फल सूखे ही अधिक गुणकारी होते हैं। फल के गुण के समान उसकी मींगी के भी गुण समझना चाहिये। जो फल पाला, अग्नि, आँधी, सर्प तथा कीड़े आदि से खराब हो गये हों तथा अकाल अथवा दुष्टभूमि में उत्पन्न हुए हों एवं अधिक पक जाने से खराब हो गये हों उन्हें कभी नहीं खाना चाहिये॥ १५२-१५३॥

पाकातीतं = पाकमतिक्रम्य स्थितम्॥ १५३॥

यहाँ 'पाकातीत' पद का अधिक पक जाने से खराब हो गये हों, ऐसा अर्थ समझना चाहिये॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
सप्तम आम्रादिफलवर्गः समाप्तः॥ ७॥



अथ धात्वादिवर्गापरनामको धातूपधातु-रसोपरसरत्नोपरत्नविषोपविषवर्गः

तत्र धातूनां लक्षणानि गुणांश्चाह, तत्रादौ धातुसंख्यामाह

स्वर्णं रूप्यञ्च ताम्रं च रङ्गं यशदमेव च । सीसं लौहञ्च सप्तैते धातवो गिरिसम्भवाः ॥ १ ॥

धातुओं की सख्या—सोना, चाँदी, तामा, राँगा, जस्ता, सीसा और लोहा ये सात धातु पर्वत में उत्पन्न होने (खान से निकलने) वाले हैं ॥ १ ॥

अथ धातुशब्दस्य निरुक्तिमाह

वलीपलितखालित्यकार्श्याबलयजरामयान् । निवार्य देहं दधति नृणां तद्धातवो मताः ॥२॥

धातु शब्द की निरुक्ति—मनुष्य के वली, पलित, खालित्य (शिर के बाल झड़ जाना), कृशता, निर्बलता, बुढापा, रोग इन सबों को दूर करके जो देह को स्थिर (कार्य करने में समर्थ) रखते हैं, वे 'धातु' कहलाते हैं ॥ २ ॥

तत्रादौ सुवर्णस्योत्पत्तिनामान्याह

पुरा निजाश्रमस्थानां सप्तर्षीणां जितात्मनाम् । पत्नीर्विलोक्य लावण्यलक्ष्मीसम्पन्नयौवनाः ॥
कन्दर्पदर्पविध्वस्तचेतसो जातवेदसः । पतितं यद्धरापृष्ठे रेतस्तद्धेमतामगात् ॥
कृत्रिमञ्चापि भवति तद्रसेन्द्रस्य वेधतः ॥ ४ ॥

सोने की उत्पत्ति—पहले एक समय जितेन्द्रिय सप्तर्षिगण अपने आश्रम में बैठे हुए थे। उस समय लावण्य तथा शोभा से पूर्ण यौवन वाली उनकी पत्नियों को देख कर कामदेव से जितेन्द्रियता का अभिमान नष्ट हो जाने से (कामपीडित होने से) अग्निदेव का जो वीर्य स्खलित होकर धरातल पर पड़ा वही सोना हुआ अर्थात् तभी से सोना की उत्पत्ति हुई। पारे के वेध से कृत्रिम सोना भी होता है ॥ ३–४ ॥

***मरीचिरङ्गिरा अत्रिः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । वसिष्ठश्चेति सप्तैते कीर्त्तिताः परमर्षयः ॥३–४॥**

यहाँ 'सप्तर्षि' पद से १ मरीचि, २ अङ्गिरा, ३ अत्रि, ४ पुलस्त्य, ५ पुलह, ६ क्रतु, ७ वशिष्ठ ये ७ परमर्षियों का बोध करना चाहिये ॥ ३–४ ॥

स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेम हाटकम् ॥ ५ ॥
तपनीय च गाङ्गेयं कलधौतञ्च काञ्चनम् । चामीकरं शातकुम्भं तथा कार्त्तस्वरं च तत् ॥ ६ ॥
जाम्बूनदं जातरूप महारजतमित्यपि ॥ ७ ॥

सोना के संस्कृत नाम—स्वर्ण, सुवर्ण, कनक, हिरण्य, हेम, हाटक, तपनीय, गाङ्गेय, कलधौत, काञ्चन, चामीकर, शातकुम्भ, कार्त्तस्वर, जाम्बूनद, जातरूप तथा महारजत ये सब हैं ॥ ५–७ ॥

अथोत्तमसुवर्णलक्षणमाह

दाहे रक्तं सितं छेदे निकषे कुङ्कुमप्रभम् । तारशुल्बोज्झितं स्निग्धं कोमलं गुरु हेम सत् ॥८॥

उत्तम सुवर्ण के लक्षण—जो सुवर्ण तपाने में लाल, काटने में सफेद, कसौटी (कसने) में केशर के समान, चाँदी तथा तामा से रहित, स्निग्ध, कोमल तथा तौल में भारी हो उसे उत्तम समझना चाहिये ॥ ८ ॥

***सत् = उत्तमम् ॥ ८ ॥**

मूल में 'सत्' पद से 'उत्तम' अर्थ समझना चाहिये ॥ ८ ॥

अथ निकृष्टसुवर्णलक्षणमाह

तच्छ्वेतं कठिनं रूक्षं विवर्णं समलं दलम्। दाहे छेदेऽसितं श्वेतं कषे त्याज्यं लघु स्फुटम् ॥९॥

निकृष्ट सुवर्ण के लक्षण—जो सुवर्ण देखने में कुछ सफेद, कठिन, रूखा, खराब वर्णवाला, मैल के सहित, जोर वाला (गाठ के सदृश) तपाने तथा काटने में काला, कसने में सफेद, तौल में हलका तथा घन की चोट से टूटने वाला हो उसे निकृष्ट समझ कर औषध के कार्य में त्याग देना चाहिये ॥ ९ ॥

छदल='जोर' इति लोके। स्फुटं=यद्घनाहतं स्फुटति ॥ ९ ॥

मूल में 'दल' पद का लोकप्रसिद्ध 'जोर' तथा 'स्फुट' का 'घन की चोट से टूटने वाला' अर्थ समझना चाहिये ॥ ९ ॥

अथ सम्यङ्मारितसुवर्णगुणानाह

सुवर्णं शीतलं वृष्यं वल्यं गुरु रसायनम्। स्वादु तिक्तं च तुवरं पाके च स्वादु पिच्छिलम् ॥
पवित्रं बृंहणं नेत्र्यं मेधास्मृतिमतिप्रदम्। हृद्यमायुष्करं कान्तिवाग्विशुद्धिस्थिरत्वकृत् ॥
विषद्वयक्षयोन्मादत्रिदोषज्वरशोषजित् ॥ ११ ॥

शुद्ध शोधित स्वर्ण भस्म के गुण—सुवर्ण (भस्म) मधुर, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, विपाक में मधुर, पिच्छिल, पवित्र, बृहण (रस-रक्तादिवर्द्धक), नेत्र के लिये हितकर, शीतल, वीर्यवर्द्धक, वलकारक, गुरु, रसायन, हृदय को हितकर, मेधा (धारणाशक्ति), स्मृति, बुद्धि, आयु, कान्ति, वाणी की शुद्धि तथा स्थिरता को करने वाला एवं दोनों प्रकार के (स्थावर-जङ्गम) विष, क्षय, उन्माद, त्रिदोष, ज्वर तथा शोष को दूर करने वाला होता है ॥ १०-११ ॥

अथासम्यङ्मारितसुवर्णदोषानाह

बलं सवीर्यं हरते नराणां रोगव्रजान् पोषयतीह काये।
असौख्यकृच्चापि सदा सुवर्णमशुद्धमेतन्मरणञ्च कुर्यात् ॥ १२ ॥
असम्यङ्मारितं स्वर्णं बलं वीर्यञ्च नाशयेत्।
करोति रोगान् मृत्युं च तद्धन्याद्यत्नतस्ततः ॥ १३ ॥

अशुद्ध शोधित भस्म के दोष—अशुद्ध सुवर्ण (भस्म) मनुष्यों के वल तथा वीर्य को नष्ट करता है तथा शरीर में रोगों को पुष्ट करता है। सदा दुःख पहुँचाता है और अन्त में मृत्यु भी कर देता है। विना शोधित सुवर्ण भस्म वल तथा वीर्य को नष्ट करता है एवं रोग तथा मृत्यु को देता है अतएव यत्नपूर्वक इसकी भस्म वनानी चाहिये ॥ १२-१३ ॥

१ सोना

हि०-सोना, सुवर्ण। **वं०**-सोना, स्वर्ण, सुवर्ण। **म०**-सोने। **मा०**-सोनो। **गु०**-सोना, सोनु। **क०**-स्वर्ण, चिन्न। **ते०**-बङ्गार, बङ्गारमु, बङ्गारम्, मङ्गार। **पं०**-सोन्ना। **द्रा०**-तग। **फा०**-तिला, जर। **अ०**-जहब। **अं०**-Gold (गोल्ड)। **ले०**-*Auram* (औरम्)।

सोना एक कीमती पीले रंग का सर्वप्रिय धातु है। वट्टर, गिन्नी, पन्ना, पियरा इत्यादि भेदों से सोना कई प्रकार का होता है। भस्म के लिये उत्तम सोना चाहिए। आजकल वटर और पन्ने के सोने अच्छे समझे जाते हैं। जो सोना आग में तपाने से अग्नि को सह कर अपनी कान्ति को न छोड पीला किंचित् लाली सहित चमकदार दीख पडे वह ग्रहणयोग्य उत्तम और जो अपनी कान्ति को छोड काले रङ्ग का हो जावे उसको निकृष्ट समझ कर उसकी भस्म कदापि नहीं बनानी चाहिये। आजकल आभूषण के सोने में प्रायः मिलावट हुआ करती है। यदि ऐसा सोना औषधि कार्य के लिये मिल जावे तो उसमें मिले हुए ताम्रादि धातुओं को अवश्य निम्नलिखित प्रकार से निकाल देना चाहिये :—

निर्वातस्थान में एक बड़े उपले रख उस पर साम्भर नोन और लाल ईंट का कपडछान चूर्ण अङ्गुल-प्रमाण मोटा बिछा-बिछा कर सोने के पत्रों को रखना जावे जिसमें कहीं से दीख न पड़े और सबके ऊपर भी एक बडा मोटा उपला रख उसके चारो ओर दो सेर उपले चुन कर आग

लगा दे। स्वांग शीतल होने पर निकाल कर जब तक उपर्युक्त उत्तम सोने का रङ्ग न दीख पड़े तब तक अग्नि देता जावे। इस प्रकार सोना दोष रहित बनाकर भस्म के कार्य में लेना चाहिये।

सोना शुद्ध करने की वैज्ञानिक क्रिया

उमदा बटर का सोना एक तोला और उमदा सिल की चाँदी २ तोले ले दोनों को एक में मिला गला कर के टीन के समान पतला पत्र बनवा करके छोटे-छोटे टुकड़े काट ले। इन सोने के टुकड़ों को चीनी मिट्टी अथवा चाय के प्याले में रख करीब दो तोले शोरे का तेजाब (नाइट्रिक एसिड) छोड दे और लकड़ी के कोयले की मध्यम आँच पर रख दे। उसमें से रगीन धुवाँ निकलेगा। धूवाँ निकलना बन्द हो जाने पर आग पर से पात्र उतार कर ठंडा हो जाने दे। फिर २-२ तोले के करीब जल छोड़ छोड कर प्याली को हिलावे और एक दूसरे चीनी के बड़े पात्र में तेजाब मिश्रित पानी जो नीला[1] रंग का होगा उसको धीरे-धीरे निकाल कर रखते जाय किन्तु ध्यान रखे कि कत्थई रंग का नीचे बैठा हुआ स्वर्ण चूर्ण पहले प्याले में से दूसरे प्याले में न गिरने पाये। बिल्कुल नीला पानी निकल जाने के बाद फिर दो तोले शोरे का तेजाब छोड धीमी आँच पर रख दे और धुयें का रंग देखे। जब उसमें सफेदी आ जाए तो जाने कि स्वर्ण पूर्ण शुद्ध हो गया। इसी तरह जब तक सफेद धुवाँ न निकले तब तक उपर्युक्त विधि से तेजाब छोड़ कर प्रयोग करते जाय। सफेद धुवाँ आने पर पानी देकर २-४ बार धो देवे। धोये हुये जल को उपर्युक्त दूसरे प्याले में इकट्ठा करते जाय किन्तु अन्तिम बार धोते वक्त १ टुकडा 'नौसादर' और थोडा जल डाल कर धो डाले। प्याले में कत्थई रग का बचा हुआ चूर्ण सुखाले। यही वैज्ञानिक पूर्ण शुद्ध स्वर्ण-चूर्ण प्राप्त होगा। बड़े चीनी के पात्र में नीले रंग के सचित जल में दो सेर और जल छोड़ कर एक छटांक का ताम्रपत्र का टुकड़ा छोड़ कर २४ घटे रख छोड़े। उसमें नीचे शुद्ध चांदी बैठ जायगी। ऊपर का पानी धीरे-धीरे निकाल डाले। ऐसा ही कई बार पानी से धोकर और थिरा कर जल निकाल डाले। बस यह शुद्ध चांदी का चूर्ण सुखा कर छोड़े और उसे भस्म या रौप्य सिन्दूर बनाने के काम में लावे।

१—प्राकृत, २-सहज, ३-अग्निसम्भव, ४-खनिज और ५-वेधजन्य, इस प्रकार सोना पांच प्रकार का होता है।

१—रजोगुण से उत्पन्न हुआ सोना जिसके द्वारा यह सारा ब्रह्माण्ड व्याप्त है, ऐसा सोना 'प्राकृत' है। यह **प्राकृत** संज्ञक सोना देवताओं को भी दुर्लभ है।

२—**सहज** संज्ञक वह स्वर्ण है जिसके जरायु से वेष्टित ब्रह्माजी उत्पन्न हुए और जो सुमेरु पर्वत के रूप में है।

३—पूर्वकाल में जब श्रीमहादेवजी का वीर्य अग्निदेव ने भक्षण कर लिया था तब उसे सहन न होने पर अग्निदेव ने वमन द्वारा बाहर निकाल दिया, उससे जो सोना उत्पन्न हुआ उसको **'अग्निसम्भव'** कहते हैं।

४—पहाड़ों की खान से उत्पन्न हुआ सोना **'खनिज'**[2] कहलाता है।

५—पारे से वेधकर रसायन द्वारा अथवा कीमिया द्वारा बना हुआ कृत्रिम सोना **'वेधजन्य'**[3] कहलाता है।

उपर्युक्त प्रथम तीन प्रकार के सोने दिव्य गुण वाले और षोडशकला-सम्पन्न होते हैं। इनको धारण करने से ही शरीर अजर-अमर हो जाता है।

अथ रूप्यम्। तस्योत्पत्तिमाह

त्रिपुरस्य वधार्थाय निर्निमेषैर्विलोचनैः। निरीक्षयामास शिवः क्रोधेन परिपूरितः॥ १८॥

---

१ नोटः—इस नीले रग के पानी को हाथ से न छूना चाहिये नहीं तो हाथ काला पड जायगा।

२. यह स्वर्ण चौदह कला युक्त पहले तीनों प्रकार के सोने की अपेक्षा गुणों में हीन गुणवाला कहा जाता है।

३. यह सोना श्रेष्ठ रसायन और पवित्र माना जाता है (यह पुराणों की बात है)

अग्निस्तत्कालमपतत्तस्यैकस्माद्विलोचनात्। ततो रुद्रः समभवद्वैश्वानर इवज्वलन्॥१५॥
द्वितीयादपतन्नेत्रादश्रुविन्दुस्तु वामकात्। तस्माद्रजतमुत्पन्नमुक्तकर्मसु योजयेत्॥ १६॥

चांदी का उत्पत्ति—त्रिपुरासुर के वध के लिए क्रोध से युक्त होकर शिवजी निर्निमेष दृष्टि से जब उसे देखने लगे, तब उसी समय उनके एक नेत्र से अग्नि निकली उसमे अग्नि के समान रुद्र भगवान् प्रज्वलित हो उठे और दूसरे बाएँ नेत्र से आँसू की बूदें निकलीं उन्हीं से चांदी की उत्पत्ति हुई, जिसका वैद्यक शास्त्रानुकूल कर्म में उपयोग लेना चाहिये॥ १४-१६॥

अथ कृत्रिमरूप्योत्पत्तिमाह

कृत्रिमं च भवेत्तद्धि वङ्गादिरसयोगतः॥ १७॥

कृत्रिम (वनावटी) चांदी की उत्पत्ति—वङ्ग आदि में पारा का योग करने से जो चांदी तैयार की जाती है उसे कृत्रिम चांदी कहते हैं॥ १७॥

अथ रूप्यनामान्याह

रूप्यं तु रजतं तारं चन्द्रकान्ति सितप्रभम्॥ १८॥

चांदी के संस्कृत नाम—रूप्य, रजत, तार, चन्द्रकान्ति तथा सितप्रभ ये सब हैं॥ १८॥

अथोत्तमाधमयो रूप्ययोर्लक्षणान्याह

गुरु स्निग्धं मृदु श्वेतं दाहे छेदे घनक्षमम्। वर्णाढ्यं चन्द्रवत्स्वच्छं रूप्यं नवगुणं शुभम्॥
कठिनं कृत्रिमं रूक्षं रक्तं पीतदलं लघु। दाहच्छेदघनैर्नष्टं रूप्यं दुष्टं प्रकीर्त्तितम्॥ १९॥

उत्तम चाँदी के लक्षण—जो चाँदी तौल में भारी, स्निग्ध, कोमल, तपाने तथा काटने में सफेद घन की चोट को सहने वाली अर्थात् टुकडे-टुकडे न होनेवाली, उत्तम वर्ण वाली, चन्द्रमा के समान स्वच्छ कान्ति युक्त होती है, वह उत्तम समझी जाती है।

निकृष्ट चाँदी के लक्षण—जो चाँदी कठिन, कृत्रिम (वनावटी), रूक्ष, लाल, पीले दल (जोर) वाली, तौल में हल्की, तपाने, काटने तथा घन की चोट मारने पर जो अलग अलग विखर जाने वाली होती है वह खराव समझी जाती है॥ १९॥

अथ सम्यङ्मारितरूप्यगुणानाह

रूप्यं शीतं कषायाम्लं स्वादुपाकरसं सरम्। वयसः स्थापनं स्निग्धं लेखनं वातपित्तजित्।
प्रमेहादिकरोगांश्च नाशयत्यचिराद् ध्रुवम्॥ २०॥

चाँदी भस्म के गुण—शुद्ध चाँदी भस्म कषाय, अम्ल तथा मधुर रस युक्त एव विपाक में भी मधुर रस युक्त, शीतल, सारक, युवावस्था को स्थिर रखने वाला, स्निग्ध, लेखन एव वात, पित्त तथा प्रमेहादि रोगों को निश्चित रूपसे शीघ्र दूर करने वाला है॥ २०॥

अथासम्यङ्मारितरूप्यदोषानाह

तारं शरीरस्य करोति तापं विध्वंसनं यच्छति शुक्रनाशम्।
वीर्यं बलं हन्ति तनोश्च पुष्टिं महागदान्पोषयति ह्यशुद्धम्॥ २१॥

अशुद्ध चाँदी भस्म के दोष-अशुद्ध चाँदी भस्म शरीर को सतप्त तथा नष्ट करने वाला, शुक्र-नाशक एव शरीर के वीर्य, बल तथा पुष्टि को नष्ट करने वाला और महारोगों की वृद्धि करने-वाला होता है॥ २१॥

२ चाँदी

हि०-चान्दी, चानी, रूपा। बं०-रूप, रूपा। गु०-रुपु। म०-रूपें, चांदी। ते०-वेंडी, वेंडि। क०-वेळ्ळि। फा०-नुकारा, सीम। अ०-फिद्दा, फिज्जाह। अं०-Silver (सिल्वर)। ले०-*Argentum* (आर्जेन्टम)।

सोने की तरह चाँदी भी सर्वप्रिय प्रसिद्ध धातु है। सहज, खनिज और कृत्रिम इन भेदों से चाँदी तीन प्रकार की होती है।

१-कैलाशादि पर्वतों पर उत्पन्न होने वाली चाँदी सहजसंज्ञक याने प्राकृतिक (कुदरती) है।

२-हिमालय आदि पहाड़ों की चोटियों के ऊपर खान में निकलने वाली चाँदी को 'खनिज' कहते हैं।

३-श्रीरामचन्द्र जी का खडाऊँ के स्पर्श से जो वंग (रांगा) चाँदी हो गई थी उसको **पादरूप्य** कहते हैं। यह वंग द्वारा रासायनिक प्रक्रिया से तैयार की जाती है या कीमियागर लोग इसको बनाते हैं। इस कारण इसको कृत्रिम चांदी कहते हैं।

सहजसंज्ञक चांदी के स्पर्श मात्र से ही सम्पूर्ण रोगों का नाश होता है। खनिज चांदी उत्तम रसायन है और कृत्रिम चांदी सम्पूर्ण रोग नाशनी है।

आजकल चांदी अन्य धातुओं के समान खानों से धातु रूप में ही निकाली जाती है। प्रायः इसके साथ सोना, तामा, सखिया आदि दूसरी धातुयें तथा कभी-कभी गन्धक, आयोडीन, क्लोरीन आदि भी मिले हुए पाये जाते हैं। पूर्व काल में चाँदी सुरमे से प्राप्त की जाती थी जो थोड़ी मात्रा में प्राप्त होती थी। अब भी कई स्थानों में यह सुरमें से प्राप्त की जाती है।

उपयोगिता में सोने के बाद चांदी का ही स्थान है। यह न केवल ओषधि के रूप में ही ली जाती है बल्कि इसके नाना प्रकार के आभूषण भी बनते हैं। शरीर के पसीने से मिल कर चाँदी एक विशेष प्रकार का यौगिक बनाती है। सूर्यरश्मियों के प्रभाव से वही यौगिक पुनः चाँदी में परिवर्तित होने के कारण काला पड़ जाता है। इसीलिये जहाँ चाँदी के गहने पहने जाते हैं वहाँ काले चिह्न हो जाते हैं।

लोगों का विचार है कि जिस धातु के आभूषण पहने जाते हैं शरीर में भी उस धातु के गुणों का धीरे-धीरे समावेश होता रहता है। कई विद्वानों की सम्मति है कि शरीर के साथ रगड़ लगते रहने से इन धातुओं का जो अंश शरीर में चला जाता है उसी के कारण यह उत्पन्न होता है।

आजकल बिकने वाली ईंटा की चाँदी (सिल) अच्छी समझी जाती है।

ऊपर सोना शुद्ध करने की जो वैज्ञानिक क्रिया बतलाई गई है उसी के साथ चांदी की शुद्धि की भी वैज्ञानिक क्रिया आ गई है॥ २॥

अथ ताम्रम्। तस्योत्पत्तिमाह

शुक्रं यत् कार्त्तिकेयस्य पतितं धरणीतले। तस्मात्ताम्रं समुत्पन्नमिदमाहुः पुराविदः॥ २२॥

तामा की उत्पत्ति—कार्त्तिकेय भगवान् का जो शुक्र पृथ्वीतल पर गिरा उसी से तामे की उत्पत्ति हुई, ऐसा पुराणज्ञ लोग कहते हैं॥ २२॥

अथ ताम्रनामान्याह

ताम्रमौदुम्बरं शुल्वमुदुम्बरमपि स्मृतम्। रविप्रियं म्लेच्छमुखं सूर्यपर्यायनामकम्॥ २३॥

तामा के संस्कृत नाम—ताम्र, औदुम्बर, शुल्व, उदुम्बर, रविप्रिय, म्लेच्छमुख तथा सूर्य के पर्यायवाची (अर्क, तपन, अहस्कर, भास्कर इत्यादि सभी) शब्द ये सब हैं॥ २३॥

अथोत्तमताम्रलक्षणान्याह

जपाकुसुमसङ्काशं स्निग्धं मृदु घनक्षमम्। लौहनागोज्झितं ताम्रं मारणाय प्रशस्यते॥२४॥

उत्तम तामा के लक्षण—भस्म करने के लिये वही तामा उत्तम होता है जो अढौल के फूल के समान लाल वर्ण वाला, स्निग्ध, कोमल, घन की चोट सहने वाला, लोहा तथा सीसा से रहित होता है॥ २४॥

अथाधमताम्रलक्षणान्याह

कृष्णं रूक्षमतिस्तब्धं श्वेतञ्चापि घनासहम्। लौहनागयुतञ्चेति शुल्वं दुष्टं प्रकीर्त्तितम्॥२५॥

निकृष्ट तामा के लक्षण—जो तामा काला, रूखा अत्यन्त कठिन, सफेद, घन की चोट न

सहने वाला, लोहा तथा सीसा से युक्त होता है उसे निकृष्ट अर्थात् भस्म करने के अयोग्य समझना चाहिये ॥ २५ ॥

अथ सम्यङ्मारिततामग्रुणानाह

ताम्रं कषायं मधुरं च तिक्तमम्लं च पाके कटु सारकं च ।
पित्तापहं श्लेष्महरं च शीतं तद्रोपणं स्याल्लघु लेखनञ्च ॥ २६ ॥
पाण्डूदरार्शोज्वरकुष्ठकासश्वासक्षयान् पीनसमम्लपित्तम् ।
शोथं कृमिं शूलमपाकरोति प्राहुः परे बृंहणमल्पमेतत् ॥ २७ ॥

शुद्ध ताम्र भस्म के गुण—उत्तम ताम्रभस्म कषाय, मधुर, तिक्त तथा अम्ल रसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, सारक, पित्त तथा कफनाशक, शीतल, रोपण (घाव भरने वाला), लघु, लेखन एवं पाण्डु तथा उदर रोग, अर्श, ज्वर, कुष्ठ, कास, श्वास, क्षय, पीनस, अम्लपित्त, शोथ, क्रिमि तथा शूल को नाश करने करने वाला होता है । कोई कोई इसे थोड़ा बृंहण (रस-रक्तादि-वर्धक) भी मानते हैं ॥ २६-२७ ॥

अथासम्यङ्मारितताम्रस्य दोषाष्टकमाह

एको दोषो विषे ताम्रे त्वसम्यङ्मारितेऽष्ट ते । दाहः स्वेदोऽरुचिर्मूर्च्छा क्लेदो रेको वमिर्भ्रमः ॥

अशुद्ध ताम्रभस्म के आठ दोष—विष में तो केवल एक ही दोष है किन्तु अच्छे प्रकार से नहीं भस्म किये हुए तामे में १ दाह, २ स्वेद (पसीना), ३ अरुचि, ४ मूर्च्छा, ५ क्लेद (शरीर की आर्द्रता), ६ विरेचन, ७ वमन तथा ८ भ्रम का होना ये ८ दोष होते हैं ॥ २८ ॥

*रेकः = विरेकः ॥ २८ ॥

यहाँ मूल में 'रेक' पद से विरेक अर्थात् विरेचन अर्थ समझना चाहिये ॥ २८ ॥

३ तामा

हि०-तामा, तावा, तम्मा । **ते०**-रागी । **बं०**-तामा । **ता०**-सेनबु, शेंनबु । **म०**-तांबे । **क०**-ताम्र । **गु०**-तांबु त्राबु । **फा०**-मिस । **अ०**-नुहास, नहास, नोहास । **अं०**-Copper (कापर) । **ले०**-*Cuprum* (क्युप्रम) ।

तामा दो प्रकार का होता है—एक म्लेच्छ नामधारी और दूसरा नेपालदेशज । नेपाल देश में उत्पन्न होने वाले तामे के अतिरिक्त अन्य देशों के खानों से उत्पन्न होने वाले समस्त ताम्र म्लेच्छ कहे जाते हैं । दोनों प्रकार के तामाओं में नेपाली तामा उत्तम होता है । आजकल बाजार में नेपाली तामे से ही उत्तम वर्तन बनाये जाते हैं ।

जिस तावे में सफेद, काली और लाल झलक हो, जो कठिन हो और जो उत्तम प्रकार से धोने पर भी फिर काला हो जाय उसको म्लेच्छ ताम्र कहते हैं, यह अत्यन्त वमन कारक होने से त्याज्य है । जो अत्यन्त चिकना, नरम, लाल, घन के चोट को सहने वाला अर्थात् उससे न टूटने वाला, वजन में भारी और जिसका रंग बिगड़ कर काला न होता हो, ऐसा तामा नेपाली तामा कहा जाता है । यही ओषधि कार्य के लिये ग्राह्य है ॥ ३ ॥

जहाँ उत्तम तामा न मिले वहाँ तूतिये से तामा निकाल कर काम में लाना चाहिये । जैसे—

ऽ२॥ तूतिये को खूब बारीक पीस कर साफ छोटे लोहे की कडाही में बिछा कर उस कडाही को एक बडे लोहे की कडाही में (अभाव में मट्टी की नाद ले सकते हैं) रख कर तूतिये के चूर्ण को कपडे से ढाँक दे जिसमें तूतिया त्रिफला के साथ न मिल जाय । इसके बाद बडे कड़ाही में १० सेर पका विना कूटा हुआ त्रिफला भर दे । उस त्रिफला से छोटी कडाही इतनी ढक जायगी कि दीख नहीं पडेगी । फिर उस कडाही में एक मन पका मीठा पानी भर ऐसी जगह में रख दे जहाँ हवा लगे और दिन भर सूर्य का ताप भी पडे एवं रात्रि में चन्द्रमा की चादनी भी पडती रहे । इस प्रकार एक मास बीतने पर कड़ाही से पानी और त्रिफला को सावधानी पूर्वक पृथक् कर दे और छोटी कडाही के पेंदे में आध सेर पका विशुद्ध ताम्र जमा हुआ मिलेगा जो चाकू से खुरच खुरच कर उठाने में एक पत्र रूप में प्राप्त होगा ।

अथ रङ्गम् (रांगा) । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

रङ्गं वङ्गं त्रपु प्रोक्तं तथा पिच्चटमित्यपि । खुरकं मिश्रकं चापि द्विविधं वङ्गमुच्यते ॥ २९ ॥
उत्तमं खुरकं तत्र मिश्रकं त्ववरं मतम् ॥ ३० ॥

रांगा के संस्कृत नाम—रङ्ग, वङ्ग, त्रपु तथा पिच्चट ये सब हैं । **रांगा के भेद**–क्षुरक तथा मिश्रक ये दो भेद रांगा के होते हैं । इसमें 'क्षुरक' उत्तम और 'मिश्रक' निकृष्ट होता है ऐसा विद्वानों का मत है ॥ २९-३० ॥

अथ सम्यङ्मारितरङ्गगुणानाह

रङ्गं लघु सरं रूक्षमुष्णं मेहकफक्रिमीन् । निहन्ति पाण्डुं सश्वासं चक्षुष्यं पित्तलं मनाक् ॥
सिंहो यथा हस्तिगणं निहन्ति तथैव वङ्गोऽखिलमेहवर्गम् ।
देहस्य सौख्यं प्रबलेन्द्रियत्वं नरस्य पुष्टिं विदधाति नूनम् ॥ ३२ ॥

शुद्ध रांगा भस्म के गुण—रांगा का उत्तम भस्म लघु, सारक, रूक्ष, उष्ण, नेत्रों के लिये हितकर, किञ्चित् पित्तजनक एवं प्रमेह, कफ, क्रिमि, पाण्डु और श्वास रोग को दूर करता है । जिस प्रकार सिंह हाथियों के झुण्ड को नष्ट कर डालता है उसी प्रकार रांगा भस्म भी सभी प्रकार के प्रमेहों को नष्ट कर डालता है और देह सम्बन्धी सुख, इन्द्रियों की प्रबलता और पुष्टि को निश्चित रूप से करता है ॥ ३१-३२ ॥

४ वंग (रांगा)

हि०–रांगा, रङ्गा, कलई, वंग, टीन, कथील । **बं०**–रांगा, वंग । **म०**–कथाल, वंग, कथीर । **गु०**–कलई, कथीर, खरिपारि । **क०**–तवर । **ते०**–तागारामु, वङ्गमु । **पं०**–रांगा । **द्रा०**–वंग । **फा०**–अरज़ीज, अरज़ीर, अरबीज़ । **अ०**–रूसास, रसासुल, अबियज़ । **अं०**–Tin (टिन्) । **ले०**–*Stannum* (स्टैन्नम्) ।

खुर वङ्ग और मिश्र वङ्ग, इन भेदों से रांगा दो प्रकार का होता है । खुरक, खुरा रांगा या खुरासानी रांगा–खुरवङ्ग के ही नाम हैं । खुरक रांगा उत्तम गुण वाला होता है । यह शुद्ध चांदी के समान स्वच्छ, चिकना, सफेद, तपाने पर जल्दी गल जाने वाला, बहुत वज़नदार और जिसके मोटे पत्र को मोडने पर आवाज न करने वाला, ऐसा खुरासानी रांगा औषधि कार्य के लिये उत्तम और ग्राह्य है, इसको हिरण्यखुरी रांगा भी कहते हैं । मिश्रक रांगा मैले या काले वर्ण का सीसा तथा जस्ते का अधिक मिश्रण वाला होता है । यह निकृष्ट, अहितकारक एवं त्याज्य है ॥ ४ ॥

अथ यशदम् (जस्ता) । तस्य नामगुणानाह

यशदं रङ्गसदृशं रीतिहेतुश्च तन्मतम् । यशदं तुवरं तिक्तं शीतलं कफपित्तहृत् ।
चक्षुष्यं परमं मेहान् पाण्डुं श्वासं च नाशयेत् ॥ ३३ ॥

जस्ता के संस्कृत नाम—यशद, रङ्गसदृश और रीतिहेतु ये सब हैं ।

गुण—जस्ता कषाय तथा तिक्तरसयुक्त, शीतल, नेत्रों के लिये परम हितकर एवं कफ, पित्त, समस्त प्रमेह, पाण्डु और श्वास को दूर करता है ॥ ३३ ॥

५ जस्ता

हि०–जस्ता, यशधातु, जसता । **बं०**–दस्ता । **म०**–जस्त । **गु०**–जसत । **ते०**–खर्पर । **पं०**–जसद, जसदा । **मा०**–जस्त । **फा०**–रुए तुतिया, रूमी तूतिया । **अ०**–शवह्, शिवह् । **अं०**–Zinc (जिंक) । **ले०**–*Zincum* (जिंकम्) ।

जस्ता—रांगे के समान एक प्रसिद्ध खनिज धातु है । यह रांगे से अधिक कठोर और देर से गलने वाला है । जो जस्ता भारी और श्वेत वर्ण वाला तथा आंखों को चमचमाहट करने वाला और दांतों के समान मोटे-मोटे रवेवाला हो उसी को औषधि के काम में लेना चाहिये ॥ ५ ॥

अथ सीसम् । तस्योत्पत्तिं नामानि चाह

दृष्ट्वा भोगिसुतां रम्यां वासुकिस्तु मुमोच यत् । वीर्यं जातस्ततो नागः सर्वरोगापहो नृणाम् ।

सीसं व्रध्नं च वप्रं च योगेष्टं नागनामकम् ॥ ३५॥

सीसा की उत्पत्ति—एक समय वासुकि नामक सर्पराज का किसी सुन्दरी नागकन्या को देखकर कामपीडित होने से जो शुक्र स्खलित हुआ उसी से मनुष्यों के सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करने वाले सीसे की उत्पत्ति हुई इसी से इसे 'नाग' कहते हैं॥

सीसा के संस्कृत नाम—सीस, व्रध्न, वप्र, योगेष्ट और नागनामक (नाग के पर्यायवाची-सभी शब्द) ये सब हैं॥ ३४-३५॥

***नागनामकम् = नागो भुजङ्ग इत्यादि ॥ ३५ ॥**

यहाँ मूल में 'नागनामक' पद से नाग के पर्यायवाची नाग, भुजङ्ग, सर्प, उरग, द्विजिह्व इत्यादि सभी शब्द समझना चाहिये ॥ ३४-३५ ॥

अथ सीसस्य गुणानाह

सीसं रङ्गगुणं ज्ञेयं विशेषान्मेहनाशनम् ॥ ३६ ॥

नागस्तु नागशततुल्यबलं ददाति व्याधिं विनाशयति जीवनमातनोति।

वह्निं प्रदीपयति कामबलं करोति मृत्युं च नाशयति सन्ततसेवितः सः ॥ ३७ ॥

सीसा के गुण—सीसा गुणों में रांगा के समान ही है किन्तु विशेषतः यह प्रमेहनाशक होता है। यदि निरन्तर सेवन किया जाय तो नाग (सीसा) सौ नाग (हाथी) के समान बल देता है, व्याधि नाश करता है, जीवन को वृद्धि करता है, जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, कामदेवसम्बन्धी बल को बढ़ाता है तथा मृत्यु को भी नष्ट करता है अर्थात् अनियत विपाक वाले मृत्यु से रक्षा करता है॥ ३६-३७॥

अथाशुद्धवङ्गनागयोर्दोषानाह

पाकेन हीनौ किल वङ्गनागौ कुष्ठानि गुल्मांश्च तथाऽतिकष्टान्।

कण्डूप्रमेहानिलसादशोथभगन्दरादीन् कुरुतः प्रयुक्तौ ॥ ३८ ॥

अशुद्ध वङ्ग (रांगा) तथा सीसा के दोष—यदि भलाभाँति से भस्म न किये गये हों तो प्रयोग करने से रांगा तथा सीसा ये दोनों कुष्ठ, गुल्म, अत्यन्त कष्ट, खुजली, प्रमेह, वायुरोग, शरीर का अवसन्न होना, शोथ, भगन्दर आदि रोगों को उत्पन्न करते हैं॥ ३८॥

६ शीशा

हि०-शीशा, शीसा, सीसा। **ते०**-शीश, शीषमु। **बं०**-सीस, सीसे। **द०**-शीशा। **म०**-सिसें, शिसें। **पं०**-शीशा। **गु०**-शीशु। **मा०**-सीसो। **क०**-सीसा। **द्रा०**-करुनाह। **फा०**-सुर्ब, सुरब स्याह। **अ०**-रिसासुल् अस्वाद, रिसासे-अस्वद। **अं०**-Lead (लेड)। **ले०**-*Plumbum* (प्लंबं)।

शीशा—रांगे की समान एक प्रसिद्ध खनिज धातु है। यह रांगे से कोमल होता है। जो शीशा अधिक वजनदार हो, बाहर से देखने में काला और तोड़ने पर भीतर से चमकदार हो तथा दुर्गन्ध युक्त हो ऐसा शीशा ओषधि के काम के लिये अच्छा (ग्राह्य) है॥ ६॥

अथ लोहम्। तस्योत्पत्तिं नामानि चाह

पुरा लोमिनदैत्यानां निहतानां सुरैर्युधि। उत्पन्नानि शरीरेभ्यो लोहानि विविधानि च ॥

लोहोऽस्त्री शस्त्रकं तीक्ष्णं पिण्डं कालायसायसी ॥ ३९ ॥

लोहा की उत्पत्ति—प्राचीन काल में एक बार युद्ध में देवताओं द्वारा मारे हुये लोमिन नामक दैत्यों के शरीर से अनेक प्रकार के लोहा उत्पन्न हुए।

लोहा के संस्कृत नाम—लोह (यह स्त्रीलिङ्ग को छोड़ कर अन्य सभी लिङ्गों में होता है), शस्त्रक, तीक्ष्ण, पिण्ड, कालायस तथा अयस् ये सब हैं॥ ३९॥

अथ लोहस्य सप्त दोषानाह

गुरुता दृढतोत्क्लेदः कश्मलं दाहकारिता। अश्मदोषः सुदुर्गन्धो दोषाः सप्तायसस्य तु॥४०॥

लोहा के सात दोष—गुरुता, दृढता, उत्क्लेद (वमन होने के समान मालूम होना), कश्मल

(मूर्च्छा), दाह उत्पन्न करना, खान में रहने से पत्थरसम्बन्धी दोष, अत्यन्त दुर्गन्ध ये सब हैं ॥

अथ लोहगुणानाह

लोहं तिक्तं सरं शीतं मधुरं तुवरं गुरु। रूक्षं वयस्यं चक्षुष्यं लेखनं वातलं जयेत् ॥ ४१ ॥
कफं पित्तं गरं शूलं शोथार्शः प्लीहपाण्डुताः। मेदोमेहक्रिमीन् कुष्ठं तत्किट्टं तद्वदेव हि ॥ ४२ ॥

लोहा के गुण—लोहा तिक्त, मधुर तथा कषायरस युक्त, सारक, शीतल, गुरु, रूक्ष, आयु को स्थिर रखने वाला, नेत्रों के लिए हितकर, लेखन गुण विशिष्ट, वातजनक एवं कफ, पित्त, विष, शूल, शोथ, अर्श, प्लीहा, पाण्डु, मेद, प्रमेह, क्रिमि तथा कुष्ठ को दूर करने वाला होता है। लोहा के किट्ट (मैल) के गुण—लोहकिट्ट के भी गुण लोहे के समान ही होते हैं ॥ ४१-४२ ॥

अथाशुद्धलोहदोषानाह

षण्ढत्वकुष्ठामयमृत्युदं भवेद्धृद्रोगशूलौ कुरुतेऽश्मरीञ्च।
नानारुजानाञ्च तथा प्रकोपं करोति हृल्लासमशुद्धलोहम् ॥ ४३ ॥
जीवहारि मदकारि चायसं चेदशुद्धिमदसंस्कृतं ध्रुवम्।
पाटवं न तनुते शरीरके दारुणां हृदि रुजाञ्च यच्छति ॥ ४४ ॥

अशुद्ध लोहा के दोष—नपुंसकता, कुष्ठरोग, मृत्यु, हृद्रोग, शूल, पथरी, अनेक प्रकार के रोगों का प्रकोप, हृल्लास (उबकाई) ये सब विना शुद्ध किये हुये लोहे के भस्म के सेवन से होते हैं। यदि लोहे का शोधन तथा संस्कार न किया गया हो तो उसका भस्म जीवन को नष्ट करने वाला, मदकारक, शरीर में फुर्तीपन का अभाव तथा हृदय में असह्य पीड़ा का करने वाला होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ ४३-४४ ॥

अथ लोहसेविनां त्याज्यपदार्थानाह

कूष्माण्डं तिलतैलञ्च माषान्नं राजिकां तथा। मद्यमम्लरसं चापि त्यजेल्लोहस्य सेवकः ॥४५॥

लोहा सेवन करने वाले के लिये त्याज्य पदार्थ—सफेद कोंहड़ा, तिल का तैल, उरद के बने हुए पदार्थ, राई, मद्य, अम्ल रसयुक्त पदार्थ (खटाई आदि), इन सबों को लोह सेवन करने वाला व्यक्ति छोड़ देवे ॥ ४५ ॥

अथ सारलोहस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

समाभृच्छिखराकाराण्यङ्गान्यम्लेन लेपिते। लौहे स्युर्यत्र सूक्ष्माणि तत्सारमभिधीयते ॥
लौहं साराह्वयं हन्याद् ग्रहणीमतिसारकम् ॥ ४६ ॥
अर्द्धं सर्वाङ्गजं वातं शूलं च परिणामजम्। छर्दिं च पीनसं पित्तं श्वासं कासं व्यपोहति ॥४७॥

सारलोह के लक्षण—जिस लोहे के ऊपर अम्ल (खट्टे पदार्थ) रस का लेपन करने से पर्वत के शिखर की भाँति आकार वाले सूक्ष्म-सूक्ष्म अङ्ग उत्पन्न हो जांय उसे सारलोह समझना चाहिये।

गुण—सारलोह ग्रहणी, अतिसार, अर्धाङ्ग तथा सर्वाङ्ग वात, परिणामशूल, वमन, पीनस, पित्त, श्वास तथा कास को दूर करने वाला होता है ॥ ४६-४७ ॥

अथ कान्तलोहस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

यत्पात्रे न प्रसरति जले तैलबिन्दुः प्रतप्ते, हिङ्गुर्गन्धं त्यजति च निजं तिक्ततां निम्बकल्कः।
तप्तं दुग्धं भवति शिखराकारकं नैति भूमिं, कृष्णाङ्गः स्यात् सजलचणकः कान्तलोहं तदुक्तम् ॥
गुल्मोदरार्शःशूलाममामवातं भगन्दरम्। कामलाशोथकुष्ठानि क्षयं कान्तमयो हरेत् ॥४९॥
प्लीहानमम्लपित्तञ्च यकृच्चापि शिरोरुजम् ॥ ५० ॥
सर्वान् रोगान् विजयते कान्तलोहं न संशयः। बलं वीर्यं वपुःपुष्टिं कुरुतेऽग्निं विवर्द्धयेत् ॥५१॥

कान्तलोह के लक्षण—जिस लोहे के पात्र में जल रखकर उसमें तेल का बूंद डालने से यदि वह न फैले तथा जिसके तपाये पात्र में गरम करने से हींग अपने गन्ध को छोड़ देवे और नीम का वल्कल गरम करने से अपनी कड़वाहट को छोड़ देवे एवं जिसमें दूध खौलाने से जोरों से

उबाल आने पर भी वह भूमि पर न गिरे और जिसमें चना भिगोने से काले हो जांय उसे कान्तलोह समझना चाहिये।

गुण—कान्तलोह गुल्म, उदररोग, अर्श, शूल, आम, आमवात, भगन्दर, कामला, शोथ, कुष्ठ, क्षय, प्लीहा, अम्लपित्त, यकृत तथा शिर के रोग इत्यादि सभी रोगों को निःसन्देह दूर करता है और शरीर में बल, वीर्य की वृद्धि तथा पुष्टि करता है एवं अग्निवर्द्धक होता है॥ ४८-५१॥

७ लोहा

हि०-लोह, लोहा। **ते०**-इनमु, इनुमु। **बं०**-लोह, निखा। **मा०**-लोह। **म०**-लोखण्ड। **पं०**-लोहा। **गु०**-लोढू। **द्रा०**-इलम्बु। **क०**-अयस्कान्त। **फा०**-आहन। **अ०**-हदीद। **अं०**-Iron (आइरन), Steel (स्टील)। **ले०**-*Feram* (फेरम)।

मुंड, तीक्ष्ण और कान्त भेदों से लोहा तीन प्रकार का होता है। कान्त लोहे को अयस्कान्त भी कहते हैं। मृदु, कुंठ और कंडारक ये मुंड लोहे की तीन जातियाँ हैं।

जो लोहा अग्नि पर तपाने से शीघ्र गल जाता है, जो हथौडे या घन की चोट से फटता या बिखरता नहीं, जो चिकना और नरम होता है उसको **'मृदुलोह'** कहते हैं।

जो बहुत आघात से और बडी कठिनाई से बढता या फैलता है उसको **'कुण्ठलोह'** कहते हैं।

जो लोहा चोट के लगने से फट जाता है या टूट कर बिखर जाता है और जो तोडने पर भीतर से काले वर्ण का निकलता है उसको **'कंडारक लोह'** कहते हैं।

तीक्ष्ण लोहा—६ प्रकार का होता है—१ खर, २ सार, ३ हृन्नाल, ४ तारावट्ट, ५ वाजिर और ६ काललोहा।

१-**खर लोहा** कठिन होता है और उसमें रेखा अथवा कठिन तन्तु स्पष्ट नहीं दीखते और तोडने पर वह भीतर से पारे के समान चमकदार दिखाई देता है तथा नवाने पर टूट जाता है।

२-जिस लोहे की धार पतली होने के कारण थोडे आघात से ही मुड जाती है, उसको **सारलोह** कहते हैं। इसमें कुटिल रेखायें स्पष्ट दीख पडती हैं और यह पीली भूमि की खान में उत्पन्न होता है।

३-जिस लोहे का वर्ण काला और कुछ पीला मिश्रित हो, जिसमें चक्रबीज (चेबुना के बीज) के समान कुटिल रेखायें पडती हों और जो तोडने में अत्यन्त कठिन हो उसको **'हृन्नाल'** लोह कहते हैं।

४-चमकदार और मुडने वाले को **'तारावट्ट'** कहते हैं।

५-जो लोहा वज्र के समान कठिन, चमकदार और सूक्ष्म रेखाओं सहित हो, घन सहने वाला और वजनदार हो और जिसका वर्ण नीली कान्तियुक्त हो उसको **'वाजिर'** नामक तीक्ष्णलोह कहते हैं।

६-जो नीला अथवा काले रङ्ग का, वजनदार, चिकना, कान्तियुक्त और लोहे के आघात से भी जिसकी धार न टूटती हो उसे **'काललोह'** कहते हैं।

कान्त लोहा—५ प्रकार का होता है। जैसे १ भ्रामक, २ चुम्बक, ३ कर्षक, ४ द्रावक और ५ रोमकान्त। प्रत्येक के एक मुख, दो मुख, तीन मुख, चार मुख, पाँच मुख और सर्वतोमुख होने से छः-छः भेद होते हैं और प्रत्येक पीला, काला, लाल इन वर्णों के भेद से तीन प्रकार का होता है। इन प्रत्येक के क्रम से ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये अधिष्ठातृदेवता हैं।

इनमें पीला कान्तलोह स्पर्श मात्र से ही अन्य धातुओं को सुवर्ण बना देता है। कृष्णवर्ण का कान्तलोह रसायन कर्म में उत्तम है और लाल रङ्ग का पारे आदि के बाँधने में श्रेष्ठ है। उपर्युक्त कान्त लोहों में भ्रामक नाम वाला कान्तलोह गुणों में हीन, चुम्बकलोह मध्यम, कर्षक उत्तम और द्रावक नामवाला कान्तलोह उत्तमोत्तम कहा है। जो कान्तलोह अपने गुणों से अन्य लोहों को भ्रमाता (चञ्चल करता) है उसे भ्रामक कहते हैं। जो दूसरे लोहों को स्पर्श करते ही चिपट जाता है उसको चुम्बक कहते हैं। जो दूसरे लोहों को अपने पास आकर्षित करता (खींच लेता) है, उसे कर्षक कहते हैं। जिसके संयोग से अन्य लोह द्रवीभूत हो जाते हैं, उसको द्रावक कहते हैं और जिस कान्तलोह को तोडने पर बालों के समान तन्तु दिखलाई दें, उसको रोमकान्त लोह कहते

हैं। एक मुखवाला कान्तलोह अधम, दो और तीन मुखवाला मध्यम, चार और पाँच मुखवाला श्रेष्ठ और सर्वतोमुखवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है। भ्रामक और चुम्बक ये दो प्रकार के लोह रोगों के नाश करने में श्रेष्ठ हैं। कर्षक और द्रावक लोह रस और रसायन कर्म में श्रेष्ठ हैं। हाथीरूपी मदोन्मत्त पारे के लिये कान्तलोहरूपी अङ्कुश है। कान्तलोह उत्तम खान का ग्रहण करना चाहिये, जो धूप (गरमी), हवा, सर्दी आदि में पड़ा रहने से गुणहीन हो गया हो ऐसे कान्तलोह को कार्य में नहीं लेना चाहिये ॥ ७ ॥

अथ किट्टी। तस्या नामगुणानाह

ध्मायमानस्य लोहस्य मलं मण्डूरमुच्यते।
लोहसिंहानिका किट्टी सिंहानश्च निगद्यते। यल्लोहं यद्गुणं प्रोक्तं तत्किट्टमपि तद्गुणम्॥५२॥

किट्टी के लक्षण—लोह को अग्नि में धौंकने से जो मल निकलता है, उसे मण्डूर (किट्टी) कहते हैं। संस्कृत नाम-लोहसिंहानिका, किट्टी, सिंहान तथा मण्डूर ये सब हैं।

गुण—जिस लोहे के जो गुण हैं उसके मैल (किट्टी) के भी वे ही गुण होते हैं, ऐसा मुनियों ने कहा है ॥ ५२ ॥

८ मंडूर

हि०-मडूर, कीट, कीटी, कीट्टी, लोह का मैल, मनूर। **फा०**-वर्के आहन, अरेम आहन।

लोहे से गलाते समय जो मैल निकलता है उसको **मंडूर** कहते हैं। यह देखने में काले रङ्ग का, वजन में भारी और स्वाद में कसेला होता है। एक सौ वर्ष से अधिक समय का पुराना मडूर उत्तम, ८० वर्ष का मध्यम और ६० वर्ष का अधम और इससे कम समय का मडूर निकृष्ट विष तुल्य होता है।

जो मडूर तौल में भारी, छूने में चिकना, तोड़ने में ठोस और अञ्जन के समान तथा जिसमें बहुत गड्ढे न हों वह उत्तम समझा जाता है।

पुराने मडूर के उत्तम होने में यह युक्ति है कि पचासों वर्ष से वह बरसात में भींगा है, वर्षा के प्रारम्भ में जो पृथ्वी से ऊष्मा निकलती है उससे वह स्वेदित हुआ है और गर्मी के दिनों में वह सूर्य्य के ताप से तप्त भी होता रहा है तथा चन्द्रमा की किरणों से सींचा भी गया है एवं शीत-उष्ण वायुओं से सस्कृत होता रहा है तथा बहुत काल पर्यन्त पड़ा रहने से पृथ्वी में अपने आप कितने ही हाथ गहरा दब जाने से पृथ्वी की गरमी से तप्त और सरदी से ठंडा होता रहा है। इसलिए पुराने मडूर में अमृत समान गुण उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ८ ॥

अथोपधातवः। तेषां संख्यामाह

सप्तोपधातवः स्वर्णमाक्षिकं तारमाक्षिकम्। तुत्थं कांस्यं च रीतिश्च सिन्दूरश्च शिलाजतु॥

उपधातुओं की संख्या—१ सोनामाखी, २ रूपामाखी, ३ तूतिया, ४ कांसा, ५ पीतल, ६ सिन्दूर, ७ शिलाजीत ये सात उपधातु हैं ॥ ५३ ॥

***उपधातवः-गौणा धातवः ॥ ५३ ॥**

यहाँ 'उपधातु' से 'गौणधातु' अर्थ समझना चाहिये ॥ ५३ ॥

अथोपधातुष्वपि तत्तत्प्रधानधातुगुणाः स्वल्पमात्रया सन्तीत्याह

उपधातुषु सर्वेषु तत्तद्धातुगुणा अपि। सन्ति किन्त्वेषु ते गौणास्तत्तदंशाल्पभावतः॥ ५४॥

उपर्युक्त सभी उपधातुओं में जिनके जो प्रधान धातु हैं उनके भी गुण उनमें रहते हैं किन्तु प्रधान के गुण गौणभाव से (थोड़ी मात्रा में ही) रहते हैं क्योंकि धातु का अंश उपधातु में बहुत थोड़ा रहता है ॥ ५४ ॥

तत्र सुवर्णमाक्षिकम् (सोनामाखी)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

स्वर्णमाक्षिकमाख्यातं तापीजं मधुमाक्षिकम् ॥ ५५ ॥
ताप्यं माक्षिकधातुश्च मधुधातुश्च स स्मृतः। किञ्चित्सुवर्णसाहित्यात्स्वर्णमाक्षिकमीरितम् ॥

उपधातुः सुवर्णस्य किञ्चित्स्वर्णगुणान्वितम्। तथा च काञ्चनाभावे दीयते स्वर्णमाक्षिकम्॥
किन्तु तस्यानुकल्पत्वात्किञ्चिदूनगुणास्ततः। न केवलं स्वर्णगुणा वर्त्तन्ते स्वर्णमाक्षिके॥
द्रव्यान्तरस्य संसर्गात्सन्त्यन्येऽपि गुणा यतः। सुवर्णमाक्षिकं स्वादु तिक्तं वृष्यं रसायनम्॥
चक्षुष्यं वस्तिरुक्कुष्ठपाण्डुमेहविषोदरान्। अर्शः शोथं विषं कण्डूं त्रिदोषमपि नाशयेत्॥

सोनामाखी के संस्कृत नाम—स्वर्णमाक्षिक, तापीज, मधुमाक्षिक, ताप्य, माक्षिकधातु और मधुधातु ये सब हैं।

गुण—थोडा सोना का भी मिलावट होने से किंचित् सोने के गुणों से युक्त 'सोनामाखी' को सोने का उपधातु कहते हैं। सोने के अभाव में इसे देते हैं किन्तु सोने का अनुकल्प होने से इसमें सोने की अपेक्षा थोडा गुण रहता है और इसमें केवल सोने के ही गुण नहीं रहते हैं किन्तु दूसरे भी द्रव्यों का संयोग होने से अन्यों के भी गुण रहते है। सोनामाखी-मधुर तथा तिक्त रसयुक्त, वृष्य (वीर्यवर्धक), रसायन, नेत्रों के लिये हितकर एवं वस्ति (मूत्राशय) सम्बन्धी रोग, कुष्ठ, पाण्डु, प्रमेह, विष, उदररोग, अर्श, शोथ, खुजली तथा त्रिदोपनाशक है॥ ५५-६०॥

अथाशुद्धसुवर्णमाक्षिकदोषानाह

मन्दानलत्वं बलहानिमुग्रां विष्टम्भितां नेत्रगदान्सकुष्ठान्।
तथैव मालां व्रणपूर्विकां च करोति तापीजमशुद्धमेतत्॥ ६१॥

अशुद्ध सोनामाखी के दोष—यदि यह सोनामाखी शोधी हुई न हो तो अग्नि की मन्दता, बल की हानि, अत्यन्त विष्टम्भ, नेत्ररोग, कुष्ठ तथा व्रणमाला (कण्ठमाला) आदि रोगों को उत्पन्न करने वाली होती है॥ ६१॥

९ सोनामाखी

हि०-सोनामाखी, सोनामक्खी। **बं०**-स्वर्णमाक्षिक। **म०**-सुवर्णमाक्षिक, दगडी, सोनामखी, सोनामुखी। **मा०**-सोनामक्खी। **गु०**-सोनामाखी। **ते०**-स्वर्णमाखी। **प०**-सन्ने मखा। **क०**-धातुमाक्षिक। **फा०**-वर्कतिला। **अ०**-मुर्क शीशा जडवी, मरक शीशा, सबसज्जहब। **अं०**-Iron Sulphide (आयरन सल्फाइड)। **ले०**-*Ferry Sulphuretum* (फेरी सल्फरेटम)।

सोनामाखी—खनिज द्रव्य, सोने की उपधातु है। यह छोटे छोटे पत्थर के टुकडे के समान सोने के चमक सहित पीतल की रंग की होती है। इसमें पत्थर मिला हुआ होता है। जिसमें पत्थर का अंश कम हो और चमक अधिक हो ऐसे टुकडे चुनकर लेना चाहिये। सुवर्ण का सा वर्णवाला, भारी, चिकना, किञ्चित् नील छवियुक्त और जो कसौटी पर घिसने से सोने को समान झलक दे उसको ओषधि के काम के लिये ग्रहण करना अच्छा है॥ ९॥

अथ तारमाक्षिकम् (रूपामाखी)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

तारमाक्षिकमन्यत्तु तद्भवेद् रजतोपमम्। किञ्चिद्रजतसाहित्यात्तारमाक्षिकमीरितम्॥६२॥
अनुकल्पतया तस्य ततो हीनगुणाः स्मृताः। न केवलं रूप्यगुणा यतः स्यात्तारमाक्षिकम्॥
स्वादु पाके रसे किञ्चित्तिक्तं वृष्यं रसायनम्। चक्षुष्यं वस्तिरुक्कुष्ठपाण्डुमेहविषोदरान्॥
अर्शः शोथं क्षयं कण्डूं त्रिदोषमपि नाशयेत्॥ ६४॥

रूपामाखी के संस्कृत नाम—तारमाक्षिक, रौप्यमाक्षिक आदि हैं।

गुण—दूसरा जो रूपामाखी है वह गुण में चाँदी के तुल्य ही होता है और कुछ चादी का संयोग होने से इसे 'रूपामाखी' कहते हैं। चादी का अनुकल्प होने से उसकी अपेक्षा इसके गुण स्वल्प होते हैं। इसमें केवल चांदी ही के गुण नहीं रहते हैं बल्कि दूसरे द्रव्यों का भी योग होने से दूसरे के भी गुण आ जाते हैं। **रूपामाखी**-विपाक में मधुर रसयुक्त तथा मधुर एवं किञ्चित् तिक्त-रसयुक्त, वीर्यवर्धक, रसायन, नेत्रों के लिये हितकर एवं वस्ति (मूत्राशय) सम्बन्धी रोग, कुष्ठ, पाण्डु, प्रमेह, विष, उदररोग, अर्श, शोथ, क्षय, खुजली तथा त्रिदोष को दूर करता है॥ ६२-६४॥

अथाशुद्धतारमाक्षिकदोषानाह

मन्दानलत्वं बलहानिमुग्रां विष्टम्भितां नेत्रगदान्सकुष्ठान्।
तथैव मालां व्रणपूर्विकाञ्च करोति तापीजमिदञ्च तद्वत् ॥ ६५ ॥

अशुद्ध रूपामाखी के दोष—यह भी सोनामाखी की भांति यदि शोधी हुई न हो तो अग्नि की मन्दता, बल की हानि, अत्यन्त विष्टम्भ, नेत्ररोग, कुष्ठ तथा व्रणमाला (गण्डमाला आदि) रोगों को उत्पन्न करती है ॥ ६५ ॥

१० रूपामाखी

हि०-रूपामाखी, रूपामक्खी, तारामुखी। **बं०**-तारमाक्षिक, रौप्यमाक्षिक। **म०**-रौप्यमाक्षी। **गु०**-रूपामाखी। **क०**-यरडुमाक्षिक। **ते०**-रूपामाखी। **फा०**-चिर्कनुकरह। **अ०**-अक्ली माय फिज्ज़ह, खब्सुल् फिज्जह, मुर्क शीशा फिद्दा।

रूपामाखी—सोनामाखी के समान एक खनिज उपधातु है जिसको चांदी का उपधातु मानते हैं। इसके टुकड़े सोनामाखी के समान होते हैं और रंग सफेद होता है। स्वाद में रूपामाखी कसैली होती है ॥ १० ॥

अथ-तुत्थं (तूतिया) खर्परञ्च (खपरिया)। तुत्थनामगुणान् खर्परगुणाँश्चाह

तुत्थं वितुन्नकं चापि शिखिग्रीवं मयूरकम्। तुत्थं ताम्रोपधातुर्हि किञ्चित्ताम्रेण तद्भवेत्॥६६॥
किञ्चित्ताम्रगुणं तस्माद्वक्ष्यमाणगुणं च तत्। तुत्थकं कटुकं क्षारं कषायं वामकं लघु ॥६७॥
लेखनं भेदनं शीतं चक्षुष्यं कफपित्तहृत्। विषाश्मकुष्ठकण्डूघ्नं खर्परं चापि तद्गुणम् ॥६८॥

तूतिया के संस्कृत नाम—तुत्थ, वितुन्नक, शिखिग्रीव तथा मयूरक ये सब हैं।

गुण—तूतिया तामे का उपधातु है, इससे कुछ तामा का भी अंश इसमें रहता है अतः कुछ तामा के गुण और अन्य द्रव्यों के संयोग से आगे कहे हुये गुण इसमें होते हैं। **तूतिया**-कटु तथा कषायरस युक्त, क्षार, वमन कराने वाला, लघु, लेखन, मलभेदक, शीतल, नेत्रों के लिये हितकर एवं कफ, पित्त, विष, पथरी, कुष्ठ तथा खुजली को दूर करने वाला होता है। **खपरिया के गुण**—खपरिया भी तूतिया के समान गुण वाली होती है ॥ ६६-६८ ॥

११ तूतिया

हि०-तूतिया, तूतिए, तुतिआ, नीला थोथा, लीला थोथा। **बं०**-तुते, तुतिया। **म०**-मोरचूत, मोर चूक, मोर चूद। **गु०**-मोर थुथु। **क०**-मयूर तुत्थ, मैल तुत्त। **ते०**-मेल तुतु, मेल ततु। **फा०**-तूदिया, तूतिया सब्ज। **अ०**-तूतिया अकज़र, तूतिया अखजर, तूतिया हिन्दी। **द्रा०**-मैल तुत्त। **अं०**-Sulphate of Copper (सल्फेट ऑफ् कापर)। **ले०**-*Blue Stone* (ब्ल्यू स्टोन)।

तूतिया किञ्चित हरापन युक्त नीले रङ्ग का एक खनिज पदार्थ है जो तामे के खान से निकलता है। तामे के योग से इसको बनाते भी हैं।

प्राचीन ग्रन्थकारों ने कहा है कि गरुड जी ने मर्कत पर्वत पर विष को पान किया और जब चित्त घबटाया तब अमृत को भी पान कर लिया। फिर वमन कर दिया, वही वमन फेनयुक्त कालिमा लिये हुए मोर के कण्ठ के वर्ण वाला था। इसको 'सस्यक' कहते हैं। बाजे विद्वान् सस्यक और तुत्थ को एक वस्तु मानते हैं। परन्तु तूतिया के देखने से वह बिलकुल मोर के कण्ठ के रङ्ग वाला नहीं दीखता, इसलिये बाजे लोग कहते हैं कि 'सस्यक' आजकल का 'जङ्गार' है। उसी जङ्गार के किट्ट रूप को तूतिया कहते हैं। इसलिये सस्यक का नाम तूतिया भी रखा है।

तूतिया बाजार में बहुत बिकता है। यूनानी मखज़नों से मालूम होता है कि पूर्वकाल में यह किरमान, ईरान आदि देशों में बनता था और वहीं से आता था। परन्तु इस समय यूरप के

कई देशों से बनकर आता है। तूतिये को अङ्गरेजी में ब्ल्यूस्टोन और ब्ल्यूविटरील भी कहते हैं। तामे और सलफ्युरिक एसिड को एक साथ मिलाकर गरमी देने से जो पदार्थ बनता है उसको गरम जल में मिलाकर एवेपोरेट करके ठण्डा करने से इसकी कलमें प्राप्त होती हैं।

तूतिया इस देश के पञ्जाब प्रान्त में भी अब बनने लगा है। इसे दो प्रकार से बनाते हैं। एक गन्धक के तेजाव में तामे को गलाकर बनाते हैं। दूसरा तामे को पिघला कर कसीस, रेह मिट्टी, नौसादर आदि की चुटकी देकर उसकी भस्म बनाकर उससे तैयार करते हैं।

तूतिया नीले रग का कलमदार नमक है जो पानी में गल जाता है और पानी का रङ्ग हलका नीला हो जाता है। वह अधिक मात्रा में उत्तेजक विष के समान असर करता है। परन्तु थोडी मात्रा में अनेक प्रकार के रोगों को हरता है। इसकी उचित मात्रा जवानों के लिये चौथाई ग्रेन से दो ग्रेन तक और वमन करने के लिये ५ से १० ग्रेन तक है। आधी रत्ती का एक ग्रेन होता है॥

अथ कांस्यम् (काँसा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

ताम्रत्रपुजमाख्यातं कांस्यं घोषं च कंसकम्। उपधातुर्भवेत्कांस्यं द्वयोस्तरणिरङ्गयोः॥६९॥
कांस्यस्य तु गुणा ज्ञेयाः स्वयोनिसदृशा जनैः। संयोगजप्रभावेण तस्यान्येऽपि गुणाः स्मृताः॥
कांस्यं कषाय तिक्तोष्णं लेखनं विशदं सरम्। गुरु नेत्रहितं रूक्षं कफपित्तहरं परम्॥७१॥

कासा के सस्कृत नाम—ताम्रत्रपुज, कास्य, घोष तथा कंसक ये सब हैं।

गुण—तामा तथा रांगा इन दोनों का उपधातु कासा होता है। अतः अपनी उत्पत्ति का मूल कारण तामा तथा रांगा के होने से लोग कासा को उपर्युक्त धातुओं (तामा तथा रागा) के सदृश गुणवाला बतलाते हैं अर्थात् जो तामा तथा रागा के गुण हैं वे ही कासा के भी होते हैं परन्तु स्वल्पमात्रा में अन्य द्रव्यों का भी संयोग होने से अन्यों के भी गुण होते हैं। कांसा कषाय तथा तिक्त रसयुक्त, उष्ण, लेखन, विशद गुणयुक्त, सारक, गुरु, नेत्रों के लिये हितकर, रूक्ष तथा कफ और पित्त का नाशक होता है॥ ६९–७१॥

१२ कांसा

हि०-कांसा, कांसी, कास्य। **म०**-कांसे। **गु०**-कांसु। **क०**-कञ्चु। **ते०**-कञ्चु। **फा०**-रोईं, रोइन्। **अ०**-तालिकून। **द्रा०**-वंगल। **बं०**-कांसा। **अं०**-(१) White Copper (ह्वाइट कॉपर), (२) White brass (ह्वाइट ब्रास)। **ले०**-*Bronze* (ब्रान्ज)।

आठ भाग तामा और दो भाग रांगे को एक साथ गलाने से जो धातु बनता है उसको कासा कहते हैं। यह तामे और रांगे की उपधातु है। फूल और तैलक इन भेदों से कांसा दो प्रकार का होता है। इनमें फूल कासा श्वेतवर्ण का उत्तम होता है और तैलक निकृष्ट होता है। जो कासा सफेद वर्ण का, प्रकाशवान्, नरम, उज्ज्वल, शब्द करनेवाला, चिकना, निर्मल, घन की चोट सहने वाला और लकीरदार हो वह श्रेष्ठ होता है॥ १२॥

अथारकूटम् (पीतल-कच्चा पीतल)। तस्य नामगुणानाह

पित्तलं त्वारकूटं स्यादारो रीतिश्च कथ्यते। राजरीतिर्ब्रह्मरीतिः कपिला पिङ्गलापि च॥७२॥
रीतिरप्युपधातुः स्यात्ताम्रस्य यशदस्य च। पित्तलस्य गुणा ज्ञेयाः स्वयोनिसदृशा जनैः॥७३॥
संयोगजप्रभावेण तस्याप्यन्ये गुणाः स्मृताः॥ ७४॥
रीतिकायुगलं रूक्षं तिक्तञ्च लवणं रसे। शोधनं पाण्डुरोगघ्नं क्रिमिघ्नं नातिलेखनम्॥७५॥

पीतल के सस्कृत नाम—पित्तल, आरकूट, आर, रीति, राजरीति, ब्रह्मरीति, कपिला तथा पिङ्गला ये सब हैं। **भेद**—राजरीति तथा ब्रह्मरीति है।

गुण—पीतल, तामा तथा जस्ता का उपधातु है। इससे अपने मूल कारण (तामा तथा जस्ता) के सदृश ही इसके भी गुण लोगों ने बतलाये हैं। अन्य द्रव्यों के संयोग से इसमें अन्यों के भी गुण रहते हैं। दोनों प्रकार के पीतल तिक्त तथा लवण रसयुक्त, रूक्ष, शोधक, अत्यन्त लेखन नहीं अर्थात् किञ्चित् लेखन एवं पाण्डु और क्रिमिरोग के नाशक हैं॥ ७२–७५॥

१३ पीतल

हि०-पित्तल (र), पीतल (र)। **बं०**-पितल। **म०**-पितल। **क०**-पित्ताले यरडु। **गु०**-पीतल। **ते०**-इत्तड़ी। **फा०**-बिरज। **अ०**-वांस। **अं०**-Brass (ब्रास)।

जस्ते और तामे के मेल से पीतल बनाया जाता है। इसलिये यह तामे और जस्ते का उपधातु है।

पीतल दो प्रकार का होता है—एक राजरीति और दूसरा काकतुण्डी। जो पीतल अग्नि में तपाकर कांजी में बुझाने पर तावे के समान लाल रंग का हो जाय उसको **'राजरीति'** और जो काला हो जाय उसको **'काकतुण्डी'** कहते हैं ॥ १३ ॥

सिन्दूरम् । तस्य नामगुणानाह

सिन्दूरं रक्तरेणुश्च नागगर्भश्च सीसजम् । सीसोपधातुः सिन्दूरं गुणैस्तत्सीसवन्मतम् ॥७६॥
संयोगजप्रभावेण तस्याप्यन्ये गुणाः स्मृताः । सिन्दूरमुष्णं वीसर्पकुष्ठकण्डूविषापहम् ।
भग्नसंधानजननं व्रणशोधनरोपणम् ॥ ७७ ॥

सिंदूर के संस्कृत नाम—सिन्दूर, रक्तरेणु, नागगर्भ तथा सीसज ये सब हैं। **गुण**—सीसा का उपधातु सिन्दूर है। अतः सीसा के समान इसके भी गुण हैं। अन्य द्रव्यों के संयोग-प्रभाव से इसके अन्य भी गुण होते हैं। **सिन्दूर**-उष्ण एवं वीसर्प, कुष्ठ, खुजली तथा विष का नाशक है तथा टूटी अस्थियों को जोड़ने वाला, व्रण का शोधन और रोपण (पूरा) करने वाला होता है ॥

१४ सिन्दूर

हि०-सिन्दुर, सेनुर, सिन्दूर, सेंदुर। **बं०**-सिन्दूर, सिन्दुर। **म०**-शेंदूर, शेंदुर। **ते०**-सिन्दुरमु, चेन्दिरमु। **द्रा०**-सिन्दूरं। **ता०**-चेन्दूरम्। **क०**-सिन्दूरः। **मा०, गु०, पं०**-सिन्दूर। **फा०**-सिरिंज। **अ०**-असरंज। **अं०**-Red lead (रेड लेड)।

सिन्दूर—शीशे का उपधातु है। उत्तम रंगदार, अग्नि सहनेवाला, सूक्ष्म, चिकना, स्वच्छ, भारी, नरम और सोने की खान का शुद्ध और मंगल देने वाला सिन्दूर श्रेष्ठ होता है।

सिन्दूर—शीशे से भी बनाया जाता है। यह तौल में भारी, देखने में लाल रङ्ग और स्वाद में फीका होता है। यह हीन गुणवाला है। हिमालय, विन्ध्याचल आदि बड़े-बड़े पर्वतों के छोटे-छोटे पत्थरों में जो लाल रस सूख कर जम जाता है उसको गिरिसिन्दूर कहते हैं। यह उत्तम है ॥

अथ शिलाजतु (शिलाजीत) । तस्योत्पत्तिं भेदान् नामानि गुणांश्चाह

निदाघे घर्मसन्तप्ता धातुसारं धराधराः । निर्यासवत्प्रमुञ्चन्ति तच्छिलाजतु कीर्त्तितम् ॥७८॥
सौवर्णं राजतं ताम्रमायसं तच्चतुर्विधम् । शिलाजत्वद्रिजतु च शैलनिर्यास इत्यपि ॥७९॥
गैरेयमश्मजं चापि गिरिजं शैलधातुजम् । शिलाजं कटु तिक्तोष्णं कटुपाकं रसायनम् ॥८०॥
छेदि योगवहं हन्ति कफमेहाश्मशर्कराः । मूत्रकृच्छ्रं क्षयं श्वासं वाताशांसि च पाण्डुताम् ॥
अपस्मारं तथोन्मादं शोथकुष्ठोदरक्रिमीन् ॥ ८२ ॥

शिलाजीत की उत्पत्ति—ग्रीष्म ऋतु में धूप से तप्त होकर पर्वत धातुओं के सार भाग को गोंद की भांति छोडते हैं अर्थात् पर्वतों पर गर्मी में जो धातुओं का सार पिघल कर पत्थरों से निकलता है उसे 'शिलाजीत' कहते हैं। **भेद**-१ सौवर्ण (सोने का), २ राजत (चाँदी का), ३ ताम्र (तामे का), ४ आयस (लोहे का) इस भाँति शिलाजीत के ४ भेद हैं।

संस्कृत नाम—शिलाजतु, अद्रिजतु, शैलनिर्यास, गैरेय, अश्मज, गिरिज तथा शैलधातुज ये सब हैं।

गुण—शिलाजीत कटु तथा तिक्त रसयुक्त, रसायन, मलों का छेदन करने वाला, योगवाही एवं कफ, प्रमेह, पथरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र, क्षय, श्वास, बादी बवासीर, पाण्डुरोग, अपस्मार, उन्माद, शोथ, कुष्ठ तथा उदर के क्रिमि इन सबों को नष्ट करने वाला होता है ॥ ७८-८२ ॥

अथ गुणलक्षणसहितांस्तद्भेदानाह

सौवर्णं तु जपापुष्पवर्णं भवति तद्रसात्। मधुरं कटु तिक्तं च शीतलं कटुपाकि च ॥ ८३ ॥
राजतं पाण्डुरं शीतं कटुकं स्वादुपाकि च। ताम्रं मयूरकण्ठाभं तीक्ष्णमुष्णं च जायते॥८४॥
लौहं जटायुपक्षाभं तत्तिक्तं लवणं भवेत्। विपाके कटुकं शीतं सर्वश्रेष्ठमुदाहृतम् ॥ ८५ ॥

सौवर्ण शिलाजीत के **लक्षण**—सौवर्ण (सोने का) शिलाजीत जपा (अढौल) के पुष्प के समान लाल वर्ण का होता है। **गुण**—यह मधुर, कटु तथा तिक्त रसयुक्त विपाक में कटु रसयुक्त तथा शीतल होता है।

राजत (चादी का) शिलाजीत के **लक्षण**—राजत शिलाजीत पाण्डुर वर्ण का होता है। **गुण**—यह कटु रसयुक्त, विपाक में मधुर रसयुक्त तथा शीतल होता है।

ताम्र (तामेका) शिलाजीत के **लक्षण**—ताम्रशिलाजीत मयूर के कण्ठ के समान वर्ण वाला होता है। **गुण**—यह तीक्ष्ण तथा उष्ण होता है।

लौह (लोहे का) शिलाजीत के **लक्षण**—लौह शिलाजीत जटायु (गिद्ध) के पक्ष के सदृश वर्णवाला होता है। **गुण**—यह तिक्त तथा लवण रसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त तथा शीतल होता है। यही सर्वश्रेष्ठ होता है ॥ ८३-८५ ॥

१५ शिलाजीत

हि०-शिलाजित, शिलाजीत, सिलाजीत। **व०**-शिलाजतु। **बं०, म०, गु०, द्रा०**-शिलाजित। **क०**-कुलु वेचलु, कुलु वेचरु। **म०**-सलाजीत, शलाजीत। **पं०**-शिलाजीत। **ते०**-शिलाजतु। **क०**-सिलाजितु। **यू०**-शिलाजीत का सत्त, सत्त शिलाजीत। **अं०**-(१) Jew's Pitch (ज्युस् पिच), (२) Aspholt (आस्फोल्ट)। **ले०**-*Asphaltum Punjabinum* (आस्फाल्टम पञ्जाबिनम्)।

पुराणों की कथा है कि अमृत निकालने के लिये जब देव और दैत्यों ने मन्दराचल पर्वत को समुद्र में डाल कर मन्थन किया था, उस समय पर्वत में जो पसीना उत्पन्न हुआ वह समुद्र में जा गिरा। फिर वही समुद्र मथने से चन्द्रमा के समान प्रगट हुआ। उस समय सब देवताओं ने ब्रह्मा और इन्द्र का पूजन कर मनुष्यों के कल्याणार्थ उसे सब पर्वतों को बांट दिया। गरमी के दिनों में सूर्य की प्रचण्ड ताप से जब हिमालय आदि पर्वत अत्यन्त सन्तप्त हो जाते हैं तब वे अपने सार को गोंद के समान बहाते हैं उसी गोंदरूपी सार को शिलाजीत कहते हैं।

शिलाजीत चार प्रकार का होता है—सोने की खान का, चादी की खान का, तांबे की खान का और लोहे की खान का। इनमें **सोने की खान का शिलाजीत**-ओढहुल के फूल के समान लाल रङ्ग का होता है। **चांदी की खान का**-पीले रङ्ग का, **तांबे की खान का**-मोर की गरदन के समान रंगवाला और **लोहे की खान का**-शिलाजीत गिद्ध के पंख के समान काला होता है। यह सबसे उत्तम गिना जाता है। इसमें गोमूत्र की सी गन्ध आती है।

अग्नि में डालने से जिस शिलाजीत से धुआँ न निकले और लिङ्गाकार खड़ा हो जावे तथा तिनका के अग्रभाग पर रख कर जल में डालने से तन्तुओं के समान फैल कर नीचे बैठे और जिसमें से गोमूत्र की सी गन्ध आवे उसे उत्तम जानना चाहिये ॥ १५ ॥

अथ रसः। तत्र रसशब्दस्य निरुक्तिमाह

रसायनार्थिभिर्लोकैः पारदो रस्यते यतः। ततो रस इति प्रोक्तः स च धातुरपि स्मृतः ॥

रस शब्द की निरुक्ति—रसायन को चाहने वाले लोग इस पारे का सेवन (भक्षण) करते हैं, इससे यह 'रस' कहलाता है। शरीर का पोषण करने से 'धातु' भी कहलाता है अर्थात् रस तथा धातु पद से पारे का बोध किया जाता है ॥ ८६ ॥

अथ पारदः। तस्योत्पत्ति भेदानाह

शिवाङ्गात्प्रच्युतं रेतः पतितं धरणीतले। तद्देहसारजातत्वाच्छुक्लमच्छमभूच्च तत् ॥ ८७ ॥
क्षेत्रभेदेन विज्ञेयं शिववीर्यं चतुर्विधम्। श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णं तत्तु भवेत्क्रमात् ॥

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रश्च खलु जातितः ॥ ८८ ॥
श्वेतं शस्तं रुजां नाशे रक्तं किल रसायने। धातुवादे तु तत्पीतं खे गतौ कृष्णमेव च ॥८९॥

पारे की उत्पत्ति—श्री शिवजी के अङ्ग से स्खलित होकर जो वीर्य पृथ्वी पर गिरा वही 'पारा' हुआ। देह के सारभाग (वीर्य) से उत्पन्न होने से वह सफेद तथा स्वच्छ हुआ। **भेद**—क्षेत्रभेद से शिववीर्य (पारा) चार प्रकार का होता है। जैसे सफेद, लाल, पीला तथा काला और ये क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ४ जाति के कहलाते हैं। अर्थात् ब्राह्मण जाति का पारा सफेद वर्ण का, क्षत्रिय जाति का लाल वर्ण का, वैश्य जाति का पीले वर्ण का और शूद्र जाति का काले वर्ण का होता है। उपर्युक्त भेदों का **उपयोग**—सफेद वर्ण का पारा रोगों के नाश करने में उत्तम होता है। लाल वर्ण का पारा रसायन के कार्य में, पीले वर्ण का पारा धातुवाद अर्थात् सोना चाँदी आदि बनाने के कार्य में और काले वर्ण का पारा आकाश-गमन के कार्य में उत्तम होता है ॥ ८७-८९ ॥

अथ पारदस्य नामगुणानाह

पारदो रसधातुश्च रसेन्द्रश्च महारसः ॥ ९० ॥
चपलः शिववीर्यश्च रसः सूतः शिवाह्वयः। पारदः षड्रसः स्निग्धस्त्रिदोषघ्नो रसायनः ॥९१॥
योगवाही महावृष्यः सदा दृष्टिबलप्रदः। सर्वामयहरः प्रोक्तो विशेषात्सर्वकुष्ठनुत् ॥ ९२ ॥

पारा के संस्कृत नाम—पारद, रसधातु, रसेन्द्र, महारस, चपल, शिववीर्य, रस, सूत, शिवजी के नामवाचक सभी शब्द (जैसे-शिव, रुद्र, हर, धूर्जटि इत्यादि) ये सब हैं।

गुण—पारा मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय तथा तिक्त इन छः रसों से युक्त, स्निग्ध, त्रिदोषनाशक, रसायन, योगवाही, अत्यन्त वीर्यवर्धक, सदा नेत्रों की शक्ति एव बल को देने वाला, सम्पूर्ण रोगों को दूर करने वाला तथा विशेष रूप से कुष्ठ का नाशक होता है ॥ ९०-९२ ॥

अथ पारदस्यावस्थाभेदेन नामानि सर्वश्रेष्ठतां चाह

स्वस्थो रसो भवेद् ब्रह्मा बद्धो ज्ञेयो जनार्दनः। रञ्जितः कामितश्चापि साक्षाद्देवो महेश्वरः॥
मूर्च्छितो हरति रुजं बन्धनमनुभूय खे गतिं कुरुते।
अजरीकरोति हि मृतः कोऽन्यः करुणाऽऽकरः सूतात् ॥ ९४ ॥
असाध्यो यो भवेद्रोगो यस्य नास्ति चिकित्सितम्।
रसेन्द्रो हन्ति तं रोगं नरकुञ्जरवाजिनाम् ॥ ९५ ॥

पारे का अवस्था भेद से नाम—स्वस्थ पारा-ब्रह्मा, बद्ध (बंधा हुआ) पारा-जनार्दन (विष्णु), रञ्जित तथा कामित पारा-साक्षात् महेश्वरसंज्ञक होता है।

पारे की सर्वश्रेष्ठता—पारा मूर्च्छित होकर रोगों को दूर करता है, बन्धन का अनुभव करके अर्थात् बद्धपारा-आकाश में चलने की शक्ति देता है और मरा हुआ होकर अर्थात् मृत पारा-मनुष्यों को अजर (वृद्धावस्थाशून्य) करता है। अतः पारे से बढ कर कोई दूसरा कृपासागर नहीं हो सकता है। मनुष्य, हाथी तथा घोडों के जो रोग असाध्य हो गये हों अथवा जिन रोगों की चिकित्सा नहीं हो सकती है ऐसे रोगों को केवल पारा ही दूर कर देता है ॥ ९३-९५ ॥

अथ फलनिर्देशपूर्वकं पारदस्थितदोषानाह

मलं विषं वह्निगिरित्वचापलं नैसर्गिकं दोषमुशन्ति पारदे।
उपाधिजौ द्वौ त्रपुनागयोगजौ दोषौ रसेन्द्रे कथितौ मुनीश्वरैः॥ ९६ ॥
मलेन मूर्च्छा मरणं विषेण दाहोऽग्निना कष्टतरः शरीरे।
देहस्य जाड्यं गिरिणा सदा स्युश्चाञ्चल्यतो वीर्यहतिश्च पुंसाम्।
वङ्गेन कुष्ठं भुजगेन षण्ढो भवेदतोऽसौ परिशोधनीयः ॥ ९७ ॥
वह्निर्विषं मलं चेति मुख्या दोषास्त्रयो रसे। एते कुर्वन्ति सन्तापं मृतिं मूर्च्छां नृणां क्रमात्॥
अन्येऽपि कथिता दोषा भिषग्भिः पारदे यदि। तथाऽप्येते त्रयो दोषा हरणीया विशेषतः॥

पारे के स्वाभाविक दोष—मल, विष, अग्नि, गिरिदोष, चपलता ये सब हैं और आगन्तुक दोष रांगा और सीसा के योग से होने वाले अन्य दो हैं। इस भांति से पारे के सब ७ दोष मुनीश्वरों ने कहे हैं।

उक्त दोषों के फल—मल से मूर्च्छा, विष से मरण, अग्नि से शरीर में अत्यन्त कष्टकर दाह, गिरि से सदा शरीर की जडता, चपलता से पुरुषों का वीर्यनाश, वङ्ग (रांगा) से कुष्ठ, भुजग अर्थात् (नाग) से नपुसकता ये सब क्रम से होते हैं। अतः पारे का शोधन उक्त दोष की निवृत्ति के लिये परमावश्यक है। मुख्यरूप से तो पारा में १ अग्नि, २ विष तथा ३ मल ये ही तीन दोष हैं। ये तीनों क्रम से मनुष्यों को १ सन्ताप, २ मरण, ३ मूर्च्छा करने वाले होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भी दोष यद्यपि पारे में ऋषियों ने कहे हैं तथापि ये ३ दोष विशेष रूप से पारे के दूर करने ही योग्य हैं॥ ९६-९९॥

अथासंस्कृतपारदसेवननिषेधमाह

संस्कारहीनं खलु सूतराजं यः सेवते तस्य करोति बाधाम्।
देहस्य नाशं विदधाति नूनं कष्टांश्च रोगाञ्जनयेन्नराणाम्॥ १००॥

असंस्कृत पारे के सेवन का निषेध—जो कोई विना संस्कार किये हुये ही पारे का सेवन करता है तो वह उस (सेवन करने वाले) को पीडा पहुँचाता है, देह का नाश कर देता है, निश्चित रूप से मनुष्यों के रोगों को उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह है कि भूल कर भी असंस्कृत पारे का सेवन नहीं करना चाहिये अन्यथा कष्टाधिक्य से मृत्यु तक हो जाती है॥ १००॥

१६ पारद (पारा)

हि०-पारा। बं०, म०, पं०-पारा। मा०, गु०-पारो। क०-पारद रस। ते०-पारद रसं, पारदमु। द्रा०-पारद रस। फा०-सिमाव। अ०-जिवक, जीवक। अं०-Mercury (मर्क्युरी)। ले०-*Hydrargyrum* (हैड्रार्जिरम)।

पारद—शिवजी का वीर्य माना जाता है। कहते हैं कि रतिनिवृत्ति काल में शिवजी ने अपने शुक्र को कपोत रूप धारण किये हुए अग्नि के मुख में डाल दिया। वह शुक्र अग्निमुख से पृथ्वी पर पाच जगह गिरा और सौ सौ योजन गहरे पाँच कुएँ हो गये और पारा उन्हीं कुओं में ठहर गया। तत्कालीन देवता, नाग आदि सिद्धगण इस पारद द्वारा निर्माण किये हुए प्रयोगों का सेवन कर सब रोगों से छूट अजर-अमर हो गये और उन्होंने पत्थरों से कुओं को वन्द कर शिवजी से प्रार्थना कर पारद को दोषों से युक्त करा दिया। तब से पारा मिलना कठिन ही नहीं हुआ बल्कि वह अत्यन्त हानियाँ भी करने लगा।

स्वयं भगवान् महादेवजी ने पार्वतीजी से कहा कि—हे देवि! तुम सर्वप्राणियों की माता हो और मैं ही सनातन पिता हूँ। हम दोनों के महामैथुन से जो पारा उत्पन्न हुआ है जिसके देखने, छूने, सेवन करने और अर्चन करने अथवा दान करने से छः प्रकार का फल मिलता है। केदारादि लिङ्ग जो ससार में विराजमान हैं उनके दर्शन करने से जो पुण्य होता है, वह केवल एक पारे ही का दर्शन करने से प्राप्त हो सकता है। जिस पारे को चन्दन, अगर, कुङ्कुम और कपूर के अन्तर्गत कर शिवपूजन के साथ मूर्च्छित किया जाय तो उससे शिव की निकटता प्राप्त होती है और उस पारे के सेवन करने से त्रिविध ताप दूर होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु आदि देवता लोग भी इस पारे के प्रसाद से दुर्लभ परम पद को प्राप्त किया करते हैं। हे ईश्वरि! हृदयाकाश में जो कर्णिका स्थित है, उसके भीतर स्थित हुए रसेन्द्र को स्मरण करने से शीघ्र जन्म-जन्मान्तर के पापों से छुटकारा मिल जाता है। सहस्र-सहस्र शिवलिङ्ग की पूजा करने से जो पुण्य होता है, उससे करोडगुण फल पारदलिङ्ग की पूजा करने से होता है। रसविद्या परमविद्या कहलाती है। त्रिलोक में दुर्लभ इस विद्या को मुक्ति की देने वाली और भोग की जननी जानो। जो पातकी पारे की निन्दा करता है, करोड करोड जन्म में भी उसका उद्धार नहीं होता। रस की निन्दा

करने वालों के साथ बातचीत करने या उसकी देह छूने से सहस्र जन्म तक भयंकर दुःख भोगना पडता है। कांचन के साथ मिला कर पारे की भस्म सेवन करने से रुद्रत्व प्राप्त होता है। ऐसे ही चाँदी के साथ सेवन करने से विष्णुत्व, भास्करलोहे के साथ सेवन करने से ब्रह्मत्व, लोहे के साथ सेवन करने से कुबेरत्व, तालक लोहे के साथ सेवन करने से भास्करत्व, राजत लोहे के साथ सेवन करने से चन्द्रत्व, रोहिण लोहे के साथ सेवन करने से अजरत्व और साधारण लोहे के साथ पारद भस्म सेवन करने से इन्द्रत्व प्राप्त होता है। दोषहीन पारा मूर्तिमान् ब्रह्मा, मूर्च्छित पारा स्वयं जनार्दन, मारा हुआ पारा रुद्र और बँधा हुआ पारा साक्षात् सदाशिव स्वरूप है। हे प्रिये! स्वयं ब्रह्मा जी भी महान् वचनों से पारे के गुणों का पूरा-पूरा वर्णन नहीं कर सकते।

महादेव जी ने पार्वती जी से कहा था—हे देवि! समस्त पातकों के दूर हुए विना कभी भी पारे का जारण सिद्ध नहीं होता। इस कारण पारे का जारण सिद्ध होते ही मोक्ष के लक्षणों का ज्ञान हो जाता है। हे पार्वती! पारे का जारण ही साधक को मुक्ति का दिखाने वाला है। हे प्रिये! गन्धक-पिण्डी और पारा-लिङ्गस्वरूप है। अत एव इन दोनों का पीसना, बाँधना और सेवन करना ही पूजा कहलाता है। जारण के लिये पारा जितने दिनों तक अग्नि में रखा जाता है। जारक पुरुष उतने ही सहस्र वर्ष शिवधाम में पूजित होता है। जो महात्मा केवल एक दिन पारे में आँच लगाता है उसके सारे पाप दूर हो जाते हैं, फिर उसको पाप नहीं लगते।

रस, रसेन्द्र, सूत, पारद और मिश्रक यह पाँच प्रकार का पारद क्षेत्र भेद से प्रसिद्ध हुआ है।

रससंज्ञक पारा लाल रंग का होना है। यह सब दोषों से रहित और रसायन है। देवता इसके सेवन करने से रोग और बुढापे से छूट कर अजर-अमर हो गये।

रसेन्द्र संज्ञक पारद—श्वेतमिश्रित कृष्ण रङ्ग वाला, रूखा और अनन्त चञ्चल तथा रसायन है। इसके सेवन करने से नागलोग बुढापे और मृत्यु से छूट कर अजर-अमर हो गये।

उक्त रसेन्द्र नाम वाले पारे के कुएँ को देवता और नागों ने मिट्टी और पत्थरों से भर दिये अतः वह पारद संसार को फिर नहीं मिल सका।

सूत नामवाला पारद—कुछ पीलापन लिये हुए, रूखा और नाग वगादि दोषों से युक्त होता है। यह अठारह संस्कार करने के बाद सेवन करने से शरीर को लोह के समान मजबूत कर देता है।

पारद नाम का पारा—सफेद रङ्गवाला और चञ्चल होता है। यह अनेक ओषधियों के साथ (अथवा १८ संस्कार के करने पर) सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करने वाला है।

मिश्रक नाम वाला पारद—मोर के पंखों की चन्द्रिका के समान अनेक रङ्ग का होता है और यह १८ संस्कार करने पर सिद्धियों (देह की सिद्धि आदि) का देने वाला है ॥ १६ ॥

अथोपरसाः । तेषां संख्यामाह

गन्धो हिङ्गुलमभ्रतालकशिलाः स्रोतोऽञ्जनं टङ्कणं
राजावर्तकचुम्बकौ स्फटिकया शङ्खः खटी गैरिकम् ।
कासीसं रसकं कपर्दसिकताबोलाश्च कङ्कुष्ठकं
सौराष्ट्री च मता अमी उपरसाः सूतस्य किञ्चिद्गुणैः ॥ १०१ ॥

उपरसों की संख्या—गन्धक, हिङ्गुल, अभ्रक, हरताल, मैनशिल, सुरमा, सुहागा, राजावर्तक (रावटी), चुम्बक, फिटकरी, शंख, खरिया, गेरू, कसीस, खपरिया, कौडी, बालू, बोल, कङ्कुष्ठ (मुरदासख), सोरठी माटी ये सब उपरस कहे जाते हैं। क्योंकि इनमें कुछ अंश रस (पारा) का भी रहने से उसके किंचित् गुणों से युक्त होते हैं ॥ १०१ ॥

अथ हिङ्गुलम् । तस्य नामानि सलक्षणभेदान् गुणाँश्चाह

हिङ्गुलं दरदं म्लेच्छं हिङ्गुलिश्चूर्णपारदम् । दरदस्त्रिविधः प्रोक्तश्चर्मारः शुकतुण्डकः ॥ १०२ ॥
हंसपादस्तृतीयः स्याद् गुणवानुत्तरोत्तरम् ॥ १०३ ॥

चर्मारः शुक्लवर्णः स्यात्स पीतः शुकतुण्डकः। जपाकुसुमसङ्काशो हंसपादो महोत्तमः॥१०४॥
तिक्तं कषायं कटु हिङ्गुलं स्यान्नेत्रामयघ्नं कफपित्तहारि।
हृल्लासकुष्ठज्वरकामलाश्च प्लीहामवातौ च गरं निहन्ति॥ १०५॥

हिङ्गुल के संस्कृत नाम—हिङ्गुल, दरद, म्लेच्छ, हिङ्गुलि और चूर्णपारद ये सब हैं। भेद–हिङ्गुल तीन प्रकार का होता है—१ चर्मार, २ शुकतुण्डक, ३ हंसपाद। इनमें एक दूसरे की अपेक्षा उत्तरोत्तर गुणवान् होता है। जैसे—चर्मार की अपेक्षा शुकतुण्ड और इसकी अपेक्षा हंसपाद अधिक गुणवान् होता है।

उक्त भेदों के लक्षण—चर्मार सफेद वर्ण का, शुकतुण्ड पीले वर्ण का और हंसपाद जो कि सर्वोत्तम है वह जपाकुसुम (अड़हुल के फूल) के समान लाल वर्ण का होता है।

गुण—हिङ्गुल तिक्त, कषाय, कटुरस युक्त एवं नेत्रसम्बन्धी रोग, कफ, पित्त, हृल्लास (उबकाई), कुष्ठ, ज्वर, कामला, प्लीहा, आमवात और विष को दूर करने वाला होता है॥ १०२-१०५॥

अथ हिङ्गुलोत्थं पारदं शुद्धमित्याह

ऊर्ध्वपातनयुक्त्या तु डमरुयन्त्रपाचितम्। हिङ्गुलं तस्य सूतं तु शुद्धमेव न शोधयेत्॥१०६॥

हिङ्गुल से निकाले हुये पारे की शुद्धि की अनावश्यकता—ऊर्ध्वपातन की युक्ति से डमरुयन्त्र में पकाया हुआ जो हिंगुल है, उससे निकला हुआ जो पारा है वह स्वयं शुद्ध होता है अतः उसकी पुनः शोधने की आवश्यकता नहीं रहती॥ १०६॥

१७ सिंगरफ

हि०-सिंगरफ, सिंगरिफ, सिमरिख, सिमिरिख, हिंगुल, इंगुर। **बं०**-हिंगुल। **मा०**-हिंगलू। **म०**-हिंगूल। **पं०**-शिंगरफ। **गु०**-हिंगलो। **द्रा०**-जाविलिंग। **क०**-इंगुलियक। **यू०**-इंगुर। **ते०**-हिंगिला कामु, इंगलीकमु। **फा०**-सिंग्रफ, शंगरफ। **अ०**-जंजफर, शंजफर। **अं**-Sulphuret of Mercury (सल्फरेट ऑफ् मर्क्युरी)। **ले०**-*Sulphuretum hydrargyri* (सल्फ्युरेटम् हाइड्राजिरी)।

सिंगरफ दो प्रकार का होता है, एक शुकतुण्ड और दूसरा हंसपाद।

शुकतुण्ड सिंगरफ तोते की चोंच के समान लाल रङ्ग का होता है, इसको 'चर्मार' भी कहते हैं। जो प्रवाल के समान लाल रंग का हो, जिसमें सफेद पारे की रेखायें दीखती हों, रवादार और तौल में भारी हो उसको हंसपाद कहते हैं। इसी को मकसूदाबादी और रूमी सिंगरफ कहते हैं।

आजकल असली खनिज सिंगरफ बहुत कम मिलता है। अशुद्ध पारद और अशुद्ध गन्धक की रासायनिक प्रक्रिया द्वारा सिंगरफ तैयार किया जाता है। यही सिंगरफ बाजार में रूमी और काठा के नाम से बिकता है॥ १७॥

अथ गन्धकः। तस्योत्पत्तिं नामानि भेदांश्चाह

श्वेतद्वीपे पुरा देव्याः क्रीडन्त्या रजसाऽऽप्लुतम्। दुकूलं तेन वस्त्रेण स्नातायाः क्षीरनीरधौ॥
प्रसृतं यद्रजस्तस्माद्गन्धकः समभूत्ततः। गन्धको गन्धिकश्चापि गन्धपाषाण इत्यपि॥
सौगन्धिकश्च कथितो बलिर्बलरसोऽपि च। चतुर्धा गन्धकः प्रोक्तो रक्तः पीतः सितोऽसितः॥

गन्धक की उत्पत्ति—पहले एक समय श्वेतद्वीप में क्रीडा करती हुई श्री पार्वती का वस्त्र रजोधर्म होने से रज से भीग गया, तब उसी समय क्षीरसमुद्र में स्नान करने से जो रज इधर-उधर फैला उसी से गन्धक की उत्पत्ति हुई। गन्धक के **संस्कृत नाम**-गन्धक, गन्धिक, गन्धपाषाण, सौगन्धिक, बलि तथा बलरस ये सब हैं।

भेद—गन्धक ४ प्रकार का होता है। १ रक्त वर्ण, २ पीत वर्ण, ३ श्वेत वर्ण और ४ कृष्ण वर्ण का॥ १०७-१०९॥

अथ गन्धकभेदानामुपयोगविषयानाह

रक्तो हेमक्रियासूक्तः पीतश्चैव रसायने। व्रणादिलेपने श्वेतः कृष्णः श्रेष्ठः सुदुर्लभः॥ ११०॥

गन्धक के उक्त भेदों का उपयोग होने के विषय—रक्तवर्ण का गन्धक सोना बनाने के कार्य में उपयुक्त होता है, पीत वर्ण का गन्धक रसायन के कार्य में आता है। श्वेत वर्ण का गन्धक व्रण आदि के ऊपर लेप करने के लिये उपयोगी होता है और कृष्णवर्ण का गन्धक पूर्वोक्त सभी कार्यों में श्रेष्ठ होता है किन्तु यह अत्यन्त दुर्लभ होता है॥ ११०॥

*श्रेष्ठः=हेमक्रियाऽऽदिषु सर्वत्र प्रशस्ततरः॥ ११०॥

यहाँ 'श्रेष्ठ' का अर्थ हेमक्रिया (सोना बनाने) आदि पूर्वोक्त सभी कार्यों में अत्यन्त प्रशस्त होता है॥ ११०॥

अथ गन्धकगुणानाह

गन्धकः कटुकस्तिक्तो वीर्योष्णस्तुवरः सरः। पित्तलः कटुकः पाके जन्तुकण्डूविसर्पजित्।
हन्ति कुष्ठक्षयप्लीहकफवातान् रसायनः॥ १११॥

गन्धक के गुण—गन्धक कटु तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, उष्णवीर्य, सारक, पित्तजनक, रसायन एव क्रिमि, खुजली, विसर्प, कुष्ठ, क्षय, प्लीहा, कफ तथा वात को दूर करने वाला होता है॥ १११॥

अथाशुद्धगन्धकदोषानाह

अशोधितो गन्धक एष कुष्ठं करोति तापं विषमं शरीरे।
सौख्यं च रूपं च बलं तथौजः शुक्रं निहन्त्येव करोति चास्रम्॥ ११२॥

अशुद्ध गन्धक के दोष—विना शोधा हुआ गन्धक यदि भक्षण किया जाय तो वह कुष्ठ, शरीर में भयङ्कर ताप तथा रक्तविकार को करता है एवं सुख, रूप, बल, ओज एव शुक्र को नष्ट करता है॥ ११२॥

१८ गन्धक

हि०-गंधक, गन्द्रक। **बं०, म०, क०, गु०**-गन्धक। **ते०**-गन्धकमु। **फा०**-गोगिर्द। **अं०**-Sulphur (सल्फर)।

गंधक—दो प्रकार का होता है, एक आमलासार और दूसरा लोणिया।

आमलासार गन्धक के तीन भेद हैं। पहला **'शुकतुण्ड'** जो तोता की चोंच के समान रक्त वर्ण का होता है। यह धातुवेधक अर्थात् सुवर्णसिद्धि करने वाला और शरीर के सब रोगों को नष्ट करके दीर्घायु तथा अतिबलिष्ठ करने वाला है। यह लाल रङ्ग का गन्धक इस समय अप्राप्य है। धूर्त व्यापारी लोग लाल कसीस को लाल गन्धक कहकर मनुष्यों को ठगते हैं। दूसरा **'शुकपर्णी'** अर्थात् जो तोते की पूँछ के समान हरे रंग का होता है। इस गधक से बने हुए चन्द्रोदय आदि सभी रस बहुत उग्रवीर्य होते हैं परन्तु इसका मिलना भी दुर्लभ है। तीसरा **'आमलासार'** गन्धक जो बहुत चिकना, चमकदार, पीले वर्ण का और जिसमें कुछ हरित वर्ण का झलक होता है। यह सुलभ है और इसी को आजकल के सभी वैद्य ओषधिप्रयोग में लाते हैं।

लोणिया (पिण्ड गंधक) गन्धक गुणों में निकृष्ट है। इसको उक्त आमलासार गन्धक के अभाव में खुजली, खाज आदि रोगों को नष्ट करने के लिए लेप के कार्य में ले सकते हैं। किसी किसी आचार्य के मत से काला गंधक भी होता है किन्तु यह दुष्प्राप्य है।

जिस प्रकार पारे को शिवजी का वीर्य मानते हैं उसी प्रकार गन्धक को पार्वती जी का रज मानते हैं। इसकी कथा यह है कि क्षीरसमुद्र के समीप सर्वरत्न-भूषित श्वेतद्वीप में सखियों के संग क्रीडा करने वाली श्रीपार्वती जी को रजोदर्शन हुआ जिससे उनके सब वस्त्र लाल रंग के हो गये। तब उनको त्याग कर दूसरे नवीन वस्त्रों को धारण कर सखियों के साथ कैलास में आईं। समुद्र के

किनारे छोडे हुए वस्त्र लहरों के द्वारा समुद्र के बीच में पहुच गये। ऐसे श्रीपार्वती जी के रजोदर्शन का रुधिर क्षीरसागर में प्रविष्ट हुआ। फिर जब देव और दैत्यों ने समुद्रमन्थन किया तब वही रज अमृत के साथ गधकरूप में प्रकट हुआ और अपनी गध के प्रभाव से देव और दानवों को प्रसन्न किया। तब देवताओं ने कहा कि यह गधक शिववीर्य के पारे के बन्धन और जागरण निमित्त प्रगट हुआ है, जो गुण पारे में हैं वे ही इसमें भी हैं। ऐसे देवताओं के कहने से यह गन्धक नाम से पृथ्वी में विख्यात हुआ। इसीलिये बिना गन्धक के योग से कैसा भी शुद्ध हुआ पारद गुणकर नहीं होता।

इस समय गन्धक स्वतन्त्ररूप से ज्वालामुखी प्रदेशों में पाया जाता है। खानों में लोहे, ताम्र आदि धातुओं से मिला हुआ गन्धित और गन्धिद के रूप में मिलता है। इसे ज्वालामुखी प्रदेशों के पत्थरों से पिघला कर इसकी लम्बी लम्बी शलाकायें बना ली जाती हैं फिर इसे ऊर्ध्वपातित कर चूर्ण रूप में प्राप्त किया जाता है। इसे ऊर्ध्वपातित गन्धक कहते हैं। यह पीला, ठोस, जल में अविलेय तथा फीकी नीली ज्वाला से जलता है। जलने के पीछे इससे शेष कुछ नहीं बचता। तेल तथा घृत में कुछ-कुछ घुल जाता है। कार्बन द्विगन्धिद में पूरी तरह घुलता है ॥ १८ ॥

अथाभ्रकम् । तस्योत्पत्तिमाह

पुरा वधाय वृत्रस्य वज्रिणा वज्रमुद्धतम् । विस्फुलिङ्गास्ततस्तस्य गगने परिसर्पिताः ॥
ते निपेतुर्घनध्वानाच्छिखरेषु महीभृताम् । तेभ्य एव समुत्पन्नं तत्तद्गिरिषु चाभ्रकम् ॥११४॥
तद्वज्रं वज्रजातत्वादभ्रमभ्ररवोद्भवात् । गगनात्स्खलितं यस्माद्गगनं च ततो मतम् ॥११५॥

अभ्रक की उत्पत्ति—पहले एक समय जब इन्द्र ने वृत्रासुर के वध के लिये वज्र उठाया तब उससे उसकी चिनगारियाँ निकल कर आकाश में फैल गईं और उसके बाद वे सब मेघ का शब्द होने पर पर्वतों के शिखरों पर जाकर गिर पड़ीं और जिन जिन पर्वतों पर वे गिरी थीं उन्हीं-उन्हीं पर्वतों पर उन चिनगारियों से अभ्रक की उत्पत्ति हुई।

अभ्रक के कतिपय नामों के पडने का **हेतु**—वज्र से उत्पन्न होने से इसे **वज्र**। अभ्र अर्थात् मेघ के शब्द होने से उत्पत्ति हुई अत. **अभ्रक**। और गगन अर्थात् आकाश से गिरा अतएव इसे **गगन** भी कहते हैं ॥ ११३–११५ ॥

अथाभ्रकभेदाँस्तेषामुपयोगविषयानाह

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रभेदात्तस्याच्चतुर्विधम् । क्रमेणैव सितं रक्तं पीत कृष्णं च वर्णतः ॥११६॥
प्रशस्यते सित तारे रक्तं तत्तु रसायने । पीतं हेमनि कृष्ण तु गदेषु द्रुतयेऽपि च ॥११७॥

अभ्रक के भेद—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये ४ जातियाँ अभ्रक की होती हैं। उनके जाति वर्ण क्रम से अर्थात् ब्राह्मणजाति का अभ्रक सफेद रङ्ग का, क्षत्रियजाति का लाल रग का, वैश्यजाति का पीले रग का और शूद्रजाति का काले रग का होता है।

उक्त भेदों के उपयोग करने के विषय—चाँदी बनाने के कार्य में सफेद अभ्रक का, रसायन के कार्य में लाल अभ्रक का, सोना बनाने में पीले अभ्रक का और रोग नष्ट करने में काले अभ्रक का उपयोग किया जाता है ॥ ११६–११७ ॥

अथाभ्रकस्यान्यानपि भेदाँल्लक्षणगुणनिर्देशपूर्वकमाह

पिनाकं दर्दुरं नाग वज्रं चेति चतुर्विधम् । मुञ्चत्यग्नौ विनिक्षिप्तं पिनाकं दलसञ्चयम् ॥११८॥
अज्ञानाद्भक्षणं तस्य महाकुष्ठप्रदायकम् । दर्दुरं त्वग्निनिक्षिप्तं कुरुते दर्दुरध्वनिम् ॥११९॥
गोलकान्बहुशः कृत्वा स स्यान्मृत्युप्रदायक. । नागं तु नागवद्वह्नौ फूत्कारं परिमुञ्चति ॥१२०॥
तद्भक्षितमवश्यं तु विदधाति भगन्दरम् । वज्रं तु वज्रवत्तिष्ठेत्तन्नाग्नौ विकृतिं व्रजेत् ॥१२१॥
सर्वाभ्रेषु वरं वज्रं व्याधिवार्द्धक्यमृत्युहृत् ॥ १२२ ॥

अभ्रक के और भी भेदों के नाम—पिनाक, दर्दुर, नाग, वज्र, ये ४ भेद अभ्रक के हैं।

उक्त भेदों के लक्षण—पिनाक नामक अभ्रक के लक्षण—जो अग्नि में डाल देने पर परत निकल निकल कर अलग होने लगे उसे 'पिनाक' समझना चाहिये।

गुण—यदि पिनाक अज्ञान से खा लिया जाय तो कठिन कुष्ठ हो जाता है।

दर्दुर के लक्षण—जो अग्नि में छोड़ने पर मेढक की भांति शब्द करे वह 'दर्दुर' कहलाता है।

गुण—इसे खा लेने से शरीर में बहुत से गांठों की उत्पत्ति होकर मृत्यु हो जाती है।

नाग नामक अभ्रक के लक्षण—अग्नि में डालने पर जिससे सांप के समान फुंकार निकले उसे 'नाग' समझना चाहिये। **गुण**-इसके खाने से भगन्दर अवश्य हो जाता है।

वज्र के लक्षण—जो अग्नि में डालने पर किसी तरह की विकृति को न प्राप्त होकर वज्र की भांति स्थिर रहता है वह 'वज्र' नामक अभ्रक कहलाता है।

गुण—सम्पूर्ण अभ्रकों में वज्र नामक ही अभ्रक सर्वश्रेष्ठ होता है, क्योंकि यह रोग, बुढ़ापा तथा मृत्यु को भी दूर करने वाला होता है॥ ११८-१२२॥

अथोत्पत्तिस्थानभेदेनाभ्रकस्य गुणभेदानाह

अभ्रमुत्तरशैलोत्थं बहुसत्त्वं गुणाधिकम्। दक्षिणाद्रिभवं स्वल्पसत्त्वमल्पगुणप्रदम्॥ १२३॥

उत्पत्ति स्थान के भेद से अभ्रक के गुणों में भेद—उत्तर के पर्वतों पर उत्पन्न होने वाला अभ्रक अत्यन्त वीर्यशाली अतएव अधिक गुणकारी होता है और दक्षिण के पर्वतों पर उत्पन्न होने वाला अभ्रक स्वल्प वीर्य वाला अतएव अल्प गुणकारी होता है॥ १२३॥

अथ मृताभ्रकगुणानाह

अभ्रं कषायं मधुरं सुशीतमायुष्करं धातुविवर्द्धनं च।
हन्यात्त्रिदोषं व्रणमेहकुष्ठप्लीहोदरग्रन्थिविषक्रिमींश्च॥ १२४॥
रोगान् हन्ति द्रढयति वपुर्वीर्यवृद्धिं विधत्ते तारुण्याढ्यं रमयति शतं योषितां नित्यमेव।
दीर्घायुष्कांजनयति सुतान्विक्रमैःसिंहतुल्यान् मृत्योर्भीतिं हरति सततं सेव्यमानं मृताभ्रम्॥

मृत अभ्रक (अभ्रक भस्म) के गुण—अभ्रक भस्म कषाय तथा मधुर रसयुक्त, अत्यन्त शीतल, आयु को बढाने वाला, धातुवर्धक एवं त्रिदोष, व्रण, प्रमेह, कुष्ठ, प्लीहा, उदररोग, ग्रन्थि (गिल्टी), विष तथा क्रिमि को दूर करने वाला होता है।

यदि मृत अभ्रक (अभ्रक भस्म) का नित्य सेवन किया जाय तो वह रोगों को दूर करता है, शरीर को दृढ और वीर्य की वृद्धि करता है, नित्य तारुण्य युक्त होता हुआ १०० स्त्रियों से रमण करने की शक्ति देता है तथा सिंह के समान पराक्रमी, दीर्घ आयु वाले पुत्रों को उत्पन्न करता है और मृत्यु के भय को दूर करता है॥ १२४-१२५॥

अथाशुद्धाभ्रकदोषानाह

पीडां विधत्ते विविधां नराणां कुष्ठं क्षयं पाण्डुगदं च शोथम्।
हृत्पार्श्वपीडां च करोत्यशुद्धमभ्रं त्वसिद्धं गुरु तापदं स्यात्॥ १२६॥

अशुद्ध अभ्रक के दोष—बिना शोधन किया हुआ अभ्रक सेवन करने से मनुष्यों को अनेक प्रकार की पीडा करता है एवं कुष्ठ, क्षय, पाण्डुरोग, शोथ, हृदय तथा पार्श्व (पसुली) में पीडा करता है।

असिद्ध अभ्रक के दोष—यदि अभ्रक भस्म असिद्ध (कच्ची) हो तो सेवन करने से अत्यन्त ताप देने वाला होता है॥ १२६॥

१६ अबरक

हि०-अबरक, अभरक। **बं०**-अभ्र। **गु०**-अभरख। **मा०**-भोंडल। **फा०**-सितारये ज़मीन। **अ०**-तल्क, तल्क। **क०**-अभ्रक। **ते०**-अभ्रकम्। **अं०**-Mica (मिका), Talc (टाल्क)।

एक समय महादेव जी के सुन्दर स्वरूप को देखकर श्रीपार्वती जी का रज स्खलित हुआ, उसी से अबरक की उत्पत्ति हुई, ऐसा भी लिखा है।

बिहार के हजारीबाग में तथा मद्रास के निलोर जिले में अबरक की खानें हैं। जो अबरक नीलांजन के समान कृष्णवर्ण हो, तौल में भारी, पृथुदल, मृदु और चमकदार हो तथा जिसकी अग्नि में धोंकनी से तपाने पर भी किसी प्रकार की विकृति न हो, ऐसा अबरक ओषधिकार्य के लिये श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

अथ हरितालम्। तस्य गुणलक्षणसहितान् भेदान् गुणांश्चाह

हरितालं तु तालं स्यादालं तालकमित्यपि। हरितालं द्विधा प्रोक्तं पत्राख्यं पिण्डसंज्ञकम् ॥
तयोराद्यं गुणैः श्रेष्ठं ततो हीनगुणं परम्। स्वर्णवर्णं गुरु स्निग्धं सपत्रं चाभ्रपत्रवत् ॥ १२८ ॥
पत्राख्यं तालकं विद्याद् गुणाढ्यं तद्रसायनम्। निष्पत्रं पिण्डसदृशं स्वल्पसत्त्वं तथा गुरु ॥
स्त्रीपुष्पहारकं स्वल्पगुणं तत्पिण्डतालकम्। हरितालं कटु स्निग्धं कषायोष्णं हरेद्विषम्।
कण्डूकुष्ठास्यरोगास्रकफपित्तकचव्रणान् ॥ १३० ॥

हरताल के संस्कृत नाम-हरिताल, ताल, आल और तालक ये सब हैं। **भेद**-हरताल दो प्रकार का होता है-१ पत्राख्य (तबकिया) हरताल, २ पिण्डसंज्ञक हरताल। इसमें पहला जो तबकिया हरताल है वह गुणों में श्रेष्ठ होता है और दूसरा जो पिण्डसंज्ञक हरताल है वह हीन गुण वाला होता है। तबकिया हरताल के **लक्षण**-सोने के समान वर्ण वाला, गुरु, स्निग्ध, अभ्रक के पत्र के समान पत्रवाला जो तबकिया हरताल होता है, वह गुणों से युक्त तथा रसायन होता है और जो पत्र से रहित पिण्ड के समान पिण्डहरताल होता है, वह स्वल्प वीर्यशाली, गुरु, स्त्री के पुष्प को नष्ट करने वाला, अल्प गुणयुक्त होता है। **गुण**-हरताल कटु तथा कषाय रसयुक्त, स्निग्ध, उष्ण होता है एवं विष, खुजली, कुष्ठ, मुख के रोग, रक्तविकार, कफ, पित्त, केश तथा व्रण (घाव) को नष्ट करने वाला होता है ॥ १२७-१३० ॥

अथाशुद्धस्यासम्यङ्मारितस्य च हरितालस्य दोषानाह

हरति च हरितालं चारुतां देहजातां सृजति च बहुतापञ्चाङ्गसङ्कोचपीडाम्।
वितरति कफवातौ कुष्ठरोगं विदध्यादिदमशितमशुद्धं मारितं चाप्यसम्यक् ॥ १३१ ॥

बिना शोधा हुआ दोनों प्रकार का हरताल—भक्षण करने से शरीर की सुन्दरता को दूर करता है, अत्यन्त ताप को उत्पन्न करता है, अङ्गों में सङ्कोच की पीडा देता है एवं कफ, वात, तथा कुष्ठ रोग को करता है ॥ १३१ ॥

२० हरताल

हि०-हरताल, हरिताल। बं०-हरिताल, हत्तेल। म०,गु०,पं०,मा०-हरताल। ते०-हरिदलमु, हरितालामु। द्रा०-अरिदल। क०-हरिदाल। अ०-अरनीख, जरीख अस्फर। अं०-(१) Orpiment (ओर्पिमेंट) (२) Yellow Arsenic (यलो आर्सेनिक)।

पौराणिक कथा के अनुसार हरताल विष्णु भगवान् के वीर्य से उत्पन्न हुआ है। प्राचीन काल में जब नरसिंह भगवान् ने हिरण्यकशिपु दैत्य को सायंकाल के समय मारा था तब उसके वमन से हरताल प्रगट हुआ। यह हरताल उसकी कोंख में हर समय रहा करता था।

हरताल चार प्रकार का होता है—

१-पिण्डाख्य (पिंड हरताल, गोवरिया हरताल) यह पत्ररहित गोले के समान, थोड़े सत्त्व वाला, हलका और स्त्रियों के पुष्प को नाश करने वाला और अल्प गुणवाला होता है।

२-पत्रसंज्ञक हरताल-सोने के समान पीतवर्ण, चमकदार, भारी, चिकना और अबरक के पत्रों के समान पत्रयुक्त होता है। यही हरताल उत्तम होता है। इसी को भस्मादि और रसायन कार्य में ग्रहण करना चाहिये। इसको पत्र हरताल, तबकी हरताल, तबकिया हरताल आदि नाम से पुकारते हैं।

३-गोदन्ती हरताल-जिसके लम्बे-लम्बे टुकडे हों, अत्यन्त चिकना गौ के दांत के समान और भारी हो तथा जिसके बीच में नीली और पीली रेखा हो वही असली गोदन्ती हरताल है।

बाजार में सफेद रंग के सेलखरी के समान जो छोटे-छोटे टुकड़े गोदन्ती हरताल के नाम से बिकते हैं वे वास्तव में असली गोदन्ती हरताल नहीं हैं।

४-**बकदाली हरताल**-अत्यन्त चिकना, बर्फ के समान सफेद, पत्रयुक्त और भारी होता है। यह कुष्ठादि रोगों को दमन करने में अच्छा है। इसको बकदाली और बगदादी हरताल भी कहते है। शायद बगदाद से आता हो ॥ २० ॥

अथ मनःशिला (मैनसिल)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

मनःशिला मनोगुप्ता मनोह्वा नागजिह्विका। नैपाली कुनटी गोला शिला दिव्यौषधिः स्मृता॥
मनःशिला गुरुर्वर्ण्या सरोष्णा लेखनी कटुः। तिक्ता स्निग्धा विषश्वासकासभूतकफास्रनुत्॥

मैनशिल के संस्कृत नाम—मनःशिला, मनोगुप्ता, मनोह्वा, नागजिह्विका, नैपाली, कुनटी गोला, शिला तथा दिव्यौषधि ये सब हैं।

गुण—मैनशिल कटु तथा तिक्त रसयुक्त, गुरु, शरीर के वर्ण को उत्तम बनाने वाली, सारक, उष्ण, लेखन तथा स्निग्ध होती है एवं विष, श्वास, कास, भूतबाधा, कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाली होती है ॥ १३२-१३३ ॥

अथाशुद्धायास्तस्या दोषानाह

मनःशिला मन्दबलं करोति जन्तुं ध्रुवं शोधनमन्तरेण।
मलानुबन्धं किल मूत्ररोधं सशर्करं कृच्छ्रगदं च कुर्यात्॥ १३४॥

अशुद्ध मैनशिल के दोष—बिना शोधी हुई मैनशिल सेवन करने वाले मनुष्य के बल को मन्द करने वाली तथा मल का अनुबन्ध (दस्त की रुकावट), मूत्ररोध और शर्करायुक्त मूत्रकृच्छ्र रोग को पैदा करती है ॥ १३४ ॥

२१ मैनसिल

हिं०-मयनसिल, मैनसिल, मनसिल। बं०-मनछाल, मनछल। म०-मनशील। गु०-मणशल। क०-मनशिले, मणिशिले। ते०-मानुशिला। अ०-जरनेख एह्मर। अं०-Real gar (रील गार)।

श्री महादेवजी पार्वतीजी से कहते हैं कि हे देवि! मैनसिल हमारे घर हिमालय में उत्पन्न हुई है इसी से इसको 'मनोह्वा' कहते हैं और जो सुवर्ण के समान हो उसको 'पीवरी' कहते हैं।

मैनसिल तीन प्रकार की होती है:—(१) श्यामाङ्गी, (२) कणवीरका और (३) खण्डाख्या।

१—जो मैनसिल काली, लाल और किञ्चित् पीली इस प्रकार मिश्रित रंग की और वजन में भारी होती है उसको '**श्यामाङ्गी**' कहते है।

२—जो ताँबे के समान अत्यन्त चमकदार हो और जिसमें पीलापन नहीं हो उसको '**कणवीरका**' कहते हैं।

३—जो चूर्ण रूप अथवा शीघ्र चूर्णित होने वाली, अत्यन्त लाल और तौल में भारी हो उसको '**खण्डाख्या**' कहते हैं।

उक्त तीनों प्रकार की मैनसिलों में क्रम से सत्व अधिक होता है। इस कारण यह उत्तरोत्तर एक से दूसरी अधिक गुणवाली है ॥ २१ ॥

अथ स्रोतोऽञ्जनं सौवीरं च (काला, सफेद सुरमा)। तयोर्नामलक्षणगुणानाह

अञ्जनं यामुनं चापि कापोताञ्जनमित्यपि। तत्र स्रोतोऽञ्जनं कृष्णं सौवीरं श्वेतमीरितम्॥
वल्मीकशिखराकारं भिन्नमञ्जनसन्निभम्। घृष्टं तु गैरिकाकारमेतत्स्रोतोञ्जनं स्मृतम्॥१३६॥
स्रोतोञ्जनसमं ज्ञेयं सौवीरं तत्तु पाण्डुरम्। स्रोतोऽञ्जनं स्मृतं स्वादु चक्षुष्यं कफपित्तनुत्॥
कषायं लेखनं स्निग्धं ग्राहि च्छर्दिविषापहम्। सिध्मक्षयास्रहृच्छीतं सेवनीयं सदा बुधैः॥

स्रोतोऽञ्जनगुणाः सर्वे सौवीरेऽपि मता बुधैः। किन्तु द्वयोरञ्जनयोः श्रेष्ठं स्रोतोऽञ्जनं स्मृतम्॥

सुरमा के साधारण संस्कृत नाम—अञ्जन, यामुन तथा कापोताञ्जन ये सब हैं।

भेद और उनके **लक्षण**—सुरमा में जो काला होता है उसे संस्कृत में **'स्रोतोऽञ्जन'** कहते हैं और जो सफेद होता है उसे **'सौवीर'** कहते हैं। लक्षण-स्रोतोऽञ्जन (काला सुरमा) यह वल्मीक (विमवट) के शिखर के समान आकारवाला, तोडने पर अञ्जन के टुकडों के समान, घिसने पर गेरू के समान होता है।'

सौवीर (सफेद सुरमा)—यह पाण्डुर वर्ण का तथा गुणों में काले सुरमे के समान ही होता है। **गुण**—काला सुरमा स्वादिष्ट, कषाय रसयुक्त, नेत्रों के लिये हितकर, लेखन, स्निग्ध, ग्राही, शीतल होता है एवं कफ, पित्त, वमन, विष, सिध्म (क्षुद्रकुष्ठ के भेद), क्षय तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है। अतएव बुद्धिमानों को सदा इसे सेवन करना चाहिये। काले सुरमे में जो गुण हैं वे ही सब सफेद सुरमे में भी रहते हैं ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं।

किन्तु इन दोनों अञ्जनों में श्रेष्ठ 'स्रोतोऽञ्जन' काला सुरमा ही समझा जाता है॥१३५-१३९॥

२२ अंजन (सुरमा) काला सुरमा

हि०-सुरमा, सुर्मा, काला सुरमा, शुर्मा, अंजन, आंजन। **बं०**-नील शुर्मा, नीलाञ्जन, काल सुर्मा। **म०**-काळा सुरमा। **मा०**-सुरमो, कालो सुरमो। **गु०**-सुरमो, कालो सुरमो। **क०**-स्रोतोञ्जन, अजनद कल्लु। **द्रा०**-अजनकल्। **पं०**-स्रमा। **ते०**-अजनमु। **फा०**-सूर्मे अस्फहानी। **अ०**-कुहल इस्मुद। **अं०**-Black autimony (ब्लैक एण्टीमनी) **ले०**-*Antimonium sulphurahtum* (एण्टिमोनियम सल्फ्युरेटम)।

सुरमा—एक प्रसिद्ध खनिज पदार्थ काले और सफेद रंगों के भेद से दो प्रकार का होता है।

काला सुरमा—(अञ्जन) धातु और गन्धक का एक यौगिक धातु है। यह कठोर, तौल में भारी, चमकदार और सिंगरफ रूमी के समान पुडतदार होता है। इसकी और कासे की चमक समान होती है। सुरमा इस्पहानि के नाम से जो सुरमा बम्बई में बिकता है वह अच्छा होता है। किञ्चित् धूसर श्यामवर्ण का दानेदार चूर्ण वाला सुर्मा सर्वोत्तम होता है।

इस देश के प्रायः सब प्रान्त और पंजाब में जो कंधारी सुरमा अधिकता से बिकता है वह वास्तव में गन्धक और शीशे का एक यौगिक है।

इसको अंग्रेजी में Galena (गैलेना) या Sulphuret of Lead (सल्फुरेट ऑफ् लेड्) कहते हैं। यह नकली सुरमा है।

एक सुरमी भी होती है। यह भी काले सुरमे का एक भेद है। यह गन्धक और जस्ते का यौगिक है अर्थात् इसमें गन्धक जस्ते के साथ मिला हुआ होता है।

२३ सफेद सुरमा

हि०-सफेद सुरमा। **बं०**-श्वेत सुर्मा। **म०**-लाल सुरमा, पांढरा सुरमा। **गु०**-लाल सुरमो।

असली सफेद सुरमा वास्तव में श्वेतवर्ण का नहीं होता। जिसको सौवीराञ्जन कहते हैं वह लक्षणों में स्रोतोञ्जन के समान परन्तु कुछ पीले रंग का होता है। आजकल बाजार में जो सफेद सुरमा के नाम से बिकता है वह वास्तव में सफेद सुरमा नहीं है बल्कि यह संगमरमर का भेद है। तोडने पर भीतर से सुरमा के समान चमकदार होता है। इस कारण शायद सफेद सुरमा समझा जाता हो॥ २२-२३॥

अथ टङ्कणः (सोहागा)। तस्य गुणानाह

टङ्कणोऽग्निकरो रूक्षः कफघ्नो वातपित्तकृत्॥ १४०॥

सुहागा के गुण—सुहागा अग्निकारक, रूक्ष, कफनाशक तथा वात और पित्त को उत्पन्न करने वाला होता है॥ १४०॥

अयमुपरसत्वात् पुनरुक्तः॥ १४०॥

यह उपरस होने से पुनः यहाँ कहा गया है॥ १४०॥

२४ सोहागा

हि०-सोहागा, सुहागा, सोहगा। बं०-सोहागा। म०-टंकण खार, स्वांगी खार, स्वागी। मा०-सोगो। गु०-टकण, टंकण पाढ़ियो, टंकण फुलियो, टकण खार। क०-टंकण खारु, विलिय टंकणु, बेलगार, एलिगार, वेलिगारमु। पं०-सुहागा। द्रा०-वणगारं। फा०-तीगार, तनकार, तन्कार। अ०-बुरग, जवदुल, बूरग। अं०-Borax (बोरेक्स)।

सुहागा एक प्रसिद्ध खनिज द्रव्य उत्तर खण्ड के खानों से निकलता है। यह फिटकिरी के समान सफेद रग का और स्वाद में खारा तथा तीखा होता है। आग में गिरने से इसकी लावा खिलती है पर अधिक देर तक रहने से यह गल जाता है। प्रायः भूटान देश के भोटिये इसको खानों से खोद, बकरे पर लाते हैं। सोहागा दो प्रकार का होता है एक पिंडाकार जो साधारण सोहागा है इसको धातुओं के गलाने के काम में लाते हैं और दूसरा चौकिया सोहागा जो छोटे-छोटे टुकड़े चौकोने होते हैं, इन्हीं को ओषधि-प्रयोग में लेना चाहिये॥ २४॥

अथ स्फटिका (फिटकिरी)। तस्या नामानि गुणाँश्चाह

स्फटी च स्फटिका प्रोक्ता श्वेता शुभ्रा च रङ्गदा। दृढरङ्गा रङ्गदृढा रङ्गाङ्गाऽपि च कथ्यते॥
स्फटिका तु कषायोष्णा वातपित्तकफव्रणान्। निहन्ति श्वित्रवीसर्पान् योनिसङ्कोचकारिणी॥

फिटकिरी के संस्कृत नाम—स्फटी, स्फटिका, श्वेता, शुभ्रा, रङ्गदा, दृढरङ्गा, रङ्गदृढा, रङ्गाङ्गा ये सब हैं। **गुण**–फिटकिरी कषाय रस युक्त, उष्ण, योनिमार्ग को संकुचित करने वाली एवं वात, पित्त, कफ, व्रण (घाव), श्वेत कुष्ठ तथा विसर्प को दूर करने वाली होती है॥ १४१–१४२॥

२५ फिटकिरी

हि०-फिटकिरी, फटकारी, फटकिरी। बं०-फटकरी। म०-तुर्टी, फटकडी, तुरटी। मा०, गु०, क०-फटकी। ते०-फाटिका, पाटिकारमु। द्रा०-पटिकारं। फा०-शाक सफेद। अ०-जाज अवियज्। अं०-Alum (एलम)। ले०-*Potassium aluminium sulphati* (पोटासियम एल्युमिनियम सल्फेटी)।

फिटकिरी—एक प्रसिद्ध खनिज उपरस है। यह स्वच्छ और सफेद बिल्लौर के समान, स्वाद में कुछ खारी और कड़वी होती है।

अहमदाबाद, काठियावाड के समीप वाले देश को सौराष्ट्र (सोरठ) देश कहते हैं। इसी सौराष्ट्र देश की पृथ्वी में एक प्रकार की मिट्टी होती है उसे तुवरी या गोपीचन्दन कहते हैं। इसका कपडे पर लेप करने से मंजीठ के समान लाल धब्बा पड जाता है। यह पारे को बाँधने वाली होती है। इसके स्फटिका और छिछिका दो भेद हैं। इनमें स्फटिका अर्थात् गोपीचन्दन किञ्चित् पीला, भारी और चिकना होता है। यह पित्त और विष के विकारों को दूर करता है। दूसरी 'छिछिका' भारी और सफेद तथा चिकनी और खट्टी होती है। लेप करने से तामे के समान हो जाती है। ये दोनों व्रग तथा कुष्ठ नाशक हैं और सब प्रकार के वस्त्रों पर लेप करने से अपना रंग लाती हैं परन्तु उत्तम गोपीचन्दन वही है जो सफेद वस्त्र पर मजीठ के समान रग दे।

उक्त गोपीचन्दन से ही फिटकिरी बनाई जाती है। रासायनिक विधि से उक्त सौराष्ट्र मृत्तिका (Bauxite बौक्साइट) में $H_2 So_4$ डाल छान, छने द्रव को गाढा कर पोटासियम सल्फेट या अमोनियम सल्फेट मिला कर गाढा कर एकान्त में फिटकिरी बनने के लिये रख देते हैं। इससे फिटकिरी तैयार होती है॥ २५॥

अथ राजावर्त्तः (रेवटी)। तस्य नामगुणानाह

राजावर्त्तो नृपावर्त्तो राजन्यावर्त्तकस्तथा। आवर्त्तमणिसंज्ञश्च ह्यावर्त्तोऽपि तथैव च॥१४३॥
राजावर्त्तः कटुस्तिक्तः शिशिरः पित्तनाशनः। राजावर्त्तः प्रमेहघ्नश्छर्दिहिक्कानिवारणः॥१४४॥

रेवटी के संस्कृत नाम—राजावर्त्त, नृपावर्त्त, राजन्यावर्त्तक, आवर्त्तमणिसंज्ञक, आवर्त्त (आवर्त्तक) ये सब हैं। **गुण**—रेवटी कटु तथा तिक्त रसयुक्त, शीतल, पित्तनाशक एवं प्रमेह, वमन तथा हिचकी को दूर करने वाली होती है॥ १४३–१४४॥

२६ राजावर्त्त (रेवटी)

हि०-रेवटी, रावटी, लाजवर्द । बं०-राजावर्त्त । म०, क०, गु०-राजावर्त्त मणि। मा०, पं०-लाजवर्द । अं०-Lapis lazuli. (लैपिस लैजुली) ।

लाजवर्द एक प्रकार का उपरत्न है। यह समतल, काला, चिकना, नीलवर्ण, भारी, निर्मल, बहुत छाया युक्त, मोर की गरदन का सा रंग और सौम्य जातिमान् होता है। कुछ-कुछ लाल और अधिक नीला मिश्रित, तौल में भारी, चिकना, चकचकाहटयुक्त ऐसा लाजवर्द उत्तम होता है॥

अथ चुम्बकः । तस्य नामगुणानाह

चुम्बकः कान्तपाषाणोऽयस्कान्तो लौहकर्षकः । चुम्बको लेखनः शीतो मेदोविषगरापहः ॥

चुम्बक के संस्कृत नाम—चुम्बक, कान्तपाषाण, अयस्कान्त और लौहकर्षक ये सब हैं।

गुण—चुम्बक लेखन, शीतल तथा मेद, विष और गर[1] (उपविष) को नष्ट करने वाला होता है ॥ १४५ ॥

२७ चुम्बक

हि०-चुम्बक, लोह चुम्बक। यू०-सग चुम्बक। फा०-सग चकमाग, सग आतीस, सग आहनरूवा। अ०-अजरूल नार, हजर मिकनातीस, मिकनातीस। म०-लोह चुम्बक। गु०-चमक।

चुम्बक—भूरे तथा काले रङ्ग का एक प्रसिद्ध पत्थर है। यह लोहे को अपनी ओर खींचता है। इसको फौलाद के साथ रगडने से आग निकलती है ॥ २७ ॥

अथ गैरिकं सुवर्णगैरिकं च (गेरू, सोनागेरू) । तयोर्नामगुणानाह

गैरिकं रक्तधातुश्च गैरेयं गिरिजं तथा । सुवर्णगैरिकं त्वन्यत्ततो रक्ततरं हि तत् ॥ १४६ ॥
गैरिकद्वितयं स्निग्धं मधुरं तुवरं हिमम् । चक्षुष्यं दाहपित्तास्रकफहिक्काविषापहम् ॥ १४७ ॥

गेरू के संस्कृत नाम—गैरिक, रक्तधातु, गैरेय, गिरिज ये सब हैं।

गेरू के भेद—गेरू से भिन्न एक प्रकार का और भी गेरू होता है जो कि इसकी अपेक्षा अत्यन्त लाल रङ्ग का होता है, उसे संस्कृत में 'स्वर्णगैरिक' कहते हैं। **गुण**—दोनों प्रकार के गेरू (गेरू-सोना गेरू) मधुर तथा कषाय रस युक्त, स्निग्ध, शीतल, नेत्रों के लिये हितकर एवं दाह, पित्त, रक्तविकार, कफ, हिचकी तथा विष इन सबों को दूर करने वाले होते हैं ॥ १४६-१४७ ॥

२८ गेरू

हि०-गेरू, गेर माटी, गेरुमिट्टी। बं०-गिरि माटि, गेरि माटि। ते०-जाजु। पं०-गेरी। यू०-गवरूरा। फा०-गिले सुर्ख मिश्री। अ०-तीनुल एहमर मगरबी। अं०-Red chalk (रेड चाक), Oker (ओकर)। ले०-*Bole rubra* (बोल रुब्रा) ।

गेरू—दो प्रकार का होता है-एक पाषाण गैरिक और दूसरा स्वर्ण गैरिक। पाषाण गैरिक (पत्थर गेरू) पत्थर के समान कठिन और तामे के रग के समान लाल होता है।

२९ स्वर्णगैरिक (सोना गेरू)

हि०-सोन गेरू, पीत गेरू, सोनगेर, गजनी। बं०-लालगिरी माटी। म०-तॉंबे गेरू, सोन गेरू। गु०-सोना गेरू, सोना गेरू। क०-होजाथु।

सोनगेरू—सामान्य गेरू से अधिक रक्तवर्ण, चिकना, स्वच्छ और कोमल होता है।

इस समय काशी के विश्वविद्यालय में जो सोनगेरू असली स्वर्णगैरिक के नाम से बिकता है वह लोहे के समान अत्यन्त कठोर, श्यामाभ लिये हुए रक्तवर्ण, स्पर्श में ऊपर से चिकना और तोडने पर भीतर से रवादार दीख पडता है। इसे अमेरिका से मगाये जाने की बात कही जाती है ॥ २८-२९ ॥

---

[1]. नानाप्राण्यङ्गजमलविरुद्धौषधभस्मनाम् । विषाणाञ्चाल्पवीर्याणा योगो गर इति स्मृतः ॥ अनेक प्रकार के प्राणियों के अङ्गों का मल, विरुद्ध औषधों के भस्म, अल्पवीर्य वाले विषों के परस्पर योग को 'गर' कहते हैं।

अथ खटिका गौरखटिका च (खड़िया गौरखरिया)। तयोर्नामगुणानाह

खटिका कठिनी चापि लेखनी च निगद्यते। खटी दाहास्रजिच्छीता मधुरा विषशोथजित् ॥ लेपादेतद्गुणा प्रोक्ता भक्षिता मृत्तिकासमा। खटी गौरखटी द्वे च गुणैस्तुल्ये प्रकीर्त्तिते ॥

खड़िया के संस्कृत नाम—खटिका, कठिनी तथा लेखनी ये सब है। **गुण**—खड़िया मधुर रसयुक्त, शीतल एवं दाह, रक्तविकार, विष तथा शोथ को दूर करने वाली होती है। लेप करने से ही उक्त गुण खड़िया के ज्ञात होते हैं। खाने पर तो मिट्टी के समान गुण वाली होती है। खड़िया तथा गौर खरिया ये दोनों ही गुणों में समान ही मानी जाती हैं॥ १४८–१४९ ॥

३० खड़िया (तेलियाखड़ी)

हि०-खरिया, खडी, खडिया, खली, खडिया मट्टी। **बं०**-खड़ि माटी, चाखड़ी, खड़ी, रामखडी। **म०**-खडू। **यू०**-मिट्टी खरिया। **गु०**-खडी। **फ़ा०**-गिले खडिया। **क०**-वेणेवट्टु। **अ०**-तिने भवीयद। **अं०**-Chalk (चाक), Pipe clay (पाइप क्ले)। **लै०**-*Carbonate of calcum* (कार्बोनेट ऑफ् काल्कम)।

खड़िया—दो प्रकार की होती है—एक तेलिया खडी और दूसरा सफेद खडी। **तेलिया खड़ी**—किञ्चित् लालिमा लिये सफेद और कठिन होती है।

३१ गौर खटी (सफेद खड़िया)

हि०-सफेद खड़ी, खरी, खड़िया। **बं०**-गौर खडी। **फा०**-गिले सुफेद।

सफेद खड़िया—उक्त खड़िया के समान ही होती है किन्तु बिल्कुल दूध की तरह श्वेतवर्ण, स्पर्श में चिकनी और कोमल होती है। दोनों ही एक प्रकार की मिट्टी है॥ ३०–३१ ॥

अथ वालुका (बालू)। तस्या नामगुणानाह

वालुका सिकता प्रोक्ता शर्करा रेतजाऽपि च। वालुका लेखनी शीता व्रणोरःक्षतनाशिनी ॥

बालू के संस्कृत नाम—वालुका, सिकता, शर्करा और रेतजा ये सब हैं। **गुण**—बालू लेखन, शीतल तथा व्रण और उरःक्षत को दूर करने वाली होती है॥ १५० ॥

३२ बालू

हि०-बालू, बालु, रेत, रेता, रेती। **बं०**-वालि, वाली। **म०**-वालू। **ते०**-विशिका। **गु०**-रेती, वेलु। **क०**-मललु, हालुलु। **फा०**-रेग। **अ०**-रमल। **अं०**-Sand (सैंड)। **लै०**-*Silica* (सिलिका)।

बालू—एक प्रसिद्ध वस्तु नदियों के किनारे मिट्टी के स्थान में पाई जाती है। यह सफेद, भूरी, लाल इत्यादि कई प्रकार की होती है॥ ३२ ॥

अथ तुत्थभेदः खर्परी (खपरिया)। तस्या नामगुणानाह

खर्परी तुत्थकं तुत्थादन्यत्तद्रसकं स्मृतम्। ये गुणास्तुत्थके प्रोक्तास्ते गुणा रसके स्मृताः ॥

खपरिया के संस्कृत नाम—खर्परी, तुत्थक, रसक, तुत्थभेद ये सब हैं। **गुण**—जो गुण तूतिया के कहे हुये हैं वे ही सब खपरिया के भी होते हैं॥ १५१ ॥

३३ खपरिया

हि०-खपरिया, संग बसरी, थोथा, खर्परिया। **बं०**-खापर। **म०**-कल खापरी। **गु०**-खपरियुं, खापरियू। **क०**-खर्परी। **ते०**-खर्पर। **यू०**-खमरिया, खमरिआ। **प०**-खपरिया। **मा०**-खर्परो। **फा०**-सग बसरी। **अ०**-तूतिया किरमानी, तुतिया मकलुल, तुतिया फिरमानी। **अं०**-Black jack (ब्लैक जाक)। **लै०**-*Zinci Sulphidum* (जिंकी सल्फाइडम)।

खपरिया—लवण के समान एक खनिज उपधातु सफेद तथा भूरे रंग की होती है।

वास्तव में यह क्या वस्तु है इसका निश्चय अभी तक नहीं हुआ है। 'सठल' और 'निर्दल'

इन भेदों से खपरिया दो प्रकार की होती है। इनमें सदल को 'दर्दुर' और निर्दल को 'कारवेल्लक' कहते हैं। कोई आचार्य मृत्तिका, गुड और पाषाण तीन प्रकार की खपरिया कहते हैं। इनमें मृत्तिकाकार पत्तल पीले रंग का उत्तम, गुड के समान वाला मध्यम और पत्थर के समान वाले मोटे को अधम बतलाया है। कोई ग्रन्थकार काले, पीले और लाल रंगों के भेद से तीन प्रकार का मानते हैं। नवीन वैज्ञानिक इसको जस्ते का उपधातु मानते हैं क्योंकि जस्ते और गंधक के संयोग से जो वस्तु खान से निकलती है यदि वह शुद्ध अवस्था में पायी जाय तो पीले रंग की, किन्तु लोहे और अन्यान्य धातुओं के मेल से पीत रक्त, कृष्ण, पीत अथवा कृष्णवर्ण की होती है। कहते हैं कि—प्राचीन काल में खपरिया से ही जस्ता निकाला जाता था परन्तु आजकल अबरक सत्त्व मिले खपरिया से भी जस्ता निकाला जाता है। इस प्रकार युक्ति से सिद्ध करते हैं कि जो अमिश्रित है वह कारवेल्लक और श्रेष्ठ है और जो अबरक सत्त्वमिश्रित है वह दर्दुर और निकृष्ट है ॥ ३३ ॥

अथ काशीशम् (कसीस)। तस्य नामानि भेदान् गुणाँश्चाह

काशीशं धातुकाशीशं पांशुकाशीशमित्यपि। तदेव किञ्चित्पीतं तु पुष्पकाशीशमुच्यते॥
काशीशमम्लमुष्णं च तिक्तञ्च तुवरं तथा। वातश्लेष्महरं केश्यं नेत्रकण्डूविषप्रणुत्॥
मूत्रकृच्छ्राश्मरीश्वित्रनाशनं परिकीर्तितम्॥ १५२॥

कसीस के संस्कृत नाम—काशीश, धातुकाशीश, पांशुकाशीश ये सब हैं। **भेद**—कसीस यदि थोडा पीला हो तो उसका संस्कृत नाम—पुष्पकाशीश होता है। **गुण**—कसीस अम्ल, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, उष्ण (गरम), बालों के लिये हितकर, वात, कफ, नेत्रों की खुजली, विष, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, तथा श्वेत कुष्ठ को दूर करने वाला होता है॥ १५२-१५३॥

३४ कसीस

हि०-कसीस, काशीस, हीरा कासीस। **बं०**-धातु कासीस, हीरा कस, धातु कसीस। **म०**-हीरा कस, श्वेत नीली। **क०**-कासीसे, कासीस, कसीस। **गु०**-हीरा कसी। **फा०**-जाके सब्ज, जाक जर्द। **अ०**-जाजे अखदर, जाजे अस्फर। **अं०**-Sulphate of Iron (सल्फेट ऑफ् आयरन)। **ले०**-*Ferry sulphas* (फेरी सल्फास)।

कसीस—चूर्णवत् एक अम्ल मृत्तिका है जो पीले और भूरे रंग की होती है। इसका स्वाद कडवा, कसैला और गन्धयुक्त होता है। यह खनिज द्रव्य है, जो अधिक पीला होता है उसे पुष्पकाशीश कहते हैं।

कसीस को 'प्रोटो सल्फेट ऑफ् आयरन' भी कहते हैं और यह कृत्रिम भी होता है। इसको इस प्रकार बनाते हैं:—लोहे की तार चार औन्स, सलफ्यूरिक एसिड ४ फ्लूइड औन्स और साफ पानी डेढ औंस, पहले एक चीनी के प्याले में लोहे के तारों को रख कर पानी डाले और फिर सलफ्यूरिक एसिड मिलावे, जब गैस का निकलना बन्द हो जाय तब दस मिनट तक औंटे और फिल्टर करे। २४ घण्टे के बाद नीचे जमी हुई चीज को पृथक् कर ब्लाटिङ्ग (शोखता) कागज और इसपजी ईंटों पर रख कर सुखा ले। यह जमी हुई वस्तु नमक की समान किञ्चित् हरे रंग की नीलापन लिए हुए होती है और इसका स्वाद कसैला होता है। यह असली मदिरा में नहीं गलती और पानी में गल जाती है॥ ३४॥

अथ सौराष्ट्री मृत्तिका (सोरठी माटी)। तस्या नामगुणानाह

सौराष्ट्री तुवरी काली मृत्तालकसुराष्ट्रजे॥ १५४॥
आढकी चापि सा ख्याता मृत्स्ना च सुरमृत्तिका। स्फटिकाया गुणाः सर्वे सौराष्ट्र्या अपि कीर्त्तिताः॥

सोरठी माटी के संस्कृत नाम—सौराष्ट्री, तुवरी, काली, मृत्तालक (न० लि०), सुराष्ट्रज (न० लि०), आढकी, मृत्स्ना तथा सुरमृत्तिका ये सब हैं। **गुण**—फिटकिरी के जितने गुण कह आये हैं वे सब सोरठी माटी के भी होते हैं॥ १५४-१५५॥

३५ गोपीचन्दन

हि०-गोपी चन्दन, सोरठ की मट्टी, सोरठी माटी, सोरठी मिट्टी। **म०**-सोरठी माती। **क०**-तुर वीयमणु। **गु०**-सोरठी माटी। **अं०**-Silicate of alumina (सिलिकेट ऑफ् एल्यूमिना)।

गोपी चन्दन—सोरठ देश की मिट्टी है और इससे सुगन्धि आती है। इसका विशेष परिचय फिटकिरी के वर्णन में दिया है॥ ३५॥

अथ कृष्णमृत्तिका (काली मिट्टी)। तस्य नामगुणानाह

मृन्मृदा मृत्तिका मृत्स्ना क्षेत्रजा कृष्णमृत्तिका।
कृष्णमृत् क्षतदाहास्रप्रदरश्लेष्मपित्तनुत्॥ १५६॥

काली मिट्टी के संस्कृत नाम—मृद्, मृदा, मृत्तिका, मृत्स्ना, क्षेत्रजा, कृष्णमृत्तिका और कृष्णमृत् ये सब हैं। **गुण**-काली मिट्टी क्षत, दाह, रक्तप्रदर या रक्तविकार, प्रदररोग, कफ तथा पित्त को दूर करने वाली होती है॥ १५६॥

३६ काली मिट्टी

हि०-काली मिट्टी, मिट्टी, कृष्णमृत्तिका, करिया माटी। **बं०**-माटी, काल माटी। **म०**-काळी माती। **गु०**-काली माटी। **ते०**-नोवुलु।

काली मिट्टी—चिकनी, लसदार और काले रंग की होती है॥ ३६॥

अथ कर्दमः (कीचड़)। तस्य गुणानाह

पङ्कस्तु जलकल्कश्च चुलुकः कर्दमो मलः। चिकिलः पलितो द्रापः पललश्च निषद्वरः॥
कर्दमो दाहपित्तास्रशोथघ्नः शीतलः सरः॥ १५७॥

कीचड़ के संस्कृत नाम—पङ्क, जलकल्क, चुलुक, कर्दम, मल, चिकिल, पलित, द्राप, पलल तथा निषद्वर ये सब हैं। **गुण**-कीचड़ शीतल तथा सारक होता है एवं दाह, पित्त, रक्तविकार और शोथ को नष्ट करने वाला होता है॥ १५७॥

३७ कींच

हि०-कींच, गारा, मिट्टी, कादो, पांकी। **बं०**-कादा माटी, काल माटी। **म०**-चिखल माती। **गु०**-गारो, काली माटी, कादव। **ते०**-नोवुल। **अं०**-Mud (मड), Black clay (ब्लैक क्ले)।

कींच—गीली चिकनी मिट्टी को कहते हैं॥ ३७॥

अथ कपर्दकम् (कौडी)। तस्य नामगुणानाह

कपर्दको वराटश्च कपर्दी च वराटिका। कपर्दिका हिमा नेत्रहिता स्फोटक्षयापहा॥
कर्णस्रावाग्निमान्द्यघ्नी पित्तास्रकफनाशिनी॥ १५८॥

कौडी के संस्कृत नाम—कपर्दक, वराट, कपर्दी, वराटिका तथा कपर्दिका ये सब हैं। **गुण**-कौड़ी शीतल, नेत्रों के लिये हितकर, विस्फोट, क्षय, कर्णस्राव, अग्नि की मन्दता, पित्त, रक्तविकार तथा कफ को नष्ट करने वाली होती है॥ १५८॥

३८ कौड़ी

हि०-कौडी, कौरी, कवडी (री)। **बं०**-कडि। **म०**-कवडी। **गु०**-कोडी। **क०**-कवडी। **अ०**-दोअ। **फा०**-खरमोहरह, खरमोहरा। **अं०**-Covries. (कौरीज)।

कौड़ी—सर्वत्र प्रसिद्ध समुद्रीय कोशस्थ कीडे के शरीर का अस्थिवत् रक्षक है। यह छोटी, बडी, सफेद, लाल, पीली, चित्तल आदि भेदों से कई प्रकार की होती है। चित्तल या चितकाबर वह है जिसके ऊपर काले बिन्दु के छींटे हों, काले रंग होकर सफेद के छींटे हों अथवा लाल रंग होकर किसी दूसरे रग के छींटे हों। गाठदार पीठ वाली पीले रग की वजनी कौडी अच्छी होती है और रसकार्य के लिये श्रेष्ठ है। जो पीली गांठदार कौडी वजन में ६ माशे या ६ माशे से अधिक

हो वह उत्तम, ४ माशे और ६ माशे के बीच वाली कौड़ी मध्यम तथा ४ माशे से कम वजन की कौड़ी निकृष्ट होती है ॥ ३८ ॥

अथ शङ्खः । तस्य नामगुणानाह

शङ्खः समुद्रजः कम्बुः सुनादः पावनध्वनिः । शङ्खो नेत्र्यो हिम शीतो लघुः पित्तकफास्रजित् ॥

शङ्ख के संस्कृत नाम—शंख, समुद्रज, कम्बु, सुनाद तथा पावनध्वनि ये सब हैं। गुण-शंख नेत्रों के लिये हितकर, शीतल, लघु एवं पित्त, कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है॥

३९ शंख

हि०-सख, शंख । **बं०**-शंख, शांक । **द्रा०**-शख । **पं०, क०, मा०, गु०**-शंख । **ते०**-शंखमु । **म०**-शंखो । **अ०**-Conch (कोंच) ।

शंख—एक प्रसिद्ध समुद्री कोशस्थ जीव का अस्थिवत् रक्षक है। जिस प्रकार देशी घोंघे, सितुहे के जीव कोश के भीतर रहते हैं उसी प्रकार यह भी रहता है। शंख को पूजा करते समय बजाते हैं। इसकी आवाज पवित्र समझी जाती है जिससे देवता लोग प्रसन्न होते हैं। दक्षिणावर्त्त और वामावर्त्त इन भेदों से शंख दो प्रकार का होता है। इनमें दक्षिणावर्त्त शंख दुष्प्राप्य है। यह सबको नहीं मिलता, भारी पुण्य के ही प्रताप से किसी भाग्यशाली पुरुष को मिल सकता है। जिसके घर में दक्षिणावर्त्त शंख रहता है उसके यहाँ अटूट लक्ष्मी का वास होता है। वामावर्त्त शंख बहुत मिलता है। इसी को ओषधि के काम में लेते हैं। जो शंख चिक्कन, भारी और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल हो वह उत्तम होता है।

४० घोंघा

सं०-क्षुद्रशङ्खः, शम्बूकः । **हि०**-घोंघा, छोटा शंख । **बं०**-शामुक । **म०**-धुके ।

घोंघा सीप आदि के समान एक कोशस्थ-जातीय कीट है। जलसीप के समान यह भी छोटी नदी, तालाब, पोखरे, चौंड (चोंडा), धान्य के खेत आदि सजल स्थानों में पाया जाता है॥३९-४०॥

अथ बोलम् । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

बोलगन्धरसप्राणपिण्डगोपरसाः समाः । बोलं रक्तहरं शीतं मेध्यं दीपनपाचनम् ॥ १५९ ॥
मधुरं कटु तिक्तं च दाहस्वेदत्रिदोषजित् । ज्वरापस्मारकुष्ठघ्नं गर्भाशयविशुद्धिकृत् ॥ १६० ॥

बोल के संस्कृत नाम—बोल, गन्धरस, प्राण, पिण्ड तथा गोपरस ये सब हैं। **गुण**—बोल मधुर, कटु तथा तिक्तरसयुक्त, रुधिरविकार नाशक, शीतल, मेधाशक्ति के लिये हितकर, अग्निदीपक, एवं दाह, स्वेद (पसीना), त्रिदोष, ज्वर, अपस्मार (मिर्गी) तथा कुष्ठ को दूर करने वाला होता है॥

४१ बोल

हि०-बोल, गन्धरस, हीराबोल, बीजाबोल, रक्तबोल, खून खरबा । **बं०**-गन्धबोल, हिराबोल, खुनखरापी, गन्धरस । **म०, कं०, गु०**-बोल । **म०**-बालन्त बोल । **ते०**-बोलिमत्रोपोलम्, बोलमु । **ता०**-वेछरप्पालम, वेन्नइप्प पोलम् । **मु०**-रक्तया बोल । **प०, मा०**-बीजाबोल । **गु०**-हीराबोल । **क०**-मुसाम्बर, बोल । **द्रा०**-करिय पोलम् । **फा०**-मुर, मिर, मरमकी । **अ०**-मुरमकी, मुरसाक, मुर्र । **अं०**-Myrrha (मिर्हा) । **ले०**-*Balsamodendron myrrha* (बाल्सामोडेंड्रन मिर्हा) ।

काला, लाल और मनुष्यज, इन भेदों से बोल तीन प्रकार का होता है। इनमें काला बोल को मुसब्बर कहते हैं और मनुष्यज बोल जो मनुष्य के रुधिर से बनाया जाता है उसको मिमियाई और मोमियाई कहते हैं। तीसरा लाल रङ्ग का गोंद होता है, जो स्वाद में फीका और कडवा होता है। इसके वृक्ष की लकडी के नेजा बनते हैं। यह वृक्ष भारत के पश्चिम भाग में पाया जाता है।

डाक्टरी मतानुसार बालसी मोडनड्रम मुरहा एक खारदार झाडी है। इसके वृक्ष में गोंद की समान जो एक प्रकार की गाढी वस्तु निकल कर जम जाती है उसी को बोल कहते हैं। सूखने पर यह डालियों के समान बन जाती है और इन पर कम या अधिक बहुत बारीक चूर्ण लगा रहता है। ये डालियाँ आसानी से टूटने वाली और बाहर से लालिमा लिये पीले

रङ्ग की या लालिमा लिये पीले भूरे रङ्ग की एवं तोड़ने से सतह खरदरी, सुहावनी, रङ्ग भूरी और रोगनी मालूम होती है। इसकी गन्ध बुरी नहीं होती। इसका स्वाद कड़वा और खराशदार होता है ॥ ४१ ॥

अथ कङ्कुष्ठः (मुरदासङ्ग)। तस्योत्पत्तिं भेदाँश्चाह

***हिमवत्पादशिखरे कङ्कुष्ठमुपजायते। तत्रैकं रक्तकालं स्यात्तदन्यदण्डकं स्मृतम् ॥ १६१ ॥**

मुरदा सङ्ग की उत्पत्ति—हिमालय के पास के पर्वतों के शिखर पर कङ्कुष्ठ (मुरदा सङ्ग) की उत्पत्ति होती है। **भेद**-इसके दो भेद हैं। पहला **'रक्तकाल'** दूसरा 'अण्डक' ये दोनों संस्कृत नाम हैं ॥ १६१ ॥

* **हिमवत्पादशिखरे = हिमवतः प्रत्यन्तपर्वतानां शिखरे ॥ १६१ ॥**

'हिमवत्पादशिखरे' इस पद का 'हिमालय के पास के पर्वतों के शिखर पर' यह अर्थ समझना चाहिये।

अथोत्तमाधमकङ्कुष्ठयोर्लक्षणमाह

पीतप्रभं गुरु स्निग्धं श्रेष्ठं कङ्कुष्ठमादिमम्। श्यामं पीतं लघु त्यक्तसत्त्वं नेष्टं तथाऽण्डकम् ॥

उत्तम और अधम मुरदासंग के लक्षण—मुरदासंग में जो पहला भेद (रक्तकाल-संज्ञक) है, वह पीले रङ्ग की कान्तिवाला गुरु तथा स्निग्ध होता है और वही उत्तम होता है और जो अण्डक संज्ञक मुरदासंग होता है वह साँवला तथा पीला एवं लघु और निःसार होता है। अतः यह निकृष्ट समझा जाता है ॥ १६२ ॥

अथ कङ्कुष्ठस्य नामगुणानाह

कङ्कुष्ठं काककुष्टं च विरङ्गं कोलकाकुलम् ॥ १६३ ॥

कङ्कुष्ठं रेचनं तिक्तं कट्वुष्णं वर्णकारकम्। कृमिशोथोदराध्मानगुल्मानाहकफापहम् ॥ १६४ ॥

मुरदासङ्ग के संस्कृत नाम—कङ्कुष्ठ, काककुष्ठ, विरङ्ग तथा कोलकाकुल ये सब हैं। **गुण**-मुरदासङ्ग-तिक्त तथा कटुरस युक्त, रेचक, उष्ण, वर्णकारक एवं कृमि, शोथ, उदररोग, आध्मान, गुल्म, आनाह (अफरा) तथा कफ को दूर करने वाला होता है ॥ १६३-१६४ ॥

४२ कंकुष्ठ (मुरदासंग)

हि०-मुरदासङ्ग, मुरदासिंग, मुरदारसंग, मुरदाशख, कंकोठ। **बं०**-पर्वतीय मृत्तिका विशेष। **म०**-कंकुष्ठ, मुरदार सिंग। **गु०**-पीलियो। **फा०**-मुरदार सङ्ग।

मुरदासंग हिमालय पहाड़ की चोटियों पर उत्पन्न होता है। यह दो जाति का होता है। जो पीला, भारी और चिकना होता है वह श्रेष्ठ एवं 'नलिकाख्य' नाम से पुकारा जाता है और जो काला, पीला हलका और सत्त्व रहित होता है वह निकृष्ट है, उसे 'रेणुक' कहते हैं।

इसकी सत्यता में इतना मतभेद है कि बड़े-बड़े विद्वान् अपनी-अपनी सम्मति पृथक्-पृथक् देते हैं। कोई कहता है कि कंकुष्ठ तत्काल के जन्मे हुए हाथी, घोड़ी अथवा गदही के बच्चे की विष्ठा है और कोई नख ही मानते हैं। किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है ऋषियों ने दो प्रकार का कंकुष्ठ अर्थात् नलिकाख्य (नली के आकार वाला) और रेणुक (चूर्णवत्) कहा है, उसी के आधार पर वैज्ञानिकों का विचार है कि—यह एक प्रकार के मध्यमाकृति वृक्ष का गोंद है। यह वृक्ष श्याम, कम्बोडिया, कोचीन, चाइना तथा भारतवर्ष के मालाबार, मैसूर आदि प्रान्तों में उत्पन्न होता है। इस वृक्ष को अंगरेजी में—Garcinia morcella (गारसिनिया मोरसेला) और गोंद को Gembage (गेमबेज) कहते हैं।

यह नलिकाकार पोला अथवा ठोस या संयुक्त पिण्डाकृति का होता है। इसमें लम्बी रेखा होती है। टूटा हुआ अंश लालिमा लिये पीले रंग का और चूर्ण सफेदी लिये पीले रङ्ग का होता है। वृक्ष की छाल काटने से जो इसका रस निकलता है उसे बांस के चोंगों में संग्रह करते हैं, उसीको नलिकाख्य कहते हैं और जिसको अन्यान्य पात्र में इकट्ठा करते हैं, वह खंड-खंड रहता है, इस कारण उसको 'रेणुक' कहते हैं। उसीको उसारह रेवन्द, रेवाचीनी का शिरा अथवा रेवत चीनी का

सत्त्व कहते हैं। इसी विश्वास पर कितने वैद्य उसारे रेवन्द को ही कठुष्ठ मानते हैं। वार्जों की सम्मति है कि मुरदार सङ्ग जो सदल, चमकीला, सुनहरा तथा पीले रङ्ग का होता है वह असली कङ्कुष्ठ है। यूनानी चिकित्सक कङ्कुष्ठ को 'मुरदार सङ्ग' इस कारण कहते हैं कि यह बड़ी आसानी से मुर जाता है अर्थात् इसमें पत्थर के समान कठोरता नहीं होती॥ ४२॥

अथ रत्नम्

तस्य निरुक्तिमाह

धनार्थिनो जनाः सर्वे रमन्तेऽस्मिन्नतीव यत्। ततो रत्नमिति प्रोक्तं शब्दशास्त्रविशारदैः॥

रत्न शब्द की निरुक्ति—धन को चाहने वाले सभी लोग इसमें अत्यन्त रमण करते हैं अर्थात् अधिक आनन्दित हो अपना चित्त लगाते हैं—इससे शब्दशास्त्र के जानने वालों ने इसे 'रत्न' कहा है॥ १६५॥

अथ रत्ननामान्याह

रत्न क्लीबे मणिः पुंसि स्त्रियामपि निगद्यते। तत्तु पाषाणभेदोऽस्ति मुक्तादि च तदुच्यते॥

रत्न के संस्कृत नाम—रत्न (यह नपुंसकलिङ्गी होता है), मणि (यह पुँल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग दोनों में होता है) ये दोनों हैं। यह (रत्न) पत्थर के भेद हीरा आदि का तथा मोती आदि का बोधक होता है॥ १६६॥

*** तथा चामरसिंहः—रत्नं मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्ताऽऽदिकेऽपि च॥ १६६॥**

यहाँ अमरसिंह ने भी 'अमरकोष' में इसी बात को कहा है कि—रत्न (नपुंसकलिङ्गी) तथा मणि (यह पुल्लिङ्गी तथा स्त्रीलिङ्गी भी है) ये दोनों शब्द पत्थर की जाति हीरा और मोती आदि के वाचक हैं॥ १६६॥

अथ रत्नानां संख्यामाह

रत्नं गारुत्मतं पुष्परागो माणिक्यमेव च। इन्द्रनीलश्च गोमेदस्तथा वैदूर्यमित्यपि॥
मौक्तिकं विद्रुमश्चेति रत्नान्युक्तानि वै नव॥ १६७॥

रत्नों की संख्या—रत्न (हीरा), गारुत्मत (पन्ना), पुष्पराग (पुखराज), माणिक्य (मानिक), इन्द्रनील (नीलम), गोमेद, वैदूर्य (लहसुनिया), मौक्तिक (मोती) और विद्रुम (मूँगा) ये नवरत्न कहे हुए हैं॥ १६७॥

अथ विष्णुधर्मोत्तरेऽपि नवरत्ननिरूपणमाह

मुक्ताफलं हीरकं च वैदूर्यं पद्मरागकम्॥ १६८॥
पुष्परागं च गोमेदं नीलं गारुत्मतं तथा। प्रवालयुक्तान्येतानि महारत्नानि वै नव॥१६९॥

विष्णुधर्मोत्तर में—१ मोती, २ हीरा, ३ लहसुनिया, ४ मानिक, ५ पोखराज, ६ गोमेद, ७ नीलम, ८ पन्ना और ९ मूगा ये नव महारत्न कहे गये हैं॥ १६८-१६९॥

तत्र हीरकः। तस्य नामानि सलक्षणान् भेदानाह

हीरकः पुंसि वज्रोऽस्त्री चन्द्रो मणिवरश्च सः। स तु श्वेतः स्मृतो विप्रो लोहितः क्षत्रियः स्मृतः॥
पीतो वैश्योऽसितः शूद्रश्चतुर्वर्णात्मकश्च सः॥ १७०॥

हीरा के संस्कृत नाम—हीरक (पुल्लिङ्गी), वज्र (पुल्लिङ्गी तथा नपुंसकलिङ्गी), चन्द्र और मणिवर ये सब हैं। **भेदों के लक्षण**—जो हीरा सफेद रङ्ग का होता है वह ब्राह्मण, लाल रङ्ग का क्षत्रिय, पीले रङ्ग का वैश्य और असित रंग का शूद्र वर्ण का होता है। इस भाँति हीरा की ४ जातियाँ होती हैं॥ १७०॥

अथ तद्भेदानां गुणानाह

रसायने मतो विप्रः सर्वसिद्धिप्रदायकः। क्षत्रियो व्याधिविध्वंसी जरामृत्युहरः स्मृतः॥
वैश्यो धनप्रदः प्रोक्तस्तथा देहस्य दार्ढ्यकृत्। शूद्रो नाशयति व्याधीन् वयःस्तम्भं करोति च॥

हीरा के भेदों के गुण—ब्राह्मण वर्ण का हीरा रसायन के लिये उपयोगी तथा सर्वसिद्धियों का देने वाला क्षत्रिय वर्ण का हीरा रोगों को नष्ट करने वाला एवं जरा (बुढ़ापा) तथा मृत्यु को दूर करने वाला, वैश्यवर्ण का हीरा धन देने वाला तथा देह को दृढ करने वाला और शूद्रवर्ण का हीरा रोगों को नाश करने वाला तथा आयु को स्थिर रखने वाला अर्थात् शरीर में वृद्धावस्थाजन्य क्षीणता को नहीं आने देने वाला होता है ॥ १७१-१७२ ॥

अथ पुंस्त्रीनपुंसकभेदात् त्रिविधस्य तस्य लक्षणानि गुणानुपयोगविषयाँश्चाह

पुंस्त्रीनपुंसकानीह लक्षणीयानि लक्षणैः । सुवृत्ताः फलसम्पूर्णास्तेजोयुक्ता बृहत्तराः ॥१७३॥
पुरुषास्ते समाख्याता रेखाबिन्दुविवर्जिताः। रेखाबिन्दुसमायुक्ताः षडस्रास्ते स्त्रियः स्मृताः॥

हीरे के अन्य प्रकार के भेद—हीरे के पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक ये तीन भेद होते हैं, जो आगे कहे जाने वाले लक्षणों से पहचाने जाते हैं। लक्षण-**पुरुष जाति के हीरे**—भलीभाँति गोलाकार, फल से पूर्ण, तेज से युक्त, अत्यन्त बड़े एवं रेखा तथा बिन्दु से रहित होते हैं। **स्त्री जाति के हीरे**—पूर्वोक्त गुणों से युक्त होते हुए भी केवल रेखा-बिन्दुओं से युक्त तथा ६ कोण वाले होते हैं ॥ १७३-१७४ ॥

***षडस्राः = षट्कोणाः ॥ १७३-१७४ ॥**

'षडस्राः' पद से '६ कोण वाले' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १७३-१७४ ॥

त्र्यस्राश्च सुदीर्घास्ते विज्ञेयाश्च नपुंसकाः। तेषु स्युः पुरुषाः श्रेष्ठा रसबन्धनकारिणः॥१७५॥
स्त्रियः कुर्वन्ति कायस्य कान्तिं स्त्रीणां सुखप्रदाः। नपुंसकास्त्ववीर्याः स्युरकामाः सत्त्ववर्जिताः
स्त्रियः स्त्रीभ्यः प्रदातव्याः क्लीबं क्लीबे प्रयोजयेत्। सर्वेभ्यः सर्वदा देयाः पुरुषा वीर्यवर्धनाः॥

नपुंसक जाति के हीरे—त्रिकोण युक्त तथा अधिक लम्बे होते हैं। **गुण**—इनमें पुरुष जाति के हीरे-श्रेष्ठ तथा रस के बन्धन करने वाले होते हैं। **स्त्री जाति के हीरे**—शरीर की कान्ति को बढ़ाने वाले एवं विशेष रूप से स्त्रियों के लिये सुखदायी होते हैं। **नपुंसक जाति के हीरे**—वीर्यहीन, काम तथा शक्ति से रहित होते हैं।

उपयोग के विषय—स्त्री जाति के हीरे स्त्रियों के लिये, नपुंसक जाति के हीरे नपुंसकों के लिये और पुरुष जाति के वीर्यवर्धक हीरे सभी के लिये सदा देने योग्य होते हैं ॥ १७५-१७७ ॥

अथाशुद्धहीरकदोषानाह

अशुद्धं कुरुते वज्रं कुष्ठं पार्श्वव्यथां तथा। पाण्डुतां पङ्गुलत्वं च तस्मात्संशोध्य मारयेत्॥१७८॥

अशुद्ध हीरा के दोष—बिना शोधन किया हुआ हीरा कुष्ठ, पसलियों में पीड़ा, पाण्डु तथा पङ्गु रोग (पङ्गुल) का उत्पन्न करने वाला होता है अतएव शोधन करके भस्म करना उचित है ॥

अथ मारितस्य वज्रस्य गुणानाह

आयुः पुष्टिं बलं वीर्यं वर्णं सौख्यं करोति च। सेवितं सर्वरोगघ्नं मृतं वज्रं न संशयः॥१७९॥

भलीभाँति शुद्ध हीरे के भस्म के गुण—हीराभस्म आयु, पुष्टि, बल, वीर्य, शरीर का सुन्दर वर्ण तथा सुख की वृद्धि करता है। अतः सेवन करने से वह सम्पूर्ण रोगों को दूर करने वाला होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ १७९ ॥

४३ हीरा

हि०-हीरा, हीर। **मा०**-हीरो। **बं०**-हिरे, हीरक। **पं०**-हीरा। **म०**-हिरा। **क०**-वज्र। **गु०**-हिरो। **ते०**-वज्र। **फा०**-इलमाश। **अ०**-मास, अल्मास। **अं०**-Diamond (डायमंड)। **ले०**-*Pure carbon adams* (प्योर कार्बन एडम्स्)।

हीरा—एक खनिज, बहुत मूल्यवान् और प्रसिद्ध रत्न है। यह रत्न दक्षिण के पूर्व भाग में पिन्नर से सोन तक, मद्रास विभाग में कडडापा, करनूज, इल्लोर, कृष्णा और गोदावरी की तलहटी में, छोटा नागपुर और मध्य भारत में बुन्देल खंड तक के खानों में कहीं-कहीं किसी भाग्यवान् पुरुष को मिल जाता है। पुराणों में हीरे की उत्पत्ति दो प्रकार की कही है:—

१—पहिले विश्वकर्मा ने इन्द्र के निमित्त वृत्रासुर को मारने को दधीचि ऋषि की हड्डी से वज्र बनाया था, उसके बनाने में हड्डियों के कण पृथ्वी पर गिरे वही काल पाकर हीरा के नाम से विख्यात हो गये।

२—पहले देवता और राक्षसों ने क्षीरसागर में मन्दराचल पर्वत को डाल कर मथन किया था, उस समय अमृत उत्पन्न हुआ था, उसको जब देव और दानव पीने लगे तो उस समय उनके मुख से जो अमृत की बूंदें पृथ्वी पर गिरीं वे ही सूर्य की किरणों से सूख कर वज्र (हीरा) हो गयी। यह महादेव जी ने पार्वती के प्रति कहा है।

हीरे का उत्पत्ति-स्थान :—हीरा इस भारत भूमि में उत्पन्न होने वाले समस्त रत्नों में एक है। हीरे के लिये भारत भूमि संसार में विख्यात है। प्राचीन समय के पन्नास्टेट, सम्बलपुर, कर्नल आदि अनेक स्थान ऐसे थे जिनसे अच्छे-अच्छे हीरे निकल चुके हैं और आज भी कहीं न कहीं निकाले ही जाते हैं।

हीरा का रंग रूप :—हमारे देश की प्राचीन खानों से प्राप्त होने वाले हीरे प्रायः स्फटिकवत् स्वच्छ शुभ्र हुआ करते थे। कहीं-कहीं के हीरे कुछ वर्णयुक्त देखे गये हैं। उस तरह हीरा—नीला, भूरा, श्याम, बैंगनी, सरदई, पिङ्गल, कपिल, अरुण आदि अनेक रङ्ग रूप का देखा गया है।

हीरे की बनावट :—प्रकृति में हीरा प्रायः षट्पहलू, अष्टपहलू युक्त या डली (कनी) के रूप में पाया जाता है। जिस पर भी वे कुछ न कुछ पहलू युक्त होते हैं। कुछ हीरे गोल भी पाये गये हैं।

हीरे की रासायनिक रचना :—हीरे की रासायनिक-रचना का ज्ञान भी इसी युग के विद्याबल का परिणाम है। पूर्वकाल में हीरे की दृढता व कठोरता को देख कर लोग समझते थे कि यह कोई अत्यन्त कठोर पाषाण-निर्मित चीज है। इसी कारण इसमें कठोरता है। वास्तव में बात इसके बिलकुल विपरीत देखी गयी, हीरे का मौलिक तत्त्व ऐसा व्यापक और सरल तत्त्व मिला जो विद्वानों के लिये तृण की ओट पहाड बना रहा। पूर्वकाल में कोई व्यक्ति किसी दार्शनिक पण्डित से कह देता कि हीरा तो कोयला से उत्पन्न होने वाली चीज है और कोयला या कज्जल तत्त्व है, तो वह दार्शनिक उस कहने वाले का अवश्य ही परिहास उडाता। आज भी कई प्राचीन विचार के व्यक्ति इस कथन की हँसी उड़ाते देखे भी जाते हैं। परन्तु, इस हँसी में उनकी अज्ञानता की ही झलक दिखाई दे जाती है। वास्तव में हीरा कोयला का ही एक रूप है। जो त्रिकाल में अपना रूप नहीं बदल सकता। कई व्यक्ति कहेंगे कि कज्जल तो काला है और उसकी श्यामता में सफेदी का क्या काम? सफेद तो काला हो जाता है पर काली कमली पर भी कभी रङ्ग चढ सकता है? पाठको! ये युक्तियाँ प्रकृति की विशेषताओं में बाधा नहीं डाल सकतीं, न ये युक्तियाँ नियम ही बन सकती हैं।

कोयला से हीरा :—जब वैज्ञानिकों को इसका बोध हुआ कि शुद्ध कज्जल ही हीरा है तो वह इस बात के जानने की धुन में लगे कि प्रकृति कज्जल से हीरा किस प्रकार बनाती है, क्योंकि इस रहस्य के ज्ञात होते ही वह नुसखा हाथ लगता था, जो कीमियागिरी वालों को आज तक नहीं लगा। वह इच्छानुसार लकडी या पत्थर के कोयले से हीरा बना सकते थे। इस नुसखे के अनुसन्धान में वैज्ञानिकों को ज्ञात हुआ कि यह काम आसान नहीं, बहुत कठिन है। फिर भी कई वैज्ञानिक कृत्रिम रीति से छोटे-बडे हीरे बनाने में समर्थ हो ही गये। जिन्होंने कृत्रिम विधि द्वारा कोयले को हीरे में परिणत करना चाहा उन्हें अधिक कृतकार्यता इसलिये नहीं मिली कि कज्जल पर प्रकृतिगर्भ में जितना उत्ताप व दबाव मिलता था वह उतना नहीं डाल सके। प्रकृतिगर्भ में कज्जल तभी हीरे के रूप में परिणत हो सकता है जब उस पर चारो ओर से हजारों टन का दबाव पडे और साथ-साथ में इस दबाव का भारी उत्ताप भी वहाँ विद्यमान रहे। ऐसी दशा में ही कोयले के कण उस भयङ्कर उत्ताप में न जल कर विशेष ठोस रूप में आ जाते हैं। अथवा यों समझिये कि विशेष उत्ताप व दबाव के कारण ही कोयले की श्यामता जाती रहती है और वह

शुभ्रवर्ण बन जाता है। जिस प्रकार भारी दबाव व उत्ताप में पड कर शैलिका के कण बिल्लौर के रूप में आ जाते हैं ठीक उसी प्रकार कज्जल के कण हीरे के रूप में परिणत हो जाते हैं। इस बात में हीरे से बिल्लौर की पूर्ण समता है, तुरमली की नहीं। हीरे की गर्भयोनि व गर्भकालिक स्थिति में तथा बिल्लौर की गर्भयोनि व गर्भकालिक स्थिति में कोई अधिक अन्तर नहीं। इसीलिये बिल्लौर हीरे के भौतिक गुण-स्वभावों से बहुत कुछ समानता रखता है॥ ४३॥

अथ गारुत्मतम् (पन्ना इति लोके)। तस्य नामान्याह

गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः॥ १८०॥

पन्ना के संस्कृत नाम—गारुत्मत, मरकत, अश्मगर्भ और हरिन्मणि है।

४४ पन्ना

हि०-पन्ना। **म०**-पांचरत्न, पाचूरत्न, पन्नो। **बं०**-पाना, पान्ना। **गु०**-पाना, पानु, लीलुं। **पं०**-पन्ना। **फा०**-जमुरद, जमुर्रद। **क०**-पाच्चिपच्चै। **ते०**-नीलम। **अं०**-Emerald (इमेरल्ड)। **ले०**-*Smaragolus* (स्मैरैगोलस)।

पन्ना—हरे रंग का, वजन में भारी, स्निग्ध, उज्ज्वल किरणों वाला, तेजयुक्त, कर्कशता-रहित और समान, ऐसा पन्ना शुभ होता है और जो कपिल वर्ण अर्थात् भूरे रङ्ग का, कर्कश, नीले रङ्ग का, पाण्डुवर्ण (कुछ पीले रङ्ग का) अथवा काले पीले मिश्रित रङ्ग का, वजन में हलका, चपटा, टेढ़ा-मेढा, काला और रूखा होता है वह निकृष्ट कहा जाता है॥ ४४॥

अथ माणिक्यम् (चुन्नी)। तस्य नामान्याह

माणिक्यं पद्मरागः स्याच्छोणरत्नञ्च लोहितम्॥ १८१॥

चुन्नी के संस्कृत नाम—माणिक्य, पद्मराग, शोणरत्न और लोहित ये सब हैं॥ १८१॥

४५ मानिक (चुन्नी)

हि०-मानिक, चुन्नी, लाल। **ते०**-माणिक्य। **बं०**-माणिक। **पं०**-लाल। **म०**-माणिक। **मा०**-माणक। **गु०**-माणयक, चुनी। **फा०**-याकूत। **क०**-माणक। **अ०**-लाल बदख्शां। **अं०**-Ruby (रूबी)। **ले०**-*Rubinus* (रुबिनस)।

मानिक—एक मूल्यवान् प्रसिद्ध पत्थर है। यह दो प्रकार का होता है—एक रक्तवर्ण और दूसरा कुछ नीलापन युक्त। इस प्रकार ये दोनों प्रकार के मानिक क्रम से लाल कमल और नीले कमल के समान एक लाल दूसरा कुछ नीले रङ्ग का होता है। जो चिकना, स्वच्छ, भारी, गोल, लम्बा, एक समान ऐसा मानिक है वह उत्तम होता है। नीले रंग का मानिक गङ्गा से उत्पन्न होने वाला और बाहर से लाली लिये हुए परन्तु भीतर से नीला दिखाई देने वाला, ऐसा मानिक 'नीलगन्धि' कहलाता है। ये दोनों ही मानिक श्रेष्ठ गुण वाले हैं।

जो छिद्रयुक्त, खरदरा, मैला, रूखा, चपटा, हलका, टेढा-मेढ़ा और आर-पार नहीं दीखने वाला दोषयुक्त मानिक होता है, वह त्यागने योग्य निकृष्ट होता है॥ ४५॥

अथ पुष्परागः (पुखराज)। तस्य नामान्याह

पुष्परागो मञ्जुमणिः स्याद्वाचस्पतिवल्लभः॥ १८२॥

पोखराज के संस्कृत नाम—पुष्पराग, मञ्जुमणि तथा वाचस्पतिवल्लभ ये सब हैं॥ १८२॥

४६ पुखराज

हि०-पुखराज, पोखराज। **क०**-पुष्पराग। **बं०**-योगराज, पुष्पराग। **ते०**-पुष्परागं। **म०**-पुष्कराज। **गु०**-पीलुरत्न, पुखराज। **अं०**-Topaz (टोपाज़)। **ले०**-*Topagio* (टोपाजियो)।

जो वजन में भारी, स्निग्ध, चिकना, निर्मल, मोटा, समतल, कोमल, कर्कशता-रहित और कर्णिकार के फूल के समान पीले रङ्ग का हो, ऐसा पुखराज श्रेष्ठ होता है और जो कान्तिहीन, खरदरा, रूखा, काले पीले मिश्रित रङ्ग का, ऊँचा-नीचा, टेढ़ा-मेढा, कालापन युक्त भूरे रङ्ग का और पाडु वर्ण का हो, ऐसा पुखराज निकृष्ट होता है॥ ४६॥

अथेन्द्रनीलं गोमेदश्च (नीलम और गोमेदमणि) । तयोर्नामान्याह

नीलं तथेन्द्रनीलञ्च गोमेदः पीतरत्नकम् ॥ १८३ ॥

नीलम के संस्कृत नाम—नील और इन्द्रनील ये हैं।

गोमेद के संस्कृत नाम—गोमेद तथा पीतरत्नक ये हैं ॥ १८३ ॥

४७ नीलम

हि०-नीलम, नीलमणि, नीलमनि । बं०-इन्द्रनील, नीलमणि । म०-नीलरत्न । गु०-नीलम्, कालुनग । क०-नील । ते०-नील । फा०-याकूत । अ०-याकूत कबूद । अं०-Saffire (सैफायर)। ले०-*Saffirus* (सैफायरस) ।

नीलम—इन्द्रनील और जलनील, इन नामों से दो प्रकार का होता है । इनमें इन्द्रनील—जो कालापन लिये नीले रंग का अथवा गहरे नीले रङ्ग का, वजन में भारी, एक समान छाया वाला, गोल, चिकना, नरम और बीच में अत्यन्त चमकदार हो, ऐसे सात लक्षणों से युक्त इन्द्रनील श्रेष्ठ होता है । जो तेजोहीन, अनेक वर्णमाला (कुछ हिस्से में एक रङ्ग और कुछ में दूसरे रङ्ग वाला), खरदरा, हलका, चिपटा, बहुत छोटा और जिसके भीतर लाल रङ्ग की आभा दिखाई देती हो ऐसे सात लक्षणों के सहित जलनील—हीन गुण वाला होता है ॥ ४७ ॥

४८ गोमेद

हि०-गोमेद मणि, राहुरत्न, जवाहर । बं०-गोमेद मणि । ते०-गोमेदकं । अं०-Onyx (ओनिक्स) ।

गोमेद—अर्थात गाय के मेद यानी गाय की चर्वी के समान वर्ण वाला होता है । इस कारण इसका नाम गोमेदमणि पड़ा । स्वच्छ गोमूत्र के समान वर्णवाला, उज्ज्वल (चमकदार), चिकना, समतल (टेढा-मेढा या ऊँचा-नीचा न हो), भारी, निर्दल, कोमल और प्रकाशवान्, इन आठ लक्षणों से युक्त गोमेद मणि उत्तम होता है । कान्तिरहित, वजन में हलका, रूखा, चपटा, परत वाला, प्रभारहित, काच के समान पीले रङ्गवाला ऐसा गोमेद-मणि निकृष्ट होता है ॥ ४८ ॥

अथ वैदूर्यम् (लहसुनिया) । तस्य नामान्याह

वैदूर्यं दूरजं रत्नं स्यात्केतुग्रहवल्लभम् ॥ १८४ ॥

लहसुनिया के संस्कृत नाम—वैदूर्य, दूरजरत्न तथा केतुग्रहवल्लभ ये सब हैं ॥ १८४ ॥

४९ वैदूर्यमणि

हि०-वैदूर्यमणि, लहसुनिया । बं०-वैदूर्य । म०-वैडूर्य्य रत्न । गु०-लसणियो । क०-वैडूर्य। अं०-Cat's eye (कैट्स आइ) ।

जिसका रङ्ग कालापनयुक्त सफेद हो, समतल अर्थात् टेढा-मेढ़ा न हो, निर्मल, वजन में भारी, तेजवान् और जिसके भीतर सफेद रग की रेखा दिखाई देती हो, ऐसा वैदूर्यमणि उत्तम होता है और जो काले रग का हो, कान्तिहीन, चपटा, हलका, खरदरा और जिसके भीतर लाल रङ्ग की रेखा दीखती हो ऐसा वैदूर्यमणि निकृष्ट होता है ॥ ४९ ॥

अथ मौक्तिकम् । तस्य नामान्युद्भवस्थानानि गुणांश्चाह

मौक्तिकं शौक्तिकं मुक्ता तथा मुक्ताफलञ्च तत् । शुक्तिः शङ्खो गजः क्रोडः फणी मत्स्यश्च दर्दुरः ॥
वेणुरेते समाख्यातास्तज्ज्ञैर्मौक्तिकयोनयः । मौक्तिकं शीतलं वृष्यं चक्षुष्यं बलपुष्टिदम् ॥ १८५ ॥

मोती के संस्कृत नाम—मौक्तिक, शौक्तिक, मुक्ता तथा मुक्ताफल ये सब हैं । मोती के उत्पत्ति-स्थान—सीप, शङ्ख, हाथी, शूअर, सांप, मछली, मेढक और बांस ये आठ मोतियों के निकलने के स्थान मोतियों के विषय में अभिज्ञ लोगों ने बतलाये हैं । गुण—मोती शीतल, वीर्यवर्धक, नेत्रों के लिये हितकर, बल तथा पुष्टि को देने वाला होता है ॥ १८५ ॥

५० मोती

हि०-मोती । ते०-मोत्यालु, मोतपालु । बं०-मुक्ता । म०, गु०-मोती । क०-मौक्तिक ।

फा०-मरवारिद, मूर्वारीद, दुर। अ०-लोलो, लूलू। अं०-Pearl (पर्ल)। ले०-*Margarita* (मार्गारिटा)।

मोती एक सफेद और चमकीला मूल्यवान् रत्न है। इसका स्वाद फीका होता है। जवाहिरात के जानने वाले विद्वानों ने मोती की उत्पत्ति आठ प्रकार की कही है। १ सीप से, २ हाथी से (जिसे गजमुक्ता कहते हैं), ३ सूअर से, ४ सर्प से, ५ मछली से, ६ मेंढक से, ७ शङ्ख से और ८ बांस से। इनमें प्रायः सीप का ही मोती अधिक मिलता है और व्यवहार में आता है। रङ्ग में फीका, टेढ़ा मेढ़ा, चिपटा, ललाई लिये मछली की आंख के समान, रूखा, ऊँचा और नीचा ऐसा मोती न पहनने और न खाने के काम में लेना चाहिये। जो मोती नक्षत्र के समान चमकीला, गोल, चिकना, मोटा, छिद्ररहित, चन्द्रमा के समान श्वेत, निर्मल, वजन में भारी हो वह धारण करने और खाने योग्य है।

उत्तम मोती की परीक्षा—एक पात्र में आध सेर गोमूत्र और आधी छटाक सामर नोन डाल कर उसीमें दो प्रहर पर्यन्त मोती को दोलायन्त्र द्वारा पकावे फिर निकाल कर धान की भूमी में डाल कर मले और पानी से धो डाले। यदि मोती का रूपान्तर न हो तो उसको शुद्ध सेवन करने योग्य समझना चाहिये।

आजकल मोती बसरा से अधिक आता है। नन्हें नन्हें गोल दाने उत्तम होते हैं। आस्ट्रेलिया से भी मोती आता है किन्तु आस्ट्रेलिया वाला मोती बेडौल होता है। अनविध मोती ही खाने के काम में लिया जाता है॥ ५०॥

अथ प्रवालः (मूँगा)। तस्य नामान्याह

पुंसि क्लीबे प्रवालः स्यात्पुमानेव तु विद्रुमः॥ १८६॥

मूँगा के संस्कृत नाम—प्रवाल (यह पुँल्लिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में होता है) तथा विद्रुम (यह केवल पुँल्लिंग में होता है) ये हैं॥ १८६॥

५१ मूंगा

हिं०-मूंगा। बं०-पला, मुङ्गा। म०-पोवंले। गु०-परवाला, परवाली। क०-अवलेहवंत। तै०-प्रवालक, पागडालु, पगडमु। फा०-मिरजान, मिरगां, मिरजां, मरजान्। अ०-एहेम खुसुद, कोरल, वसद। पं०, मा०-मूगा। कं०-हवलवु। द्रा०-पवलं। अं०-Red coral (रेड कोरल)। ले०-*Coralium rubrum* (कारेलिय रुब्रम)।

मूंगे का वृक्ष झाडदार होता है और इसकी माला बना कर गले में पहनते हैं। जो मूंगा अत्यन्त लाल हो और अपने रङ्ग को न बदले वह उत्तम अन्यथा त्याज्य है।

असली मूंगे की उत्पत्ति—एक प्रकार के समुद्री कीडे से है। इन कीडों को अङ्गरेज विद्वान् Corallum (कोरैलम) कहते हैं। यह प्रायः अमेरिका, अफ्रिका, लाल सागर, परसियन गल्फ, इण्डियन ओशन में अधिकतर पाया जाता है। यह फ्लोरीडा में भी उत्पन्न होता है।

मूंगे के कीड़े एक प्रकार की खोल बनाते हैं जिसमें वे रह कर शाखान्वित मूगे को उत्पन्न करते हैं। मूगे की जड मधुमक्खियों के छत्ते के समान दीख पडती है। यह लालिमा युक्त सफेद तथा काले रङ्ग की होती है। प्रायः यूनानी हकीम इसको अधिक उपयोग में लाते हैं। इसको 'वेखमिरजा' कहते हैं।

असली मूंगा पके हुए कुँदरू फल के समान रक्तवर्ण, गोल, स्निग्ध, वक्रभाव से रहित, छिद्ररहित और तौल में भारी होता है। पत्थर पर रगडने से भी इसकी कान्ति नहीं बदलती बल्कि यह लाल ही रहता है।

शङ्ख और सिंगरफ को मिला खमीर बना करके **नकली मूंगा** तैयार कर लेते हैं और मुर्गी के अण्डों की सफेदी तथा सिंगरफ से भी नकली मूगा तैयार करते हैं।

मूंगे की शाखायें टेढी-मेढी लाल रङ्ग की होती हैं, मोटी शाखाओं से मूंगा तैयार करते हैं और पतली शाखायें रद्दी रूप से बाजार में बिकती हैं। मूगा महंगा होने के कारण प्रायः वैद्यलोग मूगा की शाखाओं को ही उपयोग में लाते हैं॥ ५१॥

अथ रत्नानां गुणानाह

रत्नानि भक्षितानि स्युर्मधुराणि सराणि च । चक्षुष्याणि च शीतानि विषघ्नानि घ्नानि च ॥
मङ्गल्यानि मनोज्ञानि ग्रहदोषहराणि च ॥ १८७ ॥

रत्नों के गुण—पूर्वोक्त रत्नों की भस्म खाने पर मधुर रसयुक्त, सारक, नेत्रों के लिये हितकर, शीतल तथा विषनाशक होती है और रत्न धारण करने पर मङ्गलदायक, सुन्दरता को बढाने वाले तथा ग्रहसम्बन्धी दोषों को दूर करने वाले होते हैं ॥ १८७ ॥

किं रत्नं कस्य ग्रहस्य प्रीतिकारित्वेन दोषहरं भवतीति प्रश्ने तदुत्तरमाह, रत्नमालायाम्—

माणिक्यं तरणेः सुजातममलं मुक्ताफलं शीतगो-
र्माहेयस्य तु विद्रुमो निगदितः सौम्यस्य गारुत्मतम् ।
देवेज्यस्य च पुष्परागमसुराचार्यस्य वज्रं शने-
र्नीलं निर्मलमन्ययोर्निगदिते गोमेदवैदूर्यके ॥ १८८ ॥

'कौन रत्न किस ग्रह की प्रसन्नता उत्पन्न करने से उसके दोष को दूर करने वाले होते हैं' इस प्रश्न का उत्तर 'रत्नमाला' में इस प्रकार दिया हुआ है:—

मानिक—सूर्य का, अच्छी जाति का निर्मल **मोती**-चन्द्रमा का, **मूंगा**—मङ्गल का, **पन्ना**-बुध का, **पोखराज**-बृहस्पति का, **हीरा**-शुक्र का, निर्मल **नीलम**-शनि का, **गोमेद** और **लहसुनिया** क्रम से राहु तथा केतु के रत्न कहे हुए हैं । अतः इनके धारण करने से ग्रहों के दोष दूर होते हैं ॥

अथोपरत्नानि ।

तेषां निरूपणमाह

उपरत्नानि काचश्च कर्पूराश्मा तथैव च । मुक्ता शुक्तिस्तथा शङ्ख इत्यादीनि बहून्यपि ॥१८९॥

उपरत्नों का निरूपण—काच, कर्पूरनिया, सीप तथा शंख इत्यादि बहुत से उपरत्न हैं ॥१८९॥

*** उपरत्नानि = गौणरत्नानि । कर्पूराश्मा = कर्पूरा, कर्पूरनिया । मुक्ताशुक्तिः = 'सीप' इति लोके प्रसिद्धा ॥ १८९ ॥**

यहाँ 'उपरत्न' से गौणरत्न, 'कर्पूराश्मा' से कर्पूरा या कर्पूरनिया और 'मुक्ताशुक्ति' से 'सीप' अर्थ समझना चाहिये ॥ १८९ ॥

अथ तेषां गुणानाह

गुणा यथैव रत्नानामुपरत्नेषु ते तथा । किन्तु किञ्चित्ततो हीना विशेषोऽयमुदाहृतः ॥१९०॥

उपरत्नों के गुण—जिस प्रकार रत्नों में गुण होते हैं उसी प्रकार वे ही गुण उपरत्नों में भी होते हैं । विशेषता यह है कि रत्नों की अपेक्षा इसमें स्वल्प गुण होते हैं ॥ १९० ॥

(उपरत्न)

५२ वैक्रान्तमणि

हि०-वैक्रान्त, वैक्रान्तमणि, गोनस, गोनास । **व०**-चुनि विशेष ।

जब महिषासुर और देवताओं में घोर युद्ध हुआ तब भगवती के वज्र मारने से उस दैत्य की देह से जहां जहां पृथ्वी और पर्वतादिकों में रुधिर गिरा वहां वहां हीरा के समान वैक्रान्तमणि प्रकट हुआ । देवताओं ने इसकी वज्र संज्ञा की । यह विन्ध्याचल के दक्षिण भाग में तथा उत्तर में सर्वत्र मिलता है । यह लोहे को विकृत करता है इसलिये इसको वैक्रान्त कहते हैं । महिषासुर को वज्र से मारे जाने पर जो उसके मस्तक के रुधिर से बना वह ब्राह्मण वर्ण, भुजा से क्षत्रिय वर्ण, नाभि से वैश्य वर्ण और पैर के रुधिर से शूद्र वर्ण का वैक्रान्त प्रकट हुआ ।

आठ कोने, आठ पहल और छः कोने छः पहल वाला, चमचमाहट युक्त, भारी, चिकना,

शुद्ध और मिश्रित वर्णवाला वैक्रान्त उत्तम होता है। सफेद, लाल, पीला, कबूतर के समान वर्ण वाला, मोर के कंठ के समान नीली कान्तिवाला, श्यामवर्ण वाला और चितकबरा, इन रङ्गों के भेद से वैक्रान्त आठ प्रकार का होता है। **काला** वैक्रान्त शरीर को अजर-अमर करने वाला है। **पीला** सोना आदि बनाने के काम में आता है। **सफेद** से चांदी बनायी जाती है। **लाल** और **मरकतमणि** के समान वर्ण वाले वैक्रान्त को शरीर में धारण करने से सम्पूर्ण अर्थसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। शेष **नीला** और **कबूतर** के समान वर्ण वाले वैक्रान्त निष्फल होते हैं इसलिये उनको नहीं ग्रहण करना चाहिये।

इस समय के कितने वैद्य तुरमली को वैक्रान्त कहते हैं। तुरमली काश्मीर प्रान्त का पदर स्थान, जङ्गस्कर, बिहार के हजारीबाग और ब्रह्मदेश में अच्छी तुरमली मिलती है। कावेरी नदी की रेत में भी इसके कभी-कभी टुकड़े पाये जाते हैं।

वैसे तो तुरमली काली, लाल, नीली, हरी, पीली, पिंगल, गुलाबी, मोतिया, धानी कई प्रकार की देखी जाती है परन्तु जो काश्मीर प्रान्त से आती है वह बहुधा हरी, धानी, नीले वर्ण की ही होती है। इसी प्रकार हजारीबाग में प्राप्त होने वाली तुरमली का वर्ण भी हरा, नीला ही होता है। कहीं कहीं पिंगल वर्ण की भी मिलती है। इससे भिन्न और वर्ण की इस देश में नहीं देखी गयी। हाँ, ब्रह्मा में कई वर्ण की निकलती है। फिर भी शुभ्र नहीं मिलती। तुरमली एक समान अठपहलू या षट् पहलू नहीं होती बल्कि छोटे छोटे टुकड़े भिन्न भिन्न आकार के देखे जाते हैं और कोई कोई पहलदार भी होती है परन्तु इसके पहल कृत्रिम से होते हैं। काश्मीरी तुरमली कुछ कुछ षट् पहलू होती है। परन्तु स्पष्टरूप से यह षट् पहलू या अठपहलू नहीं दीख पड़ती। कोई कोई विद्वान् स्फटिक मणि अर्थात् बिल्लौर को ही वैक्रान्त मणि मानते हैं॥ ५२॥

५३ बिल्लौर

हि०-बिल्लौर, फटिकमणि, स्फटिकमणि। **बं०**-फटिक। **म०**-स्फटीक। **अ०**-हजरूल् बिल्लौर।

बिल्लौर एक प्रकार का सफेद पत्थर काँच के समान चिकना होता है और स्वाद में फीका होता है। बिल्लौर काश्मीर, कुल्लू, शिमला, स्पिती आदि उत्तरीय प्रान्तों में पाया जाता है। इससे भिन्न सतपुरा पहाड, विन्ध्याचल पर्वत श्रेणी के उत्तर-दक्षिण हर एक ओर मिलता है। यह प्रायः कांचवत् शुभ्र पारदर्शक होता है। जिन जगहों से शुभ्र बिल्लौर मिलता है वहाँ ही दूधिया रङ्गदार बिल्लौर भी पाया जाता है। काला, गुलाबी, हरा, भूरा, बैंगनी, धानी आदि कई प्रकार का देखा जाता है। प्रत्येक वर्ण का बिल्लौर हर प्रान्त में थोडा बहुत पाया जाता है। साफ, सफेद, दूधिया तो बहुत मिलता है।

हर प्रकार के बिल्लौर की बनावट पहलूदार होती है। उन्नत भाग प्रायः षट् पहलू या अठ-पहलू होता है। तल भाग जो किसी बिल्लौरी पत्थर से जुड़ा रहता है वह बिना पहलू बेडौल भी होता है। इसके छोटे छोटे स्वच्छ षट् पहलू, अठ पहलू आदि पहलुओं का रूप हीरे की कनियों से मिलता है और धूप में वैसा ही चमकता है जैसा कि हीरा चमकता है॥ ५३॥

५४ काँच

हि०-काच, काच, शीशा, ग्लास। **सं०**-काच, कृत्रिम रत्न। **म०**-काच। **बं०**-कांच, कांच। **फा०**-आबगीना। **गु०**-काच। **अं०**-Glass (ग्लास)। **लै०**-*Glesum* (ग्लेसम)।

काँच—वही शीशा है जिसकी चूड़ी आदि बनाई जाती है॥ ५४॥

५५ सूर्यकान्त मणि

हि०-आतमी शीशा (सीसा), सूर्यकान्त, चकमक शीशा। **बं०**-आतम पाथर, आतम पत्थर। **म०**-सूर्यकान्त मणि। **गु०**-अगन चश मानो काच। **अं०**-Magnifying glass (मैग्निफाइङ्ग ग्लास)।

चिकना, व्रणरहित, निस्तुष, घिसने से आकाश के समान स्वच्छ, सूर्य की किरणों में रखने से जल उठे उसको जातिवेश सूर्यमणि कहते हैं।

यह एक प्रकार का शीशा है जो सूर्य की किरणों से अग्नि प्रकट करता है और मनुष्य शरीर के ताप को सहन करता है। इसने थोड़ी ओस कभी आग पड़ती है ॥ ५५ ॥

५६ चन्द्रकान्त मणि

चन्द्रकान्तमणि—इस नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह चिकना और सफेद होता है। नाम मात्र से मुनीश्वरों के अन्तःकरण में शान्ति प्राप्त होती है। जिससे चन्द्रमा की किरणों से अमृत-जल टपके वही असली चन्द्रकान्त मणि है। यह इस युग में दुर्लभ है ॥ ५६ ॥

५७ फिरोजा

हिं०-फिरोजा, पिरोजा, पेरोजा। सं०-पेरोज। बं०-हरितनील पत्थर, पेरोजा। गु०-पीरोजा, पीरोजो। पं०-फिरोजा। म०-पेरोज। अं०-Turkois (टर्कोयज)। ले०-*Terchesins turchina* (टेर्चेसिन्स टरचाइना)।

फिरोजा पत्थर दो प्रकार का होता है, एक असली और दूसरा नकली। इसके नग बनाये जाते हैं। यह चमकीला होता है और बैंगनी रङ्ग का भी पाया जाता है ॥ ५७ ॥

५८ मोती की सीप

हिं०-सीप, शीप, मोती की सीप। सं०-शुक्ति, मुक्ताशुक्ति, मुक्तागृह। बं०-झिनुक। पं०-सीप। म०-मोत्यांची शिंप, मोती सीप। गु०-मोतीनी छीप। क०-मुत्तिनसिंपु। मा०-सीपटी। फा०-गोशमाही। अ०-सदफ। अं०-(१) Oyster shell (ओयस्टर शेल)। (२) Shell fish (शेल फिश)।

मोती की सीप—एटलांटिक महासागर और भारत के समुद्र में पाई जाती है। यह भारत के दक्षिण तट पर तथा सिलोन के तट पर भी मिलती है।

इसको कुछ गरम जलवायु की आवश्यकता होती है और बहुधा यह कम गहरे समुद्र में रहती है। बसरे की मोती की सीप अच्छी समझी जाती है। जिस झील व समुद्र का जल मीठा रहता है वहाँ की मोती की सीप खाने के लिये बहुत उपयोगी होती है।

मोती की सीप कई आकार-प्रकार की होती है। इनमें दो मुख्य हैं, एक बिल्कुल गोलाईयुक्त चौड़ी और दूसरी कणिका की भांति होती है। इनमें दूसरी औषधि के काम में विशेष उपयोगी है। जिसका भीतर का पर्त्त बिल्कुल साफ न हो किन्तु फुन्सियों के समान उभारों से भरा हो ऐसी मुक्ताशुक्ति उत्तम होती है। चौड़े आकार वाली मोती की सीप से चाकू, छुरियों के दस्ते, छतरियों और छड़ियों के मुट्ठे, सिगरेट केश और बटन इत्यादि बनाये जाते हैं और कणिका के आकार वाली से नकली मोती बनाते हैं। कणिका के अभाव में चौड़े मुखवाली मोती की सीप को औषधि के काम में लेते हैं किन्तु यह हीन गुणवाली होती है ॥ ५८ ॥

५९ जलसीप

हिं०-जलसीप, नदीसीप, सितुहा, सितुही। सं०-जलशुक्ति। बं०-शामुक। म०-नदीतील शिंप। गु०-नदीनां छिपनां। क०-तीरेय सिंपु। अं०-Sell (शेल)।

जलसीप—प्रायः सब प्रान्तों के पुराने तालावों में, नहरों के किनारे और चौड़े तथा धान की खेतों आदि सजल स्थानों में पाई जाती है। यह ४-६ अङ्गुल लम्बी और बीच में गहरी होती है। इसको संग्रह कर धूप में सुखाने से इसके भीतर वाले कीड़े मर जाते हैं, मांस सूख जाता है और दोनों दल पृथक् हो जाते हैं। झील आदि का पानी सूखने पर वे आपही आप मर जाते हैं ॥५९॥

अथ विषम्

तस्य नामभेदानाह

विषं तु गरलः क्ष्वेडस्तस्य भेदानुदाहरे। वत्सनाभः सहारिद्रः सक्तुकश्च प्रदीपनः॥
सौराष्ट्रिकः शृङ्गिकश्च कालकूटस्तथैव च। हालाहलो ब्रह्मपुत्रो विषभेदा अमी नव॥ १९१॥

विषके संस्कृत नाम—विष (नपुंसकलिङ्गी), गरल तथा क्ष्वेड ये सब हैं। भेद-१ वत्सनाभ, २ हारिद्र, ३ सक्तुक, ४ प्रदीपन, ५ सौराष्ट्रिक, ६ शृङ्गिक, ७ कालकूट, ८ हालाहल, ९ ब्रह्मपुत्र ये ९ भेद स्थावर विष के होते हैं ॥ १९१ ॥

तत्र वत्सनाभः। तस्य स्वरूपनिरूपणमाह

सिन्दुवारसदृक्पत्रो वत्सनाभ्याकृतिस्तथा। यत्पार्श्वे न तरोर्वृद्धिर्वत्सनाभः स भाषितः॥१९२॥

वत्सनाभ विष—जिसके पत्ते संभालू के पत्तों के समान हों तथा आकार बछड़े की नाभि के समान हो और जिसके नजदीक दूसरे वृक्षों की वृद्धि न हो सकती हो उसे 'वत्सनाभ' विषका वृक्ष समझना चाहिये ॥ १९२ ॥

विषवर्ग।

६० वत्सनाभ

हिं०-वत्सनाभ विष, वत्सनाग, अमृतविष, मीठा विष, वच्छनाग, वचनाग, मीठा तेलिया, तकरा। **बं०**-कट विष, मीठा विष, अमृत विष, विष। **म०**-बचनाग। **गु०**-बच्छनाग, छिंगडियो। **क०**-वमनबी। **ते०**-नाभि, वसनाभि। **पं०**-सिंगिया विष। **मा०**-सिंगी मोरो। **द्रा०, क०**-वत्सनाभि। **अं०**-Aconite (एकोनाइट)। **ले०**-*Aconitum ferox* (एकोनाइटम फेरोक्स)।

शास्त्रकारों ने कहा है कि जिसके पत्ते-सम्भालू के समान, आकार बछड़े की नाभि के समान और जिसके समीप के अन्य वृक्षों की वृद्धि न हो वही वत्सनाभ विष है। परन्तु आजकल के वत्सनाभ का आकार बछड़े की नाभि के समान नहीं होता बल्कि गाजर के आकार वाला गौदुम होता है।

यह हिमालय की चोटियों पर नेपाल में तथा सिक्कम से गढ़वाल तक उत्पन्न होता है। इसका क्षुप-१-१॥ हाथ ऊँचा होता है। पत्ते-गोलाकार-५-७ भागों में विभक्त और कंगूरेदार होते हैं और डण्डी पर विषमवर्ती रहते हैं। वसन्त ऋतु के प्रारम्भ में जब तक वृक्ष पर पत्ते न आये हों जड को खोद कर सुखा लेते हैं। यह १ इञ्च से ४ इञ्च लम्बी, ऊपर की ओर जहाँ शाखाओं के निशान होते हैं आधे से पौन इञ्च या एक इञ्च तक मोटी गौदुम, सीधे बल में झुर्रीदार और उस पर टूटे हुए रेशे या उनके चिन्ह होते हैं। ऊपर से कालापन लिये भूरे रङ्ग की और भीतर से सफेद रङ्ग की होती है। इसमें गन्ध नहीं होती और स्वाद में पहले मीठी और फिर कुछ कड़वी जान पडती है। चबाने से थोड़ी देर के बाद चिनचिनाहट और सुन्नता मालूम होती है और कुछ समय तक बनी रहती है।

जिसको मीठा तेलिया कहते हैं वह प्रायः कृत्रिम होता है। उस वत्सनाभ या श्वेत वत्सनाभ को त्रिफले के काढ़े और तेल में पकाकर बनाते हैं। यह काले रङ्ग का तेल में भींगा सा रहता है॥

अथ हारिद्रः। तस्य स्वरूपनिरूपणमाह

हरिद्रातुल्यमूलो यो हारिद्रः स उदाहृतः ॥ १९३ ॥

हारिद्र विषका स्वरूप—हल्दी के तुल्य जिसकी जड़ हो उसे 'हारिद्र विष' कहते हैं ॥ १९३ ॥

६१ हारिद्र विष

हिं०-हलदिया विष, हलदुआ विष। **सं०**-हारिद्रविष, हरिद्रकविष, ग्रन्थिविष।

हारिद्र विष-हल्दी की गाँठ के समान और काले रग का होता है और किसी किसी मत से हल्दी के रग का होता है। इसकी जड व नोक गोल और बडी, भीतरी भाग पीला, पोरिये चिकनी और कञ्चुक व्याप्त होते हैं। यह विष महा भयङ्कर होता है॥ ६१ ॥

अथ सक्तुकः। तस्य स्वरूपमाह

यद्ग्रन्थिः सक्तुकेनेव पूर्णमध्यः स सक्तुकः ॥ १९४ ॥

सक्तुक का स्वरूप—जिसकी गाँठें भीतर से सत्तू के समान चूर्ण से युक्त हों वह 'सक्तुक' विष कहलाता है ॥ १९४ ॥

६२ सक्तुक विष

सक्तुक—एक भयानक प्राणघातक विष है। इसका कन्द जड से ऊपर तक गोल, अधिक छालवाला, भीतर का भाग पीला, गांठ चिकनी, ऊपर कांटे और हल्दी के समान पीला होता है।

किसी के मत से सक्तुक विष सत्तू के समान, चित्रवर्ण, कमल कन्द के आकार का और सहज में पिस जाने वाला है ॥ ६२ ॥

अथ प्रदीपनः। तस्य स्वरूपमाह

वर्णतो लोहितो यः स्याद्दीप्तिमान् दहनप्रभः। महादाहकरः पूर्वैः कथितः स प्रदीपनः॥

प्रदीपन विष का स्वरूप—जिसका वर्ण लाल हो तथा जो अग्नि के समान कान्ति वाला एवं अत्यन्त दाहकारक हो उसे 'प्रदीपन विष' कहा है ॥ १९५ ॥

६३ प्रदीपन विष

प्रदीपन नामक स्थावर विष अग्नि के समान लाल रंग का होता है। यह अत्यन्त दीप्तिमान्, अग्नि के समान प्रभाव वाला तथा महा दाह करने वाला होता है। किसी आचार्य का मत है कि प्रदीपन विष का कन्द हरे रंग का होता है और इसको सूंघने से महामारी रोग हो जाता है ॥६३॥

अथ सौराष्ट्रिकः। तस्य स्वरूपमाह

सुराष्ट्रविषये यः स्यात्स सौराष्ट्रिक उच्यते ॥ १९६ ॥

सौराष्ट्रिक विष का स्वरूप—सुराष्ट्र (सोरठ) देश में जो उत्पन्न होने वाला विष है उसे 'सौराष्ट्रिक कहते हैं ॥ १९६ ॥

६४ सौराष्ट्रिक विष (सौराष्ट्र)

सौराष्ट्र देश में उत्पन्न होने वाले विष को सौराष्ट्र विष कहते हैं। अहमदाबाद-काठियावाड के समीप वाले प्रान्त को सौराष्ट्र (सोरठ) कहते हैं ॥ ६४ ॥

अथ शृङ्गिकः। तस्य स्वरूपमाह

यस्मिन् गोशृङ्गके बद्धे दुग्धं भवति लोहितम्। स शृङ्गिक इति प्रोक्तो द्रव्यतत्त्वविशारदैः॥

शृङ्गिक का स्वरूप—द्रव्यों के तत्त्व को जानने वाले पण्डितों ने उसे 'शृङ्गिक' विष कहा है—जिसे गौ के सींग में बांध देने से उसका दूध लाल वर्ण हो जाता हो ॥ १९७ ॥

६५ शृङ्गिक विष

हि०-शिंगिया, सिंधिया विष, सिंगी मुहरा, सिंघी मोहरा।

इसको गाय के सींग में बांधने से उसका दूध लाल रङ्ग का उतरता है। जिसके कन्द के सूंघने से नाक से रुधिर निकले और वह गौ के थनों के समान छोटा हो उसे रक्तशृङ्गिक कहते हैं ॥६५॥

अथ कालकूटः। तस्योत्पत्तिं स्वरूपञ्चाह

देवासुररणे देवैर्हतस्य पृथुमालिनः। दैत्यस्य रुधिराज्जातस्तरुरश्वत्थसन्निभः॥
निर्यासः कालकूटोऽस्य मुनिभिः परिकीर्त्तितः। सोऽहिच्छत्रे शृङ्गवेरे कोङ्कणे मलये भवेत्॥

कालकूट विष का उत्पत्तिस्थान—देवता तथा असुरों के युद्ध में जब देवताओं ने पृथुमाली नामक दैत्य को मारा तब उसके रुधिर से जो पीपल के समान वृक्ष उत्पन्न हुआ, उसी के गोंद को मुनियों ने 'कालकूट' कहा है। वह अहिच्छत्र, शृङ्गवेर तथा कोंकण देश में उत्पन्न होता है ॥१९८॥

६६ कालकूट विष

ते०—कर्कोटक विषमु।

कालकूट विष—मालावार, कोंकण, अहिच्छत्र, शृङ्गवेर आदि प्रान्तों में उत्पन्न होता है। इसका कन्द काले रङ्ग का गोल जम्भीरी नींबू के समान होता है। इसको सूंघने तथा स्पर्श करने से ही प्राण का नाश हो जाता है। कहते हैं कि जब देवताओं और राक्षसों में युद्ध होने पर पृथुमाली नामक दैत्य मारा गया तो उसके रुधिर से पीपल वृक्ष के समान कालकूट उत्पन्न हुआ। इस वृक्ष के गोंद को कालकूट विष कहते हैं ॥ ६६ ॥

अथ हालाहलः । तस्य स्वरूपमुत्पत्तिं चाह

गोस्तनाभफलो गुच्छस्तालपत्रच्छदस्तथा । तेजसा यस्य दह्यन्ते समीपस्था द्रुमादयः ॥
असौ हालाहलो ज्ञेयः किष्किन्धायां हिमालये । दक्षिणाब्धितटे देशे कोङ्कणेऽपि च जायते ॥

हालाहल विष का स्वरूप—जिसके फलों के **गुच्छे**-दाख के फलों के गुच्छों के समान हों तथा **पत्ते**-ताड के पत्तों के समान हों एवं जिसके तेज से समीप के पेड जल जाते हों, उसे **'हालाहल'** विष समझना चाहिये । यह किष्किन्धा, हिमालय पर्वत, दक्षिण समुद्रतट के देश तथा कोंकण में उत्पन्न होता है ॥ १९९ ॥

६७ हालाहल (हलाहल) विष

हलाहल—नामक महाभयकर विष किष्किन्धापुर, हिमालय पहाड़, दक्षिण समुद्र के किनारों के देशों में और कोंकण प्रान्त में उत्पन्न होता है । इसका **वृक्ष**-ताड के वृक्ष के समान और **पत्ते** भी ताड के पत्तों के समान तथा फल दाख के गुच्छों के समान गुच्छेदार होते हैं । इसके तेज से आसपास से सब वृक्ष जल जाते हैं ॥ ६७ ॥

अथ ब्रह्मपुत्रः । तस्य स्वरूपमाह

वर्णतः कपिलो यः स्यात्तथा भवति सारतः । ब्रह्मपुत्रः स विज्ञेयो जायते मलयाचले ॥

ब्रह्मपुत्र विष का स्वरूप—जिसका वर्ण कपिल रङ्ग का हो तथा जिसका सार भाग भी कपिल वर्ण का हो उसे 'ब्रह्मपुत्र विष' जानना चाहिये । यह मलय पर्वत पर उत्पन्न होता है ॥ २०० ॥

६८ ब्रह्मपुत्र विष

ब्रह्मपुत्र विष—मलयाचल पर्वत में उत्पन्न होता है । इसका **कन्द**-कपिल वर्ण का तथा सारभाग भी कपिल होता है ॥ ६८ ॥

अथ विषस्य लक्षणोपयोगसहितान् भेदानाह

ब्राह्मणः पाण्डुरस्तेषु क्षत्रियो लोहितप्रभः । वैश्यः पीतोऽसितः शूद्रो विष उक्तश्चतुर्विधः ॥
रसायने विषं विप्रं क्षत्रियं देहपुष्टये । वैश्यं कुष्ठविनाशाय शूद्रं दद्याद्वधाय हि ॥ २०२ ॥

विष के भेद—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये ४ भेद विष के हैं। उनके लक्षण—इनमें **ब्राह्मण** जाति का विष पाण्डुर (श्वेत) वर्ण का, **क्षत्रिय** जाति का विष रक्तवर्ण का, **वैश्य** जाति का विष पीले वर्ण का तथा **शूद्र** जाति का विष काले वर्ण का होता है ।

उपयोग—ब्राह्मण जाति का विष रसायन के कार्य में, क्षत्रिय जाति का विष शरीर को पुष्ट करने के लिये, वैश्य जाति का विष कुष्ठ दूर करने के लिये और शूद्र जाति का विष वध करने के कार्य में उपयोगी होता है ॥ २०१-२०२ ॥

अथ विषस्य दुर्गुणानाह

विषं प्राणहरं प्रोक्तं व्यवायि च विकाशि च । आग्नेयं वातकफहृद्योगवाहि मदावहम्॥२०३॥

विष के दुर्गुण—विष प्राणनाशक, व्यवायी, विकाशी, आग्नेय, वात तथा कफ नाशक, योगवाही तथा मदावह होता है ॥ २०३ ॥

***व्यवायि = सकलकायगुणव्यापनपूर्वकं पाकगमनशीलम् । विकाशि = ओजःशोषपूर्वकं सन्धिबन्धशिथिलीकरणशीलम् । आग्नेयम् = अधिकाग्न्यंशम् । योगवाहि = सङ्गिगुणग्राहकम् । मदावह = तमोगुणाधिक्येन बुद्धिविध्वंसकम् ॥ २०३ ॥**

यहाँ 'व्यवायि' का 'प्रथम सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर तत्पश्चात् पचने वाला' और 'विकाशि' पद का 'शरीर में स्थित ओज को सुखाता हुआ सारे सन्धिबन्धनों को शिथिल करने वाला', 'आग्नेयम्' पद का 'अधिक अग्नि के अंश से युक्त', 'योगवाहि' पद का 'अपने साथी के गुणों को उत्तेजित करने वाला' और 'मदावहम्' पद का 'तमोगुण की अधिकता से बुद्धि का विध्वंस करने वाला' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २०३ ॥

अथ शोधितविषस्य गुणानाह

तदेव युक्तियुक्तं तु प्राणदायि रसायनम् । योगवाहि त्रिदोषघ्नं बृंहणं वीर्यवर्द्धनम् ॥ २०४ ॥

शुद्ध विष के गुण—यदि पूर्वोक्त विषों को युक्तियुक्त करके अर्थात् शास्त्रानुकूल शुद्ध करके खाया जाय तो वे ही प्राण-शक्ति को बढाने वाले, रसायन (जरा अपमृत्यु को दूर करने वाले), योगवाही, त्रिदोषनाशक, बृंहण (रस, रक्तादि वर्धक) एवं वीर्यवर्धक हो जाते हैं ॥ २०४ ॥

अथ विषशोधनस्यावश्यकतामाह

ये दुर्गुणा विषेऽशुद्धे ते स्युर्हीना विशोधनात् । तस्माद्विषं प्रयोगेषु शोधयित्वा प्रयोजयेत् ॥

विषों के शोधने की आवश्यकता—जो दुर्गुण अशुद्ध (बिना शोधे हुए) विष में कहे हुये हैं, वे सब शोधन करने से अत्यन्त कम हो जाते हैं । अतः ओषधियों में विष को शोधन करके ही प्रयोग करना उचित है ॥ २०५ ॥

अथोपविषाः

तेषां निरूपणमाह

अर्कक्षीरं स्नुहीक्षीरं लाङ्गली करवीरकः । गुञ्जाऽहिफेनो धत्तूरः सप्तोपविषजातयः ॥ २०६ ॥

उपविषों का निरूपण–१ मदार का दूध, २ थूहर का दूध, ३ लाङ्गली (कलिहारी), ४ कनेर, ५ घुघुची, ६ अफीम, ७ धतूर ये सात उपविष की जातियाँ हैं ॥ २०६ ॥

***उपविषाः=गौणविषाः । एषां गुणास्तत्र तत्र द्रष्टव्याः ।**

'उपविष' का अर्थ यहाँ 'गौणविष' समझना चाहिए । इन सब के गुण जहाँ जहाँ उल्लिखित हों वहाँ वहाँ देख लें, जैसेः—

आक के	दूध का गुण	गुडूच्यादिवर्ग
थूहर के	"	"
कलिहारीका	गुण	"
कनेर का	"	"
धतूरा का	"	"
गुञ्जा का	"	"
अफीम का	"	हरीतक्यादिवर्ग

इन सब स्थानों पर देख लें ॥ २०६ ॥

६९ उपविष

१–आक, २–थूहर, ३–कलिहारी (लाङ्गली), ४–कनेर, ५–घुघुची और ६–धतूरा इनके वर्णन गुडूच्यादि वर्ग में तथा अफीम का हरीतक्यादि वर्ग में किया गया है ॥ ६९ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे
वर्गप्रकरणेऽष्टमो धात्वादिवर्गः समाप्तः ॥ ८ ॥



अथ धान्यवर्गः

तत्र धान्यानां भेदाः । तानाह

शालिधान्यं व्रीहिधान्यं शूकधान्यं तृतीयकम् । शिम्बीधान्यं क्षुद्रधान्यमित्युक्तं धान्यपञ्चकम् ॥

धान्यों के भेद—१ शालिधान्य, २ व्रीहिधान्य, ३ शूकधान्य, ४ शिम्बीधान्य, ५ क्षुद्रधान्य ये पाँच भेद हैं ॥ १ ॥

अथ शाल्यादीनां भेदानाह—

शालयो रक्तशाल्याद्या व्रीहयः षष्टिकादयः । यवादिकं शूकधान्यं मुद्गाद्यं शिम्बिधान्यकम् ॥
कङ्ग्वादिकं क्षुद्रधान्यं तृणधान्यञ्च तत्स्मृतम् ॥ २ ॥

शालिधान्यादि के भेद—शालिधान्य के रक्तशालि (लाल चावल) आदि, व्रीहिधान्य के षष्टिक (साठी) आदि, शूकधान्य के जौ आदि, शिम्बीधान्य के मूँग आदि तथा क्षुद्रधान्य के कंगुनी आदि भेद हैं । क्षुद्रधान्य का नामान्तर तृणधान्य भी है ॥ २ ॥

१ धान्यवर्ग

ऐसे तो सभी प्रकार के अन्नों को 'धान्य' कहते हैं परन्तु आजकल सर्वसाधारण के बोलचाल में 'धान्य' (धान) शब्द कहने से तुषसहित चावल का ही बोध होता है । इस प्रकार तुषरहित धान को चावल और तुषसहित चावल को धान कहते हैं ।

धान्य

हि०-धान, चावल, चाउर । **बं०**-चाउल । **म०**-भात, साली, तांदुल । **गु०**-चोखा । **क०**-नेलु । **ते०**-धान्यमु, बीयमु । **फा०**-बिरंज । **अ०**-उरज़, उर्ज । **पं०**-चांवल । **अं०**-Rice (राइस) । **ले०**-*Oriza sativa* (ओरिजा साटिवा) ।

धान एक सर्वप्रसिद्ध अन्न है जिसको सब देश के लोग खाते हैं । यह सजल स्थान में उत्पन्न होता है । इसकी अनेक जातियाँ हैं ॥ १ ॥

अथ शालिधान्यम् , तस्य लक्षणमाह

कण्डनेन विना शुक्ला हैमन्ताः शालयः स्मृताः ॥ ३ ॥

शालिधान्य के लक्षण—बिना कूटे ही जो सफेद होते हों तथा हेमन्त ऋतु में उत्पन्न हों वे शालिधान्य (जडहन) कहलाते हैं ॥ ३ ॥

अथ शालयः (चावल) । तेषां जातिभेदेन नामान्याह

रक्तशालिः सकलमः पाण्डुकः शकुनाहृतः । सुगन्धकः कर्दमको महाशालिश्च दूषकः ॥ ४ ॥
पुष्पाण्डकः पुण्डरीकस्तथा महिषमस्तक । दीर्घशूकः काञ्चनको हायनो लोध्रपुष्पकः ॥ ५ ॥
इत्याद्याः शालयः सन्ति बहवो बहुदेशजाः । ग्रन्थविस्तरभीतेस्ते समस्ता नात्र भाषिताः ॥

शालि (चावलों) के जातिभेद से नाम—रक्तशालि, कलम, पाण्डुक, शकुनाहृत, सुगन्धक, कर्दमक, महाशालि, दूषक, पुष्पाण्डक, पुण्डरीक, महिषमस्तक, दीर्घशूक, काञ्चनक, हायन और लोध्रपुष्पक इत्यादि शालि (चावल) बहुत से देशों में उत्पन्न होने वाले अनेक प्रकार के होते हैं, जिनका यहाँ पर पूर्ण वर्णन ग्रन्थ के बढ जाने के भय से नहीं किया जा रहा है ॥ ४-६ ॥

अथ शालीनां गुणानाह

शालयो मधुराः स्निग्धा बल्या बद्धाल्पवर्चसः । कषाया लघवो रुच्याः स्वर्या वृष्याश्च बृंहणाः ॥
अल्पानिलकफाः शीताः पित्तघ्ना मूत्रलास्तथा ॥ ७ ॥

शालियों (अगहनी चावलों) के गुण—शालि मधुर तथा कषाय रसयुक्त, स्निग्ध, बलकारक, थोड़ी मात्रा में बँधे हुए मल को निकालने वाले, लघु, रुचिकारक, कण्ठस्वर को उत्तम बनाने वाले

वृष्य (वीर्यवर्धक), बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), किंचित् वात तथा कफ कारक, शीतल, पित्तनाशक और मूत्रल (मूत्र को अधिक मात्रा में उत्पन्न करने वाले) होते हैं ॥ ७ ॥

अथ दग्धमृज्जातशालिगुणानाह

शालयो दग्धमृज्जाताः कषाया लघुपाकिनः। सृष्टमूत्रपुरीषाश्च रूक्षाः श्लेष्मापकर्षणाः ॥ ८ ॥

जली हुई मिट्टी में उत्पन्न होने वाले शालि के गुण—जो शालि (अगहनी चावल)-जली हुई मिट्टी में उत्पन्न हुए हों वे कषाय रसयुक्त, लघुपाकी (शीघ्र पचने वाले), मूत्र तथा मल को निकालने वाले, रूक्ष तथा कफ का आकर्षण करने वाले अर्थात् बढ़े हुए कफ को कम करने वाले होते हैं ॥ ८ ॥

अथ कैदारजशालिगुणानाह

कैदारा वातपित्तघ्ना गुरवः कफशुक्रलाः। कषायाश्चाल्पवर्चस्का मेध्याश्चैव बलावहाः ॥ ९ ॥

केदार (जुते हुये खेत) में बोने से उत्पन्न हुए जो चावल होते हैं वे कषाय रसयुक्त, वात-पित्त नाशक, गुरु, कफ तथा शुक्र की वृद्धि करने वाले, थोडी मात्रा में मल को निकालने वाले, मेधाशक्ति के लिये हितकर तथा बलकारक होते हैं ॥ ९ ॥

***कैदाराः = कृष्टक्षेत्रजा उप्ताः ॥ ९ ॥**

'कैदार' पद से 'जुते हुए खेत में बोने से उत्पन्न हुये चावल' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ९ ॥

अथ स्थलजशालिगुणानाह

स्थलजाः स्वादवः पित्तकफघ्ना वातवह्निदाः। किञ्चित्तिक्ताः कषायाश्च विपाके कटुका अपि ॥

स्थलज शालि के गुण—स्थलज (विना जुती हुई भूमि में उत्पन्न हुये अर्थात् विना जोते बोये स्वयं उत्पन्न हुये) जो शालि होते हैं वे-स्वादिष्ट, पित्त तथा कफनाशक, वात तथा जठराग्निवर्धक, किंचित् तिक्त रसयुक्त, कसैले तथा विपाक में कटु रसयुक्त होते हैं ॥ १० ॥

***स्थलजाः = अकृष्टभूमिजाताः स्वयं जाताः ॥ १० ॥**

यहाँ 'स्थलज' पद से 'विना जुती हुई भूमि में स्वयं उत्पन्न हुये' यह अर्थ समझना चाहिये ॥

अथ वापितशालिगुणानाह

वापिता मधुरा वृष्या बल्याः पित्तप्रणाशनाः। श्लेष्मलाश्चाल्पवर्चस्काः कषाया गुरवो हिमाः ॥

वापित शालि के गुण—वापित शालि (अगहनी चावल) मधुर तथा कषाय रसयुक्त, वीर्यवर्द्धक, बलकारक, पित्तनाशक, कफजनक, थोडी मात्रा में मल को निकालने वाले, गुरु तथा शीतल होते हैं ॥ ११ ॥

***वापिताः = कृष्टक्षेत्रेऽकृष्टक्षेत्रे च ॥ ११ ॥**

यहाँ 'वापित' का अर्थ है जुते हुए या विना जुते हुए खेत में बोने से उत्पन्न हुए।

अथावापितशालिगुणानाह

वापितेभ्यो गुणैः किञ्चिद्धीनाः प्रोक्ता अवापिताः ॥ १२ ॥

अवापित शालि के गुण—वापित की अपेक्षा अवापित शालि गुणों में कुछ न्यून होते हैं ॥

***अवापिताः = कृष्टक्षेत्रेऽकृष्टक्षेत्रे वा ॥ १२ ॥**

'अवापित' पद का वापित की भाँति ही 'जुते तथा विना जुते खेत में विना बोने से उत्पन्न हुए (अगहनी चावल)' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १२ ॥

अथ नव-पुराण-रोपित-शालिगुणानाह

रोपितास्तु नवा वृष्याः पुराणा लघवः स्मृताः। तेभ्यस्तु रोपिता भूयः शीघ्रपाका गुणाधिकाः ॥

रोपण किये शालि (चावल) यदि नये हों तो वीर्यवर्धक और यदि पुराने हों तो लघु होते हैं और उन्हीं से पुनः रोपण किये हुए शालि शीघ्र पचने वाले तथा अधिक गुणकारी होते हैं ॥१३॥

अथ छिन्नरुढशालिगुणानाह

छिन्नरुढा हिमा रूक्षा बल्याः पित्तकफापहाः । बद्धविट्काः कषायाश्च लघवश्चाल्पतिक्तकाः ॥

जो काटने के पश्चात् पुनः उगे हुये शालि होते हैं वे शीतल, रूक्ष, बलकारक, पित्त तथा कफनाशक, मल को बाँधने वाले, कसैले, लघु तथा किञ्चित् तिक्त रसयुक्त होते हैं ॥ १४ ॥

२ शालिधान्य

हि०-शालिधान, बासमती चावल । **ब०**-शालिधान्य, शालिचाउल, हैमन्तिकधान्य, आमनधान्य । **गु०**-शाल्य । **यू०**-चावल मोगरा । **क०**-नेलु । **फा०**-विरज मोगरा । **म०**-सालि । **अ०**-उर्ज मोंजरा ।

बासमती चावल को कौन नहीं जानता ? इसी बासमती को शालिधान्य कहते हैं । अन्य चावल तुष छुडाने के बाद कूट कर साफ किया जाता है किन्तु यह बिना कूटे हुये सफेद रङ्ग का होता है । यह बहुत बारीक, अत्यन्त सुन्दर और उत्तम होता है ।

हैमन्तिक शालिधान्य अर्थात् हेमन्त ऋतु में होने वाले धान को ही अगहनी चावल कहते हैं । इसके बीज जेठ मास में जखीरा में बोये जाते हैं और आषाढ़ के अन्त तथा सावन महीने में जखीरा से उखाड कर सजल खेतों में रोपण किये जाते हैं और कातिक के अन्त से लेकर अगहन के अन्त तथा पौष के प्रथम पक्ष तक पकते हैं ।

अगहनी चावल—अनेक प्रकार का होता है । एक राढी आमन् और दूसरा वागडा आमन् राढ देश में इसका आबादी अधिक होने से इसको राढी आमन् कहते हैं परन्तु इसका संस्कृत नाम 'शालिधान्य' ही है ।

इसका **क्षुप** २-३ हाथ तक ऊचा होता है । **पत्ते**-साधारण धान के पत्तों के समान होते हैं, परन्तु उनसे कुछ कडे और चिकने होते हैं ।

राढी आमन् और वागरा आमन् दोनों ही छोटे बडे बीजों के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं । दोनों प्रकार के राढी तथा आमन् की प्रकृति एक समान होती है, केवल अन्तर इतना ही है कि छोटा पहले पकता है और बडा कुछ देर करके पकता है । दोनों प्रकार के वागरा धानों का आकार एक समान नहीं होता किन्तु दोनों एक साथ रोपण किये जाते हैं ।

अथ रक्तशालिः । तस्य गुणानाह

रक्तशालिर्वरस्तेषु बल्यो वर्ण्यस्त्रिदोषजित् । चक्षुष्यो मूत्रलः स्वर्यः शुक्रलस्तृड्ज्वरापहः ॥ १५ ॥
विषव्रणश्वासकासदाहनुद् वह्निपुष्टिदः । तस्मादल्पान्तरगुणाः शालयो महदादयः ॥ १६ ॥

रक्तशालि के गुण—रक्तशालि सभी शालिधान्यों में श्रेष्ठ होता है तथा बलकारक, शरीर के वर्ण को उत्तम करने वाला, त्रिदोषनाशक, नेत्रों के लिए हितकर, मूत्रजनक, कण्ठस्वर को उत्तम करने वाला, शुक्रजनक, जठराग्नि को पुष्ट करने वाला एवं तृषा, ज्वर, विष, व्रण, श्वास, कास तथा दाह को दूर करने वाला होता है । इसकी अपेक्षा महाशालि आदि जो दूसरे शालि (चावल) हैं वे स्वल्प गुण वाले होते हैं ॥ १५-१६ ॥

***रक्तशालिः 'दाउदखानी' इति लोके मगधदेशे प्रसिद्धः ॥ १५-१६ ॥**

यहाँ 'रक्तशालि' से मगध देश में 'दाउदखानी' नाम से प्रसिद्ध चावल समझना चाहिये ॥

३ रक्तशालि

हि०-लाल शालि, दादखानि, दाउदखानी चावल । **बं०**-दाउदखानि । **ते०**-एर्र निवर्ण गल धान्यमु । **ले०**-*Oriza sativa* (ओरिजा साटिवा) ।

बासमती चावल के समान दाउदखानी चावल भी प्रसिद्ध है । यह भी सजल खेतों में उत्पन्न होता है और पौधे के सब आकार साधारण धान्य के समान होते हैं । मगध में इसकी खेती अधिक होती है ।

अथ व्रीहिधान्यम् । तस्य लक्षणसहितान् भेदान् गुणाँश्चाह

वार्षिकाः कण्डिताः शुक्ला व्रीहयश्चिरपाकिनः । कृष्णव्रीहिः पाटलश्च कुक्कुटाण्डक इत्यपि ॥
शालामुखो जतुमुख इत्याद्या व्रीहयः स्मृताः । कृष्णव्रीहिः स विज्ञेयो यत्कृष्णतुषतण्डुलः ॥
पाटलः पाटलापुष्पवर्णको व्रीहिरुच्यते । कुक्कुटाण्डाकृतिर्व्रीहिः कुक्कुटाण्डक उच्यते ॥१९॥
शालामुखः कृष्णशूकः कृष्णतण्डुल उच्यते । लाक्षावर्णं मुखं यस्य ज्ञेयो जतुमुखस्तु सः ॥
व्रीहयः कथिताः पाके मधुरा वीर्यतो हिमाः । अल्पाभिष्यन्दिनो बद्धवर्चस्काः षष्टिकैः समाः ॥
कृष्णव्रीहिर्वरस्तेषां तस्मादल्पगुणाः परे ॥ २१ ॥

व्रीहिधान्य के लक्षण—जो चावल वर्षा ऋतु में पैदा होते हैं अर्थात् पक कर तैयार होते हैं, एवं ओखली में छाँटने से जो सफेद होते हैं तथा देर में पकते हैं वे व्रीहिधान्य कहलाते हैं। **व्रीहिधान्य के भेद**—कृष्णव्रीहि पाटल, कुक्कुटाण्डक, शालामुख और जतुमुख ये सब व्रीहिधान्य के भेद हैं। **कृष्णव्रीहि के लक्षण**—जिसकी भूसी तथा चावल दोनों काले हों वे 'कृष्णव्रीहि' कहलाते हैं। **पाटल (व्रीहि) के लक्षण**—जिसका रंग पाटला (पाढल) के पुष्पसदृश हो वह पाटल(व्रीहि) कहलाता है। **कुक्कुटाण्डक (व्रीहि) के लक्षण**—आकार में जो मुर्गे के अण्डे के समान होता है उसे कुक्कुटाण्डक (व्रीहि) कहते हैं। **शालामुख (व्रीहि) के लक्षण**—जिसके शूक (धान्य के मुख पर रहने वाला सूक्ष्म, लम्बा काँटा) तथा चावल दोनों कृष्णवर्ण के हों उसे शालामुख (व्रीहि) समझना चाहिये। **जतुमुख (व्रीहि) के लक्षण**—जिसका मुख लाख के सदृश लाल रङ्ग का हो उसे जतुमुख (व्रीहि) समझना चाहिये। **व्रीहिधान्य के गुण**—व्रीहिधान्य पाक में मधुर, शीतवीर्य, किञ्चित् अभिष्यन्दी, मल को बाँधने वाले, गुण में षष्टिक (साठी चावल) के समान होते हैं। इन व्रीहियों में कृष्णव्रीहि सर्वोत्तम होता है और इसकी अपेक्षा अन्य व्रीहिधान्य न्यून गुणवाले होते हैं ॥ १७-२१ ॥

४ व्रीहिधान्य

हि०-व्रीही धान, आशुधान, षष्टिकभेद, बोरोधान।

जो धान ज्येष्ठ, आषाढ मास में रोपण किये जाते हैं और श्रावण भादों तथा आश्विन मास तक पक कर काटने योग्य हो जाते हैं उन्हें व्रीहिधान्य कहते हैं। इसके पौधे साधारण धान के समान २-३ हाथ तक ऊँचे होते हैं ॥ ४ ॥

अथ षष्टिकाः (साठी चावल) । तेषां लक्षणमाह

गर्भस्था एव ये पाकं यान्ति ते षष्टिका मताः ॥ २२ ॥

षष्टिक (साठी चावल) के लक्षण—जो धान्य गर्भ में ही अर्थात् बिना फूटे ही पक जाते हैं, वे षष्टिक धान्य कहलाते हैं ॥ २२ ॥

अथ तेषां नामान्याह

षष्टिकः शतपुष्पश्च प्रमोदकमुकुन्दकौ । महाषष्टिक इत्याद्याः षष्टिकाः समुदाहृताः ॥
एतेऽपि व्रीहयः प्रोक्ता व्रीहिलक्षणदर्शनात् ॥ २३ ॥

षष्टिक (साठी धान्य) के भेद—षष्टिक, शतपुष्प, प्रमोदक, मुकुन्दक और महाषष्टिक ये सब षष्टिक के भेद हैं। ये भी व्रीहि कहलाते हैं क्योंकि इनमें व्रीहि के लक्षण-वर्षा ऋतु में पक कर तैयार होना आदि देखे जाते हैं ॥ २३ ॥

अथ तेषां गुणानाह

षष्टिका मधुराः शीता लघवो बद्धवर्चसः । वातपित्तप्रशमनाः शालिभिः सदृशा गुणैः ॥२४॥

सामान्यरूप से षष्टिक धान्य के गुण—सभी षष्टिकधान्य मधुर, शीतल, लघु, मल को बाँधने वाले, वात तथा पित्त को शमन करने वाले और गुणों में शालिधान्य के सदृश होते हैं ॥ २४ ॥

तत्र षष्टिकाया गुणानाह

षष्टिका प्रवरा तेषां लघ्वी स्निग्धा त्रिदोषजित् ॥ २५ ॥
स्वाद्वी मृद्वी ग्राहिणी च बलदा ज्वरहारिणी । रक्तशालिगुणैस्तुल्या ततः स्वल्पगुणाः परे

षष्टिक (साठी) धान्य के गुण—षष्टिक धान्य सभी धान्यों में उत्तम होता है। यह धान्य लघु, स्निग्ध, त्रिदोषनाशक, स्वादिष्ट, मृदु, ग्राही, बलदायक तथा ज्वर को दूर करने वाला और गुणों में रक्तशालि के समान होता है। शेष षष्टिक धान्य इसकी अपेक्षा स्वल्प गुण वाले होते हैं॥

५ षष्टिक (साठी) धान्य

हि०-साठी धान, साठी चावल।

षष्टिक धान्य—व्रीहिधान्य का ही एक भेद है। यह साठी धान के नाम से प्रसिद्ध है। क्योंकि यदि अच्छी तरह से यह परिपालित किया जाय तो साठ दिन में ही पक कर काटने योग्य तैयार हो जाता है और वाल में ही पकने वाला धान कहलाता है। साधारण धान के समान इसके भी पौधे होते हैं। काले और सफेद वर्ण के भेद से यह दो प्रकार का होता है। इनमें काले की अपेक्षा सफेद अधिक गुणकारी होता है॥ ५॥

अथ शूकधान्यानि । तत्र यवभेदानाह

यवस्तु सितशूकः स्यान्निःशूकोऽतियवः स्मृतः। तोक्यस्तद्वत्स हरितस्ततः स्वल्पश्च कीर्त्तितः॥

जौ के लक्षण सहित भेद—जौ के सफेद शूक (सूई या टूड) से युक्त होता है। **अतियव**-इसके शूक नहीं होता है। **तोक्य**-यह शूक से रहित, हरे रङ्ग का तथा छोटा होता है॥ २७॥

***शूकधान्यानि तेषु यवः प्रसिद्धः। अतियवो निःशूकः कृष्णारुणवर्णो यवः। तोक्यो हरितो निःशूकः स्वल्पो यवः 'जई' इति प्रसिद्धः॥ २७॥**

यहाँ 'शूकधान्यों में यव' प्रसिद्ध है। **अतियव**-यह शूकरहित काले तथा अरुण (लाल) रंग का होता है। **तोक्य**-यह हरे रंग का शूकरहित छोटा यव होता है और 'जई' इस नाम से लोक में प्रसिद्ध है'॥ २७॥

अथ तेषां गुणानाह

यवः कषायो मधुरः शीतलो लेखनो मृदुः। व्रणेषु तिलवत्पथ्यो रूक्षो मेधाऽग्निवर्धनः॥२८॥
कटुपाकोऽनभिष्यन्दी स्वर्यो बलकरो गुरुः। बहुवातमलो वर्णस्थैर्यकारी च पिच्छिलः॥२९॥
कण्ठत्वगामयश्लेष्मपित्तमेदःप्रणाशनः। पीनसश्वासकासोरुस्तम्भलोहिततृट्प्रणुत्॥
अस्मादतियवो न्यूनस्तोक्यो न्यूनतरस्ततः॥ ३०॥

जौ के गुण—जौ कषाय तथा मधुर रसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, शीतल, लेखन, कोमल, व्रणों में तिल के समान पथ्य, रूक्ष, मेधा तथा जठराग्नि को बढाने वाला, किंचित् अभिष्यन्दी, कण्ठ स्वर को उत्तम करने वाला, बलकारक, गुरु, अधिक रूप से वात तथा मल को करने वाला, शरीर के वर्ण को स्थिर रखने वाला, पिच्छिल एवं कण्ठ तथा चर्मसम्बन्धी रोग, कफ, पित्त, मेद, पीनस, श्वास, कास, ऊरुस्तम्भ, रक्तविकार तथा तृषा को दूर करने वाला है।

अतियव के गुण—यह जौ की अपेक्षा न्यून गुण वाला होता है।

जई के **गुण**—यह अतियव से भी न्यून गुण वाला होता है॥ २८–३०॥

६ जव

हि०-जव, जो, जौ। **म०**-जौ। **क०**-मुड जयव, मुड जयवे। **ता०**-वार्लि अमिसु, वार्लि अरिसु। **तै०**-यव धान्य, गोधुमलु यवल नेडधान्यमु। **फा०**-जव, जओ। **अ०**-शईर, इयईर। **यं०**-जव। **ने०**-टोस। **भू०**-नस। **मु०**-जऊ, यमवा। **अं०**-Barley (बारली)। **लै०**-*Hordeum vulgare* (हारडीयम वलगेयर)।

उत्तर भारत में जौ की अधिक खेती की जाती है। यह तृणजातीय वनस्पति २–३ फोट ऊँची होती है। **पत्ते**-पतले और लम्बे होते हैं॥ ६॥

अथ गोधूमः (गेहूँ)। तस्य नामानि सलक्षणभेदानाह

गोधूमः सुमनोऽपि स्यात्त्रिविधः स च कीर्त्तितः। महागोधूम इत्याख्यः पश्चाद्देशात्समागतः॥

गेहूँ के संस्कृत नाम—गोधूम तथा सुमन ये सब हैं। **भेद**-१ महागोधूम, २ मधूली,

३ दीर्घ गोधूम इन भेदों से गेहूँ ३ प्रकार का होता है। लक्षण-महागोधूम यह पश्चिम (पंजाब आदि) देशों से आता है ॥ ३१ ॥

॰महागोधूमः='बड़ा गेहूँ' इति लोके ॥ ३१ ॥

यहाँ 'महागोधूम' से लोकप्रसिद्ध 'बड़ा गेहूँ' का ग्रहण करना चाहिये ॥ ३१ ॥

मधूली तु ततः किञ्चिदल्पा सा मध्यदेशजा। निःशूकको दीर्घगोधूमः क्वचिन्नन्दीमुखाभिधः॥

'मधूली' यह 'बड़ा गेहूँ' की अपेक्षा कुछ छोटा होता है और मध्यदेश (आगरा, मथुरा आदि) में उत्पन्न होता है। दीर्घगोधूम-यह शूक (टूँड) रहित होता है तथा इसे कहीं-कहीं 'नन्दीमुख' भी कहते हैं ३२ ॥

अथ गोधूमगुणानाह

गोधूमो मधुरः शीतो वातपित्तहरो गुरुः। कफशुक्रप्रदो बल्यः स्निग्धः सन्धानकृत्सरः॥
जीवनो बृंहणो वर्ण्यो व्रण्यो रुच्यः स्थिरत्वकृत्॥ ३४ ॥

गेहूँ के गुण—यह मधुर, शीतल, गुरु, कफप्रद (कफ को पैदा करनेवाला), वीर्यजनक, बलकारक, स्निग्ध, सन्धानकारक (टूटी अस्थियों को जोड़नेवाला), सारक, जीवनी शक्ति को बढ़ानेवाला, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), वर्ण को उत्तम करनेवाला, व्रण के लिये हितकर, रुचिकारक, स्थिरता को करने वाला एव वात तथा पित्तनाशक होता है ॥ ३३-३४ ॥

॰कफप्रदो नवीनो न तु पुराणः। 'पुराणयवगोधूमक्षौद्रजाङ्गलशूल्यभुग्'॥ इति वाग्भटेन वसन्ते गृहीतत्वात्॥ ३३-३४ ॥

यहाँ 'कफप्रद' पद होने से 'नवीन गेहूँ ही कफ को बढ़ाने वाला होता है न कि पुराना' यह समझना चाहिये। क्योंकि यदि पुराना गेहू भी कफप्रद होता तो अचार्य वाग्भट वसन्तऋतु के पथ्य में—पुराना जौ तथा गेहूँ, मधु, जङ्गली जीवों के मास का कबाब इत्यादि के मध्य में गेहूँ का नाम नहीं लेते ॥ ३३-३४ ॥

अथ मधूलीनन्दीमुखयोर्गुणानाह

मधूली शीतला स्निग्धा पित्तघ्नी मधुरा लघुः। शुक्रला बृंहणी पथ्या तद्वन्नन्दीमुखः स्मृतः॥

मधूली के गुण—मधूली (गेहूँ) मधुर रसयुक्त, शीतल, स्निग्ध, लघु, शुक्रजनक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), पथ्य और पित्तनाशक होता है। **नन्दीमुख (गेहूँ)** भी पूर्वोक्त मधूली के समान गुणकारक होता है ॥ ३५ ॥

७ गेहूँ

हि०-गेहूँ, गहुम, गहूँ । बं०-गम । म०-गहूँ । का०-गोटेगुल धुवे । गु०-घउ, घेउं। क०-गोधी गोधि, गोदो । ते०-गोदुमु, गोधुम, गोधुमलु । फा०-गदुम । अ०-हिन्ता, हिताह, बुरे। अं०-Wheat (ह्वीट) । ले०-*Triticum vulgare* (ट्रिटिकम् वलगैरी) ।

गेहूँ सब देशों में सबके लिये प्रसिद्ध उत्तम खाद्य पदार्थ है। प्रायः सब देशों में इसकी खेती बहुलता से की जाती है। इसके पौधे जौ के समान होते हैं। पीले, सफेद, लाल, तुलिया आदि इसकी कई जातियाँ हैं। इनमें लाल सर्वोत्तम और तुलिया निकृष्ट समझा जाता है ॥ ७ ॥

अथ शिम्बीधान्यम्। तत्रादौ तस्य नामान्याह

शमीजाः शिम्बिजाः शिम्बीभवाः सूप्याश्च वैदलाः॥ ३६ ॥

शिम्बीधान्य के संस्कृत नाम—शमीज, शिम्बिज, शिम्बीभव, सूप्य और वैदल ये सब हैं॥३६॥

अथ शिम्बीधान्यस्य गुणानाह

वैदला मधुरा रूक्षाः कषायाः कटुपाकिनः। वातलाः कफपित्तघ्ना बद्धमूत्रमला हिमाः॥
ऋते मुद्गमसूराभ्यामन्ये त्वाध्मानकारिणः॥ ३७ ॥

शिम्बीधान्य के गुण—शिम्बीधान्य मधुर तथा कषाय रसयुक्त, रूक्ष, विपाक में कटुरसयुक्त,

वातजनक, कफ तथा पित्तनाशक, मूत्र तथा मल को बाँधनेवाले और शीतल होते हैं, शिम्बीधान्यों में मूंग तथा मसूर को छोडकर शेष सभी आध्मान (अफरा) करने वाले होते हैं ॥ ३७ ॥

ॐमुद्गमसूरयोराध्मानकारित्वमन्यवैदलापेक्षया, न तु सर्वथा, एतयोरपि किञ्चिदाध्मान- कारित्वदर्शनात् ॥ ३७ ॥

यहाँ शिम्बी धान्यों की अपेक्षा मूग और मसूर सर्वथा आध्मान करने वाले नहीं होते ऐसा नहीं समझना चाहिए क्योंकि ये दोनों भी किंचित् आध्मान करने वाले होते हैं-ऐसा देखा गया है ॥ ३७ ॥

८ शिम्बीधान्य

मूग, मसूर, उडद, चना, अरहर, मटर, कुलथी, लोबिया इत्यादि शिम्बीधान्य कहलाते हैं ॥

अथ मुद्गः (मूंग) । सभेदस्य तस्य गुणानाह

मुद्गो रूक्षो लघुर्ग्राही कफपित्तहरो हिमः । स्वादुरल्पानिलो नेत्र्यो ज्वरघ्नो वनजस्तथा ॥
मुद्गो बहुविधः श्यामो हरितः पीतकस्तथा । श्वेतो रक्तश्च तेषान्तु पूर्वः पूर्वो लघुः स्मृतः ॥
सुश्रुतेन पुनः प्रोक्तो हरितः प्रवरो गुणैः । चरकादिभिरप्युक्त एष एव गुणाधिकः ॥ ४० ॥

मूंग के गुण—मूग स्वादिष्ट, रूक्ष, लघु, ग्राही, कफ तथा पित्तनाशक, शीतल, किंचित् वायुकारक, नेत्र के लिये हितकर तथा ज्वरनाशक है । जगल में उत्पन्न होने वाली मूग गुणों में मूंग के समान ही है । **मूंग के भेद और उनके गुण**—श्याम, हरी, पीली, सफेद तथा लाल इन भेदों से मूग कई प्रकार की होती है । इनमें एक दूसरी की अपेक्षा पूर्व-पूर्व लघु होती है (अर्थात् लाल की अपेक्षा सफेद, सफेद से पीली, पीली से हरी, हरी से श्याम लघु होती है । किन्तु सुश्रुत ने तो विशेषतः और मूगों की अपेक्षा हरी मूग को गुणों में श्रेष्ठ बतलायी है । चरकादि महर्षियों ने भी इसी को (हरी मूग को) अधिक गुणकारी बतायी है ॥ ३८-४० ॥

९ मूंग

हि०-मूंग, मुग । **बं०**-मुग । **म०**-मूग, हिरवे मूंग । **गु०**-मग, कच्छी । **क०**-हेसयेरू, पच्चे हेसरु, हेमरु । **ते०**-पेसलु, पच्चापेसलु । **प०**-मुजि, मुगी । **प्रा०**-हरिमु । **फा०**-बुनुमाष, बनोमाश, माष । **अ०**-मजमाश, माष मज । **मा०**-मूग । **द्रा०**-पच्चुपपर । **अं०**-Green grain (ग्रीन ग्रेन) **ले०**-*Phaseolus mungo* (फेसिओलस मुगो) ।

यह इन देशों के खेतों में बोई जाती है और पश्चिमोत्तर हिमालय के ६ हजार फीट ऊँची भूमि में भी जङ्गली उत्पन्न होती है । इसका **क्षुप**-१-२ फुट ऊँचा होता है । इसके **पत्ते**-उडद के समान होते हैं । समस्त क्षुप पर रेशमवत् बारीक रोवें होते हैं । **फूल**-पीले आते हैं । **फलियाँ**-१॥-२ इञ्च लम्बी और कुछ टेढी होती हैं ॥ ९ ॥

अथ माषः (उरद) । तस्य गुणानाह

माषो गुरुः स्वादुपाकः स्निग्धो रुच्योऽनिलापहः । स्रंसनस्तर्पणो बल्यः शुक्रलो बृंहणः परः ॥
भिन्नमूत्रमलः स्तन्यो मेदःपित्तकफप्रदः । गुदकीलार्दितश्वासपक्तिशूलानि नाशयेत् ॥ ४२ ॥
कफपित्तकरा माषाः कफपित्तकरं दधि । कफपित्तकरा मत्स्या वृन्ताकं कफपित्तकृत् ॥ ४३ ॥

उडद के गुण—उडद गुरु, विपाक में मधुररसयुक्त, स्निग्ध, रुचिकारक, वातनाशक, स्रंसन, सन्तर्पण करने वाला, बलकारक, शुक्रजनक, अत्यन्त बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), मूत्र तथा मल का भेदन करने वाला, दुग्धवर्धक, मेद, पित्त, कफ को बढ़ाने वाला एवं गुदकील, अर्दितवात (लकवा), श्वास, पक्तिशूल (अन्न के पचने पर शूल होना) इन सब रोगों को दूर करने वाला होता है । कफ तथा पित्त कारक द्रव्य चतुष्टय-उरद, दही, मछली और बैंगन ये चारों द्रव्य कफ तथा पित्त को बढाने वाले होते हैं ॥ ४१-४३ ॥

१० उडद

हि०-उडद, उडिद, उरद, उरिद, उर्दी । **ब०**-माप कलाय । **म०**-उटिद, उडीद । **गु०**-अडद, अडद । **क०**-उद्दु, उद्दु, उद्दु । **ते०**-मिलु, मलु, मिनि उलु, मिनुमलु । **फा०**-माप । **अ०**-माषा ।

पं०-माष। द्रा०-उदडु। क०-उद्दु। अं०-A sort of kideny bean (ए सार्ट ऑफ् किडनी बीन)। ले०-*Phaseolus radintus* (फैसिओलस रेडिण्टस)।

उडद इस देश में बहुत प्रसिद्ध है। इसकी उपज हर प्रान्त में होती है। इसके दाल, बड़े इत्यादि बनते हैं। उडद के **क्षुप**-एक प्रकार का क्षुद्रलताविशेष है। इसके **पत्ते**-सेम के पत्तों के समान और **फूल**-पीले रंग के होते हैं। इसकी **फलियां** (छीमी)-लम्बी लम्बी गोल और रोमयुक्त होती हैं। यह कई जाति में विभक्त है॥ १०॥

अथ राजमाषः (बोड़ा)। यस्य च 'बेरातरा-लोबिया' इत्यादयो भेदाः)। तस्य नामानि तद्भेदगुणाँश्चाह

राजमाषो महामाषश्चपलश्च बलः स्मृतः। राजमाषो गुरुः स्वादुस्तुवरस्तर्पणः सरः॥ ४४॥
रूक्षो वातकरो रुच्यः स्तन्यो भूरिबलप्रदः। श्वेतो रक्तस्तथा कृष्णस्त्रिविधः स प्रकीर्त्तितः॥
यो महांस्तेषु भवति स एवोक्तो गुणाधिकः॥ ४५॥

बोडा के संस्कृत नाम—राजमाष, महामाष, चपल तथा बल ये सब हैं। इसी के 'बेरातरा' तथा 'लोबिया' इत्यादि लोक में भेद होते हैं। **गुण**—बोड़ा गुरु, स्वादिष्ट तथा अत्यन्त रसयुक्त, सन्तर्पण करने वाला, सारक, रूक्ष, वातकारक, रुचिकारक, दुग्धवर्धक तथा अत्यन्त बलकारक होता है।

भेद—सफेद, लाल तथा काला इन भेदों से बोडा तीन प्रकार का होता है। **गुण**—इनमें जो बडा होता है वही सबसे अधिक गुणशाली समझा जाता है॥ ४४-४५॥

११ राजमाष

हि०-राजमाष, बोरा, बोडा, चौरा, चोरा, चवरा, लोबिया, रैंसु, रमास, बजरबट्टू। **बं०**-बरवटी, कलाय, बर्बटी। **म०**-नील उरीद, चवलया, अलसुदा। **गु०**-चोला, चोलाभेद, चोल। **क०**-बरवटा, अलसदे, अलसंदि, नील उडु। **ते०**-दन्तपेन्लु, अलसुन्दुलु। **मा०**-चवला। **पं०**-रैंस, रवांह। **द्रा०**-करामणि। **फा०**-लोबह, लोबिया। **अ०**-फरिका, फिरीका। **अं०**-Chinese dolicas (चाइनीज डोलिकस)। **ले०**-*Vigna catiang* (विग्ना काटियङ्ग)।

प्रायः गरम प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है। **पत्ते**-सेम के आकार वाले एक-एक डंडी पर तीन-तीन रहते हैं। **फूल**-पीले या लाली युक्त होते हैं। **फलियाँ**-बहुत लम्बी-लम्बी होती हैं। कहीं कहीं दो फुट की लम्बी फली भी देखने में आती है॥ ११॥

अथ निष्पावः। स तु राजशिम्बीबीजम्। (भटवांसु इति लोके)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

निष्पावो राजशिम्बिः स्याद्वल्लकः श्वेतशिम्बिकः।
निष्पावो मधुरो रूक्षो विपाकेऽम्लो गुरुः सरः॥ ४६॥
कषायः स्तन्यपित्तास्रमूत्रवातविबन्धकृत्। विदाह्युष्णो विषश्लेष्मशोथहृच्छुक्रनाशनः॥४७॥

निष्पाव यह लोक में राजशिम्बी का बीज अथवा भटवांसु इस नाम से प्रसिद्ध है। इसके संस्कृत नाम—निष्पाव, राजशिम्बी, वल्लक तथा श्वेतशिम्बिक ये सब हैं। **गुण**—भटवासु मधुर तथा कषाय रसयुक्त, विपाक में अम्ल रसयुक्त, रूक्ष, गुरु, सारक, विदाही, उष्ण (गरम) और दुग्ध-पित्त तथा रक्त को बढाने वाला, मूत्र तथा वात का विबन्ध करने वाला एवं विष, कफ, शोथ तथा शुक्र का नाशक होता है॥ ४६-४७॥

१२ निष्पाव

हि०-निष्पाव, भटवांसु, भेटरासु, भटवास, भेंटवास, राजशिम्बी के बीज। **बं०**-भटरासु, राजशिम्बी बीज, भेटरासु। **म०**-पावटे, कडवे वाल। **गु०**-भोलीया, ओलियवाल। **क०**-आवरे, तोरे आवरे। **ते०**-अनप चेट्टु। **ले०**-*Lab lab vulgaris* (लब-लब वल्गारिस)।

निष्पाव की लता होती है। इसके बेल, पत्ते, फूल, फल इत्यादि सेम के समान होते हैं पर सेम से बडे होते हैं। इसको तरकारी होती है॥ १२॥

अथ वनमुद्गः (मोठ) । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

मकुष्ठो वनमुद्गः स्यान्मकुष्ठकमुकुष्ठकौ ॥ ४८ ॥
मकुष्ठो वातलो ग्राही कफपित्तहरो लघुः । वह्निजिन्मधुरः पाके क्रिमिकृज्ज्वरनाशनः ॥ ४९ ॥

मोठ के संस्कृत नाम—मकुष्ठ, वनमुद्ग, मकुष्ठक और मुकुष्ठक ये सब हैं । **गुण**-मोठ वातकारक, ग्राही, कफ तथा पित्त का नाशक, लघु, अग्नि को जीतने वाली, पाक में मधुर रसयुक्त, क्रिमिकारक तथा ज्वरनाशक होती है ॥ ४८-४९ ॥

१३ मोठ

हि०-मोठ, मोट, मुहट, मुगानी, मोथी । **बं०**-वनमूग । **म०**-मटक्या । **गु०**-मठ । **क०**-मुग, हेसरुभेद । **ते०**-कैर्क पेसालु, वनमुद्ग चेट्टु । **मालवा०**-मकुष्ठक । **फा०**-माषहिन्दी, माशहिन्दी । **पं०, मा०**-मोठ । **अं०**-Aconite leaved kidney bean (एकोनाइट लीव्ड किडनी बीन) । **ले०**-*Phaseolus aconite folius* (फैसिओलस एकोनाइट फोलियस) ।

मोठ एक प्रकार का प्रसिद्ध अनाज है । इसका स्वाद फीका होता है ॥ १३ ॥

अथ मसूरः (मसुरी) । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

मङ्गल्यको मसूरः स्यान्मङ्गल्या च मसूरिका । मसूरो मधुरः पाके संग्राही शीतलो लघुः ॥
कफपित्तास्रजिद्रूक्षो वातलो ज्वरनाशनः ॥ ५० ॥

मसुरी के संस्कृत नाम—मङ्गल्यक, मसूर, मङ्गल्या तथा मसूरिका ये सब हैं । **गुण**-मसूरी विपाक में मधुर रसयुक्त, ग्राही, शीतल, लघु, वातकारक, रूक्ष एवं कफ, पित्त, रक्तविकार तथा ज्वर को दूर करने वाली होती है ॥ ५० ॥

१४ मसूर

हि०-मसूर, मसूरक, मसूरी, मसुरी । **बं०**-कलाय, मसुरि, मसुरि कलाय । **म०**-चणई, मसुर । **गु०**-मसूर । **क०**-चणगि । **ता०**-मिसुर, पुरपुर । **ते०**-मसर पप्पु, चिरशनमलु, मिसुरपप्पु । **फा०**-बुनो सुर्ख, नेव सुर्ख, विसुक, मरजूनक । **अ०**-अदस् । **अं०**-Lentil (लेन्टिल) । **ले०**-*Ervum lens* (एर्वम् लेन्स) ।

मसूर एक प्रसिद्ध अन्न सब प्रान्तों में होता है । इसका **क्षुप**-छोटा, चने के समान, **पत्ते**-बारीक, **फलियाँ**-लम्बी, **बीज**-गोल किंचित् चिपटे होते हैं । **छिलके**-धूसर रङ्ग के और दाने लाल होते हैं ॥ १४ ॥

अथाढकी (अरहर) । तस्या नामगुणानाह

आढकी तुवरी चापि सा प्रोक्ता शणपुष्पिका ॥ ५१ ॥
आढकी तुवरा रूक्षा मधुरा शीतला लघुः । ग्राहिणी वातजननी वर्ण्या पित्तकफास्रजित् ॥

अरहर के संस्कृत नाम—आढकी, तुवरी और शणपुष्पिका ये सब हैं । **गुण**-अरहर कषाय तथा मधुर रसयुक्त, रूक्ष, शीतल, लघु, ग्राही, वातजनक, शरीर के वर्ण को उत्तम करने वाली एवं पित्त, कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाली है ॥ ५१-५२ ॥

१५ अरहड़

हि०-अरहड़, अडहर, रहर, रहरी, रहड, तुवर । **बं०**-आढ़री अडर । **म०**-तुरी तूर । **गु०**-तुरदाल्य, तुवर । **क०**-तोवरी, तोगरी, कटलाकुट । **पं०**-अडड । **ते०**-कादुलु, कंदुलु । **मा०**-तूर, आरेड । **द्रा०**-तोवरै । **फा०**-शाखुल, शाखुल, शाखूल । **अ०**-शाखुल, क्षांज, सांज । **अं०**-Psgeon pea (पिजन पी) । **ले०**-*Cajanus indlcous* (कैजेनस इण्डिकस) ।

इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है । इसका **वृक्ष**-७-८ फीट ऊँचा झाडदार होता है । एक-एक सींक पर तीन-तीन पत्ते रहते हैं । **पत्ते**-१॥-२ इञ्च-लम्बे अंटाकार और दोनों ओर से नुकीले होते हैं । **फलियाँ**-२-३ इञ्च लम्बी होती हैं । प्रत्येक फली में ३ से ५ तक बीज रहते हैं । बीज को ही अरहर कहते हैं । यह पीली और लाल दो प्रकार की होती है ॥ १५ ॥

अथ चणकः (चना)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

चणको हरिमन्थः स्यात्सकलप्रिय इत्यपि। चणकः शीतलो रूक्षः पित्तरक्तकफापहः।
लघुः कषायो विष्टम्भी वातलो ज्वरनाशनः॥ ५३॥

चना के संस्कृत नाम—चणक, हरिमन्थ और सकलप्रिय ये सब हैं। **गुण**—चना कषाय रस युक्त, शीतल, रूक्ष, लघु, विष्टम्भक, वातकारक एवं पित्त, रक्तविकार, कफ तथा ज्वर का नाशक है॥ ५३॥

अथ भर्जनादिभेदेन तस्य गुणभेदानाह

स चाङ्गारेण सम्भृष्टस्तैलभृष्टश्च तद्गुणः। आर्द्रभृष्टो बलकरो रोचनश्च प्रकीर्त्तितः॥ ५४॥
शुष्कभृष्टोऽतिरूक्षश्च वातकुष्ठप्रकोपणः। स्विन्नः पित्तकफं हन्यात् सूपः क्षोभकरो मतः॥५५॥
आर्द्रोऽतिकोमलो रुच्यः पित्तशुक्रहरो हिमः। कषायो वातलो ग्राही कफपित्तहरो लघुः॥५६॥

भुने हुए आदि भेदों से चने के गुणों में भेद—**अङ्गारे** (केवल अग्नि) **से भुने हुये चने के गुण**—यदि चना केवल अग्नि से भुना हुआ हो तो पूर्वोक्त गुणों से युक्त होता है। **तेल में भुना हुआ चना** भी पूर्वोक्त गुणों से युक्त होता है। **गीला भुना हुआ चना**-बलदायक तथा रुचिकारक होता है। **सूखा भुना हुआ चना**-अत्यन्त रूक्ष एवं वात तथा कुष्ठ को कुपित करने वाला होता है। **उबाला हुआ चना**- पित्त तथा कफ का नाशक होता है। **चने की रांधी हुई दाल**-क्षोभ उत्पन्न करने वाली होती है। **भिगोया हुआ चना**-कषाय रसयुक्त, अत्यन्त कोमल, रुचिकारक, शीतल, वातजनक, ग्राही, लघु एवं पित्त, शुक्र तथा कफ, पित्त को नष्ट करने वाला होता है॥

१६ चना

हि०-चना, छोला, रहिला, रोहिला, चूंट। **म०**-हरबरा, हरभरे, हरभरा, हरमन्या, चणें। **बं०**-छोला। **गु०**-चण्या, चणा। **क०**-कडले, विलियकडले, मोने गडले। **ते०**-चन गालु, शलगालु, शेणगुलु, शनिकलु। **फा०**-नखूद। **अ०**-हमस, हुमस, हिम्मस। **मा०**-चिणा। **पं०**-छोले। **द्रा०**-कडलै। **अं०**-Gram (ग्राम)। **लै०**-*Cicer arietinum* (सिसर एरिएटिनम)।

इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में प्रतिवर्ष इसकी खेती की जाती है। विशेष कर उत्तर प्रदेश और नीलगिरी में अधिक होता है। गुजरात का चना बहुत अच्छा समझा जाता है। बम्बई में बहुत बिकता है। इसका **क्षुप**-अनेक शाखा-प्रशाखाओं करके सघन होता है। **पत्ते**-नन्हे नन्हे, अडाकार और बारीक कंगूरेदार होते हैं। **फूल**-बारीक गुलाबी रंग के आते हैं। **फली**-अंडाकार नुकीली होती है॥ १६॥

अथ कलायः (मटर)। तस्य नामगुणानाह

कलायो वर्त्तुलः प्रोक्तः सतीनश्च हरेणुकः। कलायो मधुरः स्वादुः पाके रूक्षश्च शीतलः॥५७॥

मटर के संस्कृत नाम—कलाय, वर्त्तुल, सतीन तथा हरेणुक ये सब हैं। **गुण**-मटर मधुर रस युक्त, विपाक में भी मधुर, रूक्ष तथा शीतल होता है॥ ५७॥

१७ मटर

हि०-मटर, मट्टर। **बं०**-मटर, मठर, वाटुला मटर। **म०**-वाटाणे। **गु०**-मटाणा वटाणा। **क०**-वट्ट कडले, वटाणि। **ते०**-पेद्द इर्व्वं, गुड्डुचणगलु, पेद्दइवा। **पं०**-मटर छोटा। **मा०**-मटर। **यू०**-मटर काविली, मटर कविली। **फा०**-जलबान, कसग। **अ०**-खलंज, हुब्बुल बकर। **अ**-Field pea (फिल्ड पी)। **लै०**-*Pisum sativum* (पाइसम साटिवम)।

मटर—एक प्रसिद्ध खाद्य अन्न प्रायः सब प्रान्त के खेतों में प्रतिवर्ष बोया जाता है। इसके प्रसर, पत्ते, फूल, फली आदि केराव के समान होती हैं किन्तु केराव से कुछ बड़ी होती हैं॥ १७॥

अथ त्रिपुटः (खेसारी)। तस्य नामगुणानाह

त्रिपुटः खण्डिकोऽपि स्यात्कथ्यन्ते तद्गुणा अथ। त्रिपुटो मधुरस्तिक्तस्तुवरो रूक्षणो भृशम्॥
कफपित्तहरो रुच्यो ग्राहकः शीतलस्तथा। किन्तु खञ्जत्वपङ्गुत्वकारी वातातिकोपनः॥५९॥

खेसारी के संस्कृत नाम—त्रिकट तथा खण्डिक ये दो हैं। **गुण**-खेसारी मधुर, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, अत्यन्त रूक्ष, रुचिकारक, ग्राही, शीतल एवं कफ तथा पित्त को नाश करनेवाली होती है। खेसारी खाने से (लंगडा) तथा पंगुला बना देने वाली और वायु को अत्यन्त कुपित करनेवाली होती है॥ ५८-५९॥

१८ खेसारी

हि०-खेसारी, खिसारी, कसूर, कसरा, मटरभेद। **बं०**-खेसारी, कलाय। **म०**-लांक, लांग। **गु०**-मटर, मकाई। **ते०**-लाक। **फा०**-मासग, जलबान। **अ०**-हबुल वकर, खलज। **अं०**-Chickling vetch (चिकलिंग वेच)। **ले०**-*Lathyrus sativus* (लैथिरस सैटिवस)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है। उत्तर भारत में अधिक उत्पन्न होती है। इसकी **शाखायें**-पखदार होती हैं। **पत्ते**-लम्बे होते हैं। **फूल**-नीलापन युक्त लाल होते हैं। **फलियाँ**-१-१॥ इञ्च लम्बी पखदार होती हैं॥ १८॥

अथ कुलत्थः (कुलथी)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

कुलत्थिका कुलत्थश्च कथ्यन्ते तद्गुणा अथ॥ ६०॥
कुलत्थः कटुकः पाके कषायः पित्तरक्तकृत्। लघुर्विदाही वीर्योष्णः श्वासकासकफानिलान्॥
हन्ति हिक्काश्मरीशुक्रदाहानाहान् सपीनसान्। स्वेदसंग्राहको मेदोज्वरक्रिमिहरः सरः॥

कुलथी के संस्कृत नाम—कुलत्थिका तथा कुलत्थ ये दो हैं। **गुण**—कुलथी कषाय रसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, पित्त तथा रुधिर विकार करने वाली, लघु, विदाही, उष्णवीर्य, पसीने को रोकने वाली, सारक एवं श्वास, कास, कफ, वायु, हिचकी, पथरी, शुक्र, दाह, आनाह (अफरा), पीनस, मेद, ज्वर तथा क्रिमि को दूर करने वाली होती है॥ ६०-६२॥

१९ कुलथी

हि०-कुरथी, कुलथी, कुर्थी। **बं०**-कुलिथ, कुलीथ, हुलगे। **क०**-हुरुवले तीसी, हुरूली। **म०**-कुलीथ। **ते०**-वुला वुलु, वुलवुंलु, ओलवलु। **गु०**-कुलथी। **यू०**-गुलथी। **फा०**-किछत, मुखहिन्दी, माशहिन्दी, हब्बुल्कतल, हब्बुल किलत। **अ०**-Two flowered dolicos (टू फ्लावर्ड डोलिकोस)। **ले०**-*Dolichos biflorus* (डोलिकोस बाइफ्लोरस)।

कुलथी—इस देश में प्रायः सर्वत्र होता है। जैसे तृण धान्य में कोदो गरीब अन्न है वैसे ही द्विदल धान्यों में कुलथी है। इसका **क्षुप**-लगभग एक हाथ तक ऊँचा होता है। इसके **लता** क्षुप और **पत्ते**-उडद के समान होते हैं। **फलियाँ** कुछ टेढ़ी और चिपटी होती हैं। इसका **रङ्ग**-लाल होता है पर कहीं कहीं काली और सफेद कुलथी भी होती है॥ १९॥

अथ तिलः। तस्य तद्भेदानां च गुणानाह

तिलः कृष्णः सितो रक्तः स वन्योऽल्पतिलः स्मृतः। तिलो रसे कटुस्तिक्तो मधुरस्तुवरो गुरुः॥
विपाके कटुकः स्वादुः स्निग्धोष्णः कफपित्तनुत्।
बल्यः केश्यो हिमस्पर्शस्त्वच्यः स्तन्यो व्रणे हितः॥ ६४॥
दन्त्योऽल्पमूत्रकृद् ग्राही वातघ्नोऽग्निमतिप्रदः। कृष्णः श्रेष्ठतमस्तेषु शुक्लो मध्यमः सितः॥
अन्ये हीनतराः प्रोक्तास्तज्ज्ञै रक्तादयस्तिलाः॥ ६५॥

तिल के संस्कृत नाम—तिल (पूतधान्य, पितृतर्पण, स्नेहफल, होमधान्य इत्यादि) ये सब हैं। **भेद**-काले, सफेद तथा लाल रंगों के भेद से तिल ३ प्रकार के होते हैं। जो तिल जङ्गलों में होता है वह वन्य तिल और अल्प तिल नाम से प्रसिद्ध है।

गुण—तिल कटु, तिक्त, मधुर तथा कषाय रसयुक्त, विपाक में कटुरस युक्त, स्वादिष्ट, गुरु, स्निग्ध, उष्ण, कफ तथा पित्तनाशक, बलकारक, केशों के लिये हितकर, स्पर्श में शीतल, त्वचा के लिये हितकर, दुग्धवर्धक, व्रण में लाभ पहुँचाने वाला, दांतों के विकारों को दूर करने वाला, थोडा मूत्रकारक, ग्राही, वातनाशक, जठराग्नि तथा बुद्धि को बढाने वाला होता है। तिलों में

काला तिल—वीर्यवर्धक तथा सर्वोत्तम होता है। सफेद तिल—गुणों में मध्यम होता है। इससे अन्य जो लाल आदि तिल हैं वे गुणों में अत्यन्त हीन हैं ऐसा निघण्टु के विद्वानों का मत है॥

२० तिल

हि०—तिल, तील, तिलो, मोठातिल। **बं०**-तिलगाछ। **म०**-तिल, तील। **गु०**-तल। **द्रा०, क०**-एलु, एल्लु। **ते०**-तोवुलु, मञ्चिनूने, नुव्वुलु, नुवुलु। **ता०**-वल्लेनेय, वल्लेन्नेय। **द्रा०**-बारीक तिल। **फा०**-कुजद, खस खास स्याह, कोकिनार। **अ०**-सिमासिम, बजरुलखस खाशुलवरीं। **अं०**-Sisamum nigar seeds (सिसेमम निगर सीड्स)। **ले०**-*Sesamum indicum* (सिसैमम इण्डिकम)।

तिल—एक प्रसिद्ध धान्य प्रायः सब प्रान्तों के खेतों में रोपण किया जाता है। इसका **क्षुप**-२-२॥ हाथ ऊँचा होता है। **पत्ते**-पहले तीन फांक वाले लम्बे और फिर अटाकार लम्बे होते हैं और ये लसीले होते हैं। **फूल**-फीके गुलाबी रङ्ग के लम्बे गोल और मुख पर ओठ से निकले रहते हैं। प्रतिपत्र के बीच छीमी लगती है और इन्हीं के बीजों को तिल कहते हैं। सफेद, काले और लाल बीजों के भेद से तिल तीन प्रकार का होता है। इनमें काले और सफेद तिल अधिक मिलते हैं॥ २०॥

अथातसी (तीसी)। तस्या नामगुणानाह

अतसी नीलपुष्पी च पार्वती स्यादुमा क्षुमा॥ ६६॥
अतसी मधुरा तिक्ता स्निग्धा पाके कटुर्गुरुः। उष्णा दृक्शुक्रवातघ्नी कफपित्तविनाशिनी॥६७॥

तीसी के संस्कृत नाम—अतसी, नीलपुष्पी, पार्वती, उमा तथा क्षुमा ये सब हैं। **गुण**—तीसी मधुर तथा तिक्त रसयुक्त, स्निग्ध, विपाक में कटुरसयुक्त, गुरु, उष्ण एवं नेत्रों की शक्ति, शुक्र, वात, कफ तथा पित्त को दूर करने वाली होती है॥ ६६-६७॥

२१ तीसी

हि०-तीसी, तिसी, अलसी, मसीना। **बं०**-तिसी, मसीना। **म०**-जवस, अलशी। **गु०**-अलशी। **क०**-अगसि, अनसीगिडं, असगे। **ते०**-नल्ल पगसि चेट्टु, अलसि वित्तु, नल्लयगसि चेट्टु। **ता०**-अलशी विराई। **काश्मीर०**-केतन, अलिश। **काशगार०**-जिघिर। **तुर्की०**-जिग्गर। **फा०**-तुख्मे कतान, बजुरग, बजुर्ग। **अ०**-बज़रूल कतान, बज़रुल कनान, बजरुलकतां। **द्रा०**-अलिसिवरे। **अं०**-Common flax (कामन फ्लैक्स), Linseed (लिन्सीड)। **ले०**-*Linum usicatissimum* (लिनम युसिकेटिसिमम)।

तीसी—प्रायः सब प्रान्तों के खेतों में बोई जाती है। यह एक प्रसिद्ध अन्न है। इसका **पौधा**-१॥-२ फीट ऊँचा होता है। **पत्ते**-लम्बे और बारीक होते हैं। **फूल**-नीले रङ्ग के घटाकार, **फल**-गोल घुडी सा ऊपर को नोकीला होता है। इसके बीजों को तीसी कहते हैं॥ २१॥

अथ तुवरी ('तोरी' तोडिस' इति)। तस्या गुणानाह

तुवरी ग्राहिणी प्रोक्ता लघ्वी कफविषास्रजित्। तीक्ष्णोष्णा वह्निदा कण्डूकुष्ठकोष्ठक्रिमिप्रणुत्॥

तुवरी (जिसे लोक में तोरी या तोडिस कहते हैं) के गुण—तोरी ग्राही, लघु, तीक्ष्ण, उष्ण जठराग्निवर्धक एवं कफ, विष, रक्तविकार, खुजली, कुष्ठ तथा कोष्ठस्थित क्रिमि को दूर करने वाली होती है॥ ६८॥

२२ तोरी

हि०-तरी, लाही, तारा मिरे। **सं०**-तुवरी। **पं०**-तारामिरे, त रा मिरा। **ले०**-*Capharis trifoliata* (कैफरिस ट्रिफोलियेटा)।

तोरी प्रायः पश्चिम के देशों में अधिक उत्पन्न होती है। यह सरसों, राई आदि के समान खेतों में बोई जाती है और आप ही आप भी उत्पन्न होती है। इसके **बीज**-बडी राई के समान गोल गोल और उससे बड़े होते हैं तथा मूली के बीजों से किञ्चित् छोटे होते हैं। प्रायः

सरसों और राई के साथ इसको मिलाकर तेल निकालते हैं। यह तेल लसीला होता है और स्वाद में बुरा भी होता है। सरसों, राई की अपेक्षा तोरी में दाने अधिक निकलते हैं। इसलिये यह सरसो राई से सस्ती पड़ती है। आजकल के मिल वाले इसको अधिक परिमाण में मंगाते हैं और सरसो, राई में मिलाकर तेल निकालकर बेचते हैं ॥ २२ ॥

अथ सर्षपो रक्तः पीतश्च । तयोर्नामगुणानाह

सर्षपः कटुकः स्नेहस्तुन्तुभश्च कदम्बकः । गौरस्तु सर्षपः प्राज्ञैः सिद्धार्थ इति कथ्यते ॥६९॥
सर्षपस्तु रसे पाके कटुः स्निग्धः सतिक्तकः । तीक्ष्णोष्णः कफवातघ्नो रक्तपित्ताग्निवर्धनः॥७०॥
रक्षोहरो जयेत् कण्डू कुष्ठकोष्ठक्रिमिग्रहान् । यथा रक्तस्तथा गौरः किन्तु गौरो वरो मतः ॥७१॥

सरसो (लाल सरसो) के संस्कृत नाम—सर्षप, कटुक, स्नेह, तुन्तुभ और कदम्बक ये सब हैं। सफेद सरसो (पीली सरसो) का संस्कृत नाम-गौरसर्षप और सिद्धार्थ है। **गुण**-सरसो विपाक में कटुरसयुक्त, स्निग्ध, कटु तथा तिक्त रसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्ण, कफ और वात का नाशक, रक्तपित्त तथा जठराग्नि को बढ़ाने वाला, रक्षों की बाधा को दूर करने वाला एवं खुजली, कुष्ठ, कोष्ठस्थित क्रिमि तथा ग्रहबाधा को नष्ट करने वाला होता है। **सफेद सरसो**-गुणों में यद्यपि लाल तथा सफेद दोनों प्रकार के सरसो के समान ही है तथापि अपेक्षाकृत सफेद ही उत्तम होता है।

२३ सरसो

हिं०-सरसो, सरिसों, सर्सो। **बं०**-सरीसा, सरिषा, सर्षे। **म०**-सिरस, शिरस, शिरव। **मा०**-सरसू, सरसों। **गु०**-शरशव, सरशव। **क०**-सासवे, सासेव, विलिय सासेव, सासुवे। **ते०**-पाच्चा आश्वालु, आवालु। **द्रा०**-कडुह। **पं०**-सरों। **फा०**-सर्षक, सरशफ, सिपन्दान। **अ०**-उर्फ़ अबीयद, खर्दले अबयज़, हुर्फ़। **अं०**-Sinapis alba (सिनापिस एल्बा)। **लै०**-*Brassica campestris* (ब्रासिका कैम्पेस्ट्रिस)।

इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है। इसका **क्षुप**-३ से ५ फीट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**-डंडियों की जड से सटे हुए, लम्बे गहरे कटे किनारे वाले और चिकने होते हैं। **फूल**-अत्यन्त सुहावने पीले रंग के आते हैं। **फलियां**-२-३ इञ्च लम्बी और गोल होती हैं। इनसे जो पीले रंग के दाने निकलते हैं उन्हीं को सरसो कहते हैं।

२४ सफेद सरसो

हिं०-सफेद सरसो, सफेद सरिसों। **सं०**-गौरसर्षप, सिद्धार्थ। **बं०**-श्वेतसर्षप, श्वेत सर्षे, सिद्धार्थ, श्वेतसिरिषा। **म०**-श्वेत सिरस। **ते०**-नल्ल मरिंचेट्टु, तैलवारु। **अं०**-The rocket (दि राकेट)। **लै०**-*Eruca sativa* (एरुका साटिवा)।

पश्चिमोत्तर प्रान्त में इसकी अधिक खेती की जाती है। सिमले में भी उत्पन्न होता है तथा अन्यान्य प्रान्तों में भी कहीं-कहीं पाया जाता है। इसका **क्षुप**-१-१॥ फुट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**-चिकने ४ इञ्च तक लम्बे, कटे किनारे वाले होते हैं। **फूल**-फीके पीले या सफेद रंग के आते हैं। **फलियां**-प्रायः ऊपर को उठी हुई खडी, डंडियों से सटी रहती हैं। **बीज**-कालापन युक्त भूरे या कालापन युक्त खाकी रंग के होते हैं ॥ २३-२४ ॥

अथ राजिका कृष्णराजिका च (राई, कृष्णराई) । तयोर्नामानि गुणांश्चाह

राजी तु राजिका तीक्ष्णगन्धा क्षुज्जनिकाऽऽसुरी । क्षवः क्षुताभिजनकः कृष्णिका कृष्णसर्षपः॥
राजिका कफपित्तघ्नी तीक्ष्णोष्णा रक्तपित्तकृत् । किञ्चिद् रूक्षाऽग्निदा कण्डूकुष्ठकोष्ठक्रिमीन्हरेत्॥
अतितीक्ष्णा विशेषेण तद्वत्कृष्णाऽपि राजिका ॥ ७२ ॥

राई के संस्कृत नाम—राजी, राजिका, तीक्ष्णगन्धा, क्षुज्जनिका तथा आसुरी ये सब हैं। काली राई के संस्कृत नाम—क्षव, क्षुताभिजनक, कृष्णिका तथा कृष्णसर्षप ये सब हैं। **गुण**-राई, कफ तथा पित्तनाशक, तीक्ष्ण, उष्ण, रक्तपित्तकारक, किञ्चित् रूक्ष, जठराग्निवर्धक एवं खुजली,

कुष्ठ तथा कोष्ठस्थित क्रिमि को दूर करने वाली होती है। काली राई-यह वैसे तो गुणों में राई ही के समान होती है किन्तु उसकी अपेक्षा विशेषतः अत्यन्त तीक्ष्ण होती है ॥ ७२-७३ ॥

२५ राई

हि०-राई, लाल राई, माकडा राई। बं०-राई, सर्षप, राइ सारिषा, राई सर्षे। म०-मोहरी, रायी, महुरी, राई। गु०-राई। क०-सासिराइ, सास्र वेय, भेद राई। ते०-वर्णालु, अवलो, आवालु। ता०-कडघो। अ०-खरदल, खर्दल। फा०-सर्शफ। मा०-राई। पं०-अरयो। द्रा०-कडुह्। अं०-Mustard seeds (मस्टर्ड सीड्स)। ले०-*Brassica juncea* (ब्रासिका जुन्सिआ)।

राई—सरसो के समान खेतोंमें बोई जाती है। इसके क्षुप, पत्ते, फूल, फलियाँ इत्यादि सरसो के समान होते हैं पर **फलियाँ** सरसों से पतली होती हैं। **बीज**-सरसो ही के समान पर लाल रङ्ग के होते हैं। एक बनारसी राई होती है। ये पोस्तदाने के समान बारीक और लाल होती है।

२६ काली राई

हि०-काली राई, राज सरसो। बं०-काल सर्षे, राई सरिषा, कज्जला, कृष्णराई। गु०, पं०-काली राई। म०-काली तिखो। मा०-राई भेद। ते०-अवलो। क०-बिले ससिवे, करि सासुवे। अं०-Black mustard (ब्लैक मस्टर्ड)। ले०-*Brassica nigra* (ब्रासिका निग्रा)।

इस देश के कई प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है। इसका **क्षुप**-२-३ फुट ऊँचा होता है। **पत्ते**-४ से ८ इञ्च तक लम्बे, कटे किनारे वाले होते हैं। **फूल**-चमकीले पीले रङ्ग के आते हैं। **फलियां**-आध इञ्च तक लम्बी होती हैं। **बीज**-काले होते हैं ॥ २५-२६ ॥

अथ क्षुद्रधान्यम्। तस्य नामगुणानाह

क्षुद्रधान्यं कुधान्यं च तृणधान्यमिति स्मृतम्। क्षुद्रधान्यमनुष्णं स्यात्कषायं लघु लेखनम्॥
मधुरं कटुकं पाके रूक्षं च क्लेदशोषकम्। वातकृद् बद्धविट्कं च पित्तरक्तकफापहम् ॥७५॥

क्षुद्रधान्य के संस्कृत नाम—क्षुद्रधान्य, कुधान्य तथा तृणधान्य ये सब हैं। **गुण**-क्षुद्रधान्य किञ्चित् उष्ण, कषाय तथा मधुर रसयुक्त, लघु, लेखन, विपाक में कटु रसयुक्त, रूक्ष, क्लेद (आर्द्रता) को सुखाने वाला, वातकारक, मल को बांधने वाला एवं पित्त, रक्तविकार तथा कफ का नाशक होता है ॥ ७४-७५ ॥

अथ कङ्गुः (कङ्गुनी)। तस्या नामभेदगुणानाह

स्त्रियां कङ्गुप्रियङ्गू द्वे कृष्णा रक्ता सिता तथा। पीता चतुर्विधा कङ्गुस्तासां पीता वरा स्मृता॥
कङ्गुस्तु भग्नसन्धानवातकृद् बृंहणी गुरुः। रूक्षा श्लेष्महराऽतीव वाजिनां गुणकृद् भृशम् ॥

कङ्गुनी का संस्कृत नाम—कङ्गु तथा प्रियङ्गु (ये दोनों स्त्रीलिङ्गी हैं) है। **भेद**-काली, लाल, सफेद तथा पीली इन भेदों से कङ्गुनी ४ प्रकार की होती है। इनमें पीली कङ्गुनी ही सर्वोत्तम होती है। **गुण**-कङ्गुनी टूटी हुई अस्थियों को जोडने वाली, वातकारक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), गुरु, रूक्ष, अत्यन्त कफनाशक और घोडों के लिये विशेषरूप से गुण करनेवाली होती है॥७६-७७॥

२७ कङ्गुनी

हि०-कगुनी, कांगुनी, कगनी, कौनी, टगुनी। बं०-काउनी, कानीधान। म०-कांग। गु०-काग। क०-नवणे। ते०-प्रेकणपुचेट्टु। फा०-गल, अरजुन। अ०-दुख्न। ले०-*Papaver dubium* (पापावर डुबियम)।

कंगुनी की खेती प्रायः सब प्रान्तों में होती है परन्तु इसको लोग कम बोते हैं। वर्षा के आरम्भ में ज्वार, बाजरा, मक्का आदि के साथ खेतों में छींट देते हैं। **क्षुप**-३-४ फुट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**-लम्बे और पतले होते हैं। क्षुप के अन्त में बाजरे के समान किन्तु बाजरे से छोटे और पतले बाले होते हैं। बालों से जो बारीक दाने निकलते हैं उन्हीं को कगुनी कहते हैं ॥ २७ ॥

अथ चीनाकः (चीना) । तस्य नामगुणानाह

चीनाकः काककङ्गुश्च सुश्लक्ष्णः श्लक्ष्णकः स्मृतः ।
चीनाकः कङ्गुभेदोऽस्ति स ज्ञेयः कङ्गुवद् गुणैः ॥ ७८ ॥

चीना के संस्कृत नाम—चीनाक, काककगु, सुश्लक्ष्ण, श्लक्ष्णक तथा कगुभेद ये सब हैं। **गुण**–चीना कङ्गुनी का भेद है। अतः इसके भी गुण कगुनी के समान ही समझने चाहिये ॥७८॥

२८ चीना

हि०–चीना, चिन्ना, चेना। **बं०**–चिने। **म०**–राले। **गु०**–चीणे, चीणा। **क०**–चीनक। **फा०**–उरजान, उरजन। **अ०**–वारेगा। **अं०**–Millet (मिलेट)। **ले०**–*Panicum miliare* (पैनिकम मिलियरि)।

चीना—एक प्रसिद्ध धान- कंगुनी का भेद है। **पत्ती**–कंगुनी के समान और बाल धान के समान लगती है। उसे उसन और भून कर 'मांढ़ा' बनाते हैं। जिसको प्रायः देहाती लोग दही और गुण के साथ खाते हैं ॥ २८ ॥

अथ श्यामाकः (सामा) । तस्य नामगुणानाह

श्यामाकः श्यामकः श्यामस्त्रिबीजः स्यादविप्रियः। सुकुमारो राजधान्य तृणबीजोत्तमश्च सः ॥
श्यामाकः शोषणो रूक्षो वातलः कफपित्तहृत् ॥ ७९ ॥

सामा के सस्कृत नाम—श्यामाक, श्यामक, श्याम, त्रिबीज, अविप्रिय, सुकुमार, राजधान्य तथा तृणबीजोत्तम ये सब हैं। **गुण**–सामा शोषण करने वाला, रूक्ष, वातजनक एव कफ तथा पित्त को दूर करने वाला होता है ॥ ७९ ॥

२९ साँवाँ

हि०–साँवाँ, समा, सामा। **बं०**–शामा, श्यामा धान। **म०**–सावे, काथली। **गु०**–शामो। **क०**–संधे, शामे, सावि। **ते०**–श्यामालु, चामलु। **मा०**–सांवो। **द्रा०**–शामै। **प०**–सुवाक। **यू०**–तवज़ीक, तमातीर। **अ०**–शामाख, समाख, समाक। **ले०**–*Panicum frumentaceum* (पैनिकम फ्रुमेन्टैसियम्)।

साँवाँ—कुधान्यों में एक है जिसको बहुत कम लोग खाने के काम में लाते हैं। इसके पौधे घास के समान खेतों में देखे जाते हैं। वर्षा के आरम्भ में वर्षायु (वर्षात भर तक रहने वाले) अन्नों के साथ यह भी रोपण किया जाता है। **पत्ते** और बीजकोषों के वाल माकडा घास के समान परन्तु उनसे बड़े और सघन होते हैं ॥ २९ ॥

अथ कोद्रवः वनकोद्रवश्च (कोदो-वनकोदो) । तयोर्नामानि गुणांश्चाह

कोद्रवः कोरदूषः स्यादुद्दालो वनकोद्रवः। कोद्रवो वातलो ग्राही हिमः पित्तकफापहः ॥
उद्दालस्तु भवेदुष्णो ग्राही वातकरो भृशम् ॥ ८० ॥

कोदो के सस्कृत नाम—कोद्रव तथा कोरदूष ये सब हैं। वनकोदो के सस्कृत नाम–उद्दाल तथा वनकोद्रव ये सब हैं। **गुण**–कोदो वायुकारक, ग्राही, शीतल एव पित्त तथा कफ का नाशक होता है। **वनकोदो**–गरम, ग्राही तथा अत्यन्त वातकारक होता है ॥ ८० ॥

३० कोदो

हि०–कोदो धान, कोदव, कोदो। **बं०**–कोदो धान्य। **म०**–कोद्र, हरीक, हरिक, कोद्रु। **गु०**–कोदरो। **क०**–हारक। **ते०**–अलुवालु। **अ०**–कोद्रु। **फा०**–कोदिरम। **अं०**–Kodra (कोड्रा)। **ले०**–*Paspalum scrabiculatum* (पास्पैलम सेराबिक्युलेटम)।

कोदो—एक प्रकार का तृणजातीय धान्य वर्षाकाल के आरम्भ ही में रोपण किया जाता है और आश्विन, कार्तिक में काट लिया जाता है। इसके **पत्ते**–पतले और घास के समान लम्बे होते हैं। इसकी मजरी बाहर नहीं निकलती बल्कि सींकों के बीच में ही रह कर पक जाती है। इसके **बीज**–सरसों के समान छिलका सहित काले रङ्ग के और भूसी निकालने पर किंचित पीलापन

युक्त सफेद रङ्ग के होते हैं। इस अन्न में विशेषता यह है कि भूसी सहित रखने से यह पचासों वर्ष तक नहीं बिगडता ॥ ३१ ॥

अथ चारुकः (शरबीज)। तस्य नामगुणानाह

चारुकः शरबीजः स्यात्कथ्यन्ते तद्गुणा अथ। चारुको मधुरो रूक्षो रक्तपित्तकफापहः॥
शीतलो लघुवृष्यश्च कषायो वातकोपनः॥ ८१॥

शरबीज (सरपत के बीज) का संस्कृत नाम—चारुक तथा शरबीज है। गुण—शरबीज मधुर तथा कषाय रसयुक्त, रूक्ष, शीतल, लघु, वीर्यवर्धक, वात को कुपित करने वाला एवं रक्तपित्त तथा कफ का नाशक होते हैं (इसका विवरण गुडूच्यादिवर्ग में देखें)॥ ८१॥

अथ वंशयवाः (बांस के बीज)। तेषां गुणानाह

यथा वंशभवा रूक्षाः कषायाः कटुपाकिनः। बद्धमूत्राः कफघ्नाश्च वातपित्तकराः सराः॥८२॥

बांस के बीज का संस्कृत नाम—वंशयव तथा वंशबीज है। गुण—बांस के बीज कषाय रसयुक्त, रूक्ष, विपाक में कटु रसयुक्त, मूत्र का विबन्ध (रुकावट) करने वाले, वात तथा पित्तकारक, सारक एवं कफनाशक होते हैं (इसका विवरण गुडूच्यादिवर्ग में देखें)॥ ८२॥

अथ कुसुम्भबीजम्। तस्य नामगुणानाह

कुसुम्भबीजं वरटा सैव प्रोक्ता वरट्टिका॥ ८३॥
वरटा मधुरा स्निग्धा रक्तपित्तकफापहा। कषाया शीतला गुर्वी स्याद्वृष्याऽनिलापहा॥८४॥

कुसुम के बीज (करें) के संस्कृत नाम—कुसुम्भबीज, वरटा तथा वरट्टिका ये सब हैं। **गुण**—कुसुम के बीज मधुर तथा कषाय रसयुक्त, स्निग्ध, शीतल, गुरु, किंचित् वीर्यवर्धक एवं रक्तपित्त, कफ तथा वात को दूर करने वाले होते हैं॥ ८३-८४॥

३१ कुसुम के बीज

हि०-कुसुम के बीज, बरे, बर्रे, कर, करें, करड, करें। **बं०**-कुसुम फल। **पं०**-कुसुम्भा। **म०**-करडेया। **मा०**-कुसुम्बो। **गु०**-करड, कुसुंबा नाबीज। **यू०**-कर्ड। **फा०**-तुख्म कापसा, खसक दाना। **अ०**-हब्बुल अस्फर, हब्बकर्त्तम, हब्बुल मास्फर।

हरीतक्यादिवर्ग में इसके वृक्ष का परिचय दिया गया है।

बीज—बालक के दांत के समान सफेद रङ्ग, छिलका मोटा और गूदी मटमैली होती है। इसका स्वाद कुछ कडवा होता है॥ ३१॥

अथ गवेधुका (गरहेडुआ)। तस्या नामगुणानाह

गवेधुका तु विद्वद्भिर्गवेधुः कथिता स्त्रियाम्। गवेधुः कटुका स्वाद्वी कार्श्यकृत्कफनाशिनी॥८५॥

गरहेडुआ के संस्कृत नाम—गवेधुका और गवेधु (यह स्त्रीलिङ्गी है) ये दो विद्वानों ने बतलाये हैं। **गुण**—गरहेडुआ कटु रसयुक्त, स्वादिष्ट, कृशता करने वाला एवं कफनाशक होता है॥ ८५॥

३२ गरहेडुवा

हि०-गरहेडुआ, गरहेडु (दु) वा, गरगरी धान। **बं०**-गडगड, देधान, गुरगुड। **म०**-कसई चे बीज। **प०**-सकलु। **म०**-रानजोंधला। **गु०**-कसई। **अं०**-Coixbarbata (कोइक्सबार्बेटा)। **ले०**-*Coix lachryma jobi* (कोइक्स लाक्रिमा जोबि)।

यह बङ्गाल के गडहों और चावल के खेतों में उत्पन्न होता है तथा अन्य प्रान्तों में भी पाया जाता है। इसका **पौधा**-३ से ५ फुट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**-४ से १८ इञ्च तक लम्बे १-१॥ इञ्च चौडे नुकीले होते हैं। **फूल**-नारङ्गी रङ्ग के आते हैं। **फल**-गोल होते हैं॥ ३२॥

अथ नीवारः (तीनी)। तस्य नामगुणानाह

प्रसाधिका तु नीवारस्तृणान्नमिति च स्मृतम्। नीवारः शीतलो ग्राही पित्तघ्नः कफवातकृत्॥

तीनी के संस्कृत नाम—प्रसाधिका, नीवार और तृणान्न ये सब हैं। **गुण**-तीनी शीतल, ग्राही, पित्तनाशक एवं कफ तथा वातकारक है॥ ८६॥

३३ तीनी

हि०-तीनि, तीन्नी, तिली, तिन्ना, निवार। बं०-उड़िधान्य। म०-देवमात। गु०-वंटो, नानर्नी। क०-ज्यर हुमेधे, जरहुमेधे। ते०-निवरीवट्टु। ले०-*Panicum italieum* (पानिकम इटालियम)।

तीनी—एक प्रकार का धान्य (चावल) है। यह अन्य धानों की नाईं वर्षा ऋतु में खेतों में वोई जाती है॥ ३३॥

अथ यावनालः (पनेरा, जुआर)। तस्य गुणानाह

यावनालो हिमः स्वादुर्लोहितः श्लेष्मपित्तजित्। अवृष्यस्तुवरो रूक्षः स्वेदकृत्कथितो लघुः॥

जुआर (पनेरा) का संस्कृत नाम यावनाल है। **गुण**-जुआर स्वादिष्ट, कषाय रसयुक्त, शीतल, किंचित् वीर्यवर्धक, रूक्ष, क्लेदकारक, लघु एवं रक्तविकार, कफ तथा पित्त को नष्ट करने वाला होता है॥ ८७॥

३४ जुआर

हि०-जुआर, ज्वार, जुवार, जिनोरा, छोटी जोन्हरी, मसुरिया। बं०-जुयारा, जोयार, जनार। म०-जोंधले, ज्वारी। गु०-जोंख, जुवार। क०-जोल, जोला। ते०-जोन्नलु। इं०-शोल। फा०-जुरेमका, जिर्रहमका, गावरस हिन्दी। अ०-हंतारुमिया खदरूस, हिन्तये रूमिया।

यह प्रायः सब प्रान्तों के खेतों में वोया जाता है। इसके **पौधे** और **पत्ते** का आकार मक्का के समान होता है। पौधे के अन्त में **बीजकोषों** के गुच्छे लगते हैं। **दाने**-बाजरा से बड़े और गोल होते हैं॥ ३४॥

अथ परिभाषामाह

धान्यं सर्वं नवं स्वादु गुरु श्लेष्मकरं स्मृतम्। तत्तु वर्षोषितं पथ्यं यतो लघुतरं हि तत्॥
वर्षोषितं सर्वधान्यं गौरवं परिमुञ्चति। न तु त्यजति वीर्यं स्वं क्रमान्मुञ्चत्यतः परम्॥
एतेषु यवगोधूमतिलमाषा नवा हिताः। पुराणा विरसा रूक्षा न तथा गुणकारिणः॥

धान्यविषयक परिभाषा—सभी प्रकार के धान्य यदि नवीन हों तो वे स्वादिष्ट, गुरु तथा कफकारक होते हैं। यदि वे वर्ष भर के रखे पुराने हों तो पथ्य होते हैं, क्योंकि अत्यन्त लघु हो जाते हैं। वर्ष भर के रखे पुराने सभी धान्य गुरुता छोड़ देते हैं अर्थात् लघु हो जाते हैं, किन्तु अपने वीर्य को नहीं छोडते हैं। वर्ष भर के बाद जैसे-जैसे वे पुराने होते जाते हैं वैसे-वैसे अपने-अपने वीर्य को क्रम से थोडी थोडी मात्रा में छोड़ते जाते हैं। किन्तु जव गेहू, तिल, उरद ये नवीन ही अवस्था में अपने-अपने गुणों से युक्त रहते हैं और हितकर होते हैं। पुराने होने पर वे विरस तथा रूक्ष हो जाते हैं तथा उतने गुणकारी नहीं होते हैं॥ ८८-९०॥

***पुराणा वर्षद्वयादुपरि स्थिताः। यवादयो नवाः स्वस्थान् प्रति हिताः। पथ्याशिनां तु पुराणा हिताः। 'पुराणयवगोधूमक्षौद्रजाङ्गलशूल्यभुग्।' इति वसन्ते वाग्भटेनोक्तत्वात्॥**

यहाँ 'पुराण' पद से दो वर्ष के ऊपर के रखे हुए जो धान्य हों वे पुराने कहलाते हैं। यवादि धान्य यदि नवीन हों तो वे स्वस्थ मनुष्यों के लिये ही हितकर होते हैं। पथ्य रखने वाले रोगियों के लिये तो पुराने अर्थात् दो वर्ष के अन्दर तक हितकर होते हैं, उनके लिये नवीन हितकर नहीं होते हैं। क्योंकि वसन्त में पथ्य द्रव्यों के वर्णन में वाग्भट ने 'पुराणयवगोधूम०-' इत्यादि से 'पुराना जव तथा गेहूँ, मधु, जङ्गली जीवों के मांस का कवाव खाना हितकर है' ऐसा कह कर पुराना जव और गेहू पथ्य वतलाया है॥ ८८-९०॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
नवमो धान्यवर्गः समाप्तः॥ ९॥

अथ शाकवर्गः

तत्र शाकनिरूपणमाह

पत्रं पुष्पं फलं नालं कन्दं संस्वेदजं तथा । शाकं षड्विधमुद्दिष्टं गुरुं विद्याद्यथोत्तरम् ॥ १ ॥

शाक का निरूपण—१ पत्र, २ पुष्प, ३ फल, ४ नाल, ५ कन्द और ६ संस्वेदज ये ६ प्रकार के शाक माने गये हैं । इनमें एक दूसरे की अपेक्षा उत्तरोत्तर गुरु समझना चाहिये । जैसे—पत्र की अपेक्षा पुष्पशाक गुरु होता है । उसकी अपेक्षा फल शाक अधिक गुरु होता है इत्यादि क्रम से उत्तरोत्तर गुरु होते हैं ॥ १ ॥

अथ शाकानां गुणानाह

प्रायः शाकानि सर्वाणि विष्टम्भीनि गुरूणि च । रूक्षाणि बहुवर्चांसि सृष्टविण्मारुतानि च ॥
शाकं भिनत्ति वपुरस्थि निहन्ति नेत्रं, वर्णं विनाशयति रक्तमथापि शुक्रम् ।
प्रज्ञाक्षयं च कुरुते पलितं च नूनं, हन्ति स्मृतिं गतिमिति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ ३ ॥
शाकेषु सर्वेषु वसन्ति रोगास्ते हेतवो देहविनाशनाय ।
तस्माद् बुधः शाकविवर्जनं तु कुर्यात्तथाऽम्लेषु स एव दोषः ॥ ४ ॥

सभी प्रकार के शाकों के सामान्यरूप से गुण—प्रायः करके सभी शाक (पत्र-पुष्पादि ६ प्रकार के)-विष्टम्भक, गुरु, रूक्ष, विशेषरूप से मल निकालने वाले अर्थात् अधिक टट्टी निकालने वाले, मल तथा अधोवायु की प्रवृत्ति कराने वाले होते हैं और द्रव्यगुण के जानने वाले विद्वान् लोग शाक के विषय में यह भी कहते हैं कि शाक शरीरस्थित हड्डियों का भेदन करने वाला अर्थात् उनकी सारता को नष्ट करने वाला, नेत्रों की शक्ति, रक्त, शुक्र, बुद्धि, स्मरणशक्ति तथा गति (चलने की शक्ति) को नष्ट करने वाला एवं पलित (अकाल में बालों का सफेद होना) को करने वाला होता है ।

सभी शाकों में रोग रहते हैं और वे ही रोग देह के नष्ट करने में हेतु होते हैं । इसलिये समझदार लोगों को चाहिये कि शाक का खाना छोड दें । अम्ल (खट्टे) पदार्थों में भी पूर्वोक्त दोष होने से उनका सेवन परित्याग करना उचित है ॥ २-४ ॥

*एतानि शाकनिन्दकानि वचनानि सामान्यानि ॥ २-४ ॥

यहाँ ये सब शाक की निन्दा करनेवाले पूर्वोक्त वचन सामान्य रूपसे हैं ॥ २-४ ॥

अथ शाकेषु विशिष्टानि । तत्र पत्रशाकानि ।

तत्रापि वास्तूकद्वयम् (दोनों बथुआ) । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

वास्तूकं वास्तुकं च स्यात्क्षारपत्रं च शाकराट् । तदेव तु बृहत्पत्रं रक्तं स्याद्गौडवास्तुकम् ॥
प्रायशो यवमध्ये स्याद्यवशाकमतः स्मृतम् । वास्तूकद्वितयं स्वादु क्षारं पाके कटूदितम् ॥
दीपनं पाचनं रुच्यं लघु शुक्रबलप्रदम् । सरं प्लीहास्रपित्तार्शःकृमिदोषत्रयापहम् ॥ ७ ॥

शाक के विषय में विशेष वचन—शाकों में प्रथम पत्रशाक का वर्णन करते हैं । उसमें भी प्रथम दोनों प्रकार के बथुआ के विषय में विशेष वचनों का उल्लेख करते हैं । बथुआ के संस्कृत नाम—वास्तूक, वास्तुक, क्षारपत्र और शाकराट् ये सब हैं । बडा बथुआ का लक्षण तथा संस्कृत नाम—जो बथुआ बडे पत्तों वाला एवं रक्तवर्ण का होता है, उसे 'गौडवास्तुक' कहते हैं । बथुआ अधिकतर जव के खेत में होता है, अतः संस्कृत में इसे 'यवशाक' भी कहते हैं । गुण—दोनों बथुआ स्वादिष्ट, क्षारयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, अग्निदीपक, पाचक, रुचिकारक, लघु, शुक्र तथा बल को बढाने वाले, सारक एवं प्लीहा, रक्तपित्त, बवासीर, कृमि तथा त्रिदोष के नाशक हैं ॥

१ बथुआ

हि०–बथुआ, बथुआ, चिल्लीशाक । **बं०**–वेतुया, वेतोशाक । **म०**–चाकवत, चकवत, चिम्विल, चिखिल । **गु०**–टांको, बथवो, बाथरो, चीलो । **मा०**–बथवो । **क०**–चाकवर्त्त, चक्रवती, विलिय चिल्लीके । **फा०**–मुसेलेसा, सरमक, सलमह । **अ०**–रोक् बतुल बजामेल, कुतुफ, कतफ । **अं०**–White goose foot (ह्वाइट गूज फूट) । **ले०**–*Chenopodium album* (चेनोपोडियम एल्बम ।

भारतवर्ष के प्रायः सब प्रान्तों के खेतों में यह बहुलता से पाया जाता है विशेष कर यह आप ही आप बिना बोये उत्पन्न होता है। इसका **क्षुप**–सीधा या झुका हुआ २–३ बिलस्त तक ऊँचा गन्धहीन होता है। **पत्ते**–आकार में छोटे बडे, त्रिकोणाकार, नुकीले कई प्रकार के होते हैं। डण्डियों के अन्त में बारीक पुष्प और बीजकोषों के गुच्छे लगते हैं।

२ बड़ा बथुआ

हि०–बडा बथुआ, बथुआ, चिल्ली शाक । **बं०**–वेतोशाक । **म०**–चिविल, चाकवताची भाजी । **गु०**–चील । **क०**–विलीय चिल्लिके । **अं०**–Purple goose foot (पर्पल गूज फूट) । **ले०**–*Chenopodium viride* (चेनोपोडियम विरिडे) ।

यह उक्त बथुए के समान होता है किन्तु आकार में बडा और लाल रङ्ग का होता है ॥१–२॥

अथ पोतकी (पोई) । तस्या नामगुणानाह

पोतक्युपोदिका सा तु मालवाऽमृतवल्लरी । पोतकी शीतला स्निग्धा श्लेष्मला वातपित्तनुत् ॥ अकण्ठ्या पिच्छिला निद्राशुक्रदा रक्तपित्तजित् । बलदा रुचिकृत्पथ्या बृंहणी तृप्तिकारिणी ॥

पोई के संस्कृत नाम—पोतकी, उपोदिका, मालवा तथा अमृतवल्लरी ये सब हैं। **गुण**–पोई शीतल, स्निग्ध, कफजनक, वात तथा पित्तनाशक किञ्चित् कण्ठ के लिये हितकर, पिच्छिल, निद्रा तथा शुक्र को देनेवाली, रक्तपित्त को दूर करनेवाली, बलदायक, रुचिकारक, पथ्य, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक) एवं तृप्तिकारक होती है ॥ ८–९ ॥

३ पोय

हि०–पोय (शाक), पोय का साग, पोई का शाग । **बं०**–पूई, पुइशाक । **म०**–वेलपोई, मयाळ, लघुमयालु, थोर मयालु, मयाला, मयलु, माडवी, राजगिरा, रुद्रवेलि । **गु०**–पोथी । **क०**–हरिटोड्डु बसले, बसले । **पं०**–पोई साग । **मा०**–पोई । **ते०**–बच्चलि । **द्रा०**–बशलक्कीरे । **अं०**–Indian spinach (इण्डियन स्पाइनक्) । **ले०**–*Basella alba* (बेसिला एल्बा) ।

यह इस देश के प्रायः सब प्रान्तों में बोई जाती है। घर के पास टट्टी या छप्परों पर फैली हुई देखने में आती है। **पत्ते**–सीशम के पत्ते के समान गोलाकार परन्तु उनसे मोटे और गूदेदार होते हैं। **पत्रदण्ड** से कोमल सींक निकल कर उस पर क्रमशः लाल मिश्रित सफेद रङ्ग के फूल आते हैं। **फल**–छोटे-छोटे गोल किञ्चित् नोकीले पकने पर कालापनयुक्त बैंगनी रङ्ग के हो जाते हैं। **सफेद** और **लाल** डंडी के भेद से यह दो प्रकार की होती है ॥ ३ ॥

अथ श्वेतरक्तमारिषौ (सफेद व लाल मरसा) । तयोर्नामानि गुणांश्चाह

मारिषो बाष्पको मार्षः श्वेतो रक्तश्च स स्मृतः । मारिषो मधुरः शीतो विष्टम्भी पित्तनुद् गुरुः ॥ वातश्लेष्मकरो रक्तपित्तनुद् विषमाग्निजित् । रक्तमार्षो गुरुर्नाति सक्षारो मधुरः सरः ॥ श्लेष्मलः कटुकः पाके स्वल्पदोष उदीरितः ॥ ११ ॥

मरसा के संस्कृत नाम—मारिष, बाष्पक और मार्ष ये सब हैं। **भेद**–सफेद तथा रक्तवर्ण के भेद से मरसा दो प्रकार का होता है। **गुण**–मरसा (सफेद) मधुर रसयुक्त, शीतल, विष्टम्भजनक, पित्तनाशक, गुरु, वात तथा कफकारक एवं रक्तपित्त, विषमाग्नि को शमन करने वाला होता है। **लाल मरसा**–किञ्चित् गुरु, क्षारयुक्त, मधुर रस वाला, सारक, कफजनक, पाक में कटुरसयुक्त तथा स्वल्प दोष वाला कहा हुआ है ॥ १०–११ ॥

४ सफेद मरसा

हि०-मरसा, नवडा, नवडो, सफेद मरसा साग, गन्हार। बं०-काँटानटे, काँटानटेर शाक, श्वेतकाँटानटे। गु०-डाँभो, राजगरो। उ०-नेउटा शाग। ते०-ङगुलकुटा। म०-पोकळ्याचीं भाजी, मराठी भाजी। फा०-बुस्तान अफरोज। लै०-*Amarantus paniculatus* (अमरँटस् पानिक्युलैटस्)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसकी खेती की जाती है। इसका क्षुप-४-५ फुट तक ऊँचा होता है। डंडी-हाथ के अंगूठा समान मोटी होती है। पत्ते-२ से ६ इञ्च तक लम्बे, १-३ इञ्च चौडे चौलाई के पत्तों के आकारवाले होते हैं। डंडी के अन्त में उसके चारो ओर बारीक फूलों के गुच्छे लगते हैं। बीज-बारीक काले रङ्ग के होते हैं।

५ लाल मरसा

हि०-लाल मरसा, लाल नवडा। बं०-रक्तकाँटा नटेर शाक, लाल काटा नटेर। म०-माठाची भाजी। गु०-माटी चुलाई। लै०-*Amarantus gangeticus* (अमरँटस् गॅंजेटिकस्)।

प्रायः सब प्रान्तों के खेतों में इसका रोपण करते हैं। इसका क्षुप-२-३ फुट ऊँचा और लाल होता है। पत्ते-उक्त मरसे के आकार वाले, किञ्चित् हरापनयुक्त लाल या नीलापनयुक्त लाल अथवा चमकीले लाल रङ्ग के होते हैं। डण्डियों के चारो ओर सघन गुलाबी रङ्ग के बारीक फूलों के गुच्छे लगते हैं। बीज-उक्त मरसा के समान होते हैं ॥ ४-५ ॥

अथ तण्डुलीयः (चौलाई)। तस्य नामगुणानाह

तण्डुलीयो मेघनादः काण्डेरस्तण्डुलेरकः। भण्डीरस्तण्डुलीबीजो विषघ्नश्चाल्पमारिषः॥१२॥
तण्डुलीयो लघुः शीतो रूक्षः पित्तकफास्रजित्। सृष्टमूत्रमलो रुच्यो दीपनो विषहारकः॥१३॥

चौलाई के संस्कृत नाम—तण्डुलीय, मेघनाद, काण्डेर, तण्डुलेरक, भण्डीर, तण्डुलीबीज, विषघ्न तथा अल्पमारिष ये सब हैं। गुण-चौलाई लघु, शीतल, रूक्ष, मूत्र तथा मल को निकालने वाली, रुचिकारक, अग्निदीपक एवं पित्त, कफ, रक्तविकार तथा विष को दूर करने वाली होती है॥

६ चौलाई

हि०-चौलाई का शाक, चौराई का साग, चवडाई, चवलाई, गेहडी साग। बं० क्षुद्रेनटे, नटे शाक, काटा नटे। म०-तांदुलजा, तांडुलजा, तांदुलिजा। गु०-तांदल जानी भाजी, तांजल जो, तांदल जो। क०-किरू कुशाल, तप्लु, मुलुकिरई। ते०-मोला कुरा। ता०-मुलक्कोर। फा०-सफेद मर्ज, सुपेद मर्ज। अ०-बुक़लेय मानोया, बुक़ल्ये यमानिया। अं०-Prickly amaranth (प्रिक्ली अमरैन्थ)। लै०-*Amaranthus-spinosus* (अमरैन्थस् स्पाइनोसस्)।

इस देश के प्रायः सब प्रान्तों के खेत, बाग, बगीचों में और वीरान भूमि में आप ही आप उत्पन्न होती है। इसका क्षुप-२ फीट तक ऊँचा और शाखाएँ-झाडदार होती है। पत्ते-१-१॥ इञ्च लम्बे चौडे बर्छीनुमे परन्तु नोकरहित होते हैं। पत्तों की जड़ में महीन तीक्ष्ण काटे होते हैं। डंडियों-पर बारीक फूलों के गुच्छे रहते हैं। इनके बारीक काले रंग के गोल चमकीले बीज निकलते हैं। काटे वाली, बिना काटे वाली, हरे पत्ते की, लाल पत्ते की और नीलापनयुक्त लाल अथवा लालीयुक्त नीले पत्ते की,-इस प्रकार चौलाई कई प्रकार की होती है ॥ ६ ॥

अथ पानीयतण्डुलीयम् (जलचौलाई)। तस्य नामगुणानाह

पानीयतण्डुलीयं तु कञ्चटं समुदाहृतम्। कञ्चटं तिक्तकं रक्तपित्तानिलहरं लघु ॥ १४ ॥

जल चौलाई (यह चौलाई का भेद है और शास्त्र में 'कञ्चट' नाम से प्रसिद्ध है) के संस्कृत नाम—पानीयतण्डुलीय, जलतण्डुलीय तथा कञ्चट ये सब हैं। गुण-जल चौलाई तिक्त रस युक्त लघु एवं रक्तपित्त तथा वायुदोष को नष्ट करने वाली होती है ॥ १४ ॥

७ जल चौलाई

हि०-जलचौलाई, चौराईभेद। बं०-वापानटे, जलतांदुलजा। गु०-पाणीनो तांदलजो। ते०-कुईकोरा, कुईकोरी।

जल चौलाई पानी के निकटवर्त्ती स्थान में उत्पन्न होती है और खेतों में रोपण करने से उसमें बार-बार पानी से सींचने की आवश्यकता होती है। **पत्ते**-लम्बे चौड़े नोकरहित वर्त्तुलमे होते हैं। **डंडियों** के अन्त में डंडी के चारो तरफ बारीक फूलों के गुच्छे रहते हैं और **बीज**-चौलाई के समान बारीक काले रङ्ग के होते हैं॥ ७॥

अथ पालक्या (पालक)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

पालक्या वास्तुकाकारा छुरिका चीरितच्छदा॥ १५॥
पालक्या वातला शीता श्लेष्मला भेदिनी गुरुः। विष्टम्भिनी मदश्वासपित्तरक्तकफापहा॥

पालक के संस्कृत नाम—पालक्या, वास्तुकाकारा, छुरिका तथा चीरितच्छदा ये सब हैं। **गुण**-पालक वातजनक, शीतल, कफकारक, मलभेदक, गुरु, विष्टम्भ उत्पन्न करने वाला एवं मद (नशा), श्वास, पित्त, रक्तविकार तथा कफ को दूर करने वाला होता है॥ १५-१६॥

८ पालक

हि०-पालक शाक, पालकी, पलाकी, पालाकी। बं०-पालशाक, पालंग शाक, पालेक। म०-पालख, पंई शाक, पालक। गु०-पालखनी भाजी, टाँफो। क०-पालक्य, मुकुन्दनगिड। पं०-पालख (क)। मा०-पालखो। फा०-इस्पनाख, अस्वनाख, अस्पानाख। अं०-Spinage (स्पाइनेज)। ले०-*Beta vulgaris* (बेटा वल्गरिज)।

बङ्गाल और ऊँचे स्थान के खेतों में यह उत्पन्न होता है। इसका **क्षुप**-१-२ फुट तक ऊँचा होता है। जड़ वाले **पत्ते**-लम्बे चौड़े, अण्डाकार और किंचित् वर्त्तुलमें होते हैं। ज्यों ज्यों डंडी बढ़ती जाती है, त्यों त्यों पत्तों का आकार भी बदलता जाता है। लम्बी डण्डी पर पत्तों की जड़ में फूल गुच्छाकार आते हैं। **बीज**-चौकोणाकार और खरदरे होते हैं॥ ८॥

अथ कालशाकम् (नाडीका शाक)। तस्या नामगुणानाह

नाडिकं कालशाकं च श्राद्धशाकं च कालकम्। कालशाकं सरं रुच्य वातकृत्कफशोथहृत्॥
बल्यं रुचिकरं मेध्यं रक्तपित्तहरं हिमम्॥ १७॥

नाडीका शाक के संस्कृत नाम—नाडिक, कालशाक, श्राद्धशाक और कालक ये सब हैं। **गुण**-नाडी का शाक सारक, रोचक, वातकारक, कफ तथा शोथ नाशक, बलदायक, रुचि को उत्पन्न करने वाला, मेधा के लिये हितकर अथवा पवित्र, शीतल एवं रक्तपित्तनाशक है॥ १७॥

९ कालशाक (नाड़ीका शाक)

हि०-नाडीचा, नरिंचा, करेबु शाग, नाडीका शाक, पटुआ भेद, गोलवा, ललितापाट। बं०-नालिता शाक, वनपाट, कोस्टारशाक। म०-कुलीची भाजी। गु०-छुनेहट, बोराकुष्ट। ले०-*Corchorus capsularis* (कोर्कोरस काप्सुलेरिस)।

यह गरम प्रदेशों में अधिक उत्पन्न होता है। इसका **क्षुप**-३-४ फुट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**-२-४ इञ्च लम्बे आध से पौन इञ्च चौड़े, अडाकार और कंगूरेदार होते हैं। **फूल**-पीले रङ्ग के आते हैं। **डोडी**-गोलाकार पाँच भाग वाली होती है॥ ९॥

अथ पट्टशाकः (पटुआ शाक)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पट्टशाकस्तु नाडीको नाडीशाकश्च स स्मृतः। नाडीको रक्तपित्तघ्नो विष्टम्भो वातकोपनः॥१८॥

पटुआ शाक के संस्कृत नाम—पट्टशाक, नाडीक और नाडीशाक ये सब हैं। **गुण**-पटुआ शाक रक्तपित्तनाशक, विष्टम्भजनक एवं वात को कुपित करने वाला होता है॥ १८॥

१० पट्टशाक (पटुआ शाक)

हि०-पटुआ, पटवा, पट्टए का शाक। बं०-पाट शाक, नालिता शाक, कोस्टार शाक।

म०-अलव्या, नाडीशाक, मयाल। गु०-अलवी, नीलानी भाजी। ले०-*Corchorus olitorius* (कोर्कोरस ओलिटोरियस)।

यह कई प्रान्तों में आप ही आप जङ्गली उत्पन्न होता है और कहीं-कहीं सन के लिये इसको रोपण भी करते हैं। इसका क्षुप-२-३ हाथ तक ऊँचा होता है। पत्ते-२-४ इञ्च लम्बे, १-२ इञ्च चौड़े, चिकने, अण्डाकार और अनीदार होते हैं। फूल-पीले रङ्ग के आते हैं। ढोंढी-१-२ इञ्च लम्बी गावदुम होती है।

अथ कलम्बी (कलमी शाक)। तस्या नामगुणानाह

कलम्बी शतपर्वा च कथ्यन्ते तद्गुणा अथ। कलम्बी स्तन्यदा प्रोक्ता मधुरा शुक्रकारिणी॥

कलमी शाक का संस्कृत नाम—कलम्बी और शतपर्वा है। **गुण**—कलमी शाक मधुर रसयुक्त, दुग्धवर्धक तथा शुक्र को उत्पन्न करने वाला होता है॥ १९॥

११ कलम्बी

हि०-कलम्बी शाक, करमी, कलमी का साग, करेवु, नटो शाक, करेमुआ। बं०-कलमी शाक, कलमा शाक। ते०-तोमे बचलि। पं०-नारी, नाली। म०-नालीची भाजी। ले०-*Ipomia aquatica* (आइपोमिया अक्वैटिका)।

यह **लता**-जाति की वनस्पति प्रायः सब प्रान्तों के सजल स्थान में जल के ऊपर तैरती हुई दिखाई देती है। इसकी जड़-कीचड में फैलती है। डंडी-पोली होती है। पत्ते-३ से ६ इञ्च लम्बे त्रिकोणाकार होते हैं। फूल-नलिकाकार १-२ इञ्च लम्बे निसोत के समान और फल भी निसोत के आकार वाले होते हैं॥ ११॥

अथ लोणी बृहल्लोणी च (नोनिया, बड़ा नोनिया, कुलफा)। तयोर्नामगुणानाह

लोणा लोणी च कथिता बृहल्लोणी तु घोटिका। लोणी रूक्षाम्लना गुर्वी वातश्लेष्महरी पटुः॥
अर्शोघ्नी दीपनी चाम्ला मन्दाग्निविषनाशिनी। घोटिकाऽम्ला सरा चोष्णा वातकृत्कफपित्तहृत्॥
वाग्दोषव्रणगुल्मघ्नी श्वासकासप्रमेहनुत्। शोथे लोचनरोगे च हिता तज्ज्ञैरुदाहृता॥ २२॥

नोनिया का संस्कृत नाम—लोणा तथा लोणी है। बड़ी नोनियाँ का संस्कृत नाम-बृहल्लोणी, और घोटिका है। **गुण**-नोनिया लवण तथा अम्लरसयुक्त, रूक्ष, गुरु, अग्निदीपक एवं वात, कफ, अर्श (बवासीर), अग्नि की मन्दता तथा विष को नाश करने वाली है। **बड़ी नोनियाँ**-इसके गुण के जानने वालों ने इसे अम्ल रसयुक्त, सारक, उष्ण, वातकारक एवं कफ, पित्त, वाणीदोष (बोलने में हकलाना आदि दोष), व्रण, गुल्म, श्वास, खांसी और प्रमेह को दूर करने वाली तथा शोथ और नेत्ररोग में हितकर बतलाया है॥२०-२२॥

१२ छोटी लोणा

हि०-छोटी लोणा, नोनीसाग, छोटी नोना, लोनी, नोनी, नोनिया, लोनिया, आवतीशाक, अम्ललोनिया। बं०-क्षुद्रे नुनी, वननुनी, नुनेशाक। म०-घोल, लहान घोल। गु०-लुणी झोणी। क०-गोलि। पं०-लुनक। ते०-पइल, कुर, अइलकुस। ता०-कोरिल कीरई, लकीरई। मु०-कुर्फा। अ०-बुक्ल तुलह मका। अं०-Purslane (पर्सलेन)। ले०-*Portulaca quadrifida* (पोर्टुलाका क्वाड्रिफिडा)।

छोटी लोणा एक प्रसिद्ध शाक है। इसके पत्ते-तीसी के समान छोटे-छोटे होते हैं और फूल-पीला होता है। यह ललोई लिये हरे रङ्ग की, स्वाद में खारी और खट्टी होती है।

१३ बड़ी लोणा

हि०-बड़ी लोणा, लोणाशाक, कुल्फा। बं०-बड़नुनी। म०-मलेघोल, राय घोल, कुर्फा। गु०-लुणी मोटी। फा०-खुल्फा, खुर्फा। अ०-बकुतुल हुमका। पं०-लोनक, कुल्फा। द०-कुल्फे की भाजी। क०-दुद्दे गोरई। ले०-*Portulaca oleracea* (पोर्टुलैका ओलेरैसिआ)।

बड़ी लोणा—नोना तथा कुल्फे के नाम से प्रसिद्ध है। यह आप ही आप खादर भूमि पर अधिक उत्पन्न होती है। इसके **पत्ते**-छोटी लोणा के पत्तों से बड़े, गोलाई लिये लम्बे होते हैं और **फूल**-पीला होता है ॥ १२-१३ ॥

अथ चाङ्गेरी (अम्बिलोना) । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

चाङ्गेरी चुक्रिका दन्तशठाऽम्बष्ठाऽम्ललोणिका । अश्मन्तकस्तु शफरी कुशली चाम्लपत्रकः ॥२३॥
चाङ्गेरी दीपनी रुच्या रूक्षोष्णा कफवातनुत् । पित्तलाऽम्ला ग्रहण्यर्शःकुष्ठातीसारनाशिनी ॥२४॥

अम्बिलोना के संस्कृत नाम—चाङ्गेरी, चुक्रिका, दन्तशठा, अम्बष्ठा, अम्ललोणिका, अश्मन्तक, शफरी, कुशली और अम्लपत्रक ये सब हैं।

गुण—अम्बिलोना अम्लरसयुक्त, अग्निदीपक, रुचिकारक, रूक्ष, उष्ण, पित्तजनक एवं कफ, वात, ग्रहणी, अर्श, कुष्ठ तथा अतीसार को दूर करने वाली है ॥ २३-२४ ॥

१४ चाङ्गेरी

हि०-चाङ्गेरी, अम्बिलोण, अम्बिलोना, अम्मी, खट्टी बूटी । **पं०**-खटकल, छोटा चूका, थमता, चौपतिया । **बं०**-आमरूल । **म०**-आंबवती, चुका । **गु०**-चुको, आम्बोती । **क०**-पुलुवुणिसे, पुलं पुलुचे । **ते०**-पुलि चिन्ता । **द्रा०**-पुलियारे । **अं०**-Indian sorrel (इण्डियन सोरल) । **ले०**-*Oxalis corniculata* (ऑक्सलिस कार्निकुलैटा) ।

प्रायः सभी गरम प्रान्तों की ऊसर भूमि, खडहर तथा घरों के आसपास आप ही आप जङ्गली उत्पन्न होती है। यह तृणजातीय वनस्पति पृथ्वी पर छत्ते से फैली हुई रहती है। **पत्रदण्ड**-भूमि से कुछ उठा हुआ रहता है। **पत्ते**-गोलाकार एक साथ तीन-तीन रहते हैं। इसलिये इसको तिपतिया भी कहते हैं। **फूल**-नन्हे नन्हे पीले रङ्ग के आते हैं और **बीजकोष**-छोटे-छोटे गावदुम होते हैं ॥ १४ ॥

अथ चुक्रिका (चूक) । तस्या नामगुणानाह

चुक्रिका स्यात्तु पत्राम्ला रोचनी शतवेधिनी ॥ २५ ॥
चुक्रा त्वम्लतरा स्वाद्वी वातघ्नी कफपित्तकृत् । रुच्या लघुतरा पाके वृन्ताकेनातिरोचनी ॥

चूक के संस्कृत नाम—चुक्रिका, पत्राम्ला, रोचनी तथा शतवेधिनी ये सब हैं। **गुण**—चूक अत्यन्त अम्ल रसयुक्त (अत्यन्त खट्टा), स्वादिष्ट, वातनाशक, कफ तथा पित्त को उत्पन्न करने वाला, रुचिकारी, विपाक में अत्यन्त लघु तथा वैगन के साथ खाने में अत्यन्त रुचिकारक है ॥

१५ चूका

हि०-चूका (शाक), बड़ा चूका शाक, खटपालक, चूका पालक । **बं०**-चुका पालंग, चूका पालग । **म०**-चुका वहिलि, आंबट चुका, थोर चुका, आंबवती । **गु०**-चुको खाटी भाजी, मोटो चुको । **क०**-हुलिच, हुलिक कोत, कोत, हुलीचकोत । **फा०**-तुरश्क बड़ा, तुर्श खुरासानी, तरह हिरा साई । **अ०**-हुमाज बुक्लेहा मेजा, हुरफ़ येह मिजई । **अं०**-Bladders dack (ब्लेडर्स डाक) । **ले०**-*Rumex vesicarius* (रुमेक्स वेसिकैरियस) ।

यह पश्चिम पञ्जाब और सिन्ध नदी के आसपास पहाडी जमीन में अधिक होता है और दूसरे प्रान्त में भी कहीं-कहीं पाया जाता है। इसका **क्षुप**-१-१॥ बिलस्त तक ऊँचा और गूदेदार होता है। **पत्ते**-अण्डाकार होते हैं। **फूल**-गोलाकार और **फल**-आध इञ्च के घेरे में गोल सफेद या लाल रङ्ग के होते हैं ॥ १५ ॥

अथ चञ्चुकी (चेंचुना) । तस्या नामगुणानाह

चिञ्चा चञ्चुश्चञ्चुकी च दीर्घपत्रा सतिक्तका । चञ्चु: शीता सरा रुच्या स्वाद्वी दोषत्रयापहा ॥
धातुपुष्टिकरी बल्या मेध्या पिच्छिलका स्मृता ॥ २७ ॥

चेंचुना के संस्कृत नाम—चिञ्चा, चञ्चु, चञ्चुकी, दीर्घपत्रा तथा सतिक्तका ये सब हैं।

गुण—चेंचुना स्वादिष्ट, शीतल, सारक, रुचिकारक, त्रिदोषनाशक, धातु को पुष्ट करने वाला, बलदायक, मेधा के लिये हितकर तथा पिच्छिल है ॥ २७ ॥

१६ चंचु

हि०-चंचु शाक, चोंच, चेंचुना, चचू, चेंचुक, खेतपात । **बं०**-चेचकी, वनपाट, त्लिनलिना । **म०**-चुञ्चभाजी, लघु चचु, थोर चंचु । **गु०**-छुञ्च राज गरिनी भाजी, छुंछरी । **ते०**-चिंत चेट्टु । **ले०**-*Corchorus fascicularis* (कोर्कोरस फैसिक्युलरिस)।

यह गरम प्रान्तों में अधिक उत्पन्न होता है। इसका **क्षुप**-छोटा होता है। **पत्ते**-१-२ इञ्च लम्बे, पौन से आध इञ्च तक चौडे, अण्डाकार और नुकीले होते हैं। **फूल**-पीले रङ्ग के आते हैं। **फलियाँ**-अण्डाकार या गावदुम होती है ॥ १६ ॥

अथ हिलमोचिका (वामनहाटी–हुलहुल)। तस्या नामगुणानाह

ब्राह्मी शङ्खधराऽऽचारी मत्स्याक्षी हिलमोचिका। शोथं कुष्टं कफ पित्तं हरते हिलमोचिका ॥

हुरहुर के संस्कृत नाम—ब्राह्मी, शङ्खधरा, आचारी, मत्स्याक्षी तथा हिलमोचिका ये सब हैं। **गुण**—वामनहाटी (हुलहुल) शोथ, कुष्ठ, कफ तथा पित्त का नाशक है ॥ २८ ॥

१७ हुलहुल शाक

हि०-हुरहुर, हुलहुर, हुलहुल, जलपीपल, मछेछी । **बं०**-हिलेंचा शाक, हिंचेशाक, हिंचाशाक, हिंगचा । **गु०**-हुरहुच, हुरहुची । **उ०**-हिरमिचा । **ले०**-*Enhydra flanctuns* (एन्हिड्रा फ्लाङ्कटन्स)।

यह आसाम, सिलहट और वङ्गाल की तर जमीन में पाया जाता है तथा अन्यान्य प्रान्तों में भी कहीं कहीं देखने में आता है। यह जल के निकटवर्त्ती स्थान और दलदल में उत्पन्न होने वाली तृणजातीय बूटी है। यह अधिकतर चिकनी होती है, परन्तु कोई-कोई सूक्ष्म कोमल रोमयुक्त देखने में आती है। इसका **डंठल**-१-२ फीट लम्बा, भूमि पर पसरा हुआ रहता है और गाँठों से शोरियाँ निकल कर भूमि में घुस जाती हैं। **पत्ते**-प्रायः विषमवर्त्ती रहते हैं और वे आकार में छोटे बडे कई प्रकार के हुआ करते हैं। इसकी **लम्बाई** ३ इञ्च तक और चौडाई अनियमित होती है। ये अण्डाकार, अनीदार और कंगूरेदार होते हैं। **फूल**-छोटे-छोटे प्रायः चार दल वाले, पीलापनयुक्त हरे रङ्ग के और फूलों की **घुण्डी**-किंचित् कालापनयुक्त पीले रङ्ग की होती है ॥ १७ ॥

अथ शितिवारः (शिरियारी, चौपती)। तस्य नामलक्षणगुणानाह

शितिवारः शितिवरः स्वस्तिकः सुनिषण्णकः। श्रीवारकः सूचिपत्रः पर्णकः कुक्कुटः शिखी॥
चाङ्गेरीसदृशः पत्रैश्चतुर्दलं इतीरितः। शाको जलान्विते देशे चतुष्पत्रीति चोच्यते ॥ ३० ॥
सुनिषण्णो हिमो ग्राही मेदोदोषत्रयापहः ॥ ३१ ॥
अविदाही लघुः स्वादुः कषायो रूक्षदीपनः। वृष्यो रुच्यो ज्वरश्वासमेहकुष्ठभ्रमप्रणुत् ॥३२॥

शिरियारी के संस्कृत नाम—शितिवार, शितिवर, स्वस्तिक, सुनिषण्णक, श्रीवारक, सूचिपत्र, पर्णक, कुक्कुट और शिखी ये सब हैं। **लक्षण**—शिरियारी के पत्ते चांगेरी (अम्बिलोना) के पत्तों के समान होते हैं। इसके पत्रदण्ड में ४ पत्ते रहते हैं। इसी से इसको चतुष्पत्री अर्थात् चौपतिया कहते हैं। यह शाक जलयुक्त देश में उत्पन्न होता है। **गुण**–शिरियारी मधुर तथा कषाय रसयुक्त, शीतल, ग्राही, किंचित् विदाही, लघु, रूक्ष, अग्निदीपक, वीर्यवर्धक, रुचिकारक एवं मेद, त्रिदोष, ज्वर, श्वास, प्रमेह, कुष्ठ तथा रोग नाशक है ॥ २९–३२ ॥

१८ शिरियारी

हि०-शिरियारी, चौपतिया, शिरुआरी, गुठवा । **बं०**-सुपुणी शाक, शुनिशाक, शुशुनी शाक । **म०**-करडू, कुरडाइके । **गु०**-सुनिसण्णक, लांबरी, खरकनीरा । **ते०**-सुनिषण्णमदेशाकमु । **क०**-कुरडु । **फा०**-अजरा । **ले०**-*Blepharis edulis* (ब्लेफरिस इडुलिस)।

यह शाकवर्गीय वनस्पति भारतवर्ष में प्रायः सब प्रान्तों के सजल स्थान में कहीं न कहीं पायी जाती है। वर्षाऋतु में यह अधिक उत्पन्न होती है। **इसके छत्ते**-पानी के ऊपर तैरते हुए दीख पड़ते हैं। प्रत्येक डंडी पर चार चार पत्ते रहते हैं। इस कारण इसे चतुष्पत्री या चौपतिया भी कहते हैं। पत्ते और डंडिया आकार में छोटे-बड़े हुआ करते हैं। **पत्ते**-चांगेरी के पत्तों के समान किन्तु उनसे बड़े होते हैं। डंडियों पर कली से बीजकोष आते हैं। **बीज**-नन्हें नन्हें चिपटे होते हैं ॥ १८ ॥

अथ मूलकपत्रम् (मुरई का पत्ता) । तस्य गुणानाह

पाचनं लघु रुच्योष्णं पत्रं मूलकजं नवम् । स्नेहसिद्धं त्रिदोषघ्नमसिद्धं कफपित्तकृत् ॥ ३३ ॥

मुरई के पत्ते के गुण—नवीन मुरई के पत्ते का शाक पाचक, लघु (हल्का), रुचिकारक तथा उष्ण होता है। तेल में भुना हुआ शाक त्रिदोषनाशक होता है। बिना भुना हुआ—कफ तथा पित्तकारक होता है ॥ ३३ ॥

१९ मूली के पत्ते

इसका परिचय नालशाक वर्ग में दिया जायगा ॥ १९ ॥

अथ द्रोणपुष्पीपत्रम् (गूमा का पत्ता) । तस्य गुणानाह

द्रोणपुष्पीदलं स्वादु रूक्षं गुरु च पित्तकृत् । भेदनं कामलाशोथमेहज्वरहरं कटु ॥ ३४ ॥

गूमा के पत्ते का शाक—स्वादिष्ट, कटुरसयुक्त, रूक्ष, गुरु, पित्तकारक, मलभेदक एवं कामला, शोथ, प्रमेह तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है ॥ ३४ ॥

२० गूमा

इसका पूर्ण विवरण गुडूच्यादि वर्ग में दिया गया है ॥ २० ॥

अथ यवानीशाकम् (अजवाइन का शाक) । तस्य गुणानाह

यवानीशाकमाग्नेयं रुच्यं वातकफप्रणुत् । उष्णं कटु च तिक्तं च पित्तलं लघु शूलहृत् ॥३५॥

अजवाइन के पत्ते का शाक—आग्नेय (अग्नि के गुणों से अधिक युक्त), रुचिकारक, उष्ण, कटु तथा तिक्त रसयुक्त, पित्तजनक, लघु एवं वात, कफ तथा शूल को दूर करनेवाला होता है ॥ ३५ ॥

२१ अजवायन

इसका पूर्ण परिचय हरीतक्यादि वर्ग में दिया जा चुका है ॥ २१ ॥

अथ दद्रुघ्नपत्रम् (पमार, चकवड़ शाक) । तस्य गुणानाह

दद्रुघ्नपत्रं दोषघ्नमम्लं वातकफापहम् । कण्डूकासक्रिमिश्वासदद्रुकुष्ठप्रणुल्लघु ॥ ३६ ॥

चकवड के पत्ते—दोषनाशक, लघु, अम्लरसयुक्त, (पाठान्तर मे रक्तविकार), वात, कफ, खुजली, खासी, क्रिमि, श्वास, दाद और कुष्ठ को दूर करने वाले होते हैं ॥ ३६ ॥

२२ पमार

इसका पूर्ण विवरण हरीतक्यादि वर्ग में दिया गया है ॥ २२ ॥

अथ सेहुण्डः (थूहर) । तत्पत्रस्य गुणानाह

सेहुण्डस्य दलं तीक्ष्णं दीपनं रेचनं हरेत् । आध्मानाष्ठीलिकागुल्मशूलशोथोदराणि च ॥

थूहर के पत्तों के गुण—थूहर के पत्ते तीक्ष्ण, अग्निदीपक, रेचक (दस्तावर) एवं आध्मान (अफरा), अष्ठीलिका, गुल्म, शूल, शोथ तथा उदररोग को दूर करने वाले होते हैं ॥ ३७ ॥

२३ थूहर

इसका पूर्ण परिचय गुडूच्यादि वर्ग में दिया गया है ॥ २३ ॥

अथ पर्पटः (पित्तपापड़ा) । तस्य गुणानाह

पर्पटो हन्ति पित्तास्रज्वरतृष्णाकफभ्रमान् । संग्राही शीतलस्तिक्तो दाहनुद्वातलो लघुः ॥३८॥

पित्तपापड़ा के गुण—पित्तपापडा तिक्त रसयुक्त, ग्राही, शीतल, वातजनक, लघु एवं पित्त, रक्तविकार, ज्वर, प्यास, कफ, भ्रमरोग तथा दाह को दूर करने वाला होता है ॥ ३८ ॥

२४ पित्तपापड़ा

इसका वर्णन गुडूच्यादि वर्ग में किया गया है ॥ २४ ॥

अथ गोजिह्वा (गोभी के पत्ते)। तस्या गुणानाह

गोजिह्वा कुष्ठमेहास्रकृच्छ्रज्वरहरी लघुः ॥ ३९ ॥

गोभी के पत्ते—लघु एव कुष्ठ, प्रमेह, रक्तविकार, मूत्रकृच्छ्र तथा ज्वर को दूर करने वाले होते हैं ॥ ३९ ॥

२५ गोभी

इसका पूर्ण वर्णन गुडूच्यादि वर्ग में दिया गया है ॥ २५ ॥

अथ पटोलपत्रम् (पटोलपात)। तस्य गुणानाह

पटोलपत्र पित्तघ्नं दीपनं पाचनं लघु। स्निग्धं वृष्यं तथोष्णं च ज्वरकासक्रिमिप्रणुत् ॥४०॥

परवर के पत्ते—पित्तनाशक, अग्निदीपक, पाचक, लघु, स्निग्ध, वीर्यवर्धक, उष्ण ज्वर, एव खांसी तथा क्रिमि को नष्ट करने वाले होते हैं ॥ ४० ॥

२६ पटोल-पत्र

इसका परिचय फलशाक वर्ग में कहा जायगा ॥ २६ ॥

अथ गुडूचीपत्रम् (गिलोयशाक)। तस्य गुणानाह

गुडूचीपत्रमाग्नेयं सर्वज्वरहरं लघु। कषायं कटु तिक्तं च स्वादुपाकं रसायनम् ॥ ४१ ॥
बल्यमुष्णं च संग्राहि हन्याद्दोषत्रयं तृषाम्। दाहप्रमेहवातासृक्कामलाकुष्ठपाण्डुताः ॥ ४२ ॥

गिलोय के पत्ते—आग्नेय (अग्नि के गुणों से अधिक युक्त), सर्व प्रकार के ज्वर को दूर करने वाले, लघु, कषाय, कटु तथा तिक्त रसयुक्त, विपाक में मधुर रसयुक्त, रसायन, बलकारक, उष्ण, ग्राही एव त्रिदोष, तृषा, दाह, प्रमेह, वात, रक्तविकार या वातरक्त, कामला, कुष्ठ तथा पाण्डु रोग को दूर करने वाले होते हैं ॥ ४१–४२ ॥

२७ गिलोय-शाक

इसका वर्णन गुडूच्यादि वर्ग में किया गया है ॥ २७ ॥

अथ कासमर्दः (कसौंदी शाक)। तस्य नामानि तत्पत्रस्य गुणाँश्चाह

कासमर्दोऽरिमर्दश्च कासारिः कर्कशस्तथा। कासमर्ददलं रुच्यं वृष्यं कासविषास्रनुत् ॥४३॥
मधुरं कफवातघ्नं पाचनं कण्ठशोधनम्। विशेषतः कासहरं पित्तघ्नं ग्राहकं लघु ॥ ४४ ॥

कसौंदी के संस्कृत नाम—कासमर्द, अरिमर्द, कासारि तथा कर्कश ये सब हैं। पत्तों के गुण—कासमर्द के पत्ते मधुर रसयुक्त, रुचिकारक, वीर्यवर्धक, पाचक, कण्ठ को शुद्ध करने वाले, लघु, ग्राही एव खांसी, विष, रक्तविकार, कफ तथा वात को नाश करने वाले और विशेषतः कासनाशक तथा पित्त को दूर करने वाले होते हैं ॥ ४३–४४ ॥

२८ कसौंदी

हि०–कसौंदी, कासिंदा, कसौंदी, चकौडी। **ब०**–कालका सुन्दा, कालका सुन्दर पाता, कालका कसोंदा। **म०**–कासवंदा, कास विंदा, रान कास विंदा। **गु०**–कासोंदरी, कूजी, कासुन्दरी, कासुन्दराना पादडा। **क०**–कासवदी, एलहदी, आलुवरी। **ते०**–गुरं पुताढया, गुरं पुताढय, कसिविंद चेट्टु, पोडितां गेडु, कास विन्द चेट्टु। **मला०**–पोन्ना वीर। **तु०**–अनेक जकु। **पं०**–फन छत्र, फण छत्र। **अं०**–The negro coffee (दि निग्रो काफी)। **ले०**–*Cassia occidentalis* (कैसीआ ऐक्सिडेण्टलिस)।

कसौंदी—क्षुप जाति की वनस्पति वर्षा ऋतु में अधिक होती है। इसका **क्षुप**—३-४ फुट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**—हरे रङ्ग के अण्डाकार, एक-एक डठल पर ५ या सात-सात लगते हैं। **फूल**—पीले और **फल**—चिपटे और लम्बे होते हैं। वर्षा ऋतु के अतिरिक्त और

ऋतुओं में भी यह पायी जाती है पर जिस प्रकार वर्षा में हरी-भरी रहती है वैसी और ऋतु में नहीं ॥ २८ ॥

अथ चणकशाकम् (चने का शाक) । तस्य गुणानाह

रुच्यं चणकशाक स्याद् दुर्जरं कफवातकृत् । अम्ल विष्टम्भजनक पित्तनुद्दन्तशोथहृत् ॥४५॥

चने का शाक—रुचिकारक, देर में हजम होने वाला, कफ तथा वात कारक, अम्लरस युक्त, विष्टम्भ पैदा करने वाला एव पित्त तथा दाँतों के शोथ को दूर करने वाला होता है ॥ ४५ ॥

२९ चणक

चने का वर्णन शिम्बीधान्य वर्ग में किया गया है ॥ २९ ॥

अथ कलायशाकम् (मटर का शाक) । तस्य गुणानाह

कलायशाकं भेदि स्याल्लघु तिक्त त्रिदोषजित् ॥ ४६ ॥

मटर का शाक—मल का भेदन करने वाला, लघु, तिक्तरस युक्त एव त्रिदोषनाशक होता है ॥

३० मटर

इसका परिचय शिम्बीधान्य वर्ग में दिया गया है ॥ ३० ॥

अथ सार्षपं शाकम् (सरसों का शाक) । तस्य गुणानाह

कटुकं सार्षपं शाकं बहुमूत्रमलं गुरु ।
अम्लपाकं विदाहि स्यादुष्णं रूक्ष त्रिदोषकृत् । सक्षारलवणं तीक्ष्णं स्वादु शाकेषु निन्दितम् ॥

सरसो का शाक—कटुरस युक्त, बहुत मूत्र तथा मल को करने वाला, गुरु, विपाक में अम्लरस युक्त, विदाही, उष्ण, रूक्ष, त्रिदोपकारक, क्षारयुक्त लवण रस वाला, तीक्ष्ण और स्वादिष्ट होता है । यह शाकों में निन्दनीय है ॥ ४७ ॥

३१ सरसो

इसका वर्णन शिम्बीधान्य में किया गया है ॥ ३१ ॥

अथ पुष्पशाकानि ।

तत्रागस्तिपुष्पस्य गुणानाह

अगस्तिकुसुमं शीतं चातुर्थिकनिवारणम् ।
नक्तान्ध्यनाशनं तिक्त कषायं कटुपाकि च । पीनसश्लेष्मपित्तघ्नं वातघ्नं मुनिभिर्मतम् ॥

पुष्पशाकों के गुण—अगस्त का पुष्प तिक्त तथा कषायरस युक्त, विपाक में कटुरस युक्त, शीतल एव चौथिया ज्वर, नक्तान्ध्य (रतौंधी), पीनस, कफ, पित्त तथा वात को नष्ट करनेवाला होता है ॥

३२ अगस्त

इसका विवरण-पुष्पवर्ग में दिया गया है ॥ ३२ ॥

अथ कदलीपुष्पम् (केले का फूल) । तस्य गुणानाह

कदल्याः कुसुम स्निग्धं मधुरं तुवरं गुरु । वातपित्तहरं शीतं रक्तपित्तक्षयप्रणुत् ॥ ४९ ॥

केले का फूल—मधुर तथा कषायरस युक्त, स्निग्ध, गुरु, शीतल एव वात-पित्त, रक्तपित्त तथा क्षय को दूर करने वाला होता है ॥ ४९ ॥

३३ केला

इसका परिचय फलवर्ग में दिया गया है ॥ ३३ ॥

अथ शोभाञ्जनस्य पुष्पं मधु च (सहंजना का फूल और शहद) । तयोर्गुणानाह

शिग्रोः पुष्पं तु कटुकं तीक्ष्णोष्ण स्नायुशोथनुत् ।
कृमिहृत्कफवातघ्नं विद्रधिप्लीहगुल्मजित् । मधु शिग्रोस्त्वक्षिहितं रक्तपित्तप्रसादनम् ॥५०॥

सहंजना का फूल—कटुरस युक्त, तीक्ष्ण, उष्ण, स्नायुगत शोथ को दूर करने वाला एव कृमि,

कफ, वात, विद्रधि, प्लीहा तथा गुल्म को नष्ट करने वाला होता है। सहजना के फूल का मधु-नेत्रों के लिये हितकर तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है ॥ ५० ॥

३४ सहजना

इसका वर्णन गुडूच्यादिवर्ग में किया गया है ॥ ३४ ॥

अथ शाल्मलीपुष्पम् (सेमल के फूल)। तस्य गुणानाह

शाल्मलीपुष्पशाकं तु घृतसैन्धवसाधितम् । प्रदरं नाशयत्येव दुःसाध्यं च न संशयः ॥५१॥
रसे पाके च मधुरं कषायं शीतलं गुरु । कफपित्तास्रजिद् ग्राहि वातलं च प्रकीर्त्तितम् ॥५२॥

सेमल के फूल का शाक—यदि यह घी तथा सेन्धा नमक डाल कर बनाया जाय तो सेवन करने से निःसन्देह दुःसाध्य प्रदर को दूर करता है। यह कषाय तथा मधुररस युक्त, विपाक में मधुररस युक्त, शीतल, गुरु, ग्राही, वातजनक एवं कफ, पित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है ॥ ५१-५२ ॥

३५ सेमर

इसका विवरण वटादिवर्ग में दिया गया है ॥ ३५ ॥

अथ फलशाकानि

तत्र कूष्माण्डम् (कुम्हड़ा)। तस्य नामानि तद्बाल-मध्यम-वृद्धफलानां च गुणानाह

कूष्माण्डं स्यात्पुष्पफलं पीतपुष्पं बृहत्फलम् ॥ ५३ ॥
कूष्माण्डं बृंहणं वृष्यं गुरु पित्तास्रवातनुत् । बालं पित्तापहं शीतं मध्यमं कफकारकम् ॥५४॥
वृद्धं नातिहिमं स्वादु सक्षारं दीपनं लघु । बस्तिशुद्धिकरं चेतोरोगहृत्सर्वदोषजित् ॥५५॥

कुम्हड़ा के संस्कृत नाम-कूष्माण्ड, पुष्पफल, पीतपुष्प तथा बृहत्फल ये सब हैं। गुण-कुम्हड़ा बलवर्धक, वृष्य (वीर्यवर्धक), गुरु एवं पित्त, रक्तविकार तथा वात को नष्ट करने वाला होता है। कच्चा फल शीतल तथा पित्तनाशक, मध्यम अवस्था का फल कफकारक और पक्का फल स्वादिष्ट, क्षारयुक्त, किंचित् शीतल, अग्निदीपक, लघु, वस्ति (मूत्राशय) का शोधन करने वाला, मानसिक रोग (उन्माद आदि) तथा सम्पूर्ण दोषों को दूर करने वाला होता है ॥ ५३-५५ ॥

३६ कुम्हड़ा

हि०-पेठा, भूराकोहला, भूरा कुम्हड़ा, भतुआ, कोहला, कुम्हड़ा। **बं०**-कुमडा, साची कुमडा, कुमडा गाछ। **म०**-कोहला, कोहोला। **गु०**-पद कोला, भुरु कोलुं, पदकोल। **क०**-दार कोहोला' कर्गुवल, कग्गु वल। **ते०**-बेल्ले गुम्मडि, गुग्मडि वडिका, पुछाहा, गुमडि। **उत्क०**-करवालु, पानी करवारु। **का०**-भूरा कोहला। **फा०**-भूरा कुदु, कद्दूय रूमी, रूमा कुदु। **अ०**-महद्देवा, मोह दिवह, महद्देवा। **अं०**-The white melon (दि ह्वाइट मेलन)। **ले०**-*Benicassa cerifera* (बेनिकसा सेरिफेरा)।

पेठा—प्रायः सब प्रान्तों में रोपण किया जाता है। इसकी **लता**-मचान आदि के सहारे खूब फैलती है। **पत्ते**-कद्दू के समान ४-६ इञ्च के घेरे में गोलाकार, कटे किनारे वाले या ५ भाग वाले होते हैं। **फूल**-पीले रङ्ग के आते हैं। **फल**-गोलाई युक्त, किञ्चित् लम्बे होते हैं ॥ ३६ ॥

अथ कूष्माण्डी (कुम्हड़ी)। तस्या नामगुणानाह

कूष्माण्डी तु भृशं लघ्वी कर्कारुरपि कीर्त्तिता ।
कर्कारुर्ग्राहिणी शीता रक्तपित्तहरा गुरुः । पक्वा तिक्ताऽग्निजननी सक्षारा कफवातनुत् ॥५६॥

कुम्हड़ी का संस्कृत नाम—अत्यन्त लघु को 'कूष्माण्डी' कहते हैं, इसी का नाम 'कर्कारु' भी है। गुण-कुम्हड़ी ग्राही, शीतल, रक्तपित्त नाशक तथा गुरु होती है। पक्की कुम्हड़ी तिक्तरस युक्त, अग्निवर्धक, क्षार युक्त एवं कफ तथा वात को दूर करने वाली होती है ॥ ५६ ॥

३७-कूष्माण्डी (कोहड़ा)

हि०-कुम्हरा, कोहला, कोहडा, लालपेठा, गोलकद्दू, मिलयाकद्दू, काशीफल, झुफुरिया कुमार। बं०-कुमडा। म०-तांवडा भोपला। गु०-पतकोलु, शाकर कोलु। क०-डङ्गर, डङ्गरा। ते०-तिया गुवडि काया। फा०-पादरङ्ग। अं०-The gourd (दि गार्ड)। ले०-*Cucurbita maxima* (कुकुर्विटा माक्सिमा)।

यह लताजातीय फल-शाक प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होता है। इसकी लता-मचान, छप्पर या खेतों में दूर तक फैलती है। पत्ते-पेठे के समान किन्तु कालापन युक्त हरे रङ्ग के रुखड़े या खरखरे रोवों से भरे रहते हैं। फूल-घंटाकार पीले रङ्ग के आते हैं। फल-बड़े बड़े गोलाकार होते हैं और पकने पर पीले पड़ जाते हैं॥ ३७॥

अथालाबूर्दीर्घा वर्त्तुला च (लौकी)। तस्या नामानि भेदांस्तत्फलगुणाँश्चाह

अलाबूः कथिता तुम्बी द्विधा दीर्घा च वर्तुला॥ ५७॥
मिष्टतुम्बीफलं हृद्यं पित्तश्लेष्मापहं गुरु। वृष्यं रुचिकरं प्रोक्तं धातुपुष्टिविवर्धनम्॥ ५८॥

लौकी का संस्कृत नाम—अलावू तथा तुम्बी है। भेद-लम्बी तथा गोल भेद से लौकी दो प्रकार की होती है अर्थात्-१ दीर्घा अलावू, २ वर्त्तुला अलावू। गुण—मीठी तुम्बी का फल गुरु, रुचिकारक, वीर्यवर्धक, हृदय के लिये हितकर, पित्त तथा कफ नाशक एवं विशेष रूप से धातु की पुष्टि करने वाला होता है॥ ५७-५८॥

३८ अलाबू (तुम्बी)

हि०-तुम्बी, लौआ, लौका, लौकी, कद्दू, कदुआ, मीठी तोम्बी, लम्बा कद्दू। बं०-लाउ, लाड़। म०-दुध्या भोपल, भोपल। गु०-दुधियुं, दुधलु, आलडी। क०-कडं उवलकाई, कडंड वल कायि। ते०-तीय तुखडी काया। फा०-कदु शीरिन, कदुय दरोज। अ०-युक्तिनेहुलुकुरा। अं०-White gouard (ह्वाइट गार्ड)। ले०-*Cucurbita lagenaria* (कुकुर्बिटा लागेनैरिया)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में रोपण की जाती है। खेत, बाग, मचान, छप्पर आदि पर फैली हुई इसकी लता देखने में आती है। इसके पत्ते-कुम्हरे के पत्तों के समान ६-७ इञ्च के घेरे में गोलाकार, पञ्चकोणाकार या पांच भाग वाले होते हैं। फूल-सफेद रङ्ग के आते हैं। फल-१-२ हाथ लम्बा गोल या गोल अथवा चिपटा गोल होता है॥ ३८॥

अथ कटुतुम्बी (कड़वी लौकी)। तस्या नामगुणानाह

इक्ष्वाकुः कटुतुम्बी स्यात्सा तुम्बी च महाफला।
कटुतुम्बी हिमा हृद्या पित्तकासविषापहा। तिक्ता कटुर्विपाके च वातपित्तज्वरान्तकृत्॥५९॥

कडवी तुम्बी के संस्कृत नाम—इक्ष्वाकु, कटुतुम्बी, तुम्बी और महाफला ये सब हैं। गुण-कडवी तुम्बी तिक्तरसयुक्त, विपाक में कटु रसयुक्त, शीतल, हृदय के लिए हितकर एवं पित्त, खासी, विष, वात तथा पित्तज्वर को नष्ट करने वाली होती है॥ ५९॥

३९ कटुतुम्बी (कड़वी तोम्बी)

हि०-कटुलौकी, कडवी तोंवी, तित लौकी, तितुआ लौका, तुमरी, तुम्बी। बं०-तितलाउ, तितलाओ। म०-कडू भोपला, कडुदुधी, कडूदुध्या भोपला। गु०-कडवी तुम्बरी। क०-कहि सोरे। ते०-चेति आनव। फा०-कदूय तल्ख। अ०-कर अउल् मुर, करउव् मुर। अं०-Bottle gourd (बोटल गार्ड)। ले०-*Lagenaria valgaris* (लेजिनैरिया वल्गैरिस)।

कडवी तोंबी के लता-पत्र-पुष्पादि सब उक्त अलावू के समान होते हैं। फूल-प्रायः गोल कद्दू के समान होकर टंडी की ओर बीच से पतला हो कुछ मोटा हो जाता है। इसका स्वाद महा कडवा होता है। कोई-कोई गोल और लम्बा कद्दू भी कड़वा होता है॥ ३९॥

अथ कर्कटो (ककड़ी)। तस्या नामानि तत्पक्वापक्वफलगुणांश्चाह

एर्वारुः कर्कटी प्रोक्ता कथ्यन्ते तद्गुणा अथ ॥ ६० ॥

कर्कटी शीतला रूक्षा ग्राहिणी मधुरा गुरुः। रुच्या पित्तहरा सामा पक्वा तृष्णाग्निपित्तकृत् ॥

ककडी का संस्कृत नाम—एर्वारु तथा कर्कटी है। गुण-कच्ची ककडी मधुररस युक्त, शीतल, रूक्ष, ग्राही, गुरु, रुचिकारक तथा पित्तनाशक होती है। पकी ककडी तृषा, जठराग्नि तथा पित्त को बढाने वाली होती है ॥ ६०-६१ ॥

४० ककड़ी

हि०-ककडी (री), कखरी, कर्करी, काकडी। बं०-काकूड, बडकांकूड। म०-काकड़ी, वालुक। क०-मुळु सवति, कयेय सौत। ते०-दोसकाया, नक्कदोस। उ०-फुटि काकडी। फा०-ख्यार जाव, ख्यार दराल। अ०-किस्सा कदस। अं०-Cucumber (क्युकम्बर)। ले०-*Cucumis utilissimus* (क्युकुमिस युटिलिस्सिमस्)।

यह बंगाल, विहार, उत्तरप्रदेश, पंजाव आदि प्रान्तों की रेतीली भूमि में अधिक उत्पन्न होती है और इसकी लता-खूब फैलती है। पत्ते-पञ्चकोणाकार और कंगूरेदार होते हैं। फूल-पीले रङ्ग के आते हैं। फल-१-१॥ हाथ या इससे भी अधिक लम्बे होते हैं। कच्ची अवस्था में हरे रङ्ग और पकने पर पीले से हो जाते हैं ॥ ४० ॥

अथ चिचिण्डः (चिचिण्डा)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

चिचिण्डः श्वेतराजिः स्यात्सुदीर्घो गृहकूलकः।

चिचिण्डो वातपित्तघ्नो बल्यः पथ्यो रुचिप्रदः। शोषणोऽतिहितः किञ्चिद् गुणैर्न्यूनः पटोलतः॥

चचेंडा के संस्कृत नाम—चिचिण्ड, श्वेतराजि, सुदीर्घ तथा गृहकूलक ये सब हैं। गुण-चचेंडा वात तथा पित्त नाशक, बलदायक, पथ्य, रुचिकारक, शोष (क्षय) रोगी के लिये अत्यन्त हितकर होता है। यह गुणों में परवल से कुछ कम होता है ॥ ६२ ॥

४१ चचेण्डा

हि०-चचेंडा, चिचिंडा, चिचेंडा। बं०-चिचिंगा, चिचिण्डा। म०-टरकाकडी, गोड़पडवल। गु०-पंडोला, पडोला, पडोलुं। ते०-पोटला काया, पोटल काया। अं०-Snake gourd (स्नेक गार्ड)। ले०-*Trichosanthes anguine* (ट्रिकोसैंथिस् ऐंग्विन्)।

चिचेंडा—खेतों में बोया जाता है। इसकी लता-विस्तार से फैलती है। पत्ते-कटे किनारे वाले पचकोणाकार होते हैं। फूल-पीले रङ्ग के आते हैं। फल-ककडी के समान होता है परन्तु इसके दोनों छोर पतले होते हैं और इस पर लम्बे सफेद धागे होते हैं ॥ ४१ ॥

अथ कारवेल्लं कारवेल्ली च (करेला, करेली)। नयोर्नामानि गुणाँश्चाह

कारवेल्लं कठिल्लं स्यात्कारवेल्ली ततो लघु। कारवेल्लं हिमं भेदि लघु तिक्तमवातलम् ॥६३॥

ज्वरपित्तकफास्रघ्नं पाण्डुमेहकृमीन् हरेत्। तद्गुणा कारवेल्ली स्याद्विशेषाद्दीपनी लघुः ॥६४॥

करेला के संस्कृत नाम—कारवेल्ल तथा कठिल्ल है। करेली का संस्कृत नाम—कारवेल्ली है। यह करेला की अपेक्षा छोटी होती है। गुण—करेला तिक्त रसयुक्त, शीतल, मलभेदक, लघु, किंचिद् वातजनक होता है और ज्वर, पित्त, कफ, रक्तविकार, पाण्डु, प्रमेह तथा कृमि का नाशक होता है। करेली—इसके गुण उक्त करेला के भाँति ही होते हैं किन्तु विशेष कर यह अग्निदीपक तथा लघु होती है ॥ ६३-६४ ॥

४२ करेला

हि०-करेला, करैला, करइला, करेली। बं०-करोला, बडकरेला, छोट करेला, उच्छे। म०-कारलें, कारली, क्षुद्रकारली। गु०-करेला, करेलुं। क०-हागल, हागलकायि, मिडिगायि, हागल। ते०-काकर चेट्टु, करिला, काकर काया, कारला। उ०-शलरा। फा०-कारेलाह्। अ०-किस्मा उरिहमार, कसायुल हिमार। अं०-Hairy mordica (हेयरी मोर्डिका)। ले०-*Memordica charantia* (मेमोर्टिका कैरण्टिआ)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसे रोपण करते हैं। इसके लता-पत्र सघन होते हैं। पत्ते-१ से ३ इञ्च के घेरे में गोलाकार गहरे कटे किनारे वाले ५-७ भागों में विभक्त रहते हैं। फूल-पीले रङ्ग के आते हैं। फली-लम्बे गोलाकार, दोनों छोर से नुकीले, नीचे-ऊँचे या ऊभर-खाभर होते हैं ॥४२॥

४३ करेली

हि०-करेली, करैली । बं०-उच्छे, उच्चे, छोट करला। म०-लघुकारली, क्षुद्रकारली, लघुर रेली। गु०-कड़वा वेला, करेलु । अं०-Hairy mordica (हेयरी मोर्डिका)। ले०-*Memordica muricata* (मेमोर्डिका म्युरिकाटा)।

करेली के लता, पत्र-फूलादि सब करेले के समान होते हैं, केवल फल छोटे होते हैं ॥ ४३ ॥

अथ महाकोशातकी (नेनुआं)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

महाकोशातकी प्रोक्ता हस्तिघोषा महाफला ॥ ६५ ॥
धामार्गवो घोषकश्च हस्तिपर्णश्च स स्मृतः। महाकोशातकी स्निग्धा रक्तपित्तानिलापहा ॥६६॥

नेनुआं के संस्कृत नाम—महाकोशातकी, हस्तिघोषा, महाफला, धामार्गव, घोषक तथा हस्तिपर्ण ये सब ये हैं। गुण—नेनुआं स्निग्ध एवं रक्तपित्त तथा वायु को नष्ट करनेवाली होती है। ६५ ६६

४४ नेनुआं

हि०-नेनुआं, बड़ी तोरई, घिया तोरई, गलका तोरई, घिउरा, घेवरा, घेवड़ा। बं०-हस्तिघोषा, धुंधुल, दुदुल, धुन्दुल। म०-घीसाले, पारोशी, घोसाला, पारसादोडका, मोठीघोसाली। गु०-गलका, घीसोडा। क०-अरहिरे, तुप्पिरी। ते०-एनुग बीर, पुद्दा बीर काया। उड़ि०-तरडि। फा०-खियार। ले०-*Luffa aegyptica* (लुफ्फा एजिप्टिका)।

नेनुआं-एक बहुत प्रसिद्ध तरकारी प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होती है। इसको खेत और खड्डर में बोते हैं। नेनुआ, तरोई और झिंगनी (तिक्त कोशातकी) एक ही जाति के हैं। तीनों के लता-पत्र एक समान होते हैं। पत्ते-४-५ इञ्च के घेरे में गोलाकार ५ भाग वाले या पचकोणाकार होते हैं। फूल-पीले रङ्ग के आते हैं। फल-एक-डेढ बिलस्त लम्बा गोल होता है ॥

अथ राजकोशातकी (तोरई)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

धामार्गवः पीतपुष्पो जालिनी कृतवेधना। राजकोशातकी चेति तथोक्ता राजिमत्फला ॥
राजकोशातकी शीता मधुरा कफवातकृत्। पित्तघ्नी दीपनी श्वासज्वरकासकृमिप्रणुत् ॥

तोरई के संस्कृत नाम-धामार्गव, पीतपुष्प, जालिनी, कृतवेधना, राजकोशातकी तथा राजिमत्फला ये सब हैं। गुण-तोरई मधुर रसयुक्त, शीतल, अग्निदीपक, कफ तथा वातकारक एवं पित्त, श्वास, ज्वर, खाँसी तथा कृमि को दूर करने वाली होती है ॥ ६७-६८ ॥

४५ तोरई

हि०-तोरई, तरोई, तुरेया, करई, तरई। बं०-घोषा लता, झिंगा। म०-दोडका, शिरालें, शिराली, मोठी घोसाली, काढीरे। गु०-तुम खडा, तुरिया, घिसोडा। क०-परि बीर, धारवि तोरई, हीरे कायी। ते०-बीर काया, बीर उत्तवेणि। ले०-*Luffa acutongula* (लुफ्फा एक्युटागुला)।

तोरई—वर्षारम्भ काल में खेतों मक्का, ज्वार इत्यादि के साथ रोपण की जाती है। इसके बेल और पत्ते नेनुआँ के समान होते हैं। फूल-पीले, फल-लम्बे, गोल तथा धारयुक्त सफेद रङ्ग के होते हैं ॥ ४५ ॥

अथ पटोलः (परवल)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

पटोलः कुलकस्तिक्तः पाण्डुकः कर्कशच्छदः। राजीफलः पाण्डुफलो राजेयश्चामृतफलः ॥
बीजगर्भः प्रतीकश्च कुष्ठहा कासमर्दनः। पटोलं पाचनं हृद्यं वृष्यं लघ्वग्निदीपनम् ॥
स्निग्धोष्णं हन्ति कासास्रज्वरदोषत्रयक्रिमीन् ॥ ७० ॥

परवर के संस्कृत नाम—पटोल, कुलक, तिक्त, पाण्डुक, कर्कशच्छद, राजीफल, पाण्डुफल,

राजेय, अमृतफल, वीजगर्भ, प्रतीक, कुष्ठहा तथा कासभञ्जन ये सब हैं। **गुण**-परवर पाचक, हृदय के लिये हितकर, वीर्यवर्धक, लघु, अग्निदीपक, स्निग्ध, उष्ण एवं खाँसी, रक्तविकार, ज्वर, त्रिदोष तथा क्रिमि को नष्ट करने वाला होता है॥ ६९-७०॥

अथ पटोलस्य मूल-नाल-पत्र-फलानां गुणानाह

पटोलस्य भवेन्मूलं विरेचनकरं सुखात्॥ ७१॥
नालं श्लेष्महरं पत्रं पित्तहारि फलं पुनः। दोषत्रयहरं प्रोक्तं तद्वत्तिक्ता पटोलिका॥ ७२॥

परवर की जड़—सुखपूर्वक विरेचन करने वाली होती है। परवर की डंडी (नाल) कफनाशक है। परवर के **पत्ते**-पित्तनाशक होते हैं। परवर का **फल**-त्रिदोषनाशक होता है। कडवे परवर के भी गुण पूर्वोक्त परवर की भांति ही होते हैं। संस्कृत में इसे 'पटोलिका' कहते हैं। यह तिक्तरसयुक्त होती है। अतः कडवे परवर के नाम से लोक में इसकी प्रसिद्धि है॥ ७१-७२॥

४६ परवल

हि०-परवर, परवल, पलवल, परोर, परोरा। **बं०**-पटोल, पलता, स्वादु पटोल। **म०**-सोन परवल, पडोल, पडवली। **क०**-सोगवल्ली, पडवल। **ता०**-पुडलै। **ते०**-पोटल, केम्पु पोटल। **क०**-पडवल। **गु०**-मीठा पटोल। **पं०**-पटोली। **द्रा०**-कोम्बु पुडल। **अं०**-Sespadula (सेस्पैडुला)। **ले०**-*Trichosanthes dioica* (ट्रिकोसान्थिस डाओइका)।

परवल की बेल—रेतीली भूमि में अधिक होती है। इसको खेतों में बोते हैं। इसके **पत्ते**-२-३ इञ्च के घेरे में गोलाकार, किंचित् गहरे किनारे वाले, कगूरेदार और रुखडे होते हैं। **फूल**-सफेद रङ्ग के आते हैं। **फल**-२-३ इञ्च लम्बे अण्डाकार, दोनों ओर नुकीले और पकने पर पीले हो जाते हैं।

४७ कड़वा परवल

हि०-कड़वा परवल (तीता-तितुआ-जङ्गली परवल इत्यादि)। **बं०**-पालता, पालता लता। **म०**-कडु पडोल, कडु पडवल, कडि पडवल, कुतुपडोल। **क०**-सोगवल्ली, कहि पड़वल। **गु०**-कडवा पडोल, कडवा पटोल, आंख्यपुटा माणा। **ता०**-कोम्बु पुडलै। **ते०**-कोम्मु पोटल, कोम्मु पटोल। **को०**-मोरहरी। **ले०**-*Trtchosanthes cucumerina* (ट्रिकोसान्थिस क्युकुमेरिना)।

कडवा परवल की **लता**-उक्त परवल के समान होती है। यह प्रायः जंगल और पहाड़ी जमीन में अधिक उत्पन्न होता है। **पत्ते**-शिवलिङ्गी के समान, **फूल**-सफेद, **फल**-परवल के समान, कच्चे में हरे और पकने पर नारंगी रंग के हो जाते हैं। इसका स्वाद महा कटु होता है। **लता**-पत्र भी कडवा ही होता है॥ ४६-४७॥

अथ बिम्बी (कुन्दुरी, कन्दूरी)। तस्या नामानि तत्फलगुणाँश्चाह

बिम्बी रक्तफला तुण्डी तुण्डीकेरी च बिम्बिका। ओष्ठोपमफला प्रोक्ता पीलुपर्णी च कथ्यते॥
बिम्बी फलं स्वादु शीतं गुरु पित्तास्रवातजित्। स्तम्भनं लेखनं रुच्यं विबन्धाध्मानकारकम्॥

कन्दूरी के संस्कृत नाम—बिम्बी, रक्तफला, तुण्डी, तुण्डीकेरी, बिम्बिका, ओष्ठोपमफला और पीलुपर्णी ये सब हैं। **गुण**—कन्दूरी फल स्वादिष्ट, शीतल, गुरु, स्तम्भन, लेखन, रुचिकारक, विबन्ध, आध्मान (अफरा) को करने वाला एवं पित्त, रक्तविकार तथा वात को दूर करने वाला होता है॥ ७३-७४॥

४८ कन्दूरी

हि०-कन्दूरी, बिम्बीफल, कुनली, कुनरी, कुन्दरा, गुलकाख, कुन्दुरू। **बं०**-कुन्दरकी, तेलाकुचा, कुन्दुरुकी। **म०**-तोंटली, गोड तोंडली। **गु०**-तीडोरी, घोला मीठा, घोली टींडोरी, टिंडोराँ। **क०**-सिहि दोडे, तोडे हण्णु। **ते०**-दोंड तिगे। **यू०**-कुन्दरू। **ले०**-*Coccinia indica* (कोसिनिया इण्डिका)।

कन्दूरी की **लता** होती है। **पत्ते**-परवल के पत्तों के समान, **फूल**-सफेद और **फल**-भी परवल के समान पर दोनों तरफ (ऊपर-नीचे) चिपटे होते हैं। उन पर सफेद छींटें होती हैं।

कच्चा फल हरा और स्वाद में फीका होता है। इसकी तरकारी बनाई जाती है, पकने पर लाल रङ्ग हो जाता है और स्वाद खट्टा होता है। यह कडवी और मीठी दो प्रकार की होती है॥४८॥

अथ शिम्बिः पुस्तशिम्बी च (सेम-सेमभेद)। तयोर्नामानि गुणांश्चाह

शिम्बिः शिम्बी पुस्तशिम्बी तथा पुस्तकशिम्बिका। शिम्बीद्वयं च मधुरं रसे पाके हिमं गुरु॥
बल्यं दाहकरं प्रोक्तं श्लेष्मलं वातपित्तजित्॥ ७५॥

सेम का संस्कृत नाम—शिम्बि तथा शिम्बी है। सेमभेद का संस्कृत नाम-पुस्तशिम्बी तथा पुस्तकशिम्बिका है। **गुण**—उक्त दोनों प्रकार की सेम रस तथा विपाक में मधुर (मीठी), शीतल, गुरु, बलकारक तथा दाह और कफ को उत्पन्न करने वाली एवं वात और पित्त को दूर करने वाली होती है॥ ७५॥

४९ सेम

हि०-सेम, शेम, शीम, सीम, सेमि। **बं०**-शेम, शिम, श्वेत शिम, छीम, बोरा, वखटी। **म०**-घेवड़ा, शेंग, शेंगा, खडसावल, सेंग, सेंगा, खड सवली, बालपापड़ी। **गु०**-पर बोलिया, बालौर। **ते०**-कारु चिक्कुडु, चिकुण्डु। **अ०**-गला फुल गोल, गिला फुल गोल, वीन्सा। **ता०**-मोच्चै कोट्टै। **अं०**-Black seeded dolichos (ब्लाक सीडेड डोलिकोस)। **ले०**-*Dolicos lablab* (डोलिकोस लब्लब)।

सेम प्रसिद्ध तरकारी सब प्रान्तों में होती है। इसकी **लता** होती है। **पत्ते**-एक साथ तीन-तीन गोलाकार तथा नोकीले होते हैं। **फूल**-सफेद, बैंगनी इत्यादि कई प्रकार के और **फलियाँ**-चिपटी तथा लम्बी होती हैं। सफेद और काली भेद से यह प्रायः दो प्रकार की मानी जाती है। इसकी अनेक जातियाँ होती हैं, जैसे सेम बड़ी, सफेद, हरी, काली, बैंगनी इत्यादि। यदि इसकी लता उखाड़ी न जाय तो ४-५ वर्ष तक ठहर सकती है परन्तु नई लता के फलों की अपेक्षा पुरानी लता वाले फल अधिक रेशेदार होते हैं॥ ४९॥

अथ कोलशिम्बिः (सुअरा सेम)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

कोलशिम्बिः कृष्णफला तथा पर्यङ्कपट्टिका॥ ७६॥
कोलशिम्बिः समीरघ्नी गुर्व्युष्णा कफपित्तकृत्। शुक्राग्निसादकृद् वृष्या रुचिकृद् बद्धविड् गुरुः॥

सुअरा सेम के संस्कृत नाम—कोलशिम्बि, कृष्णफला तथा पर्यङ्कपट्टिका ये सब हैं। **गुण**—सुअरा-सेम वातनाशक, अधिक उष्ण, कफ तथा पित्तकारक वीर्यवर्धक, रुचिकारक, मल को बाँधनेवाली गुरु एवं शुक्र तथा जठराग्नि को क्षीण करने वाली होती है॥ ७६-७७॥

५० सुअरा सेम

हि०-सुअरा सेम, गोजिया सेम, काली सेमि। **म०**-आबई ची शेंग। **गु०**-तर वारडी, काली वालोर। **बं०**-शेम गाछ। **ते०**-कारु चिक्कुडु।

यह सेम का ही भेद है। इसके लता-पत्रादि सेम के समान होते हैं॥ ५०॥

अथ शोभाञ्जनफलम् (सहँजने की फली)। तस्य गुणानाह

शोभाञ्जनफलं स्वादु कषायं कफपित्तनुत्। शूलकुष्ठक्षयश्वासगुल्मघ्नं दीपनं परम्॥ ७८॥

सहँजने की फली—स्वादिष्ट, कषाय रस युक्त, अत्यन्त अग्निदीपक एवं कफ, पित्त, शूल, कुष्ठ, क्षय, श्वास तथा गुल्म को दूर करने वाली होती है॥ ७८॥

५१ सहँजने की फली

सहँजने का परिचय गुडूच्यादि वर्ग में दिया गया है॥ ७८॥

अथ वृन्ताकम् (बैंगन, भण्टा)। तस्य नामानि भेदान् गुणांश्चाह

वृन्ताकं स्त्री तु वार्त्ताकुर्भण्टाकी भण्टिकाऽपि च। वृन्ताकं स्वादु तीक्ष्णोष्णं कटुपाकमपित्तलम्॥

बैंगन के संस्कृत नाम—वृन्ताक, वार्त्ताकु (स्त्रीलिङ्ग), भण्टाकी तथा भण्टिका ये सब हैं। **गुण**-बैंगन स्वादिष्ट, विपाक में कटुरस युक्त, तीक्ष्ण, उष्ण तथा किञ्चित् पित्तजनक, ज्वर, वायु तथा कफ को नष्ट करने वाला, अग्निदीपक, शुक्रजनक और लघु होता है॥ ७९॥

अथ नक्तालुद्रफलयोर्गुणानाह

ज्वरवातबलासघ्नं दीपनं शुक्रलं लघु । [illegible] ॥ ८० ॥

[illegible] होता है ॥ ८० ॥

अथाङ्गारपरिपाचितवृन्ताकफलगुणानाह

वृन्ताकं पित्तलं किञ्चिदङ्गारपरिपाचितम् । कफमेदोऽनिलामघ्नमत्यर्थं लघु दीपनम् ॥ ८१ ॥

अङ्गारे पर भुना हुआ [illegible] लघु, [illegible] वायु तथा आम को दूर करने वाला होता है ॥ ८१ ॥

अथ तैललवणान्वितवृन्ताकफलस्य श्वेतवृन्ताकस्य च गुणानाह

तदेव हि गुरु स्निग्धं सतैलं लवणान्वितम् । अपरं श्वेतवृन्ताकं कुक्कुटाण्डसमं भवेत् ।
तदर्शःसु विशेषेण हितं हीनं च पूर्वतः ॥ ८२ ॥

अङ्गारे पर भुने हुए [illegible] स्निग्ध होता है । भेद—एक दूसरे प्रकार का और बैगन होता है [illegible] हिन्दी में 'सफेद बैगन' कहते हैं । [illegible] मुर्गी के अण्डे के समान होता है । इसके गुण—सफेद बैगन अर्श में विशेष हितकर होता है और पूर्वोक्त बैगन का [illegible] वाला होता है ॥ ८२ ॥

५२ भंटा

हि०–भंटा, भांटा, बैगन, बैगुन, भैगन, [illegible] । म०–[illegible], वांगी । गु०–रिङ्गणा, रिंगणी, [illegible] । ते०–वकाया, [illegible] । ता०–[illegible] । पं०–बैगन । मा०–बैगण । फा०–बादंगान । अ०–[illegible] । अं०–Brinjal (ब्रिंजल) ।

भंटा—एक प्रसिद्ध फल शाक प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होता है । इसका क्षुप–[illegible] ऊँचा होता है । पत्ते–वन भांटे के समान परन्तु इनमें लम्बे चौड़े होते हैं । फूल–[illegible] के समान बैगनी रङ्ग के और फल–गोल लम्बे होते हैं । किसी के फल गोल, हरे बैगनी रंग के, किसी के गोलाई लिये लम्बे, सफेद होते हैं । इसके क्षुप और पत्तों पर कांटे होते हैं ॥ ५२ ॥

अथ डिण्डिशः (ढेंढस) । तस्य नामगुणानाह

डिण्डिशो रोमशफलो मुनिनिर्मित इत्यपि ॥ ८३ ॥
डिण्डिशो रुचिकृद्भेदी पित्तश्लेष्मापहः स्मृतः । सुशीतो वातलो रूक्षो मूत्रलश्चाश्मरीहरः ॥

ढेंढस के संस्कृत नाम—डिण्डिश, रोमशफल तथा मुनिनिर्मित ये सब हैं । गुण—ढेंढस रुचिकारक, मलभेदक, अत्यन्त शीतल, वातजनक, रूक्ष, मूत्र लाने वाला एवं पित्त, कफ तथा पथरी को दूर करने वाला है ॥ ८३–८४ ॥

५३ ढेंढस

हि०–ढेंडस, ढेंढस, ढेंरस, टिंडे । म०–ढेढसे, कटोली, फाङ्गली । गु०–कटोला । ते०–अगोरकर ।

ढेंडस—एक प्रसिद्ध तरकारी जो लौकी के समान गोल होता है । यह पीलाई लिये हरा, स्वाद में किञ्चित् मीठा और कडवा होता है ॥ ५३ ॥

अथ पिण्डारम् (पिण्डालु) । तस्य गुणानाह

पिण्डारं शीतलं बल्यं पित्तघ्नं रुचिकारकम् । पाके लघु विशेषेण विषशान्तिकरं स्मृतम् ॥

पिंडालु के गुण—पिण्डालु शीतल, बलकारक, पित्तनाशक, रुचिकारक, विपाक में लघु होता है । यह विशेष कर विष का शमन करने वाला होता है ॥ ८५ ॥

५४ पिंडालु

हि०-पिंडार, पिंडारी, पिंडारू, पिंडालु। बं०-करहाट। ले०-*Trewia midiflora* (ट्रेविआ मिडिफ्लोरा)।

गरम प्रान्तों में यह बहुत पाया जाता है। इसका वृक्ष-मध्यमाकार का होता है। इसकी नई शाखायें धनहरे और कोई कोई पत्ते भी रूई के समान सफेद रोयेंदार होते हैं। पत्ते-पान के पत्तों के आकार वाले होते हैं। फूल-फीके हरे रङ्ग के और फल-आध इञ्च गोल रोयेंदार होते हैं॥५४॥

अथ कर्कोटी (ककोडा, खेखसा) । तस्या नामानि गुणाँश्चाह

कर्कोटकी पीतपुष्पा महाजालीति चोच्यते । कर्कोटी मलहृत्कुष्ठहृल्लासारुचिनाशिनी ।
श्वासकासज्वरान्हन्ति कटुपाका च दीपनी ॥ ८६ ॥

ककोडा के संस्कृत नाम—कर्कोटकी, पीतपुष्पा और महाजाली ये सब हैं। गुण-ककोडा विपाक में कटुरस युक्त, अग्निदीपक, मलनाशक एव कुष्ठ, हृल्लास (जी मचलाना), अरुचि, श्वास, खांसी तथा ज्वर नाशक है ॥ ८६ ॥

५५ ककोड़ा (खेकसा)

हि०-खेकसा, खेखसा, ककोडा, ककोरा, चठइल। बं०-काकरोल। म०-मटोली, कांटली, कंटोली, फागली। गु०-कंटोलो, कडली घीसोडी। ते०-आगाकार, अगोर कूर। क०-महुआ गाल। ले०-*Momordica cochin chinensis* (मोमर्डिका कोचिन चाइनेन्सिस)।

ककोड़ा-लता फल शाक है। चैत्र महीने के अन्त से वैशाख, जेठ तक इसकी जड से स्वयं अङ्कुर निकल लता झाडी वा टट्टी के सहारे फैलती है। इस देश के रसीली मिट्टी, जङ्गलों, पहाडों बङ्गाल और उडीसा प्रान्त में अधिकता से उत्पन्न होती है। फूल-पीले और फल-हरे, गोल, मुलायम, कांटों से भरे होते हैं। जाड़े में इसके पौधे सूख जाते हैं पर जड़ जीवित रह कर दूसरे साल फिर अंकुरित हो फैलती है॥ ५५ ॥

अथ डोडिका (करेरुआ) । तस्या नामानि गुणांश्चाह

डोडिका विषमुष्टिश्च डोडीत्यपि सुमुष्टिका ॥ ८७ ॥
डोडिका पुष्टिदा वृष्या रुच्या वह्निप्रदा लघुः। हन्ति पित्तकफार्शांसि कृमिगुल्मविषामयान्॥

करेरुआ के संस्कृत नाम—डोडिका, विषमुष्टि, डोडी और सुमुष्टिका ये सब हैं। गुण-करेरुआ पुष्टिदायक, वीर्यवर्धक, रुचिकारक, जठराग्नि को दीप्त करने वाला, लघु एव पित्त, कफ, अर्श, कृमि, गुल्म तथा विष रोग को दूर करने वाला है ॥ ८७-८८ ॥

५६ डोडिका (करेरुआ)

हि०-करेरुआ, डोडि। म०-विषडोडि, हरण डोरी। गु०-खरवोली, करवो खरखोडो। क०-डांडो कर्गसगे।

इसकी सत्यता में मतभेद है। कोई कडवी जीवन्ती को डोडि कहते हैं जिसके फल मदार के फल के समान होते हैं। कोई डोडि से करेरुआ को पृथक् मानते हैं ॥ ५६ ॥

अथ कण्टकारीफलम् (कटेरी का फल) । तस्य गुणानाह

कण्टकारीफलं तिक्तं कटुकं दीपनं लघु । रूक्षोष्णं श्वासकासघ्नं ज्वरानिलकफापहम् ॥ ८९ ॥

कटेरी के फल का गुण—कटेरी का फल तिक्त तथा कटुरसयुक्त, अग्निदीपक, लघु, रूक्ष, उष्ण एवं श्वास, खाँसी, ज्वर, वायु तथा कफ को दूर करने वाला होता है ॥ ८९ ॥

५७ कंटकारी फल

कण्टकारी का पूर्ण परिचय गुडूच्यादि वर्ग में दिया गया है ॥ ५७ ॥

इति फलशाकानि ।

अथ नालशाकानि।

तत्र सार्षपनालगुणानाह

तीक्ष्णोष्णं सार्षपं नालं वातश्लेष्मव्रणापहम्। कण्डूकृमिहरं दद्रुकुष्ठघ्नं रुचिकारकम् ॥९०॥

नालशाकों में सरसों के नाल (डण्ठी) के गुण—सरसों का नाल तीक्ष्ण, उष्ण, रुचिकारक एवं वात, कफ, व्रण, खुजली, कृमि, दाद तथा कुष्ठ को दूर करने वाला होता है ॥ ९० ॥

५८ सरसों का नाल

सरसों का विवरण शिम्बीधान्य वर्ग में दिया गया है ॥ ५८ ॥

इति नालशाकानि।

अथ कन्दशाकानि

तत्र सूरणम् (जमीकन्द)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

सूरणः कन्द ओलश्च कन्दलोऽर्शोघ्न इत्यपि। सूरणो दीपनो रूक्षः कषायः कण्डुकृत् कटुः ॥
विष्टम्भी विशदो रुच्यः कफार्शःकृन्तनो लघुः। विशेषादर्शसे पथ्यः प्लीहगुल्मविनाशनः ॥
सर्वेषां कन्दशाकानां सूरणः श्रेष्ठ उच्यते। दद्रूणां कुष्ठिनां रक्तपित्तिनां न हितो हि सः।
सन्धानयोगं सम्प्राप्तः सूरणो गुणवत्तरः ॥ ९३ ॥

कन्द शाकों में सूरन (जिमीकन्द) के संस्कृत नाम—सूरण, कन्द, ओल, कन्दल तथा अर्शोघ्न ये सब हैं। **गुण**—सूरन कषाय तथा कटु रसयुक्त, अग्निदीपक, रूक्ष, खुजली पैदा करने वाला, विष्टम्भक, विशद गुणयुक्त, रुचिकारक, लघु एवं कफ तथा अर्श को नष्ट करने वाला होता है। यह विशेष रूप से अर्श के रोगियों के लिये पथ्य है तथा प्लीहा और गुल्म का नाशक है। सम्पूर्ण कन्दशाकों में सूरन श्रेष्ठ समझा जाता है किन्तु यह दाद, कुष्ठ तथा रक्तपित्त के रोगियों के सम्बन्ध में हितकर नहीं होता है। यदि सूरन का सन्धान के साथ योग हो अर्थात् इसका अचार आदि बनाया जाय तो विशेष गुणकारी हो जाता है ॥ ९१-९३ ॥

५९ सूरन कन्द

हि०-सूरन कन्द, जमीकन्द, जिमिकन्द, जिमीकन्द, ओल। **बं०**-ओल। **म०**-गोडा सुरण। **गु०**-सूरण। **क०**-सूरण, सुरणु, सूर्णगड्डु। **ते०**-मुच कुन्द, मुंचा कन्द, दोल्कदा, सूर्णगड्डु। **मु०**-जलिसूरण। **द्रा०**-शूरुणैकिलङ्ग। **फा०**-ओला। **ले०**-*Amorphophallus campanulatus* (एमोर्फोफाल्लस कम्पान्युलेटस)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होता है। कहीं इसको रोपण करते हैं, कहीं आप ही आप उगता है। इसका **क्षुप**-१-१॥ फुट ऊँचा शाखायें रहित होता है। इसके नीचे बड़े बड़े **कन्द** बैठते हैं। **डंठल** के अन्त में लम्बी-लम्बी गूदेदार सींकों पर कटे किनारे वाले **पत्ते** रहते हैं। बहुत पुराने होने पर इस पर फूल आते हैं ॥ ५९ ॥

अथालुकम् (आलू)। तस्य नामानि भेदांश्चाह

आरुकं वीरसेनञ्च वीरं वीरारुकं तथा। आरुकमप्यालुकं तत्कथितं वीरसेनकम् ॥ ९४ ॥
काष्ठालुकशङ्खालुकहस्त्यालुकानि कथ्यन्ते। पिण्डालुकमध्वालुकरक्तालुकानि चोक्तानि ॥९५॥

आलू के संस्कृत नाम—आरुक, वीरसेन, वीर, वीरारुक, आरुक, आलुक तथा वीरसेनक ये सब हैं। **भेद**—१ काष्ठालुक, २ शंखालुक, ३ हस्त्यालुक, ४ पिण्डालुक, ५ मध्वालुक, ६ रक्तालुक ये सब आलू के भेद हैं ॥ ९४-९५ ॥

***काष्ठालुकं=काठिन्ययुक्तम् (कठालू)। शङ्खालुकं=श्वेततायुक्तम् (शङ्खालू)। हस्त्यालुकं=दीर्घतायुक्तं महाशरीरम्। पिण्डालुकं=वर्तुलम् (सुथनी, पिण्डालू)। मध्वालुकं=मधुरतायुक्तं रोमान्वितम् (दीर्घसुथनी)। रक्तालुकम्=('रत्तालू, रतालू, रतण्डा' इति च) ॥ ९४-९५)**

यहाँ काष्ठालुक आदि का निम्नलिखित अर्थ समझना चाहिये।

काष्ठालुक—यह कठिनतायुक्त होता है। इसे हिन्दी में 'कठालू' कहते हैं। **शङ्खालुक**-यह सफेदी लिये हुये होता है। इसका हिन्दी नाम 'शखालू' है। **हस्त्यालुक**-यह लम्बाई लिये हुये आकार में अत्यन्त बडा होता है। **पिण्डालुक**-यह गोल होता है। इसे लोक में सुथनी या पिण्डालू कहते हैं। **मध्वालुक**-यह मीठापन लिये हुये होता है तथा इसके ऊपर लम्बे लम्बे रोवें होते हैं। हिन्दी में इसे 'दीर्घ सुथनी' कहते हैं। **रक्तालुक**-यह लालरंग का होता है। इसे लोक में 'रक्तालू, रतालू या रतण्डा' कहते हैं॥ ९४-९५॥

अथालुकमात्रगुणानाह

आलुकं शीतलं सर्वं विष्टम्भि मधुरं गुरु॥ ९६॥
सृष्टमूत्रमलं रूक्षं दुर्जरं रक्तपित्तनुत्। कफानिलकरं बल्यं वृष्यं स्तम्भविवर्द्धनम्॥ ९७॥

आलू-मात्र के गुण—सभी आलू शीतल, विष्टम्भजनक, मधुर रसयुक्त, गुरु, मूत्र तथा मलको निकालने वाले, रूक्ष, देर में हजम होने वाले, कफ तथा वायु को उत्पन्न करने वाले, बलकारक, वीर्यवर्धक, किंचित् जठराग्नि को बढ़ानेवाले एवं रक्तपित्त को नष्ट करने वाले होते हैं॥ ९६-९७॥

६० कठालू

हि०-कठालू, काठालू, जमीकन्द, पटनी आलु, माटी आलु। **द०**-कौकरिन्दा। **ले०**-*Dioscorea bulbifera* (डाइओस्कोरिया बल्बिफेरा)।

यह बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश आदि प्रान्तों में और पहाडी प्रदेश में अधिक उत्पन्न होता है। चौमासे में इसकी **लता**-खूब फैली हुई रहती है। **पत्ते**-पान के आकार वाले होते हैं। पत्रदण्ड की जड से फूलों की मञ्जरियाँ निकलती हैं। बेल पर कहीं-कहीं आलू के समान गाँठ होते हैं। जड़ के नीचे गोलाकार काले रंग का कन्द होता है। उस पर मोटे-मोटे बाल होते हैं। इसको कितने 'वाराही कन्द' मानते हैं।

६१ शंखालू

हि०-सफेद शकर कन्द, शखारू, सफेद अलुआ, सफेद कांदा। **बं०**-शांक आलु, शांख आलु। **चम्पारन०**-केसवर।

शंखालू-रतालू (शकरकन्द) का भेद है। इसके **लता**-पत्र रतालू के ही समान होते हैं पर इसका कन्द सफेद होता है और स्वाद में अधिक मीठा होता है।

६२ हस्त्यालुक

हि०-हस्तारू, हस्तारू कन्द, अरारू। इसके लता, पत्र रतालू के समान होते हैं पर कन्द उससे बहुत लम्बा और मोटा होता है।

६३ पिंडालु

हि०-पिंडालु, पिंडालुक, पेंड़ालु, शकरकंदी, सुथनी। **बं०**-गोल आलु, चुवडि आलु, हाति खोजा आलु। **म०**-गोडें रतालें, पेंडालु। **गु०**-बेतालु। **क०**-विलिय हेंडल। **ले०**-*Batatas edulis* (बाटाटास इडुलिज)।

पिंडालु एक प्रकार का सफेद, गोल किञ्चित् लम्बा, रोयेंदार शकरकन्द की जाति का आलू है। इसका फलाहार करते हैं। इसके **पत्ते**-पान के समान पर पान के समान नोकीले नहीं होते हैं।

६४ सप्तालुक

हि०-सप्तालुक, सतालु, आड़ु, शिफ्तालु। **फा०**-शफ्तालु, सिफ्तालु, सफ्तालु। **अ०**-खौख। **अं०**-पीच। **मा०, पं०**-आड़ू। **ले०**-*Prunus persica* (प्रुनस् पर्सिका)।

सप्तालुक एक प्रसिद्ध फल है। इसका वृक्ष मझोला और शाखाओं करके सघन होता है। **पत्ते**-लम्बे लम्बे होते हैं। **फल**-गोल रोयेंदार किञ्चित् चिपटे और नीचे की ओर किञ्चित् मुड़े हुए होते हैं। पकने पर सुर्खी मायल हरे रंग के और स्वाद में चासनी युक्त मीठे होते हैं। इनके **बीज** बादाम के समान दीख पड़ते हैं।

६५ रतालू

हि०-रतालू, रतड़ा, शकरकन्द, शकर कन, अलुआ, लाल आलु। **बं०**-लाल पिण्डालु।

म०-रताळु। गु०-रताळु, शकरकन्द। क०-केमिन हेंदल। ते०-निरगेट। फा०-जरदाक लाहोरी। अं०-(१) Common yam (कामन याम), (२) *Sweet potatoe* (स्वीट पुटाटो)।

रतालू प्रसिद्ध कन्द प्रायः सब प्रान्तों में रोपण किया जाता है। इसकी लता होती है। पत्ते-कलम्बी के समान त्रिकोणाकार होते हैं। इसका कन्द-लम्बा, मोटा और लाल रंग का होता है॥

अथालुकी रक्तालुभेदः (अरुई)। तस्या लक्षणं गुणांश्चाह

रक्तालुभेदो या दीर्घा तन्वी च प्रथिताऽऽलुकी। आलुकी बलकृस्निग्धा गुर्वी हृत्कफनाशिनी॥ विष्टम्भकारिणी तैले तलिताऽतिरुचिप्रदा॥ ९८॥

रतालू के भेद अरुई का संस्कृत नाम—आलुकी है। लक्षण-अरुई रतालू का भेद है। इससे लम्बी तथा पतली होती है। गुण-अरुई बलकारक, स्निग्ध, गुरु, हृदय कफ को दूर करने वाली एवं विष्टम्भजनक होती है और तेल में तली हुई अरुई अत्यन्त रुचिकारक होती है॥ ९८॥

६६ अरुई

हि०-अरुई, अरई, घुइया, लाल आलु, पेपची, कान्दा, कंदा। बं०-कच्चू, कोचू। म०-अलवाचा कान्दा, आलु। गु०-अलवी। पं०-कचालू, राव आलु, अरवी। ता०-शिमक किज हगू। ते०-चम्मकुरा। अ०-हुयाकलकास, कलकलास। ले०-*Aolocasia antiquorum* (अलोकेसिया ऐन्टिकोरम)।

प्रायः गरम प्रान्तों में इसकी अधिक खेती की जाती है। कहीं-कहीं आप ही आप जङ्गली भी उत्पन्न होती है। इसका डण्ठल १॥-२ हाथ ऊँचा होता है। इसका कन्द गोल होता है जिसके साथ लम्बे गोल ५-७ कन्द सटे रहते हैं। पत्ते-कमल के पत्तों के समान गोल होते हैं। फूलों का धनहरा नारङ्गी रंग का लम्बा और गोल होता है॥ ६६॥

अथ मूलकद्वयम् (मूली, बड़ी मूली)। तस्य नामानि भेदान् गुणाँश्चाह

मूलकं द्विविधं प्रोक्तं तत्रैकं लघुमूलकम्। शालामर्कटकं विस्रं शालेयं मरुसम्भवम्॥ ९९॥ चाणक्यमूलकं तीक्ष्णं तथा मूलकपोतिका। नेपालमूलकं चान्यत्तद्भवेद्गजदन्तवत्॥१००॥ लघुमूलं कटूष्णं स्याद्रुच्यं लघु च पाचनम्। दोषत्रयहरं स्वर्यं ज्वरश्वासविनाशनम्॥१०१॥ नासिकाकण्ठरोगघ्नं नयनामयनाशनम्॥ १०२॥

महत्तदेव रूक्षोष्णं गुरु दोषत्रयप्रदम्। स्नेहसिद्धं तदेव स्याद् दोषत्रयविनाशनम्॥ १०३॥

मूली के भेद—मूली के दो भेद होते हैं, छोटी और बडी। इनमें छोटी मूली के संस्कृत नाम—लघुमूलक, शालामर्कटक, विस्र, शालेय, मरुसभव, चाणक्यमूलक, तीक्ष्ण तथा मूलकपोतिका ये सब हैं। दूसरी जो हाथी के दांत की तरह बडी मूली होती है, उसका संस्कृत नाम—नेपालमूलक है। छोटी मूली के गुण-छोटी मूली कटु रसयुक्त, रुचिकारक, लघु, पाचक, त्रिदोषनाशक, कण्ठस्वर को उत्तम करने वाली एवं ज्वर, श्वास, नाक, कण्ठ तथा नेत्र के रोगों को दूर करने वाली होती है। बड़ी मूली के गुण-बडी मूली रूक्ष, उष्ण, गुरु एवं त्रिदोषकारक होती है। वही मूली यदि तेल में भूनी हुई हो तो भी त्रिदोषनाशक होती है॥ ९९-१०३॥

६७ मूली

हि०-मूली, छोटी मूली, मुरई। बं०-मूला, चणक मूली। म०-मुला। गु०-मूला, नाहाना मुला। क०-मुलङ्गी, मुछङ्गी, हेम्मुछङ्गि। ता०-मुलगि। ते०-मुलङ्गी चेट्टु, पेद्द मुछङ्गि। फा०-तुख, तुर्व। अ०-फजल, हुजल। द्रा०-मुलाङ्गि। अं०-Radish (रैडिस्)। ले०-*Raphanus sativus* (रैफनस् सैटिमस्)।

मूली खेतों में बोई जाती है। इसका कन्द-गाजर के समान पर सफेद होता है। पत्ते-नवीन सरसों के पत्तों के समान, फूल-सफेद सरसों के फूल के आकार के और फल भी सरसों ही के समान लगते हैं।

६८ बड़ी मूली

हि०-बड़ी मूली, मूला, नेवार मूली, चणक मूली, निवार मूली। **बं०**-चणक मूली । **म०**-थोर मूला। **क०**-दोड़ मुङ्गली ।

यह उत्तर प्रदेश में अधिक बोयी जाती है । इसके **पत्र-पुष्पादि**-उक्त छोटी मूली के समान होते हैं परन्तु **कन्द**-बहुत मोटा, भारी और लम्बा होता है ॥ ६७-६८ ॥

अथ गृञ्जनम् (गाजर) । तस्य नामगुणानाह

गृञ्जनं गाजरं प्रोक्तं तथा नारङ्गवर्णकम् । गाजरं मधुरं तीक्ष्णं तिक्तोष्णं दीपनं लघु ।
संग्राहि रक्तपित्तार्शोग्रहणीकफवातजित् ॥ १०४ ॥

गाजर के संस्कृत नाम—गृञ्जन, गाजर और नारंगवर्णक ये सब हैं । **गुण**—गाजर मधुर तथा तिक्त रसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्ण, अग्निदीपक, लघु, ग्राही एवं रक्तपित्त, अर्श, ग्रहणी, कफ तथा वात को दूर करने वाला होता है ॥ १०४ ॥

६९ गाजर

हि०-गाजर, गजरा । **बं०**-गाजर । **म०**-सेठी मूल, वाट्ठला मूला । **क०**-चिर्डिकेय मुलगी, गर्जरि, बट्टमुलङ्गी । **ते०**-गृञ्जन । **फा०**-जर्दक, जरवक, गजर । **अ०**-जजर । **अं०**-Carrot root (कैरोट रूट) । **ले०**-*Daucus carota* (डाकस कैरोटा) ।

यह इस देश के प्रायः सब प्रान्तों के खेतों में रोपण किया जाता है । इसका **कन्द**—मूली के समान गावदुम होता है । काले, लाल और भूरे रङ्गों के भेद से यह तीन प्रकार का होता है। कहीं कहीं पीले रङ्ग का गाजर भी पाया जाता है । **पत्ते**-सोया के समान किन्तु घने, चौड़े और मोटे होते हैं । ३-४ फुट लम्बी डण्डियों के अन्त में सौंफ के समान छत्राकार **बीजकोष** लगते हैं ॥

अथ कदलीकन्दः (केराकन्द) । तस्य नामानि गुणांश्चाह

शीतलः कदलीकन्दो बल्यः केश्योऽम्लपित्तजित् । वह्निकृद्दाहहारी च मधुरो रुचिकारकः ॥

केराकन्द के गुण—केले का कन्द शीतल, बलकारक, बालों के लिए हितकर, जठराग्निवर्धक, मधुर रसयुक्त, रुचिकारक एवं अम्लपित्त तथा दाह को नष्ट करने वाला होता है ॥ १०५ ॥

७० कदलीकन्द

केले का परिचय आम्रादि फल वर्ग में दिया गया है ॥ ७० ॥

अथ मानकन्दः । तस्य नामगुणानाह

मानकः स्यान्महापत्रः कथ्यन्ते तद्गुणा अथ । मानकः शोथहृच्छीतो रक्तपित्तहरो लघुः ॥

मानकन्द का संस्कृत नाम—मानक (मानकन्द) और महापत्र है । **गुण**-मानकन्द शीतल, लघु एवं शोथ तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है ॥ १०६ ॥

७१ मानकन्द

हि०-मानकन्द, माणकन्द । **बं०**-माणकचु, मानकोचु । **मा०**-मान पात । **गु०**-मानकन्द । **ले०**-*Alocasia indica* (एलोकैसिया इण्डिका) ।

प्रायः इसको बागों में लगाते हैं और गमलों में भी रोपण कर घर के पास रखते हैं । इसका समस्त **क्षुप**-अरुई के समान होता है किन्तु आकार में अरुई से बडा होता है ॥ ७१ ॥

अथ वाराहीकन्दः । तस्य गुणानाह

वाराही पित्तला बल्या कटुर्वी तिक्ता रसायनी । आयुःशुक्राग्निकृन्मेहकफकुष्ठानिलापहा ॥

वाराहीकन्द (गेंठी) के गुण—वाराहीकन्द कटु तथा तिक्त रसयुक्त, पित्तजनक, बलकारक, रसायन, आयु, शुक्र और जठराग्नि को बढाने वाला एवं प्रमेह, कफ, कुष्ठ और वायु को नष्ट करने वाला होता है ॥ १०७ ॥

७२ वाराही कन्द

हि०-वाराहीकन्दी, गेंठी, मिर्वोलीकन्द, चर्मकारालु, चमार आलु। बं०-चामार आलु, चामालु, चुवडि आलु। म०-डुकर कन्द, वाराही कन्द। गु०-डुक्करिया, सालिवणावेल्य। ते०-नाम्र दव्विदुट्टु, पाचितोके, नेलताडिचेट्टु। क०-हंदिगेट्टे। मु०-डुकरकन्द। ले०-*Dioscorea sativa* (डाओस कोरिया साटिवा)।

वाराही कन्द—आनूप देश के पहाड़ी प्रदेशों में अधिक उत्पन्न होता है। सिमला, अल्मोढा आदि स्थान में भी पाया जाता है। इस लताजाति की वनस्पति के पत्ते पान के पत्तों के समान परन्तु उनसे बड़े बड़े होते हैं। पत्रदण्ड की जड़ से फूलों की मञ्जरियाँ निकलती हैं। बीजकोष-छोटे-छोटे होते हैं। डण्डियों पर कहीं कहीं आलू के समान गाँठें उत्पन्न होती हैं। जड के नीचे कन्द बैठता है। वह शूकराकार गावदुम होता है। उस पर सूअर के बाल के समान बाल होते हैं॥ ७२ ॥

अथ हस्तिकर्णा। तस्यास्तत्कन्दस्य च गुणानाह

गजकर्णा तु तिक्तोष्णा तथा वातकफापहा। शीतज्वरहरी स्वादुः पाके तस्यास्तु कन्दकः॥
पाण्डुशोथकृमिप्लीहगुल्मानाहोदरापहः। ग्रहण्यर्शोविकारघ्नो वनसूरणकन्दवत्॥ १०९॥

हस्तिकर्ण के गुण—हस्तिकर्ण तिक्तरसयुक्त, उष्ण, विपाक में मधुर रसयुक्त एवं वात, कफ तथा शीतज्वर को दूर करने वाला होता है। **हस्तिकर्ण के कन्द का गुण**—इसका कन्द जंगली सूरन के कन्द की भाँति, पाण्डु, शोथ, कृमि, प्लीहा, गुल्म, आनाह (अफरा), उदररोग, ग्रहणी तथा अर्श के विकारों को नष्ट करने वाला होता है॥ १०८-१०९॥

७३ हस्तिकन्द

हि०-हाथी कन्द, गजकन्द, पेडारू। बं०-हाती बडमूला। म०-हस्ति कन्द। क०-मल्लिगे-सिवगड्डे। गु०-मानकन्दनी।

हस्तिकन्द—कोंकण देश में उत्पन्न होने वाला एक महाकन्द है॥ ७३॥

अथ केमुकम् (केमुआ)। तस्य गुणानाह

केमुकं कटुकं पाके तिक्तं ग्राहि हिमं लघु॥ ११०॥
दीपनं पाचनं हृद्यं कफपित्तज्वरापहम्। कुष्ठकासप्रमेहास्रनाशनं वातलं कटु॥ १११॥

केमुआ के गुण—केमुआ विपाक में कटु रसयुक्त, स्वाद में तिक्त तथा कटु रसयुक्त, ग्राही, शीतल, लघु, अग्निदीपक, पाचक, हृदय के लिये हितकर, वातजनक एवं कफ, पित्त, ज्वर, कुष्ठ, कास, प्रमेह तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है॥ ११०-१११॥

७४ केमुक

हि०-केमुआ, केमुका, केवुक कन्द, केउँआ, कोवी। बं०-केउमून, केउगाछ, केलूर पेया। मा०-कोदी। फा०-कलाम। अ०-कन्दकलव।

केमुक—एक प्रकार का कन्द बङ्गाल में उत्पन्न होता है॥ ७४॥

अथ कसेरु, चिचोढं च। तयोर्गुणानाह

कसेरु द्विविधं तत्तु महद्राजकसेरुकम्। मुस्ताकृति लघु स्याद्यत्तच्चिचोढमिति स्मृतम्॥११२॥
कसेरुकद्वयं शीतं मधुरं तुवरं गुरु। पित्तशोणितदाहघ्नं नयनामयनाशनम्।
ग्राहि शुक्रानिलश्लेष्मारुचिस्तन्यकरं स्मृतम्॥ ११३॥

कसेरु के भेद—१ बड़ा, २ छोटा, भेद से कसेरू दो प्रकार का होता है। इसके संस्कृत नाम—जो बड़ा कसेरू होता है उसे 'राजकसेरू' कहते हैं और जो छोटा मोथे के समान आकार वाला होता है उसे 'चिचोट' कहते हैं।

गुण—इन दोनों प्रकार के कसेरु शीतल, मधुर तथा कषाय रसयुक्त, गुरु, ग्राही एवं शुक्र, वायु, कफ, अरुचि तथा दुग्धवर्धक होते हैं और पित्त, रक्तविकार, दाह, नेत्ररोग इन सबों को नाश करने वाले होते हैं॥ ११२-११३॥

७५ कसेरू

हि०-कसेरू, नागरमोथे की जड। बं०-कसेरुक, राजकसेरू, केसुर। म०-कचडा कुरुद्या; क०-सेकिन गडे, कसरुवा। ते०-इट्टि कोति। को०-फुरडि, तुगगडु। गु०-कसेला। ले० *Scirpus grossus* (स्किर्पस ग्रोसस)।

यह प्रायः सब प्रान्तों के सजल स्थान और दलदलों में उत्पन्न होता है। इसका डंठल-कनिष्ठा अङ्गुली प्रमाण मोटा और ८-१० फुट से भी अधिक ऊँचा होता है। पत्ते-कम लम्बे रहते हैं। ऊपरी भाग नागरमोथे के आकार का होता है। जड़ के नीचे जो कन्द होता है वह अण्डाकार काले रङ्ग का मोटे रोवें सहित होता है। इसी को कसेरू कहते हैं। छिलका रहित कसेरू सफेद होता है॥ ७५॥

७६ छोटा कसेरू

हि०-छोटा कसेरू, चिचोड, चिचोर। बं०-छोट केसुर। पं०-कसेरूदिल। ले०-*Cyperus esculentus* (साइपरस एस्क्युलेन्टस)।

यह मोथे की जाति की वनस्पति दलदलों में उत्पन्न होती है। इसकी सब आकृति मोथे के समान होती है। इसका कन्द उक्त कसेरू से छोटा और मोथे से बडा होता है॥ ७६॥

अथ शालूकम् (भसींडा)। तस्य नामानि गुणाँश्चाह

पद्मादिकन्दः शालूकं करहाटश्च कथ्यते॥ ११४॥
मृणालमूलं भिस्साण्ड जलालूकश्च कथ्यते। शालूकं शीतलं वृष्यं पित्तदाहास्रनुद् गुरु॥११५॥
दुर्जरं स्वादुपाकश्च स्तन्यानिलकफप्रदम्। संग्राहि मधुरं रूक्षं भिस्साण्डमपि तद्गुणम्॥११६॥

कमल आदि के कन्दों के संस्कृत नाम—कमलकन्द, शालूक तथा करहाट ये सब हैं। मृणाल (कमल के नाल) के मूल भाग का संस्कृत नाम—मृणालमूल, भिस्साण्ड और जलालूक ये सब हैं। गुण-कमलकन्द शीतल, वीर्यवर्धक, गुरु, कठिनता से हजम होने वाला, दुग्ध, वायु तथा कफ को करने वाला, ग्राही, रूक्ष, मधुर रसयुक्त, विपाक में भी मधुर एवं पित्त, दाह और रक्तविकार को दूर करने वाला होता है। भसींडा के गुण-भसींडा गुणों में कमलकन्द ही के समान होता है॥

७७ भसींडा

हि०-भिस्साँड, लज्जालूक, लजालूक, भसींडा, कमलकन्द, कमल की जड, भीसांढ, सेरुकी। बं०-पद्मेर गेंडी, शालुक। ते०-जाजिकाया।

भसींडा—कमल की जड़ को कहते हैं। कमल का पूर्णपरिचय पुष्पादिवर्ग में दिया गया है॥

अथ निषिद्धशाकान्याह

बालं ह्यनार्त्तवं जीर्णं व्याधितं कृमिभक्षितम्। कन्दं विवर्जयेत्सर्वं यद्वाऽग्न्यादिविदूषितम्।
अतिजीर्णमकालोत्थं रूक्षसिद्धमदेशजम्॥ ११७॥
कर्कशं कोमलं चातिशीतव्यालादिदूषितम्। सशुष्कं सकलं शाकं नाश्नीयान्मूलकं विना॥

निषिद्ध (नहीं खाने योग्य) शाक—जो कन्द कच्चा, बिना ऋतु के (असमय में) होने वाला, पुराना, रोगयुक्त, कीडों से खाया हुआ अर्थात् जिसमें कीड़े आदि पडे हों या खाये हों अथवा अग्नि आदि से दूषित हो गये हों, उन सबों को त्याग देना चाहिये। जो शाक अत्यन्त पुराना, अकाल में उत्पन्न हुआ, बिना तेल आदि के पकाया हुआ, अशुभ स्थान श्मशान आदि में उत्पन्न हुआ, कठिन, कोमल, अत्यन्त शीत पडने तथा सर्पादिक से दूषित हुआ हो उसे त्याग देना चाहिये। सभी सूखे शाक नहीं खाने चाहिये, किन्तु मूली के लिए यह नियम नहीं है उसे सूखी भी खा सकते हैं॥ ११७-११८॥

रूक्षसिद्धम् = अतैलादिसिद्धम्। अदेशजम् = अशुभस्थानजम्॥ ११७-११८॥

यहाँ 'रूक्षसिद्ध' पद का 'विना तेल आदिके पकाया हुआ' तथा 'अदेशज' पद का 'अशुभ स्थान श्मशान आदि में उत्पन्न हुआ' अर्थ समझना चाहिये ॥ ११७-११८ ॥

इति कन्दशाकानि ।

अथ संस्वेदजशाकानि (पसीम से उत्पन्न शाक) ।

तेषां नामानि गुणानाह

उक्तं संस्वेदजं शाकं भूमिच्छत्रं शिलीन्ध्रकम् । क्षितिगोमयकाष्ठेषु वृक्षादिषु तदुद्भवेत् ॥
सर्वे संस्वेदजाः शीता दोषलाः पिच्छिलाश्च ते । गुरवश्छर्द्यतीसारज्वरश्लेष्मामयप्रदा ॥१२०॥
श्वेताशुचिस्थलीकाष्ठवंशगोमयसम्भवाः । नातिदोषकरास्ते स्युः शेषास्तेभ्यो विगर्हिताः ॥१२१॥

संस्वेदज (पसीम से उत्पन्न हुए) शाक के संस्कृत नाम—संस्वेदज, भूमिच्छत्र और शिलीन्ध्रक ये सब हैं । **उत्पत्ति स्थान**-संस्वेदज शाक पृथ्वी, गोबर, काष्ठ तथा वृक्षादि पर उत्पन्न होता है । **गुण**-जितने संस्वेदज शाक हैं, वे सब शीतल, दोषकारक, पिच्छिल, गुरु एवं वमन, अतीसार, ज्वर और कफसम्बन्धी रोगों को उत्पन्न करने वाले होते हैं । **परिभाषा**-जो संस्वेदज शाक श्वेत वर्ण वाले, पवित्र स्थान काष्ठ, बांस तथा गोबर पर उत्पन्न होने वाले होते हैं, वे अत्यन्त दोषकारक नहीं (साधारण दोषकारक) होते हैं । शेष अर्थात् इनसे अन्य स्थान में उत्पन्न होने वाले संस्वेदज शाक निन्दित (त्याज्य) होते हैं ॥ ११९-१२१ ॥

७८ संस्वेदज (भुई छत्ता)

हि०-भुई छत्ता, भुई फोड, छत्ता, छतोना, छाता, साप की छत्री । **बं०**-कोड़क छाता, व्यांगेर छाता, छातकुड, भुई छाति, छात कुण्ड । **म०**-भुई फोड़, अलम्बी । **को०**-कालिम । **गु०**-फुग्य मींद, डानीवली, संस्वेदज शाक । **अं०**-Mush room (मस रूम) । **ले०**-*Agaricus campestris* (एगरिकस कम्पेस्ट्रिस) ।

भुई छत्ता—वर्षा ऋतु में आप ही आप जमीन फोड़ कर उत्पन्न होते हैं । इसका **क्षुप**-६-७ इञ्च ऊँचा होता है और इसमें कोई डाली नहीं होती, केवल एक डण्डी जो जमीन फोड़ कर निकलती है उस पर गोल छत्ते के आकार का एक छत्र होता है ॥ ७८ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
दशमः शाकवर्गः समाप्तः ॥ १० ॥



अथ मांसवर्गः

अथ मांसम् ।

तस्य नामानि गुणाँश्चाह

मांसं तु पिशितं क्रव्यमामिषं पललं पलम् । मांसं वातहरं सर्वं बृंहणं बलपुष्टिकृत् ॥
प्रीणनं गुरु हृद्यञ्च मधुरं रसपाकयोः ॥ १ ॥

मांस के संस्कृत नाम—मांस, पिशित, क्रव्य, आमिष, पलल तथा पल ये सब हैं। **गुण**—सभी मांस रस तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), बल तथा पुष्टि के करने वाले, सन्तर्पण कारक, गुरु, हृदय के लिये हितकर तथा वातनाशक होते हैं ॥ १ ॥

१ मांस

हि०-मांस, कलिया, सागवती, सगौती। **फा०**-गोश्त। **अं०**-Meat (मीट), Flesh (फ्लेश)।
जीवों को मार कर चमड़ा पृथक् करने पर जो हिस्सा रहता है उसको मांस कहते हैं ॥ १ ॥

अथ मांसभेदानाह

मांसवर्गो द्विधा ज्ञेयो जाङ्गलानूपभेदतः ॥ २ ॥

मांस के भेद—मांसवर्ग दो भागों में विभक्त है, १-जाङ्गल (जङ्गली जीवों के) मांस, २-आनूप (जल के समीप या जल में रहने वाले जीवों के) मांस ॥ २ ॥

तत्र जाङ्गलमांसस्य भेदान् गुणाँश्चाह

मांसवर्गेऽत्र जङ्घाला विलस्थाश्च गुहाशयाः । तथा पर्णमृगा ज्ञेया विष्किराः प्रतुदास्तथा ॥३॥
प्रसहा अथ च ग्राम्या अष्टौ जाङ्गलजातयः । जाङ्गला मधुरा रूक्षास्तुवरा लघवस्तथा ॥४॥
बल्यास्ते बृंहणा वृष्या दीपना दोषहारिणः । मूकतां मिन्मिनत्वं च गद्गदत्वार्दिते तथा ॥५॥
बाधिर्य्यमरुचिच्छर्दिप्रमेहमुखजान् गदान् । श्लीपदं गलगण्डञ्च नाशयत्यनिलामयान् ॥६॥

जाङ्गल मांस के भेद—इस मांस वर्ग में १-जङ्घाल (जङ्घा के बल से चलने वाले), २-विलस्थ (बिल में रहने वाले), ३-गुहाशय (गुफा में सोने वाले), ४-पर्णमृग (वृक्षों पर चढने वाले), ५-विष्किर (कुरेद कुरेद कर खाने वाले), ६-प्रतुद (चोंच से पदार्थ को निकोल कर खाने वाले), ७-प्रसह (बलात्कार (जबरदस्ती) से छीन कर खाने वाले), ८-ग्राम्य (ग्राम में रहने वाले) ये ८ जातियां 'जाङ्गल' होती हैं । इन्हीं का मांस 'जाङ्गल' मांस कहलाता है ।

जाङ्गल मांस के गुण—जाङ्गल मांस मधुर तथा कषाय रसयुक्त, रूक्ष, लघु, बलकारक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), वीर्यवर्धक, अग्निदीपक, दोषनाशक एवं मूकता (गूगापन), मिन्मिनापन, तोतलापन, अर्दितवात (लकवा), बहिरापन, अरुचि, वमन, प्रमेह, मुख में होने वाले रोग, श्लीपद (फीलपाव), गलगण्ड और वातसम्बन्धी रोग को दूर करने वाला होता है ॥ ३–६ ॥

अथानूपमांसस्य भेदान् गुणाँश्चाह

कूलेचराः प्लवाश्चापि कोशस्थाः पादिनस्तथा । मत्स्या एते समाख्याताः पञ्चधाऽऽनूपजातयः ॥
आनूपा मधुराः स्निग्धा गुरवो वह्निसादनाः । श्लेष्मलाः पिच्छिलाश्चापि मांसपुष्टिप्रदा भृशम् ॥
तथाऽभिष्यन्दिनस्ते हि प्रायः पथ्यतमाः स्मृताः ॥ ८ ॥

आनूप मांस के भेद—१ कूलेचर (नदी आदि के किनारे पर चरने वाले), २ प्लव (जल के ऊपर तैरने वाले पक्षी), ३ कोशस्थ (ढकने के मध्य में रहने वाले), ४ पादी (पांव वाले जल के जीव), ५ मत्स्य (मछली), ये ५ प्रकार की जातियाँ आनूप कहलाती हैं। इनके मांस आनूप-मांस कहलाते हैं ।

गुण—आनूपमांस मधुर रसयुक्त, स्निग्ध, गुरु, जठराग्नि को मन्द करने वाला, कफ उत्पन्न करने वाला, पिच्छिल, मांस को अत्यन्त पुष्ट करने वाला, अभिष्यन्दी तथा प्रायः करके अत्यन्त पथ्य होता है ॥ ७-८ ॥

अथ जाङ्गलाः ।

तत्र जाङ्गलानां गणानां लक्षणानि विशिष्टगुणाँश्चाह

हरिणैणकुरङ्गर्ष्यपृषतन्यङ्कुशम्बराः ॥ ९ ॥
राजीवोऽपि च मुण्डी चेत्याद्या जङ्गालसंज्ञकाः।हरिणस्ताम्रवर्णः स्यादेणः कृष्णः प्रकीर्त्तितः॥
कुरङ्ग ईषत्ताम्रः स्यादेणतुल्याकृतिर्महान् । ऋष्यो नीलाङ्गको लोके स रोझ इति कीर्त्तितः ॥
पृषतश्चन्द्रबिन्दुः स्याद्धरिणात्किञ्चिदल्पकः । न्यङ्कुर्बहुविषाणोऽथ शम्बरो गवयो महान् ॥
राजीवस्तु मृगो ज्ञेयो राजिभिः परितो वृतः।यो मृगः शृङ्गहीनः स्यात्स मुण्डीति निगद्यते॥
जङ्गालाः प्रायशः सर्वे पित्तश्लेष्महराः स्मृताः। किञ्चिद्वातकराश्चापि लघवो बलवर्द्धनाः ॥१४॥

जङ्गाल जीवों की गणना—हरिण, एण, कुरङ्ग, ऋष्य, पृषत, न्यङ्कु, शम्बर, राजीव और मुण्डी इत्यादि जघालसंज्ञक जीव हैं। लक्षण-हरिण यह तामे के समान वर्णवाला मृग होता है। **एण**-यह कृष्ण वर्ण का मृग होता है। **कुरङ्ग**-यह किञ्चित् तामे के समान वर्ण वाला, आकार में एण मृग के समान किन्तु उससे बडा होता है। **ऋष्य**-यह नीले वर्ण का होता है। इसे लोक में 'रोझ' कहते हैं। **पृषत**-इसके ऊपर चन्द्र के समान बिन्दु होते हैं और यह हरिण से कुछ छोटा होता है। **न्यङ्कु**-इसके बहुत से झाडदार सींग होते हैं। इसे 'बारहसिंगा कहते हैं। **शम्बर**-यह गवय (गौ के समान पशुविशेष) की अपेक्षा बडा होता है। (गवय को लोक में 'नीलगाय' कहते हैं)। **राजीव**-वह मृग कहलाता है कि जिसके शरीर पर बहुत सी रेखायें हों। **मुण्डी**-यह मृग (हरिण) सींग से रहित होता है।

गुण-जङ्गाल जीवों के मांस प्रायः पित्त तथा कफ नाशक, किञ्चित् वातकारक, लघु तथा बलवर्धक होते हैं ॥ ९-१४ ॥

२ हरिन

हि०-हरिन, हिरन। **बं०**-हरिण, मृग, ताम्रहरिण। **फा०**-आहू। **अ०**-जर्वह्। **अं०**-Deer (डियर)।

हरिन—एक प्रसिद्ध जङ्गली पशु है जो प्रायः पर्वतों की चोटियों पर रहता है। इसका **शरीर**-फीका तामे के रङ्ग का और **पेट**-सफेदी लिये होता है। इसकी **आँखें**-बडी, **पाँव**-पतले और लम्बे होते हैं। शिर पर सुहावने **सींग** होते हैं। यह पशु दौड़ने और कूदने में बहुत तेज होता है। इसकी अनेक जातियाँ हैं ॥ २ ॥

३ एण

इसको काला हरिन, करिया साइल हरिन और कृष्णसार मृग आदि नामों से सम्बोधन करते हैं। इसकी **आँखें** चमकीली और **पाँव** छोटे-छोटे होते हैं। इसी की नाभि से **कस्तूरी** निकलती है। यह २० इञ्च ऊँचे और ४० इञ्च लम्बे आकार का सुहावना पशु है। शिर पर भूरे बालों का एक गुच्छा सा लगा रहता है। **बदन** काले भूरे रंग का होता है और उस पर पीले रङ्ग के धब्बे होते हैं। यह विशेष कर बर्फीले पहाड पर रहता है ॥ ३ ॥

४ कुरङ्ग

इसको कुरङ्ग हरिन या कुरङ्ग मृग कहते हैं। यह किञ्चित् **लाल रङ्ग** का और आकार में उक्त एण से कुछ बडा होता है ॥ ४ ॥

५ ऋष्य

सं०-नीलाङ्गक। **हि०**-रोज हरिन (हिरन), रोझ।

इसका शरीर नीले रङ्ग का होता है ॥ ५ ॥

६ पृषत

सं०-पृषत मृग, चन्द्रविन्दु । हि०-चित्तल हरिन, चितकावर हरिन, चितकबरा हरिन ।
यह आकार में कुछ छोटा होता है और इसके शरीर पर सफेद-सफेद छींटे होते हैं ॥ ६ ॥

७ न्यंकु

हि०-बारहसिंगा (घा) हरिन । फा०-गवज़्न । अ०-ईल ।
इसके शिर पर सींगों के दो झार होते हैं जो अति सुहावने दीख पडते हैं ॥ ७ ॥

८ शम्बर

सं०-शम्बर मृग । हि०-साबर हरिन, साबर मृग ।
यह ऋष्य नामक हरिन के समान कुछ नीले रंग का होता है परन्तु उससे कुछ बडा होता है।

९ राजीव

हि०-राजीव मृग, राजीव हरिन । इसके शरीर पर लम्बी-लम्बी रेखायें होती हैं ॥ ९ ॥

१० मुण्डी

सं०-पाठी मृग, मुण्डी मृग । हि०-मुंडा हरिन ।
इसके शिर पर घोडे के समान सींग नहीं होता है । इसलिये इसको मुडा कहते हैं ॥ १० ॥

अथ बिलेशयाः ।

तेषां गणनां गुणाँश्चाह

गोधाशशभुजङ्गाखुशल्लक्याद्या बिलेशयाः । बिलेशया वातहरा मधुरा रसपाकयोः ॥
बृंहणा बद्धविण्मूत्रा वीर्योष्णाश्च प्रकीर्त्तिताः ॥ १५ ॥

बिलेशय (बिल में रहने वाले) प्राणियों की गणना—गोह, खरगोश, साप, मूसा, साही आदि जीव बिलेशय कहलाते हैं । गुण—बिलेशय जीवों का मांस वातनाशक, रस तथा विपाक में मधुर, बृंहण (रस, रक्तादिवर्धक), उष्णवीर्य, मल तथा मूत्र का विबन्ध करने वाला होता है ॥

११ गोह

सं०-गोधा । हि०-गोह । फा०-सूसमार । अ०-सब ।
गोह—छिपकिली के आकार का चार पैर वाला न्योला के बराबर एक जन्तु है जो प्रायः वृक्षों पर खोखले में रहता है । इसका चमडा मोटा और मजबूत होता है । इससे खंजरी छवाते हैं ।

१२ खरगोश

सं०-शश, शशक, लोमकर्ण । हि०-खरहा, खरगोश, ससा । तें०-चेवुलपिछी । अ०-अर्जबुल बर्री । अं०-Here (हेयर) ।

खरगोश—एक प्रसिद्ध जन्तु है जो बिल बनाकर उसमें रहता है । यह बिल्ली से छोटा और बहुत सीधा जानवर है । इसके कान लम्बे, अगले दो पैर छोटे और पिछले दो बडे होते हैं । खरहे को लोग पालते हैं परन्तु जगली खरहे पाले नहीं जाते । यदि बच्चे में पाले भी जायँ तो वड़े होने पर प्रायः भाग जाते हैं । विलायती खरहे पाले जाते हैं । ये सफेद, काले मिश्रित सफेद और चित्तल या भूरे चित्तल अथवा भूरे रंग के होते हैं । मांदा प्रायः जोडा खाने के एक मास बाद बच्चे देती है । एक बार में ३ से ५ और कभी कभी ६ बच्चे उत्पन्न होते हैं । प्रायः लकडी के पिंजरे में पालते हैं । उसी पिंजरे में बच्चे देने के लिये सुरक्षित छोटी कोठरी सी बनवा देनी चाहिये जिसमें बाहर से बच्चे नहीं दीख पडें, बच्चा देने का समय निकट आने पर मांदा खरहा अपने शरीर के रोम नोचने लगती है । उस समय कोमल सूखी घास या पुआल मांदा के सामने रख देना चाहिये । वह उसको लेकर बच्चे देने के स्थान में बिछाती है और अपने शरीर के रोम भी बिछाती है । फिर उस स्थान पर बच्चे देती और अपने शरीर के रोमों से ढक देती है । यह काम वह पर्दे के साथ करती है और पर्दे में ही बच्चों को दूध पिलाती है ॥ १२ ॥

१३ सांप

हि०-सांप, विषधर, अजगर । सं०-साप । फा०-मार । अ०-हय्य । अं०-Snake (स्नेक) ।

सांप—सर्वप्रसिद्ध प्राणघातक एक विलेशय जीव है। यह अपने से बिल बनाना नहीं जानता परन्तु दूसरे के बिल में वास करता है। इसके कान नहीं होते, बल्कि आंख से ही सुनता है। इस कारण इसका नाम चक्षुःश्रवा भी है। इसके तालु के नीचे विष की थैली होती है और दांत बर्छीनुमे होते हैं।

सांप—रंग, आकार तथा देश भेद से अनेक प्रकार का होता है। प्रायः सब प्रकार के सांप विषैले होते हैं। इनमें डोर, धामिन, हरहरा इत्यादि साप में विष कम होते हैं। **गहुमन** और काले **सांप** बहुत विषैले समझे जाते हैं। प्रायः सपेरे हरे, पीले, लाल इत्यादि नाना प्रकार के सांप पालते हैं और लोगों को दिखला कर पैसा कमाते हैं। कोई-कोई सांप इतने बडे होते हैं जो मिट्टी के बांध के समान प्रतीत होते हैं। दो मुख वाले सांप भी अनेक प्रकार के होते हैं॥ १३॥

१४ मूसा

सं०-मूषक, आखु। **हि०**-मूस, मूसा, चूहा, चुहरी। **बं०**-मूषा। **अं०**-Mouse (माउस), Rat (रैट)।

मूसा—एक प्रसिद्ध बिल में रहने वाला जीव है। यह घर, खेत, वन और उपवन सभी स्थानों में रहता है। दूषित विष वाले मूसे के काटने से रुधिर बह निकलता है। शरीर में सफेद चकत्ते पड जाते हैं तथा अरुचि, रोमांच, दाह और ज्वर उत्पन्न हो जाते हैं। सफेद रंग के मूसे को **विलायती** मूसा कहते हैं। इसको लोग पालते हैं। एक बार में ५-५ या ६-६ बच्चे होते हैं।

१५ शल्लकी

हि०-साहिल, साही। **बं०**-सजारु, साजारु पशु, स्याही पशु। **यू०**-सेह। **फा०**-खार पुश्त। **अ०**-फिनना।

साही-लोमडी के बराबर चार पैर का एक प्रसिद्ध पशु है। इसके सर्वाङ्ग में बालों के स्थान पर कांटे होते हैं। ये **कांटे** नुकीले, काले, बीच-बीच में सफेद, गोल और ७-८ इञ्च लम्बे होते हैं। इसके कारण शरीर पर चोट पडने से उसको घाव नहीं लगती बल्कि उसकी रक्षा होती है॥ १५॥

अथ गुहाशयाः।

तेषां गणनां गुणांश्चाह—

सिंहव्याघ्रवृका ऋक्षतरक्षुद्वीपिनस्तथा। बभ्रुजम्बूकमार्जारा इत्याद्याः स्युर्गुहाशयाः॥ १६॥

गुहाशय (गुफा में रहने वाले) जीवों की गणना—सिंह, बाघ, भेडिया, भालु, तेंदुआ बाघ, चित्रव्याघ्र (चीता), बभ्रु (नौला), गीदड, बिलाव इत्यादि गुहाशय जीव हैं॥ १६॥

*** तरक्षुः—'तेंदुआ बाघ' इति लोके। द्वीपी = 'चित्रव्याघ्र' इति लोके।**
स्थूलपुच्छो रक्तनेत्रो बभ्रुदेहः स नाकुलः॥ १६॥

यहाँ 'तरक्षु' से 'तेंदुआबाघ', 'द्वीपी' से 'चित्रव्याघ्र' (चीता) और 'बभ्रु' से स्थूल पूँछ तथा लाल नेत्रों वाला, पीले रंग का जो जीव (नेवला) होता है उसका ग्रहण करना चाहिये॥ १६॥

गुहाशया वातहरा गुरूष्णा मधुराश्च ते। स्निग्धा बल्या हिता नित्यं नेत्रगुह्यविकारिणाम्॥

गुण—गुहाशय जीवों का मांस वातनाशक, गुरु, उष्ण, मधुर, स्निग्ध, बलकारक तथा नेत्र और गुदा रोगवालों के लिये नित्य हितकर होता है॥ १७॥

१६ गुहाशय

गुहाशय—बाघ, भेडिया आदि॥ १६॥

अथ पर्णमृगाः।

तेषां गणनां गुणाँश्चाह

वनौका वृक्षमार्जारो वृक्षमर्कटिकाऽऽदयः। एते पर्णमृगाः प्रोक्ताः सुश्रुताद्यैर्महर्षिभिः॥१८॥

पर्णमृग (वृक्ष पर चढने वाले) जीवों की गणना—वानर, वृक्षबिडाल (बन बिलाव), रूषी वानर आदि को सुश्रुतादि महर्षियों ने 'पर्णमृग' संज्ञक बतलाया है॥ १८॥

* वनौका = वानरः । वृक्षमार्जारो = वृक्षविडालः । वृक्षमर्कटिका = 'रूषी वानर' इति लोके ॥ १८ ॥

यहाँ 'वनौका' से 'वानर', 'वृक्षमार्जार' से वृक्षविडाल अर्थात् पेड़ पर रहने वाले वन विलाव और 'वृक्षमर्कटिका' से 'रूषी वानर' नाम से लोक में प्रसिद्ध जीव का ग्रहण करना चाहिये ॥१८॥

स्मृताः पर्णमृगा वृष्याश्चक्षुष्याः शोषिणे हिताः । श्वासार्शःकासशमनाः सृष्टमूत्रपुरीषकाः॥१९॥

गुण—पर्णमृग-संज्ञक जीवों का मांस वीर्यवर्धक, नेत्रों के लिये हितकर, शोष (क्षय) रोगियों के लिये हितकारी, मूत्र तथा मल को निकालने वाला एवं श्वास, अर्श (बवासीर) और खांसी को दूर करने वाला होता है ॥ १९ ॥

१७ पर्णमृग

पर्णमृग—वानर, रूषी आदि ॥ १७ ॥

अथ विष्किराः (विष्किरपक्षी) । तेषां गणनां गुणांश्चाह

वर्त्तका लाववर्त्तीरकपिञ्जलकतित्तिराः । कुलिङ्गकुक्कुटाद्याश्च विष्किराः समुदाहृताः ॥ २० ॥
विकीर्य भक्षयन्त्येते यस्मात्तस्माद्धि विष्किराः । कपिञ्जल इति प्राज्ञैः कथितो गौरतित्तिरिः॥
विष्किरा मधुराः शीताः कषायाः कटुपाकिनः । बल्या वृष्यास्त्रिदोषघ्नाः पथ्यास्ते लघवः स्मृताः॥

विष्किर (कुरेद-कुरेद कर खाने वाले) पक्षियों की गणना—वर्त्तका (बटेर-जङ्गली गौरैया), लाव (लावा), वर्त्तीर (कपिञ्जल के सदृश पक्षिविशेष), कपिञ्जलक (गौर तीतर), तीतर, कुलिङ्ग (गौरैया) और मुर्गा आदि पक्षी विष्किर कहलाते हैं। **विष्किर शब्द की निरुक्ति**-जो पक्षियां चोंच आदि से बिखेर कर खाती हैं वे 'विष्किर' कहलाती हैं। कपिञ्जल को विद्वान् 'गौरतित्तिरि' कहते हैं। **गुण**-विष्किर पक्षियों का मांस मधुर, शीतल, कषाय (कसैला), विपाक में कटु रसयुक्त, बलकारक, वीर्यवर्धक, त्रिदोषनाशक, पथ्य तथा लघु होता है ॥ २०-२२ ॥

१८ विष्किर

विष्किर-बटेर, तीतर आदि ॥ १८ ॥

अथ प्रतुदाः (चोंच से खानेवाले पक्षी) । तेषां गणनां गुणांश्चाह

कालकण्ठकहारीतकपोतशतपत्रकाः ।
पारावतः खञ्जरीटः पिकाद्याः प्रतुदाः स्मृताः । प्रतुद्य भक्षयन्त्येते तुण्डेन प्रतुदास्ततः ॥२३॥

प्रतुद पक्षियों की गणना—कालकण्ठक (धूयें के रङ्ग का जलकौवा), हरियल, पडुकी (कपोत भेद), शतपत्रक (कठफोडवा), पारावर (कबूतर), खिड़रिच, कोयल आदि पक्षियां 'प्रतुद' कहलाती हैं। **प्रतुद शब्द की निरुक्ति**-जो पक्षियां चोच से निखोर कर खाती हैं वे 'प्रतुद' कही जाती हैं ॥ २३ ॥

* हारीतः = 'हरियल' इति लोके । कपोतो धवलः पाण्डुः शतपत्रको वृहच्छुकः ॥ 'दार्वाघाटः' इत्यमरः । 'कठफोड़वा' इति लोके ॥ २३ ॥

यहाँ 'हारीत' से लोकप्रसिद्ध 'हरियल', कपोत पद से उसीका भेद शुक्ल-पीत वर्ण की पडुकी एवं 'शतपत्रक' से अमरकोश के प्रमाण से दार्वाघाट अर्थात् लोकप्रसिद्ध 'कठफोडवा' का बोध करना चाहिये ॥ २३ ॥

प्रतुदा मधुराः पित्तकफघ्नास्तुवरा हिमाः । लघवो बद्धवर्चस्काः किञ्चिद्वातकराः स्मृताः॥२४॥

गुण—प्रतुदसंज्ञक पक्षियों के मांस मधुर तथा कषाय रसयुक्त, पित्त तथा कफनाशक, शीतल, लघु, मल को गाढ़ा करने वाले तथा किञ्चित् वातकारक होते हैं ॥ २४ ॥

१९ प्रतुद

प्रतुद—हरियल, कबूतर आदि ॥ १९ ॥

अथ प्रसहाः । तेषां गणनां गुणाँश्चाह

काको गृध्र उलूकश्च चिल्लश्च शशघातकः । चापो भासश्च कुरर इत्याद्याः प्रसहाः स्मृताः ॥

प्रसह संज्ञक (दूसरे से जबरदस्ती छीन कर खाने वाले) पक्षियों की गणना—कौवा, गीध, उल्लू, चील्ह, बाज, नीलकण्ठ, भास (गीध का भेद) और कराकुर या कडाकुल इत्यादि पक्षी प्रसहसंज्ञक हैं ॥ २५ ॥

⊛ शशघातकः = 'बाज' इति लोके। चाषः = 'नीलकण्ठ' इति लोके। भासः=गृध्रविशेषः स्यात्। कुररः = 'कराङ्कुर' इति लोके ॥ २५ ॥

यहाँ 'शशघातक' का लोकप्रसिद्ध 'बाज' पक्षी, 'चाष' का 'नीलकण्ठ' नाम से लोकप्रसिद्ध पक्षी, 'भास' का गीध के भेद का पक्षी और 'कुरर' का 'कराकुर' नाम से लोकप्रसिद्ध पक्षी का ग्रहण करना चाहिये ॥ २५ ॥

प्रसहाः कीर्त्तिता एते प्रसह्याच्छिद्य भक्षणात् ॥ २६ ॥

'प्रसह' शब्द की निरुक्ति—जो पक्षी दूसरे से जबरदस्ती छीनकर खाते हैं। इससे वे 'प्रसह' कहलाते हैं ॥ २६ ॥

प्रसहाः खलु वीर्योष्णास्तन्मांसं भक्षयन्ति ये। ते शोषभस्मकोन्मादशुक्रक्षीणा भवन्ति हि ॥

गुण—प्रसहसंज्ञक जितने पक्षी हैं वे सब उष्णवीर्य होते हैं। अतः जो उनके मांस को खाते हैं उनको शोष (क्षय), भस्मक रोग, पागलपन तथा शुक्रक्षीणता हो जाती है ॥ २७ ॥

२० प्रसह

प्रसह—बाज, गिद्ध आदि ॥ २० ॥

अथ ग्राम्याः। तेषां गणनां गुणाँश्चाह

छागमेषवृषाश्वाद्या ग्राम्याः प्रोक्ता महर्षिभिः। ग्राम्या वातहराः सर्वे दीपनाः कफपित्तलाः।
मधुरा रसपाकाभ्यां बृंहणा बलवर्द्धनाः ॥ २८ ॥

ग्राम्य (गाव के अन्दर रहने वाले) पशुओं की गणना—बकरा, भेडा (मेढा), बैल (गोजाति), घोडा आदि पशुओं को महर्षियों ने 'ग्राम्य' संज्ञक कहा है। **गुण**-ग्राम्य पशुओं का मांस वातनाशक, अग्निदीपक, कफ तथा पित्तकारक, रस तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, बृंहण (रस-रक्तादिवर्द्धक) एवं बल को बढ़ाने वाला होता है ॥ २८ ॥

२१ ग्राम्य

ग्राम्य पशु—बकरी, भेड आदि ॥ २१ ॥

अथानूपाः।

तत्र कूलेचराणां गणनां गुणाँश्चाह

लुलायगण्डवाराहचमरीवारणादयः। एते कूलेचराः प्रोक्ता यतः कूले चरन्त्यपाम् ॥ २९ ॥

आनूप जाति के जीवों में कूलेचरसंज्ञक जीवों की गणना—भैंसा, गैंडा, शूअर, चमरी जाति की गाय और हाथी ये सब 'कूलेचर' संज्ञक जीव कहलाते हैं। **'कूलेचर' शब्द की निरुक्ति**-जो जीव नदी आदि जलाशयों के तट पर चरने वाले होते हैं, उन्हें 'कूलेचर' कहा जाता है ॥ २९ ॥

⊛ लुलायो = महिषः। गण्डः = खड्गः। चमरी = चमरपुच्छी गौः ॥ २९ ॥

यहाँ 'लुलाय' से भैंसा, 'गण्ड' से गैंडा और चमरी से जिस गोजाति के पशु की पूंछ से चमर बनाया जाता है उस चमरी जाति की गौ का बोध करना चाहिये ॥ २९ ॥

कूलेचरा मरुत्पित्तहरा वृष्या बलावहाः। मधुराः शीतलाः स्निग्धा मूत्रलाः श्लेष्मवर्धनाः ॥

कूलेचर संज्ञक जीवों का मांस—वात तथा पित्त को दूर करने वाला, वीर्यवर्धक, बलकारक, मधुर रसयुक्त, शीतल, स्निग्ध, मूत्रकारक तथा कफ को बढाने वाला होता है ॥ ३० ॥

२२ कूलेचर

कूलेचर—भैंसा, गैंडा आदि ॥ २२ ॥

अथ प्लवाः (जल पर तैरने वाले पक्षी) । तेषां गणनां गुणांश्चाह

हंससारसकारण्डबकक्रौञ्चशरारिकाः ॥ ३१ ॥
नन्दीमुखी सकादम्बा बलाकाद्याः प्लवाः स्मृताः ।
प्लवन्ति सलिले यस्मादेते तस्मात्प्लवाः स्मृताः ॥ ३२ ॥

प्लवसंज्ञक पक्षियों की गणना—हंस, सारस, कारण्ड (करडुआ), बगला, क्रौञ्च, शरारिका, नन्दीमुखी, कदम्ब, बगुली आदि ये सब 'प्लव' संज्ञक हैं। प्लव शब्द की निरुक्ति-जो पक्षी जल पर तैरते हैं वे 'प्लव' कहे जाते हैं ॥ ३१-३२ ॥

❀ कारण्डः = कपर्दिकाक्षो बृहद्धंसभेदः । क्रौञ्चः = शरद्विहङ्गः स्यात्—'टेंक' इति लोके । शरारिका = 'सिन्धु' इति लोके ।
स्थूला कठोरा वृत्ता च यस्याश्चञ्चूपरि स्थिता । गुटिका जम्बुसदृशी प्रोक्ता नन्दीमुखीति सा ॥
❀ कादम्बः = 'कारवा' इति लोके । बलाका = 'बगुली' इति लोके ॥ ३१-३२ ॥

यहाँ 'कारण्ड' पद से 'कपर्दिकाक्ष' बड़े हंस का भेद-काले रंग के बड़े-बड़े पैर वाले पक्षी, 'क्रौञ्च' से शरद् ऋतु का पक्षी-'टेंक' नाम से प्रसिद्ध, 'शरारिका' से 'सिन्धु' नाम से लोकप्रसिद्ध पक्षी, 'नन्दीमुखी' से उस पक्षी का ग्रहण करना चाहिये कि जिसके चोंच के ऊपर मोटी, कठोर, गोल, जामुन के फल के समान गुटिका हो। 'कादम्ब' से लोकप्रसिद्ध 'कारवा' अर्थात् 'बत्तख' का तथा 'बलाका' से 'बगुली' का बोध करना चाहिये ॥ ३१-३२ ॥

प्लवाः पित्तहराः स्निग्धा मधुरा गुरवो हिमाः। वातश्लेष्मप्रदाश्चापि बलशुक्रकराः सराः॥३३॥

गुण—प्लव संज्ञक पक्षियों का मांस पित्तनाशक, स्निग्ध, मधुर रसयुक्त, गुरु, शीतल वात तथा कफ को उत्पन्न करने वाला, बल तथा शुक्र वर्धक एवं सारक होता है ॥ ३३ ॥

२३ प्लव

प्लव—हंस, सारस आदि ॥ २३ ॥

अथ कोशस्थाः । तेषां गणनां गुणांश्चाह

शङ्खः शङ्खनखश्चापि शुक्तिशम्बूककर्कटाः । जीवा एवंविधाश्चान्ये कोशस्थाः परिकीर्तिताः ॥

कोशस्थ (ढकने के मध्य में रहने वाले) प्राणियों की गणना—शंख, क्षुद्रशंख (छोटे शंख), सितुही, घोंघा, केकड़ा (यहाँ पर सु० सू० ४६ अ० में कोशस्थ जीवों में 'भल्लुक' का पाठ है। अतः 'कर्कट' पाठ ठीक नहीं मालूम पड़ता। अतएव 'भल्लुक' से बड़ी 'कौड़ी' का ग्रहण करना चाहिये) ये सब तथा इसी प्रकार के अन्य भी जो जीव हैं वे सब 'कोशस्थ' कहलाते हैं ॥ ३४ ॥

❀ शङ्खनखः = क्षुद्रशङ्खः ॥ ३४ ॥

यहाँ 'शङ्खनख' से क्षुद्रशङ्ख अर्थात् 'छोटे शङ्ख' का ग्रहण करना चाहिये ॥ ३४ ॥

कोशस्था मधुराः स्निग्धा वातपित्तहरा हिमाः । बृंहणा बहुवर्चस्का वृष्याश्च बलवर्द्धनाः ॥

गुण—कोशस्थ जीवों का मांस मधुर-रसयुक्त, स्निग्ध, वात तथा पित्त नाशक, शीतल, बृंहण (रस रक्त-मांसादिवर्धक), अधिक मात्रा में मल निकालने वाला, वीर्यवर्धक तथा बलवर्धक होता है॥

२४ कोशस्थ

कोशस्थ—शंख, घोंघा आदि ॥ २४ ॥

अथ पादिनः । तेषां गणनां गुणांश्चाह

कुम्भीरकूर्मनक्राश्च गोधामकरशङ्कवः । घण्टिकः शिशुमारश्चेत्यादयः पादिनः स्मृताः ॥३६॥

पादी अर्थात् पांव वाले प्राणियों की गणना—कुम्भीर, कछुआ, नाक, गोह, मगर, शाकुचा, घड़ियाल, सूस इत्यादि जीव पादी (पांव वाले) कहलाते हैं ॥ ३६ ॥

❀ कुम्भीरो = मारको जलजन्तुः । कूर्मः = कच्छप । नक्रः = 'नाक' इति लोके (सरय्वादिनदीषु बहुलः) । गोधा = 'गोहि' जलजन्तुः । मकरः = 'मगर' इति लोके । शङ्कः = 'शाकुचा' इति लोके । घण्टिकः = 'घड़ियाल' इति लोके । शिशुमारः = 'सूस' इति लोके ॥ ३६ ॥

यहाँ 'कुम्भीर' से मारने वाला नाक के भेद का जीव विशेष, 'कूर्म' से कछुआ, 'नक्र' से लोकप्रसिद्ध नाक (सरयू आदि नदियों में अधिक रूप से मिलने वाला), 'गोधा' से गोह, 'मकर' से मगर, 'घण्टिक' से घडियाल और 'शिशुमार' से सूस नाम से प्रसिद्ध जीव समझना चाहिये ॥

पादिनोऽपि च ये ते तु कोशस्थानां गुणैः समाः ॥ ३७ ॥

गुण—पादी अर्थात् पाँव वाले जीवों का मांस गुणों में उपर्युक्त कोशस्थ जीवों के समान होताहै॥

२५ पादी

पादि—कुम्भेर, मगर आदि ॥ २५ ॥

अथ मत्स्याः (मछली)। तेषां नामानि गुणांश्चाह

मत्स्यो मीनो विसारश्च झषो वैसारिणोऽण्डजः। शकुली पृथुरोमा च स सुदर्शन इत्यपि॥
रोहिताद्यास्तु ये जीवास्ते मत्स्याः परिकीर्त्तिताः। मत्स्याः स्निग्धोष्णमधुरा गुरवः कफपित्तलाः॥
वातघ्ना बृंहणा वृष्या रोचका बलवर्द्धनाः। मद्यव्यवायसक्तानां दीप्ताग्नीनाञ्च पूजिताः॥

मछलियों के संस्कृत नाम—मत्स्य, मीन, विसार, झष, वैसारिण, अण्डज, शकुली, पृथुरोमा, सुदर्शन ये सब हैं। **मछलियों की गणना**—रोहू आदि जो जीव हैं (जिनका आगे वर्णन आने वाला है) उनकी गणना मत्स्यों (मछलियों) के मध्य में समझनी चाहिये। **गुण**—मछली का मांस स्निग्ध, उष्ण (गरम), मधुर रस युक्त, गुरु, कफ तथा पित्तजनक, वातनाशक, बृंहण, वृष्य, रोचक, बलवर्धक तथा मद्य (शराब) पीने तथा मैथुन करने में आसक्त चित्त वालों एवं प्रदीप्त जठराग्नि वालों के लिये हितकर होता है॥ ३८-४० ॥

२६ मत्स्य

सं०-मीन, मत्स्य। **हि०**-मछरी, मछली, मच्छ, मच्छी। **बं०**-माछ। **फा०**-मांही। **अं०**-Fish (फिश्)।

जल में रहने वाले जीवों में मछली एक सर्वप्रसिद्ध जीव है। यह अनेक प्रकार की होती है, जैसे रोहू, कवई, झींगा, बामी, पोठिया, बोआरी इत्यादि। इसको जाल में फसा कर पकडते हैं और बहुत लोग खाते हैं। पानी से बाहर आने पर जल के बिना ये मर जाती हैं॥ २६ ॥

अथ जङ्घालाः (जांघ वाले प्राणी)।

तत्र हरिणस्य मांसगुणानाह

हरिणः शीतलो बद्धविण्मूत्रो दीपनो लघुः। रसे पाके च मधुरः सुगन्धिः सन्निपातहा॥४१॥

'हरिन' के मांस का गुण—हरिन का मांस शीतल, मल तथा मूत्र का विबन्ध करने वाला, अग्निदीपक, लघु, रस एवं विपाक में मधुर रस युक्त, अच्छे गन्ध वाला तथा सन्निपातनाशक होता है॥

अथैणहरिणः (काला हरिण)। तस्य मांसगुणानाह

एणः कषायो मधुरः पित्तासृक्कफवातहृत्। सग्राही रोचनो बल्यो ज्वरप्रशमनः स्मृतः॥४२॥

काले हरिण का मांस—कषाय तथा मधुर रस युक्त, सग्राही, रोचक, बलकारक एवं पित्त, रक्तविकार, कफ, वात तथा ज्वर का नाशक होता है॥ ४२ ॥

अथ कुरङ्गः। तस्य मांसगुणानाह

कुरङ्गो बृंहणो बल्यः शीतलः पित्तहृद् गुरुः। मधुरो वातहृद् ग्राही किञ्चित्कफकरः स्मृतः॥

कुरङ्ग नामक मृग का मांस—बृंहण (रस रक्तादिवर्धक), बलकारक, शीतल, पित्तनाशक, गुरु, मधुर रसयुक्त, वातनाशक, ग्राही तथा किञ्चित् कफ करने वाला होता है॥ ४३ ॥

अथ ऋष्यः (रोझ)। तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

ऋष्यो नीलाण्डकश्चापि गवयो रोझ इत्यपि। गवयो मधुरो बल्यः स्निग्धोष्णः कफपित्तलः॥

ऋष्य (रोझ) नामक मृग के संस्कृत नाम—ऋष्य, नीलाण्डक, गवय, रोझ ये सब हैं। (यहाँ 'रोझ' पद संस्कृत का नाम नहीं मालूम पडता है, ग्रन्थानुरोध से लिख दिया गया है।)

गुण–रोझ का मांस मधुर रसयुक्त, बलकारक, स्निग्ध, उष्ण एवं कफ तथा पित्तजनक होता है ॥

अथ पृषतः (चित्तल मृग) । तस्य मांसगुणानाह

पृषतस्तु भवेत्स्वादुर्ग्राहकः शीतलो लघुः । दीपनो रोचनः श्वासज्वरदोषत्रयास्रजित् ॥ ४५ ॥

चित्तल मृग का मांस—स्वादिष्ट, ग्राही, शीतल, लघु, अग्निदीपक, रोचक एवं श्वास (दमा), ज्वर, त्रिदोष तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है ॥ ४५ ॥

अथ न्यङ्कुः (बारहसिंगा) । तस्य मांसगुणानाह

न्यङ्कुः स्वादुर्लघुर्बल्यो वृष्यो दोषत्रयापहः ॥ ४६ ॥

बारहसिंगा का मांस—स्वादिष्ट, लघु, बलकारक, वीर्यवर्धक तथा त्रिदोषनाशक होता है ॥४६॥

अथ सावरम् । तस्य मांसगुणानाह

सावरं पललं स्निग्धं शीतलं गुरु च स्मृतम् । रसे पाके च मधुरं कफदं रक्तपित्तहृत् ॥ ४७ ॥

सावर मृग का मास—स्निग्ध, शीतल, गुरु, रस तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, कफजनक एवं रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है ॥ ४७ ॥

अथ राजीवः । तस्य मांसगुणानाह

राजीवस्तु गुणैर्ज्ञेयः पृषतेन समो जनैः ॥ ४८ ॥

राजीव-संज्ञक मृग का मांस—गुणों में चित्तल मृग के मास के समान ही होता है, ऐसा समझना चाहिए ॥ ४८ ॥

अथ मुण्डी । तस्य मांसगुणानाह

मुण्डी तु ज्वरकासास्रक्षयश्वासापहो हिमः ॥ ४९ ॥

मुण्डी मृग का मास—शीतल तथा ज्वर, खासी, रक्तविकार, क्षय और श्वास को दूर करने वाला होता है ॥ ४९ ॥

अथ बिलेशयाः ।

तत्र शशः (खरगोश) । तस्य नामानि मांसगुणांश्चाह

लम्बकर्णः शशः शूली लोमकर्णो बिलेशयः । शशः शीतो लघुर्ग्राही रूक्षः स्वादुः सदा हितः । वह्निकृत्कफपित्तघ्नो वातसाधारणः स्मृतः । ज्वरातीसारशोषास्रश्वासामयहरश्च सः ॥ ५० ॥

खरगोश के संस्कृत नाम—लम्बकर्ण, शश, शूली, लोमकर्ण तथा बिलेशय ये सब हैं। गुण—खरगोश का मास शीतल, लघु, ग्राही, रूक्ष, स्वादिष्ट, सभी ऋतुओं में हितकर, जठराग्नि को प्रज्वलित करने वाला, कफ तथा पित्तनाशक, साधारण वातकारक एवं ज्वर, अतीसार, शोष, रक्तविकार तथा दमा को दूर करने वाला होता है ॥ ५० ॥

अथ सेधा (सेह, साही) । तस्या नामानि मांसगुणांश्चाह

सेधा तु शल्यकः श्वावित्कथ्यन्ते तद्गुणा अथ । शल्यकः श्वासकासास्रशोषदोषत्रयापहः ॥

साही के संस्कृत नाम—सेधा, शल्यक और श्वावित् ये सब हैं। गुण—साही का मांस श्वास, खाँसी, रक्तविकार, शोष तथा त्रिदोष को दूर करने वाला होता है ॥ ५१ ॥

अथ पक्षिणः (पक्षियां) । तेषां नामानि मांसगुणांश्चाह

पक्षी खगो विहङ्गश्च विहगश्च विहङ्गमः । शकुनिर्विः पतत्री च विष्किरो विकिरोऽण्डजः । धान्याङ्कुरचरा येऽत्र तेषां मांसं लघूसमम् । आनूपं बलकृन्मांसं स्निग्धं गुरुतरं स्मृतम् ॥५२॥

पक्षी के संस्कृत नाम—पक्षी, खग, विहङ्ग, विहग, विहङ्गम, शकुनि, वि, पतत्री, विष्किर, विकिर तथा अण्डज ये सब हैं। **गुण**—पक्षियों में जो धान के अङ्कुर चरने वाले हैं, उनका मांस हल्का तथा उत्तम होता है। आनूप अर्थात् जल के किनारे रहने वाले पक्षियों का मांस बलकारक, स्निग्ध तथा अत्यन्त गुरु होता है॥ ५२॥

अथ तेषु विष्किरेषु वर्त्तकः (बटेर)। तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

वर्तीको वर्त्तकश्चित्रस्ततोऽन्या वर्त्तका स्मृता।
वर्त्तकोऽग्निकरः शीतो ज्वरदोषत्रयापहः। सुरुच्यः शुक्रदो बल्यो वर्त्तकाऽल्पगुणा ततः॥५३॥

वर्त्तक अर्थात् बटेर के संस्कृत नाम—वर्त्तीक, वर्त्तक तथा चित्र ये सब हैं। इससे अन्य प्रकार का एक बटेर होता है जिसे संस्कृत में 'वर्त्तका' कहते हैं। **गुण**—बटेर का मांस जठराग्निकारक, शीतल, सुरुचिकारक, शुक्र उत्पन्न करने वाला, बलकारक एवं ज्वर तथा त्रिदोष को नष्ट करने वाला होता है। दूसरे प्रकार का जो बटेर है उसका मांस पूर्वोक्त बटेर के मांस की अपेक्षा स्वल्प गुण वाला होता है॥ ५३॥

अथ लावः (लवा)। तस्य मांसगुणसहितान् भेदान् मांसगुणाँश्चाह

लावा विष्करवर्गेषु ते चतुर्धा मता बुधैः॥ ५४॥
पांशुलो गौरकोऽन्यस्तु पौण्ड्रको दर्भरस्तथा। लावा वह्निकराः स्निग्धा गरघ्ना ग्राहका हिताः॥
पाँशुलः श्लेष्मलस्तेषु वीर्योष्णोऽनिलनाशनः। गौरो लघुतरो रूक्षो वह्निकारी त्रिदोषजित्॥
पौण्ड्रकः पित्तकृत्किञ्चिल्लघुर्वातकफापहः। दर्भरो रक्तपित्तघ्नो हृदामयहरो हिमः॥ ५७॥

विष्किर वर्ग के पक्षियों में जो लवा है, उसके ४ भेद पण्डितों ने कहा है। उसमें प्रथम पांशुल, दूसरा गौरक, तीसरा पौण्ड्रक, चौथा दर्भर भेद है। **गुण**—लवा पक्षियों का मांस अग्निकारक, स्निग्ध, विषनाशक, ग्राही तथा हितकर (पथ्य) होता है। पांशुलसंज्ञक लवा का मांस कफकारक, उष्णवीर्य तथा वातनाशक होता है। गौर (रक) संज्ञक लवा का मांस अत्यन्त लघु, रूक्ष, अग्निवृद्धिकारक एवं त्रिदोषनाशक होता है। पौण्ड्रकसंज्ञक लवा का मांस पित्तकारक, किञ्चित् लघु, वात तथा कफनाशक होता है। दर्भरसंज्ञक लवा का मांस रक्तपित्तनाशक, हृद्रोग को दूर करनेवाला तथा शीतल होता है॥ ५४–५७॥

अथ वर्त्तीकः (बगेरा, बटेरा)। तस्य नामानि मांसगुणानाह

वर्त्तीको वर्त्तिचटको वार्त्तीकश्चैव स स्मृतः। वर्त्तीको मधुरः शीतो रूक्षश्च कफपित्तनुत्॥५८॥

बगेरा के संस्कृत नाम—वर्त्तीक, वर्त्तिचटक तथा वार्त्तीक ये सब हैं। **गुण**—बगेरा का मांस मधुर रसयुक्त, शीतल, रूक्ष एवं कफ तथा पित्तनाशक होता है॥ ५८॥

अथ कृष्णतित्तिरिर्गौरतित्तिरिश्च (तीतर)। तयोर्नामानि मांसगुणाँश्चाह

तित्तिरिः कृष्णवर्णः स्यात्स तु गौरः कपिञ्जलः। तित्तिरिर्बलदो ग्राही हिक्कादोषत्रयापहः॥
श्वासकासज्वरहरस्तस्माद्गौरोऽधिको गुणैः॥ ५९॥

तीतर के भेद—तीतर २ प्रकार का होता है। १ तीतर, २ गौर तीतर। लक्षण और नाम—काले रंग का जो तीतर होता है उसे संस्कृत में कृष्णतित्तिरि या तित्तिरि कहते हैं। यदि वही तीतर गौर वर्ण का हो तो उसे संस्कृत में गौरतित्तिरि या कपिञ्जल कहते हैं। **गुण**—तीतर का मांस बलदायक, ग्राही एवं हिचकी, त्रिदोष, श्वास, खासी तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है। गौर तीतर का मांस—तीतर के मांस की अपेक्षा अधिक गुणकारी होता है॥ ५९॥

अथ चटकः (गवरैया, चिड़ा)। तस्य नामानि मांसगुणानाह

चटकः कलविङ्कः स्यात्कुलिङ्गः कालकण्ठकः॥ ६०॥
कुलिङ्गः शीतलः स्निग्धः स्वादुः शुक्रकफप्रदः। सन्निपातहरो वेश्मचटकश्चातिशुक्रलः॥६१॥

गवरैया के संस्कृत नाम—चटक, कलविङ्क, कुलिङ्ग और कालकण्ठक ये सब हैं । गुण—गवरैया का मांस शीतल, स्निग्ध, स्वादिष्ट, शुक्र तथा कफ को उत्पन्न करने वाला एवं सन्निपात को दूर करने वाला होता है । घर में रहने वाले गवरैया का मांस अत्यन्त शुक्र को उत्पन्न करने वाला होता है ॥ ६०-६१॥

अथ कुक्कुटो वनकुक्कुटश्च (मुर्गा-वनमुर्गा) । तयोर्नामानि मांसगुणांश्चाह

कुक्कुटः कृकवाकुः स्यात्कालज्ञश्चरणायुधः । ताम्रचूडस्तथा दक्षो यामनादी शिखण्डिक ॥६२॥
कुक्कुटो बृंहणः स्निग्धो वीर्योष्णोऽनिलहृद् गुरु । चक्षुष्यः शुक्रकफकृद् बल्यो वृष्यः कषायकः॥
आरण्यकुक्कुटः स्निग्धो बृंहणः श्लेष्मलो गुरुः । वातपित्तक्षयवमिविषमज्वरनाशनः ॥ ६४ ॥

मुर्गा का संस्कृत नाम— कुक्कुट, कृकवाकु, कालज्ञ, चरणायुध, ताम्रचूड, दक्ष, यामनादी तथा शिखण्डिक ये सब हैं । वनमुर्गा का संस्कृत नाम—वनकुक्कुट तथा आरण्यकुक्कुट आदि है । गुण—मुर्गा का मांस बृंहण (रस, रक्तादिवर्धक), स्निग्ध, उष्णवीर्य, वायु को नष्ट करने वाला, गुरु, नेत्रों के लिए हितकर, शुक्र तथा कफकारक, बलदायक, वृष्य (वीर्यवर्धक) तथा कषाय रसयुक्त होता है । **वनमुर्गा का मांस**—स्निग्ध, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), कफजनक, गुरु, एवं वात, पित्त, क्षय, वमन तथा विषमज्वर को दूर करने वाला होता है ॥ ६२-६४ ॥

अथ प्रतुदाः ।

तत्र हारीतः (हरियल) । तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

हारीतो रक्तपीतः स्याद्धरितोऽपि स कथ्यते ।
हारीतो रूक्ष उष्णश्च रक्तपित्तकफापहः । स्वेदस्वरकरः प्रोक्त ईषद्वातकरश्च सः ॥ ६५ ॥

हरियल के संस्कृत नाम—हारीत, रक्तपित और हरित ये सब हैं । गुण—हरियल का मास रूक्ष, उष्ण, रक्तपित्त तथा कफ नाशक, स्वेद (पसीना) लाने वाला, स्वर को उत्तम करने वाला एवं किञ्चित् वातकारक होता है ॥ ६५ ॥

अथ पाण्डुर्धवलपाण्डुश्च (पण्डाक्का) । तयोर्नामानि मांसगुणाँश्चाह

पाण्डुस्तु द्विविधो ज्ञेयश्चित्रपक्षः कलध्वनिः ॥ ६६ ॥
द्वितीयो धवलः प्रोक्तः स कपोतः स्फुटध्वनिः । चित्रपक्षः कफहरो वातघ्नो ग्रहणीप्रणुत् ॥
धवलः पाण्डुरुद्दिष्टो रक्तपित्तहरो हिमः । रसे पाके च मधुरः संग्राही वातशान्तिकृत् ॥६८॥

पण्डाक्का (पडुकी) का भेद तथा नाम—पडुकी दो प्रकार की होती है । उसमें जो अनेक प्रकार के रंगों से युक्त पङ्खवाली तथा अस्फुट एवं मधुर ध्वनि करने वाली पडुकी होती है उसे संस्कृत में चित्रपक्ष, पाण्डु तथा कलध्वनि कहते हैं । दूसरी पडुकी जो (सफेद) है उसे संस्कृत में धवलपाण्डु कहते हैं । यह स्फुट शब्द करने वाला कबूतर है । गुण—चित्रपक्ष का मांस कफ को दूर करने वाला, वातनाशक एवं ग्रहणी रोग को नष्ट करने वाला होता है । धवलपाण्डु का मांस रक्तपित्त को दूर करने वाला, शीतल, रस तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, संग्राही एवं वायु को शमन करने वाला होता है ॥ ६६-६८ ॥

अथ मयूरः (मोर) । तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

मयूरश्चन्द्रकी केकी मेघरावो भुजङ्गभुक् । शिखी शिखावलो बर्ही शिखण्डी नीलकण्ठकः ॥
शुक्लापाङ्गः कलापी च मेघनादानुलास्यपि । रसे पाके च मधुरः संग्राही वातशान्तिकृत् ॥

मोर के संस्कृत नाम—मयूर, चन्द्रकी, केकी, मेघराव, भुजङ्गभुक्, शिखी, शिखावल, बर्हीं, शिखण्डी, नीलकण्ठ, शुक्लापाङ्ग, कलापी तथा मेघनादानुलासी ये सब हैं । गुण—मोर का मास रस तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, संग्राही तथा वायु को शमन करने वाला होता है ॥ ६९-७० ॥

अथ पारावतः (कबूतर, परेवा) । तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

पारावतः कलरवः कपोतो रक्तलोचनः ।
पारावतो गुरुः स्निग्धो रक्तपित्तानिलापहः । संग्राही शीतलस्तज्ज्ञैः कथितो वीर्यवर्द्धनः ॥७१॥

कबूतर के संस्कृत नाम—पारावत, कलरव, कपोत तथा रक्तलोचन ये सब हैं। **गुण**-कबूतर का मांस गुरु, स्निग्ध, रक्तपित्त तथा वायुनाशक, संग्राही, शीतल तथा वीर्य को बढाने वाला होता है।

अथ पक्ष्यण्डानि (पक्षियों के अण्डे)। तेषां गुणानाह

नातिस्निग्धानि वृष्याणि स्वादुपाकरसानि च। वातघ्नान्यतिशुक्राणि गुरूण्यण्डानि पक्षिणाम्॥

पक्षियों के अण्डों के गुण—पक्षियों के अण्डे अत्यन्त स्निग्ध नहीं (किञ्चित् स्निग्ध) होते हैं। ये वृष्य (वीर्यवर्धक), गुरु, विपाक तथा रस में मधुर रस युक्त, वातनाशक तथा अत्यन्त शुक्र को उत्पन्न करने वाले होते हैं॥ ७२॥

अथ ग्राम्याः।

तत्र छागः (बकरा)। तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

छागलो बर्करश्छागो बस्तोऽजश्छेलकः स्तुभः॥ ७३॥
अजा छागी स्तुभा चापि छेलिका च गलस्तनी। छागमांसं लघु स्निग्धं स्वादुपाकं त्रिदोषनुत्॥
नातिशीतमदाहि स्यात्स्वादु पीनसनाशनम्। पर बलकरं रुच्यं बृंहणं वीर्यवर्द्धनम्॥ ७५॥

बकरा के संस्कृत नाम—छागल, बर्कर, छाग, बस्त, अज, छेलक तथा स्तुभ ये सब हैं। बकरी के संस्कृत नाम-अजा, छागी तथा स्तुभा ये सब हैं। जिसके गले में स्तन के समान मांस लटकता हो उस बकरी को संस्कृत में 'गलस्तनी' तथा 'छेलिका' कहते हैं। **गुण**-बकरे का मास लघु, स्निग्ध, विपाक में मधुर रसयुक्त, त्रिदोषनाशक, अत्यन्त शीतल नहीं (किञ्चित् शीतल), दाह नहीं पैदा करने वाला, स्वादिष्ट, पीनस रोग को दूर करने वाला, अत्यन्त बलकारक, रोचक, बृंहण तथा वीर्यवर्धक होता है॥ ७३-७५॥

अथाप्रसूताजाया बालकाजासुतस्य च मांसगुणानाह

अजायास्त्वप्रसूताया मांसं पीनसनाशनम्। शुष्ककासेऽरुचौ शोषे हितमग्नेश्च दीपनम्॥७६॥
अजासुतस्य बालस्य मांसं लघुतरं स्मृतम्। हृद्यं ज्वरहरं श्रेष्ठं सुखदं बलदं भृशम्॥७७॥

गुण-बिना ब्याई हुई बकरी का मांस पीनसरोगनाशक, सूखी खासी, अरुचि तथा शोष रोग में हितकारक एवं अग्निदीपक होता है। **बकरी के छोटे बच्चों का मांस**-अत्यन्त लघु, हृदय को हितकर, ज्वरनाशक, अत्यन्त सुख तथा बल को देने वाला अत एव श्रेष्ठ होता है॥ ७६-७७॥

अथ निष्कासिताण्ड-वृद्ध-व्याधिमृतानां छागानां मांसस्य छागमुण्डस्य च गुणानाह

मांसं निष्कासिताण्डस्य छागस्य कफकृद् गुरु। स्रोतःशुद्धिकरं बल्यं मांसदं वातपित्तनुत्।
वृद्धस्य वातलं रूक्षं तथा व्याधिमृतस्य च। ऊर्ध्वजत्रुविकारघ्नं छागमुण्डं रुचिप्रदम्॥७९॥

गुण-जिस बकरे के अण्डकोष निकाल लिये गये हैं उसका अर्थात् बधिया किये हुए बकरे का मांस कफकारक, गुरु, स्रोतों की शुद्धि करने वाला, बलकारक, मांसवर्धक, वात तथा पित्तनाशक होता है। **बुड्ढे बकरे का मांस**-वायु को उत्पन्न करने वाला तथा रूक्ष होता है। **रोग से पीड़ित होकर मरे हुए बकरे का मांस**—भी वातकारक तथा रूक्ष होता है। बकरे का मुण्ड (शिर), जत्रु (काख तथा कन्धे के सन्धि स्थान) के ऊपर भाग में होने वाले रोगों को दूर करने वाला तथा रुचिजनक होता है॥ ७८-७९॥

अथ मेषः (भेड़)। तस्य नामान्यण्डविहीनस्य तस्य च मांसगुणाँश्चाह

मेढ्रो मेढो हुडो मेष उरणोऽप्येडकोऽपि च। अविर्वृष्णिस्तथोर्णायुः कथ्यन्ते तद्गुणा अथ॥
मेषस्य मांसं पुष्टौ स्यात्पित्तश्लेष्मकरं गुरु। तस्यैवाण्डविहीनस्य मांसं किञ्चिल्लघु स्मृतम्॥

भेड़ के संस्कृत नाम—मेढ्र, मेढ, हुड, मेष, उरण, एडक, अवि, वृष्णि और ऊर्णायु ये सब हैं। गुण–भेड़ का मांस पुष्टि के लिये उत्तम, पित्त तथा कफ को उत्पन्न करने वाला एवं गुरु होता है। अण्डकोश निकाले हुए (बधिया किये) भेड़े का मांस किञ्चित् लघु होता है और शेष गुण पूर्वोक्त ही होते हैं ॥ ८०–८१ ॥

अथैडकः (दुम्बा भेड़) । तस्य नामानि तद्भेदस्य च मांसगुणाँश्चाह

एडकः पृथुश्रृङ्गः स्यान्मेदःपुच्छस्तु दुम्बकः । एडकस्य पलं ज्ञेयं मेषामिषसमं गुणैः ॥ ८२ ॥
मेदःपुच्छोद्भवं मांसं हृद्यं वृष्यं श्रमापहम् । पित्तश्लेष्मकरं किञ्चिद्वातव्याधिविनाशनम् ॥

एडक अर्थात् मोटी सींग वाले भेड का संस्कृत नाम–एडक और पृथुश्रृङ्ग है। इसकी सींग बड़ी मोटी होती है। दुम्बा भेड़ का संस्कृत नाम–मेदःपुच्छ तथा दुम्बक है। इसकी पूँछ मेद बढ़ जाने से बडी चौड़ी हो जाती है। गुण–एडक-संज्ञक भेड़ का मांस–गुणों में पूर्वोक्त भेड़ के मास के समान ही समझना चाहिये। **दुम्मा भेड़ का मांस**–हृदय को हितकर, वीर्यवर्धक, श्रम को दूर करने वाला, पित्त तथा कफ कारक एवं किञ्चित् वातरोग को नष्ट करने वाला होता है ॥८२–८३॥

अथ वृषभः (बैल) । तस्य नामानि मांसगुणांश्चाह

बलीवर्दस्तु वृषभ ऋषभश्च तथा वृषः । अनड्वान्सौरभेयोऽपि गौरुक्षा भद्र इत्यपि ॥ ८४ ॥
सुरभिः सौरभेयी च माहेयी गौरुदाहृता । गोमांसं सुगुरु स्निग्धं पित्तश्लेष्मविवर्द्धनम् ।
बृंहणं वातहृद् बल्यमपथ्यं पीनसप्रणुत् ॥ ८५ ॥

बैल के संस्कृत नाम—बलीवर्द, वृषभ, ऋषभ, वृष, अनड्वान् (अनडुह्) सौरभेय, गौः (गो), उक्षा (उक्षन्) तथा भद्र ये सब हैं। गौ के संस्कृत नाम—सुरभि, सौरभेयी, माहेयी तथा गौः (गो) ये सब कहे हुये हैं। गुण–गोमास अत्यन्त गुरु, स्निग्ध, पित्त तथा कफ को बढाने वाला, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), वात को दूर करने वाला, बलकारक, अस्वस्थों के लिये अपथ्य तथा पीनस रोग नाशक होता है ॥ ८४–८५ ॥

अथाश्वः (घोड़ा) । तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

घोटकेऽप्यश्वतुरगास्तुरङ्गाश्च तुरङ्गमाः । वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः ॥ ८६ ॥
अश्वमांसन्तु तुवरं वह्निकृत्कफपित्तलम् । वातहृद् बृंहणं बल्यं चक्षुष्यं मधुरं लघु ॥ ८७ ॥

घोडे के संस्कृत नाम—घोटक, अश्व, तुरग, तुरङ्ग, तुरङ्गम, वाजि, वाह, अर्वा (अर्वन्), गन्धर्व, हय, सैन्धव तथा सप्ति ये सब हैं। गुण—घोड़े का मास कषाय तथा मधुर रसयुक्त, अग्नि-कारक, कफ तथा पित्त को उत्पन्न करने वाला, वातनाशक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), बलकारक, नेत्रों के लिये हितकर तथा लघु होता है ॥ ८६–८७ ॥

अथ कूलेचराः ।

तत्र महिषः (भैंसा) । तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

महिषो घोटकारिः स्यात्कासरश्च रजस्वलः ॥ ८८ ॥
पीनस्कन्धः कृष्णकायो लुलायो यमवाहनः । महिषस्यामिषं स्वादु स्निग्धोष्णंवातनाशनम् ॥
निद्राशुक्रप्रदं बल्यं तनुदार्ढ्यकरं गुरु । वृष्यञ्च सृष्टविण्मूत्र वातपित्तास्रनाशनम् ॥ ९० ॥

भैंसा के संस्कृत नाम—महिष, घोटकारि, कासर, रजस्वल, पीनस्कन्ध, कृष्णकाय, लुलाय और यमवाहन ये सब हैं। गुण—भैंसे का मास स्वादिष्ट, स्निग्ध, उष्ण, वातनाशक, निद्रा तथा शुक्र को उत्पन्न करने वाला, बलकारक, शरीर को पुष्ट करने वाला, गुरु, वीर्यवर्धक, मूत्र तथा मल को निकालने वाला एवं वातपित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है ॥ ८८–९० ॥

अथ मण्डूकः (मेंढक, मेघा)। तस्य नामानि मांसगुणाँश्चाह

मण्डूकः प्लवगो भेको वर्षाभूर्दर्दुरो हरिः। मण्डूकः श्लेष्मलो नातिपित्तलो बलकारकः ॥९१॥

मेढक के संस्कृत नाम—मण्डूक, प्लवग, भेक, वर्षाभू, दर्दुर तथा हरि ये सब हैं। गुण-मेढक का मांस कफ पैदा करने वाला, लघु, पित्तकारक तथा बलकारक होता है ॥ ९१ ॥

अथ पादिनः।

तत्र कच्छपः (कछुआ)। तस्य नामानि मांसगुणानाह

कच्छपो गूढपात्कूर्मः कमठो दृढपृष्ठकः। कच्छपो बलदो वातपित्तनुत्पुंस्त्वकारकः ॥ ९२ ॥

कछुये का संस्कृत नाम—कच्छप, गूढपाद्, कूर्म, कमठ तथा दृढपृष्ठक ये सब हैं। गुण-कछुये का मांस बलदायक, वात-पित्त को दूर करने वाला एवं पुंस्त्व (मैथुनशक्ति) को बढ़ाने वाला होता है ॥ ९२ ॥

अथ विशेषाः।

तत्र सद्योहतस्य मांसगुणानाह

सद्योहतस्य मांसं स्याद्व्याधिघाति यथाऽमृतम्। वयस्यं बृंहणं सात्म्यमन्यथा तद् विवर्जयेत्॥

तत्काल मारे गये जीवों के मांस का गुण—तत्काल मारे गये जीवों का मांस अमृत के समान व्याधि को दूर करने वाला, आयु को स्थिर करने वाला, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक) तथा हितकर होता है। यदि सात्म्य न हो अथवा यदि तत्काल का मारा हुआ जीव न हो तो उसका मांस नहीं खाना चाहिए ॥ ९३ ॥

अथ स्वयं मृतस्य मांसगुणानाह

स्वयं मृतस्य चाबल्यमतीसारकर गुरु ॥ ९४ ॥

गुण—स्वयं मरे हुए जीवों का मांस बलकारक नहीं होता अर्थात् निर्बलताकारक, अतीसार को उत्पन्न करने वाला तथा गुरु होता है ॥ ९४ ॥

अथ वृद्धबालयोर्मांसगुणानाह

वृद्धानां दोषलं मांसं बालानां बलदं लघु ॥ ९५ ॥

गुण—बुड्ढे जीवों का मांस दोषों को बढ़ाने वाला तथा बच्चे जीवों का मांस बलकारक तथा लघु होता ॥ ९५ ॥

अथ सर्पव्यालदष्टयोर्मांसयोः शुष्कमांसस्य च गुणानाह

सर्पदष्टस्य मांसञ्च शुष्कमांसं त्रिदोषकृत्। त्रिदोषकृद् व्यालदष्टं शुष्कं शूलकरं परम् ॥९६॥

गुण—सर्प के काटने से मरे हुए जीवों का मांस त्रिदोषकारक तथा सूखा मांस और हिंस्र जीव व्याघ्रादि से काटे हुये जीवों का मांस भी त्रिदोषकारक ही होता है। किन्तु सूखा मांस अत्यन्त शूलकारक होता है ॥ ९६ ॥

अथ विषादिमृतस्य मांसगुणानाह

विषाम्बुरुङ्मृतस्यैतन्मृत्युदोषरुजाकरम्।
क्लिन्नमुत्क्लेशजनकं कृशं वातप्रकोपणम्। तोयपूर्णं शिराजालं मृतमप्सु त्रिदोषकृत् ॥ ९७ ॥

विष आदि से मरे हुये जीवों के मांस का गुण—विष से, जल में डूब कर अथवा रोग से पीड़ित होकर मरे हुये जीवों का मांस मृत्युदायक, दोषकारक तथा रोगों को उत्पन्न करने वाला होता है। क्लिन्न (सड़ा गला) मांस उत्क्लेश (वमन की इच्छा) को उत्पन्न करने वाला होता है। कृश (दुर्बल जीवों का) मांस वायु को प्रकुपित करने वाला होता है। जल में मरे हुये जीवों का मांस त्रिदोषकारक होता है क्योंकि इसकी जितनी शिरायें (नाड़ियाँ) होती हैं वे सब जल से पूर्ण रहती हैं ॥ ९७ ॥

अथ जात्यादिपरत्वेन मांसस्य गुणानाह

विहङ्गेषु पुमाञ्छ्रेष्ठः स्त्री चतुष्पदजातिषु ।
परार्द्धं लघु पुंसां स्यात्स्त्रीणां पूर्वार्द्धमादिशेत् । देहमध्यं गुरुप्रायं सर्वेषां प्राणिनां स्मृतम् ॥९८॥
पक्षक्षेपाद्विहङ्गानां तदेव लघु कथ्यते । गुरूण्यण्डानि सर्वेषां गुर्वी ग्रीवा च पक्षिणाम् ॥९९॥
उरःस्कन्धोदरं कुक्षी पादौ पाणी कटी तथा । पृष्ठत्वग्यकृदन्त्राणि गुरूणीह यथोत्तरम् ॥१००॥
लघुवातकरं मांसं खगानां धान्यचारिणाम् । मत्स्याशिनां पित्तकरं वातघ्नं गुरु कीर्त्तितम् ॥१०१॥
फलाशिनां श्लेष्मकरं लघु रूक्षमुदीरितम् । बृंहणं गुरु वातघ्नं तेषामेव पलाशिनाम् ॥१०२॥
तुल्यजातिष्वल्पदेहा महादेहेषु पूजिताः । अल्पदेहेषु शस्यन्ते तथैव स्थूलदेहिनः ॥१०३॥

जीवों के जाति आदि की प्रधानता से मास का गुण—पक्षियों में पुरुष जाति के जीवों का मांस श्रेष्ठ होता है तथा चौपायों (बकरा आदि) में स्त्री जाति के जीवों का मास श्रेष्ठ होता है। पुरुषसंज्ञक जीवों के शरीर में नीचे भाग का मास लघु होता है तथा स्त्रीसंज्ञक जीवों के ऊपरी भाग का मांस लघु होता है। सम्पूर्ण जीवों के शरीर में मध्य भाग का मांस प्रायः गुरु होता है किन्तु पक्षियों का वही (मध्यभाग का मास) पखों के बराबर इधर-उधर हिलाने से लघु होता है। सम्पूर्ण पक्षियों के अण्डे तथा गर्दन गुरु होते हैं और छाती, कन्धा, उदर, दोनों कोख, दोनों पैर, दोनों हाथ, कमर, पीठ, त्वचा, यकृत् (जिगर) और आत ये सब एक दूसरे की अपेक्षा उत्तरोत्तर गुरु होते हैं। धान्य भोजन करने वाले पक्षियो का मांस लघु तथा वातकारक होता है। मछली भोजन करने वाले पक्षियों का मांस पित्तकारक, वातनाशक तथा गुरु होता है। फलभोजी पक्षियों का मांस कफकारक, लघु तथा रूक्ष होता है। मांसभोजी पक्षियों का मांस बृंहण (रस रक्तादिवर्धक), गुरु तथा वातनाशक होता है। समान जाति वाले जीवों में यदि वे बडे शरीर वाले हैं तो उनमें जो अपेक्षाकृत छोटे शरीर वाले हैं उनका मांस श्रेष्ठ होता है। समान जाति के छोटे शरीर वाले जीवों में जो अपेक्षाकृत स्थूल शरीर वाले हैं उनका मांस श्रेष्ठ होता है ॥ ९८–१०३ ॥

अथ मत्स्याः ।

तत्र रोहितः (रोहू) । तस्य लक्षणं मांसमुण्डयोर्गुणाँश्चाह

रक्तोदरो रक्तमुखो रक्ताक्षो रक्तपक्षतिः । कृष्णपुच्छो झषः श्रेष्ठो रोहितः कथितो बुधैः ॥
रोहितः सर्वमत्स्यानां वरो वृष्योऽर्दितार्त्तिजित् ।
कषायानुरसः स्वादुर्वातघ्नो नातिपित्तकृत् । ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् हन्याद्रोहितमुण्डकम् ॥

रोहू मछली के लक्षण—जिस मछली का उदर, मुख, नेत्र तथा अगल-बगल के छोटे-छोटे पंख ये सब रक्तवर्ण के हों एवं पूंछ काली हो उसे 'रोहू मछली' कहते हैं। गुण—सम्पूर्ण मछलियों में रोहू मछली ही श्रेष्ठ होती है क्योंकि इसका मांस वीर्यवर्धक, अर्दितवात (लकवा) को दूर करने वाला, आरम्भ में स्वादिष्ट अन्त में कषाय रसयुक्त, वातनाशक और किञ्चित् पित्तकारक होता है। रोहू का मुण्ड जत्रु (कन्धा तथा काँख की सन्धि) से ऊपर के भागों में होने वाले रोगों को दूर करने वाला होता है ॥ १०४–१०५ ॥

२७ रोहू मछली

हि०-रोहू मछली, रेहू मछली। बं०-रोहित मच्छी, रोहित माछ। ते०-एर मीनु। फा०-शवूद।

रोहू मछली—सब मछलियों में उत्तम गिनी जाती है। इसके पेट, मुख, आँख और डैने (पक्ष) लाल से होते हैं और पूंछ काली सी होती है। इसके चोइटे बड़े, गोल और सदल होते हैं। पुरानी रोहू मछली भारी और पुरुष के बराबर बडी हो जाती है। यह छोटी-छोटी मछलियों को खा जाती है और मुर्दे को भी भक्षण कर डालती है। यदा कदा मछली के पेट में मांस का टुकड़ा, मरे हुए मनुष्य के पैर या हाथ का हिस्सा देखा गया है। इसका पित्त औषध के काम में आता है॥

अथ शिलीन्ध्रः (शिलिन्द)। तस्य मांसगुणानाह

शिलीन्ध्रः श्लेष्मलो बल्यो विपाके मधुरो गुरुः। वातपित्तहरो हृद्य आमवातकरश्च सः॥१०६॥

सिलन्ध मछली के मांस का गुण—शिलिन्द मछली का मांस कफकारक, बलदायक, विपाक में मधुर रस युक्त, गुरु, वात-पित्तनाशक, हृदय के लिए हितकर तथा आमवातकारक होता है॥१०६॥

२८ शिलीन्ध्र

हि०-शिलिन्द, शिलिन्द मछली। **बं०**-शाल माछ, सिलन माछ।

शिलिन्द—सौरी मछली के आकार की गोल गोल होती है। पुराने होने पर पाँच सेर तक हो जाती है। इसके चोइटे काले होते हैं और उन पर काले धब्बे होते हैं। यह निकृष्ट मछली समझी जाती है। इतर (नीच) जाति के लोग इसको खाते हैं॥ २८॥

अथ भकुरः (भाकुर)। तस्य मांसगुणानाह

भकुरो मधुरः शीतो वृष्यः श्लेष्मकरो गुरुः। विष्टम्भजनकश्चापि रक्तपित्तहरः स्मृतः॥१०७॥

भाकुर मछली—इसका मांस मधुररसयुक्त, शीतल, वीर्यवर्धक, कफकारक, गुरु, विष्टम्भ उत्पन्न करने वाला तथा रक्तपित्तनाशक होता है॥ १०७॥

२९ भकुर (भाकुर मछली)

सं०-भकुर मत्स्य, मद्गुर मत्स्य। **हि०**-भाकेट मछरी, भाकर मछली, भाकुर मछली, भटकी मछली, मंगुर मछरी, मगुरी मछली। **बं०**-भटकी माछ, वेलिया माछ, मागुर माछ।

भाकुर मछली—बड़ी होने पर सेर डेढ़ सेर से अधिक भारी नहीं होती। इसके शरीर में चोइटे कम होते हैं। इसका रङ्ग मटमैला धूसर होता है। इसके मुख में मूछ से बाल होते हैं॥२९॥

अथ मोचिका (मोई)। तस्या मांसगुणानाह

मोचिका वातहृद् बल्या बृंहणी मधुरा गुरुः। पित्तहृत्कफकृद्रुच्या वृष्या दीप्ताग्नये हिता॥१०८॥

मोई मछली—इसका मांस वात को दूर करनेवाला, बलकारक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), मधुर रसयुक्त, गुरु, पित्तनाशक, कफकारक, रोचक, वीर्यवर्धक एवं दीप्त अग्निवाले पुरुषों के लिये हितकर होता है॥ १०८॥

३० मोचिका (मोय)

हि०-मोय, मोई, मोह मछरी। **बं०**-कातल माछ, कातला माछ।

मोय मछरी—रोहू के समान चोइटेदार और सफेद रङ्ग की होती है। इसमें काँटे बहुत सघन और बारीक होते हैं। इसलिये यह सर्वप्रिय नहीं है॥ ३०॥

अथ पाठीनः (बुआरी, बोयल)। तस्य मांसगुणानाह

पाठीनः श्लेष्मलो बल्यो निद्रालुः पिशिताशनः। दूषयेद्रुधिरं पित्तं कुष्ठरोगं करोति च॥१०९॥

बुआरी मछली—इसका मांस कफकारक, बलदायक, निद्रा को लाने वाला होता है। यह मछली मांस खाने वाली होती है। अतः इसका मांस रुधिर को दूषित करने वाला एवं पित्त तथा कुष्ठ रोग को उत्पन्न करने वाला होता है॥ १०९॥

३१ पाठीन (बोआरी)

हि०-बोआरी, बोयारी, बुआरी मछली। **बं०**-बोयाल माछ।

बोआरी मछली—इसका शरीर सफेद रङ्ग का और चिकना होता है क्योंकि इस पर चोइटे नहीं होते। इसके पेट के ऊपर कान से पूँछ तक सफेद सा सूत होता है। कहते हैं कि इसका यही सूत रोगजनक होता है। इसलिये इसको निकाल कर भक्षण करते हैं॥ ३१॥

अथ शृङ्गी (सींगी) । तस्या मांसगुणानाह

शृङ्गी तु वातशमनी स्निग्धा श्लेष्मप्रकोपणी । रसे तिक्ता कषाया च लघ्वी रुच्या स्मृता बुधैः ॥

सींगी मछली—इसका मांस वायु को शमन करने वाला, स्निग्ध, कफ को प्रकुपित करनेवाला, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, लघु तथा रुचिकारक होता है ॥ ११० ॥

३२ शृङ्गी (सिंगी) मछली

हि०-सिंगी मछली, सींघी मछरी । **बं०**-शिंगी माछ, सिंगाडा माछ ।

सिंगी-लाल रङ्ग की चोइटे रहित चिकनी मछली होती है । यह छोटे टेंगरा के आकार वाली और उसी के समान दोनों पक्ष में कांटे वाली होती है और कांटे कुछ विषैले होते हैं । प्रायः हाथ से पकडने वालों को यह उक्त कांटे से जब डंक मारती है तो उसको बहुत पीडा होती है । यह छोटी जाति की मछली तौल में १-२ छटांक से अधिक नहीं होती । पानी से निकलने के बाद यह बहुत देर तक जीवित रहती है ॥ ३२ ॥

अथेल्लीसः (हिल्सा) । तस्य मांसगुणानाह

इल्लीसो मधुरः स्निग्धो रोचनो वह्निवर्द्धनः । पित्तहृत्कफकृत्किञ्चिल्लघुर्वृष्योऽनिलापहः ॥ १११ ॥

हिल्सा मछरी—इसका मांस मधुर रसयुक्त, स्निग्ध, रोचक, अग्निवर्धक, पित्त को दूर करने वाला, कफकारक, किंचित् लघु, वीर्यवर्धक तथा वायुनाशक होता है ॥ १११ ॥

३३ इल्लीस (हिलसा)

हि०-इलसा मछरी, हिलसा मछली । **बं०**-इलीस माछ ।

हिलसा मछरी-रोहू के बच्चे के समान हाथ-सवा हाथ लम्बी और सफेद चोइटेदार होती है । इसके शरीर में बाल के समान बारीक सघन कांटे होते हैं ॥ ३३ ॥

अथ शष्कुली (सौरी) । तस्या मांसगुणानाह

शष्कुली ग्राहिणी हृद्या मधुरा तुवरा स्मृता ॥ ११२ ॥

सौरी मछली—इसका मांस ग्राही, हृदय के लिये हितकर और मधुर तथा कषाय रस युक्त होता है ॥ ११२ ॥

३४ शष्कुली मत्स्य (सौरी)

हि०-सौरी, सौली मछली । **बं०**-शाल माछ, शङ्कर माछ ।

सौरी मछली—गरई की जाति की होती है । यह गोल होती है । इसके पीठ के चोइटे कालेसे और पेट पीलापन युक्त होते हैं । यह बहुत बड़ी नहीं होती । पानी से बाहर करने के बाद भी कुछ देर तक जीवित रहती है ॥ ३४ ॥

अथ गर्गरः (गर्गरा) । तस्य मांसगुणानाह

गर्गरः पित्तलः किञ्चिद्वातजित्कफकोपनः ॥ ११३ ॥

गर्गरा मछली—इसका मांस पित्तजनक, किञ्चित् वातनाशक एवं कफ को कुपित करने वाला होता है ॥ ११३ ॥

३५ गर्गर मत्स्य

हि०-गागर मछली, गर्गरा, खयरा मछली, खैरा मछरी, चिपुआ मछली । **बं०**-गागर माछ । **अं०**-Pimelodus gagora (पाइमलोडस गगोरा) ।

खैरा मछली—छोटी जाति की, चिकनी और चमकीली होती है । इसके भीतर दो धार के कांटे होते हैं जो पकने पर आसानी से निकल जाते हैं ॥ ३५ ॥

अथ कविका (कवई) । तस्या मांसगुणानाह

कविका मधुरा स्निग्धा कफघ्नी रुचिकारिणी । किञ्चित्पित्तकरी वातनाशिनी वह्निवर्द्धिनी ॥

कवई मछली—इसका मांस मधुर रस युक्त, स्निग्ध, कफनाशक, रुचिकारक, किञ्चित् पित्त-कारक, वातनाशक एवं जठराग्नि को बढाने वाला होता है ॥ ११४ ॥

३६ कविका

हि०-कवई मछली। बं०-कई माछ।

कवई मछली—छोटी जाति की मछलियों में उत्तम गिनी जाती है। बंगाल में यह बहुत होती है। यह चोइटे रहित होती है और पानी के बाहर होने पर भी बहुत देर तक जीती रहती है। कलकत्ते में ज्वर में इसका पथ्य दिया जाता है॥ ३६॥

अथ वर्मिमत्स्यः (वर्मी)। तस्य मांसगुणानाह

वर्मिमत्स्यो हरेद्वातं पित्तं रुचिकरो लघुः॥ ११५॥

वर्मी मछली—इसका मांस वात तथा पित्त को दूर करने वाला, रुचिकारक एवं लघु होता है॥

३७ वर्मिमत्स्य

हि०-वर्मा मछरी, वर्मी मछली, बामी मछरी। बं०-बाम माछ। फा०-मारमाही। अ०-मारमाही जञ।

बामी मछली—सर्पाकार लम्बी-लम्बी गोल होती है। इसके ऊपर लुभावदार पदार्थ चिपका रहता है। इसलिये यह पिच्छिल होती है॥ ३७॥

अथ दण्डमत्स्यः (दण्डारी)। तस्य मांसगुणानाह

दण्डमत्स्यो रसे तिक्तः पित्तरक्तं कफं हरेत्। वातसाधारणः प्रोक्तः शुक्रलो बलवर्द्धनः॥११६॥

दण्डारी मछली—इसका मांस तिक्त रसयुक्त, पित्तरक्त तथा कफ को दूर करने वाला, वायु के लिये साधारण, शुक्रजनक तथा बलवर्धक होता है॥ ११६॥

३८ दण्डमत्स्य

हि०-दण्डारी मछली, डंडारी मछरी। बं०-बान माछ, बान मत्स्य, दण्डिका माछ, डानकोना माछ।

दंडारी—छोटी जाति की एक अप्रसिद्ध मछली है॥ ३८॥

अथैरङ्गः (अरंगी)। तस्य मांसगुणानाह

एरङ्गो मधुरः स्निग्धो विष्टम्भी शीतलो लघुः॥ ११७॥

अरङ्गी मछली—इसका मांस मधुर रसयुक्त, स्निग्ध, विष्टम्भ करने वाला, शीतल तथा लघु होता है॥ ११७॥

३९ अरङ्गी

हि०-अरंगी मछली, चोरङ्गा मछरी। बं०-एलगा माछ।

छोटी मछलियों में भी अप्रसिद्ध मछली है॥ ३९॥

अथ महाशफरः (पपता)। तस्य मांसगुणानाह

महाशफरसंज्ञस्तु तिक्तः पित्तकफापहः। शिशिरो मधुरो रुच्यो वातसाधारणः स्मृतः॥११८॥

पपता मछली—इसका मांस तिक्त तथा मधुर रसयुक्त, पित्त तथा कफनाशक, शीतल, रुचिकारक एवं वात के लिये साधारण होता है॥ ११८॥

४० महाशफरी

सं०-पर्वत मत्स्यः। हि०-पपता मछली, महाशफरी। बं०-सरल पुण्टी। ते०-ओकानोपेट्टमत्स्यमु।

यह छोटी जाति की मछलियों में अच्छी समझी जाती है॥ ४०॥

अथ गरघ्नी (गरई)। तस्या मांसगुणानाह

गरघ्नी मधुरा तिक्ता तुवरा वातपित्तहृत्। कफघ्नी रुचिकृल्लघ्वी दीपनी बलवीर्यकृत्॥११९॥

गरई मछली—इसका मांस मधुर, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त, वात, पित्त तथा कफनाशक, रुचिकारक, लघु, अग्निदीपक एवं बल तथा वीर्य को उत्पन्न करने वाला होता है॥ ११९॥

४१ गरई

सं०-गरङ्गी, गडकमत्स्यः। **हि०**-गरई मछरी। **बं०**-गरई माछ, ल्याटा माछ।

छोटी जाति की मछलियों में गरई अच्छी मछली समझी जाती है। इसके चोइटे छोटे-छोटे होते हैं। पानी से बाहर निकालने पर भी कुछ देर तक जीवित उछलती-कूदती रहती है ॥४१॥

अथ मद्गुरः (मँगुरी)। तस्य मांसगुणानाह

मद्गुरो वातहृद् बल्यो वृष्यः कफहरो लघुः ॥ १२० ॥

मंगुरी मछली—इसका मांस वातनाशक, बलकारक, वीर्यवर्धक, कफकारक एवं लघु होता है॥

४२ मद्गुर मत्स्य

हि०-मंगुरी। **बं०**-मांगुर माछ।

यह गरई मछली के समान होती है ॥ ४२ ॥

अथ सपादमत्स्यः (टेंगरा)। तस्य मांसगुणानाह

सपादमत्स्यो मेधाकृन्मेदःक्षयकरश्च सः। वातपित्तकरश्चापि रुचिकृत्परमो मतः ॥ १२१ ॥

टेंगरा मछली—इसका मांस मेधा शक्ति को बढ़ाने वाला, मेदोवृद्धि को दूर करने वाला, वात तथा पित्तकारक, रुचि को अत्यन्त उत्पन्न करने वाला होता है ॥ १२१ ॥

४३ सपादमत्स्य

सं०-कङ्कत्रोट मत्स्य। **हि०**-टेंगरा, टेंगडा मछली। **बं०**-टेंगडा माछ। **अं०**-Pimelodus tengara (पाइमलोडस टेंगरा)।

टेंगरा-चोइंटा रहित सफेद रंग की मछली है। इसके पक्ष में कांटे से होते हैं ॥ ४३ ॥

अथ प्रोष्ठी ('शफरी, पुंठी' इति च)। तस्या मांसगुणानाह

प्रोष्ठी तिक्ता कटुः स्वादुः शुक्रदा कफवातजित्।
स्निग्धाऽऽस्यकण्ठरोगघ्नी रोचनी च लघुः स्मृता ॥ १२२ ॥

पोठी मछली—इसका मांस तिक्त तथा कटुरस युक्त, स्वादिष्ट, शुक्रजनक, कफ तथा वात-नाशक, स्निग्ध, मुख और कण्ठ सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाला, रोचक एवं लघु होता है ॥१२२॥

४४ प्रोष्ठी

हि०-पोठी, पोठिया मछली। **बं०**-पुटी माछ। **ले०**-*Cyprinus sophore* (साइप्रिनस सोफोर)।

पोठिया—छोटी जाति की प्रसिद्ध चोइटेदार और कांटेदार मछली है ॥ ४४ ॥

अथ क्षुद्रमत्स्याः। तेषां मांसगुणानाह

क्षुद्रमत्स्याः स्वादुरसा दोषत्रयविनाशनाः। लघुपाका रुचिकरा बलदास्ते हिता मताः ॥१२३॥

छोटी मछलियाँ—इनका मांस स्वादिष्ट, त्रिदोषनाशक, विपाक में लघु, रुचिकारक तथा बलदायक होता है ॥ १२३ ॥

अथातिक्षुद्रमत्स्याः। तेषां मांसगुणानाह

अतिसूक्ष्माः पुंस्त्वहरा रुच्याः कासानिलापहाः ॥ १२४ ॥

अत्यन्त छोटी मछलियाँ—इनका मांस पुंस्त्व (रमण करने की शक्ति) को दूर करने वाला, रुचिकारक एवं खांसी तथा वायु को दूर करने वाला होता है ॥ १२४ ॥

अथ मत्स्यगर्भः (मत्स्याण्डः)। तस्य गुणानाह

मत्स्यगर्भो भृशं वृष्यः स्निग्धः पुष्टिकरो लघुः। कफमेदःप्रदो बल्यो ग्लानिकृन्मेहनाशनः ॥

मछली के अण्डे—अत्यन्त वीर्यवर्धक, स्निग्ध, पुष्टिकारक, लघु, कफ तथा मेदा को बढ़ानेवाले, बलकारक, ग्लानि उत्पन्न करनेवाले एवं प्रमेह को नष्ट करने वाले होते हैं ॥ १२५ ॥

अथ शुष्कमत्स्याः (सूखी मछली) तेषां मांसगुणानाह

शुष्कमत्स्या नवा बल्या दुर्जरा विड्विबन्धिनः ॥ १२६ ॥

सूखी मछलियाँ—यदि ये नई हों तो बलकारक, देर में हजम होने वाली एवं मल का विबन्ध करने वाली होती हैं ॥ १२६ ॥

अथ दग्धमत्स्यः (भूंजी मछली) । तस्य मांसगुणानाह

दग्धमत्स्यो गुणैः श्रेष्ठः पुष्टिकृद् बलवर्द्धनः ॥ १२७ ॥

भूंजी मछली—गुणों में श्रेष्ठ, पुष्टिकारक तथा बल को बढ़ाने वाली होती है ॥ १२७ ॥

अथ कूपजादिमत्स्याः । तेषां मांसगुणानाह

कौपमत्स्याः शुक्रमूत्रकुष्ठश्लेष्मविवर्द्धनाः । सरोजा मधुराः स्निग्धा बल्या वातविनाशनाः ॥
नादेया बृंहणा मत्स्या गुरवोऽनिलनाशनाः । रक्तपित्तकरा वृष्याः स्निग्धोष्णाः स्वल्पवर्चसः ॥
चौण्ड्याः पित्तकराः स्निग्धा मधुरा लघवो हिमाः । ताडागा गुरवो वृष्याः शीतला मलमूत्रदाः ॥
ताडागवन्निर्झरजा बलायुर्मतिदृक्कराः ॥ १२८ ॥

कूयें में रहने वाली मछलिया—शुक्र, मूत्र, कुष्ठ तथा कफ को बढ़ाने वाली होती हैं। **सरोवर** में रहने वाली मछलिया—मधुर रसयुक्त, स्निग्ध, बलकारक तथा वायु को नष्ट करने वाली होती हैं। **नदियों** में रहने वाली मछलिया—बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), गुरु, वातनाशक, रक्तपित्तकारक, वीर्यवर्धक, स्निग्ध, उष्ण, स्वल्प मात्रा में मल को निकालने वाली होती हैं। **हौज** में रहने वाली मछलिया—पित्तकारक, स्निग्ध, मधुर रसयुक्त, लघु तथा शीतल होती हैं। **तालाब** की मछलिया—गुरु, वीर्यवर्धक, शीतल, मल तथा मूत्र को निकालने वाली होती हैं। **झरनों** में रहने वाली मछलियां—गुणों में तालावों में रहने वाली मछलियों के समान ही होती हैं किन्तु विशेष करके बल, आयु, बुद्धि तथा दृष्टिशक्ति को बढ़ाने वाली होती हैं ॥ १२८ ॥

अथर्त्तुविशेषे मत्स्यविशेषाणां मांसगुणानाह

हेमन्ते कूपजा मत्स्याः शिशिरे सारसा हिताः । वसन्ते ते तु नादेया ग्रीष्मे चौण्ड्यसमुद्भवाः ॥
तडागजाता वर्षासु तास्वपथ्या नदीभवाः । नैर्झराः शरदि श्रेष्ठा विशेषोऽयमुदाहृतः ॥ १२९ ॥

विशेष-विशेष ऋतुओं में विशेष-विशेष मछलियों के **गुण**—हेमन्त ऋतु (अगहन-पूस मास) में कूप में रहने वाली मछलियों का मांस, शिशिर ऋतु (माघ-फागुन मास) में सरोवर में रहने वाली मछलियों का मांस, वसन्त ऋतु (चैत वैशाख) में नदी में रहने वाली मछलियों का मांस, ग्रीष्म ऋतु (जेठ-आषाढ) में चौंडा या हौज की मछलियों का मास, वर्षा ऋतु (सावन-भादो) में तालाब की मछलियों का मांस हितकर और नदी की मछलियों का मास अपथ्य (अहितकर) होता है। शरद् ऋतु (क्वार-कातिक) में झरनों की मछलियों का मास उत्तम होता है ॥ १२९ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे
वर्गप्रकरण एकादशो मांसवर्गः समाप्तः ॥ ११ ॥

अथ कृतान्नवर्गः

तत्रान्नानां साधनप्रकारान् सिद्धानां गुणाँश्चाह । तत्रादौ परिभाषामाह

समवायिनि हेतौ ये मुनिभिर्गणिता गुणाः। कार्येऽपि तेऽखिला ज्ञेयाः परिभाषेति भाषिताः॥१॥
क्वचित्संस्कारभेदेन गुणभेदो भवेद्यतः। भक्तं लघु पुराणस्य शालेस्तच्चिपिटो गुरुः ॥ २ ॥
क्वचिद्योगप्रभावेण गुणान्तरमपेक्षते । कदन्नं गुरु सर्पिश्च तद्युक्तं सुपचं भवेत् ॥ ३ ॥

कृतान्नवर्ग में अन्नों को सिद्ध करने का प्रकार तथा सिद्ध हुये अन्नों का गुण कहते हैं। उसमें प्रथम परिभाषायें कहते हैं—समवायिकारण (अन्नादि द्रव्यों) में जो गुण मुनियों ने गिनाये हैं वे भी गुण कार्य अर्थात् अन्नादि द्रव्यों से बने हुए पदार्थ भात आदि में भी होने हैं। यह परिभाषा सामान्य रूप से मुनियों ने कही है। किन्तु कहीं कहीं सस्कार-भेद से गुण में भी भेद हो जाता है अर्थात् समवायिकारण का गुण कार्य में पूर्णरूप से नहीं आता। जैसे कि—पुराने शालि (जडहन) चावल का भात हलका होता है किन्तु उसी (जडहन) का चिउडा गुरु होता है। यहाँ सस्कारभेद से गुण में भेद हुआ है। कहीं कहीं सयोग के प्रभाव से भी गुणों में अन्तर पड जाता है। जैसे—पृथक् पृथक् स्वयं कदन्न (खराब अन्न) तथा घी दोनों ही गुरु होते हैं किन्तु यदि इन दोनों का सयोग हो जाय तो शीघ्र पाक होने वाले हो जाते हैं। यहाँ परस्पर सयोग के प्रभाव से गुण में अन्तर हुआ है॥ १-३ ॥

अथ भक्तम् (भात)। तस्य नामानि साधनं गुणाँश्चाह

भक्तमन्नंतथाऽन्धश्च क्वचित्कूरं च कीर्त्तितम्। ओदनोऽस्त्री स्त्रियां भिस्सा दीदिविः पुंसि भाषितः॥
सुधौतांस्तण्डुलान् स्फीतांस्तोये पञ्चगुणे पचेत्। तदुक्तं प्रस्रुतं चोष्णं विशदं गुणवन्मतम् ॥
भक्तं वह्निकरं पथ्यं तर्पणं रोचनं लघु। अधौतमस्रुतं शीतं गुर्वरुच्यं कफप्रदम् ॥ ६ ॥

भात के सस्कृत नाम—भक्त, अन्न, अन्ध (अन्धस्), कूर (कहीं कहीं यह भात का नाम कहा है), ओदन (यह स्त्रीलिङ्ग को छोड कर शेष लिङ्गों में होता है), भिस्सा (यह केवल स्त्रीलिङ्ग में होता है) और दीदिवि (यह केवल पुल्लिङ्ग में होता है) ये सब हैं। **निर्माणविधि**—प्रथम चावलों को उत्तम रीति से धो डाले पश्चात् कुछ क्षण के बाद जब वह कुछ फूल जाय तब उसे ५ गुने जल में पकावे सिद्ध हो जाने पर उतारकर उससे माड निकाल लेवे, यह माड निकाला हुआ गरम भात विशद गुणयुक्त अत्यन्त गुणकारी होता है। **गुण**—भात अग्निकारक, पथ्य, सतर्पण करने वाला, रोचक तथा लघु होता है। यदि यही भात विना धोये तथा माड़ निकाले ही सिद्ध किया हुआ हो एवं शीतल हो तो गुरु, अरुचि उत्पन्न करने वाला तथा कफकारक होता है॥

अथ दाली (दाल)। तस्या नामानि साधनगुणांश्चाह

दलितन्तु शमीधान्यं दालिर्दाली स्त्रियामुभे। दाली तु सलिले सिद्धा लवणार्द्रकहिङ्गुभिः॥
संयुक्ता सूपनाम्नी स्यात्कथ्यन्ते तद्गुणा अथ। सूपो विष्टम्भको रूक्षः शीतस्तु स विशेषतः।
निस्तुषो भृष्टसिद्धो लाघवं सुतरां व्रजेत् ॥ ८ ॥

दाल के लक्षण—शमीधान्य (मूग, उडद, अरहर आदि) को दल देने से दाल बनती है। संस्कृत नाम—दालि और दाली ये दो हैं। ये दोनों शब्द स्त्रीलिङ्गी हैं। **निर्माण विधि**—दाल को जल में खूब चुरावे और उसमें सेन्धानमक, अदरक तथा हींग योग्यतानुसार डाल देवे तो उस सिद्ध हुई दाल को संस्कृत में 'सूप' कहते हैं। **गुण**—सूप (दाल) विष्टम्भकारक, रूक्ष तथा विशेषतः शीतल होती है और यदि यही दाल प्रथम भून कर छिल्का निकाल कर पश्चात् बनाई जाय तो अत्यन्त लघु होती है॥ ७-८ ॥

अथ कृशरा (खिचरी)। तस्याः साधनं गुणांश्चाह

तण्डुला दालिसंमिश्रा लवणार्द्रकहिङ्गुभिः। संयुक्ताः सलिले सिद्धाः कृशरा कथिता बुधैः॥
कृशरा शुक्रला बल्या गुरुः पित्तकफप्रदा। दुर्जरा बुद्धिविष्टम्भमलमूत्रकरी स्मृता॥ १०॥

खिचडी बनाने की विधि—चावलों में बराबर दाल मिलाकर यदि जल में पकाई जाय और उसमें योग्यतानुसार सेंधा नमक, अदरख तथा हींग डाल दिया जाय तो सिद्ध होने पर उसे संस्कृत में 'कृशरा' और हिन्दी में 'खिचरी' कहते हैं। गुण—खिचड़ी शुक्रजनक, बलकारक, गुरु, पित्त तथा कफकारक, देर में हजम होने वाली एवं बुद्धि बढ़ाने वाली, विष्टम्भ करने वाली तथा मल, मूत्र कराने वाली होती है॥ ९-१०॥

अथ तापहरी (ताताहरी)। तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

घृते हरिद्रासंयुक्ते माषजां भर्जयेद्वटीम्॥ ११॥
तण्डुलांश्चापि निर्धौतान्सहैव परिभर्जयेत्। सिद्धयोग्यं जलं तत्र प्रक्षिप्य कुशलः पचेत्॥
लवणार्द्रकहिङ्गूनि मात्रया तत्र निक्षिपेत्। एषा सिद्धिं समायाता प्रोक्ता तापहरी बुधैः॥
भवेत्तापहरी बल्या वृष्या श्लेष्माणमाचरेत्। बृंहणी तर्पणी रुच्या गुर्वी पित्तहरी स्मृता॥१४॥

तापहरी (ताताहरी) बनाने की विधि—प्रथम उड़द को पीस कर उसकी बरी बना ले पश्चात् उसे हलदी पड़े हुए घी में खूब भूने और उसी के साथ ही साथ धुले हुए चावलों को भी भूने पश्चात् उसमें चुर जाने योग्य जल डाल कर चतुरता के साथ पकावे और उसमें योग्यतानुसार सेंधा नमक, अदरख तथा हींग डाल देवे जब सिद्ध हो जाय तो उतार ले, इसी को 'तापहरी' कहते हैं। गुण—तापहरी बलकारक, वीर्यवर्धक, कफकारक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), संतर्पणकारक, रोचक, गुरु तथा पित्तनाशक होती है॥ ११-१४॥

अथ क्षीरिका (खीर)। तस्या नामानि साधनं गुणाँश्चाह

पायसं परमान्नं स्यात्क्षीरिकाऽपि तदुच्यते। शुद्धेऽर्द्धपक्के दुग्धे तु घृताक्तांस्तण्डुलान्पचेत्॥
ते सिद्धाः क्षीरिका ख्याता समिताऽऽज्ययुतोत्तमा। क्षीरिका दुर्जरा प्रोक्ता बृंहणी बलवर्द्धिनी॥
विष्टम्भिनी हरेत् पित्तं रक्तपित्ताग्निमारुतान्॥ १६॥

खीर के संस्कृत नाम—पायस, परमान्न तथा क्षीरिका, हिन्दी नाम—खीर और गुजराती नाम—दूधपाक है। निर्माण-विधि—शुद्ध आधे औटाये हुए दूध में प्रथम घी में भुने हुए चावलों को डालकर पकावे और उसमें चीनी (शक्कर) तथा घी भी योग्यतानुसार डाल दे, पश्चात् सिद्ध होने पर उतार ले इसीको क्षीरिका (खीर) कहते हैं। गुण—खीर देर में हजम होने वाली बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक)। बल बढ़ाने वाली, विष्टम्भ करने वाली एवं पित्त, रक्तपित्त तथा वायु को दूर करने वाली और अग्नि को मन्द करने वाली होती है॥ १५-१६॥

अथ नारिकेरक्षीरी (नारियल की खीर)। तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

नारिकेरं तनूकृत्य छिन्नं पयसि गोः क्षिपेत्। सितागव्याज्यसंयुक्ते तत्पचेन्मृदुनाऽग्निना॥
नारिकेरोद्भवा क्षीरी स्निग्धा शीताऽतिपुष्टिदा। गुर्वी सुमधुरा वृष्या रक्तपित्तानिलापहा॥

नारियल की खीर बनाने की विधि—नारियल को छीलकर उसकी गिरी के छोटे-छोटे टुकड़ों को साफ चीनी (शक्कर) तथा गाय के घी के साथ योग्यतानुसार दूध में डाल कर मन्द अग्नि से धीरे धीरे पकावे, जब सिद्ध हो जाय तब उतार ले, इसी को नारियल की खीर कहते हैं। गुण—नारियल की खीर स्निग्ध, शीतल, अत्यन्त पुष्टिकारक, गुरु, मधुर, वीर्यवर्धक एवं रक्तपित्त तथा वायु को नष्ट करने वाली होती है॥ १७-१८॥

अथ सेविका (सेवई)। तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

समितावर्त्तिकाः कृत्वा सुसूक्ष्मा यवसन्निभाः। शुष्काः क्षीरेण संसाध्या भोज्या घृतसिताऽन्विताः॥
सेविका तर्पणी बल्या गुर्वी पित्तानिलापहा। ग्राहिणी सन्धिकृद्रुच्या तां खादेन्नातिमात्रया॥

सेवई बनाने की विधि—मैदा की अत्यन्त पतली-पतली यव के समान बत्ती बना कर सुखा ले पश्चात् उसे दूध में पकावे और घी तथा चीनी मिलाकर भोजन करे। **गुण**—सेवई तृप्तिकारक, बलदायक, गुरु, ग्राही, भग्नसन्धानकारक (टूटी हुई हड्डियों को अथवा उखड़ी हुई सन्धियों को जोड़ने वाली), रुचिकारक एवं पित्त तथा वायु को नष्ट करने वाली होती है। किन्तु इसे अधिक मात्रा में नहीं खाना चाहिये ॥ १९-२० ॥

अथ समिता (मैदा)। तस्याः साधनमाह

गोधूमा धवला धौताः कुट्टिताः शोषितास्ततः। प्रोक्षिता यन्त्रनिष्पिष्टाश्चालिताः समिताः स्मृताः ॥

मैदा बनाने की विधि—प्रथम सफेद गेहूँ लेकर उसे धो डाले और ओखली में कूट कर सुखा डाले पश्चात् फटक कर खूब महीन जाता में पिसवा कर बारीक चलनी या पतले कपड़े में रखकर चलवा डाले, इसी आटा को मैदा कहते हैं ॥ २१ ॥

अथ मण्डकः (मण्डा)। तस्य साधनमाह

वारिणा कोमलां कृत्वा समितां साधु मर्दयेत्। हस्तचालनया तस्या लोप्त्रीं सम्यक्प्रसारयेत् ॥
अधोमुखघटस्यैतद्विस्तृतं प्रक्षिपेद् बहिः। मृदुना वह्निना साध्यः सिद्धो मण्डक उच्यते ॥

मण्डा बनाने की विधि—मैदा को जल से अच्छी तरह माड कर मुलायम कर ले, पश्चात् उसकी लोई बनाकर उसे हाथ से बढ़ा बढाकर रोटी के समान कर ले, पुनः उसे औंधे मुख वाले घडा के पेंदी पर रखकर मन्द आँच से पकावे, जब सिद्ध हो जाय तब उतार ले इसी को मण्डक (मण्डा) कहते हैं ॥ २२-२३ ॥

***लोप्त्री (लोई) इति लोके ॥ २२-२३ ॥**

यहाँ 'लोप्त्री' पद से लोक में प्रसिद्ध 'लोई' का ग्रहण करना चाहिये ॥ २२-२३ ॥

अथ सानुपानं मण्डकगुणानाह

दुग्धेन साज्यखण्डेन मण्डकं भक्षयेन्नरः। अथवा सिद्धमांसेन सतक्रवटकेन वा ॥ २४ ॥
मण्डको बृंहणो वृष्यो बल्यो रुचिकरो भृशम्। पाकेऽपि मधुरो ग्राही लघुर्दोषत्रयापहः ॥

मण्डा के अनुपान—मनुष्य को चाहिये कि मण्डा को घी और खाँड मिले हुए दूध के साथ अथवा पकाये हुए मांस के साथ या दही बडे के साथ खावे। **गुण**—मण्डा बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), वीर्यवर्धक, बलकारक, अत्यन्त रोचक, विपाक में मधुर रसयुक्त, ग्राही, लघु एवं त्रिदोष-नाशक होता है ॥ २४-२५ ॥

अथ पोलिका (पूरी)। (कुत्रापि 'दुनौरी' इति च)। तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

कुर्यात्समितयाऽतीव तन्वीं पर्पटिका तनः ॥ २६ ॥
स्वेदयेत्तप्तके तां तु पोलिकां जगदुर्बुधाः। तां खादेल्लप्सिकायुक्तां तस्य मण्डकवद् गुणाः ॥

पूरी बनाने की विधि—मैदा को गूँद कर उसकी अत्यन्त पतली पापड के समान रोटी बना ले पश्चात् उसे तवे पर रख कर सेंक डाले, सिद्ध हो जाने पर इसे पण्डित-लोग 'पूरी' या कहीं कहीं 'दुनौरी' भी कहते हैं। **अनुपान**-इसे लप्सी के साथ खाना चाहिये। **गुण**—इसके गुण पूर्वोक्त मण्डा के समान होते हैं ॥ २६-२७ ॥

अथ लप्सिका (लप्सी)। तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

समितां सर्पिषा भृष्टां शर्करां पयसि क्षिपेत्। तस्मिन्घनीकृते न्यस्येल्लवङ्ग मरिचादिकम्।
सिद्धैषा लप्सिका ख्याता गुणानस्या वदाम्यहम् ॥ २८ ॥
लप्सिका बृंहणी वृष्या बल्या पित्तानिलापहा। स्निग्धा श्लेष्मकरी गुर्वी रोचनी तर्पणी परम् ॥

लप्सी बनाने की विधि—प्रथम मैदा को लेकर घी में भून डाले पश्चात् मात्रानुसार शक्कर (चीनी) के साथ पानी में डाल कर पकावे, जब गाढा हो जाय तब उसमें लौंग, मरिच आदि डाल कर उतार ले इसी को 'लप्सी' कहते हैं। **गुण**—लप्सी बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक),

-वीर्यवर्धक, वलदायक, स्निग्ध, कफकारक, गुरु, रोचक, अत्यन्त तृप्तिकारक एवं पित्त- तथा वायुनाशक होती है ॥ २८-२९ ॥

अथ रोटिका (रोटी) । तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

शुष्कगोधूमचूर्णेन किञ्चित्पुष्टाञ्च पोलिकाम् ॥ ३० ॥
तप्तके स्वेदयेत्कृत्वा भूयोऽङ्गारेऽपि तां पचेत् । सिद्धैषा रोटिका प्रोक्ता गुणानस्याः प्रचक्ष्महे ॥
रोटिका बलकृद्रुच्या बृंहणी धातुवर्द्धनी । वातघ्नी कफकृद् गुर्वी दीप्ताग्नीनां प्रपूजिता ॥३२॥

रोटी बनाने की विधि—मैदा को जल से खूब गूद कर उसे सूखे आटा का पलोथन लगा-लगा कर पूर्वोक्त पूरी या दुनौरी से कुछ मोटी वेल कर बना ले पश्चात् उसे तवा पर रख कर मामूली तरह से सेक कर पुनः बहुत से अँगारों पर रख कर पका ले, जब वह सिद्ध हो जाय तब उसे 'रोटी' कहते हैं। गुण—रोटी बलकारक, रुचिजनक, बृहण, धातुवर्धक, वातनाशक, कफकारक तथा गुरु होती है। यह प्रदीप्त अग्निवालों के लिये उत्तम होती है ॥ ३०-३२ ॥

*तप्तके='तावा' इति लोके ॥ ३०-३२ ॥
यहाँ 'तप्तक' से 'तावा' का बोध करना चाहिये ॥ ३०-३२ ॥

अथाङ्गारकर्कटी (बाटी) । तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

शुष्कगोधूमचूर्णन्तु साम्बु गाढं विमर्दयेत् । विधाय वटकाकारं निर्धूमेऽग्नौ शनैः पचेत्॥३३॥
अङ्गारकर्कटी ह्येषा बृंहणी शुक्रला लघुः । दीपनी कफकृद्बल्या पीनसश्वासकासजित् ॥ ३४ ॥

बाटी बनाने की विधि—सूखे गेहूँ के आटा में जल डाल कर खूब माड कर कडा उसका गोलाकार कुछ चिपटा लोई बना ले पश्चात् उसे निर्धूम आग पर धीरे-धीरे खूब सेंके, यही तैयार हो जाने पर 'बाटी' कहलाती है। गुण—बाटी बृहण (रस-रक्तादिवर्धक), शुक्रजनक, लघु, अग्नि-दीपक, कफकारक, बलदायक एव पीनस, श्वास तथा खांसी को दूर करने वाली होती है॥३३-३४॥

अथ यवरोटिका । तस्या गुणानाह

यवजा रोटिका रुच्या मधुरा विशदा लघुः । मलशुक्रानिलकरी बल्या हन्ति कफामयान् ॥

जौ की रोटी के गुण—जौ की रोटी रुचिकारक, मधुर रसयुक्त, विशद गुण वाली, लघु, मल, शुक्र, वायु तथा बल को करने वाली एव कफसम्बन्धी रोगों को दूर करने वाली होती है ॥ ३५ ॥

अथ बलभद्रिका चमसीरोटिका वा (छिल्केदार उरद की रोटी) । तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

चूर्णं यच्छुष्कमाषाणां चमसी साऽभिधीयते ।
चमसीरचिता रोटी कथ्यते बलभद्रिका । रूक्षोष्णा वातला बल्या दीप्ताग्नीनां सुपूजिता ॥

चमसी बनाने की विधि—सूखे उडद को पीस कर जो चूर्ण (आटा) तैयार होता है उसे 'चमसी' कहते हैं। चमसी की रोटी का संस्कृत नाम—बलभद्रिका है। गुण—चमसी की रोटी रूक्ष, उष्ण, वायु को उत्पन्न करने वाली, बलकारक एव प्रदीप्त अग्नि वालों के लिये अत्यन्त उत्तम होती है ॥ ३६ ॥

अथ धूमसी (धुआँस) । तस्याः साधनविधिमाह

माषाणां दालयस्तोये स्थापितास्त्यक्तकञ्चुकाः । आतपे शोषिता यन्त्रे पिष्टास्ता धूमसी स्मृता ॥

धुआँस बनाने की विधि—उडद की दाल को प्रथम जल में भिगो दे, पश्चात् उसके छिलके को निकाल कर उसे धूप में डाल देवे, जब सूख जाय तब चक्की में पीस कर आँटा तैयार कर ले, इसी को 'धुआँस' कहते हैं ॥ ३७ ॥

अथ झर्झरी । तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

धूमसीरचिता चैव प्रोक्ता झर्झरिका बुधैः । झर्झरी कफपित्तघ्नी किञ्चिद्वातकरी स्मृता ॥३८॥

झर्झरी (धुआँस की रोटी) बनाने की विधि—धुआँस को गूद कर जो रोटी बनायी जाती है

इसे संस्कृत में 'झर्झरी' कहते हैं। गुण—झर्झरी कफ तथा पित्तनाशक एवं किञ्चित् वातकारक होती है ॥ ३८ ॥

अथ चणकरोटिका (चने की रोटी) । तस्या गुणानाह

चणक्या रोटिका रूक्षा श्लेष्मपित्तास्रनुद् गुरुः । विष्टम्भिनी न चक्षुष्या तद्गुणा चापि शष्कुली ॥

चने की रोटी के गुण—चने की रोटी रूक्ष, गुरु, विष्टम्भ करने वाली, नेत्रों के लिये अहितकर एवं कफ, पित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाली होती है। **चने की पूड़ी**—यह भी गुणों में चने की रोटी के समान होती है ॥ ३९ ॥

अथ पिष्टिका (पीठी) । तस्या निर्माणप्रकारमाह

दालिः संस्थापिता तोये ततोऽपहृतकञ्चुका । शिलायां साधु सम्पिष्टा पिष्टिका कथिता बुधैः

पीठी बनाने की विधि—हर एक प्रकार के दाल को जल में भिगोने के बाद उसके छिलके को अलग कर के सिल पर अच्छी तरह पीस देने से 'पीठी' तैयार होती है। इसको संस्कृत में 'पिष्टिका' कहते हैं ॥ ४० ॥

अथ वेढमिका (बेढ़ई) । तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

माषपिष्टिकया पूर्णगर्भा गोधूमचूर्णतः । रचिता रोटिका सैव प्रोक्ता वेढमिका बुधैः ॥ ४१ ॥
भवेद्वेढमिका बल्या वृष्या रुच्याऽनिलापहा । उष्णा सन्तर्पणी गुर्वी बृंहणी शुक्रला परम् ॥
भिन्नमूत्रमला स्तन्यमेदःपित्तकफप्रदा । गुदकीलार्दितश्वासपक्तिशूलानि नाशयेत् ॥ ४३ ॥

वेढई बनाने की विधि—गेहूँ के आटे को गूँद कर उसके लोई के अन्दर उडद की पीठी भर कर जो रोटी बनाई जाती है उसी को संस्कृत में 'वेढमिका' तथा हिन्दी में 'वेढ़ई' कहते हैं। **गुण**—वेढई बलदायक, वीर्यवर्धक, रुचिकारक, वातनाशक, उष्ण, सन्तर्पणकारक, गुरु, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), अत्यन्त शुक्रजनक, मूत्र तथा मल का भेदन करने वाली, दुग्धवर्धक, मेद, पित्त तथा कफकारक एवं गुदकील, अर्दित वात (लकवा), श्वास तथा परिणाम शूल को नष्ट करने वाली है ॥ ४१-४३ ॥

अथ पर्पटः (पापड़) । तत्र माषोद्भवस्य तस्य साधनं गुणाँश्चाह

धूमसीरचिता हिङ्गुहरिद्रालवणैर्युताः । जीरकस्वर्जिकाभ्याञ्च तनूकृत्य च वेल्लिताः ॥ ४४ ॥
पर्पटास्ते सदाऽङ्गारभृष्टाः परमरोचकाः । दीपनाः पाचना रूक्षा गुरवः किञ्चिदीरिताः ॥

पापड बनाने की विधि—धुआँस को जल के साथ भली-भाँति गूँद कर उसमें मात्रानुसार हींग, हरदी, सेंधा नमक, जीरा और सज्जीखार डाल कर लोई बनावे और उसे वेलन से पतला वेल कर रोटी के समान बना ले, इसी को पर्पट (पापड़) कहते हैं। **गुण**—पापड को आग पर भूज कर सदा खाने से अत्यन्त रोचक, अग्निदीपक, पाचक, रूक्ष तथा किंचित् गुरु होते हैं ॥

अथ मुद्ग-चणकोद्भव-स्नेहभृष्टानां पर्पटानां गुणानाह

मौद्गाश्च तद्गुणाः प्रोक्ता विशेषाल्लघवो हिताः ॥ ४६ ॥
चणकस्य गुणैर्युक्ताः पर्पटाश्चणकोद्भवाः । स्नेहभृष्टास्तु ते सर्वे भवेयुर्मध्यमा गुणैः ॥ ४७ ॥

मूंग के पापड़—यद्यपि गुणों में उडद के पापड़ के समान होते हैं तथापि विशेष कर ये लघु तथा हितकर होते हैं। **चने के पापड़**—गुणों में चने के समान ही होते हैं। स्नेह (तैल आदि) में भुने हुए **सभी पापड़**—पूर्वोक्त अपने-अपने गुणों की अपेक्षा मध्यम गुण वाले होते हैं अर्थात् जो उडद, मूंग आदि पापड़ों के गुण कहे हुए हैं उनकी अपेक्षा इसमें न्यून गुण होते हैं ॥४६-४७॥

अथ पूरिका तैलपक्वा घृतपक्वा च (तेल व घी में पकी हुई कचौरी) । तयोः साधनं गुणाँश्चाह

माषाणां पिष्टिकां पूर्याल्लवणाद्रकहिङ्गुभिः । तया पिष्टिकया पूर्णा समिता कृतपोलिका ॥४८॥
ततस्तैलेन पक्वा सा पूरिका कथिता बुधैः । रुच्या स्वाद्वी गुरुः स्निग्धा बल्या पित्तास्रदूषिका ॥

चक्षुस्तेजोहरी चोष्णा पाके वातविनाशिनी। तथैव घृतपक्वाऽपि चक्षुष्या रक्तपित्तहृत् ॥५०॥

तेल की पूरी बनाने की विधि—उड़द की पीठी में मात्रानुसार सेंधानमक, अदरक तथा हींग डालकर उसे मैदा की लोई के अन्दर रख कर उसकी बारीक रोटी बेलकर बना ले, उसके बाद उसे तेल में पका डाले, सिद्ध होने पर उसीको संस्कृत में पूरिका, हिन्दी में पूरी और यदि मोटी हो तो कचौड़ी कहते हैं। **गुण**—पूरी रुचिकारक, स्वादिष्ट, गुरु, स्निग्ध, बलकारक, पित्त तथा रक्त को दूषित करने वाली, नेत्रों के तेज को हरण करने वाली, पाक में उष्ण एवं वातनाशक होती है। **घी की पूरी**—गुणों में उक्त पूरी के समान ही होती है, किन्तु विशेषकर नेत्रों के लिये हितकर तथा रक्तपित्तनाशक होती है ॥ ४८-५० ॥

अथ वटकः शुष्कः सरसश्च च (सूखा व रसदार बरा)। तयोः साधनं गुणाँश्चाह

माषाणां पिष्टिकां युक्तां लवणार्द्रकहिङ्गुभिः। कृत्वा विदध्याद्वटकांस्तांस्तैलेषु पचेच्छनैः॥५१॥
विशुष्का वटका बल्या बृंहणा वीर्यवर्द्धनाः। वातामयहरा रुच्या विशेषादर्दितापहाः ॥५२॥
विबन्धभेदिनः श्लेष्मकारिणोऽत्यग्निपूजिताः। संचूर्ण्य निक्षिपेत्तक्रे भृष्टं जीरकहिङ्गु च ॥५३॥
लवणं तत्र वटकान्सकलानपि मज्जयेत्। शुक्रलस्तत्र वटको बलकृद्रोचनो गुरुः ॥५४॥
विबन्धहृद्विदाही च श्लेष्मलः पवनापहः। राज्यक्तयाऽतिरोचन्या पाचन्या तांस्तु भक्षयेत्॥

उड़द का सूखा बरा बनाने की विधि—उरद की पीठी में मात्रानुसार सेंधा नमक, अदरक तथा हींग डालकर खूब फेंटकर उसकी बड़ी-बड़ी गोली बना ले, पश्चात् तेल डालकर धीरे-धीरे मन्द आंच से पकावे जब सिद्ध हो जाय तब उतार ले, यही 'सूखा बरा' कहलाता है। **गुण**—उड़द का सूखा बरा बलकारक, बृंहण, वीर्यवर्धक, वातसम्बन्धी रोगों को दूर करने वाला, रुचिकारक, विशेष करके अर्दितवात (लकवा) को दूर करने वाला, विबन्धनाशक, कफकारक एवं अत्यन्त दीप्त अग्नि वालों के लिये उत्तम होता है।

रसदार बरा बनाने की विधि—भूना हुआ जीरा तथा हींग का चूर्ण और सेंधानमक तक्र (मट्ठा) में डालकर उसी में सूखे बरे को डुबो देने से वे ही रसदार बरे कहलाते हैं।

उसके **गुण**—रसदार बरा शुक्रजनक, बलकारक, रोचक, गुरु, विबन्ध को दूर करने वाला, विदाही, कफकारक तथा वातनाशक होता है।

यदि रायता में डालकर इसे भक्षण करे तो अत्यन्त रोचक और पाचक होता है ॥ ५१-५५ ॥

*राज्यक्ता (रायता) इति लोके ॥ ५१-५५ ॥

यहाँ 'राज्यक्ता' से 'रायता' का ग्रहण करना चाहिये ॥ ५१-५५ ॥

अथ काञ्जिकावटकः (काञ्जी बरा)। तस्य साधनं गुणाँश्चाह

मन्थनी नूतना धार्या कटुतैलेन लेपिता। निर्मलेनाम्बुनाऽऽपूर्य तस्यां चूर्णं विनिक्षिपेत् ॥
राजिकाजीरलवणहिङ्गुशुण्ठीनिशाकृतम् ॥ ५६ ॥
निक्षिपेद्वटकांस्तत्र भाण्डस्यास्यञ्च मुद्रयेत्। ततो दिनत्रयादूर्ध्वमम्लाः स्युर्वटका ध्रुवम् ॥
काञ्जिकावटको रुच्यो वातघ्नः श्लेष्मकारकः। शूलघ्नोऽजीर्णदाहनुद् नेत्ररोगे तु नो हितः ॥

काञ्जी बरा बनाने की विधि—एक नवीन मिट्टी का मजबूत पात्र (हांडी) लेकर उसके अन्दर कडुआ तेल चुपट कर उसमें स्वच्छ जल भर दे, तत्पश्चात् मात्रानुसार राई, जीरा, सेन्धानमक, हींग, सोंठ और हलदी का चूर्ण उसमें डालकर बाद में उड़द के बरों को उसी में डुबो कर पात्र का मुख बन्द कर दे, पुनः जब तीन दिन बीत जायं तब चौथे दिन बरे सब खट्टे हो जायगे अतः पात्र का मुख खोल दे। यही बरे काञ्जी के बरे कहलाते हैं। **गुण**—काञ्जी के बरे रुचिकारक, वातनाशक, कफकारक, शूलनाशक एवं अजीर्ण तथा दाह को दूर करने वाले और नेत्ररोग में अहितकर होते हैं ॥ ५६-५८ ॥

अथाम्लिकावटकाः (इमली के बरे) । तेषां साधनं गुणांश्चाह

अम्लिकां स्वेदयित्वा तु जलेन सह मर्दयेत् । तन्नीरे कृतसंस्कारे वटकान्मज्जयेज्जन. ॥५९॥
अम्लिकावटकास्ते तु रुच्या वह्निप्रदीपनाः । वटकस्य गुणैः पूर्वैरेतेऽपि च समन्विताः ॥६०॥

इमली के बरे बनाने की विधि—इमली को उबालकर जल के साथ मलकर उसका रस तैयार कर उसमें सरसों, हींग, जीरा, सेंधानमक, सोंठ, हरदी आदि मसाला डाल करके पीछे से उडद के सूखे बरों को उसी में भिगो दे । भींगने पर ये ही इमली के बरे कहलाते हैं । **गुण**—इमली के बरे रुचिकारक, अग्नि को प्रदीप्त करने वाले एवं पूर्वोक्त उड़द के सूखे बरों के गुणों से युक्त होते हैं ॥ ५९-६० ॥

अथ मुद्गवटकाः (मूंग के बरे) । तक्रमज्जितानां च तेषां गुणानाह

मुद्गानां वटकास्तक्रे मज्जिता लघवो हिमाः । संस्कारजप्रभावेण त्रिदोषशमना हिताः ॥६१॥

मूग के बरे बनाने की विधि—उड़द के बरों की भाँति मूग के भी बरे बनाकर तक्र (मट्ठे) में भिगो दे और पूर्वोक्त भुना जीरा तथा हींग और सेंधानमक का चूर्ण उसमें डाल दे, भींगने पर ये ही मूग के बरे कहलाते हैं । **गुण**—मूंग के बरे लघु, शीतल एवं संस्कार के प्रभाव से अर्थात् मसाला आदि डालने से त्रिदोष को शमन करने वाले तथा हितकर होते हैं ॥ ६१ ॥

अथ माषवटिकाः (उरद की वरी) । तेषां साधनं गुणांश्चाह

माषाणां पिष्टिका हिङ्गुलवणार्द्रकसंस्कृता । तया विरचिता वस्त्रे वटिकाः साधु शोषिताः ॥
भर्जितास्तप्ततैलैस्ता अथवाऽम्बुप्रयोगतः । वटकस्य गुणैर्युक्ता ज्ञातव्या रोचना भृशम् ॥

उडद की बरी बनाने की विधि—उड़द की पीठी को पीस कर उसमें मात्रानुसार हींग, सेंधा नमक तथा अदरक आदि डालकर खूब फेंटे पश्चात् उसकी छोटी-छोटी वरी बनाकर कपड़े पर रखकर धूप में खूब सुखा डाले और सूख जाने पर उसे तेल में भून कर अथवा पानी में उबालकर सिद्ध कर ले, इसी को उडद की बरी कहते हैं । **गुण**—उडद की वरी गुणों में पूर्वोक्त उड़द के वरों के समान और अत्यन्त रुचिकर होती है ॥ ६२-६३ ॥

अथ कूष्माण्डकवटी (पेठे की बरी) । तस्या गुणानाह

कूष्माण्डकवटी ज्ञेया पूर्वोक्तवटिकागुणा । विशेषाद्रिक्तपित्तघ्नी लघ्वी च कथिता बुधैः ॥६४॥

पेठे की वरी (कोहड़ौरी) बनाने की विधि—पूर्वोक्त उडद की वरी बनाने के समय पीठी में पेठे के छोटे-छोटे बारीक टुकड़े कद्दूकश से तैयार करके पूर्वोक्त मसाला डालकर कपड़े पर सुखा ले । यही पेठे की बरी कहलाती है । **गुण**—पेठे की बरी गुणों में उड़द की बरी के समान होती है किन्तु विशेष करके यह पित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाली एवं लघु होती है ॥ ६४ ॥

अथ मुद्गवटी (मूंग की वरी) । तस्या गुणानाह

मुद्गानां वटिका तद्वद्रचिता साधिता तथा । पथ्या रुच्या तथा लघ्वी मुद्गसूपगुणा स्मृता ॥

मूग की बरी बनाने की विधि—मूग की वरी उड़द की बरी के समान ही बनाई तथा पकाई जाती है । **गुण**—मूंग की बरी पथ्य, रुचिकारक तथा लघु होती है एवं मूग के दाल के जो गुण पूर्व में कह आये हैं वे सभी इसमें रहते हैं ॥ ६५ ॥

अथालीकमत्स्यः । तस्य साधनप्रकारमाह

माषपिष्टिकया लिप्तं नागवल्लीदलं महत् ॥ ६६ ॥
सम्यक् संस्वेदयेद्युक्त्या स्थाल्यामास्तारकोपरि । ततो निष्कास्य तत्खण्ड्यं ततस्तैलेन भर्जयेत् ॥

अलीकमत्स्य (यह खाने में मछली के समान होता है) बनाने की विधि—बडे बड़े पान के पत्तों को लेकर उनके ऊपर उडद की पीठी लपेट दे और एक बटुलोई में जल भर कर उनके मुख पर वस्त्र बाँधकर उसी के ऊपर उन सबों को रख कर आंच पर रख देवे और युक्ति से इस तरह भाफ से उबाले कि वे सब सिद्ध हो जायँ, पुनः उतारकर उनके टुकड़े-टुकडे कर डाले, तत्पश्चात् तेल में पका डाले ॥ ६६-६७ ॥

*खण्ड्य=खण्डनयोग्यमिति यावत् ॥ ६६-६७ ॥

यहाँ 'खण्ड्य' पद का 'टुकडे-टुकडे कर डाले' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६६-६७ ॥

अलीकमत्स्य उक्तोऽय प्रकारः पाकपण्डितैः । तं वृन्ताकभटित्रेण वास्तूकेन च भक्षयेत् ॥६८॥

अलीकमत्स्य बनाने का यही पूर्वोक्त प्रकार पाकविद्या के विद्वानों ने बतलाया है । इसे बैंगन के कबाब (लोहे के सींक में खोंस कर आग पर भुने हुए बैंगन) के साथ या बैंगन के भर्ते के साथ अथवा बथुआ के साग के साथ खावे ॥ ६८ ॥

अथ कथिता (कढी) । तस्याः साधनं गुणांश्चाह

स्थाल्यां घृते वा तैले वा हरिद्रां हिङ्गु भर्जयेत् ।
अवलेहनसंयुक्तं तक्रं तत्रैव निक्षिपेत् । एषा सिद्धा समरिचा कथिना कथिता बुधैः ॥ ६९ ॥

कढ़ी बनाने की विधि—कढ़ाई या बटुलोई में घी अथवा तेल डालकर उसमें हींग तथा हरदी डालकर प्रथम भून डाले तत्पश्चात् उसमें अरिहन अर्थात् जल में घोला हुआ बेसन और उसी के साथ तक्र (मट्ठा) भी मिलाकर पकावे और काली मिर्च तथा मात्रानुसार सेंधानमक भी डाल देवे, जब यह सिद्ध हो जाय तो उतार लेवे, इसी को कढी कहते हैं ॥ ६९ ॥

*अवलेहनम् 'अरिहन' इति लोके ॥ ६९ ॥

यहाँ 'अवलेहन' पद से लोकप्रसिद्ध 'अरिहन' लेना चाहिये ॥ ६९ ॥

कथिता पाचनी रुच्या लघ्वी वह्निप्रदीपिनी । कफानिलविबन्धघ्नी किञ्चित्पित्तप्रकोपणी ॥

गुण—कढी पाचक, रुचिकारक, लघु, अग्निदीपक, किञ्चित् पित्त को प्रकुपित करने वाली एवं कफ, वायु तथा विबन्ध को दूर करने वाली होती है ॥ ७० ॥

अलीकमत्स्यस्य गुणानाह

अलीकमत्स्याः शुष्का वा किं वा कथितया पुनः । बृंहणी रोचनी वृष्या बल्या वातगदापहा ॥
कोष्ठशुद्धिकराः शुष्काः किञ्चित्पित्तप्रकोपणाः । अर्दिते सहनुस्तम्भे विशेषेण हिताः स्मृताः ॥

अलीकमत्स्य के गुण—अलीकमत्स्य चाहे सूखे हों या कढी में भिगोये हुये हों दोनों ही बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), रोचक, वीर्यवर्धक, बलकारक, वातरोगनाशक तथा कोष्ठ की शुद्धि करने वाले होते हैं । केवल सूखे अलीक-मत्स्य विशेष करके किञ्चित् पित्त को प्रकुपित करने वाले और अर्दित वात (लकवा) तथा हनुस्तम्भ रोग में अधिक हितकर होते हैं ॥ ७१-७२ ॥

अथ मुद्गार्द्रकवटकाः (अदरक बड़ा) । तेषां साधनं गुणाँश्चाह

मुद्गपिष्टीविरचितान् वटकांस्तैलपाचितान् । हस्तेन चूर्णयेत्सम्यक् तस्मिंश्चूर्णं विनिक्षिपेत् ॥
भृष्टं हिङ्ग्वार्द्रकं सूक्ष्मं मरिचं जीरकं तथा । निम्बूरसं यवानीं च युक्त्या सर्वं विमिश्रयेत् ॥
मुद्गपिष्टिं पचेत्सम्यक् स्थाल्यामास्तारकोपरि । तस्यास्तु गोलकं कुर्यात्तन्मध्ये पूरणं क्षिपेत् ॥
तैले तान्गोलकान्पक्त्वा कथितायां निमज्जयेत् । गोलकाः पाचकैः प्रोक्तास्ते त्वार्द्रकवटा अपि ॥
मुद्गार्द्रकवटा रुच्या लघवो बलकारकाः । दीपनास्तर्पणाः पथ्यास्त्रिषु दोषेषु पूजिताः ॥७७॥

अदरक-बड़ा बनाने की विधि—प्रथम मूंग की पीठी के बरे बनाकर तेल में पका डाले, पश्चात् उसे हाथ से मसल कर चूर्ण कर डाले पुनः उसमें भुना हुआ हींग, अदरख के पतले-पतले छोटे-छोटे टुकड़े, मरिच, जीरा, नीबू के रस, जवाइन इन सबों को युक्तिपूर्वक यथायोग्य चूर्ण करके मिला देवे । मूंग की पीठी को बटलोई में जल भर कर उसके ऊपर कपड़ा रख कर उसी के ऊपर रख कर भाफ से सिद्ध करके जब तैयार हो जाय तब उसके बड़े-बड़े गोले कर बरे बनाकर उसी के अन्दर पूर्वोक्त पूर्ण किये हुये पदार्थों को भर कर तैल में पका डाले, जब तैयार हो जाय तब कढी में भिगो दे । भींग जाने पर इसी को पाकविद्या में कुशल लोग 'अदरक-बड़ा' कहते हैं ।

गुण—अदरक बड़ा रुचिकारक, लघु, बलकारक, अग्निदीपक, तृप्तिकारक, पथ्य तथा तीनों दोषों में ही उत्तम होता है । यह हानिकारक नहीं होता है ॥ ७३-७७ ॥

अथ वेसनम् (बेसन) । तस्य साधनमाह

दाल्यश्चणकानां तु निस्तुषा यन्त्रपेषिताः । तच्चूर्णं वेसनं प्रोक्तं पाकशास्त्रविशारदैः ॥ ७८ ॥

वेसन बनाने की विधि—बिना छिलके की चना के दाल को चक्की में पीसकर आटा तैयार कर ले इसी को 'वेसन' कहते हैं ॥ ७८ ॥

अथ वेसनवटिका (फुलौरी)। तस्याः साधनं गुणांश्चाह

वटिका वेसनस्यापि क्वथितायां निमज्जिता। रुच्या विष्टम्भजननी बल्या पुष्टिकरी स्मृता॥

फुलौरी बनाने की विधि—वेसन की बरी बनाकर यदि कढ़ी में भिगो दी जाय तो उसे फुलौरी कहते हैं। गुण-फुलौरी रुचिकारक, विष्टम्भजनक, बल तथा पुष्टि को करने वाली होती है ॥ ७९ ॥

***एवमन्येऽपि वेसनभवाः प्रकाराः खण्डनखण्डप्रभृतयो बोद्धव्याः ॥ ७९ ॥**

इसी प्रकार अन्य भी वेसन से बनाये जाने वाले 'खण्डरा' आदि बनाने की विधियाँ होती हैं ॥

अथ मांसस्य प्रकाराः।

तत्र शुद्धमांसम्। तस्य प्रकारमाह

पाकपात्रे घृतं दद्यात्तैलञ्च तदभावतः। तत्र हिङ्गु हरिद्रां च भर्जयेत्तदनन्तरम् ॥ ८० ॥
छागादेरस्थिरहितं मांस तत्खण्डितं भृशम्। धौतं निर्गालितं तस्मिन्घृते तद्भर्जयेच्छनैः ॥
सिद्धयोग्यं जलं दत्त्वा लवणन्तु पचेत्ततः। सिद्धे जलेन सम्पिष्य वेसवारं परिक्षिपेत् ॥८२॥

शुद्ध मांस बनाने की विधि—मांस बनाने के पात्र में प्रथम घी अथवा अभाव में तेल ही डाल कर उसमें हींग और हरदी डाल कर भूने, तत्पश्चात् बकरे आदि का मांस लेकर उसके टुकड़े कर डाले, यदि हड्डियाँ हों तो उन्हें फेंक दे, पुनः उन टुकड़ों को धोकर तथा जल खूब नितारकर उपर्युक्त घी अथवा तेल में धीरे धीरे भून कर सिद्ध होने योग्य जल छोड़े तथा सेंधा नमक मात्रानुसार डालकर पकावे, जब पक जाय तब जल के साथ वेशवार (वेगर) पीस कर इसी में छोड़ दे ॥ ८०–८२ ॥

अथ वेशवारः (पिसा हुआ मसाला)। तद्द्रव्याण्याह

द्रव्याणि वेशवारस्य नागवल्लीदलानि च। तण्डुलाश्च लवङ्गानि मरिचानि समासतः ॥८३॥

वेशवार के द्रव्य—पान के पत्ते, चावल, लौंग, मरिच ये सब सक्षेप से वेशवार में पडने वाले द्रव्य हैं ॥ ८३ ॥

*** वेशवारः 'वेगर' इति लोके ॥ ८३ ॥**

यहाँ 'वेशवार' से लोक-प्रसिद्ध 'वेगर' समझना चाहिये ॥ ८३ ॥

अथ शुद्धमांसस्य गुणानाह

अनेन विधिना सिद्धं शुद्धमांसमिति स्मृतम् ॥ ८४ ॥

शुद्धमांसं परं वृष्यं बल्यं रुच्यञ्च बृंहणम्। त्रिदोषशमकं श्रेष्ठं दीपनं धातुवर्धनम् ॥ ८५ ॥

शुद्धमास के गुण—पूर्वोक्त विधि से सिद्ध किया हुआ मांस 'शुद्ध माम' कहलाता है। यह अत्यन्त वीर्यवर्धक, बलकारक, रोचक, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), त्रिदोष को शमन करने वाला, अत्यन्त अग्निदीपक तथा धातुवर्धक होता है ॥ ८४–८५ ॥

अथ सहद्रकम् ('सेहण्डुक, सहर्वासु' इति लोके)। तस्य साधनं गुणाँश्चाह

छागादेर्मांसमूर्वादेः कुट्टितं खण्डितं पुनः। शुद्धमांसविधानेन पचेदेतत्सहद्रकम्।
सहद्रकं गुणैर्ग्रन्थे शुद्धमांसगुणं स्मृतम् ॥ ८६ ॥

सहद्रक बनाने की विधि—बकरे आदि के ऊरु आदि स्थानों के मांस को कूट-कूट कर खूब टुकडे करके पूर्वोक्त शुद्ध मांस बनाने की विधि के अनुसार पका डाले, इसको सहद्रक (सेहुण्डक या सहर्वासु) भी कहते हैं। गुण-द्रव्यगुण-ग्रन्थों में इसके गुण शुद्ध मांस के समान ही कहे हुए हैं ॥

अथ तक्रमांसम् (अखनी)। तस्य साधनं गुणांश्चाह

पाकपात्रे घृतं दत्त्वा हरिद्रां हिङ्गु भर्जयेत्। छागादेः सकलस्यापि खण्डान्यपि च भर्जयेत् ॥
सिद्धयोग्य जल दत्त्वा पचेन्मृदुतरं तथा। जीरकादियुते तक्रे मांसखण्डानि भावयेत् ॥८८॥

तक्रमांसन्तु वातघ्नं लघु रुच्यं बलप्रदम् । कफघ्नं पित्तलं किञ्चित्सर्वाहारस्य पाचनम् ॥८९॥

अखनी बनाने की विधि—पाक बनाने के बर्तन में घी डाल कर उसमें हल्दी तथा हींग को प्रथम भून डाले, तत्पश्चात् उसी में बकरे आदि के सम्पूर्ण अंगों के मांस के टुकड़ों को भून डाले, तत्पश्चात् उसमें सिद्ध होने योग्य जल डालकर पुनः मन्द मन्द अग्नि से पकावे। पश्चात् जीरा आदि पड़े हुए तक्र (मट्ठा) में उन मांस के टुकड़ों को डाल दे। यही 'अखनी' कहलाती है। **गुण**—अखनी वातनाशक, लघु, रुचिकारक, बलकारक, कफनाशक, किञ्चित् पित्तजनक तथा सम्पूर्ण खाये हुए पदार्थों को पचाने वाली होती है ॥ ८७–८९ ॥

अथ हरीसा (आसा) । तस्य साधनं गुणांश्चाह

पाकपात्रे तु बृहन्ति मांसखण्डानि निक्षिपेत् । पानीयं प्रचुरं सर्पिः प्रभूतं हिङ्गु जीरकम् ॥
हरिद्रामार्द्रकं शुण्ठीं लवणं मरिचानि च । तण्डुलांश्चापि गोधूमाञ्जम्बीराणां रसान् बहून् ॥
यथा सर्वाणि वस्तूनि सुपक्वानि भवन्ति हि । तथा पचेत् निपुणो बहुमण्डस्थितिर्यथा ॥
एषा हरीसा बलकृद्वातपित्तापहा गुरुः । शीतोष्णा शुक्रदा स्निग्धा सरा सन्धानकारिणी ॥

हरीसा (आसा) बनाने की विधि—एक बहुत बड़े पात्र में मांस के टुकड़ों को डाल कर उसी में अधिक मात्रा में जल तथा घी और हींग, जीरा, हल्दी, अदरख, सोंठ, सेंधा नमक, मरिच, चावल, गेहूँ और जमीरी नींबू का रस डाले तथा इस भाँति चतुरता से पकावे कि उपर्युक्त सब वस्तुयें भलीभाँति पक भी जायें और अधिक मात्रा में मांड (रस) भी रह जाय। इसी को 'हरीसा' कहते हैं। **गुण**—हरीसा बलकारक, वात तथा पित्तनाशक, गुरु, शीतोष्ण, शुक्रजनक, स्निग्ध, सारक (मल को निकालने वाला) तथा सन्धानकारक (टूटी हुई हड्डियों को जोड़ने वाला) होता है ॥ ९०–९३ ॥

अथ तलितमांसम् (तला हुआ मांस) । तस्य साधनं गुणाँश्चाह

शुद्धमांसविधानेन मांसं सम्यक्प्रसाधितम् । पुनस्तदाज्ये सम्भृष्टं तलितं प्रोच्यते बुधैः ॥
तलितं बलमेधाऽग्निमांसौजःशुक्रवृद्धिकृत् । तर्पणं लघु सुस्निग्धं रोचनं दृढताकरम् ॥ ९५ ॥

तलित (तला हुआ) मांस बनाने की विधि—पूर्वोक्त शुद्ध मांस बनाने की विधि के अनुसार भलीभाँति सिद्ध किये हुए मांस को पुनः घी में डाल कर जो अच्छी तरह भूना जाता है, उसे तलित (तला हुआ) मांस कहते हैं। **गुण**—तलित मांस बल, मेधाशक्ति, अग्नि, मांस, ओज तथा शुक्र की वृद्धि करने वाला, तृप्तिकारक, लघु, अत्यन्त स्निग्ध, रोचक तथा शरीर को दृढ़ करने वाला होता है ॥९४–९५ ॥

अथ शूल्यपलम् (कबाब) । तस्य साधनं गुणाँश्चाह

कालखण्डादिमांसानि ग्रथितानि शलाकया । घृतं सलवणं दत्त्वा निर्धूमे दहने पचेत् ॥९६॥
तत्तु शूल्यमिति प्रोक्तं पाककर्मविचक्षणैः ॥ ९७ ॥
शूल्यं पलं सुधातुल्यं रुच्यं वह्निकरं लघु । कफवातहरं बल्यं किञ्चित्पित्तकरं हि तत् ॥९८॥

शूल्य पल (कबाब) बनाने की विधि—कलेजे आदि अङ्गों के मांस को कूट कर उसमें घी तथा नमक मिला कर लोहे की सलाई पर लपेट कर या उसी में गुथ कर निर्धूम (बिना धूयें की) अग्नि पर कुछ ऊँचाई से रख कर धीरे धीरे पकावे, इसको शूल्य पल (कबाब) कहते हैं। **गुण**-कबाब अमृत के तुल्य स्वादिष्ट, रुचिकारक, अग्नि को प्रदीप्त करने वाला, लघु, कफ तथा वातनाशक, बलकारक एवं किञ्चित् पित्तकारक होता है ॥ ९६–९८ ॥

अथ मांसशृङ्गाटकम् (मांस का सिंगाड़ा) । तस्य साधनं गुणाँश्चाह

शुद्धमांसं तनूकृत्य कर्त्तितं स्वेदितं जले । लवङ्गहिङ्गुलवणमरिचार्द्रकसंयुतम् ॥ ९९ ॥
एलाजीरकधान्याकनिम्बूरससमन्वितम् । घृते सुगन्धे तद् भृष्टं पूरणं प्रोच्यते बुधैः ॥१००॥
शृङ्गाटकं समितया कृतं पूरणपूरितम् । पुनः सर्पिषि संभृष्टं मांसशृङ्गाटकं वदेत् ॥ १०१ ॥
मांसशृङ्गाटकं रुच्यं बृंहणं बलकृद् गुरु । वातपित्तहरं वृष्यं कफघ्नं वीर्यवर्धनम् ॥ १०२ ॥

मांस का सिंगाडा बनाने की विधि—शुद्ध मांस के पतले-पतले तथा छोटे-छोटे टुकडे करके उसे जल में उबाले। पश्चात् उसमें लौंग, हींग, सेंधानमक, मरिच, अदरख, छोटी इलायची, जीरा, धनियाँ इन सबों का यथायोग्य चूर्ण और नीबू का रस डाल कर सुगन्धित घी में भून डाले, इसी को पूरण (मैदा के सिंगाड़ा के अन्दर भरे जाने वाला द्रव्य) कहते हैं। इसके उपरान्त मैदा को जल में सान कर उसकी लोई के अन्दर उक्त पूरण संज्ञक द्रव्यों को भर कर सिंगाड़ा के आकार का बना कर उसे घी में भून ले, इसी को मांस का सिंगाडा कहते हैं। **गुण**—मांस का सिंगाड़ा रुचिकारक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), बलकारक, गुरु, वातपित्तनाशक, वृष्य, कफनाशक तथा अत्यन्त वीर्यवर्धक होता है॥ ९९-१०२॥

अथ सिद्धमांसरसः (सुरुवा) । तस्य गुणानाह

सिद्धमांसरसो हृद्यः श्रमश्वासक्षयापहः। प्रीणनो वातपित्तघ्नः क्षीणानामल्परेतसाम्॥
विश्लिष्टभग्नसन्धीनां शुद्धानां शुद्धिकाङ्क्षिणाम्॥ १०३॥
स्मृत्योजोबलहीनानां ज्वरक्षीणक्षतोरसाम्। शस्यते स्वरहीनानां दृष्ट्यायुःश्रवणार्थिनाम्॥
प्रकाराः कथिताः सन्ति बहवो मांससम्भवाः। ग्रन्थविस्तरभीतेस्ते मया नात्र प्रकीर्त्तिताः॥

सिद्धमांसरस (सुरुवा) का गुण—सुरुवा रुचिकारक, श्रम, श्वास तथा क्षय को दूर करने वाला, तृप्तिदायक तथा वात-पित्तनाशक होता है। क्षीण, अल्पवीर्य या जिनकी सन्धियाँ उखड़ गई हों या टूट गई हों या जो वमन विरेचनादि से शुद्ध हुए हैं अथवा वमन-विरेचनादि से शोधन करना चाहते हों किंवा स्मरणशक्ति ओज तथा बल से हीन हों या ज्वर से क्षीण अथवा उरःक्षत रोग से पीडित हों या जिनका स्वर हीन हो गया हो अथवा दृष्टिशक्ति, आयु तथा श्रवणशक्ति की वृद्धि चाहने वाले हों उनके लिये उत्तम होता है। इस प्रकार बहुत से मांस बनाने के प्रकार अन्यत्र कहे हुये हैं किन्तु ग्रन्थ के बढ़ जाने के भय से यहाँ उन सबों का वर्णन नहीं किया जा रहा है॥ १०३-१०५॥

अथ शाकपाकविधिः । तमाह

हिङ्गुजीरयुते तैले क्षिपेच्छाकं सुखण्डितम्॥ १०६॥
लवणं चात्र चूर्णादि सिद्धे हिङ्गूदकं क्षिपेत्। इत्येवं सर्वशाकानां साधनेऽभिहितो विधिः॥

शाक बनाने की विधि—शाक को पहले टुकडे-टुकड़े करके धोले पीछे तेल में हींग तथा जीरा का तडका दे कर उसी में डाल दे, जब गल जाय तब उसमें सेंधा नमक, खटाई का चूर्ण तथा हींग घोला हुआ जल छोड कर पक जाने पर उतार ले, हर एक शाकों के बनाने के लिये प्रायः यही विधि काम में ली जाती है॥ १०६-१०७॥

अथ पथ्यान्नसाधनविधिमाह ।

तत्र मण्ठः (मठरी या माड़) । तस्य साधनविधिमाह

समितां मर्दयेदाज्यैर्जलेनापि च सन्नयेत्। तस्यास्तु वटिकाः कृत्वा पचेत्सर्पिषि नीरसम्॥
एलालवङ्गकर्पूरमरिचाद्यैरलङ्कृते॥ १०८॥
मज्जयित्वा सितापाके ततस्ताश्च समुद्धरेत्। अयं प्रकारः ससिद्धो मण्ठ इत्यभिधीयते॥१०९॥

मण्ठक (मठरी या माड) बनाने की विधि—प्रथम मैदा को घी तथा जल से खूब मर्दन कर पश्चात् उसकी टिकिया बनाकर घी में खूब तल ले, फिर चीनी की चाशनी बना कर उसमें छोटी इलायची, लौंग, कपूर, मरिच आदि डालकर उसी में उक्त टिकियों को डुबो दे, जब खूब भींग जाय तब निकाल कर काम में ले, इस प्रकार तैयार हुए पकवान को 'मण्ठ' अर्थात् मठरी कहते हैं॥ १०८-१०९॥

***सन्नयेद् = मर्दयेत्॥ १०८-१०९॥**
यहाँ 'सन्नयेत्' का 'खूब मर्दन करे' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १०८-१०९॥

अथ मण्ठस्य गुणानाह

मण्ठस्तु बृंहणो वृष्यो बल्यः सुमधुरो गुरुः। पित्तानिलहरो रुच्यो दीप्ताग्नीनां सुपूजितः॥
समिताशर्करासर्पिर्निर्मिता अपरेऽपि ये। प्रकारा अमुना तुल्यास्तेऽपि चेत्तद्गुणाः स्मृताः॥

मठरी के गुण—मठरी बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), वृष्य, बलकारक, अत्यन्त मधुर, गुरु, पित्त और वायु को दूर करने वाली, रुचिकारक तथा प्रदीप्त अग्नि वालों के लिये अत्युत्तम होती है।

इसी के समान मैदा, शक्कर तथा घी के योग से बने हुए अन्य प्रकार के भी जो पकवान 'बालूशाही' आदि हैं उनके भी ये ही सब गुण होते हैं॥ ११०–१११॥

अथ सम्पावः (गुजिया)। तस्य साधनं गुणाँश्चाह

पर्पट्यः साज्यसमितानिर्मिता घृतभर्जिताः। कुट्टिताश्चालिताः शुद्धशर्कराभिर्विमर्दिताः॥
तत्र चूर्णं क्षिपेदेलालवङ्गमरिचानि च। नारिकेरं सकर्पूरं चारबीजान्यनेकधा॥ ११३॥
घृताक्तसमिता पुष्टरोटिका रचिता ततः। तस्यान्तःपूरणं तस्याः कुर्यान्मुद्रां दृढां सुधीः॥११४॥
सर्पिषि प्रचुरे तान्तु सुपचेन्निपुणो जनः। प्रकारज्ञैः प्रकारोऽयं सम्पाव इति कीर्त्तितः॥११५॥
मण्ठकेन समो ज्ञेयः सम्पावोऽपि गुणैर्जनैः॥ ११६॥

गुजिया बनाने की विधि—घी का मोयन देकर मैदा की पतली-पतली रोटी बेल कर उसे घी में खर्खरी तलकर पश्चात् कूट कर चलनी से चाल ले और उसमें अन्दाज से दानेदार चीनी मिलाकर खूब मर्दन करे। पुनः इलायची, लौंग, मरिच, नारियल की मींगी का बुरादा (बारीक बारीक टुकडे), कपूर, चिरौंजी आदि द्रव्यों का चूर्ण मिलाकर घी का मोयन देकर माडे मैदे की मोटी रोटी बेल कर उसके अन्दर (पूर्वोक्त चूर्ण किये हुए द्रव्यों को) भरकर उसका मुख-दृढ़ता से युक्तिपूर्वक बन्द कर दे, तत्पश्चात् अधिक घी कढाई में डाल कर उसमें अच्छी तरह से पकावे। इस प्रकार बने हुए पदार्थ को 'सम्पाव' (गुजिया) कहते हैं। गुण–गुजिया गुणों में मठरी के समान ही होती है॥ ११२–११६॥

अथ कर्पूरनालिका। तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

घृताढ्यया समितया लम्बं कृत्वा पुटं ततः। लवङ्गोषणकर्पूरयुतया सितयाऽन्वितम्॥११७॥
पचेदाज्येन सिद्धैषा ज्ञेया कर्पूरनालिका। सम्पावसदृशा ज्ञेया गुणैः कर्पूरनालिका॥११८॥

कर्पूरनालिका बनाने की विधि—घी का मोयन देकर मडे हुये मैदा की लोई बेलकर लम्बा सम्पुट बनाकर उसके अन्दर लौंग, मरिच तथा कपूर का चूर्ण और दानेदार चीनी भर कर उसका मुख दृढता से बन्द करके घी में पकावे, सिद्ध होने पर इसी को 'कर्पूरनालिका' कहते हैं।

गुण—कर्पूरनालिका गुणों में गुजिया के समान ही होती है॥ ११७–११८॥

अथ फेनिका (फेनी)। तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

समितायाः घृताढ्याया वर्त्तीर्दीर्घाः समाचरेत्। तास्तु सन्निहिता दीर्घाः पीठस्योपरि धारयेत्॥
वेल्लयेद्वेल्लनेनैता यथैका पर्पटी भवेत्। ततश्छुरिकया तान्तु सलग्नामेव कर्त्तयेत्॥ १२०॥
ततस्तु वेल्लयेद्भूयः सट्टकेन च लेपयेत्। शालिचूर्णं घृतं तोयं मिश्रितं सट्टकं वदेत्॥ १२१॥
ततः संवृत्य तल्लोप्त्रीं विदधीत पृथक्पृथक्। पुनस्तां वेल्लयेल्लोप्त्रीं यथा स्यान्मण्डलाकृतिः॥
ततस्तां सुपचेदाज्ये भवेयुश्च स्फुटाः स्फुटाः। सुगन्धया शर्करया तदुद्धूलनमाचरेत्॥१२३॥
सिद्धैषा फेनिकानाम्नी मण्डकेन समा गुणैः। ततः किञ्चिल्लघुरियं विशेषोऽयमुदाहृतः॥१२४॥

फेनी बनाने की विधि—घी का मोयन देकर मड़े हुये मैदा की लम्बी-लम्बी बत्ती बना कर उसे चकला पर पास पास सटा रखकर लम्बाई की तरह से बेलन से ऐसा बेले कि जिसमें एक रोटी की तरह हो जाय। उसके बाद छूरी से एक दूसरे से लगी हुई को काट-काट कर उसको पुनः अलग-अलग बेल और उन पर चावल का चूर्ण, घी और जल को खूब मिलाने से जो सट्टक तैयार होता है, उसका लेप करे। फिर उन सबों को अलग-अलग समेट कर लोई बनाकर ऐसा बेले कि जिसमें चक्राकार रोटी बन जाय। तत्पश्चात् घी में उन सबों को अच्छी तरह पकावे, तैयार होने पर उसमें फुटका-फुटका सा पड़ जायगा। पुनः सुगन्धित शक्कर में उन सबों को सान दे अथवा

चासनी में डुबोकर निकाल ले। इस प्रकार तैयार पकवान को 'फेनी' कहते हैं। गुण–फेनी गुणों में मठरी के समान होती है, किन्तु विशेषकर उसकी अपेक्षा किञ्चित् लघु होती है ॥११९-१२४॥

*वेल्लयेत् = प्रसारयेत्। वेल्लनः = 'वेलन' इति लोके। पर्पटी = रोटी। लोप्त्री 'लोई' इति लोके ॥ ११९-१२४ ॥

यहाँ 'वेल्लयेत्' का 'बेले', 'वेल्लन' पद का लोकप्रसिद्ध 'वेलन', 'पर्पटी' का 'रोटी' और 'लोप्त्री' का 'लोई' अर्थ समझना चाहिये ॥ ११९-१२४ ॥

अथ शष्कुली (खस्ता पूरी)। तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

समितायाघृताक्तायालोप्त्रीं कृत्वा च वेल्लयेत्। आज्ये तां भर्जयेत्सिद्धा शष्कुली फेनिकागुणा॥

खस्ता पूरी बनाने की विधि—घी का मोयन देकर मैदा माड कर उसकी लोई बना डाले, पश्चात उन सबों को वेल कर घी में पका डाले, सिद्ध होने पर इसी को संस्कृत में 'शष्कुली' और हिन्दी में 'खस्ता पूरी' कहते हैं। गुण–खस्ता पूरी गुणों में फेनी के समान होती है ॥ १२५ ॥

अथ सेविकामोदकाः (सेव के लड्डू)। तेषां साधनं गुणांश्चाह

घृताढ्यया समितया कृत्वा सूत्राणि तानि तु। निपुणो भर्जयेदाज्ये खण्डपाकेन योजयेत् ॥
युक्तेन मोदकान् कुर्यात्ते गुणैर्मण्ठका यथा ॥ १२६ ॥

सेव के लड्डू बनाने की विधि—घी का मोयन देकर मैदा माड कर उसके सूत्र अर्थात् सेव बना ले और उसे घी में भून कर शक्कर की चाशनी में डुबो कर उसका लड्डू बाँध ले, उसी को सेव का लड्डू कहते हैं। गुण–में मठरी के समान होता है ॥ १२६ ॥

अथ मुक्तामोदका मुद्गमोदका वा (बूंदी के लड्डू)। तेषां साधनं गुणांश्चाह

मुद्गानां धूमसीं सम्यग्गोलयेन्निर्मलाम्बुना ॥ १२७ ॥
कटाहस्य घृतस्योर्ध्वं झर्झरं स्थापयेत्ततः। धूमसीन्तु द्रवीभूतां प्रक्षिपेज्झर्झरोपरि ॥ १२८ ॥
पतन्ति बिन्दवस्तस्मात्तान्सुपक्वान्समुद्धरेत्। सितापाकेन संयोज्य कुर्याद्धस्तेन मोदकान् ॥
लघुर्ग्राही त्रिदोषघ्नः स्वादुः शीतो रुचिप्रदः। चक्षुष्यो ज्वरहृद्बल्यस्तर्पणो मुद्गमोदकः ॥

बूंदी के लड्डू बनाने की विधि—मूग की धुवांस को साफ जल में गाढ़ा-गाढ़ा घोल कर खूब फेंट डाले, फिर कढाई में ज्यादा घी रखकर उसे आग पर चढा दे और कढ़ाई के ऊपर झरनी रखकर उस पर पूर्वोक्त घोले हुये धुआंस को धीरे धीरे डालने से जो बूद के समान कढाई में गिरे उन सबों को सिक जाने पर निकाल-निकाल कर चीनी की चासनी में भिगोता जाय, बाद में सबों को चासनी से निकाल कर हाथ से लड्डू बना ले, इसी को बूंदी के लड्डू कहते हैं। गुण—बूंदी के लड्डू लघु, ग्राही, त्रिदोषनाशक, स्वादिष्ट, शीतल, रुचिकारक, नेत्रों के लिये हितकर, ज्वरनाशक, बलकारक तथा तृप्तिदायक होते हैं ॥ १२७-१३० ॥

*'झर्झरं झर्झरा'वेति लोके ॥ १२७-१३० ॥

यहाँ 'झर्झर या झर्झरा' से लोकप्रसिद्ध झरनी का बोध करना चाहिये ॥ १२७-१३० ॥

अथ वेसनमोदकाः (मोतीचूर के लड्डू)। तेषां साधनं गुणांश्चाह

एतेनैव प्रकारेण कार्या वेसनमोदकाः ॥ १३१ ॥
ते बल्या लघवः शीताः किञ्चिद्वातकरास्तथा। विष्टम्भिनो ज्वरघ्नाश्च पित्तरक्तकफापहाः ॥

मोतीचूर के लड्डू बनाने की विधि—इसी प्रकार अर्थात् उपर्युक्त बूंदी के लड्डू के समान बेसन के भी लड्डू बनाने चाहिये। गुण—वेसन के लड्डू बलकारक, लघु, शीतल, किञ्चिद् वायु उत्पन्न करने वाले, विष्टम्भकारक, ज्वरनाशक तथा पित्त, रक्तविकार और कफ को दूर करने वाले होते हैं ॥ १३१-१३२ ॥

अथ दुग्धकूपिका । तस्याः साधनं गुणांश्चाह

तण्डुलचूर्णविमिश्रितनष्टक्षीरेण सान्द्रपिष्टेन । दृढकूपिकां विदध्यात्ताञ्च पचेत्सर्पिषा सम्यक् ॥
अथ तां कोरितमध्यां घनपयसा पूर्णगर्भाञ्च । सट्टकमुद्रितवदनां तप्तघृते सुपक्वदनाञ्च ॥
अथ पाण्डुखण्डपाके स्नपयेत्कर्पूरवासिते कुशलः । अथ दुग्धकूपिका सा बल्या वित्तानिलापहा चैव॥
वृष्या शीता गुर्वी शुक्रकरी च तर्पणी रुच्या । विदधाति कायपुष्टिं दृष्टिं दूरप्रसारिणीं सुचिरम् ॥

दुग्धकूपिका बनाने की विधि—चावलों के चूर्ण में छेना मिलाकर खूब मर्दन करे, तत्पश्चात् उसकी मजबूत कुप्पी बना ले और उसे घी में पका ले, उसकेबाद कूपी के मध्य भाग में छेद करके गाढ़े दूध से उसे भर दे, पश्चात् पूर्वोक्त सट्टक से उसका मुख दृढ़ता से बन्द करके पुनः घी में पका दे, जब उसका मुख सिक जाय तब कर्पूर से सुवासित सफेद चीनी की चाशनी में उसे भिगो दे। इसी को दुग्धकूपिका कहते हैं। गुण—दुग्धकूपिका बलकारक, पित्त तथा वायु को नष्ट करने वाली, वृष्य, शीतल, गुरु, शुक्रजनक, तृप्तिकारक, रुचिजनक एवं शरीर की पुष्टि तथा चिरकाल तक दूर तक देखने की शक्ति को करने वाली होती है ॥ १३३-१३६ ॥

अथ कुण्डलिनी ('जलेबी' इति लोके) । तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

नूतनं घटमानीय तस्यान्तः कुशलो जनः । प्रस्थार्द्धपरिमाणेन दध्नाऽम्लेन प्रलेपयेत् ॥१३७॥
द्विप्रस्थां समितां तत्र दध्यम्लं प्रस्थसम्मितम् । घृतमर्द्धशरावञ्च घोलयित्वा घटे क्षिपेत् ॥
आतपे स्थापयेत्तावद् यावद्याति तदम्लताम् । ततस्तत्प्रक्षिपेत्पात्रे सच्छिद्रे भाजने तु तत् ॥
परिभ्राम्य परिभ्राम्य सुसन्तप्ते घृते क्षिपेत् । पुनःपुनस्तदावृत्त्या विदध्यान्मण्डलाकृतिम् ॥
तां सुपक्वां घृतान्नीत्वा सितापाके तनुद्रवे । कर्पूरादिसुगन्धे च स्नापयित्वोद्धरेत्ततः ॥ १४१ ॥
एषा कुण्डलिनी नाम्ना पुष्टिकान्तिबलप्रदा । धातुवृद्धिकरी वृष्या रुच्या चेन्द्रियतर्पणी॥१४२॥

जलेबी बनाने की विधि—नवीन घड़ा लेकर उसके अन्दर आधा प्रस्थ (३२ रुपये भर) खट्टा दही चारो ओर लेप कर दे, उसके बाद २ प्रस्थ (१२८ रुपये भर) मैदा, १ प्रस्थ (६ छटाक २) भर) खट्टी दही, आधा शराब (३ छटाक १) भर) घी; इन सबों को खूब घोल कर उक्त घड़े में रख कर धूप में जब तक उक्त पदार्थ खट्टे न हो जाय तब तक रहने दे। खट्टे हो जाने के बाद घड़े से निकाल कर उक्त पदार्थों को जिसमें एक छिद्र कनिष्ठिका अगुली जाने लायक से कुछ छोटा हो, उस पात्र में रखकर खौलते हुए घी की कढाई में पात्र को घुमा-घुमा कर मण्डलाकार, एक मण्डल के भीतर दूसरा मण्डल इस भांति से जैसा छोटा या बड़ा बनाना हो, वैसा मण्डल बना ले और जब वह पक जाय तब निकाल कर पतली चीनी की चाशनी में डुबो दे और ऊपर से कपूर आदि सुगन्धित पदार्थों का चूर्ण बुरका दे, तत्पश्चात् धीरे से निकाल कर अलग पात्र में रख ले, इसी को जलेबी कहते हैं।

गुण—जलेबी पुष्टि, कान्ति तथा बल को देने वाली, धातुवर्धक, वीर्यवर्धक, रुचिकारक तथा रसनेन्द्रिय को तृप्त करने वाली होती है ॥ १३७-१४२ ॥

अथ पश्चात्परिवेष्याणि ।

तत्र रसाला (सिखरन) । तस्याः साधनं सेवनार्हजनान् गुणाँश्चाह

आर्द्रौ माहिषमम्लमम्बुरहितं दध्याढकं शर्करां
शुभ्रां प्रस्थयुगोन्मितां शुचिपटे किञ्चिच्च किञ्चित्क्षिपेत् ।
दुग्धेनार्द्धघटेन मृन्मयनवस्थाल्यां दृढं स्रावये-देलाबीजलवङ्गचन्द्रमरिचैर्योग्यैश्च तद्योजयेत् ॥
भीमेन प्रियभोजनेन रचिता नाम्ना रसाला स्वयं, श्रीकृष्णेन पुरा पुनः पुनरियं प्रीत्या समास्वादिता
एषा येन वसन्तवर्जितदिने ससेव्यते नित्यशस्तस्य स्यादतिवीर्यवृद्धिरनिशं सर्वेन्द्रियाणां, बलम्
ग्रीष्मे तथा शरदि ये रविशोषिताङ्गा ये च प्रमत्तवनितासुरतातिखिन्नाः ।
ये चापि मार्गपरिसर्पणशीर्णगात्रास्तेषामियं वपुषि पोषणमाशु कुर्यात् ॥ १४५ ॥
रसाला शुक्रला बल्या रोचनी वातपित्तजित् ॥ १४६ ॥
दीपनी बृंहणी स्निग्धा मधुरा शिशिरा सरा । रक्तपित्तं तृषां दाहं प्रतिश्यायं विनाशयेत् ॥

सिखरन बनाने की विधि—भैंस का जल रहित खट्टा दही १ आढक (३ सेर ३ छटाक १) भर), सफेद शक्कर का बूरा २ प्रस्थ (१ सेर ९ छटाक ३) भर) और आधा घट (२ आढक अर्थात् ६ सेर ६ छटाक २) भर) दूध लेकर इन सबों को एक साफ कपड़े पर धीरे धीरे डाल कर खूब मसल कर नीचे एक मिट्टी के पात्र में छान ले, पश्चात् उसमें छोटी इलायची के बीज, लौंग, कपूर, मरिच इत्यादि द्रव्यों का चूर्ण योग्यतानुसार डाल दे। इसी को सिखरन कहते हैं। इसे सर्वप्रथम उत्तम भोजन करने तथा बनाने वाले कुन्तीपुत्र भीम ने बनाया था और भगवान् श्रीकृष्ण ने अत्यन्त स्वादिष्ट होने से वारम्बार लेकर प्रीतिपूर्वक खाया था। इसे वसन्त ऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं में प्रतिदिन जो खाता है, उसके वीर्य की अत्यन्त वृद्धि और सम्पूर्ण इन्द्रियों में बल की वृद्धि होती है। ग्रीष्म तथा शरद् ऋतु में सूर्य की किरणों से जिनके शरीर सूख गये हैं, जो काममद से मतवाली स्त्रियों के साथ रमण करने से अत्यन्त खिन्न हो गये हैं तथा अत्यन्त मार्ग चलने से जिनके शरीर शिथिल हो गये हैं, उन लोगों के लिए यह सिखरन सेवन करने से तत्काल शरीर की पुष्टि करती है।

सिखरन—शुक्रजनक, बलकारक, रोचक, वात तथा पित्तनाशक, अग्निदीपक, बृंहण, स्निग्ध, मधुर, शीतल, सारक एवं रक्तपित्त, तृषा, दाह और जुकाम को दूर करने वाली होती है॥

अथ शर्करोदकम् (शर्बत)। तस्य साधनं गुणाँश्चाह

जलेन शीतलेनैव घोलिता शुभ्रशर्करा। एलालवङ्गकर्पूरमरिचैश्च समन्विता॥ १४८॥
शर्करोदकनाम्ना तत्प्रसिद्धं विदुषां मुखैः। शर्करोदकमाख्यातं शुक्रलं शिशिरं सरम्॥१४९॥
बल्यं रुच्यं लघु स्वादु वातपित्तप्रणाशनम्। मूर्च्छाच्छर्दितृषादाहज्वरशान्तिकरं परम्॥१५०॥

शर्बत बनाने की विधि—सफेद चीनी को शीतल जल में घोलकर उसमें इलायची, लौंग, कपूर तथा मरिच पीस कर डाल दे, पश्चात् छान कर पीवे, इसी को शर्बत कहते हैं। **गुण**—शर्बत शुक्रजनक शीतल, सारक, बलकारक, रोचक, लघु, स्वादिष्ट, वात तथा पित्तनाशक एवं मूर्च्छा, वमन, प्यास, दाह तथा ज्वर को शान्त करने वाला होता है॥ १४८–१५०॥

अथ प्रपाणकानि (शर्बत)।

तत्राम्रफलप्रपाणकम्। तस्य साधनं गुणांश्चाह

आम्रमामं जले स्विन्नं मर्दितं दृढपाणिना। सिताशीताम्बुसंयुक्तं कर्पूरमरिचान्वितम्॥१५१॥
प्रपाणकमिदं श्रेष्ठं भीमसेनेन निर्मितम्। सद्यो रुचिकरं बल्यं शीघ्रमिन्द्रियतर्पणम्॥१५२॥

आम का पना बनाने की विधि—कच्चा आम जल में उबाल कर हाथ से खूब मसलकर उसका रस निकाल ले और उसमें सफेद चीनी, शीतल जल मात्रानुसार डाल कर पुनः कपूर तथा मरिच का चूर्ण मिला दे। इसी को आम का पना कहते हैं, यह उत्तम होता है। इसे भीमसेन ने सर्वप्रथम बनाया था। यह पीने से तत्काल ही रुचि को बढ़ाने वाला, बलकारक तथा शीघ्र इन्द्रियों को तृप्त करने वाला होता है॥ १५१–१५२॥

अथाम्लिकाफलपानकम्। तस्य साधनं गुणांश्चाह

अम्लिकायाः फलं पक्वं मर्दितं वारिणा दृढम्। शर्करामरिचैर्मिश्रं लवङ्गेन्दुसुवासितम्॥१५३॥
अम्लिकाफलसम्भूतं पानकं वातनाशनम्। पित्तश्लेष्मकरं किञ्चित्सुरुच्यं वह्निबोधनम्॥

इमली का पना—इमली के पके फलों को प्रथम जल में भिगो दे, तत्पश्चात् हाथ से खूब मसल कर छान कर उसमें साफ शक्कर, मरिच, लवङ्ग तथा कपूर का चूर्ण मिला दे। **गुण**—इमली का यह पना वातनाशक एवं किञ्चित् पित्त तथा कफकारक, अत्यन्त रोचक और जठराग्नि को उद्दीप्त करने वाला होता है॥ १५३–१५४॥

अथ निम्बुकफलपानकम्। तस्य साधनं गुणाँश्चाह

भागैकं निम्बुजं तोयं षड्भागं शर्करोदकम्। लवङ्गमरिचैर्मिश्रं पानं पानकमुत्तमम्॥ १५५॥
निम्बूफलभवं पानमत्यम्लं वातनाशनम्। वह्निदीप्तिकरं रुच्यं समस्ताहारपाचकम्॥ १५६॥

निम्बू का पानक—नीम्बू का रस १ भाग, चीनी का शर्बत ६ भाग, इन दोनों को एकत्र कर

उसमें लवङ्ग तथा मरिच मात्रानुसार मिला देने से पीने योग्य उत्तम पानक तैयार होता है। गुण-नींबू का पानक अत्यन्त अम्लरसयुक्त, वातनाशक, अग्नि को प्रदीप्त करनेवाला, रोचक तथा सभी प्रकार के आहार को पचाने वाला होता है॥ १५५-१५६॥

अथ धान्याकपानकम्। तस्य साधनं गुणाँश्चाह

शिलायां साधु सम्पिष्टं धान्याकं वस्त्रगालितम्।
शर्करोदकसंयुक्तं कर्पूरादिसुसंस्कृतम्। नूतने मृन्मये पात्रे स्थितं पित्तहरं परम्॥ १५७॥

धनिये का पानक—धनिये को प्रथम सिल पर भली भांति पीस कर वस्त्र से छान ले, पश्चात् उसमें मात्रानुसार चीनी का शर्बत मिलाकर तथा कपूर आदि सुगन्धित शीतल द्रव्यों से सुगन्धित करके नवीन मिट्टी के पात्र में रख दे। गुण—इच्छानुसार पीने से यह पित्त को अत्यन्त नष्ट करता है॥ १५७॥

अथ काञ्जी। तस्या गुणानाह

काञ्जिकं रोचनं रुच्यं पाचनं वह्निदीपनम्॥ १५८॥
शूलाजीर्णविबन्धघ्नं कोष्ठशुद्धिकरं परम्। न भवेत्काञ्जिकं यत्र तत्र जालिः प्रदीयते॥१५९॥

कांजी के गुण—काञ्जी रोचक तथा स्वयं रुचने वाली, पाचक, अग्निदीपक एवं शूल, अजीर्ण तथा विबन्ध (मलबन्ध) को नष्ट करने वाली एवं कोष्ठ को अत्यन्त शुद्ध रखने वाली होती है।

यदि काञ्जी न मिले तो इसके अभाव में निम्नलिखित जाली का प्रयोग करना चाहिये॥

*** काञ्जीविधिर्वटकावसरे लिखितः॥ १५८-१५९॥**

काञ्जी बनाने की विधि वटक बनाने की विधि में पहले कह आये हैं अतः पुनः उसका उल्लेख नहीं किया गया है॥ १५८-१५९॥

अथ जालिः। तस्याः साधनं गुणांश्चाह

आममाम्रफलं पिष्टं राजिकालवणान्वितम्। भृष्टहिङ्गुयुतं पूतं घोलितं जालिरुच्यते॥१६०॥
जालिर्हरति जिह्वायाः कुण्ठत्वं कण्ठशोधिनी। मन्दं मन्दं तु पीता सा रोचनी वह्निबोधिनी॥

जाली बनाने की विधि—आम के कच्चे फल को पीस कर उसमें मात्रानुसार राई तथा सेंधा नमक मिला कर घोल ले, पश्चात् छान कर उसमें भुने हुए हींग का चूर्ण मिला दे इसी को जाली कहते हैं। गुण—जाली जीभ की जड़ता को दूर करने वाली तथा कण्ठ को शुद्ध करने वाली होती है। यदि यह धीरे-धीरे पिया जाय तो रोचक तथा अग्नि को बढ़ाने वाली होती है॥

अथ तक्रम् (छाछ)। तस्य साधनं गुणांश्चाह

तुर्यांशेन जलेन संयुतमतिस्थूलं सदम्लं दधि, प्रायो माहिषमम्बुकेन विमले मृद्भाजने गालयेत्।
भृष्टहिंगु च जीरकञ्च लवणं राजीञ्च किञ्चिन्मितां, पिष्टा तत्र विमिश्रयेद्भवति तत्तक्रं न कस्य प्रियम्॥
तक्रं रुचिकरं वह्निदीपनं पाचनं परम्। उदरे ये गदास्तेषां नाशनं तृप्तिकारकम्॥ १६२॥

छाछ बनाने की विधि—प्रायः करके अत्यन्त गाढ़ा तथा खट्टा भैंस का दही लेकर उसमें चतुर्थांश जल मिला कर हाथ से मल डाले, तत्पश्चात् वस्त्र में रख कर छान ले और उसमें मात्रानुसार भुनी हुई हींग, भुना हुआ जीरा और सेंधानमक का चूर्ण तथा थोड़ी मात्रा में राई पीस कर मिला देने से छाछ तैयार हो जाता है इसे सभी लोग रुचि से पीते हैं। गुण—छाछ रुचिकारक, अग्निदीपक, अत्यन्त पाचक एवं उदरसम्बन्धी जितने रोग हैं सभी को नष्ट करने वाला तथा तृप्ति देने वाला होता है॥ १६२-१६३॥

अथ दुग्धम् (दूध)। तस्य भोजनान्ते पानगुणानाह

विदाहीन्यन्नपानानि यानि भुङ्क्ते हि मानवः। तद्विदाहप्रशान्त्यर्थं भोजनान्ते पयः पिबेत्॥

भोजन के अन्त में दूध पीने के गुण—यदि मनुष्य भोजन में विदाही (दाहकारक) अन्नपानादि का प्रयोग करे तो उसे उचित है कि उससे उत्पन्न होने वाले दाह की शान्ति के लिये भोजन के अन्त में दुग्धपान अवश्य करे॥ १६४॥

* दुग्धस्यापरे गुणा उक्ता एव दुग्धवर्गे ॥ १६४ ॥

दुग्ध के अन्य जो गुण हैं, वे आगे दुग्धवर्ग में कहे जायगे ॥ १६४ ॥

अथ सक्तवः (सत्तू) । तेषां साधनविधिमाह

धान्यानि भ्राष्ट्रभृष्टानि यन्त्रपिष्टानि सक्तवः ॥ १६५ ॥

सत्तू बनाने की विधि—भाड में भूजे हुए चावल, जौ आदि धान्यों को यदि चक्की में पीस दिया जाय तो वे सत्तू कहलाते हैं ॥ १६५ ॥

१ सत्तू

हि०-सतुआ, सत्तू, सतुई । **बं०**-छातु ॥ १ ॥

तत्र यवसक्तवः । तेषां गुणानाह

यवजाः सक्तवः शीता दीपना लघवः सराः। कफपित्तहरा रूक्षा लेखनाश्च प्रकीर्त्तिताः॥१६६॥
ते पीता बलदा वृष्या बृंहणा भेदनास्तथा। तर्पणा मधुरा रुच्याः परिणामे बलावहाः॥१६७॥
कफपित्तश्रमक्षुत्तृड्व्रणनेत्रामयापहाः। प्रशस्ता घर्मदाहाध्वव्यायामार्त्तशरीरिणाम् ॥ १६८ ॥

जौ के सत्तू के गुण—जौ का सत्तू शीतल, अग्निदीपक, लघु, सारक, कफ तथा पित्त नाशक, रूक्ष तथा लेखन गुण युक्त होता है। यदि सत्तू को जल में घोल कर पीया जाय तो वह बलदायक, वीर्यवर्धक, बृंहण, मल का भेदन करने वाला, तृप्तिकारक, मधुर, स्वयं रुचनेवाला, परिणाम में (पचने पर) बल देने वाला एवं कफ, पित्त, श्रम, भूख, प्यास, व्रण तथा नेत्ररोग को दूर करने वाला होता है। यह धूप, दाह, चलने की थकावट, व्यायाम इनसे पीड़ित लोगों के लिये हितकर है ॥ १६६-१६८ ॥

अथ चणकयवसक्तवः । तेषां साधनं गुणाँश्चाह

निस्तुषैश्चणकैर्भृष्टैस्तुर्यांशैश्च यवैः कृताः। सक्तवः शर्करासर्पिर्युक्ता ग्रीष्मेऽतिपूजिताः ॥१६९॥

यव मिश्रित चने के सत्तू बनाने की विधि—चने को भून कर उसके छिल्के को अलग कर उसमें भुने जौ को चने की अपेक्षा चतुर्थांश मिलाकर पीस कर तैयार करने से जो सत्तू होता है उसे यव मिश्रित चने का सत्तू कहते हैं। गुण-यवमिश्रित चने का सत्तू यदि शक्कर तथा घी मिला कर ग्रीष्म ऋतु में खाया जाय तो अत्युत्तम होता है ॥ १६९ ॥

अथ शालिसक्तवः । तेषां गुणानाह

सक्तवः शालिसम्भूता वह्निदा लघवो हिमाः। मधुरा ग्राहिणो रुच्याः पथ्याश्च बलशुक्रदाः ॥

चावल के सत्तू के गुण—चावल का सत्तू अग्निकारक, लघु, शीतल, मधुर रसयुक्त, ग्राही, स्वयं रुचिकर, पथ्य एवं बल तथा शुक्र को उत्पन्न करने वाला होता है ॥ १७० ॥

अथ सक्तुविषये सामान्यपरिभाषामाह

न भुक्त्वा न रदैश्छित्वा न निशायां न वा बहून्। न जलान्तरितानद्भिः सक्तूनद्यान्न केवलान्॥
पृथक्पानं पुनर्दानं सामिषं पयसा निशि। दन्तच्छेदनमुष्णञ्च सप्त सक्तुषु वर्जयेत् ॥१७२॥

सत्तू के विषय में सामान्य परिभाषायें—भोजन करने के उपरान्त या दाँतों से काट-काट कर, वा रात्रि में अथवा अधिक मात्रा में, किंवा सत्तू खाने के समय में बीच में बार-बार जल पी-पीकर या जल के साथ केवल सत्तू को कभी नहीं खाना चाहिये।

सत्तू के सम्बन्ध में त्याग करने योग्य ७ बातें—१ सत्तू खाने के समय पृथक् जलपान करना, २ एक बार सत्तू जिसने खा लिया पुनः उसी समय दुबारा उसे सत्तू देना, ३ मांस के साथ सत्तू खाना, ४ केवल जल के साथ सत्तू खाना, ५ रात्रि में सत्तू भोजन करना, ६ दांतों से काट काटकर खाना, ७ गरम करके खाना ये ७ बातें सत्तू के विषय में त्याग करने योग्य हैं ॥१७१-१७२ ॥

अथ धानाः (बहुरी) । तासां साधनं गुणाँश्चाह

धानास्तु निस्तुषा भृष्टाः स्मृता धाना इति स्त्रियाम् ।
धानाः स्युर्दुर्जरा रूक्षास्तृट्प्रदा गुरवश्च ताः। तथा मेहकफच्छर्दिनाशिन्यः सम्प्रकीर्त्तिताः ॥

बहुरी बनाने की विधि—जौ कूट कर तथा भूसी अलग कर जो भाड़ में भूना जाता है उसे 'बहुरी' (संस्कृत में 'धाना') कहते हैं। धाना शब्द स्त्रीलिङ्ग में होता है। **गुण**—बहुरी देर में हजम होने वाली, रूक्ष, प्यास लगाने वाली, गुरु एवं प्रमेह, कफ तथा वमन को नष्ट करने वाली होती है॥ १७३॥

अथ लाजाः (खील)। तेषां साधनं गुणाँश्चाह

येषां स्युस्तण्डुलास्तानि धान्यानि सतुषाणि च। भृष्टानि स्फुटितान्याहुर्लाजा इति मनीषिणः॥
लाजाः स्युर्मधुराः शीता लघवो दीपनाश्च ते। स्वल्पमूत्रमला रूक्षा बल्याः पित्तकफच्छिदः॥
छर्द्यतीसारदाहास्रमेहमेदस्तृषाऽपहाः॥ १७५॥

खील बनाने की विधि—जिन धान्यों के चावल होते हैं वे धान्य भूसी (छिल्के) के साथ ही अर्थात् बिना कूटे ही यदि भून दिये जांय तो खिल जाते हैं। उन्हीं को संस्कृत में 'लाजाः' (इसका प्रयोग नित्य पुल्लिङ्ग बहुवचन में ही होता है) और हिन्दी में 'खील' कहते हैं। **गुण**—खील मधुर रसयुक्त, शीतल, लघु, अग्निदीपक, स्वल्प मूत्र तथा मल को लाने वाले, रूक्ष, बलकारक एवं पित्त, कफ, वमन, अतीसार, दाह, रक्तविकार, प्रमेह, मेद तथा तृषा को दूर करने वाले होते हैं॥ १७४-१७५॥

अथ चिपिटाः (चिउडा)। तेषां साधनं नामानि गुणांश्चाह

शालयः सतुषा आर्द्रा भृष्टा अस्फुटितास्ततः। कुट्टिताश्चिपिटाः प्रोक्तास्ते स्मृताः पृथुका अपि॥
पृथुका गुरवो वातनाशनाः श्लेष्मला अपि। सक्षीरा बृंहणा वृष्या बल्या भिन्नमलाश्च ते॥

चिउडा बनाने की विधि—शालि (जडहन) धान्य भूसी के सहित ही भिगो कर गीले ही यदि भून दिये जायँ और खिलने न पावें तो उसे ऊखल में कूट कर पश्चात् भूसी अलग कर देने से वे ही संस्कृत में 'चिपिट', 'पृथुक' और हिन्दी में 'चिउड़ा' कहे जाते हैं। **गुण**—चिउडा गुरु, वातनाशक, कफकारक, क्षारयुक्त, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), वीर्यवर्धक, बलकारक तथा मल का भेदन करने वाले होते हैं॥ १७६-१७७॥

२ चिपिटा

सं०-पृथुक, चिपिटक। हि०-चिउरा, चौला, चिरमुरा, चिरवा॥ २॥

अथ होलकः (होरहा)। तस्य साधनं गुणाँश्चाह

अर्द्धपक्वैः शमीधान्यैस्तृणभृष्टैश्च होलकः। होलकोऽल्पानिलो मेदःकफदोषभयापहः॥
भवेद् यो होलको यस्य स च तत्तद्गुणो भवेत्॥ १७८॥

होरहा बनाने की विधि—अधपके शमी धान्य, चना आदि को तृण की अग्नि में भून देने से होरहा कहलाते हैं। संस्कृत में इसीको 'होलक' कहते हैं। **गुण**-होरहा किञ्चित् वातकारक तथा मेद, कफ और त्रिदोष को नष्ट करने वाला होता है। जिस अन्न का होरहा बनाया जाय उसी अन्न के समान होरहा के अन्य गुण भी होते हैं॥ १७८॥

३ होला

सं०-होलक। हि०-होला, होरहा, ओरहा। बं०-हरा पोडा॥ ३॥

अथ ऊची (ऊम्बी)। तस्याः साधनं गुणाँश्चाह

मञ्जरी त्वर्द्धपक्वा या यवगोधूमयोर्भवेत्। तृणानलेन सम्भृष्टा बुधैरूचीति सा स्मृता॥
ऊची कफप्रदा बल्या लघ्वी पित्तानिलापहा॥ १७९॥

ऊची बनाने की विधि—जव या गेहूँ की अधपकी जो मञ्जरी होती है, वह यदि तृण की अग्नि में भून दी जाय तो उसे संस्कृत में 'ऊची' तथा हिन्दी में 'ऊम्बी' कहते हैं। **गुण**-ऊची कफकारक, बलदायक, लघु एवं पित्त तथा वायु को नष्ट करने वाली होती है॥ १७९॥

ⓢ ऊची = 'उम्बी, उमिया' इति लोके॥ १७९॥
'ऊची' को लोक में 'उम्बी या उमिया' कहते हैं॥ १७९॥

अथ कुल्माषाः (घुघुरी)। तेषां साधनं गुणांश्चाह

अर्धस्विन्नास्तु गोधूमा अन्येऽपि चणकादयः ॥ १८० ॥

कुल्माषा इति कथ्यन्ते शब्दशास्त्रेषु पण्डितैः। कुल्माषा गुरवो रूक्षा वातला भिन्नवर्चसः ॥

घुघुरी बनाने की विधि—गेहूँ और चना आदि जो अन्न हैं वे यदि आधे सीजा कर दिये जायँ तो उसे संस्कृत में 'कुल्माष' तथा हिन्दी में 'घुघुरी' कहते हैं। **गुण**–घुघुरी, गुरु, रूक्ष, वातकारक तथा मल का भेदन करने वाली होती है ॥ १८०-१८१ ॥

४ कुल्माष

हि० घुघुरी, घुघरी, घुघुनी, घुघनी ॥

अथ पललम् (तिलकुट)। तस्य नामानि साधनं गुणांश्चाह

पललन्तु समाख्यातं सैवं तिलपिष्टकम्। पललं मलकृद् वृष्यं वातघ्नं कफपित्तकृत् ॥

बृंहणं च गुरु स्निग्धं मूत्राधिक्यनिवर्त्तकम् ॥ १८२ ॥

तिलकुट बनाने की विधि—तिलों को कूट कर उसमें गुड़ या शक्कर मिलाने से संस्कृत में उसे 'पलल' और हिन्दी में 'तिलकुट' कहते हैं। **गुण**–तिलकुट मलकारक, वीर्यवर्धक, वातनाशक, कफ तथा पित्तकारक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), गुरु, स्निग्ध एवं मूत्र की यदि अधिक प्रवृत्ति होती हो तो उसे रोकने वाला होता है ॥ १८२ ॥

५ तिलकुट

सं०–पलल। हि०–तिलकुट, तिलवा, तिलकुटी ॥ ५ ॥

अथ पिण्याकः (तिलकी खली)। तस्य नामानि गुणांश्चाह

तिलकिट्टन्तु पिण्याकस्तथा तिलखलिः स्मृता। पिण्याको लेखनो रूक्षो विष्टम्भी दृष्टिदूषणः ॥

तिल की खली के संस्कृत नाम—तिलकिट्ट, पिण्याक तथा तिलखलि ये सब हैं। **गुण**–तिल की खली लेखन गुण युक्त, रूक्ष, विष्टम्भकारक एवं दृष्टि को दूषित करने वाली होती है ॥ १८३ ॥

६ तिलखली

हि०–खली, खरी, पीना, पिन्ना। गु०–खोल।

तिल का तेल निकालने के बाद जो छूछ बच जाता है उसको खली कहते हैं ॥ ६ ॥

अथ तण्डुलः (चावल)। तस्य गुणानाह

तण्डुलो मेहजन्तुघ्नः स नवस्त्वतिदुर्जरः ॥ १८४ ॥

चावल के गुण—चावल प्रमेह तथा जन्तुओं का नाशक होता है। परन्तु यदि वही नवीन हो तो अत्यन्त दुर्जर (देर में हजम होने वाला) होता है ॥ १८४ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे
वर्गप्रकरणे द्वादशः कृतान्नवर्गः समाप्तः ॥ १२ ॥



अथ वारिवर्गः

तत्र पानीयस्य नामानि गुणाँश्चाह

**पानीयं सलिलं नीरं कीलालं जलमम्बु च। आपो वार्वारि कं तोयं पयः पाथस्तथोदकम्॥
जीवनं वनमम्भोऽर्णोऽमृतं घनरसोऽपि च॥ १॥
पानीयं श्रमनाशनं क्लमहरं मूर्च्छापिपासापहं, तन्द्राच्छर्दिविबन्धहृद्बलकरं निद्राहरं तर्पणम्॥
हृद्यं गुप्तरसं ह्यजीर्णशमकं नित्यं हितं शीतलं, लध्वच्छं रसकारणं निगदितं पीयूषवज्जीवनम्॥**

जल के संस्कृत नाम—पानीय, सलिल, नीर, कीलाल, जल, अम्बु, आपः (अप् यह नित्य बहुवचनान्त है), वार्, वारि, क, तोय, पयः (पयस्), पाथः (पाथस्), उदक, जीवन, वन, अम्भः (अम्भस्), अर्ण. (अर्णस्), अमृत तथा घनरस ये सब हैं। **गुण**–जल श्रम को दूर करने वाला, क्लान्तिनाशक, मूर्च्छा तथा प्यास को नष्ट करने वाला एवं तन्द्रा, वमन और विबन्ध को हटाने वाला, बलकारक, निद्रा को दूर करने वाला, तृप्तिदायक, हृदय के लिये हितकर, अव्यक्त रस वाला, अजीर्ण का शमन करने वाला, सदा हितकारक, शीतल, लघु, स्वच्छ, सम्पूर्ण मधुरादि रसों का कारण एवं अमृत के समान जीवनदाता शास्त्रों में कहा हुआ है॥ १-२॥

१ जल

हि०-जल, पानी। ते०-नीरु, निल्लु। ब०-जल। द्रा०-तराणीर। म०-पाणी। फा०-आब। क०-मुनिक, नीरु। अ०-मा, माय। अं०-Water (वाटर)। ले०-*Aqua* (अकुआ)॥ १॥

अथ पानीयस्य भेदानाह

**पानीयं मुनिभिः प्रोक्तं दिव्यं भौममिति द्विधा॥ ३॥
दिव्यं चतुर्विधं प्रोक्तं धाराजं करकाभवम्। तौषारञ्च तथा हैमं तेषु धारं गुणाधिकम्॥ ४॥**

जल के भेद—दिव्य तथा भौम इन भेदों से जल दो प्रकार का होता है। इसमें दिव्य जल—१ धाराज, २ करकाभव, ३ तौषार, ४ हैम इन भेदों से ४ प्रकार का होता है। इनमें धाराज जल अन्य की अपेक्षा अधिक गुणकारी होता है॥ ३-४॥

अथ धाराजलस्य लक्षणानि गुणांश्चाह

**धाराभिः पतितं तोयं गृहीतं स्फीतवाससा। शिलायां वा सुधायां वा धौतायां पतितञ्च तत्॥
सौवर्णे राजते ताम्रे स्फाटिके काचनिर्मिते। भाजने मृन्मये वाऽपि स्थापितं धारमुच्यते॥६॥
धारं नीरं त्रिदोषघ्नमनिर्देश्यरसं लघु। सौम्यं रसायनं बल्यं तर्पणं ह्लादि जीवनम्॥ ७॥
पाचनं मतिकृन्मूर्च्छातन्द्रादाहश्रमक्लमान्। तृष्णां हरति तत् पथ्यं विशेषात्प्रावृषि स्मृतम्॥**

धार जल के लक्षण—धारा रूप से आकाश से गिरा हुआ जल यदि धुली हुई स्वच्छ शिला या पृथ्वी पर गिरा हो तो उसे लेकर स्वच्छ मोटे वस्त्र से छान कर सोना, चांदी, तामा, स्फटिक, कांच अथवा मिट्टी इनसे चाहे जिस किसी के बने हुए बर्तन में रखे, इसी को धारसंज्ञक जल कहते हैं। **गुण**—धारजल त्रिदोषनाशक तथा अनिर्देश्य रस वाला है (इसमें कौन सा रस है इसका जिह्वा के द्वारा ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो सकता अतः इसे अनिर्देश्य रस वाला कहते हैं), लघु, सौम्य (सोमगुणयुक्त), रसायन, बलकारक, तृप्तिदायक, आह्लाद उत्पन्न करने वाला, जीवन स्वरूप, पाचक, बुद्धिवर्द्धक एवं मूर्च्छा, तन्द्रा, दाह, श्रम, क्लान्ति, प्यास इन सब का दूर करने वाला तथा वर्षा ऋतु में विशेषतः पथ्य होता है॥ ५-८॥

अथ धाराजलस्य भेदानाह

धाराजलं च द्विविधं गाङ्गसामुद्रभेदतः॥ ९॥

धाराजल के भेद—गाङ्ग तथा सामुद्र इन भेदों से धाराजल दो प्रकार का होता है॥ ९॥

अथ गाङ्गसामुद्रयोर्जलयोर्लक्षणं गुणांश्चाह

आकाशगङ्गासम्बन्धिजलमादाय दिग्गजाः। मेघैरन्तरिता वृष्टिं कुर्वन्तीति वचः सताम् ॥
गाङ्गमाश्वयुजे मासि प्रायो वर्षति वारिदः। सर्वथा तज्जलं ज्ञेयं तथैव चरके वचः ॥ ११ ॥
स्थापिते हेमजे पात्रे राजते मृन्मयेऽपि वा। शाल्यन्नं येन संसिक्तं भवेदक्लेदि वर्णवत् ॥
तद् गाङ्गं सर्वदोषघ्नं ज्ञेयं सामुद्रमन्यथा। तत्तु सक्षारलवणं शुक्रदृष्टिबलापहम् ॥ १२ ॥
विस्रञ्च दोषलं तीक्ष्णं सर्वकर्मसु नो हितम्। सामुद्रं त्वाश्विने मासि गुणैर्गाङ्गवदादिशेत् ॥

गाङ्गजल के लक्षण—दिग्गज लोग आकाशगङ्गा का जल लेकर मेघों के द्वारा छिपे हुए होकर वरसाते हैं। प्रायः करके मेघ आश्विन (क्वार) मास में जो जल वरसाता है उसे सर्वथा (निश्चित रूप से) उक्त गङ्गाजल ही समझना चाहिये। चरक ने भी कहा है—सोना, चाँदी अथवा मिट्टी के वर्त्तन में रखे हुए जिस धारा जल में भिगोया शालि धान्य का चावल क्लिन्न तथा विवर्ण न हो जाय अर्थात् जैसा का तैसा बना रह जाय तो उसे सम्पूर्ण दोषों को नष्ट करने वाला गाङ्गसंज्ञक धाराजल समझना चाहिये।

सामुद्रसंज्ञक धाराजल के लक्षण—यदि उक्त क्रम से भिगोया हुआ चावल अन्यथा अर्थात् क्लिन्न तथा विवर्ण हो जाय (फूल जाने से रङ्ग बदल जाय) तो उसे सामुद्र (धाराजल) समझना चाहिये।

गुण—सामुद्र संज्ञक धाराजल क्षार तथा लवण रसयुक्त, शुक्र तथा दृष्टिशक्ति (या दृष्टिशक्ति और बल) नाशक, विस्र (दुर्गन्धयुक्त), दोषकारक तथा तीक्ष्ण होता है और यह किसी भी कार्य में हितकर नहीं होता। किन्तु यदि यही सामुद्रसंज्ञक धाराजल आश्विन मास का वरसा हुआ संगृहीत हो तो गुणों में गङ्गाजल के तुल्य ही हितकर होता है॥ १०-१४ ॥

अथ शरदि वर्षासु च जलस्य निर्विषत्वे सविषत्वे च हेतुमाह

यतोऽगस्त्यस्य दिव्यर्षेरुदयात्सकलं जलम्। निर्मलं निर्विषं स्वादु शुक्रलं स्याददोषलम् ॥

शरद् ऋतु में जल के निर्विष होने के कारण—शरद् (आश्विन मास) में आकाश में अगस्त्य नामक तारा के उदय होने से सम्पूर्ण जल निर्मल, निर्विष, स्वादिष्ट तथा शुक्रजनक होता है एवं दोषजनक भी नहीं होता ॥ १५ ॥

अत एवाह

फूत्कारविषवातेन नागानां व्योमचारिणाम्। वर्षासु सविषं तोयं दिव्यमप्याश्विनं विना ॥

वर्षा ऋतु में जल के सविष होने का कारण—वर्षा ऋतु में आकाशचारी नागों (दिव्य सर्पों) के फूत्कार (फुफकार) सम्बन्धी विषयुक्त वायु से दूषित हो जाने से दिव्य (आकाशसम्बन्धी) जल विषयुक्त हो जाता है। किन्तु वही (दिव्यजल) आश्विन में नहीं विषयुक्त होता अतः आश्विन का जल सर्वोत्तम ग्राह्य होता है ॥ १६ ॥

अथानार्त्तवजलस्य गुणानाह

अनार्त्तवं प्रमुञ्चन्ति वारि वारिधरास्तु यत्। तत्त्रिदोषाय सर्वेषां देहिनां परिकीर्त्तितम् ॥

अनार्त्तवसंज्ञक धाराजल के गुण—मेघगण जो अनार्त्तव बिना ऋतु के जल बरसाते हैं वह सभी प्राणियों के लिये त्रिदोषकारक होता है ॥ १७ ॥

ॐ अनार्त्तवं पौषादिमासचतुष्टयविषयम् ॥ १७ ॥

यहां 'अनार्त्तव' शब्द से बिना ऋतु के अर्थात् पूस, माघ, फागुन, चैत इन ४ मासों में यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १७ ॥

अथ करकाजलस्य लक्षणं गुणांश्चाह

दिव्यवाय्वग्निसंयोगात्संहताः खात् पतन्ति याः। पाषाणखण्डवच्चापस्ताः कारक्योऽमृतोपमाः॥
करकाजं जलं रूक्षं विशदं गुरु च स्थिरम्। दारुणं शीतलं सान्द्रं पित्तहृत्कफवातकृत् ॥१९॥

करकाजल के लक्षण—आकाशस्थ वायु तथा अग्नि के संयोग से घन होकर जो पत्थर के टुकड़े की भांति जल (ओला) गिरता है वह करका या कारकी अर्थात् करका (ओला) सम्बन्धी

जल कहलाता है तथा वह अमृत के समान स्वादिष्ट होता है। गुण-करका सम्बन्धी जल रूक्ष, विशद, गुरु, स्थिर, शीतल तथा सान्द्र (स्निग्ध) इन गुणों से युक्त, कठिन, पित्तनाशक तथा कफ और वात को उत्पन्न करने वाला होता है ॥ १८-१९ ॥

२ करका जल

हि०-ओला, बनौरी ॥ २ ॥

अथ तौषारजलस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

अपि नद्याः समुद्रान्ते वह्निरापस्तदुद्भवाः। धूमावयवनिर्मुक्तास्तुषाराख्यास्तु ताः स्मृताः ॥

तौषार (तुषारसम्बन्धी) जल के लक्षण—नदी से लेकर समुद्र पर्यन्त के जल में जो अग्नि रहती है, उससे अर्थात् अग्नि से उत्पन्न होने वाले धूम के अंश से रहित जो जल हैं वे तुषार संज्ञक कहलाते हैं ॥ २० ॥

*** अपि नद्याः समुद्रान्ते वह्निः=नदीमारभ्य समुद्रपर्यन्ते वह्निरास्ते। तदुद्भवाः-वह्निभवाः, धूमावयवनिर्मुक्ताः=धूमांशरहिताः, आपः=तुषाराख्याः। 'तुषु' इति लोके 'तुषार' इति च ॥ २० ॥**

यहां 'अपि नद्याः समुद्रान्ते वह्निः' इन पदों का 'नदी से लेकर समुद्र पर्यन्त के जल में जो अग्नि रहती है', 'तदुद्भवाः' पद का 'उससे अर्थात् अग्नि से उत्पन्न होने वाले' और 'धूमावयवनिर्मुक्ताः' पद का 'धूम के अंश से रहित' यह अर्थ समझना चाहिए। लोक में 'तुष' तथा 'तुषार' ये दो नाम तुषार के प्रसिद्ध हैं ॥ २० ॥

३ तौषार जल

हि०-ओस, पाला, सीत, कुहरा, कुहासा। फा०-शबनम ॥ ३ ॥

अपथ्याः प्राणिनां प्रायो भूरुहाणान्तु ता हिताः।
तुषाराम्बु हिमं रूक्षं स्याद्वातलमपित्तलम्। कफोरुस्तम्भकण्ठाग्निमेहगण्डादिरोगनुत् ॥ २१ ॥

तुषारसम्बन्धी जल प्राणिमात्र के लिए अपथ्य है किन्तु वृक्षों के लिये हितकर होता है। गुण—तुषारसम्बन्धी जल शीतल, रूक्ष, वायुजनक, किञ्चित् पित्तकारक एवं कफ, ऊरुस्तम्भ, कण्ठ तथा अग्निसम्बन्धी रोग, प्रमेह तथा गलगण्डादि रोग को दूर करने वाला होता है ॥ २१ ॥

अथ हैमजलस्य लक्षणं गुणांश्चाह

हिमवच्छिखरादिभ्यो द्रवीभूयाभिवर्षति।
यत्तदेव हिमं हैमं जलमाहुर्मनीषिणः। हिमाम्बु शीतं पित्तघ्नं गुरु वातविवर्द्धनम् ॥ २२ ॥

हैम (हिमसम्बन्धी) जल के लक्षण—हिमालय के शिखर आदि स्थानों से द्रवीभूत होकर (पिघल कर) जो हिम (बर्फ) बरसता है अर्थात् आकाश से वायु द्वारा उड़ उड़ कर इधर-उधर गिरता है उसी को हिम और 'हैमजल' कहते हैं। गुण-हिमसम्बन्धी जल शीतल, पित्तनाशक, गुरु एवं वायु को बढ़ाने वाला होता है ॥ २२ ॥

*** हैमं जलम्=कुहेसाजलम् ॥ २२ ॥**

यहाँ 'हैमजल' से लोकप्रसिद्ध 'कुहेसा का जल' यह समझना चाहिये ॥ २२ ॥

अन्ये तु—

और्वानलधूमेरितमम्बु समुद्रस्य यद्घनोद्भूतम्। पवनानीतमुदीच्यां तद्धिममिति कथ्यते सद्भिः ॥

अन्य आचार्य यह कहते हैं कि—वडवानल के धूयें से प्रेरित होकर जो समुद्र का जल वायु द्वारा उत्तर दिशा में पहुँचाये जाने पर घनभाव को प्राप्त हो जाता है उसे विद्वान् लोग हिम कहते हैं ॥ २३ ॥

*** हिमं='कुहेसा' इति लोके ॥ २३ ॥**

यहाँ 'हिम' पद का लोकप्रसिद्ध 'कुहेसा' अर्थ समझना चाहिये ॥ २३ ॥

हिमन्तु शीतलं रूक्षं दारुणं सूक्ष्ममित्यपि। न तद् दूषयते वातं न च पित्तं न वा कफम् ॥

गुण—हिम शीतल, रूक्ष, दारुण (कठिन) तथा सूक्ष्म भी होता है। यह पित्त, वात और कफ किसी को भी दूषित नहीं करता है ॥ २४ ॥

अथ भौमजलस्य भेदानाह

भौममम्भो निगदितं प्रथमं त्रिविधं बुधैः । जाङ्गलं परमानूपं ततः साधारणं क्रमात् ॥ २५ ॥

भौम (भूमि-सम्बन्धी) जल के भेद—विद्वानों ने भौम जल को प्रथम जाङ्गल, आनूप और साधारण इन भेदों से तीन प्रकार का माना है। इनके लक्षण तथा गुण क्रम से आगे कहते हैं ॥

अथ भौमभेदस्य जाङ्गलादिजलत्रयस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

अल्पोदकोऽल्पवृक्षश्च पित्तरक्तामयान्वितः । ज्ञातव्यो जाङ्गलो देशस्तत्रस्थं जाङ्गलं जलम् ॥
बह्वम्बुर्बहुवृक्षश्च वातश्लेष्मामयान्वितः । देशोऽनूप इति ख्यात आनूपं तद्भवं जलम् ॥२७॥
मिश्रचिह्नस्तु यो देशः स हि साधारणः स्मृतः । तस्मिन्देशे यदुदकं तत्तु साधारणं स्मृतम् ॥
जाङ्गलं सलिलं रूक्षं लवणं लघु पित्तनुत् । वह्निकृत्कफहृत्पथ्यं विकारान्हरते बहून् ॥ २९ ॥
आनूपं वार्यभिष्यन्दि स्वादु स्निग्धं घनं गुरु । वह्निहृत्कफकृद्धृद्यं विकारान्कुरुते बहून् ॥
साधारणं तु मधुरं दीपनं शीतलं लघु । तर्पणं रोचनं तृष्णादाहदोषत्रयप्रणुत् ॥ ३१ ॥

जाङ्गल जल के लक्षण—जहां थोडे जल तथा थोड़े वृक्ष होते हों और पित्त तथा रक्त सम्बन्धी विकार अथवा रक्तपित्त रोग (पाठान्तर वातसम्बन्धी रोग) अधिक उत्पन्न होते हों उसे जाङ्गल देश तथा वहां के जल को जाङ्गल जल समझना चाहिये। **आनूप जल के लक्षण**—जहां अधिक रूप से जल तथा वृक्ष होते हों और वात तथा कफ सम्बन्धी रोग भी अधिक रूप से होते हों उसे अनूप देश तथा वहां के जल को आनूप जल समझना चाहिये। **साधारण जल के लक्षण**—जहाँ जाङ्गल तथा अनूप दोनों देशों के चिह्न मिले हुये मिलते हों उसे साधारण देश तथा वहाँ के जल को साधारण जल समझना चाहिये। **गुण**—जाङ्गल जल रूक्ष, लवणरसयुक्त, लघु, पित्तनाशक, अग्निवर्धक, कफनाशक, पथ्य एवं अनेक प्रकार के विकारों को नष्ट करने वाला होता है। **आनूप जल**—अभिष्यन्दी, स्वादिष्ट, स्निग्ध, घन, गुरु, अग्नि को नष्ट करने वाला (मन्दाग्निकारक), कफकारक, हृदय के लिये हितकर एवं बहुत से रोगों को उत्पन्न करने वाला होता है। **साधारण जल**—मधुररसयुक्त, अग्निदीपक, शीतल, लघु, तृप्तिकारक, रोचक एवं प्यास, दाह तथा त्रिदोष को दूर करने वाला होता है ॥ २६–३१ ॥

अथ भौमानामेव नादेयादीनां लक्षणानि गुणाश्च ।

तत्र नादेयस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

नद्या नदस्य वा नीरं नादेयमिति कीर्तितम् ॥ ३२ ॥
नादेयमुदकं रूक्षं वातलं लघु दीपनम् । अनभिष्यन्दि विशदं कटुकं कफपित्तनुत् ॥ ३३ ॥

नादेय के लक्षण—नदी या नद के जल को 'नादेय' कहते हैं। **गुण**—नादेय जल रूक्ष, वातजनक, लघु, अग्निदीपक, ईषत् अभिष्यन्दी, विशद गुणयुक्त, कटु रसयुक्त एवं कफ तथा पित्त को दूर करने वाला होता है ॥ ३२–३३ ॥

अथ शीघ्रवहत्वादिभेदेन च नादेयजलानां गुणभेदानाह

नद्यः शीघ्रवहा लघ्व्यः सर्वा याश्चामलोदकाः । गुर्व्यः शैवलसंछन्ना मन्दगाः कलुषाश्च याः ॥
हिमवत्प्रभवाः पथ्या नद्योऽश्माहतपाथसः । गङ्गाशतद्रुसरयूयमुनाऽऽद्या गुणोत्तमाः ॥३५॥
सह्यशैलभवा नद्यो ।वेणागोदावरीमुखाः । कुर्वन्ति प्रायशः कुष्ठमीषद्वातकफावहाः ॥३६ ॥

नदीजल के गुणभेद—शीघ्रगति से बहने वाली नदी का जल लघु तथा स्वच्छ होता है। मन्द गति से बहने वाली या सेवार से ढके हुए जल वाली किंवा मलिन जल वाली नदियों का जल गुरु होता है। हिमालय से निकल कर बहने वाली या पत्थरों से टक्कर खाने वाले जल वाली, गङ्गा, शतद्रु (सतलज), सरयू तथा यमुना आदि नदियों का जल पथ्य एवं गुणों में उत्तम होता है। सह्यपर्वत से निकल कर बहने वाली वेणा, गोदावरी आदि नदियों का जल प्रायः कुष्ठ रोग उत्पन्न करने वाला एवं किञ्चित् वात तथा कफकारक होता है ॥ ३४–३६ ॥

परिभाषा

नदीसरस्तडागस्थे कूपप्रस्रवणादिजे । उदके देशभेदेन गुणान्दोषांश्च लक्षयेत् ॥ ३७ ॥

परिभाषा—नदी, सरोवर, तालाब, कूआ तथा झरना आदि जैसे जाङ्गल आदि देशों में हों उनके अनुसार इनके जलों के गुण तथा दोष समझने चाहिये ॥ ३७ ॥

अथौद्भिदजलस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

विदार्य भूमिं निम्नां यन्महत्या धारया स्रवेत्। तत्तोयमौद्भिदं नाम वदन्तीति महर्षयः॥३८॥
औद्भिदं वारि पित्तघ्नमविदाह्यतिशीतलम्। प्रीणनं मधुरं बल्यमीषद्वातकरं लघु ॥ ३९ ॥

औद्भिद जल के लक्षण—नीची जमीन को फोड़कर जो बडी धारा से निकल कर वहे उस जल को महर्षि लोग औद्भिदसंज्ञक कहते हैं। **गुण**–औद्भिद जल पित्तनाशक, अविदाही, अतिशीतल, तृप्तिकारक, मधुररसयुक्त, बलकारक एवं किञ्चित् वातकारक तथा लघु होता है ॥ ३८–३९ ॥

अथ नैर्झरजलस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

शैलसानुस्रवद्वारिप्रवाहो निर्झरो झरः। स तु प्रस्रवणश्चापि तत्रत्यं नैर्झरं जलम् ॥ ४० ॥
नैर्झरं रुचिकृन्नीरं कफघ्नं दीपनं लघु। मधुरं कटुपाकं च वातलं स्यादपित्तलम् ॥ ४१ ॥

नैर्झर जल के लक्षण—पर्वत के शिखर से गिरते हुये जल के प्रवाह को संस्कृत में निर्झर, झर तथा प्रस्रवण और हिन्दी में झरना कहते हैं एवं उसी के जल को नैर्झर जल (झरने का जल) कहते हैं। **गुण**–नैर्झर जल रुचिकारक, कफनाशक, अग्निदीपक, लघु, मधुर रसयुक्त, विपाक में कटुरसयुक्त, वातकारक तथा ईषत् पित्तकारक (पाठान्तर में पित्तकारक) होता है ॥ ४०–४१ ॥

अथ सारसजलस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

नद्याः शैलादिरुद्धाया यत्र संस्रुत्य तिष्ठति। तत्सरो जलजच्छन्नं तदम्भः सारसं स्मृतम्॥४२॥
सारसं सलिलं बल्यं तृष्णाघ्नं मधुरं लघु। रोचनं तुवरं रूक्षं बद्धमूत्रमलं स्मृतम् ॥ ४३ ॥

सारस जल के लक्षण—नदी का जल जहाँ पर्वत आदि से रोके जाने पर झर झर के संचित होता जाता है और कमल के पत्तों से जहाँ ढका रहता है उस संचित जलयुक्त प्रदेश को सर कहते हैं तथा उसके जल को सारस जल कहते हैं। **गुण**–सारस जल बलकारक, प्यास को शान्त करने वाला, मधुर तथा कषाय रस युक्त, लघु, रोचक, रूक्ष, मूत्र तथा मल का विबन्ध करने वाला होता है ॥ ४२–४३ ॥

अथ ताडागजलस्य लक्षणं गुणांश्चाह

प्रशस्तभूमिभागस्थो बहुसंवत्सरोषितः। जलाशयस्तडागः स्यात्ताडागं तज्जलं स्मृतम् ॥४४॥
ताडागमुदकं स्वादु कषायं कटुपाकि च। वातलं बद्धविण्मूत्रमसृक्पित्तकफापहम् ॥ ४५ ॥

ताडाग जल के लक्षण—प्रशस्त (उत्तम) भूमि का जो भाग है उस पर स्थित अनेक वर्षों का पुराना जो जलाशय है उसे 'तडाग' कहते हैं और तत्सम्बन्धी जल को 'ताडाग जल' कहते हैं। **गुण**—ताडाग जल (तालाब का जल) स्वादिष्ट, कषाय रसयुक्त, विपाक में कटुरसयुक्त, वातजनक, मल-मूत्र का विबन्ध करने वाला एवं रक्तपित्त तथा कफ को दूर करने वाला होता है॥

अथ वाप्यजलस्य लक्षणं क्षारमिष्टयोस्तयोर्गुणांश्चाह

पाषाणैरिष्टकाभिर्वा बद्धः कूपो बृहत्तरः। ससोपानो भवेद्वापी तज्जलं वाप्यमुच्यते ॥ ४६ ॥
वाप्यं वारि यदि क्षारं पित्तकृत्कफवातहृत्। तदेव मिष्टं कफकृद्वातपित्तहरं भवेत् ॥ ४७ ॥

वाप्य जल के लक्षण—जो कूआ पत्थर तथा ईंटों से बंधा हुआ हो तथा बहुत बड़ा हो और जिसमें उतरने के लिए सीढ़ियाँ भी बनी हों उसे वापी (बावड़ी) और उसके जल को 'वाप्य जल' कहते हैं। **गुण**—वाप्य जल (बावडी का जल) यदि खारा हो तो पित्तकारक एवं कफ तथा वात को दूर करने वाला होता है और यदि वही (जल) मीठा हो तो कफकारक एवं वात तथा पित्त नाशक होता ॥ ४६–४७ ॥

अथ कौपजलस्य लक्षणं स्वादुक्षारयोस्तयोर्गुणांश्चाह

भूमौ खातोऽल्पविस्तारो गम्भीरो मण्डलाकृतिः। बद्धोऽबद्धः स कूपः स्यात्तदम्भः कौपमुच्यते॥
कौपं पयो यदि स्वादु त्रिदोषघ्नं हितं लघु। तत्क्षारं कफवातघ्नं दीपनं पित्तकृत्परम् ॥४९॥

कौप जल के लक्षण—जो गड्ढा थोडे विस्तार का अर्थात् कम चौड़ा मण्डलाकार (गोलाकार मुँह वाला) गहरा होता है एवं वह चाहे ईंटे आदि से बँधा हो या न हो तो उसे कूप (कूआँ) कहते हैं और उसी के जल को 'कौप जल' कहते हैं। **गुण**—कौपजल (कूयें का जल) यदि स्वादिष्ट हो तो त्रिदोषनाशक, हितकारी तथा लघु होता है और यदि खारा हो तो कफ तथा वातनाशक, अग्निदीपक और अत्यन्त पित्तकारक होता है ॥ ४८–४९ ॥

अथ चौञ्ज्यजलस्य लक्षणं गुणांश्चाह

शिलाकीर्णं स्वयं श्वभ्रं नीलाञ्जनसमोदकम् । लतावितानसंछन्नं चौञ्ज्यमित्यभिधीयते ॥ अश्मादिभिरबद्धं यत्तच्चौञ्ज्यमिति वा परे । यत्रत्यमुदकं चौञ्ज्यं मुनिभिस्तदुदाहृतम् ॥ चौञ्ज्य वह्निकरं नीरं रूक्षं कफहरं लघु । मधुरं पित्तनुद्रुच्यं पाचनं विशदं स्मृतम् ॥ ५२ ॥

चौञ्ज्य जल के लक्षण–जो गड्ढा अपने आप हो गया हो और जिसमें पत्थर के टुकड़े हों एवं जल नीले अञ्जन के समान हो तथा लताओं के विस्तार से ढका हो तो उसे संस्कृत में 'चौञ्ज्य' (चोंडा) कहते हैं। अन्य आचार्यों का मत है कि जो गड्ढा पत्थर आदि से न बाँधा हुआ हो उसे चौञ्ज्य कहते हैं और उसके जल को 'चौञ्ज्य जल' कहते हैं। **गुण**–चौञ्ज्यजल, अग्निकारक, रूक्ष, कफनाशक, लघु, मधुररसयुक्त, पित्तनाशक, रोचक, पाचक तथा विशद गुण युक्त होता है॥

अथ पाल्वलजलस्य लक्षणं गुणांश्चाह

अल्पं सरः पल्वलं स्याद्यत्र चन्द्रर्क्षगे रवौ ॥ ५३ ॥
न तिष्ठति जलं किञ्चित्तत्रत्यं वारि पाल्वलम् । पाल्वलं वार्यभिष्यन्दि गुरु स्वादु त्रिदोषकृत्॥

पल्वल जल के लक्षण—सूर्य जब चन्द्रमा के नक्षत्र पर हो तब जिसमें कुछ भी जल न रहता हो ऐसे छोटे छोटे तलैये को पल्वल कहते हैं और इसके जल को पाल्वल जल कहते हैं। **गुण**–पाल्वल जल अभिष्यन्दी, गुरु, स्वादिष्ट तथा त्रिदोषकारक होता है ॥ ५३–५४ ॥

छरवौ = सूर्ये, चन्द्रर्क्षगे = कर्कटराशिस्थे, श्रावणे मासीति यावत् । अत्र चन्द्रर्क्षे मृगशिरस्तत्रग इति मुख्यार्थः ॥ ५३–५४ ॥

यहाँ 'रवि' से सूर्य तथा 'चन्दर्क्षग' से 'चन्द्र की राशि कर्क में स्थित अर्थात् श्रावण मास में' यह अर्थ समझना चाहिये, किन्तु वस्तुतः यह अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि श्रावण वर्षा ऋतु में सर्वत्र वर्षा का जल रहता ही है। अतः उक्त पद का चन्द्र नक्षत्र मृगशिरा पर स्थित अर्थात् वृष राशि पर स्थित अर्थ समझना चाहिये। जो ज्येष्ठ मास में पडता है उस समय जिसमें जल न ठहरता हो यह अर्थ युक्तियुक्त है ॥ ५३–५४ ॥

अथ विकिरजलस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

नद्यादिनिकटे भूमिर्या भवेद्वालुकामयी । उद्धाव्यते ततो यत्तु तज्जलं विकिरं विदुः ॥ ५५ ॥ विकिरं शीतलं स्वच्छं निर्दोषं लघु च स्मृतम् । तुवरं स्वादु पित्तघ्नं क्षारं तत्पित्तलं मनाक्॥

विकिर जल के लक्षण—नदी आदि के निकट जो वालुकामय भूमि हो वहाँ पर जो जल खन कर निकाला जाता है उसे विकिर जल कहते हैं। **गुण**—विकिर जल शीतल, स्वच्छ, निर्दोष, लघु, कषाय तथा मधुर रसयुक्त एवं पित्तनाशक होता है। यदि वही जल खारा हो तो किञ्चित् पित्तकारक होता है ॥ ५५–५६ ॥

अथ कैदारजलस्य लक्षणं गुणांश्चाह

केदारः क्षेत्रमुद्दिष्टं कैदारं तज्जलं स्मृतम् । कैदारं वार्यभिष्यन्दि मधुरं गुरु दोषकृत् ॥ ५७ ॥

कैदार जल के लक्षण—केदार शब्द क्षेत्र (खेत) का पर्यायवाची है, अतः इसके जल को कैदार जल कहते है। **गुण**—कैदार जल अभिष्यन्दी, मधुर रसयुक्त, गुरु तथा वातादिदोषकारक होता है ॥ ५७ ॥

अथ वृष्टिजलस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

वार्षिकं तदहर्वृष्टं भूमिस्थमहितं जलम् । त्रिरात्रमुषितं तत्तु प्रसन्नममृतोपमम् ॥ ५८ ॥

वर्षा के जल के लक्षण—तत्काल वर्षा होकर जो जल पृथ्वी पर जमा रहता है उसे वार्षिक

जल (वर्षा का जल) कहते हैं, यह अहितकारक होता है। किन्तु यही २ रात्रि के बाद मिट्टी बैठ जाने से यदि स्वच्छ हो तो अमृत के समान गुणकारी होता है ॥ ५८ ॥

अथ हेमन्तादिकालविशेषे विहितं जलविशेषमाह

हेमन्ते सारसं तोयं तडागं वा हितं स्मृतम्। हेमन्ते विहितं तोयं शिशिरेऽपि प्रशस्यते ॥
वसन्तग्रीष्मयोः कौपं वाप्यं वा नैर्झरं जलम्। नादेयं वारि नादेयं वसन्तग्रीष्मयोर्बुधैः ॥
विषवद्वनवृक्षाणां पत्राद्यैर्दूषितं यतः। औद्भिदं वाऽऽन्तरिक्षं वा कौपं वा प्रावृषि स्मृतम् ॥
शस्तं शरदि नादेयं नीरमंशूदकं परम् ॥ ६१ ॥

हेमन्तादि जल—हेमन्त (अगहन-पूस) ऋतु में सरोवर या तालाब का जल विशेष हितकर होता है और जो जल हेमन्त में हितकर कहा है वही (सरोवर या तालाब का जल) शिशिर (माघ-फाल्गुन) में भी उत्तम होता है। वसन्त (चैत-वैशाख) तथा ग्रीष्म (जेठ-अषाढ़) ऋतु में कूआ, बावडी या झरना का जल उत्तम होता है। वसन्त तथा ग्रीष्म ऋतु में नदी का जल पीने के लिए बुद्धिमान् व्यक्ति को कभी नहीं लेना चाहिये, क्योंकि उस समय वह (नदी का जल) जगली वृक्षों के पत्तों के पडने से दूषित होकर विषैला हो जाता है। औद्भिद, आकाश से उत्तम भूमि पर गिरा हुआ या कूयें का जल वर्षा ऋतु में उत्तम होता है। शरद (कार-कार्तिक) ऋतु में नदी का अथवा अंशूदक संज्ञक जल अति हितकर होता है ॥ ५९-६१ ॥

अथांशूदकजलस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

दिवा रविकरैर्जुष्टं निशि शीतकरांशुभिः। ज्ञेयमंशूदकं नाम स्निग्धं दोषत्रयापहम् ॥ ६२ ॥
अनभिष्यन्दि निर्दोषमान्तरिक्षजलोपमम्। बल्यं रसायनं मेध्यं शीतं लघु सुधासमम् ॥

अंशूदक जल के लक्षण—जिस जल के ऊपर दिन में सूर्य की किरणें और रात में चन्द्रमा की किरणें पडी हों उसे 'अंशूदक' कहते हैं। गुण—अंशूदक स्निग्ध गुणयुक्त, त्रिदोषनाशक, अनभिष्यन्दी (अभिष्यन्दी नहीं), निर्दोष, आन्तरिक्ष जल के समान, बलकारक, रसायन, मेधा के लिए हितकर, शीतल, लघु तथा अमृत के समान होता है ॥ ६२-६३ ॥

ॐ रविकरैर्जुष्टमित्युक्ते दिवापदं समस्तदिवसप्राप्त्यर्थं, शीतकरांशुभिर्जुष्टमित्युक्ते निशीतिपदं समस्तरात्रिप्राप्त्यर्थम् ॥ ६२-६३ ॥

यहाँ 'रविकरैर्जुष्टम्' ऐसा कहने पर पुनः 'दिवा' पद का उल्लेख करने से 'सारा दिन सूर्य की किरणें पडी हों' तथा 'शीतकरांशुभिर्जुष्टम्' ऐसा कहने पर पुनः 'निशा' पद का उल्लेख करने से 'सारी रात चन्द्रमा की किरणें पडी हों' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ ६२-६३ ॥

अन्यच्च

शरदि स्वच्छमुदयादगस्त्यस्याखिलं हितम् ॥ ६४ ॥

शरद ऋतु में अगस्त्य तारा के उदय होने से सभी प्रकार के जल स्वच्छ हो जाते हैं अतः वे सभी हितकारी होते हैं ॥ ६४ ॥

वृद्धसुश्रुतस्तु

पौषे वारि सरोजातं माघे तत्तु तडागजम्। फाल्गुने कूपसम्भूतं चैत्रे चौण्ड्यं हितं मतम् ॥ ६५ ॥
वैशाखे नैर्झरं नीरं ज्येष्ठे शस्तं तथौद्भिदम्। आषाढे शस्यते कौपं श्रावणे दिव्यमेव च ॥ ६६ ॥
भाद्रे कौपं पयः शस्तमाश्विने चौण्ड्यमेव च। कार्त्तिके मार्गशीर्षे च जलमात्रं प्रशस्यते ॥ ६७ ॥

सुश्रुतानुसार मासभेद से जल के गुण—पूस मास में सरोवर का जल, माघ मास में तालाब का जल, फागुन मास में कूएँ का जल, चैत मास में चौण्ड्य (चोंडे का) जल, वैशाख मास में झरने का जल, जेठ मास में औद्भिद जल, आषाढ मास में कूएँ का जल, श्रावण मास में आकाश (वर्षा) का जल, भादों मास में कूएँ का जल, कार मास में चौण्ड्य (चोंड़े का) जल, कार्त्तिक तथा अगहन मास में सम्पूर्ण जल प्रशस्त होता है ॥ ६५-६७ ॥

अथ जलग्रहणस्य समयमाह

भौमानामम्भसां प्रायो ग्रहणं प्रातरिष्यते। शीतत्वं निर्मलत्वञ्च यतस्तेषां मतो गुणः ॥ ६८ ॥

जल ग्रहण करने का समय—सभी प्रकार के भौम (भूमिसम्बन्धी) जलों के ग्रहण करने का समय प्रायः करके प्रातःकाल उत्तम होता है क्योंकि उस समय वे निर्मल तथा शीतल रहते हैं। अत एव और समयों की अपेक्षा अधिक गुणकारी होते हैं॥ ६८॥

अथ जलस्य पानविधिमाह

अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नं निरम्बुपानाच्च स एव दोषः।
तस्मान्नरो वह्निविवर्द्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि॥ ६९॥

जल पीने की विधि—भोजन के समय अधिक जल पीने से अन्न नहीं पचता और एकदम कुछ भी जल न पीने से भी उक्त दोष होता है। अत एव भोजन के समय में अग्नि को बढ़ाने के लिये थोडा-थोडा करके वारम्वार जल पीना चाहिए॥ ६९॥

अथ शीतलजलपानस्य विषयानाह

मूर्च्छापित्तोष्णदाहेषु विषे रक्ते मदात्यये। श्रमे भ्रमे विदग्धेऽन्ने तमके वमथौ तथा।
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च शीतमम्भः प्रशस्यते॥ ७०॥

शीतल जलपान के गुण—मूर्च्छा, पित्त सम्बन्धी रोग, गरमी, दाह, विष, रक्तविकार, मदात्यय, श्रम, भ्रमरोग, तमक श्वास, वमन, ऊर्ध्वगामी रक्तपित्त, इन सब रोगवालों के लिये तथा जिनका अन्न न पचा हुआ हो ऐसे लोगों के लिये शीतल जल पीना हितकर होता है॥ ७०॥

अथ शीतलजलपानस्य निषेधविषयानाह

पार्श्वशूले प्रतिश्याये वातरोगे गलग्रहे। आध्माने स्तिमिते कोष्ठे सद्यःशुद्धौ नवज्वरे॥७१॥
अरुचिग्रहणीगुल्मश्वासकासेषु विद्रधौ। हिक्कायां स्नेहपाने च शीताम्बु परिवर्जयेत्॥७२॥

शीतल जलपान का निषेध-पार्श्वशूल (पसली का दर्द), जुकाम, वातरोग, गलग्रह, अफारा, बद्धकोष्ठ तथा वमन विरेचनादि द्वारा शोधन कर्म करने के बाद तत्काल में एवं नवीन ज्वर, अरुचि, ग्रहणी, गुल्म, श्वास, खाँसी, विद्रधि, हिचकी तथा स्नेहपान (तैल आदि पीने पर) शीतल जल पीना त्याग कर देना चाहिये॥ ७१-७२॥

अथाल्पजलपानस्य विषयानाह

अरोचके प्रतिश्याये मन्देऽग्नौ श्वयथौ क्षये। मुखप्रसेके जठरे कुष्ठे नेत्रामये ज्वरे।
व्रणे च मधुमेहे च पिबेत्पानीयमल्पकम्॥ ७३॥

थोडा जल पीने का निर्देश—अरुचि, जुकाम, मन्दाग्नि, शोथ, क्षय, मुखप्रसेक (मुख में जल भर आना), उदररोग, कुष्ठ, नेत्रविकार, ज्वर, व्रण और मधुमेह इन रोगों में रोगी को थोडा जल पीना चाहिए॥ ७३॥

अथ जलपानस्यावश्यकतामाह

जीवनं जीविनां जीवो जगत् सर्वन्तु तन्मयम्। नातोऽत्यन्तनिषेधेन कदाचिद्वारि वार्य्यते॥

जलपान की आवश्यकता—जीवन (जल) प्राणियों का जीवन स्वरूप है और सम्पूर्ण जगत् जलमय है। अतः जल पीने का निषेध कभी नहीं करना चाहिये किन्तु अति स्वल्पमात्र में देना ही चाहिए॥ ७४॥

हारीतश्च

तृष्णा गरीयसी घोरा सद्यःप्राणविनाशिनी। तस्माद् देयं तृषाऽऽर्त्ताय पानीयं प्राणधारणम्॥
तृषितो मोहमायाति मोहात्प्राणान्विमुञ्चति। अतः सर्वास्ववस्थासु न क्वचिद्वारि वारयेत्॥

जलपान के विषय में 'हारीत' का वचन—अत्यन्त प्यास बड़ी भयंकर होती है क्योंकि उससे सद्यः प्राण निकल जाते हैं। इसलिये जो अत्यन्त प्यास से पीड़ित हो उसे प्राण धारण करने का प्रधान साधन जल अवश्य पीने के लिये देना चाहिये। जो प्यासा होता है उसे अन्त में मूर्च्छा हो जाती है और मूर्च्छा होने से अन्त में वह प्राणों को छोड देना है, अतः सभी अवस्थाओं में कभी भी जल पीने का निषेध नहीं करना चाहिये॥ ७५-७६॥

अथ गुणवतस्तोयस्य लक्षणान्याह

अगन्धमव्यक्तरसं सुशीतं तर्षनाशनम् । स्वच्छं लघु च हृद्यञ्च तोयं गुणवदुच्यते ॥ ७७ ॥

गुणकारी जल के लक्षण—जो जल गन्धरहित हो तथा जिसका रस पूर्णरूप से न मालूम पड़ता हो एवं जो अतिशीतल, पीने से शीघ्र प्यास को शान्त करने वाला, स्वच्छ, लघु तथा हृदय के लिये हितकर या हृदय को प्रिय हो तो उसे प्रशस्त गुणवाला उत्तम जल समझना चाहिये ॥

अथावगुणकारिजलस्य लक्षणानि दुर्गुणांश्चाह

पिच्छिलं कृमिलं क्लिन्नं पर्णशैवालकर्दमैः । विवर्णं विरसं सान्द्रं दुर्गन्धं न हितं जलम् ॥
कलुषं छन्नमम्भोजपर्णनीलीतृणादिभिः । दुःस्पर्शनमसंस्पृष्टं सौरचान्द्रमरीचिभिः ॥ ७९ ॥
अनार्त्तवं वार्षिकं तु प्रथमं तच्च भूमिगम् । व्यापन्नं परिहर्त्तव्यं सर्वदोषप्रकोपणम् ॥ ८० ॥

तत्कुर्यात्स्नानपानाभ्यां तृष्णाऽऽध्मानचिरज्वरान् ।
कासाग्निमान्द्याभिष्यन्दकण्डूगण्डादिकं तथा ॥ ८१ ॥

अवगुण करने वाले जल के लक्षण—जो जल पिच्छिल, कृमियुक्त, पत्ते, सेवार तथा कीचड़ से खराब हो गया हो एवं विकृत वर्ण का विरस, गाढ़ा तथा दुर्गन्ध युक्त हो गया हो तो वह हितकारी नहीं होता और जो जल गदला, कमल के पत्ते, सेवार तथा तृण आदि से ढका हुआ, एवं जिसके स्पर्श से खुजली होने लगे और जिस पर सूर्य तथा चन्द्रमा की किरणें कभी न पड़ती हों और जो अनार्त्तव (पूस, माघ, फागुन, चैत इन ४ मासों में वर्षा का) और प्रथम वर्षा का भूमि पर स्थित जल हो तथा दूषित हो ऐसा जल सर्वथा त्याग करने योग्य होता है क्योंकि वह सब दोषों को प्रकुपित करने वाला होता है। ऐसे जल को जो कोई पीने तथा नहाने के कार्य में लेता है उसे तृषा, अफारा, जीर्णज्वर, खाँसी, अग्नि की मन्दता, अभिष्यन्द, खुजली तथा गलगण्ड आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ७८-८१ ॥

अथ दूषितजलस्य निर्दोषीकरणोपायमाह

निन्दितं चापि पानीयं क्वथितं सूर्यतापितम् । सुवर्णं रजतं लौहं पाषाणं सिकतामपि ॥८२॥
भृशं सन्ताप्य निर्वाप्य सप्तधा साधितं तथा । कर्पूरजातिपुन्नागपाटलादिसुवासितम् ॥८३॥
शुचिसान्द्रपटस्रावि क्षुद्रजन्तुविवर्जितम् । स्वच्छं कनकमुक्ताऽऽद्यैः शुद्धं स्याद्दोषवर्जितम् ॥
वर्णमूलबिसग्रन्थिमुक्ताकनकशैवलैः । गोमेदेन च वस्त्रेण कुर्य्यादम्बुप्रसादनम् ॥ ८५ ॥

दूषित जल को निर्दोष (शुद्ध) करने का उपाय—जो जल उक्त प्रकार से निन्दित हो उसे काढ़े की भाँति पकावे या सूर्य की किरणों से गरम कर दे वा सोना, चाँदी, लोहा, पत्थर, बालू को खूब गरम कर सात बार उक्त जल में बुझा दे, तदुपरान्त कपूर, चमेली का पुष्प, सुलतान चम्पा का पुष्प, गुलाब पुष्प आदि से सुवासित कर दे और स्वच्छ तथा गाढ़े वस्त्र से छान के जिससे छोटे-छोटे कृमि दूर हो जाँय इस प्रकार स्वच्छ किया हुआ अथवा सोना या मोती आदि के द्वारा शुद्ध किया हुआ जल स्वच्छ तथा दोष रहित हो जाता है। पत्ते, मूल, बिसग्रन्थि (कमल का मूल), मोती, सोना, सेवार, गोमेदमणि तथा वस्त्र इन सबों से जल को स्वच्छ करना चाहिये ॥ ८२-८५ ॥

अथ पीतजलस्य परिपाककालानाह

पीतं जलं जीर्यति यामयुग्माद्यामैकमात्राच्छृतशीतलञ्च ।
तदर्धमात्रेण शृतं कदुष्णं पयःप्रपाके त्रय एव कालाः ॥ ८६ ॥

पीये हुये जल के पचने में समय का परिमाण—पीया हुआ साधारण जल दो प्रहर (६ घण्टे) में पच जाता है। औटा कर ठढा किया हुआ जल पीने से १ प्रहर (३ घण्टा) में पचता है और औटा कर किञ्चित् गरम जल पीने से आधे प्रहर (१॥ घण्टे) में पच जाता है। इस भाँति जल के पचने में ३ प्रकार के समय के परिमाण हैं ॥ ८६ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे त्रयोदशो-वारिवर्गः समाप्तः ॥

अथ दुग्धवर्गः

अथ दुग्धस्य नामानि गुणाँश्चाह

दुग्धं क्षीरं पयः स्तन्यं बालजीवनमित्यपि। दुग्धं सुमधुरं स्निग्धं वातपित्तहरं सरम् ॥ १ ॥
सद्यःशुक्रकरं शीतं सात्म्यं सर्वशरीरिणाम्। जीवनं बृंहणं बल्यं मेध्यं वाजीकरं परम् ॥
वयःस्थापनमायुष्यं सन्धिकारि रसायनम् ॥ २ ॥

दुग्ध के संस्कृत नाम—दुग्ध, क्षीर, पयः (पयस्), स्तन्य तथा बालजीवन ये सब हैं। गुण—दूध मधुररसयुक्त, स्निग्ध, वात तथा पित्त को दूर करने वाला, सारक, तत्काल शुक्र को उत्पन्न करने वाला, शीतल, सम्पूर्ण प्राणियों के लिये सात्म्य (अनुकूल), जीवनी शक्ति को देने वाला, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), बलकारक, मेधा शक्ति के लिए हितकर, अत्यन्त वाजीकरण, अवस्था को स्थिर रखने वाला, आयु को बढाने वाला, सन्धानकारक तथा रसायन है ॥ १-२ ॥

१ दूध

हि०-दूध। मा०-दूध। क०-हालु। फा०-शीर। बं०-दुध। गु०-दुध। ते०-पालु। अ०-लबनुल्। अं०-Milk (मिल्क)। ले०-*Lactus* (लाक्टस) ॥ १ ॥

अथ दुग्धपानार्हजनानाह

विरेकवान्तिवस्तीनां सेव्यमोजोविवर्द्धनम् ॥ ३ ॥
जीर्णज्वरे मनोरोगे शोषमूर्च्छाभ्रमेषु च। ग्रहण्यां पाण्डुरोगे च दाहे तृषि हृदामये ॥ ४ ॥
शूलोदावर्त्तगुल्मेषु वस्तिरोगे गुदाङ्कुरे। रक्तपित्तेऽतिसारे च योनिरोगे श्रमे क्लमे ॥ ५ ॥
गर्भस्रावे च सततं हितं मुनिवरैः स्मृतम्। बालवृद्धक्षतक्षीणाः क्षुद्व्यवायकृशाश्च ये ॥
तेभ्यः सदाऽतिशयितं हितमेतदुदाहृतम् ॥ ६ ॥

दूध पीने के योग्य लोग—जिन्होंने विरेचन, वमन तथा वस्ति का प्रयोग किया है, ऐसे लोगों के लिए दूध सेवन करने के योग्य और ओजोवर्धक है। जीर्णज्वर, मानसिकरोग, शोष, मूर्च्छा, भ्रम, ग्रहणी, पाण्डुरोग, दाह, तृषा, हृद्रोग, शूल, उदावर्त्त, गुल्म, वस्तिरोग, अर्श, रक्तपित्त, अतिसार, योनिरोग, श्रम, क्लान्ति, गर्भस्राव, इन सब रोगों में और जो बालक, वृद्ध तथा क्षतक्षीण, हैं या भूख और मैथुन से कृश हो गये हैं ऐसे लोगों के लिये दूध सदा अत्यन्त हितकर कहा हुआ है ॥

अथ गोदुग्धस्य गुणानाह

गव्यं दुग्धं विशेषेण मधुरं रसपाकयोः। दोषधातुमलस्रोतःकिञ्चित्क्लेदकरं गुरु ॥ ७ ॥
शीतलं स्तन्यकृत्स्निग्धं वातपित्तास्रनाशनम्। जरासमस्तरोगाणां शान्तिकृत् सेविनां सदा।

गाय के दूध—गाय का दूध विशेष कर स्वाद तथा विपाक में मधुर रसयुक्त, शीतल, दुग्धवर्धक, स्निग्ध, वात, पित्त तथा रक्तविकार को नष्ट करने वाला, दोष धातु मल तथा नाडियों में किञ्चित् क्लेद (आर्द्रता) उत्पन्न करने वाला, गुरु एवं निरन्तर सेवन करने वालों की वृद्धावस्था तथा समस्त रोगों को शमन करने वाला होता है ॥ ७-८ ॥

अथ कृष्णाऽऽदीनां गवां दुग्धस्य गुणानाह

कृष्णाया गोर्भवेद् दुग्धं वातहारि गुणाधिकम् ॥ ९ ॥
पीताया हरते पित्तं तथा वातहरं भवेत्। श्लेष्मलं गुरु शुक्लाया रक्ता चित्रा च वातहृत् ॥

काली आदि गायों के दुग्ध के गुण—काली गाय का दूध वातनाशक, औरों की अपेक्षा अधिक गुणकारी होता है। पीली गाय का दूध पित्त तथा वातनाशक होता है। सफेद गाय का दूध कफकारक तथा गुरु होता है। लाल तथा चितकबरी गाय का दूध वातनाशक होता है ॥ ९-१० ॥

अथ सद्यःप्रसूताया विवत्सायाश्च गोर्दुग्धगुणानाह

बालवत्सविवत्सानां गवां दुग्धं त्रिदोषकृत् ॥ ११ ॥

हाल की ब्याई हुई अर्थात् छोटे बछरे वाली तथा जिसके बच्चे मर गये हैं ऐसे गायों के दूध का गुण—उक्त गायों का दूध त्रिदोषकारक होता है ॥ ११ ॥

अथ वष्कयिण्या गोः (बाखरी गाय के) दुग्धगुणानाह

वष्कयिण्यास्त्रिदोषघ्नं तर्पणं बलकृत्पयः ॥ १२ ॥

बाखरी (बकेन) गाय के दूध का गुण—बाखरी का दूध त्रिदोषनाशक, तृप्तिकारक तथा बलकारक होता है ॥ १२ ॥

अथ देशविशेषेण गोदुग्धगुणानाह

जाङ्गलानूपशैलेषु चरन्तीनां यथोत्तरम् । पयो गुरुतरं स्नेहो यथाऽऽहारं प्रवर्त्तते ॥ १३ ॥

देशविशेष से गाय के दूध का गुण—जाङ्गल देश, आनूप देश तथा पर्वतों पर चरने वाली गायों का दूध उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा अधिक गुरु होता है अर्थात् जाङ्गल देश में चरने वाली गाय की अपेक्षा आनूप देश में चरने वाली का दूध अधिक गुरु होता है, उसकी अपेक्षा पर्वत पर चरने वाली गाय का दूध अधिक गुरु होता है। क्योंकि आहार के अनुसार ही दूध में स्नेहपदार्थ (घी) रहता है और उसी के न्यूनाधिक्य से न्यून तथा अधिक गुरु दूध होता है अर्थात् जिसमें अधिक स्नेह भाग रहेगा वह दूध अधिक गुरु होगा, जिसमें कम रहेगा वह कम गुरु होगा ॥ १३ ॥

अथाहारविशेषेण गोदुग्धस्य गुणविशेषानाह

स्वल्पान्नभक्षणाज्जातं क्षीरं गुरु कफप्रदम् । तत्तु बल्यं परं वृष्यं स्वस्थानां गुणदायकम् ॥
पलालतृणकार्पासबीजजं रोगिणे हितम् ॥ १४ ॥

आहारविशेष से गाय के दूध के विशेष गुण—जो गायें चारा के साथ थोडा अन्न भी खाती हैं उससे जो दूध उतरता है वह गुरु, कफकारक, बलदायक तथा अत्यन्त वृष्य (वीर्यवर्धक) होता है। अत एव वह स्वस्थ लोगों के लिये गुणदायक होता है और जो गाय पैरा (भूसा), घास तथा कपास का बीज खाकर दूध देती हैं उनका दूध रोगियों के लिये हितकर होता है ॥ १४ ॥

अथ माहिषदुग्धस्य गुणानाह

माहिषं मधुरं गव्यात्स्निग्धं शुक्रकरं गुरु। निद्राकरमभिष्यन्दि क्षुधाऽऽधिक्यहरं हिमम्॥१५॥

भैंस के दूध का गुण—भैंस का दूध गाय के दूध की अपेक्षा अधिक मधुर, स्निग्ध (स्नेहपदार्थयुक्त), शुक्रकारक, गुरु, निद्रा लाने वाला, अभिष्यन्दी (कफवर्धक), भूख को अधिकरूप से नष्ट करने वाला तथा शीतल होता है ॥ १५ ॥

अथाजादुग्धस्य गुणानाह

छागं कषायं मधुरं शीतं ग्राहि तथा लघु । रक्तपित्तातिसारघ्नं क्षयकासज्वरापहम् ॥ १६ ॥
अजानामल्पकायत्वात्कटुतिक्तनिषेवणात् । स्तोकाम्बुपानाद्व्यायामात्सर्वरोगापहं पयः॥१७॥

बकरी के दूध का गुण—बकरी का दूध कषाय तथा मधुर रसयुक्त, शीतल, ग्राही, लघु एवं रक्तपित्त, अतिसार, क्षय, खासी तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है। बकरियाँ शरीर से छोटी होती हैं और कटु तथा तिक्तरसयुक्त पत्ते आदि खाती हैं, थोडा जल पीती हैं एवं व्यायाम (चलना, फिरना) अधिक रखती हैं अतः उनका दूध सर्वरोगनाशक होता है ॥ १६-१७ ॥

अथ मृग्यादिदुग्धस्य गुणानाह

मृगीणां जाङ्गलोत्थानामजाक्षीरगुणं पयः ॥ १८ ॥

हरिणियों के दूध का गुण—जाङ्गल देश की हरिणियों का दूध बकरी के दूध के समान गुणों से युक्त होता है ॥ १८ ॥

तत्राविकदुग्धस्य गुणानाह

**आविकं लवणं स्वादु स्निग्धोष्णं चाश्मरीप्रणुत् । अहृद्यं तर्पणं केश्यं शुक्रपित्तकफप्रदम् ॥
गुरु कासानिलोद्भूते केवले चानिले वरम् ॥ १९ ॥**

भेड़ी के दूध का गुण—भेड़ी का दूध लवण तथा मधुर रसयुक्त, स्निग्ध, उष्ण, अश्मरीनाशक, हृदय के लिये अहितकर, तृप्तिकारक, केशों के लिए हितकर, शुक्र, पित्त तथा कफ को उत्पन्न करने वाला तथा गुरु होता है । यह वात से उत्पन्न होने वाली खाँसी तथा केवल वातरोग में हितकर होता है ॥ १९ ॥

अथ घोटकीदुग्धस्य गुणानाह

रूक्षोष्णं वडवाक्षीरं बल्यं शोषानिलापहम् । अम्लं कटु लघु स्वादु सर्वमेकशफं तथा ॥२०॥

घोडी के दूध का गुण—घोड़ी का दूध रूक्ष, उष्ण, बलकारक, शोष तथा वायु को नष्ट करने वाला, अम्ल तथा लवण रसयुक्त, लघु और स्वादिष्ट होता है । घोड़े की भाति जितने एक शफ अर्थात् अखण्डित खुर वाले हैं उनके भी दूध पूर्वोक्त गुण वाले होते हैं ॥ २० ॥

अथौष्ट्रदुग्धस्य गुणानाह

औष्ट्रं दुग्धं लघु स्वादु लवणं दीपनं तथा । कृमिकुष्ठकफानाहशोथोदरहरं सरम् ॥ २१ ॥

ऊटिनी के दूध का गुण—ऊटिनी का दूध लघु, मधुर तथा लवण रसयुक्त, अग्निदीपक, सारक एवं कृमि, कुष्ठ, कफ, अफरा, शोथ तथा उदरविकार को दूर करने वाला होता है ॥ २१ ॥

अथ हस्तिनीदुग्धस्य गुणानाह

बृंहणं हस्तिनीदुग्धं मधुरं तुवरं गुरु । वृष्यं बल्यं हिमं स्निग्धं चक्षुष्यं स्थिरताकरम् ॥२२॥

हथिनी के दूध का गुण—हथिनी का दूध मधुर तथा कषाय रसयुक्त, बृंहण (रस-रक्तादि-वर्धक), गुरु, वीर्यवर्धक, बलकारक, शीतल, स्निग्ध, नेत्रों के लिये हितकर तथा शरीर को दृढ़ करने वाला होता है ॥ २२ ॥

अथ नारीदुग्धस्य गुणानाह

नार्या लघु पयः शीतं दीपनं वातपित्तजित् । चक्षुःशूलाभिघातघ्नं नस्याश्च्योतनयोर्वरम् ॥

स्त्री के दूध का गुण—स्त्री का दूध लघु, शीतल, अग्निदीपक एवं वात, पित्त, नेत्रों का शूल तथा अभिघात को दूर करने वाला होता है । यह नस्य तथा आश्च्योतन कर्म के लिये उत्तम होता है ॥ २३ ॥

अथ धारोष्णादिदुग्धस्य गुणानाह

**धारोष्णं गोपयो बल्यं लघु शीतं सुधासमम् । दीपनञ्च त्रिदोषघ्नं तद्धाराशिशिरं त्यजेत् ॥
धारोष्णं शस्यते गव्यं धाराशीतन्तु माहिषम् । शृतोष्णमाविकं पथ्यं शृतशीतमजापयः ॥
आमं क्षीरमभिष्यन्दि गुरु श्लेष्मामवर्द्धनम् । ज्ञेयं सर्वमपथ्यं तु गव्यमाहिषवर्जितम् ॥
नारीक्षीरं त्वाममेव हितं न तु शृतं हितम् । शृतोष्णं कफवातघ्नं शृतशीतन्तु पित्तनुत् ॥
अर्द्धोदकं क्षीरशिष्टमामाल्लघुतरं पयः । जलेन रहितं दुग्धमतिपक्वं यथा यथा ।
तथा तथा गुरु स्निग्धं वृष्यं बलविवर्धनम् ॥ २८ ॥**

धारोष्णादि दूध के गुण—धारोष्ण गाय का दूध बलकारक, लघु, शीतल, अमृत के समान, अग्निदीपक तथा त्रिदोषनाशक होता है । किन्तु यदि वह धाराशीतल अर्थात् दुहने के बाद देर तक रखने से शीतल हो गया हो तो उसे छोड देना चाहिये । यदि पीना हो तो गरम करके पीवे । धारोष्ण (दुहने के समय जो उष्णता रहती है उससे युक्त) दूध गाय का उत्तम होता है । धाराशीत (दुहने के समय जो उष्णता रहती है उसके निकल जाने के बाद शीतल हुआ) दूध भैंस का उत्तम होता है । उबाला हुआ गर्म-गर्म दूध भेड का पथ्य होता है । उबाल कर शीतल किया हुआ दूध बकरी का पथ्य होता है । गाय तथा भैंस के दूध को छोड़ कर शेष सभी के कच्चे दूध को अभिष्यन्दी, गुरु, कफ तथा आम को बढ़ाने वाला तथा अपथ्य

समझना चाहिये किन्तु स्त्री का दूध तो कच्चा ही हितकर है। यदि वही औटाया हुआ हो तो हितकर नहीं होता। साधारण रूप से औंटाया हुआ गरम दूध कफ तथा वातनाशक होता है और औटाकर शीतल किया हुआ पित्तनाशक होता है। दूध में यदि आधा भाग जल मिलाकर औटाया जाय और जब पानी जल कर केवल दूध का भाग शेष रह जाय तब पीया जाय तो यह दूध कच्चे की अपेक्षा अधिक लघु होता है। बिना जल छोड़े दूध को जितना ही अधिक औंटाया जायगा उतना ही अधिक उत्तरोत्तर गुरु, स्निग्ध, वीर्य तथा बल को बढाने वाला होता जायगा। यह दुग्ध तीक्ष्ण अग्निवालों के लिये हितकर होता है ॥ २४-२८ ॥

अथ पीयूष-किलाट-क्षीरशाक तक्रपिण्ड-मोरटानां लक्षणानि गुणांश्चाह

क्षीरं तत्कालसूताया घनं पीयूषमुच्यते। नष्टदुग्धस्य पक्वस्य पिण्डः प्रोक्तः किलाटकः ॥

पीयूष के लक्षण—तत्काल की व्याई हुई गाय, भैंस आदि के गाढ़े दूध को 'पीयूष' कहते हैं।

किलाटक के लक्षण—बिगड़े हुए दूध को यदि औंटाते-औंटाते गाढ़ा करके पिण्डाकार बना लिया जाय तो उसे 'किलाटक' कहते हैं ॥ २९ ॥

*** पीयूषं 'पेवस' इति लोके। किलाटकः 'खरेटा' 'गिजिरी' वा इति लोके ॥ २९ ॥**

यहां 'पीयूष' से लोकप्रसिद्ध 'पेवस' का तथा 'कीलाटक' से लोकप्रसिद्ध 'खरेटा या गिजिरी' का बोध करना चाहिये ॥ २९ ॥

अपक्वमेव यन्नष्टं क्षीरशाकं हि तत्पयः ॥ ३० ॥

क्षीरशाक के लक्षण—कच्चा ही फट गया हो उसे 'क्षीरशाक' कहते हैं ॥ ३० ॥

*** क्षीरशाकं 'तुपिभरा' वा 'खिरिसा' इति लोके ॥ ३० ॥**

यहां 'क्षीरशाक' से लोकप्रसिद्ध 'तुपिभरा या खिरिसा' का बोध करना चाहिये ॥ ३० ॥

दध्ना तक्रेण वा नष्टं दुग्धं बद्धं सुवाससा। द्रवभागेन रहितं तक्रपिण्डः स उच्यते ॥३१॥
नष्टदुग्धभवं नीरं मोरटं जेज्जटोऽब्रवीत। पीयूषश्च किलाटश्च क्षीरशाकं तथैव च ॥३२॥
तक्रपिण्ड इमे वृष्या बृंहणा बलवर्द्धनाः। गुरवः श्लेष्मला हृद्या वातपित्तविनाशनाः ॥३३॥
दीप्ताग्नीनां विनिद्राणां विद्रधौ चाभिपूजिताः। मुखशोषतृषादाहरक्तपित्तज्वरप्रणुत् ॥
लघुर्बलकरो रुच्यो मोरटः स्यात्सितायुतः ॥ ३४ ॥

तक्रपिण्ड के लक्षण—जो दूध दही अथवा तक्र (छाछ) के संयोग से फट गया हो अथवा फाड़ा गया हो उसे यदि वस्त्र में बांध कर लटका दिया जाय तो पानी का भाग निकल जाने पर उसे 'तक्रपिण्ड' कहते हैं।

मोरट के लक्षण—उक्त प्रकार से दूध के फट जाने के बाद वस्त्र में बाँधने पर जो जल टपक कर गिरता है उसे 'मोरट' कहते हैं, ऐसा 'जेज्जट' आचार्य का कथन है।

गुण—पीयूष, किलाट, क्षीरशाक तथा तक्रपिण्ड ये सब वीर्यवर्धक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), बल को बढाने वाले, गुरु, कफकारक, हृदय को हितकर, वात तथा पित्तनाशक, दीप्त अग्निवाले तथा जिन्हें नींद नहीं आती है ऐसे लोगों के लिये एवं विद्रधि रोग वालों के लिये अत्युत्तम होते हैं। यदि मोरट बूरा से युक्त हो तो लघु, बलकारक, रुचिजनक एवं मुखशोष, प्यास, दाह, रक्तपित्त तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है ॥ ३१-३४ ॥

अथ सन्तानिका (मलाई) गुणानाह

सन्तानिका गुरुः शीता वृष्या पित्तास्रवातनुत्। तर्पणी बृंहणी स्निग्धा बलासबलशुक्रला ॥

मलाई के गुण—मलाई गुरु, शीतल, वीर्यवर्धक, तृप्तिकारक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), स्निग्ध, कफ, बल तथा शुक्र को उत्पन्न करने वाली एवं पित्त, रक्तविकार तथा वात को दूर करने वाली होती है ॥ ३५ ॥

२ सन्तानिका

हि०-मलाई, साढ़ी, छाली, छाल्ही। फा०-सरशीर। अ०-मशीमाद वावा।
औटे हुए दूध अथवा दही के ऊपर की चिकनाई सहित गाढ़े भाग को मलाई कहते हैं ॥ २ ॥

अथ खण्डादियुक्तस्य दुग्धस्य गुणानाह

खण्डेन सहितं दुग्धं कफकृत्पवनापहम्। सितासितोपलायुक्तं शुक्रलं त्रिमलापहम्।
सगुडं मूत्रकृच्छ्रघ्नं पित्तश्लेष्मकरं परम् ॥ ३६ ॥

खांड आदि पडे हुये दूध के गुण—खांड पड़ा हुआ दूध कफकारक तथा वातनाशक होता है। बूरा या मिश्री पड़ा हुआ दूध शुक्रजनक तथा त्रिदोषनाशक होता है। गुड पड़ा हुआ दूध मूत्रकृच्छ्रनाशक एवं पित्त तथा कफ को अधिक उत्पन्न करने वाला होता है ॥ ३६ ॥

अथ प्रभातादिभवस्य दुग्धस्य गुणानाह

रात्रौ चन्द्रगुणाधिक्याद्व्यायामाकरणात्तथा। प्राभातिकं पयः प्रायः प्रादोषाद् गुरु शीतलम् ॥
दिवाकरकराघाताद्व्यायामानलसेवनात्। प्राभातिकात्तु प्रादोषं लघु वातकफापहम् ॥३८॥

प्रातः सायं के दूध का गुण—प्रातःकाल का दूध प्रायः करके सायंकाल के दूध की अपेक्षा अधिक गुरु तथा शीतल होता है क्योंकि रात्रि में चन्द्रमा के गुणों की अधिकता रहती है तथा व्यायाम (चलने फिरने का श्रम) नहीं किया जाता है और सायंकाल का दूध प्रातःकाल के दूध की अपेक्षा लघु एवं वात तथा कफनाशक होता है, क्योंकि दिन में शरीर पर सूर्य की किरणें पड़ती रहती हैं एवं व्यायाम (चलने फिरने का श्रम) तथा वायु-सेवन होता रहता है ॥ ३७–३८ ॥

अथ दुग्धसेवनस्य समयविशेषेण गुणविशेषानाह

वृष्यं बृंहणमग्निदीपनकरं पूर्वाह्णकाले पयो, मध्याह्ने तु बलावहं कफहरं पित्तापहं दीपनम्।
बाले वृद्धिकरं क्षयेऽक्षयकरं वृद्धेषु रेतोवहं, रात्रौ पथ्यमनेकदोषशमनं चक्षुर्हितं संस्मृतम् ॥
वदन्ति पेयं निशि केवलं पयो भोज्यं न तेनेह सहौदनादिकम्।
भवत्यजीर्णं न शयीत शर्वरीं क्षीरस्य पीतस्य न शेषमुत्सृजेत् ॥ ४० ॥
विदाहीन्यन्नपानानि दिवा भुङ्क्ते हि यन्नरः। तद्विदाहप्रशान्त्यर्थं रात्रौ क्षीरं सदा पिबेत् ॥
दीप्तानले कृशे पुंसि बाले वृद्धे पयःप्रिये। मतं हिततमं दुग्धं सद्यःशुक्रकरं यतः ॥ ४२ ॥

समय विशेष में दूध पीने के विशेष गुण—दिन के पूर्व भाग (**सुबह से १० बजे तक**) में दुग्धपान (दूध पीना) वीर्यवर्धक, बृंहण (रस–रक्तादिवर्धक) तथा अग्नि को दीप्त करने वाला होता है। **मध्याह्न काल में** दुग्धपान बलकारक, कफ तथा पित्त को दूर करने वाला एवं अग्निदीपक होता है। **बाल्यावस्था में** दुग्धपान शरीर की वृद्धि करने वाला होता है। **क्षय अवस्था** में क्षय का निवारण करने वाला और **वृद्धावस्था** में दुग्धपान शुक्र की रक्षा करने वाला होता है और **रात्रि** में दुग्धपान पथ्य (हितकर) अनेक दोषों को शमन करने वाला एवं नेत्रों के लिये हितकर ऋषियों द्वारा कहा गया है। यहाँ कोई आचार्य यह कहते हैं कि रात्रि में केवल दूध पीना चाहिये, उसके साथ भात आदि नहीं खाना चाहिये, क्योंकि इससे अजीर्ण होता है और रात्रि में नींद भी नहीं आती है। दूध पीने के बाद पात्र में कुछ शेष भाग न छोड़े, यदि दूध कुछ अधिक हो जाय तो भी पीने से हानि नहीं हो सकती, अतः दूध कभी पीकर नहीं छोड़ना चाहिये। मनुष्य दिन में जो कुछ विदाही (दाह पैदा करने वाले) अन्न, पान आदि का सेवन करता है उससे होने वाले दाह की शान्ति के लिये रात्रि में उसे प्रतिदिन दूध अवश्य पीना चाहिये। जिनकी अग्नि प्रदीप्त है या जो कृश हैं उन सभों के लिये एवं बालक, वृद्ध तथा जिन्हें दूध प्रिय हो ऐसे लोगों के लिये दुग्धपान अत्यन्त हितकर होता है क्योंकि दुग्धपान तत्काल ही शुक्र की वृद्धि करने वाला होता है ॥ ३९–४२ ॥

अथ मथितदुग्धस्य गुणानाह

क्षीरं गव्यमथाजं वा कोष्णं दण्डाहतं पिबेत्। लघु वृष्यं ज्वरहरं वातपित्तकफापहम् ॥४३॥

मथे हुये दूध के गुण—गाय अथवा बकरी का दूध यदि औटाया हुआ मथानी से मथ कर

किञ्चित् उष्ण रहते ही पीवे तो वह लघु, वीर्यवर्धक एवं ज्वर, वात, पित्त तथा कफ को दूर करने वाला होता है ॥ ४३ ॥

अथ दुग्धफेनम् (झाग) । तस्य गुणानाह

गोदुग्धप्रभवं किं वा छागीदुग्धसमुद्भवम् । भवेत् फेनं त्रिदोषघ्नं रोचनं बलवर्द्धनम् ॥४४॥
वह्निवृद्धिकरं वृष्यं सद्यस्तृप्तिकर लघु । अतीसारेऽग्निमान्द्ये च ज्वरे जीर्णे प्रशस्यते ॥४५॥

दुग्ध के फेन (झाग) के गुण—गाय अथवा बकरी के दूध का फेन त्रिदोषनाशक, रोचक, बलवर्धक, अग्नि की वृद्धि करने वाला, वीर्यवर्धक, तत्काल तृप्ति देने वाला, लघु एवं अतीसार, अग्नि की मन्दता तथा पुराने ज्वर में हितकर होता है ॥ ४४-४५ ॥

अथ निन्दितदुग्धस्य लक्षणमाह

विवर्णं विरसं चाम्लं दुर्गन्धं ग्रथितं पयः । वर्जयेदम्ललवणयुक्तं कुष्ठादिकृद् यतः ॥ ४६ ॥

निन्दित दूध के लक्षण—जो दूध विवर्ण (बदरङ्ग), विरस (खराब स्वाद वाला), खट्टा, दुर्गन्ध युक्त, ग्रन्थि पडा हुआ (फटा हुआ) एवं खटाई या नमक पडा हुआ हो उसे छोड देना चाहिये क्योंकि उक्त दूध के पीने से कुष्ठ आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
चतुर्दशो दुग्धवर्गः समाप्तः ॥ १४ ॥

अथ दधिवर्गः

तत्र दध्नो गुणानाह

दध्युष्णं दीपनं स्निग्धं कषायानुरसं गुरु। पाकेऽम्लं ग्राहिपित्तास्रशोथमेदःकफप्रदम् ॥ १ ॥
मूत्रकृच्छ्रे प्रतिश्याये शीतके विषमज्वरे। अतीसारेऽरुचौ कार्श्ये शस्यते बलशुक्रकृत् ॥२॥

दही के गुण—दही उष्ण, अग्निदीपक, स्निग्ध, किञ्चित् कषायरसयुक्त, गुरु, विपाक में अम्ल रसयुक्त, ग्राही एवं पित्त, रक्तविकार, शोथ, मेद और कफ को उत्पन्न करने वाला, मूत्रकृच्छ्र, जुखाम, शीत, विषमज्वर, अतीसार, अरुचि तथा कृशता में उत्तम, बल तथा शुक्र को बढ़ाने वाला होता है ॥ २ ॥

१ दही

हि०-दही। गु०-दहि। बं०-दइ। क०-मोसर, मोसरु। ते०-हरु, पेरुगु। फा०-दोग। अ०-जुग़रात, मास्त। अं०-Curdled milk (कर्ड्लड् मिल्क) ॥ १ ॥

अथ दधिभेदानाह

आदौ मन्दं ततः स्वादु स्वाद्वम्लञ्च ततः परम्। अम्लं चतुर्थमत्यम्लं पञ्चमं दधि पञ्चधा ॥३॥

दही के भेद—१ मन्द, २ स्वादु, ३ स्वाद्वम्ल, ४ अम्ल, ५ अत्यम्ल इस भांति से दही के पांच भेद होते हैं ॥ ३ ॥

अथ मन्दादिदध्नो लक्षणं गुणांश्चाह

मन्दं दुग्धवदव्यक्तरसं किञ्चिद्घनं भवेत्। मन्दं स्यात्सृष्टविण्मूत्रं दोषत्रयविदाहकृत् ॥ ४ ॥
यत्सम्यग्घनतां यातं व्यक्तस्वादुरसं भवेत्। अव्यक्ताम्लरसं तत्तु स्वादु विज्ञैरुदाहृतम् ॥५॥
स्वादु स्यादत्यभिष्यन्दि वृष्यं मेदःकफावहम्। वातघ्नं मधुरं पाके रक्तपित्तप्रसादनम् ॥
स्वाद्वम्लं सान्द्रमधुरं कषायानुरसं भवेत्। स्वाद्वम्लस्य गुणा ज्ञेयाः सामान्यदधिवज्जनैः ॥
यत्तिरोहितमाधुर्यं व्यक्ताम्लत्वं तदम्लकम्। अम्लं तु दीपनं पित्तरक्तश्लेष्मविवर्द्धनम् ॥ ८ ॥
तदत्यम्लं दन्तरोमहर्षकण्ठादिदाहकृत्। अत्यम्लं दीपनं रक्तवातपित्तकरं परम् ॥ ९ ॥

मन्द दही के लक्षण—जो दही दूध के समान (ठीक से नहीं जमा हुआ), अव्यक्त रसवाला तथा कुछ गाढा होता है उसे 'मन्द' कहते हैं। गुण-मन्द दही मल तथा मूत्र की प्रवृत्ति करने वाला, त्रिदोष और दाह को उत्पन्न करने वाला होता है। स्वादु दही के लक्षण—जो दही भली भाँति गाढा हो गया हो और जिसका स्वादु (मधुर) रस व्यक्त तथा अम्लरस अव्यक्त हो (ठीक से नहीं मालूम पड़ता हो) उसे 'स्वादु' कहते हैं। गुण—स्वादुसंज्ञक दही अत्यन्त अभिष्यन्दी, वीर्यवर्धक, मेद तथा कफ को उत्पन्न करने वाला, वातनाशक, विपाक में मधुर रसयुक्त तथा रक्तपित्त को स्वच्छ करने वाला होता है। स्वाद्वम्लसंज्ञक दही के लक्षण—गाढ़ा, मधुर रसयुक्त तथा अन्त में कषाय रस युक्त दही को 'स्वाद्वम्ल' संज्ञक दही कहते हैं। गुण-स्वाद्वम्ल-संज्ञक दही गुणों में साधारण दही के समान होता है। अम्लसंज्ञक दही के लक्षण—जिस दही में मधुर रस छिपा हुआ हो और अम्ल रस प्रकट हो रहा हो उसे 'अम्ल' संज्ञक दही समझना चाहिये। गुण-अम्लसंज्ञक दही अग्निदीपक एवं पित्त, रक्तविकार तथा कफ को बढ़ाने वाला होता है। 'अत्यम्ल' संज्ञक दही के लक्षण—जिस दही के खाने से दाँत हर्षित (कोट) हो जायँ तथा रोंगटे खड़े हो जायँ और कण्ठ आदि में दाह होने लगे उसे 'अत्यम्ल' संज्ञक दही जानना चाहिये। गुण-अत्यम्ल संज्ञक दही अग्निदीपक, रक्तविकार, वात तथा पित्त को अत्यन्त उत्पन्न करने वाला होता है ॥ ४–९ ॥

अथ गोदधिगुणानाह

गव्यं दधि विशेषेण स्वाद्वम्लं च रुचिप्रदम्। पवित्रं दीपनं हृद्यं पुष्टिकृत्पवनापहम्।
उक्तं दध्नामशेषाणां मध्ये गव्यं गुणाधिकम् ॥ १० ॥

गाय के दही के गुण—गाय का दही विशेष रूप से मधुर तथा अम्लरसयुक्त, रुचि उत्पन्न करने वाला, पवित्र, अग्निदीपक, हृदय के लिये हितकर, पुष्टिकारक तथा वातनाशक होता है। सभी दहियों में गाय का दही अधिक गुण करने वाला कहा हुआ है ॥ १० ॥

अथ महिषदधिगुणानाह

माहिषं दधि सुस्निग्धं श्लेष्मलं वातपित्तनुत्। स्वादुपाकमभिष्यन्दि वृष्यं गुर्वस्रदूषकम् ॥

भैंस के दही के गुण—भैंस का दही अत्यन्त स्निग्ध, कफजनक, वात तथा पित्त नाशक, विपाक में मधुररसयुक्त, अभिष्यन्दी, वीर्यवर्धक, गुरु तथा रक्त को दूषित करने वाला होता है ॥

अथाजादधिगुणानाह

आजं दध्युत्तमं ग्राही लघु दोषत्रयापहम्। शस्यते श्वासकासार्शःक्षयकार्श्येषु दीपनम् ॥

बकरी के दही के गुण—बकरी का दही उत्तम, ग्राही, लघु, त्रिदोषनाशक, अग्निदीपक एवं श्वास, खाँसी, अर्श, क्षय तथा कृशता में हितकर होता है ॥ १२ ॥

अथ पक्वदुग्धजातस्य दध्नो गुणानाह

पक्वदुग्धभवं रुच्यं दधि स्निग्धं गुणोत्तमम्। पित्तानिलापहं सर्वधात्वग्निबलवर्द्धनम् ॥ १३ ॥

पकाये हुये दूध से तैयार दही के गुण—जो दही पकाये हुए दूध से तैयार किया जाता है वह रुचिकारक, स्निग्ध, उत्तम गुणवाला, पित्त तथा वात को दूर करने वाला एवं सम्पूर्ण धातु, अग्नि तथा बल को बढ़ाने वाला होता है ॥ १३ ॥

अथ निःसारदुग्धजनितदध्नो गुणानाह

असारं दधि सङ्ग्राहि शीतलं वातलं लघु। विष्टम्भि दीपनं रुच्यं ग्रहणीरोगनाशनम् ॥१४॥

निःसार (मक्खन निकाले) दूध से तैयार दही के गुण—निःसार दूध का दही संग्राही, शीतल, वातजनक, लघु, विष्टम्भकारक, अग्निदीपक, रुचिकारक एवं ग्रहणीरोग को नष्ट करने वाला होता है ॥ १४ ॥

अथ गालितदध्नो गुणानाह

गालितं दधि सुस्निग्धं वातघ्नं कफकृद् गुरु। बलपुष्टिकरं रुच्यं मधुरं नातिपित्तकृत् ॥१५॥

गालित (वस्त्र से छाने हुये) दही के गुण—गालित दही अति स्निग्ध, वातनाशक, कफकारक, गुरु, बल तथा पुष्टि को करने वाला, रुचिजनक, मधुररसयुक्त तथा अत्यन्त पित्तकारक नहीं होता अर्थात् किञ्चित् पित्त करने वाला होता है ॥ १५ ॥

अथ शर्करादिसहितस्य दध्नो गुणानाह

सशर्करं दधि श्रेष्ठं तृष्णापित्तास्रदाहजित्। सगुडं वातनुद् वृष्यं बृंहणं तर्पणं गुरु ॥ १६ ॥

शक्कर आदि से युक्त दही के गुण—शक्कर मिला हुआ दही श्रेष्ठ होता है एवं तृष्णा (प्यास), पित्त, रक्तविकार तथा दाह को नष्ट करने वाला होता है।

गुड मिला हुआ दही—वातनाशक, वीर्यवर्धक, बृंहण (रस रक्तादिवर्धक), तृप्तिकारक तथा गुरु होता है ॥ १६ ॥

अथ रात्रौ दधिभक्षणस्य निषेधमाह

न नक्तं दधि भुञ्जीत न चाप्यघृतशर्करम्। नामुद्गसूपं नाक्षौद्रं नोष्णं नामलकैर्विना ॥१७॥

रात्रि में दही खाने का निषेध—रात्रि में दही नहीं खाना चाहिये और बिना घी तथा शक्कर के या बिना मूँग की दाल के वा बिना मधु के अथवा गरम किंवा बिना आँवला के दही नहीं खाना चाहिये ॥ १७ ॥

*अयमर्थः

रात्रौ दधि न भुञ्जीत, भुञ्जीत चेत्तदा-अघृतशर्करममुद्गसूपमक्षौद्रमुष्णं विनाऽऽमलकञ्च दधि न भुञ्जीत। तेन घृतशर्कराऽऽदियुक्तं दधि रात्रावपि भुञ्जीतेत्यर्थः।

यहां उपर्युक्त श्लोक का वास्तविक अर्थ यह है कि—रात्रि में दही कभी नहीं खाना चाहिये, यदि खाना ही हो तो घी, शक्कर या मूग की दाल वा शहद किंवा आंवला के विना अथवा गरम न खाय। इससे यह सिद्ध हुआ कि घी, शक्कर आदि से युक्त दही रात्रि में भी खाय।

* तथा च

शस्यते दधि नो रात्रौ शस्तं चाम्बुघृतान्वितम्। रक्तपित्तकफोत्थेषु विकारेषु तु नैव तत्॥१॥

इसी विषय में और भी कहा है—रात्रि में दही खाना उचित नहीं है किन्तु यदि जल तथा घी मिला हुआ हो तो खाना उचित है। किन्तु रक्तपित्त तथा कफसम्बन्धी विकारों में जल तथा घी से मिला हुआ भी दही खाना उचित नहीं होता॥ १॥

तद् = अम्बुघृतान्वितमपि (॥ १॥) ॥ १७॥

यहा 'तत्' पद का 'वह भी अर्थात् जल तथा घी से मिला भी दही' यह अर्थ समझना चाहिये (॥ १॥) ॥ १७॥

अथ ऋतुविशेषेण दध्नो विधिनिषेधावाह

हेमन्ते शिशिरे चापि वर्षासु दधि शस्यते। शरद्ग्रीष्मवसन्तेषु प्रायशस्तद्विगर्हितम्॥१८॥

ऋतुविशेष से दही खाने की विधि तथा निषेध—हेमन्त (अगहन-पूस), शिशिर (माघ-फागुन) तथा वर्षा (सावन-भादों) ऋतु में दही खाना उत्तम है। शरद् (कार-कार्तिक), ग्रीष्म (जेठ-आषाढ़) तथा वसन्त (चैत-वैशाख) ऋतु में दही खाना निषिद्ध है॥ १८॥

अथ विधिमन्तरेण दधिसेवने दुर्गुणानाह

ज्वरासृक्पित्तवीसर्पकुष्ठपाण्डवामयभ्रमान्। प्राप्नुयात्कामलां चोग्रां विधिं हित्वा दधिप्रियः॥

विना विधि के दही सेवन करने के दुर्गुण—जो दही का प्रेमी व्यक्ति विधि को छोड कर अर्थात् जब जिस भांति दही खाने की विधि है उसके विरुद्ध सदा दही खाता रहता है तो उसे ज्वर, रक्तपित्त, विसर्प, कुष्ठ, पाण्डु तथा भ्रम रोग एवं प्रचण्ड रूप से कामला रोग उत्पन्न हो जाता है॥ १९॥

अथ दध्नः सरमस्तुनोर्लक्षणं गुणांश्चाह

दध्नस्तूपरि यो भागो घनः स्नेहसमन्वितः। स लोके सर इत्युक्तो दध्नो मण्डस्तु मस्त्विति॥
सरः स्वादुर्गुरुर्वृष्यो वातवह्निप्रणाशनः। सोऽम्लो वस्तिप्रमथनः पित्तश्लेष्मविवर्द्धनः॥२१॥
मस्तु क्लमहरं बल्यं लघु भक्ताभिलाषकृत्॥ २२॥
स्रोतोविशोधनं ह्लादि कफतृष्णाऽनिलापहम्। अवृष्यं प्रीणनं शीघ्रं भिनत्ति मलसञ्चयम्॥

दही के सर (साढी) तथा मस्तु (दही के तोड) के लक्षण तथा गुण—**सर के लक्षण—** दही के ऊपर जो गाढा तथा स्नेह (घी) से युक्त भाग होता है उसे लोक में सर (साढी) कहते हैं। **गुण—**सर स्वादिष्ट, गुरु, वीर्यवर्धक, वात तथा जठराग्निनाशक होता है और यदि वह (सर) अम्लरसयुक्त होता है तो वस्तिका प्रमथन करता है एवं पित्त तथा कफ को बढ़ाता है। **मस्तु के लक्षण—**दही के मांड (पानी) को मस्तु (दही का तोड) कहते हैं। **गुण—**मस्तु (दही का तोड) क्लान्ति को दूर करने वाला, बलदायक, लघु, अन्न खाने की अभिलाषा को उत्पन्न करने वाला, स्रोतोमार्ग (नाड़ियों के मार्ग) को शुद्ध करने वाला, आह्लादजनक एवं कफ, तृषा तथा वायु को नष्ट करने वाला, अवृष्य (किञ्चित् वीर्यवर्धक) तथा शीघ्र सञ्चित मल का भेदन करने वाला होता है॥ २०-२३॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे पञ्चदशो दधिवर्गः समाप्तः॥ १५॥

अथ तक्रवर्गः

तत्र तक्रस्य पृथक्पृथङ् नामानि लक्षणं गुणाँश्चाह

घोलं तु मथितं तक्रमुदश्विच्छच्छिकाऽपि च । ससरं निर्जलं घोलं मथितं त्वसरोदकम् ॥१॥
तक्रं पादजलं प्रोक्तमुदश्वित्त्वर्द्धवारिकम् । छच्छिका सारहीना स्यात्स्वच्छा प्रचुरवारिका ॥
घोलं तु शर्करायुक्तं गुणैर्ज्ञेयं रसालवत् ॥ २ ॥

तक्र (मट्ठा) के संस्कृत नाम—घोल, मथित, तक्र, उदश्वित् और छच्छिका ये सब हैं। **लक्षण**—घोल बिना जल मिलाये यदि मलाई के सहित दही को मथा जाय तो उसे 'घोल' कहते हैं। **मथित**—यदि दही की मलाई अलग कर बिना जल मिलाये ही मथ दिया जाय तो उसे 'मथित' कहते हैं। **तक्र**—जिस दही में चतुर्थांश जल मिला कर मथा जाय तो उसे 'तक्र' कहते हैं। **उदश्वित्**—जिस दही में आधा जल मिला कर मथा जाय उसे 'उदश्वित्' कहते हैं। **छच्छिका**—जिस दही में प्रथम मथ कर मक्खन निकाल लिया हो पुनः उसी में अधिक मात्रा में स्वच्छ जल डाल कर फिर मथा जाय उसे 'छच्छिका' कहते हैं ॥ १-२ ॥

क्षमथितम् = 'महुया' वा 'मथुवा' इति लोके । छच्छिका 'छाछ' इति लोके ॥ १-२ ॥

यहाँ 'मथितम्' से लोकप्रसिद्ध 'महुया' या 'मथुवा' तथा 'छच्छिका' से लोकप्रसिद्ध 'छाछ' का ग्रहण करना चाहिये ॥ १-२ ॥

तक्र

हि०—छाछ, मट्ठा, माठा। बं०—घोल। क०—अलिमज्जिगे। म०—ताक। फा०—मास्त, दोग। गु०—छास, घोलवु। अ०—इमीज, मरवोज। अं०—Butter milk (बटर मिल्क) ॥ १ ॥

घोलं तु शर्करायुक्तं गुणैर्ज्ञेयं रसालवत् । वातपित्तहरं ह्लादि मथितं कफपित्तनुत् ॥ २ ॥
तक्रं ग्राहि कषायाम्लं स्वादुपाकरसं लघु । वीर्योष्णं दीपनं वृष्यं प्रीणनं वातनाशनम् ॥४॥
ग्रहण्यादिमतां पथ्यं भवेत्सङ्ग्राहि लाघवात् । किञ्च स्वादुविपाकित्वान्न च पित्तप्रकोपणम्॥
अम्लोष्णं दीपनं वृष्यं प्रीणनं वातनाशनम् । कषायोष्णविकाशित्वाद्रौक्ष्याच्चापि कफापहम्॥
न तक्रसेवी व्यथते कदाचिन्न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः ।
यथा सुराणाममृतं सुखाय तथा नराणां भुवि तक्रमाहुः ॥ ७ ॥
उदश्वित् कफकृद् बल्यमामघ्नं परमं मतम् । छच्छिका शीतला लघ्वी पित्तश्रमतृषाहरी ॥
वातनुत् कफकृत् सा तु दीपनी लवणान्विता ॥ ८ ॥

घोल के गुण—यदि घोल में शक्कर मिला हुआ हो तो वह गुणों में रसाल (सिखरन) के समान होता है एवं वात तथा पित्तनाशक और आह्लादजनक होता है। **मथित**—यह कफ तथा पित्तनाशक होता है। **तक्र**—यह कषाय तथा मधुररसयुक्त, विपाक में मधुररसयुक्त, ग्राही, लघु, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, वीर्यवर्धक, तृप्तिकारक तथा वातनाशक होता है। ग्रहणी आदि के रोगियों को तक्र हितकर होता है क्योंकि यह लघु होने से मल का सग्राहक होता है और विपाक में मधुर रसयुक्त होने से पित्त को प्रकुपित भी नहीं करता एवं अम्लरस युक्त, उष्णवीर्य, अग्निदीपक, वीर्यवर्धक तथा तृप्तिकारक होने से यह वातनाशक होता है और कषाय रसयुक्त, उष्णवीर्य, विकाशी तथा रूक्ष होने से कफनाशक होता है। तक्र का सेवन करने वाला व्यक्ति कभी भी बीमार नहीं पड़ता, तक्र के प्रभाव से नष्ट हुये रोग पुनः कभी उत्पन्न नहीं हो सकते, अस्तु जिस प्रकार से देवताओं के लिये सुखकारी अमृत है उसी भांति पृथ्वीतल में मनुष्यों के लिये तक्र को ऋषियों ने सुखकारी बताया है। **उदश्वित्**—कफकारक, बलवर्धक तथा अत्यन्त आमनाशक होता है। **छाछ**—शीतल, लघु एवं पित्त, श्रम तथा तृषा को दूर करने वाला, वातनाशक तथा कफकारक होता है और यदि तक्र में सेंधानमक मिला हो तो अग्निदीपक होता है ॥ ३-८ ॥

अथोद्धृतस्तोकोद्धृतानुद्धृतघृतानां तक्राणां गुणानाह

समुद्धृतघृतं तक्रं पथ्यं लघु विशेषतः ॥ ९ ॥
स्तोकोद्धृतघृतं तस्माद् गुरु वृष्यं कफापहम् । अनुद्धृतघृतं सान्द्रं गुरु पुष्टिकफप्रदम् ॥१०॥

घी निकाला हुआ तक्र—पथ्य (रोगियों के लिये हितकर) तथा लघु होता है। यदि कुछ घी निकाल लिया गया हो और कुछ अंश घी का रह गया हो तो ऐसा तक्र उपर्युक्त तक्र (घी निकाले हुए तक्र) की अपेक्षा गुरु, वीर्यवर्धक तथा कफनाशक होता है। यदि घी न निकाला हुआ हो तथा गाढा हो तो ऐसा तक्र गुरु एवं पुष्टिकारक तथा कफजनक होता है॥ ९-१०॥

अथ दोषविशेषे व्याधिविशेषे च तक्रविशेषानाह

वातेऽम्लं शस्यते तक्रं शुण्ठीसैन्धवसंयुतम्। पित्ते स्वादु सितायुक्तं व्योषक्षारयुतं कफे॥
हिङ्गुजीरयुतं घोलं सैन्धवेन च संयुतम्। भवेदतीव वातघ्नमर्शोऽतीसारहृत्परम्॥ १२॥
रुचिदं पुष्टिदं बल्यं बस्तिशूलविनाशनम्। मूत्रकृच्छ्रे तु सगुडं पाण्डुरोगे सचित्रकम्॥१३॥

दोषविशेष में तथा रोगविशेष में विशेष विशेष तक्रों का प्रयोग—**वातदोष की अधिकता में** अम्लरसयुक्त एवं सोंठ तथा सेंधा नमक मिला हुआ तक्र उत्तम होता है। **पित्त की अधिकता में** मधुररसयुक्त तथा चीनी मिश्रित तक्र उत्तम होता है। **कफ की अधिकता में** सोंठ, मिरच तथा पीपर मिश्रित तक्र उत्तम होता है। हींग, जीरा (दोनों भुने हुए) तथा सेंधा नमक से युक्त घोल अत्यन्त वातनाशक, अर्श तथा अतीसार को अत्यन्त दूर करने वाला, रुचिजनक, पुष्टिकारक, बलदायक, वस्तिशूलनाशक होता है। **गुड़युक्त घोल**—मूत्रकृच्छ्र में एवं **चित्रक** (चीता) **मिश्रित घोल** पांडुरोग में देना हितकर है॥ ११-१३॥

अथ पक्वापक्वतक्रयोर्गुणानाह

तक्रमामं कफं कोष्ठे हन्ति कण्ठे करोति च। पीनसश्वासकासादौ पक्वमेव प्रयुज्यते॥ १४॥

कच्चा (विना पकाया हुआ) तक्र—कोष्ठ स्थित कफ को नष्ट करता है तथा कण्ठ में कफ करने वाला होता है। अतः पकाये हुए तक्र का ही पीनस, श्वास तथा कास आदि में प्रयोग करना उचित है॥ १४॥

अथ तक्रसेवनविषयानाह

शीतकालेऽग्निमान्द्ये च तथा वातामयेषु च। अरुचौ स्रोतसां रोधे तक्रं स्यादमृतोपमम्॥
तत्तु हन्ति गरच्छर्दिप्रसेकविषमज्वरान्। पाण्डुमेदोग्रहण्यर्शोमूत्रग्रहभगन्दरान्॥ १६॥
मेहं गुल्ममतीसारं शूलप्लीहोदरारुचीः। श्वित्रकोष्ठगतव्याधीन् कुष्ठशोथतृषाकृमीन्॥१७॥

तक्र सेवन करने के विषय—शीतकाल में, तथा अग्नि की मन्दता, वातरोग, अरुचि तथा नाड़ियों के अवरोध में तक्र अमृत के समान गुणकारी होता है। यह गर (संयोगज विष), वमन, प्रसेक (कफजन्य लार आदि गिरना), विषमज्वर, पाण्डुरोग, मेदरोग, ग्रहणी, अर्श (ववासीर), मूत्रग्रह (मूत्र का वन्द होना), भगन्दर, प्रमेह, गुल्म, अतीसार, शूल, प्लीहा, उदररोग, अरुचि, श्वित्र (श्वेत कुष्ठ), कोष्ठगत रोग, कुष्ठ, शोथ, तृषा तथा कृमिरोग को नष्ट करने वाला होता है॥

अथ तक्रस्य निषेधविषयानाह

नैव तक्रं क्षये दद्यान्नोष्णकाले न दुर्बले। न मूर्च्छाभ्रमदाहेषु न रोगे रक्तपित्तजे॥ १८॥

तक्र निषेध के विषय—तक्र क्षयरोग में तथा ग्रीष्म ऋतु में एवं दुर्बल व्यक्ति तथा मूर्च्छा, भ्रम, दाह तथा रक्तपित्त रोग युक्त व्यक्ति को नहीं देना चाहिये॥ १८॥

अथ गव्यादीनां विशिष्टतक्राणां गुणानाह

यान्युक्तानि दधीन्यष्टौ तद्गुणं तक्रमादिशेत्॥ १९॥

गाय आदि के दूध के दही से बने हुए तक्र के गुण—जो पूर्व में (दधिवर्ग में) गाय आदि के दूध के बने हुए आठ प्रकार के दहियों के गुण कह आये हैं वे ही सब गुण उन दहियों से बने हुए तक्र के भी होते हैं, ऐसा समझना चाहिये॥ १९॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
षोडशस्तक्रवर्गः समाप्तः॥ १६॥

अथ नवनीतवर्गः

तत्र नवनीतस्य नामगुणानाह

म्रक्षणं सरजं हैयङ्गवीनं नवनीतकम्। नवनीतं हितं गव्यं वृष्यं वर्णबलाग्निकृत्॥ १॥
सङ्ग्राहि वातपित्तासृक्क्षयार्शोऽर्दितकासहृत्। तद्धितं बालके वृद्धे विशेषादमृतं शिशोः॥२॥

मक्खन के संस्कृत नाम—म्रक्षण, सरज, हैयङ्गवीन तथा नवनीतक ये सब है। गुण-मक्खन यदि गाय का हो तो हितकर, वीर्यवर्धक, वर्ण को उत्तम करने वाला, बल तथा अग्नि को बढ़ाने वाला, मलसंग्राही एवं वात, पित्त, रक्तविकार, क्षय, अर्श, अर्दित वात (लकवा) तथा कास को दूर करने वाला होता है। यह बालक और वृद्ध के लिये हितकर एवं विशेषकर शिशु (अत्यन्त छोटे बच्चों) के लिये अमृत के समान गुणकारी होता है॥ १-२॥

१-नवनीत

हि०-माखन, मक्खन, नैनू, ननी, नोनी, नवनी। बं०-ननी, माखन, नुनी। ते०-पेन्न, वेन्न। म०-लोणी। मा०-माखण। क०-वेणो, वेण्णे। गु०-माखण। फा०-मस्का। अ०-जुब्द। अं०-Butter (बटर)। लै०-*Butyrum* (बटिरम)।

गाय, भैंस आदि के दूध को मथनी से मथने से जो पदार्थ निकलता है उसको 'माखन' कहते हैं। यह सफेद रंग का चिकना होता है॥ १॥

अथ माहिषनवनीतस्य गुणानाह

नवनीतं महिष्यास्तु वातश्लेष्मकरं गुरु। दाहपित्तश्रमहरं मेदःशुक्रविवर्द्धनम्॥ ३॥

भैंस के मक्खन का गुण—यदि मक्खन भैंस का हो तो वात तथा कफकारक, गुरु एवं दाह, पित्त तथा श्रम को दूर करने वाला और मेद तथा शुक्र की वृद्धि करने वाला होता है॥ ३॥

अथ दुग्धोत्थनवनीतस्य गुणानाह

दुग्धोत्थं नवनीतं तु चक्षुष्यं रक्तपित्तनुत्। वृष्यं बल्यमतिस्निग्धं मधुरं ग्राहि शीतलम्॥

दूध से निकले हुए मक्खन का गुण—यदि दूध से निकला हुआ मक्खन हो तो वह नेत्रों के लिये हितकर, रक्तपित्तनाशक, वीर्यवर्धक, बलकारक, अत्यन्त स्निग्ध, मधुर रसयुक्त, ग्राही तथा शीतल होता है॥ ४॥

अथ सद्योनिःसारितनवनीतस्य गुणानाह

नवनीतं तु सद्यस्कं स्वादु ग्राहि हिमं लघु। मेध्यं किञ्चित्कषायाम्लमीषत्तक्रांशसङ्क्रमात्॥

तत्काल के निकाले हुये मक्खन का गुण—यदि तत्काल का निकाला हुआ मक्खन हो तो वह स्वादिष्ट, ग्राही, शीतल, लघु, मेधा के लिये हितकर एवं किञ्चित् तक्र का अंश मिला रहने से किञ्चित् कषाय तथा अम्ल रस से युक्त भी होता है॥ ५॥

अथ चिरन्तननवनीतस्य गुणानाह

सक्षारकटुकाम्लत्वाच्छर्द्यर्शःकुष्ठकारकम्। श्लेष्मलं गुरु मेदस्यं नवनीतं चिरन्तनम्॥ ६॥

पुराने मक्खन के गुण—पुराना मक्खन क्षार, कटु तथा अम्ल रस युक्त होने से वमन, अर्श तथा कुष्ठ को उत्पन्न करने वाला एवं कफजनक, गुरु तथा मेद को बढ़ाने वाला होता है॥ ६॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
सप्तदशो नवनीतवर्गः समाप्तः॥ १७॥

अथ घृतवर्गः

अथ घृतस्य नामगुणानाह

घृतमाज्यं हविः सर्पिः कथ्यन्ते तद्‌गुणा अथ। घृतं रसायनं स्वादु चक्षुष्यं वह्निदीपनम् ॥१॥
शीतवीर्यं विषालक्ष्मीपापपित्तानिलापहम्। अल्पाभिष्यन्दि कान्त्योजस्तेजोलावण्यवृद्धिकृत्॥
स्वरस्मृतिकरं मेध्यमायुष्यं बलकृद् गुरु। उदावर्त्तज्वरोन्मादशूलानाहव्रणान् हरेत्।
स्निग्धं कफकरं रक्षःक्षयवीसर्परक्तनुत् ॥ २ ॥

घी के संस्कृत नाम—घृत, आज्य, हविस् तथा सर्पिस् ये सब हैं। **गुण**—घी रसायन, स्वादिष्ट, नेत्रों के लिये हितकर, अग्निदीपक, शीतवीर्य, किंचित् अभिष्यन्दी, कान्ति, ओज, तेज और लावण्य की वृद्धि करने वाला, स्वर को स्वच्छ करने वाला तथा स्मरण-शक्ति को बढ़ाने वाला, मेधा (धारणाशक्ति) के लिये हितकर, आयु को बढाने वाला, बलकारक, गुरु, स्निग्ध, कफकारक एवं विष, अलक्ष्मी (दरिद्रता), पाप, पित्त, वायु, उदावर्त्त, ज्वर, उन्माद, शूल, आनाह (अफारा), व्रण, रक्षोग्रह, क्षय, वीसर्प तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है ॥ १-२ ॥

१ घृत

हि०-घृत, घी, घीव। **बं०**-घि, घृत। **म०**-तूप। **गु०**-घी। **ते०**-नेई, नेय्यि। **द्रा०**-नेय्। **क०**-तुप्पा। **फा०**-रोगनेजर्द। **अ०**-दुहनुल, वकर। **अं०**-Clerified butter (क्लेरिफायड बटर) ॥ १ ॥

अथ गव्यघृतस्य गुणानाह

गव्यं घृतं विशेषेण चक्षुष्यं वृष्यमग्निकृत्। स्वादुपाककरं शीतं वातपित्तकफापहम् ॥ ४ ॥
मेधालावण्यकान्त्योजस्तेजोवृद्धिकरं परम्। अलक्ष्मीपापरक्षोघ्नं वयसः स्थापकं गुरु ॥ ५ ॥
बल्यं पवित्रमायुष्यं सुमङ्गल्यं रसायनम्। सुगन्धं रोचनं चारु सर्वाज्येषु गुणाधिकम् ॥ ६ ॥

गाय के घी का गुण—गाय का घी नेत्रों के लिये विशेष हितकर, वीर्यवर्धक, अग्निवर्धक, विपाक में मधुररसयुक्त, शीतल, वात, पित्त तथा कफ को नष्ट करने वाला एवं मेधाशक्ति, लावण्य, कान्ति, ओज तथा तेज की अत्यन्त वृद्धि करने वाला, अलक्ष्मी, पाप तथा रक्षोग्रह को दूर करने वाला, अवस्था को स्थिर रखने वाला, गुरु, बलकारक, पवित्र, आयु को बढ़ाने वाला, मङ्गलदायक, रसायन, सुगन्धयुक्त, रोचक एवं सम्पूर्ण घृतों में उत्तम तथा अधिक गुणकारी होता है ॥ ४-६ ॥

अथ माहिषघृतस्य गुणानाह

माहिषन्तु घृतं स्वादु पित्तरक्तानिलापहम्। शीतलं श्लेष्मलं वृष्यं गुरु स्वादु विपच्यते ॥

भैंस के घी का गुण—भैंस का घी स्वादिष्ट, शीतल, कफजनक, वीर्यवर्धक, गुरु, विपाक में मधुर रसयुक्त एवं पित्तविकार तथा वात को नष्ट करने वाला होता है ॥ ७ ॥

अथाजघृतस्य गुणानाह

आजमाज्यं करोत्यग्निं चक्षुष्यं बलवर्द्धनम्। कासे श्वासे क्षये चापि हितं पाके भवेत् कटु ॥८॥

गुण—बकरी का घी जठराग्निकारक, नेत्रों के लिये हितकर, बलवर्धक, कास, श्वास तथा क्षय रोग में हितकर एवं विपाक में कटुरसयुक्त होता है ॥ ८ ॥

अथौष्ट्रघृतस्य गुणानाह

औष्ट्रं कटु घृतं पाके शोषक्रिमिविषापहम्। दीपनं कफवातघ्नं कुष्ठगुल्मोदरापहम् ॥ ९ ॥

ऊँटनी का घी—विपाक में कटुरसयुक्त, अग्निदीपक, कफ-वातनाशक एवं शोष, क्रिमि, विष, कुष्ठ, गुल्म तथा उदर रोग को नष्ट करने वाला होता है ॥ ९ ॥

अथाविकघृतस्य गुणानाह

पाके लघ्वाविकं सर्पिः सर्वरोगविनाशनम् ॥ १० ॥
वृद्धिं करोति चास्थ्नां वा अश्मरीशर्कराऽपहम्। चक्षुष्यमग्निसन्धुक्षं वातदोषनिवारणम् ॥

भेडी का घी—पाक में लघु, सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करने वाला, इन्द्रियों की वृद्धि करने वाला, नेत्रों के लिये हितकर, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला एवं पथरी, शर्करा तथा वातसम्बन्धी दोषों को दूर करने वाला होता है॥ १०-११॥

अथाविकघृतस्य गुणानाह

कफेऽनिले योनिदोषे पित्ते रक्ते च तद्धितम्। चक्षुष्यमाज्यं स्त्रीणां वा सर्पिः स्यादमृतोपमम्॥

स्त्री का घी—गुणों में अमृत के समान तथा नेत्रों के लिए हितकर एवं कफ, वात, योनिदोष, पित्त तथा रक्तविकार में हितकर होता है॥ १२॥

अथ वडवाघृतस्य गुणानाह

वृद्धिं करोति देहाग्न्योर्लघु पाके विषापहम्। तर्पणं नेत्ररोगघ्नं दाहनुद् वडवाघृतम्॥ १३॥

घोडी का घी—देह तथा अग्नि की वृद्धि करने वाला, पाक में लघु, विषनाशक, तृप्तिकारक, नेत्ररोगनाशक तथा दाह को दूर करने वाला होता है॥ १३॥

अथ दुग्धनिःसृतघृतस्य गुणानाह

घृतं दुग्धभवं ग्राहि शीतलं नेत्ररोगहृत्। निहन्ति पित्तदाहास्रमदमूर्च्छाभ्रमानिलान्॥१४॥

दूध से निकाले हुये घी का गुण—दूध से निकाला हुआ घी ग्राही, शीतल, नेत्ररोगनाशक एवं पित्त, दाह, रक्तविकार, मद, मूर्च्छा, भ्रम तथा वात को दूर करने वाला होता है॥ १४॥

अथ ह्यस्तनदुग्धोत्थघृतस्य गुणानाह

हविर्ह्यस्तनदुग्धोत्थं तत्स्याद्धैयङ्गवीनकम्। हैयङ्गवीनं चक्षुष्यं दीपनं रुचिकृत्परम्।
बलकृद् बृंहणं वृष्यं विशेषाज्ज्वरनाशनम्॥ १५॥

एक दिन के पहिले के दूध से निकाले हुए घी को संस्कृत में 'हैयङ्गवीन' कहते हैं। गुण—यह घी नेत्रों के लिए हितकर, अग्निदीपक, अत्यन्त रुचिकारक, बलवर्धक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), वीर्यवर्धक तथा विशेष करके ज्वरनाशक होता है॥ १५॥

अथ पुराणघृतस्य गुणानाह

वर्षादूर्ध्वं भवेदाज्यं पुराणं तत् त्रिदोषनुत्। मूर्च्छाकुष्ठविषोन्मादापस्मारतिमिरापहम्॥१६॥
यथा यथाऽऽखिलं सर्पिः पुराणमधिकं भवेत्। तथा तथा गुणैः स्वैः स्वैरधिकं तदुदाहृतम्॥

पुराने घी का गुण—एक वर्ष से ऊपर का रखा हुआ घी पुराना कहलाता है। पुराना घी-त्रिदोषनाशक एवं मूर्च्छा, कुष्ठ, विष, उन्माद, मिर्गी तथा तिमिर रोग को दूर करने वाला होता है। घी जैसे जैसे अधिक पुराने होते जायेंगे वैसे-वैसे अपने अपने गुणों को अधिक करते जायेंगे॥

अथ नवीनघृतस्य विषयानाह

योजयेन्नवमेवाज्यं भोजने तर्पणे श्रमे। बलक्षये पाण्डुरोगे कामलानेत्ररोगयोः॥ १८॥

नवीन घी के प्रयोग करने के विषय—भोजन, तर्पण, परिश्रम, बल का क्षय, पाण्डु, कामला तथा नेत्ररोग इन सबों में नवीन घृत का ही प्रयोग करना चाहिये॥ १८॥

अथ घृतप्रयोगस्याविषयानाह

राजयक्ष्मणि बाले च वृद्धे श्लेष्मकृते गदे॥ १९॥
रोगे सामे विसूच्यां च विबन्धे च मदात्यये। ज्वरे च दहने मन्दे न सर्पिर्बहु मन्यते॥२०॥

घी प्रयोग करने के अविषय—बालक तथा वृद्ध लोगों के लिए एवं राजयक्ष्मा, कफजन्यरोग, आमयुक्त रोग, विसूचिका (हैजा), मलबन्ध, मदात्यय, ज्वर तथा अग्नि की मन्दता इन सबों में घी देना अत्यन्त प्रशस्त नहीं है॥ १९-२०॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे
मिश्रप्रकरणेऽष्टादशो घृतवर्गः समाप्तः॥ १८॥



अथ मूत्रवर्गः

तत्र गोमूत्रगुणानाह

गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं क्षारं तिक्तकषायकम्। लघ्वग्निदीपनं मेध्यं पित्तकृत्कफवातहृत् ॥१॥
शूलगुल्मोदरानाहकण्डूवक्षिमुखरोगजित्। किलासगदवातामवस्तिरुक्कुष्ठनाशनम् ॥
कासश्वासापह शोथकामलापाण्डुरोगहृत् ॥ २ ॥
कण्डूकिलासगदशूलमुखाक्षिरोगान् गुल्मातिसारमरुदामयमूत्ररोधान्।
कास सकुष्ठजठरक्रिमिपाण्डुरोगान् गोमूत्रमेकमपि पीतमपाकरोति ॥ ३ ॥
सर्वेष्वपि च मूत्रेषु गोमूत्रं गुणतोऽधिकम्। अतोऽविशेषात्कथने मूत्रं गोमूत्रमुच्यते ॥ ४ ॥
प्लीहोदरश्वासकासशोथवर्चोग्रहापहम् ॥ ५ ॥
शूलगुल्मरुजाऽऽनाहकामलापाण्डुरोगहृत्। कषायं तिक्ततीक्ष्णं च पूरणात्कर्णशूलहृत् ॥ ६ ॥

गोमूत्र के गुण—गोमूत्र कटु, तिक्त तथा कषायरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्ण, क्षार (खारा), लघु, अग्निदीपक, मेधा के लिये हितकर, पित्तकारक, कफ तथा वातनाशक एवं शूल, गुल्म, उदररोग, आनाह (अफारा), खुजली, नेत्र तथा मुखसम्बन्धी रोग, किलास रोग (कुष्ठभेद), वात, आम, वस्तिसम्बन्धी रोग, कुष्ठ, कास, श्वास, शोथ, कामला तथा पाण्डुरोग को नष्ट करने वाला होता है। केवल गोमूत्र पान करने से ही खुजली, किलास रोग, शूल, मुख तथा नेत्रसम्बन्धी रोग, गुल्म, अतिसार, वातरोग, मूत्ररोध, कास, कुष्ठ, उदररोग, क्रिमि तथा पाण्डुरोग ये सब दूर हो जाते हैं। सम्पूर्ण मूत्रों में गोमूत्र ही सबसे अधिक गुणकारी होता है। अतः जहाँ पर सामान्य रूप से केवल 'मूत्र' शब्द का प्रयोग आवे वहाँ 'गोमूत्र' का ही बोध करना चाहिये। **गोमूत्र**—कषाय तथा तिक्त रसयुक्त, तीक्ष्ण गुणयुक्त, कान में डालने से कर्णशूलनाशक एवं प्लीहा, उदररोग, श्वास, कास, शोथ, मलरोध, शूल, गुल्म, आनाह (अफरा), कामला तथा पाण्डु रोग को दूर करने वाला होता है ॥ १-६ ॥

१ मूत्र

हि०-मूत, पेशाब, पेसाब। **बं०**-मुत, चोना, प्रस्राव। **म०**-मूंत, मूत्र। **गु०**-मुतर। **क०**-आफल गोत, मूत्र। **ते०**-उचा। **अं०**-Urine (युराइन)। **ले०**-*Urina* (युरिना) ॥१॥

अथ मनुष्यमूत्रगुणानाह

नरमूत्रं गरं हन्ति सेवितं तद्रसायनम्। रक्तपामाहरं तीक्ष्णं सक्षारलवणं स्मृतम् ॥ ७ ॥

मनुष्य के मूत्र का गुण—मनुष्य का मूत्र तीक्ष्ण, क्षार तथा लवण रसयुक्त, गरसंज्ञक विष, रक्तविकार तथा पामारोग नाशक होता है एवं यह सेवन करने से रसायन है ॥ ७ ॥

अथ मूत्रस्य सामान्यपरिभाषामाह

गोऽजाऽविमहिषीणां तु स्त्रीणां मूत्रं प्रशस्यते। खरोष्ट्रेभनराश्वानां पुंसां मूत्रं हितं स्मृतम् ॥

मूत्रविषयक सामान्य परिभाषा—गाय, बकरी तथा भैंस इनमें स्त्री जाति का मूत्र उत्तम होता है तथा गदहा, ऊँट, हाथी, मनुष्य तथा घोड़ा इनमें पुरुष जाति का मूत्र हितकर होता है अर्थात् जहाँ प्रयोग करना हो तो वहाँ उक्त मूत्रों का ही ग्रहण करना चाहिये ॥ ८ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
एकोनविंशो मूत्रवर्गः समाप्तः ॥ १९ ॥



अथ तैलवर्गः

तत्र तैलस्य स्वरूपं गुणं चाह

तिलादिस्निग्धवस्तूनां स्नेहस्तैलमुदाहृतम् । तत्तु वातहरं सर्वं विशेषात्तिलसम्भवम् ॥ १ ॥

तैल का स्वरूप—तिल आदि स्निग्ध (स्नेहयुक्त) वस्तुओं के स्नेह भाग को मुनि लोग 'तैल' कहते हैं । गुण-सभी प्रकार के तैल यद्यपि वातनाशक होते हैं तथापि तिल का तेल विशेषरूप से वात को नष्ट करने वाला होता है ॥ १ ॥

१ तैल

हि०-तेल । क०-तैल, येगै । बं०, म०, गु०-तेल । ते०-नुने । फा०-रोगन । अ०-दुह्नुल् । अं०-Oil (आयल) । ले०-*Oleum* (ओलियम्) ॥ १ ॥

अथ तिलतैलगुणानाह

तिलतैलं गुरु स्थैर्यबलवर्णकरं सरम् । वृष्यं विकाशि विशदं मधुरं रसपाकयोः ॥ २ ॥
सूक्ष्मं कषायानुरसं तिक्तं वातकफापहम् । वीर्येणोष्णं हिमं स्पर्शे बृंहणं रक्तपित्तकृत् ॥ ३ ॥
लेखनं बद्धविण्मूत्रं गर्भाशयविशोधनम् । दीपनं बुद्धिदं मेध्यं व्यवायि व्रणमेहनुत् ॥ ४ ॥
श्रोत्रयोनिशिरःशूलनाशनं लघुताकरम् । त्वच्यं केश्यं च चक्षुष्यमभ्यङ्गे भोजनेऽन्यथा ॥५॥
छिन्नभिन्नच्युतोत्पिष्टमथितक्षतपिच्चिते । भग्नस्फुटितविद्धाग्निदग्धविश्लिष्टदारिते ॥ ६ ॥
तथाऽभिहतनिर्भुग्नमृगव्याघ्रादिविक्षते । वस्तौ पानेऽन्नसंस्कारे नस्ये कर्णाक्षिपूरणे ॥
सेकाभ्यङ्गावगाहेषु तिलतैलं प्रशस्यते ॥ ७ ॥

तिल का तेल—गुरु, स्थिरता तथा बलकारक, वर्ण को उत्तम करने वाला, सारक, वृष्य (वीर्यवर्धक), विकाशी, विशद, रस तथा पाक में मधुर, सूक्ष्म गुण युक्त, आरम्भ में तिक्तरसयुक्त पश्चात् कषाय रस युक्त, वात तथा कफ नाशक, उष्णवीर्य, स्पर्श में शीतल, बृंहण (रस-रक्तादि-वर्धक), रक्तपित्तकारक, लेखन, मल तथा मूत्र को बाँधने वाला, गर्भाशय का शोधन करने वाला, अग्निदीपक, बुद्धिदायक, मेधा के लिये हितकर, व्यवायि गुण युक्त, व्रण तथा मेह को दूर करने वाला, कान, योनि तथा शिरसम्बन्धी शूल का नाशक, शरीर में लघुता करने वाला, अभ्यङ्ग (शरीर में मालिश) करने से त्वचा, केश तथा नेत्रों के लिये हितकर, किन्तु भोजन करने से अहितकर होता है । छिद जाने, भिद जाने, गिर जाने, पिस जाने, मसल जाने, घाव हो जाने, पिच जाने, टूट जाने, फट जाने, विंध जाने, अग्नि से जल जाने, हड्डियों के अपने स्थान से हट जाने, चिर जाने, चोट लग जाने, किसी अङ्ग के टेढ़े हो जाने तथा मृग या बाघ आदि से घायल हो जाने पर तिल का तेल हितकर होता है । वस्तिकर्म, पीने तथा अन्न के संस्कार करने (छौंकने) में और नस्य (नास) लेने तथा कान व आँख में डालने में एवं सेकने, मर्दन तथा अवगाहन करने में तिल का तेल उत्तम होता है ॥ २-७ ॥

ननु बृंहणलेखनयोः कथं सामानाधिकरण्यमित्याह

रूक्षादिदुष्टः पवनः स्रोतः सङ्कोचयेद् यदा । रसोऽसम्यग्वहन् कार्श्यं कुर्याद्रक्तान्यवर्द्धयन् ॥
तेषु प्रवेष्टुं सरतासौक्ष्म्यस्निग्धत्वमार्दवैः । तैलं क्षमं रसं नेतुं कृशानां तेन बृंहणम् ॥ ९ ॥
व्यवायिसूक्ष्मतीक्ष्णोष्णसरत्वैर्मेदसः क्षयम् । शनैः प्रकुरुते तैलं तेन लेखनमीरितम् ॥ १० ॥
द्रुतं पुरीषं बध्नाति स्खलितं तत्प्रवर्त्तयेत् । ग्राहकं सारकञ्चापि तेन तैलमुदीरितम् ॥ ११ ॥

यहाँ यह शङ्का होती है कि परस्पर विरुद्ध धर्म वाले बृंहण तथा लेखन ये दोनों एक साथ तिल के तेल में कैसे रहते हैं ? इसी का उत्तर देते हुए कहते हैं कि—रूक्षादि पदार्थों के सेवन करने से जब वायु दुष्ट होकर स्रोतोमार्ग को सङ्कुचित करता है तब रस भलीभांति नहीं बहने पाता और उससे रक्त की भी वृद्धि नहीं होने पाती । अतः उक्त रस शरीर में कृशता करने लगता

है। ऐसी स्थिति में तिल-तैल उन संकुचित स्रोतों में अपनी सरता, सूक्ष्मता, स्निग्धता तथा मृदुता इन सब गुणों के द्वारा प्रवेश करने के लिये तथा रसों को सर्वत्र यथास्थान पहुँचाने के लिये समर्थ होता है। इसी से कृश (दुर्बल) लोगों के लिये बृंहण (रस-रक्त मांसादि का वर्धक) कहा गया है। व्यवायी, सूक्ष्म, तीक्ष्ण, उष्ण तथा सर इन सब गुणों से युक्त होने से इनके द्वारा मेदा का धीरे-धीरे क्षय करता है, अतः तिल का तेल 'लेखन' कहा गया है। यह पतले मल को बांधता है तथा जो मल अपने स्थान से हट चुका है उसकी प्रवृत्ति करता है अतः क्रम से तेल ग्राहक तथा सारक दोनों कहा गया है॥ ८-११॥

अथ घृततैलयोः परिभाषामाह

घृतमब्दात्परं पक्वं हीनवीर्यं प्रजायते। तैलं पक्वमपक्वं वा चिरस्थायि गुणाधिकम्॥ १२॥

घी तथा तेल की परिभाषा—एक वर्ष से अधिक पुराना होने पर पकाया हुआ घी हीनवीर्य हो जाता है किन्तु तेल चाहे पकाया हुआ अथवा कच्चा ही हो जैसे-जैसे पुराना होता जाता है वैसे-वैसे अधिक गुणकारी होता है॥ १२॥

अथ सर्षपराजिकातैलयोर्गुणानाह

दीपनं सार्षपं तैलं कटुपाकरसं लघु। लेखनं स्पर्शवीर्योष्णं तीक्ष्णं पित्तास्रदूषकम्॥१३॥
कफमेदोऽनिलार्शोघ्नं शिरःकर्णामयापहम्। कण्डूकुष्ठकृमिश्वित्रकोठदुष्टकृमिप्रणुत्॥ १४॥
तद्वद्राजिकयोस्तैलं विशेषान्मूत्रकृच्छ्रकृत्॥ १५॥

सरसो तथा राई के तेल का गुण—सरसो का तेल अग्निदीपक, रस तथा विपाक में कटुरस-युक्त, लघु, लेखन, स्पर्श तथा वीर्य में उष्ण, तीक्ष्ण, पित्त तथा रक्त को दूषित करने वाला एवं कफ, मेद, वायु, बवासीर, शिर तथा कानसम्बन्धी रोग, खुजली, कुष्ठ, कृमि, श्वेतकुष्ठ, कोठ (कुष्ठभेद) तथा दुष्ट कृमि को नष्ट करने वाला होता है, इसी प्रकार दोनों प्रकार के राई तेल के भी गुण हैं किन्तु विशेष कर उन दोनों के तेल मूत्रकृच्छ्रकारक होते हैं॥ १३-१५॥

राजिकयोः=कृष्णराजिकारक्तराजिकयोः॥ १५॥

यहाँ 'राजिकयोः' पद से 'दोनों प्रकार की राई अर्थात् काली तथा लाल राई के' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १५॥

अथ तुवरीतैलगुणानाह

तीक्ष्णोष्णं तुवरीतैलं लघु ग्राहि कफास्रजित्। वह्निकृद्विषहृत्कण्डूकुष्ठकोठकृमिप्रणुत्॥
मेदोदोषापहं चापि व्रणशोथहरं परम्॥ १६॥

तोरी के तेल के गुण—तोरी का तेल तीक्ष्ण, उष्ण, लघु, ग्राही, कफ तथा रक्तविकार को दूर करने वाला, अग्निकारक, विषनाशक एवं खुजली, कुष्ठ, कोठ (कुष्ठ भेद), कृमि तथा मेदसम्बन्धी दोष को नष्ट करने वाला एवं व्रण तथा शोथ को अत्यन्त दूर करने वाला होता है॥ १६॥

अथातसीतैलगुणानाह

अतसीतैलमाग्नेयं स्निग्धोष्णं कफपित्तकृत्। कटुपाकमचक्षुष्यं बल्यं वातहरं गुरु॥१७॥
मलकृद्रसतः स्वादु ग्राहि त्वग्दोषहृद् घनम्॥ १८॥
बस्तौ पाने तथाऽभ्यङ्गे नस्ये कर्णस्य पूरणे। अनुपानविधौ चापि प्रयोज्यं वातशान्तये॥

अलसी के तेल के गुण—अलसी का तेल आग्नेय (अग्नि के अधिक अंशों से युक्त), स्निग्ध, उष्ण, कफ तथा पित्तकारक, विपाक में कटु रसयुक्त, नेत्रों के लिये हितकर, बलकारक, वातनाशक, गुरु, मलकारक, मधुररस युक्त, ग्राही, त्वचागत दोष को दूर करने वाला और घन है। वस्तिकर्म पीने तथा मालिश करने में एवं नस्य (नास) लेने तथा कान में टालने के लिये और वायु को शान्त करने के लिये अनुपान विधि में अलसी के तेल का प्रयोग करना चाहिये॥ १७-१९॥

अथ कुसुम्भतैलगुणानाह

कुसुम्भतैलमम्लं स्यादुष्णं गुरु विदाहि च । चक्षुष्यमहितं बल्यं रक्तपित्तकफप्रदम् ॥२०॥

कुसुम के तेल का गुण—कुसुम का तेल अम्लरस युक्त, उष्ण, गुरु, विदाही, नेत्रों के लिये अहितकर, बलकारक एवं रक्तपित्त तथा कफकारक है ॥ २० ॥

अथ खसबीज (पोस्ता) तैलगुणानाह

तैलं तु खसबीजानां बल्यं वृष्यं गुरु स्मृतम् । वातहृत्कफहृच्छीतं स्वादुपाकरसं च च तत् ॥

पोस्ता के तेल का गुण—पोस्ता का तेल बलकारक, वीर्यवर्धक, गुरु, वात तथा कफ नाशक, शीतल एवं रस तथा विपाक में मधुर होता है ॥ २१ ॥

अथैरण्डतैलगुणानाह

एरण्डतैलं तीक्ष्णोष्णं दीपनं पिच्छिलं गुरु । वृष्यं त्वच्यं वयःस्थापि मेधाकान्तिबलप्रदम् ॥
कषायानुरसं सूक्ष्मं योनिशुक्रविशोधनम् । विस्रं स्वादु रसे पाके सतिक्तं कटुकं रसम् ॥२३॥
विषमज्वरहृद्रोगकुष्ठगुह्यादिशूलनुत् । हन्ति वातोदरानाहगुल्माष्ठीलाकटिग्रहान् ॥ २४ ॥
वातशोणितविड्बन्धब्रध्नशोथामविद्रधीन् । आमवातगजेन्द्रस्य शरीरवनचारिणः ॥
एक एव निहन्ताऽयमेरण्डस्नेहकेसरी ॥ २५ ॥

रेंडी के तेल का गुण—रेंड़ी का तेल तीक्ष्ण, उष्ण, अग्निदीपक, पिच्छिल गुणयुक्त, गुरु, वीर्यवर्धक, त्वचा के लिए हितकर, अवस्था को स्थिर रखने वाला, मेधा, कान्ति तथा बल को देनेवाला, मधुर, तिक्त तथा कटुरस युक्त, अन्त में कषाय रसयुक्त, विपाक में मधुररसयुक्त, सूक्ष्म (सूक्ष्म स्रोतों में प्रवेश करने वाला), योनि तथा शुक्र का शोधन करने वाला, विस्र (दुर्गन्ध युक्त) एवं विषमज्वर, हृद्रोग, पीठ तथा गुह्य (गुदा) आदि का शूल, वात, उदरसम्बन्धी रोग, आनाह (अफरा), गुल्म, अष्ठीला, कटिग्रह (कमर का जकड जाना), वातरक्त, मलबन्ध, ब्रध्न, शोथ, आम और विद्रधि को दूर करने वाला होता है। शरीररूपी जङ्गल के अन्दर विचरने वाले आमवातरूपी गजराज को अकेला ही नाश करने वाला यह रेंडी का तेलरूपी सिंह है ॥ २२-२५ ॥

अथ सर्जरसतैलगुणानाह

तैलं सर्जरसोद्भूतं विस्फोटव्रणनाशनम् । कुष्ठपामाकृमिहरं वातश्लेष्मामयापहम् ॥ २६ ॥

राल के तेल के गुण—राल का तेल विस्फोटक (फोडा), व्रण, कुष्ठ, खुजली, कृमि, वात तथा कफसम्बन्धी रोग को दूर करने वाला होता है ॥ २६ ॥

अथ सर्वतैलानां गुणानाह

तैलं स्वयोनिगुणकृद्वाग्भटेनाखिलं मतम् । अतः शेषस्य तैलस्य गुणा ज्ञेयाः स्वयोनिवत् ॥२७॥

सभी प्रकार के तैलों के गुण—'वाग्भट' का यह मत है कि सभी तेल अपने-अपने उत्पत्तिस्थान द्रव्यों के अनुरूप गुणवाले होते हैं अर्थात् जिसका जो गुण होता है उसके तेल का भी वही गुण होता है, अतः अवशिष्ट तेलों के गुण उनके उत्पत्तिस्थान द्रव्यों के समान ही समझना चाहिये ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे
मिश्रप्रकरणे विंशस्तैलवर्गः समाप्तः ॥ २० ॥

—o—

अथ सन्धानवर्गः

तत्र काञ्जिकस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

सन्धितं धान्यमण्डादि काञ्जिकं कथ्यते जनैः। काञ्जिकं भेदि तीक्ष्णोष्णं रोचनं पाचनं लघु॥ दाहज्वरहरं स्पर्शात्पानाद्वातकफापहम्। माषादिवटकैर्यत्तु क्रियते तद् गुणाधिकम्॥ २॥ लघु वातहरं तत्तु रोचनं पाचनं परम्। शूलाजीर्णविबन्धामनाशनं वस्तिशोधनम्॥ ३॥

काञ्जी के लक्षण—जो धान्य और मण्डक आदि किसी पात्र में रख कर उसमें जल डाल कर उस पात्र का मुंह ३ दिन ढँक कर रखा रहता है उसी को काञ्जिक (कांजी) कहते हैं। **गुण**–कांजी मल का भेदन करने वाला, तीक्ष्ण, उष्ण, रोचक, पाचक, लघु, स्पर्श (लगाने) से दाह तथा ज्वर को दूर करने वाला, पीने से वात तथा कफ को नष्ट करने वाला होता है। यही कांजी यदि उरद के वड़े आदि से तैयार की जाय तो अधिक गुणकारी होती है, अर्थात् वह लघु, वातनाशक, रोचक तथा अत्यन्त पाचक, वस्तिशोधक एवं शूल, अजीर्ण, विबन्ध तथा आम को नष्ट करने वाली होती है॥

अथ काञ्जिकसेवनायोग्यजनानाह

शोषमूर्च्छाभ्रमार्त्तानां मदकण्डूविशोषिणाम्। काञ्जिकं कुष्ठिनां रक्तपित्तिनां न प्रशस्यते॥ पाण्डुरोगे यक्ष्मणि च तथा शोषातुरेषु च। क्षतक्षीणे तथा श्रान्ते मन्दज्वरनिपीडिते॥ एतेषां न हितं प्रोक्तं काञ्जिकं दोषकारकम्॥ ५॥

काञ्जी सेवन के अयोग्य लोग—जो लोग शोष, मूर्च्छा या भ्रम से आर्त्त हैं, अथवा मद तथा खुजली से सूखते जाते हैं किंवा कुष्ठ तथा रक्तपित्त रोग वाले हैं, उन लोगों के लिये तथा पाण्डुरोग, यक्ष्मा तथा शोष रोग से पीड़ित और क्षत से क्षीण, परिश्रम से थके हुए तथा मन्दज्वर से जो पीडित हैं इन लोगों के लिये भी कांजी हितकर नहीं होती प्रत्युत दोषों को उत्पन्न करने वाली ही होती है॥ ४–५॥

अथ तुषोदकस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

तुषोदकं यवैरामैः सतुषैः शकलीकृतैः॥ ६॥

तुषोदक के लक्षण—कच्चे तथा भूसी के सहित जो टुकड़े-टुकड़े किये हुए जौ हैं उन्हें सन्धान की रीति से यदि रख दिया जाय तो जो जल भाग है उसी को 'तुषोदक' कहते हैं॥ ६॥

***यवैः = उदके संहितैः सन्धानवर्गोक्तत्वात्॥ ६॥**

यहाँ 'यवैः' पद से 'सन्धानवर्ग में कहे हुए होने से जल में सन्धान की रीति से रखे हुए जौ' यह अर्थ समझना चाहिये॥ ६॥

तुषाम्बु दीपनं हृद्यं पाण्डुक्रिमिगदापहम्। तीक्ष्णोष्णं पाचनं पित्तरक्तकृद्वस्तिशूलनुत्॥७॥

गुण—तुषाम्बु (तुषोदक) अग्निदीपक, हृदय के लिये हितकर, तीक्ष्ण, उष्ण, पाचक एवं पाण्डु तथा क्रिमिरोग नाशक, पित्त तथा रक्तविकार को उत्पन्न करने वाला और वस्तिशूलनाशक होता है॥ ७॥

अथ सौवीरस्य लक्षणं गुणांश्चाह

सौवीरं तु यवैरामैः पक्वैर्वा निस्तुषैः कृतम्। गोधूमैरपि सौवीरमाचार्य्याः केचिदूचिरे॥८॥ सौवीरं तु ग्रहण्यर्शःकफघ्नं भेदि दीपनम्। उदावर्त्ताङ्गमर्दास्थिशूलानाहेषु शस्यते॥ ९॥

सौवीर के लक्षण—कच्चे अथवा पके भूसी रहित जौ के टुकड़ों से उक्त सधान की रीति से जो जल तैयार होता है उसे 'सौवीर' कहते हैं। कोई-कोई आचार्य गेहूँ के टुकड़ों से जो तैयार किया जाता है उसे 'सौवीर' कहते हैं। गुण–सौवीर मलभेदक, अग्निदीपक, ग्रहणी, अर्श और कफ

नाशक एवं उदावर्त्त, अङ्गमर्द (अङ्गों का टूटना), हड्डियों में शूल की भाँति दर्द तथा आनाह (अफरा) में उत्तम (हितकर) होता है ॥ ८-९ ॥

अथारनालस्य लक्षणं गुणांश्चाह

आरनालं तु गोधूमैरामैः स्यान्निस्तुषीकृतैः। पक्वैर्वा सन्धितैस्तत्तु सौवीरसदृशं गुणैः ॥१०॥

आरनाल के लक्षण—कच्चे अथवा पके हुये भूसी रहित गेहूँ के टुकड़ों से सन्धान की रीति से तैयार किये हुए को 'आरनाल' कहते हैं। गुण-आरनाल गुणों में सौवीर की भाँति ही होता है ॥ १० ॥

अथ धान्याम्लस्य लक्षणं गुणांश्चाह

धान्याम्लं शालिचूर्णं च कोद्रवादिकृतं भवेत्। धान्याम्लं धान्ययोनित्वात्प्रीणनं लघु दीपनम्। अरुचौ वातरोगेषु सर्वेष्वास्थापने हितम् ॥ ११ ॥

धान्याम्ल के लक्षण—शालि (जड़हन) चावलों के चूर्ण अथवा कोदो आदि के चावलों के चूर्ण से सन्धान की रीति से तैयार होता है उसे 'धान्याम्ल' कहते हैं। गुण-धान्याम्ल का योनि (उपादान कारण) धान्य होने से यह तृप्तिकारक, लघु, अग्निदीपक, अरुचि, सभी प्रकार के वातरोग तथा आस्थापन वस्ति में हितकर होता है ॥ ११ ॥

अथ शिण्डाक्या लक्षणं गुणांश्चाह

शिण्डाकी राजिकायुक्तैः स्यान्मूलकदलद्रवैः। सर्षपस्वरसैर्वाऽपि शालिपिष्टकसंयुतैः ॥

शिण्डाकी के लक्षण—राई तथा मूल के पत्तों के रस अथवा सरसों के स्वरस और शालि (जड़हन) के चावलों के चूर्ण से सन्धान की रीति से जो तैयार होता है उसे 'शिण्डाकी' कहते हैं॥

***सन्धितैरिति शेषः ॥ १२ ॥**

यहाँ 'सन्धितैः' यह विशेषण ऊपर से लगाना चाहिये जिससे 'सन्धान की रीति से जो तैयार होता है' यह अर्थ निकले ॥ १२ ॥

शिण्डाकी रोचनी गुर्वी पित्तश्लेष्मकरी स्मृता ॥ १३ ॥

गुण—शिण्डाकी रोचक, गुरु, पित्त तथा कफ को उत्पन्न करने वाली होती है ॥ १३ ॥

अथ शुक्तस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

कन्दमूलफलादीनि सस्नेहलवणानि च। यत्र द्रवेऽभिपूयन्ते तच्छुक्तमभिधीयते ॥ १४ ॥
शुक्तं कफघ्नं तीक्ष्णोष्णं रोचनं पाचनं लघु। पाण्डुक्रिमिहरं रूक्षं भेदनं रक्तपित्तकृत् ॥१५॥

शुक्त के लक्षण—कन्द, मूल और फल आदि तेल तथा नमक के सहित जिस द्रव-पदार्थ में डुबोकर सन्धान की रीति से बनाये जाते हैं, उसे 'शुक्त' कहते है। **गुण**—शुक्त कफनाशक, तीक्ष्ण, उष्ण, रोचक, पाचक, लघु, रूक्ष, मलभेदक, रक्तपित्तकारक एवं पाण्डु तथा कृमि को दूर करने वाला होता है ॥ १४-१५ ॥

अथासुतम् (संधान)। तस्य लक्षणं गुणांश्चाह

कन्दमूलफलाढ्यं यत्तत्तु विज्ञेयमासुतम्। तद्रुच्यं पाचनं वातहरं लघु विशेषतः ॥ १६ ॥

कन्द, मूल तथा फल आदि से युक्त जो काँजी है उसे 'आसुत' कहते हैं। **गुण**—आसुत रुचिकारक, पाचक, वातनाशक तथा विशेषकर लघु होता है ॥ १६ ॥

अथ मद्यस्य नामानि लक्षणं गुणांश्चाह

मद्यन्तु सीधुमैरेयमिरा च मदिरा सुरा। कादम्बरी वारुणी च हालाऽपि बलवल्लभा ॥१७॥
पेयं यन्मादकं लोकैस्तन्मद्यमभिधीयते। यथाऽरिष्टं सुरा सीधुरासवाद्यमनेकधा ॥ १८ ॥
मद्यं सर्वं भवेदुष्णं पित्तकृद्वातनाशनम्। भेदनं शीघ्रपाकं च रूक्षं कफहरं परम् ॥ १९ ॥
अम्लं च दीपनं रुच्यं पाचनं चाशुकारि च। तीक्ष्णं सूक्ष्मं च विशदं व्यवायि च विकाशि च॥

मद्य के संस्कृत नाम—मद्य, सीधु, मैरेय, इरा, मदिरा, सुरा, कादम्बरी, वारुणी, हाला तथा बलवल्लभा ये सब हैं। लक्षण-नशा लाने वाला और पीने योग्य जो द्रव्य है उसे 'मद्य' कहते हैं।

मद्य के भेद—अरिष्ट, सुरा, सीधु तथा आसव आदि अनेक भेद हैं। गुण—सभी प्रकार के मद्य उष्ण, पित्तकारक, वातनाशक, मलभेदक, शीघ्र पचने वाले, रूक्ष, अत्यन्त कफनाशक, अम्लरस-युक्त, अग्निदीपक, रुचिकारक, पाचक एवं शीघ्रकारिता, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, विशद, व्यवायि तथा विकाशि गुणों से युक्त होते हैं ॥ १७-२० ॥

१ मदिरा

हि०-मद्य, मदिरा, दारू, शराब। बं०-मद। अं०-Wine (वाइन) ॥ १ ॥

अथारिष्टस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

पक्वौषधाम्बुसिद्धं यन्मद्यं तत्स्यादरिष्टकम् ॥ २१ ॥

अरिष्ट के लक्षण—पकाई हुई औषध तथा जल से सिद्ध किया हुआ जो मद्य होना है उसे 'अरिष्ट' कहते हैं ॥ २१ ॥

***अरिष्टं=मद्यमिति लोके। यथा—द्राक्षारिष्टं, दशमूलारिष्टम्, बब्बूलारिष्टमिति ॥ २१ ॥**

यहाँ 'अरिष्ट' पद से लोक में प्रसिद्ध 'मद्य' का ग्रहण करना चाहिये। जैसे-द्राक्षारिष्ट (दाख का अरिष्ट), दशमूलारिष्ट, बब्बूलारिष्ट इत्यादि ॥ २१ ॥

अरिष्टं लघुपाकेन सर्वतश्च गुणाधिकम्। अरिष्टस्य गुणा ज्ञेया बीजद्रव्यगुणैः समाः ॥ २२ ॥

गुण—अरिष्ट पाक में लघु एवं सबसे अधिक गुणकारी होता है। अरिष्ट के गुण जिन द्रव्यों का वह बनाया जाता है उसके समान होते हैं ॥ २२ ॥

अथ सुराया लक्षणं गुणाँश्चाह

शालिषष्टिकपिष्टादिकृतं मद्यं सुरा स्मृता। सुरा गुर्वी बलस्तन्यपुष्टिमेदःकफप्रदा।
ग्राहिणी शोथगुल्मार्शोग्रहणीमूत्रकृच्छ्रनुत् ॥ २३ ॥

सुरा के लक्षण—शालि (जडहन) तथा साठी के चावलों के चूर्ण आदि से जो मद्य तैयार किया जाता है उसे 'सुरा' कहते हैं। गुण—सुरा गुरु, ग्राही, बल तथा स्तनों में दूध की वृद्धि, शरीर की पुष्टि, मेद तथा कफ करने वाला एव शोथ, गुल्म, अर्श (बवासीर), ग्रहणी तथा मूत्रकृच्छ्र को दूर करने वाला होता है ॥ २३ ॥

अथ सुराभेदस्य वारुण्या लक्षणगुणानाह

पुनर्नवाशालिपिष्टिविहिता वारुणी स्मृता। संहितैस्तालखर्जूररसैर्या साऽपि वारुणी।
सुरावद्वारुणी लघ्वी पीनसाध्मानशूलनुत् ॥ २४ ॥

सुरा का भेद वारुणी के लक्षण—पुनर्नवा तथा शालि के चावलों के चूर्ण से जो सुरा बनाई जाती है और ताल तथा खजूर के रस को सन्धान की रीति से रखने पर जो तैयार होती है उसे 'वारुणी' कहते हैं। गुण—वारुणी गुणों में यद्यपि सुरा के समान ही होती है तथापि यह उसकी अपेक्षा लघु एवं पीनस, आध्मान (अफरा) तथा शूल को दूर करने वाली होती है ॥ २४ ॥

***सुरातो भेदार्थं लघ्वीति ॥ २४ ॥**

यहाँ 'लघ्वी' पद से 'सुरा' से वारुणी का भेद दिखलाते हैं। अर्थात् 'सुरा' गुरु होती है और 'वारुणी' लघु होती है ॥ २४ ॥

अथ द्विविधसीधोर्लक्षणगुणानाह

इक्षोः पक्वै रसैः सिद्धः सीधुः पक्वरसश्च सः। आमैस्तैरेव यः सीधुः स च शीतरसः स्मृतः ॥
सीधुः पक्वरसः श्रेष्ठः स्वराग्निबलवर्णकृत्। वातपित्तकरः सद्यः स्नेहनो रोचनो हरेत् ॥ २६ ॥
विबन्धमेदःशोफार्शःशोफोदरकफामयान्। तस्मादल्पगुणः शीतरसः सलेखनः स्मृतः ॥ २७ ॥

दो प्रकार के सीधु के लक्षण—ईख के पके हुये रस से जो मद्य तैयार होता है वह 'पक्वरस सीधु' और जो ईख के कच्चे रस से तैयार होता है वह 'शीतरस सीधु' कहलाता है। गुण—पक्वरस सीधु श्रेष्ठ, स्वर तथा वर्ण को उत्तम करने वाला, अग्नि तथा बलकारक, वात तथा पित्त करने वाला, तत्काल स्नेहन करने वाला, रोचक एवं विबन्ध, मेद, शोथ, बवासीर, उदर का शोथ तथा कफसम्बन्धी विकारों को नष्ट करने वाला होता है। शीतरस सीधु का गुण—यह पक्वरस सीधु की अपेक्षा अल्प गुणकारी तथा अधिक लेखन गुण विशिष्ट होता है ॥ २५-२७ ॥

अथासवस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

यदपक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः ॥ २८ ॥

आसव के लक्षण—विना पकाये हुये औषध तथा जल से जो मद्य बनाया जाता है वह 'आसव' कहलाता है ॥ २८ ॥

*** यथा—लोहासवादिः ॥ २८ ॥**

जैसे 'लोहासव' आदि बनता है ॥ २८ ॥

आसवस्य गुणा ज्ञेया बीजद्रव्यगुणैः समाः ॥ २९ ॥

गुण—आसव के गुण बीजद्रव्यों (जिन द्रव्यों से आसव बनाया जाता है उसे 'बीजद्रव्य' समझना चाहिये) के गुणों के समान होते हैं ॥ २९ ॥

अथ नवपुराणमदिरागुणानाह

मद्यं नवमभिष्यन्दि त्रिदोषजनकं सरम् । अहृद्यं बृंहणं दाहि दुर्गन्धं विशदं गुरु ॥ ३० ॥
जीर्णं तदेव रोचिष्णु क्रिमिश्लेष्मानिलापहम् । हृद्यं सुगन्धि गुणवल्लघु स्रोतोविशोधनम् ॥

नई मदिरा के गुण—नई मदिरा अभिष्यन्दी, त्रिदोषजनक, सारक, हृदय के लिये अहितकर, बृंहण, दाह उत्पन्न करने वाली, दुर्गन्ध तथा विशद गुण युक्त एवं गुरु होती है । **पुरानी मदिरा**—रुचि को उत्पन्न करने वाली, हृदय के लिये हितकर, सुगन्धयुक्त, गुणकारक, लघु, स्रोतोमार्ग का शोधन करने वाली एवं क्रिमि, कफ तथा वायु को नष्ट करने वाली होती है ॥ ३०–३१ ॥

अथ सात्त्विकादिमनुष्याणां मद्येन जाताश्चेष्टा आह

सात्त्विके गीतहास्यादि राजसे साहसादिकम् । तामसे निन्द्यकर्माणि निद्रांञ्च मदिराऽऽचरेत् ॥

सात्त्विकादि मनुष्यों की मद्य से उत्पन्न हुई चेष्टायें—मदिरा सात्त्विक (सत्त्वगुणी) मनुष्यों में पीने से गाना तथा हंसना आदि कार्यों को कराने लगती है—राजस (रजोगुणी) मनुष्यों में साहस आदि कार्यों को तथा तामस (तमोगुणी) मनुष्यों में निन्द्यकर्म तथा निद्रा को कराती है ॥

*** आचरेत् = कुर्यात् ॥ ३२ ॥**

यहाँ 'आचरेत्' पद से 'कराने लगती है' यह भावार्थ समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

अथ मद्यपानप्रकारमाह

विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम् । प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतं यथा ॥
किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम् । अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम् ॥

मद्य पीने का प्रकार—जो मनुष्य प्रसन्न होता हुआ, हितकारक अन्नों के साथ बलानुसार यथासमय विधिपूर्वक मात्रा के साथ मद्य पीता है तो उसे वह (मद्य) अमृत के समान गुणकारी होता है । क्योंकि मद्य का स्वभाव जिस प्रकार अन्न का है ठीक वैसा ही है, जैसे अन्न अविधिपूर्वक सेवन करने से रोग उत्पन्न करने वाला होता है और विधिपूर्वक सेवन करने से अमृत के समान गुणकारी होता है वैसे ही मद्य को भी समझना चाहिये ॥ ३३–६४ ॥

अथ मद्यगन्धस्य दूरीकरणोपायमाह

मुस्तैलवालुगदजीरकधान्यकैला यश्चर्वयन् सदसि वाचमभिव्यनक्ति ।
स्वाभाविकं मुखजमुज्झति पूतिगन्धं गन्धञ्च मद्यलशुनादिभवञ्च नूनम् ॥ ३५ ॥

मद्य के गन्ध को दूर करने का उपाय—नागरमोथा, एलुआ (शीतलचीनी के समान सुगन्धित द्रव्य), कूठ, जीरा, धनियां और इलायची इन सबों को चबाता हुआ जो मद्य पीने वाला मनुष्य सभा के मध्य में बातचीत करता है, उसके मुख का स्वाभाविक दुर्गन्ध तथा मद्य एवं लहसुन आदि से उत्पन्न हुआ गन्ध निश्चय दूर हो जाता है ॥ ३५ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
एकविंशः सन्धानवर्गः समाप्तः ॥ २१ ॥

अथ मधुवर्गः

तत्र मधुनो नामगुणानाह

मधु माक्षिकमाध्वीकक्षौद्रसारघमीरितम् । मक्षिकावरटीभृङ्गवान्तं पुष्परसोद्भवम् ॥ १ ॥
मधु शीतं लघु स्वादु रूक्षं ग्राहि विलेखनम् । चक्षुष्यं दीपनं स्वर्यं व्रणशोधनरोपणम् ॥२॥
सौकुमार्यकरं सूक्ष्मं परं स्रोतोविशोधनम् । कषायानुरसं ह्लादि प्रसादजनकं परम् ॥ ३ ॥
वर्ण्यं मेधाकरं वृष्यं विशदं रोचनं हरेत् । कुष्ठार्शःकासपित्तास्रकफमेहक्लमक्रिमीन् ॥ ४ ॥
मेदस्तृष्णावमिश्वासहिक्काऽतीसारविड्ग्रहान् । दाहक्षतक्षयांस्तत्तु योगवाह्यल्पवातलम् ॥५॥

मधु (शहद) के संस्कृत नाम—मधु, माक्षिक, माध्वीक, क्षौद्र, सारघ, माक्षिकावान्त, वरटीवान्त, भृङ्गवान्त तथा पुष्परसोद्भव ये सब हैं। **गुण**—मधु शीतल, लघु, स्वादिष्ट, रूक्ष, ग्राही, विलेखन, नेत्रों के लिए हितकर, अग्निदीपक, स्वर को उत्तम बनाने वाला, व्रण का शोधन तथा रोपण करने वाला, सुकुमारता करने वाला, सूक्ष्म (सूक्ष्मस्रोतोगामी), स्रोतोमार्ग का अत्यन्त शोधन करने वाला, आरम्भ में मधुर अन्त में कषाय रसयुक्त, आह्लादकारक, अत्यन्त प्रसादजनक, वर्ण (शरीर के रङ्ग) को उत्तम करने वाला, मेधाशक्ति को उत्पन्न करने वाला, वीर्यवर्धक, विशद गुणयुक्त, रोचक, योगवाही (जिसके साथ इसका योग हो उसके सदृश गुण को करने वाला), थोड़ा वातजनक एवं कुष्ठ, अर्श, कास, पित्त, रक्तविकार, कफ, प्रमेह, क्लान्ति, क्रिमि, मेद, तृषा, वमन, श्वास, हिचकी, अतीसार, मलबन्ध, दाह, क्षत और क्षय को नष्ट करने वाला होता है ॥

१ मधु

हि०—मधु, शहद, शहत, सहत । **बं०**—मधु, मौ । **ते०**—तेले, तेनी । **म०**—मधु । **क०**—जेनपुष्प, जेनतुप्प । **गु०**—मध । **पं०**—शहत, मधु । **मा०**—शहत । **द्रा०**—तेन् । **फा०**—शहद, अङ्गवीन । **अ०**—असल, असलुल-नहल् । **अं०**—Honey (हनी) । **ले०**—*Mel* (मेल) ।

मधु—नाना प्रकार के फूलों का रस है । मधुमक्खियाँ इसे फूलों से चूस कर अपने छत्ते में जमा करती हैं । वसन्त ऋतु में खिले हुए फूलों से चूसकर जो शहद बनाती हैं उसे जेठ मास में निकालने से वह उत्तम मधु कहा जाता है ॥ १ ॥

अथ मधुभेदानाह

माक्षिकं भ्रामरं क्षौद्रं पौत्तिकं छात्रमित्यपि । आर्घ्यमौद्दालकं दालमित्यष्टौ मधुजातयः ॥६॥

मधु के भेद—१ माक्षिक, २ भ्रामर, ३ क्षौद्र, ४ पौत्तिक, ५ छात्र, ६ आर्घ्य, ७ औद्दालक, दाल, इस प्रकार ये ८ मधु की जातियाँ हैं ॥ ६ ॥

अथ तेषां लक्षणं गुणाश्च ।

तत्र माक्षिकस्य लक्षणगुणानाह

मक्षिकाः पिङ्गवर्णास्तु महत्यो मधुमक्षिकाः । ताभिः कृतं तैलवर्णं माक्षिकं परिकीर्त्तितम् ॥७॥
माक्षिकं मधुषु श्रेष्ठं नेत्रामयहरं लघु । कामलाऽर्शःक्षतश्वासकासक्षयविनाशनम् ॥ ८ ॥

माक्षिक जातीय मधु के लक्षण—पिङ्गल वर्ण वाली जो बड़ी मधुमक्खियाँ होती हैं उनके द्वारा उत्पन्न किये हुये, तेल के समान वर्णवाले मधु को 'माक्षिक' कहते हैं । **गुण**—माक्षिकजातीय मधु सभी प्रकार के मधुओं में श्रेष्ठ होता है एवं नेत्रसम्बन्धी रोगों को दूर करने वाला, लघु तथा कामला, अर्श, क्षत, श्वास, कास और क्षय को नष्ट करने वाला होता है ॥ ७-८ ॥

अथ भ्रामरस्य लक्षणगुणानाह

किञ्चित्सूक्ष्मैः प्रसिद्धेभ्यः षट्पदेभ्योऽलिभिश्चितम् । निर्मलं स्फटिकाभं यत्तन्मधु भ्रामरं स्मृतम् ॥
भ्रामरं रक्तपित्तघ्नं मूत्रजाड्यकरं गुरु । स्वादुपाकमभिष्यन्दि विशेषात्पिच्छिलं हिमम् ॥१०॥

भ्रामरजातीय मधु के लक्षण—प्रसिद्ध छ पैरों वाले भौंरों से कुछ छोटे भ्रमरों (भौंरों) से संगृहीत, स्फटिक के समान निर्मल जो मधु होता है उसे 'भ्रामर' कहते हैं । **गुण**—भ्रामरजातीय

मधु रक्तपित्तनाशक, मूत्र में जडता उत्पन्न करने वाला, गुरु, विपाक में मधुर रस युक्त, अभिष्यन्दी, विशेष रूपसे पिच्छिल और शीतवीर्य होता है ॥ ९-१० ॥

अथ क्षौद्रस्य लक्षणगुणानाह

मक्षिकाः कपिलाः सूक्ष्माः क्षुद्राऽऽख्यास्तत्कृतं मधु। मुनिभिः क्षौद्रमित्युक्तं तद्वर्णात्कपिलं भवेत्
गुणैर्माक्षिकवत्क्षौद्रं विशेषान्मेहनाशनम् ॥ ११ ॥

क्षौद्रजातीय मधु के लक्षण—कपिल वर्ण की सूक्ष्म जो 'क्षुद्रा' नामक मधुमक्खियाँ होती हैं उनके द्वारा बनाये गये कपिल वर्ण के मधु को मुनियों ने 'क्षौद्र' कहा है। गुण—क्षौद्रजातीय मधु गुणों में पूर्वोक्त माक्षिकजातीय मधु के सदृश होता है और विशेष रूप से प्रमेहनाशक होता है ॥

अथ पौत्तिकमधुनो लक्षणगुणानाह

कृष्णा या मशकोपमा लघुतराः प्रायो महापीडिका
वृक्षाणां पृथुकोटरान्तरगताः पुष्पासवं कुर्वते।
तास्तज्ज्ञैरिह पुत्तिका निगदितास्ताभिः कृतं सर्पिषा
तुल्यं यन्मधु तद्वनेचरजनैः सङ्कीर्त्तितं पौत्तिकम् ॥ १२ ॥

पौत्तिकं मधु रूक्षोष्णं पित्तदाहास्रवातकृत्। विदाहि मेहकृच्छ्रघ्नं ग्रन्थ्यादिक्षतशोषि च ॥

पौत्तिकजातीय मधु के लक्षण—प्रायः करके मच्छरों के समान, अत्यन्त छोटी-छोटी, काले रङ्ग की, छेदने से अत्यन्त पीडा पहुँचाने वाली, वृक्षों के कोटरों (खोढ़रों) में रहने वाली जो मधुमक्खियाँ होती हैं, जिन्हें उनके जानने वाले लोग 'पुत्तिका' कहते हैं। उनके द्वारा सगृहीत, घी के समान जो मधु होता है उसे जगली कोल, भिल्लादिक लोग 'पौत्तिक' कहते हैं। गुण—पौत्तिकजातीय मधु रूक्ष, उष्ण, पित्त, दाह, रक्तविकार तथा वातकारक, विदाही, प्रमेह तथा मूत्रकृच्छ्र को नष्ट करने वाला एवं गांठ आदि तथा क्षत (घाव) को सुखाने वाला होता है ॥

अथ छात्रमधुनो लक्षणं गुणाँश्चाह

वरटाः कपिलाः पीताः प्रायो हिमवतो वने ॥ १४ ॥
कुर्वन्ति छत्रकाकारं तज्ज छात्रं मधु स्मृतम्। छात्रं कपिलपीतं स्यात्पिच्छिलं शीतलं गुरु ॥
स्वादुपाकं कृमिश्वित्ररक्तपित्तप्रमेहजित्। भ्रमतृण्मोहविषहृत्तर्पणञ्च गुणाधिकम् ॥ १६ ॥

छात्रजातीय मधु के लक्षण—प्रायः करके हिमालय पर्वत के जङ्गलों में कपिल तथा पीत वर्ण की मधुमक्खियाँ छत्ते के आकार का घर बनाती हैं, अतएव उस छत्र से उत्पन्न हुए मधु को 'छात्र' कहते हैं। गुण—छात्रजातीय मधु कपिल-पीत वर्ण, पिच्छिल, शीतल, गुरु, विपाक में मधुर रसयुक्त, तृप्तिदायक, अधिक गुणकारी एवं कृमि, श्वेत कुष्ठ, रक्तपित्त, प्रमेह, भ्रम, तृषा, मोह तथा विष को दूर करने वाला होता है ॥ १४-१६ ॥

अथार्घ्यस्य लक्षणगुणानाह

मधूकवृक्षनिर्यासं जरत्कार्वाश्रमोद्भवम्। स्रवत्यार्घ्यं तदाख्यातं श्वेतकं मालवे पुनः ॥ १७ ॥
तीक्ष्णतुण्डास्तु याः पीता मक्षिकाः षट्पदोपमाः। अर्घ्यास्तास्तत्कृतं यत्तदार्घ्यमित्यपरे जगुः ॥
आर्घ्यं मध्वतिचक्षुष्यं कफपित्तहरं परम्। कषायं कटुकं पाके तिक्तञ्च बलपुष्टिकृत् ॥ १९ ॥

आर्घ्यजातीय मधु के लक्षण—'जरत्कारु' ऋषि के आश्रम में उत्पन्न हुये महुये के वृक्ष से जो गोंद स्रवता है, उसे 'आर्घ्य' कहते हैं तथा मालवा देश में उसी को 'श्वेतक' कहते हैं। किन्तु अन्य कोई-कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि भौंरों के समान, आकारवाली पीले रग की तथा तीक्ष्ण मुख वाली जो मधुमक्खियाँ होती हैं उन्हें 'अर्घ्या' कहते हैं और उनसे सगृहीत मधु को 'आर्घ्य' कहते हैं। गुण—आर्घ्यजातीय मधु नेत्रों के लिये अत्यन्त हितकर और विशेषरूप से कफ-पित्त को दूर करने वाला, कषाय तथा तिक्त रस युक्त, विपाक में कटु रस युक्त एवं बल तथा पुष्टिकारक होता है ॥ १७-१९ ॥

अथौद्दालकमधुनो लक्षणगुणानाह

प्रायो वल्मीकमध्यस्थाः कपिलाः स्वल्पकीटकाः। कुर्वन्ति कपिलं स्वल्पं तत्स्यादौद्दालकं मधु ॥

औद्दालकं रुचिकरं स्वर्यं कुष्ठविषापहम् । कषायमुष्णमम्लञ्च कटुपाकञ्च पित्तकृत् ॥ २१ ॥

औद्दालकजातीय मधु के लक्षण—प्रायः करके वल्मीक (विमवट) के अन्दर रहने वाले, कपिल वर्ण के छोटे-छोटे कीड़े, जो कपिल वर्ण का थोडी मात्रा में मधु बनाते हैं उसी को 'औद्दालक' कहते हैं । **गुण**—औद्दालकजातीय मधु रुचिकारक, स्वर को उत्तम बनाने वाला, कषाय तथा अम्ल रस युक्त, उष्ण, विपाक में कटु रसयुक्त एवं पित्तकारक होता है ॥ २०–२१ ॥

अथ दालमधुनो लक्षणगुणानाह

संस्रुत्य पतितं पुष्पाद्यत्तु पत्रोपरि स्थितम् । मधुराम्लकषायञ्च तद्दालं मधु कीर्त्तितम् ॥२२॥
दालं मधु लघु प्रोक्तं दीपनीयं कफापहम् । कषायानुरसं रूक्षं रुच्यं छर्दिप्रमेहजित् ॥ २३ ॥
अधिकं मधुरं स्निग्धं बृंहणं गुरु भारिकम् ॥ २४ ॥

दालजातीय मधु के लक्षण—फूलों से टपक कर जो पुष्परस (मधु) पत्तों पर गिरता है और मधुर, अम्ल तथा कषाय रस युक्त होता है उसे 'दाल' कहते हैं । **गुण**–दालजातीय मधु पाक में लघु, अग्निदीपक, कफनाशक, अधिक मधुररसयुक्त, अन्त में कषाय रसयुक्त, रूक्ष, रुचिकारक, स्निग्ध गुण युक्त, बृंहण (रस–रक्तादि वर्धक), तौल में गुरु एवं वमन तथा प्रमेह को दूर करने वाला होता है ॥ २२–२४ ॥

*** लघु पाके । गुरु भारिकं, तुलितम् ॥ २२–२४ ॥**

यहाँ 'लघु' पद का 'विपाक में लघु' और 'गुरु भारिकम्' पद का 'तौल में गुरु' (भारी) यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २२–२४ ॥

अथ नवपुराणमधुगुणानाह

नवं मधु भवेत्पुष्ट्यै नातिश्लेष्महरं सरम् । पुराणं ग्राहकं रूक्षं मेदोघ्नमतिलेखनम् ॥ २५ ॥

नये मधु के गुण—नया मधु पुष्टिकारक, किञ्चित् कफनाशक तथा सारक होता है । **पुराना मधु**–ग्राही, रूक्ष, अत्यन्त लेखनगुणविशिष्ट एवं मेद को दूर करने वाला होता है ॥ २५ ॥

अथ परिभाषामाह

मधुनः शर्करायाश्च गुडस्यापि विशेषतः । एकसंवत्सरे वृत्ते पुराणत्वं स्मृतं बुधैः ॥ २६ ॥

परिभाषा—मधु, शक्कर (चीनी) तथा गुड इन सबों को एक वर्ष बीत जाने पर पण्डित लोग पुराना कहते हैं ॥ २६ ॥

अथ शीतलोष्णमधुनोर्गुणदोषानाह

विषपुष्पादपि रसं सविषा भ्रमरादयः । गृहीत्वा मधु कुर्वन्ति तच्छीतं गुणवन्मधु ॥ २७ ॥
विषान्वयात्तदुष्णन्तु द्रव्येणोष्णेन वा सह । उष्णार्त्तस्योष्णकाले च स्मृतं विषसम मधु ॥

शीतल तथा उष्ण मधु की क्रम से गुणकारिता और दोषकारिता—विषैले भौंरे आदि विष के फूलों से भी रस लेकर मधु बनाते हैं, अतएव शीतल मधु ही गुणकारी होता है । विष के फूलों का सम्बन्ध होने से मधु यदि उष्ण या उष्ण द्रव्यों के साथ वा उष्णकाल में वा गर्मी से दुःखी रोगियों के लिये प्रयोग किया जाता हो तो विष के समान होता है ॥ २७–२८ ॥

अथ मधूच्छिष्टम् (मोम) । तस्य नामगुणानाह

मयनं तु मधूच्छिष्टं मधुशेषं च सिक्थकम् । मध्वाधारो मदनकं मधूषितमपि स्मृतम् ॥२९॥
मदनं मृदु सुस्निग्धं भूतघ्नं व्रणरोपणम् । भग्नसन्धानकृद्वातकुष्ठवीसर्परक्तजित् ॥ ३० ॥

मोम के संस्कृत नाम—मयन, मधूच्छिष्ट, मधुशेष, सिक्थक, मध्वाधार, मदनक तथा मधूषित ये सब हैं । **गुण**—मोम, मृदु गुणयुक्त, अत्यन्त स्निग्ध, भूतग्रहनाशक, व्रण का रोपण करने वाला, टूटी हुई अस्थियों को जोडने वाला एवं वात, कुष्ठ, वीसर्प तथा रक्तविकार को दूर करने वाला होता है ॥ २९–३० ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे
मिश्रप्रकरणे द्वाविंशो मधुवर्गः समाप्तः ॥ २२ ॥

अथ इक्षुवर्गः

तत्रादाविक्षोर्नामगुणानाह

इक्षुर्दीर्घच्छदः प्रोक्तस्तथा भूरिरसोऽपि च। गुडमूलोऽसिपत्रश्च तथा मधुतृणः स्मृतः ॥ १ ॥
इक्षवो रक्तपित्तघ्ना बल्या वृष्याः कफप्रदाः। स्वादुपाकरसाः स्निग्धा गुरवो मूत्रला हिमाः॥

ऊख (गन्ना) के संस्कृत नाम—इक्षु, दीर्घच्छद, भूरिरस, गुडमूल, असिपत्र तथा मधुतृण ये सब हैं। **गुण**—सभी प्रकार का गन्ना रक्तपित्तनाशक, बलकारक, वीर्यवर्धक, कफजनक, रस तथा विपाक में मधुर, स्निग्ध, गुरु, मूत्रकारक एवं शीतवीर्य होता है ॥ १-२ ॥

इक्षु

हि०-ईख, ऊँख, गन्ना, केतार, गाँडा। **बं०**-आक, इक्षु, कुशिर। **क०**-कावुएदु, कवु। **म०**-उस, ऊस। **ते०**-चिरकु, चेरकु। **गु०**-शेरडी। **ता०**-इक्कु। **मा०**-सांठो, सांठा, सेलडी। **पं०**-गन्ना, गंडा। **द्रा०**-करम्ब। **फा०**-नए शकर। **अ०**-कसबुस्सुकर। **अं०**-Sugar cane (शुगर केन)। **ले०**-*Saccharum officinarum* (सैक्करम आफिसिनेरम)।

ईख—तृणजातीय वनस्पति खेतों में रोपण किया जाता है। इसके रस द्वारा गुड, चीनी, मिश्री, खाँड आदि मीठे पदार्थ बनाये जाते हैं ॥ १ ॥

पौण्ड्रको भीरुकश्चापि वंशकः शतपोरकः। कान्तारस्तापसेक्षुश्च काण्डेक्षुः सूचिपत्रकः ॥ ३ ॥
नैपालो दीर्घपत्रश्च नीलपोरोऽथ कोशकृत्। मनोगुप्ता च इत्येता जातयस्तत्र कीर्त्तिताः ॥४॥

ऊँख के भेद—पौण्ड्रक, भीरुक, वंशक, शतपोरक, कान्तार, तापसेक्षु, काण्डेक्षु, सूचिपत्रक, नैपाल, दीर्घपत्र, नीलपोर, कोशकृत् तथा मनोगुप्ता ये सब ऊँख की जातियाँ मानी गई हैं ॥३-४॥

अथ श्वेतपौण्ड्रक-भीरुकेक्षुगुणानाह

वातपित्तप्रशमनो मधुरो रसपाकयोः। सुशीतो बृंहणो बल्यः पौण्ड्रको भीरुकस्तथा ॥ ५ ॥

पौण्ड्रक (सफेद पौंडा) तथा भीरुक संज्ञक ऊँख के गुण—पौण्ड्रक तथा भीरुक ये दोनो ऊँखें वात तथा पित्त को शमन करने वाली, रस तथा विपाक में मधुर, अत्यन्त शीतल, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक) एवं बलकारक होती हैं ॥ ५ ॥

अथ कोशकारेक्षुः (करिया कुशिआर)। तस्य गुणानाह

कोशकारो गुरुः शीतो रक्तपित्तक्षयापहः ॥ ६ ॥

कोशकार (कोशकृत्) के गुण—कोशकार (करिया कुशिआर) नामक ईख गुरु, शीतल एवं रक्तपित्त तथा क्षय को नष्ट करने वाली होती है ॥ ६ ॥

अथ कान्तारेक्षुगुणानाह

कान्तारेक्षुर्गुरुर्वृष्यः श्लेष्मलो बृंहणः सरः ॥ ७ ॥

कान्तारेक्षु के गुण—कान्तारसंज्ञक ईख (काला गन्ना) गुरु, वीर्यवर्धक, कफजनक, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक) तथा सारक होती है ॥ ७ ॥

अथ वंशकेक्षुगुणानाह

दीर्घपोरः सुकठिनः सक्षारो वंशकः स्मृतः ॥ ८ ॥

वंशकेक्षु के गुण—वंशक नामक ईख लम्बे लम्बे पोरों वाली, अत्यन्त कठिन तथा क्षारयुक्त होती है ॥ ८ ॥

अथ शतपोरकेक्षुगुणानाह

शतपर्वा भवेत्किञ्चित्कोशकारगुणान्वितः। विशेषात्किञ्चिदुष्णश्च सक्षारः पवनापहः ॥ ९ ॥

शतपोरक (शतपर्वा) के गुण—शतपोरकसंज्ञक ईख औरों की अपेक्षा अधिक पोरोंवाली,

किंचित् कोशकारसंज्ञक ऊंख के गुणों से युक्त, विशेष करके किंचित् उष्ण, क्षारयुक्त तथा वातनाशक होती है ॥ ९ ॥

अथ तापसेक्षुगुणानाह

तापसेक्षुर्भवेन्मृद्वी मधुरा श्लेष्मकोपनी। तर्पणी रुचिकृच्चापि वृष्या च बलकारिणी ॥ १० ॥

तापसेक्षु के गुण—तापसेक्षुसंज्ञक (चीनिया) ईख कोमल, मधुर रसयुक्त, कफ को कुपित करने वाली, तृप्तिकारक, रुचि को उत्पन्न करने वाली, वीर्यवर्धक तथा वलकारक होती है ॥ १० ॥

अथ काण्डेक्षुगुणानाह

एवं गुणैस्तु काण्डेक्षुः स तु वातप्रकोपणः ॥ ११ ॥

काण्डेक्षु के गुण—काण्डेक्षु नामक ईख गुणों में यद्यपि 'तापसेक्षु' के समान ही होती है तथापि यह वात को विशेष रूप से कुपित करने वाली होती है ॥ ११ ॥

अथ सूचीपत्र-नीलपोर-नैपाल-दीर्घपत्राणां गुणानाह

सूचीपत्रो नीलपोरो नैपालो दीर्घपत्रकः। वातलाः कफपित्तघ्नाः सकषाया विदाहिनः ॥१२॥

सूचीपत्र, नीलपोर, नैपाल तथा दीर्घपत्रक के गुण—सूचीपत्रादि-संज्ञक ईखें वातजनक, कफ तथा पित्तनाशक, कषाय रसयुक्त तथा विदाही होती हैं ॥ १२ ॥

अथ मनोगुप्तेक्षुगुणानाह

मनोगुप्ता वातहरी तृष्णाऽऽमयविनाशिनी। सुशीता मधुराऽतीव रक्तपित्तप्रणाशिनी ॥१३॥

मनोगुप्ता के गुण—मनोगुप्ता-संज्ञक ईख वातनाशक, तृषा रोग को दूर करने वाली, अतिशीतल, अत्यन्त मधुर एवं रक्तपित्त को नष्ट करने वाली होती है ॥ १३ ॥

अथ बाल-तरुण-वृद्धेक्षुगुणानाह

बाल इक्षुः कफं कुर्य्यान्मेदोमेहकरश्च सः। युवा तु वातहृत् स्वादुरीषत्तीक्ष्णश्च पित्तनुत् ॥
रक्तपित्तहरो वृद्धः क्षतहृद् बलवीर्यकृत् ॥ १४ ॥

बाल (कच्ची) अर्थात् थोड़े दिनों की ईख—कफकारक, मेद तथा प्रमेह रोग को उत्पन्न करने वाली होती है। **युवा** (अधपकी) **ईख**—वातनाशक, स्वादिष्ट, किंचित् तीक्ष्ण एवं पित्तनाशक होती है। **वृद्ध** (पकी) **ईख**—रक्तपित्त को दूर करने वाली, क्षतनाशक, बल तथा वीर्य उत्पन्न करने वाली होती है ॥ १४ ॥

अथेक्षोरङ्गभेदेन गुणभेदानाह

मूले तु मधुरोऽत्यर्थं मध्येऽपि मधुरः स्मृतः। अग्रे ग्रन्थिषु विज्ञेय इक्षुः पटुरसो जनैः ॥१५॥

ईख के अङ्गभेद से गुणभेद—जड भाग में अत्यन्त मधुर रसयुक्त, मध्यभाग में मधुररसयुक्त और अग्रभाग तथा गांठों में लवण रसयुक्त ईख होती है ॥ १५ ॥

अथ चूषितेक्षुगुणानाह

दन्तनिष्पीडितस्येक्षो रसः पित्तास्रनाशनः। शर्करासमवीर्यः स्यादविदाही कफप्रदः ॥१६॥

चूसे हुये ईख के रस के गुण—दांतों से चूसे हुये ईख का रस पित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाला, शक्कर के समान वीर्यवाला, अविदाही (किंचित् दाह करने वाला) एव कफ उत्पन्न करने वाला होता है ॥ १६ ॥

अथ यान्त्रिकेक्षुरसगुणानाह

मूलाग्रजन्तुग्रन्थ्यादिपीडनान्मलसङ्करात्। किञ्चित्कालविधृत्या च विकृतिं याति यान्त्रिकः ॥
तस्माद्विदाही विष्टम्भी गुरुः स्याद्यान्त्रिको रसः ॥ १७ ॥

यन्त्र (कोल्हू) में पिरे हुए ईख के रस का गुण—कोल्हू में पिरे हुये ईख का रस ईख का मूल (जड) तथा अग्रभाग, जन्तु एवं गांठ आदि के कोल्हू में पिरे जाने से तथा मैल के मिल

जाने से और कुछ काल तक रखे रहने से विकृत (खराब) हो जाता है, अत एव वह विदाही, विष्टम्भजनक तथा गुरु होता है ॥ १७ ॥

अथ पर्युषितेक्षुरसगुणानाह

रसः पर्युषितो नेष्टो ह्यम्लो वातापहो गुरुः । कफपित्तकरः शोषी भेदनश्चातिमूत्रलः ॥ १८ ॥

पर्युषित (बासी) ईख के रस का गुण—बासी ईख का रस अहितकर, अम्लरसयुक्त, वातनाशक, गुरु, कफ तथा पित्तकारक, शोष उत्पन्न करने वाला, मलभेदक एवं अत्यन्त मूत्रजनक होता है ॥

अथ पक्वेक्षुरसगुणानाह

पक्वो रसो गुरुः स्निग्धः सुतीक्ष्णः कफवातनुत् । गुल्मानाहप्रशमनः किञ्चित्पित्तकरः स्मृतः॥

पकाये हुए ईख के रस का गुण—पकाया हुआ ईख का रस गुरु, स्निग्ध, अत्यन्त तीक्ष्ण, कफ तथा वातनाशक, किंचित् पित्तकारक एव गुल्म तथा आनाह (अफरा) को दूर करने वाला होता है ॥ १९ ॥

अथेक्षुरसनिर्मितपदार्थगुणानाह

इक्षोर्विकारास्तृड्दाहमूर्च्छापित्तास्रनाशनाः । गुरवो मधुरा बल्याः स्निग्धा वातहराः सराः ॥
वृष्यमोहहराः शीता बृंहणा विषहारिणः ॥ २० ॥

ईख के रस से बनाये हुए पदार्थों के गुण—ईख के रस में बने हुए पदार्थ तृषा, दाह, मूर्च्छा, पित्त तथा रक्तविकार को दूर करने वाले, गुरु, मधुर रसयुक्त, बलकारक, स्निग्ध, वातनाशक, सारक, वीर्यवर्धक, मोह को दूर करने वाले, शीतल, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक) तथा विषनाशक होते हैं ॥ २० ॥

अथ फाणितम् (चरका, राब, छोवा' इति लोके)। तस्य लक्षणगुणानाह

इक्षो रसस्तु यः पक्वः किञ्चिद्गाढो बहुद्रवः । स एवेक्षुविकारेषु ख्यातः फाणितसंज्ञया ।
फाणितं गुर्वभिष्यन्दि बृंहणं कफशुक्रकृत् । वातपित्तश्रमान्हन्ति मूत्रवस्तिविशोधनम् ॥२२॥

फाणित (चरका, राब और छोआ नाम से लोकप्रसिद्ध) के लक्षण—ईख का जो पकाया हुआ रस कुछ गाढ़ा अंश तथा अधिक द्रव भाग से युक्त होता हैं वही ईख के रस से बने हुए पदार्थों में फाणित (राब) नाम से विख्यात है । **गुण**—फाणित (राब) गुरु, अभिष्यन्दी, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक), कफ तथा शुक्र को उत्पन्न करने वाला एवं मूत्र तथा बस्ति का अधिक शोधन करने वाला होता है ॥ २१ ॥

२ फाणित

हि०-राव । **फा०**-अफशुर्दह् मुकब्विमनेशर ।

ईख के औंटे हुए रस की पतली गाढ़ी चासनी को राव कहते हैं। यह देखने में किंचित् लाल रंग का और स्वाद में मीठा होता है ॥ २ ॥

अथ मत्स्यण्डी ('राबकाकव, खण्डराव' इति लोके)। तस्य लक्षणगुणानाह

इक्षो रसो यः सम्पक्वो घनः किञ्चिद्द्रवान्वितः ॥ २२ ॥
मन्दं यत्स्यन्दते तस्मात्तन्मत्स्यण्डी निगद्यते । मत्स्यण्डी भेदिनी बल्या लघ्वी पित्तानिलापहा॥
मधुरा बृंहणी वृष्या रक्तदोषापहा स्मृता ॥ २३ ॥

मत्स्यण्डी ('राबकाकव, खण्डराव' इस नाम से लोकप्रसिद्ध) के लक्षण—ईख का जो पकाया हुआ रस अधिक घनभाग तथा स्वल्प द्रवभाग से युक्त होता है उसे मत्स्यण्डी कहते हैं और इससे मन्द-मन्द रस झरता है इस कारण से इसका 'मत्स्यण्डी' नाम रखा गया है । **गुण**—मत्स्यण्टी मलभेदक, बलकारक, लघु, पित्त तथा वात को दूर करने वाली, मधुर रसयुक्त, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), वीर्यवर्धक एव रक्तसम्बन्धी दोष को नष्ट करने वाली होती है ॥ २२-२३ ॥

अथ गुडस्य लक्षणं गुणाँश्चाह

इक्षो रसो यः सम्पक्को जायते लोष्टवद् दृढः ॥ २४ ॥
स गुडो, गौडदेशे तु मत्स्यण्डयेव गुडो मतः। गुडो वृष्यो गुरुः स्निग्धो वातघ्नो मूत्रशोधनः।
नातिपित्तहरो मेदःकफक्रिमिबलप्रदः ॥ २५ ॥

गुड के लक्षण—ईख का जो रस पकाते पकाते गाढा होने पर ढेले के समान बाँधने से दृढ हो जाता है, उसे 'गुड' कहते हैं। किन्तु 'गौड' देश में 'मत्स्यण्डी' को ही 'गुड' कहते हैं। **गुण**-गुड वीर्यवर्धक, गुरु, स्निग्ध, वातनाशक, मूत्र शोधन करने वाला, अत्यन्त पित्तनाशक नहीं (किञ्चित् पित्तनाशक) एवं मेद, कफ, क्रिमि तथा बल को उत्पन्न करने वाला होता है ॥२४-२५॥

३ गुड

हि०-गुड़, गुड, मीठा। **ते०**-वेल्लमु, वेलामु। **मं०**-गूल। **मा०**-गुल। **गु०**-गोड, गोल। **फा०**-कन्दे स्याह। **क०**-हेसरू। **अ०**-कन्दे अस्वद। **अं०**-Treacle (ट्रेकल्) ॥ ३ ॥

अथ पुराणगुडस्य गुणानाह

गुडो जीर्णो लघुः पथ्योऽनभिष्यन्द्यग्निपुष्टिकृत्। पित्तघ्नो मधुरो वृष्यो वातघ्नोऽसृक्प्रसादनः॥

पुराने गुड के गुण—पुराना गुड लघु, पथ्य, अनभिष्यन्दी (किञ्चित् अभिष्यन्दी), अग्निजनक, तथा पुष्टिवर्धक, पित्तनाशक, मधुर, वीर्यवर्धक, वातनाशक एवं रक्त को स्वच्छ (दोषरहित) करने वाला होता है ॥ २६ ॥

अथ नवीनगुडस्य गुणानाह

गुडो नवः कफश्वासकासक्रिमिकरोऽग्निकृत् ॥ २७ ॥

नवीन गुड के गुण—नवीन गुड कफ, श्वास तथा कृमि को उत्पन्न करने वाला एवं जठराग्नि की वृद्धि करने वाला होता है ॥ २७ ॥

अथानुपानभेदेन गुडस्य गुणानाह

श्लेष्माणमाशु विनिहन्ति सहार्द्रकेण पित्तं निहन्ति च तदेव हरीतकीभिः।
शुण्ठ्या समं हरति वातमशेषमित्थं दोषत्रयक्षयकराय नमो गुडाय ॥ २८ ॥

अनुपान भेद से गुड के गुण—गुड यदि अदरक के साथ सेवन किया जाय तो कफ को शीघ्र नष्ट करता है, हरीतकी (हर्रे) के साथ सेवन करने से पित्त को दूर करता है और सोंठ के साथ गुड का सेवन करने से समस्त वातसम्बन्धी विकारों को दूर करता है। इस प्रकार तीनों दोषों को दूर करने से गुड ओषधियों में सर्वोत्तम है ॥ २८ ॥

अथ खण्डस्य गुणानाह

खण्डन्तु मधुरं वृष्यं चक्षुष्यं बृंहणं हिमम्। वातपित्तहरं स्निग्धं बल्यं वान्तिहरं परम् ॥२९॥

खण्ड (खाड) के गुण—खण्ड (खांड) मधुर रसयुक्त, वीर्यवर्धक, नेत्रों के लिये हितकर, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), शीतवीर्य, वात तथा पित्तनाशक, स्निग्ध, बलकारक एवं अत्यन्त वमन को दूर करने वाला होता है ॥ २९ ॥

* 'खण्डमि'ति प्रसिद्धं (खांड गुड) ॥ २९ ॥

अथ शर्करा ('चीनी' इति लोके प्रसिद्धा)। तस्या लक्षणगुणानाह

खण्डन्तु सिकतारूपं सुश्वेतं शर्करा सिता। सिता सुमधुरा रुच्या वातपित्तास्रदाहहृत्।
मूर्च्छाच्छर्दिज्वरान् हन्ति सुशीता शुक्रकारिणी ॥ ३० ॥

शर्करा (चीनी) के लक्षण—जो खांड बालू के समान तथा अत्यन्त श्वेत हो उसे 'शर्करा' अथवा 'सिता' कहते हैं। गुण-चीनी अति मधुर, रुचिकारक, वातपित्त, रक्तविकार तथा दाह को दूर करने वाली, अतिशीतल, शुक्र को उत्पन्न करने वाली एवं मूर्च्छा, वमन तथा ज्वर को नष्ट करने वाली होती है ॥ ३० ॥

४ शर्करा

हि०-चीनी, बुरा, भुरा, शक्कर, सफेद खांड, चिन्नी, बूरा। चं०-चिनी। म०-पिठी साखर। गु०-साकरिया रवा। अं०-Sugar (सुगर)। ले०-*Sacckarum* (सक्करम्) ॥ ४ ॥

अथ पुष्पसिता सितोपला च (फूल से बनाई हुई चीनी और मिश्री)। तयोर्गुणानाह—

भवेत्पुष्पसिता शीता रक्तपित्तहरी लघुः। सितोपला सरा लघ्वी वातपित्तहरी हिमा ॥३१॥

पुष्पसिता (फूलों से बनाई हुई चीनी) के गुण—पुष्पसिता शीतल, लघु एवं रक्तपित्त को दूर करने वाली होती है। **सितोपला (मिश्री) के गुण**-मिश्री सारक, लघु, शीतवीर्य एवं वातपित्त को दूर करनेवाली होती है ॥ ३१ ॥

५ सितोपला

सं०-सितोपला। हि०-मिश्री, मिस्री, मिसरी, कन्द। व०-मिछरी, मिचरी। म०-खडी साखर। गु०-साखर, खडी साकर। क०-गुडगुडा तुगितु, कलु सकरी। ते०-फाटिके पाचा दारा, फाटिकेया। फा०-नवात, कन्दल कन्द। अ०-सक्करे अवियद, नवातुज्जलाब। अं०-Purefiedi Sugar candy (प्युरीफायड सुगर केण्डी)। ले०-*Sacckarum purificatum* (सक्करम प्युरिफिकेटम्)। चीनी को साफ कर मिश्री बनाते हैं ॥ ५ ॥

अथ मधुखण्डगुणानाह—

मधुजा शर्करा रूक्षा कफपित्तहरा गुरुः। छर्द्यतीसारतृड्दाहरक्तहृत्तुवरा हिमा ॥ ३२ ॥

मधुखण्ड (शहद से बनी हुई खांड अथवा शक्कर) के गुण—मधुखण्ड रूक्ष, कफ तथा पित्त नाशक, गुरु, कषाय रसयुक्त, शीतवीर्य एवं वमन, अतीसार, तृषा, दाह तथा रक्तविकार को दूर करने वाली होती है ॥ ३२ ॥

अथ परिभाषामाह

यथा यथैषां नैर्मल्यं मधुरत्वं यथा यथा। स्नेहलाघवशैत्यादि सरत्वञ्च तथा तथा ॥ ३३ ॥

परिभाषा—जैसे जैसे इन (खांड, बूरा आदि) सबों में निर्मलता तथा मधुरता (मिठास) अधिक होती जाती है वैसे-वैसे इनमें स्निग्धता, लघुता, शीतलता एवं सारकता आदि (गुण) भी बढती जाती है अर्थात् निर्मलता तथा मधुरता के अनुसार ही इन सबों में स्निग्धता आदि गुण रहते हैं ॥ ३३ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे
त्रयोविंश इक्षुवर्गः समाप्तः ॥ २३ ॥

—०—

अथ अनेकार्थनामवर्गः

तत्र द्व्यर्थानि नामान्याह—

दो अर्थ वाले शब्द

यथा—**अश्मन्तकः**—अम्ललोणिका कोविदारश्च।

१ **अश्मन्तक**—अम्लिलोना और कचनार।

कठिल्लकः—कारवेल्लः, रक्तपुनर्नवा च।

२ **कठिल्लक**—करैला और लाल पुनर्नवा (गदहपुर्ना)।

कुलकः—पटोलः, कुपीलुश्च (कुपीलुः 'कुचिला' इति लोके प्रसिद्धः)।

३ **कुलक**—परवर और कुपीलु ('कुचिला' इस नाम से लोकप्रसिद्ध)।

कोशातकी—महाकोशातकी, राजकोशातकी च।

४ **कोशातकी**—नेनुआ और तरोई।

दीप्यकः—यवानी, अजमोदा च।

५ **दीप्यक**—जवाइन और अजमोद।

मरुबकः—फणिजकः, पिण्डीतकश्च, (फणिजकः='मरुआ' इति लोके, पिण्डीतकः='मैनफल' इति लोके)।

६ **मरुबक**—मरुआ और मैनफल।

मधूलिका—मूर्वा, जलयष्टी च।

७ **मधूलिका**—मूर्वा (चुरनहार) और जलमुलेठी।

रुचकम्—सौवर्चलं, वीजपूरकञ्च।

८ **रुचक**—काला नोन और बिजौरा नीबू।

लोणिका—लोणीशाकं, चाङ्गेरीशाकञ्च।

९ **लोणिका**—नोनीशाक और चागेरीशाक (अम्लिलोना)।

वसुकः—रक्तार्कः, क्षारलवणं च।

१० **वसुक**—लाल आक और खारी नोन।

बाह्लीकम्—कुङ्कुमं, हिङ्गु च।

११ **बाह्लीक**—केशर और हींग।

वितुन्नकम्—धान्यकं, तुत्थञ्च।

१२ **वितुन्नक**—धनियां और नीला थोथा।

स्वादुकण्टकः—गोक्षुरः, विकङ्कतश्च।

१३ **स्वादुकण्टक**—गोखरू और कंटाई।

अग्निमुखी—भल्लातकी, लाङ्गली च।

१४ **अग्निमुखी**—भिलावा और कलिहारी।

अग्निशिखम्—कुङ्कुमं कुसुम्भञ्च।

१५ **अग्निशिखा**—केसर और कुसुम (बर्रे)।

अजशृङ्गी—मेषशृङ्गी, कर्कटशृङ्गी च।

१६ **अजशृङ्गी**—मेढाशिङ्गी और काकड़ासिङ्गी।

प्रियङ्गु—फलिनी, कङ्गुश्च।

१७ **प्रियङ्गु**—फूलप्रियङ्गु और कंगुनी।

भृङ्गः—भृङ्गराजः, त्वक् च।

१८ **भृङ्ग**—भागरा और तज।

समङ्गा—मञ्जिष्ठा, लज्जालुश्च।

१९ **समङ्गा**—मजीठ और लजालू।

अमोघा—विडङ्गं पाटला च।

२० **अमोघा**—वायविडग और पाढल।

मोचा—कदली, शाल्मलिश्च।

२१ **मोचा**—केला और सेमर।

कुटन्नटः—श्योनाकः, कैवर्तीमुस्तञ्च।

कुटन्नट—सोनापाठा और केवटी मोथा।

कुनटी—धनिका, मनःशिला च।

२३ **कुनटी**—धनिया और मैनसिल।

घोण्टा—पूगः, वदरी च।

२४ **घोण्टा**—सुपारी और बेर।

त्रिपुटा—त्रिवृत्, सूक्ष्मैला च।

२५ **त्रिपुटा**—निशोथ और छोटी इलायची।

शटी—कर्चूरः, गन्धपलाशी च।

२६ **शटी**—कचूर और गन्धपलाशी (कपूर-कचरी)।

दन्तशठः—जम्बीरः, कपित्थश्च।

२७ **दन्तशठ**—जम्बीरी नीबू और कैथा।

दन्तशठा—अम्लिका, चाङ्गेरी च।

२८ **दन्तशठा**—इमली और अम्लिलोना।

अरुणम्—मञ्जिष्ठा, अतिविषा च।

२९ **अरुण**—मजीठ और अतीस।

कणा—पिप्पली, जीरकञ्च।

३० **कणा**—पीपल और जीरा।

तालपर्णी—मुशली, मुरा च।

३१ तालपर्णी—मूसली और मुरा (एकाङ्गी)।

पीलुपर्णी—मूर्वा, बिम्बी च।

३२ पीलुपर्णी—मूर्वा और कन्दूरी।

ब्राह्मणी—भार्ङ्गी, स्पृक्का च।

३३ ब्राह्मणी—भारङ्गी और स्पृक्का (असवरग)।

अपराजिता—विष्णुक्रान्ता, शालिपर्णी च।

३४ अपराजिता—कोयल और शालपर्णी।

आस्फोता—अपराजिता, सारिवा च।

३५ आस्फोता—अपराजिता (कोयल) और श्वेत सारिवा (अनन्तमूल)।

पारावतपदी—ज्योतिष्मती,काकजङ्घा च।

३६ पारावतपदी—मालकाङ्गुनी और काकजङ्घा।

शारदी—शारिवा, जलपिप्पली च।

३७ शारदी—अनन्तमूल और जलपीपल।

उग्रगन्धा—वचा, यवानी च।

३८ उग्रगन्धा—वच और अजवाइन।

परिव्याधः—कर्णिकारः, जलवेतसश्च।

३९ परिव्याध—कर्णिकार (कनियार) और जलवेत।

अञ्जनम्—स्रोतोञ्जनम्, सौवीरञ्च।

४० अञ्जन—काला सुरमा और सफेद सुरमा।

अग्निः—चित्रकः, भल्लातश्च।

४१ अग्नि—चीता और भिलावा।

कृमिघ्नः—विडङ्गः, हरिद्रा च।

४२ कृमिघ्न—वायविडङ्ग और हरदी।

तेजनः—शरः, वेणुश्च।

४३ तेजन—सरपत और वास।

तेजनी—तेजस्वती, मूर्वा च।

४४ तेजनी—तेजवल और मूर्वा।

रोचनः—कम्पिल्लः, रोचना च।

४५ रोचन—कवीला और गोलोचन।

रोचना—गोरोचना, रक्तकह्लारश्च।

४६ रोचना—गोलोचन और लाल कुमुद।

राजादनम्—क्षीरिका, प्रियालश्च।

४७ राजादन—खिरनी और चिरौंजी।

शकुलादनी—कटुका, जलपिप्पली च।

४८ शकुलादनी—कुटकी और जलपीपल।

गोलोमी—श्वेतदूर्वा, वचा च।

४९ गोलोमी—सफेद दूब और वच।

पद्मा—पद्मचारिणी, भार्ङ्गी च।

५० पद्मा—स्थलकमल और भारङ्गी।

श्यामा—सारिवा, प्रियङ्गुश्च।

५१ श्यामा—अनन्तमूल और प्रियङ्गु।

उत्तमा—त्रिफला, सर्वतोभद्रा च।

५२ उत्तमा—त्रिफला और खम्भारि।

धान्यम्—धान्याकं, शाल्यादि च।

५३ धान्य—धनिया और शालि (जड़हन) आदि धान्य।

सहस्रवीर्या—नीलदूर्वा, महाशतावरी च।

५४ सहस्रवीर्या—हरी दूब और बडी शतावर।

सेव्यम्—उशीरं, लामज्जकञ्च।

५५ सेव्य—खस और लामज्जक।

उदुम्बरः—जन्तुफलं, ताम्रञ्च।

५६ उदुम्बर—गूलर और ताम्रा।

ऐन्द्री—इन्द्रवारुणी, इन्द्राणी च।

५७ ऐन्द्री—इन्द्रायन और निर्गुण्डी।

कटम्भरा—कटुका, श्योनाकश्च।

५८ कटम्भरा—कुटकी और सोनापाठा।

क्षारः—यवक्षारः, स्वर्जिका च।

५९ क्षार—जवाखार और सज्जीखार।

गण्डीरः—गण्डारी, मञ्जिष्ठा च [गण्डारी शाकविशेषो 'गण्डानी' इति लोके]

६० गण्डीर—गण्डारी शाक (इसे लोक में 'गण्डानी' भी कहते हैं) और मजीठ।

गान्धारी—दुरालभा, गन्धपलाशी च।

६१ गान्धारी—धमासा और गन्धपलाशी (कपूरकचरी)।

चित्रा—इन्द्रवारुणी, वृहद्दन्ती च।

६२ चित्रा—इन्द्रायन और बडी दन्ती।

तुण्डीकेरी—कार्पासी, बिम्बी च।

६३ तुण्डीकेरी—कपास और कन्दूरी।

क्षीरा—गुडूची, क्षीरकाकोली च।

६४ क्षीरा—गिलोय और क्षीरकाकोली (काकोली)

बालपत्रः—खदिरः, यवासश्च।

६५ बालपत्र—खैर और जवासा।

वारि—बालकम्, उदकञ्च।

६६ वारि—सुगन्धवाला और जल।

अङ्गारवल्ली—भार्ङ्गी, गुञ्जा च।

६७ अङ्गारवल्ली—भारङ्गी और गुजा (घुंघुची)।

अमृणालम्—लामज्जकम्, उशीरञ्च।

६८ अमृणाल—लामज्जक और खस।

कुण्डली—गुडूची, कोविदारश्च।

६९ कुण्डली-गिलोय और कचनार।

गन्धफली—प्रियङ्गुः, चम्पककलिका च।

७० गन्धफली—प्रियङ्गु और चम्पेकी कली।

दीर्घमूलः—यवासः, शालिपर्णी च।

७१ दीर्घमूल—जवासा और सरिवन।

पिच्छिला—शाल्मली, शिंशपा च।

७२ पिच्छिला—सेमर और सीसम

पुष्पफलः—कपित्थः, कूष्माण्डश्च।

७३ पुष्पफल—कैथा और पेठा।

पोटगलः—नलः, काशश्च।

७४ पोटगल—नरसल और कास।

धवफलः—कुटजः, वंशश्च।

७५ धवफल—कुडा और अतीस।

देवी—मूर्वा, स्पृक्का च।

७६ देवी—मूर्वा और स्पृक्का (असवरग)।

विश्वा—शुण्ठी, अतिविषा च।

७७ विश्वा—सोंठ और अतीस।

शीतशिवम्—सैन्धवं, मिश्रेया च।

७८ शीतशिव—सेन्धा नमक और सौंफ।

कर्कशः—काम्पिल्यः, कासमर्दश्च।

७९ कर्कश—कवीला और कसौंदी।

चर्मकषा—शातला, मांसरोहिणी च।

८० चर्मकषा—सातला और मांसरोहिणी।

नन्दिवृक्षः—अश्वत्थभेदः (अधोमुखपत्रशाखी 'बेलियापीपर' इति लोके) तूणिश्च।

८१ नन्दिवृक्ष—पीपलभेद (अधोमुख पत्ते तथा शाखों वाला 'बेलिया पीपर' इस नाम से लोकप्रसिद्ध वृक्ष) और तून।

पयः—क्षीरम्, उदकञ्च।

८२ पय—दूध और जल।

रुहा—दूर्वा, मांसरोहिणी च।

८३ रुहा—दूब और मांसरोहिणी।

सिंही—बृहती, वासा च।

८४ सिंही—बड़ी कटेरी और अडूसा।

कतकम्—विडलवणम्, निर्मलीफलं च।

८५ कतक—बिरियां सञ्चर नोन और निर्मली का फल।

कण्टकाढ्यः—कुब्जकः, शाल्मली च।

८६ कण्टकाढ्य—कूजा और सेमर।

यक्षधूपः—सरलनिर्यासः, रालश्च।

८७ यक्षधूप—धूप का गोंद और राल।

द्राविडी—शटी, सूक्ष्मैला च।

८८ द्राविडी—कचूर और छोटी इलायची।

हट्टविलासिनी—हरिद्रा, नखी च।

८९ हट्टविलासिनी—हरदी और नखी।

तिलपर्णम्—रक्तचन्दनम्, ग्रन्थिपर्णं च।

९० तिलपर्ण—लालचन्दन और गठिवन।

मधुरः—जीवकः, जीवनीयगणश्च।

९१ मधुर—जीवक और जीवनीय गण।

लोहद्रावणी—गण्डदूर्वा, अम्लवेतसश्च।

९२ लोहद्रावणी—गांड़रदूब और अमलबेंत।

नागिनी—ताम्बूली, नागपुष्पी च।

९३ नागिनी—पान और नागपुष्पी।

मृदुरेचनी—त्रिवृत्, मार्कण्डिका च।

९४ मृदुरेचनी—निसोत और भुइंखखसा।

नटः—श्योनाकः, अशोकश्च।

९५ नट—सोनापाठा और अशोक।

वनस्पतिः—वटः, नन्दिवृक्षश्च।

९६ वनस्पति—बरगद और बेलियापीपर।

मन्दारः—श्वेतार्कः, महानिम्बश्च।

९७ मन्दार—सफेद आक और बकायन।

अम्बुजः—कमलम्, इज्जलश्च।

९८ अम्बुज—कमल और इज्जल (समुद्रफल)।

कवरी—वर्वरी, हिङ्गुपत्री च।

९९ कवरी—वर्वरी (वनतुलसी) और हींगपत्री।

कुमारी—घृतकुमारिका, शतपत्री च।

१०० कुमारी—घीकुवार और सेवती।

वरतिक्तकः—पाठा, पर्पटश्च।

१०१ वरतिक्तक—पाढ और पित्तपापड़ा।

चित्रकः—एरण्डः, अनलनामा च।

१०२ चित्रक—एरण्ड और चिता।

यज्ञियः—खदिरः, पलाशश्च।

१०३ यज्ञिय—खैर और पलाश।

रक्तबीजः—अरिष्टकः, कन्दुरी च।

१०४ रक्तबीज—रीठा और अनार।

क्षारश्रेष्ठः—पलाशः, मोक्षकश्च।

१०५ क्षारश्रेष्ठ—पलाश और मोखा।

श्वेतपुष्पः—श्वेतार्कः, इन्द्रवारुणी च।

१०६ श्वेतपुष्प—सफेद आक और इन्द्रायण

तुवरी—सौराष्ट्री, आढकी च।

१०७ तुवरी—सोरठी माटी और अरहर।

कुम्भिका—कट्फलः, वारिपर्णी च।

१०८ कुम्भिका—कायफल और जलकुम्भी।

राजपुत्रिका—रेणुका, जाती च।

१०९ राजपुत्रिका—रेणुका और जाई (चमेली)।

रक्तपुष्पः—रक्तार्कः कन्दुरी च।

११० रक्तपुष्प—लाल आक और अनार।

सप्तला—शातला, वासन्ती च।

१११ सप्तला—शातला और नेवारी।

विषमुष्टिकः—महानिम्बः, विषतिन्दुकश्च।

११२ विषमुष्टिक—बकायन और मकर तेंदुआ।

रक्तफला—स्वर्णवल्ली, वटश्च।

११३ रक्तफला—सोनबेल और बरगद।

चन्द्रहासा—गुडूची, लक्ष्मणा च।

११४ चन्द्रहासा—गिलोय और लक्ष्मणा।

इति द्व्यर्थानि नामानि।

अथ त्र्यर्थानि नामान्याह

तीन अर्थ वाले शब्द

क्रमुकः—पूगः, तूदः, पट्टिकालोध्रश्च।

१ क्रमुक—सुपारी, सहतूत और पठानी लोध।

क्षुरकः—कोकिलाक्षः, गोक्षुरः, तिलकनामपुष्पविशेषश्च।

२ क्षुरक—तालमखाना, गोखरू और तिलक-नामक पुष्पविशेष।

प्रियकः—प्रियङ्गुः, कदम्बः, असनश्च।

३ प्रियक—प्रियङ्गु, कदम और विजैसार।

पृथ्वीका—कालाजाजी, बृहदेला, हिङ्गुपत्री च।

४ पृथ्वीका—कलौंजी, बड़ी इलायची और हींगपत्री।

भूतीकम्—भूनिम्बं, कत्तृणं, भूतृणञ्च।

५ भूतीक—चिरायता, रोहिस और शर-बाण (भूखड)

सोमवल्कः—कट्फलः, श्वेतखदिरः, घृतपूर्णकरञ्जश्च।

६ सोमवल्क—कायफर, सफेद खैर और घिया करञ्ज।

सौगन्धिकम्—कह्लारं, कत्तृणं गन्धकञ्च।

७ सौगन्धिक—कल्हार (लाल कुमुद), रोहिस और गन्धक।

भृङ्गः—भृङ्गराजः, त्वग्, भ्रमरश्च।

८ भृङ्ग—भागरा, तज और भौंरा।

अरिष्टः—निम्बः, रसोनं, मद्यञ्च।

९ अरिष्ट—नीम, लहसुन और मद्य।

मर्कटी—कपिकच्छुः, अपामार्गः, करञ्जी च।

१० मर्कटी—कौंच, चिचिढा (चिरचिटा) और करञ्जी।

अम्बष्ठा—पाठा, चाङ्गेरी, माचिका च।

११ अम्बष्ठा—पाढ, अंबिलोना और मोइया)

कृष्णा—पिप्पली, कालाजाजी, नीली च।

१२ कृष्णा—पीपर, कलौंजी और नील।

क्षीरिणी—दुग्धिका, क्षीरकाकोली, श्वेतसारिवा च।

१३ क्षीरिणी—दुद्धी, क्षीरकाकोली और सफेद सारिवा (गौरीसर-अनन्तमूल)।

मधुपर्णी—गुडूची, गम्भारी, नीला च।

१४ मधुपर्णी—गिलोय, खम्भारि और नील।

मण्डूकपर्णः—श्योनाकः, स स्त्रियां तु मञ्जिष्ठा, ब्रह्ममाण्डूकी च।

१५ मण्डूकपर्ण—सोनापाठा, स्त्रीलिङ्ग मण्डूकपर्णी-(मजीठ) और ब्रह्ममांडूकी।

श्रीपर्णी—गम्भारी, गणिकारिका, कट्फलं च।

१६ श्रीपर्णी—खम्भारि, अरनी और कायफर।

अमृता—गुडूची, हरीतकी, धात्री च।

१७ अमृता—गिलोय, हर्रा और आंवला।

अनन्ता—दुरालभा, नीलदूर्वा, लाङ्गली च।

१८ अनन्ता-धमासा, हरी दूब और कलिहारी।

ऋष्यप्रोक्ता—अतिबला, महाशतावरी, कपिकच्छुश्च।

१९ ऋष्यप्रोक्ता—ककही, बड़ी शतावर और कौंच।

कृष्णवृन्ता-पाटली, गम्भारी, माषपर्णी च।

२० कृष्णवृन्ता—पाढ़ल, खंभारि और मषवन।

जीवन्ती—गुडूची, शाकविशेषः, वन्दा च।

२१ जीवन्ती—गिलोय, जीवन्ती शाकविशेष और बन्दाल।

लता—सारिवा, प्रियङ्गुः, ज्योतिष्मती च।

२२ लता—अनन्तमूल (सारिवा), प्रियङ्गु और मालकांगुनी।

समुद्रान्ता-दुरालभा, कार्पासी, स्पृक्का च।

२३ समुद्रान्ता—धमासा, कपास और असवरग (स्पृक्का)।

हैमवती—हरीतकी, श्वेतवचा, पीतदुग्धः सेहुण्डश्च (यस्य मूलं 'चोक' इति प्रसिद्धम्)।

२४ हैमवती—हर्रा, सफेद वच और पीले दूध का सेहुंड-मडमाड (इसके मूल को लोक में 'चोक' कहते हैं)।

अव्यथा—हरीतकी, महाश्रावणी, पद्मचारिणी च ।

२५ अव्यथा-हर्रा, बडी मुण्डी और स्थलकमल।

षड्ग्रन्था—गन्धपलाशी, वचा, करञ्जी च।

२६ षड्ग्रन्था—कपूरकचरी, वच और करञ्जी ।

वरदा—सुवर्चला ('हरहुर' इति लोके), अश्वगन्धा, वाराही ('गेठी'ति लोके)।

२७ वरदा—हुरहुर, असगन्ध और वाराहीकन्द ('गेंठी' नाम से लोकप्रसिद्ध)।

इक्षुगन्धा—काशः, कोकिलाक्षः (गोक्षुरः), क्षीरविदारी च ।

२८ इक्षुगन्धा—कास, तालमखाना (और पुँल्लिङ्ग इक्षुगन्धः = गोखरू भी है) और दूधविदारी।

कालस्कन्धः—तमालः, तिन्दुकं, कालखदिरश्च ।

२९ कालस्कन्ध—श्यामतमाल, तेन्दू और दुर्गन्धखैर ।

महौषधम्—शुण्ठी, रसोनः, विषञ्च ।

३० महौषध-सोंठ, लहसुन और विष (वत्सनाभ)।

मधु—क्षौद्रं, पुष्परसः, मद्यञ्च ।

३१ मधु—शहद, फूल का रस और मद्य ।

कपीतनः—आम्रातकः, शिरीषः, गर्दभाण्डश्च।

३२ कपीतन-अम्बाडा, शिरस और पारस पीपल।

मदनः—पिण्डीतकः, धत्तूरः, सिक्थकञ्च ।

३३ मदन—मैनफल, धतूर और मोम ।

शतपर्वा—वंशः, दूर्वा, वचा च ।

३४ शतपर्वा—बास, दूब और बच ।

सहस्रवेधी-अम्लवेतसः, मृगमदः, हिङ्गु च।

३५ सहस्रवेधी—अमलवेत, कस्तूरी और हींग।

ताम्रपुष्पी—धातकी, पाटला, श्यामा त्रिवृच्च ।

३६ ताम्रपुष्पी—धायका फूल, पाढल और काली निशोथ ।

सदापुष्पः—श्वेतार्कः, रक्तार्कः, कुन्दश्च ।

३७ सदापुष्प—सफेद आक, लाल आक और कुन्द ।

सुरभिः—शल्लकी, मुरा, एलवालुकं च ।

३८ सुरभि—सालई, एकाङ्गी (मुरा) और एलवालुक ।

लक्ष्मीः—ऋद्धिः, वृद्धिः, शमी च ।

३९ लक्ष्मी—ऋद्धि, वृद्धि और शमी (छोंकरा)।

कालानुसार्यम्—कालीयकं, तगरं, शैलेयञ्च ।

४० कालानुसार्य—पीला चन्दन (कलम्बक), तगर और भूरिछरीला ।

चाम्पेयः—चम्पकः, नागकेसरः, पद्मकेसरश्च।

४१ चाम्पेय चपा, नागकेशर और कमल का केसर।

नादेयी—गणिकारिका, जलजम्बूः, जलवेतसश्च ।

४२ नादेयी-गनियारी, जलजामुन और जलवेंत।

पाक्यम्—विडम्, सौवर्चलम्, यवक्षारश्च।

४३ पाक्य—विरिया सञ्चर नोन, कालानोन और जवाखार ।

विशल्या—लाङ्गली, गुडूची, लघुदन्ती च।

४४ विशल्या-कलिहारी, गिलोय और छोटीदंती।

इन्द्रद्रुः—ककुभः, देवदारुः, कुटजश्च ।

४५ इन्द्रद्रु-अर्जुन (कोह), देवदार और कुड़ा।

काश्मीरं काश्मीरी च—कुङ्कुमम्, पुष्करमूलम्, गाम्भारी च ।

४६ काश्मीर और काश्मीरी—केशर, पोहकरमूल और खम्भारि ।

गुन्द्रः—पटेरकः, मुञ्जः, शरश्च ।

४७ गुन्द्र—गोंदपटेर, मूज, सरपत ।

गुन्द्रा—प्रियङ्गुः, गवेधुका, भद्रमुस्तकञ्च।

४८ गुन्द्रा—प्रियङ्गु, गरहेडुआ और नागरमोथा।

चुक्रम्—शुक्तम्, अम्लवेतसम्, वृक्षाम्लञ्च ।

४९ चुक्र—चूक, अमलवेंत और कोकम ।

पारिभद्रः—निम्बः, पारिजातः, देवदारुश्च।

५० पारिभद्र—नीम, फरहद और देवदारु ।

पीतदारुः—हरिद्रा, देवदारुः, सरलश्च ।

५१ पीतदारु—हरदी, देवदार और धूपसरल ।

वीरः—ककुभः, वीरणं, काकोली च ।

५२ वीर—कोह, वीरण तृण और काकोली ।

वीरतरुः—ककुभः, वीरणम्, शरश्च ।

५३ वीरतरु—कोह, वीरण तृण और सरपत ।

मयूरः—अपामार्गः, अजमोदा, तुत्थञ्च ।

५४ मयूर—चिचिढ़ा, अजमोदा और तूतिया ।

रक्तसारः—रक्तचन्दनं, पतङ्गः, खदिरश्च ।

५५ रक्तसार—लालचन्दन, पतङ्ग (बकमकाठ) और खैर ।

वदरा—सुवर्चला, अश्वगन्धा, वाराही च।

५६ वदरा—हुरहुर, असगंध और वाराहीकंद ।

वशिरः—रक्तापामार्गः, गजपिप्पली, समुद्रलवणञ्च।
५७ वशिर-लाल ओंगा, गजपीपर और समुद्री नोन।

सौवीरम्-अञ्जनभेदः, बदरम्, सन्धानभेदश्च।
५८ सौवीर-सफेद सुरमा, बेर, कांजी का भेद।

वञ्जुलः—अशोकः, वेतसः, तिनिशश्च।
५९ वञ्जुल—अशोक, बेंत और तिरिन्छ।

शिला—मनःशिला शिलाजतु, गैरिकञ्च।
६० शिला—मैनसिल, शिलाजीत और गेरू।

सोमवल्ली—वाकुची, गुडूची, ब्राह्मी च।
६१ सोमवल्ली—बाकुची, गिलोय और ब्राह्मी।

अक्षीवः—शोभाञ्जनः, महानिम्बः, समुद्रलवणञ्च।
६२ अक्षीव-सहिजन, बकायन और समुद्री नोन।

कारवी-कालाजाजी, शताह्वा अजमोदा च।
६३ कारवी—कलौंजी, सोआ और अजमोदा।

धामार्गवः—रक्तापामार्गः, राजकोशातकी, महाकोशातकी च।
६४ धामार्गव—लाल ओंगा, तरोई और नेनुआ।

दुःस्पर्शः—यवासः, कपिकच्छूः, कण्टकारी च।
६५ दुःस्पर्श—जवासा, कौंच और भटकटैया।

पलाशः—किंशुकः, गन्धपलाशी, पत्रञ्च।
६६ पलाश—परास, कपूरकचरी और तेजपात।

कालमेषी-मञ्जिष्ठा, वाकुची, श्यामा त्रिवृच्च।
६७ कालमेषी-मजीठ, बकुची और काला निसोथ।

पलङ्कषा—गुग्गुलुः, गोक्षुरः, लाक्षा च।
६८ पलङ्कषा—गूगल, गोखरू और लाख।

मधुरसा—द्राक्षा, मूर्वा, गम्भारी च।
६९ मधुरसा-दाख, चुरनहार (मूर्वा) और खमारि

रसा—रास्ना, शल्लकी, पाठा च।
७० रसा—रास्ना, सालई और पाढ।

श्रेयसी—हरीतकी, रास्ना, गजपिप्पली च।
७१ श्रेयसी—हर्रा, रास्ना और गजपीपल।

लोहम्—अयः, कांस्यम्, अगुरु च।
७२ लोह—लोहा, कांसा और अगर।

सहा—मुद्गपर्णी, बलाभेदः ('ककही' इति लोके), शतपत्री ('सेवती गुलाब' इति लोके)।
७३ सहा—मुगवन, बरियारा का भेद (लोक प्रसिद्ध 'ककही') और सेवती गुलाब।

सुवहा—रास्ना, नाकुली, नीलपुष्पः सिन्दुवारश्च।
७४ सुवहा-रास्ना, नाकुली और नीलपुष्पी सेंदुआ।

कटिल्लकः—कारवेल्लः, रक्तपुनर्नवा, कृष्णवर्वरी च।
७५ कटिल्लक—करेला, गदहपुर्ना और काली बर्बरी।

मधूलिका—मूर्वा, यष्टी, जलमधूकश्च।
७६ मधूलिका—चुरनहार (मूर्वा), जेठीमधु (मुलेठी) और जल महुआ।

वितुन्नकम्-धान्यकम्, तुत्थकम्, गोनर्दश्च।
७७ वितुन्नक-धनिया, तूतिया और केवटी मोथा।

देवी—स्पृक्का, मूर्वा, वन्ध्याकर्कोटी च।
७८ देवी—असबरग (स्पृक्का), चुरनहार और बनककोड़ा।

वसुकः—शिवमल्ली, श्वेतार्कः, रोमकञ्च।
७९ वसुक—बड़ा मोलसिरी, सफेद आक और सांभर नोन।

गण्डीरः—शाकविशेषः, मञ्जिष्ठा, गण्डदूर्वा च।
८० गण्डीर-गण्डीर नामक शाकविशेष, मजीठ और गांडर दूब

लाङ्गली—कलिहारी, जलपिप्पली, नारिकेलश्च।
८१ लाङ्गली-कलिहारी, जलपीपल और नारियल।

पिच्छिला-शिंशपा, शाल्मलिः, भूतवृक्षश्च।
८२ पिच्छिला—शीशम, सेमर और लिसोढ़ा।

महासहा-माषपर्णी, अम्लातकः, कुब्जकश्च।
८३ महासहा—मषवन, बाणपुष्प और कूजा।

चन्द्रिका-मेथी, चन्द्रशूरः, श्वेतकण्टकारी च
८४ चन्द्रिका-मेथी, चनसुर और सफेद भटकटैया।

इति त्र्यर्थानि नामानि।

अथ चतुरर्थकानि नामान्याह

चार अर्थ वाले शब्द

श्वेतपुष्पा—इन्द्रवारुणी, सिन्दुवारः, श्वेतार्कः, सैरेयकश्च।
१ श्वेतपुष्पा—इन्द्रायण, सेउडी, सफेद आक और कटसरैया।

कारवी-पृथ्वीका, शतपुष्पा, कालाजाजी, अजमोदा च।
२ कारवी-सौंफ, सोआ, कलौंजी और अजमोदा।

अम्बष्ठा—पाठा, चाङ्गेरी, माचिका, यूथिका च इति।
३ अम्बष्ठा-पाढ, अंबिलोना, मोइया और जूही।

इति चतुरर्थकानि नामानि।

अथ बह्वर्थकानि नामान्याह—

बहुत अर्थवाले शब्द

अक्षशब्दः स्मृतोऽष्टासु सौवर्चलबिभीतके । कर्षपद्माक्षरुद्राक्षशकटेन्द्रियपाशके ॥ १ ॥

१ अक्ष-(१) काला नमक, (२) बहेडा, (३) कर्षनामक तौल (८० रत्ती अर्थात् १ रुपया भर अथवा ९६ रत्ती १ तोला), (४) कमलगट्टा, (५) रुद्राक्ष, (६) गाडी, (७) इन्द्रिय और (८) पासा (जुआ खेलने का साधन) इन ८ अर्थों में अक्ष का प्रयोग होता है ॥ १ ॥

काकाक्यः काकमाची च काकोली काकणन्तिका । काकजङ्घा काकनासा काकोदुम्बरिकाऽपि च ॥ सप्तस्वर्थेषु कथितः काकशब्दो विचक्षणैः ॥ २ ॥

२ काक-(१) कौवा, (२) मकोय, (३) काकोली, (४) लाल गुञ्जा, (५) काकजङ्घा, (६) कौआ-ठोडी और (७) कठूमर इन सात अर्थों में काक शब्द का प्रयोग होता है ॥ २ ॥

सर्पद्विरदमेषेषु सीसके नागकेसरे । नागवल्ल्यां नागदन्त्यां नागशब्दः प्रयुज्यते ॥३॥

३ नाग-(१) साँप, (२) हाथी, (३) भेडा, (४) सीसा (धातु), (५) नागकेसर, (६) नागवेल (पान) और (७) नागदन्ती (महाराष्ट्र और कर्णाट देश में प्रसिद्ध वृक्ष) इन ७ अर्थों में नाग शब्द का प्रयोग होता है ॥ ३ ॥

मासद्रवे चेक्षुरसे पारदे मधुरादिषु । बोले रागे विषे नीरे रसो नवसु वर्त्तते ॥ ४ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे
मिश्रप्रकरणे चतुर्विंशोऽनेकार्थवर्गः समाप्तः ॥ २४ ॥



४ रस-(१) मास का रस, (२) द्रव पदार्थ, (३) ऊख का रस, (४) पारा, (५) मधुरादि ६ प्रकार के रस, (६) बोल, (७) राग (अनुराग), (८) विष और (९) जल इन ९ अर्थों में रस शब्द का प्रयोग होता है ॥ ४ ॥

इति भावप्रकाशे पूर्वखण्डे प्रथमभागे द्रव्यगुणप्रकरणापरनामक
षष्ठ मिश्रप्रकरणं समाप्तम् ॥ ६ ॥



समाप्तश्चायं निघण्टुभागः ।



...३...



अथ बह्वर्थकानि नामान्याह—

बहुत अर्थ वाले शब्द

अक्षशब्दः स्मृतोऽष्टासु सौवर्चलविभीतके । कर्षपद्माक्षरुद्राक्षशकटेन्द्रियपाशके ॥ १ ॥

१ अक्ष-(१) काला नमक, (२) बहेडा, (३) कर्षनामक तौल (८० रत्ती अर्थात् १ रुपया भर अथवा ९६ रत्ती १ तोला), (४) कमलगट्टा, (५) रुद्राक्ष, (६) गाड़ी, (७) इन्द्रिय और (८) पासा (जुआ खेलने का साधन) इन ८ अर्थों में अक्ष शब्द का प्रयोग होता है ॥ १ ॥

काकाख्यः काकमाची च काकोली काकणन्तिका । काकजङ्घाकाकनासाकाकोदुम्बरिकापि च ॥ सप्तस्वर्थेषु कथितः काकशब्दो विचक्षणैः ॥ २ ॥

२ काक-(१) कौवा, (२) मकोय, (३) काकोली, (४) लालगुञ्जा, (५) काकजङ्घा, (६) कौवा ढोढ़ी और (७) कठूमर इन सात अर्थों में काक शब्द का प्रयोग होता है ॥ २ ॥

सर्पद्विरदमेषेषु सीसके नागकेसरे । नागवल्ल्यां नागदन्त्यां नागशब्दः प्रयुज्यते ॥

३ नाग-(१) साप, (२) हाथी, (३) मेड़ा, (४) सीसा (धातु), (५) नागकेसर, (६) नागवेल (पान) और (७) नागदन्ती (महाराष्ट्र और कर्णाट देशमें प्रसिद्ध वृक्ष) इन अर्थोंमें नाग शब्द का प्रयोग होता है ॥ ३ ॥

मांसद्रवे चेक्षुरसे पारदे मधुरादिषु । बोले रागे विषे नीरे रसो नवसु वर्त्तते ॥ ४ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे मिश्रप्रकरणे चतुर्विंशोऽनेकार्थवर्गः समाप्तः ॥ २४ ॥



४ रस-(१) मांसका रस, (२) द्रव पदार्थ, (३) ऊख का रस, (४) पारा, (५) मधुरादि ६ प्रकार के रस, (६) बोल, (७) राग (अनुराग), (८) विष और (९) जल इन ९ अर्थों में रस शब्द का प्रयोग होता है ॥ ४ ॥

इति भावप्रकाशे पूर्वखण्डे प्रथमभागे द्रव्यगुणप्रकरणापरनामकं षष्ठ मिश्रप्रकरणं समाप्तम् ॥ ६ ॥



समाप्तश्चायं पूर्वखण्डे प्रथमो भागः ॥ १ ॥



भावप्रकाशः

पूर्वखण्डे द्वितीयो भागः

तत्र सप्तमं परिभाषादिप्रकरणम् ॥ ७ ॥

अथ प्रथमं मानपरिभाषाप्रकरणम् ॥ १ ॥

तत्रादौ मानोक्तौ हेतुमाह—

न मानेन विना युक्तिर्द्रव्याणां जायते क्वचित् । अतः प्रयोगकार्यार्थं मानमत्रोच्यते मया ॥१॥

मानपरिभाषा प्रकरण आरम्भ करने के पूर्व मान (तौल) के विषय में कहने का प्रयोजन विना मान (तौल) के द्रव्यों का किसी में योग नहीं किया जा सकता, अतः प्रयोग में काम करने के लिये यहां मैं (ग्रन्थकार) मान (तौल) को कहता हूँ ॥ १ ॥

अथ मागधमानमाह—

चरकस्य मतं वैद्यैराद्यैर्यस्मान्मतं ततः । विहाय सर्वमानानि मागधं मानमुच्यते ॥ २ ॥
त्रसरेणुर्बुधैः प्रोक्तस्त्रिंशता परमाणुभिः । त्रसरेणुस्तु पर्यायनाम्ना वंशी निगद्यते ॥ ३ ॥
जालान्तरगतैःसूर्यकरैर्वंशी विलोक्यते । षड्वंशीभिर्मरीचिः स्यात्ताभिः षड्भिश्च राजिका ॥ ४ ॥
तिसृभी राजिकाभिश्च सर्षपः प्रोच्यते बुधैः । यवोऽष्टसर्षपैः प्रोक्तो गुञ्जास्यात्तच्चतुष्टयम् ॥ ५ ॥
षड्भिस्तु रक्तिकाभिः स्यान्माषको हेमधानकौ । माषैश्चतुर्भिः शाणः स्याद्धरणः स निगद्यते ॥६॥
टङ्कः स एव कथितस्तद्द्वयं कोल उच्यते । क्षुद्रको वटकश्चैव द्रङ्क्षणः स निगद्यते ॥ ७ ॥
कोलद्वयन्तु कर्षः स्यात्स प्रोक्तः पाणिमानिका । अक्षः पिचुः पाणितलं किञ्चित्पाणिश्च तिन्दुकम् ॥
विडालपदकं चैव तथा षोडशिका मता । करमध्यो हंसपदं सुवर्णं कवलग्रहः ॥ ९ ॥
उदुम्बरञ्च पर्यायैः कर्षमेव निगद्यते । स्यात्कर्षाभ्यामर्द्धपलं शुक्तिरष्टमिका तथा ॥ १० ॥
शुक्तिभ्याञ्च पलं ज्ञेयं मुष्टिराम्रं चतुर्थिका । प्रकुञ्चः षोडशी विल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते ॥ ११ ॥
पलाभ्यां प्रसृतिर्ज्ञेया प्रसृतञ्च निगद्यते । प्रसृतिभ्यामञ्जलिः स्यात्कुडवोऽर्द्धशरावकः ॥ १२ ॥
अष्टमानञ्च स ज्ञेयः कुडवाभ्याञ्च मानिका । शरावोऽष्टपलं तद्वज्ज्ञेयमत्र विचक्षणैः ॥ १३ ॥
शरावाभ्यां भवेत्प्रस्थश्चतुःप्रस्थस्तथाऽऽढकः । भाजनं कांस्यपात्रं च चतुःषष्टिपलश्च सः ॥ १४ ॥
चतुर्भिराढकैर्द्रोणः कलशो नल्वणोऽर्मणः । उन्मानञ्च घटो राशिर्द्रोणपर्यायसंज्ञितः ॥ १५ ॥
द्रोणाभ्यां शूर्पकुम्भौ च चतुःषष्टिशरावकः । शूर्पाभ्याञ्च भवेद् द्रोणी वाहो गोणी च सा स्मृता ॥
द्रोणीचतुष्टयं खारी कथिता सूक्ष्मबुद्धिभिः । चतुःसहस्रपलिका षण्णवत्यधिका च सा ॥ १७ ॥
पलानां द्विसहस्रञ्च भार एकः प्रकीर्त्तितः । तुलापलशतं ज्ञेयं सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥ १८ ॥
माषटङ्काक्षविल्वानि कुडवप्रस्थमाढकम् । राशिर्गोणी खारिकेति यथोत्तरचतुर्गुणम् ॥१९ ॥

मागध मान—जब कि प्राचीन वैद्यों ने चरक के मत को माना है इसीसे अन्य सब मानों (तौलों) को छोड़ कर सर्वप्रथम मगध देश में प्रचलित 'मागध' नामक मान को कहता हूँ।

पण्डितों ने ३० परमाणुओं[1] का एक 'त्रसरेणु' और त्रसरेणु का ही पर्यायवाचक शब्द 'वशी' कहा है। जाली के अन्तर्गत सूर्य की किरणों द्वारा वंशी दिखाई पड़ती है अर्थात् उन

---

१. जलान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।
तस्य त्रिंशत्तमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥ १ ॥
खिड़की के राह जो सूर्य की किरणें मकान के अन्दर आती हैं उनमें जो सूक्ष्म रज दिखाई पड़ते हैं उन रजों में एक के तीसवें भाग को परमाणु कहते हैं ॥ १ ॥

किरणों में ध्यान से देखने पर जो सूक्ष्म रज (धूल के कण) दिखाई पड़ते हैं वे ही वंशी हैं। ६ वंशी की (त्रसरेणु) १ मरीचि होती है और ६ मरीचि की १ राजिका (राई) होती है।

३ राई का १ सरसों, ८ सरसों का १ जौ, ४ जौ की एक रत्ती, ६ रत्ती का १ मासा होता है। इसीके पर्यायवाचक शब्द हेम और धानक (धान्यक) हैं। ४ मासे का एक शाण होता है और इसीको धरण तथा टङ्क भी कहते हैं। २ शाण का १ कोल होता है और इसीको क्षुद्रक, वटक तथा द्रङ्क्षण भी कहते हैं। २ कोल का एक कर्ष होता है और कर्ष ही के पर्यायवाचक शब्द पाणिमानिका, अक्ष, पिचु, पाणितल, किञ्चित्पाणि, तिन्दुक, विडालपदक, षोडशिका, करमध्य, हंसपद, सुवर्ण, कवलग्रह तथा उदुम्बर ये सब कहे जाते हैं।

दो कर्ष का १ अर्धपल (आधा पल) होता है, इसी को शुक्ति तथा अष्टमिका कहते हैं। २ शुक्ति का १ पल होता है। इसी के नामान्तर मुष्टि, आम्र, चतुर्थिका, प्रकुञ्च, षोडशी तथा बिल्व ये सब हैं।

२ पल की १ प्रसृति होती है। इसी को प्रसृत भी कहते हैं। २ प्रसृति की १ अञ्जलि होती है। इसी के नामान्तर कुडव, अर्धशरावक तथा अष्टमान हैं। २ कुडव (अञ्जलि) की १ मानिका होती है। इसी को शराव तथा आठ पल का होने से अष्टपल भी विद्वान् लोग मानते हैं।

२ शराव का एक प्रस्थ और ४ प्रस्थ का १ आढक होता है। इसी को भाजन, कांस्यपात्र तथा ६४ पल का होने से चतुःषष्टिपल भी कहते हैं।

४ आढक का १ द्रोण होता है। इसी के पर्यायवाची शब्द कलश, नल्वण, अर्मण, उन्मान, घट तथा राशि ये सब हैं।

२ द्रोण का शूर्प होता है। इसी को कुम्भ तथा ६४ शराव का होने से चतुःषष्टिशरावक भी कहते हैं।

२ शूर्प की १ द्रोणी होती है। इसी को वाह तथा गोणी भी कहते हैं।

४ द्रोणी की १ खारी होती है। बुद्धिमान् लोग तौल में ४०९६ (चार हजार छानवे) पलों की खारी, २००० (दो हजार) पलों का एक भार तथा १०० (सौ) पलों की एक तुला कहते हैं। सर्वत्र शास्त्रों में यही निश्चित है।

माष, टङ्क, अक्ष, बिल्व, कुडव, प्रस्थ, आढक, राशि, गोणी और खारी ये सब उत्तरोत्तर एक दूसरे की अपेक्षा चौगुने होते हैं अर्थात्—

४ माष (माशे) का	१ टङ्क।	४ टङ्क का	१ अक्ष।
४ अक्ष का	१ बिल्व।	४ बिल्व का	१ कुडव।
४ कुडव का	१ प्रस्थ।	४ प्रस्थ का	१ आढक।
४ आढक की	१ राशि।	४ राशि की	१ गोणी।
४ गोणी की	१ खारी समझनी चाहिये ॥ २-१९ ॥		

*मागधपरिभाषायां षड्रक्तिको माषश्चतुर्विंशतिरक्तिकष्टङ्कः, षण्णवतिरक्तिकः कर्षः। अयं चरकसम्मतः। सुश्रुतमते तु पञ्चरक्तिको माषः, विंशतिरक्तिकष्टङ्कः, अशीतिरक्तिकः कर्षः। अयमेव कालिङ्गपरिभाषायामपि। यतस्तत्राष्टरक्तिको माषो द्वात्रिंशद्रक्तिकष्टङ्कः, सार्धटङ्कद्वयमितः कर्षः ॥ २-१९ ॥

मागधपरिभाषा में ६ रत्ती का एक मासा, २४ रत्ती का १ टङ्क और ९६ रत्ती का १ कर्ष होता है। यह मान चरकसंमत है। सुश्रुत के मत में—५ रत्ती का १ माशा, २० रत्ती का १ टङ्क और ८० रत्ती का १ कर्ष होता है। यही कालिङ्ग परिभाषा में भी होता है। क्योंकि उसमें ८ रत्ती का १ माशा, ३२ रत्ती का १ टङ्क और २॥ टङ्क का १ कर्ष होता है ॥ २-१९ ॥

अथ द्रवार्द्रशुष्कद्रव्याणां मानविषये परिभाषामाह—

गुञ्जाऽऽदिमानमारभ्य यावत्स्यात्कुडवस्थितिः । द्रवार्द्रशुष्कद्रव्याणां तावन्मानं समं मतम् ॥
प्रस्थादिमानमारभ्य द्विगुणं तद् द्रवार्द्रयोः । मानं तथा तुलायास्तु द्विगुणं न क्वचित्स्मृतम् ॥

द्रव (पानी आदि के समान), गीले तथा सूखे द्रव्यों के मान के विषय में परिभाषा—रत्ती आदि से लेकर कुडवपर्यन्त द्रव, गीले तथा सूखे पदार्थों का मान (तौल) बराबर रहता है, अर्थात् जितना और द्रव्यों का मान है उसी के समान ही इसका भी रहता है । किन्तु प्रस्थ आदि मान से द्रव तथा आर्द्र (गीले) द्रव्यों का लिखित मान द्विगुण होना आरम्भ हो जाता है । तुला का मान द्रव द्रव्य या आर्द्र द्रव्यों में भी कहीं द्विगुण नहीं किया जाता अर्थात् जैसा लिखित रहता है उतना ही लिया जाता है ॥ २०-२१ ॥

अथ कुडवभाण्डस्य लक्षणमाह—

मृद्वृक्षवेणुलोहादेर्भाण्डं यच्चतुरङ्गुलम् । विस्तीर्णञ्च तथोच्चञ्च तन्मानं कुडवं वदेत् ॥ २२ ॥

कुडवसंज्ञक मानपात्र का लक्षण—मिट्टी, वृक्ष, बांस या लोहा के बने हुये चार अंगुल चौड़े तथा चार ही अंगुल ऊंचे मानपात्र को 'कुडव' कहते हैं ॥ २२ ॥

इति मागधमानं समाप्तम् ।

अथ कालिङ्गमानमाह—

यतो मन्दाग्नयो ह्रस्वा हीनसत्त्वा नराः कलौ । अतस्तु मात्रा तद्योग्या प्रोच्यते सुज्ञसंमता ॥
यवो द्वादशभिर्गौरसर्षपैः प्रोच्यते बुधैः । यवद्वयेन गुञ्जा स्यात्त्रिगुञ्जो वल्ल उच्यते ॥ २४ ॥
माषो गुञ्जाभिरष्टाभिः सप्तभिर्वा भवेत्क्वचित् । चतुर्भिर्माषकैः शाणः स निष्कष्टङ्क एव च ॥
गद्याणो माषकैः षड्भिः कर्षः स्याद्दशमाषकैः । चतुष्कर्षैः पलं प्रोक्तं दशशाणमितं बुधैः ॥२६॥
चतुष्पलैश्च कुडवः प्रस्थाद्याः पूर्ववन्मताः । स्थितिर्नास्त्येव मात्रायाः कालमग्निं वयो बलम् ॥
प्रकृतिं दोषदेशौ च दृष्ट्वा मात्रां प्रकल्पयेत् । नाल्पं हन्त्यौषधं व्याधिं यथाऽम्भोऽल्पं महानलः ॥
अतिमात्रं च दोषाय यथा शस्ये बहूदकम् ॥ २८ ॥

कालिङ्गमान—कलियुग में मनुष्य मन्द अग्नि वाले, छोटे शरीर के तथा हीन बलवाले हैं, अतः उनके योग्य विद्वानों के द्वारा स्वीकृत जो मात्रा (औषध देने में) है उसे कहते हैं ।

१२ सफेद सरसों का १ जौ और दो जौ की एक रत्ती, तीन रत्ती का एक वल्ल होता है ।

८ रत्ती का अथवा कहीं कहीं ७ रत्ती का भी एक माशा और चार मासे का एक शाण होता है इसी को निष्क और टङ्क भी कहते हैं । छ माशे का एक गद्याण होता है । दस माशे का एक कर्ष और चार कर्ष का एक पल जो कि दस शाण के बराबर होता है ।

४ पलों का एक कुडव होता है । इसके बाद प्रस्थादि का मान पूर्वोक्त रीति के समान ही माना गया है । वस्तुत. औषधियों की मात्रा का कोई मर्यादा निश्चित नहीं है । अतः बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि—काल (शीतादि ऋतु और प्रातः, सायं आदि), अग्नि (मन्द, दीप्त आदि), अवस्था (बाल्यादि), बल, प्रकृति (वातादि), दोष (वातादि) और देश (जाङ्गलादि) को देखकर तदनुसार मात्रा की कल्पना करें । उचित मात्रा की अपेक्षा हीन मात्रा की औषधि बढ़े हुये रोग को उसी प्रकार शान्त नहीं कर सकती है जैसे कि—थोडा जल बड़े अग्निराशि को नहीं शान्त कर सकता । यदि औषधि की अधिक मात्रा दी जाय तो भी हानिकारक ही होती है जैसे कि—धान में भी अधिक जल हानिकारक होता है इससे बहुत समझ बूझ कर औषधियों की मात्रा देनी चाहिये ॥ २३-२८ ॥

मागध मान तथा कालिङ्ग मान की आधुनिक मान से तुलना—मागध मान का १ कर्ष १ तोले (१२ माशे) के बराबर तथा कालिङ्ग मान का १ कर्ष (१० माशे) एक रुपये भर का होता है । इतना ध्यान अवश्य देना चाहिये ।

मागध	मान		आधुनिक मान
६ रत्ती का	१ माशा	=	६ रत्ती
४ माशे का	१ शाण (टङ्क)	=	३ माशा
२ शाण का	१ कोल	=	६ माशा (आधा तोला)
२ कोल का	१ कर्ष	=	१२ माशा (१ तोला)
२ कर्ष का	१ अर्धपल (शुक्ति)	=	२ तोले
२ शुक्ति का	१ पल	=	४ तोले
२ पल की	१ प्रसृति	=	८ तोले
२ प्रसृति की	१ अञ्जलि (कुडव)	=	१६ तोले
२ कुडव की	१ मानिका (शराव)	=	३२ तोले
२ शराव का	१ प्रस्थ	=	६४ तोले
४ प्रस्थ का	१ आढक	=	२५६ तोले
४ आढक का	१ द्रोण	=	१०२४ तोले
२ द्रोण का	१ शूर्प	=	२०४८ तोले
२ शूर्प की	१ द्रोणी	=	४०९६ तोले
४ द्रोणी की	१ खारी	=	१६३८४ तोले
२००० पल का	१ भार	=	८००० तोले
१०० पल की	१ तुला	=	४०० तोले

कालिङ्ग	मान	आधुनिक मान
८ रत्ती का	१ माशा	=८ रत्ती या १ माशा
४ मासे का	१ शाण (टङ्क)	=४ माशे
६ मासे का	१ गद्याण	=६ माशा (आधा तोला)
१० मासे का	१ कर्ष	=१) भर
४ कर्ष का	१ पल	=४) भर
४ पल का	१ कुडव	=१६) भर (३ छ० १) भर)
२ कुडव की	१ मानिका (शराव)	=३२) भर (६ छ० २) भर)
२ शराव का	१ प्रस्थ	=६४) भर (१२ छ० ४) भर)
४ प्रस्थ का	१ आढक	=२६५) भर (३ से० ३ छ० १) भर)
४ आढक का	१ द्रोण	=१०२४) भर (१२ सेर १३ छ० ४) भर)
२ द्रोण का	१ शूर्प	=२०४८) भर (२५ सेर ९ छ० ३) भर)
२ शूर्प की	१ द्रोणी	=४०९६) भर (१ म० ११ सेर ३ छ० १)भर)
४ द्रोणी की	१ खारी	=१६३८४)भर (५मन ४ सेर१२ छ० ४)भर)
२००० पल का	१ भार	=८०००) भर (२ मन २० सेर)
१०० पल की	१ तुला	=४००) भर (५ सेर)

इति कालिङ्गमानं समाप्तम् ।

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे पूर्वखण्डे परिभाषादिप्रकरणे प्रथम मानपरिभाषाख्यं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १ ॥



अथ द्वितीयं भैषजविधानप्रकरणम् ॥ २ ॥

अथ भेषजानां विधानानि।

तत्रादौ कषायभेदानाह—

स्वरसश्च तथा कल्कः क्वाथश्च हिमफाण्टकौ। ज्ञेयाः कषायाः पञ्चैते लघवः स्युर्यथोत्तरम् ॥१॥

ओषधियों के बनाने में प्रथम कषाय के भेद—१ स्वरस, २ कल्क, ३ क्वाथ, ४ हिम और ५ फाण्ट ये ५ प्रकार के कषाय होते हैं। ये एक दूसरे की अपेक्षा उत्तरोत्तर लघु होते हैं अर्थात् स्वरस की अपेक्षा कल्क और कल्क की अपेक्षा क्वाथ लघु होता है। इसी भांति हिम और फाण्ट को भी उत्तरोत्तर लघु समझना चाहिये ॥ १ ॥

अथ स्वरसविधिमाह—

अहतात्तत्क्षणाकृष्टाद् द्रव्यात्क्षुण्णात्समुद्भवेत्। वस्त्रनिष्पीडितो यश्च स्वरसो रस उच्यते ॥२॥
कुडवं चूर्णितं द्रव्यं क्षिप्तञ्च द्विगुणे जले। अहोरात्रं स्थितं तस्माद्भवेद्वा रस उत्तमः ॥ ३ ॥

***अहताद् = शीताग्निकीटादिभिरनुपहतात्। क्षुण्णात्=संपिष्टात् ॥ २ ॥**

चूर्णितं = चूर्णीकृतम् ॥ ३ ॥

स्वरस बनाने की विधि—शीत (पाला), अग्नि तथा कीडे आदि से खराब नहीं हुई एवं तत्काल की लाई हुई गीली और भलीभांति पीसी हुई ओषधियों से जो रस कपड़े से छान कर निकाला जाता है उसे 'स्वरस' कहते हैं। अथवा चूर्ण किये हुये १ कुडव (१६ तोले) द्रव्य को लेकर दुगुने (३२ तोले) जल में एक दिन रात भर भिगो कर रख देने के उपरान्त जो कपड़े से छान कर रस निकाला जाता है उसे भी उत्तम ही 'स्वरस' कहते हैं ॥ २-३ ॥

यहां 'अहतात्' पद का 'शीत, अग्नि तथा कीड़े आदि से खराब नहीं हुई' और 'क्षुण्णात्' पद का 'भली भांति पीसी हुई' तथा 'चूर्णितम्' इस पद का 'चूर्ण किये हुये' यह अर्थ समझना चाहिये॥

आदाय शुष्कद्रव्यं वा स्वरसानामसंभवे। जलेऽष्टगुणिते साध्यं पादशिष्टं च गृह्यते ॥ ४ ॥

अथवा जहां पर स्वरस बनाने का सम्भव न हो वहां सूखे द्रव्यों को लेकर उसे अठगुने जल के साथ हड़ियां में रख कर औटाये किन्तु मुंह हड़िये का खुला रखे। जब चौथाई जल शेष रहे तब उतार छान कर काम में ले ॥ ४ ॥

स्वरसस्य गुरुत्वाच्च पलमर्द्धं प्रयोजयेत्। निशोषितं चाग्निसिद्धं पलमात्रं रसं पिबेत् ॥ ५ ॥

पांच प्रकार के कषायों में स्वरस नामक कषाय गुरु होता है अतः इसकी मात्रा आधे पल (दो तोले) की देनी चाहिये। जो रातभर का रखा तथा अग्नि से सिद्ध किया हुआ अर्थात् औटाया हुआ रस हो उसकी मात्रा पीने में एक पल की देनी चाहिये ॥ ५ ॥

*** निशोषितं = निशायामुषितम् ॥ ५ ॥**

'निशोषितम्' पद का 'रातभर का रखा हुआ' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५ ॥

सितामधुगुडक्षाराजीरकं लवणं तथा। घृतं तैलञ्च चूर्णादीन् कोलमात्रान् रसे क्षिपेत् ॥ ६ ॥

साफ किया हुआ शक्कर, मधु, गुड, खार, जीरा, नमक, घी, तेल अथवा चूर्ण आदि यदि स्वरस में डालना हो तो एक कोल (६ माशे) डाले ॥ ६ ॥

*** कोलः = टङ्कद्वयम् ॥ ६ ॥**

'कोल' पद से दो टङ्क (६ माशे) का बोध करना चाहिये ॥ ६ ॥

अथ तण्डुलजलविधिमाह—

कण्डितं तण्डुलपलं जलेऽष्टगुणिते क्षिपेत्। भावयित्वा जलं ग्राह्यं देयं सर्वत्र कर्मसु ॥ ७ ॥

चावल के धोवन की विधि—कुटे हुये साफ चावलों को एक पल (४ तोले) लेकर अठगुने (३२ तोले) जल में डाल कर, उन्हें कोमल अर्थात् एक घण्टे तक भिगो कर नरम कर ले। पश्चात् जहां जहां आवश्यकता हो वहां वहां सभी कार्यों में चावलों को अलग कर केवल जल ग्रहण करे ॥ ७ ॥

***भावयित्वा = कोमलीकृत्य ॥ ७ ॥**

'भावयित्वा' पद का 'कोमल कर के' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७ ॥

अथ हिमनिर्माणविधिमाह—

क्षुण्णं द्रव्यपलं सम्यक् षड्भिर्नीरपलैः प्लुतम् ।
निशोषितं हिमः स स्यात्तथा शीतकषायकः । तस्य मानं मतं पाने पलद्वयमितं बुधैः ॥ ८ ॥

हिम बनाने की विधि—अच्छी तरह से चूर्ण किये हुये एक पल (४ तोले) द्रव्य (ओषधि) को ६ पल (२४ तोले) जल में भिगो-कर रात भर पड़ा रहने देने पर प्रातःकाल उस जल को हिम तथा शीतकषाय कहते हैं। इस की मात्रा पीने में पण्डितों ने २ पल (८ तोले) की मानी है ॥ ८ ॥

क्षुण्णं=चूर्णीकृतम् ॥ ८ ॥

'क्षुण्णम्' पद का 'चूर्ण किये हुये' अर्थ समझना चाहिये ॥ ८ ॥

अथ मन्थनिर्माणविधिमाह—

जले चतुष्पले शीते क्षुण्णं द्रव्यपलं क्षिपेत्। मृत्पात्रे मन्थयेत् सम्यक् तस्माच्च द्विपलं पिबेत् ॥९॥

मन्थ बनाने की विधि—४ पल (१६ तोले) शीतल जल में चूर्ण किये हुये एक पल (४ तोले) द्रव्य को डाल दे और उसे मिट्टी के पात्र (हंड़िया) में रख कर अच्छी तरह से मथे, उस मथे हुये जल को 'मन्थ' कहते हैं। इस की मात्रा पीने में दो पल (८ तोले) की है ॥ ९ ॥

क्षुण्णं=चूर्णीकृतम् । मन्थयेत्=मथनीयात् ॥ ९ ॥

'क्षुण्णम्' पद का 'चूर्ण किये हुये' और 'मन्थयेत्' पद का 'मथे' यह अर्थ समझना चाहिये ॥९॥

अथ फाण्टनिर्माणविधिमाह—

क्षुण्णे द्रव्यपले सम्यग्जलमुष्णं विनिक्षिपेत् । मृत्पात्रे कुडवोन्मानं ततस्तु स्त्रावयेत्पटात् ॥१०॥
स स्याच्चूर्णद्रवः फाण्टस्तन्मानं द्विपलोन्मितम् । क्षौद्रं सितागुडादींस्तु कर्षमात्रान्विनिक्षिपेत्॥११॥

फाण्ट बनाने की विधि—अच्छी तरह से चूर्ण किये हुये एक पल (४ तोले) द्रव्य को मिट्टी के पात्र में रख कर उस में एक कुडव (१६ तोले) खूब गरम जल छोड कर भिगो दे जब खूब भीग जाय तब कपड़े से छान ले इसी जल को 'फाण्ट' कहते हैं। इसकी मात्रा दो पल (८ तोले) की होती है। इसमें मधु, साफ शक्कर अथवा गुड़ आदि के छोडने की मात्रा एक कर्ष (१ तोले) की है ॥ १०-११ ॥

क्षुण्णे=चूर्णीकृते, स चूर्णद्रवः फाण्टः स्यादित्यन्वयः ॥ १०-११ ॥

यहां 'क्षुण्णे' पद का 'चूर्ण किये हुये' यह अर्थ है और 'वह चूर्ण द्रव (चूर्ण मिश्रित छना हुआ जल) फाण्ट कहलाता है' ऐसा अन्वय है ॥ १०-११ ॥

अथ कल्कविधिमाह—

द्रव्यमार्द्रं शिलापिष्टं शुष्कं वा सजलं भवेत् । तदेव कल्को विज्ञेयस्तन्मानं कर्षसम्मितम् ॥१२॥
कल्के मधुघृतं तैलं देयं द्विगुणमात्रया । सितां गुडं समं दद्याद् द्रवो देयश्चतुर्गुणः ॥ १३ ॥

कल्क (चटनी) बनाने की विधि—यदि गीला द्रव्य हो तो विना जल के और सूखा हो तो जल के साथ सिल पर पीसा जाय तो उसे 'कल्क' कहते हैं। इस की मात्रा एक कर्ष (१ तोले) की होती है। यदि कल्क में मधु, घी अथवा तेल मिलाना हो तो उसकी मात्रा कल्क से दूनी होनी चाहिये। यदि साफ शक्कर तथा गुड डालना हो तो उस की मात्रा कल्क के समान होनी चाहिये और यदि द्रव पदार्थ (जलादि) मिलाना हो तो उस की मात्रा कल्क से चौगुनी होनी चाहिये ॥

अथ चूर्णविधिमाह—

अत्यन्तशुष्कं यद् द्रव्यं सुपिष्टं वस्त्रगालितम् । तत्स्याच्चूर्णं रजः क्षोदस्तन्मात्रा कर्षसम्मिता ॥१४॥
चूर्णे गुडः समो देयः शर्करा द्विगुणा मता । चूर्णेषु भर्जितं हिङ्गु देयं नोत्क्लेदकृद्भवेत् ॥१५॥
लिहेच्चूर्णं द्रवैः सर्वैर्घृताद्यैर्द्विगुणोन्मितैः । पिबेच्चतुर्गुणैरेवं चूर्णमालोडितं द्रवैः ॥ १६ ॥

चूर्ण बनाने की विधि—जो अत्यन्त सूखा द्रव्य होता है उसे खरल आदि में रख कर अत्यन्त महीन कूट कर वस्त्र से छान लिया जाय तो उसे चूर्ण कहते हैं। इसी का नामान्तर रज तथा क्षोद भी है। इस की मात्रा एक कर्ष (१ तोले) की होती है। यदि चूर्ण में गुड़ मिलाना हो तो उस की मात्रा चूर्ण के बराबर और साफ शक्कर मिलाना हो तो उसकी मात्रा चूर्ण से

दुगुनी होनी चाहिये। यदि हींग मिलानी हो तो उसे घी में भून कर इतनी मात्रा में डाले कि जितनी खाने से जी न मिचलाये। यदि घृतादि द्रवपदार्थ के साथ चूर्ण चाटना हो तो घृतादि की मात्रा चूर्ण से दुगुनी लेनी चाहिये और यदि पीना हो तो चूर्ण को चौगुने जलादि द्रव पदार्थों में खूब घोल कर पीवे ॥ १४-१६ ॥

अथानुपानमाह—

चूर्णावलेहगुटिकाकल्कानामनुपानकम्। पित्तवातकफातङ्के त्रिद्व्येकपलमाहरेत् ॥ १७ ॥
यथा तैलं जले क्षिप्तं क्षणेनैव विसर्पति। अनुपानबलादङ्गे तथा सर्पति भेषजम् ॥ १८ ॥

अनुपान की मात्रा—चूर्ण, अवलेह, गोली और कल्क इनके अनुपान (दुग्धादि) की मात्रा पित्त, वात तथा कफसम्बन्धी रोगों में क्रम से तीन पल (१२ तोले), दो पल (८ तोले) और एक पल (४ तोले) की होनी चाहिये। जिस प्रकार जल में तेल छोडने से वह क्षण मात्र में (जल के ऊपर) चारों तरफ फैल जाता है उसी प्रकार अनुपान के बल से औषधि भी क्षणमात्र में ही सपूर्ण अङ्गों में फैल जाती है ॥ १७-१८ ॥

अथ भावनाविधिमाह—

द्रवेण यावता सम्यक् चूर्णं सर्वं प्लुतं भवेत्। भावनायाः प्रमाणं तु चूर्णे प्रोक्तं भिषग्वरैः ॥१९॥

भावना की विधि—द्रव पदार्थों की जितनी मात्रा से सम्पूर्ण चूर्ण भली भांति डूब जाय उतनी मात्रा से चूर्ण में द्रवपदार्थों की भावना देनी चाहिये ॥ १९ ॥

अथ पुटपाकविधिमाह—

पुटपाकस्य कल्कस्य स्वरसो गृह्यते यतः। अतस्तु पुटपाकानां युक्तिरत्रोच्यते मया ॥ २० ॥
पुटपाकस्य पाकोऽयं लेपस्याङ्गारवर्णता। लेपश्च द्व्यङ्गुलं स्थूलं कुर्याद् द्व्यङ्गुलमात्रकम् ॥२१॥
काश्मरी वटजम्ब्वादिपत्रैर्वेष्टनमुत्तमम् ॥ २२ ॥
पलमात्रो रसो ग्राह्यः कर्षमात्रं मधु क्षिपेत्। कल्कचूर्णद्रवाद्यास्तु देयाः कोलमिता बुधैः॥२३॥

पुटपाक की विधि—अनेक स्थलों पर पुटपाक की विधि से परिपक्व कल्क का स्वरस ग्रहण किया जाता है। अतः यहा मैं पुटपाक की विधि कहता हूँ। पुटपाक के परिपाक होने का लक्षण—जब ऊपर लेप की हुई मिट्टी दहकते अगारे के समान हो जाय तब समझना चाहिये कि पुटपाक सिद्ध हो गया। पुटपाक की विधि—कल्क किये हुये द्रव्य के ऊपर खम्भारि, बरगद वा जामुन आदि के पत्तों को दो अङ्गुल मोटा खूब उत्तम रीति से लपेट कर ऊपर से दो अगुल मोटा मिट्टी का लेप कर दे और अग्नि में डाल दे। जब मिट्टी लाल हो जाय तब निकाल ले। पश्चात् ऊपर की मिट्टी आदि अलग करके उस कल्क के रस को निचोड ले। इसकी मात्रा एक पल (४ तोले) की है। इसमें यदि मधु डालना हो तो एक कर्ष (१ तो०) डाले। यदि पण्डित लोग इसमें अन्य कोई कल्क, चूर्ण अथवा द्रवपदार्थ (जलादि) डालते हैं तो उसकी एक कोल (६ माशे) की मात्रा रखते हैं ॥ २०-२३ ॥

अथोष्णोदकविधिमाह—

अष्टमेनांशशेषेण चतुर्थेनार्द्धकेन वा। अथवा क्वथनेनैव सिद्धमुष्णोदकं भवेत् ॥ २४ ॥
श्लेष्मामवातमेदोघ्नं वस्तिशोधनदीपनम्। कासश्वासज्वरान् हन्ति पीतमुष्णोदकं निशि ॥२५॥

उष्णोदक (गरम जल) की विधि—जल को गरम करने पर उसका आठवां हिस्सा, चौथा हिस्सा या आधा हिस्सा शेष रहने पर अथवा केवल उबाल लेने पर ही उसे उष्णोदक कहते हैं। यदि उष्णोदक रात में पिया जाय तो कफ, आमवात तथा मेद को नष्ट करने वाला, वस्तिशोधक, अग्निदीपक एवं कास, श्वास तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है ॥ २४-२५ ॥

अथ क्षीरपाकविधिमाह—

क्षीरमष्टगुणं द्रव्यात्क्षीरान्नीरं चतुर्गुणम्। क्षीरावशेषं तत्पीतं शूलमामोद्भवं जयेत् ॥ २६ ॥

क्षीरपाक की विधि—द्रव्य से अठगुना दूध और दूध से चौगुना जल छोड कर औटाये जब केवल दूध रह जाय तब उतार ले। इसे पीने से आम से उत्पन्न हुआ शूल नष्ट होता है ॥ २६ ॥

अथ क्वाथविधिमाह—

पानीयं षोडशगुणं क्षुण्णे द्रव्यपले क्षिपेत्। मृत्पात्रे क्वाथयेद् ग्राह्यमष्टमांशावशेषितम् ॥२७॥

क्वाथ बनाने की विधि—चूर्ण किये हुए एक पल (४ तोले) द्रव्य को मिट्टी के पात्र में रख कर उसमें १६ गुना (६४ तोले) जल डालकर आग पर रख विना ढके खौलाये जब अष्टमाश (८ तोले) जल रह जाय तब उतार ले ॥ २७ ॥

कर्षादौ तु पलं यावद् दद्यात्षोडशिकं जलम् । ततस्तु कुडवं यावत्तोयमष्टगुणं भवेत् ॥
चतुर्गुणमतश्चोर्ध्वं यावत् प्रस्थादिकं जलम् ॥ २८ ॥

परिभाषा—यदि द्रव्य की मात्रा कर्ष से लेकर पल पर्यन्त की हो तो जल १६ गुना डालना चाहिये और उससे (पल से) अधिक यदि कुडव (४ पल) पर्यन्त द्रव्य की मात्रा हो तो अठगुना जल डाले । इसके (कुडव के) उपरान्त प्रस्थ आदि पर्यन्त यदि द्रव्य की मात्रा हो तो चौगुना जल डाले ॥ २८ ॥

***षोडशिकं=षोडशगुणम् ॥ २८ ॥**
यहां 'षोडशिकम्' इस पद का '१६ गुना' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २८ ॥

तज्जलं पाययेद्धीमान्कोष्णं मृद्वग्निसाधितम् । शृतः क्वाथः कषायश्च निर्यूहः स निगद्यते ॥२९॥

बुद्धिमान् वैद्य रोगी को उक्त जल किञ्चिद् गर्म रहते ही पिलावे और धीमी आंच से औंटा कर तैयार करे । इसीको संस्कृत में शृत, क्वाथ, कषाय तथा निर्यूह कहते हैं ॥ २९ ॥

अथ क्वाथपानमात्रामाह—

मात्रोत्तमा पलेन स्यात्त्रिभिरक्षैस्तु मध्यमा । जघन्या च पलार्द्धेन स्नेहक्वाथौषधेषु च ॥ ३० ॥

क्वाथ (काढ़ा) पीने की मात्रा—स्नेह (घृतादि), क्वाथ (काढा) तथा औषध देने में उत्तम मात्रा एक पल (४ तोले) की, मध्यम मात्रा—३ कर्ष (तोले) की और निकृष्टमात्रा—आधे पल (२ तोले) की कही जाती है ॥ ३० ॥

तन्त्रान्तरे—

क्वाथ्यद्रव्यपले वारि द्विरष्टगुणमिष्यते । चतुर्भागावशिष्टन्तु पेयं पलचतुष्टयम् ॥ ३१ ॥
दीप्तानलं महाकायं पाययेदञ्जलिं जलम् । अन्ये त्वर्द्धं परित्यज्य प्रसृतिं तु चिकित्सकाः ॥३२॥
क्वाथस्यागमनिच्छन्तस्त्वष्टभागावशेषितम् । पारम्पर्योपदेशेन वृद्धवैद्याः पलद्वयम् ॥ ३३ ॥

अन्य ग्रन्थों में यह लिखा है कि—जिस द्रव्य का क्वाथ बनाना हो, उसे एक पल (४ तोले) लेकर उसमें १६ गुना (१६ पल) जल डालकर औंटाये जब चतुर्थांश (४ पल) जल अवशिष्ट रह जाय तब उसे पीना चाहिये । जिसके शरीर का आकार बडा हो तथा अग्नि प्रदीप्त हो उसे एक अञ्जलि अर्थात् (४ पल) पिलावे । अन्य चिकित्सक लोग अञ्जलि से आधा भाग छोड कर केवल प्रसृति मात्र (२ पल) क्वाथ पिलाते हैं और जो वृद्ध वैद्य क्वाथ बना कर उसमें से आधा भाग पिला कर शेष आधा भाग छोडना नहीं चाहते वे लोग गुरुपरम्परा प्राप्त उपदेश से पूर्वोक्त रीति से क्वाथ बनाने के समय चतुर्थांश जल अवशिष्ट न करके अष्टमांश जल अवशिष्ट रहने पर ही क्वाथ उतारते हैं ऐसी अवस्था में दो पल अवशिष्ट रहता है उसी को पिलाते हैं ॥ ३१–३३ ॥

***अष्टभागावशेषितस्य चतुर्भागावशिष्टापेक्षया गुरुत्वाद् दीप्तानलं महाकायं पलद्वयं पाययेत् । मध्यमाग्निमल्पकायं पलमात्रं पाययेत् । 'मात्रोत्तमा पलेन स्याद्' इत्यादिवचनात् ॥**

यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि—जब अष्टमाश जल अवशिष्ट रहने पर क्वाथ उतारा जायगा तब वह चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ की अपेक्षा गुरु होगा अतः जिनकी जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त है और शरीर भी विशाल है उन्हें ही अष्टमांशावशिष्ट दो पल की मात्रा पिलानी चाहिये । और जिनकी जठराग्नि मध्यम तथा छोटे शरीर वाले हैं उन्हें एक पल की ही मात्रा पिलानी चाहिये । क्योंकि 'एक पल की मात्रा उत्तम होती है' इत्यादि वचनों का प्रमाण भी मिलता है ॥ ३१–३३ ॥

अथ क्वाथे सितादीना प्रक्षेपमानमाह—

क्वाथे क्षिपेत्सितामंशैश्चतुर्थाष्टमषोडशैः । वातपित्तकफातङ्के विपरीतं मधु स्मृतम् ॥ ३४ ॥
जीरकं गुग्गुलुं क्षारं लवणं च शिलाजतु । हिङ्गु त्रिकटुकञ्चैव क्वाथे शाणोन्मितं क्षिपेत् ॥३५॥
क्षीरं घृतं गुडं तैलं मूत्रं चान्यद् द्रवं तथा । कल्कं चूर्णादिकं क्वाथे निक्षिपेत् कर्षसम्मितम् ॥

क्वाथ में साफ शक्कर आदि डालने की मात्रा—क्वाथ में वात, पित्त तथा कफसम्बन्धी रोगों में क्रम से साफ शक्कर (क्वाथ के) चतुर्थांश, अष्टमाश तथा षोडशांश के बराबर छोड़ना चाहिये ।

किन्तु यदि शहद छोडना हो तो इससे विपरीत क्रम से छोड़ना चाहिये अर्थात् वातज रोगों में काथ का १६ वां भाग, पित्तज में आठवां भाग और कफज में चौथा भाग शहद छोडना चाहिये। जीरा, गूगल, खार, नमक, शिलाजीत, हींग, त्रिकटु, (सोंठ, पीपरि, मरिच) ये सब यदि काथ में छोडे जायें तो शाण (३ माशे) के बराबर होने चाहिये। दूध, घी, गुड, तेल, मूत्र तथा अन्य प्रकार के द्रवपदार्थ या कल्क एवं चूर्ण आदि यदि काथ में छोड़ना हो तो उसकी मात्रा एक कर्ष (१२ माशे) की होनी चाहिये ॥ ३४-३६ ॥

अथौषधभक्षणविधिमाह—

तत्रोपविश्य विश्रान्तः प्रसन्नवदनेक्षणः । औषधं हेमरजतमृद्भाजनपरिस्थितम् ॥ ३७ ॥
पिबेत् प्रसन्नहृदयः पीत्वा पात्रमधोमुखम् । विधायाचम्य सलिलं ताम्बूलाद्युपयोजयेत् ॥३८॥

औषध भक्षण की विधि—औषध खाने के समय प्रथम सोने, चांदी अथवा मिट्टी के पात्र में औषध (क्वाथ) को रख कर थकावट दूर हो जाने पर प्रसन्न मुख तथा नेत्र होकर और सुस्थिर बैठ कर पीवे (खावे)। प्रसन्न मन से पीकर के पात्र को औंधे मुख रख कर तत्पश्चात् जल से आचमन कर के पान आदि खावे ॥ ३७-३८ ॥

अथावलेहविधिमाह—

क्राथादेर्यत्पुनः पाकाद् घनत्वं सा रसक्रिया । सोऽवलेहश्च लेहश्च तन्मात्रा स्यात्पलोन्मिता ॥
सिता चतुर्गुणा कार्या चूर्णाच्च द्विगुणो गुडः । द्रवं चतुर्गुणं दद्यादिति सर्वत्र निश्चयः ॥ ४० ॥
सुपक्वे तन्तुमत्त्वं स्यादवलेहेऽप्सु मज्जनम् । स्थिरत्वं पीडिते मुद्रा गन्धवर्णरसोद्भवः ॥ ४१ ॥
दुग्धमिक्षुरसं यूषं पञ्चमूलकषायकम् । वासाक्काथं यथायोग्यमनुपानं प्रशस्यते ॥ ४२ ॥

अवलेह बनाने की विधि—क्काथ आदि जो पुनः पाक करने से अत्यन्त गाढ़ा हो जाता है उसी को रसक्रिया, अवलेह तथा लेह कहते हैं। उसकी मात्रा एक पल (४ तोले) की होती है। यदि इस में साफ शक्कर डालनी हो तो चूर्ण की चौगुनी और गुड दुगुना डाले तथा द्रवपदार्थ चौगुना डाले। **अवलेह का परिपाकज्ञान**—अवलेह के परिपक्क होने पर उठा कर खींचने से उससे चाशनी के समान तार निकलना, जल में डालने पर डूब जाना, रखने पर स्थिर रहना (इधर उधर न फैलना), दबाने पर अंगुली की रेखायें उस पर उभड आना और शास्त्रोक्त गन्ध, वर्ण तथा रस का उत्पन्न हो जाना ये सब लक्षण प्रकट हो जाते हैं। **अनुपान**—दूध, ऊख का रस, मूंग आदि का जूस, पञ्चमूल का क्काथ और अडूसा का क्काथ इनमें से किसी का योग्यतानुसार अवलेह में अनुपान उत्तम होता है ॥ ३९-४२ ॥

गुटिकानिर्माणविधिमाह—

वटका अथ कथ्यन्ते तन्नाम गुटिका वटी । मोदको वटिका पिण्डी गुडो वर्तिस्तथोच्यते ॥४३॥
लेहवत्साध्यते वह्नौ गुडो वा शर्कराऽथवा । गुग्गुलुर्वा क्षिपेत्तत्र चूर्णं तन्निर्मिता वटी ॥४४॥

गोली बनाने की विधि—गुटिका, वटी, मोदक, वटिका, पिण्डी, गुड तथा वर्त्ति ये सब नाम गोली के हैं। आग के ऊपर गुड, शक्कर या गूगल रखकर अवलेह के समान बनावे पश्चात् उसमें औषध चूर्ण डालकर उसकी गोली बनावे ॥ ४३-४४ ॥

❀ तत्र = वह्निसिद्धे गुडादौ ॥ ४४ ॥

यहा 'तत्र' पद का 'आग पर रख कर सिद्ध किये हुये गुडादि में' यह अर्थ समझना चाहिये ॥

कुर्यादवह्निसिद्धेन क्वचिद् गुग्गुलुना वटीम् । द्रवेण मधुना वाऽपि गुटिकां कारयेद् बुधः ॥४५॥
सिता चतुर्गुणा देया वटीषु द्विगुणो गुडः । चूर्णे चूर्णसमः कार्यो गुग्गुलुर्मधु तत्समम् ॥४६॥

कहीं २ विद्वान् लोग बिना आग पर पकाये ही गूगल से गोली तैयार करते हैं। अथवा द्रव पदार्थ या शहद से ही गोली बना लेते हैं। गोली बनाने में चूर्ण की अपेक्षा साफ शक्कर चौगुनी, गुड दुगुना और गुग्गुल या मधु चूर्ण के समान डालना चाहिये ॥ ४५-४६ ॥

❀ तत्समं=चूर्णसमम् ॥ ४६ ॥

यहा 'तत्समम्' पदका 'चूर्ण के समान' यह अर्थ है ॥ ४५-४६ ॥

द्रवं तु द्विगुणं देयं मोदकेषु भिषग्वरैः ॥ ४७ ॥

वैद्यवरों को चाहिये कि गोली बनाने में यदि द्रवरूप पदार्थ डालना हो तो उसकी मात्रा चूर्ण से दुगुनी लेवे ॥ ४७ ॥

***द्रवं=द्रवरूपं द्रव्यम् ॥ ४७ ॥**

यहां 'द्रवम्' पद का 'द्रव रूप पदार्थ' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४७ ॥

कर्षप्रमाणं तन्मात्रा बलं दृष्ट्वा प्रयुज्यते ॥ ४८ ॥

गोलियों की मात्रा यद्यपि एक कर्ष (१ तोले) की कही हुई है, तथापि रोगियों के बल को देख कर तदनुसार इसकी मात्रा की कल्पना करनी चाहिये ॥ ४८ ॥

***बलमिति कालादेरप्युपलक्षणम् ॥ ४८ ॥**

यहां 'बलम्' यह पद कालादि का भी उपलक्षण है इससे 'बल, काल, अवस्था, देश आदि को देख कर' ऐसा अर्थ समझना चाहिये ॥ ४८ ॥

अथ घृततैलयोर्विधिमाह—

कल्काच्चतुर्गुणीकृत्य घृतं वा तैलमेव च । चतुर्गुणद्रवे साध्यं तस्य मात्रा पलोन्मिता ॥ ४९ ॥

घृत और तेल बनाने की विधि—कल्क से चौगुना घी अथवा तेल लेकर उससे (घी तथा तेल से) चौगुने द्रव पदार्थ के साथ उसे सिद्ध करना चाहिये। जब केवल घी या तेल रह जाय तब उसे उतार लेना चाहिये, उसकी मात्रा एक पल की होती है ॥ ४९ ॥

***मात्रा पलोन्मिता भक्षणाय ॥ ४९ ॥**

यहां 'मात्रा एक पल की होती है' ऐसा जो कहा गया है वह खाने के लिये समझना चाहिये ॥

निक्षिप्य क्वाथयेत्तोयं क्वाथ्यद्रव्याच्चतुर्गुणम् । पादशिष्टं गृहीत्वा तु स्नेह तेनैव साधयेत् ॥५०॥
चतुर्गुणं मृदुद्रव्ये कठिनेऽष्टगुणं जलम् । मृद्वादिक्वाथ्यसंघाते दद्यादष्टगुणं पयः ॥
अत्यन्तकठिने द्रव्ये नीरं षोडशिकं मतम् ॥ ५१ ॥

जिस द्रव्य का क्वाथ बनाना हो उससे चौगुना जल छोड कर क्वाथ बनाना चाहिये और जब चतुर्थांश शेष रह जाय तब उसमें स्नेह (घृत या तेल) डालकर पकावे जब केवल स्नेह पदार्थ रह जाय तब उतार कर काम में ले। यहा चौगुना जल छोड़ना जो कहा है वह मृदु द्रव्यों के लिये कठिन द्रव्यों के लिये तो अठगुना जल छोडना चाहिये। जहां मृदु आदि अर्थात् क्वाथ करने योग्य मृदु तथा कठिन द्रव्यों का समूह हो वहा अठगुना ही जल छोड़ना चाहिये। यदि अत्यन्त कठिन द्रव्य हो तो उसमें १६ गुना जल छोडना चाहिये ॥ ५०-५१ ॥

***मृदुद्रव्ये=आर्द्रद्रव्ये गुडूच्यादौ । कठिने=शुष्कद्रव्ये शुण्ठ्यादौ । अत्यन्तकठिने=चिर-शुष्के देवदार्वादौ ॥ ५०-५१ ॥**

यहां 'मृदु द्रव्य' से 'गीले द्रव्य गिलोय आदि' 'कठिन द्रव्य' से 'सूखे द्रव्य सोंठ आदि तथा 'अत्यन्त कठिन द्रव्य' से 'बहुत दिन के सूखे हुये देवदारु आदि का बोध करना चाहिये ॥५०-५१॥

कर्षादितः पलं यावत्क्षिपेत्षोडशिकं जलम् । तदूर्ध्वं कुडवं यावद् भवेदष्टगुणं पयः ।
प्रस्थादितः क्षिपेन्नीरं खारी यावच्चतुर्गुणम् ॥ ५२ ॥

एक कर्ष (१ तोले) से लेकर पल (४ तोले) पर्यन्त द्रव्य में १६ गुना जल डालना चाहिये। उसके उपरान्त कुडव (४ पल) पर्यन्त में ८ गुना जल डालना चाहिये। प्रस्थ (१६ पल) से लेकर खारी (४०९६ पल) पर्यन्त में चौगुना जल डालना चाहिये ॥ ५२ ॥

***पूर्वं 'चतुर्गुणं मृदुद्रव्य' इत्यादिना क्वाथ्यद्रव्यगतमृदुत्वादिगुणभेदेन जलगतपरिमाण-मुक्तम् । इदानीं केचिदाचार्याः 'कर्षादितः पलं यावदि' त्यादिवचनेन क्वाथ्यद्रव्यगतपरिमा-णभेदेन जलगतपरिमाणं मन्यन्ते ॥ ५२ ॥**

यहा यह और समझना चाहिये कि इसके अव्यवहित पूर्व में 'चतुर्गुणं मृदुद्रव्ये' इत्यादि से जिसका क्वाथ बनाया जायगा उस द्रव्य के मृदुत्वादि गुणों के भेद से जल का तौल बतलाया है। इस समय कोई २ आचार्य 'कर्षादितः पल यावद्' इत्यादि वचनों से क्वाथ बनाये जाने वाले द्रव्यों के तौल के भेद से जल डालने का तौल बतलाते हैं ॥ ५२ ॥

अम्बुक्वाथरसैर्यत्र पृथक स्नेहस्य साधनम् । कल्कस्यांशं तत्र दद्याच्चतुर्थं षष्ठमष्टमम् ॥ ५३ ॥

जहां जल, क्वाथ तथा स्वरस के द्वारा पृथक् २ स्नेह (घी या तेल) बनाना है वहां क्रम से स्नेह की अपेक्षा-कल्क का चौथा, छठा तथा आठवां अंश देना चाहिये ॥ ५३ ॥

अस्यायमर्थः—अम्बुना स्नेहसाधने कल्कं स्नेहस्य चतुर्थमंशं दद्यात्। क्वाथेन स्नेह-साधने स्नेहस्य षष्ठभागं कल्कं दद्यात् । स्वरसैः स्नेहसाधने स्नेहस्याष्टमभागं कल्कं दद्यात् ॥ ५३ ॥

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि—जल द्वारा स्नेह बनाने में स्नेह के चतुर्थांश तुल्य कल्क का अंश देना चाहिये। क्वाथ के द्वारा स्नेह बनाने में स्नेह के छठे अंश के तुल्य कल्क का अंश देना चाहिये। किसी के स्वरस से स्नेह बनाने में स्नेह के आठवें अंश के तुल्य कल्क का अंश देना चाहिये ॥५३॥

पुनर्विशेषमाह—

दुग्धे दध्नि रसे तक्रे कल्को देयोऽष्टमांशकः। कल्काच्च सम्यक् पाकार्थं तोयमत्र चतुर्गुणम् ॥

पुनः विशेष उक्ति—दूध, दही, स्वरस या तक्र (चतुर्थांश जल सहित छाछ) में यदि स्नेह बनाना हो तो स्नेह का अष्टमांश कल्क देना चाहिये। अच्छी तरह से पाक तैयार होने के लिये कल्क से चौगुना जल डालना चाहिये ॥ ५४ ॥

कल्कात्=कल्कद्रव्यात्। चतुर्गुणं तोयं पेषणार्थम् ॥ ५४ ॥

यहां 'कल्क' पद से 'कल्क जिसका बना हो उस द्रव्य' का ग्रहण करना चाहिये। 'चौगुना जल कल्क पीसने के लिये लेना चाहिये न कि ऊपर से डालने के लिये' ॥ ५४ ॥

द्रवाणि यत्र स्नेहेषु पञ्चादीनि भवन्ति हि। तत्र स्नेहसमान्याहुर्यथापूर्वं चतुर्गुणम् ॥ ५५ ॥

जिन स्नेहों में दूध आदि पांच द्रव पदार्थ पड़ते हैं उनमें वे सब प्रत्येक स्नेह के तुल्य होने चाहिये अर्थात् इन पांचों में जो २ पूर्व में हैं वे चौगुने होने चाहिये ॥ ५५ ॥

अस्यायमर्थः—यत्र स्नेहेषु आदीनि पञ्च द्रवाणि दुग्धदधिस्वरसतक्रकल्कोपयुक्त-जलानि प्रत्येक स्नेहसमानि बोद्धव्यानि। यथापूर्वं दुग्धदधिस्वरसतक्रं समुदितं स्नेहाच्चतु-र्गुणं भवति ॥ ५५ ॥

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि—जिन स्नेहों के बनाने में दूध, दही, स्वरस, तक्र और कल्क में उपयोग किया हुआ जल, इन पाचों द्रव पदार्थों का प्रयोग होता है वहां प्रत्येक वे सब तौल में स्नेह के बराबर हों ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् उन पाचों में जो २ पूर्व में हैं अर्थात् दही, दूध, स्वरस तथा तक्र वे सब चारो मिलकर स्नेह के चौगुने होने चाहिये ॥ ५५ ॥

द्रव्येण केवलेनैव स्नेहपाको भवेद् यदि। तत्राम्बुपिष्टः कल्कः स्याज्जलं चात्र चतुर्गुणम् ॥५६॥
क्वाथेन केवलेनैव पाको यत्रोदितः क्वचित्। क्वाथ्यद्रव्यस्य कल्कोऽपि तत्र स्नेहे प्रयुज्यते ॥५७॥

जहा केवल द्रव्य ही से स्नेह बनाना हो वहा उस द्रव्य का कल्क जल से पीसना चाहिये। और जल कल्क द्रव्य से चौगुना लेना चाहिये। जहा केवल क्वाथ से स्नेह बनाना कहा हो वहां यह भी समझना चाहिये कि जिस द्रव्य का क्वाथ बना है उसके कल्क का भी उस स्नेह में प्रयोग किया जाता है ॥ ५६-५७ ॥

कल्कहीनस्तु यः स्नेहः स साध्यः केवले द्रवे ॥ ५८ ॥

यदि कोई स्नेह विना कल्क ही के बनाया जाय तो वहा केवल द्रव में ही उसे सिद्ध करना चाहिये ॥

केवले द्रवे=क्वाथेतरस्मिन् स्वरसादिरूपे ॥ ५८ ॥

यहां 'केवल द्रव में' ऐसा कहने का यह भाव समझना चाहिये कि—क्वाथ से भिन्न स्वरसादिरूप द्रव में ॥ ५८ ॥

पुष्पकल्कस्तु यः स्नेहस्तत्र तोयं चतुर्गुणम्। स्नेहात् स्नेहाष्टमांशश्च पुष्पकल्कः प्रयुज्यते ॥

जिस स्नेह में फूलों का कल्क बनाया जाता हो वहा स्नेह का चौगुना जल और स्नेह का अष्टमांश फूलों का कल्क डालना चाहिये ॥ ५९ ॥

अथ सिद्धस्नेहस्य लक्षणान्याह—

वर्त्तिवत्स्नेहकल्कः स्याद् यदाऽङ्गुल्या विवर्त्तितः। शब्दहीनोऽग्निनिक्षिप्तः स्नेहः सिद्धो भवेत्तदा ॥
यदा फेनोद्गमस्तैले फेनशान्तिश्च सर्पिषि। वर्णगन्धरसोत्पत्तिः स्नेहः सिद्धो भवेत्तदा ॥ ६१ ॥

सिद्ध हुये स्नेह के लक्षण—जब अङ्गुली से वटने पर स्नेह के कल्क की वत्ती बन जाने लगे

और स्नेह को अग्नि में छोडने पर उससे फट् फट् शब्द न होने लगे तब स्नेह को सिद्ध हुआ समझना चाहिये। जब तेल में फेन निकलने लगे और घी में जब फेन का निकलना बन्द होने लगे तथा दोनों के यथोक्त वर्ण, गन्ध तथा रस मालूम पड़ने लगे तब स्नेह (तेल तथा घी) को सिद्ध हुआ समझना चाहिये ॥ ६०-६१ ॥

अथ स्नेहपाकस्य लक्षणपूर्वकं त्रैविध्यमाह—

स्नेहपाकस्त्रिधा प्रोक्तो मृदुर्मध्यः खरस्तथा। ईषत्सरसकल्कस्तु स्नेहपाको मृदुर्भवेत् ॥ ६२ ॥
मध्यपाकस्य सिद्धिश्च कल्के नीरसकोमले। ईषत्कठिनकल्कश्च स्नेहपाको भवेत्खरः ॥ ६३ ॥

स्नेह परिपाक के लक्षण पूर्वक ३ प्रकार—स्नेह का परिपाक तीन प्रकार का होता है। १ मृदुपाक, २ मध्यपाक और ३ खरपाक। १ **मृदुपाक**—जिस स्नेह के पाक में स्नेह कल्क के कुछ सरस रहते ही उतार लिया जाय उसे मृदुपाक कहते हैं। २ **मध्यपाक**—जिसमें कल्क के नीरस तथा कोमल रहते ही पाक बन्द कर दिया जाय उसे मध्यपाक कहते हैं। ३ **खरपाक**—जिस स्नेहपाक में कल्क कुछ कठिन हो जाता है उसे खरपाक कहते हैं ॥ ६२-६३ ॥

अथ दग्धपाकस्य निष्प्रयोजनत्वं तथाऽऽमपाकस्य दोषानाह—

तदूर्ध्वं दग्धपाकः स्याद्दाहकृन्निष्प्रयोजनः। आमपाकश्च निर्वीर्यो वह्निमान्द्यकरो गुरुः ॥ ६४ ॥

दग्धपाक तथा आमपाक के दोष—इसके ऊपर अर्थात् अधिक पाक होने से कल्क के अधिक कठिन हो जाने पर दग्धपाक (जला पाक) कहलाता है। यह दाहकारक होता है अतएव निष्प्रयोजन (किसी काम में नहीं लेने योग्य) होता है। जो आमपाक (कच्चापाक) अर्थात् जिसका कल्क अधिक सरस होता है, वह निर्वीर्य, अग्नि को मन्द करने वाला और गुरु होता है ॥

अथ मृद्वादिपाकानां विषयानाह—

नस्यार्थं स्यान्मृदुः पाको मध्यमः सर्वकर्मसु। अभ्यङ्गार्थः खरः प्रोक्तो युञ्ज्यादेवं यथोचितम् ॥

मृदु आदि पाकों के विषय—नस्यकर्म के लिये (नास लेने के लिये) मृदुपाक स्नेह उत्तम होता है और सभी कार्यों के लिये मध्यमपाक स्नेह लेना चाहिये। मालिश करने के लिये खरपाक स्नेह लेना चाहिये। इस प्रकार जहां जैसा उचित हो वैसे पाकवाले स्नेह का प्रयोग करना चाहिये ॥ ६५ ॥

अथ घृततैलादीनामुषितत्वं गुणकारकमित्याह—

घृततैलगुडादींश्च साधयेन्नैकवासरे। प्रकुर्वन्त्युषितास्त्वेते विशेषाद् गुणसञ्चयम् ॥ ६६ ॥

घी, तेल तथा गुड़ के वासी होने की महत्ता—घी, तेल तथा गुड़ को एक ही दिन में कभी नहीं तैयार कर लेना चाहिये। क्योंकि ये बासी होने पर ही विशेष गुणकारी होते हैं ॥ ६६ ॥

अथ सन्धानविधिमाह—

द्रवेषु चिरकालस्थं द्रव्यं यत्सन्धितं भवेत्। आसवारिष्टभेदैस्तु प्रोच्यते भेषजोचितम् ॥६७॥

सन्धानविधि—किसी भी द्रव पदार्थों में यदि कोई द्रव्य चिरकाल तक रक्खा रहे तो वह सन्धान को प्राप्त हो जाता है। औषध के लिये उचित होने से उसे आसव तथा अरिष्ट के भेद से कहते हैं ॥ ६७ ॥

***भेषजेषु यदुचित तद्भेषजोचितम् ॥ ६७ ॥**

यहां 'भेषजोचितम्' पद का 'औषध के लिये उचित होने से' यह अर्थ समझना चाहिये ॥६७॥

अथासवारिष्टलक्षणमाह—

यदपक्वौषधाम्बुभ्यां सिद्धं मद्यं स आसवः। अरिष्टः क्वाथसाध्यः स्यात्तयोर्मानं पलोन्मितम् ॥

आसव तथा अरिष्ट के लक्षण—जो विना पकाये हुए औषध तथा जल से मद्य सिद्ध होता है उसे 'आसव' कहते हैं और जो क्वाथ से मद्य तैयार किया जाता है उसे 'अरिष्ट' कहते हैं। इन दोनों की मात्रा एक पल (४ तोले) की होती है ॥ ६८ ॥

अथ सामान्यतोऽरिष्टविधिमाह—

अनुक्तमानारिष्टेषु द्रवाद् द्रोणं गुडात्तुलाम्। क्षौद्रं क्षिपेद् गुडादर्द्धं प्रक्षेपं दशमांशिकम् ॥६९॥

सामान्य रूप से अरिष्ट की विधि—जहां अरिष्ट के बनाने में द्रवादि पदार्थों का मान (तौल) न कहा गया हो वहां द्रव पदार्थ एक द्रोण (२५६ पल), गुड़ एक तुला (१०० पल), शहद गुड़

का आधा अर्थात् आधी तुला (५० पल) और अन्य प्रक्षेप (ऊपर से डालने योग्य) पदार्थ गुड़ का दशमांश (१० पल) डालना चाहिये ॥ ६९ ॥

ॐ दशमांशिकं=गुडस्यैव दशमांशम् ॥ ६९ ॥

यहाँ 'दशमांशिकम्' पद का 'गुड़ का दशमांश' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६९ ॥

अथ द्विविधसीधुमाह—

ज्ञेयः शीतरसः सीधुरपक्वमधुरद्रवः । सिद्धः पक्वरसः सीधुः सम्पक्वमधुरद्रवैः ॥ ७० ॥

सीधु के दो प्रकार—बिना पकाये हुये ऊख के रस आदि मधुर द्रव पदार्थों से बने हुये मद्यविशेष को 'शीतरस सीधु' और पकाये हुए ऊख के रस आदि मधुर द्रव पदार्थों से बने हुये मद्यविशेष को 'पक्वरस सीधु' कहते हैं ॥ ७० ॥

ॐमधुरद्रवैः=इक्षुरसादिभिः ॥ ७० ॥

यहाँ 'मधुरद्रव' पद से 'ऊख का रस आदि मधुर द्रव पदार्थों' का ग्रहण करना चाहिये ॥७०॥

अथ सुरां सुराजातिं चाह—

परिपक्वान्नसंधानात्समुत्पन्नां सुरां जगुः । सुरामण्डः प्रसन्ना स्यात्ततः कादम्बरी घना ॥७१॥
तदधो जगलो ज्ञेयो मेदको जगलाद्घनः । वक्कसो हृतसारः स्यात्सुराबीजं तु किण्वकम् ॥७२॥

सुरा तथा सुरा की जातियां—पकाये हुए अन्न का सन्धान करने से जो मद्यविशेष बनता है उसे 'सुरा', सुरा के ऊपर के पतले द्रव भाग को 'प्रसन्ना', उससे किञ्चित् घन (गाढ़े) भाग को 'कादम्बरी' तथा उससे अधिक घन भाग को 'जगल', जगल से भी अधिक घन भाग अर्थात् सबसे नीचे के भाग को 'मेदक' सारभाग निकाल लेने पर बची हुई सीठी को 'वक्कस' और सुरा के बीज को 'किण्व' कहते हैं ॥ ७१-७२ ॥

ॐ सुराबीजं=यवगोधूमतण्डुलादि ॥ ७१-७२ ॥

यहाँ 'सुरा के बीज' से जौ, गेहूं, चावल आदि का बोध करना चाहिये क्योंकि इन्हीं से सुरा बनाई जाती है अतः सुरा के नीचे स्थित इन पदार्थों को 'सुराबीज' कहते हैं ॥ ७१-७२ ॥

अथ वारुणीमाह—

यत्तालखर्जूररसैः सन्धिता सा हि वारुणी ॥ ७३ ॥

वारुणी—ताड़ तथा खजूर के रस का सन्धान करके जो मद्यविशेष बनता है उसे 'वारुणी' कहते हैं ॥ ७३ ॥

अथ शुक्तलक्षणमाह—

कन्दमूलफलादीनि सस्नेहलवणानि च । यत्र द्रवेऽभिपूयन्ते तच्छुक्तमभिधीयते ॥ ७४ ॥

शुक्त का लक्षण—जिस द्रव पदार्थ में तेल तथा नमक के साथ कन्द, मूल तथा फलादि को डुबोकर उसका संधान करते हैं उसे 'शुक्त' कहते हैं ॥ ७४ ॥

ॐअभिपूयन्ते=द्रवेणाप्लाव्य सन्धीयन्ते ॥ ७४ ॥

यहाँ 'अभिपूयन्ते' पद का 'द्रव पदार्थ में डुबोकर सन्धान करते हैं' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७४ ॥

अथ चुक्रलक्षणमाह—

विनष्टमम्लतां यातं मद्यं वा मधुरद्रवः । विनष्टः सन्धितो यस्तु तच्चुक्रमभिधीयते ॥ ७५ ॥
गुडाम्बुना सतैलेन कन्दशाकफलैस्तथा । सधितं चाम्लतां यातं गुडचुक्रं प्रचक्ष्यते ॥
एवमेव हि शुक्तं स्यान्मृद्वीकासम्भवं तथा ॥ ७६ ॥

चुक्र का लक्षण—जो मद्य बिगड़ कर खट्टा हो जाय उसे और बिगड़ जाने पर जिसका सन्धान किया जाय उस मधुर द्रव (ऊख के रस आदि) पदार्थ को भी 'चुक्र' कहते हैं । गुड़ का जल (गुडमिश्रित जल), तेल तथा कन्द, शाक और फल इन सबों का सन्धान करने पर जब खट्टा हो जाय तब उसे 'गुडचुक्र' कहते हैं । इसी प्रकार दाख का भी शुक्त बनाया जाता है ॥ ७५-७६ ॥

अथ तुषोदकसौवीरारनालकाञ्जिकशिण्डाकीलक्षणान्याह—

तुषाम्बु सन्धितं ज्ञेयमामैर्विदलितैर्यवैः । यवैस्तु निस्तुषैः पक्वैः सौवीरं सधितं भवेत् ॥७७॥

आरनालन्तु गोधूमैरामैः स्यान्निस्तुषीकृतैः। पक्वैर्वा संहितं तत्तु सौवीरसदृशं गुणैः॥ ७८॥
कुल्माषधान्यमण्डादिसहितं काञ्जिकं विदुः। शिण्डाकी संहिता ज्ञेया मूलकैः सर्षपादिभिः॥

तुषोदक, सौवीर, आरनाल, काञ्जिक (कांजी) तथा शिण्डाकी के लक्षण—कच्चे, तुष (भूसी) सहित जौ की दलिया का जो सन्धान किया जाय तो वह 'तुषाम्बु' और विना भूसी के पकाये हुये जौ का जो सन्धान किया जाता है वह 'सौवीर' कहलाता है। विना भूसी के कच्चे या पक्के गेहूं का जो सन्धान किया जाता है वह 'आरनाल' कहलाता है और वह गुणों में सौवीर के समान होता है। कुल्माष (घुघुरी), धान्य और मण्ड आदि का यदि सन्धान किया जाय तो उसे 'काजी' तथा मूली और सरसो आदि का जो सन्धान किया जाय उसे 'शिण्डाकी' कहते हैं॥ ७७-७९॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे परिभाषादिप्रकरणे
द्वितीयं भेषजविधानप्रकरणं समाप्तम्॥ २॥

अथ तृतीयं धात्वादिशोधनमारणविधिप्रकरणम्॥ ३॥

अथ धातूनां शोधनमारणविधिः।

तत्र मारणयोग्यसुवर्णस्य लक्षणमाह—

दाहे रक्तं सितं छेदे निकषे कुङ्कुमप्रभम्। तारशुल्बोज्झितं स्निग्धं कोमलं गुरु हेम सत्॥१॥

मारण करने के योग्य सुवर्ण का लक्षण—जो सुवर्ण आग में तपाने पर रक्तवर्ण, काटने पर सफेद, कसौटी पर कसने से केसर के समान वर्ण वाला देख पड़े और चांदी तथा तामे के मेल से रहित, स्निग्ध, कोमल एवं गुरु (वजन में भारी) हो। वह उत्तम (मारण के योग्य) होता है॥ १॥

&& सत्=उत्तमम्॥ १॥

यहां 'सत्' पद का 'उत्तम' अर्थ समझना चाहिये॥ १॥

अथ मारणायोग्यसुवर्णस्य लक्षणमाह—

तच्छेदे कठिनं रूक्षं विवर्णं समलं दलम्। दाहे छेदे सितं श्वेतं कषे स्फुटं लघु त्यजेत्॥ २॥

मारण के अयोग्य सुवर्ण—जो सुवर्ण काटने में कठिन, रूक्ष, विवर्ण (वदरङ्ग), मल सहित, पर्त्तयुक्त, तपाने, काटने तथा कसने में सफेद, घन का चोट मारने पर फट जाने वाला एवं लघु हो। उसे त्याग देना चाहिये अर्थात् मारण के लिये नहीं लेना चाहिये॥ २॥

अथ सुवर्णस्य शोधनविधिमाह—

पत्तलीकृतपत्राणि हेम्नो वह्नौ प्रतापयेत्। निषिञ्चेत्तप्ततप्तानि तले तक्रे च काञ्जिके॥ ३॥
गोमूत्रे च कुलत्थानां कषाये तु त्रिधा त्रिधा। एवं हेम्नः परेषाञ्च धातूनां शोधनं भवेत्॥ ४॥

सुवर्ण की शोधन विधि—प्रथम सोने के पतले-पतले पत्तर बना कर उन सबों को आग में तपावे खूब लाल हो जाने पर क्रम से तेल, तक्र (छांछ), कांजी, गोमूत्र तथा कुलथी का क्वाथ इन सब में अलग-अलग प्रत्येक में तीन-तीन बार बुझावे। ऐसा करने से सोने की शुद्धि होती है। इसी भांति अन्य धातुओं की भी शुद्धि होती है॥ ३-४॥

अथाशुद्धसुवर्णस्य दोषानाह—

बलं सवीर्य्यं हरते नराणां रोगव्रजं पोषयतीह काये।
असौख्यकार्येव सदा सुवर्णमशुद्धमेतन्मरणञ्च कुर्यात्॥ ५॥

अशुद्ध सुवर्ण के दोष—विना शोधा हुआ सोना सेवन करने से मनुष्यों के बल तथा वीर्य को हर लेता है, तथा शरीर में अनेक प्रकार के रोगों को बढ़ाता है और सदा दुःखदायी होकर अन्त में मृत्यु भी कर देता है॥ ५॥

अथ सुवर्णस्य मारणविधिमाह—

स्वर्णस्य द्विगुणं सूतमम्लेन सह मर्दयेत् । तद्गोलकसमं गन्धं निदध्यादधरोत्तरम् ॥ ६ ॥

सुवर्ण के मारण की विधि—अत्यन्त पतले २ सोने के टुकड़ों के दूना पारा ले कर उसमें उन टुकड़ों को मिला कर अम्ल पदार्थ नीबू आदि के रस के साथ खूब मर्दन करे तत्पश्चात् सर्वों का गोला बना कर तौल में उसी के बराबर गन्धक का चूर्ण लेकर उस गोले के नीचे, ऊपर, चारो तरफल पेट दे ॥ ६ ॥

ॐस्वर्णस्य-अतितनूकृतपत्रस्य । गन्धं = गन्धकचूर्णम् ॥ ६ ॥

यहा 'स्वर्णस्य' पदका 'अत्यन्त पतले २ सोने के टुकड़ों के' तथा 'गन्धम्' पद का 'गन्धक का चूर्ण' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६ ॥

गोलकञ्च ततो रुद्ध्वा शरावदृढसम्पुटे । त्रिंशद्वनोपलैर्दद्यात्पुटान्येवं चतुर्दश ॥
निरुत्थं जायते भस्म गन्धो देयः पुनः पुनः ॥ ७ ॥

इस के बाद शराव (गोला रखने की घरिया) में भी गन्धक का चूर्ण बिछा कर उस के ऊपर उक्त गोला को रख कर ऊपर से दूसरा शराव औंधा कर रख दे और कपड़ा (रुई) डाल कर खूब कुटी हुई चिकनी मिट्टी से दोनों शरावों का मुख बन्द करके सुखा ले पश्चात् उसे ३० गोइठे की आग के अन्दर बीचोबीच में रख कर १४ पुट दे अर्थात् प्रथम बार जब अग्नि शान्त हो जाय तब सम्पुटित शराव को निकाल कर पुनः उस का मुख खोल कर उस के अन्दर गन्धक का चूर्ण बिछा कर पुनः कपड़मिट्टी से मुख बन्द कर तथा सुखा कर ३० गोइठे की अग्नि में पुनः पुट दे, इस भाति १४ बार पुट दे । जब दूसरा पुट आरम्भ करे तब गन्धक का चूर्ण बराबर रखता जाय । इस प्रकार से १४ पुट देने से सोना का जो भस्म तैयार होता है वह निरुत्थ (पुनः जीवित नहीं होने वाला) होता है अर्थात् घी, सुहागा आदि मित्रपञ्चक के योग से भी पुनः अपने पूर्ववत् आकार को नहीं प्राप्त होने वाला होता है ॥ ७ ॥

ॐरुद्ध्वा = सवस्त्रकुट्टितचिक्कणमृत्तिकया । वनोपलः 'गोइठा' इति लोके । निरुत्थं = यत्पुनर्न जीवति ॥ ७ ॥

यहा 'रुद्ध्वा' पद का 'कपड़ा (रुई) डाल कर खूब कुटी हुई चिकनी मिट्टी से दोनों शरावों का मुख बन्द करके' तथा 'वनोपल' पद का 'गोइठा' और 'निरुत्थ' पद का 'पुनः जीवित नहीं होने वाला' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७ ॥

अथ सुवर्णमारणस्य द्वितीयं विधिमाह—

काञ्चने गलिते नागं षोडशांशेन निक्षिपेत् । चूर्णयित्वा तथाऽम्लेन घृष्ट्वा कृत्वा तु गोलकम् ॥
गोलकेन समं गन्धं दत्त्वा चैवाधरोत्तरम् ॥ ९ ॥
शरावसम्पुटे धृत्वा पुटेत् त्रिंशद्वनोपलैः । एवं सप्तपुटैर्हेम निरुत्थं भस्म जायते ॥ १० ॥

सुवर्णमारण की दूसरी विधि—प्रथम सुवर्ण को गला कर उसके सोलहवें हिस्से के बराबर नाग (सीसा) लेकर उसमें छोड़ दे पश्चात् सर्वों का चूर्ण करके उसमें अम्ल पदार्थ नीबू आदि का रस डाल कर खूब मर्दन करके एक गोला बना डाले और गोले के तौल के बराबर गन्धक का चूर्ण लेकर पूर्वोक्त रीति से नीचे-ऊपर, चारो तरफ लपेट कर तथा शराव में भी रखकर ऊपर से गोले को रख शराव को संपुटित कर कपड़मिट्टी से मुख बन्द कर धूप में सुखाकर ३० गोइठा की अग्नि के अन्दर रखकर पुट दे जब अग्नि शान्त हो जाय तब पुनः पूर्वोक्त रीति से ३० गोइठे की अग्नि में पुट दे । इस भाति सात बार पुट देने से ही सोना का निरुत्थ भस्म तैयार हो जाता है ॥ ८-१० ॥

ॐअत्रापि पूर्ववद्गन्धः प्रदातव्यः ॥ ८-१० ॥

यहां भी पूर्ववत् गन्धक का चूर्ण प्रत्येक पुट में देना चाहिये ॥ ८-१० ॥

अथ सुवर्णमारणस्य तृतीय विधिमाह—

काञ्चनाररसैर्घृष्ट्वा समसूतकगन्धयोः । कज्जलीं हेमपत्राणि लेपयेत्समया तया ॥ ११ ॥
काञ्चनारत्वचः कल्कैर्मूषायुग्मं प्रकल्पयेत् । धृत्वा तत्संपुटे गोलं मृण्मूषासम्पुटे च तत् ॥१२॥
निधाय सन्धिरोधं च कृत्वा संशोष्य गोलकम् । वह्नि खरतरं कुर्यादेव दत्त्वा पुटत्रयम् ॥१३॥

निरुत्थं जायते भस्म सर्वकर्मसु योजयेत्। काञ्चनारप्रकारेण लाङ्गली हन्ति काञ्चनम् ॥ १४ ॥

सुवर्णमारण की तीसरी विधि—प्रथम पारा और गन्धक को समान भाग लेकर दोनों को लाल कचनार के रस से खूब घोंट कर कज्जली बना ले, तत्पश्चात् सोने के पतले २ पत्रों के बराबर तौल की कज्जली से उन सबों के नीचे ऊपर लेप कर दे और लाल कचनार के छिल्कों को पीस कर उस की दो मूषा (सोने के पत्र रखने की घरिया) बनाकर उस के संपुट के अन्दर पूर्वोक्त सोने के पतले २ पत्रों के गोले को रख कर और गोले सहित उस संपुट को दूसरी मिट्टी की बनी हुई मूषा (घरिया) के संपुट के अन्दर रख कर उसका मुख कपडमिट्टी से खूब बन्द कर सुखाले तत्पश्चात् अत्यन्त तीव्र अग्नि में रख कर पुट दे दे, इस भाति तीन ही पुट देने से सोने का निरुत्थ भस्म तैयार हो जाता है। यह भस्म सभी रोगों पर देने योग्य होता है। यहा लाल कचनार के स्थान पर 'कलिहारी' का भी प्रयोग उक्तरीति से करने पर सोने का निरुत्थ भस्म तैयार होता है ॥ ११-१४ ॥

तया समया = हेमपत्रसमया, लाङ्गली = कलिहारी ॥ ११-१४ ॥

यहां 'तया समया' पदों का 'सोने के पतले २ पत्रों के बराबर तौल की कज्जली से' तथा 'लाङ्गली' पद का 'कलिहारी' अर्थ समझना चाहिये ॥ ११-१४ ॥

ज्वालामुखी तथा हन्याद् यथा हन्ति मनःशिला ॥ १५ ॥

जिस प्रकार मैनशिल के कल्क के अन्दर सोने का पत्र रख कर पूर्वोक्त रीति से पुट देने से सोने का निरुत्थ भस्म तैयार होता है उसी प्रकार से हुरहुर के कल्क के अन्दर भी रख कर पुट देने से निरुत्थ भस्म तैयार होता है ॥ १५ ॥

अथ सुवर्णमारणस्य चतुर्थं विधिमाह—

**शिलासिन्दूरयोश्चूर्णं समयोरर्कदुग्धकैः। सप्तधा भावनां दद्याच्छोषयेच्च पुनः पुनः ॥ १६ ॥
ततस्तु गलिते हेम्नि कल्कोऽयं दीयते समः। पुनर्धमेदतितरां यथा कल्को विलीयते ॥
एवं वेलात्रयं दद्यात्कल्कं हेममृतिर्भवेत् ॥ १७ ॥**

सुवर्णमारण की चौथी विधि—मैनशिल तथा सिन्दूर का समभाग चूर्ण लेकर उसमें आक के दूध की सात बार भावना देकर (भिगोकर) सुखावे। फिर उसका कल्क बनाकर सोने को गलाकर उसी में उस कल्क को सोने के बराबर तौल में लेकर डाल दे पश्चात् धौंकनी से कल्कमिश्रित सुवर्ण को खूब आंच दे, जब कल्क जल जाय तब पुनः कल्क देकर धौंके इस प्रकार तीन वार कल्क डालकर धौंकाने से सोने का मारण हो जाता है ॥ १६-१७ ॥

अथ मारितसुवर्णस्य गुणानाह—

**सुवर्णं शीतलं वृष्यं बल्यं गुरु रसायनम्। स्वादु तिक्तं च तुवरं पाके च स्वादु पिच्छिलम् ॥
पवित्रं बृंहणं नेत्र्यं मेधास्मृतिमतिप्रदम्। हृद्यमायुष्करं कान्तिवाग्विशुद्धिस्थिरत्वकृत् ॥
विषद्वयक्षयोन्मादत्रिदोषज्वरशोषजित् ॥ १९ ॥**

मारे हुये सोने का गुण—मारा हुआ सोना शीतल, कामी पुरुषों के लिये हितकर, बलकारक, गुरु, रसायन, मधुर, तिक्त तथा कषायरसयुक्त, विपाक में मधुररसयुक्त, पिच्छिल, पवित्र, बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक), नेत्र के लिये हितकर, मेधा (धारणाशक्ति), स्मृति (स्मरणशक्ति) तथा बुद्धि को बढ़ाने वाला, हृदय के लिये हितकर, आयुवर्धक, कान्ति, वाणी की शुद्धता (हकलापन आदि दोषों का दूर होना), स्थिरताकारक, एवं दोनों प्रकार के विष (स्थावर तथा जगम), क्षय, उन्माद (पागलपन), त्रिदोष, ज्वर तथा शोष को दूर करने वाला होता है ॥ १८-१९ ॥

वृष्यं = वृषाय कामुकाय हितम् ॥ १८-१९ ॥

यहा 'वृष्यम्' पद का 'कामी पुरुषों के लिये हितकर' यह अर्थ समझना चाहिये ॥

अथासम्यङ्मारितसुवर्णस्य दोषानाह—

असम्यङ्मारितं स्वर्णं बलं वीर्यं च नाशयेत्। करोति रोगान् मृत्युं च तद्धन्याद् यत्नतस्ततः ॥

अच्छी तरह से नहीं मारे हुए सोने के दोष—अच्छी तरह से नहीं मारा हुआ सोना-सेवन करने से बल तथा वीर्य को नष्ट करनेवाला, रोगों को उत्पन्न करने वाला एवं मृत्यु को देने वाला होता है। अतः यत्नपूर्वक (सावधानी से) सोने का मारण करना चाहिये ॥ २० ॥

अथ धात्वादिमारणोपयुक्तान् पुटप्रकारानाह, रसप्रदीपे—

तत्र महापुटस्य प्रकारमाह—

लोहादेरपुनर्भावस्तद्गुणत्वं गुणाढ्यता। सलिले तरणं चापि तत्सिद्धिः पुटनाद्भवेत् ॥ २१ ॥
गम्भीरे विस्तृते कुण्डे द्विहस्ते चतुरस्रके। वनोपलसहस्रेण पूरिते पुटनौषधम् ॥ २२ ॥
कोष्ठे रुद्धं प्रयत्नेन गोविष्ठोपरि धारयेत्। वनोपलसहस्रार्द्धं कोष्ठिकोपरि निक्षिपेत् ॥ २३ ॥
वह्निं विनिक्षिपेत्तत्र महापुटमिति स्मृतम् ॥ २४ ॥

महापुट का प्रकार—पुट के द्वारा लोहादि सम्पूर्ण धातु अच्छी तरह से भस्म किये जाने पर वे सब (धातु) फिर जीवित नहीं होते अर्थात् पुनः अपनी पूर्वावस्था को नहीं प्राप्त होते तथा पुटपाक-जनित सम्पूर्ण गुणों को प्राप्त करते हैं एव अधिक गुणकारी होते हैं और जल में डालने पर तैरने लग जाते हैं। तथा यथोक्त कार्य सिद्ध करने वाले होते हैं। **महापुटप्रकार**—दो हाथ गहरा तथा दो हाथ चौडा, चौकोर गड्ढा बना कर उसके अन्दर एक हजार गोइठा (विनुवा कण्डा) सजा कर रख दे, उसके बाद जिसका पुट देना हो उस औषध (धातु) को मिट्टी के मूषा के अन्दर रखकर कपड़मिट्टी से उसका मुख अच्छी तरह से बन्द कर तथा सुखाकर गोबर के ऊपर रखकर कुण्ड के बीच में रख दे और ऊपर पाच सौ गोइठा (विनुआ कण्डा) पुनः रखकर आग लगा दे। इसी को 'महापुट' कहते हैं ॥ २१–२४ ॥

⊛ कोष्ठं = मृण्मूषा। गोविष्ठा = 'गोबर' इति लोके ॥ २१–२४ ॥

यहा 'कोष्ठ' पद का 'मिट्टी का मूषा' तथा 'गोविष्ठा' पद का 'गोबर' अर्थ समझना चाहिये ॥

अथ गजपुटस्य प्रकारमाह—

सपादहस्तमानेन कुण्डे निम्ने तथाऽऽयते। वनोपलसहस्रेण पूर्णे मध्ये विधारयेत् ॥ २५ ॥
पुटनद्रव्यसंयुक्तां कोष्ठिकां मुद्रितां मुखे। अधोऽर्धानि करण्डानि अर्धान्युपरि निक्षिपेत् ॥
एतद्गजपुटं प्रोक्तं ख्यातं सर्वपुटोत्तमम् ॥ २६ ॥

गजपुट का प्रकार—सवा हाथ गहरा तथा सवा हाथ चौडा चौकोर गड्ढा बना कर उसमें १००० गोइठा (विनुआ कण्डा) भरना चाहिये तत्पश्चात् जिसका पुट देना हो उस द्रव्य (धातु) को मिट्टी के मूषा के अन्दर भर कर उसका मुख कपड़मिट्टी से खूब दृढ़ बन्द कर सुखा कर उसे उक्त गड्ढे के अन्दर बीच में आधे ५०० गोइठा के ऊपर रख दे बाकी आधे ५०० गोइठा को उसके ऊपर रख कर आग लगा दे। इसी को 'गजपुट' कहते हैं। यह सभी पुटों में उत्तम होता है ॥

⊛ हस्तश्चतुर्विंशत्यङ्गुलप्रमाणः स सपादस्तेन त्रिंशदङ्गुलप्रमाणेनेत्यर्थः। अत एवोक्तम्—साधारणनराङ्गुल्या त्रिंशदङ्गुलको गजः ॥ २५–२६ ॥

॥ इति गजपुटम् ॥

एक हाथ २४ अङ्गुल का अतः सवा हाथ ३० अङ्गुल का होता है। इससे सवा हाथ गहरा तथा सवा हाथ चौडा से ३० अंगुल गहरा तथा ३० अगुल चौडा समझना चाहिये। अन्यत्र भी कहा है कि—'गजपुट का मान साधारण मनुष्यों के अङ्गुल से ३० अङ्गुल का होता है' ॥२५–२६॥

अथ वाराहकौक्कुटपुटयोः प्रकारमाह—

अरत्निमात्रके कुण्डे पुटं वाराहमुच्यते। वितस्तिमात्रके खाते कथितं कौक्कुटं पुटम् ॥ २७ ॥

वाराह तथा कौक्कुट पुट का प्रकार—एक अरत्निमात्र गहरे तथा चौडे कुण्ड में जो पुट दिया जाता है उसे 'वाराहपुट' और एक वालिश्त मात्र गहरे तथा चौडे कुण्ड में जो पुट दिया जाता है उसे 'कौक्कुटपुट' कहते हैं ॥ २७ ॥

⊛ 'अरत्निस्तु निष्कनिष्ठेन मुष्टिने' त्यमरः। निःसृतकनिष्ठया मुष्ट्योपलक्षितो हस्तोऽरत्निरित्यर्थः ॥ २७ ॥

यहा 'अरत्नि' पद का 'अरत्निस्तु०' इत्यादि 'अमरकोश' के प्रमाण से मुट्ठी वाध कर कनिष्ठा (कानी) अगुली को सीधी खुली रखने पर जो नापने में एक हाथ होता है उसी का नाम 'अरत्नि' है अतः 'अरत्निमात्र' अर्थात् अरत्नि से उपलक्षित एक हाथ मात्र यह अर्थ समझना चाहिये। करीब २१ अंगुल के अरत्नि से उपलक्षित हाथ होता है ॥ २७ ॥

अथ प्रकारान्तरेण पुनः कौक्कुटपुटस्य प्रकारमाह—

षोडशाङ्गुलके खाते कस्यचित्कौक्कुटं पुटम् ॥ २८ ॥

प्रकारान्तर से पुनः कौक्कुटपुट का प्रकार—किसी किसी के मत से १६ अंगुल गहरे तथा चौड़े गड्ढे का 'कौक्कुटपुट' होता है ॥ २८ ॥

अथ कपोतपुटप्रकारमाह—

यत्पुटं दीयते खाते ह्यष्टसंख्यैर्वनोपलैः । कपोतपुटमेतत्तु कथितं पुटपण्डितैः ॥ २९ ॥

कपोतपुट का प्रकार—जिस गड्ढे में केवल ८ गोइठे से ही पुट दिया जा सके उसे 'कपोतपुट' कहते हैं ॥ २९ ॥

अथ गोबरस्य लक्षणमाह—

गोष्ठान्तर्गोखुरक्षुण्णं शुष्कं चूर्णितगोमयम् । गोबरं तत्समाख्यातं वरिष्ठं रससाधने ॥ ३० ॥

गोबर का लक्षण—गोशाला के अन्दर गौओं के खुरों से खुना हुआ सूखा जो गोबर का चूर्ण होता है उसी को 'गोबर' कहते हैं । यह रस (पारा) के सिद्ध करने में उत्तम होता है ॥ ३० ॥

अथ गोबरपुटप्रकारमाह—

बृहद्भाण्डस्थितैर्यत्र गोबरैर्दीयते पुटम् । तद् गोबरपुटं प्रोक्तं भिषग्भिः सूतभस्मनि ॥ ३१ ॥

गोबर के पुट का प्रकार—किसी बड़े वर्त्तन में उक्त गोबर को रख कर जो पुट दिया जाता है, उसे 'गोबरपुट' कहते हैं । वैद्य लोग इस पुट को पारा भस्म करने के समय काम में लाते हैं ॥

अथ भाण्डपुटस्य प्रकारमाह—

बृहद्भाण्डे तुषैः पूर्णे मध्ये मूषां विधारयेत् । क्षिप्त्वाऽग्निं मुद्रयेद्भाण्डं तद्भाण्डपुटमुच्यते॥३२॥

भाण्डपुट का प्रकार—एक किसी बड़े पात्र में भूसी भर कर उसके मध्य में मूषा (घरिया) रख कर अग्नि लगा दे और पात्र का मुख बन्द कर दे तो वह 'भाण्डपुट' कहलाता है ॥ ३२ ॥

अथ यन्त्रप्रकारानाह—

तत्र वालुकायन्त्रमाह—

भाण्डे वितस्तिगम्भीरे मध्ये निहितकूपिके । कूपिकाकण्ठपर्यन्तं वालुकाभिश्च पूरिते ॥ ३३ ॥
भेषजं कूपिकासंस्थं वह्निना यत्र पच्यते । वालुकायन्त्रमेतद्धि यन्त्रं तत्र बुधैः स्मृतम् ॥ ३४ ॥

बालुकायन्त्र का प्रकार—एक बालिश्त चौड़े तथा गहरे पात्र के बीच में काच की कुप्पी (शीशी) रख कर और उसके गले के बराबर उक्त पात्र में बालू भर कर उसके नीचे आग लगा कर यदि उक्त काच की कुप्पी में औषध रख कर पकाया जाय तो उसे 'बालुकायन्त्र' कहते हैं ॥

अथ दोलायन्त्रमाह—

निबद्धमौषधं सूतं भूर्जे तत्त्रिगुणे वरे । रसपोटलिकां काष्ठे दृढं बद्ध्वा गुणेन हि ॥ ३५ ॥
सन्धानपूर्णकुम्भान्तःस्वावलम्बनसन्धितम् । अधस्ताज्ज्वालयेदग्निं तत्तदुक्तक्रमेण हि ॥
दोलायन्त्रमिदं प्रोक्तं स्वेदनाख्यं तदेव हि ॥ ३६ ॥

दोलायन्त्र—पारा या अन्य औषध जिसका स्वेदन करना हो उसे उत्तम भोजपत्र से तीन पर्त करके लपेट कर उसकी पोटली बनाले पश्चात् उस पोटली को किसी लकडी में बीचोबीच डोरी से बांध कर एक हांडी के ऊपर उक्त लकडी को इस भांति रखे कि जिसमें पोटली हाड़ी के आधी दूर तक अन्दर लटकती रहे । उक्त हांडी के अन्दर काजी आदि किसी पदार्थ को इस तरह रख दे कि जिसमें पोटली भीगने न पावे, फिर उक्त हाडी को चूल्हे पर रखकर नीचे आग लगा दे । उसके भाफ से पोटली के अन्दर स्थित औषध का स्वेदन करे । इसी को 'दोलायन्त्र' या 'स्वेदनयन्त्र' कहते हैं ॥ ३५-३६ ॥

अथ स्वेदनयन्त्रमाह—

साम्बुस्थालीमुखे बद्धे वस्त्रे स्वेद्यं निधाय च । पिधाय पच्यते तत्र तद् यन्त्रं स्वेदनं स्मृतम् ॥

स्वेदनयन्त्र—एक हांडी में जल भर कर उसके मुख पर वस्त्र बांध दे तत्पश्चात् जिसका स्वेदन करना हो उस द्रव्य को उसी वस्त्र के ऊपर रखकर हाडी को चूल्हे पर रख नीचे अग्नि जलादे । इस भांति उक्त द्रव्य का भाफ द्वारा स्वेदन करे । इसे भी 'स्वेदनयन्त्र' कहते हैं ॥ ३७ ॥

अथ विद्याधरयन्त्रमाह—

अधःस्थाल्यां रसं क्षिप्त्वा विदध्यात्तन्मुखोपरि।
स्थालीमूर्ध्वमुखीं सम्यङ् निरुध्य मृदुमृत्स्नया॥ ३८॥
ऊर्ध्वस्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा चुल्ल्यामारोप्य यत्नतः।
अधस्ताज्ज्वालयेदग्निं यावत्प्रहरपञ्चकम्॥ ३९॥
स्वाङ्गशीतं ततो यन्त्राद् गृह्णीयाद्रसमुत्तमम्। विद्याधराभिधं यन्त्रमेतत्तज्ज्ञैरुदाहृतम्॥४०॥

विद्याधर यन्त्र—एक हांडी के भीतर पारा रख कर उसके ऊपर दूसरी हांडी इस तरह रख दे कि जिसमें उसका मुख ऊपर की ओर रहे। पश्चात् मिट्टी से नीचे वाली हांडी के मुख की सन्धियों को खूब यत्नपूर्वक बन्द करके और ऊपर की हांडी में शीतल जल भर कर चूल्हे पर रख दे और उसके नीचे ५ प्रहर (१५ घण्टे) तक आग बराबर जलाता रहे, जब जब ऊपर की हांड़ी का जल गरम होता जाय तब तब उसे अलग कर के दूसरा शीतल जल उसके स्थान पर डालता जाय। इसके बाद ५ प्रहर बीत जाने पर आग बुझा दे और जब हांडी एक दम शीतल हो जाय तब ऊपर की हाडी के पेंदे में उड़कर चिपके हुये उत्तम पारे को निकाल कर अलग कर ले। इसी को यन्त्रविशारद वैद्यों ने 'विद्याधर' नामक यन्त्र कहा है॥ ३८-४०॥

अथ भूधरयन्त्रमाह—

वालुकाभिः समस्ताङ्गं गर्त्ते मूषां रसान्विताम्। दीप्तोपलैः संवृणुयाद् यन्त्रं भूधरनामकम्॥

भूधरयन्त्र—प्रथम मूषा (घरिया) के अन्दर पारे को रख कर उसके मुख को अच्छी तरह बन्द कर दे बाद एक गड्ढे के अन्दर बालू भर कर उसी के अन्दर उक्त पारा युक्त मूषा (घरिया) को रख कर ऊपर से गोइठा से खूब ढक दे और आग लगा दे। इसी को 'भूधरयन्त्र' कहते हैं॥ ४१॥

अथ डमरुयन्त्रमाह—

यन्त्रं डमरुसंज्ञं स्यात्तत्स्थाल्या मुद्रिते मुखे॥ ४२॥

डमरुयन्त्र—एक हांडी के ऊपर दूसरी हाडी औंधी रख कर दोनों के मुख की सन्धियों को मिट्टी से अच्छी तरह बन्द कर देने से जो डमरू के तरह आकार हो जाता है, उसी को 'डमरु-यन्त्र' कहते हैं॥ ४१॥

अथ मारणयोग्यरजतस्य लक्षणमाह—

गुरु स्निग्धं मृदु श्वेतं दाहे छेदे घनक्षमम्। वर्णाढ्यं चन्द्रवत् स्वच्छं तारं नवगुणं शुभम्॥४३॥

मारणयोग्य चांदी के लक्षण—१ तौल में भारी, २ स्निग्ध, ३ कोमल, ४ सफेद और ५ तपाने तथा ६ काटने पर भी सफेद, ७ घन की चोट को सहने वाली, ८ वर्णयुक्त (बदरङ्ग नहीं), ९ चन्द्रमा के समान स्वच्छ कान्ति वाली इन ९ गुणों से युक्त जो चादी होती है वही अच्छी अत एव मारणयोग्य होती है॥ ४३॥

अथायोग्यरजतस्य लक्षणमाह—

कठिनं कृत्रिमं रूक्षं रक्तं पीतदलं लघु। दाहच्छेदघनैर्नष्टं रूप्यं दुष्टं प्रकीर्त्तितम्॥ ४४॥

मारण के अयोग्य चादी—कठिन, बनावटी, रूखी, लालिमा लिये हुए, पीले दल (जोर) वाली, हलकी, तपाने, काटने तथा घन की चोट से नष्ट हो जाने वाली जो चादी होती है वह खराब समझी जाती है अत एव मारण के अयोग्य होती है॥ ४४॥

अथ रजतस्य शोधनमाह—

पत्तलीकृतपत्राणि तारस्याग्नौ प्रतापयेत्। निषिञ्चेत्तप्ततप्तानि तैले तक्रे च काञ्जिके॥ ४५॥
गोमूत्रे च कुलत्थानां कषाये च त्रिधा त्रिधा। एवं रजतपत्राणां विशुद्धिः संप्रजायते॥ ४६॥

चादी के शोधने की विधि—चांदी के पतले पतले पत्तरों को आग में अच्छी तरह तपाकर तेल (तिल का तेल) में बुझा दे पुनः तपाकर उसी तेल में बुझावे इसी भाति तीन वार तेल में पुनः तीन तीन वार तक, काजी, गोमूत्र तथा कुलथी के क्वाथ में बुझावे। ऐसा करने से उक्त चांदी के पत्तरों की शुद्धि होती है॥ ४५-४६॥

अथाशुद्धरजतस्य दोषानाह—

रूप्यं त्वशुद्धं प्रकरोति तापं विबन्धकं वीर्यबलक्षयं च ।
देहस्य पुष्टिं हरते तनोति रोगांस्ततः शोधनमस्य कुर्यात् ॥ ४७॥

अशुद्ध चांदी के दोष—अशुद्ध चांदी-शरीर में ताप तथा मलबन्ध को उत्पन्न करने वाली एवं वीर्य तथा बल का क्षय करने वाली और देह की पुष्टता को हरण करने वाली तथा अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करने वाली होती है । अतः इसका शोधन करना चाहिये ॥ ४७ ॥

अथ रजतस्य मारणविधिमाह—

भागैकं तालकं मर्द्यं याममम्लेन केनचित् । तेन भागत्रयं तारपत्राणि परिलेपयेत् ॥ ४८ ॥
धृत्वा मूषापुटे रुद्ध्वा पुटेत्रिंशद्वनोपलैः । समुद्धृत्य पुनस्तालं दत्वा रुद्ध्वा पुटे पचेत् ।
एवं चतुर्दशपुटैस्तारं भस्म प्रजायते ॥ ४९ ॥

चांदी मारने की विधि—प्रथम एक भाग तवकिया हरताल लेकर उसे एक प्रहर (३ घण्टे) तक किसी भी अम्ल पदार्थ (नीबू आदि) के रस में खरल करे, तत्पश्चात् शुद्ध किये हुये तीन भाग चांदी के पत्तरों को लेकर उन पर पूर्वोक्त खरल किये हुये हरताल का अच्छी तरह लेप चढ़ा कर मूषा (घरिया) के संपुट के अन्दर रख कर कपडमिट्टी से सन्धियों को खूब बन्द करके और । कर ३० गोइठे (बिनुआ कण्डे) की आग में रख कर पुट देवे (पकाये), जब शीतल हो जाय तब निकाल कर पुनः हरताल का प्रलेप कर मूषा के अन्दर रख कर पूर्वोक्त रीति से पुट देवे । इसी भांति १४ बार पुट देने से चांदी भस्म हो जाती है ॥ ४८-४९ ॥

अथ रजतमारणस्यापरं विधिमाह—

स्नुहीक्षीरेण सम्पिष्टं माक्षिकं तेन लेपयेत् ॥ ५० ॥
तालकस्य प्रकारेण तारपत्राणि बुद्धिमान् । पुटेच्चतुर्दशपुटैस्तारं भस्म प्रजायते ॥ ५१ ॥

चांदी मारने की दूसरी विधि—बुद्धिमान् वैद्य पूर्वोक्त हरताल की भांति एकप्रहर (३ घण्टे) तक थूहर के दूध के साथ सोनामाखी या रूपामाखी एक भाग लेकर खरल करके ३ भाग चांदी के पत्तरों को लेकर उसी के ऊपर उक्त सोनामाखी या रूपामाखी का प्रलेप करके मूषा (घरिया) के संपुट के अन्दर रख कर मुख बन्द कर दे और सुखा कर ३० गोइठे की अग्नि में रख कर पकावे जब शीतल हो जाय तब पुनः प्रलेप करके पुट दे इस भांति १४ पुट देने से चादी भस्म हो जाती है ॥ ५०-५१ ॥

अथ मारितरजतस्य गुणानाह—

रौप्यं शीतं कषायं च स्वादुपाकरसं सरम् । वयसः स्थापनं स्निग्धं लेखनं वातपित्तजित् ॥
प्रमेहादिकरोगांश्च नाशयत्यचिराद् ध्रुवम् ॥ ५२ ॥

मारी हुई चांदी के गुण—मारी हुई चांदी-शीतल, कषाय तथा मधुररसयुक्त, विपाक में मधुर-रसयुक्त, सारक, अवस्था (युवावस्था) को स्थिर रखने वाली, स्निग्ध तथा लेखनगुण-विशिष्ट, वात-पित्त नाशक एवं प्रमेहादि रोगों को शीघ्र निश्चित रूप से दूर करने वाली होती है ॥ ५२ ॥

अथ मारणयोग्यताम्रस्य लक्षणमाह—

जपाकुसुमसङ्काशं स्निग्धं गुरु घनक्षमम् । लोहनागोज्झितं ताम्रं मारणाय प्रशस्यते ॥ ५३ ॥

मारण के योग्य तामा के लक्षण—जपाकुसुम (अढौल के फूल) के समान रक्तवर्ण वाला, स्निग्ध, गुरु (तौल में भारी), घन की चोट को सहने वाला, लौह तथा सीसा के मेल से रहित जो तामा होता है वह मारण के योग्य उत्तम होता है ॥ ५३ ॥

अथायोग्यताम्रस्य लक्षणमाह—

कृष्णं रूक्षमतिस्वच्छं श्वेतं चापि घनासहम् । लोहनागयुतं चेति शुल्बं दुष्टं प्रकीर्त्तितम् ॥५४॥

मारण के अयोग्य तामा के लक्षण—काला, रूखा, अतिस्वच्छ, सफेदी लिये हुये, घन की चोट को न सहने वाला, लोह तथा सीसा मिला हुआ जो तामा होता है वह दुष्ट कहलाता है अत एव मारण के लिये अयोग्य होता है ॥ ५४ ॥

अथ ताम्रस्य शोधनविधिमाह—

पत्तलीकृतपत्राणि ताम्रस्याग्नौ प्रतापयेत् । निषिञ्चेत्तप्ततप्तानि तैले तक्रे च काञ्जिके ॥ ५५ ॥

गोमूत्रे च कुलत्थानां कषाये च त्रिधा त्रिधा। एवं ताम्रस्य पत्राणां विशुद्धिः संप्रजायते॥५६॥

तामा के शोधने की विधि—तामे के पतले पतले पत्तरों को अग्नि में तपा तपा कर तेल, तक्र, कांजी, गोमूत्र और कुलथी के क्वाथ में क्रम से प्रत्येक में तीन तीन बार बुझावे, ऐसा करने से तामे के पत्तरों की शुद्धि हो जाती है॥ ५५-५६॥

अथ ताम्रगतं दोषाष्टकमाह—

एको दोषो विषे ताम्रे त्वशुद्धेऽष्टौ भ्रमो वमिः। विरेकः स्वेद उत्क्लेदो मूर्च्छा दाहोऽरुचिस्तथा॥
न विषं विषमित्याहुस्ताम्रन्तु विषमुच्यते। एको दोषो विषे ताम्रे त्वष्टौ दोषाः प्रकीर्त्तिताः॥५८॥

तामे के ८ दोष—विष में तो एक दोष रहता है किन्तु बिना शोधे हुये तामे में १ भ्रम, २ वमन, ३ विरेचन, ४ पसीना, ५ उत्क्लेद (जी मचलाना), ६ मूर्च्छा, ७ दाह, ८ अरुचि ये ८ दोष रहते हैं। विद्वान् लोग विष को वस्तुतः विष नहीं कहते हैं किन्तु तामे को विष कहते हैं। क्योंकि विष में एक ही दोष कहा हुआ है किन्तु तामे में ८ दोष कहे हुये हैं॥ ५७-५८॥

अथ ताम्रस्य मारणविधिमाह—

सूक्ष्माणि ताम्रपत्राणि कृत्वा संस्वेदयेद् बुधः। वासरत्रयमम्लेन ततः खल्वे विनिक्षिपेत्॥५९॥
पादांशं सूतकं दत्त्वा याममम्लेन मर्दयेत्। तत उद्धृत्य पत्राणि लेपयेद् द्विगुणेन च॥ ६०॥
गन्धकेनाम्लघृष्टेन तस्य कुर्याच्च गोलकम्। ततः पिष्ट्वा च मीनाक्षीं चाङ्गेरीं वा पुनर्नवाम्॥६१॥

तामे के मारने की विधि—प्रथम तामे के पतले पतले पत्तरों का ३ दिन तक अम्लपदार्थ (नीबू आदि) के रस से स्वेदन करे या उसी रस में उन्हें भिगो दे, उसके बाद उन पत्तरों को खरल में रखकर उसमें पत्तरों के चौथे भाग के बराबर पारा तथा ऊपर से अम्लपदार्थ (नीबू आदि) का रस डाल कर एक प्रहर तक खूब घोटें, फिर उन पत्तरों पर अम्लपदार्थ (नीबू आदि) के रस में घिसे हुये पत्तरों से दुगुने गन्धक का प्रलेप करके सभों का एक गोला बना ले। उसके बाद मछेछी, चाङ्गेरी और पुनर्नवा को पीस कर कल्क (चटनी) बना ले॥ ५९-६१॥

❀ चाङ्गेरी = चतुष्पत्राम्ला लोणिकाभेदः॥ ६१॥

यहां 'चाङ्गेरी' से 'चार पत्तों वाली तथा खट्टी नोनिया के भेद की एक बूटी' का ग्रहण करना चाहिये॥ ५९-६१॥

तत्कल्केन बहिर्गोलं लेपयेद् द्व्यङ्गुलोन्मितम्। धृत्वा तद् गोलकं भाण्डे शरावेण च रोधयेत्॥६२॥
बालुकाभिः प्रपूर्याथ विभूतिलवणाम्बुभिः। दत्त्वा भाण्डमुखे मुद्रां ततश्चुल्ल्यां विपाचयेत्॥६३॥
क्रमवृद्धयाऽग्निना सम्यग् यावद्यामचतुष्टयम्। स्वाङ्गशीत समुद्धृत्य मर्दयेच्छूरणद्रवैः॥६४॥
यामैकं गोलकं तच्च निक्षिपेच्छूरणोदरे। मृदा लेपस्तु कर्त्तव्यः सर्वतोऽङ्गुष्ठमात्रकः॥ ६५॥
पाच्यं गजपुटे क्षिप्तं मृतं भवति निश्चितम्॥ ६६॥
वमनं च विरेकं च भ्रमं क्लममथारुचिम्। विदाहं स्वेदमुत्क्लेदं न करोति कदाचन॥ ६७॥

फिर उसी कल्क से पूर्वोक्त गोले के ऊपर दो अंगुल मोटा लेप चढा कर उसे एक पात्र के अन्दर रख कर ऊपर से बालू भर कर पात्र का मुख एक शराव (कोसा) से ढक दे और राख तथा नमक को जल से सान कर उसी से सन्धियों को बन्द करके उक्त पात्र को चूल्हे पर रख कर उसके नीचे क्रम २ से आंच को तेज करते हुये ४ प्रहर (१२ घंटे) तक पकावे, उस के बाद जब स्वयं शीतल हो जाय तब उक्त तामे के गोले को निकाल कर एक प्रहर तक सूरन के रस में खरल करे पश्चात् सूरन के एक बडे कन्द के अन्दर गड्ढा बना कर उसी के अन्दर खरल किये हुये तामे के पत्तरों को रख कर सूरन के चारो तरफ एक अंगूठे बराबर मोटा मिट्टी का लेप चढा दे, और गजपुट में रख कर पकावै। ऐसा करने से तामा का निश्चय मारण हो जाता है। अत एव वह वमन, विरेचन, भ्रम, ग्लानि, अरुचि, दाह, पसीना और उत्क्लेद ये सब नहीं होने देता है॥ ६२-६७॥

अथ मारितताम्रस्य गुणानाह—

ताम्रं कषायं मधुरं सतिक्तमम्लञ्च पाके कटु सारकं च।
पित्तापहं श्लेष्महरं च शीतं तद्रोपणं स्याल्लघु लेखनं च॥ ६८॥

पाण्डूदराशोंज्वरकुष्ठकालश्वासक्षयान्पीनसमम्लपित्तम्।
शोथं कृमीञ्शूलमपाकरोति प्राहुर्बुधा बृंहणमल्पमेतत् ॥ ६९ ॥
एको दोषो विषे ताम्रे त्वसम्यङ्मारिते पुनः। दाहः स्वेदोऽरुचिर्मूर्च्छोत्क्लेदो रेको वमिर्भ्रमः ॥७०॥

मारे हुये तामे के गुण—मारा हुआ तामा कषाय, मधुर, तिक्त तथा अम्ल रस युक्त, विपाक में कटुरस युक्त, सारक, पित्तनाशक, कफ को दूर करने वाला, शीतल, रोपण, लघु तथा लेखन गुण-विशिष्ट और किंचित् बृंहण (रस-रक्तादिवर्धक) तथा पाण्डु, उदररोग, अर्श, ज्वर, कुष्ठ, खांसी, श्वास, क्षय, पीनस, अम्लपित्त, शोथ, कृमि तथा शूल को दूर करने वाला होता है। विष में एक दोष होता है, किन्तु अच्छी तरह नहीं मारे हुये तामे में दाह, पसीना, अरुचि, मूर्च्छा, उत्क्लेद (जी मचलाना), विरेचन, वमन तथा भ्रम ये सब दोष होते हैं ॥ ६८–७० ॥

अथ वङ्गस्य स्वरूपमाह—

वङ्गं च गिरिजं तच्च खुरकं मिश्रकं द्विधा। तयोस्तु खुरकं श्रेष्ठं मिश्रकं त्वहितं मतम् ॥ ७१ ॥

रांगा का स्वरूप—वङ्ग (रांगा) पर्वत पर उत्पन्न होता है और यह १ खुरक तथा २ मिश्रक भेद से २ प्रकार का होता है। इसमें खुरक श्रेष्ठ सौर मिश्रक अहितकारक होता है ॥ ७१ ॥

अथाशुद्धवङ्गस्य दोषानाह—

वङ्गं विधत्ते खलु शुद्धिहीनमाक्षेपकम्पौ च किलासगुल्मौ।
कुष्ठानि शूलं किल वातशोथं पाण्डुं प्रमेहञ्च भगदरञ्च ॥ ७२ ॥
विषोपमं रक्तविकारवृन्दं क्षयञ्च कृच्छ्राणि कफज्वरञ्च।
मेहाश्मरीविद्रधिमुष्करोगान् नागोऽपि कुर्यात्कथितान्विकारान् ॥ ७३ ॥

अशुद्ध वङ्ग के दोष—विना शोधा हुआ वङ्ग-आक्षेपक वात, कम्पवात, किलास (कुष्ठभेद), गुल्म, सभी प्रकार के कुष्ठ, शूल, वातसम्बन्धी शोथ, पाण्डु, प्रमेह, भगन्दर, विष के समान, रक्त सम्बन्धी अनेक प्रकार के विकार, क्षय, मूत्रकृच्छ्र आदि मूत्र रोग, कफज्वर, मेह, पथरी, विद्रधि और अण्डकोष सम्बन्धी रोगों को करता है। इसी भांति विना शोधा हुआ सीसा भी पूर्वोक्त इन्हीं सब रोगों को करता है ॥ ७२–७३ ॥

अथ वङ्गनागयोः शोधनविधिमाह—

वङ्गनागौ प्रतप्तौ च गलितौ तौ निषेचयेत्। त्रिधा त्रिधा विशुद्धिः स्याद् रविदुग्धेऽपि च त्रिधा॥

रांगा तथा सीसा के शोधने की विधि—रांगा तथा सीसा दोनों को अलग २ तपावे और गल जाने पर पूर्वोक्त रीति से तेल, तक्र, काजी, गोमूत्र तथा कुलथी के क्वाथ में प्रत्येक में तीन २ वार पृथक् २ क्रम से बुझावे और उस के बाद तीन वार आक के दूध में भी बुझावे तो शुद्धि हो जाती है ॥ ७४ ॥

*निषेचयेत्–तैलतक्रकाञ्जिकगोमूत्रकुलत्थक्काथेषु प्रत्येकं त्रिधा त्रिधा, ततोऽर्कदुग्धेऽपि त्रिधा ॥ ७४ ॥

यहा 'निषेचयेत्' पद से 'तेल, तक्र, कांजी, गोमूत्र तथा कुलथी के क्वाथ में प्रत्येक में तीन २ वार पृथक् २ क्रम से बुझावे और उस के वाद तीन वार आक के दूध में भी बुझावे' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ७४ ॥

अथ वङ्गस्य मारणविधिमाह—

मृत्पात्रे द्राविते वङ्गे चिञ्चाऽश्वत्थत्वचो रजः। पिष्ट्वा वङ्गचतुर्थांशमयोदर्व्या प्रचालयेत् ॥७५॥
ततो द्वियाममात्रेण वङ्गं भस्म प्रजायते। अथ भस्मसमं तालं क्षिप्त्वाऽम्लेन विमर्दयेत् ॥७६॥
ततो गजपुटे पक्त्वा पुनरम्लेन मर्दयेत्। तालेन दशमांशेन याममेकं ततः पुटेत्।
एवं दशपुटैः पक्वं वङ्गं भवति मारितम् ॥ ७७ ॥

रांगा के मारण की विधि—मिट्टी के पात्र में गलाये हुये रांगे में इसका चतुर्थांश इमली तथा पीपल के छाल का चूर्ण डाल कर लोहे की कलछुली से चलावे। उसके बाद उक्त रीति से दो प्रहर (६ घण्टे) तक चलाने से रांगा भस्म हो जाता है। फिर उस भस्म में उसके बराबर ही हरताल डाल कर अम्लपदार्थ (नींबू आदि) के रस के साथ खूब खरल करे उसे गजपुट की आग में पकावे। पक जाने के बाद पुनः दशवा भाग हरताल डाल कर

अम्लपदार्थ के रस के साथ एक प्रहर तक खरल करे, तत्पश्चात् पुनः गजपुट की आग में पकावे। इस भांति १० पुट देकर पकाने से वङ्ग (रांगा) अच्छी तरह मर जाता है ॥ ७५-७७ ॥

*** चिञ्चा = तिन्तिडी। रजः = चूर्णम्। अयोदर्वी = (लौहहाता) ॥ ७५-७७ ॥**

७५ वें श्लोक में 'चिञ्चा' पद से 'इमली' तथा 'रजः' पद से 'चूर्ण' और 'अयोदर्वी' पद से 'कलछुली (लौहहाता)' अर्थ समझना चाहिये ॥ ७५-७७ ॥

अथ मारितवङ्गस्य गुणानाह—

वङ्गं लघु सरं रूक्षं कुष्ठं मेहकफक्रिमीन्। निहन्ति पाण्डुं सश्वासं नेत्र्यमीषत्तु पित्तलम् ॥७८॥
सिंहो गजौघं तु यथा निहन्ति तथैव वङ्गोऽखिलमेहवर्गम्।
देहस्य सौख्यं प्रबलेन्द्रियत्वं नरस्य पुष्टिं विदधाति नूनम् ॥ ७९ ॥

मारे हुए रांगा के गुण—मारा हुआ रांगा-लघु, सारक, रूक्ष एवं कुष्ठ, प्रमेह, कफ, कृमि, पाण्डु तथा श्वास रोग को दूर करने वाला, नेत्रों के लिये हितकर तथा किञ्चित् पित्तकारक होता है। जिस प्रकार सिंह हाथियों के समूह को नष्ट कर देता है उसी प्रकार मारा हुआ रांगा भी संपूर्ण मेह रोग के समूह को नष्ट करता है और मनुष्यों के देहसम्बन्धी सुख, पुष्टि तथा इन्द्रियों की प्रबलता को निश्चित रूप से करने वाला होता है ॥ ७८-७९ ॥

अथ यशदस्य स्वरूप गुणांश्चाह—

यशदं गिरिजं तस्य दोषाः शोधनमारणे। वङ्गस्येव हि बोद्धव्या गुणांस्तु गणयाम्यथ ॥८०॥
यशदं च सरं तिक्तं शीतलं कफपित्तहृत्। चक्षुष्यं परमं मेहान् पाण्डुं श्वासञ्च नाशयेत् ॥८१॥

सीसे का स्वरूप—जस्ता (सीसा) भी पर्वत पर ही उत्पन्न होता है। अतः इसके दोष तथा शोधन और मारण की विधि पूर्वोक्त रांगे के समान ही समझना चाहिये। **सीसे के गुण**—सीसा-सारक, तिक्तरसयुक्त, शीतल नेत्रों के लिये अत्यन्त हितकर एवं कफ तथा पित्त को दूर करने वाला और सभी प्रकार के मेहरोग, पाण्डु तथा श्वास को नष्ट करने वाला होता है ॥ ८०-८१ ॥

अथ सीसकस्य शोधनविधिमाह—

तस्य साहजिका दोषा वङ्गस्येव निदर्शिताः। शोधनञ्चापि तस्येव भिषग्भिर्गदितं पुरा ॥८२॥

सीसा के शोधन विधि—सीसा के जो स्वाभाविक दोष हैं वे सब रांगा के समान ही होते हैं। अतः प्राचीन वैद्यों ने इसका शोधन भी रांगा के समान ही बतलाया है ॥ ८२ ॥

अथ सीसकस्य मारणविधिमाह—

ताम्बूलरससम्पिष्टं शिलालेपात् पुनः पुनः। द्वात्रिंशद्भिः पुटैर्नागो निरुत्थं भस्म जायते ॥८३॥

सीसा के मारने की विधि—पान के रस से मैनसिल को बारीक चटनी सा पीस ले और सीसे पर उसी का चारों तरफ प्रलेप कर गजपुट की अग्नि में पका ले। तत्पश्चात् पुनः निकाल कर उक्त मैनशिल का प्रलेप करके गजपुट में पकावे, इस प्रकार ३२ पुट देने से सीसे की निरुत्थ (पुनः नहीं जीवित होने वाली) भस्म तैयार हो जाती है ॥ ८३ ॥

***शिला = मनःशिलाः ॥ ८३ ॥**

यहां 'शिला' से 'मैनशिल' का ग्रहण करना चाहिये ॥ ८३ ॥

अथापरं सीसकमारणविधिमाह—

अश्वत्थचिञ्चात्वक्चूर्णं चतुर्थांशेन निक्षिपेत्। मृत्पात्रे विद्रुतो नागो लोहदर्व्या प्रचालितः ॥८४॥
यामैकेन भवेद्भस्म तत्तुल्या स्यान्मनःशिला। काञ्जिकेन द्वयं पिष्ट्वा पचेद्गजपुटेन च ॥८५॥
स्वाङ्गशीतं पुनः पिष्ट्वा शिलया काञ्जिकेन च। पुनः पचेच्छरावाभ्यामेवं षष्टिपुटैर्मृतिः ॥८६॥

सीसा मारने की दूसरी विधि—मिट्टी के पात्र में सीसे को गला कर उस में सीसे का चतुर्थांश पीपल तथा इमली के छाल का चूर्ण मिला कर एक पहर तक लोहे की कलछुली से चलाता रहे। ऐसा करने से सीसा भस्म हो जाता है। तत्पश्चात् उस भस्म में उस के बराबर ही मैनसिल मिला कर काजी के साथ पीस कर गजपुट की आग में पकावे, पश्चात् स्वयं शीतल हो जाने पर निकाल कर पुनः पूर्वोक्त रीति से दो शराव (कोसा) के अन्दर रखकर मैनसिल मिला कर काजी से पीसकर गजपुट की आग में पकावे। इसी भांति ६० पुट की आंच देने से सीसा मर जाता है ॥ ८४-८६ ॥

अथ मारितसीसकस्य गुणानाह—

सीसं रङ्गगुणं ज्ञेयं विशेषान्मेहनाशनम् ॥ ८७ ॥

नागस्तु नागशततुल्यबलं ददाति व्याधिं च नाशयति जीवनमातनोति।
वह्निं प्रदीपयति कामबलं करोति मृत्युञ्च नाशयति सन्ततसेवितः सः ॥ ८८ ॥

मारे हुये सीसा के गुण—सीसा के गुण यद्यपि रांगा के समान ही होते हैं तथापि यह विशेष कर मेहरोगनाशक होता है। सीसा निरन्तर सेवन करने से सौ हाथियों के समान बल देने वाला, रोगनाशक, जीवन को बढ़ाने वाला, अग्नि को प्रदीप्त करने वाला, कामशक्ति को बढ़ाने वाला तथा मृत्यु को दूर करने वाला होता है ॥ ८७-८८ ॥

अथाशुद्धलौहस्य दोषानाह—

खञ्जत्वकुष्ठामयमृत्युकारी हृद्रोगशूलौ कुरुतेऽश्मरीञ्च।
नानारुजानां च तथा प्रकोपं कुर्याच्च हृल्लासमशुद्धलौहम् ॥ ८९ ॥

अशुद्ध लोहा के दोष—अशुद्ध लोहा खञ्जता (लंगड़ापन), कुष्ठरोग, मृत्यु, हृद्रोग, शूल, पथरी, हृल्लास (उबकाई) तथा अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति करता है ॥ ८९ ॥

अथ लौहस्य दोषशान्तये शोधनविधिमाह—

पत्तलीकृतपत्राणि लौहस्याग्नौ प्रतापयेत्। निषिञ्चेत्तत्तप्तानि तैले तक्रे च काञ्जिके ॥ ९० ॥
गोमूत्रे च कुलत्थानां कषाये च त्रिधा त्रिधा। एवं लौहस्य पत्राणां विशुद्धिः संप्रजायते ॥

लोहा के दोष की शान्ति के लिये शोधनविधि—प्रथम लोहे के अत्यन्त पतले-पतले पत्तरों को लेकर अग्नि में पकावे, तत्पश्चात् तपे हुये उन सबों को क्रम से तिल का तेल, तक्र, कांजी, गोमूत्र तथा कुलथी के क्वाथ में प्रत्येक में तीन तीन बार तपा-तपा कर बुझावे। ऐसा करने से लोहा के पत्तरों की शुद्धि होती है ॥ ९०-९१ ॥

अथ लौहस्य मारणविधिमाह—

शुद्धं लौहभवं चूर्णं पातालगरुडीरसैः। मर्दयित्वा पुटेद्वह्नौ दद्यादेवं पुटत्रयम् ॥ ९२ ॥
पुटत्रयं कुमार्याश्च कुठारच्छिन्निकारसैः। पुटषट्कं ततो दद्यादेवं तीक्ष्णमृतिर्भवेत् ॥ ९३ ॥

लोहा के मारण विधि—शुद्ध किये हुये लोहे के चूर्ण को पातालगरुडी के रस में खूब खरल करके शराव के संपुट में रख गजपुट की आग में पकावे, पुनः शीतल होने पर निकाल कर उक्त रस से मर्दन कर पुनः गजपुट की आग में पकावे इस भांति ३ वार गजपुट की आग में पकाने के बाद पुनः घीकुवार के रस में मर्दन कर ३ बार गजपुट में पकावे इसके बाद कुठारच्छिन्निका (कोरैया) के रस में मर्दन कर ६ बार गजपुट की आग में पकाने से लोहा का मारण होता है ॥

अन्यच्च—

क्षिपेच्च द्वादशांशेन दरदं तीक्ष्णचूर्णतः। मर्दयेत्कन्यकाद्रावैर्यामयुग्मं ततः पुटेत्।
एवं सप्तपुटैर्मृत्युं लौहचूर्णमवाप्नुयात् ॥ ९४ ॥

लौह मारण का दूसरा प्रकार—लोहे के चूर्ण में बारहवां भाग सिंगरफ डाल कर घीकुवार के रस में २ प्रहर (६ घंटे) तक खूब खरल करे, उसके बाद गजपुट में रख फूँक दे इस प्रकार सातवार फूँकने से लोहा का मारण हो जाता है ॥ ९४ ॥

लोहमारणस्य तृतीयं विधिमाह—

सत्योऽनुभूतो योगेन्द्रैः क्रमोऽन्यो लोहमारणे। कथ्यते रामराजेन कौतूहलधियाऽधुना ॥९५॥
सूतकाद् द्विगुणं गन्धं दत्त्वा कुर्याच्च कज्जलीम्। द्वयोः समं लौहचूर्णं मर्दयेत्कन्यकाद्रवैः ॥९६॥
यामयुग्मं ततः पिण्डं कृत्वा ताम्रस्य पात्रके। घर्मे धृत्वा रुबूकस्य पत्रैराच्छादयेद् बुधः ॥९७॥
यामत्रयाद्भवेदुष्णं धान्यराशौ न्यसेत्ततः। दत्त्वोपरि शरावं तु त्रिदिनान्ते समुद्धरेत् ॥ ९८ ॥
पिष्ट्वा च गालयेद्वस्त्रादेवं वारितरं भवेत्। दाडिमस्य दलं पिष्ट्वा तच्चतुर्गुणवारिणा ॥ ९९ ॥
तद्रसेनायसं चूर्णं सजीय प्लावयेदिति। आतपे शोषयेत्तच्च पुटेदेवं पुनः पुनः ॥ १०० ॥
एकविंशतिवारैस्तन्म्रियते नात्र संशयः। एवं सर्वाणि लोहानि स्वर्णादीन्यपि मारयेत् ॥१०१॥

लोहामारण की तीसरी विधि—लोहा के मारण करने में बड़े-बड़े योगियों के द्वारा सचमुच अनुभव किया हुआ एक विधि और है जिसे कि इस समय कौतुकबुद्धि से रामराज नामक वैद्य

कह रहे हैं। पारा से दूना गन्धक लेकर उसकी कज्जली बना ले तत्पश्चात् उस कज्जली में उसके बराबर शुद्ध लोहे का चूर्ण मिलाकर घीकुवार के रस में २ प्रहर (६ घंटे) तक खरल करे उसके बाद उन सबों का एक पिण्ड बना कर तामे के वर्त्तन में रख एरण्ड के पत्ते से उसे ढक कर घाम (धूप) में २ प्रहर (६ घंटे) तक रख दे फिर धूप से गर्म हुये उसके ऊपर पत्तों को हटा कर शराव रखकर मुख बन्द कर धान्य की राशि के अन्दर गाड दे, जब तीन दिन हो जाय तब निकाल कर उक्त पिण्ड को पीस कर कपडे से छान ले। यह लोहे का चूर्ण ऐसा हलका हो जाता है कि जल पर तैरने लगता है। इसके बाद चूर्ण को चौगुने जल में पिसे हुए अनार के पत्तों के रस से खूब भिगोकर धूप में सुखावे तत्पश्चात् गजपुट में फूक दे। शीतल हो जाने पर निकाल कर पुनः उक्त रस में भिगो कर धूप में सुखाकर गजपुट में फूँके। इस तरह २१ बार पुट में रखकर फूकने से सभी प्रकार के लोहा तथा सोना आदि भी मर जाते हैं। इसमें कोई संशय नहीं॥

अथ मारितलौहस्य गुणानाह—

लौहं तिक्तं सरं शीतं कषायं मधुरं गुरु। रूक्षं वयस्यं चक्षुष्यं लेखनं वातलं जयेत्॥ १०२॥
कफं पित्तं गरं शूलं शोफार्शःप्लीहपाण्डुताः। मेदोमेहक्रिमीन् कुष्ठं तत्किट्टं तद्वदेव हि॥

मारे हुए लोहे के गुण—मारा हुआ लोहा–तिक्त, कषाय तथा मधुररसयुक्त, सारक, शीतल, गुरु, रूक्ष, अवस्था को स्थिर रखने वाला, नेत्रों के लिये हितकर, लेखन, वातकारक एवं कफ, पित्त, गरसंज्ञक विष, शूल, शोथ, बवासीर, प्लीहा, पाण्डु, मेद, प्रमेह, क्रिमि तथा कुष्ठ को नष्ट करने वाला होता है। इसी प्रकार लोहे के कीट (मण्डूर) में भी ये सब गुण रहते हैं॥१०२-१०३॥

अथ लौहभस्मभक्षणे मात्रामाह—

गुञ्जामेकां समारभ्य यावत्स्युर्नवरक्तिकाः। तावल्लोहं समश्नीयाद्यथादोषानलं नरः॥ १०४॥

लौहभस्म खाने की मात्रा—एक रत्ती से आरम्भ कर बढाते २ नौ रत्ती तक मनुष्य दोष तथा अग्नि के अनुसार विचार कर यथायोग्य लौह भस्म का सेवन करे॥ १०४॥

अथ लौहसेवनसमये वर्जनीयद्रव्याण्याह—

कूष्माण्डं तिलतैलं च माषान्नं राजिकां तथा। मद्यमम्लरसञ्चैव वर्जयेल्लौहसेवकः॥ १०५॥

लौहभस्म खाने के समय त्याग करने योग्य द्रव्य—पेठा, तिल का तेल, उडद, राई, मद्य, अम्लरस युक्त पदार्थ (इमली आदि) इन सबों का लौहभस्म खाने वाला व्यक्ति परित्याग कर देवे॥

अथ सर्वधातूना मारणे साधारणविधिमाह—

शिलागन्धार्कदुग्धाक्ताः स्वर्णाद्याः सर्वधातवः। म्रियन्ते द्वादशपुटैः सत्यं गुरुवचो यथा॥

सब धातुओं के मारने की साधारण विधि—सोना आदि सभी धातु यदि मैनसिल तथा गन्धक को आक के दूध में महीन पीसकर और उसी कल्क से लपेट कर गजपुट में रख कर फूंक दिये जावें और शीतल होने पर पुनः उक्त कल्क से लपेट कर फूंके जावें तो इसी भाति १२ बार फूंकने से मर जाते हैं। जैसे सद्गुरु का वचन सत्य होता है वैसे ही यह भी सत्य है॥ १०६॥

अथोपधातूनां मारणप्रकारमाह—

तत्राशुद्धस्वर्णमाक्षिकस्य दोषानाह—

मन्दानलत्वं बलहानिमुग्रां विष्टम्भितां नेत्रगदान् सकुष्ठान्।
मालां तथैव व्रणपूर्विकाञ्च कुर्यादशुद्धं खलु माक्षिकञ्च॥ १०७॥

अशुद्ध 'स्वर्णमाक्षिक' (सोनामाखी) के दोष—अशुद्ध सोनामाखी–अग्नि की मन्दता, बल की हानि, अत्यन्त विष्टम्भ, नेत्रसम्बन्धी रोग, कुष्ठ, गन्धमाला तथा अनेक प्रकार के व्रणों को उत्पन्न करने वाली होती है॥ १०७॥

अथ स्वर्णमाक्षिकस्य शोधनविधिमाह—

माक्षिकस्य त्रयो भागा भागैकं सैन्धवस्य च। मातुलुङ्गद्रवैर्वाऽथ जम्बीरस्य द्रवैः पचेत्॥१०८॥
चालयेल्लौहजे पात्रे यावत्पात्रं सुलोहितम्। भवेत्ततस्तु संशुद्धिं स्वर्णमाक्षिकमृच्छति॥१०९॥

सोनामाखी शोधने की विधि–३ भाग सोनामाखी और एक भाग सेन्धानमक लेकर दोनों को बिजौरा अथवा जमीरी नीबू के रस के साथ लोहे के पात्र में रख कर पकावे और तब तक लोहे की

करछुली से चलाता रहे जब तक लोहे का पात्र अच्छी तरह लाल न हो जाय। तदुपरान्त उतार कर सोनामाखी को अलग कर ले। ऐसा करने से सोनामाखी शुद्ध हो जाती है ॥१०८-१०९॥

अथ स्वर्णमाक्षिकस्य मारणविधिमाह—

कुलत्थस्य कषायेण घृष्ट्वा तैलेन वा पुटेत् । तक्रेण वाऽऽजमूत्रेण म्रियते स्वर्णमाक्षिकम् ॥११०॥

सोनामाखी मारने की विधि—शुद्ध सोनामाखी को कुलथी के क्वाथ, तिल का तेल, तक्र (छाछ) या बकरे के मूत्र में घिस (खरल) कर अग्नि की पुट देवे तो वह (सोनामाखी) मर जाती है ॥ ११० ॥

अथ तारमाक्षिकस्य शोधनविधिमाह—

स्वर्णमाक्षिकवद्दोषा विज्ञेयास्तारमाक्षिके । अतस्तद्दोषशान्त्यर्थं शोधनं तस्य कथ्यते ॥१११॥
कर्कोटीमेषशृङ्ग्युत्थैर्द्रवैर्जम्बीरजैर्दिनम् । भावयेदातपे तीव्रे विमला शुद्ध्यति ध्रुवम् ॥ ११२ ॥

रूपामाखी शोधने की विधि—सोनामाखी के जो दोष कहे हुए हैं वे ही रूपामाखी के भी समझने चाहिये। अतः उन सब दोषों को शान्त करने के लिये रूपामाखी के शोधने की विधि कहते हैं। रूपामाखी को एक दिन तक खेखसा, मेढ़ासि (शृ) ङ्गी तथा जमीरी नीबू के रस से भावना देकर तीव्र धूप में सुखाने से रूपामाखी शुद्ध हो जाती है ॥ १११-११२ ॥

***कर्कोटी = खेखसा । मेषशृङ्गी = मेढ़ाशृङ्गी । विमला = तारमाक्षिकम् ॥ १११-११२ ॥**

यहां 'कर्कोटी' पद से 'खेखसा' और 'मेषशृङ्गी' से 'मेढ़ाशृङ्गी' तथा 'विमला' पद से 'रूपामाखी का' ग्रहण करना चाहिये ॥ १११-११२ ॥

अथ तारमाक्षिकस्य मारणविधिमाह—

कुलत्थस्य कषायेण घृष्ट्वा तैलेन वा पुटेत् । मरणं वाऽऽजमूत्रेण तारमाक्षिकमृच्छति ॥११३॥

रूपामाखी के मारने की विधि—कुलथी का क्वाथ, तिल का तेल, तक्र या बकरे के मूत्र से रूपामाखी को घिस (खरल) करके अग्नि की आंच देने से रूपामाखी मर जाती है ॥ ११३ ॥

अथ स्वर्णमाक्षिकरूप्यमाक्षिकयोर्विशेषगुणानाह—

न केवलं स्वर्णरूप्यगुणास्तापीजयोर्मताः । द्रव्यान्तरस्य संसर्गात्सन्त्यन्येऽपि गुणास्तयोः ॥
माक्षिकं मधुरं तिक्तं स्वर्यं वृष्यं रसायनम् ॥ ११५ ॥
चक्षुष्यं बस्तिरुक्कुष्ठपाण्डुमेहविषोदरम् । अर्शः शोफं क्षयं कण्डूं त्रिदोषञ्च नियच्छति ॥११६॥

सोनामाखी तथा रूपामाखी के विशेष गुण—केवल सोना तथा चांदी के ही गुण क्रम से सोनामाखी तथा रूपामाखी में नहीं रहते हैं किन्तु दूसरे दूसरे द्रव्यों का भी संयोग होने से उनके भी गुण रहते हैं। गुण—सोनामाखी तथा रूपामाखी-मधुर तथा तिक्तरसयुक्त, स्वर को उत्तम करने वाली, वीर्यवर्धक, रसायन, नेत्रों के लिये हितकर एवं बस्तिसम्बन्धी रोग, कुष्ठ, पाण्डु, मेहरोग, विष, उदररोग, बवासीर, शोथ, क्षय, खुजली तथा त्रिदोष को नष्ट करने वाली होती है ॥

अथाशुद्धतुत्थस्य शोधनविधिमाह—

विष्ठया मर्दयेत्तुत्थं मार्जारककपोतयोः । दशांशं टङ्कणं दत्त्वा पचेल्लघुपुटे ततः ।
पुटं दध्ना पुटं क्षौद्रैर्देयं तुत्थविशुद्धये ॥ ११७ ॥

अशुद्ध तूतियां के शोधन की विधि—बिल्ली और कबूतर की विष्ठा के साथ तूतिया को खरल कर उसी में दशवां भाग सुहागा भी डाल कर खरल कर हलकी आग की पुट देवे तदुपरान्त पहले दही के साथ और अन्त में शहद के साथ भी खरल करके पुट देने से तूतिया शुद्ध हो जाता है ॥ ११७ ॥

अथ शुद्धतुत्थखर्परयोर्गुणानाह—

तुत्थकं कटुकं क्षारं कषायं वामकं लघु ॥ ११८ ॥
लेखनं भेदनं शीतं चक्षुष्यं कफपित्तहृत् । विषाश्मकुष्ठकण्डूघ्नं तद्गुणं खर्परं मतम् ॥ ११९ ॥

शुद्ध तूतिया के गुण—शुद्धतूतिया-कटु तथा कषायरसयुक्त, खारा, वमन कराने वाला, लघु, लेखन, मल का भेदन करने वाला, शीतल, नेत्रों के लिये हितकर एवं कफ, पित्त, विष, पथरी, कुष्ठ तथा खुजली को दूर करने वाला होता है इसी प्रकार शुद्ध खपरिया के भी ये ही सब गुण हैं ॥ ११८-११९ ॥

अथ कांस्यपित्तलयोः शोधनविधिमाह—

पत्तलीकृतपत्राणि कांस्यस्याग्नौ प्रतापयेत्। निषिञ्चेत्तप्ततप्तानि तैले तक्रे च काञ्जिके॥ १२०॥
गोमूत्रे च कुलत्थानां कषायेऽत्र त्रिधा त्रिधा। एवं कांस्यस्य रीतेश्च विशुद्धिः सम्प्रजायते १२१

कांसा तथा पीतल के शोधन की विधि—कांसा के पतले २ पत्तरों को प्रथम आग में तपाले, पश्चात् उन्हें तपा २ कर तिल का तेल, तक्र, कांजी, गोमूत्र तथा कुलथी के क्वाथ में क्रम से प्रत्येक में तीन २ बार बुझावे, ऐसा करने से कासे की शुद्धि हो जाती है। इसी प्रकार पीतल के पत्तरों की भी शुद्धि की जाती है॥ १२०-१२१॥

अथ तयोर्मारणविधिमाह—

अर्कक्षीरेण सम्पिष्टो गन्धकस्तेन लेपयेत्। समेन कांस्यपत्राणि शुद्धान्यम्लद्रवैर्मुहुः॥ १२२॥
ततो मूषापुटे धृत्वा पचेद्गजपुटेन च। एवं पुटद्वयात् कांस्यं रीतिश्च म्रियते ध्रुवम्॥ १२३॥

कांसा तथा पीतल के मारने की विधि—प्रथम आक के दूध में पिसे हुये गन्धक के तौल के वरावर कांसे के शुद्ध किये हुये पत्तरों को लेकर अम्ल पदार्थ नीवू आदि के रस से वारम्वार लगा कर खूब साफ कर ले पश्चात् उन सवों पर उक्त गन्धक का लेप कर के मूषा (घरिया) के सपुट के अन्दर रख कर सन्धियों को कपड़मिट्टी से वन्द कर और सुखा कर गजपुट की आच में पकावे, इस तरह दो वार पुट देने से कांसा मर जाता है। इसी भाति शुद्ध पीतल के पत्तरों का भी मारण होता है॥ १२२-१२३॥

अथ मारितकांस्यरीत्योर्गुणानाह—

कांस्यं कषायं तीक्ष्णोष्णं लेखनं विशदं सरम्। गुरु नेत्रहितं रूक्षं कफपित्तहरं परम्॥१२४॥
रीतिका तु भवेद् रूक्षा सतिक्ता लवणा रसे। शोधनी पाण्डुरोगघ्नी कृमिघ्नी नातिलेखनी॥

मारे हुये कांसा तथा पीतल के गुण—**कांसा**—कषायरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्ण, लेखन तथा विशद-गुणयुक्त, सारक, गुरु, नेत्रों के लिये हितकर, रूक्ष एव कफ तथा पित्त का अत्यन्त नाशक होता है। **पीतल**—तिक्त तथा लवणरसयुक्त, रूक्ष, देह का शोधन करने वाला, पाण्डुरोगनाशक, कृमि को दूर करने वाला एवं अत्यन्त लेखनगुणयुक्त नहीं होता अर्थात् किंचित् लेखन गुण युक्त होता है॥ १२४-१२५॥

अथ सिन्दूरस्य शोधनविधिमाह—

दुग्धाम्लयोगतस्तस्य विशुद्धिर्गदिता बुधैः॥ १२६॥

सिन्दूर के शोधने की विधि—सिन्दूर को दूध तथा अम्लपदार्थ नीवू आदि के रस में दो प्रहर तक अलग अलग खरल करने से उसकी शुद्धि होती है॥ १२६॥

अथ सिन्दूरस्य गुणानाह—

सिन्दूर उष्णो वीसर्पकुष्ठकण्डूविषापहः। भग्नसन्धानजननो व्रणशोधनरोपणः॥ १२७॥

सिन्दूर के गुण—शुद्ध सिन्दूर-उष्ण, वीसर्प, कुष्ठ, खुजली तथा विष को दूर करने वाला, टूटी हुई हड्डियों को जोडने वाला तथा व्रण का शोधन एवं रोपण करने वाला होता है॥ १२७॥

अथ शिलाजतुनो लक्षणं शोधनविधिञ्चाह—

गोमूत्रगन्धवत्कृष्णं स्निग्धं मृदु तथा गुरु। तिक्तं कषायं शीतञ्च सर्वश्रेष्ठं तदायसम्॥१२८॥

शिलाजीत के लक्षण—जिस में गोमूत्र के समान गन्ध हो तथा जो देखने में काले रङ्ग का हो एव स्निग्ध, कोमल, गुरु, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त और शीतल हो ऐसे शिलाजीत को उत्तम समझना चाहिये। यह लोहे का उपधातु है॥ १२८॥

***आयसम् = अयउपधातुसम्बन्धि॥ १२८॥**

यहा 'आयसम्' पद का 'लोहे का उपधातु' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १२८॥

विन्ध्यादौ वहुलं तत्तु यत्र लौहं यतोऽधिकम्। तच्छोधनमृते व्यर्थमनेकमलमेलनात्॥१२९॥
शिलाजतु समानीय सूक्ष्मं खण्डं विधाय च। निक्षिप्यात्युष्णपानीये यामैकं स्थापयेत्सुधीः॥
मर्दयित्वा ततो नीरं गृह्णीयाद्वस्त्रगालितम्। स्थापयित्वा च मृत्पात्रे धारयेदातपे बुधः॥१३१॥
उपरिस्थं घनं यत्स्यात्तत्क्षिपेदन्यपात्रके। एवं पुनः पुनर्नीतं द्विमासाभ्यां शिलाजतु॥ १३२॥
भवेत्कार्यक्षमं वह्नौ क्षिप्तं लिङ्गोपमं भवेत्। निर्धूमञ्च ततः शुद्धं सर्वकर्मसु योजयेत्॥ १३३॥

शोधनविधि—यह (शिलाजीत) विन्ध्य आदि पहाड़ों पर अधिकतर पाया जाता है, क्योंकि वहां लोहा अधिक रूप से होता है। शिलाजीत में अनेक प्रकार के मलों का मेल होनेसे विना शोधन किये हुए कार्य में लेने योग्य नहीं होता हैं। अतः प्रथम शिलाजीत को लाकर उसके छोटे २ टुकड़े कर अत्यन्त गरम जल में एक प्रहर तक रहने दे पश्चात् उसी जल में उसे खूब मल कर कपड़े से छान ले और छने हुए जल को मिट्टी के पात्र में रख कर धूप में रख दे। तत्पश्चात् जो उसके ऊपर उतराया हुआ घन भाग हो उसे धीरे से निकाल कर एक दूसरे पात्र में रख दे इस तरह से वारम्वार ऊपर तैरते हुये मलाई के समान घन भाग को निकाल कर एक दूसरे पात्र में रखता जाय, इस भांति दो मास तक करने से जब ऊपर की मलाई पड़नी वन्द हो जाय तब नीचे के काले वैठे हुये भाग को निकाल लेना चाहिये। यही भाग शिलाजीत का कार्य में लेने योग्य होता है और वह आग में डालने से लिङ्ग के समान हो जाता है तथा उससे धूआं नहीं निकलता। ऐसा जब शिलाजीत हो जाता है तब उसे शुद्ध समझना चाहिये और हर एक कार्य में उसका प्रयोग करना चाहिये॥ १२९-१३३॥

अथान्यं प्रकारमाह—

तत्र प्रथमतस्तस्य बहिर्मलमपाकर्त्तुं केवलजलेन प्रक्षालनं कर्त्तव्यं, ततस्तदन्तर्गतमृत्तिकासिकतादिदोषदूरीकरणाय वक्ष्यमाणक्वाथेन तत्र भावना देयेत्यत्र वाग्भटस्य मतमाह,

तद्यथा—

व्याधिव्याधितसात्म्यं समनुसरन् भावयेदयःपात्रे।
प्राक् केवलजलधौतं शुष्कं क्वाथैस्ततो भाव्यम्॥ १३४॥
तुल्यं गिरिजेन जले वसुगुणिते भावनौषधं क्वाथ्यम्।
तत्क्वाथे पादांशे पूतोष्णे प्रक्षिपेद् गिरिजम्॥ १३५॥
तत्समरसतां यातं संशुष्कं प्रक्षिपेद्रसे भूयः। स्वैः स्वैरेवं क्वाथैर्भाव्यं वारान् भवेत् सप्त॥१३६॥
अथ स्निग्धस्य शुद्धस्य घृतं तिक्तकसाधितम्। त्र्यहं युञ्जीत गिरिजमेकैकेन तथा त्र्यहम्॥
फलत्रयस्य यूषेण पटोल्या मधुकस्य च शिलाजमेवं देहस्य भवत्यत्युपकारकम्॥ १३८॥

शिलाजीत शोधने की दूसरी विधि—प्रथम शिलाजीत के बाहरी मल को दूर करने के लिये उसे केवल जल से धोवे, उसके बाद उसके अन्दर रहने वाली मिट्टी, वालू आदि दोष को दूर करने के लिये आगे कहे जाने वाले क्वाथ से उसमें भावना देनी चाहिये। इसी विषय में 'वाग्भट' का मत यह है कि—रोग तथा रोगी के लिये जो सात्म्य अर्थात् हितकर द्रव्य हो उसका विचार करते हुये उसी द्रव्य के क्वाथ से शिलाजीत को लोहे के पात्र में रख कर भावना देनी चाहिये। उस का प्रकार यह है कि—प्रथम केवल जल से शिलाजीत को धोकर सुखा ले पश्चात् क्वाथ से भावना देवे और उस क्वाथ के वनाने में जिस द्रव्य का क्वाथ वनाना हो उसे शिलाजीत के वरावर भाग में लेकर अठगुने जल में पकावे और जब चतुर्थांश जल शेष रह जाय तब छान कर गरम २ रहते ही उसमें शिलाजीत को छोड़ दे। जब वह पानी में खूब घुल जाय तब सुखा डाले, पश्चात् पुनः उक्त प्रकार से दूसरा क्वाथ वना कर उसमें फिर से सूखे पूर्वोक्त शिलाजीत को डाल कर घुलजाने पर सुखा डाले इस प्रकार कुल सात भावना क्वाथ से दे। उसके वाद रोगी को स्निग्ध पदार्थों के द्वारा स्नेहन तथा विरेचनादि से शोधन करके उसे तिक्तक (अडूसा, नीम, गिलोय, कटेरी तथा परवल) द्रव्यों के कल्क से सिद्ध किया हुआ घी तीन दिन तक खिलावे तत्पश्चात् एक दिन त्रिफला के क्वाथ के साथ शिलाजीत खिलावे, दूसरे दिन परवर के जूस के साथ, तीसरे दिन मुलेठी के क्वाथ के साथ शिलाजीत खिलावे। इस तरह यदि शिलाजीत का प्रयोग किया जाय तो वह शरीर के लिये अत्यन्त उपकारक होता है॥ १३४-१३८॥

अथ क्वाथ्यद्रव्याणां भावनाफलञ्चाह हारीतः—

लोहस्थितं निम्बगुडूचिसर्पिर्यवैर्यथावत्परिभावयेत्तत्।
सन्तानिकाकीटपतङ्गदंशादुष्टौषधीदोषनिवारणाय॥ १३९॥

जिन द्रव्यों का क्वाथ वनाया जाता है उनकी भावना देने के फल के विषय में 'हारीत' का मत—शिलाजीत के बाहर भाग में लगी हुई मिट्टी आदि की वनी हुई मलाई, कीट, पतङ्ग (फतिङ्गा),

डांस, मच्छर आदि तथा दुष्ट ओषधियों के दोष को दूर करने के लिये लोह के पात्र में शिलाजीत को रख कर नीम, गिलोय और जौ का क्वाथ एवं घी की यथोक्त रूप से भावना देवे ॥ १३९ ॥

*सन्तानिका = तद्बहिःसंलग्नमृत्तिकादिमयी ॥ १३९ ॥

यहां 'सन्तानिका' पद का 'शिलाजीत के बाहर भाग में लगी हुई मिट्टी आदि की बनी हुई मलाई' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १३९ ॥

एवं भावनां दत्त्वा संशोष्य केवलेन जलेन शोधनं कर्त्तव्यं तत्प्रकारमाहाग्निवेशः—

उष्णे च काले रवितापयुक्ते व्यभ्रे निवाते समभूमिभागे ।
चत्वारि पात्राण्यसितायसानि न्यस्यातपे तत्र कृतावधानः ॥ १४० ॥
शिलाजतु श्रेष्ठमवाप्य पात्रे प्रक्षिप्य तस्माद् द्विगुणञ्च तोयम् ।
उष्णं तदूर्ध्वं क्वथितञ्च दत्त्वा विशोधयेत्तन्मृदितं यथावत् ॥ १४१ ॥
ततस्तु यत्कृष्णमुपैति चोर्ध्वं सन्तानिकावद्रविरश्मितप्तम् ।
पात्रे तदन्यत्र ततो निदध्यात्तत्रापरं कोष्णजलं क्षिपेच्च ॥ १४२ ॥
पुनश्च तस्मादपरत्र पात्रे पश्चाच्च पात्रादपरत्र भूयः ।
यदा विशुद्धं जलमेवमूर्ध्वं कृष्णं समस्तं मलमेत्यधस्तात् ।
तदा त्यजेत्तत्सलिलं मलञ्च शिलाजतु स्याज्जलशुद्धमेवम् ॥ १४३ ॥

इस प्रकार भावना देकर और सुखा कर पश्चात् केवल जल से साफ करना चाहिये, उसका प्रकार 'अग्निवेश' महर्षि कहते हैं कि—ग्रीष्मऋतु में जब सूर्य का ताप (धूप) अधिक हो, आकाश मेघ से रहित दीख पडता हो तथा हवा न चलती हो ऐसे समय में किसी समतल भूमि पर धूप में काले लोहे के पात्र रख कर एक में उत्तम शिलाजीत सावधानी से लाकर रख दे और उसी में जो जलते-जलते आधा शेष रह गया हो ऐसा दूना गरम जल छोड दे तथा इसमें शिलाजीत को खूब मल कर मिला दे इसके बाद जो सूर्य की किरणों से तप कर ऊपर काली सी मलाई पड जावे उसे धीरे से उठा कर दूसरे लोहे के पात्र में रख कर पुनः उसमें गरम जल थोड़ा छोड़ दे फिर उसमें भी जब मलाई पड जाय तो उसे निकाल कर तीसरे लोहे के पात्र में रख कर पुनः उसमें भी गरम जल थोडा छोड़ दे, जब इसमें भी मलाई पड जाय तो उसे निकाल कर चौथे लोहे के पात्र में रख कर ऊपर से गरम जल कुछ छोड दे ऐसा करते-करते ऊपर केवल उत्तम निर्मल जल रह जाता है और काला मल नीचे बैठ जाता है। ऐसा जब हो जाय तब जल को निकाल कर फेंक दे और नीचे बैठा हुआ जो काला सा पदार्थ होता है वही जल से शुद्ध शिलाजीत होता है ॥ १४०-१४३ ॥

अथ शोधितशिलाजतुनो गुणानाह—

शिलाजतु स्मृतं तिक्तं कटूष्णं कटुपाकि च । रसायनं योगवाहि श्लेष्ममेहाश्मशर्कराः ॥१४४॥
मूत्रकृच्छ्रं क्षयं श्वासं शोथमर्शांसि पाण्डुताम् । वातरक्तं तथा कुष्ठमपस्मारोदरं हरेत् ॥१४५॥

शुद्ध किये हुये शिलाजीत के गुण—शोधित शिलाजीत तिक्त तथा कटुरसयुक्त, उष्ण, विपाक में कटुरसयुक्त, रसायन, योगवाही और कफ, मेहरोग, पथरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र, क्षय, श्वास, शोथ, बवासीर, पाण्डुरोग, वातरक्त, कुष्ठ, मिर्गी तथा उदर रोग को दूर करने वाला होता है ॥१४४-१४५॥

अथ रसस्य शोधनविधिमाह ।

तत्रादौ स्वेदनमाह—

नानाधान्यैर्यथाप्राप्तैस्तुषवर्जैर्जलान्वितैः । मृद्भाण्डं पूरितं रक्षेद्यावदम्लत्वमाप्नुयात् ॥ १४६ ॥
तन्मध्ये भृङ्गराड् मुण्डी विष्णुक्रान्ता पुनर्नवा । मीनाक्षी चैव सर्पाक्षी सहदेवी शतावरी १४७
त्रिफला गिरिकर्णी च हंसपादी च चित्रकम् । समूलं कुट्टयित्वा तु यथालाभं विनिक्षिपेत् ॥१४८॥

रसके शोधने की विधियों में प्रथम स्वेदन की विधि—एक मिट्टी के पात्र में जितने धान्य उस समय मिल सकें उन सबों की भूसी अलग कर केवल धान्यों को रखकर ऊपर से जल भी पूर्णरूप से भर कर तब तक रख दे जब तक खट्टापन न आजावे अर्थात् काजी न बन जाय पश्चात् उस काजी युक्त पात्र में भागरा, गोरखमुण्डी, कोयल, पुनर्नवा, मछेछी, सरहटी, सहदेई, शतावर,

त्रिफला (हरड, वहेरा, आंवला), सफेद फूल की कोयल, हंसराज और चीता इन सर्वों को जहां तक मिल सके वहां तक जड के सहित ही कूट कर डाल दे ॥ १४६-१४८ ॥

***विष्णुक्रान्ता गिरिकर्णी चापराजितैव श्वेतनीलपुष्पभेदात् ॥ १४६-१४८ ॥**

यहां 'विष्णुक्रान्ता तथा गिरिकर्णी' इन दोनों से श्वेत तथा नील फूलों के भेद से जो दो प्रकार की अपराजिता (कोयल) होती है उसी का ग्रहण करना चाहिये ॥ १४६-१४८ ॥

पूर्वाम्लभाण्डमध्ये तु धान्याम्लकमिदं स्मृतम् । स्वेदनादिषु सर्वत्र रसराजस्य योजयेत् ।
अत्यम्लमारनालं वा तदभावे प्रयोजयेत् ॥ १४९ ॥

पूर्वोक्त कांजी युक्त पात्र में उक्त ओषधियों के छोडने से उस काजी का नाम 'धान्याम्लक' होता है । उसका पारा के स्वेदन आदि कार्यों में सर्वत्र प्रयोग किया जाता है । धान्याम्ल के अभाव में अत्यन्त खट्टी कांजी का भी प्रयोग किया जाता है ॥ १४९ ॥

***तदभावे=धान्याम्लाभावे ॥ १४९ ॥**

यहां 'तदभावे' पद का 'धान्याम्ल के अभाव में' यह अर्थ करना चाहिये ॥ १४९ ॥

त्र्यूषणं लवणं राजी रजनी त्रिफलाऽऽर्द्रकम् । महाबला नागबला मेघनादः पुनर्नवा ॥१५०॥
मेषशृङ्गी चित्रकञ्च नवसारं समं समम् । एतत्समस्तं व्यस्तं वा पूर्वाम्लेनैव पेषयेत् ॥ १५१ ॥
प्रलिम्पेत् तेन कल्केन वस्त्रमङ्गुलमात्रकम् ॥ १५२ ॥
तन्मध्ये निक्षिपेत्सूतं बद्ध्वा तत्त्रिदिनं पचेत् । दोलायन्त्रेऽम्लसंयुक्ते जायते स्वेदितो रसः ॥

इस के वाद सोंठ, पीपर, मिर्च, सेंधा नमक, राई, हरदी, त्रिफला (हरड, वहेरा, आंवला), अदरक, महावला (सहदेई), नागवला (गंगेरन), चौलाई (शाक), पुनर्नवा, मेढ़ाश्रृङ्गी, चीता, नवसादर इन सर्वों को समान भाग लेकर एकत्र अथवा अलग २ उक्त धान्याम्लक से पीस कर कल्क सा वना ले और उसी कल्क से एक वस्त्र के ऊपर एक अंगुल मोटा लेप करके उसी के अन्दर पारे को वांध कर कांजी भरे हुये दोलायन्त्र में लटका कर तीन दिन तक पकावे, ऐसा करने से पारे का स्वेदन होता है ॥ १५०-१५३ ॥

*** मेघनादः='चौलाई' इति शाकविशेषः । मेषशृङ्गी (मेढ़ाशृङ्गी), तदभावे 'कर्कटशृङ्गी' ग्राह्या । नवसारं=नवसादरम् ॥ १५०-१५३ ॥**

यहां 'मेघनाद' पद का 'चौलाई (शाकविशेष)' तथा 'मेषशृङ्गी' पद का 'मेढाशृङ्गी' अर्थ समझना चाहिये । इसके अभाव में 'काकड़ाशिंगी' लेना चाहिये एवं 'नवसारम्' पद से 'नवसादर' समझना चाहिये ॥ १५०-१५३ ॥

अन्यच्च—

मूलकानलसिन्धूत्थत्र्यूषणार्द्रकराजिकाः । रसस्य षोडशांशेन द्रव्यं युञ्ज्यात् पृथक्पृथक् १५४
द्रव्येष्वनुक्तमानेषु मतं मानमितं बुधैः । पट्टावृतेषु चैतेषु सूतं प्रक्षिप्य काञ्जिके ॥ १५५ ॥
स्वेदयेद्दिनमेकञ्च दोलायन्त्रेण बुद्धिमान् । स्वेदात्तीव्रो भवेत्सूतो मर्दनाच्च सुनिर्मलः ॥१५६॥

अन्य प्रकार—मूली, चीता, सेंधा नमक, सोंठ, पीपर, मिर्च, अदरख और राई इनमें से प्रत्येक पदार्थ पारे से सोलहवां भाग लेकर कल्क (चटनी) के समान वना डाले, 'जहां द्रव्यों का मान (तौल) न लिखा हो वहां जितने मान में द्रव्य लेने से कार्य ठीक हो उतना लेना चाहिये' यह परिभाषा सर्वत्र समझनी चाहिये, विशेषतः रसकर्म में तो आवश्य ही । पश्चात् उक्त कल्क का एक वस्त्र के ऊपर लेप करके उस के अन्दर पारा को रख कर और पोटली वना कर एक पात्र में काजी रख कर उसी में दोला की भांति उक्त पोटली को लटका कर दोलायन्त्र से एक दिन तक बुद्धिमान् वैद्य स्वेदन करे । इस प्रकार स्वेदन कर्म करने से पारा तीव्र हो जाता है तथा आगे लिखी हुई रीति से मर्दन करने से अति निर्मल हो जाता है ॥ १५४-१५६ ॥

***मूलकम् 'मुरई, मूली' वा इति लोके । अनलं=चित्रकम् । त्र्यूषणं=त्रिकटु । राजिका (राई) ॥ १५४-१५६ ॥**

यहा 'मूलकम्' पद से 'मुरई या मूली' इस नाम से लोकप्रसिद्ध वस्तु तथा 'अनल' से चित्रक (चीता)' । 'त्र्यूषणम्' से 'त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मिर्च)' और 'राजिका' से 'राई' का ग्रहण करना चाहिये ॥ १५४-१५६ ॥

अथ मर्दनविधिमाह—

इष्टिकाचूर्णचूर्णाभ्यामादौ मर्द्यो रसस्ततः। दध्ना गुडेन सिन्धूत्थराजिकागृहधूमकैः॥ १५७॥

मर्दन की विधि—स्वेदन के पश्चात् ईंट का चूर्ण तथा चूना से प्रथम पारे का खूब मर्दन करे उसके बाद जल से धोकर दही, गुड, सेंधा नमक, राई और घर का धूआं इन सबों से अलग २ क्रम से मर्दन करे॥ १५७॥

अन्यच्च—

कुमारिकाचित्रकरक्तसर्षपैः कृतैः कषायैर्बृहतीविमिश्रितैः।
फलत्रिकेणापि विमर्दितो रसो दिनत्रयं सर्वमलैर्विमुच्यते॥ १५८॥

अथवा—घीकुवार, चीता, लाल सरसों, कटेरी इनके क्वाथ से तथा त्रिफला के क्वाथ से तीन दिन तक पारे का खूब मर्दन करने से वह सम्पूर्ण मलों से छूटकर स्वच्छ हो जाता है॥ १५८॥

अथ मूर्च्छनविधिमाह—

त्र्यूषणत्रिफलावन्ध्याकन्दैः क्षुद्राद्वयान्वितैः। चित्रकोर्णानिशाक्षारकन्याऽर्ककनकद्रवैः॥१५९॥
सूतं कृतेन यूषेण वारान्सप्त विमर्दयेत्। इत्थं संमूर्च्छितः सूतस्त्यजेत्सप्तापि कञ्चुकान् १६०

मूर्च्छन विधि—सोंठ, पीपल, मिर्च, हरड, बहेडा, आंवला, बाझककोड़े का कन्द, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, चीता, भेड की ऊन, हरदी, जवाखार, घीकुवार, आक के पत्तों का रस, धतूरे के पत्तों का रस इन सबों के क्वाथ से सात बार मर्दन करने से पारा मूर्च्छित हो जाता है तथा सात प्रकार के कञ्चुक दोषों से रहित हो जाता है॥ १५९-१६०॥

*वन्ध्याकन्दः = वान्दु खेखसाकन्दः (बांझ कांकुड)। क्षुद्राद्वयम् (छोटीकटाई, बड़ी कटाई)। ऊर्णा (मेषकी ऊन)। निशा = हरिद्रा। क्षारः = यवक्षारः। कन्या = कुमारिका। अर्कः = अर्कपत्ररसः। कनकद्रवः = धत्तूरपत्ररसः॥ १५९-१६०॥

यहा 'वन्ध्याकन्द' से 'बाझककोड़े का कन्द'। 'क्षुद्राद्वयम्' से 'छोटी तथा बड़ी कटेरी'। 'ऊर्णा' से 'मेष (भेड़) की ऊन'। 'निशा' से 'हरदी'। 'क्षार' से 'जवाखार'। 'कन्या' से 'घीकुवार'। 'अर्क' 'आक' से 'आक के पत्तों का रस'। 'कनकद्रव' से 'धतूरे के पत्तों का रस' समझना चाहिये॥

अथोर्ध्वपातनविधिमाह—

मयूरग्रीवताप्याभ्यां नष्टपिष्टीकृतस्य च। यन्त्रे विद्याधरे कुर्याद्रसेन्द्रस्योर्ध्वपातनम्॥१६१॥

ऊर्ध्वपातन विधि—नीलाथोथा तथा सोनामाखी इन दोनों के साथ पारे को मिलाकर घीकुवार के रस के साथ तब तक खरल करे जब तक पारा अलग न देख पड़े। पश्चात् उसे डमरुयन्त्र में रख कर भाफ द्वारा पारे को उडा ले। इसी को पारे का ऊर्ध्वपातन (ऊपर उडाना) कहते हैं॥ १६१॥

* ताप्यम् = सुवर्णमाक्षिकम्। नष्टपिष्टीकृतस्य = कुमारिकाद्रवयोगेन तावन्मर्दनं कर्तव्यं यावत् पारदः पृथङ् न दृश्यत इत्यर्थः। विद्याधरयन्त्रे=डमरुयन्त्रे॥ १६१॥

यहा 'ताप्य' पद का 'सोनामाखी' तथा 'नष्टपिष्टीकृतस्य' पद का 'घीकुवार के रसके साथ तब तक खरल करे जब तक पारा अलग न देख पडे' एवं 'विद्याधरयन्त्र' पद का 'डमरुयन्त्र' अर्थ समझना चाहिये॥ १६१॥

अथाधःपातनविधिमाह—

त्रिफलाशिग्रुशिखिभिर्लवणासुरिसंयुतैः। नष्टपिष्टं रसं कृत्वा लेपयेदूर्ध्वभाजनम्॥ १६२॥
ततो दीप्तैरधः पातमुपलैस्तस्य कारयेत्। यन्त्रे भूधरसंज्ञे तु ततः सूतो विशुद्धयति॥ १६३॥
स्वेदनादिक्रियाभिस्तु शोधितोऽसौ यदा भवेत्। तदा कार्याणि कुरुते प्रयोज्यः सर्वकर्मसु॥१६४॥

अधःपातन विधि—त्रिफला (हरड, बहेरा, आवला), सहिजना, चीता, सेंधा नमक और राई इन सबों को पारे के साथ घीकुवार के रस में तब तक खरल करे जब तक पारा अलग न दिखाई पडे। पश्चात् उन सबों को ऊपर की हाडी में लेप कर भूधरयन्त्र में रख ऊपर से दहकते हुए उपलों को रख कर पारे को नीचे की हाडी में गिरावे। इसी को पारे का अधःपातन कहते हैं। इससे पारा शुद्ध हो जाता है और स्वेदन आदि (स्वेदन, मूर्च्छन, ऊर्ध्वपातन, अधःपातन)

क्रियाओं से जब पारा का शोधन हो जाय तब पारे को सब कामों में लेवे । अन्यथा वह अनिष्टकर होता है ॥ १६२-१६४ ॥

अथ मुख्यदोषहरणार्थं शोधनविधिमाह—

गृहकन्या हरति मलं त्रिफलाऽग्निं चित्रको विषं हन्ति । तस्मादेभिर्मिश्रैर्वारान् संमूर्च्छयेत्सप्त॥

पारा के मुख्य दोषों के दूर करने की विधि—**घीकुवार**-पारा के मलदोष को दूर करता है, **त्रिफला**-अग्नि दोष को तथा **चीता**-विषदोष को दूर करता है । अतः इन सबों को एकत्र कर इनमें ७ बार पारे को खरल कर मूर्च्छित करे अर्थात् एक बार का डाला रस जब खरल करते-करते सूख जाय तब पुनः रस डालकर खरल करे । इस भांति ७ बार करे ॥ १६५ ॥

अथ सर्वदोषहरसंक्षिप्तशोधनविधिमाह—

कुमारिकाचित्रकरक्तसर्षपैः कृतैः कषायैर्बृहतीविमिश्रितैः ।
फलत्रिकेणापि विमर्दितो रसो दिनत्रयं सर्वमलैर्विमुच्यते ॥ १६६ ॥
कुमार्या च निशाचूर्णैर्दिनं सूतं विमर्दयेत् । एवं कदर्थितः सूतः षण्ढो भवति निश्चितम्॥१६७॥
बह्वौषधिकषायेण स्वेदितः स बली भवेत् । सर्पाक्षीचिञ्चिकाबन्ध्याभृङ्गाब्दैः स्वेदितो बली ।
ततः स पावकद्रावैः स्विन्नः स्यादतिदीप्तिमान् ॥ १६८ ॥

पारा के सम्पूर्ण दोषों को दूर करने के लिये संक्षिप्त शोधन विधि—घीकुवार, चीता, लाल सरसों और कटेरी के क्काथ के साथ पारा तीन दिन तक खरल करने से तथा त्रिफला के क्काथ से भी ३ दिन तक खरल करने से पारा सब मलों से रहित हो जाता है। तत्पश्चात् घीकुवार का रस और हरदी के चूर्ण के साथ एक दिन खरल करने से पारा निश्चय नपुंसक हो जाता है। उसके बाद बहुत सी ओषधियों के क्वाथ से पारे का स्वेदन करने से वह बली हो जाता है जैसे—नागफनी, इमली, बाझककोड़ा, भांगरा और नागरमोथा इन सबों के क्वाथ से दोलायन्त्र में रख कर स्वेदन करने से पारा बली हो जाता है । चीता के क्वाथ से पुनः स्वेदन करने से पारा अत्यन्त दीप्तिमान् हो जाता है ॥ १६६-१६८ ॥

***सर्पाक्षी (नागफनी), चिञ्चिका (इमली), बन्ध्या (बांझ ककोड़ा), भृङ्गः=भृङ्गराज, अब्दः=मुस्ता, पावकः=चित्रकम् ॥ १६६-१६८ ॥**

यहां 'सर्पाक्षी' से 'नागफनी'। 'चिञ्चिका' से 'इमली'। 'बन्ध्या' से 'बाझ ककोड़ा'। 'भृङ्ग' से 'भृङ्गराज (भांगरा)'। 'अब्द' से 'मुस्ता (नागरमोथा) और 'पावक' से 'चीता' का बोध करना चाहिये ॥ १६६-१६८ ॥

अथ पारदस्य मारणविधिमाह—

धूमसारं रसं तोरीं गन्धकं नवसादरम् । यामैकं मर्दयेदम्लैर्भागं कृत्वा समं समम् ॥ १६९ ॥
काचकूप्यां विनिक्षिप्य ताञ्च मृद्वस्त्रमुद्रया । विलिप्य परितो वक्त्रे मुद्रां दत्वा विशोषयेत् ॥
अधः सच्छिद्रपिठरीमध्ये कूपीं निवेशयेत् । पिठरीं वालुकापूरैर्भृत्वा चाकूपिकागलम् ॥१७१॥
निवेश्य चुल्ल्यां तदधो वह्निं कुर्याच्छनैः शनैः । तस्मादत्यधिक किञ्चित्पावकं ज्वालयेत्क्रमात् ॥
एवं द्वादशभिर्यामैर्म्रियते रस उत्तमः । स्फोटयेत्स्वाङ्गशीतं तमूर्ध्वगं गन्धकं त्यजेत् ॥ १७३ ॥
अधस्थञ्च मृतं सूतं गृह्णीयात्तं तु मात्रया । यथोचितानुपानेन सर्वकर्मसु योजयेत् ॥ १७४ ॥

पारा के मारने की विधि—घर का धुआ, पारा, फिटकिरी, गन्धक, नवसादर इन सबों को समान भाग लेकर अम्ल पदार्थ नीबू आदि के रस में एक प्रहर (३ घण्टे) तक खरल करे । तत्पश्चात् काच की कूपी के चारो तरफ कपरौटी (मिट्टी लिपटे वस्त्र द्वारा लपेट) कर और उसे धूप में रख कर सुखा डाले । फिर उसी काच की कूपी में उपर्युक्त खरल किये द्रव्यों को रख कर कूपी का मुख बन्द करके सुखा लेने के बाद एक मिट्टी के पात्र के तल भाग में छिद्र करके उसी छिद्र के ऊपर उक्त कूपी को रख उसके गले तक उक्त पात्र में बालू भर कर उसे चूल्हे पर रख दे और उसके नीचे धीरे धीरे आंच अधिक करता जाय अर्थात् प्रथम मृदु पुनः मध्यम तदनन्तर तीव्र आच करे । इस तरह १२ प्रहर (३६ घण्टे) तक आच देने से उत्तम रीति से पारा मर जाता है । पुनः स्वयं शीतल हो जाने पर सावधानी से कूपी को फोड़ कर ऊपर लगे हुये गन्धक को

छोड कर शेष नीचे स्थित मरे हुये पारे को निकाल ले और उसे मात्रानुसार यथोचित अनुपान से जहा जहां आवश्यकता हो वहां वहां प्रयोग में लेवे ॥ १६९-१७४ ॥

अथ पारदमारणेऽपरं विधिमाह—

अपामार्गस्य वीजानां मूषायुग्मं प्रकल्पयेत् । तत्सम्पुटे क्षिपेत्सूतं मलयूदुग्धमिश्रितम् ॥१७५॥
द्रोणपुष्पीप्रसूनानि विडङ्गमरिमेदकः । एतच्चूर्णमधश्चोर्ध्वं दत्त्वा मुद्रा प्रदीयते ॥ १७६ ॥
तद्गोलं स्थापयेत्सम्यङ् मृण्मूषासम्पुटे पचेत् ॥ १७७ ॥
एवमेकपुटेनैव सूतकं भस्म जायते । तत्प्रयोज्यं यथास्थाने यथामात्रं यथाविधि ॥ १७८ ॥

पारा मारने की दूसरी विधि—प्रथम चिचिडा के वीजों को पीस कर उसके दो मूषे (घरिया) वना ले, फिर पारा को कठूमर (कठगूलर) के दूध में खूब खरल करके उसे उक्त मूषा के सम्पुट के अन्दर नीचे गूमा के फूल, वायविडङ्ग, अरिमेद (दुर्गन्ध खैर) इन सवों का चूर्ण रख कर उसके ऊपर रख कर पुनः उसी चूर्ण को ऊपर से भी रखकर मूषा का मुख वन्द कर दे । पुनः एक दूसरे मिट्टी के मूषा के अन्दर उक्त मूषा के सम्पुट को रख कर मुख वन्द कर तथा सुखा कर अग्नि की पुट देवे । इस तरह एक ही पुट में पारा भस्म हो जाता है । फिर जव जहां आवश्यकता हो वहां विधि के अनुसार यथोचित मात्रा में उस भस्म का प्रयोग करे ॥ १७५-१७८ ॥

*मलयूः=काकोदुम्वरिका ॥ १७५-१७८ ॥

यहां 'मलयू' पद से 'कठूमर' का वोध करना चाहिये ॥ १७५-१७८ ॥

अथ पारदमारणे तृतीय विधिमाह—

काकोदुम्बरिकादुग्धे रसं किञ्चिद्विमर्दयेत् । तद्दुग्धघृष्टहिङ्गोश्च मूषायुग्मं प्रकल्पयेत् ॥१७९॥
क्षिप्त्वा तत्संपुटे सूतं तत्र मुद्रां प्रदापयेत् । धृत्वा तद् गोलकं प्राज्ञो मृण्मूषासम्पुटेऽधिके ॥
पचेद् गजपुटेनैव सूतकं याति भस्मताम् ॥ १८० ॥

पारा मारने की तीसरी विधि—प्रथम कठूमर के दूध के साथ पारे को किञ्चित् खरल कर ले पश्चात् उसी के दूध के साथ हींग को पीस कर उसकी दो मूषा वना कर उसी के सम्पुट के अन्दर उक्त पारे को रख कर सन्धि भली भाति से वन्द कर दे फिर एक दूसरे मिट्टी के वने मूषे (घरिया) के सम्पुट के अन्दर उक्त मूषा-सम्पुट को रखकर कपडमिट्टी द्वारा मुख दृढता से वन्द कर तथा सुखाकर गजपुट की आग में रख कर पकावे । इस भाति एक ही पुट देने से पारा भस्म हो जाता है ॥ १७९-१८० ॥

अथ पारदमारणे चतुर्थ विधिमाह—

नागवल्लीरसैर्घृष्टः कर्कोटीकन्दगर्भितः । मृण्मूषासम्पुटे पक्वं सूतो यात्येव भस्मताम् ॥१८१॥

पारा मारने की चौथी विधि—प्रथम पारे को पान के रस में खरल कर ले पश्चात् उसे वाझ-ककोडा के कन्द के अन्दर रख दे पुनः उक्त कन्द को मिट्टी के मूषा (घरिया) के सम्पुट के अन्दर रखकर कपडमिट्टी से मुख वन्द कर सुखा दे पश्चात् गजपुट की आच में पका डाले । इस भाति एक ही पुट में पारा भस्म हो जाता है ॥ १८१ ॥

अथ रसकर्पूरनिर्माणविधिमाह—

तत्र पारदस्य संक्षिप्तं शोधनं कर्त्तव्यम् ।

शुद्धसूतसमं कुर्यात्प्रत्येकं गैरिकं सुधीः । इष्टिकां खटिकां तद्वत्स्फटिकां सिन्धुजन्म च ॥१८२॥
वल्मीकं क्षारलवणं भाण्डरञ्जकमृत्तिकाम् । सर्वाण्येतानि सचूर्ण्य वाससा चापि शोधयेत् ॥
एभिश्चूर्णैर्युतं सूतं यावद्याम विमर्दयेत् । तच्चूर्णसहितं सूतं स्थालीमध्ये परिक्षिपेत् ॥ १८४ ॥
तस्याः स्थाल्या मुखे स्थालीमपरां धारयेत्समाम् । सवस्त्रकुट्टितमृदा मुद्रयेदनयोर्मुखम् ॥१८५॥
संशोष्य मुद्रयेद्भूयो भूयः संशोष्य मुद्रयेत् । सम्यग्विशोष्य मुद्रां तां स्थालीं चुल्ल्यां विधारयेत् ॥
अग्निं निरन्तरं दद्याद्यावद्दिनचतुष्टयम् । अङ्गारोपरि तद्यन्त्रं रक्षेद्यत्नादहर्निशम् ॥ १८७ ॥
शनैरुद्घाटयेद्यन्त्रमूर्ध्वस्थालीगतं रसम् । कर्पूरवत्सुविमलं गृह्णीयाद् गुणवत्तरम् ॥ १८८ ॥
तद्देवकुसुमचन्दनकस्तूरीकुङ्कुमैर्युक्तम् । खादन् हरति फिरङ्गं व्याधिं सोपद्रवं सपदि ॥१८९॥
विन्दति वह्नेर्दीप्तिं पुष्टिं वीर्यं बल विपुलम् । रमयति रमणीशतकं रसकर्पूरस्य सेवकः सततम् ॥

'रसकर्पूर' बनाने की विधि—रसकर्पूर बनाने के समय प्रथम पारे का संक्षिप्त शोधन विधि के अनुसार शोधन करे तत्पश्चात् शुद्ध पारा के समान भाग में गेरू, ईंटा, खड़ी, फिटकिरी, सेंधा नमक, वमई की मिट्टी, खारीनोन, बर्तन रंगने की मिट्टी (काविस) इन सबों को पृथक् २ लेकर सबों का चूर्ण कर कपड़े से छान कर उसके साथ उक्त पारे को एक प्रहर तक खरल करे, पश्चात् उसे एक मिट्टी के हंडिया के अन्दर रख कर ऊपर से दूसरी हांडी औंधा कर दोनों का मुख कपडा या रुई डाल कर कुटी हुई मिट्टी से बन्द कर धूप में सुखा दे पश्चात् पुनः उक्त मिट्टी का लेप कर सुखा डाले इस के बाद फिर मिट्टी का लेप कर और सुखा कर उसे चूल्हे पर चढा दे और ४ दिन तक बराबर आंच देता रहे। जब तक आग पर रखा रहे तब तक दिन-रात यत्नपूर्वक उसकी रक्षा करता रहे। स्वयं शीतल हो जाने पर धीरे से हाडी का मुख खोल कर ऊपर की हांडी में लगे हुये अत्यन्त गुणकारी कपूर के समान परम उज्ज्वल पारे को निकाल ले और उसे लौंग, सफेद चन्दन, कस्तूरी तथा केशर के साथ मिला कर यदि खाया जाय तो उपद्रव से युक्त बढ़ा हुआ फिरङ्ग नामक रोग शीघ्र नष्ट हो जाता है और अग्नि प्रदीप्त होता है तथा शरीर की पुष्टि, वीर्य एवं बल की वृद्धि होती है। इस रसकर्पूर का निरन्तर सेवन करने वाला पुरुष १०० स्त्रियों के साथ रमण कर सकता है॥ १८२-१९०॥

*** खटिका [खड़ी]। स्फटिका [फिट्किरी]। सिन्धुजन्म=सैन्धवम्। वल्मीकम्= 'वमई' इति लोके। चारलवणम् [खारीनोन]। भाण्डरञ्जकमृत्तिका [काविस] ॥१८२-१९०॥**

यहां 'खटिका' का 'खडी', 'स्फटिका' का 'फिट्किरी', 'सिन्धुजन्म' का 'सेंधानमक' 'वल्मीक' का लोकप्रसिद्ध 'वमई की मिट्टी', 'क्षारलवण' का 'खारी नोन' और 'भाण्डरञ्जक मृत्तिका' का 'काविस' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १८२-१९०॥

अथ सिन्दूररसविधिमाह—

शुद्धसूतस्य गृह्णीयाद्भिषग्भागचतुष्टयम्। शुद्धगन्धस्य भागैकं तावत्कृत्रिमगन्धकम्॥ १९१॥
अथवा पारदस्यार्द्धं शुद्धगन्धकमेव हि। तयोः कज्जलिकां कुर्याद्दिनमेकं विमर्दयेत्॥ १९२॥
मृत्तिकां वाससा सार्द्धं कुट्टयेदतियत्नतः। तया वारत्रयं सम्यक्काचकूपीं प्रलेपयेत्॥ १९३॥
मृत्तिकां शोषयित्वा तु कूप्यां कज्जलिकां क्षिपेत्। तां कूपीं वालुकायन्त्रे स्थापयित्वा रसं पचेत्।
अग्नि निरन्तरं दद्याद्यावद्दिनचतुष्टयम्। गृह्णीयादूर्ध्वसंलग्नं सिन्दूरसदृशं रसम्॥ १९५॥

सिन्दूररस बनाने की विधि—सिन्दूररस बनाने के समय वैद्य को चाहिये कि वह शुद्ध पारा ४ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग तथा बनाया हुआ गन्धक १ भाग अथवा शुद्ध पारा आधा भाग तथा शुद्ध गन्धक आधा भाग ले और इनकी कज्जली एकदिन तक खरल करके बना ले। पश्चात् कपडा या रूई डाल कर मिट्टी को खूब कूट २ कर सान ले और उसको एक बार कांच की शीशी के चारों तरफ सर्वत्र लेप कर सुखा डाले, इस भांति तीन लेप चढा कर सुखावे। फिर उक्त कज्जली को उक्त शीशी के अन्दर रख दे और शीशी को वालुकायन्त्र के अन्दर रख कर रस (पारा) को पकावे। ४ दिन तक बराबर आंच देता रहे। पश्चात् स्वय शीतल हो जाने पर ऊपर लगे हुये सिन्दूर के सदृश दिखाई पडते हुये रस को धीरे से युक्तिपूर्वक निकाल ले। यही सिन्दूररस कहलाता है॥ १९१-१९५॥

इति सिन्दूररसः।

अथ मारितमूर्च्छितपारदयोर्गुणानाह—

पारदः कृमिकुष्ठघ्नो जयदो दृष्टिकृत्सरः। मृत्युहृच्च महावीर्यो योगवाही ज्वरापहः॥ १९६॥
स्मृत्योजोरूपदो वृष्यो बुद्धिकृद्धातुवर्द्धनः। पण्ढत्वनाशनः शूरः खेचरः सिद्धिदः परः॥१९७॥
पारदः सकलरोगहा स्मृतः षड्रसो निखिलयोगवाहकः।
पञ्चभूतमय एष कीर्त्तितस्तेन तद्गुणगणैर्विराजते॥ १९८॥

उक्त प्रकार से मारे हुए तथा मूर्च्छित किये हुए पारा के गुण—उक्त प्रकार का पारा-कृमि तथा कुष्ठ नाशक, जय देने वाला (कार्य सिद्ध करने वाला), दृष्टिशक्ति को बढाने वाला, सारक, अकाल मृत्यु को दूर करने वाला, महावीर्यशाली, योगवाही (जिसके साथ दिया जाय उसके गुण को बढ़ाने वाला), ज्वरनाशक, स्मृति, ओज तथा रूप को देने वाला, कामी पुरुषों के लिये

हितकर, वृद्धिकारक, धातुवर्धक, नपुंसकता को दूर करने वाला, शूरता, आकाश में उड़ने की शक्ति तथा अनेक प्रकार की सिद्धियों को देने वाला होता है। शुद्ध पारा सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करने वाला, मधुरादि ६ रसों से युक्त, तथा निखिल योगवाहक (सभी रोगों के सभी ओषधियों के साथ योग कर देने से उसकी शक्ति को बढाने वाला) है एव पञ्च महाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) मय होने से उन सबों के प्रत्येक गुणों से युक्त होता है ॥ १९६–१९८ ॥

उक्तञ्च रसामृते—

यस्य रोगस्य यो योगस्तेनैव सह योजितः। रसेन्द्रो हन्ति तं रोगं नरकुञ्जरवाजिनाम्॥१९९॥

'रसामृत' में भी कहा हुआ है कि जिस रोग का जो भी योग (औषध) हो, उसके साथ योग कर देने से पारा मनुष्य, हाथी तथा घोडा इन सभों के रोगों को दूर करने वाला होता है ॥

अथोपरसानां शोधनविधिमाह—

तत्र हिङ्गुलस्य गुणानाह—

मेषीक्षीरेण दरदमम्लवर्गैश्च भावितम्। सप्तवारान्प्रयत्नेन शुद्धिमायाति निश्चितम् ॥ २०० ॥

हिङ्गुल (सिंगरफ) की शोधन विधि—भेड़ का दूध और [1]अम्लवर्गोक्त अमलवेंत, जम्बीरी नीबू आदि पदार्थों के रस की यत्नपूर्वक ७ वार भावना देने से सिंगरफ निश्चय शुद्ध हो जाता है ॥

अथ शोधितहिङ्गुलस्य गुणानाह—

तिक्तं कषायं कटु हिङ्गुलं स्यान्नेत्रामयघ्नं कफपित्तहारि।
हृल्लासकण्डूज्वरकामलाश्च प्लीहामवातौ च गरं निहन्ति ॥ २०१ ॥

शुद्ध किये हुये सिंगरफ के गुण—शुद्ध सिंगरफ-तिक्त, कषाय तथा कटुरसयुक्त, नेत्ररोगनाशक, कफ तथा पित्त को दूर करने वाला एवं हृल्लास (उबकाई), खुजली, ज्वर, कामला, प्लीहा, आमवात तथा गरसंज्ञक विष (कृत्रिम विष) को नष्ट करने वाला होता है ॥ २०१ ॥

अथ हिङ्गुलात्पारदनिष्कर्षणविधिमाह—

निम्बूरसैर्निम्बपत्ररसैर्वा याममात्रकम्। घृष्ट्वा दरदमूर्ध्वन्तु पातयेत्सूतयुक्तिवत् ॥ २०२ ॥
तत्रोर्ध्वपिठरीलग्नं गृह्णीयाद्रसमुत्तमम्। शुद्धमेव हि तं सूतं सर्वकर्मसु योजयेत् ॥ २०३ ॥

सिंगरफ से पारा निकालने की विधि—नीबू के रस के अथवा नीम के पत्तों के रस के साथ सिंगरफ को एक प्रहर (३ घण्टे) तक खरल करके ऊर्ध्वपातन यन्त्र में पारे की भाति रख कर उड़ाने से ऊपर की हाडी में लगे हुये उत्तम पारे को निकाल लेना चाहिये। यह पारा स्वयं शुद्ध होता है अतः इसे हर एक कार्यों में लेना चाहिये ॥ २०२–२०३ ॥

अथाशुद्धगन्धकस्य दोषानाह—

अशुद्धो गन्धकः कुर्यात्कुष्ठं पित्तरुजां भ्रमम्। हन्ति वीर्य्यं बलं रूपं तस्माच्छुद्धः प्रयुज्यते २०४

अशुद्ध गन्धक के दोष—अशुद्ध गन्धक कुष्ठ, पित्तसम्बन्धी रोग तथा भ्रमरोग को उत्पन्न करने वाला एव वीर्य, बल, तथा रूप को नष्ट करने वाला होता है। अतः शुद्ध गन्धक का ही प्रयोग करना चाहिये ॥ २०४ ॥

अथ गन्धकस्य शोधनविधिमाह—

लौहपात्रे विनिक्षिप्य घृतमग्नौ प्रतापयेत्। तप्ते घृते तत्समानं क्षिपेद् गन्धकजं रजः ॥२०५॥
विद्रुतं गन्धकं दृष्ट्वा तनुवस्त्रे विनिक्षिपेत्। यथा वस्त्राद्विनिःसृत्य दुग्धमध्येऽखिलं पतेत्।
एवं स गन्धकः शुद्धः सर्वकर्मोचितो भवेत् ॥ २०६ ॥

गन्धक के शोधने की विधि—लोहे की कढ़ाई में घी डाल कर आग पर रख कर तपावे, जब घी खूब तप जाय तब उसी के बराबर गन्धक का चूर्ण उस में डाल दे, और गन्धक को पिघला हुआ देख कर पतले वस्त्र के ऊपर उसे उडेल दे और दूध भरे पात्र में उस पिघले गन्धक को चुवावे,

(१) अम्लवेतसजम्बीरलुङ्गाम्लचणकाम्लकाः। नागरङ्गं तिन्तिडी च चिञ्चापत्रं च निम्बुकम् ॥
चाङ्गेरी दाडिमं चैव करमर्दं तथैव च। एष चाम्लगणः प्रोक्तो वेतसाम्लसमायुतः ॥
अर्थ—अम्लवेत, जम्बीरी नीबू, बिजौरा नीबू, चनाखार, नारङ्गी (खट्टी), इमली के फल और पत्ते, नीबू, चांगेरी, अनार (खट्टा), करौंदा ये सब अम्लगण (अम्लवर्ग) कहलाते हैं।

जब वस्त्र से सारा गन्धक छन कर दूध में गिर जाय तब उसे निकाल ले। इस प्रकार गन्धक को शुद्ध करके सम्पूर्ण कार्यों में प्रयोग करे ॥ २०५-२०६ ॥

अथ शुद्धगन्धकस्य गुणानाह—

गन्धकः कटुकस्तिक्तो वीर्य्योष्णस्तुवरः सरः ॥ २०७ ॥
पित्तलः कटुकः पाके कण्डूवीसर्पजन्तुजित्। हन्ति कुष्ठक्षयप्लीहकफवातान् रसायनः ॥२०८॥

शुद्ध गन्धक के गुण—शुद्ध गन्धक-कटु, तिक्त तथा कषायरसयुक्त, उष्णवीर्य, सारक, पित्तजनक, विपाक में कटुरसयुक्त, रसायन एवं खुजली, वीसर्प, कृमि, कुष्ठ, क्षय, प्लीहा, कफ तथा वात को नष्ट करने वाला होता है ॥ २०७-२०८ ॥

अथाशुद्धाभ्रकस्य दोषानाह—

पीडां विधत्ते विविधां नराणां कुष्ठं क्षयं पाण्डुगदञ्च कुर्य्यात्।
हृत्पार्श्वपीडां च करोत्यसह्यामशुद्धमभ्रं गुरु वह्निहरस्यात् ॥ २०९ ॥

अशुद्ध अभ्रक के दोष—अशुद्ध अभ्रक-मनुष्यों को अनेक प्रकार की पीड़ा देने वाला, कुष्ठ, क्षय, पाण्डुरोग, हृदय तथा पसुलियों में असह्य पीडा उत्पन्न करने वाला, गुरु तथा जठराग्नि को नष्ट करने वाला होता है ॥ २०९ ॥

अथाभ्रकस्य शोधनविधिमाह—

कृष्णाभ्रकं धमेद्वह्नौ ततः क्षीरे विनिक्षिपेत्। भिन्नपत्रं तु तत्कृत्वा तण्डुलीयाम्लयोर्द्रवैः।
भावयेदष्टयामं तदेवमभ्रं विशुद्ध्यति ॥ २१० ॥

अभ्रक के शोधने की विधि—काले अभ्रक को प्रथम आग में डाल कर खूब तपावे जब लाल हो जाय तब उसे दूध में डाल कर बुझावे, तत्पश्चात् उसके प्रत्येक पत्र (पत्तर) अलग २ करके उन सबों को चौलाई तथा अम्ल पदार्थ नीबू आदि के रस से आठ पहर तक भावना दे। ऐसा करने से अभ्रक शुद्ध हो जाता है ॥ २१० ॥

अथाभ्रकस्य मारणविधिमाह—

कृत्वा धान्याभ्रकं तच्च शोषयित्वाऽथ मर्दयेत्। अर्कक्षीरैर्दिनं खल्वे चक्राकारं च कारयेत्॥२११॥
वेष्टयेदर्कपत्रैश्च सम्यग्गजपुटे पचेत्। पुनर्मर्द्यं पुनः पाच्यं सप्तवारान् पुनः पुनः ॥ २१२ ॥
ततो वटजटाक्वाथैस्तद्वद्देयं पुटत्रयम्। म्रियते नात्र सन्देहः प्रयोज्य सर्वकर्मसु ॥ २१३ ॥
तुल्यं घृतं मृताभ्रेण लोहपात्रे विपाचयेत्। घृते जीर्णे तदभ्रन्तु सर्वयोगेषु योजयेत् ॥ २१४ ॥

अभ्रक के मारने की विधि—प्रथम शुद्ध अभ्रक को लेकर उससे आगे लिखे विधि के अनुसार धान्याभ्रक तैयार कर उसे सुखा कर एक दिन तक आक के दूध के साथ खल में रख खरल करे पश्चात् उसकी चक्के के आकार की गोल टिकिया बना कर उन सबों के ऊपर आक के पत्ते अच्छी तरह से लपेट कर गजपुट की आग में रख कर पकावे। पुनः निकाल कर पूर्वोक्त रीति से आक के दूध के साथ खरल करके टिकिया बना कर आक के पत्ते लपेट कर गजपुट की आग में रख कर पकावे। इसी प्रकार जब सात पुट हो जाय तब बरगद की जटा (बरोह) के क्वाथ के साथ खरल करके और टिकिया बना कर पूर्वोक्त रीति की भांति गजपुट की आग में रख कर पकावे इसी भांति तीन पुट हो जाने पर अभ्रक निःसन्देह मर जाता है और सभी कार्यों में प्रयोग करने योग्य हो जाता है। उक्त रीति से मारे हुये अभ्रक को समान भाग घी में डाल कर लोहे की कढाई में रख कर पकावे, जब घी जल जाय तब उतार कर उस अभ्रक को हर एक योगों में मिलावे॥

अथ धान्याभ्रकस्य विधिमाह—

पादांशशालिसंयुक्तमभ्रं बद्ध्वाऽथ कम्बले। त्रिरात्रं स्थापयेन्नीरे तत्क्लिन्नं मर्दयेत्करैः ॥ २१५ ॥
कम्बलाद्गलितं सूक्ष्मं वालुकारहितञ्च यत्। तद् धान्याभ्रमिति प्रोक्तमभ्रमारणसिद्धये॥२१६॥

धान्याभ्रक बनाने की विधि—अभ्रक का चतुर्थांश शालि (जडहन) धान्य मिला कर अभ्रक को कम्बल में बांध कर जल में तीन दिन तक भीगा रहने दे, पश्चात् उसे निकाल कर हाथों से खूब रगड़े और कम्बल से छन २ कर सूक्ष्म जो बालू से रहित अभ्रक के कण गिरे हों उन्हें एकत्र करले, वे ही 'धान्याभ्र' कहलाते हैं तथा अभ्रक के मारण के समय कार्य में आते हैं ॥ २१५-२१६ ॥

अथ मारिताभ्रकस्य गुणानाह—

अभ्रं कषायं मधुरं सुशीतमायुष्करं धातुविवर्द्धनञ्च ।
हन्यात्त्रिदोषं व्रणमेहकुष्ठ प्लीहोदरं ग्रन्थिविषक्रिमींश्च ॥ २१७ ॥
रोगान् हन्ति द्रढयति वपुर्वीर्यवृद्धिं विधत्ते, तारुण्याढ्य रमयति शतं योषितां नित्यमेव ।
दीर्घायुष्काञ्जनयति सुतान् सिंहतुल्यप्रभावान्, मृत्योर्भीतिं हरति सुतरां सेव्यमानं मृताभ्रम् ॥

मारे हुये अभ्रक के गुण—मारा हुआ अभ्रक-कषाय तथा मधुर रसयुक्त, शीतल, आयु को बढाने वाला, धातुवर्धक एवं त्रिदोष, व्रण, मेह, कुष्ठ, प्लीहा, उदररोग, ग्रन्थि (गांठ), विष तथा क्रिमि को नष्ट करने वाला होता है। यह सेवन करने से रोगों को दूर करता है, शरीर को दृढ़ रखता है, वीर्य की वृद्धि करता है और सौ १०० युवती स्त्रियों के साथ रमण करने की शक्ति देता है तथा सिंह के समान पराक्रमी और दीर्घ आयु वाले पुत्रों को उत्पन्न करता है एवं अपमृत्यु के भय को दूर करता है॥ २१७-२१८ ॥

अथाशुद्धहरितालस्य दोषानाह—

अशुद्धं तालमायुर्घ्नं कफमारुतमेहकृत् । तापस्फोटाङ्गसङ्कोचं कुरुते तेन शोधयेत् ॥ २१९ ॥

अशुद्ध हरताल के दोष—अशुद्ध हरताल-आयु नाशक, कफ, वायु तथा मेहरोग कारक एवं शरीर में ताप, स्फोट तथा अङ्ग को सकुचित करने वाला होता है। अतः इस का शोधन करना आवश्यक है ॥ २१९ ॥

अथ हरितालस्य शोधनविधिमाह—

तालकं कणशः कृत्वा तच्चूर्णं काञ्जिके पचेत् । दोलायन्त्रेण यामैकं ततः कूष्माण्डजद्रवैः ॥२२०॥
तिलतैले पचेद्यामं यामञ्च त्रिफलाजले । एवं यन्त्रे चतुर्यामं पक्वं शुद्ध्यति तालकम् ॥२२१॥

हरताल शोधने की विधि—तबकिया हरताल का मोटा चूर्ण कर उसे काजी से भरे दोलायन्त्र में रख १ प्रहर (३ घण्टा) तक पकावे, उसके बाद क्रम से पेठा का रस, तिल का तेल तथा त्रिफला का जल भरे दोलायन्त्र में उक्त हरताल को रख अलग अलग एक २ प्रहर तक पकावे, इस भांति चार प्रहर तक दोलायन्त्र में रख कर पकाने से हरताल शुद्ध हो जाता है ॥ २२०-२२१ ॥

अथ हरितालस्य मारणविधिमाह—

सदलं तालकं शुद्धं पौनर्नवरसेन तु । खल्वे विमर्दयेदेकं दिनं पश्चाद्विशोषयेत् ॥ २२२ ॥
ततः पुनर्नवाक्षारैः स्थाल्यामर्द्धं प्रपूरयेत् । तत्र तद्गोलकं कृत्वा पुनस्तेनैव पूरयेत् ॥ २२३ ॥
आकण्ठं पिठरं तस्य पिधानं धारयेन्मुखे । स्थालीं चुल्ल्यां समारोप्य क्रमाद्वह्निं विवर्धयेत् ॥
दिनान्यन्तरशून्यानि पञ्च वह्निं प्रदापयेत् ॥ २२५ ॥
एवं तन्म्रियते तालं मात्रा तस्यैकरक्तिका । अनुपानान्यनेकानि यथायोग्यं प्रयोजयेत् ॥२२६॥

हरताल मारने की विधि—शुद्ध किये हुये दलयुक्त तबकिया हरताल को लेकर पुनर्नवा (सफेद) के रस के साथ खल में रख कर एक दिन तक खरल करे पश्चात् गोला बना कर तथा सुखा कर एक हाडी में आधे दूर तक सफेद पुनर्नवा का खार भर कर उसके ऊपर उक्त हरताल के गोले को रख कर ऊपर से पुनः सफेद पुनर्नवा का खार हांडी के गले तक भर कर रख दे और ऊपर से हाडी का मुख बन्द कर चूल्हे पर रख कर नीचे आग जला दे और आच धीरे २ तेज करता जाय, इस तरह पांच दिन तथा पाच रात तक अखण्ड आच देने से हरताल मर जाता है। इसकी मात्रा १ रत्ती की होती है तथा अनेक प्रकार के अनुपानों में जहां जिसकी योग्यता हो रोगादि के अनुसार उस अनुपान के साथ इसका प्रयोग करना चाहिये ॥ २२२-२२६ ॥

अथ शोधितमारितहरितालयोर्गुणानाह—

हरितालं कटु स्निग्धं कषायोष्णं हरेद्विषम् । कण्डूकुष्ठास्यरोगास्रकफपित्तकचव्रणान् ॥२२७॥

शुद्ध किये हुये और मारे हुये हरताल के गुण—उक्त प्रकार का हरताल-कटु तथा कषायरस युक्त, स्निग्ध, उष्ण एवं विष, खुजली, कुष्ठ, मुख सम्बन्धी रोग, रक्तविकार, कफ, पित्त, बाल तथा व्रण को नष्ट करने वाला होता है ॥ २२७ ॥

अन्यच्च—

तालकं हरते रोगान्कुष्ठमृत्युज्वरापहम्। शोधितं कुरुते कान्तिं वीर्यवृद्धिं तथाऽऽयुषम् ॥२२८॥

और भी कहा है कि-शोधित हरताल-रोगनाशक, शरीर की कान्ति तथा वीर्य की वृद्धि करने वाला, आयु को बढ़ाने वाला एवं कुष्ठ, अकाल मृत्यु तथा ज्वर को दूर करने वाला होता है ॥२२८॥

अथाशुद्धमनःशिलाया दोषानाह—

तालकस्यैव भेदोऽस्ति मनोगुप्तैतदन्तरम्। तालकं त्वतिपीतं स्याद्भवेद्रक्ता मनःशिला ॥२२९॥

मनःशिला मन्दबलं करोति जन्तुं ध्रुवं शोधनमन्तरेण।
मलस्य बन्धं किल मूत्ररोधं सशर्करं कृच्छ्रगदञ्च कुर्यात् ॥ २३० ॥

अशुद्ध मैनसिल का स्वरूप—हरताल के एक भेद को ही मैनसिल कहते हैं। क्योंकि इन दोनों में केवल यही अन्तर है कि हरताल का रङ्ग अत्यन्त पीला होता है और मैनसिल का रङ्ग लाल होता है। **अशुद्ध मैनसिल के दोष**—विना शोधा हुआ मैनसिल सेवन करने से मनुष्य को मन्द बल वाला कर देती है और दुर्बलता, क्रिमि, मल का विबन्ध, मूत्र का अवरोध तथा शर्करा युक्त मूत्रकृच्छ्र करने वाली होती है ॥ २२९-२३० ॥

अथ मनःशिलायाः शोधनविधिमाह—

पचेत्त्र्यहमजामूत्रे दोलायन्त्रे मनःशिलाम्। भावयेत्सप्तधा पित्तैरजायाः सा विशुद्ध्यति ॥२३१॥

मैनसिल शोधने की विधि—मैनसिल को ३ दिन तक बकरी के मूत्र से भरे दोलायन्त्र में रख कर पकावे, पश्चात् बकरी के पित्त से सात बार भावना देने से मैनसिल शुद्ध हो जाती है ॥२३१॥

अथ शोधितमनःशिलाया गुणानाह—

गुर्वी मनःशिला वर्ण्या सरोष्णा लेखनी कटुः। तिक्ता स्निग्धा विषश्वासकासभूतकफास्रनुत् ॥

शुद्ध की हुई मैनसिल के गुण—शुद्ध मैनसिल-गुरु, वर्ण को उत्तम करने वाली, सारक, उष्ण, लेखन गुण युक्त, कटु तथा तिक्त रसयुक्त, स्निग्ध, एव विष, श्वास, कास, भूतबाधा, कफ तथा रक्त-विकार को दूर करने वाली होती है ॥ २३२ ॥

अथ खर्परस्तुत्थभेदस्तस्य शोधनविधिमाह—

नरमूत्रे च गोमूत्रे सप्ताहं रसकं पचेत्। दोलायन्त्रेण शुद्धः स्यात्ततः कार्येषु योजयेत् ॥२३३॥

तूतिया का भेद जो खपरिया है उसके शोधन की विधि—खपरिया को मनुष्य के मूत्र से भरे दोलायन्त्र में रख कर सात दिन तक पकावे फिर गोमूत्र से भरे दोलायन्त्र में रख कर ७ दिन तक पकावे। ऐसा करने से वह शुद्ध हो जाती है और इसके बाद कार्य में लेने योग्य होती है ॥

अथ शुद्धखर्परस्य गुणानाह—

खर्परं कटुकं क्षारं कषायं वामकं लघु। लेखनं भेदनं शीतं चक्षुष्यं कफपित्तहृत् ॥
विषाश्मकुष्ठकण्डूनां नाशनं परम मतम् ॥ २३४ ॥

शुद्ध खपरिया के गुण—शुद्ध खपरिया-कटु तथा कषायरसयुक्त, खारी, वमन कराने वाली, लघु, लेखनगुणयुक्त, मलभेदक, शीतल, नेत्रों के लिये हितकर, कफ तथा पित्त को दूर करने वाली एव विष, पथरी, कुष्ठ तथा खुजली को अत्यन्त नष्ट करने वाली होती है ॥ २३४ ॥

अथ सर्वोपरसाना साधारणशोधनविधिमाह—

सूर्यावर्तो वज्रकन्दः कदली देवदालिका। शिग्रुः कोशातकी बन्ध्या काकमाची च वालकम् ॥२३५॥
एषामेकरसेनैव त्रिक्षारैर्लवणैः सह। भावयेदम्लवर्गैश्च दिनमेकं प्रयत्नतः ॥ २३६ ॥
ततः पचेच्च तद्द्रावैर्दोलायन्त्रे दिनं सुधीः। एवं शुद्ध्यन्ति ते सर्वे प्रोक्ता उपरसा हि ये ॥२३७॥

सम्पूर्ण उपरसों के शोधने की साधारण विधि-हुरहुर, वज्रकन्द (जंगली सूरन), केला, देवदाली (सनैया), सहंजना, तोरई, बाझककोड़ा, मकोय, सुगन्धवाला इन सबों में से किसी एक का रस, क्षारत्रय(१) (जवाखार, सुहागा, सज्जीखार), पाचो(२)नोन तथा अम्लवर्गोक्त (अमलवेत,

---

(१) स्वर्जिका च यवक्षारष्टङ्कणक्षार एव च। क्षारत्रयं समाख्यातं त्रिक्षारः स च कथ्यते ॥
अर्थ—सज्जीखार जवाखार, सुहागा ये तीनों मिलकर क्षारत्रय या त्रिक्षार कहलाते हैं।
(२) सैन्धवं रुचकं चैव विडमौद्भिदमेव च। सामुद्रेण समायुक्तं ज्ञेयं लवणपञ्चकम् ॥

जम्बीरी नीबू आदि) पदार्थों का रस इन सबों से एक दिन तक भावना दे उसके बाद उपर्युक्त इन्हीं रसों से भरे दोलायन्त्र में उपरसों को रख कर एक दिन तक पकावे। ऐसा करने से जितने उपरस कहे हुये हैं वे सभी शुद्ध हो जाते हैं ॥ २३५–२३७ ॥

अथ विशेषशुद्धिमाह—

कङ्कुष्ठं गैरिकं शङ्खः कासीसं टङ्कणं तथा। नीलाञ्जनं शुक्तिभेदाः क्षुल्लकाः सवराटकाः ॥२३८॥
जम्बीरवारिणा स्विन्नाः क्षालिताः कोष्णवारिणा।
शुद्धिमायान्त्यमी योज्या भिषग्भिर्योगसिद्धये ॥ २३९ ॥

विशेष शुद्धि—मुरदासग, गेरू, शङ्ख, कासीस, सुहागा, काला सुरमा, सितुही के सभी भेद, छोटे शङ्ख, कौड़ी ये सब जम्बीरी नीबू से भरे दोलायन्त्र में रख कर पकाने के बाद किञ्चित् गर्म जल से धो लेने पर शुद्ध हो जाते हैं। उसके बाद हर एक योगों में इन सबों का प्रयोग करना वैद्यों के लिये उचित है ॥ २३८–२३९ ॥

⊛ एवं शोधितानामुपरसानां पृथग्गुणा गुणग्रन्थे द्रष्टव्याः ॥ २३८–२३९ ॥

इस प्रकार शुद्ध किये हुये उपरसों के पृथक् २ गुण जहां पर इनके गुण लिखे हुये हैं वहां देखना चाहिये ॥ २३८–२३९ ॥

अथ रत्नानां शोधनमारणविधिमाह—

तत्राशुद्धवज्रस्य दोषानाह—

अशुद्धं कुरुते वज्रं कुष्ठं पार्श्वव्यथां तथा। पाण्डुत्वं पङ्गुलत्वञ्च तस्मात्संशोध्य मारयेत् ॥२४०॥

अशुद्ध (बिना शोधे हुये) हीरे के दोष—अशुद्ध हीरा-कुष्ठ, पसुलियों में पीडा तथा पाण्डु रोग उत्पन्न करने वाला एव मनुष्य को पङ्गु बना देता है अतः उसका सर्व प्रथम शोधन करके बाद में मारण करना चाहिये ॥ २४० ॥

अथ वज्रस्य शोधनविधिमाह—

कुलत्थकोद्रवक्काथे दोलायन्त्रे विपाचयेत्। व्याघ्रीकन्दगतं वज्रं त्रिदिनात्तद्विशुद्ध्यति ॥२४१॥

हीरा शोधने की विधि—कटेरी के कन्द के अन्दर रखे हुए हीरे को कुलथी तथा कोदो के क्काथ से भरे हुये दोलायन्त्र में रख कर ३ दिन तक पकाने से हीरा शुद्ध हो जाता है ॥ २४१ ॥

अथान्यं शोधनविधिमाह—

गृहीत्वाऽह्नि शुभे वज्रं व्याघ्रीकन्दोदरे क्षिपेत्। महिषीविष्ठया लिप्त्वा कारीषाग्नौ विपाचयेत् ॥२४२॥
त्रियामायां चतुर्यामं यामिन्यन्तेऽश्वमूत्रके। सेचयेत्पाचयेदेवं सप्तरात्रेण शुद्ध्यति ॥ २४३ ॥

हीरे के शोधने की दूसरी विधि—किसी शुभ दिन में हीरे को लेकर कटेरी के कन्द के अन्दर रख कर उसके ऊपर भैंस का गोबर लपेट कर और सुखा कर रात्रि में ४ प्रहर (१२ घण्टे) तक गोहरे के आग में पकावे और प्रातःकाल घोडे के मूत्र में बुझा दे। इस भांति ७ रात्रि तक पकाने तथा बुझाने से हीरा शुद्ध हो जाता है ॥ २४२–२४३ ॥

⊛ व्याघ्री = कण्टकारिका ॥ २४२–२४३ ॥

यहां 'व्याघ्री' पद से 'कटेरी' का बोध करना चाहिये ॥ २४२–२४३ ॥

अथ वज्रस्य मारणविधिमाह—

हिङ्गुसैन्धवसंयुक्ते क्षिपेत्क्काथे कुलत्थजे। तप्तं तप्तं पुनर्वज्रं भवेद्भस्म त्रिसप्तधा ॥ २४४ ॥

हीरा मारने की विधि—हींग और सेंधा नमक से युक्त कुलथी के क्काथ में खूब तपे हुये हीरे को बुझावे, इस भांति २१ बार तपा २ कर बुझाने से हीरा का भस्म तैयार हो जाता है ॥ २४४ ॥

अथान्यं विधिमाह—

मेषशृङ्गभुजङ्गास्थिकूर्मपृष्ठाम्लवेतसान् ॥ २४५ ॥
शशदन्तं समं पिष्ट्वा वज्रीक्षीरेण गोलकम्। कृत्वा तन्मध्यगं वज्रं म्रियते ध्मातमेव हि ॥२४६॥

अर्थ—सेंधा नमक, कालानोन, विरिया सञ्चर नोन, औद्भिद (रेहगवा नोन), समुद्रीनोन इन सबों के योग को लवणपञ्चक कहते हैं।

हीरा मारने की दूसरी विधि—भेड़े की सींग, सांप की हड्डी, कछुये की पीठ, अमलबेंत तथा खरहे के दांत इन सबों को सम भाग लेकर थूहर के दूध में पीस कर गोलाकार बना कर उसके बीच में हीरे को रख कर तेज आग में पकाने से हीरा भस्म हो जाता है ॥ २४५–२४६ ॥

अथ मारितवज्रस्य गुणानाह—

आयुः पुष्टिं बलं वीर्यं वर्णं सौख्यं करोति च । सेवितं सर्वरोगघ्नं मृतं वज्रं न संशयः ॥ २४७ ॥

मारे हुये हीरे के गुण—मरा हुआ हीरा (भस्म)-सेवन करने से आयु, पुष्टि, बल, वीर्य, सुन्दर वर्ण तथा सुख की वृद्धि करता है और सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करता है। इसमें कोई संशय नहीं है ॥ २४७ ॥

अथ शेषरत्नाना शोधनमारणविधिमाह—

वज्रवत्सर्वरत्नानि शोधयेन्मारयेत्तथा । शुद्धानां मारितानाञ्च तेषां शृणु गुणानपि ॥ २४८ ॥
मणयो वीर्यतः शीता मधुरास्तुवरा रसात् । चक्षुष्या लेखनाश्चापि सारका विषहारकाः ॥
धारणात्ते तु मङ्गल्या ग्रहदृष्टिहरा अपि ॥ २४९ ॥

शेष अन्य रत्नों के शोधन तथा मारण की विधि—हीरे के समान ही शेष सभी रत्नों का भी शोधन तथा मारण करना चाहिये। शोधन तथा मारण किये हुये सभी रत्न-शीतवीर्य, मधुर तथा कषायरसयुक्त, नेत्रों के लिये हितकर, लेखन, सारक, विष को हरण करने वाले, धारण करने से मङ्गल को देने वाले और ग्रह के दोषों को दूर करने वाले होते हैं ॥ २४८–२४९ ॥

***उपरत्नानां शोधनमारणविधिश्चिन्त्यः ॥ २४८–२४९ ॥**

यहां उपरत्नों के शोधन तथा मारण की विधि विचार करके स्थिर कर लेनी चाहिये ॥२४८-२४९॥

अथ विषोपविषाणां शोधनविधिमाह—

तत्र वत्सनाभस्य स्वरूपमाह—

सिन्धुवारसदृक्पत्रो वत्सनाभ्याकृतिस्तथा। यत्पार्श्वे न तरोर्वृद्धिर्वत्सनाभः स भाषितः ॥२५०॥

वत्सनाभ विष के लक्षण—जिसके पत्ते सभालू के पत्तों के समान हों तथा आकार में जो बछड़े की नाभि के समान हो एव जिसके समीप में अन्य वृक्षों की वृद्धि न होती हो उसे वत्सनाभ विष कहते हैं ॥ २५० ॥

अथ विषस्य शोधनविधिमाह—

गोमूत्रे त्रिदिनं स्थाप्यं विषं तेन विशुद्ध्यति । रक्तसर्षपतैलाक्ते तथा धार्यञ्च वाससि ॥२५१॥
ये गुणा गरले प्रोक्तास्ते स्युर्हीना विशोधनात् । तस्माद्विषं प्रयोगे तु शोधयित्वा प्रयोजयेत् ॥२५२॥

विष शोधने की विधि—तीन दिन तक विष को गोमूत्र में भिगो कर रखने के बाद उसे लाल सरसो के तेल में भीगे हुये कपड़े के अन्दर रख दे, ऐसा करने से विष शुद्ध हो जाता है। जो प्राण हरण करना आदि दोष विष के कहे हुये हैं वे सब शोधन करने से हीन (कम) हो जाते हैं। अतः विष को शोधन करके ओषधियों के काम में लावे ॥ २५१–२५२ ॥

अथ विषस्य गुणानाह—

विषं प्राणहरं प्रोक्तं व्यवायि च विकाशि च । आग्नेयं वातकफहृद्योगवाहि मदावहम् ॥२५३॥

विष के गुण—विष-प्राणनाशक, व्यवायी, विकाशी, आग्नेय, वात-कफ नाशक, योगवाही तथा मदावह होता है ॥ २५३ ॥

***व्यवायि = सकलकायगुणव्यापनपूर्वकं पाकगमनशीलम् । विकाशि = ओजःशोषणपूर्वकं सन्धिबन्धशिथिलीकरणशीलम् । आग्नेयम् = अधिकाग्न्यंशम् । योगवाहि = सन्निगुणग्राहकम् । मदावहम् = तमोगुणप्राधान्येन बुद्धिविध्वंसकम् ॥ २५३ ॥**

यहां 'व्यवायि' पद का 'प्रथम सम्पूर्ण शरीर में अपने गुणों को व्याप्त कर के पश्चात् पचने वाला', 'विकाशि' पद का 'ओज को सुखाता हुआ सन्धि के बन्धनों को शिथिल करने वाला', 'आग्नेय' पद का 'अग्नि के अधिक अंशों से युक्त', 'योगवाहि' पद का 'जिसके साथ योग हो उसके गुणों को ग्रहण करने वाला' और 'मदावह' पद का 'तमोगुण की प्रधानता से बुद्धि को विध्वंस करने वाला' अर्थ समझना चाहिये ॥ २५३ ॥

तदेव युक्तियुक्तन्तु प्राणदायि रसायनम् । योगवाहि परं वातश्लेष्मजित्सन्निपातहृत् ॥ २५४ ॥

इस प्रकार प्राणनाशक आदि दुर्गुणों से युक्त होता हुआ भी विष यदि युक्तिपूर्वक सेवन किया जाय तो प्राणशक्ति को देने वाला, रसायन, परम योगवाही, वात-कफनाशक एवं सन्निपात को दूर करने वाला होता है ॥ २५४ ॥

अथोपविषाणां निरूपणमाह—

अर्कक्षीरं स्नुहीक्षीरं लाङ्गली करवीरकः । गुञ्जाऽहिफेनो धत्तूरः सप्तोपविषजातयः ॥ २५५ ॥

उपविषों का निरूपण—आक का दूध, थूहर का दूध, कलिहारी, कनेर, गुञ्जा, अफीम, धतूर ये सात उपविष की जातियां हैं ॥ २५५ ॥

***एतेषां शोधनं चिन्त्यम् । गुणास्तत्र तत्र द्रष्टव्याः ॥ २५५ ॥**

यहा इन सर्वो के शोधन करने की विधि स्वय विचार लेना चाहिये । जहा २ इनका द्रव्यगुण प्रकरण में उल्लेख है, वहा २ इनके गुण देख लेने चाहिये ॥ २५५ ॥

अथ द्रव्याणां गुणवतामवधिमाह—

गुणहीनं भवेद्वर्षादूर्ध्वं तद्रूपमौषधम् । मासद्वयात्तथा चूर्णं लभते हीनवीर्यताम् ॥ २५६ ॥
हीनत्वं गुटिकालेहौ लभेते वत्सरं यदि । हीनाः स्युर्घृततैलाद्याश्चतुर्मासाधिकास्तथा ॥२५७॥

द्रव्यों के पूर्ण गुणयुक्त रहने की अवधि—जिस काष्ठौषधि का जैसा आकार है, उसी रूप में यदि वह रखा रह जाय तो १ वर्ष के बाद, यदि चूर्ण रूप में हो तो दो मास के बाद, गोली तथा अवलेह के रूप में हो तो एक वर्ष के बाद और घृत तथा तेल आदि के रूप में हो तो १ वर्ष ४ मास के बाद गुणहीन हो जाता है ॥ २५६-२५७ ॥

***घृततैलाद्या इति योगविशेषणम् । चतुर्मासाधिकाः=वत्सरादुपरि चत्वारो मासाः अधिका येषु ते ॥ २५६-२५७ ॥**

यहां 'घृततैलाद्याः' यह योग का विशेषण है अर्थात् जो औषधि डालकर घी वा तेल बनाये जाते हैं, उनका ग्रहण करना चाहिये । न कि केवल घी या तेल का तथा 'चतुर्मासाधिकाः' इस पद का 'एक वर्ष से ऊपर ४ मास अधिक हो गये हैं जिस में अर्थात् एक वर्ष ४ मास के बाद' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २५६-२५७ ॥

अथ ग्रन्थान्तराद् घृततैलयोर्विशेषमाह—

घृतमब्दात्परं पक्वं हीनवीर्यत्वमाप्नुयात् । तैलं पक्वमपक्वञ्च चिरस्थायि गुणाधिकम् ॥२५८॥

ग्रन्थान्तर से घी तथा तेल के विषय में विशेषता—एक वर्ष के बाद पकाया हुआ घी हीनवीर्य हो जाता है और तेल चाहे पकाया या न पकाया हुआ हो जैसे २ अधिक दिन का होता है वैसे २ अधिक गुणकारी होता है ॥ २५८ ॥

***तदपि षोडशमासाभ्यन्तरीणं पक्वं तलं गुणाधिकं बोद्धव्यम् ॥ २५८ ॥**

यहा तेल के विषय में इतना और समझ लेना चाहिये कि-१६ मास के अन्दर तक ही पकाया हुआ तैल उत्तरोत्तर अधिक गुणकारी होता है, बाद में नहीं ॥ २५८ ॥

ओषध्यो लघुपाकाः स्युर्निर्वीर्या वत्सरात्परम् । पुराणाः स्युर्गुणैर्युक्ता आसवा धातवो रसाः ॥

जल्दी ही पक कर तैयार हो जाने वाले धान्यादि एक वर्ष के बाद निर्वीर्य हो जाते हैं और आसव, धातु (सोना आदि) तथा रस (रससिन्दूरादि) जितने ही अधिक पुराने होते जाते हैं, उतने ही अधिक गुणकारी होते हैं ॥ २५९ ॥

***ओषध्यः=धान्यादयः । लघुपाकाः=शीघ्रपाकाः । निर्वीर्याः स्युः ॥ २५९ ॥**

यहा 'ओषध्यः' पद का 'धान्यादि' । 'लघुपाकाः' पद का 'शीघ्र पक कर तैयार हो जाने वाले, हीनवीर्य हो जाते हैं' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २५९ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे परिभाषादिप्रकरणे तृतीय धात्वादिशोधनमारणविधिप्रकरणं समाप्तम् ॥ ३ ॥



अथ चतुर्थं स्नेहपानविधिप्रकरणम् ॥ ४ ॥

तत्र स्नेहस्य भेदान् विशेषनामानि चाह—

स्नेहश्चतुर्विधः प्रोक्तो घृतं तैलं वसा तथा । मज्जा च तं पिबेन्मर्त्यः किञ्चिदभ्युदिते रवौ ॥ १ ॥
स्थावरो जङ्गमश्चैव द्वियोनिः स्नेह उच्यते । तिलतैलं स्थावरेषु जङ्गमेषु घृतं वरम् ॥
द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्वा यमकस्त्रिवृतो महान् ॥ २ ॥

स्नेह के भेद तथा विशेष नाम—स्नेह चार प्रकार का होता है। १. घी, २. तेल, ३. चर्बी और ४. मज्जा। स्नेह को थोड़ा सूर्य उदय हो जाने पर पीना चाहिये। इनकी दो योनियां हैं। एक स्थावर, दूसरी जङ्गम अर्थात् तेल स्थावर स्नेह और घी, चर्बी तथा मज्जा ये सब जङ्गम स्नेह कहलाते हैं। इससे स्नेह द्वियोनि कहलाता है। स्थावर स्नेहों में तिल का तेल और जङ्गम स्नेहों में घी उत्तम होता है। दो स्नेहों के मिलने से यमक, तीन के मिलने से त्रिवृत और चार के मिलने से महान् संज्ञक स्नेह होता है ॥ १–२ ॥

***अस्यायमर्थः—द्वाभ्यां स्नेहाभ्यां घृततैलाभ्यां यमकाख्यः स्नेहः स्यात्। त्रिभिः स्नेहैर्घृततैलवसारूपैस्त्रिवृताख्यः स्यात्। चतुर्भिर्घृततैलवसामज्जभिर्महान् = महास्नेहः स्यादित्यर्थः ॥ १–२ ॥**

यहां 'द्वाभ्याम्' इत्यादि पदों का यह अर्थ समझना चाहिये कि–'दो स्नेह अर्थात् घी और तेल के मिलने से 'यमक' नामक स्नेह होता है। तीन स्नेह अर्थात् घी, तेल तथा चर्बी के मिलने से 'त्रिवृत' नामक स्नेह होता है और ४ स्नेह अर्थात् घी, तेल, चर्बी तथा मज्जा ये चारों मिल कर 'महान्' अर्थात् 'महास्नेह' कहलाते हैं ॥ १–२ ॥

पिबेत् त्र्यहं चतुरहं पञ्चाहं षडहानि वा ॥ ३ ॥

तीन दिन, चार दिन, पांच दिन या छः दिन तक स्नेह पीना चाहिये ॥ ३ ॥

***मृदुमध्यक्रूरकोष्ठापेक्षया त्र्यहं चतुरहं पञ्चाहं षडहानि चेति ।**

यहां 'मृदु, मध्य तथा क्रूर कोष्ठ की अपेक्षा से तीन दिन, चार दिन, पांच दिन तथा छः दिन पीने को कहा है अर्थात् मृदुकोष्ठ वाला पुरुष तीन दिन तक, मध्य कोष्ठ वाला चार दिन तक इत्यादि क्रम से पीवे।'

यदुक्तम्—

मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निग्धस्नेहोपसेवया । मध्यकोष्ठश्चतुर्भिश्च दिवसैः स्निह्यति ध्रुवम् ॥ १ ॥
पञ्चभिर्वाऽथ षड्भिर्वा दिनैः क्रूरो विशुद्ध्यति । सप्तरात्रात्परं स्नेहः सात्मीभवति सेवितः ॥२॥

क्योंकि कहा भी है कि—तीन रात्रि तक स्नेह का सेवन करने (पीने) से मृदुकोष्ठ वाला पुरुष स्निग्ध होता है। मध्य कोष्ठ वाला पुरुष चार दिन तक स्नेह सेवन करने से निश्चय स्निग्ध होता है और क्रूर कोष्ठवाला पांच या छः दिन तक स्नेह सेवन करने से शुद्ध होता है। स्नेह का सेवन करते हुए जब सात रात्रि बीत जाती है, तब वह सात्म्य (शरीर के अनुकूल) हो जाता है ॥

***मृदुमध्यक्रूरकोष्ठानां सर्वेषां सप्तरात्रात्परं सात्मीभवति । वातानुलोम्यवह्निदीप्तिकोष्ठशुद्धिमृदुस्निग्धाङ्गलाघवधातुपुष्टिद्विजदार्ढ्यनिर्जरतावलवर्णकारी भवति । न तु भक्तद्वेषग्लान्यादीन् करोति ॥ ३ ॥**

यहां यह भी समझना चाहिये कि—मृदु, मध्य तथा क्रूर कोष्ठ वाले सभों की ही सात रात्रि के बाद स्नेहसेवन सात्म्य हो जाता है। इससे वायु का अनुलोमन (अपने स्वाभाविक स्थिति पर रहना), अग्नि प्रदीप्त होना, कोष्ठ की शुद्धि, अङ्ग, स्वर आदि की मृदुता तथा स्निग्धता, अङ्गों की लघुता, धातुओं की पुष्टि, दांतों की दृढ़ता, वृद्धावस्था से रहित होना, बल की वृद्धि तथा वर्ण की उज्ज्वलता होती है। किन्तु अन्न से द्वेष होना तथा ग्लानि आदि नहीं करता है ॥ १–२ ॥ ३ ॥

दोषकालवयोवह्निबलान्यालोक्य योजयेत् । हीनाञ्च मध्यमां ज्येष्ठां मात्रां स्नेहस्य बुद्धिमान् ॥
अमात्रया तथाऽकाले मिथ्याऽऽहारविहारतः । स्नेहः करोति शोथार्शस्तन्द्रानिद्राविसंज्ञताः ॥

बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि वह—दोष (वातादि), काल (वसन्तादि ऋतु तथा प्रातः, मध्याह्न आदि), रोगी की अवस्था, अग्नि तथा बल को देख कर तदनुसार हीन, मध्यम तथा ज्येष्ठ मात्रा स्नेह की दे। विना मात्रा के तथा असमय में एवं मिथ्या आहार-विहार करने के साथ-साथ स्नेह का सेवन करना मनुष्य को शोथ, अर्श, तन्द्रा, निद्रा तथा बेहोशी उत्पन्न करने वाला होता है ॥ ४–५ ॥

देया दीप्ताग्नये मात्रा स्नेहस्यैकपलोन्मिता। मध्यमाय त्रिकर्षा स्याज्जघन्याय द्विकार्षिकी ॥६॥

दीप्त अग्नि वाले पुरुषों के लिये स्नेह पीने की मात्रा १ पल (चार तोले) की देनी चाहिये। मध्यम अग्नि वालों के लिये ३ कर्ष (३ तोले) की मात्रा और हीन अग्नि वालों के लिये दो कर्ष (२ तोले) की मात्रा स्नेह पीने को देनी चाहिये ॥ ६ ॥

***मध्यमाय = मध्यमाग्नये। जघन्याय = हीनाग्नये ॥ ६ ॥**

यहां 'मध्यमाय' पद का 'मध्यम अग्नि वालों के लिये' तथा 'जघन्याय' पद का 'हीन अग्नि वालों के लिये' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ६ ॥

अथवा स्नेहमात्राः स्युस्तिस्रोऽन्याः सर्वसम्मताः। अहोरात्रेण महती जीर्यत्यह्नि तु मध्यमा ॥
जीर्यत्यल्पा दिनार्द्धेन सा विज्ञेया सुखावहा ॥ ७ ॥

अथवा सभी वैद्यों को अभिमत इनसे अन्य तीन प्रकार की मात्रायें और होती हैं—एक दिन तथा एक रात्रि में पचने वाली जो स्नेहमात्रा होती है वह 'महती', दिन भर में पचने वाली मात्रा 'मध्यमा' और आधे दिन में ही पचने वाली मात्रा 'अल्पा (कनिष्ठा)' कहलाती है और वह (अल्प मात्रा) सुख देने वाली भी होती है ॥ ७ ॥

***अयमर्थः—याऽहोरात्रेण जीर्यति सा मात्रा महती। एवं मध्यमा कनिष्ठा च ज्ञेया ॥७॥**

यहा यह अर्थ समझना चाहिये कि—जो एक दिन तथा एक रात्रि में पचने वाली होती है वह 'महती' नामक मात्रा होती है। इसी भाति से मध्यमा तथा कनिष्ठा मात्रा को भी समझ लेना चाहिये ॥ ७ ॥

अल्पा स्याद्दीपनी वृष्या स्वल्पदोषे प्रपूजिता ॥ ८ ॥
मध्यमा स्नेहनी ज्ञेया बृंहणी भ्रमहारिणी। ज्येष्ठा कुष्ठविषोन्मादग्रहापस्मारनाशिनी ॥ ९ ॥

अल्पा (कनिष्ठा) मात्रा अग्निदीपक तथा वीर्यवर्धक होती है और अल्प दोष वाले पुरुषों के लिये उत्तम होती है, 'मध्यमा' मात्रा स्नेहन करने वाली, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक) तथा भ्रमरोग नाशक होती है एवं 'ज्येष्ठा' मात्रा कुष्ठ, विष, उन्माद, ग्रहबाधा तथा मिर्गी को दूर करने वाली होती है ॥ ८—९ ॥

सुश्रुतः पुनरेवमाह—

या मात्रा प्रथमे यामे गते जीर्यति वासरे। सा मात्रा दीपयत्यग्निमल्पदोषे च पूजिता ॥१०॥
या मात्रा वासरस्यार्द्धे व्यतीते परिजीर्यति। सा वृष्या बृंहणी च स्यान्मध्यदोषे प्रपूजिता ॥
या मात्रा चरमे यामे स्थितेऽह्नः परिजीर्यति। सा मात्रा स्नेहनी ज्ञेया बहुदोषेषु पूजिता ॥१२॥
केवलं पैत्तिके सर्पिर्वातिके लवणान्वितम्। देयं बहुकफे वह्निव्योषक्षारसमन्वितम् ॥ १३ ॥

मात्रा के विषय में सुश्रुत का मत—जो स्नेह की मात्रा दिन का एक प्रहर बीत जाने पर ही पच जाने वाली होती है, वह अग्नि को प्रदीप्त करने वाली तथा अल्प दोष वाले रोगियों के लिये उत्तम होती है। जो मात्रा दिन के आधा भाग बीत जाने पर पच जाने वाली होती है वह वीर्यवर्धक, बृंहण (रस-रक्तादि वर्धक) तथा मध्यम दोष वालों के लिये उत्तम होती है। और जो मात्रा दिन के अन्तिम पहर में पचने वाली होती है वह स्नेहन करने वाली तथा अधिक दोष वाले रोगियों के लिये उत्तम होती है। पित्त की अधिकना में केवल घृत-पान करने को देना चाहिये, वात की अधिकता में सेंधा नमक मिला कर घी देना चाहिये और कफ की अधिकता में चीता, सोंठ, पीपर, मिरच, क्षार (जवाखार आदि) मिला कर घी पीने के लिये देना चाहिये ॥ १०–१३ ॥

अथ सर्पिःपानार्हजनानाह—

रूक्षक्षतविषार्त्तानां वातपित्तविकारिणाम्। हीनमेधास्मृतीनां च सर्पिःपानं प्रशस्यते ॥१४॥

घी पिलाने योग्य लोग—जो रूक्षता, क्षत (घाव) तथा विष से आर्त्त हों तथा जो वात और पित्तसम्बन्धी रोग से पीड़ित हों एवं जिनकी मेधा (धारण) शक्ति तथा स्मरण शक्ति हीन हो गई हो, ऐसे लोगों के लिये घी पिलाना उत्तम है ॥ १४ ॥

अथ वसापानार्हजनानाह—

कृमिकोष्ठानिलाविष्टाः प्रवृद्धकफमेदसः। पिबेयुस्तैलसात्म्याश्च तैलं दार्ढ्यार्थिनस्तु ये ॥१५॥
व्यायामकर्षिताः शुष्करेतोरक्ता महारुजः। महाग्निमारुतप्राणा वसायोग्या नराः स्मृताः ॥१६॥

तेल पिलाने योग्य लोग—जिनके कोष्ठ में कृमि पड गये हों या जो वातपीडित हों वा जिनका कफ तथा मेदा वढ़ गया हो अथवा जिन्हें तेल पीना सात्म्य (प्रकृति के अनुकूल) हो या शरीर को दृढ़ रखने की इच्छा हो ऐसे लोगों को तेल पिलाना (पीना) उचित है। वसा (चर्बी) पिलाने योग्य लोग—जो लोग व्यायाम (कसरत आदि) करने से कृश हो गये हों या जिनका वीर्य तथा रक्त सूख रहा हो या जो वड़े रोगी हों या जिनका जठराग्नि या वायु प्रवल हो या प्राण (वल) अधिक हो तो ऐसे लोग वसा पिलाने योग्य होते हैं ॥ १५-१६ ॥

अथ मज्ज्ञः सर्पिषोऽपि पानार्हजनानाह—

क्रूराशयाः क्लेशसहा वातार्त्ता दीप्तवह्नयः। मज्जानञ्च पिबेयुस्ते सर्पिर्वा सर्वतो हितम् ॥१७॥

मज्जा तथा घी पिलाने योग्य लोग—जो क्रूर कोष्ठ वाले या क्लेश सहने वाले या वायु रोग से पीडित रहने वाले हों, किं वा जिनकी जठराग्नि प्रदीप्त हो ऐसे लोगों को अन्य सभी स्नेहों से अधिक हितकर समझ कर मज्जा या घी पिलाना उचित है ॥ १७ ॥

***क्रूराशयाः = क्रूरकोष्ठाः। सर्वतः = सर्वस्मात्स्नेहात् ॥ १७ ॥**

यहां 'क्रूराशयः' पद का 'क्रूर कोष्ठ वाले' तथा 'सर्वतः' पद का 'सभी स्नेहों से अधिक' अर्थ समझना चाहिये ॥ १७ ॥

अथ शीतादिकालवातादिदोषभेदाभ्यां स्नेहपानसमयभेदानाह—

शीतकाले दिवा स्नेहमुष्णकाले पिबेन्निशि। वातपित्ताधिके रात्रौ वातश्लेष्माधिके दिवा ॥१८॥

शीतादि समयों तथा वातादि दोषों के भेद से स्नेह पीने के समयों में भेद—शीत काल में दिन के समय और ग्रीष्म काल में रात्रि के समय स्नेह पिलाना (पीना) उचित है। वात-पित्त की अधिकता रहने पर रात्रि में तथा वात-कफ की अधिकता रहने पर दिन में स्नेह पिलाना उचित है ॥ १८ ॥

अथ नस्यादिषु तैलघृतयोः प्रयोगे नियममाह—

नस्याभ्यञ्जनगण्डूषमूर्ध्वकर्णाक्षितर्पणे। तैलं घृतं वा युञ्जीत दृष्ट्वा दोषबलाबलम् ॥ १९ ॥

नस्य (नास) आदि लेने में तेल तथा घृत का प्रयोग-नस्य (नास) लेना, शरीर में मालिस करना, कुल्ला करना या सिर, कान तथा आंखों में डालना हो तो दोषों के वलावल का विचार कर घी अथवा तेल का प्रयोग करना उचित है ॥ १९ ॥

अथ घृतादिपानेऽनुपानान्याह—

घृते कोष्णं जलं पेयं तैले यूषः प्रशस्यते। वसामज्ज्ञोः पिबेन्मण्डमनुपानं सुखावहम् ॥ २० ॥

घी आदि के पीने में अनुपान—घी पीने पर ऊपर से गर्म जल, तेल पीने पर वाद में जूस और वसा तथा मज्जा पीने पर वादमें मांड पीना उचित है। क्योंकि उक्त अनुपान सुखकारक होते हैं ॥ २० ॥

अथ स्नेहद्वेषिणां स्नेहपानविधिमाह—

स्नेहद्विषः शिशून्वृद्धान्सुकुमारान्कृशानपि। तृष्णालुकानुष्णकाले सह भक्तेन पाययेत् ॥२१॥

स्नेह से द्वेष रखने वाले को स्नेह पिलाने की विधि—जो स्वतः स्नेह से द्वेष रखने वाले हैं अर्थात् जिन्हें स्नेह से अरुचि हो तथा जो वालक, वृद्ध, सुकुमार तथा कृश शरीर वाले या ग्रीष्म ऋतु में जिन्हें अधिक प्यास लगती हो ऐसे लोगों को भात के साथ स्नेहपान कराना चाहिये॥२१॥

अथ स्नेहकारीणि पदार्थान्तराण्याह—

सर्पिष्मती वहुतिला यवागूः स्वल्पतण्डुला। सुखोष्णा सेव्यमाना तु सद्यः स्नेहनकारिणी॥२२॥
शर्कराचूर्णसंयुक्ते दोहनस्थे घृते तु गाम्। दुग्ध्वा क्षीरं पिवेत्तृषः सद्यः स्नेहनमुत्तमम् ॥ २३ ॥

स्नेहन करने वाले अन्य भी पदार्थ—जो यवागू बहुत तिलों तथा थोडे चावलों से बनी हुई हो और उसमें घी भी पडा हो उसे थोडा २ गर्म रहते ही यदि खाया जाय तो वह तत्काल ही स्नेहन करने वाली होती है और यदि दोहानी (दूध दुहने का पात्र) में घी, साफ शक्कर का बूरा रख कर (ऊपर से पात्र के मुख पर वस्त्र रख कर) उसमें गौ का दूध दुहा जाय और दुहने के बाद उसे तुरन्त ही पी लिया जाय तो ऐसा दूध भी रूक्ष शरीर वाले पुरुष के लिये तत्काल स्नेहन करने वाले पदार्थों में उत्तम समझा जाता है ॥ २२-२३ ॥

अथ स्नेहाजीर्णे कर्तव्यकर्माण्याह—

मिथ्याऽऽचाराद् बहुत्वाद्वा यस्य स्नेहो न जीर्यति। विष्टभ्य वाऽपि जीर्येत वारिणोष्णेन वामयेत् ॥

स्नेह के न पचने पर कर्त्तव्य—मिथ्या (अयोग्य) आहार, विहार करने से या अधिक मात्रा हो जाने से, जिस मनुष्य को स्नेह न पचता हो अथवा विष्टम्भ हो कर पचता हो उसे गर्म जल पिला कर वमन कराना चाहिये ॥ २४ ॥

अथ स्नेहाजीर्णशङ्कायां कर्त्तव्यकर्माण्याह—

स्नेहस्याजीर्णशङ्कायां पिबेदुष्णोदकं नरः। तेनोद्गारो भवेच्छुद्धो भक्तं प्रति रुचिस्तथा ॥२५॥

स्नेह के न पचने की आशङ्का होने पर कर्त्तव्य कर्म—यदि किसी मनुष्य को स्नेह के न पचने की आशङ्का हो तो वह गर्म जल पीवे, इससे शुद्ध उद्गार (डकार) होता है तथा अन्न खाने की रुचि उत्पन्न होती है ॥ २५ ॥

अथ स्नेहपानजतृष्णायाः प्रशमोपायमाह—

स्नेहेन पैत्तिकस्याग्निर्यदा तीक्ष्णतरीकृतः। तदाऽस्योदीरयेत् तृष्णां विषमां तस्य पाययेत्।
शीतलं पायसं तेन तृष्णा तस्य प्रशाम्यति ॥ २६ ॥

स्नेह पीने से उत्पन्न हुई प्यास की शान्ति का उपाय—स्नेह पीने से पित्त प्रकृति वाले मनुष्य की जब जठराग्नि अत्यन्त तीक्ष्ण हो जाती है तब उसे अधिक प्यास लगती है, ऐसी अवस्था में उसे शीतल खीर खिलानी चाहिये जिससे कि प्यास शान्त हो जाय ॥ २६ ॥

अथ स्नेहपानायोग्यजनानाह—

अजीर्णी वर्जयेत्स्नेहमुदरी तरुणज्वरी। दुर्बलोऽरोचकी स्थूलो मूर्च्छालो मेहपीडितः ॥ २७ ॥
दत्तबस्तिर्विरिक्तश्च वान्तस्तृष्णाश्रमान्वितः। अकालप्रसवा नारी दुर्दिने च विवर्जयेत् ॥ २८ ॥

स्नेह पीने के अयोग्य लोग—जिन लोगों को अजीर्ण अथवा उदरसम्बन्धी रोग हो या जो नवीन ज्वर के रोगी हों या दुर्बल हों किं वा जिन्हें अरुचि हो वा जो मोटे हों किं वा मूर्च्छा या मेहरोग से पीडित हों अथवा जिन्हें बस्ति या विरेचन दिया गया हो वा वमन कराया गया हो या प्यास लगी हो अथवा जो परिश्रम से थक गये हों और जिस स्त्री को असमय में प्रसव हुआ हो ऐसे लोगों को स्नेह पिलाना या पीना उचित नहीं है। दुर्दिन अर्थात् जिस दिन आकाश मेघों से घिरा हो उस दिन भी स्नेहपान कराना अनुचित होता है ॥ २७-२८ ॥

अथ स्नेहपानयोग्यजनानाह—

स्वेद्यसंशोध्यमद्यस्त्रीव्यायामासक्तचित्तकाः ॥ २९ ॥
वृद्धबालकृशा रूक्षाः क्षीणास्राः क्षीणरेतसः। वातार्तास्तिमिरार्ता ये तेषां स्नेहनमुत्तमम् ॥३०॥

स्नेह पान के योग्य लोग—जिन्हें स्वेद देना हो या जिनका विरेचनादि द्वारा शोधन करना हो अथवा जो मद्य (शराब), स्त्री, व्यायाम (कसरत आदि) में आसक्त चित्तवाले हों किं वा वृद्ध, बालक, दुर्बल या रूक्ष शरीर वाले हों अथवा जिनका रक्त या वीर्य क्षीण हो गया हो और जो वातरोग या तिमिररोग से पीड़ित हों ऐसे लोगों को स्नेहपान द्वारा स्नेहन कराना उत्तम होता है ॥ २९-३० ॥

अथ सम्यक्स्निग्धस्य लक्षणान्याह—

वातानुलोम्यं दीप्ताग्निर्वर्चः स्निग्धमसंहतम्। मृदुस्निग्धाङ्गताऽग्लानिः स्नेहद्वेषोऽथ लाघवम्।
विमलेन्द्रियता सम्यक्स्निग्धे रूक्षे विपर्ययः ॥ ३१ ॥

स्नेहपान द्वारा भली भाति स्निग्ध हुये लोगों के लक्षण—वायु का अनुलोमन होना (अधोवायु आदि का यथोक्त रीति से होना), जठराग्नि का प्रदीप्त होना, चिकनाई लिये हुये मल का

अलग २ निकलना, शरीर का कोमल तथा स्निग्ध होना, ग्लानि न मालूम पड़ना, स्नेह पीने से द्वेष होना, शरीर में हल्कापन, इन्द्रियों में निर्मलता ये सब लक्षण स्नेहपान से भलीभांति स्निग्ध होने पर लोगों में उत्पन्न होते हैं और रूक्षता रहने पर इस से विपरीत लक्षण रहते हैं॥ ३१॥

अथातिस्निग्धस्य लक्षणान्याह—

भक्तद्वेषो मुखस्रावो गुदे दाहः प्रवाहिका। तन्द्राऽतीसारपाण्डुत्वं भृशं स्निग्धस्य लक्षणम्॥३२॥

अधिक मात्रा में स्निग्ध हुए लोगों के लक्षण—अन्न से द्वेष होना, मुख से स्राव होना (लार गिरना), गुदा में दाह, प्रवाहिका (मल का पतला होकर बहना), तन्द्रा तथा अतीसार का होना एवं शरीर का पीला पड़ जाना ये सब लक्षण अधिक मात्रा में स्निग्ध हो जाने पर लोगों में उत्पन्न होते हैं॥ ३२॥

अथ रूक्षातिस्निग्धयोर्जनयोः कर्त्तव्यकर्माण्याह—

रूक्षस्य स्नेहनं स्नेहैरतिस्निग्धस्य रूक्षणम्। श्यामाकचणकाद्यैश्च तक्रपिण्याकशक्तुभिः॥३३॥

रूक्ष तथा अत्यन्त स्निग्ध हुए लोगों के लिये कर्त्तव्य कर्म—जो लोग रूक्ष हों उन्हें स्नेहपान द्वारा स्नेहन कराना चाहिये और जो अधिक स्निग्ध हो गये हों तो उन्हें सांवा, चना आदि तथा तक्र (चतुर्थांश जलयुक्त छाछ), खली और सत्तू आदि खिला कर रूक्ष बनाना चाहिये॥३३॥

अथ स्नेहसेवनस्य गुणानाह—

दीप्ताग्निः शुद्धकोष्ठश्च पुष्टधातुर्दृढेन्द्रियः। निर्जरो बलवर्णाढ्यः स्नेहसेवी भवेन्नरः॥३४॥

स्नेह सेवन करने के गुण—स्नेह का सेवन करने वाले मनुष्य की अग्नि प्रदीप्त होती है, कोष्ठ शुद्ध रहता है तथा धातु पुष्ट होता है, इन्द्रियां दृढ होती हैं एवं वह वृद्धावस्था से रहित तथा बल से युक्त होता है। उसके शरीर की कान्ति उत्तम होती है॥ ३४॥

अथ स्नेहसेवने त्याज्यकर्माण्याह—

स्नेहे व्यायामसंशीतवेगाघातप्रजागरान्। दिवास्वप्नमभिष्यन्दि रूक्षान्नञ्च विवर्जयेत्॥३५॥

स्नेह का सेवन करने के समय त्याग करने योग्य कार्य—स्नेह सेवन करने के समय मनुष्य को उचित है कि व्यायाम (कसरत आदि) करना, अधिक शीत में रहना, मल-मूत्रादि के वेगों का रोकना, रात में अधिक जागना, दिन में सोना, अभिष्यन्दी (दही आदि) पदार्थ तथा रूक्ष अन्न का खाना इन सब कार्यों को छोड़ दे॥ ३५॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे परिभाषादिप्रकरणे चतुर्थं स्नेहपानविधिप्रकरणं समाप्तम्॥ ४॥



अथ पञ्चमं पञ्चकर्मविधिप्रकरणम्॥ ५॥

अथ पञ्चकर्मनामान्याह—

प्रथमं वमनं पश्चाद्विरेकश्चानुवासनम्। एतानि पञ्चकर्माणि निरूहो नावनं तथा॥ १॥

पञ्चकर्म के नाम—१ वमन, २ विरेचन, ३ अनुवासन, ४ निरूह, ५ नावन ये पांच कर्म हैं और पञ्चकर्म से इन्हीं पांचों का बोध होता है॥ १॥

अथ वमनम्।

तत्रादौ वमनार्हसमयजनानाह—

शरत्काले वसन्ते च प्रावृट्काले च देहिनाम्। वमनं रेचनं चैव कारयेत्कुशलो भिषक्॥ २॥
बलवन्तं कफव्याप्तं हृल्लासादिनिपीडितम्। तथा वमनसात्म्यञ्च धीरचित्तञ्च वामयेत्॥ ३॥
विषदोषे स्तन्यरोगे मन्देऽग्नौ श्लीपदेऽर्बुदे। हृद्रोगे कुष्ठवीसर्पमेहाजीर्णभ्रमेषु च॥ ४॥
विदारिकाऽपचीकासश्वासपीनसवृद्धिषु। अपस्मारे ज्वरोन्मादे तथा रक्तातिसारिषु॥ ५॥
नासाताल्वोष्ठपाकेषु कर्णस्रावेऽधिजिह्वके। गलशुण्ड्यामतीसारे पित्तश्लेष्मगदे तथा॥
मेदोगदेऽरुचौ चैव वमनं कारयेद्भिषक्॥ ६॥

वमन कर्म में प्रथम वमन के योग्य समय और रोगियों का निर्देश—चतुर वैद्य को चाहिये कि वह शरद् (क्वार, कार्त्तिक) ऋतु, वसन्त (चैत, वैशाख) ऋतु तथा वर्षा (सावन, भादों) ऋतु इन समयों में मनुष्यों को वमन करावे तथा रेचन (जुलाब) दे। जो मनुष्य बलवान् हो या कफ से व्याप्त हो वा हृल्लास (उबकाई) आदि रोग से पीडित हो तथा धीर चित्त वाला हो और जिसे वमन कराना प्रकृति के अनुकूल पडता हो उसे वमन करावे। विषदोष (विषसम्बन्धी दोष), स्तन्य रोग (दूषित दुग्ध पीने से उत्पन्न हुआ बालकों का रोग) तथा अग्निमन्द होने पर एवं श्लीपद (फीलपाव), अर्बुद, हृद्रोग, कुष्ठ, वीसर्प, मेहरोग, अजीर्ण, भ्रम, विदारिका, अपची, खासी, श्वास (दमा), पीनस, वृद्धि (अण्डकोश वृद्धि), मिर्गी, ज्वर, उन्माद, रक्तातिसार इन रोगों में नासिका (नाक) तालु तथा ओष्ठ के पकने पर, कर्णस्राव (कान बहना), अधिजिह्वक, गलशुण्डी, अतीसार, पित्त तथा कफ सम्बन्धी रोग, मेदरोग और अरुचि इन सब रोगों में रोगी को वमन करावे ॥ २-६ ॥

***स्तन्यरोगे=दुष्टदुग्धजनिते बालस्य रोगे ॥ २-६ ॥**

यहां 'स्तन्यरोग' पद का 'दूषित दुग्ध पीने से उत्पन्न हुआ बालकों का रोग' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २-६ ॥

अथ वमनानर्हजनानाह—

न वामनीयस्तिमिरी न गुल्मी नोदरी कृशः। नातिवृद्धो गर्भिणी च न स्थूलो न क्षतातुरः ॥
मदार्त्तो बालको रूक्षः क्षुधितश्च निरूहितः। उदावर्त्त्यूर्ध्वरक्ती च दुश्छर्द्यः केवलानिली ॥
पाण्डुरोगी कृमिव्याप्तः पवनात्स्वरघातवान् ॥ ९ ॥
एतेऽप्यजीर्णव्यथिता वाम्या ये विषपीडिताः। कफव्याप्ताश्च ते वाम्या मधुकक्काथपानतः॥१०॥

वमन कराने के अयोग्य लोगों का निर्देश—जो लोग तिमिर, गुल्म तथा उदर रोग वाले हों या कृश (दुर्बल) शरीर तथा अत्यन्त वृद्ध हों एवं गर्भिणी स्त्री, स्थूल शरीर वाले, क्षत (घाव) से व्याकुल, मद से पीडित, बालक, रूक्ष शरीरवाले या भूखे हों और जिन्हें निरूहण वस्ति दी गई हो वा जो उदावर्त्त रोग वाले हों या जिनके नाक, आख, कान तथा मुख की राह से रक्त गिरता हो या जो रूक्ष तथा कठिन द्रव्य खा लिये हों अथवा जो केवल वातरोग से पीडित हों या पाण्डुरोगी हों वा जिनके उदर में क्रिमि पड़ गये हों तथा वायु से जिनका स्वरभङ्ग हो गया हो ऐसे लोगों को वमन कराना उचित नहीं है।

किन्तु ऐसे लोग भी यदि अजीर्ण होने से या विष से पीडित हों अथवा कफ से व्याप्त हों अर्थात् कफ की अधिकता हो तो मुलेठी का क्काथ पिलाने के द्वारा वमन कराने के योग्य होते हैं ॥

***ऊर्ध्वरक्ती=यस्य नासाऽक्षिकर्णास्यमार्गैं रक्तं प्रवर्त्तते सः। भुक्तरूक्षकर्कशद्रव्यो-दुश्छर्द्यः। मधुकस्थाने मधूकेति द्वितीयः पाठः ॥ ७-१० ॥**

यहां 'ऊर्ध्वरक्ती' पद का 'जिनके नाक, आख, कान तथा मुख की राह से रक्त गिरता हो' 'दुश्छर्द्य' पद का 'जो रूक्ष तथा कठिन द्रव्य खा लिये हों' यह अर्थ तथा 'मधुक' पद के स्थान में मधूक (महुआ)' यह दूसरा पाठ है यह भी समझना चाहिये ॥ ७-१० ॥

अथ वमनविधिमाह—

सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरुञ्च वामयेत्। पाययित्वा यवागूं वा क्षीरतक्रदधीनि च ॥११॥
असात्म्यैः श्लेष्मलैर्भोज्यैर्दोषानुत्क्लेश्य देहिनाम्। स्निग्धस्विन्नाय वमनं दत्तं सम्यक्प्रवर्त्तते ॥
वमनेषु च सर्वेषु सैन्धवं मधु वा हितम्। बीभत्सं वमने दद्याद्विपरीतं विरेचनम् ॥१३॥

वमन कराने की विधि—जो लोग सुकुमार, कृश, बालक, वृद्ध या भीरु (वमन से डरने वाले) हों, उन्हें यवागू या दूध, तक्र (छाछ) अथवा दही पिलाकर वमन कराना चाहिये। प्राणियों को यदि प्रथम असात्म्य (प्रकृति के अननुकूल) तथा कफकारक भोज्य पदार्थ खिलाने के द्वारा दोषों को बाहर निकालने के लिये उन्मुख करके स्नेहन करा चुकने पर वमन कराया जाय तो वमन अच्छी तरह से होता है, संपूर्ण वमन कराने वाली ओषधियों में सेंधा नमक तथा मधु हितकर होता है। वमन कराने वाली जो ओषधिया दी जाय वे अरुचि कर होनी चाहिये किन्तु विरेचन कराने वाली इसके विपरीत (रुचिकर) होनी चाहिये ॥ ११-१३ ॥

***बीभत्सम्=अरुच्यम्। विपरीतं=रुच्यम् ॥ ११-१३ ॥**

यहां 'बीभत्स' पद का 'अरुचिकर'। 'विपरीत' पद का 'रुचिकर' अर्थ समझना चाहिये ॥ ११-१३ ॥

क्वाथद्रव्यस्य कुडवं श्रपयित्वा जलाढके। अर्द्धभागावशिष्टञ्च वमनेष्ववचारयेत् ॥ १४ ॥
क्वाथपाने नवप्रस्था ज्येष्ठा मात्रा प्रकीर्तिता। मध्यमा षण्मिता प्रोक्ता त्रिप्रस्था च कनीयसी ॥
वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे। अर्द्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥ १६ ॥

जिस वामक द्रव्य का क्वाथ बनाना हो उसे १ कुडव (१६) भर) लेकर एक आढक (३ सेर ३ छ० १) भर) जल में क्वाथ बनाकर आधा (१ सेर ९ छ० ३) भर) शेष रह जाने पर वमन कराने के लिये देना चाहिये। वमन के लिये क्वाथ पिलाने में ९ प्रस्थ (२ सेर १४ छ० ४) भर) की मात्रा 'ज्येष्ठा' (बड़ी) कहलाती है। ६ प्रस्थ (१ सेर १५ छ० १) भर) की 'मध्यमा' (औसत) तथा ३ प्रस्थ (१५ छ० ३) भर) की 'कनिष्ठा' (छोटी) मात्रा कहलाती है और वमन, विरेचन तथा रक्तमोक्षण (रक्त निकलवाने) में पण्डित लोग एक प्रस्थ को ६॥ पलों के बराबर मानते हैं ॥ १४-१६ ॥

***अर्द्धत्रयोदशपलं=सार्द्धषट्कम् ॥१४-१६ ॥**

यहां 'अर्द्धत्रयोदशपलम्' पदका '६॥ साढे छ पल' अर्थ समझना चाहिये ॥ १४-१६ ॥

कल्कचूर्णावलेहानां त्रिपलं मात्रयोत्तमम्। मध्यमं द्विपलं विद्यात्कनीयस्तु पलं भवेत् ॥१७॥
वमने चाष्टवेगाः स्युः पित्तान्ता उत्तमास्तु ते। षड् वेगा मध्यमा वेगाश्चत्वारस्त्ववरे मताः ॥१८॥
कफं कटुकतीक्ष्णोष्णैः पित्तं स्वादुहिमैर्जयेत्। सुस्वादुलवणाम्लोष्णैः संसृष्टं वायुना कफम् ॥१९॥
कृष्णां राठफलं सिन्धुं कफे कोष्णजलैः पिबेत्। पटोलवासानिम्बांश्च पित्ते शीतजलैः पिबेत् ॥२०॥

कल्क, चूर्ण तथा अवलेह की मात्रा तीन पल (१२) भर) की उत्तम, दो पल (८) भर) की मध्यम, एवं एक पल (४) भर) की कनिष्ठ होती है। वमन में ८ वेग हो तथा अन्त में पित्त निकलने लगे तो उत्तम वमन का वेग, ६ वेग होने से मध्यम तथा ४ वेग होने से कनिष्ठ समझना चाहिये। वमन कराने वाले को कटु, तीक्ष्ण तथा उष्ण द्रव्यों से कफ का दोष शान्त करना चाहिये। स्वादिष्ट तथा शीतल द्रव्यों से पित्त का और अत्यन्त स्वादिष्ट, लवण तथा अम्लरसयुक्त उष्ण द्रव्यों द्वारा वायुयुक्त कफ का दोष दूर करना चाहिये। कफ में पीपल, मयनफल, सेंधा चूर्ण को कुछ गर्म जल के साथ और पित्त में परवल, अडूसा तथा नीम के चूर्ण को शीतल जल के साथ पीवे अर्थात् इनके द्वारा वमन करावे ॥ १७-२० ॥

***राठफलम्=मदनफलम् ॥ १७-२० ॥**

यहां 'राठफल' पद का 'मयन फल' अर्थ समझना चाहिये ॥ १७-२० ॥

सश्लेष्मवातपीडायां सक्षीरं मदनं पिबेत्। अजीर्णे कोष्णपानीयं सिन्धुं पीत्वा वमेत्सुधीः ॥

कफ युक्त वात सम्बन्धी पीडा में मयनफल के चूर्ण के साथ दूध पिलाकर तथा अजीर्ण होने पर किंचित् गर्म जल में सेंधा नमक छोडकर उसे पिलाकर वमन करावे ॥ २१ ॥

***मदनं=मयनफलम् ॥ २१ ॥**

यहां 'मदन' पद का 'मैनफल' अर्थ समझना चाहिये ॥ २१ ॥

वमनं पाययित्वा तु जानुमात्रासने स्थितम्। कण्ठमेरण्डनालेन स्पृशन्तं वामयेद्भिषक् ॥२२॥
प्रसेको हृद्ग्रहः कोठः कण्डूर्दुश्छर्दिते भवेत्। अतिवान्ते भवेत्तृष्णा हिक्कोद्गारौ विसंज्ञिता ॥२३॥
जिह्वानिःसरणं चाक्ष्णोर्व्यावृत्तिर्हनुसंहतिः। रक्तच्छर्दिः ष्ठीवनञ्च कण्ठपीडा च जायते ॥२४॥

वैद्य को चाहिये कि वह रोगी को प्रथम वमन कराने वाली ओषधि को पिलाकर उकरू बिठलावे। उसके बाद उसके गले के अन्दर उसीके हाथ से एरण्ड के नाल को धीरे-धीरे टालकर वमन करावे। ठीक से वमन न होने पर मुख से पानी गिरना, हृद्ग्रह (हृदय का जकडना या हृदय में पीड़ा होना), शरीर में चकत्ते पड़ना और खुजली ये सब लक्षण प्रकट होने हैं। अधिक वमन होने पर—प्यास लगना, हिचकी तथा डकार का आना, बेहोशी, जीभ का बाहर निकलना, आखों की पुतलियों क ऊपर की ओर चढ जाना, दोनों जबडों का न मिलना (मुख का न बन्द

होना), वमन के साथ रक्त का निकलना या थूक के साथ रक्त दिखाई पड़ना और गले में पीडा होना ये सब लक्षण दिखाई पड़ते हैं ॥ २२-२४ ॥

*हनुसंहतिः=हन्वोरमिलनम् ॥ २२-२४ ॥

यहां 'हनुसंहतिः' पद का 'दोनों जवड़ों का न मिलना (मुख का न वन्द होना)' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २२-२४ ॥

वमनस्यातियोगे तु मृदु कुर्याद्विरेचनम् । वमनेन प्रविष्टायां जिह्वायां कवलग्रहाः ।
स्निग्धाम्ललवणैर्युक्तैर्घृतक्षीररसैर्हिताः ॥ २५ ॥

वमन अधिक हो जाने पर मृदु विरेचन (दस्त) कराना चाहिये । यदि अधिक वमन होने से जीभ अन्दर वैठ गई हो अर्थात् उससे लार न गिरता हो तो स्निग्ध, अम्ल तथा लवण रसयुक्त घी, दूध तथा मांसरस (सुरुवा) का कुल्ला कराना हितकर होता है ॥ २५ ॥

*रसैः=मांसरसैः ॥ २५ ॥

यहां 'रस' पद का 'मांसरस (सुरुवा)' अर्थ समझना चाहिये ॥ २५ ॥

फलान्यम्लानि खादेयुस्तस्य चान्येऽग्रतो नराः । निःसृतान्तु तिलद्राक्षाकल्कलिप्तां प्रवेशयेत् ॥

उसके देखते हुए उसीके सामने किसी दूसरे मनुष्य को अम्ल रसयुक्त नीबू आदि फल खिलाना चाहिये । यदि जीभ वाहर निकल आई हो तो निकली हुई जीभ के ऊपर तिल और मुनक्का की चटनी का लेप करके उसे अन्दर पैठा देना चाहिये ॥ २६ ॥

*निःसृतां जिह्वाम् ॥ २६ ॥

यहां 'निःसृताम्' पद 'जिह्वा' का विशेषण है अतः उसका 'निकली हुई जीभ के ऊपर' अर्थ समझना चाहिये ॥ २६ ॥

व्यावृत्तेऽक्षिणि घृताभ्यक्तेपीडनञ्च शनैः शनैः । हनुमोक्षे स्मृतः स्वेदो नस्यञ्च श्लेष्मवातहृत् ॥२७॥
रक्तपित्तविधानेन रक्तष्ठीवमुपाचरेत् । धात्रीरसाञ्जनोशीरलाजाचन्दनवारिभिः ॥२८॥
मन्थं कृत्वा पाययेच्च सघृतं क्षौद्रशर्करम् । शाम्यन्त्यनेन तृष्णाऽऽद्या रोगाश्छर्दिसमुद्भवाः ॥२९॥
हृत्कण्ठशिरसां शुद्धिर्दीप्ताग्नित्वञ्च लाघवम् । कफपित्तविनाशश्च सम्यग्वान्तस्य लक्षणम् ॥३०॥
ततोऽपराह्णे दीप्ताग्निं मुद्गषष्टिकशालिभिः । हृद्यैश्च जाङ्गलरसैः कृत्वा यूषञ्च भोजयेत् ॥३१॥
तन्द्रा निद्राऽऽस्यदौर्गन्ध्यं कण्डूश्च ग्रहणी विषम् । सुवान्तस्य न पीडायै भवन्त्येते कदाचन ॥
अजीर्णं शीतपानीयं व्यायामं मैथुनं तथा । स्नेहाभ्यङ्गञ्च रोषञ्च दिनमेकं सुधीस्त्यजेत् ॥३३॥

यदि आंख की पुतलिया ऊपर की ओर चढ़ गई हों तो आंखों में घी लगाकर धीरे-धीरे भीतर को दवाना चाहिये । यदि दोनों जवडे एक में न मिलते हों अर्थात् मुख फैल गया हो तो स्वेदन कराना चाहिये तथा कफ और वात नाशक ओषधियों का नास देना चाहिये अर्थात् नाक में डालना चाहिये । यदि थूक के साथ रक्त दिखाई पडता हो तो रक्तपित्त वाले रोगी की जैसी चिकित्सा की जाती है वैसी करनी चाहिये । आमला, रसवत, खस और धान का लावा इन सवों को सफेद चन्दन मिश्रित जल के साथ खूव मथ कर उस में घी, शक्कर तथा शहद डाल कर पिलाया जाय तो इससे अति वमन होने से उत्पन्न हुये पूर्वोक्त प्यास आदि रोग (उपद्रव) शान्त हो जाते हैं । उत्तम रीति से वमन होने पर—हृदय, गला तथा सिर की शुद्धि (हल्का तथा साफ होना), अग्नि का प्रदीप्त होना, शरीर हल्का मालूम पडना और कफ तथा पित्त का दोष नष्ट हो जाना ये सव लक्षण उत्पन्न होते हैं । उसके वाद (उत्तमरीति से वमन हो जाने के वाद) अपराह्न (२ वजे के वाद) में प्रदीप्त अग्नि वाले पुरुष को मूंग की दाल, साठी या अगहनी धानका चावल तथा हृदय के लिये हितकर (रुचिकारी) जङ्गली जीवों के मांस का रस (सुरुवा) इन सवों का जूस वनाकर भोजन के लिये देना चाहिये । जिसे भली भाति वमन हुआ है उसके लिये तन्द्रा, मुख से दुर्गन्ध निकलना, खुजली, संग्रहणी और विष ये सव कभी पीडा देने वाले नहीं होते । बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह वमन करने पर एक दिन तक अजीर्ण भोजन, शीतल जल, व्यायाम (कसरत आदि), मैथुन (स्त्रीसङ्ग), तेल की मालिश और क्रोध इन सवों को छोट दे ॥ २७-३३ ॥

इति वमनाधिकारः।

अथ विरेचनम्

तत्रादौ विरेचनार्हसमयजनानाह—

**स्निग्धस्विन्नाय वान्ताय दद्यात्सम्यग्विरेचनम्। अवान्तस्य त्वधःस्रस्तो ग्रहणीं छादयेत्कफः॥
मन्दाग्निं गौरवं कुर्याज्जनयेद्वा प्रवाहिकाम्। अथ वा पाचनैरामं बलासं परिपाचयेत्॥ ३५॥
ऋतौ वसन्ते शरदि देहशुद्धौ विरेचयेत्। अन्यदाऽऽत्ययिके कार्ये शोधनं शीलयेद्बुधः॥३६॥**

विरेचन के योग्य समय तथा व्यक्ति का निर्देश—प्रथम मनुष्य को स्नेहपान तथा स्वेदन करा कर वमन करा चुकने पर उत्तम रीति से विरेचन दे क्योंकि विना वमन कराये ही विरेचन देने पर उस मनुष्य का कफ नीचे खिसक कर ग्रहणी को ढक लेता है और उससे मन्दाग्नि तथा शरीर में गुरुता उत्पन्न हो जाती है अथवा प्रवाहिका रोग हो जाता है। यदि वमन न कराया हो तो प्रथम अपरिपक्व कफ का पाचन ओषधियों के द्वारा करावे। वसन्त तथा शरद् ऋतु में ही देहस्थित दोषों की शुद्धि के लिये विरेचन लेना उचित है। यदि प्राण सङ्कट में हो अर्थात् शोधन करना उस समय अत्यावश्यक हो तो बुद्धिमान् मनुष्य वसन्तादि से अन्य ऋतुओं में भी विरेचनादि द्वारा देहशोधन कर ले॥ ३४-३६॥

***आत्ययिके = प्राणसंकटे॥ ३४-३६॥**

यहा 'आत्ययिके' पद का 'प्राण सङ्कट में' यह अर्थ समझना चाहिये॥ ३४-३६॥

**पित्ते विरेचनं युञ्ज्यादामोद्भूते गदे तथा। उदरे च तथाऽऽध्माने कोष्ठशुद्धौ विशेषतः॥३७॥
दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः। शोधनैः शोधिता ये तु न तेषां पुनरुद्भवः॥३८॥
बालो वृद्धो भृशं स्निग्धः क्षतक्षीणो भयान्वितः। श्रान्तस्तृषाऽऽर्तः स्थूलश्च गर्भिणी च नवज्वरी॥
नवप्रसूता नारी च मन्दाग्निश्च मदात्ययी। शल्यार्दितश्च रूक्षश्च न विरेच्या विजानता॥४०॥
जीर्णज्वरी गरव्याप्तो वातरोगी भगन्दरी। अर्शःपाण्डूदरग्रन्थिहृद्रोगारुचिपीडिताः॥ ४१॥
योनिरोगप्रमेहार्त्ता गुल्मप्लीहव्रणार्दिताः। विद्रधिच्छर्दिविस्फोटविसूचीकुष्ठसंयुताः॥ ४२॥
कर्णनासाशिरोवक्त्रगुदमेढ्रामयान्विताः। प्लीहशोथाक्षिरोगार्त्ताः कृमिक्षारानिलार्दिताः॥४३॥
शूलिनो मूत्रघातार्त्ता विरेकार्हा नरा मताः॥ ४४॥**

पित्त की अधिकता, आमसम्बन्धी रोग, उदररोग तथा आध्मान (अफारा) होने पर एवं विशेषतः कोष्ठ की शुद्धि के लिये विरेचन अवश्य लेना चाहिये। केवल लङ्घन तथा पाचनद्वारा ही शान्त किये गये वातादि दोष सम्भव है कि किसी समय पुनः कुपित हो जायं, किन्तु जो शोधन (विरेचनादि) द्वारा शुद्ध किये गये हैं उनकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् पुनः वे प्रकुपित नहीं होते हैं। बालक, वृद्ध, स्नेहपानद्वारा अत्यन्त स्निग्ध हुये, क्षत (घाव) से क्षीण, भय से युक्त, परिश्रम करने से थके हुये, प्यास से दुःखी, स्थूल शरीर वाले, गर्भिणी स्त्री, नवीन ज्वर वाले रोगी, तत्काल प्रसव जिसे हुआ हो ऐसी स्त्री, मन्दाग्निवाले, मदात्यय रोग युक्त, शल्य (बाण आदि) लगने से पीडित तथा रूक्ष शरीर वाले जो हों उन्हें बुद्धिमान् वैद्य कभी विरेचन न देवे। पुराने ज्वर वाले, विष से व्याप्त शरीर वाले, वातरोगी, भगन्दर, अर्श, पाण्डु, उदररोग, ग्रन्थि (गिल्टी), हृद्रोग तथा अरुचि से पीड़ित, योनिसम्बन्धी रोग से पीड़ित स्त्री, प्रमेह, गुल्म, प्लीहा तथा व्रण से पीड़ित, विद्रधि, वमन, विस्फोट, हैजा तथा कुष्ठ से युक्त, कान, नाक, सिर, मुख, गुदा तथा शिश्न (मूत्रेन्द्रिय) सम्बन्धी रोग वाले, प्लीहाजन्य शोथ तथा नेत्रसम्बन्धी रोग से युक्त, कृमि, क्षार तथा वायु से पीडित, शूल रोग वाले तथा मूत्राघात से दुःखी जो हों वे विरेचन देने के योग्य माने गये हैं॥ ३७-४४॥

अथ मृदुमध्यमक्रूरकोष्ठाँस्तद्योग्यमात्राद्रव्यादीनि चाह—

**बहुपित्तो मृदुः कोष्ठो बहुश्लेष्मा च मध्यमः। बहुवातः क्रूरकोष्ठो दुर्विरेच्यः स कथ्यते॥४५॥
मृद्वी मात्रा मृदौ कोष्ठे मध्यकोष्ठे च मध्यमा। क्रूरे तीक्ष्णा मता द्रव्यैर्मृदुमध्यमतीक्ष्णकैः॥४६॥
मृदुर्द्राक्षापयश्चञ्चुतैलैरपि विरिच्यते। मध्यमस्त्रिवृतातिक्ताराजवृक्षैर्विरिच्यते।
क्रूरः स्नुक्पयसा हेमक्षीरीदन्तीफलादिभिः॥ ४७॥**

मृदु, मध्यम तथा क्रूर कोष्ठ वाले मनुष्यों तथा उनके योग्य मात्रा एवं द्रव्यों का वर्णन—अधिक पित्त वालों का कोष्ठ मृदु, अधिक कफ वालों का मध्यम तथा अधिक वात वालों का क्रूर

होता है और इनका विरेचन बड़ी कठिनता से होता है। अतएव यह दुर्विरेच्य कहलाते हैं। मृदु कोष्ठ होने पर रोगी के लिये विरेचन द्रव्यों की मात्रा मृदु, मध्यम कोष्ठ होने पर मध्यम तथा क्रूर कोष्ठ होने पर तीक्ष्ण मात्रा देनी उचित है। मृदु, मध्य तथा क्रूर कोष्ठ वाले रोगियों को क्रम से मृदु, मध्यम तथा तीक्ष्ण वीर्य वाले द्रव्यों से विरेचन कराना उचित है। मृदु कोष्ठ वालों को दाख, दूध तथा एरण्ड के तेल के द्वारा, मध्यम कोष्ठ वालों को निशोथ, कुटकी तथा धनवहेरा (अमलतास) के द्वारा और क्रूर कोष्ठ वालों को थूहर का दूध, चोक तथा बड़ी दन्ती के फल (जमालगोटा) के द्वारा विरेचन कराना उचित होता है॥ ४५-४७॥

*चन्चुतैलम् = एरण्डतैलम्। राजवृक्षः=धनवहेरा। हेमक्षीरी (चोक)। दन्तीफलं= बृहद्दन्तीफलम्, जयपालेति प्रसिद्धम्॥ ४५-४७॥

यहाँ 'चन्चुतैल' से 'एरण्ड का तैल', 'राजवृक्ष' से 'धनवहेरा' (अमलतास)', 'हेमक्षीरी' से 'चोक' तथा 'दन्तीफल' से 'बड़ी दन्ती का फल लोकप्रसिद्ध जमालगोटा' का बोध करना चाहिये॥ ४५-४७॥

मात्रोत्तमा विरेकस्य त्रिंशद्वेगैः कफान्तिका। वेगैर्विंशतिभिर्मध्या हीनोक्ता दशवेगिका॥४८॥
द्विपलं श्रेष्ठमाख्यातं मध्यमं च पलं भवेत्। पलार्द्धं च कषायाणां कनीयस्तु विरेचनम्॥४९॥
कल्कमोदकचूर्णानां कर्षो मध्वाज्यलेहतः। कर्षद्वयं पलं वाऽपि वयोरोगाद्यपेक्षया॥ ५०॥
पित्तोत्तरे त्रिवृच्चूर्णं द्राक्षाक्वाथादिभिः पिबेत्। त्रिफलाक्वाथगोमूत्रैः पिबेद् व्योषं कफार्दितः॥
त्रिवृत्सैन्धवशुण्ठीनां चूर्णमम्लैः पिबेन्नरः। वातार्दितो विरेकाय जाङ्गलानां रसेन वा॥ ५२॥

विरेचन की जब उत्तम मात्रा होती है तब विरेचन का वेग ३० बार होता है तथा अन्त में कफ निकलने लगता है। मध्यम मात्रा में विरेचन का वेग २० बार और हीन मात्रा में विरेचन का वेग १० बार होता है। जब क्वाथ द्वारा विरेचन कराया जाता है तब उसकी २ पल (८ भर) की मात्रा श्रेष्ठ, १ पल (४ भर) की मात्रा मध्यम तथा आधे पल (२ भर) की मात्रा कनिष्ठ कहलाती है। रोगी की अवस्था तथा रोग के अनुसार विचार कर मधु तथा गौ के घी के साथ मिला कर कल्क, मोदक या चूर्ण के द्वारा विरेचन कराने में इनकी मात्रा १ कर्ष (१ भर), २ कर्ष (२ भर) या १ पल (४ भर) की देनी चाहिये। जब पित्त की अधिकता हो तब दाख के क्वाथ आदि के साथ निसोथ का चूर्ण विरेचन के लिये खिलाना चाहिये। जब कफ की अधिकता हो तब विरेचन के लिये रोगी को त्रिफला का क्वाथ तथा गोमूत्र के साथ त्रिकटु (सोंठ, पीपर, मिर्च) का चूर्ण खिलाना चाहिये। वात से पीडित रोगी को अम्ल पदार्थों के रस के साथ अथवा जांगल जीवों के मांसरस के साथ निसोथ, सेंधा नमक तथा सोंठ का चूर्ण खिला कर विरेचन कराना चाहिये॥ ४८-५२॥

एरण्डतैलं त्रिफलाक्वाथेन द्विगुणेन वा। युक्तं पीतं पयोभिर्वा न चिरेण विरिच्यते॥ ५३॥

यदि एरण्ड का तेल दुगुने त्रिफला (आवला, हर्रा, वहेरा) के क्वाथ के साथ अथवा दूध के साथ मिला कर पिलाया जाय तो विरेचन देर में नहीं होता है॥ ५३॥

*शीघ्रमेव विरिच्यत इत्यर्थः॥ ५३॥

यहाँ 'विरेचन देर में नहीं होता' इसका अर्थ यह समझना चाहिये कि 'शीघ्र ही विरेचन होता है'॥ ५३॥

अथर्तुभेदेन विरेकद्रव्यभेदानाह—

त्रिवृता कौटजं बीजं पिप्पली विश्वभेषजम्। समृद्वीकारसं क्षौद्रं वर्षाकाले विरेचनम्॥ ५४॥
त्रिवृद्दुरालभामुस्तशर्करोदीच्यचन्दनम्। द्राक्षाऽम्बुना सयष्ट्याह्वं शीतलञ्च घनात्यये॥५५॥

ऋतु भेद से विरेचन द्रव्यों में भेद—वर्षाऋतु में दाख का रस तथा शहद के साथ निसोथ, इन्द्रजौ, पीपर तथा सोंठ का चूर्ण खिला कर विरेचन कराना चाहिये। शरद ऋतु में दाख के क्वाथ को शीतल करके उसके साथ निसोथ, धमासा, नागरमोथा, साफ शक्कर, सुगन्धवाला तथा मुलेठी का चूर्ण खिला कर विरेचन कराना चाहिये॥ ५४-५५॥

*उदीच्यं=वाला। घनात्यये=शरदि॥ ५४-५५॥

यहां 'उदीच्यम्' पद का 'सुगन्धवाला' तथा 'धनात्यये' पद का 'शरद् ऋतु में' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५४-५५ ॥

त्रिवृता चित्रकं पाठामजाजीं सरलं वचाम्। हेमक्षीरीं हेमन्ते तु चूर्णमुष्णाम्बुना पिबेत् ॥५६॥
पिप्पलीं नागरं सिन्धुं श्यामां त्रिवृतया सह। लिह्यात्क्षौद्रेण शिशिरे वसन्ते च विरेचनम् ॥५७॥
त्रिवृता शर्करा तुल्या ग्रीष्मकाले विरेचनम् ॥ ५८ ॥

हेमन्त ऋतु में गर्म जल के साथ निसोथ, चीता, पाढ़, जीरा, धूप, वालवच तथा चोक का चूर्ण खिला कर, शिशिर तथा बसन्त ऋतु में शहद के साथ पीपर, सोंठ, सेंधानमक, सारिवा और निसोथ का चूर्ण चटा कर और ग्रीष्म ऋतु में केवल निसोथ के चूर्ण में सम भाग साफ शक्कर खिलाकर विरेचन कराना चाहिये ॥ ५६-५८ ॥

***श्यामा (सारिवा) ॥ ५६-५८ ॥**

यहाँ 'श्यामा' पद का 'सारिवा' अर्थ समझना चाहिये ॥ ५६-५८ ॥

अथाभयादिमोदकः—

अभया मरिचं शुण्ठीविडङ्गामलकानि च। पिप्पली पिप्पलीमूलं त्वक्पत्रं मुस्तमेव च ॥५९॥
एतानि समभागानि दन्ती तु त्रिगुणा भवेत्। त्रिवृताऽष्टगुणा ज्ञेया षड्गुणा चात्र शर्करा ॥६०॥
मधुना मोदकान्कृत्वा कर्षमात्रान्प्रमाणतः। एकैकं भक्षयेत् प्रातः शीतञ्चानु पिबेज्जलम् ॥६१॥
तावद्विरिच्यते जन्तुर्यावदुष्णं न सेवते। पानाहारविहारेषु भवेन्नियन्त्रणः सदा ॥ ६२ ॥
विषमज्वरमन्दाग्निपाण्डुकासभगन्दरान्। दुर्नामकुष्ठगुल्मार्शोगलगण्डोदरभ्रमान् ॥ ६३ ॥
विदाहप्लीहमेहांश्च यक्ष्माणं नयनामयान्। वातरोगांस्तथाऽऽध्मानं मूत्रकृच्छ्रादि चाश्मरीम् ॥
पृष्ठपार्श्वोरुजघनजङ्घोदररुजं जयेत्। स्नेहाभ्यङ्गञ्च रोषञ्च दिनमेकं सुधीस्त्यजेत् ॥ ६५ ॥
सततं शीलनादेव पलितानि प्रणाशयेत्। अभयामोदका ह्येते रसायनवराः स्मृताः ॥ ६६ ॥

अभयादिमोदक—बड़ी हर्रे, मरिच, सोंठ, वायविडङ्ग, आमला, पीपर, पिपरामूल, तज, तेजपात और नागरमोथा इन सबों का चूर्ण सम भाग एकत्र कर उसमें ३ गुना दन्ती के जड़ का चूर्ण, ८ गुना निसोथ का चूर्ण और ६ गुना साफ शक्कर मिला कर शहद के साथ १ कर्ष (१ भर) के बराबर-बराबर लड्डू बनाकर रख ले, उसमें से एक-एक लड्डू प्रतिदिन प्रातःकाल खाकर ऊपर से शीतल जल पी ले, इससे तब तक विरेचन होता रहेगा जब तक गर्म जल या गर्म अन्न न खावे। इसके सेवन करने के समय सदा खाने, पीने तथा चलने—फिरने आदि में किसी तरह का नियम नहीं करना पडता है। सेवन करने से यह विषमज्वर, मन्दाग्नि, पाण्डु, कास, भगन्दर, बवासीर, कुष्ठ, गुल्म, गलगण्ड, उदररोग, भ्रमरोग, विदाह, प्लीहा, मेहरोग, यक्ष्मा, नेत्र तथा वातसम्बन्धी रोग, अफरा, मूत्रकृच्छ्रादि मूत्रसम्बन्धी रोग, पथरी एवं पीठ, पसुली, ऊरु, जङ्घा तथा उदर की पीड़ा को दूर करता है। बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि वह जिस दिन इसका सेवन करे उस दिन तेल की मालिश और क्रोध करना छोड दे। इसका निरन्तर सेवन करने से पलित (अकाल में बाल पक जाना) रोग नष्ट हो जाता है। अतएव यह अभया-मोदक रसायनों में उत्तम रसायन माना गया है ॥ ५९-६६ ॥

अथ विरेकोत्तरकर्माण्याह—

पीत्वा विरेचनं शीतजलैः संसिच्य चक्षुषी। सुगन्धि किञ्चिदाघ्राय ताम्बूलं शीलयेद् बुधः ॥६७॥
निर्वातस्थो न वेगांश्च धारयेन्न शयीत च। शीताम्बु न स्पृशेत्क्वापि कोष्णनीरं पिबेन्मुहुः ॥६८॥
बलासौषधपित्तानि वायुर्वान्ते यथा व्रजेत्। रेकात्तथा मलं पित्तं भेषजञ्च कफो व्रजेत् ॥६९॥

विरेचन लेने के बाद कर्त्तव्य कर्म—विरेचन औषधि पीने के बाद दोनों आंखों में शीतल जल का छींटा देकर और कोई सुगन्धित पदार्थ इत्र आदि थोडा सूंघ कर पान खाना चाहिये और वायुरहित स्थान में बैठना चाहिये। शौच का वेग रोकना, सोना तथा शीतल जल का स्पर्श कभी भी नहीं करना चाहिये बल्कि किञ्चित् गर्म जल बारम्बार पीना चाहिये। वमन करने पर जिस तरह से कफ, औषध, पित्त तथा वायु मुख की राह से निकलता है, उसी तरह से विरेचन लेने पर गुदा की राह से मल, पित्त, औषध तथा कफ निकलता है ॥ ६७-६९ ॥

अथ दुर्विरिक्तातिविरिक्तयोर्लक्षणानि भेषजं चाह—

दुर्विरिक्तस्य नाभेस्तु स्तब्धता कुक्षिशूलरुक्। पुरीषवातसङ्गश्च कण्डूमण्डलगौरवम् ॥ ७० ॥
विदाहोऽरुचिराध्मानं भ्रमश्छर्दिश्च जायते। तं पुनः पाचनैः स्नेहैः पक्त्वा स्निग्धं तु रेचयेत् ॥
तेनास्योपद्रवा यान्ति दीप्ताग्निर्लघुता भवेत् ॥ ७१ ॥
विरेकस्यातियोगेन मूर्च्छा भ्रंशो गुदस्य च। शूलं कफातियोगः स्यान्मांसधावनसन्निभम् ॥
मेदोनिभं जलाभासं रक्तञ्चापि विरिच्यते। तस्य शीताम्बुभिः सिक्त्वा शरीरं तण्डुलाम्बुभिः ॥
मधुमिश्रैस्तथा शीतैः कारयेद्वमनं मृदु। सहकारत्वचः कल्को दध्ना सौवीरकेण वा ॥७४॥
पिष्ट्वा नाभिप्रलेपेन हन्त्यतीसारमुल्वणम्। सौवीरं तु यवैरामैः पक्वैर्वा निस्तुषीकृतैः ॥७५॥

जिसे भली भाति विरेचन नहीं हुआ या अधिक विरेचन हुआ है उसके क्रम से लक्षण तथा औषध—जिसे भली भाति विरेचन नहीं हुआ है उसकी नाभि का स्तब्ध होना, कोख में शूल तथा पीडा होना, मल तथा अधोवायु का रुक जाना, देह में खुजली होना तथा चकत्ते पड जाना, गुरुता (शरीर भारी मालूम पडना), दाह, अरुचि, अफारा, भ्रम तथा वमन का होना ये सब लक्षण होते हैं। **उपचार—**ऐसे लक्षण वाले को पाचन औषधिद्वारा प्रथम आम का पाचन करके पश्चात् स्नेहपान द्वारा स्निग्ध करके पुनः विरेचन औषध देकर रेचन करावे, ऐसा करने से पूर्वोक्त सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं एव अग्नि प्रदीप्त होती है तथा शरीर में लघुता उत्पन्न होती है।

जिसे आवश्यकता से अधिक विरेचन हुआ है उसके मूर्च्छा, गुदभ्रंश (काच का निकल आना), शूल, कफ का अधिक निकलना और मास के धोवन के समान या मेद के समान अथवा जल के समान गुदा से रक्त का निकलना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं। **उपचार—**उक्त लक्षणयुक्त मनुष्य को उस समय उसके शरीर को शीतल जल से सींचकर शीतल चावल के धोवन में शहद मिलाकर पिलाने के द्वारा मृदु (थोड़ा) वमन करावे और आम के पेड की छाल को दही अथवा सौवीर के साथ चटनी के समान पीस कर नाभि पर लेप करावे, इस से उग्र अतीसार भी नष्ट हो जाता है और कच्चे तथा पक्के भूसी रहित जौ के द्वारा सौवीर बनता है ॥ ७०-७५ ॥

***सौवीरं = सन्धानम् ॥ ७२ ॥**

यहां 'सौवीर बनता है' इसका अर्थ 'सन्धान करने से सौवीर बनता है' यह समझना चाहिये ॥ ७०-७५ ॥

अजाक्षीरं रसञ्चापि वैष्किरं हारिणं तथा। शालिभिः षष्टिकैस्तुल्यैर्मसूरैर्वापि भोजयेत् ॥७६॥

शालि (जडहन) या साठी धान के चावल के साथ उसके बराबर बकरी का दूध, विष्किर पक्षियों के या हरिण के मास का रस अथवा मसूर के जूस के साथ भोजन के लिये देना चाहिये ॥ ७६ ॥

***वर्त्तकालावविकिरकपिञ्जलकतित्तिराः। चकोरक्रकराद्याश्च विष्किराः समुदाहृताः।**
कपिञ्जल इति ख्यातो लोके कपिशतित्तिरः ॥
क्रकरः 'कराट' इति लोके। हरिणस्ताम्रवर्णः स्याद् मृगः ॥ ७६ ॥

यहा 'विष्किर पक्षियों' से बटेर, लवा, तीतर, कपिञ्जल, (कवरा (काला मिश्रित पीले वर्ण का) तीतर, चकोर क्रकर (लोक प्रसिद्ध कराट) इन सबों का बोध करना चाहिये और 'हरिण' से 'तामे के समान वर्ण वाले मृग' को समझना चाहिये ॥ ७६ ॥

शीतैः संग्राहिभिर्द्रव्यैः कुर्यात्संग्रहणं भिषक्। लाघवे मनसस्तुष्टावनुलोमं गतेऽनिले ॥७७॥
सुविरिक्तं नरं ज्ञात्वा पाचनं पाययेन्निशि। इन्द्रियाणां बलं बुद्धेः प्रसादो वह्निदीप्तता ॥७८॥
धातुस्थैर्यं वयःस्थैर्यं भवेद्रेचनसेवनात्। प्रवातसेवां शीताम्बुस्नेहाभ्यङ्गमजीर्णताम् ॥७९॥
व्यायामं मैथुनञ्चैव न सेवेत विरेचितः। शालिषष्टिकमुद्गाद्यैर्यवागूं भोजयेत्कृताम् ॥८०॥

वैद्य को चाहिये कि वह अधिक दस्त आने पर रोकने वाली शीतल ओपधियों से दस्त बन्द करे और जब रोगी के शरीर में लघुता मालूम पडने लगे तथा मन में प्रसन्नता एवं वायु का अनुलोमन अर्थात् अधोवायु यथावत् रीति से होने लगे तब उसका विरेचन बहुत अच्छी रीति से हुआ है यह समझ कर उसे रात्रि में पाचन ओपधि देवे। उचित विरेचन लेने से मनुष्य की

इन्द्रियों में बल आता है, बुद्धि स्वच्छ होती है, अग्नि प्रदीप्त होती है, धातुओं की तथा आयु की स्थिरता होती है।

विरेचन लेने वाला मनुष्य—अधिक वायु में रहना, शीतल जल, तेल की मालिश, अजीर्ण पैदा करने वाला भोजन, व्यायाम (कसरत आदि), मैथुन (स्त्री-सहवास) और शालि (जडहन) या साठी धान का चावल, मूंग आदि की दाल से बनाई गई यवागू का सेवन करे॥ ७७-८०॥

जङ्गालविष्किराणां वा रसैः शाल्योदनं हितम्॥ ८१॥

अथवा जंघालसंज्ञक जीवों का तथा विष्किरसंज्ञक पक्षियों के मांसरस (सुरुवा) के साथ शालि (जड़हन) धान का चावल खाय क्योंकि यह हितकारी होता है॥ ८१॥

ॐहरिणैणकुरङ्गर्ष्यवातायुमृगमात्रकाः। राजीवः पृषतश्चैव जङ्गालाः शरभादयः॥८१॥

यहां 'जङ्गाल' पद से 'हरिण, काला हरिण, कुरङ्ग हरिण, रोज हरिण, वातायु, राजीव तथा चित्तल हरिण आदि मृग जाति के जीव मात्र तथा शरभ आदि पशुओं' का बोध करना चाहिये॥

इति विरेकाधिकारः।

अथानुवासनम्।

तत्रादावनुवासननिरूहयोर्भेदमाह—

वस्तिर्द्विधाऽनुवासाख्यो निरूहश्च ततः परम्। यः स्नेहो दीयते स स्यादनुवासननामकः॥ कषायक्षीरतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते। वस्तिभिर्दीयते यस्मात्तस्माद्वस्तिरिति स्मृतः॥८३॥

अनुवासन तथा निरूह के भेद—वस्ति दो प्रकार की होती है १ अनुवासन और २ निरूह। **अनुवासन**—जहां केवल स्नेह पदार्थ की वस्ति दी जाती है उसे 'अनुवासन' कहते हैं। **निरूह**—जहां क्वाथ, दूध तथा तेल मिलाकर वस्ति दी जाती है उसे 'निरूह' कहते हैं। अनुवासन तथा निरूह में तेलादि का प्रयोग 'वस्ति' के द्वारा किया जाता है अतएव ये दोनों वस्ति कहलाते हैं॥ ८२-८३॥

ॐवस्तिभिः=मृगादीनां मूत्राशयैः॥ ८२-८३॥

यहां 'वस्ति' पद से 'मृग आदि के मूत्राशय' का बोध करना चाहिये, क्योंकि—मूत्राशय का नामान्तर 'वस्ति' है॥ ८२-८३॥

अथ स्नेहवस्तिविधिमाह—

तत्रानुवासनाख्यो हि वस्तिर्यः सोऽत्र कथ्यते। अनुवासनभेदश्च मात्रावस्तिरुदीरितः॥८४॥ पलद्वयं तस्य मात्रा तस्मादर्द्धाऽपि वा भवेत्। अनुवास्यस्तु रूक्षः स्यात्तीक्ष्णाग्निः केवलानिली॥ नानुवास्यस्तु कुष्ठी स्यान्मेही स्थूलस्तथोदरी। नास्थाप्या नानुवास्याश्च जीर्णोन्मादतृडर्दिताः॥ शोथमूर्च्छाऽरुचिभयश्वासकासक्षयातुराः॥ ८६॥

स्नेहवस्ति (अनुवासन) की विधि—ऊपर कही हुई वस्तियों में जो अनुवासन नामक वस्ति है उसी के विषय में कहते हैं। अनुवासन वस्ति का ही भेद 'मात्रावस्ति' है। मात्रावस्ति में स्नेह की मात्रा दो पल (८ तोले) या इसकी आधी एक पल (४ तोले) की होती है। जो मनुष्य रूक्ष शरीर वाला तथा तीक्ष्ण अग्नि वाला हो एवं केवल वातरोगी हो वह अनुवासनवस्ति देने योग्य होता है। जो कुष्ठ तथा मेहरोग से पीडित हो या स्थूल शरीर वाला अथवा उदर रोग से युक्त हो वह अनुवासन वस्ति के योग्य नहीं होता। जो जीर्ण शरीर वाला तथा उन्माद, तृषा, शोथ, मूर्च्छा, अरुचि, भय, श्वास (दमा) या क्षय रोग से पीडित हों वे निरूहवस्ति तथा अनुवासन वस्ति दोनों ही के योग्य नहीं होते हैं॥ ८४-८६॥

नेत्रं कार्यं सुवर्णादिधातुभिर्वृक्षवेणुभिः। नलैर्दन्तैर्विषाणाग्रैर्मणिभिर्वा विधीयते॥ ८७॥

वस्ति देने की नली—सोने आदि धातुओं की या वृक्ष, बांस, नरसल, हाथी आदि जीवों का दांत, सींग का अग्रभाग तथा मणि इन सबों से किसी एक की बना लेनी चाहिये॥ ८७॥

ॐनेत्रं=नाडी। तथा चोक्तं विश्वप्रकाशे—

'नेत्रं मन्थगुणे वस्त्रे तरुमूले विलोचने। नेत्रवन्धे च नाड्याञ्च नेत्रो नेतरि भेद्यवदि'ति॥८७॥

यहां 'नेत्र' पद का 'नाड़ी अर्थात् नली' यह अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि 'विश्वप्रकाश कोश' में यह कहा हुआ है कि—नेत्र शब्द दूध या दही मथने की मथानी की डोरी, वस्त्र, वृक्ष का मूल भाग, आंख, नेत्र का वन्ध तथा नाड़ी (नली) इन अर्थों में नपुंसकलिङ्गी होता है। तथा नेता (ले जाने वाला) इस अर्थ में विशेष्य पद के अनुसार तीनों लिङ्गों में होता है॥ ८७॥

एकवर्षात् षड्वर्षाद्यावन्मानं षडङ्गुलम्। ततो द्वादशकं यावन्मानं स्यादष्टसम्मितम्॥८८॥
ततः परं द्वादशभिरङ्गुलैर्नेत्रदीर्घता। मुद्गच्छिद्रं कलायाभं छिद्रं कोलास्थिसन्निभम्॥ ८९॥
यथासंख्यं भवेन्नेत्रं श्लक्ष्णं गोपुच्छसन्निभम्। गोपुच्छसन्निभं मूले स्थूलं तस्मात् क्रमात् कृशम्॥

एक वर्ष से लेकर ६ वर्ष तक के बालक को यदि वस्ति देनी हो तो वस्ति की लम्बाई ६ अङ्गुल की होनी चाहिये। ६ वर्ष से लेकर १२ वर्ष तक के लिये ८ अंगुल तथा १२ वर्ष से ऊपर की अवस्था वाले मनुष्य के लिये १२ अंगुल की होनी चाहिये। पूर्वोक्त ६-८-१२ अंगुल की लम्बी तीनों नलियों का छिद्र क्रम से मूंग, मटर तथा वेर की गुठली जाने लायक होना चाहिये। और वे नलियां चिकनी तथा गौ के पूंछ की समान मूल भाग में अपेक्षाकृत मोटी होती हुई उत्तरोत्तर क्रम से पतली होनी चाहिये॥ ८८-९०॥

ॐमुद्गच्छिद्रादिप्रमाणं नेत्रं क्रमेण षड्वर्षाय द्वादशवर्षाय तदूर्ध्ववर्षाय ज्ञेयम्॥८८-९०॥

यहां 'मूंग आदि के जाने लायक जो नलियों के छिद्र का तीन प्रकार का प्रमाण कहा गया है उसे क्रम से ६ वर्ष तथा १२ वर्ष तक एवं उससे ऊपर के अवस्था वालों के लिये समझना चाहिये। अर्थात् ६ वर्ष तक वालों के लिये जो नली हो उसका छिद्र मूंग जाने लायक हो, १२ वर्ष तक वालों के लिये मटर जाने लायक और उससे ऊपर वालों के लिये वेर की गुठली जाने लायक नली का छिद्र हो' यह समझना चाहिये॥ ८८-९०॥

आतुराङ्गुष्ठमानेन मूले स्थूलं विधीयते। कनिष्ठिकापरीणाहमग्रे च गुटिकामुखम्॥ ९१॥
तन्मूले कर्णिके द्वे च कार्ये भागाच्चतुर्थकात्॥ ९२॥
योजयेत्तत्र वस्तिञ्च बन्धद्वयविधानतः। मृगाजशूकरगवां महिषस्यापि वा भवेत्॥ ९३॥

जिसे वस्ति देना हो उस रोगी के अगूठे की मोटाई बराबर वस्ति की नली के मूल भाग की मुटाई होनी चाहिये और मूल भाग से ऊपर की ओर की मुटाई रोगी के कनिष्ठिका अङ्गुली के बराबर होनी चाहिये तथा वस्तिमुख पर गोली की भांति गोल आकार बना होना चाहिये। वस्ति की नली के ऊपर की ओर तीन हिस्सा छोडकर बाकी नीचे चौथे भाग रूप मूल में दो कर्णिका बनानी चाहिये। उसके बाद उन्हीं दोनों कर्णिकाओं में वस्ति (मूत्राशय की कोथली) के दोनों सिराओं को दुहरा गाठ लगा कर मजबूती से बांध दे। वस्ति मृग, बकरा, शूअर वा बैल की होनी चाहिये॥ ९१-९३॥

ॐपरीणाहोऽत्र स्थौल्यम्॥ ९१॥

यहाँ 'परीणाह' पद का 'मुटाई' अर्थ समझना चाहिये॥ ९१॥

ॐकर्णिका = गवादिकर्णवत्॥ ९२॥

यहाँ 'कर्णिका बनानी चाहिये' इसका गाय आदि के कान के समान कर्णिका बनानी चाहिये-यह अर्थ समझना चाहिये॥ ९२॥

ॐवस्तिरिति शेषः॥ ९३॥

यहां 'वस्ति' पद मूलमें न होने से उसका योग्यता वश 'ऊपर से अध्याहार किया गया है'॥९३॥

मूत्रकोषस्य वस्तिस्तु तदलाभे तु चर्मणः। कषायरक्तः स मृदुर्वस्तिः स्निग्धो दृढो हितः॥९४॥
व्रणवस्तेस्तु नेत्रं स्याच्छ्लक्ष्णमष्टाङ्गुलोन्मितम्। मुद्गच्छिद्रं गृध्रपक्षनलिकापरिणाहि च॥९५॥
शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः। कुरुते परिवृद्धिञ्च वस्तिः सम्यगुपासितः॥ ९६॥
दिवा शीते वसन्ते च स्नेहवस्तिः प्रदीयते। ग्रीष्मवर्षाशरत्काले रात्रौ स्यादनुवासनम्॥९७॥

वस्ति उक्त जीवों के मूत्राशय की होनी चाहिये यदि मूत्राशय की न हो तो चमडे की बना लेनी चाहिये। वस्ति कषाय (कसैले) रङ्ग से रङ्गी हुई, कोमल, चिक्कन तथा दृढ़ हो तो हितकर होती है। व्रण (घाव) में यदि वस्ति देनी हो तो उसकी नली चिकनी, आठ अङ्गुल लम्बी, मूंग जाने लायक छिद्रवाली तथा गिद्ध के पंख की नली के समान होनी चाहिये। यदि वस्ति भली भांति

दी जाय तो उससे शरीर, वर्ण (शरीर का रङ्ग), वल, आरोग्य तथा आयु की वृद्धि होती है। शीत तथा वसन्त ऋतु में दिन के समय स्नेह की वस्ति उत्तम होती है। ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद् ऋतु में रात्रि के समय वस्ति देनी चाहिए ॥ ९४-९७ ॥

न चातिस्निग्धमशनं भोजयित्वाऽनुवासयेत्। मदं मूर्च्छां च जनयेद् द्विधा स्नेहः प्रयोजितः॥९८॥

रोगी को अतिस्निग्ध (अत्यन्त स्नेहयुक्त) पदार्थ भोजन कराकर अनुवासन (स्नेह-वस्ति) नहीं देना चाहिये। क्योंकि भोजन तथा वस्ति दोनों ही में स्नेह का प्रयोग करने से रोगी को मद तथा मूर्च्छा उत्पन्न होती है ॥ ९८ ॥

***द्विधा = भोजने बस्तौ च ॥ ९८ ॥**

यहां 'द्विधा' पद का 'भोजन तथा वस्ति दोनों ही में' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ९८ ॥

रूक्षभुक्तवतोऽत्यन्तं बलं वर्णञ्च ह्रापयेत्। युक्तस्नेहमतो जन्तुं भोजयित्वाऽनुवासयेत् ॥९९॥

अत्यन्त रूखा अन्न जिसने भोजन किया है उसे यदि बस्ति दी जाय तो उससे भी वल तथा वर्ण की हानि होती है। अतः रोगी को यथोचित स्नेह (घी) युक्त भोज्य पदार्थ भोजन कराकर अनुवासन (स्नेहबस्ति) देना चाहिये ॥ ९९ ॥

***युक्तस्नेहं = यथोचितस्नेहं भोज्यं भोजयित्वेत्यर्थः ॥ ९९ ॥**

यहां 'युक्तस्नेह' पद का 'यथोचित स्नेह (घी) युक्त भोज्य पदार्थ' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ९९ ॥

हीनमात्रावुभौ बस्ती नातिकार्यकरौ स्मृतौ। अतिमात्रौ तथाऽऽनाहक्लमातीसारकारकौ ॥१००॥

अनुवासन तथा निरूह नामक ये दोनों वस्ति यदि हीन मात्रा में दी जायँ तो वे अत्यन्त उपकारक नहीं होती हैं और यदि अधिक मात्रा में दी जायँ तो अफारा, क्लान्ति तथा अतीसार उत्पन्न करने वाली होती हैं ॥ १०० ॥

***उभौ बस्ती = अनुवासननिरूहाख्यौ ॥ १०० ॥**

यहां 'उभौ बस्ती' का 'अनुवासन तथा निरूह नामक ये दोनों वस्ति' यह अर्थ समझना चाहिये ॥१००॥

उत्तमा स्यात्पलैः षड्भिर्मध्यमा स्यात्पलैस्त्रिभिः। पलाध्यर्द्धेन हीना स्यादुक्ता मात्राऽनुवासने ॥
शताह्वासैन्धवाभ्याञ्च देयं स्नेहे च चूर्णकम्। तन्मात्रोत्तममध्यान्त्या षट्चतुर्द्वयमाषकैः ॥
विरेचनात्सप्तरात्रे गते जातबलाय च। भुक्तान्नायानुवास्याय बस्तिर्देयोऽनुवासनः ॥१०३॥

(स्नेहवस्ति) देने में ६ पल (२४ तो०) की मात्रा उत्तम, ३ पल (१२ तो०) की मध्यम और १॥ पल (६ तो०) की मात्रा हीन कही हुई है। वस्ति देने के लिये जो स्नेह हो उसमें सौंफ तथा सेन्धा नमक का चूर्ण डालना चाहिये और उस (चूर्ण) की मात्रा ६ माशे की उत्तम, ४ माशे की मध्यम तथा २ माशे की हीन समझी जाती है। जिसे अनुवासन (स्नेहवस्ति) देना हो उसे विरेचन लिये हुये जब सात रात्रि व्यतीत हो जाय तथा जब उसे वल आ जाय तब भोजन कराने के वाद अनुवासन बस्ति देनी चाहिये ॥ १०१-१०३ ॥

तथाऽनुवास्यं स्वभ्यक्तमुष्णाम्बुस्वेदितं शनैः।
भोजयित्वा यथाशास्त्रं कृतचङ्क्रमणं ततः। उत्सृष्टानिलविण्मूत्रं योजयेत्स्नेहबस्तिना ॥१०४॥

अनुवासन वस्ति देने योग्य रोगी को प्रथम भलीभाँति तेल की मालिश करके धीरे-धीरे गर्म जल से स्नान करा चुकने पर भोजन कराकर शास्त्रानुसार धीरे-धीरे टहला कर, मल, मूत्र तथा वायु का त्याग कराकर अन्त में स्नेहवस्ति देनी चाहिये ॥ १०४ ॥

***उष्णाम्बुस्वेदितम् = उष्णाम्बुना स्नपितम् ॥ १०४ ॥**

यहाँ 'उष्णाम्बुस्वेदितम्' पद का 'गर्म जल से स्नान करा चुकने पर' यह भावार्थ समझना चाहिये ॥ १०४ ॥

सुप्तस्य वामपार्श्वेन वामजङ्घाप्रसारिणः। कुञ्चितापरजङ्घस्य नेत्रं स्निग्धे गुदे न्यसेत् ॥ १०५ ॥
बद्धं वस्तिमुखं सूत्रैर्वामहस्तेन धारयेत्। पीडयेद्दक्षिणेनैव मध्यवेगेन धीरधीः ॥ १०६ ॥
जृम्भाकासक्षवाद्यांश्च बस्तिकाले न कारयेत्। त्रिंशन्मात्रामितः कालः प्रोक्तो वस्तेस्तु पीडने ॥
ततः प्रणिहिते स्नेह-उत्तानो वाक्शतं भवेत्। प्रसारितैः सर्वगात्रैर्यथावीर्यं प्रसर्पति ॥ १०८ ॥
स्वजानुनः करावर्त्तं कुर्याच्छोटिकया पुनः। एषा मात्रा भवेदेका सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥ १०९ ॥

निमेषोन्मेषणं पुंसामङ्गुल्या छोटिकाऽथ वा। गुर्वक्षरोच्चारणं वा स्यान्मात्रेयं स्मृता बुधैः॥

वायें करवट से सोये हुवे तथा वाईं जंघा पसारे हुये एवं दाहिनी जंघा सिकोटे हुये रोगी की एरण्डादि तैल से चिकनी की हुई गुदा के अन्दर वस्ति की नली को रख और उसके वाद डोरे से बंधे हुये वस्ति के मुखको वायें हाथ से पकड़ ले और दहिने हाथ से मध्यम वेग से दाव दे। वस्ति देने के समय रोगी को जम्भाई लेना, खांसना तथा छींकना ये सब कार्य करने के लिये मना कर दे। वस्ति को दवाये रहने का समय ३० मात्रा तक कहा हुआ है। उसके वाद उक्तरीति से वस्ति स्नेह ले चुकने पर १ से १०० तक गिन्ती गिनने के समय तक रोगी को हाथ-पैर फैलवा कर उत्तान लेटा रहने दे ऐसा करने से उसके शरीर में स्नेहादि का यथोचित प्रभाव सर्वत्र फैल जाता है। अपने घुटने के ऊपर एकवार हाथ फिराकर चुटकी वजाने में जितना समय लगता है उसे १ मात्रा का काल कहते हैं। अथवा जितना समय पुरुषों के पलक वन्द कर खोलने में लगता है या चुटकी वजाने में किंवा गुरु अक्षर (आ आदि) के उच्चारण करने में लगता है उतने समय केस इस काल को विद्वान् लोग 'मात्रा' कहते हैं॥ १०५-११०॥

***यथावीर्यं स्नेहादि॥ १०५-११०॥**

यहा 'यथावीर्यम्' पद का 'स्नेहादि यथावीर्य' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १०५-११०॥

ताडयेत्तलयोरेनं त्रींस्त्रीन्वाराञ्छनैः शनैः। स्फिजोश्चैव तथा श्रोणीं शय्याञ्चैवोत्क्षिपेत्ततः॥१११॥
स्फिजोश्चैनं स्वपाणिभ्यां पूर्ववत्ताडयेद् बुधः॥ ११२॥
शय्याञ्च पादतस्तस्य त्रीन्वारानुत्क्षिपेत्ततः। जाते विधाने तु ततः कुर्यान्निद्रां यथासुखम्॥११३॥

इसके बाद रोगी के दोनों पैर के तलुओं में तीन तीन वार धीरे २ हाथ से ठोके और इसी भाँति दोनों कूल्हों पर भी तीन-तीन वार ठोके। उसके वाद पैताने के तरफ से शय्या को तथा कटि (कमर) को तीन वार उचकावे, पुनः दोनों कूल्हों पर पूर्व की भाँति अपने हाथों से तीन वार ठोके और पैताने के तरफ की शय्या को तीन वार उचकावे। इस प्रकार उक्त विधि के कर चुकने पर रोगी को सुख-पूर्वक सोने के लिये कह दे॥ १११-११३॥

सानिलः सपुरीषश्च स्नेहः प्रत्येति यस्य तु। उपद्रवं विना शीघ्रं स सम्यगनुवासितः॥११४॥

जिस रोगी के अधोवायु तथा मल के साथ विना उपद्रव के वस्ति द्वारा दिया हुआ स्नेह (तैल) यदि गुदा के मार्ग से बाहर निकल आवे तो उसे 'उत्तम रीति से अनुवासनवस्ति दी गई' ऐसा समझना चाहिये॥ ११४॥

***उपद्रवस्थाने 'ओषचोषावि'ति सुश्रुते पाठः॥ ११४॥**

यहाँ 'उपद्रवम्' के स्थान पर 'ओषचोषौ' ऐसा पाठ सुश्रुत में मिलता है॥ ११४॥

जीर्णान्नमथ सायाह्ने स्नेहे प्रत्यागते पुनः। लघ्वन्नं भोजयेत्कामं दीप्ताग्निस्तु नरो यदि॥११५॥

गुदामार्ग से स्नेह के बाहर निकल आने पर और भोजन किये हुये अन्न के पच जाने पर यदि रोगी की अग्नि प्रदीप्त हो तो उसे रुचि के अनुसार लघु (जल्दी पच जाने वाला) अन्न भोजन करावे॥ ११५॥

अनुवासिताय दातव्यमितरेऽह्नि सुखोदकम्। धान्यशुण्ठीकषायं वा स्नेहव्यापत्तिनाशनम्॥

इस भाँति जिसे अनुवासन वस्ति दी गई हो उसे दूसरे दिन गर्म जल अथवा धनिया तथा सोंठ का क्वाथ स्नेहसम्बन्धी व्याधियों (विकारों) को दूर करने के लिये पिलाना चाहिये॥११६॥

***सुखोदकम् = उष्णोदकम्। व्यापत्तिः = व्याधिः॥ ११६॥**

यहाँ 'सुखोदकम्' का 'गर्म जल' तथा 'व्यापत्ति' का 'व्याधि (विकार)' अर्थ समझना चाहिये॥

अनेन विधिना षड्वा सप्त चाष्टौ नवापि वा। विधेया वस्तयस्तेषामन्ते चैव निरूहणम्॥११७॥
दत्तस्तु प्रथमो वस्तिः स्नेहयेद्वस्तिवङ्क्षणौ। सम्यग्दत्तो द्वितीयस्तु मूर्द्धस्थमनिलं जयेत्॥११८॥
बलं वर्णञ्च जनयेत्तृतीयस्तु प्रयोजितः। चतुर्थपञ्चमौ दत्तौ स्नेहयेतां रसासृजी॥ ११९॥
षष्ठो मांसं स्नेहयति सप्तमो मेद एव च। अष्टमो नवमश्चापि मज्जानञ्च यथाक्रमम्॥ १२०॥

इस प्रकार (पूर्वोक्त विधि के अनुसार) रोगी को योग्यतानुसार ६, ७, ८ या ९ वार तक अनुवासन वस्ति दे चुकने पर अन्त में निरूहण वस्ति देनी चाहिये। रोगी को उत्तम रीति से

प्रथम बार अनुवासन वस्ति देने पर उसके मूत्राशय तथा पेडू का स्नेहन होता है। दूसरी वार की वस्ति (अनुवासन) से मस्तक की वायु का शमन होता है। तीसरी वार की वस्ति से बल तथा वर्ण की उत्पत्ति होती है। चौथी तथा पांचवीं वार की वस्ति से रस तथा रक्त का, छठीं बार की वस्ति से मांस का, सातवीं वार की वस्ति से मेदा का, आठवीं वार की वस्ति से अस्थियों का एवं नवीं वार की वस्ति से मज्जा का स्नेहन होता है॥ ११७-१२०॥

***यथाक्रममिति वचनादष्टमोऽस्थि स्नेहयेत्॥ ११७-१२०॥**

यहां 'यथाक्रमम्' पद से 'आठवीं वार की वस्ति से अस्थियों का स्नेहन होता है' यह अर्थ समझना चाहिये॥ ११७-१२०॥

एवं शुक्रगतान्दोषान्द्विगुणः साधु साधयेत्॥ १२१॥

इस प्रकार अट्ठारह दिन तक अट्ठारह वस्ति भली भांति से लेने पर शुक्रगत सभी दोष दूर हो जाते हैं॥ १२१॥

***द्विगुणः = अष्टादशदिवसावधिको वस्तिः॥ १२१॥**

यहा 'द्विगुणः' पद का 'अट्ठारह दिन तक अट्ठारह वस्ति' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १२१॥

अष्टादशाष्टादशकादिनाद्यो ना निपेवते। स कुञ्जरबलोऽश्वस्य जवतुल्योऽमरप्रभः॥ १२२॥

जो पुरुष १८ दिन में १८ वस्तियों का सेवन करता है वह हाथी के समान बलवान्, घोड़े के समान वेगवान् तथा देवता के समान कान्तिमान् होता है॥ १२२॥

रूक्षाय बहुवाताय स्नेहवस्तिं दिने दिने।
दद्याद्वैद्यस्तथाऽन्येषामग्न्यावाधभयात् त्र्यहात्। स्नेहोऽल्पमात्रो रूक्षाणां दीर्घकालमनत्ययः॥

जो मनुष्य रूक्ष शरीर वाला और अधिक वात सम्बन्धी दोष से पीड़ित हो उसे नित्य वस्ति देवे। इससे अन्य पुरुषों को तो अग्नि का वाध (मन्दता) होने के भय से तीन तीन दिन पर अनुवासन वस्ति देनी चाहिये। रूक्ष शरीर वालों के लिये थोड़ी मात्रा में अनुवासन वस्ति दीर्घकाल तक भी दी जाय तो कोई हानिकारक नहीं होती॥ १२३॥

***अनत्ययः = अवाधः॥ १२३॥**

यहा 'अनत्यय' पद का 'अवाध' अर्थात् कोई हानिकारक नहीं होती है-यह अर्थ समझना चाहिये॥ १२३॥

तथा निरूहः स्निग्धानामल्पमात्रः प्रशस्यते।
अथ वा यस्य तत्कालं स्नेहो निर्याति केवलः। तस्याप्यल्पतरो देयो न हि स्निग्धेऽवतिष्ठते॥

तथा स्निग्ध शरीर वालों के लिये थोडी मात्रा में निरूहवस्ति देना उचित होता है। अथवा जिस रोगी को स्नेह वस्ति देने पर तत्काल ही केवल स्नेह (तेल) गुदा के मार्ग से वाहर निकल आता हो उसके लिये अत्यन्त थोडी मात्रा स्नेह की वस्ति देने में लेनी चाहिये। क्योंकि स्निग्ध शरीर में वस्ति द्वारा दिया हुआ स्नेह नहीं ठहरता॥ १२४॥

*** अवतिष्ठते दत्तः स्नेह इति शेषः॥ १२४॥**

यहा 'वस्ति द्वारा दिया हुआ स्नेह' यह ऊपर से समझ लिया जाता है॥ १२४॥

अशुद्धस्य मलोन्मिश्रः स्नेहो नैति यदा पुनः। तदाऽङ्गसदनाध्माने शूलं श्वासश्च जायते॥१२५॥
पक्वाशये गुरुत्वञ्च तत्र दद्यान्निरूहणम्। तीक्ष्ण तीक्ष्णौषधैर्युक्तं फलवर्त्तिमथापि वा॥१२६॥
यथाऽनुलोमनो वायुर्मलः स्नेहश्च जायते। तथा विरेचनं दद्यात्तीक्ष्णं नस्यञ्च शस्यते॥१२७॥
यस्य नोपद्रवं कुर्यात्स्नेहबस्तिरनिःसृतः। सर्वोऽल्पो व्यावृतो रौक्ष्यादुपेक्ष्यः स विजानता॥१२८॥
अनायातं त्वहोरात्रे स्नेहं संशोधनैर्हरेत्। स्नेहवस्तावनायाते नान्यः स्नेहो विधीयते॥१२९॥

जिसकी अच्छी तरह से शुद्धि नहीं हुई है ऐसे मनुष्य का मल से मिला हुआ स्नेह जब पुनः बाहर नहीं निकलता तब उसके अङ्गों में शिथिलता आ जाती है तथा अफारा, शूल और श्वास उत्पन्न हो जाता है और पक्वाशय में गुरुता होती है। ऐसी अवस्था होने पर तीक्ष्ण ओषधियों से युक्त तीक्ष्ण निरूह वस्ति देनी चाहिये। अथवा वस्त्रादि में औषध लपेट कर उसकी वत्ती बनाकर गुदा में देनी चाहिये जिससे कि वायु का अनुलोमन होकर मल के सहित स्नेह बाहर निकल आवे। उक्त अवस्था में विरेचन एवं नस्य भी देना उत्तम होता है। स्नेहवस्ति देने पर यदि

वह बाहर न निकलने से कोई उपद्रव न करे तो यह समझना चाहिये कि उसके शरीर में रूक्षता होने से सम्पूर्ण अथवा थोडा स्नेह शरीर ने सोख लिया है अतः चतुर वैद्य उसकी उपेक्षा कर दे। अर्थात् उस स्नेह को बाहर निकालने का यत्न न करे। यदि एक दिन एक रात्रि व्यतीत हो जाने पर भी स्नेह बाहर न निकले तो उसे संशोधन के उपाय द्वारा बाहर निकाले। न कि उसे निकालने के लिये पुनः दुबारा स्नेह वस्ति का प्रयोग करे॥ १२५-१२९॥

गुडूच्येरण्डपूतीकभार्ङ्गीवृषकरौहिषम्। शतावरीसहचरौ काकनासां पलोन्मिताम्॥१३०॥
यवमाषातसीकोलकुलत्थान्प्रसृतोन्मितान्। चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा द्रोणशेषेण तेन च॥१३१॥
पचेत्तैलाढकं सर्वैर्जीवनीयैः पलोन्मितैः। अनुवासनमेतद्धि सर्ववातविकारनुत्॥ १३२॥

सभी प्रकार के वातसम्बन्धी विकारों को दूर करने वाली अनुवासन वस्ति—गिलोय, एरण्ड (रेंडी), करञ्ज, भारङ्गी, अडूसा, रोहिस घास, शतावर, कटसरैया, काकनासा, इन सबों को एक एक पल (चार चार तोले) लेकर और जौ, उडद, अलसी, बेर की गुठली, कुलथी इन सबों को दो दो पल लेकर ४ द्रोण जल में पकावे जब एक द्रोण जल शेष रह जाय तब उतार ले पुनः इस क्वाथ में जीवनीय[1] गण की ओषधियाँ एक एक पल लेकर उनका कल्क पीस कर डाल दे और एक आढक (६४ पल) तेल के साथ पकावे जब केवल स्नेह भाग शेष रह जाय तब उतार ले। इस स्नेह से अनुवासन वस्ति देने से सभी प्रकार के वातरोगों का नाश होता है॥ १३०-१३२॥

***पूतीकः = करञ्जः। रौहिषम् = ईषत्सुगन्धतृणविशेषः। काकनासा (कौआठोडी)। प्रसृतम् = पलद्वयम्॥ १३०-१३२॥**

यहां 'पूतीक' से 'करञ्ज'। 'रौहिष' से 'किञ्चित् सुगन्ध युक्त तृण विशेष (रोहिसघास)'। 'काकनासा' से 'कौआ ठोडी'। 'प्रसृत' से 'दो पल' का ग्रहण करना चाहिये॥ १३०-१३२॥

षट्सप्ततिर्व्यापदस्तु जायन्ते वस्तिकर्मणः। दूषितात्समुदायेन ताश्चिकित्स्यास्तु सुश्रुतात्॥

वस्तिकर्म का ठीक ठीक उपयोग यदि न हो तो दूषित हो जाने से उससे छिहत्तर रोग उत्पन्न होते हैं, अतः समुचित नली आदि सामग्री से सुश्रुतोक्त रीति के अनुसार उन रोगों की चिकित्सा करनी चाहिये॥ १३३॥

***समुदायेन = समुचितनेत्रादिसामग्र्या॥ १३३॥**

यहां 'समुदायेन' पद का-समुचित नली आदि सामग्री से-यह अर्थ समझना चाहिये॥ १३३॥

पानाहारविहाराश्च परिहाराश्च कृत्स्नशः। स्नेहपानसमाः कार्य्या नात्र कार्या विचारणा॥

स्नेहपान विधि में जैसा जो कुछ पान (पीना), आहार (खाना), विहार (रहन-सहन) तथा परिहार (परहेज) कहा हुआ है ठीक वैसा ही सब कुछ स्नेहवस्ति में भी करना चाहिये, इस विषय में कुछ विचार करने की आवश्यकता नहीं॥ १३४॥

अथ निरूहः।

अथ निरूहवस्तिविधिमाह—

निरूहबस्तिर्बहुधा भिद्यते कारणान्तरैः। तैरेव तस्य नामानि कृतानि मुनिपुङ्गवैः॥१३५॥

निरूह वस्ति की विधि—समवायि कारण के भेद से (पृथक-पृथक् ओषधियो द्वारा कराने से) निरूह वस्ति के अनेक भेद होते हैं। इसीलिये ऋषियों ने उन वस्तियों के अलग अलग नामकरण किये हैं॥ १३५॥

***कारणान्तरैः = समवायिकारणभेदैः॥ १३५॥**

यहां 'कारणान्तरै.' पद का समवायिकारण के भेद से' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १३५॥

निरूहस्यापरं नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधैः। स्वस्थाने स्थापनाद्दोषधातूनां स्थापनं मतम्॥१३६॥
निरूहस्य प्रमाणं तु प्रस्थं पादोत्तरं परम्। मध्यमं प्रस्थमुद्दिष्टं हीनञ्च कुडवास्त्रयः॥१३७॥

---

[1] जीवनीयगणो यथा चरके—जीवकर्षभकौ, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मधुकमिति दशेमानि जीवनीयानि भवन्तीति।

अर्थ—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुगवन, मषवन, जीवन्ती, मुलेठी ये १० ओषधिया जीवनीय होती हैं अतः ये जीवनीयगण की कहलाती हैं।

विद्वानों ने निरूह बस्ति का दूसरा नाम आस्थापन वस्ति कहा है क्योंकि आस्थापन से दोषों तथा धातुओं का अपने-अपने स्थान में स्थापन होता है। निरूह वस्ति की मात्रा का प्रमाण सवाप्रस्थ (१ सेर) का श्रेष्ठ होता है। एक प्रस्थ (१२ छ० ४) भर) की मात्रा मध्यम तथा तीन कुडव (९ छ० ३) भर) की मात्रा निकृष्ट समझनी चाहिये ॥ १३६-१३७ ॥

ॐ परं = श्रेष्ठम् ॥ १३६-१३७ ॥

यहां 'पर' का 'श्रेष्ठ' अर्थ समझना चाहिये ॥ १३६-१३७ ॥

अतिस्निग्धोऽक्लिष्टदोषः क्षतोरस्कः कृशस्तथा। आध्मानच्छर्दिहिक्काऽर्शःकासश्वासप्रपीडितः ॥
गुदशोफातिसारार्त्तो विसूचीकुष्ठसंयुतः। गर्भिणी मधुमेही च नास्थाप्यश्च जलोदरी ॥ १३९ ॥

अत्यन्त स्निग्ध शरीर वाला, उत्क्लेशजनक आहारादि द्वारा जिसके दोष बाहर निकलने के लिये उन्मुख न हुए हों, उरःक्षत का रोगी, दुर्वल मनुष्य, अफारा, वमन, हिचकी, ववासीर, खांसी और दमा से पीडित, गुदासम्बन्धी शोथ, अतिसार, विसूचिका तथा कुष्ठरोग से युक्त मनुष्य, गर्भिणी स्त्री, मधुमेह का रोगी और जलोदर वाले रोगी को आस्थापन वस्ति नहीं देनी चाहिये ॥

ॐअक्लिष्टदोषः = अदत्तोत्क्लेशन इति यावत्। क्षतोरस्कः = उरःक्षतवान् ॥ १३८-१३९ ॥

यहां 'अक्लिष्टदोषः' पद का 'उत्क्लेशजनक आहारादि द्वारा जिसके दोष बाहर निकलने के लिये उन्मुख न हुये हों' और 'क्षतोरस्कः' पद का 'उरःक्षत का रोगी' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १३८-१३९ ॥

वातव्याधावुदावर्त्ते वातासृग्विषमज्वरे। मूर्च्छातृष्णोदरानाहमूत्रकृच्छ्राश्मरीषु च ॥ १४० ॥
वृद्ध्यसृग्दरमन्दाग्निप्रमेहेषु निरूहणम्। शूलेऽम्लपित्ते हृद्रोगे योजयेद्विधिवद् बुधः ॥ १४१ ॥

वातसम्बन्धी व्याधि, उदावर्त, वातरक्त, विषम ज्वर, मूर्च्छा, तृष्णा, उदर रोग, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, पथरी, अण्डवृद्धि, रक्तप्रदर, मन्दाग्नि, प्रमेह, शूल, अम्लपित्त और हृद्रोग इन सबों में बुद्धिमान् वैद्य को विधिपूर्वक निरूह वस्ति देनी चाहिये ॥ १४०-१४१ ॥

उत्सृष्टानिलविण्मूत्रं स्निग्धं स्विन्नमभोजितम्। मध्याह्ने गृहमध्ये च यथायोग्यं निरूहयेत् ॥ १४२ ॥

जो अधोवायु तथा मल-मूत्र को त्याग कर चुका हो, जो स्निग्ध तथा स्विन्न हो चुका हो एवं जो बिना भोजन किये हुये हो ऐसे मनुष्य को घर के अन्दर दो पहर के समय यथायोग्य निरूह बस्ति देनी चाहिये ॥ १४२ ॥

ॐस्निग्धम् = स्वभ्यक्तम्। स्विन्नम् = उष्णाम्बुस्नपितम् ॥ १४२ ॥

यहां 'स्निग्ध' का 'स्नेह द्वारा जिसका स्नेह न हुआ हो' तथा 'स्विन्न' का 'गर्म जल से जिसे स्नान कराया गया हो' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १४२ ॥

स्नेहवस्तिविधानेन बुधः कुर्यान्निरूहणम् ॥ १४३ ॥
जाते निरूहे च ततो भवेदुत्कटकासनः। तिष्ठेन्मुहूर्त्तमात्रन्तु निरूहागमनेच्छया ॥ १४४ ॥

बुद्धिमान् वैद्य स्नेहवस्ति के विधान से निरूहवस्ति दे और निरूहण हो जाने पर निरूह द्रव के बाहर निकालने की इच्छा से रोगी मुहूर्त्तमात्र उत्कटकासन (उकरूं) वैठे ॥ १४३-१४४ ॥

ॐअत्र मुहूर्त्तमात्रशब्देनैतदपि बोधितम्। निरूहप्रत्यागमनकालो मुहूर्त्तमात्रः ॥ १४३-१४४ ॥

यहां 'मुहूर्त्तमात्र' पद से यह समझना चाहिये कि जितने समय में निरूह द्रव बाहर निकलता है उतने समय का नाम मुहूर्त्त मात्र है ॥ १४३-१४४ ॥

अनायातं मुहूर्त्तं तु निरूहं शोधनैर्हरेत्। निरूहैरेव मतिमान्क्षारमूत्राम्लसैन्धवैः ॥ १४५ ॥
यस्य क्रमेण गच्छन्ति विट्पित्तकफवायवः। लाघवं चोपजायेत सुनिरूढं तमादिशेत् ॥ १४६ ॥

मुहूर्त्त भर प्रतीक्षा करने पर यदि निरूह वस्ति में प्रयुक्त द्रव्य बाहर न निकले तो जवाखार, गोमूत्र, अम्ल, सेंधा नमक के निरूहण द्वारा निरूह वस्ति के द्रव्य को बाहर निकाले। जिस मनुष्य के क्रमानुसार मल, पित्त, कफ तथा वायु निकले हैं तथा शरीर में लघुता मालूम होती है उस मनुष्य को सुनिरूढ (भली भांति निरूहण हुआ) कहते हैं ॥ १४५-१४६ ॥

यस्य स्याद्वस्तिरल्पदपवेगो हीनमलानिलः। मूर्च्छाऽऽर्त्तिजाड्यारुचिमान्दुर्निरूढं तमादिशेत् ॥

जिस मनुष्य को वस्ति बहुत धीरे निकले, मल तथा वायु बहुत कम निकले और जो मूर्च्छा, पीडा, जडता और अरुचि से युक्त हो उसे दुर्निरूढ (खराब निरूहण हुआ) कहते हैं ॥ १४७ ॥

विविक्तता मनस्तुष्टिः स्निग्धता व्याधिनिग्रहः। आस्थापनस्नेहवस्त्योः सम्यग्दाने तु लक्षणम्॥

दी हुई ओषधियों का बाहर निकल जाना, मन की प्रसन्नता, स्निग्धता, व्याधि निग्रह (रोग में कमी) ये सब आस्थापन तथा स्नेह बस्ति के भली भांति दिये जाने के लक्षण हैं ॥ १४८ ॥

***विविक्तता = दत्तौषधनिःसरणम् ॥ १४८ ॥**

यहां 'विविक्तता' का 'दी हुई ओषधियों का बाहर निकल जाना' यह अर्थ समझना चाहिये ॥

अनेन विधिना युञ्ज्यान्निरूहं बस्तिदानवित्। द्वितीयं वा तृतीयं वा चतुर्थं वा यथोचितम् ॥
सस्नेह एकः पवने पित्ते द्वौ पयसा सह। कषायकटुमूत्राद्याः कफेऽत्युष्णास्त्रयो हिताः ॥१५०॥
पित्तश्लेष्मानिलाविष्टे क्षीरयूषरसैः क्रमात्। निरूढं भोजयित्वा च ततस्तमनुवासयेत्॥१५१॥
सुकुमारस्य वृद्धस्य बालस्य च मृदुर्हितः। बस्तिस्तीक्ष्णःप्रयुक्तस्तु तेषां हन्याद्बलायुषी॥१५२॥
दद्यादुत्क्लेशनं पूर्वं मध्ये दोषहरं ततः। पश्चात्संशमनीयञ्च दद्याद्वस्तिं विचक्षणः ॥ १५३ ॥

बस्ति देने में चतुर वैद्य इस प्रकार से निरूह बस्ति दे, यदि उचित हो तो दूसरी वार, तीसरी वार और चौथी वार भी दे। वात रोग में स्नेह वाली एक बस्ति, पित्त रोग में दूध के साथ दो बस्ति तथा कफ रोग हो तो गर्म कषाय तथा कटु रसयुक्त पदार्थ तथा गोमूत्र आदि पदार्थों की तीन बस्ति देनी उत्तम होती है। पित्त, कफ तथा वायु से आक्रान्त हुये मनुष्य को क्रमसे दूध की, मूङ्ग के रस तथा मांसरस की बस्ति देनी चाहिये। जिसको निरूह बस्ति दी गई हो उसे भोजन के पश्चात् अनुवासन बस्ति देनी चाहिये। सुकुमार शरीर वाले को, वृद्ध को तथा बालक को मृदु बस्ति हितकर है। यदि इन्हें तीक्ष्ण बस्ति दी जाय तो इनके बल तथा आयु का नाश होता है। चतुर वैद्य प्रथम उत्क्लेशन बस्ति तत्पश्चात् दोषहर बस्ति पुनः संशमनीय बस्ति दे ॥ १४९-१५३ ॥

अथोत्क्लेशनबस्तिमाह—

एरण्डबीजं मधुकं पिप्पली सैन्धवं वचा। हवुषाफलकल्कश्च बस्तिरुत्क्लेशनः स्मृतः ॥ १५४ ॥

उत्क्लेशन बस्ति—रेड़ के बीज, मुलेठी, पीपल, सेंधानमक, वच और हाऊबेर के फल का कल्क, इनकी बस्ति को उत्क्लेशन (दोषों को बहिर्गमनोन्मुख करने वाली) बस्ति कहते हैं ॥ १५४ ॥

अथ दोषहरबस्तिमाह—

शताह्वा मधुकं बिल्वं कौटजं फलमेव च। सकाञ्जिकः सगोमूत्रो बस्तिर्दोषहरः स्मृतः ॥१५५॥

दोषहर बस्ति-शतावरी, मुलेठी, बेल का गूदा, इन्द्रजौ इनको काजी तथा गोमूत्र में पीस कर उससे जो बस्ति दी जाती है उसे दोषहर बस्ति कहते हैं ॥ १५५ ॥

अथ शमनबस्तिमाह—

प्रियङ्गुर्मधुकं मुस्ता तथैव च रसाञ्जनम्। सक्षीरः शस्यते बस्तिर्दोषाणां शमनः स्मृतः ॥१५६॥

शमन बस्ति—फूल प्रियङ्गु, मुलेठी, नागरमोथा और रसौत इन सबको दूध में पीस कर जो बस्ति दी जाती है उसे संशमनीय बस्ति कहते हैं। इस बस्ति से दोषों का शमन होता है ॥ १५६ ॥

अथ लेखनबस्तिमाह—

त्रिफलाक्वाथगोमूत्रक्षौद्रक्षारसमायुताः। ऊष[1]कादिप्रतीवापैर्बस्तयो लेखनाः स्मृताः ॥१५७॥

लेखन बस्ति—हरड, बहेडा, आंवला के क्वाथ, गोमूत्र, शहद, जवाखार, ऊषकादि गणोक्त (खारी मिट्टी, तूतिया, हींग, दो प्रकार के कसीस, सेंधानमक, शिलाजीत) चूर्ण के प्रक्षेप युक्त जो बस्ति दी जाती है वह लेखन बस्ति कहलाती है ॥ १५७ ॥

***ऊपकादिप्रतीवापाः = ऊषकादिगणविशेषचूर्णप्रक्षेपाः ॥ १५७ ॥**

यहाँ 'ऊपकादिप्रतीवापाः' पद का 'ऊषकादि गणोक्तचूर्ण का प्रक्षेप' यह अर्थ समझना चाहिये॥

अथ बृंहणबस्तिमाह—

बृंहणद्रव्यनिक्वाथैः कल्कैर्मधुरकैर्युताः। सर्पिर्मांसरसोपेता बस्तयो बृंहणाः स्मृताः ॥ १५८ ॥

बृंहणबस्ति—धातुओं के बढाने वाले द्रव्यों के क्वाथों से तथा मधुर पदार्थों के कल्क, घी एवं मांसरस से जो बस्ति दी जाती है उसे बृंहण बस्ति कहते हैं। इस बस्ति से धातुओं की वृद्धि होती है ॥ १५८ ॥

---

(१) ऊषकादिगणस्तु—ऊषकस्तुत्थकौ हिङ्गुकाशीसद्वयसैन्धवम्। सशिलाजतु (वा० सू० १५ अ०)।

अथ पिच्छिलवस्तिमाह—

बदयरावतीशेलुशाल्मलीपुष्पजाङ्कुराः। क्षीरसिद्धाः क्षौद्रयुक्ता नाम्ना पिच्छिलसंज्ञिताः॥१५९॥
अजोरभ्रैणरुधिरैर्युक्ता देया विचक्षणैः। मात्रा पिच्छिलबस्तीनां पलैर्द्वादशभिर्मता॥ १६०॥

पिच्छिलवस्ति—वेर, नारङ्गी, लिसोरा, सेमर के फूलों के अङ्कुर इनको दूध में पकाकर मधु डाल कर बकरा, भेड़ तथा काले मृग के रक्त के साथ जो वस्ति दी जाती है उसे पिच्छिल वस्ति कहते हैं। पिच्छिल वस्ति की मात्रा बारह पल की कही गई है॥ १५९-१६०॥

अजः=छागः, उरभ्रः=मेषः, एणः=कृष्णमृगः॥ १५९-१६०॥

यहाँ 'अज' से 'बकरा', 'उरभ्र' से 'भेडा', 'एण' से 'काले मृग' का वोध करना चाहिये॥

अथ निरूहमात्राविधिमाह—

दत्त्वादौ सैन्धवस्याक्षं मधुनः प्रसृतिद्वयम्। विनिर्मथ्य ततो दद्यात्स्नेहस्य प्रसृतित्रयम्॥
एकीभूते ततः स्नेहे कल्कस्य प्रसृतिं क्षिपेत्। सम्मूर्च्छिते कषायन्तु चतुःप्रसृतिसम्मितम्॥
गृह्णीयाच्च तदा वाऽऽवपमन्ते द्विप्रसृतोन्मितम्। क्षिप्त्वा विमथ्य दद्याच्च निरूहं कुशलो भिषक्॥
एवं प्रकल्पितो वस्तिर्द्वादशप्रसृतिर्भवेत्। वाते चतुष्पलं क्षौद्रं दद्यात् स्नेहस्य षट्पलम्॥
पित्ते चतुष्पलं क्षौद्रं स्नेहं दद्यात्पलत्रयम्। कफे तु षट्पलं क्षौद्रं क्षिपेत्स्नेहं चतुष्पलम्॥१६५॥

निरूह वस्ति की मात्रा—पहले एक तोला सेंधा नमक लेकर दो प्रसृति (१६ तोला) मधु डालकर खूब घोंटे। इसके बाद उसमें तीन प्रसृति (२४ तोला) स्नेह देकर सबको मर्दन करके खूब मिलाले जब सब एक में मिल जाय तो उसमें एक प्रसृति (८ तोला) ओषधि कल्क डालकर घोंटे फिर चार प्रसृति (३२ तोला) क्वाथ और उसके बाद दो प्रसृति (१६ तोला) प्रक्षेप्य द्रव्य का उत्तम चूर्ण डालकर तथा सबको भली भाति मर्दन कर विद्वान् वैद्य निरूह वस्ति दे। इस प्रकार तैयार की हुई वस्ति परिमाण में बारह प्रसृति (९६ तोला) होती है। विशेष वक्तव्य यह है कि—वातरोग में चार पल (१६ तोला) मधु और छ पल (२४ तोला) स्नेह डाले। पित्तजन्य विकार में चार पल (१६ तोला) मधु और तीन पल (१२ तोला) स्नेह डाले। यदि कफसम्बन्धी रोग हो तो छ पल (२४ तोला) मधु और चार पल (१६ तोला) स्नेह डालना चाहिये॥ १६१-१६५॥

अथ मधुतैलकवस्तिमाह—

एरण्डक्वाथतुल्यांशं मधुतैलं पलाष्टकम्। शतपुष्पापलार्द्धेन सैन्धवार्द्धेन संयुतम्॥
मधुतैलकसंज्ञोऽयं वस्तिर्दारुविलोडितः॥ १६६॥
मेदोगुल्मकृमिप्लीहमलोदावर्तनाशनः। बलवर्णकरश्चैव वृष्यो दीपनबृंहणः॥ १६७॥

मधुतैलकवस्ति—आठ पल (३२ तोला) रेंड के जड का क्वाथ करके उसमें चार पल (१६ तोला) मधु तथा चार पल तिल का तेल, आधी पल (२ तोला) सौंफ और आधा पल सेंधा नमक डालकर सबको लकडी से मिलावे यह मधुतैलकवस्ति कहलाती है। **गुण**—यह वस्ति मेद, गुल्म, कृमि, प्लीहा, मल तथा उदावर्त का नाश करती है, बल को बढ़ाती है, वर्ण को उत्तम करती है, वृष्य होती है, अग्नि को प्रदीप्त करती है और धातुओं को बढ़ाती है॥ १६६-१६७॥

अथ यापनवस्तिमाह—

क्षौद्राज्यक्षीरतैलानां प्रसृतं प्रसृतं भवेत्। हवुषासैन्धवाक्षांशो वस्तिः स्याद्यापनः परः॥१६८॥

यापनवस्ति—मधु, घृत, दुग्ध तथा तैल इनको एक-एक प्रसृत अर्थात् आठ-आठ तोले लेकर उसमें एक तोला हाऊवेर और एक तोला सेंधा नमक डाल कर घोटें। इसकी जो वस्ति दी जाती है उसको यापनवस्ति कहते हैं। यह वस्ति मलसारक है॥ १६८॥

यापनः=सारकः॥ १६८॥

यहाँ 'यापन' का 'मलसारक' अर्थ समझना चाहिये॥ १६८॥

अथ युक्तरथवस्तिमाह—

एरण्डमूलनिक्काथो मधुतैलं ससैन्धवम्। एष युक्तरथो वस्तिः सवचापिप्पलीफलः॥ १६९॥

युक्तरथवस्ति—एरण्ड के जड़ के क्वाथ में मधु, तेल, सेंधानमक, वच, पीपल को डाल कर जो वस्ति दी जाती है वह युक्तरथवस्ति कहलाती है॥ १६९॥

अथ सिद्धवस्तिमाह—

पञ्चमूलस्य निक्काथैस्तैलं मागधिका मधु। ससैन्धवः सयष्ट्याह्वः सिद्धवस्तिरिति स्मृतः॥१७०॥
स्नानमुष्णोदकैः कुर्याद्दिवास्वप्नमजीर्णताम्। वर्जयेदपरं सर्वमाचरेत्स्नेहवस्तिवत्॥ १७१॥

सिद्धवस्ति—पञ्चमूल के क्काथ में तेल, पीपल, मधु, सेंधानमक और मुलहठी डालकर जो वस्ति दी जाती है वह सिद्धवस्ति कहलाती है। सिद्धवस्ति लेने वाले को उष्ण जल से स्नान करना, दिन में सोना और अजीर्णकारक पदार्थों का भोजन त्याग देना चाहिये और स्नेहवस्ति के समान सब आचरण करना चाहिये॥ १७०–१७१॥

अथोत्तरबस्तिविधिमाह—

अतः परं प्रवक्ष्यामि बस्तिमुत्तरसंज्ञितम्। निरूहादुत्तरो यस्मात्तस्मादुत्तरसंज्ञकः॥१७२॥
द्वादशाङ्गुलकं नेत्रं मध्ये च कृतकर्णिकम्। मालतीपुष्पवृन्ताभं छिद्रं सर्षपनिर्गमम्॥१७३॥
पञ्चविंशतिवर्षाणामधोमात्रा द्विकार्षिकी। तदूर्ध्वं पलमात्रा च स्नेहस्योक्ता भिषग्वरैः॥१७४॥
अथास्थापनशुद्धस्य तृप्तस्य स्नानभोजनैः। स्थितस्य जानुमात्रे च पिष्टे स्निग्धे शलाकया॥१७५॥
स्निग्धया मेढ्रमार्गे तु ततो नेत्रं नियोजयेत्। शनैःशनैर्घृताभ्यक्तं मेढ्ररन्ध्राङ्गुलानि षट्॥१७६॥
ततोऽवपीडयेद्वस्तिं शनैर्नेत्रं विनिर्हरेत्। ततः प्रत्यागते स्नेहे स्नेहबस्तिक्रमो हितः॥१७७॥
स्त्रीणां कनिष्ठिकास्थूलं नेत्रं कुर्याद् दशाङ्गुलम्। मुद्गप्रवेशयोग्यञ्च योन्यन्तश्चतुरङ्गुलम्॥१७८॥

इसके बाद उत्तरवस्ति कहता हूँ यह वस्ति निरूहवस्ति के बाद दी जाती है अतएव इसको उत्तरवस्ति कहते हैं। बीच में गौ के कान के समान कर्णिका वाली, मालती के फूल के डंठल के समान, सरसों निकलने भर की छेद वाली, बारह अङ्गुल की एक नली बनानी चाहिये। पच्चीस वर्ष से कम अवस्था वालों के लिये इस वस्ति में स्नेह की मात्रा दो तोले की है और पच्चीस वर्ष से अधिक अवस्था वालों के लिये एक पल (४ तोले) की मात्रा देनी चाहिये। इसके बाद निरूह वस्ति द्वारा शुद्ध तथा स्नान और भोजन से तृप्त हुए मनुष्य को जानु बराबर ऊँची चिकनी चौकी पर उकुरू बैठाकर चिकनी तथा स्नेह लगी हुई सलाई से उसके मूत्रमार्ग को स्वच्छ करके घृत लगी हुई छः अङ्गुल की नली लिङ्ग के छिद्र में डाले। तत्पश्चात् वस्ति को दबाकर धीरे से नली को बाहर निकल ले तत्पश्चात् स्नेह के बाहर निकल आने पर पूर्वोक्त स्नेहवस्ति की भांति उपचार करना हितकर है।

स्त्रियों की योनि में यदि उत्तरवस्ति की क्रिया करनी हो तो कनिष्ठिका अङ्गुली के समान मोटी और जिससे मूग निकल जाय उतने छिद्र वाली दश अङ्गुल की सूक्ष्म नली लेकर योनि के अन्दर चार अङ्गुल डाले॥ १७२–१७८॥

द्व्यङ्गुलं मूत्रमार्गे च सूक्ष्मं नेत्रं वियोजयेत्। मूत्रकृच्छ्रविकारेषु बालानां त्वेकमङ्गुलम्॥१७९॥
शनैर्निष्कम्पमाधेयं सूक्ष्मं नेत्रं विचक्षणैः। मालतीपुष्पवृन्ताभं नेत्रमित्युदितं पुनः॥ १८०॥

यदि मूत्रकृच्छ्र रोगवाली स्त्री के मूत्रमार्ग में डालनी हो तो दो अङ्गुल डाले और बालकों के मूत्रकृच्छ्र विकार में इससे भी सूक्ष्म नली हाथ को कापने से रोककर धीरे धीरे लिङ्ग के भीतर एक अङ्गुल डाले। यह नली मालती के फूल के डंडी के समान होनी चाहिये, ऐसा ही ऊपर कह आये हैं॥ १७९–१८०॥

*सूक्ष्मशब्दाभिधानं–बालानां ततोऽपि नेत्रस्य सूक्ष्मताबोधनार्थम्॥ १७९–१८०॥

यहा 'सूक्ष्म' पद का प्रयोग 'बालकों के लिये उससे भी सूक्ष्म नली होनी चाहिये' इसको जनाने के लिये किया गया है॥ १७९–१८०॥

योनिमार्गेषु नारीणां स्नेहमात्रा द्विपालिकी। मूत्रमार्गे पलोन्माना बलानां च द्विकार्षिकी॥
उत्तानायै स्त्रियै दद्यादूर्ध्वजान्वै विचक्षणः। अप्रत्यागच्छति भिषग् वस्तावुत्तरसंज्ञिते॥१८२॥
भूयो वस्तिं विदध्याच्च संयुक्तं शोधनैर्गुणैः। फलवर्त्तिं विदध्याद् वा योनिमार्गे दृढां भिषक्॥
सूत्रैर्विनिर्मितां स्निग्धां शोधनद्रव्यसंयुताम्॥ १८४॥

स्त्रियों के योनिमार्ग में स्नेह की मात्रा आठ तोले की और मूत्रमार्ग में चार तोले की है। बालकों के लिङ्ग में दो तोले की मात्रा लेनी चाहिये। विद्वान् वैद्य स्त्री को उत्तान (चित्त) लेटाकर घुटने को ऊपर करके वस्ति दे, यदि उत्तर वस्ति बाहर न निकले तो वैद्य शोधन गुण

वाली दूसरी वस्ति दे अथवा योनिद्वार में शोधन पदार्थों को मिलाकर सूत से बनी चिकनी दृढ़ फलवर्त्ति प्रवेश करे ॥ १८१-१८४ ॥

दह्यमाने तथा वस्तौ दद्याद्बस्तिं विशारदः । क्षीरिवृक्षकषायेण पयसा शीतलेन वा ॥ १८५ ॥

जिस स्थान में वस्ति दी गई हो उसमें दाह हो तो बुद्धिमान् वैद्य दूध वाले वृक्षों के क्वाथ से अथवा शीतल जल से दूसरी वस्ति दे ॥ १८५ ॥

***दह्यमाने वस्तौ = यस्मिन् स्थाने वस्तिर्दत्तस्तस्मिन् दह्यमाने ॥ १८५ ॥**

यहाँ 'दह्यमाने वस्तौ' इन पदों का 'जिस स्थान में वस्ति दी गई हो उसमें दाह हो तो' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १८५ ॥

वस्तिः शुक्ररुजः पुंसां स्त्रीणामार्त्तवजा रुजः । हन्यादुत्तरवस्तिस्तु नोचितो मेहिने क्वचित् ॥१८६॥
सम्यग्दत्तस्य लिङ्गानि व्यापदः क्रम एव च । वस्तेरुत्तरसंज्ञस्य समानाः स्नेहवस्तिना ॥१८७॥

उत्तरवस्ति पुरुषों के शुक्रसम्बन्धी रोगों को तथा स्त्रियों के ऋतु सम्बन्धी दोषों को नष्ट करता है, किन्तु यह उत्तरवस्ति प्रमेह के रोगी को देना कभी उचित नहीं है । उत्तरवस्ति के भलीभाँति देने के लक्षण, उत्तम रीति से न देने से उत्पन्न उपद्रव तथा अन्य समस्त क्रम स्नेहवस्ति के समान ही जानने चाहिये ॥ १८६-१८७ ॥

अथ फलवर्त्तिविधिमाह—

घृताभ्यक्ते गुदे क्षिप्ता श्लक्ष्णा स्वाङ्गुष्ठसन्निभा । मलप्रवर्त्तिनी वर्त्तिः फलवर्त्तिश्च सा स्मृता ॥

फलवर्त्ति की विधि—मल निःसरण के लिये गुदा में घी चुपड़ कर रोगी के अगूठे के समान मोटी और चिकनी वर्त्ति प्रविष्ट करे इसको वैद्यजन फलवर्त्ति कहते हैं ॥ १८८ ॥

अथ नावनम्

अथ नस्यग्रहणविधिमाह—

नस्यं तत्कथ्यते धीरैर्नासाग्राह्यं यदौषधम् । नावनं नस्यकर्मेति तस्य नामद्वयं मतम् ॥१८९॥

नस्यग्रहण की विधि—नासिका से जो ग्राह्य औषधि होती है उसको बुद्धिमान् लोग नस्य कहते हैं । इसके नावन तथा नस्यकर्म ये दो नाम हैं ॥ १८९ ॥

***नस्यकर्म = नासिकायां कर्म चिकित्सा येन तद् नस्यकर्म ॥ १८९ ॥**

इससे नाक की चिकित्सा होती है इस कारण इसको नस्यकर्म कहते हैं ॥ १८९ ॥

नस्यभेदो द्विधा प्रोक्तो रेचनं स्नेहनं तथा । रेचनं कर्षणं प्रोक्तं स्नेहनं बृंहणं मतम् ॥ १९० ॥

रेचन तथा स्नेहन ये दोनों भेद नस्य के कहे गये हैं। जिस नस्य से अन्तःस्थ पदार्थों की हीनता हो वह रेचन तथा जिस नस्य से भीतर के पदार्थों की वृद्धि की जाती है वह स्नेहन कहलाती है ॥

कफपित्तानिलध्वंसि पूर्वमध्यापराह्णके । दिनस्य गृह्यते नस्यं रात्रावप्युत्कटे गदे ॥ १९१ ॥

यदि कफ को नष्ट करना हो तो पूर्वाह्न में, पित्त को नष्ट करना हो तो मध्याह्न में तथा वात को नष्ट करना हो तो अपराह्न में नस्य देना चाहिये । यदि रोग भयङ्कर हो तो रात्रि में भी नस्य देना चाहिये ॥ १९१ ॥

***दिनस्य त्रिधा विभक्तस्य पूर्वभागादौ ॥ १९१ ॥**

यहां वर्त्तमान दिन के तीन भाग करके क्रम से पूर्वाह्न आदि समझना चाहिये ॥ १९१ ॥

नस्यं त्यजेद्भोजनान्ते दुर्दिने चापतर्पितः । तथा नवप्रतिश्यायी गर्भिणी गरदूषितः ।
अजीर्णी दत्तवस्तिश्च पीतस्नेहोदकासवः ॥ १९२ ॥
क्रुद्धः शोकाभिभूतश्च तृषार्त्तो वृद्धबालकौ । वेगावरोधी श्रान्तश्च स्नातुकामश्च वर्जयेत् ॥

भोजन करने के पश्चात् तथा मेघ से घिरे दिन में नस्य लेना त्याग कर दे, एवं लंघन किए हुए, नवीन प्रतिश्याय के रोगी, गर्भिणी स्त्री, गर (कृत्रिम विष) से दूषित हुए, अजीर्ण रोगी, जिसको वस्ति दी गई हो, जिसने स्नेह, जल अथवा आसव तुरन्त पिया हो, क्रुद्ध, शोकाकुल, प्यासे, वृद्ध, बालक, मल, मूत्र के वेग को रोकने वाले, परिश्रमी, जिसे स्नान करने की इच्छा हो ऐसे लोगों को नस्य देना वर्जित है ॥ १९२-१९३ ॥

***नस्यमिति शेषः ॥ १९२-१९३ ॥**

यहाँ 'नस्य' ९८ अन्तिम श्लोक में यद्यपि नहीं हैं तथापि ऊपर से योग्यतावश लाकर अर्थ किया गया है ॥ १९२-१९३ ॥

अष्टवर्षस्य बालस्य नस्यकर्म समाचरेत्। अशीतिवर्षादूर्ध्वञ्च नावनं नैव दीयते ॥ १९४ ॥

बालक जब तक आठ वर्ष का न हो तब तक उसको नस्य नहीं देना चाहिये तथा अस्सी वर्ष के ऊपर की अवस्था वाले वृद्ध को भी नस्य नहीं देना चाहिये ॥ १९४ ॥

अथ रेचनस्य मात्रामाह—

अथ वैरेचनं नस्यं ग्राह्यं तैलैः सुतीक्ष्णकैः। तीक्ष्णं भेषजसिद्धैर्वा स्नेहैः क्वाथै रसैस्तथा ॥१९५॥

रेचन नस्य की मात्रा—तीक्ष्ण तैलों से, तीक्ष्ण ओषधियों द्वारा पकाये हुये स्नेहों से, क्वाथों तथा रसों से रेचन नस्य देना चाहिये ॥ १९५ ॥

अथ रेचननस्यविधिमाह—

नासिकारन्ध्रयोरष्टौ षट् चत्वारश्च विन्दवः। प्रत्येकं रेचनं योग्यं मुख्यमध्याल्पमात्रया ॥१९६॥

रेचन नस्य की विधि—नासिका के दोनों छिद्रों में रेचन नस्य देना चाहिये। प्रत्येक छिद्र में आठ-आठ बूँद की मात्रा उत्तम, छः छः बूँद की मात्रा मध्यम तथा चार-चार बूँद की मात्रा कनिष्ठ होती है ॥ १९६ ॥

अथ नस्यौषधप्रमाणमाह—

नस्यकर्मणि दातव्यं शाणैकं तीक्ष्णमौषधम्। हिङ्गु स्याद्यवमात्रन्तु माषैकं सैन्धवं मतम् ॥१९७॥
क्षीरं चैवाष्टशाणं स्यात्पानीयञ्च त्रिकार्षिकम्। कार्षिकं मधुरद्रव्यं नस्यकर्मणि योजयेत् ॥१९८॥

नस्य औषध का प्रमाण—नस्य कर्म में तीक्ष्ण ओषधि एक शाण (४ माशे), हींग यवभर, सेंधा नमक एक माशा, दूध आठ शाण (३२ माशे), पानी तीन तोले और मधुर द्रव्य एक तोला लेना चाहिये ॥ १९७-१९८ ॥

अथ रेचननस्यस्य भेदद्वयमाह—

अवपीडः प्रधमनं द्वौ भेदावपरौ स्मृतौ। शिरोविरेचनस्याथ तौ तु देयौ यथायथम् ॥ १९९ ॥

रेचन नस्य के भेद—रेचन नस्य के अवपीड तथा प्रधमन नामक दो भेद हैं। शिरोविरेचन के लिये योग्य रीति से इन दोनों भेदों का उपयोग करना चाहिये ॥ १९९ ॥

अथ रेचननस्यभेदद्वयस्य लक्षणमाह—

कल्कीकृतादौषधाद्यः पीडितो निःसृतो रसः। सोऽवपीडः समुद्दिष्टस्तीक्ष्णद्रव्यसमुद्भवः ॥२००॥
षडङ्गुला द्विवक्त्रा या नाडी चूर्णं तया धमेत्। तीक्ष्णं कोलमितं वक्त्रवातैः प्रधमनं हितम् ॥२०१॥

रेचन नस्य के भेदों के लक्षण—जिसके साथ तीक्ष्ण पदार्थ संयुक्त हों ऐसी ओषधि का कल्क करके उसको निचोड कर जो रस निकाला जाता है वह अवपीड और छः अङ्गुल की लम्बी, दो मुख वाली नली में आधा तीक्ष्ण चूर्ण भर कर मुख से फूक कर जो चूर्ण नाक में चढाया जाता है उसको प्रधमन कहते हैं ॥ २००-२०१ ॥

अथ रेचनस्नेहननस्योपयोगमाह—

ऊर्ध्वजत्रुगते रोगे कफजे स्वरसंक्षये। अरोचके प्रतिश्याये शिरःशूले च पीनसे ॥ २०२ ॥
शोफापस्मारकुष्ठेषु नस्यं वैरेचनं हितम्। भीरुस्त्रीकृशबालानां नस्यं स्नेहेन शस्यते ॥ २०३ ॥
गलरोगे सन्निपाते निद्रायां विषमज्वरे। मनोविकारे कृमिषु युज्यते चावपीडनम् ॥२०४॥
अत्यन्तोत्कटदोषेषु विसंज्ञेषु च दीयते। चूर्णं प्रधमनं धीरैस्तद्धि तीक्ष्णतरं यतः ॥२०५॥

रेचन तथा स्नेहन नस्य के उपयोग—ऊर्ध्व जत्रुगत अर्थात् गले से ऊपर के रोगों में, कफ से उत्पन्न रोगों में, स्वरक्षय (गला बैठ जाने) में एवं अरुचि, प्रतिश्याय (जुखाम), शिरःशूल, शोथ, अपस्मार तथा कुष्ठ रोगों में रेचन नस्य हितकर है। डरने वाले व्यक्ति, स्त्री, कृश मनुष्य और बालक इन सबों को स्नेह से नस्य देना हितकर होता है। गले के रोग में, सन्निपात में, निद्रा में, विषमज्वर में, मनोविकार (उन्मादादि) में और कृमि रोग में अवपीडन नस्य देना उत्तम है। अत्यन्त उत्कट दोषों में, जिनमें ज्ञान नष्ट हो जाय ऐसे रोगों में धीर वैद्य चूर्ण का प्रधमन नस्य दे क्योंकि यह अत्यन्त तीक्ष्ण होता है ॥ २०२-२०५ ॥

अथ वैरेचननस्यौषधिगुणानाह—

नस्यं स्याद् गुडशुण्ठीभ्यां पिप्पलीसैन्धवेन वा। जलपिष्टेन कर्णाक्षिनासामूर्द्धभवा गदाः॥ मन्याहनुगलोद्भूता नश्यन्ति भुजपृष्ठजाः। मधूकसारकृष्णाभ्यां वचामरिचसैन्धवैः॥ नस्यं कोष्णाम्भसा पिष्टं दद्यात्संज्ञाप्रबोधनम्। अपस्मारे तथोन्मादे सन्निपातेऽपतन्त्रके॥२०८॥

रेचन औषधियों के गुण—सोंठ का चूर्ण तथा गुड को एकत्र कर अथवा पीपल तथा सेंधा नमक को पानी में पीस कर यदि नस्य दे तो कान, नेत्र, नासिका, सिर, गरदन, दाढ़, गला, बाहु और पीठ के रोग नष्ट हो जाते हैं। महुआ का रस, पीपल, वच, मिरिच और सेंधा नमक को थोड़े-थोड़े गरम जल से पीसकर नस्य देने से मृगी, उन्माद, सन्निपात तथा अपतन्त्रक नष्ट होता है॥ २०६-२०८॥

अथ रेचननस्यस्यापरविधिमाह—

सैन्धवं श्वेतमरिचं सर्षपाः कुष्ठमेव च। वस्तमूत्रेण संपिष्टं नस्यं तन्द्रानिवारणम्॥ २०९॥

रेचन नस्य का दूसरा प्रकार—सेंधा नमक, श्वेत मरिच (सहजने के बीज), सरसों तथा कूठ को बकरे के मूत्र में पीस कर नस्य देने से तन्द्रा नष्ट होती है॥ २०९॥

अथ प्रधमननस्यस्यौषधिमाह—

रोहितस्य च पित्तेन भावितं मरिचं वचा। कट्फलं चेति तच्चूर्णं देयं प्रधमनं बुधैः॥ २१०॥

प्रधमन नस्य की ओषधियाँ—मिर्च, वच तथा कायफल का चूर्ण करके रोहू मछली के पित्त की भावना देकर नली द्वारा प्रधमन नस्य देना चाहिये॥ २१०॥

अथ बृंहणस्नेहननस्यस्य कल्पनामाह—

अथ बृंहणनस्यस्य कल्पना कथ्यतेऽधुना। मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्वौ भेदौ स्नेहने मतौ॥ २११॥ मर्शस्य तर्पणी मात्रा मुख्या शाणैः स्मृताऽष्टभिः। मध्यमा तु चतुःशाणैर्हीना शाणमिता मता॥ एकैकस्मिंस्तु मात्रेयं देया नासापुटे बुधैः॥ २१३॥

स्नेहननस्य की कल्पना—स्नेहननस्य के मर्श और प्रतिमर्श दो भेद होते हैं। प्रत्येक नासा पुट में आठ आठ शाण (३२ माशा) मर्श डाली जाय तो यह मर्श की मात्रा उत्तम होती है एवं चार शाण (१६ माशे) की मात्रा मध्यम तथा एक एक शाण (४ माशे) की मात्रा कनिष्ठ मात्रा कही जाती है॥ २११-२१३॥

मर्शस्य द्वित्रिवेलं वा वीक्ष्य दोषबलाबलम्। एकान्तरं द्व्यन्तरं वा नस्यं दद्याद्विचक्षणः॥२१४॥

बुद्धिमान् वैद्य दोषों का बलाबल देख कर एक दिन में दो-तीन बार या एक दिन के अन्तर से अथवा दो दिन के अन्तर से मर्श नस्य का उपयोग करावे॥ २१४॥

***एकान्तरम् = एकं दिनमन्तरं नस्यशून्यं यत्र तदेकान्तरम्॥ २१४॥**

यहां 'एकान्तरम्' पद का 'एक दिन अन्तर नस्य देने से शून्य है जिसमें ऐसा नस्य अर्थात् एक दिन के अन्तर से नस्य' यह अर्थ समझना चाहिये॥ २१४॥

त्र्यहं पञ्चाहमथवा सप्ताहं वा सुयन्त्रितः॥ २१५॥

तीन या पाँच अथवा सात दिन तक बराबर सावधानी से नस्य का उपयोग करे॥ २१५॥

***अथवा त्र्यहम् = त्रीण्यहानि यावत्, प्रतिदिनम्। एवं पञ्चाह सप्ताहं च। सुयन्त्रितः = सावधानः। यथा उच्छिक्कं न भवति॥ २१५॥**

यहां 'त्र्यहम्' पद का 'तीन दिन तक प्रतिदिन (बराबर)' और इसी भांति 'पञ्चाह और सप्ताह' का भी 'पाँच या सात दिन तक प्रतिदिन' यह अर्थ समझना चाहिये। 'सुयन्त्रितः' का 'सावधानी से नस्य दे कि जिसमें छींक इत्यादि न आवे' यह अर्थ समझना चाहिये॥ २१५॥

मर्शे शिरोविरेके च व्यापदो विविधाः स्मृताः। दोषोत्क्लेशात्क्षयाच्चैव विज्ञेयास्ता यथाक्रमम्॥ दोषोत्क्लेशनिमित्तासु युञ्ज्याद्वमनशोधनम्॥ २१६॥

मर्श नस्य देने के समय यदि स्थानभ्रष्ट दोष कुपित हुये हों तो उससे और शिरो-विरेचनार्थ रेचन नस्य के उपयोग से, धात्वादि के क्षय से विविध प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। यदि स्थान भ्रष्ट दोष के प्रकोप से रोग उत्पन्न हो जाय तो वमनरूप शोधन का प्रयोग करना उचित है॥ २१६॥

***वमनशोधनम् = वमनरूपं शोधनम् ॥ २१६ ॥**

यहां 'वमनशोधनम्' का 'वमनरूप शोधन' अर्थ समझना चाहिये ॥ २१६ ॥

अथ क्षयनिमित्तासु यथास्वं बृंहणं हितम् । शिरोनासाऽक्षिरोगेषु सूर्यावर्त्तार्द्धभेदके ॥ २१७ ॥
दन्तरोगे बले हीने मन्याबाहंसजे गदे । मुखशोषे कर्णनादे वातपित्तगदे तथा ॥ २१८ ॥
अकालपलिते चैव केशश्मश्रुप्रपातने । पूज्यते बृंहणं नस्यं स्नेहैर्वा मधुरद्रवैः ॥ २१९ ॥

यदि धात्वादि के क्षय से रोग उत्पन्न हुये हों तो तत्तद्धातुकवर्धक बृंहण (स्नेहन) नस्य का उपयोग हितकर होता है। शिरोविकार, नासिका के रोग, नेत्ररोग, सूर्यावर्त, आधा शीशी, (अधकपारी), दन्तरोग, बलक्षय, गर्दन, भुजा तथा कन्धा इनके रोगों में, मुखशोष, कर्णनाद, वातपित्त सम्बन्धी विकार, अकाल में बालों का श्वेत हो जाना एव जिसमें दाढी-मूछ बिल्कुल गिर पडे ऐसे रोगों में स्नेहों से अथवा मधुर पदार्थों के रस से बृंहण (स्नेहन) नस्य देना उत्तम है॥

अथ बृंहणनस्यस्य विधिमाह—

सशर्करं पयःपिष्टं भृष्टमाज्येन कुङ्कुमम् । नस्यप्रयोगतो हन्याद्वातरक्तभवा रुजः ॥
भ्रूशङ्खाक्षिशिरःकर्णसूर्यावर्त्तार्द्धभेदकान् ॥ २२० ॥

बृहण नस्य की विधि—शर्करा सयुक्त दूध में घी से भुनी केशर को पीस कर नस्य देने से वातरक्तजन्य पीडा नष्ट होती है। इसी प्रकार भौंह, कपाल, नेत्र, मस्तक तथा कान के रोग, सूर्यावर्त तथा आधा शीशी (अधकपारी) ये भी नस्य से नष्ट होते हैं ॥ २२० ॥

नस्यं स्यादणुतैलेन तथा नारायणेन वा । माषादिना वा सर्पिर्भिस्तत्तद्भेषजसाधितैः ॥२२१॥

अणु तेल, नारायण तेल, माषादि तेल अथवा तत्तद्रोगनाशक ओषधियों से पकाये हुये घी से भी बृहण नस्य देना चाहिये ॥ २२१ ॥

***अणुतैलमुक्तं सुश्रुतेन । तद्यथा—'तिलपरिपीडनोपकरणकाष्ठान्याहृत्य यैरनल्पकालं तिलाः परिपीडितास्तान्यणूनि खण्डशः कल्पयित्वा उलूखले संकुट्य कटाहे पानीये वाप्लाव्य क्वाथयेत् ततस्तैल निःसरति तत्तैलं शीतलं हस्तेन जलान्निःसार्य वातघ्नौषधकल्केन पचेत् । तदणुतैलमिति । तद्वातरोगहरम्' इति ॥ २२१ ॥**

अणुतैल सुश्रुत में इस प्रकार कहा है-जिससे बहुत दिनों तक तेल पेरा गया हो ऐसे तेल पेरने के कोल्हू के लकडी को लाकर उसके सूक्ष्म-सूक्ष्म टुकडे काट कर ओखली में कूट ले और पानी से भरी कडाही में डाल कर आच पर चढ़ा दे जब उससे तेल निकले तो उस तेल को हथेली से निकाल ले तत्पश्चात् वातनाशक ओषधियों के कल्क के साथ उसे पकावे इसको अणुतैल कहते हैं, यह वातसम्बन्धी रोगों को नष्ट करता है ॥ २२१ ॥

अथ नस्यस्यान्य विधिमाह—

तैलं कफे स्याद्वाते च केवले पवने वसाम् । दद्यान्नस्यं सदा पित्ते सर्पिर्मज्जानमेव च ॥२२२॥
माषात्मगुप्तारास्नाभिर्बलारुबुकरौहिषैः । कृतोऽश्वगन्धया क्वाथो हिङ्गुसैन्धवसंयुतः ॥२२३॥
कोष्णो नस्यप्रयोगेण पक्षाघातं सकम्पनम् । जयेदर्दितवातञ्च मन्यास्तम्भावबाहुकौ ॥२२४॥

नस्य का दूसरा प्रकार—कफ, वातसम्बन्धी रोगों में तेल और केवल वात रोग में वसा का नस्य देना चाहिये। पित्त रोग हो तो सर्वदा घी और मज्जा का नस्य देना चाहिये। उडद, केवाच के बीज, रास्ना, बला, एरण्ड की जड, रोहिष तृण और असगन्ध का क्वाथ करके उससे हींग तथा सेंधा नमक डाल कर कुछ गरम रहते हुए नस्य देने से कम्पसहित पक्षाघात (अर्द्धाङ्गवात), अर्दित (लकवा), मन्यास्तम्भ और अवबाहुक रोग नष्ट हो जाते हैं ॥ २२२-२२४ ॥

अथ प्रतिमर्शस्य मात्राविषये आह—

प्रतिमर्शस्य मात्रा तु द्वित्रिबिन्दुमिता मता । प्रत्येकशो नासिकया स्नेहनेति विनिश्चितम् ॥
स्नेहे ग्रन्थिद्वयं यावन्निमग्ना चोद्धता ततः । तर्जनी यं स्रवेद्बिन्दुं सा मात्रा बिन्दुसंज्ञिता ॥
एवंविधैर्बिन्दुसङ्घैरष्टाभिः शाण उच्यते । स देयो मर्शनस्येषु प्रतिमर्शो द्विबिन्दुकः ॥ २२७ ॥

प्रतिमर्श की मात्रा—प्रत्येक नासा पुट में स्नेह की दो, तीन बूँद डाले इसको प्रतिमर्श कहते हैं। तर्जनी अंगुली को स्नेह में दो पोर तक डुबो कर निकाल ले, उस अंगुली से जो बूँद टपके वह बिन्दुरूप मात्रा कहलाती है। इसी प्रकार आठ बूँदों से शाण नामक मात्रा होती है जिसका मर्श

संज्ञक नस्य में उपयोग होता है दो-दो बूँद की मात्रा जिस नस्य में दी जाय वह प्रतिमर्श कहलाता है॥

अथ प्रतिमर्शस्य समयमाह—

समयाः प्रतिमर्शस्य बुधैः प्रोक्ताश्चतुर्दश। प्रभाते दन्तकाष्ठान्ते गृहान्निर्गमने तथा॥ २२८॥
व्यायामाध्वव्यवायान्ते विण्मूत्रान्तेऽञ्जने कृते। कवलान्ते भोजनान्ते दिवास्वप्नोत्थिते तथा॥
वमनान्ते तथा सायं प्रतिमर्शः प्रयुज्यते॥ २३०॥

प्रतिमर्श का समय-विद्वानों ने प्रतिमर्श नस्य देने के निम्न चौदह समय कहे हैं—

१. प्रभात काल, २. दतौन के पश्चात्, ३. घर से बाहर निकलते समय, ४. व्यायाम करने के बाद, ५. मार्ग चलकर आने के पश्चात्, ६. मैथुन के बाद, ७. मल त्यागने के पश्चात्, ८. मूत्र के पश्चात्, ९. अञ्जन लगाने के पीछे, १०. कवल खाने के पश्चात्, ११. भोजन केपश्चात्, १२. दिन में सोने के पीछे, १३. वमन करने के पीछे और १४. सायंकाल॥ २२८-२३०॥

ईषदुच्छिङ्कनात्स्नेहो यथा वक्त्रं प्रपद्यते। नस्ये निषिक्तं तं विद्यात्प्रतिमर्शप्रमाणतः॥ २३१॥
उच्छिष्टं न पिबेन्न निष्ठीवेन्मुखमागतम्॥ २३२॥

कुछ छींक आजाने पर नाक में डाला हुआ पदार्थ यदि मुख में आजाय तो जानना चाहिये कि प्रतिमर्श की उचित मात्रा हो चुकी है। नाक से मुख में आये हुए पदार्थ को पीना नहीं चाहिये बल्कि तुरन्त थूक देना चाहिये॥ २३१-२३२॥

***प्रमाणतः = मात्रायुक्तम्। उच्छिष्टम् = नस्यावशिष्टम्॥ २३१-२३२॥**

यहां 'प्रमाणतः' पद का 'उचित मात्रा हो चुकी है' और 'उच्छिष्टम्' पद का 'नस लेने पर नाक में बचा हुआ' यह अर्थ समझना चाहिये॥ २३१-२३२॥

अथ प्रतिमर्शस्य विषयान् गुणांश्चाह—

क्षीणे तृष्णाऽऽस्यशोषार्त्ते बाले वृद्धे च पूज्यते। प्रतिमर्शान्न जायन्ते रोगाश्चैवोर्ध्वजत्रुजाः।
बलीपलितनाशश्च बलमिन्द्रियजं भवेत्॥ २३३॥

प्रतिमर्श के विषय तथा गुण-क्षीण, प्यास तथा मुखशोष से व्याकुल रोगी, बालक तथा वृद्ध को प्रतिमर्श हितकर होता है। प्रतिमर्श के उपयोग करते रहने से ऊर्ध्व जत्रुगत रोग नहीं उत्पन्न होते, देह में झुर्रियों का पडना तथा पलित का नाश होता है और इन्द्रियों की शक्ति उत्तम होती है॥

बिभीतनिम्बौ गाम्भारी शिवा शेलुश्च काकिनी। एकैकतैलनस्येन पलितं नश्यति ध्रुवम्॥

बहेडा, नीम, खंभार, हरड़, लिसोडा और मालकांगनी में से हर एक पदार्थ के तेल का नस्य लेने के अभ्यास से अवश्य पलित (अकाल में बालों का श्वेत होना) नष्ट हो जाता है॥ २३४॥

अथ नस्यस्य सामान्यविधिमाह—

अथ नस्यविधिं वक्ष्ये नस्यग्रहणहेतवे। देशे वातरजोमुक्ते कृतदन्तनिघर्षणम्॥ २३५॥
विशुद्धं धूमपानेन स्विन्नभालगलं तथा। उत्तानशायिनं किञ्चित्प्रलम्बशिरसं नरम्॥ २३६॥
आस्तीर्णहस्तपादञ्च वस्त्राच्छादितलोचनम्। समुन्नामितनासाऽग्रं वैद्यो नस्येन योजयेत्॥२३७॥

नस्य की सामान्य विधि—वायु तथा धूल से रहित प्रदेश में दतौन कराने के पश्चात्, धूम्रपान करने से विशुद्ध होने के पीछे, कपाल तथा गले को स्वेदित कराने के बाद चित्त सुला कर मस्तक को कुछ नीचा कर दे तथा हाथ और पैरों को लम्बा फैलवा दे, तत्पश्चात् नेत्रों को वस्त्र से ढक कर नाक की नोक को ऊंची करके वैद्य रोगी को नस्य देवे॥ २३५-२३७॥

कोष्णेनाच्छिन्नधारेण हेमताराादिशुक्तिभिः। शुक्त्या वा यन्त्रयुक्त्या वा प्लोतैर्वा नस्यमाचरेत्॥

सुवर्ण अथवा चांदी आदि की चमची या सीप या किसी यन्त्र से या कपडे अथवा रूई के फोहे से बीच में धार न टूटे इस प्रकार कुछ गर्म नस्य नाक में डाले॥ २३८॥

*** प्लोतैर्वस्त्रैस्तदुपलक्षितैस्तूलैरपि॥ २३८॥**

यहां 'प्लोतैः' पद का 'कपडे अथवा उससे उपलक्षित रूई के फोहे से' यह अर्थ समझना चाहिये॥

नस्येष्वासिच्यमानेषु शिरो नैव प्रकम्पयेत्। न कुप्येन्न प्रभाषेत नोच्छिङ्क्वेन्न हसेत्तथा॥२३९॥
एतैर्हि विहितः स्नेहो नैवान्तं सम्प्रपद्यते। ततः कासप्रतिश्यायशिरोऽक्षिगदसम्भवः॥२४०॥

नस्य जिस समय नाक में डाला जाता है उस समय रोगी को शिर हिलाना, क्रोध करना, किसी से बोलना, छींकना तथा हंसना वर्जित है। क्योंकि ऐसा करने से नस्य भीतर नहीं पहुँचता

है और कास, प्रतिश्याय, शिरःशूल तथा नेत्रपीडा उत्पन्न हो जाती है ॥ २३९-२४०॥

शृङ्गाटकमभिव्याप्य स्थापयेन्न गिलेद् द्रवम्। पञ्च सप्त दशैव स्युर्मात्राः स्नेहस्य धारणे॥२४१॥
उपविश्याथ निष्ठीवेन्नासावक्त्रागतं द्रवम्। वामदक्षिणपार्श्वाभ्यां निष्ठीवेत्संमुखं न हि ॥२४२॥

नस्य को शृङ्गाटक पर्यन्त पहुँच जाने तक स्थिर रखे जिससे नस्य निकल न जाय। पाच, सात, अथवा दश गुरु अक्षरों के उच्चारण काल तक नस्य को धारण करना चाहिये। तत्पश्चात् बैठ कर नाक से मुख में आये हुये द्रव को दाहिनी अथवा बाईं ओर थूक दे, किन्तु सामने न थूके ॥

अथ नस्यदानानन्तरमकर्त्तव्यानि कर्माण्याह—

नीते नस्ये मनस्तापं रजःक्रोधञ्च सन्त्यजेत्। शयीत निद्रां त्यक्त्वा च प्रोत्तानो वाक्छतं नरः॥

नस्य दान के पश्चात् निषिद्ध कर्म—नस्य देने के पश्चात् मनस्ताप, धूल तथा क्रोध का त्याग कर देना चाहिये। जब तक सौ गुरु अक्षरों का उच्चारण काल हो तब तक चित्त लेटा रहे नींद से नहीं सोये ॥ २४३ ॥

तथा शिरोविरेकान्ते धूमो वा कवलो हितः। नस्ये त्रीण्युपदिष्टानि लक्षणानि प्रयोगतः ॥२४४॥
शुद्धहीनातियोगा हि विज्ञेयाः शास्त्रचिन्तकैः। लाघवं मलसंशुद्धिः स्रोतसां व्याधिसंक्षयः॥
चित्तेन्द्रियप्रसादश्च शिरसः शुद्धिलक्षणम् ॥ २४५ ॥

शिरोविरेचन के पश्चात् धूम्रपान करना चाहिये या कवल खाना चाहिये यह हितकारक है।

नस्य प्रयोग करने के पश्चात् वैद्यक शास्त्र के चिन्तक वैद्यों को शुद्धयोग, हीनयोग और अतियोग की परीक्षा करनी चाहिये। उत्तम शुद्धि हो जाने पर शरीर में लघुता होती है, स्रोतों के मल साफ हो जाते हैं, शिरसम्बन्धी व्याधि का नाश और चित्त तथा इन्द्रियों में प्रसन्नता होती है ॥२४४-२४५॥

कण्डूः प्रदेहो गुरुता स्रोतसां कफसंस्रवः। मूर्ध्नि हीनाविशुद्धेस्तु लक्षणं परिकीर्त्तितम् ॥२४६॥

नस्य के अल्प प्रयोग से सिर की उत्तम शुद्धि न होने पर खुजली, शरीर में चिकनापन तथा गुरुता होती है और स्रोतो में कफ बढता है ॥ २४६ ॥

***हीनाविशुद्धे=हीननस्येनाविशुद्धेः ॥ २४६ ॥**

यहां 'हीनाविशुद्धेः' पद का 'हीनयोग होने से अर्थात् नस्य के अल्प प्रयोग से सिर की उत्तम शुद्धि न होने पर' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २४६ ॥

मस्तुलुङ्गागमो वातवृद्धिरिन्द्रियविभ्रमः। शून्यता शिरसश्चापि मूर्ध्नि गाढं विरेचिते ॥२४७॥

यदि शुद्धि का अतियोग हो गया हो तो नासिका से सिर की वसा गिरने लगती है और वात की वृद्धि, इन्द्रियों का अपने अपने विषयों को भली भांति ग्रहण न करना और मस्तक का शून्य हो जाना ये सब होते हैं ॥ २४७ ॥

***मस्तुलुङ्गम्=मस्तकान्तःस्नेहः। इन्द्रियविभ्रमः=इन्द्रियाणामयथाविषयग्रहः ॥२४७॥**

यहां 'मस्तुलुङ्ग' पद का 'सिर की वसा अर्थात् अन्दर का स्नेह' और 'इन्द्रियविभ्रम' पद का 'इन्द्रियों का अपने अपने विषयों को भली भाति ग्रहण न करना' यह अर्थ समझना चाहिये ॥२४७॥

अथ नस्यहीनयोगचिकित्सामाह—

हीनातिशुद्धे शिरसि कफवातघ्नमाचरेत्। तत्र हीनेन नस्येन शुद्धे वातघ्नमाचरेत् ॥ २४८ ॥
सम्यग्विशुद्धे शिरसि सर्पिर्नस्येन दीयते। कफप्रसेकः शिरसो गुरुतेन्द्रियविभ्रमः ॥ २४९ ॥
लक्षणं तदतिस्निग्धे तत्र रूक्षं प्रदापयेत्। भोजयेच्चानभिष्यन्दि नस्ये वातिक्रमादिशेत् ॥२५०॥

नस्य के हीनयोग तथा अतियोग की चिकित्सा—यदि नस्य का हीनयोग तथा अतियोग हो गया हो तो कफ-वातघ्न और केवल नस्य का हीनयोग हुआ हो तो वातघ्न उपचार करना चाहिये। यदि रेचन नस्य से सिर बहुत शून्य हो गया हो तो फिर घी का नस्य देना चाहिये। स्नेहन नस्य से सिर बहुत स्निग्ध हो गया हो तो कफ का स्राव होता है, शिर में गुरुता तथा इन्द्रियों में भ्रम होता है। यदि इस प्रकार अतिस्निग्ध के लक्षण प्रतीत हों तो रूक्ष पदार्थों का नस्य देना चाहिये। अभिष्यन्दी पदार्थों का सेवन न करे तथा वात-वर्द्धक क्रियाओं का नस्य में उपयोग करे ॥२४८-२५०॥

इति श्रीमिश्रलटकतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे परिभाषाऽऽदिप्रकरणे
पञ्चमं पञ्चकर्मविधिप्रकरण समाप्तम् ॥ ५ ॥

अथ षष्ठं धूमपानादिविधिप्रकरणम् ॥ ६ ॥

तत्रादौ धूमपानविधिमाह—

धूमस्तु षड्विधः प्रोक्तः शमनो बृंहणस्तथा। रेचनः कासहा चैव वामनो व्रणधूपनः ॥ १ ॥
शमनस्य तु पर्यायौ मध्यः प्रायोगिकस्तथा। बृंहणस्य च पर्यायौ स्नेहनो मृदुरेव च ॥ २ ॥
रेचनस्यापि पर्यायौ शोधनस्तीक्ष्ण एव च। अधूमार्हाश्च खल्वेते श्रान्तो भीतश्च दुःखितः ॥ ३ ॥
दत्तवस्तिर्विरिक्तश्च रात्रौ जागरितस्तथा। पिपासितश्च दाहार्त्तस्तालुशोषी तथोदरी ॥ ४ ॥
शिरोऽभितापी तिमिरी छर्द्याध्मानप्रपीडितः। क्षतोरस्कः प्रमेहार्त्तः पाण्डुरोगी च गर्भिणी ॥५॥
रूक्षः क्षीणोऽभ्यवहृतक्षीरक्षौद्रघृतासवः। भुक्तान्नदधिमत्स्यश्च वालो वृद्धः कृशस्तथा ॥ ६ ॥
अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान्। तत्रेष्टं सर्पिषः पानं नावनाञ्जनतर्पणम् ॥ ७ ॥
सर्पिरिक्षुरसं द्राक्षां पयो वा शर्कराऽम्बु वा। मधुराम्लौ रसौ वाऽपि वमनाय प्रदापयेत् ॥८॥
धूमस्तु द्वादशाद्वर्षाद् गृह्यतेऽशीतिकान्न च। कासश्वासप्रतिश्यायान् मन्याहनुशिरोरुजः ॥९॥
वातश्लेष्मविकारांश्च हन्याद्धूमः सुयोजितः। धूमोपयोगात्पुरुषः प्रसन्नेन्द्रियवाङ्मनाः ॥
दृढकेशद्विजश्मश्रुः सुगन्धिवदनो भवेत् ॥ १० ॥

धूमपान की विधि धूम छः प्रकार के होते हैं–१–शमन (दोषों को शान्त करने वाला), २–बृंहण (धातुओं को बढ़ाने वाला), ३–रेचन (दोषों को निकालने वाला), ४–कासहा (कासनाशक), ५–वामन (वमन कराने वाला) और ६–व्रणधूपन (व्रण को धूपित करने वाला)। इनमें शमन के मध्य तथा प्रायोगिक और बृंहण के स्नेहन तथा मृदु एवं रेचन के शोधन तथा तीक्ष्ण ये पर्याय हैं।

धूमपान के अयोग्य व्यक्ति—जो व्यक्ति थका हुआ या डरा हुआ किंवा दुःखित हो अथवा जिसे वस्ति दी गई हो या विरेचन दिया गया हो या जो रात्रि में जागा हुआ हो या प्यासा हुआ वा दाह से दुःखी हो या जिसका तालु सूखता हो किंवा जो उदर रोगी हो या जिसका शिर तप्त हो रहा हो वा तिमिर, वमन या अफारा से जो पीडित हो अथवा उरःक्षत, प्रमेह या पाण्डु रोग से युक्त हो और गर्भिणी स्त्री, रूक्ष तथा क्षीण शरीर वाला एवं दूध, शहद, घी या आसव का जिसने पान किया हो अथवा अन्न, दही या मछली जिसने खाई हो किंवा जो बालक, वृद्ध या कृश शरीर वाला हो तो वे सभी निश्चय धूमपान के अयोग्य समझे जाते हैं। असमय में तथा अधिक मात्रा में धूमपान करना अनेक उपद्रवों को उत्पन्न करने वाला होता है। ऐसे समय में उपद्रवों को शान्त करने के लिये घी पिलाना, नस देना, आंखों में अञ्जन लगाना, सन्तर्पण करना उत्तम होता है। घी, ऊख का रस, मुनक्का, दूध, चीनी का शर्बत, मधुर या अम्ल पदार्थों का रस वमन कराने में देना चाहिये। धूमपान बारह वर्ष की अवस्था से लेकर अस्सी वर्ष की अवस्था तक करना चाहिये, बारह से पहले और अस्सी के बाद नहीं करना चाहिये। यदि धूमपान का प्रयोग उत्तम रीति से किया जाय तो खासी, दमा, जुखाम, मन्या (गर्दन की शिरा का) स्तम्भ, हनु (जबडे का) स्तम्भ, सिर की पीडा, वात तथा कफसम्बन्धी विकार ये सब नष्ट हो जाते हैं। धूम का उपयोग करने वाले पुरुष की इन्द्रिया तथा मन प्रसन्न रहता है और वाणी स्वच्छ होती है। सिर, दाढी तथा मूछ के बाल एवं दान्त दृढ होते हैं और मुख सुगन्धित रहता है ॥ १–१० ॥

अथ धूमपाननलिकामानमाह—

धूमनाडी भवेत्तत्र त्रिखण्डा च त्रिपर्विका। कनिष्ठिकापरीणाहा राजमाषागमान्तरा ॥ ११ ॥

धूमपान की नली का मान—धूमपान करने में उसकी नली तीन टुकड़ों तथा तीन पर्व वाली एवं कनिष्ठिका अंगुली के समान मोटी और राजमाष (बोड़ा) जाने योग्य छिद्र वाली होनी चाहिये ॥ ११ ॥

***राजमाषागमा समस्ता नाडी ॥ ११ ॥**

यहां 'राजमाषागमा' पद से 'राजमाष (बोडा) जाने योग्य छिद्रवाली सम्पूर्ण नली' का बोध करना चाहिये ॥ ११ ॥

धूमनाडी भवेद्दीर्घा शमने रोगिणोऽङ्गुलैः। चत्वारिंशन्मितैस्तद्वद् द्वात्रिंशद्भिर्मृदौ मता॥१२॥

शमनसंज्ञक धूमपान में उसकी नली की लम्बाई रोगी के अंगुल से ४० अंगुल की होनी चाहिये और बृंहणसंज्ञक धूमपान में नली की लम्बाई ३२ अंगुल की होनी चाहिये॥ १२॥

***मृदौ = बृहणे॥ १२॥**

यहां 'मृदौ' पद का 'बृहणसंज्ञक धूमपान में' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १२॥

तीक्ष्णे चतुर्विंशतिभिः कासघ्ने षोडशोन्मितैः॥ १३॥

रेचनसंज्ञक धूमपान में २४ अंगुली की तथा कासनाशक धूमपान में १६ अगुल की नली की लम्बाई होनी चाहिये॥ १३॥

***तीक्ष्णे = रेचने॥ १३॥**

यहां 'तीक्ष्णे' पद का 'रेचनसंज्ञक धूमपान में' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १३॥

दशाङ्गुलैर्वामनीये तथा स्याद् व्रणनाडिका। कलायमण्डलस्थूला कुलत्थागमरन्ध्रिका॥१४॥

वमन कराने वाले धूमपान में तथा व्रण को धूपित करने में नली की लम्बाई १० अगुल की होनी चाहिये और मुटाई मटर के बराबर तथा उसके छिद्र की चौडाई कुलथी जाने लायक होनी चाहिये॥ १४॥

***तथा = दशाङ्गुलमिता॥ १४॥**

यहा 'तथा' पद से '१० अंगुल की' यह अर्थ समझना चाहिये॥ १४॥

अथ धूमपानविधिमाह—

अथेषिकां प्रलिम्पेच्च सुश्लक्ष्णां द्वादशाङ्गुलाम्। धूमद्रव्यस्य कल्केन लेपश्चाष्टाङ्गुलः स्मृतः॥

धूमपान की विधि—धूमपान की नली (हुक्का) तैयार कर चुकने के बाद एक अत्यन्त चिकनी शरकण्डे की १२ अंगुल लम्बी सलाई लेकर उसे जिस द्रव्य का धूम पीना हो उसके महीन कल्क (चटनी) से लपेट दे किन्तु इतना ध्यान अवश्य रहे कि लेप केवल आठ अगुल तक ही सलाई पर रहे॥ १५॥

***इषिकाम् = शरकाण्डम्॥ १५॥**

यहा 'ईषिका' पद से 'सरकण्डे की सलाई' का बोध करना चाहिये॥ १५॥

कल्कं कर्षमितं लिप्त्वा छायाशुष्कञ्च कारयेत्। ईषिकामपनीयाथ स्नेहाक्तां वर्त्तिमादरात्॥१६॥
अङ्गारैर्दीपितां कृत्वा धृत्वा नेत्रस्य रन्ध्रके। वदनेन पिबेद् धूमं वदनेनैव संत्यजेत्॥ १७॥
नासिकाभ्यां ततः पीत्वा मुखेनैव वमेत्सुधीः। शरावसम्पुटे क्षिप्त्वा कल्कमङ्गारदीपितम्॥
छिद्रे नेत्रं निवेश्याथ व्रणं तेनैव धूपयेत्॥ १८॥

एक तोला मात्र कल्क का सलाई के ऊपर लेप करके उसे छाया में सुखावे, जब सूख जाय तब सावधानी से सलाई को सूखे कल्क से अलग कर उक्त सूखे कल्क की वत्ती को घृत से तर करके उसके एक सिरे पर आग लगा कर दूसरे सिरे को धूमपान की नली के छिद्र के अन्दर रख दे तत्पश्चात् बुद्धिमान् को चाहिये कि मुख से पीये और मुख से ही धूम बाहर निकाले। यदि किसी व्रण को धूम देना हो तो उसकी ओषधि के उक्त रीति से बने कल्क को घृतयुक्त करके तत्पश्चात् उसमें आग लगा कर उसे एक शराव (कसोरा) के सम्पुट के अन्दर रख कर ऊपर के कसोरे में एक छिद्र कर दे और उस छिद्र के अन्दर धूम लेने की नली को घुसा कर रख दे, उसके बाद नली के द्वारा निकले हुए धूम से व्रण को धूपित करे॥ १६-१८॥

अथ धूमपानौषधिकल्कमाह—

एलादिकल्कं शमने स्निग्धं सर्जरसं मृदौ॥ १९॥
रेचने तीक्ष्णकल्कञ्च श्वासघ्ने क्षुद्रकोषणम्। वामने स्नायुचर्माद्यं दद्याद् धूमस्य पानकम्॥२०॥
व्रणे निम्बवचाद्यञ्च धूपनं संप्रशस्यते। अन्येऽपि धूमा गेहेषु कर्त्तव्या रोगशान्तये॥ २१॥

धूमपान में ओषधि का कल्क—शमनसंज्ञक धूमपान में छोटी इलायची आदि का, बृहण संज्ञक धूमपान में घृतादि युक्त राल का, रेचन संज्ञक धूमपान में तीक्ष्ण द्रव्यों का, श्वास (कास) नाशक धूमपान में कटेरी तथा काली मिरिच का और वामनसंज्ञक धूमपान में स्नायु तथा चमड़े के कल्क का धूमपान कराना चाहिये। व्रण में नीम, वच आदि के कल्क का धूम देना उचित होता है।

इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के भी धूम का प्रयोग रोग-शान्ति के लिये गृह में करना चाहिये ॥ १९-२१ ॥

अथ गृहदेयधूममाह—

मयूरपिच्छं निम्बस्य पत्राणि बृहतीफलम् । मरिचं हिङ्गु मांसी च बीजं कार्पाससम्भवम् ॥२२॥
छागरोमाहिनिर्मोको विष्ठा वैडालिकी तथा । गजदन्तश्च तच्चूर्णं किञ्चिद्घृतविमिश्रितम् ॥२३॥
गेहेषु धूपनं दत्तं सर्वान् बालग्रहान् हरेत् । पिशाचान् राक्षसान् हत्वा सर्वज्वरहरं भवेत् ॥२४॥

गृह में देने योग्य धूम—मयूर का पंख, नीम के पत्ते, बड़ी कटेरी के फल, काली मिरिच, हींग, जटामांसी, कपास के बीज (बिनौला), बकरे का बाल, सांप की केंचुल, बिल्ली की विष्ठा, हाथीदांत, इन सबों का चूर्ण करके उसमें थोड़ा घी मिला कर गृह में धूनी देने से सभी प्रकार के बालकों के ग्रह दूर होते हैं तथा यह धूनी पिशाच तथा राक्षस सम्बन्धी बाधा को दूर कर सम्पूर्ण ज्वर को नष्ट करती है । इसीका नाम 'अपराजित धूम' है ॥ २२-२४ ॥

*** अहिनिर्मोकः = सर्पकञ्चुकः ॥ २२-२४ ॥**

यहां 'अहिनिर्मोक' पद का 'साप की केंचुल' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २२-२४ ॥

इत्यपराजितो धूमः ।

अथ धूमपाने त्याज्यकार्याण्याह—

मनस्तापं रजःक्रोधौ धूमपाने निवारयेत् । नेत्राणि धातुजान्याहुर्नलवंशादिजान्यपि ॥ २५ ॥

धूमपान में त्याग करने योग कार्य—धूमपान करने पर मन में सन्ताप नहीं होने देना चाहिये तथा धूलि से दूर रहना चाहिये और क्रोध नहीं करना चाहिये । धूमपान की नली या तो तामा आदि धातु की अथवा नरसल या बांस की बनानी चाहिये ॥ २५ ॥

अथ गण्डूषकवलप्रतिसारणविधिमाह ।

तत्र गण्डूषविधिमाह—

स्नेहक्षीरकषायादिद्रवैः सम्पूर्णमाननम् । आपूर्य स्थीयते तावद्विधिर्गण्डूषधारणे ॥ २६ ॥
कफपूर्णास्यता यावच्छेदो दोषस्य वा भवेत् । नेत्रघ्राणस्रुतिर्यावत्तावद्गण्डूषधारणम् ॥ २७ ॥
गण्डूषान् सुस्थितः कुर्यात्स्विन्नभालगलादिकः । मनुष्यस्त्रींस्तथा पञ्च सप्त वाऽऽदोषनाशनात् ॥

गण्डूष की विधि—स्नेह (घृतादि), दूध, क्वाथ आदि द्रव पदार्थों से मुख को पूर्ण रीति से भर कर जब तक रखने की विधि हो तब तक रखना यही गण्डूष धारण (कुल्ले करने) की विधि है । गण्डूष (कुल्ला) मुख में धारण करने का समय—जब तक कफ से मुख न भर जाय या दोष नष्ट न हो जाय अथवा आँख तथा नाक से पानी न झरने लगे तब तक मुख में गण्डूष धारण करना चाहिये । मनुष्य को चाहिये कि वह स्थिर आसन से बैठ कर तब तक कपाल, गला, गण्डस्थल तथा गालों पर पसीना न आ जाय अथवा जब तक दोष दूर न हो जाय तब तक ३, ५ अथवा ७ कुल्ले करे ॥ २६-२८ ॥

***गलादिकः = इत्यादिशब्देन गण्डकपोलौ गृह्येते सुश्रुतोक्तत्वात् ॥ २६-२८ ॥**

यहाँ सुश्रुत महर्षि के वचनानुसार 'गलादिक' में आदि शब्द से 'गण्डस्थल तथा कपोल का भी ग्रहण किया गया है' ॥ २६-२८ ॥

अथ गण्डूषभेदानाह—

चतुर्विधः स्याद् गण्डूषः स्नेहनः शमनस्तथा । शोधनो रोपणश्चैव कवलश्चापि तादृशः ॥२९॥
स्निग्धोष्णैः स्नैहिको वाते स्वादुशीतैः प्रसादनः । पित्ते कट्वम्ललवणैरुष्णैः संशोधनः कफे ।
कषायतिक्तमधुरैः कटूष्णो रोपणो व्रणे ॥ ३० ॥

गण्डूष के भेद—१-स्नेहन, २-शमन, ३-शोधन और ४-रोपण इन भेदों से गण्डूष और इसी भांति कवल भी चार प्रकार का होता है । वातसम्बन्धी दोष में स्निग्ध तथा उष्ण द्रवपदार्थों के द्वारा जो गण्डूष धारण किया जाता है उसे स्नैहिक (स्नेहन) कहते हैं । पित्तसम्बन्धी दोष में स्वादिष्ट तथा शीतल द्रव पदार्थों से जो गण्डूष धारण किया जाता है उसे प्रसादन (शमन) और कफसम्बन्धी दोष में कटु, अम्ल तथा लवणसयुक्त उष्ण द्रवपदार्थों से जो गण्डूष धारण किया जाता है

उसे संशोधन एवं व्रण में कषाय, तिक्त तथा मधुर रसयुक्त किञ्चित् उष्ण द्रव पदार्थों से जो गण्डूष धारण किया जाता है उसे रोपणसंज्ञक गण्डूष कहते हैं ॥ २९-३० ॥

अथ गण्डूषकवलौषधमानमाह—

दद्याद् द्रव्येषु चूर्णञ्च गण्डूषे कोलमात्रकम् । कर्षप्रमाणः कल्कश्च कवले दीयते बुधैः ॥ ३१ ॥

गण्डूष तथा कवल की औषधियों का मान—गण्डूष धारण करना हो तो द्रव पदार्थों में डालने के लिये चूर्ण की मात्रा १ कोल (३ माशे) की होनी चाहिये । यदि कवल लेना हो तो उसमें कल्क की मात्रा १ कर्ष (१ तोला) की होनी चाहिये ॥ ३१ ॥

अथ गण्डूषकवलयोरवस्थामर्य्यादामाह—

धार्यन्ते पञ्चमाद्वर्षाद्गण्डूषाः कवलादयः ॥ ३२ ॥

गण्डूष तथा कवल धारण करने में अवस्था की मर्यादा—५ वर्ष की अवस्था हो जाने के वाद गण्डूष तथा कवल आदि धारण करना उचित होता है ॥ ३२ ॥

व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्रलाघवम् । इन्द्रियाणां प्रसादश्च गण्डूषे विधृते भवेत् ॥ ३३ ॥
हरेदास्यस्य वैरस्यं शोषं पाकं व्रणं तृषाम् । दन्तचालञ्च गण्डूषो वैशद्य तु करोति हि ॥ ३४ ॥

गण्डूष धारण के गुण—गण्डूष धारण करने पर व्याधियों का नाश, चित्त में सन्तोष, स्वच्छता, मुख में लघुता तथा इन्द्रियों की प्रसन्नता ये सब उत्पन्न होते हैं और मुख की विरसता, शोष (मुख का सूखना) तथा पाक (मुख का पक जाना) दूर होता है एवं व्रण, तृषा और दांतों का हिलना ये सब नष्ट हो जाते हैं और मुखादि की स्वच्छता भी होती है ॥ ३३-३४ ॥

अथ कवलविधिमाह—

वातपित्तकफघ्नस्य द्रव्यस्य कवलं मुखे । अर्द्धं निक्षिप्य संचर्व्य निष्ठीवेत्कवले विधिः ॥३५॥
कवलः कुरुते काङ्क्षां भक्ष्येषु हरते कफम् । तृष्णां शोषञ्च वैरस्यं दन्तचालञ्च नाशयेत् ॥३६॥

कवलधारण की विधि—योग्यतानुसार वात, पित्त तथा कफनाशक ओषधियों का कवल (ग्रास) मुख के अर्ध भाग में रखकर और उसे चबा कर थूक देना चाहिये । इसी को कवलधारण की विधि कहते हैं । **कवलधारण के गुण**—कवलधारण करने से भक्ष्य पदार्थों के खाने में रुचि उत्पन्न होती है और कफ नष्ट होता है एव तृषा, मुख का शोष (सूखना) तथा विरसता और दांतों का हिलना दूर हो जाता है ॥ ३५-३६ ॥

अथ प्रतिसारणविधिमाह—

"तज्जिह्वामुखानां यच्चूर्णकल्कावलेहकैः । शनैर्घर्षणमङ्गुल्या तदुक्तं प्रतिसारणम् ॥ ३७ ॥
वैरस्य मुखदौर्गन्ध्यं मुखशोषं तथा तृषाम् । अरुचिं दन्तपीडाञ्च निहन्ति प्रतिसारणम् ॥३८॥
हीने जाड्यकफोत्क्लेशावरसज्ञानमेव च । अतियोगान्मुखे पाकः शोषस्तृष्णावमिः क्लमः ॥३९॥

प्रतिसारण की विधि—चूर्ण, कल्क अथवा अवलेह द्वारा अगुली से दात, जीभ तथा मुख को जो धीरे-धीरे घिसा जाता है अर्थात् मञ्जन किया जाता है उसी को प्रतिसारण कहते हैं । प्रतिसारण (मञ्जन) करने से मुख की विरसता, दुर्गन्ध तथा शोष (मुख का सूखना) नष्ट होता है और तृषा, अरुचि तथा दातों की पीडा दूर होती है । यदि प्रतिसारण हीन मात्रा में किया जाय तो जडता, कफ का प्रकोप तथा मधुरादि रसों का परिज्ञान न होना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं । यदि अधिक मात्रा में प्रतिसारण किया जाय तो मुख का पाक (पक जाना) तथा शोष (सूखना) एव तृषा, वमन तथा ग्लानि ये सब उत्पन्न होते हैं ॥ ३७-३९ ॥

अथ स्वेदविधिमाह—

स्वेदश्चतुर्विधः प्रोक्तस्तापोष्मस्वेदसञ्ज्ञितः । उपनाहो द्रवः स्वेदः सर्वे वातार्त्तिहारिणः ॥४०॥

स्वेदकी विधि—स्वेद (पसीना निकालना) के ४ भेद होते हैं—१ तापस्वेद, २ उष्मस्वेद, ३ उपनाहस्वेद और ४ द्रवस्वेद । ये चारो स्वेद वातसम्बन्धी पीडा को नष्ट करने वाले होते हैं ॥४०॥

***तापस्वेद उष्मस्वेदश्च ताभ्यां संज्ञितः । उपनाहः=उपनाहस्वेद इत्यर्थः ॥ ४० ॥**

यहां 'तापोष्मस्वेदसञ्ज्ञित.' पद का 'तापस्वेद तथा उष्मस्वेद नाम से प्रसिद्ध' और 'उपनाह' पद का 'उपनाह स्वेद' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४० ॥

स्वेदौ तापोष्मजौ प्रायः श्लेष्मघ्नौ समुदीरितौ । उपनाहस्तु वातघ्नः पित्तसङ्गे द्रवो हितः ॥४१॥

उक्त ४ प्रकार के स्वेदों में तापस्वेद तथा ऊष्मस्वेद कफनाशक और उपनाह स्वेद वातनाशक कहा हुआ है । जहां पित्त का विशेष सम्बन्ध होता है वहां द्रवस्वेद हितकर कहा हुआ है ॥ ४१ ॥

***द्रवो हि द्रवस्वेदः ॥ ४१ ॥**

यहां 'द्रव' पद से 'द्रवस्वेद' का ग्रहण किया जाता है ॥ ४१ ॥

महाबले महाव्याधौ शीते स्वेदो महान् स्मृतः । दुर्बले दुर्बलः स्वेदो मध्यमे मध्यमो मतः ।
बलासे रूक्षणः स्वेदो रूक्षस्निग्धः कफानिले ॥ ४२ ॥

यदि रोगी महाबलवान् हो और व्याधि भी बडी हो और शीत काल हो तो प्रबल स्वेद कराना चाहिये । यदि रोगी तथा व्याधि दुर्बल हो तो दुर्बल स्वेद कराना उचित है । मध्यम बलवाला रोगी या व्याधि हो तो मध्यम स्वेद कराना चाहिये । कफसम्बन्धी रोगों में रूक्षण (रूक्षता करनेवाला) स्वेद कराना चाहिये । कफयुक्त वायुसम्बन्धी रोगों में रूक्ष तथा स्निग्ध स्वेद कराना चाहिये ॥४२॥

***रूक्षणः = रूक्षयतीति रूक्षणः । नन्द्यादित्वाल्ल्युट् प्रत्ययः ॥ ४२ ॥**

यहां 'रूक्षण' पद का 'रूक्षता करने वाला' यह अर्थ समझना चाहिये । और 'रूक्ष्' धातु से 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' इस सूत्र से नन्यादि के अन्दर पाठ होने से ल्यु प्रत्यय हुआ और ल की इत्संज्ञा होने के बाद यु को न हुआ है तथा नकार को णकार होकर सु विभक्ति आई और रुत्व विसर्ग होकर 'रूक्षणः' यह पद सिद्ध होता है' ॥ ४२ ॥

कफमेदोवृते वाते कोष्णं गेहं रवेः करान् । नियुद्धं मार्गगमनं गुरु प्रावरणं ध्रुवम् ॥ ४३ ॥
चिन्ताव्यायामभारांश्च सेवेतामयमुक्तये । येषां नस्यं प्रदातव्यं वस्तिश्चापि हि देहिनाम् ॥४४॥
शोधनीयाश्च ये केचित् पूर्वं स्वेद्याश्च ते मताः । स्वेद्या ऊर्ध्वं त्रयोऽपीह भगन्दर्यर्शसस्तथा ॥
अश्मर्या चातुरो जन्तुः शमयेच्छस्त्रकर्मणः ॥ ४६ ॥

कफ तथा मेद से युक्त यदि वायुसम्बन्धी रोग हो तो उसकी निवृत्ति के लिये रोगी को किंचिद् गर्म गृह में रखना, सूर्य की किरणों का सेवन कराना एवं मल्ल युद्ध (कुश्ती लडना), पैदल रास्ता चलना, भारी मोटा वस्त्र ओढ़ना, चिन्ता करना, व्यायाम (कसरत) तथा भार उठाना इन सबों को यथायोग्य कराना चाहिये । जिन रोगियों को नस्य (नास) या वस्ति देना हो अथवा वमन-विरेचन द्वारा शोधन करना हो उन सबों को सर्व प्रथम स्वेद देना चाहिये । भगन्दर, अर्श तथा पथरी से पीड़ित रोगी शस्त्रकर्म (चीर-फार) के पहले तथा पीछे स्वेद देने के योग्य होते हैं ॥

***शस्त्रकर्मण ऊर्ध्वं पश्चाच्चेति सुश्रुते ॥ ४३-४६ ॥**

यहां 'शस्त्रकर्म के पहले तथा पीछे स्वेद देना' यह सुश्रुत में कहा हुआ है ॥ ४३-४६ ॥

पश्चात्स्वेद्या हृते शल्ये मूढगर्भगदे तथा । काले प्रजाताऽकाले वा पश्चात्स्वेद्या नितम्बिनी ॥४७॥
सर्वान्स्वेदान्निवाते च जीर्णेऽन्ने वाऽवचारयेत् । स्वेदाद्धातुस्थिता दोषाः स्नेहक्लिन्नस्य देहिनः ॥४८॥
द्रवत्वं प्राप्य कोष्ठान्तर्गत्वा यान्ति विरेकताम् ।
स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य शीतैराच्छाद्य चक्षुषी । स्वेद्यमानशरीरस्य हृदयं शीतलैः स्पृशेत् ॥ ४९ ॥

स्त्री के मूढगर्भ रोग में, शल्य निकाल लेने के पश्चात् स्वेद देना उचित होता है एवं समय होने पर या असमय में ही प्रसव होने के बाद प्रसूता स्त्री को स्वेद देना चाहिये । भोजन किये हुये अन्न के पच जाने पर वायुरहित स्थान में पूर्वोक्त सभी स्वेद देना चाहिये । स्नेह (तैलादि) से अभ्यङ्ग (मालिश) कर चुकने पर रोगी को स्वेद देने से धातु (रस—रक्तादि) गत वातादि दोष द्रवित होकर कोठे के अन्दर जाकर विरेकता को प्राप्त होते हैं अर्थात् सम्पूर्ण दोष बाहर निकल जाते हैं । रोगी के शरीर में प्रथम स्नेह (तैलादि) का खूब मालिश करके पश्चात् उसके दोनों नेत्रों को शीतल गीले वस्त्र आदि से ढक कर स्वेद देना चाहिये । स्वेद देते समय उसके हृदय को भी शीतल गीले वस्त्र आदि से स्पर्श कराते रहना चाहिये ॥ ४७-४९ ॥

***शीतलैः = आर्द्रवस्त्रादिभिः ॥ ४९ ॥**

यहाँ 'शीतलैः' पद का 'शीतल गीले वस्त्र आदि से' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४७-४९ ॥

अजीर्णी दुर्बली मेही क्षतक्षीणः पिपासितः ॥ ५० ॥

अतिसारी रक्तपित्ती पाण्डुरोगी तथोदरी। मेदस्वी गर्भिणी चैव न हि स्वेद्या विजानता ॥५१॥

स्वेद के अयोग्य व्यक्ति—जिसे अजीर्ण हुआ हो या जो दुर्बल, मेहरोग युक्त, क्षत से क्षीण, प्यासा, अतीसार, रक्तपित्त, पाण्डुरोग, उदररोग किंवा मेदरोग से पीडित हो अथवा जो गर्भिणी स्त्री हो उसे जान बूझ कर कभी भी स्वेद नहीं देना चाहिये ॥ ५०-५१ ॥

स्वेदादेषां याति देहो विनाशं, नो साध्यत्वं यान्ति तेषां विकाराः ॥ ५२ ॥

एतानपि मृदुस्वेदैः स्वेदसाध्यानुपाचरेत्। मृदुस्वेदं प्रयुञ्जीत तथा हृन्मुष्कदृष्टिषु ॥५३॥

अतिस्वेदात्सन्धिपीडा दाहस्तृष्णा क्लमो भ्रमः। पित्तासृक्पिडिकाकोपस्तत्र शीतैरुपाचरेत् ॥

उक्त रोगियों को यदि स्वेद दिया जाय तो उनका शरीर नष्ट हो जाता है तथा उन सबों के रोग भी साध्य कोटि के (शीघ्र अच्छे होने योग्य) नहीं रह जाते हैं। यदि इन लोगों को स्वेद द्वारा शान्त होने योग्य रोग उत्पन्न हो जायं तो मृदु स्वेद द्वारा उनका उपचार करना उचित होता है। हृदय, अण्डकोश तथा नेत्र इनमें यदि स्वेद देना हो तो मृदु स्वेद देना चाहिये। अधिक स्वेद देने से सन्धियों में पीडा, दाह, प्यास, क्लान्ति, भ्रम, पित्त तथा रक्त के प्रकोप से उत्पन्न हुये फोड़े ये सब हो जाते हैं। उस समय शीतल उपचार आर्द्र वस्त्रादि द्वारा करना उचित होता है। अतः भली भाति से स्वेद देना चाहिये ॥ ५२-५४ ॥

अथ तापस्वेदविधिमाह—

तेषु तापाभिधः स्वेदो वालुकावस्त्रपाणिभिः। कपालकन्दुकाङ्गारैर्यथायोग्यं हि जायते ॥ ५५ ॥

तापस्वेद की विधि—उक्त स्वेदों में ताप नामक स्वेद वह कहलाता है जिसमें योग्यतानुसार बालू, वस्त्र, हाथ, ठीकरा, कपड़े की गेंदके आकार की पोटली या अङ्गार द्वारा स्वेद दिया जाता है॥

अथोष्मस्वेदविधिमाह—

प्रतप्तैरम्लसिक्तैश्च कायेऽलक्तकवेष्टिते ॥

ऊष्मस्वेदः प्रयोक्तव्यो लोहपिण्डेष्टकादिभिः। अथवा वातनिर्णाशिद्रव्यक्काथरसादिभिः ॥

उष्णैर्घटं पूरयित्वा पार्श्वे छिद्रं विधाय च। विमुद्रयास्यं त्रिखण्डां च धातुजां काष्ठजामुत ॥५७॥

षडङ्गुलास्यां गोपुच्छां नाडीं युञ्ज्याद् द्विहस्तकाम्।

सुखोपविष्टं स्वभ्यक्तं गुरुप्रावरणावृतम्। हस्तिशुण्डिकया नाड्या स्वेदयेद्वातरोगिणम् ॥५८॥

ऊष्मस्वेद की विधि—रोगी के शरीर को लाख के रस से रंगे हुये वस्त्र से लपेट कर अत्यन्त तपाये हुये लोहे के पिण्ड अथवा पक्के मिट्टी के ईंटों को काञ्जी से बुझाते हुये उनसे जो स्वेद दिया जाता है उसे 'ऊष्मस्वेद' कहते हैं। अथवा गर्म वातनाशक द्रव्यों के क्वाथ या रस से एक घडे को भर कर उसके बगल में एक छिद्र कर दे और घडे के मुख को एक शराव (कसोरा) से खूब बन्द कर दे तत्पश्चात् तीन सधि वाली, धातु या काठ की बनी हुई, भीतर छिद्र युक्त नली जो कि मूल भाग में ६ अंगुल चौडी मुख वाली, गौ के पूछ के समान क्रम से पतली तथा दो हाथ लम्बी हो, उसे उक्त छिद्र के अन्दर डाल कर सन्धियों को बन्द कर दे तत्पश्चात् भली भाति तेल की मालिश करके सुखपूर्वक बैठे हुये वातरोगी को भारी रजाई आदि वस्त्र उढा कर हाथी की सूंड के समान क्रम से पतली उक्त नली द्वारा जो स्वेद दिया जाता है उसे भी 'ऊष्म-स्वेद' कहते हैं ॥ ५६-५८ ॥

***त्रिखण्डामिति स्वेदसौकर्यार्थम्। षडङ्गुलास्यामिति मूले षडङ्गुलविशालमुखीं गोपुच्छमिव क्रमकृशाम्। तेनाग्रे गोपुच्छाग्रपरिमाणेन कृशाम्। नाडीम् = अन्तः सरन्ध्राम्। द्विहस्तकां = हस्तद्वयपरिमाणाम्। हस्तिशुण्डिकयेति हस्तिशुण्डेव क्रमकृशत्वान्नाड्या इयं सञ्ज्ञा ॥ ५६-५८ ॥**

यहां 'स्वेद देने में सुविधा होने के लिये 'त्रिखण्डाम्—तीन सन्धियों वाली' यह विशेषण नली का दिया गया है। 'षडङ्गुलास्याम्' पदका 'मूल में ६ अगुल चौडे मुखवाली' तथा 'गोपुच्छाम्' पद का 'गौ के पूछ के समान क्रम से पतली' अर्थात्—अग्रभाग में गौ के पूछ के अग्रभाग के समान पतली' और 'नाडीम्' पद का 'भीतर छिद्र युक्त नली' एवं 'द्विहस्तकाम्' पदका 'दो हाथ लम्बी' तथा 'हस्तिशुण्डिकया' पदसे 'हाथी की सूड के समान क्रम से पतली होने से नली का 'हस्तिशुण्डिका' यह नाम है' ऐसा समझना चाहिये ॥ ५६-५८ ॥

पुरुषायाममात्रां वा भूमिं सम्मार्ज्य खादिरैः। काष्ठैर्दग्ध्वा तथाऽभ्युक्ष्य क्षीरधान्याम्लवारिभिः ॥५९॥
वातघ्नपत्रैराच्छाद्य शयानं स्वेदयेन्नरम् । एवं माषादिभिः स्विन्नैः शयानं स्वेदमाचरेत् ॥ ६० ॥

अथवा रोगी की लम्बाई तथा चौडाई के बराबर लम्बी तथा चौडी भूमि को झाड़ू से बहार कर उस पर खैर की लकड़ी रख कर जला दे तत्पश्चात् राख को अलग कर उस तपी भूमि पर दूध वा पूर्वोक्त धान्याम्ल (काजी) का जल छिड़क कर उसके ऊपर वातनाशक एरण्ड आदि के पत्रों को बिछा दे और उन्हीं पत्रों पर रोगी को सुला कर तथा मोटे वस्त्र से ओढ़ा कर जो स्वेद दिया जाता है उसे भी ऊष्मस्वेद कहते हैं। इसी तरह उबाले हुये उडद आदि के ऊपर रोगी को सुला कर जो स्वेद दिया जाता है वह भी ऊष्मस्वेद कहलाता है॥ ५९-६० ॥

अथोपनाहस्वेदविधिमाह—

अथोपनाहस्वेदञ्च कुर्याद्वातहरौषधैः। प्रदिह्य देहं वातार्त्तं क्षीरमांसरसादिभिः ॥ ६१ ॥
अम्लपिष्टैः सलवणैः सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः । अथ ग्राम्यानूपमांसैर्जीवनीयगणेन च ॥ ६२ ॥
दधिसौवीरकक्षीरर्वीरतर्वादिना तथा । कुलत्थमाषगोधूमैरतसीतिलसर्षपैः ॥ ६३ ॥
शतपुष्पादेवदारुशेफालीस्थूलजीरकैः। एरण्डमूलजीरैश्च रास्नामूलकशिग्रुभिः ॥ ६४ ॥
मिसिकृष्णाकुठेरैश्च लवणैरम्लसंयुतैः। प्रसारण्यश्वगन्धाभ्यां बलाभिर्दशमूलकैः ॥ ६५ ॥
गुडूच्या वानरीबीजैर्यथालाभसमाहृतैः। क्षुण्णैः स्विन्नैश्च वस्त्रेण बद्धैः संस्वेदयेन्नरम् ॥६६॥
महाशाल्वणसंज्ञोऽयं योगः सर्वानिलार्त्तिहृत् ॥ ६७ ॥

उपनाहस्वेद की विधि—वातनाशक द्रव्यों को काजी या छाछ आदि अम्ल पदार्थों के द्वारा पीस कर उसमें सेन्धा नमक, स्नेह (घी या तेल), दूध, मांसरस (सुरुवा) मिला कर गर्म करके सहन करने योग्य होने पर रोगी के जिस अङ्ग में वात की पीड़ा होती हो वहा पर पूर्वोक्त कल्क का लेप करके जो स्वेद दिया जाता है वह 'उपनाहस्वेद' कहलाता है। इस प्रकार ग्राम में रहने वाले तथा आनूप (जल के समीप या जल में रहनेवाले) जीवों के मास द्वारा, जीवनीय गण में कहे हुये द्रव्यों के द्वारा, दही, दूध तथा सौवीर के साथ वीरतर्वादि[1] गण में कहे हुये (शर, नील तथा पीत फूल की कटसरैया, दाभ, वादा, गोंदपटेर, नल, कुश, काश, पाखानभेद, अरणी, मूर्वा, झुरहुर, सोनापाठा, कोरैया, नीलकमल, ब्राह्मी, गोखरू) द्रव्यों के द्वारा एवं कुलथी, उडद, गेहू, अलसी, तिल, सरसो, सौंफ, देवदारु, निर्गुण्डी, कलौंजी, एरण्ड की जड, जीरा, रास्ना, मूली, सहजन, जटामासी, पीपल, वनतुलसी, गन्धप्रसारणी, असगन्ध, बलाचतुष्टय (चार प्रकार की बला), दशमूल, गुरुच, कौंच के बीज, इन सबों में जितने मिल सके उन सबों को सिल पर पीस कर उसमें पञ्चलवण (पाँचों नमक) तथा अम्ल पदार्थ काजी आदि मिला कर गर्म कर ले तत्पश्चात उसे कपड़े में बाध कर जो स्वेद दिया जाता है वह भी एक प्रकार का 'ऊष्मस्वेद' कहलाता है। इस योग का नाम 'महाशाल्वण' है अर्थात इसे 'महाशाल्वण' संज्ञक उपनाह स्वेद कहते हैं। यह सम्पूर्ण वातसम्बन्धी पीडा को दूर करने वाला होता है॥ ६१-६७ ॥

***अस्यायमर्थः = उपनाहस्वेदञ्च कुर्यात् । केन प्रकारेण ? इत्याकाङ्क्षायां तत्प्रकारमाह- वातहरौषधैः। कथम्भूतैः? अम्लपिष्टैः = अम्लेन काञ्जिकतक्रादिना पिष्टैः। सलवणैः। स्नेहसंयुतैः। क्षीरमांसरसान्वितैः। सुखोष्णैः। वातार्त्तं देहं प्रदिह्य प्रलिप्य स्वेदयेदित्यर्थः॥**

यहाँ खण्डान्वय से इसका अर्थ यह समझना चाहिये कि उपनाह स्वेद करे। 'किस प्रकार करे' ऐसी आकाङ्क्षा होने पर उपनाह स्वेद के प्रकार को कहते हैं—वातनाशक द्रव्यों से, ये किस प्रकार के हों? तो वे अम्ल पदार्थ काजी, छाछ आदि से पिसे हुए हों तथा सेंधानमक और स्नेह (घी तेल) से युक्त हों एवं दूध, सुरुवा आदि से युक्त तथा सहने योग्य गर्म हों, इस प्रकार के द्रव्यों से वात से पीड़ित अङ्गों को प्रलिप्त करके स्वेदन देना चाहिये॥ ६१-६७ ॥

अथवाऽम्लेन सम्पिष्टैः कोष्णैः सूक्ष्मपटस्थितैः। भेषजैः स्वेदयेत् किं वा स्विन्नैः कोष्णैः पटस्थितैः॥

---

(१) वीरतरुसहचरद्वयदर्भवृक्षादनीगुन्द्रानलकुशकाशाश्मभेदकाग्निमन्थमोरटावसिरभल्लूककुरुण्टकेन्दीवरकपोतवक्राः श्वदंष्ट्रा चेति। गणोऽयं वातघ्नः। अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजाहरश्च। (सु० सू० ३८ अ०)

अथवा वातनाशक द्रव्यों को अम्लपदार्थ कांजी आदि के साथ पीस कर गर्म कर पतले कपड़े में रख सहने योग्य गर्म रहते यदि स्वेद दिया जाय किंवा कुटे हुये औषध द्रव्यों को उबाल कर सहने योग्य गर्म रहते कपडे में रख कर यदि इससे स्वेद दिया जाय तो वह उपनाह स्वेद कहलाता है ॥ ६८ ॥

अथ द्रवस्वेदविधिमाह—

द्रवस्वेदस्तु वातघ्नद्रव्यक्काथेन पूरिते। कटाहे कोष्ठके वाऽपि सुपविष्टोऽवगाहयेत् ॥ ६९ ॥
सौवर्णं राजतं वापि ताम्रं लौहञ्च दारुजम्।
कोष्ठकं तत्र कुर्वीतोच्छ्राये षड्विंशदङ्गुलम्।आयामे वा तदेव स्याच्चतुष्कोणन्तु चिक्कणम्॥७०॥

द्रवस्वेद की विधि—वातनाशक द्रव्यों के क्काथ से गले तक भरे हुये कराह अथवा कोष्ठक (टब) में रोगी को स्थिर बैठा कर यदि स्नान करवा कर जो स्वेद दिया जाता है वह द्रवस्वेद कहलाता है। सोना, चादी, तामा, लोहा अथवा लकडी का टब बनवाना चाहिये जो ऊँचाई और चौडाई में २६ अङ्गुल का हो एव चिकनी तथा चौकोर भी हो ॥ ६९-७० ॥

अयमर्थः-प्रथमतो वातघ्नद्रव्यक्काथेन कण्ठपूरिते कोष्ठके कटाहे वा सुपविष्टस्तिष्ठेत् ॥

वातनाशक द्रव्यों के क्काथ से गले तक भरे हुये कराह अथवा टब में सुस्थिर बैठकर स्नान करने द्वारा स्वेद लेना प्रथम द्रवस्वेद है ॥ ६९-७० ॥

पक्षान्तरमाह—

नाभेः षडङ्गुलं यावन्मग्नं क्काथस्य धारया। कोष्णया स्कन्धयोः सिक्तस्तिष्ठेत्स्निग्धतनुर्नरः ॥

द्रवस्वेद की दूसरी विधि—अथवा रोगी को उक्त टब में नाभि से ऊपर छ अङ्गुल तक क्काथ में डूबा हुआ बैठावे और किंचिद् गर्म गर्म क्काथ की धारा उसके दोनों कन्धों पर गिरावे एवं टब में बैठने के पहले तेल की मालिश कर दे ॥ ७१ ॥

अथवा नाभेः षडङ्गुलमूर्ध्वं यावत् क्काथे मग्न उपविष्टः। पश्चात् क्काथस्य धारया स्कन्धयोः सिच्यमानस्तिष्ठेद्। यावत् कोष्ठकं परिपूर्णं भवतीत्यर्थः। क्काथपक्षे प्रथमतः स्नेहाभ्यक्ततनुरुपविशेत् ॥ ७१ ॥

यहा इसका अर्थ यह समझना चाहिये कि—अथवा नाभि से ६ अङ्गुल ऊपर तक क्काथ में डूबा हुआ टब में बैठे, उसके बाद क्काथ की धारा से दोनों कन्धों के ऊपर सींचा जाता हुआ तब तक बैठा रहे जब तक टब पूर्ण रीति से भर न जाय। क्काथ के पक्ष में पहले तेल की मालिश शरीर में कर ले तब टब में बैठे ॥ ७१ ॥

मुहूर्त्तकं समारभ्य यावत्स्यात्तच्चतुष्टयम्। तावत्तदवगाहेत यावदारोग्यनिश्चयः ॥ ७२ ॥

एक मुहूर्त्त (२ घडी = ४८ मिनट) से लेकर ४ मुहूर्त्त (लगभग ३। घण्टे) तक उक्त रीति से द्रवस्वेद दिया जाना चाहिये अथवा जब तक आरोग्य लाभ न हो तब तक देना चाहिये ॥ ७२ ॥

एव तैलेन दुग्धेन सर्पिषा स्वेदयेन्नरम्। एकान्तरो द्व्यन्तरो वा युक्तः स्नेहोऽवगाहने ॥७३॥

इसी प्रकार तेल, दूध अथवा घी से रोगी को द्रवस्वेद देना चाहिये। किन्तु उक्त रीति से स्नान करने में स्नेह (घी वा तेल) का प्रतिदिन उपयोग करना उचित नहीं होता। अतः एक दिन वा दो दिन का अन्तर देकर स्नेहद्वारा स्नान करना चाहिए ॥ ७३ ॥

एतावता क्काथो दुग्धञ्च नित्यमेव युज्यते। स्नेहस्तु दिनमेकं द्वे वा दिने गमयित्वा युक्तः। अग्निमान्द्याशङ्कयेति भावः ॥ ७३ ॥

यहा यह भी समझना चाहिये कि-ऐसा कहने से अर्थात् केवल स्नेह का नाम लेनेसे उक्त रीति से स्नान करने में क्वाथ तथा दूध का नित्य ही उपयोग किया जाय तो योग्य होता है। स्नेह का उपयोग तो एक या दो दिन बिता कर करना उचित है। क्योंकि यदि ऐसा न किया जाय तो प्रतिदिन स्नेह का उपयोग करने से अग्नि मन्द होने की आशका हो जाती है ॥ ७३ ॥

सिरामुखैर्लोमकूपैर्धमनीभिश्च तर्पयेत्। शरीरे बलमाधत्ते युक्तः स्नेहोऽवगाहने ॥ ७४ ॥
जलसिक्तस्य वर्द्धन्ते यथा मूलेऽङ्कुरादयः। तथैव धातुवृद्धिर्हि स्नेहसिक्तस्य जायते ॥ ७५ ॥
नातः परतरः कश्चिदुपायो वातनाशनः। शीतशूलव्युपरमे स्तम्भगौरवनिग्रहे ॥ ७६ ॥
दीप्तेऽग्नौ मार्दवे जाते स्वेदनाद्विरतिर्मता ॥ ७७ ॥

उक्त रीति से स्नान करने में स्नेह (घी वा तेल) का उपयोग करने से वह सिराओं के मुख, रोमकूप तथा धमनियों के द्वारा अन्दर प्रविष्ट होकर शरीर को तर्पित करता है तथा शरीर में बल उत्पन्न करता है। जिस तरह वृक्ष के मूलभाग में जल सींचने से अंकुर आदि बढ़ते हैं उसी तरह स्नेह से सींचे हुये (स्नान किये हुये) रोगी के धातुओं की वृद्धि होती है इससे बढ़ कर और दूसरा कोई उपाय वातसम्बन्धी पीड़ा दूर करने के लिये नहीं है। शीत तथा शूल के नष्ट हो जाने पर तथा शरीर की स्तब्धता (जकड़ जाना) और गुरुता (भारी हो जाना) के दूर हो जाने पर एवं अग्नि के प्रदीप्त तथा शरीर के कोमल हो जाने पर ही स्वेद देने से विरत होना उचित होता है ॥ ७४-७७ ॥

अथ मूर्द्धतैलविधिमाह—

अभ्यङ्गः परिषेकश्च पिचुर्वस्तिरिति क्रमात्। मूर्द्धतैलं चतुर्द्धा स्याद्बलवत्तद्यथोत्तरम् ॥ ७८ ॥

मूर्द्धतैल (सिर में तेल डालने) की विधि—१ अभ्यङ्ग, २ परिषेक, ३ पिचु, ४ वस्ति इस प्रकार मूर्द्धतैल के ४ भेद होते हैं और ये क्रम से एक दूसरे की अपेक्षा उत्तरोत्तर बलवान् होते हैं ॥ ७८ ॥

अभ्यङ्गः = तैलेन शिरसो मर्दनम्। परिषेकः = शिरसि धारापातनम्। पिचुः = तैलाक्तं तूलं 'फोहा' इति लोके। बस्तिर्वक्ष्यमाणः ॥ ७८ ॥

यहाँ तेल से सिर मालिश करना 'अभ्यङ्ग', सिर के ऊपर तेल की धारा गिराना 'परिषेक', सिर के ऊपर तेल से भीगी हुई रूई अर्थात् लोकप्रसिद्ध 'फोहा' रखना 'पिचु' समझना चाहिये। और 'वस्ति' का विवरण आगे जो दिया जायगा उससे समझ लेना चाहिये ॥ ७८ ॥

त्रयोऽभ्यङ्गादयः पूर्वे प्रसिद्धाः सर्वतः स्मृताः। शिरोबस्तिविधिश्चात्र प्रोच्यते सुज्ञसम्मतः ॥
शिरोबस्तिश्चर्मणः स्याद् द्विमुखो द्वादशाङ्गुलः। शिरःप्रमाणस्तं बद्ध्वा मस्तके माषपिष्टकैः ॥
सन्धिरोधं विधायाशु स्नेहैः कोष्णैः प्रपूरयेत्। तावद्धार्यस्तु यावत्स्यान्नासाकर्णमुखस्रुतिः ॥
वेदनोपशमो वाऽपि मात्राणां वा सहस्रकम्। स्वजानुनः करावर्त्तं कुर्याच्छोटिकया युतम् ॥
एषा मात्रा भवेदेका सर्वत्रैवैष निश्चयः। विना भोजनमेवात्र शिरोबस्तिः प्रशस्यते ॥ ८३ ॥
प्रयोज्यस्तु शिरोबस्तिः पञ्च सप्त दिनानि वा। विमोच्य शिरसो बस्तिं गृह्णीयाच्च समन्ततः ॥
ऊर्ध्वकायं ततः कोष्णे नीरे स्नानं समाचरेत्।
अनेन दुर्जया रोगा वातजा यान्ति संक्षयम्। शिरःकम्पादयस्तेन सर्वकालेषु युज्यते ॥ ८५ ॥

इनमें से पहले के अभ्यङ्गादि (अभ्यङ्ग, परिषेक, पिचु) तीन सर्वत्र प्रसिद्ध ही हैं अतः उनका व्याख्यान न करके यहा केवल शिरोबस्ति (सिर में तेल से वस्ति देने) की विधि कहते हैं, जो विद्वानों को अभिमत है। शिरोवस्ति चमड़े की बनानी चाहिये अर्थात् वह टोपी के आकार की १२ अंगुल ऊंची सिर के नाप की बनानी चाहिये इसके दोनों तरफ मुख होना चाहिये, तत्पश्चात् उसे रोगी के सिर में बांध कर सन्धियों को उरद के आटा को जल में सान कर उसी से खूब बन्द कर देना चाहिये और तत्काल किंचिद् गर्म स्नेह (तेल) से पूर्वोक्त टोपी को भर देना चाहिये। यही शिरोवस्ति देने की विधि है। तब तक सिर पर उसे रहने देना चाहिये जब तक नाक, कान तथा मुख से पानी न झरने लगे अथवा जब तक पीड़ा की शान्ति न हो, या जब तक १००० एक हजार मात्रा का काल पूरा न हो। यहा सर्वत्र निश्चित एक मात्रा का काल उसे समझना चाहिये। जो अपने जानु (घुटना) पर एक बार हाथ फिरा कर चुटकी बजाने में काल लगता है। यह शिरोवस्ति उसी समय दी जाती है जब रोगी भोजन न किया हो। इसका प्रयोग ५ या ७ दिन तक नित्य किया जाता है। शिरोवस्ति ले चुकने के बाद उक्त टोपी को सावधानी से उतार कर तेल को सिर के चारो तरफ से बटोर कर अलग कर देना चाहिये जिसमें इधर-उधर फैलने न पावे। इसके बाद किंचिद् गर्म जल से रोगी के शरीर के ऊपरी भाग को अच्छी तरह से धुला दे। इसप्रकार यदि शिरोवस्ति का प्रयोग किया जाय तो उससे दुर्जय वातसम्बन्धी शिरः कम्प (सिर का कापना) इत्यादि रोग दूर हो जाते हैं। अतएव इसका प्रयोग सभी समयों में करना चाहिये ॥ ७९-८५ ॥

पञ्च सप्त दिनानि वेत्युक्त्वा सर्वकालेष्विति शिरःकम्पादिरोगानुवृत्तौ ज्ञेयम् ॥ ७९-८५ ॥

यहां 'पांच या सात दिन तक शिरोवस्ति देनी चाहिये' ऐसा कह करके भी जो 'सभी समयों में इसका प्रयोग करना चाहिये' यह पुनः कहा गया उसका भाव यह समझना चाहिये कि—शिःरकम्प आदि रोग जब तक बने रहें तब तक देना चाहिये अतः अन्त में ५ या ७ दिन की अवधि का नियम तोड दिया गया ॥ ७९-८५ ॥

अथ कर्णपूरणविधिमाह—

स्वेदयेत्कर्णदेशन्तु किञ्चिन्नुः पार्श्वशायिनः। मूत्रैः स्नेहै रसैरुष्णैः श्रोत्ररन्ध्रं प्रपूरयेत् ॥ ८६ ॥
कर्णञ्च पूरितं रक्षेच्छतं पञ्च शतानि वा। सहस्रं वापि मात्राणां श्रोत्रकण्ठशिरोगदे ॥ ८७ ॥
मूत्राद्यैः पूरणं कर्णे भोजनात्प्राक्प्रशस्यते। तैलाद्यैः पूरणं कर्णे भास्करेऽस्तमुपागते ॥ ८८ ॥

कर्णपूरण (कान में तेल डालने) की विधि—रोगी को प्रथम एक करवट सुला कर उसके कान के भाग का किञ्चित् स्वेदन करे तत्पश्चात् गर्म किये हुये मूत्र, स्नेह (घी या तेल) या स्वरस इनमें से योग्यतानुसार किसी से उसके कान के छिद्र को भर दे। यदि कान-सम्बन्धी रोग से युक्त हो तो सौ मात्रा तक, कण्ठसम्बन्धी रोग वाला हो तो पाच सौ मात्रा तक तथा सिरसम्बन्धी रोग से पीडित हो तो एक हजार मात्रा तक उक्त मूत्रादि औषधियों को उसके कान में पड़ा रहने दे, अर्थात् तब तक गिरने से बचाता रहे। यदि रोगी के कान में मूत्र आदि डालना हो तो उसके भोजन करने के पहले ही डालना उत्तम होता है। स्नेह आदि डालना हो तो सूर्य के अस्त हो जाने पर ही उचित होता है ॥ ८६-८८ ॥

तद्यथा—

कर्णे शूलाकुले कोष्णं बस्तमूत्रं ससैन्धवम्। निक्षिपेत्तेन शाम्यन्ति शूलपाकादिजा रुजः ॥ ८९ ॥
शृङ्गवेरञ्च मधुकं सैन्धवं तैलमेव च। कदुष्णं कर्णयोर्देयमेतत्स्याद्वेदनाऽपहम् ॥ ९० ॥
पीतार्कपत्रमाज्येन लिप्तं वह्नौ प्रतापयेत्। तद्रसः श्रवणे क्षिप्तः कर्णशूलहरः परः ॥ ९१ ॥

कान के शूल (दर्द) से व्याकुल रोगी के कान में बकरे का मूत्र सेंधानमक का चूर्ण मिला कर डालना हो तो उसे भोजन के प्रथम ही डालना चाहिये। इसके प्रयोग करने से कर्णशूल (कान का दर्द), कर्णपाक (कान का पक जाना) आदि कान के रोग नष्ट हो जाते हैं। यदि अदरख का रस, शहद (या मुलेठी का चूर्ण) और सेंधा नमक के चूर्ण को किञ्चिद् गर्म करके कानों में डालना हो तो सूर्य के अस्त होने पर डालना चाहिये। इसका प्रयोग कान की पीड़ा को शान्त करने वाला होता है। आक के पीले पत्तों के ऊपर चारो तरफ घी का लेप करके और आग पर तपा कर यदि उनका रस कान में डालना हो तो सूर्य के अस्त होने पर डालना चाहिये। इसका प्रयोग कान के शूल (दर्द) को दूर करने में श्रेष्ठ होता है ॥ ८९-९१ ॥

अथ लेपविधिमाह—

आलेपस्य तु नामानि लेपो लेपनलिप्तकौ। दोषघ्नो विषहा वर्ण्यः स च लेपस्त्रिधा मतः ॥
त्रिप्रमाणश्चतुर्भागत्रिभागार्द्धाङ्गुलोन्नतः। आर्द्रो व्याधिहरः स स्याच्छुष्को दूषयति च्छविम् ॥

लेप की विधि—आलेप, लेप, लेपन तथा लिप्तक, लेप के ये चार नाम हैं। दोषघ्न (दोष को नष्ट करने वाला), विषहा (विष-नाशक) और वर्ण्य (वर्ण को उत्तम करने वाला) इस प्रकार लेप के तीन भेद हैं। चौथाई अङ्गुल ऊँचा (¼ अङ्गुल), तिहाई अङ्गुल ऊँचा (⅓ अङ्गुल) और आधा अङ्गुल ऊँचा (½ अङ्गुल) इस प्रकार लेप की ऊँचाई के भेद से लेप का प्रमाण तीन प्रकार का होता है। गीला लेप रोगनाशक तथा सूखा लेप कान्ति को नष्ट करने वाला होता है ॥ ९२-९३ ॥

१चतुर्भागत्रिभागार्द्धाङ्गुलोन्नतः, एवं त्रिप्रमाणः ॥ ९२ ॥

यहां 'लेप का प्रमाण तीन प्रकार का होता है' यह जो कहा है वह इस प्रकार से समझना चाहिये कि—'१ चौथाई अङ्गुल का, २ तिहाई अङ्गुल का, ३ आधा अङ्गुल का ऊँचा लेप' ॥ ९२-९३ ॥

दोषघ्नो लेपो यथा—

शोथघ्नीदारुसिद्धार्थशुण्ठीशोभाञ्जनत्वचाम्। आरनालेन पिष्टानां प्रलेपः सर्वशोथहा ॥ ९४ ॥

दोषघ्न लेप—गदहपुरना, देवदारु, सरसो, सोंठ और सहजन की छाल इन पाच औषधियों को काजी में पीस कर लेप करने से सभी प्रकार की सूजन नष्ट हो जाती है। यह दोषघ्न लेप है ॥ ९४ ॥

*शोथघ्नी = पुनर्नवा ॥ ९४ ॥

यहाँ पर 'शोथघ्नी' से 'गदहपुर्ना' समझना चाहिये ॥ ९४ ॥

शिरीषं मधुयष्टी च तगरं रक्तचन्दनम्। एला मांसी निशायुग्मं कुष्ठं वालकमेव च ॥ ९५ ॥
इति सञ्चूर्ण्य लेपोऽयं पञ्चमांशघृतप्लुतः। जलेन क्रियते सुज्ञैर्दशाङ्ग इति सञ्ज्ञितः ॥ ९६ ॥
वीसर्पञ्च विषस्फोटाञ्छोथदुष्टव्रणाञ्जयेत् ॥ ९७ ॥

दशाङ्गलेप—शिरीष की छाल, मुलहठी, तगर, लाल चन्दन, इलायची, जटामांसी, हल्दी, दारुहल्दी, कूठ और नेत्रवाला इन पदार्थों का चूर्ण वना कर उसमें ⅕ भाग घी डाल कर पानी से लेप करे। इससे विसर्प, विस्फोटक, सूजन और दुष्ट व्रणों का क्षय होता है। विद्वान् लोग इसको दशाङ्ग लेप कहते हैं ॥ ९५-९७ ॥

विषहा लेपो यथा—

अजादुग्धतिलैर्लेपो नवनीतेन संयुतः। शोथमारुष्करं हन्ति लेपो वा कृष्णमार्त्तिकः ॥ ९७ ॥

विषहा लेप—वकरी के दूध में तिल पीस कर और उसमें भैंस का मक्खन मिला कर लेप करने से अथवा काली मिट्टी का लेप करने से भिलावे इत्यादि से हुई सूजन नष्ट होती है। इस लेप को वैद्य लोग विषहा लेप कहते हैं ॥ ९८ ॥

*नवनीतेनात्र माहिषेणार्द्धिकेन। कृष्णमार्त्तिकः = कृष्णमृत्तिकाकृतः ॥ ९८ ॥

यहाँ 'नवनीत' पद से 'भैंस का मक्खन कल्क के आधे भाग वरावर' यह अर्थ समझना चाहिये तथा 'कृष्णमार्त्तिक' का 'काली मिट्टी का' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ९८ ॥

अपरः कृमिविषापहलेपो यथा—

लाङ्गल्यतिविषाऽलावूजालिनीवीजमूलकैः। लेपो धान्याम्बुसम्पिष्टः कीटविस्फोटनाशनः ॥९९॥

दूसरा कृमिसम्बन्धी विष को नष्ट करने वाला लेप—कलिहारी, अतीस, कडवी तोंवी, घियातरोई के वीज और मूली को काजी में पीस कर लेप करने से विषैले कीड़ों से उत्पन्न हुआ विस्फोट नष्ट होता है ॥ ९९ ॥

मुखकान्तिदो लेपो यथा—

रक्तचन्दनमञ्जिष्ठालोध्रकुष्ठप्रियङ्गवः। वटाङ्कुरा मसूराश्च व्यङ्गघ्ना मुखकान्तिदाः ॥ १०० ॥

मुखकान्तिदायक लेप—लाल चन्दन, मजीठ, लोध, कूठ, प्रियङ्गु, वट के अंकुर और मसूर का लेप करने से मुख के ऊपर की झाईं नष्ट होती है और मुख की कान्ति उत्तम होती है ॥ १०० ॥

अथ लेपविधिश्चैव प्रोच्यते सुज्ञसम्मतः। आलेपश्च प्रदेहश्च द्वौ भेदौ तस्य भाषितौ ॥ १०१ ॥
चर्मार्द्रं माहिषं यद्वत्प्रोन्नतं सा मितिस्तयोः। शीतस्तनुर्विशोषी च प्रलेपः पित्तहृन्मतः ॥१०२॥
आर्द्रो घनस्तथोष्णः स्यात्प्रदेहः श्लेष्मवातहा। न रात्रौ लेपनं कुर्याच्छुष्यमाणं न धारयेत् ॥
शुष्यमाणमुपेक्षेत प्रदेहं पीडनं प्रति ॥ १०३ ॥

लेप के दो भेद—आलेप और प्रदेह कहे गये हैं। इन दोनों लेपों की मुटाई भैंस के गीले चमडे के वरावर रखनी चाहिये। जो लेप शीतल, पतला और जल्द सूख जाने वाला होता है वह 'प्रलेप' कहलाता है। प्रलेप से पित्त नष्ट होता है। जो लेप तुरन्त नहीं सूखता एवं गाढा और गरम रहता है वह 'प्रदेह' कहलाता है। प्रदेह से वात और कफ नष्ट होता है। रात्रि में लेप नहीं करना चाहिये और न सूखे हुए लेप को शरीर पर धारण करना चाहिये। किन्तु पीडन-सञ्ज्ञक प्रदेह अर्थात् फोडा इत्यादि को वैठाने के लिये जो लेप किया जाता है उसे रहने देना चाहिये ॥

तमसा पिहितो ह्यूष्मा लोमकूपमुखे स्थितः। विना लेपेन निर्याति रात्रौ नालेपयेदतः ॥१०४॥

रोमकूपों के मुख में रहने वाली गरमी रात्रि के अन्धकार से ढक जाती है इस लिये रात्रि में प्रलेप नहीं करना चाहिये। यदि लेप किया होता है तो वह गर्मी रोमों के अन्दर रह जाती है जिससे रोग उत्पन्न हो जाने की आशङ्का रहती है ॥ १०४ ॥

*तमसा = राज्यन्धकारेण ॥ १०४ ॥

यहा 'तमसा' पद का 'रात्रि के अन्धकार से' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १०४ ॥

रात्रावपि प्रलेपादिर्व्रणे देयो विचक्षणैः। अपाकिन्यतिगम्भीरे रक्तश्लेष्मसमुद्भवे ॥ १०५ ॥

जो व्रण पकता न हो, अत्यन्त गम्भीर हो तथा रुधिर और कफ से उत्पन्न हुआ हो उस पर विद्वान् वैद्य को रात्रि में भी लेपादि करना चाहिये ॥ १०५ ॥

प्रलेपो यथा—

मधुकं चन्दनं मूर्वा नलमूलञ्च पर्पटम् । उशीरं बालकं पद्मं प्रलेपः पित्तशोथहृत् ॥ १०६ ॥

प्रलेप—मुलहठी, चन्दन, मूर्वा, खस की जड, पित्तपापडा, खश, सुगन्धवाला और कमल इनका प्रलेप पित्तजन्य सूजन को नष्ट करता है ॥ १०६ ॥

प्रदेहो यथा—

बीजपूरजटा हिंस्रा देवदारु महौषधम् । रास्नाऽरणिः प्रदेहोऽयं वातशोथविनाशनः ॥ १०७ ॥

प्रदेह—बिजौरे की जड, जटामासी, देवदारु, सोंठ, रासन और अरनी इनका प्रदेह वातजन्य शोथ को नष्ट करता है ॥ १०७ ॥

*** अरणिः = अग्निमन्थः ॥ १०७ ॥**

यहा 'अरणि' पद का 'अग्निमन्थ अर्थात् अरनी' अर्थ समझना चाहिये ॥ १०७ ॥

कृष्णापुराणपिण्याकशिग्रुत्वक्सिकताशिवाः। गोमूत्रपिष्टः कोष्णोऽयं प्रदेहः श्लेष्मशोथहा ॥१०८॥

पीपल, पुरानी खली, सहजन की छाल, खाड और हरड को गोमूत्र में पीसकर किञ्चित् उष्ण प्रदेह करने से कफसम्बन्धी शोथ नष्ट हो जाता है ॥ १०८ ॥

अथ शोणितस्रावण (फस्त) विधिमाह—

शोणितं स्रावयेज्जन्तोरामयं प्रसमीक्ष्य च । प्रस्थं प्रस्थार्द्धमथ वा प्रस्थार्द्धार्द्धमथापि वा ॥१०९॥
शरत्काले स्वभावेन शोणितं स्रावयेन्नरः । त्वग्दोषग्रन्थिशोथाद्या नश्यन्ति रुधिरोद्भवाः ॥११०॥
व्यभ्रे वर्षासु विध्येत शीते ग्रीष्मे शरद्यपि । मध्याह्ने शीतकाले च रुधिरं स्रावयेद् बुधः ॥१११॥
अनुष्णाशीतं मधुरं स्निग्धं रक्तञ्च वर्णतः । शोणितं गुरु विस्रं स्याद् विदाहश्चास्य पित्तवत् ॥११२॥
विस्रता द्रवता रागश्चलनं विलयस्तथा । भूम्यादिपञ्चभूतानामेते रक्ते गुणाः स्मृताः ॥११३॥
रक्ते दुष्टे भवेच्छोथो रक्तमण्डलमेव च । व्यथा दाहश्च पाकश्च कण्डूश्च पिडकोद्गमः ॥११४॥
वृद्धे रक्ताङ्गनेत्रत्वं सिराणां पूर्णता तथा । गात्राणां गौरवं निद्रा मोहो दाहश्च जायते ॥११५॥

शोणित स्राव (फस्त) की विधि—रोगी के रोग को देख कर तदनुसार एक प्रस्थ (६॥ पल), आधा प्रस्थ (३। पल) अथवा चौथाई प्रस्थ (६॥ तोला) रक्त निकाले । शरदृतु में मनुष्य को स्वभावतः रक्त निकलवाना चाहिये, इससे रुधिरदोष से उत्पन्न हुये चर्म रोग, गाँठ, सूजन आदि विकार नष्ट हो जाते हैं । जिस दिन आकाश में बादल न हो, वर्षाऋतु में, ग्रीष्मऋतु में, शरद् ऋतु में मध्याह्न के समय और शीतकाल में विद्वान् वैद्य रोग तथा रोगी पर ध्यान देकर रुधिर निकाले । रुधिर अनुष्णाशीत (उष्णता, शीतलता रहित), स्वाद में मधुर, वर्ण में लाल, भारी, चिकना, कच्चे मास के समान गन्धवाला तथा पित्त के सदृश दाहशक्ति वाला होता है । रुधिरमें जो गन्ध है वह पृथ्वी का गुण है, द्रवता जल का गुण है, रक्तता तेज का गुण है, चलन वायु का गुण है और शब्द आकाश का गुण है इस प्रकार रक्त में पांचों महाभूतों के गुण हैं । रक्त के दुष्ट होने पर शोथ, लाल चकत्ते, शरीर में पीडा, दाह, शरीर का पक जाना, खुजली और फुन्सियाँ होती हैं । शरीर में रक्त के बढ जाने पर अङ्ग तथा नेत्र लाल हो जाते हैं, सिरायें रक्त से भरकर फूल जाती हैं, अङ्गों में भारीपन, निद्रा, मोह और दाह उत्पन्न होने लगता है ॥

क्षीणेऽस्रे मधुराकाङ्क्षा मूर्च्छा च त्वचि रूक्षता। शैथिल्यं च सिराणां स्याद्वातादुन्मार्गगामिता॥

शरीर में रक्त की कमी होने पर मधुर पदार्थों के खाने की इच्छा, मूर्च्छा, त्वचा में रूक्षता, एवं रक्तक्षीणताजन्य वात से सिराओं का शिथिल हो जाना तथा अयोग्य मार्ग में चलना ये सब लक्षण उत्पन्न होते हैं ॥ ११६ ॥

*** वाताद्रक्तक्षैण्यजनितात् ॥ ११६ ॥**

यहा 'वाताद्' पद का 'रक्तक्षीणता जन्य वात से' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ११६ ॥

अरुणं फेनिलं रूक्षं परुषं तनु शीघ्रगम् । आस्कन्दि सूचीनिस्तोदि रक्तं स्याद्वातदूषितम् ॥
पित्तेन पीतं हरितं नीलं श्यावं च विस्रकम् । अस्वादूष्णं मक्षिकाणां पिपीलीनामनिष्टकम् ॥
शीतलं बहुलं स्निग्धं गैरिकोदकसन्निभम् । मांसपेशीप्रभं स्कन्दि मन्दगं कफदूषितम् ॥११९॥

द्विदोषदुष्टं संसृष्टं त्रिदुष्टं पूतिगन्धकम्। सर्वलक्षणसंयुक्तं काञ्जिकाभं च जायते॥ १२०॥
विषदुष्टं भवेच्छ्यावं नासिकोन्मार्गगं तथा। विस्रं काञ्जिकसंकाशं सर्वकुष्ठकरं तथा॥ १२१॥

वातादि से दूषित रक्तों के लक्षण—**वात से दूषित हुआ रक्त**—लाल, झाग युक्त, रूक्ष, कठोर, पतला, शीघ्र चलने वाला, आस्कन्दी तथा सूई चुभने की सी पीडा करने वाला होता है। **पित्त से दूषित हुआ रक्त**—शीतल, अत्यन्त स्निग्ध, गेरू के पानी के समान कान्ति वाला, मांस की पेशियों के समान घनीभूत एवं मन्दगामी होता है। **दो दोषों से दूषित रक्त**—जिन २ दोषों से दूषित होता है उन २ दोषों के लक्षणों से युक्त होता है। **तीन दोषों से दूषित रक्त**—दुर्गन्धयुक्त, हर एक दोषों के लक्षणों से मिला हुआ, काञ्जी के समान होता है। **विष से दूषित रक्त**—काला, नाक की राह से निकलने वाला, कच्चे मांस के समान गन्ध वाला, काञ्जी के समान तथा सर्व प्रकार के कुष्ठों को उत्पन्न करने वाला होता है॥ ११७-१२१॥

अथ शुद्धरक्तस्य लक्षणमाह—

इन्द्रगोपप्रभं ज्ञेयं प्रकृतिस्थमसंहतम्॥ १२२॥

शुद्ध रक्त के लक्षण—जो शुद्ध रक्त होता है वह इन्द्रगोप (वीरवहूटी) कीडे के समान देखने में लाल तथा पतला होता है॥ १२२॥

अथ रक्तस्रावस्य विषयानाह—

शोथे दाहेऽङ्गपाके च रक्तवर्णेऽसृजः स्रुतौ॥
वातरक्त तथा कुष्ठे सपीडे दुर्जयेऽनिले। पाण्डुरोगे श्लीपदे च विषदुष्टे च शोणिते॥ १२३॥
ग्रन्थ्यर्बुदापचीक्षुद्ररोगाधिमन्थकाभिधे। विदारीस्तनरोगेषु गात्राणां सादगौरवे॥ १२४॥
रक्ताभिष्यन्दतन्द्रायां पूतिघ्राणास्यदाहके। यकृत्प्लीहविसर्पेषु विद्रधौ पिडकोद्गमे॥ १२५॥
कर्णोष्ठघ्राणवक्त्राणां पाके दाहे शिरोरुजि। उपदंशे रक्तपित्ते रक्तस्रावः प्रशस्यते॥ १२६॥

रक्तस्राव के विषय—शोथ, दाह, अङ्गों का पकना तथा लाल रङ्ग का होना, नाक आदि से रक्त का गिरना, वातरक्त, कुष्ठ, पीडा के सहित वायु का दुर्जय होना, पाण्डुरोग, फीलपांव, विष से रक्त का दूषित हो जाना, गांठ, अर्बुद, अपची नामक गले की गांठ, क्षुद्ररोग, अधिमन्थ, विदारी, स्तनसम्वन्धी रोग, अङ्गों में शिथिलता तथा गुरुता होना, रक्तसम्वन्धी अभिष्यन्द, तन्द्रा, नाक से दुर्गन्ध निकलना, मुख में दाह होना, यकृत्, प्लीहा, विसर्प, विद्रधि, पिडका (फुंसी) निकलना, कान, ओठ, नाक या मुख का पकना या इनमें दाह होना, सिरदर्द, उपदंश (गर्मी) तथा रक्तपित्त इन सब रोगों में रोगी का रक्त निकालना उत्तम होता है॥ १२३-१२६॥

अथ रक्तस्रावस्य साधनान्याह—

एषु रोगेषु शृङ्गैर्वा जलौकाऽलाबुकैरपि। अथवापि सिरामोक्षैः कारयेद्रक्तपातनम्॥ १२७॥

रक्तस्राव के साधन—उपर्युक्त सब रोगों में सींग, जोंक या तुम्बी लगवाकर अथवा सिरामोक्षण कराकर (नस कटवा कर) रक्त निकालना चाहिये॥ १२७॥

अथ सिरामोक्षानर्हजनानाह—

न कुर्वीत सिरामोक्षं कृशस्यातिव्यवायिनः। क्लीबस्य भीरोर्गर्भिण्याः सूतायाः पाण्डुरोगिणः॥
पञ्चकर्मविशुद्धस्य पीतस्नेहस्य चार्शसाम्। सर्वाङ्गशोथयुक्तानामुदरिश्वासकासिनाम्॥१२९॥
छर्द्यतीसारजुष्टानामतिस्विन्नतनोरपि। ऊनषोडशवर्षस्य गतसप्ततिकस्य च॥ १३०॥
आघातात्स्रुतरक्तस्य सिरामोक्षो न शस्यते॥ १३१॥

सिरामोक्षण के अयोग्य जन—जो लोग कृश शरीर वाले अथवा अधिक मैथुन करने वाले हों या नपुसक वा डरपोक हों अथवा जो गर्भिणी या प्रसूता स्त्री हो किं वा जो पाण्डु रोगी हों या वमनादि पञ्चकर्म द्वारा शुद्ध हुए हों वा स्नेहपान किये हों वा जो अर्श (ववासीर), सर्वाङ्गशोथ, उदररोग, श्वास, खांसी, वमन तथा अतीसार इनमें से किसी से युक्त हों या जिनको अधिक स्वेदन दिया जा चुका हो अथवा जो १६ वर्ष से कम या ७० वर्ष से अधिक अवस्था वाले हों किं वा जिनका चोट आदि लगने से रक्त निकल गया हो, ऐसे लोगों का सिरामोक्षण करना उचित नहीं होता है॥ १२८-१३१॥

***आघातात् स्रुतरक्तस्य = रक्तपित्तादिना च गतरक्तस्य॥ १२८-१३१॥**

यहाँ 'जिन्हें चोट आदि लगने से रक्त निकल गया हो' ऐसा कहने से-रक्तपित्त आदि से भी जिनका रक्त निकल गया हो' उनका भी बोध करना चाहिये ॥ १२८-१३१ ॥

एषां चात्ययिके रोगे जलौकाभिर्विनिर्हरेत्। तथा च विषजुष्टानां सिरामोक्षो न शस्यते ॥१३२॥
गोश्रृङ्गेण जलौकाभिरलाबूभिरपि त्रिधा। वातपित्तकफैर्दुष्टं शोणितं स्रावयेद् बुधः ॥ १३३ ॥
द्विदोषाभ्यान्तु दुष्टं यत्त्रिदोषैरपि दूषितम्। शोणितं स्रावयेद्युक्त्या सिरामोक्षैः पदैस्तथा ॥१३४॥
गृह्णाति शोणितं श्रृङ्गं दशाङ्गुलमितं बलात्। जलौका हस्तमात्रं तु तुम्बी तु द्वादशाङ्गुलम् ॥१३५॥
पदमङ्गुलमात्रस्य सिरा सर्वाङ्गशोधिनी। शीते निरन्ने मूर्च्छार्त्तिनिद्राभीतिमदश्रमैः ॥१३६॥
युक्तानां न स्रवेद्रक्तं तथा विण्मूत्रसङ्गिनाम्। शोणिते चाप्रवृत्ते तु कुष्ठत्रिकटुसैन्धवैः ॥१३७॥
मर्दयेद् व्रणवक्त्रञ्च तेन रक्तं प्रवर्त्तते। तस्मान्न शीते नात्युष्णे नास्विन्ने नातितापिते ॥१३८॥
पीत्वा यवागूं तृप्तस्य स्रावयेच्छोणितं बुधः। अतिस्विन्नस्योष्णकाले तथैवातिसिराव्यधात् ॥१३९॥
अतिप्रवर्त्तते रक्तं तत्र कुर्यात्प्रतिक्रियाम्। अतिप्रवृत्ते रक्ते तु लोध्रसर्जरसाञ्जनैः ॥१४०॥
यवगोधूमचूर्णैश्च धवधन्वनगैरिकैः। सर्पनिर्मोकचूर्णैर्वा भस्मना क्षौमवस्त्रयोः ॥१४१॥
मुखं व्रणस्य बद्ध्वा च शीतैश्चोपचरेद्व्रणम्। विध्येदूर्ध्वसिरां तावद्दहेत्क्षारेण वह्निना ॥१४२॥
व्रणं कषायः सन्धत्ते रक्तं स्कन्दयते हिमम्। व्रणास्यं पाचयेत्क्षारो दाहः सङ्कोचयेत्सिराः ॥१४३॥
रक्ते दुष्टेऽवशिष्टेऽपि व्याधिर्नैव प्रकुप्यति। अतो रक्षेत्सावशेषं रक्तं नातिस्रुतिर्हिता ॥ १४४ ॥

इन सब रोगों में यदि रक्त निकालना अत्यन्त आवश्यक हो तो जोंक के द्वारा ही निकालना चाहिये। विष से युक्त रोगी को भी सिरामोक्षण करना उचित नहीं है। विद्वान् वैद्य को उचित है कि वह वात, पित्त तथा कफ से दूषित रुधिर को क्रम से गौ के सींग, जोंक तथा तुम्बी, इन तीन साधनों से निकाले। दो दोषों से या तीन दोषों से यदि रुधिर दूषित हो तो उसे युक्तिपूर्वक गौ के सींग आदि से या सिरामोक्षण से या पछना लगाने के द्वारा निकाल दे। **सींगी**-बलपूर्वक १० अङ्गुल तक का रक्त खींच लेती है, **जोंक**-एक हाथ तक का, **तुम्बी**-१२ अङ्गुल त क का, **पछना-लगाना**-एक अङ्गुल तक का एव **सिरामोक्षण**-सर्वाङ्ग का रक्त निकाल कर शुद्ध करता है। शीतकाल में तथा अन्न भोजन न करने पर रक्तस्राव भली भाति नहीं होता है। मूर्च्छा, निद्रा, भय, मद तथा श्रम से युक्त होने पर या मल तथा मूत्र के वेग का अवरोध होने पर भो रुधिरस्राव भली भाति नहीं होता है। ऐसी अवस्था में कूठ, सोंठ, पीपर, मरिच, सेंधा नमक का बारीक चूर्ण घाव के मुख पर रगड़ देने से रक्तस्राव उत्तम रीति से होने लगता है। अतएव जब अत्यन्त शीत अथवा अत्यन्त गर्मी पडती हो तब रक्तस्राव कराना उचित नहीं होता है। जिसे स्वेद न दिया गया हो तथा जिसका शरीर अत्यन्त तप्त किया हो उसे भी रक्तस्राव कराना निषिद्ध है। रोगी को यवागू पिलाकर तृप्त कर चुकने के बाद बुद्धिमान् वैद्य रक्त निकालना प्रारम्भ करे। अत्यन्त स्वेदन जिसका हुआ हो या गर्मी का ऋतु हो अथवा अत्यन्त जिसके सिराओं का वेध हुआ हो अर्थात् अधिक नस कटा हो उसे अत्यन्त रुधिर बहने लगता है, उस समय उसे रोकने के लिये उपाय करना चाहिये। **उपाय**-अधिक रक्त का प्रवाह होने पर लोध, राल, रसौत के चूर्ण से वा जौ तथा गेहूँ के आटा से किं वा धाय, धामिन तथा गेरू के चूर्ण से अथवा साप की केंचुल के चूर्ण से या महीन सूती वस्त्र वा रेशमी वस्त्र के भस्म से व्रण के मुख को रूध कर शीतल उपचार करे। जिस सिरा से रक्त अधिक बह रहा हो उससे ऊपर की सिरा का पुनः वेध कर दे अर्थात् काट दे अथवा रक्त निकलने वाले स्थान को क्षारद्वारा या अग्निद्वारा जला दे। विधे हुये स्थान पर कषाय रसयुक्त ओषधि का प्रयोग करने से व्रण का मुख बन्द हो जाता है। शीतल उपचार से रक्त जम जाता है। क्षार का प्रयोग करने से व्रण का मुख पक जाता है। जलाने से सिराओं का मुख सङ्कुचित हो जाता है। यदि उक्त रीति से रक्त निकालने पर भी कुछ दूषित रक्त अवशिष्ट रह जाय तो उससे व्याधि पुनः प्रकुपित नहीं हो सकती है, अतः दूषित रक्त का कुछ अवशिष्ट रहना उचित ही होता है, क्योंकि अत्यन्त रक्त का निकलना हितकर नहीं होता ॥

अथातिस्रुतरक्तस्य दोषानाह—

आन्ध्यमाक्षेपकं तृष्णां तिमिरं शिरसो रुजः। पक्षाघातं श्वासकासौ हिक्कादाहौ च पाण्डुताम् ॥
कुरुतेऽतिस्रुतं रक्त मरण वा करोति च ॥ १४५ ॥

अधिक रक्त निकलने के दोष—अधिक रक्त निकलने पर अन्धापन, आक्षेपकवात, प्यास, तिमिर रोग, सिर सम्बन्धी रोग, पक्षाघात, श्वास, कास, हिचकी, दाह तथा पाण्डुरोग ये सब उत्पन्न होते हैं, अन्त में मृत्यु तक भी हो जाती है ॥ १४५ ॥

अथासृग्रक्षणे हेतुमाह—

देहस्योत्पत्तिरसृजा देहस्तेनैव धार्यते। रक्तं जीवस्य चाधारस्तस्माद्रक्षेदसृग्बुधः ॥ १४६ ॥

रुधिर की रक्षा करने का कारण-शरीर की उत्पत्ति रक्त से ही हुई है तथा रक्त ही शरीर को धारण किये रहता है तथा यही जीवन का आधार भी है, अतः बुद्धिमान् पुरुष को इसकी रक्षा अवश्य करनी चाहिये ॥ १४६ ॥

अथ स्रुतरक्तस्य कुपिते वायौ चिकित्सामाह—

शीतोपचारैः कुपिते स्रुतरक्तस्य मारुते। कोष्णेन सर्पिषा शोथं सव्यथं परिषेचयेत् ॥ १४७ ॥
क्षीणस्यैणशशोरभ्रहरिणच्छागमांसजः। रसः समुचितः पाने क्षीरं षष्टिकया हितम् ॥१४८॥

रक्त के अधिक निकल जाने पर वायु के कुपित होने की चिकित्सा-रक्त के अधिक निकलने पर उसे बन्द करने के लिये शीतल उपचार करने से वायु के कुपित होने पर पीड़ा युक्त शोथ के ऊपर किंचिद् गर्म २ घृत का सेचन करना चाहिये। रक्तस्राव होने से क्षीण हुये रोगी को काला हरिन, खरगोश, भेंड, हरिन तथा बकरे का मांसरस (शुरुवा) पिलाना एवं साठी चावल के साथ भोजन में दूध देना हितकर होता है ॥ १४७-१४८ ॥

अथ सम्यङ्निःस्रुतरक्तवतो लक्षणमाह—

पीडाशान्तिर्लघुत्वं च व्याध्युपद्रवसंक्षयः। मनःस्वास्थ्यं भवेच्चिह्नं सम्यङ्निःसारितेऽसृजि १४९

उत्तम रीति से रक्तस्राव के लक्षण—पीडा का शान्त होना, शरीर हल्का होना, रोग के उपद्रवों का नाश तथा मन का स्वस्थ होना, ये सब लक्षण रक्त के उचित रीति से निकालने पर प्रकट होते हैं ॥ १४९ ॥

रक्तस्राविणा वर्ज्यविषयानाह—

व्यायाममैथुनक्रोधशीतस्नानप्रवातकान्। एकाशनं दिवानिद्रां चाराम्लकटुभोजनम् ॥१५०॥
शोकं वादमजीर्णञ्च त्यजेदाबलदर्शनात् ॥ १५१ ॥

जिसे रक्तस्राव कराया गया है उसके लिये त्याग करने योग्य कार्य—कसरत, मैथुन, क्रोध, शीतल जल से स्नान, अधिक वायु के झोके का सेवन, एक समय भोजन करना, दिन में सोना, खारा, खट्टा तथा कटु रस युक्त पदार्थों का भोजन, शोक, वाद-विवाद (बहस), अजीर्ण (अपरिपक्व भोजन अथवा अजीर्ण होना) इन सबों को रक्तस्राव कराने पर जब तक भली भांति शरीर में बल का संचार न हो जाय तब तक के लिये छोड देना चाहिये ॥ १५०-१५१ ॥

अथ नेत्रस्वच्छकारिणीः क्रिया आह—

सेक आश्च्योतन पिण्डी विडालस्तर्पणं तथा। पुटपाकोऽञ्जनं चैभिः कल्पैर्नेत्रमुपाचरेत् ॥१५२॥

नेत्र को स्वच्छ करने की क्रियायें—१ सेक (नेत्र के ऊपर जल आदि का धारा डालना), २ आश्च्योतन (ओषधियों के रस की बूंदे डालना), ३ पिण्डी (ओषधियों की लुगदी बाधना), ४ विडाल (लेप करना), ५ तर्पण (तृप्त करने के लिये नेत्रों में घी आदि भरना), ६ पुटपाक (पुटपाक की रीति से परिपक्व ओषधियों का रस नेत्र में डालना), ७ अञ्जन (सुरमे आदि का आंजन देना) इन सब विधानों से नेत्र की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १५२ ॥

तत्रादौ सेकविधिमाह—

सेकस्तु सूक्ष्मधाराभिः सर्वस्मिन्नयने हितः। मीलिताक्षस्य मर्त्यस्य प्रदेयश्चतुरङ्गुलः ॥१५३॥
स सस्नेहो भवेद्वाते पित्ते रक्ते च रोपणः। लेखनस्तु कफे कार्यस्तस्य मात्राऽभिधीयते ॥१५४॥
षड्भिर्वाचां शतैः स्नेहे चतुर्भिश्चैव रोपणे। तैस्त्रिभिर्लेखने कार्यः सेको नेत्रप्रसादने ॥ १५५ ॥
निमेषोन्मेषणं पुंसामङ्गुल्या च्छोटिकाऽथ वा। गुर्वक्षरोच्चारणं वा वाङ्मात्रेयं स्मृता बुधैः ॥
सेकस्तु दिवसे कार्यो रात्रौ चात्यन्तिके गदे। एरण्डस्य दलैः पिष्टैः पक्वमाजं पयो हितम् ॥
सुखोष्णं नेत्रयोः सिक्तं वाताभिष्यन्दनाशनम् ॥ १५७ ॥

सेक करने की विधि—पलक बन्द किये हुये रोगी के नेत्रों के ऊपर चार अङ्गुल के ऊपर से पतली धार छोड़ते रहने को 'सेक' कहते हैं, यह सर्वत्र नेत्रों के लिये हितकर होता है। यह सेक वातजनित नेत्रविकारों में स्नेह (घृतादि) से करना चाहिये और पित्त तथा रक्तजन्य विकारों में रोपणकारक पदार्थों के रस से एवं कफजन्य विकारों में लेखनकारक पदार्थों के रस से सेक करना चाहिये। स्नेह पदार्थों से यदि सेक करना हो तो छः सौ वाङ्मात्रा तक, रोपण सेक में चार सौ वाङ्मात्रा तक एवं लेखन सेक में तीन सौ वाङ्मात्रा तक सेक करना चाहिये। इस समय तक सेक करने से नेत्र स्वच्छ हो जाता है। पण्डितों ने वाङ्मात्रा का काल इस प्रकार कहा है कि पुरुष जितने समय में पलक बन्द कर पुनः खोलता है या चुटकी बजाता है अथवा एक गुरु (आ आदि) अक्षर का उच्चारण करता है, उतने समय को 'वाङ्मात्रा' समझनी चाहिये अर्थात् पलक बन्द आदि करने में जितना समय लगता है, उतने ही समय की एक वाङ्मात्रा होती है। सेक सर्वदा दिन में ही करना चाहिये, किन्तु यदि प्राण को सङ्कट में डालने वाला रोग हो तो रात्रि में भी कर लेना चाहिये। एरण्ड के पत्तों का पल्लव बनाकर उसके साथ बकरी का दूध पकावे, पश्चात् किञ्चित् २ गर्म रहते ही उक्त दूध से दोनों नेत्रों में सेक (सेचन) करने से वातसम्बन्धी अभिष्यन्द (नेत्र रोग) दूर होता है, अत एव उक्त दूध का सेक अत्यन्त हितकर होता है॥ १५३-१५७॥

अथाश्च्योतनविधिमाह—

क्वाथक्षौद्रासवस्नेहबिन्दूनां यत्तु पातनम्। द्व्यङ्गुलोन्मीलिते नेत्रे प्रोक्तमाश्च्योतनं हितम्॥
बिन्दवोऽष्टौ लेखनेषु रोपणे दश बिन्दवः। स्नेहने द्वादश प्रोक्तास्ते शीते कोष्णरूपिणः॥१५९॥
उष्णे तु शीतरूपाः स्युः सर्वत्रैवैष निश्चयः। वाते तिक्तं तथा स्निग्धं पित्ते मधुरशीतलम् १६०
कफे तिक्तोष्णरूक्षं च क्रमादाश्च्योतनं हितम्।
आश्च्योतनानां सर्वेषां मात्रा स्याद्वाक्छतोन्मिता॥ १६१॥
ततः परं लोचनाभ्यां भेषजानामयोगतः। आश्च्योतनं न कर्त्तव्यं निशायां केनचित्क्वचित्॥

आश्च्योतन की विधि—रोगी के नेत्रों को दो अंगुल चौडा खोलकर उसमें क्वाथ, शहद, आसव वा स्नेह (घृत) को बूंद २ कर जो डाला जाता है, उसी को 'आश्च्योतन' कहते हैं। यह नेत्ररोग में हितकर होता है। यदि लेखन क्रिया करनी हो तो आश्च्योतन की मात्रा आठ बूंद की है। रोपण क्रिया में दश बूंद की एवं स्नेहन क्रिया में बारह बूंद की आश्च्योतन की मात्रा है। शीत के कारण से यदि नेत्ररोग हुआ तो किञ्चित् किञ्चित् गर्म क्वाथ आदि की बूंदे डालनी चाहिये और यदि गर्मी के कारण से हुआ हो तो शीतल क्वाथ की बूंदे डालनी चाहिये। यह नियम सर्वत्र के लिये निश्चित है। वात सम्बन्धी नेत्ररोग में तिक्त रसयुक्त तथा स्नेह पदार्थों का आश्च्योतन हितकर होता है। पित्तसम्बन्धी नेत्ररोग में मधुर रसयुक्त तथा शीतल पदार्थों का आश्च्योतन एवं कफसम्बन्धी नेत्ररोग में तिक्त रसयुक्त, उष्ण तथा रूक्ष पदार्थों का आश्च्योतन हितकर है। प्रत्येक आश्च्योतन की मात्रा जितने समय में १०० गुरु अक्षरों का उच्चारण होता है, उतने समय की जाननी चाहिये। इसके बाद अर्थात् १०० मात्रा का समय बीत जाने पर आश्च्योतन करना नेत्रों के लिये अयोग्य होता है। किसी भी वैद्य को यह उचित नहीं है कि वह रात्रि में कभी भी आश्च्योतन करे॥ १५८-१६२॥

तद्यथा—

बिल्वादिपञ्चमूलेन बृहत्येरण्डशिग्रुभिः। क्वाथ आश्च्योतने कोष्णो वाताभिष्यन्दनाशनः॥

आश्च्योतन की औषधियां जैसे कि बेल आदि पञ्चमूल, कटेरी, एरण्ड तथा सहिजन का क्वाथ बना कर किञ्चित् गर्म रहते ही उसका आश्च्योतन में प्रयोग करना वातसम्बन्धी अभिष्यन्द (नेत्ररोगविशेष) को दूर करने वाला होता है॥ १६३॥

अथ पिण्डिकाविधिमाह—

युक्तभेषजकल्कस्य पिण्डी कवलमात्रया। वस्त्रखण्डेन सम्बद्ध्या नेत्रेऽभिष्यन्दनाशिनी॥
स्निग्धोष्णा पिण्डिका वाते पित्ते सा शीतला मता। रूक्षोष्णा श्लेष्मणि प्रोक्ता विधिरुक्तो बुधैरयम्॥

पिण्डी की विधि—यथायोग्य औषधियों का कल्क बनाकर उससे एक ग्रास की मात्रा लेकर

टिकिया बना ले। पश्चात् उस टिकिये को एक वस्त्र के टुकड़े से आंखों पर बांध देने को 'पिण्डी' कहते हैं। यह अभिष्यन्द को दूर करने वाली होती है। वात-सम्बन्धी नेत्र रोग में स्निग्ध तथा उष्ण, पित्त सम्बन्धी रोग में शीतल एवं कफ सम्बन्धी नेत्ररोग में रूक्ष तथा उष्ण पिण्डी (टिकिया) बांधने की विधि पण्डितों ने बताई है॥ १६४-१६५॥

सा यथा—

एरण्डपत्रमूलत्वङ्निर्मिता वातनाशिनी। धात्रीविरचिता पित्ते शिग्रुपत्रकृता कफे॥ १६६॥

पिण्डी बनाने की ओषधियां—वात सम्बन्धी नेत्ररोग में एरण्ड के पत्ते, मूल तथा छिल्कों की पिण्डी, पित्तसम्बन्धी नेत्ररोग में आवले की एवं कफ सम्बन्धी नेत्ररोग में सँहजने के पत्तों की पिण्डी बनानी चाहिये॥ १६६॥

अथ विडालकविधिमाह—

विडालको बहिर्लेपो नेत्रपक्ष्मविवर्जितः। तस्य मात्रा परिज्ञेया मुखालेपविधानवत्॥ १६७॥
यष्टीगैरिकसिन्धूत्थदार्वीतार्क्ष्यैः समांशकैः। जलपिष्टैर्बहिर्लेपः सर्वनेत्रामयापहः॥ १६८॥

विडालकविधि—पलकों को छोड़कर नेत्र के बाहरी भाग पर जो ओषधियों का लेप किया जाता है, उसी को 'विडालक' कहते हैं। इस (विडालक) लेप की मात्रा मुख पर जो लेप किया जाता है, उसके समान ही समझनी चाहिये। मुलहठी, गेरू, सेंधानमक, दारु हलदी, रसवत, इन सबों को समान भाग में लेकर जल के साथ पीस कर नेत्र के बाहरी भाग पर लेप करने से सम्पूर्ण नेत्रसम्बन्धी रोग नष्ट होते हैं॥ १६७-१६८॥

अथ तर्पणविधिमाह—

वातातपरजोहीने वेश्मन्युत्तानशायिनः। अभितो माषचूर्णेन क्लिन्नेन परिपिण्डितौ॥१६९॥
समौ दृढावसम्बाधौ कर्तव्यौ नेत्रकोशयोः। पूरयेद् घृतमण्डेन विलीनेन सुखोदकैः॥ १७०॥
सर्पिषा शतधौतेन क्षीरजेन घृतेन वा। निमग्नान्यक्षिपक्ष्माणि यावत्स्युस्तावदेव हि॥ १७१॥
पूरयेन्मीलिते नेत्रे तत उन्मीलयेच्छनैः। भिषग्भिरेष विख्यातस्तर्पणस्योदितो विधिः॥१७२॥

तर्पण विधि—जिसमें हवा का झोंका न लगता हो तथा धूप एवं धूलि न आती हो, ऐसे स्वच्छ गृह में रोगी को उत्तान (चित्त) लिटाकर सने हुये उड़द के आटा की सीधी मजबूत मेड़री (घेरा) दोनों नेत्रों के चारो तरफ बना दे, उसके बाद रोगी के आंखों को बन्द करा कर उष्ण जल से पिघलाये हुये घी, सौ बार के धुले हुये घी अथवा दूध से निकाले हुये घी को पिघलाकर इतनी मात्रा में घेरे के अन्दर छोड़े कि जिसमें आंख की पलकें डूब जांय, उसके बाद धीरे से पलक को खुलवा दे। इसी को वैद्यों ने प्रसिद्ध तर्पण की विधि बतलाई है॥ १६९-१७२॥

अथ तर्पणार्हनेत्राणां लक्षणान्याह—

यद्रूक्षं परिष्यन्दि नेत्रं कुटिलमाविलम्। शीर्णपक्ष्मसिरोत्पातकृच्छ्रोन्मीलनसंयुतम्॥१७३॥
तिमिरार्जुनशुक्लाद्यैरभिष्यन्दाधिमन्थकैः। शुष्काक्षिपाकशोथाभ्यां युतं वातविपर्ययैः॥
तन्नेत्रं तर्पयेत्सम्यङ् नेत्ररोगविशारदः॥ १७४॥

तर्पण के योग्य नेत्रों के लक्षण—जो नेत्र रूक्ष हो गये हों या जिनसे पानी झरता हो वा कुटिल वा मटमैले हो गये हों तथा जिनके पलकों के रोयें गिर गये हों वा जो सिरा (नस) सम्बन्धी उत्पात से युक्त हों अर्थात् जिनकी नसें लाल होकर अत्यन्त पीड़ा करती हों या जिनकी पलकें बड़ी कठिनता से खुलती हों एवं जिन नेत्रों में तिमिर, अर्जुन, शुक्ल, अभिष्यन्द, अधिमन्थ, शुष्कनेत्र, नेत्रपाक, नेत्रशोथ, वातविपर्यय आदि रोग हो गये हों उन सबों में नेत्ररोग के ज्ञाता वैद्यजन भली भांति तर्पण विधि करें॥ १७३-१७४॥

अथ रोगभेदेन तर्पणधारणकालभेदमाह—

तर्पणं धारयेद्वर्त्मरोगे वाचां शतं बुधः। स्वस्थे कफे सन्धिरोगे वाचां पञ्च शतानि च॥१७५॥
षट्शतानि कफे कृष्णरोगे सप्त शतानि हि। दृष्टिरोगे शतान्यष्टावधिमन्थे सहस्रकम्॥१७६॥
सहस्रं वातरोगेषु धार्यमेव हि तर्पणम्॥ १७७॥

रोगभेद से तर्पण धारण करने के काल का भेद—वर्त्म (बरौनी) गत रोग में जब तक १०० गुरु अक्षरों का उच्चारण हो तब तक, स्वस्थ कफ तथा सन्धि रोग में ५०० गुरु अक्षरों के उच्चारण तक,

कफ में ६०० तक, कृष्ण (काली पुतली) गत रोग में ७०० तक, दृष्टिरोग में ८०० तक, अधिमन्थ तथा वातसम्बन्धी नेत्ररोग में १००० गुरु अक्षरों के उच्चारण तक तर्पण धारण कराना चाहिये ॥ १७५-१७७ ॥

पूर्णे चापाङ्गमार्गेण स्रावयित्वाऽक्षि शोधयेत् । स्विन्नेन यवपिष्टेन स्नेहवीर्येरितं ततः ॥ १७८॥
यथास्वं धूमपानेन कफमस्य विरेचयेत् । एकाहं वा त्र्यहं वापि पञ्चाहं तर्पणं चरेत् ॥ १७९ ॥

जब तर्पण धारण करने का काल पूर्ण हो जाय तब नेत्र के प्रान्त (कोर) मार्ग से भरे हुये घृतादि को गिरा दे, उसके बाद गूंदकर गर्म किये हुए जौ के आटे की पिण्डी से नेत्रों को पोंछ कर साफ कर डाले । तत्पश्चात् स्नेह के प्रयोग करने के प्रभाव से बढ़े हुये कफ का यथायोग्य ओषधियों के धूमपान द्वारा विरेचन करे । अर्थात् उसे निकाल देवे । इसभांति एक दिन, तीन दिन या पांच दिन तक तर्पण क्रिया करे ॥ १७८-१७९ ॥

अथ यथार्थतर्पणचिह्नमाह—

तर्पणे तृप्तिलिङ्गानि नेत्रस्यैतानि लक्षयेत् । सुखस्वप्नावबोधत्वं वैशद्यं नेत्रपाटवम् ॥
निर्वृतिर्व्याधिशान्तिश्च क्रियालाघवमेव च ॥ १८० ॥

यथार्थ तर्पण के चिह्न—उचित रीति से तर्पण क्रिया होने पर सुखपूर्वक नींद आना तथा सुख पूर्वक जग जाना, नेत्रों में स्वच्छता तथा सामर्थ्य का होना एव सुख मिलना, नेत्ररोग शान्ति तथा नेत्रों की क्रिया में लघुता होना, ये सब नेत्रों के तृप्तिबोधक लक्षण प्रकट होते हैं ॥ १८० ॥

***निर्वृतिः=सुखम् । क्रियालाघव=नेत्रस्य क्रियायां निमेषोन्मेषादौ लघुता ॥ १८० ॥**

यहां 'निवृति' पद का 'सुख मिलना' तथा 'क्रियालाघव' पद का 'नेत्रों की क्रिया में अर्थात् पलक बन्द करने तथा खोलने में लघुता होना' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १८० ॥

अथातितर्पितहीनतर्पितयोर्लक्षणं प्रतीकारमयोग्यसमयं चाह—

गुर्वाविलमतिस्निग्धमश्रुकण्डूपदेहवत् । घर्षतोदयुतं नेत्रमतितर्पितमादिशेत् ॥ १८१ ॥
आस्रावशोफरोगाढ्यमुपदेहसमाकुलम् । रूक्षमस्रावमरुणं नेत्रं स्याद्धीनतर्पितम् ॥ १८२ ॥

अतितर्पित नेत्र के लक्षण—यदि तर्पण क्रिया करने पर नेत्रों में भारीपन, मैलापन तथा अत्यन्त स्निग्धता हो और आंसू बहना, खुजली होना तथा कफ से लिपटा हुआ मालूम पड़ना एवं घिसने के समान या सुई चुभने के समान पीडा होना, ये सब लक्षण प्रकट हों तो नेत्रों का अधिक मात्रा में तर्पण हुआ समझना चाहिये । **हीनतर्पित नेत्र के लक्षण**—यदि तर्पण क्रिया करने पर नेत्रों से पानी झरना, शोथ तथा पीडा अधिक होना, कफ से अधिक लिपटा हुआ मालूम पडना, रूक्षता, गीलापन न रहना तथा अधिक लाल रहना, ये सब लक्षण प्रकट हों तो तर्पण-क्रिया हीनमात्रा में हुई है, यह समझना चाहिये ॥ १८१-१८२ ॥

अनयोर्दोषबाहुल्यात्प्रयतेत चिकित्सिते । रूक्षस्निग्धोपचाराभ्यामनयोः स्यात्प्रतिक्रिया ॥१८३॥

अतितर्पित तथा हीनतर्पित नेत्रों का प्रतीकार—अतितर्पित तथा हीनतर्पित नेत्रों में दोषों की अधिकता होने से दोनों की चिकित्सा करने में विशेष प्रयत्नशील होना चाहिये । इन दोनों का प्रतीकार-क्रम से अतितर्पित नेत्र का रूक्षताकारक तथा हीनतर्पित नेत्र का स्निग्धताकारक उपचारों से करना चाहिये ॥ १८३ ॥

***अनयोः=अतितर्पितहीनतर्पितयोः ॥ १८३ ॥**

यहां 'अनयोः' पद का 'अतितर्पित तथा हीनतर्पित नेत्रों में' यह अर्थ समझना चाहिये ॥१८३॥

दुर्दिनात्युष्णशीतेषु चिन्तायां संभ्रमेषु च । अशान्तोपद्रवे चाक्ष्णि तर्पणं न प्रशस्यते ॥१८४॥

तर्पण क्रिया करने के लिये अयोग्य समय—जब बादल घिरे हुए हों या अत्यन्त गर्मी या सर्दी पड़ती हो वा रोगी के चित्त में चिन्ता या भय हो तथा उपद्रव शान्त होने के पहले नेत्रों में तर्पण क्रिया करना उचित नहीं होता है ॥ १८४ ॥

अथ पुटपाकविधिमाह—

द्वे बिल्वे स्निग्धमांसस्य परद्रव्यपलं मतम् । द्रवस्य कुडवोन्मानं सर्वमेकत्र पेषयेत् ॥१८५॥
तदेकत्र समालोड्य पत्रैः सुपरिवेष्टितम् । पुटपाकविधानेन तत्पक्त्वा तद्रसं बुधः ॥१८६॥
तर्पणोक्तेन विधिना यथावदवधारयेत् । दृष्टिमध्ये निषेच्यः स्यान्नित्यमुत्तानशायिनः ॥१८७॥

पुटपाक की विधि—स्नेह युक्त मांस २ पल (८ तो०), अन्य औषधियां १ पल (४ तो०), द्रवपदार्थ ४ पल (१६ तो०) लेकर इन सबों को एकत्र पीस डाले पश्चात् गोला बनाकर उसके चारो तरफ पत्ते लपेट कर पुटपाक की विधि से अग्नि में रख पका डाले, उसके वाद वैद्य उक्त परिपक्व ओषधियों का रस निचोड़ कर तर्पण क्रिया में कही हुई विधि के अनुसार नेत्रों में भली प्रकार उक्त रस का प्रयोग करे, अर्थात् रोगी को उत्तान लिटाकर नेत्रों में उक्त रस को डाल कर जब तक उचित हो तब तक पड़ा रहने दे ॥ १८५-१८७ ॥

अथ पुटपाकस्य भेदानाह—

स्नेहनो लेखनश्चैव रोपणश्चेति स त्रिधा। हितः स्निग्धोऽतिरूक्षस्य स्निग्धस्य स तु लेखनः॥१८८॥
दृष्टेर्बलार्थमितरः पित्तासृग्व्रणवातनुत् ॥ १८९ ॥

पुटपाक के भेद—पुटपाक तीन प्रकार का होता है—१ स्नेहन, २ लेखन, ३ रोपण। इनमें **स्नेहन** पुटपाक अत्यन्त रूक्ष नेत्रों के लिये और **लेखन** पुटपाक अत्यन्त स्निग्ध नेत्रों के लिये हितकारी होता है एवं **रोपण** पुटपाक दृष्टिशक्ति को बलवान् करने के लिये तथा पित्त और रक्त संबन्धी नेत्रविकार, व्रण एवं तथा नेत्रगत वात दोष को दूर करने के लिये उत्तम होता है १८८-१८९

***इतरः = रोपणः ॥ १८८-१८९ ॥**

यहां 'इतर' पद का 'रोपण-पुटपाक' अर्थ समझना चाहिये ॥ १८८-१८९ ॥

अथ स्नेहनादिपुटपाकानां धारणकालानाह—

स्नेहमांसवसामज्जमेदःस्वाद्वौषधैः कृतः। स्नेहनः पुटपाकः स्याद्धार्यो द्वे वाक्छते तु सः॥१९०॥
जाङ्गलानां यकृन्मांसैर्लेखनद्रव्यसंयुतैः। कृष्णलोहरजस्ताम्रशङ्खविद्रुमसिन्धुजैः ॥ १९१ ॥
समुद्रफेनकासीसस्रोतोऽजदधिमस्तुभिः। लेखनो वाक्छतं तस्य परं धारणमिष्यते ॥ १९२ ॥
स्तन्यजाङ्गलमध्वाज्यतिक्तद्रव्यविपाचितः। लेखनात्त्रिगुणो धार्यः पुटपाकस्तु रोपणः॥१९३॥

स्नेहनादि पुटपाकों के धारण काल की अवधि—स्नेह, मांस, वसा, मज्जा, मेद तथा मधुर रस युक्त ओषधियों से बना हुआ जो पुटपाक होता है, वह **स्नेहन** कहलाता है, इसे २०० गुरु अक्षरों के उच्चारण काल तक धारण करना चाहिये। जंगली जीवों का कलेजा तथा मांस, लेखनकारी ओषधियां, काले लोहे का सूक्ष्म चूर्ण, तामा, शंख तथा मूंगा का चूर्ण, सेंधा नमक, समुद्रफेन, कसीस, काला सुरमा, बकरी के दही का पानी इन सब से बना हुआ जो पुटपाक होता है, वह **लेखन** कहलाता है, इसके धारण काल की अवधि १०० गुरु अक्षरों के उच्चारण करने तक की है। स्त्री का दूध, जाङ्गल जीवों का मांस, शहद, गाय का घी तथा पञ्चतिक्तक गणोक्त ओषधियां इन सबों से बने हुये पुटपाक को **रोपण** कहते हैं। इसके धारण काल की अवधि लेखन पुटपाक से तिगुनी है अर्थात् ३०० गुरु अक्षरों के उच्चारण करने तक की है॥ १९०-१९३ ॥

अथ तिक्तद्रव्याण्याह—

निम्बामृतावृषपटोलनिदिग्धिकाभिः स्यात्पञ्चतिक्तक इति प्रथितो गणोऽयम् ॥ १९४ ॥

तिक्त द्रव्य—नीम, गिलोय, अडूसा, परवल और कटेरी, इनके गण पञ्चतिक्तक नाम से प्रसिद्ध हैं, रोपण पुटपाक में इसी का प्रयोग होता है ॥ १९४ ॥

आचरेत्तर्पणोक्तां तु क्रियां व्यापत्तिदर्शने ॥ १९५ ॥

उचित रीति से पुटपाक का प्रयोग न होने से उत्पन्न हुए रोग दिखलाई पड़ने पर पूर्वोक्त तर्पण क्रिया की भांति चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १९५ ॥

***व्यापत्तिदर्शने = मिथ्याकृतपुटपाकजनितव्याधिदर्शने ॥ १९५ ॥**

यहां 'व्यापत्तिदर्शने' पद का 'उचित रीति से पुटपाक का प्रयोग न होने से उत्पन्न हुये रोग दिखलाई पड़ने पर' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ १९५ ॥

अथ तर्पणपुटपाकवतस्त्याज्यविषयानाह—

तेजांस्यनिलमाकाशमादर्शं भास्वराणि च। नेक्षेत तर्पिते नेत्रे यश्च वा पुटपाकवान् ॥ १९६ ॥

तर्पण तथा पुटपाक धारण किये हुये लोगों के लिये त्याग करने योग्य कार्य—जिनकी आंखों में तर्पण तथा पुटपाक क्रिया का प्रयोग हुआ हो वे तेज से युक्त पदार्थ, आकाश, दर्पण (शीशा) तथा चमकीली वस्तु की ओर एवं हवा जिस ओर से आती हो उस ओर भी न देखें ॥ १९६ ॥

अथाञ्जनविधिमाह—

अथ सम्पक्वदोषस्य प्राप्तमञ्जनमाचरेत्। अञ्जनं क्रियते येन तद् द्रव्यं चाञ्जनं मतम् ॥१९७॥

अञ्जन की विधि—दोषों के पक जाने पर नेत्रों में योग्य अञ्जन लगाना चाहिये। नेत्रों में जो आंजा जाता है वह अञ्जन कहलाता है ॥ १९७ ॥

तद्यथा—

रसो वटी तथा चूर्णमिति त्रिविधमञ्जनम्। यथापूर्वं बलं तेषु स्नेहमाहुर्मनीषिणः ॥
तत्प्रत्येकं त्रिधा प्रोक्तं लेखनं रोपणं तथा। स्नेहनं चेति लिङ्गानि तेषां विस्तरतः शृणु ॥१९८॥
लेखनं क्षारतीक्ष्णाम्लरसैरञ्जनमुच्यते। नेत्रवर्त्मसिराजालश्रोत्रशृङ्गाटकस्थितम् ॥ १९९ ॥
मुखनासाऽक्षिभिर्दोषमुत्क्लिश्य स्रावयेच्च तत्। कषायं तिक्तकं चापि सस्नेहं रोपणं मतम्२००
स्नेहस्य शैत्याद्वर्ण्यं स्याद् दृष्टेश्च बलवर्द्धनम्। मधुरं स्नेहमण्डं तदञ्जनं स्यात्प्रसादनम् ॥२०१॥
दृष्टिदोषप्रसादार्थं स्नेहनार्थञ्च तद्धितम्। हरेणुमात्रावर्त्तिस्तु लेखनी स्यात्प्रमाणतः ॥ २०२ ॥
सार्द्धहरेणुकमिता रोपणी वर्त्तिरिष्यते। क्रियते स्नेहनी वर्त्तिर्द्विहरेणुकमात्रया ॥ २०३ ॥

अञ्जन के तीन भेद हैं। रसरूप, वर्त्तीरूप और चूर्णरूप इनमें चूर्ण से वर्त्ती और वर्त्ती से रस बलवान् है प्रत्येक अञ्जन के लेखन, रोपण तथा स्नेहन, इस भांति तीन २ भेद हैं। इनमें जो खारा, तीक्ष्ण तथा खट्टे रस वाला अञ्जन होता है वह लेखन अञ्जन कहलाता है। यह अञ्जन नेत्रों में, पलकों में, सिराओं में, कान में और कपाल की हड्डी में स्थित दोषों को स्थान से गिरा कर मुख, नाक और नेत्रों से निकाल देता है। कषाय, कटु रस वाला और स्नेहयुक्त जो अञ्जन होता है; वह रोपण कहलाता है। यह स्नेह-स्निग्ध तथा शीतल होने के कारण वर्ण को उत्तम करता है और दृष्टि के बल को बढ़ाता है। मधुर रस वाला तथा स्नेहयुक्त जो अञ्जन होता है वह प्रसादन कहलाता है। स्नेहन अञ्जन दृष्टि-दोष को शुद्ध करने के लिये तथा दृष्टि को स्निग्ध करने के लिये उपयोगी है। लेखनी वर्त्ती एक मटर के बराबर और रोपणी वर्त्ती डेढ मटर के बराबर तथा स्नेहनी वर्त्ती दो मटर के बराबर बनानी चाहिये ॥ १९८-२०३ ॥

रसाञ्जनस्य मात्रा तु पिष्टवर्तिमिता मता। चूर्णं तु लेखनं वैद्यैर्द्विशलाकं प्रदीयते ॥
रोपणं त्रिशलाकं स्याच्चतस्रः स्नेहनाञ्जने ॥ २०४ ॥

रसरूप अञ्जन की मात्रा एक पिष्टवर्त्ती के बराबर बनानी चाहिये। यदि वैद्य को लेखन चूर्ण आँजना हो तो दो सलाई आँजना चाहिये। रोपण चूर्ण तीन सलाई और स्नेहन चूर्ण चार सलाई आँजना चाहिये ॥ २०४ ॥

***चतस्रः शलाकाः स्नेहनाञ्जने चूर्णे ॥ २०४ ॥**

यहाँ 'चतस्रः स्नेहनाञ्जने' पदों का 'स्नेहन चूर्ण चार सलाई आंजनी चाहिये' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २०४ ॥

मुखयोर्मुकुलाकारा कलायपरिमण्डला। अष्टाङ्गुला शलाका स्यादश्मजा धातुजाऽथ वा ॥२०५॥

अञ्जन लगाने की सलाई—दोनों सिरों में कली के समान आकार वाली, आगे के भाग में मटर के समान गोल, आठ अंगुल लम्बी, पत्थर की या धातु की होनी चाहिये ॥ २०५ ॥

***कलायपरिमण्डला = अग्रे कलायवद्वर्त्तुला ॥ २०५ ॥**

यहां 'कलायपरिमण्डला' पद का 'आगे के भाग में मटर के समान गोल' यह अर्थ करना चाहिये ॥ २०५ ॥

ताम्रलोहाश्मसञ्जाता शलाका लेखने मता। सुवर्णरजतोद्भूता स्नेहने समुदाहृता ॥ २०६ ॥
अङ्गुली च मृदुत्वेन रोपणे सम्प्रयुज्यते। कृष्णभागावधिं लिम्पेदपाङ्गं यावदञ्जनम् ॥ २०७ ॥
हेमन्ते शिशिरे चैव मध्याह्नेऽञ्जनमिष्यते। पूर्वाह्णे वाऽपराह्णे वा ग्रीष्मे शरदि चेष्यते ॥२०८॥
वर्षास्वनभ्रे नात्युष्णे वसन्ते तु सदैव हि। अथ वा सर्वदा प्रातः सायं वाऽञ्जनमाचरेत् ॥२०९॥
नातिशीतोष्णवाताभ्रवेलाया तत्प्रयुज्यते। श्रान्तेऽथ रुदिते भीते पीतमद्ये नवज्वरे ॥ २१० ॥
अजीर्णे वेगघाते च नाञ्जनं सम्प्रयुज्यते। रागोपदेहौ तिमिरं शूलं संरम्भमेव च ॥ २११ ॥
निद्राक्षयञ्च कुरुते निषिद्धे युक्तमञ्जनम् ॥ २१२ ॥

यदि लेखन चूर्ण लगाना हो तो तांबे की या लोहे की अथवा पत्थर की सलाई होनी चाहिये।

स्नेहन चूर्ण आँजना हो तो सोने की अथवा चांदी की सलाई होनी चाहिये। रोपण चूर्ण आँजना हो तो अंगुली से आँजना चाहिये क्योंकि अङ्गुली कोमल होती है। अञ्जन लगाना हो तो काली पुतली के नीचे से नेत्र के कोने तक आँजे। **हेमन्त और शिशिर ऋतु** में मध्याह्न के समय अञ्जन आँजना चाहिये। ग्रीष्म ऋतु और शरद् ऋतु में पूर्वाह्न समय अथवा अपराह्न समय में अञ्जन आंजना चाहिये। **वर्षा ऋतु** में जिस समय बादल न हो और बहुत गरमी न हो उस समय आँजना चाहिये। **वसन्त ऋतु** में जब इच्छा हो तब अञ्जन लगावे। अथवा सर्वदा प्रातः सायं अञ्जन लगाना चाहिये। अत्यन्त शीतलता, उष्णता, वायु तथा बादल के समय अञ्जन नहीं लगाना चाहिये। थका हुआ, रुदन किया हुआ, डरा हुआ, मदिरा पीया हुआ, नवीन ज्वरवाला, अजीर्ण युक्त और जिसने मलमूत्र के वेग को रोका हो; इन सब को अञ्जन नहीं लगाना चाहिये। यदि उपर्युक्त व्यक्ति अञ्जन लगावें तो उनके नेत्रों में लाली होती है, नेत्रों में सूजन आ जाती है, तिमिर, शूल तथा दोषों का कोप होता है और निद्रा का नाश होता है ॥ २०६-२१२ ॥

अथ लेखनकारिणीं वर्त्तिमाह—

शङ्खनाभिर्बिभीतस्य मज्जा पथ्या मनःशिला। पिप्पली मरिचं कुष्ठं वचा चेति समांशकम् २१३
छागक्षीरेण सम्पिष्य वर्त्तिं कुर्याद्यवोन्मिताम्। हरेणुमात्रां सम्पिष्य जलैः कुर्याद्यथाऽञ्जनम् २१४
तिमिरं मांसवृद्धिञ्च काचं पटलमर्बुदम्। रात्र्यन्धं वार्षिकं पुष्पं वर्त्तिश्चन्द्रोदया हरेत् ॥२१५॥

इति चन्द्रोदया वर्त्तिर्लेखनी।

लेखनकारिणी वर्त्ति—शंख की नाभि, बहेड़े की मींगी, हरड़, मैनशिल, पीपरि, काली मिर्च, कूठ और बच समान भाग लेकर बकरी के दूध में पीस कर जौ के समान बत्ती बनावे। इस बत्ती को पानी में घिसकर योग्य रीति से आँजने से तिमिर, मांसवृद्धि, काच, पटल, अर्बुद, रतौंधी और एक वर्ष का फूला नष्ट हो जाता है। इस बत्ती का नाम चन्द्रोदया वर्त्ती है। यह लेखन कारिणी है ॥ २१३-२१५ ॥

अशीतिस्तिलपुष्पाणि षष्टिः पिप्पलितण्डुलाः। जातीपुष्पाणि पञ्चाशन्मरिचानि तु षोडश ॥
सूक्ष्मं पिष्ट्वाऽम्बुना वर्त्तिः कृता कुसुमिकाऽभिधा। तिमिरार्जुनशुक्लानां नाशिनी मांसवृद्धिनुत्॥
एतस्या अञ्जने प्रोक्ता मात्रा सार्धहरेणुका ॥ २१७ ॥

रोपणकारिणी वर्त्ति—८० तिल के फूल, ६० पीपल के बीज, ५० चमेली के फूल और १६ दाने मिर्च पानी में बारीक पीस कर जो बत्ती बनाई जाती है, वह कुसुमिका वर्त्ति कहलाती है। यह वर्त्ति-तिमिर, अर्जुन तथा फूल और मांसवृद्धि को दूर करती है। इस वर्त्ति की आँजने में डेढ़ मटर के बराबर मात्रा कही गई है। यह कुसुमिका वर्त्ति रोपणकारिणी है॥ २१६-२१७ ॥

अथ स्नेहनकारिणीं वर्त्तिमाह—

धात्र्यक्षपथ्याबीजानि एकद्वित्रिगुणानि च। पिष्ट्वा वर्त्तिं जलैः कुर्यादञ्जनं द्विहरेणुकम् ॥२१८॥
नेत्रस्रावं हरत्याशु वातरक्तरुजं तथा ॥ २१९ ॥

स्नेहनकारिणी वर्त्ति—आवले की मींगी १ भाग, बहेड़े की मींगी २ भाग, हर्रे की मींगी ३ भाग, इनको पानी में पीसकर दो मटर के बराबर नेत्रों में लगावे। इसके प्रयोग से नेत्रों से पानी गिरना तथा वातरक्तजन्य विकार नष्ट हो जाते हैं॥ २१८-२१९ ॥

अथ लेखनकारिणीं रसक्रियामाह—

तुत्थमाक्षिकसिन्धूत्थाः सिताशङ्खमनःशिलाः। गैरिकं सिन्धुफेनञ्च मरिचं चेति चूर्णयेत्॥२२०॥
संयोज्य मधुना कुर्यादञ्जनार्थं रसक्रियाम्। वर्त्मरोगार्मतिमिरकाचशुक्लहरीं पराम् ॥२२१॥

लेखनकारिणी रसक्रिया—नीलाथोथा (तूतिया), सोनामाखी, सेंधानमक, शक्कर, शंख का चूर्ण, मैनशिल, गेरू, समुद्रफेन और काली मिर्च; इनको खूब पीसकर मधु में मिलाकर आँजने से पलकों के रोग, अर्म, तिमिर, काच और शुक्ल रोग का बहुत शीघ्र नाश होता है॥ २२०-२२१ ॥

अथ रोपणीं रसक्रियामाह—

रसाञ्जनं सर्जरसो जातिपुष्पं मनःशिला। समुद्रफेनो लवणं गैरिकं मरिचं तथा ॥ २२२ ॥
एतत्समांशं मधुना पिष्टं प्रक्लिन्नवर्त्मने। अञ्जनं क्लेदकण्डूघ्नं पक्ष्मणाञ्च प्ररोहणम् ॥ २२३ ॥

रोपणी रसक्रिया—रसौत, राल, चमेली के फूल, मैनशिल, समुद्रफेन, सेंधा नमक, गेरू और

कालीमिर्च; इन सबको समान भाग लेकर शहद में खूब बारीक पीसकर पलकों पर लगाने से पलकों का गीलापन तथा खुजली नष्ट होती है और पलकों के गिरे बाल फिर से उगने लगते हैं ॥ २२२-२२३ ॥

अथ स्नेहनकारिणीं रसक्रियामाह—

कतकस्य फलं घृष्ट्वा मधुना नेत्रमञ्जयेत्। ईषत्कर्पूरसहितं स्मृतं नेत्रप्रसादनम् ॥ २२४ ॥

स्नेहनकारिणी रसक्रिया—निर्मली के फल तथा थोड़े कर्पूर को शहद में घिसकर आंजने से नेत्र स्निग्धतापूर्वक स्वच्छ हो जाते हैं ॥ २२४ ॥

अथ लेखनचूर्णमाह—

दक्षाण्डत्वक्शिलाकाचशङ्खचन्दनसैन्धवैः। अञ्जनं हरते नित्यं सर्वानक्षिगदान्बलात् ॥२२५॥

लेखन चूर्ण—मुरगे के अण्डे का छिलका, मैनशिल, काच, शख, चन्दन तथा सेंधानमक का चूर्ण करके नित्य आँजने से लाचार होकर सम्पूर्ण नेत्रविकार नष्ट हो जाते हैं ॥ २२५ ॥

***दक्षः = कुक्कुटः। तथा च निघण्टुः—**

'कृकवाकुस्तथा दक्षः कालज्ञोऽथ शिखण्डिकः' इति ॥ २२५ ॥

यहां 'दक्ष' पद का कुक्कुट अर्थात् 'मुरगा' अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि निघण्टु में 'कृकवाकु' आदि मुरगे के संस्कृत नामों के मध्य में 'दक्ष' का पाठ है ॥ २२५ ॥

अथ रोपणचूर्णमाह—

शिलायां रसकं पिष्ट्वा सम्यगाप्लाव्य वारिणा। गृह्णीयात्तज्जलं सर्वं त्यजेच्चूर्णमधोगतम् ॥२२६॥
शुष्कं तच्च जलं सर्वं पर्पटीसन्निभं भवेत्। विचूर्ण्य भावयेत्सम्यक्त्रिवेलं त्रिफलारसैः ॥२२७॥
कर्पूरस्य रजस्तत्र दशमांशेन निक्षिपेत्। अञ्जयेन्नयनं तेन सर्वदोषप्रशान्तये।
समस्तनेत्ररोगघ्नं चूर्णमेतन्न संशयः ॥ २२८ ॥

रोपण चूर्ण—पत्थर के खरल में खपरिया को घोंट कर पानी में भली भांति भिगो दे, तत्पश्चात् उसके ऊपर के जल को निथार ले तथा नीचे के चूर्ण को फेंक दे इस जल को सुखावे जब यह पपड़ी के समान हो जाय तब उसका चूर्ण कर ले फिर हर्रा, बहेड़ा और आँवले की तीन भावना दे और फिर दशमांश कर्पूर का चूर्ण मिला दे। इस चूर्ण के आँजने से सम्पूर्ण दोषों की शान्ति होती है तथा नेत्रों के सम्पूर्ण रोग निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं ॥ २२६-२२८ ॥

अथ स्नेहनचूर्णमाह—

अग्नितप्तं हि सौवीरं निषिक्तं त्रिफलारसैः। सप्तवेलं तथा स्तन्यैः स्त्रीणां सिक्तं विचूर्णितम् ॥२२९॥
अञ्जयेत्तेन नयने प्रत्यहं चक्षुषोर्हितम्। सर्वानक्षिविकारांस्तु हन्यादेतन्न संशयः ॥ २३० ॥

स्नेहन चूर्ण—सफेद सुरमे को अग्नि में तपा तपा कर सात बार त्रिफला के रस में तथा सात बार स्त्री के दूध में बुझावे। इस प्रकार यह शुद्ध सुरमे का अञ्जन नेत्रों को हितकारी होता है तथा नेत्रसम्बन्धी सम्पूर्ण विकारों का निःसन्देह नाश करता है ॥ २२९-२३० ॥

***सौवीरं = श्वेतमञ्जनम् ॥ २२९-२३० ॥**

यहां 'सौवीर' पद का 'सुफेद सुरमा' अर्थ समझना चाहिये ॥ २२९-२३० ॥

अथ प्रत्यञ्जनसेवनविधिमाह—

गतदोषमपेताश्रु प्रपश्यत्सम्यगम्भसि। प्रक्षाल्याक्षि यथादोषं कार्यं प्रत्यञ्जनं ततः ॥ २३१ ॥
न वा निर्वातदोषेऽक्षिधावनं सम्प्रयोजयेत्। प्रत्यञ्जनं तत्र दद्याच्चूर्णं तीक्ष्णप्रसादनम् ॥ २३२ ॥

प्रत्यञ्जन सेवन विधि—नेत्रों के दोष दूर होने के पश्चात् आसू निकल जाने पर तथा नेत्रों में देखने की शक्ति आ जाने पर नेत्रों को जल से धो डालना चाहिये। तत्पश्चात् दोषों को निःशेष करने के लिये उसी दोष के अनुसार प्रत्यञ्जन (पुनः अञ्जन) करे। नेत्रों के दोष जबतक दूर न हो जाय नेत्रों को न धोवे। धोने के पश्चात् नेत्रों में प्रत्यञ्जन आजने से तीक्ष्ण औषधियों के प्रयोग से हुआ नेत्रों का ताप नष्ट हो जाता है ॥ २३१-२३२ ॥

अथ नयनामृतचूर्णमाह, तद्यथा—

शुद्धे नागे द्रुते तुल्यं शुद्धं सूतं विनिक्षिपेत्। कृष्णाञ्जनं तयोस्तुल्यं सर्वमेकत्र चूर्णयेत् ॥२३३॥
दशमांशेन कर्पूरं तस्मिंश्चूर्णे विनिक्षिपेत्। एतत्प्रत्यञ्जनं नेत्रगदजिन्नयनामृतम् ॥ २३४ ॥

इति नयनामृतं प्रत्यञ्जनम् ।

नयनामृत चूर्ण—शुद्ध शीसे को पिघला कर उसमें उसके बराबर ही शुद्ध पारा डाले तथा इन दोनों के बराबर काला सुरमा डाले तत्पश्चात् इन सबका एकत्र चूर्ण करके उसमें उसका दशवां भाग कर्पूर डाले। इसका नेत्रों में प्रत्यञ्जन करने से नेत्र के रोग निःशेष हो जाते हैं। इसको 'नयनामृताञ्जन' कहते हैं॥ २३३-२३४॥

कृष्णाञ्जनं=स्रोतोऽञ्जनम्। तथा च मदनपालः—

'स्रोतोऽञ्जनन्तु तद्विद्यादञ्जनाभं यदञ्जनम्'॥ २३३-२३४॥

यहां 'कृष्णाञ्जन' का 'काला सुरमा' अर्थ समझना चाहिये। क्योंकि मदनपाल निघण्टु में लिखा है कि—जो सुरमा काजल के समान काला होता है वह स्रोतोञ्जन अर्थात् काला सुरमा कहलाता है॥ २३३-२३४॥

अथ दृष्टिस्वच्छकारिणीं शलाकामाह—

त्रिफलाभृङ्गशुण्ठीनां रसैस्तद्वच्च सर्पिषा। गोमूत्रमध्वजाक्षीरैः सिक्तो नागः प्रतापितः॥२३५॥
तच्छलाका हरत्येव सर्वान्नेत्रभवान्गदान्॥ २३६॥

दृष्टि को स्वच्छ करने वाली शलाका—शुद्ध सीसे को बार बार तपा कर त्रिफला के रस में, घी में, गोमूत्र में, शहद में और बकरी के दूध में बुझावे। फिर इस सीसे की सलाई बना कर नेत्रों में फेरने से नेत्रसम्बन्धी सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं॥ २३५-२३६॥

इति भेषजानां विधानानि।

अथ भेषजभक्षणसमयः।

तस्य पाञ्चविध्यमाह—

भैषज्यमभ्यवहरेत्प्रभाते प्रायशो बुधः। कषायांस्तु विशेषेण तत्र भेदस्तु दर्शितः॥ २३७॥
ज्ञेयः पञ्चविधः कालो भैषज्यग्रहणे नृणाम्। किञ्चित्सूर्योदये जाते तथा दिवसभोजने॥
सायन्तने भोजने च मुहुश्चापि तथा निशि॥ २३८॥

औषध खाने के पांच समय—बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि ओषधियों को प्रायः प्रातःकाल में खावे, उसमें यदि क्वाथ पीना हो तो प्रातःकाल में ही पीवे। औषध खाने के समय पांच हैं—१-कुछ सूर्योदय होने के पश्चात्, २-दिन में भोजन करने के समय, ३-सायकाल के भोजन करने के समय, ४-वारम्बार तथा ५-रात्रि में। इस प्रकार मनुष्यों के ओषधि खाने के पांच समय हैं॥

तत्र प्रथमकालस्य विषयानाह—

प्रायः पित्तकफोद्रेके विरेकवमनार्थयोः। लेखनार्थे च भैषज्यं प्रभातेऽनन्नमाहरेत्॥ २३९॥

ओषधि सेवन का प्रथम काल—पित्त तथा कफ की अधिकता में विरेचन, वमन तथा लेखन करना हो तो प्रातःकाल बिना भोजन किये ओषधि का उपयोग करना चाहिये॥ २३९॥

अथ द्वितीयकालस्य विषयानाह—

भैषज्यं विगुणेऽपाने भोजनाग्रे प्रशस्यते। अरुचौ चित्रभोज्यैश्च मिश्रं रुचिरमाहरेत्॥ २४०॥
समानवाते विगुणे मन्देऽग्नावग्निदीपनम्। दद्याद्भोजनमध्ये च भैषज्यं कुशलो भिषक्॥२४१॥
व्यानकोपे तु भैषज्यं भोजनान्ते समाहरेत्। हिक्काऽऽक्षेपककम्पेषु पूर्वमन्ते च भोजनात्॥२४२॥

द्वितीय काल—अपान वायु के दुष्ट होने पर दिन के भोजन से कुछ पहले ओषधि लेनी चाहिये। अरुचि में भोजन के विचित्र पदार्थों के साथ खाने से रुचि होती है। यदि रोगी के नाभि में रहने वाली समान वायु दूषित हो और मन्दाग्नि हो तो बुद्धिमान् वैद्य अग्निदीपक ओषधियों को भोजन के मध्य में खिलावे। यदि सर्व शरीर में व्यापक व्यान वायु बिगडी हो तो भोजन के अन्त में ओषधि खिलानी चाहिये। हिचकी, आक्षेपक वायु या कम्प वायु की अधिकता हो तो भोजन के पहले और पीछे भी ओषधि खिलानी चाहिये॥ २४०-२४२॥

अथ तृतीयकालस्य विषयानाह—

उदाने कुपिते वाते स्वरभङ्गादिकारिणि। ग्रासग्रासान्तरे देयं भैषज्यं सान्ध्यभोजने॥ २४३॥
प्राणे प्रदुष्टे सान्ध्यस्य भुक्तस्यान्ते प्रदीयते। औषधं प्रायशो धीरैः कालोऽयं स्यात्तृतीयकः२४४

तृतीय काल—स्वरभङ्ग इत्यादि को करने वाले गले में स्थित उदान वायु का यदि कोप हो तो सायङ्काल में भोजन के प्रत्येक ग्रास के साथ ओषधि देनी चाहिये। यदि हृदयस्थित प्राण वायु कुपित हो तो बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि प्रायः सायंकाल के भोजन के पश्चात् ओषधि का सेवन करावे ॥ २४३-२४४ ॥

अथ चतुर्थकालस्य विषयानाह—

मुहुर्मुहुश्च तृट्छर्दिहिक्काश्वासगरेषु च। सायञ्च भेषजं दद्यादिति कालश्चतुर्थकः ॥ २४५ ॥

चतुर्थ काल—प्यास, वमन, हिचकी, श्वास अथवा विषजन्य पीडा होने पर अन्न के साथ या वारम्बार और सायंकाल में ओषधि का सेवन करावें ॥ २४५ ॥

अथ पञ्चमकालस्य विषयानाह—

ऊर्ध्वजत्रुविकारेषु लेखने बृंहणे तथा। पाचने शमने देयमनन्नं भेषजं निशि ॥ २४६ ॥

पञ्चम काल—ऊर्ध्व जत्रुगत विकार में एवं लेखनक्रिया, बृंहणक्रिया, पाचनक्रिया तथा शमन-क्रियाओं में रात्रि में विना भोजन किये ही ओषधि सेवन करानी चाहिये ॥ २४६ ॥

अथ निरन्नकोष्ठ ओषधिसेवनगुणानाह—

वीर्याधिकं भवति भेषजमन्नहीनं हन्यात्तदामयमसंशयमाशु चैव।
तद्बालवृद्धयुवतीमृदुभिश्च पीतं ग्लानिं परां नयति चाशु बलक्षयञ्च ॥ २४७ ॥

निरन्न कोष्ठ ओषधि सेवन के गुण-विना भोजन किये जिस ओषधि का सेवन करता है उस ओषधि की शक्ति अधिक होती है। तथा वह ओषधि अवश्य तथा शीघ्र रोग को नष्ट करती है। किन्तु यदि बालक, वृद्ध, युवती स्त्रिया अथवा मृदु प्रकृति वाले मनुष्य निरन्नकोष्ठ (खाली पेट) ओषधि का सेवन करें तो उन्हें तुरन्त ग्लानि होती है तथा शरीर के बल का नाश होता है ॥२४७॥

अथान्नेन सहौषधसेवनगुणानाह—

शीघ्रं विपाकमुपयाति बलं न हिंस्यादन्नावृतं न च मुहुर्वदनान्निरेति।
एतद्धितं स्थविरबालकृशाङ्गनाभ्यः प्राग्भोजनाद्यदशितं किल तच्च तद्वत् ॥ २४८ ॥
औषधशेषे भुक्तं भोजनशेषे यदौषध पीतम्। न करोति गदोपशमम्प्रकोपयत्यन्यरोगांश्च ॥२४९॥

अन्न के साथ ओषधि सेवन के गुण—अन्न में मिलाकर जिस ओषधि का सेवन किया जाता है वह तुरन्त पच जाती है, बल का नाश नहीं करती तथा मुख से बारम्बार निकलती भी नहीं है। वृद्ध, बालक, दुर्बल शरीर वालों को तथा स्त्रियों को इस प्रकार ओषधि का सेवन कराना हितकर है। भोजन के पहले जो ओषधि सेवन की जाती है वह गुणों में उसके सदृश ही होती है अर्थात् भोजन के साथ खाई हुई ओषधि के समान ही गुण करती है। ओषधि कुछ शेष रहने पर भोजन करे या भोजन कुछ शेष रहने पर ओषधि का सेवन करे तो वह ओषधि रोगों को निवृत्त नहीं करती तथा अन्य रोगों को कुपित करती है ॥ २४८-२४९ ॥

*तद्वद्=अन्नावृतवद्, भेषजमिति शेषः। पीतमित्युपलक्षण लीढादिकं च ॥२४८-२४९॥

यहा 'तद्वत्' पद का 'उसके सदृश ही होती है अर्थात् भोजन के साथ खाई हुई ओषधि के समान ही गुण करती है' यह अर्थ समझना चाहिये और 'ओषधि' पद को प्रकरणवश ऊपर से समझना चाहिये। यहा 'पीतम्' पद उपलक्षण है अतः 'पीवे या खावे' सभी का बोध करना चाहिये, इसी से सेवन करे, यह अर्थ किया गया' है ॥ २४८-२४९ ॥

अथौषधपाकापाकयोश्चिह्नमाह—

अनुलोमोऽनिलः स्वास्थ्यं क्षुत्तृष्णासुमनस्कताः। लघुत्वमिन्द्रियोद्गारशुद्धिर्जीर्णौषधाकृतिः॥
क्लमो दाहोऽङ्गसदनं भ्रममूर्च्छाशिरोरुजाः। अरतिर्बलहानिश्च सावशेषौषधाकृतिः ॥ २५१ ॥

ओषधि के पाकापाक (पचने न पचने) का लक्षण—रोगी को यदि ओषधि पच जाती है तो वायु का अनुलोमन होता है, स्वस्थता आती है, भूख तथा प्यास लगती है, मन में प्रसन्नता होती है, शरीर में लघुता होती है और डकार शुद्ध आता है तथा यदि रोगी को ओषधि नहीं पची होती है तो ग्लानि, दाह, अङ्ग में पीडा, भ्रम, मूर्च्छा, सिर में दर्द, अरुचि तथा बलक्षय होता है ॥ २५०-२५१ ॥

अथ चरकोक्तौषधसेवनविधिमाह—

**देवान्गुरूंस्तथा विप्रान्पूजयित्वा प्रणम्य च। आशिषश्च समादाय श्रद्धया भेषजं भजेत्॥२५२॥
रसायनमिवर्षीणां देवानाममृतं यथा। सुधेवोत्तमनागानां भैषज्यमिदमस्तु ते॥२५३॥
ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेन्द्रभूचन्द्रार्कानिलानलाः। देवाश्च सौषधिग्रामा भूमिदेवाश्च पान्तु वः॥२५४॥
औषधं हेमरजतमृन्द्राजनपरिस्थितम्। पिबेदाप्तजनस्याग्रे प्रसन्नवदनेक्षणः॥२५५॥
प्रशान्तस्तूपविश्याथ पीत्वा पात्रमधोमुखम्। निक्षिप्याचम्य सलिलं ताम्बूलाद्युपयोजयेत्॥**

चरकोक्त ओषधि सेवन विधि—देवता, गुरु तथा ब्राह्मण की पूजा करने के बाद प्रणाम करके उनका आशीर्वाद लेकर श्रद्धा से ओषधि का सेवन करे और गुरु तथा ब्राह्मण रोगी को यह आशीर्वाद दें कि-जिस प्रकार रसायन ऋषियों को तथा अमृत देवताओं और नागों को रोगरहित तथा बलवान् करता है उसीप्रकार यह ओषधि तुम्हे रोगरहित तथा बलवान् बनावे। और ब्रह्मा, दक्ष, अश्विनीकुमार, रुद्र, इन्द्र, पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, वायु, अग्नि आदि देवता, ओषधियों का समूह तथा ब्राह्मण तुम्हारी रक्षा करें। तदुपरान्त रोगी अपने मुख तथा नेत्रों को प्रसन्न रखता हुआ शान्तरूप से बैठ कर अपने प्रेमी तथा भले मनुष्यों के आगे सोने, चांदी अथवा मिट्टी के पात्र में रखी हुई ओषधि का सेवन करे। ओषधियों के लेने के पश्चात् ओषधि के पात्र को पृथ्वी पर औंधा डाल कर रख दे तत्पश्चात् जल से आचमन करके पान इत्यादि का सेवन करे॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमन्मिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे परिभाषादिप्रकरणे षष्ठं धूमपानादिविधिप्रकरणं समाप्तम्॥ ६॥



अथ सप्तमं रोगिपरीक्षाप्रकरणम्॥ ७॥

अथ चिकित्सार्थं रोगिणो वाग्भटोक्तपरीक्षामाह—

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैस्तं परीक्षेत रोगिणम्। आयुरादि दृशा स्पर्शाच्छीतादि प्रश्नतः परम्॥ १॥

वाग्भटोक्त रोगीकी परीक्षा—दर्शन (देखना), स्पर्शन (छूना) और प्रश्न (पूछना) के द्वारा रोगी की परीक्षा करनी चाहिये। इनमें दर्शन के द्वारा आयु आदि की, स्पर्शन के द्वारा शीतादि की तथा प्रश्न के द्वारा अन्य शेष विषयों की परीक्षा करनी चाहिये॥ १॥

***आयुरादि=आदिशब्दात्साध्यत्वादि। दृशा=दर्शनेन, अत्र 'सम्पदादिभ्यश्चे'ति भावे क्विप्। स्पर्शात्=स्पर्शन। शीतादि=शीतोष्णमृदुकठिनत्वादि, नाडीपरीक्षणं च। प्रश्नतः=उदरलाघवगौरवतृषाऽतृषाक्षुधाऽक्षुधाबलाऽबलादि॥ १॥**

यहां 'आयुरादि' पद में पठित 'आदि' शब्द से रोग के साध्यत्व तथा असाध्यत्व आदि का भी बोध करना चाहिये अर्थात् रोगी के मल-मूत्रादि तथा नेत्र, जिह्वा और मुखादि को देखकर आयु की तथा रोग के साध्यत्व-असाध्यत्व की परीक्षा करनी चाहिये। 'दृशा' पद का 'दर्शन' द्वारा यह अर्थ समझना चाहिये। दृश् ('दृशि-प्रेक्षणे') धातु से 'सम्पदादिभ्यश्च' इस सूत्र से भाव में 'क्विप्' प्रत्यय करने से क्विप् का सर्वापहार लोप होकर प्रातिपदिक-संज्ञक दृश् शब्द से टा विभक्ति होने पर 'दृशा' की सिद्धि होती है। 'स्पर्शात्' पद का 'स्पर्शन द्वारा'। 'शीतादि' पद का 'शीत या उष्ण, मृदु (कोमल) या कठिन आदि एवं नाडी की परीक्षा करना' यह समझना चाहिये अर्थात् इन सबों की स्पर्शन द्वारा ही परीक्षा होती है। 'प्रश्नतः' पद का 'पेट की लघुता तथा गुरुता, तृषा मालूम पडना या न मालूम पडना, भूख लगनी या न लगनी, दुर्बलता या सबलता की प्रश्न द्वारा परीक्षा करनी चाहिये' यह अर्थ होता है॥ १॥

मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च। तथा दुष्परिदृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकान्॥२॥

जो रोग यथार्थ रूप से नेत्रादि तथा नाडी आदि की परीक्षा करके नहीं देखेग ये हैं तथा जिनका भली भांति रोगी के तरफ से वर्णन न किया गया हो एवं जिनमें रोगी से पेट की गुरुता या लघुता आदि के विषय में वैद्य द्वारा प्रश्न न किया गया हो तो ऐसे रोगी की चिकित्सा करने

में वैद्यों को भ्रम हो जाता है। अतः भली भांति से देख, सुन तथा पूछ कर रोगी की चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २ ॥

तत्र दर्शनं नेत्रजिह्वामूत्रादीनां कर्त्तव्यम्।

इसमें प्रथम दर्शन (देखना) द्वारा जो परीक्षा की जाती है उसमें रोगी के नेत्र, जिह्वा तथा मूत्र आदि को देखकर परीक्षा करनी चाहिये।

तत्र नेत्रपरीक्षामाह—

नेत्रं स्यात्पवनाद्रूक्षं धूम्रवर्णं तथाऽरुणम्। कोटरान्तःप्रविष्टं च तथा स्तब्धविलोकनम् ॥ ३ ॥
हरिद्राखण्डवर्णं वा रक्तं वा हरितं तथा। दीपद्वेषि सदाहञ्च नेत्रं स्यात्पित्तकोपतः ॥ ४ ॥
चक्षुर्बलासबाहुल्यात्स्निग्धं स्यात्सलिलप्लुतम्। तथा धवलवर्णञ्च ज्योतिर्हीनं बलान्वितम् ॥५॥
नेत्रं द्विदोषबाहुल्यास्स्याद्दोषद्वयलक्षणम्। त्रिदोषलिङ्गसङ्गेन तं मारयति रोगिणम् ॥ ६ ॥
त्रिदोषदूषितं नेत्रमन्तर्मग्नं भृशं भवेत्। त्रिलिङ्गं सलिलस्रावि प्रान्तेनोन्मीलयत्यपि ॥ ७ ॥

नेत्र की परीक्षा—यदि वायु का प्रकोप हो तो रोगी के नेत्र रूक्ष, धूयें के समान वर्ण वाले तथा लाल, भीतर के तरफ घुसे हुये, स्तब्ध स्वरूप से देखने वाले होते हैं और यदि पित्त का प्रकोप हो तो नेत्र हरदी के टुकड़ों के सदृश पीले वर्ण या रक्त वर्ण वा हरे रंग के होते हैं एवं दीपक की तरफ न देख सकने वाले अर्थात् विशेष प्रकाश को न सह सकने वाले तथा दाह युक्त होते हैं एवं कफ की अधिकता हो तो नेत्र स्निग्ध, जल से व्याप्त, सफेद रंग के, तेज से रहित तथा दृढता युक्त होते हैं।

यदि दो दोषों की अधिकता हो तो नेत्र दो दोषों के लक्षणों से और तीन दोषों की अधिकता हो तो तीन दोषों के लक्षणों से युक्त होते हैं किन्तु यदि तीन दोषों के लक्षणों से युक्त नेत्र होते हैं तो रोगी की मृत्यु कर देते हैं। जो नेत्र तीन दोषों से दूषित हो गये हैं वे भीतर की तरफ अधिक घुसे हुये होते हैं तथा उनसे अधिक जल गिरता है तथा नेत्र के प्रान्त भाग की तरफ से खुलने वाले होते हैं ॥ ३–७ ॥

अथ जिह्वापरीक्षामाह—

शाकपत्रप्रभा रूक्षा स्फुटना रसनाऽनिलात्। रक्ता श्यावा भवेत्पित्ताल्लिप्तार्द्रा धवला कफात् ॥८॥
परिदग्धा खरस्पर्शा कृष्णा दोषत्रयेऽधिके। सैव दोषद्वयाधिक्ये दोषद्वितयलक्षणा ॥ ९ ॥

जिह्वा की परीक्षा—वायुदोष की अधिकता से रोगी की जिह्वा, सागौन के पत्तों के समान रूखी तथा फटी हुई होती है। पित्तदोष की अधिकता होने से जिह्वा, रक्त तथा श्याव (सफेदी लिये काले) वर्ण की होती है। एव कफदोष की अधिकता हो तो जिह्वा कफ से लिपटी हुई, गीली तथा सफेद होती है। और तीनों दोषों की अधिकता होने से जिह्वा जली हुई की समान तथा काली एवं स्पर्श में खरखरी होती हैं। किन्तु यदि दो दोषों की ही अधिकता हो तो जिन दोषों की अधिकता हो उनके लक्षणों से युक्त होती है ॥ ८–९ ॥

अथ मूत्रपरीक्षामाह—

वातेन पाण्डुरं मूत्रं रक्तं नीलञ्च पित्ततः। रक्तमेव भवेद्रक्ताद्धवलं फेनिलं कफात् ॥ १० ॥

मूत्र की परीक्षा—वात की अधिकता से रोगी का मूत्र पाण्डुर (सफेद मिश्रित पीला) वर्ण का होता है। पित्त की अधिकता से लाल तथा नीला होता है। रक्त के प्रकुपित होने से रक्त ही की भांति लाल होता है एवं कफ की अधिकता से फेनयुक्त सफेद होता है ॥ १० ॥

अथ शरीरस्य शैत्योष्णत्वादि ज्ञानार्थं स्पर्शनं कार्यम्।

तत्र नाडीपरीक्षामाह—

पुंसो दक्षिणहस्तस्य स्त्रियो वामकरस्य तु। अङ्गुष्ठमूलगां नाडीं परीक्षेत भिषग्वरः ॥ ११ ॥
अङ्गुलीभिस्तु तिसृभिर्नाडीमवहितः स्पृशेत्। तच्चेष्टया सुखं दुःखं जानीयात्कुशलोऽखिलम् ॥
सद्यःस्नातस्य सुप्तस्य क्षुत्तृष्णाऽऽतपशीलिनः। व्यायामश्रान्तदेहस्य सम्यङ् नाडी न बुध्यते ॥
वातेऽधिके भवेन्नाडी प्रव्यक्ता तर्जनीतले। पित्ते व्यक्ता मध्यमायां तृतीयाङ्गुलिगा कफे ॥१४॥
तर्जनीमध्यमामध्ये वातपित्ताधिके स्फुटा। अनामिकायां तर्जन्यां व्यक्ता वातकफे भवेत् ॥

मध्यमाऽनामिकामध्ये स्फुटा पित्तकफेऽधिके। अङ्गुलित्रितयेऽपि स्यात्प्रव्यक्ता सन्निपाततः॥
वाताद्वक्रगतिं धत्ते पित्तादुत्प्लुत्य गामिनी। कफान्मन्दगतिर्ज्ञेया सन्निपातादतिद्रुता॥ १७॥
वक्रमुत्प्लुत्य चलति धमनी वातपित्ततः। वहेद्वक्रञ्च मन्दञ्च वातश्लेष्माधिकत्वतः॥ १८॥
उत्प्लुत्य मन्दं चलति नाडी पित्तकफेऽधिके। कामात्क्रोधाद्वेगवहा क्षीणा चिन्ताभयप्लुता॥
स्थित्वा स्थित्वा चलेद्या सा हन्ति स्थानच्युता तथा।
अतिक्षीणा च शीता च प्राणान्हन्ति न संशयः॥ २०॥
ज्वरकोपेन धमनी सोष्णा वेगवती भवेत्। मन्दाग्नेः क्षीणधातोश्च सैव मन्दतरा मता॥२१॥
चपला क्षुधितस्य स्यात्तृप्तस्य भवति स्थिरा। सुखिनोऽपि स्थिरा ज्ञेया तथा बलवती मता॥२२॥

स्पर्शद्वारा नाडी की परीक्षा—श्रेष्ठ वैद्य रोगी यदि पुरुष हो तो उसके दाहिने हाथ के तथा स्त्री हो तो उसके बायें हाथ के अंगूठे के मूलभाग के नीचे जो नाडी है, उसे सावधानी से तीन अंगुलियों से छूवे, उसके बाद उसकी जैसे चेष्टा (गति) हो उसके अनुसार रोगी के सुख-दुःख को समझे। जो रोगी तत्काल स्नान किया हो अथवा सोया हुआ हो वा भूखा या प्यासा हो किं वा धूप में रहकर आया हो या व्यायाम (कसरत) आदि करने से थका हुआ हो उस समय उसकी नाडी की परीक्षा करने से रोगविषयक ज्ञान यथार्थ नहीं होता है। वायुदोष की अधिकता में तर्जनी अंगुली के नीचे, पित्त की अधिकता में मध्यमा अंगुली के नीचे एव कफ की अधिकता में तीसरी अर्थात् अनामिका अंगुली के नीचे नाडी की गति विशेष मालूम पड़ती है। वातपित्त की अधिकता में तर्जनी तथा मध्यमा के मध्य में और वात कफ की अधिकता में तर्जनी तथा अनामिका अंगुली के नीचे तथा पित्तकफ की अधिकता में मध्यमा तथा अनामिका के मध्य में नाड़ी की गति मालूम होती है, एव सन्निपात (वातादि तीनों दोषों का प्रकोप) होने से तर्जनी आदि तीनों अंगुलियों के नीचे नाडी की गति प्रतीत होती है। वात की नाड़ी वक्रगति से, पित्तकी नाड़ी उछल २ कर एवं कफ की नाडी मन्द गति से और सन्निपात की नाड़ी अत्यन्त द्रुत गति सेच लती है एवं वातपित्त की नाडी वक्रगति से तथा उछल २ कर, वातकफ की नाड़ी वक्र तथा मन्दगति से और पित्तकफ की नाडी उछल २ कर तथा मन्दगति से चलती है। काम तथा क्रोध से युक्त होने पर रोगी की नाडी वेगयुक्त और चिन्ता तथा भय से युक्त होने पर क्षीण हुई चलती है। जिसकी नाडी रुक २ कर चलती हो या अपने स्थान से हटकर चलती हो या अत्यन्त क्षीण या अत्यन्त शीतल हो गई हो उस रोगी के प्राण जाने में कोई सन्देह नहीं करना चाहिये। ज्वर के कोप से नाड़ी गर्म तथा वेगयुक्त चलती है किन्तु जिसकी अग्नि मन्द पड़ गई है तथा जिसके धातु क्षीण हो गये हैं उसकी नाडी अत्यन्त मन्द गति से चलती है। भूखे लोगों की नाडी चञ्चल होती है तथा तृप्त हुये लोगों की नाड़ी स्थिर होती है और सुखी (रोगरहित) लोगों की भी नाड़ी स्थिर तथा बलवती होती है॥ ११-२२॥

अथ येन येन रोगाणां ज्ञानं स्यात्तत्तदाह—

हेतुस्तदनु सम्प्राप्तिः पूर्वरूपञ्च लक्षणम्। तथैवोपशयः पञ्च रोगविज्ञानहेतवः॥ २३॥

रोग जानने के कारण—१ हेतु, २ सम्प्राप्ति, ३ पूर्वरूप, ४ लक्षण, ५ उपशय ये रोगों के जानने के ५ कारण हैं अर्थात् इन्हीं पाचों से वैद्यों को रोगों का यथार्थ ज्ञान होता है॥ २३॥

तत्र हेतोर्लक्षणमाह—

यत्तु न स्याद्विना येन तस्य तद्धेतुरुच्यते। शास्त्रे संव्यवहाराय तत्पर्यायान्प्रचक्ष्महे॥ २४॥
निदानं कारणं हेतुर्निमित्तं च निबन्धनम्। मूलमायतनं तत्र प्रत्ययोऽपि निगद्यते॥ २५॥

हेतु का लक्षण—जिसके विना जो (रोग) नहीं होता वह उस (रोग) का हेतु अर्थात् कारण कहलाता है। वैद्यकशास्त्र में सर्वत्र व्यवहार करने के लिये उसके (हेतुके) पर्यायवाचक शब्द ये हैं—निदान, कारण, हेतु, निमित्त, निबन्धन, मूल, आयतन तथा प्रत्यय॥ २४-२५॥

*तत्र हेतुः। व्याधीनां ज्ञानाय हेतुर्यथा-वर्षारूक्षश्रमहिमानशनानि मैथुनशोकचिन्ता-भयादयो वातप्रकोपहेतवो वातजान् व्याधीन् बोधयन्ति। शरत्कट्वम्लोष्णतीक्ष्णक्रोध-तृषाक्षुधाऽभिघातातपादयः पित्तप्रकोपहेतवः पित्तजान् व्याधीन् बोधयन्ति। वसन्तमधुर-स्निग्धशीतादयः कफप्रकोपहेतवः कफजान् व्याधीन् बोधयन्ति॥ २४-२५॥

यहां यह और समझना चाहिये कि—उक्त पांच प्रकार के रोगों के जानने के कारणों में जो प्रथम 'हेतु' नामक कारण है, उससे व्याधियों का ज्ञान होता है, जैसे कि—वर्षा ऋतु, रूक्ष पदार्थ, परिश्रम, हिम (अत्यन्त सर्दी), अनशन (भोजन न करना), मैथुन, शोक, चिन्ता तथा भय आदि ये सब वायु को प्रकुपित करने में हेतु हैं, अतः इन सबों से वायुसम्बन्धी रोगों का ज्ञान होता है। शरद् ऋतु, कटु तथा अम्लरस युक्त पदार्थ, उष्ण तथा तीक्ष्ण पदार्थ, क्रोध, प्यास, भूख, चोट लगना तथा धूप आदि ये सब पित्त को प्रकुपित करने में हेतु हैं, अतः इनसे पित्तजन्य रोगों का ज्ञान होता है। वसन्त ऋतु, मधुर तथा स्निग्ध पदार्थ तथा शीत आदि ये सब कफ को प्रकुपित करने में हेतु हैं, अतः इनसे कफजन्य रोगों का ज्ञान होता ॥ २४-२५ ॥

अथ सम्प्राप्तिलक्षणमाह—

यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता। उत्पत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिर्जातिरागतिः ॥ २६ ॥

संप्राप्ति के लक्षण—दुष्ट हुये तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर फैलते हुए दोषों से रोगों की जो उत्पत्ति होती है, उसी को 'संप्राप्ति' कहते हैं। इसी के पर्यायवाचक शब्द जाति तथा आगति भी हैं ॥ २६ ॥

*** यथा दुष्टेन दोषेण = यथा कारणभेदेन दुष्टेन दोषेण, यथा चानुविसर्पता = अनेकधा दोषाणां विसर्पणमूर्ध्वाधस्तिर्यगादिगतिभेदेन तथा च विसर्पता, आमयस्य या उत्पत्तिः, असौ सम्प्राप्तिः। शास्त्रे व्यवहाराय सम्प्राप्तेः पर्यायानाह–जातिरागतिरिति। सम्प्राप्तिर्व्याधीनां ज्ञानाय हेतुः। यथा–मिथ्याऽऽहारविहारकुपितवाताद्यामाशयगमनरसदूषणकोष्ठाग्निबहिर्निःरसनरूपं ज्वरोत्पत्तिप्रकारं बोधयति। तथा व्याधीनां सङ्ख्यादोषांशकल्पनाप्राधान्यकालांश्च बोधयति। तेषु ज्ञातेषु चिकित्साविशेषश्च स्यात् ॥ २६ ॥**

यहा 'यथा दुष्टेन दोषेण' पदों का जिस प्रकार के कारण विशेष से दुष्ट होने से दोष रोग उत्पन्न करने में समर्थ होता है उसी प्रकार के कारण विशेष से वातादिक दोष दुष्ट होकर'। 'यथा चानुविसर्पता' पदों का 'एवं ऊपर नीचे तथा तिरछे आदि जिस प्रकार के गतिविशेष से गमन करके रोग उत्पन्न कर सकता है उसी प्रकार के गतिविशेष से वातादि दोष गमन करके'। एवं 'उत्पत्तिरामयस्यासौ सम्प्राप्तिः' पदों का 'रोगों की जो उत्पत्ति करता है, उसी उत्पत्ति को 'संप्राप्ति' कहते हैं' यह अर्थ समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि–सम्प्राप्ति द्वारा रोगों के उत्पादक वातादि दोषों के दुष्ट होने के कारणविशेष का तथा उनके दुष्ट होने पर ऊपर नीचे या तिरछे आदि गति से गमन करने का ज्ञान होता है। वैद्यक शास्त्र में व्यवहार करने के लिये आये हुये 'सम्प्राप्ति' के पर्यायवाचक शब्दों को कहते हैं—'जाति तथा आगति' यह और समझ लेना चाहिये। और यहां यह भी समझना आवश्यक है कि—रोगों के जानने में 'सम्प्राप्ति' भी कारण है, जैसे कि सम्प्राप्ति—मिथ्या आहार-विहार से कुपित वातादि दोषों का आमाशय में जाना, वहा रस को दूषित करना तथा कोठे में स्थित अग्नि को बाहर निकालना रूप जो ज्वर के उत्पन्न होने का प्रकार है उसको बतलाती है तथा रोगों की सख्या, दोषों के अंशों की कल्पना तथा रोगों का प्राधान्य या अप्राधान्य, रोगों की सबलता या निर्बलता एव उनके उत्पत्ति का काल इन सबों को भी संप्राप्ति ही बतलाती है। इन सबों का ज्ञान होने पर रोगों की विशेषरूप से चिकित्सा भी होती है ॥ २६ ॥

संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः। सा भिद्यते यथाऽत्रैव वक्ष्यन्तेऽष्टौ ज्वरा इति ॥२७॥

सम्प्राप्ति के औपाधिक भेद—सख्या विशेष, विकल्प विशेष, प्राधान्य विशेष, बल विशेष तथा काल विशेष से पूर्वोक्त संप्राप्ति भेदयुक्त होती है अर्थात् १ सख्यासंप्राप्ति, २ विकल्पसप्राप्ति, ३ प्राधान्यसप्राप्ति, ४ बलसंप्राप्ति, ५ कालसप्राप्ति इस प्रकार सप्राप्ति के ५ भेद होते हैं। इनमें जैसे 'ज्वर आठ प्रकार का होता है' ऐसा इसी ग्रन्थ में आगे ज्वर की संख्यासप्राप्ति कहेंगे ॥ २७ ॥

***संख्यादिरूपा ये विशेषास्तेभ्यः सा संप्राप्तिर्भिद्यते = भेदवती क्रियत इत्यर्थः। तत्र संख्यां विवृणोति। यथा–ज्वरोऽष्टधा, अतीसारः षड्विध इत्यादि ॥ २७ ॥**

यहा 'सख्या विकल्प' इत्यादि पदों का 'सख्या–विकल्पादि जो विशेष हैं उनसे पूर्वोक्त संप्राप्ति भेदयुक्त होती है' यह अर्थ समझना चाहिये और उन संख्यादि ५ प्रकार की संप्राप्तियों में से प्रथम

संख्यासंप्राप्ति का विवरण करते हैं—जैसे कि—ज्वर आठ प्रकार का, अतीसार छः प्रकार का होता है इत्यादि ॥ २७ ॥

अथ विकल्पव्याख्यानमाह—

दोषाणां समवेतानां विकल्पोऽशांशकल्पना ॥ २८ ॥

विकल्पसंप्राप्ति-एकत्र हुवे दोषों की जो अंशांश कल्पना है उसी को 'विकल्प' कहते हैं ॥ २८ ॥

समवेतानां = समुदितानां दोषाणाम् । अंशांशकल्पना = हीनमध्याधिकभेदैर्भागकल्पना विकल्पः ॥ २८ ॥

यहां 'समवेताना दोषाणाम्' पदोंका 'एकत्र हुये दोषों की' तथा 'अंशांशकल्पना विकल्पः' पदों का 'एकत्र हुये दोषों में से कौन दोष सबसे हीन, कौन मध्यम और कौन दोष सबसे अधिक है इसप्रकार दोषों के मार्गो की जो कल्पना है उसी को विकल्प कहते हैं' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ २८ ॥

अथ प्राधान्यव्याख्यानमाह—

स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत् ॥ २९ ॥

प्राधान्यसंप्राप्ति—रोगों की स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता से प्राधान्यसप्राप्ति कहनी चाहिये ॥२९॥

व्याधेः स्वातन्त्र्येण प्राधान्यं, पारतन्त्र्येणाप्राधान्यञ्च वदेदित्यर्थः। यथा स्वतन्त्रस्य ज्वरस्य प्राधान्यं, ज्वराधीनानां श्वासादीनामप्राधान्यम् ॥ २९ ॥

यहा यह समझना चाहिये कि—रोगों की स्वतन्त्रता से प्राधान्य तथा परतन्त्रता से रोगों का अप्राधान्य कहना चाहिये। जैसे—स्वतन्त्र ज्वर में उसकी प्रधानता और उसके अधीन श्वास आदि रोगों की अप्रधानता कही जाती है ॥ २९ ॥

अथ बलव्याख्यानमाह—

हेत्वादिकार्त्स्न्यावयवैर्बलाबलविशेषणम् ॥ ३० ॥

बलसंप्राप्ति का व्याख्यान—रोगों के हेतु, पूर्वरूप तथा रूप (लक्षण) इनके सम्पूर्ण अशों तथा कतिपय अंशों के द्वारा जो रोगों की सबलता तथा निर्बलता का विशेषरूप से ज्ञान है उसीको 'बलसम्प्राप्ति' कहते हैं ॥ ३० ॥

अत्रापि व्याधेरित्यनुवर्त्तते । हेत्वादेः = हेतुपूर्वरूपरूपाणाम्, कार्त्स्न्येन = साकल्येन, अवयवैः = एकदेशेन, व्याधेर्बलाबलयोर्विशेषणं = विशेषबोधः ॥ ३० ॥

यहां यह भी समझना चाहिये कि—अव्यवहित पूर्व में जैसे 'प्राधान्यसंप्राप्ति' में 'व्याधे.' पद का उल्लेख है वैसे ही यद्यपि यहां उसका उल्लेख नहीं है तथापि योग्यतावश ऊपर से उसका अनुवर्त्तन कर लेना चाहिये और 'हेत्वादेः' पदका 'हेतु, पूर्वरूप तथा रूप (लक्षण) इनके' 'कार्त्स्न्येन' पदका 'सम्पूर्ण अंशों से' तथा 'अवयवैः' पदका 'कतिपय अशों से' एवं 'बलाबलविशेषणम्' पदका 'रोगों की सबलता तथा निर्बलता का विशेषरूप से जो ज्ञान है उसी को 'बलसम्प्राप्ति' कहते हैं' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३० ॥

अथ कालव्याख्यानमाह—

नक्तंदिनर्त्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम् ॥ ३१ ॥

कालसप्राप्ति का व्याख्यान—रात्रि, दिन, ऋतु तथा भोजन किये हुये अन्न का परिपाक इनके अशों के द्वारा दोषोंकी भांति ही व्याधियों के प्रकोप के काल का जो ज्ञान है उसी को 'कालसप्राप्ति' कहते हैं ॥ ३१ ॥

नक्तमव्ययं रात्रिवाचकम् । एतेनैतदुक्तं यस्मिन्नक्तादेरंशे यस्य दोषस्य प्रकोप उक्तोऽस्ति सोंऽशस्तस्य दोषजस्य व्याधेः काल इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

यहां 'नक्तम्' पद 'अव्यय है तथा रात्रिवाचक है' और 'नक्तंदिनर्त्तु' इत्यादि से यह कहा गया कि—'रात्रि आदि के जिस अंश में जिस दोष का प्रकोप कहा गया है वह अंश उस दोष से उत्पन्न हुये रोग के भी प्रकोप का काल होता है।' यह और समझ लेना चाहिये ॥ ३१ ॥

नक्तादेरंशेषु वातादिप्रकोप उक्तो वाग्भटेन—

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः।
वयोऽहोरात्रभुक्तानामन्तमध्यादिगाः क्रमात् ॥ ३२ ॥ इति।

रात्रि आदि के किस अंश में किस दोष का प्रकोप होता है, इस विषय में 'वाग्भट' ने यह कहा है कि—यद्यपि वात, पित्त तथा कफ ये सब सारे शरीर में व्याप्त होकर रहने वाले हैं तथापि वे क्रम से विशेष करके हृदय तथा नाभि के नीचे, मध्य तथा ऊपर के भाग में रहते हैं अर्थात् नाभि के नीचे भाग में वायु, हृदय तथा नाभि के मध्य में पित्त और हृदय के ऊपर भाग में कफ रहता है। एवं मनुष्यों की अवस्था (बाल्य, यौवन, वृद्धता), दिन, रात्रि, भुक्त (भोजन किये हुये अन्न का परिपाक) इन सबों के अन्त, मध्य तथा आदि के भाग क्रम से वातादि के प्रकोप के काल हैं, अर्थात् अवस्था का अन्तिम भाग (वृद्धावस्था), दिनका अन्तिम भाग (२–६ बजे तक), रात्रि का अन्त्यभाग (२–६ बजे तक), भुक्त (अन्न के पचने) का अन्तिम काल वायु के प्रकोप होने का है। अवस्था का मध्य भाग (युवावस्था), दिन का मध्यभाग (१०–२ बजे तक), रात्रि का मध्य भाग (१०–२ बजे तक), भुक्त (अन्न के पचने) का मध्यकाल पित्त के प्रकोप होने का है, एवं अवस्था का आदि भाग (बाल्यावस्था), दिनका प्रथम भाग (६–१० बजे तक), रात्रि का प्रथम भाग (६–१० बजे तक), भुक्त (अन्न पचने) का आदि काल कफ के प्रकोप का काल है॥

***ते = वातपित्तकफाः ॥ ३२ ॥**

यहां 'ते' पद का 'वायु, पित्त तथा कफ' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

ऋतुषु वातादिकोपो यथा—

वर्षासु शिशिरे वायुः पित्तं शरदि चोष्णके। वसन्ते तु कफः कुप्येदेषा प्रकृतिरार्तवी ॥ ३३ ॥

वातादि दोषों में कौन दोष किस ऋतु में प्रकुपित होता है उसे कहते हैं—वर्षा (श्रावण-भाद्रपद) तथा शिशिर ऋतु (माघ-फाल्गुन) में वायु, शरद् (क्वार-कार्तिक) तथा ग्रीष्म ऋतु (ज्येष्ठ-आषाढ) में पित्त एवं वसन्त ऋतु (चैत्र-वैशाख) में कफ प्रकुपित होता है, इन समयों में वातादि दोष जो प्रकुपित होते हैं वह ऋतु के स्वभाववश होते हैं ॥ ३३ ॥

अथ पूर्वरूपस्य लक्षणमाह—

पूर्वरूपन्तु तद्येन विद्याद्भाविनमामयम्। सामान्यं च विशिष्टञ्च द्विविधं तदुदाहृतम् ॥
सामान्यं तत्र दोषाणां विशेषैरनधिष्ठितम्। विशिष्टमीषद्व्यक्तं स्याद्विशेषैश्च समन्वितम् ॥

पूर्वरूप के लक्षण—जिसके द्वारा भविष्य काल में होने वाले रोग का ज्ञान हो उसे 'पूर्वरूप' कहते हैं। वह (पूर्वरूप) दो प्रकार का होता है, १–सामान्य पूर्वरूप, २–विशिष्ट पूर्वरूप। उसमें सामान्य पूर्वरूप वह कहलाता है—जिसमें वातादि दोषों के विशेष लक्षण न मिले हुये हों और विशिष्ट पूर्वरूप वह कहलाता है जिसमें रोगों के सामान्य लक्षणों के साथ २ दोषों के भी विशेष लक्षण किंचित् प्रकट रूप से मिले हुये हों ॥ ३४ ॥

***दोषाणां विशेषाः = जृम्भाऽतिशयनेत्रदाहाग्निमान्द्यादयः। तत्र पूर्वरूपं व्याधीनां ज्ञानाय हेतुः। यथा–श्रमादयो भाविनं ज्वरं बोधयन्ति। अथ च त एव श्रमादयोऽतिशयितजृम्भायुक्ता भाविनं वातज्वरं, नेत्रदाहयुक्ता भाविन पित्तज्वरं, वह्निमान्द्ययुक्ता भाविनं कफज्वरं बोधयन्ति ॥ ३४ ॥**

यहा यह और भी समझ लेना चाहिये कि–दोषों के विशेषलक्षण–अत्यन्त जंभाई होना, नेत्रों में दाह (जलन) होना, जठराग्नि का मन्द होना ये सब क्रम से वायु, पित्त तथा कफ के हैं तथा पूर्वोक्त हेत्वादि में पूर्वरूप भी रोगों को जानने के लिये कारण हैं, जैसे कि–श्रम आदि लक्षणों का प्रकट होना होने वाले ज्वर का बोधक होता है, (यह सामान्य पूर्वरूप है) किन्तु यदि उन्हीं श्रमादि के साथ २ अत्यन्त जभाई होना यह लक्षण भी मिला हो तो होने वाले वातज्वर का बोधक होता है और यदि नेत्रों में दाह होना यह लक्षण मिला हो तो होने वाले पित्तज्वर का बोधक होता है, इसी भांति अग्नि का मन्द होना यह लक्षण मिला हो तो होने वाले कफज्वर का बोधक होता है ॥ ३४ ॥

अथ लक्षणस्य लक्षणमाह—

पूर्वरूपं विशिष्टं यद्व्यक्तं तल्लक्षणं स्मृतम्। संस्थानं लिङ्गं चिह्नञ्च व्यञ्जनं रूपमाकृतिः ॥३५॥

लक्षण के लक्षण—उपर्युक्त विशिष्ट पूर्वरूप में यदि वातादि दोषों के विशेष लक्षण (अत्यन्त जृम्भादि पूर्णरूप से प्रकट हो जाय तो वे ही लक्षण कहलाते हैं। इसके पर्यायवाचक शब्द–संस्थान, लिङ्ग, चिह्न, व्यञ्जन, रूप तथा आकृति ये सब हैं ॥ ३५ ॥

॥विशिष्टं पूर्वरूपम् ईषद्व्यक्तरूपं, तदेव सम्यग्व्यक्तं लक्षणं स्मृतम्। तस्य शास्त्रे व्यवहाराय पर्यायानाह-संस्थानमित्यादि। लक्षणं व्याधेर्ज्ञानाय हेतुर्यथा—
स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा। युगपद्यत्र रोगे तु स ज्वरः परिकीर्त्तितः (१)

यहां यह समझना चाहिये कि—विशिष्ट पूर्वरूप में जो दोषों के विशेष लक्षण किञ्चित् प्रकट हुये हैं वे ही यदि पूर्णरूप से प्रकट हो जायँ तो विशिष्ट पूर्वरूप न कहे जाकर 'लक्षण' नाम से व्यवहृत होते हैं। शास्त्रों में व्यवहार के लिये लक्षण के पर्यायवाचक शब्दों को 'संस्थान' इत्यादि से कहते हैं। रोगों को जानने के लिये लक्षण भी कारण हैं। जैसे कि-पसीना न निकलना, शरीर सन्तप्त (गर्म) होना, सर्वाङ्ग जकड़ जाना, ये सब लक्षण एक साथ ही जिस रोग में प्रकट हों उसे 'ज्वर' कहते हैं ॥ १ ॥

॥युगपदेतल्लक्षणं ज्वरं बोधयति (१) ॥ ३५ ॥

यहां 'युगपद्' पद का 'पसीना न निकलना आदि ये सब लक्षण एक साथ ही न कि अलग अलग ज्वर के बोधक होते हैं' यह अर्थ समझना चाहिये(१) ॥ ३५ ॥

अथोपशयस्य लक्षणमाह—

औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम्। नृणामुपशयं विद्यात्स हि सात्म्यमिति स्मृतः ॥३६॥

उपशय के लक्षण—रोगी को औषध, अन्न तथा विहार (रहन-सहन) का उपयोग यदि सुखकारक हो तो उसे 'उपशय' समझना चाहिये। इसी को 'सात्म्य' भी कहते हैं ॥ ३६ ॥

॥उपशयो व्याधेर्ज्ञानाय हेतुर्यत उक्तं चरकेण—
'गूढलिङ्गं सङ्कीर्णलक्षणं च व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत' इति।
तथा च सुश्रुते—
'अभ्यङ्गस्वेदनस्नेहैर्विकारो वातिकस्तु यः।
न शाम्येत् तत्र विज्ञेयं रक्तमत्रास्ति दूषितम्' इति ॥ ३६ ॥

यहां यह और समझना चाहिये कि—'उपशय' भी रोग-ज्ञान में हेतु है क्योंकि चरकाचार्य ने कहा है कि—'जिस रोग के लक्षण छिपे हों या जहां अन्य रोगों के भी लक्षण मिले हुये हों वहां उपशय तथा अनुपशय के द्वारा रोग की परीक्षा करनी चाहिये'। ऐसे सुश्रुत में भी कहा है कि—अभ्यङ्ग (तेल की मालिश), स्वेदन (पसीना निकलना) तथा स्नेह के द्वारा भी यदि वातसम्बन्धी विकार नष्ट नहीं होता है तो वहां 'रक्त दूषित हुआ है' यह समझना चाहिये अर्थात् वातसम्बन्धी विकार नहीं है किन्तु रक्तसम्बन्धी विकार है ऐसा समझना चाहिये। इति ॥३६॥

तत्र वायोरुपशयमाह—

मधुरलवणसाम्लस्निग्धनस्योष्णनिद्रा-गुरुरविकरवस्तिस्वेदसंमर्दनानि।
दधिघृततिलतैलाभ्यङ्गसन्तर्पणानि-प्रकुपितपवमानं शान्तमेतानि कुर्य्युः ॥ ३७ ॥

वायु के उपशय—मधुर, लवण तथा अम्लरसयुक्त पदार्थ, स्निग्ध पदार्थ, नस्य लेना, उष्ण पदार्थ, निद्रा, गुरु (भारी) द्रव्य, सूर्य की किरणें (धूप), वस्तिकर्म, स्वेदन, शरीर का मर्दन, दही, घी, तिल, तेल की मालिश, सन्तर्पण इन सबों का सेवन करने से प्रकुपित वायु का शमन होता है अर्थात् ये सब वायु के उपशय हैं ॥ ३७ ॥

अथ पित्तस्योपशयमाह—

तिक्तस्वादुकषायशीतपवनच्छायानिशावीजनं-ज्योत्स्नाभूगृहयन्त्रवारिजलजं स्त्रीगात्रसंस्पर्शनम्, सर्पिःक्षीरविरेकसेकरुधिरस्रावप्रदेहादिकं-पानाहारविहारभेषजमिदं पित्तप्रशान्तिं नयेत् ॥३८॥

पित्त के उपशय—तिक्त, मधुर तथा कषाय रसयुक्त पदार्थ, शीतल पदार्थ, वायु (शीतल वायु), छाया, रात्रि का समय, पखे की वायु, चादनी, पृथ्वी के अन्दर बने हुये गृह (तहखाना), फ़ुहारे का जल, कमल, युवती स्त्रियों के अङ्गों का स्पर्श, घी, दूध, विरेचन लेना, जल के द्वारा सेचन, रुधिर निकलवाना, शीतल पदार्थों का लेप आदि एवं शीतल पान (पीना), आहार, विहार तथा औषध का सेवन ये सब यथायोग्य पान, आहार, विहार तथा औषध पित्त को शान्त करने वाले होते हैं ॥ ३८ ॥

अथ कफस्योपशयमाह—

रूक्षक्षारकषायतिक्तकटुकव्यायामनिष्ठीवनं-धूमात्युष्णशिरोविरेकवमनस्वेदोपवासादिकम् ॥
तृड्वाताध्वनियुद्धजागरजलक्रीडाऽङ्गनासेवनं-पानाहारविहारभेषजमिदं श्लेष्माणमुग्रं हरेत् ॥

कफ के उपशय—रूक्ष तथा क्षार पदार्थ एवं कषाय, तिक्त तथा कटुरस युक्त पदार्थ, व्यायाम (कसरत), ओषधियों को चबा कर थूकना, धूमपान, अत्यन्त उष्ण, मस्तक का विरेचन कर्म, वमन तथा स्वेदन कर्म, उपवास आदि प्यासे रहना, वायु सेवन, पैदल चलना, मल्लयुद्ध, जागना, जलक्रीडा तथा स्त्रीप्रसङ्ग करना ये सब यथायोग्य पान, आहार, विहार तथा औषध सेवन करने से उग्र कफ को नाश करने वाले होते हैं ॥ ३९ ॥

ⓢजलक्रीडा कफं कथं हरति तदाह—जलक्रीडाजनितशैत्येनावरुद्धोष्मा पङ्कलिप्तोऽभितः पाकाग्निरिवोग्रो भूत्वा कफं शोषयतीति समाधिः ॥ ३९ ॥

यहां 'जलक्रीडा' कैसे कफ को दूर करती है इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार कहते हैं कि जलक्रीडा करने से उत्पन्न शीतलता से रुकी हुई शरीर के अन्दर की गर्मी चारों तरफ कीचड़ से लिपटे हुये पुटपाक की अग्नि की भांति उग्र होकर कफ को सुखा डालती है अतः 'जलक्रीड़ा को कफनाशक कहना उचित ही है' यह और भी समझ लेना चाहिये ॥ ३९ ॥

अथ रोगनिदानविवेचनमाह—

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः। तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम् ॥ ४० ॥

रोगों के निदान का विवेचन—सम्पूर्ण रोगों का कारण दोषों का कुपित होना है और दोषों के कुपित होने के कारण तो अनेक प्रकार के जो अहितकारक आहार-विहारादि हैं उनका सेवन करना ही कहा हुआ है ॥ ४० ॥

ⓢ सर्वेषां रोगाणां निदानं सन्निकृष्टं कारणं, कुपिताः=स्वहेतुदुष्टा मला वातपित्तकफा एवेत्यन्वयः। तथा च वाग्भटः—

'दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम्' इति।

ननु आगन्तुजव्याधिषु व्यभिचारः स्यात्। तन्न, तत्राप्युत्पत्त्यनन्तरं दोषप्रकोपस्यावश्यम्भावित्वाद्, उत्पन्नद्रव्येषु गुणयोगस्येव। उक्तञ्च चरके—

'आगन्तुर्हि व्यथापूर्वो जायते पश्चान्निजैर्दोषैरनुबध्यत' इति।

तत्प्रकोपस्य तु=दोषप्रकोपस्य तु निदानम्, विविधाहितसेवनम्=विविधानि नानाविधानि यान्यहितान्यसात्म्यान्याहारादीनि तेषां सेवनम् ॥ ४० ॥

यहां 'सम्पूर्ण रोगों का निदान अर्थात् सन्निकृष्ट (नजदीक) कारण-कुपित अर्थात् अपने अपने कारणों से दुष्ट हुये मल (वात, पित्त तथा कफ ये तीनों दोष) ही हैं' ऐसा अन्वय समझना चाहिये। रोगों के उत्पन्न होने में कारण दोष ही हैं इस विषय में 'वाग्भट' ने भी कहा है कि—'सम्पूर्ण रोगों के एक मात्र कारण वातादि दोष ही होते हैं'।

अब यहां यह शङ्का होती है कि—आगन्तुक रोगों में वाग्भट के इस वचन का व्यभिचार होता है तो उसका उत्तर यह है कि—व्यभिचार नहीं होता क्योंकि वहां भी आगन्तुक रोगों की उत्पत्ति होने के बाद दोषों का प्रकोप अवश्य रहता है, जैसे कि द्रव्यों के उत्पन्न होने के बाद उनमें उनके कारणों के जो गुण हैं वे अवश्य रहते हैं। इसी विषय में चरकाचार्य ने भी कहा है कि—'आगन्तुक व्याधि प्रथम व्यथापूर्वक उत्पन्न होती है, पश्चात् अपने वातादि दोषों से युक्त होती है' यह भी समझना चाहिये। तथा 'तत्प्रकोपस्य तु' पदों का 'दोषों के प्रकुपित होने के कारण तो' यह अर्थ समझना चाहिये एवं 'विविधाहितसेवनम्' इस पद का 'अनेक प्रकार के जो अहितकारक अर्थात् असात्म्य आहारादिक हैं उनका सेवन करना' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ४० ॥

अथ वायोः प्रकोपस्य कारणान्याह—

**नीवारस्त्रिपुटः सतीनचणकश्यामाकमुद्गाढकी, निष्पावाश्च मकुष्ठकश्च वरटी मङ्गल्यकः कोद्रवः।
यद् द्रव्यं कटुकं सतिक्ततुवरं शीतञ्च रूक्षं लघु, स्वल्पाशो विषमाशनं निरशनं भुक्ते ह्यजीर्णेऽशनम् ॥
शुष्कजीर्णतर परिश्रमभरो गर्त्तादिकोष्ण(ह्न)वनं, बाहुभ्यां तरणं तरोः प्रपतनं मार्गेऽतियानं पदा।
दण्डादिप्रहतिस्तथोत्पतनं धातुक्षयो जागरो, मार्गस्यावरणं व्यवायभृशता वातादिवेगाहतिः ॥**

अत्यर्थं वमनं विरेचनमतिस्रावोऽधिकश्चासृजो-
रोगान्मांसविहीनताऽतिमदनश्चिन्ता च शोको भयम्।
वर्षा वै शिशिरो दिनस्य रजनेर्भागौ तृतीयौ घनाः-
प्राग्वातस्तुहिनं शरीरमरुतो दुष्टेरमी हेतवः ॥ ४३ ॥

वायु के प्रकुपित होने के कारण—तीनी, खेसारी, मटर, चना, सांवा, मूंग, रहर, राजशिम्बी के बीज, वनमूंग, बरैं (कसुम का बीज), मसूर, कोदो एवं जो कटु, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त पदार्थ तथा शीतल, रूक्ष और लघु पदार्थ हैं वे सब, स्वल्प भोजन, विषम भोजन, उपवास, भोजन के ऊपर वा खाये हुये अन्न के न पचने पर भी पुनः भोजन, भोजन किये हुये अन्न का अधिक परिपाक, अधिक परिश्रम, गड्ढे आदि में की घनी गर्मी (या गड्ढे आदि का लांघना), हाथों से जल में तैरना, पेड़ से गिर पड़ना, रास्ते में अधिक पैदल चलना, डण्डे आदि का चोट लगना, ऊंचे स्थान से कूदना, धातुक्षीणता, रात्रि में जागना, मार्गों (स्रोतोमार्गों) का रुकना, अत्यन्त मैथुन, अधोवायु आदि के वेगों को रोकना, अत्यन्त वमन तथा विरेचन होना, रक्त का अधिक स्राव होना, रोग से मांस रहित होना, अत्यन्त काम का उदय होना, चिन्ता शोक, भय, वर्षा तथा शिशिर ऋतु, दिन तथा रात्रि के अन्तिम भाग (२-६ बजे तक), मेघ का उदय, पूर्व दिशा की वायु, बर्फ पड़ना (या अत्यन्त सर्दी लग जाना) ये सब शरीर स्थित वायु को दूषित (प्रकुपित) करने के कारण हैं ॥ ४१-४३ ॥

⊛ नीवारः = प्रसाधिका, 'तीनी' इति लोके। त्रिपुटः 'खेसारी' इति लोके। सतीनः = वर्त्तुलकलायः। निष्पावः=कोलशिम्बीसदृशफला राजशिम्बिस्तस्या बीजमन्नं भवति। वरटी= वराटिका, कुसुम्भबीजम्, 'बरैं' इति लोके। मङ्गल्यकः = मसूरः। विषमाशनम्—

'बहु स्तोकमकाले वा भुक्तं तद्विषमाशनम्'

तरोः प्रपतनम्, तरोरित्युपलक्षणम्। अतियान = पदाभ्यामतिचलनम्। जागरो रात्रौ। वातादिवेगाहतिः = आदिशब्देन विण्मूत्रहिक्कोद्गारच्छर्दिशुक्रक्षुत्तृषोच्छ्वासनिद्राः संगृह्यन्ते। दिनस्य त्रिधा विभक्तस्य। एवं रजनेश्च। यस्य यस्य पुनरुक्तिस्तेन तेन वातस्यातिदुष्टि-र्बोद्धव्या ॥ ४१-४३ ॥

यहां 'नीवार' पद का 'लोकप्रसिद्ध 'तीनी'। 'त्रिपुट' का लोकप्रसिद्ध 'खेसारी'। 'सतीन' का 'गोल मटर'। 'निष्पाव' का 'सूअरा सेम के समान फल वाली राजशिम्बी का बीज (यह एक प्रकार का अन्न ही है)' वरटी' का लोक प्रसिद्ध बरैं (कसुम का बीज)'। 'मङ्गल्यक' का 'मसूर' यह अर्थ समझना चाहिये। तथा 'विषमाशन (विषम भोजन)' पद से 'अधिक भोजन करने वाले पुरुष का थोडा भोजन करना, स्वल्प भोजन करने वाले का अधिक भोजन करना तथा असमय में भोजन करना जो 'विषमाशन' नाम से शास्त्रों में प्रसिद्ध है उसका ग्रहण करना चाहिये। और 'पेड़ से गिर पड़ना' यहां 'पेड' यह उपलक्षण है, अतः 'पेड से या ऊंचे स्थान से गिर पड़ना' यह भाव समझना चाहिये। 'अतियानम्' पद का 'पैरों से अत्यन्त चलना'। 'जागर' पद का 'रात्रि में जागना'। 'वातादिवेगाहतिः' पद में पठित 'आदि' पद से 'मल, मूत्र, हिचकी, डकार, वमन, वीर्य, भूख, प्यास तथा नींद इन सबों का भी ग्रहण किया जाता है अतः इन सबों के वेग को रोकना भी वायु के प्रकुपित होने का कारण है' यह समझना चाहिये। दिन का तीन भाग कर उसके अन्तिम भाग को वायु के प्रकोप का कारण समझना चाहिये। इसी प्रकार रात्रि के विषय में भी समझना चाहिये। यहां 'जिसकी पुनरुक्ति हो उससे वायु अत्यन्त दूषित होता है' यह समझना चाहिये ॥ ४१-४३ ॥

अथ पित्तस्य प्रकोपकारणान्याह—

कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातप-
स्त्रीसम्भोगतृषाक्षुधाऽभिहननव्यायाममद्यादिभिः।
भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे तथा प्राणिनां
मध्याह्ने च तथाऽर्द्धरात्रिसमये पित्तप्रकोपो भवेत् ॥ ४४ ॥

पित्त के प्रकुपित होने के कारण—कटु, अम्ल तथा लवण रसयुक्त पदार्थ एवं उष्ण, विदाही

तथा तीक्ष्ण पदार्थ, क्रोध, उपवास, धूप, स्त्रीसंभोग, प्यास तथा भूख का रोकना, व्यायाम (कसरत) तथा मद्य आदि के सेवन करने से पित्त प्रकुपित होता है। एवं भोजन किये हुये अन्न के पचने के समय में, शरद् तथा ग्रीष्म ऋतु में, मध्याह्न में (१०-२ बजे दिन तक) तथा अर्द्धरात्रि (१०-२ बजे रात्रि तक) प्राणियों का पित्त प्रकुपित होता है ॥ ४४ ॥

अथ विदाहिलक्षणमाह—

विदाहिद्रव्यमुद्गारमम्लं कुर्यात्तथा तृषाम्। हृदि दाहञ्च जनयेत्पाकं गच्छति तच्चिरात् ॥४५॥

विदाही के लक्षण—जिसके सेवन से अम्ल उद्गार (डकार) आवे, प्यास लगे, हृदय में दाह तथा परिपाक देर में हो उसे विदाही द्रव्य कहते हैं ॥ ४५ ॥

अन्यच्च—

माषैस्तिलैः कुलत्थैश्च मत्स्यैर्मेषामिषेण च। गव्येन दधितक्रेण नृणां पित्तं प्रकुप्यति ॥ ४६ ॥

पित्तप्रकोप के कारणान्तर—उडद, तिल, कुलथी, मछली तथा भेड का मास, गाय की दही या मट्ठा के सेवन से भी मनुष्यों का पित्त प्रकुपित हो जाता है ॥ ४६ ॥

अथ कफप्रकोपस्य कारणान्याह—

गुरुपटुमधुराम्लस्निग्धमाषैस्तिलैश्च-द्रवदधिदिननिद्राशीतसर्पिःप्रपूरैः।
प्रथमदिवसभागे रात्रिभागेऽपि चाद्ये-भवति हि कफकोपो भुक्तमात्रे वसन्ते ॥ ४७ ॥

कफ के प्रकुपित होने के कारण—गुरु पदार्थ, लवण, मधुर तथा अम्ल रस युक्त पदार्थ, स्निग्धपदार्थ, उडद, तिल, द्रवपदार्थ, दही, दिन में सोना, शीत (सर्दी) और घी का प्रचुर भोजन (पाठान्तर में निश्चेष्टता) करने से तथा दिन और रात्रि का पहला भाग (६-१० बजे तक), भोजन करने के उपरान्त का समय एवं वसन्त ऋतु इन सब समयों में कफ का प्रकोप होता है ॥ ४७ ॥

***प्रथमदिवसभागे त्रिधा विभक्तस्य दिवसस्य प्रथमभागे, एवं रात्रेश्चाद्यभागे ॥ ४७ ॥**

यहां 'दिन तथा रात्रि का पहला भाग' कहने से 'दिन तथा रात्रि के तीन भाग करके उनमें से दोनों का पहला भाग' समझना चाहिये ॥ ४७ ॥

अथैको रोगोऽन्यरोगनिमित्तमित्याह—

ननु सर्वेषां रोगाणां निदानं दुष्टा दोषा एव किमन्यदप्यस्तीति संशये चरक आह—
निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपलक्ष्यते ॥ ४८ ॥

'दुष्ट हुये वातादि दोष ही सपूर्ण रोगों के उत्पन्न होने के कारण है? अथवा उनसे अन्य भी कोई कारण हैं? इस सशय के उत्तर में चरक ने कहा है कि—रोग के उत्पन्न करने में निदान (कारण) का कार्य करने वाला वातादि दोषों की भांति रोग भी देखा जाता है ॥ ४८ ॥

*** रोगस्य निदानार्थकरो रोगोऽप्युपलक्ष्यते = दृश्यते। अत्र दृष्टान्तमाह—**

*** तद्यथा ज्वरसन्तापाद्रक्तपित्तमुदीर्यते। रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां श्वासश्चाप्युपजायते।**
प्लीहाभिवृद्ध्या जठरं जठराच्छोफ एव च ॥ २ ॥
अर्शोभ्यो जाठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते। प्रतिश्यायादथो कासः कासात्सञ्जायते क्षयः ॥

अन्ये त्वाहुर्मधुकोशे-रोगस्य रोगश्चेन्निदानं तथा निदानमित्येवोच्येत, तद्विहाय 'निदानार्थकर' इति वचनमेतद्बोधयति। रोगस्य रोगो निदानार्थकरः = निदानकार्यकरणे सहायः। निदानन्तु रक्तपित्तादीन्कतिचिद्रोगान्प्रति ज्वरादिरेव हेतुरिति सिद्धान्तः। अत एवाग्रे स्पष्टमेवाह चरकः—

'कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वे'ति। प्रथमस्य रोगस्य ज्वरादेर्यो दुष्टो दोषो हेतुः स एव पश्चाद्भाविनो रक्तपित्तादेरपि रोगस्य हेतुः।

'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः' इति नियमात्। तन्न। तदा रक्तपित्तादेरुपद्रवलक्षण एव योगेन रोगत्वविघातः स्यात्ततः सर्वेषामिति वचनं सामान्यम्। 'निदानार्थकर' इति विशेषवचनात् ॥ ४८ ॥

यहा 'उपलक्ष्यते' पद का 'देखा जाता है' यह अर्थ समझना चाहिये। 'रोग भी रोग के उत्पन्न करने में कारण होता है' इस विषय में दृष्टान्त कहते हैं कि—ज्वर के सन्ताप (गर्मी) से भी रक्तपित्त और रक्तपित्त से भी ज्वर होता है तथा इन दोनों (रक्तपित्त तथा ज्वर) से भी श्वास

रोग उत्पन्न होता है। एवं प्लीहा के अत्यन्त बढ़ने से भी जठर रोग तथा जठर रोग से शोथ रोग होता है और अर्श रोग (बवासीर) से भी दुःखप्रद जठर तथा गुल्म रोग होता है एवं जुखाम से खांसी तथा खांसी से क्षयरोग होता है।

इस विषय में अन्य लोगों का कथन 'मधुकोष' में इस प्रकार कहा हुआ है कि—यदि रोग भी रोग का निदान (कारण) होता तो चरकाचार्य अपने उपर्युक्त वचन में केवल 'निदान' पद का ही प्रयोग करते, किन्तु ऐसा न करके उन्होंने 'निदानार्थकर' इसी पद का प्रयोग किया है, जिससे यह समझा जाता है कि—रोग का रोग निदानार्थकर है अर्थात् निदान के कार्य करने में सहायक है वस्तुतः स्वयं निदान नहीं है। हां यदि (निदान) होता है तो केवल कतिपय रोगों के प्रति, क्योंकि 'रक्तपित्तादि कतिपय रोगों के प्रति ज्वरादि ही हेतु (निदान) है ऐसा सिद्धान्त है अत एव आगे स्पष्ट रूप से ही चरकाचार्य ने कहा है कि—'कोई रोग किसी रोग का हेतु होकर' इत्यादि। कुपित मल (वातादि दोष) संपूर्ण रोगों ही के निदान (कारण) होते हैं' इस नियम से यदि यह कहें कि—दुष्ट हुआ वातादि दोष जो प्रथम उत्पन्न हुये ज्वरादि का कारण है वही पीछे से उत्पन्न हुये रक्तपित्तादि रोग का भी कारण है न कि ज्वरादिक, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यदि ज्वर के पीछे होने वाले रक्तपित्तादि का कारण ज्वरादि को नहीं माना जाय तो उसे (रक्तपित्तादि को) उसके (ज्वर के) उपद्रव के लक्षणों के अन्दर मानने से रक्तपित्तादि को स्वतन्त्र रोग मानना ही नष्ट हो जायगा, अतः 'कुपित मळ (वातादि दोष) सम्पूर्ण रोगों ही के कारण होते हैं' यह सामान्य वचन है इसका 'निदानार्थकर' इत्यादि अर्थात् पूर्वोक्त 'रोग के निदान कार्य को करने वाला रोग भी देखा जाता है' इस विशेष वचन से बाध होता है ॥ ४८॥

अथ रोगस्य हेतो रोगस्य वैचित्र्यमाह—

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ॥ ४९ ॥

⊛ यथा ज्वरो रक्तपित्तमुत्पाद्य स्वयं प्रशाम्यति। ननु येन दोषोद्रेकेण ज्वरो रक्तपित्तमुत्पादितवांस्तस्मिन् सति स तु ज्वरः कथं शाम्यति? तत्र व्याधिस्वभाव एव कारणमिति न दोषः ॥ ४९ ॥

रोग के कारण स्वरूप रोग की विचित्रता—'कोई रोग किसी रोग का कारण होकर अर्थात् उसे उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है। जैसे ज्वर रक्तपित्त को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है। यहां यह शङ्का होती है कि—जिस वातादि दोष के कुपित होने से उत्पन्न हुआ ज्वर रक्तपित्त को उत्पन्न किया, उस दोष के कुपित रहते हुये वह ज्वर कैसे नष्ट हो जाता है, क्योंकि जब कारण है तब कार्य का रहना आवश्यक है। इसका समाधान यह है कि—वहां जो वैसा होता है उसमें कारण केवल व्याधि का स्वभाव ही है, अतः कोई दोष नहीं है ॥ ४९ ॥

न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेत्वर्थं कुरुतेऽपि च ॥ ५० ॥

कोई रोग हेतु के अर्थ को अर्थात् किसी रोग को उत्पन्न भी करता है किन्तु स्वयं शान्त (नष्ट) भी नहीं होता ॥ ५० ॥

⊛ अन्यो हेत्वर्थमपि कुरुते स्वयञ्च न प्रशाम्यति। यथा प्रतिश्यायः कासं करोति स्वयञ्च न प्रशाम्यति। तथाऽर्शो जठरगुल्मं करोति स्वयञ्च न निवर्त्तत इति ॥ ५० ॥

यहां यह समझना चाहिये कि 'अन्य अर्थात् कोई रोग किसी रोग के हेतु के अर्थ को करता है अर्थात् रोग की उत्पत्ति करता है किन्तु पूर्व की भाति स्वयं शान्त भी नहीं होता है-जैसे कि जुखाम आदि रोग कास रोगको उत्पन्न करता है किन्तु स्वय शान्त नहीं होता। तथा अर्श (बवासीर) रोग जठर तथा गुल्मरोगको उत्पन्न करता है किन्तु स्वय निवृत्त नहीं होता अर्थात् बना रहता है ॥५०॥

अथ वृद्धक्षीणाना दोषधातुमलाना सुश्रुतोक्तचिकित्सामाह—

अत्यन्तकुत्सितावेतौ सदा स्थूलकृशौ नरौ। श्रेष्ठो मध्यशरीरस्तु स्थूलः क्षीणो न पूजितः ॥
कर्षयेद् बृंहयेच्चापि सदा स्थूलकृशौ नरौ। रक्षणञ्चापि मध्यस्य कुर्वीत कुशलो भिषक् ॥५१॥

बढ़े तथा क्षीण हुये दोष, धातु तथा मल की सुश्रुतोक्त चिकित्सा-सर्वदा स्थूल (मोटा) या कृश (दुबला) शरीर वाले मनुष्य अत्यन्त कुत्सित समझे जाते हैं अर्थात् ये दोनों रोगी की भाति चिकित्सा करने योग्य होते हैं। किन्तु जो मध्यम शरीर वाला अर्थात् न स्थूल तथा न कृश होता

है वह उत्तम (स्वास्थ्यवान्) समझा जाता है। स्थूल तथा क्षीण शरीर वाला उत्तम नहीं समझा जाता है अत एव निपुण वैद्य को स्थूल तथा कृश शरीर वाले मनुष्यों की क्रम से स्थूल के लिये कर्षण चिकित्सा तथा कृश के लिये बृंहण चिकित्सा करनी चाहिये। और मध्यम शरीर वाले की चिकित्सा से सदा रक्षा करनी चाहिये जिससे वह स्थूल तथा कृश न होने पावे ॥ ५१ ॥

अन्यच्च—

क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोषधातुमलान्भिषक्। नरो रोगान्वितो यावद्रोगेण रहितो भवेत् ॥५२॥

और भी कहा है कि—जब तक रोगी रोग से रहित न हो जाय तब तक वैद्य को चाहिये कि वह रोगी के दोष, धातु तथा मल की योग्यतानुसार कर्षण तथा बृंहण क्रिया करता रहे ॥ ५२ ॥

❀क्षपयेद् = अतिप्रवृद्धान्दोषधातुमलांस्तत्र क्षैण्यहेतुभिरौषधान्नविहारैर्ह्रासयित्वा समीकुर्यात्। बृंहयेत् = क्षीणान्दोषादींस्तद्वृद्धिहेतुभिरौषधान्नविहारैर्वर्द्धयित्वा समीकुर्यात् ॥५२॥

यहां 'क्षपयेत्' पद का 'कर्षण क्रिया करता रहे अर्थात् यदि दोष, धातु या मल इनमें से जो भी अत्यन्त बढ़े हुये हों तो वहां दोषादि के क्षीण करने वाले औषध, अन्न तथा विहार का सेवन द्वारा उनको कम करके समभाव में रखता रहे' तथा 'बृंहयेत्' पद का 'बृंहण क्रिया करता रहे अर्थात् क्षीण हुये दोषादि को उनकी वृद्धि करने वाले जो औषध, अन्न तथा विहार हों उनके सेवन द्वारा बढाकर समभाव में रखता रहे' यह अर्थ समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

अस्वस्थो येन विधिना स्वस्थो भवति मानवः। तमेव कारयेद्वैद्यो यतः स्वास्थ्यं सदेप्सितम् ॥

जिस विधि के करने से अस्वस्थ मनुष्य स्वस्थ हो, वैद्य को उचित है कि वह उसी विधि को मनुष्य से करावे, क्योंकि सभी को स्वास्थ्य सदा ईप्सित रहता है ॥ ५३ ॥

अथ स्वस्थस्य लक्षणमाह—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ ५४ ॥

स्वस्थ मनुष्य के लक्षण—जिस मनुष्य के दोष समभाव में हों अर्थात् न बढ़े हों और न कम हों, जठराग्नि भी सम (न तीक्ष्ण और न मन्द) हो, धातु, मल और क्रियायें सभी सम हों तथा शरीर, इन्द्रिय और मन प्रसन्न हों वही स्वस्थ मनुष्य कहलाता है ॥ ५४ ॥

❀समक्रियः = शरीरानुरूपकर्मा। आत्माऽत्र शरीरम् ॥ ५४ ॥

यहां 'समक्रिय' पद का 'क्रियायें सम हों अर्थात् शरीर के अनुरूप कर्म (क्रियायें) होते हों' तथा 'आत्मा' पद का 'शरीर' अर्थ समझना चाहिये ॥ ५४ ॥

तन्त्रान्तरेऽपि—

विण्मूत्राखिलदोषधातुसमता काङ्क्षाऽन्नपाने रुचि-
र्भुक्तं जीर्यति पुष्टये परिणतिः स्वप्नाववोधौ सुखम् ॥
गृह्णीते विषयान्यथास्वमुचितान्वृत्तिं मनोवृत्तितः।
स्वस्थस्याभिहितं चतुर्दशविधं जन्तोरिदं लक्षणम् ॥ ५५ ॥

ग्रन्थान्तर में भी कहा है कि—मल, मूत्र, सम्पूर्ण दोष तथा संपूर्ण धातु इन सबों का समभाव में रहना, अन्न-पान (खाने पीने) की इच्छा, शरीर की कान्ति, भोजन किये हुये अन्न का पचना, अन्न पचने के परिणामस्वरूप देह का पुष्ट होना, सुखपूर्वक सोना तथा सुखपूर्वक जागना, जिन इन्द्रियों के जो विषय हों उनका उचित रीति से ग्रहण करना, मनोवृत्ति के अनुसार ठीक ठीक काम कर लेना ये १४ लक्षण स्वस्थ मनुष्य के कहे हुये हैं ॥ ५५ ॥

❀ रुचिः = शरीरकान्तिः। ननु—अहर्निशं तुभुक्तवस्तु दोषाणां वृद्धेः कथं समदोषता? उच्यते = अहोरात्रप्रथमभागादिषु तत्तद्दोषवृद्धेः स्वस्थवृत्तोक्तविधिभिरुपशमात्समदोषतेति न दोषः। किञ्च—

❀यत्समत्वं हि दोषाणां भिषग्भिरवधार्यते। न तत्स्वास्थ्यं विना वक्तुं शक्यमन्येन हेतुना ॥

❀ तेन समदोषस्वस्थयोर्लक्षणमन्योऽन्यापेक्षया स्वस्थः समदोषः, समदोषः स्वस्थः, स्वस्थेभ्यो हितं च—तद्दोषधातुमलानां स्वप्रमाणस्थितानां साम्यानुवृत्तिहेतुर्यद्व्यापच्च स्वस्थानुवृत्तिं करोति, ऋतुचर्याऽध्याये सेव्यत्वेनोक्तम्, तथा मात्राशितीयेऽध्याये रक्तशालिषष्टिकयवगोधूमजाङ्गलमांसजीवन्तीशाकादिसोदकक्षीरादि, तथा यदोजस्करं रसायनं वाजीकरणं सर्वदा शीलनीयत्वेन निर्दिष्टम् ॥ ५५ ॥

यहां 'रुचि' पद का 'शरीर की कान्ति' यह अर्थ समझना चाहिये । यहां यह जो शंका होती है कि 'दिन, रात्रि, ऋतु तथा भोजन के प्रथम भागादि काल विशेष में स्वभावतः वातादि दोषों की वृद्धि हुआ ही करती है अतः दोषों की समता कैसे हो सकती है'? तो इसके समाधान में यह कहते हैं कि—दिन-रात्रि आदि के प्रथम आदि भागों में जिन जिन दोषों की वृद्धि होती है उस समय उन उन दोषों को स्वस्थवृत्त में कही हुई विधियों से शान्त कर देने पर दोषों की समता हो सकती है, अतः दोषों की समता होने में कोई दोष नहीं है । वैद्यों ने जो दोषों की समता कही है वह समता स्वस्थता के विना किसी अन्य हेतु से नहीं कही जा सकती है ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि—समदोष तथा स्वस्थ के लक्षण परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा रखने वाले होते हैं अर्थात् समदोष का लक्षण स्वस्थ के लक्षण की और स्वस्थ का लक्षण समदोष के लक्षण की अपेक्षा करता है, इन दोनों में कोई निरपेक्ष नहीं है । अत एव जो मनुष्य स्वस्थ है वही समदोषों वाला और जो समदोषों वाला है वही स्वस्थ कहलाता है ।

जो अपने २ प्रमाण में स्थित दोष, धातु तथा मल को समभाव में रखने का हेतु (रखने वाला) है, और जो रोग को नहीं उत्पन्न करने वाला एवं जो स्वस्थ रखने वाला है, तथा जो ऋतुचर्याध्याय में सेवन करने के योग्य कहे हुये हैं वे सब स्वस्थ पुरुषों के लिये हितकर होते हैं । 'मात्राशितीय अध्याय' में कहे हुये जो रक्तशालि (लाल जडहन) तथा साठी चावल, जौ, गेहू, जङ्गली जीवों का मास, जीवन्ती शाक आदि तथा मोदक (लड्डू), दूध आदि हैं तथा जो ओज को उत्पन्न करने वाले रसायन, वाजीकरण एवं सर्वदा सेवन करने योग्य कहे हुये हैं, वे सब स्वस्थ पुरुषों के लिये हितकर होते हैं' यह और समझना चाहिये ॥ ५५ ॥

अथ दोषधातुमलाना वृद्धेर्निदानान्याह—

तत्तद्वृद्धिकराहारविहारातिनिषेवणात् । दोषधातुमलानां हि वृद्धिरुक्ता भिषग्वरैः ॥ ५६ ॥

दोष, धातु तथा मल वृद्धि के कारण-वैद्यवरों ने कहा है कि दोष, धातु तथा मल की वृद्धि करने वाले आहार, तथा विहार का अत्यन्त सेवन करने से दोषादि की वृद्धि हुआ करती है ॥ ५६ ॥

अथातिवृद्धानां तेषां लक्षणान्याह—

वाते वृद्धे भवेत्कार्श्यं पारुष्यं चोष्णकामिता । गाढं मलं बलह्रासं गात्रस्फूर्त्तिर्विनिद्रता ।
विण्मूत्रनेत्रगात्राणां पीतत्वं क्षीणमिन्द्रियम् । शीतेच्छातापमूर्च्छाः स्युः पित्ते वृद्धेऽल्पमूत्रता ॥५७॥
विडादिशौक्ल्यं शीतत्वं गौरवञ्चातिनिद्रता । सन्धिशैथिल्यमुत्क्लेदो मुखसेकः कफेऽधिके ॥५८॥
रसे वृद्धेऽन्नविद्वेषो जायते गात्रगौरवम् । लालाप्रसेकश्छर्दिश्च मूर्च्छा सादो भ्रमः कफः ॥५९॥
प्रवृद्धं रुधिरं कुर्याद् गात्रमारक्तवर्णकम् । लोचनञ्च तथा रक्तं सिराः पूरयतेऽपि च ॥ ६० ॥

अत्यन्त बढ़े हुए दोषादि के लक्षण—**वायु की वृद्धि होने पर**—शरीर की कृशता, कठोरता, गर्मी की इच्छा, मल का गाढा होना, बल की कमी, अङ्गों का फड़कना और नींद न आना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं । **पित्त की वृद्धि होने पर**—मल, मूत्र, नेत्र तथा शरीर का पीला होना, इन्द्रियों की क्षीणता, शीत की इच्छा, ताप, मूर्च्छा तथा मूत्र का स्वल्प मात्रा में होना ये सब लक्षण होते हैं । **कफ की वृद्धि होने पर**—मल, मूत्र, नेत्र तथा शरीर का सफेद होना, शरीर में शीतलता तथा गुरुता मालूम पड़ना, अत्यन्त निद्रा होना, सन्धिस्थानों में शिथिलता, उत्क्लेद (वमन की इच्छा) और मुख से पानी गिरना ये सब लक्षण होते हैं । **रस की वृद्धि होने पर**—अन्न से द्वेष होना, शरीर में गुरुता, लार गिरना; वमन, मूर्च्छा, शरीर में ग्लानि, भ्रम तथा कफ निकलना ये सब लक्षण होते हैं और **रक्त की वृद्धि होने पर**—शरीर तथा नेत्र का रक्तवर्ण होना तथा सिराओं का रक्त से पूर्ण होना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ५७-६० ॥

अन्यच्च—

रक्तन्तु कुरुते वृद्धं विसर्पप्लीहविद्रधीन् । कुष्ठं वातास्रकं गुल्मं सिरापूर्णत्वकामले ॥ ६१ ॥
गात्राणां गौरवं निद्रा मदो दाहश्च जायते । श्यङ्गाग्निसादसमोहरक्तत्वक्नेत्रमूत्रताः ॥ ६२ ॥
गुदमेढ्रास्यपाकार्शःपिडकामशकास्तथा । इन्द्रलुप्ताङ्गमर्दासृग्दरांस्तापं कराङ्घ्रिषु ॥ ६३ ॥
शमयेद्रक्तवृद्धयुत्थान् रक्तस्रुतिविरेचनैः ।
मांसं वृद्धन्तु गण्डौष्ठस्फिगुपस्थोरुबाहुषु । जङ्घयोः कुरुते वृद्धिं तथा गात्रस्य गौरवम् ॥ ६४ ॥
उदरे पार्श्वयोर्वृद्धिः कासश्वासादयस्तथा । दौर्गन्ध्यं स्निग्धता गात्रे मेदोवृद्धौ भवेदिति ॥ ६५ ॥

रक्तवृद्धि के अन्य लक्षण—**रक्त की वृद्धि होने पर**-विसर्प, प्लीहा, विद्रधि, कुष्ठ, वातरक्त, गुल्म, सिराओं का रक्त से परिपूर्ण होना, कामला, अङ्गों की गुरुता, निद्रा, मद, दाह, व्यङ्ग (झाँई), अग्नि की मन्दता, सम्मोह, त्वचा नेत्र तथा मूत्र का रक्तवर्ण होना, गुदा, लिङ्ग या योनि तथा मुख का पकना, अर्श (खूनी ववासीर), फुन्सी, मसा, इन्द्रलुप्त रोग, अङ्गों का टूटना, रक्तप्रदर, हाथ तथा पैर में ताप होना ये सब लक्षण रक्त की वृद्धि होने पर प्रकट होते हैं। रक्त की वृद्धि होने से उत्पन्न हुये रोगों को रक्तस्राव तथा विरेचन द्वारा शान्त करना चाहिये। **मांस की वृद्धि होने पर**—गण्डस्थल, ओष्ठ, कूल्हा, लिङ्ग, जङ्घा, बाहु और पिण्डरी इन सबों में मांस की वृद्धि तथा शरीर में गुरुता ये सब लक्षण होते हैं और **मेदा की वृद्धि होने पर**—उदर तथा पार्श्व की वृद्धि, कास तथा श्वास आदि रोग, शरीर में दुर्गन्धता तथा स्निग्धता (चिकनापन) होना ये सब लक्षण होते हैं॥ ६१-६५॥

अन्यच्च—

प्रवृद्धं कुरुते मेदः श्रममल्पेऽपि चेष्टिते। तृट्स्वेदगलगण्डौष्ठरोगमेहादिजन्म च॥ ६६॥
श्वासं स्फिग्जठरग्रीवास्तनानां लम्बनं तथा। वृद्धान्यस्थीनि कुर्वन्ति अस्थीन्यन्यानि चास्थिषु॥
आचरन्ति तथा दन्तान्विकटान्महतस्तथा। मज्जा वृद्धः समस्ताङ्गनेत्रगौरवमाचरेत्॥ ६८॥
शुक्राश्मरी शुक्रवृद्धौ शुक्रस्यातिप्रवर्त्तनम्। मलप्रवृद्धावाटोपो जायते जठरे व्यथा॥ ६९॥
मूत्रे वृद्धे मुहुर्मूत्रमाध्मानं वस्तिवेदना। स्वेदे वृद्धे तु दौर्गन्ध्यं त्वचि कण्डूश्च जायते॥ ७०॥
आर्त्तवातिप्रवृत्तिः स्याद्दौर्गन्ध्यं चार्त्तवे भवेत्। अङ्गमर्दश्च जायेत लिङ्गं स्यादार्त्तवेऽधिके॥७१॥
स्तनयोरतिपीनत्वं क्षीरस्रावो मुहुर्मुहुः। तोदश्च तत्र भवति स्तन्याधिक्यस्य लक्षणम्॥ ७२॥
उदरादिप्रवृद्धिस्तु वृद्धे गर्भेऽभिजायते। स्वेदश्च गर्भवत्याः स्यात्प्रसवे व्यसनं महत्॥ ७३॥

मेदा वृद्धि के अन्य लक्षण—**मेदा की वृद्धि होने पर**-थोडे से भी परिश्रम करने में अधिक थकावट तथा अधिक प्यास मालूम पडना, पसीना अधिक निकलना, गला, गण्डस्थल तथा ओष्ठ-सम्बन्धी रोग तथा प्रमेहादि रोगों का होना, श्वास रोग एव कूल्हा, उदर, गर्दन तथा स्तनों का लटक पडना, ये सब लक्षण होते हैं। **अस्थि की वृद्धि होने पर**-अस्थियों के ऊपर दूसरी अस्थियों का उत्पन्न होना एव दांतों का विकट तथा वड़ा हो जाना ये सब लक्षण होते हैं। **मज्जा की वृद्धि होने पर**—सम्पूर्ण अङ्गों तथा नेत्रों में गुरुता होना यह लक्षण होता है। **शुक्र की वृद्धि होने पर**—शुक्राश्मरी नामक पथरी रोग तथा शुक्र की अत्यन्त प्रवृत्ति (स्राव) होना ये सब लक्षण होते हैं। **मल की वृद्धि होने पर**—आटोप (पेट में पीडा के साथ गुडगुड़ शब्द होना) तथा उदर में व्यथा ये सब लक्षण होते हैं। **मूत्र की वृद्धि होने पर**—वारम्वार मूत्र होना, आध्मान (अफारा) तथा वस्तिस्थान में पीडा होना ये सब लक्षण होते हैं। **स्वेद (पसीना) की वृद्धि होने पर**—शरीर में दुर्गन्ध होना तथा त्वचा में खुजली होना ये सब लक्षण होते हैं। **आर्त्तव (रज) की वृद्धि होने पर**—आर्त्तव का अत्यन्त स्राव होना, आर्त्तव में दुर्गन्धता तथा अङ्गों का टूटना ये सब लक्षण होते हैं। **स्तनों में दूध की अधिक वृद्धि**—स्तनों का अत्यन्त मोटा हो जाना, दूध का वारम्वार स्राव होना एव स्तनों में सुई चुभोने की सी पीडा होना ये सब लक्षण होते हैं और **गर्भिणी स्त्रियों के गर्भ की वृद्धि होने पर**—उदर आदि अङ्गों का अत्यन्त वढ़ जाना, स्वेद अधिक निकलना तथा प्रसव के समय अधिक पीडा होना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं॥

अथातिवृद्धाना दोषधातुमलानां ह्रासनमाह—

तत्तद्ध्रासकराहारविहारपरिषेवणात्। दोषधातुमलानां हि ह्रासो निगदितो नृणाम्॥ ७४॥
पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद् वर्द्धयेद्धि परस्परम्। तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम्॥७५॥

अत्यन्त वढ़े हुये दोष, धातु तथा मलों के कम करने का प्रकार—मनुष्यों के दोष, धातु तथा मल इनमें से जो वढ़े हुए हों उन सब को कम करने वाले जो आहार तथा विहार हों उनक सेवन करने से दोषादि का कम करना कहा हुआ है। क्योंकि दोष, धातु तथा मल इनमें से पूर्व २ के अत्यन्त वढने से परस्पर एक दूसरे को वढ़ाते रहते हैं अर्थात् दोष वढकर धातु को और धातु वढ़ कर मल को वढाते हैं। अत एव अत्यन्त वढ़े हुये धातुओं का ह्रास (कम) करना हितकर होता है॥ ७४-७५॥

अथ दोषधातुमलानां क्षयस्य निदानान्याह—

असात्म्यान्नसदाक्रोधशोकचिन्ताभयश्रमैः। अतिव्यवायानशनात्यर्थसंशोधनैरपि॥ ७६॥
वेगानां धारणाच्चापि साहसादभिघाततः। दोषाणामथ धातूनां मलानाञ्च भवेत्क्षयः॥ ७७॥

दोष-धातु तथा मलों के क्षय होने के कारण—असात्म्य (अहितकारक) अन्न का सेवन, सर्वदा क्रोध, शोक, चिन्ता, भय तथा श्रम का करना, अत्यन्त मैथुन तथा उपवास, अत्यन्त संशोधन कर्म (वमन, विरेचनादि) करना, मल-मूत्रादि के वेगों का रोकना, अत्यन्त साहसकर्म तथा दण्डप्रहार आदि अभिघात से दोष, धातु तथा मलों का क्षय होता है॥ ६७-७७॥

अथ क्षीणानां तेषां लक्षणान्याह—

वातक्षयेऽल्पचेष्टत्वं मन्दवाक्यं विसंज्ञता। पित्तक्षयेऽधिकः श्लेष्मा वह्निमान्द्यं प्रभाक्षयः॥७८॥
सन्धयः शिथिला मूर्च्छा रौक्ष्यं दाहः कफक्षये। हृत्पीडा कण्ठशोषौ त्वक् शून्या तृट् च रसक्षये॥
सिराः श्लथा हिमाम्लेच्छा त्वक्पारुष्यं क्षयेऽसृजः। गण्डौष्ठकन्धरास्कन्धवक्षोजठरसन्धिषु॥८०॥
उपस्थशोथपिण्डीषु शुष्कता गात्ररूक्षता। तोदो धमन्यः शिथिला भवेयुर्मांससंक्षये॥ ८१॥
प्लीहाभिवृद्धिः सन्धीनां शून्यता तनुरूक्षता। प्रार्थना स्निग्धमांसस्य लिङ्गं स्यान्मेदसः क्षये॥
अस्थिशूलं तनौ रौक्ष्यं नखदन्तत्रुटिस्तथा। अस्थिक्षये लिङ्गमेतद्वैद्यैः सर्वैरुदाहृतम्॥ ८३॥
शुक्राल्पत्वं पर्वभेदस्तोदः शून्यत्वमस्थिनि। लिङ्गान्येतानि जायन्ते नराणां मज्जसंक्षये॥८४॥
शुक्रक्षये रतेऽशक्तिर्व्यथा शेफसि मुष्कयोः। चिरेण शुक्रसेकः स्यात्सेके रक्ताल्पशुक्रता॥८५॥

क्षीण हुये दोषादि के लक्षण—**वायु का क्षय होने पर**—शरीर में अल्प चेष्टा होना, थोड़ा बोल सकना तथा संज्ञाहीन होना ये सब लक्षण होते हैं। **पित्त का क्षय होने पर**—अधिक कफ निकलना, अग्नि की मन्दता तथा शरीर की कान्ति का क्षय होना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं। **कफ का क्षय होने पर**—सन्धियों की शिथिलता, मूर्च्छा, शरीर में रूक्षता तथा दाह होना ये सब लक्षण होते हैं। **रस का क्षय होने पर**—हृदय में पीडा, कण्ठ सूखना, त्वचा का शून्य होना तथा प्यास अधिक लगना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं। **रक्त का क्षय होने पर**—सिराओं का शिथिल हो जाना, शीतल तथा अम्ल पदार्थ खाने की इच्छा होना तथा त्वचा का कठोर होना ये सब लक्षण होते हैं। **मांस का क्षय होने पर**—गण्डस्थल, ओष्ठ, गर्दन, कन्धे, छाती, पेट, सन्धियाँ, लिङ्ग का शोथ (चैतन्य होने पर मोटापन) और पिंडरी का सूख जाना, शरीर में रूक्षता तथा सूई चुभोने के समान पीडा होना, धमनियों का शिथिल हो जाना ये सब लक्षण होते हैं। **मेदा का क्षय होने पर**—प्लीहा की वृद्धि, सन्धियों का शून्य हो जाना, शरीर में रूक्षता तथा स्निग्ध (स्नेहयुक्त) मांस खाने की इच्छा होना ये सब लक्षण होते हैं। **अस्थि का क्षय होने पर**—अस्थियों में शूल (अत्यन्त पीडा), शरीर में रूक्षता, नख तथा दांतों का टूटना ये सब लक्षण होते हैं। **मज्जा का क्षय होने पर**—शुक्र की अल्पता, पर्वभेद (पोरों में टूटने की सी पीडा), सूई चुभोने की सी पीडा तथा अस्थियों में शून्यता ये सब लक्षण होते हैं और **शुक्र का क्षय होने पर**—स्त्री के साथ रति (मैथुन) करने में शक्ति न रहना, लिङ्ग तथा अण्डकोश में पीडा होना, बहुत देर में शुक्र का निकलना तथा शुक्र निकलने पर उसकी मात्रा थोड़ी होना तथा रक्त भी मिला रहना ये सब लक्षण प्रकट होते हैं॥ ७८-८५॥

अथौजःक्षयस्य निदानमाह—

ओजः संक्षीयते कोपाच्चिन्ताशोकश्रमादिभिः। रूक्षतीक्ष्णोष्णकटुकैः कर्षणैरपरैरपि॥ ८६॥

ओज के क्षय होने का कारण—अधिक कोप, चिन्ता, शोक तथा श्रम आदि करने से एवं रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण तथा कटुरसयुक्त पदार्थों का विशेष सेवन करने से तथा अन्यान्य कर्षणकारक (उपवासादि) व्यापारों से भी ओज का क्षय होता है॥ ८६॥

अथ क्षीणौजसो लक्षणमाह—

बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं चिन्तयेद्व्यथितेन्द्रियः। अभ्युत्थायोन्मना रूक्षः क्षामः स्यादोजसः क्षये॥

ओज के क्षय होने के लक्षण—ओज का क्षय होने पर मनुष्य सर्वत्र भय करता है, सदा दुर्बल रहता है तथा चिन्ता करने से उसकी इन्द्रियाँ व्यथित रहती हैं, उत्साह करके फिर हतोत्साह हो जाता है और रूक्ष तथा क्षीण शरीर वाला हो जाता है॥ ८७॥

अथ मलक्षयस्य लक्षणमाह—

पुरीषस्य क्षये पार्श्वे हृदये च व्यथा भवेत्। सशब्दस्यानिलस्योर्ध्वगमनं कुक्षिसंवृतिः॥ ८८॥

मल के क्षय होने के लक्षण—मल (विष्ठा) के क्षय होने पर मनुष्य की पसुली तथा हृदय में पीडा होती है और पेट में शब्द करता हुआ वायु ऊपर को चढ़ता है तथा उदर संकुचित हो जाता है॥

⊛ कुक्षिसंवृतिः = उदरसङ्कोचः॥ ८८॥

यहां 'कुक्षिसवृतिः' पद का 'उदरसङ्कोच अर्थात् उदर संकुचित हो जाता है' यह अर्थ समझना चाहिये॥ ८८॥

अथ मूत्रादीनां क्षयस्य लक्षणमाह—

मूत्रक्षयेऽल्पमूत्रत्वं वस्तौ तोदश्च जायते। स्वेदनाशस्त्वचो रौक्ष्यं चक्षुषोरपि रूक्षता॥ ८९॥
स्तब्धाश्च रोमकूपाः स्युर्लिङ्गं स्वेदक्षये भवेत्। आर्त्तवस्य स्वकाले चाभावस्तस्याल्पताऽथ वा॥
जायते वेदना योनौ लिङ्गं स्यादार्त्तवक्षये। अभावः स्वल्पता वा स्यात्स्तन्यस्य भवतस्तथा॥
ग्लानौ पयोधरावेतल्लक्षणं स्तन्यसंक्षये। अनुन्नतो भवेत्कुक्षिर्गर्भस्यास्पन्दनं तथा।
इति गर्भक्षये प्राज्ञैर्लक्षणं समुदाहृतम्॥ ९२॥

मूत्रादि के क्षय होने के लक्षण—**मूत्र का क्षय होने पर**—थोडा मूत्र होना तथा वस्ति में सूई चुभने की सी पीडा होना ये सब लक्षण होते हैं। **स्वेद का क्षय होने पर**—स्वेद (पसीना) का न निकलना, त्वचा तथा नेत्रों में रूक्षता, रोमकूपों में स्तब्धता ये सब लक्षण उत्पन्न होते हैं। **आर्त्तव (रज) का क्षय होने पर**—स्त्रियों को ऋतुकाल का समय होने पर भी आर्त्तव का स्राव एक दम से न होना अथवा थोडी मात्रा में स्राव होना एवं योनि में पीडा होना ये सब लक्षण होते हैं। **स्तनों में दूध का क्षय होने पर**—स्तनों में दूध का अत्यन्ताभाव होना अथवा बहुत थोडी मात्रा में निकलना तथा स्तनों का म्लान हो जाना ये सब लक्षण उत्पन्न होते हैं और **गर्भ का क्षय होने पर**—'गर्भिणी स्त्रियों के कोख का पचक जाना तथा गर्भ का न फड़कना ये सब लक्षण होते हैं॥ ८९–९२॥

अथ क्षीणधातुदोषमलाना वर्द्धनविधिमाह—

तत्तत्संवर्द्धनाहारविहारातिनिषेवणात्। तत्तत्प्राप्य नरः शीघ्रं तत्तत्क्षयमपोहति॥ ९३॥
ओजस्तु वर्द्धते नृणां सुस्निग्धैः स्वादुभिस्तथा। वृष्यैरन्यैर्विशेषात्तु क्षीरमांसरसादिभिः॥९४॥

क्षीण हुये दोष, धातु तथा मलों को बढाने की विधि—दोष, धातु तथा मल इनमें से जो जो क्षीण हुये हों उन-उन सबों की वृद्धि करने वाले आहार-विहार का अत्यन्त सेवन के द्वारा उन सबों को पुनः प्राप्त करके मनुष्य दोषादि की क्षीणता को शीघ्र दूर करता है। जिनके ओज क्षीण हो गये हों ऐसे मनुष्यों का ओज अत्यन्त स्निग्ध तथा स्वादिष्ट (मधुर रसयुक्त) एवं अन्यान्य वृष्य (वीर्यवर्धक) तथा विशेषतः दूध और मासरस (सुरवा) आदि पदार्थों के खाने से पुनः बढने लगता है॥ ९३–९४॥

अन्यच्च—

दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि मानवः। तत्तत्संवर्द्धनं यत्तदन्नपानं प्रकाङ्क्षति॥ ९५॥
यद्यदाहारजातन्तु क्षीणः प्रार्थयते नरः। तस्य तस्य स लाभेन तत्तत्क्षयमपोहति॥ ९६॥

और भी कहा है—दोष, धातु, मल तथा बल से क्षीण हुआ मनुष्य दोषादि में से जो-जो क्षीण होते हैं। उन सबों के बढाने वाले जो-जो अन्न-पान (खान-पान) हैं उन्हीं सबों की इच्छा करता है और क्षीण पुरुष जिन २ दोषों के आहारों को पाने के लिये प्रार्थना करता है उन्हीं-उन्हीं आहारों के पाने से उन्हीं-उन्हीं दोषादि की क्षीणता को दूर करता॥ ९५–९६॥

तत्र केन क्षीणः किं काङ्क्षतीत्याकाङ्क्षायामाह—

कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च। यवमुद्गप्रियङ्गूंश्च वातक्षीणोऽभिकाङ्क्षति॥ ९७॥
तिलमाषकुलत्थादिपिष्टान्नविकृतिं तथा। मस्तुशुक्ताम्लतक्राणि काञ्जिकञ्च तथा दधि॥ ९८॥
कट्वम्ललवणोष्णानि तीक्ष्णक्रोधं विदाहि च। समयं देशमुष्णञ्च पित्तक्षीणोऽभिकाङ्क्षति॥९९॥
मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च। दधि क्षीरं दिवास्वप्नं कफक्षीणोऽभिकाङ्क्षति॥१००॥
रसक्षीणो नरः काङ्क्षत्यम्भोऽतिशिशिरं मुहुः। रात्रिनिद्रां हिमं चन्द्रं भोक्तुञ्च मधुरं रसम्॥१०१॥
इक्षुं मांसरसं मन्थं मधु सर्पिर्गुडोदकम्॥ १०२॥

द्राक्षादाडिमशुक्तानि सस्नेहलवणानि च। रक्तसिद्धानि मांसानि रक्तक्षीणोऽभिकाङ्क्षति॥१०३॥

वात से क्षीण हुआ मनुष्य—कषाय, कटु तथा तिक्तरस युक्त, रूक्ष, शीतल तथा लघु पदार्थ, जौ, मूंग एवं कंगुनी की इच्छा करता है। **पित्त से क्षीण हुआ मनुष्य**—तिल, उड़द तथा कुलथी आदि तथा पिसे हुए अन्न के बने पदार्थ, दही की मलाई, शुक्त (कांजी विशेष), खट्टा तक्र (छाछ), कांजी, दही एवं कटु, अम्ल तथा लवण रसयुक्त, गर्म, तीक्ष्ण तथा विदाही पदार्थ, क्रोध करना, गर्म स्थान तथा गर्मी की इच्छा करता है। **कफ से क्षीण हुआ मनुष्य**—मधुर, लवण तथा अम्ल रसयुक्त पदार्थ एवं स्निग्ध (स्नेहयुक्त), शीतल तथा गुरु पदार्थ, दही, दूध तथा दिन में सोने की इच्छा करता है। **रस से क्षीण हुआ मनुष्य**—पीने के लिये वारम्बार अत्यन्त शीतल जल, रात्रि में सोना, हिम (अत्यन्त शीतल पदार्थ बर्फ आदि), चन्द्रमा और खाने के लिये मधुर रसयुक्त पदार्थ, ईख, मासरस (सुरुवा), मन्थ (तक्रविशेष), शहद, घी तथा गुड मिला जल की इच्छा करता है और **रक्त से क्षीण हुआ मनुष्य**—दाख, अनार, शुक्त (कांजी विशेष), स्नेहयुक्त तथा लवणरसयुक्त पदार्थ एवं रक्त के साथ पकाया हुआ मांस की इच्छा करता है ॥ ९७-१०३ ॥

अन्नानि दधिसिद्धानि षाडवांश्च बहूनपि। स्थूलक्रव्यादमांसानि मांसक्षीणोऽभिकाङ्क्षति॥१०४॥

मांस से क्षीण हुआ मनुष्य—दही के साथ पकाये हुये अन्न तथा बहुत से 'षाडव' संज्ञक पदार्थ एवं मोटे मांसभक्षी जीवों के मांस की इच्छा करता है ॥ १०४ ॥

*** षाडवाः = मधुराम्लादिरससंयोगपाचिता गुडावप्रभृतयः ॥ १०४ ॥**

यहां 'षाडव' पद से 'षाडव' संज्ञक मधुर तथा अम्ल आदि रसों से युक्त पदार्थों के रस के संयोग से पकाये हुये 'गुडाव' आदि पदार्थों का ग्रहण करना चाहिये ॥ १०४ ॥

मेदःसिद्धानि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च। सक्षाराणि विशेषेण मेदःक्षीणोऽभिकाङ्क्षति॥ १०५॥
अस्थिक्षीणस्तथा मांसं मज्जास्थिस्नेहसंयुतम्। स्वाद्वम्लसंयुतं द्रव्यं मज्जाक्षीणोऽभिकाङ्क्षति ॥
शिखिनः कुक्कुटस्याण्डं हंससारसयोस्तथा। ग्राम्यानूपौदकानाञ्च शुक्रक्षीणोऽभिकाङ्क्षति ॥१०७॥
यवान्नं यवकान्नञ्च शाकानि विविधानि च। मसूरमाषयूषञ्च मलक्षीणोऽभिकाङ्क्षति ॥ १०८ ॥
पेयमिक्षुरसं क्षीरं सगुडं बदरोदकम्। मूत्रक्षीणोऽभिलषति त्रपुसैर्वारुकाणि च ॥ १०९ ॥
अभ्यङ्गोद्वर्त्तने मद्यं निवातशयनासने। गुरु प्रावरणं चैव स्वेदक्षीणोऽभिकाङ्क्षति ॥ ११० ॥
कट्वम्ललवणोष्णानि विदाहीनि गुरूणि च। फलशाकानि पानानि स्त्री काङ्क्षत्यार्त्तवक्षये ॥१११॥
सुराशाल्यन्नमांसानि गोक्षीरं शर्करां तथा। आसवं दधि हृद्यानि स्तन्यक्षीणाऽभिवाञ्छति ११२
मृगाजाविवराहाणां गर्भान्वाञ्छति संस्कृतान्। वसाशूल्यप्रकारादीन्भोक्तुं गर्भपरिक्षये ॥११३॥

मेद से क्षीण हुआ मनुष्य—मेद के साथ पकाये हुये मांस तथा ग्राम और आनूप प्रदेश में रहने वाले एवं जलचर जीवों का मांस और विशेषतः क्षारयुक्त मांस की इच्छा करता है। **अस्थि से क्षीण हुआ मनुष्य**—मज्जा, अस्थि तथा स्नेह से युक्त मांस खाने की इच्छा करता है। **मज्जा से क्षीण हुआ मनुष्य**—मधुर तथा अम्लरसयुक्त पदार्थों की इच्छा करता है। **शुक्र से क्षीण हुआ मनुष्य**—मोर, मुर्गा, हंस, सारस एवं ग्राम, आनूप प्रदेश तथा जल में रहने वाले पक्षी के अण्डों की इच्छा करता है। **मल से क्षीण हुआ मनुष्य**—जौ, जई (क्षुद्रयव), अनेक प्रकार के शाक एवं मसूर तथा उडद के जूस की इच्छा करता है। **मूत्र से क्षीण हुआ मनुष्य**—पेय (पीने योग्य) पदार्थ, ईख का रस, दूध, गुड के सहित बेर का जल, खीरा और ककड़ी की इच्छा करता है। **स्वेद से क्षीण हुआ मनुष्य**—मालिश करना, उबटन लगवाना, मद्य, वायुरहित प्रदेश में सोना-बैठना एवं मोटे भारी वस्त्र (रजाई आदि) ओढ़ने की इच्छा करता है। **आर्त्तव (रज) से क्षीण हुई स्त्री**—कटु, अम्ल तथा लवण रस युक्त पदार्थ एवं उष्ण, विदाही तथा गुरु पदार्थ, फलों (लौकी, कोंहड़ा आदि) का शाक तथा पान (शर्बत) की इच्छा करती है। **स्तनों में दूध से क्षीण हुई स्त्री**—मदिरा, शालि (अगहनी) धान्य का चावल, मांस, गौका दूध, शक्कर, आसव, दही तथा हृदय के लिये हितकारक पदार्थ की इच्छा करती है और **गर्भ से क्षीण हुई स्त्री**—हरिण, बकरी, भेड़ तथा सूअर के गर्भों (गर्भस्थित बच्चों) को सविधि पका कर खाने की इच्छा करती है एवं वसा तथा मांस के अनेक प्रकार से बने हुए कबाब आदि पदार्थों को खाने की इच्छा करती है ॥ १०५-११३ ॥

अथ सुश्रुतोक्तबललक्षणमाह—

रसादिशुक्रपर्य्यन्तं धातुपुष्टिनिमित्तकम् । चेष्टासु पाटवं यत्तु बलं तदभिधीयते ॥ ११४ ॥

सुश्रुतोक्त वल लक्षण—रस से लेकर शुक्र पर्यन्त जो ७ धातुयें हैं उन सर्वों की पुष्टता के कारण उत्पन्न हुआ जो चेष्टा करने में शरीर का सामर्थ्य है उसी को 'वल कहते हैं ॥ ११४ ॥

अथ बलक्षयस्य निदानमाह—

अभिघाताद्भयात्क्रोधाच्चिन्तया च परिश्रमात् । धातूनां सत्क्षयाच्छोकाद् बलं संक्षीयते नृणाम् ॥

वल का क्षय होने में कारण—अभिघात (चोट), भय, क्रोध, चिन्ता, परिश्रम, रस-रक्तादि ७ धातुओं का क्षय तथा शोक इन सर्वों के होने से मनुष्यों का वल क्षीण हो जाता है ॥ ११५ ॥

अथ बलक्षयस्य लक्षणमाह—

गौरवं स्तब्धता गात्रे मुखग्लानिर्विवर्णता । तन्द्रा निद्रा वातशोथो बलव्यापत्तिलक्षणम् ॥

बलक्षय के लक्षण—शरीर में गुरुता तथा स्तब्धता (जकड़ाहट) का होना, मुख की मलिनता, शरीर की विवर्णता (वर्ण का विगड़ जाना), तन्द्रा, निद्रा तथा वातसम्बन्धी शोथ ये सब लक्षण बलक्षय होने पर प्रकट होते हैं ॥ ११६ ॥

अथ बलवृद्धेर्निदानमाह—

दोषसाम्यकरं यत्तु वह्निसाम्यकरं च यत् । धातुपुष्टिकरं द्रव्यं बलं तदभिवर्द्धयेत् ॥ ११७ ॥

बलवृद्धि के कारण—जो पदार्थ वातादि दोषों को तथा जठराग्नि को समभाव में रखने वाले हैं, एवं धातुओं को पुष्ट करने वाले हैं वे सब वल के बढ़ाने वाले होते हैं ॥ ११७ ॥

अथ बलाबललक्षणमाह—

कृशोऽपि बलवान्कश्चित् स्थूलोऽप्यल्पबलो यतः । तस्माच्चेष्टापटुत्वेन बलवन्तं विदुर्बुधाः ॥ ११८ ॥

इति श्रीमिश्रलटकनतनय-श्रीमन्मिश्रभावविरचिते श्रीभावप्रकाशे पूर्वखण्डे परिभाषादिप्रकरणे सप्तम रोगिपरीक्षाप्रकरणं समाप्तम् ॥ ७ ॥

बलवान् तथा निर्बल के प्रधान लक्षण—कोई मनुष्य कृश शरीर वाला होकर भी बलवान् है और कोई स्थूल शरीर वाला होकर भी स्वल्प बलवाला दिखाई पड़ता है। अतः विद्वानों ने यह निश्चय किया कि—सबल तथा निर्बल होने में शरीर की स्थूलता तथा कृशता कारण नहीं है बल्कि चेष्टा (शारीरक कार्य) करने में सामर्थ्य होने से मनुष्य को सबल और न होने से निर्बल समझना चाहिये ॥ ११८ ॥

इति श्रीमन्मध्वसम्प्रदायाचार्य-दार्शनिकसार्वभौम-साहित्यदर्शनाद्याचार्य-न्यायरत्न-तर्करत्न-गोस्वामि-श्रीदामोदरशास्त्रिणामन्तेवासिना 'बस्ती' मण्डलान्तर्गत 'मिश्रौलिया' ग्रामवासिना सरयूपारीण-'पङ्क्तिपावना' न्ववायावतंसविविधकलाकोविदश्रौतस्मार्त्तकर्मनिष्ठ 'गौतम' गोत्रोद्भव 'श्रीमद्व्रज-मोहन'शर्मणां सूनुना स्वनामधन्यपरमादर्शपुरुषशिरोमणिमत्पितृस्वसृपतिश्रील'श्रीरामचरित्र-मणि' त्रिपाठिना 'पोष्यपुत्र' पदवीधारिणा साहित्यशास्त्रिणा मिश्रोपाह्वश्रीब्रह्मशङ्करशर्मणा विरचितायां 'भावप्रकाशकारिकायां 'विद्योतिनी' नामिकायां भाषाटीकाया पूर्वखण्डे परिभाषादिप्रकरणे सप्तमं रोगिपरीक्षाप्रकरणं समाप्तम् ॥ ७ ॥

इति पूर्वखण्डं समाप्तम् ।

परिशिष्ट

अस्थियों के विषय में-संक्षिप्त विवरण

अस्थियों के विषय में प्राचीन तथा आधुनिक गणना में कुछ मतभेद दिखाई देता है। इसका१ कारण यह है कि प्राचीन महर्षियों ने दांत तथा तरुणास्थियों को भी अस्थिरूप में गिना है और आजकल के **शरीररचना-विज्ञान** (Anatomy) के अनुसार उनका परिगणन अस्थियों से पृथक् होता है तथा कुछ ऐसी भी अस्थियां हैं जो बाल्यावस्था में पृथक् पृथक् रहती हैं पर अवस्था के अधिक होने पर जुड़ जाती हैं। और अस्थियों में स्थालक (अस्थि का वह प्रदेश जहां वह दूसरी अस्थि से मिलती हैं। Articular facit), अर्बुद (Tubercle अस्थि का वह प्रदेश जो अन्य भाग की अपेक्षा उभरा हुआ हो) आदि के पृथक् परिगणन से भी उनकी संख्या में भेद हो सकता है। और कई स्थानों पर सूक्तियों को भी अस्थिरूप में परिगणन किया है। जैसे चरक पर्शवस्थियों की संख्या ७२ मानते हैं। २४ पर्शुकायें, २४ उनके स्थालक तथा २४ अर्बुद कुल ७२ होते हैं। अस्थियों के विषय में प्रथम सुश्रुत का मत लिखा जा रहा है जो कि यह है—

त्रीणि सषष्टीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते। शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि। तेषां सविंशमस्थिशतं शाखासु, सप्तदशोत्तरं शतं श्रोणिपार्श्वपृष्ठोरःसु, ग्रीवायां प्रत्यूर्ध्वं त्रिषष्टिः, एवमस्थ्नां त्रीणि शतानि पूर्यन्ते।

अर्थात्—अग्निवेश प्रभृति शास्त्रवादी ३६० अस्थियां शरीर में मानते हैं किन्तु शल्यतन्त्र में ३०० अस्थियों का ही वर्णन है। उसमें शाखाओं में १२० अस्थियां, श्रोणि, पार्श्व, पीठ और वक्षःस्थल में मिलाकर ११७ अस्थियां हैं और ग्रीवा तथा इससे ऊपर ६३ अस्थियां हैं। इस तरह अस्थियों की संख्या (१२०+११७+६३=३००) पूरी होती है।

'एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश, तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश, पार्ष्ण्यामेकं, जङ्घायां द्वे, जानुन्येकम्, एकमूराविति त्रिंशदेवमेकस्मिन्सक्थ्नि भवन्ति। एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ॥'

पैर की एक अंगुलियों में ३-३ अस्थियां इस तरह अंगुलियों में १५ अस्थियां हुई। तल, कूर्च, गुल्फ की १० अस्थियां, पार्ष्णि में एक तथा जंघा में दो, जानु में एक तथा ऊरू में एक, इस प्रकार एक टांग में ३० अस्थिया तथा दूसरी टाग और दोनों बाहु में मिलाकर कुल १२० अस्थिया हुई।

'श्रोण्यां पञ्च तेषां गुदभगनितम्बेषु चत्वारि, त्रिकसंश्रितमेकम्, पार्श्वे षट्त्रिंशदेकस्मिन्। द्वितीयेऽप्येवम्, पृष्ठे त्रिंशदष्टावुरसि, द्वे अंसफलके'।

श्रोणि प्रान्त में ५ अस्थिया होती हैं इनमें गुदा, भग तथा दोनों नितम्बों में मिलकर चार तथा त्रिक में एक, पार्श्व में ३६ इतना ही दूसरे पार्श्व में, छाती में आठ तथा असफलक (Scapula) में दो अस्थियां होती हैं।

'ग्रीवायां नव, कण्ठनाड्यां चत्वारि, द्वे हन्वोः, दन्ता द्वात्रिंशत्, नासायां, त्रीणि, एकं तालुनि, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकं, षट् शिरसीति'।

ग्रीवा में ९, कण्ठनाड़ी में ४, हनु में दो अस्थियां, दांत ३२, नाक में ३, तालु में एक, गण्ड, कर्ण तथा शंख इनमें एक एक (इस तरह दोनों तरफ के कुल मिला कर ६) तथा ६ अस्थियां सिर में होती है।

अस्थियों का जो आधुनिक परिगणन किया जाता है उसमें दांत तथा तरुणास्थियों का परिगणन नहीं होता है, किन्तु ४० से ५० वर्ष पूर्व परिगणन किया जाता था, इनकी संख्या निम्न प्रकार से होती है। सिर या करोटि में अस्थियां एक मञ्जूषा (सन्दूक) की तरह रचना बनाती हैं जिसके भीतर शारीरिक साम्राज्य का अधिपति मस्तिष्क (Brain) सुरक्षित रहता है।

सिर की ८ अस्थियां—

संमुखकपालास्थि (Frontal bone)	१	शखास्थि (Temporal)	२
पार्श्वकपालास्थि (Parietal)	२	झर्झरास्थि (Ethmoid)	१
पश्चात्कपालास्थि (Occipital)	१	जतुकास्थि (Sphenoid)	१

सब मिलकर आठ अस्थियां सिर में होती हैं।

मुख की १४ अस्थियां—

२ नासास्थि (Nasal)	२ तालवस्थि (Palatal)
२ ऊर्ध्वहन्विकास्थि (Maxilla)	२ नासाफलकास्थि (Inferior Nasalconcha)
२ गण्डास्थि (Malar or cheeck bones)	१ हलाकार-अस्थि (Vomer)
२ अश्राविका (Lachrymal)	१ अधोहन्विका (Mandible or Inferior Maxillary

योग १४

ऊर्ध्वशाखा Uppar libms की ६४ अस्थियां—

जिह्वामूलकास्थि (Hyoid)	१	प्रगण्डिका	(Humerus)	२
अक्षक (Clavicle)	२	अन्तःप्रकोष्ठास्थि	(Ulna)	२
अंसफलक (Scapula)	२	बहिः प्रकोष्ठास्थि	(Radius)	२

मणिवन्ध की अस्थिया (Wrist or Carpal bones) २१

करभास्थियां (हस्ततल में) (Meta Carpal bones) १०

अंगुलियों में (Phalanges) में २८ (३ × ४ = १२ अगुलियों में तथा २ अगूठे में = १४ एक हाथ में १४ + २ = २८ दोनों हाथों में मिलाकर)

योग ६४

अधः शाखा की ६२ अस्थियां—

श्रोणिफलक या नितम्बास्थि (Hip bone or ossa innaminata) २

उर्विका (Femur)	२	गुल्फ देश में (Tarsal bones)	१४
जानुकपालास्थि या जानुचक्रास्थि (Fatella)	२	प्रपद या पादतल की अस्थिया (Meta tarsal bones)	१०
अन्तर्जङ्घिका (Tibia)	२	अङ्गुलियों में (Phalanges)	२८
वहिर्जङ्घिका (Fibula)	२		

अधः शाखा की अस्थिया कुल ६२ हुई

पृष्ठवंश में २६ अस्थिया हैं इनके बीच में एक गोला छिद्र होता है जिसमें सुषुम्णा (spinal chord) रहती है उन अस्थियों के ५ समूह होते हैं।

पृष्ठवंश की अस्थियां कशेरुकायें (Vertebra) कही जाती हैं।

पृष्ठवंश की २६ अस्थियां—

ग्रीवा की (Cervical कशेरुका (Vertebrae)	७	त्रिकप्रदेश में त्रिकास्थियां (Sacrum)	१
पीठ की (Thoracic) कशेरुका	१२	गुदा प्रदेश में पुच्छास्थि (Coccyx)	१
कटि की (Lumber) कशेरुका	५		

योग २६

त्रिकास्थिया (Sacrum) अस्थि की परीक्षा करने पर वह ५ कशेरुकों के मिलने से बनी मालूम होती है इसी प्रकार पुच्छास्थि (Coccyx) भी ४ अस्थियों से मिलकर बनी है।

वक्ष की २५ अस्थियां—

उरोऽस्थि (sternum) १ । पर्शुकायें (Rids) २४

योग २५

कान के भीतर मध्यकर्ण में ६ छोटी छोटी अस्थिया रहती है। प्रत्येक कर्ण के भीतर मध्य कर्ण में ३-३ अस्थियां होती हैं। जिनके नाम ये हैं।

कान की ६ अस्थियां—

शूर्मिकास्थि (इङ्कस) २ मुद्गरास्थि (मैलियस) २ रकावास्थि (स्टेपीज) २ योग ६ ।

इस प्रकार सामान्य २०६ अस्थियां मानी जाती हैं ।

अस्थियों के प्रकार

जैसा कि सुश्रुत लिखते हैं :—

'एतानि पञ्चविधानि भवन्ति तद्यथा—कपालरुचकतरुणवलयनलकसंज्ञकानि'

अर्थात् १ कपाल, २ रुचक, ३ तरुण, ४ वलय, ५ नलक इस भांति से पांच प्रकार की अस्थियां होती हैं ।

१ कपाल ।

२ रुचक—(दांत) ये आज से प्रायः ५० वर्ष पूर्व अस्थि में ही पाश्चात्त्य सिद्धान्त के अनुसार भी गिने जाते थे किन्तु आजकल अस्थियों की रचना से इनकी रचना भिन्न होने के कारण अस्थि से पृथक् गिने जाते हैं ।

३ तरुण-आजकल पाश्चात्त्य विज्ञान के अनुसार इनको सक्ति (Cartilage) कहा जाता है । ये भी अस्थियों से पृथक् माने जाते हैं ।

४ वलय-पर्शुका आदि मुडी हुई अस्थियां इसके अन्दर आती हैं ।

५ नलक-Long bones दीर्घ अस्थियां ।

अस्थियों की स्थिति—

'तेषां जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खशिरःसु कपालानि, दशनास्तु रुचकानि, घ्राणकर्णग्रीवाक्षिकोषेषु तरुणानि, पार्श्वपृष्ठोरःसु वलयानि, शेषाणि नलकसंज्ञकानि'

(सु. शा. अ. ५)

जानु, नितम्ब, स्कन्ध, कपोल, तालु, शख तथा सिर में कपालास्थियां (Flats bones) हैं । दांत रुचकास्थियों से निर्मित हैं । नासिका, कर्ण, ग्रीवा तथा अक्षिकोष में तरुणास्थियां हैं । पार्श्व, पृष्ठ तथा वक्ष में वलयास्थियां हैं । इनके अतिरिक्त अन्य (हाथ-पैर आदि) भागों में नलक (Long bones) हैं ।

भोज ने भी लिखा है:—

'हस्तपादाङ्गुलितले कूर्चेषु मणिवन्धयोः ।
बाहुजङ्घाद्वये चापि जानीयान्नलकानि तु ॥'

हाथ-पैर की अगुलियों और पादतल तथा पाणितल, कूर्च, मणिवन्ध तथा जंघाओं में नलक अस्थियां होती हैं ।

अस्थियों के कार्य—

अस्थियां शरीर के सुदृढ़ होने में कारणभूत हैं । इनके कारण ही शरीर अपनी एक आकृति विशेष में स्थित रहता है । अन्यथा दवाव आदि के कारण इनका भी आकार परिवर्त्तित होना संभव था । तथा शरीर के वोझ को सभालने के लिये भी किसी दृढ़ वस्तु की आवश्यकता थी ।

इसके अतिरिक्त हाथ, पैर आदि अंगों में जो गति होती है उसका कारण मासपेशिया हैं तथा ये मासपेशियां अस्थियों पर ही लगी हुई हैं ।

कोमल अङ्गों की रक्षा करना भी अस्थियों का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है । वक्षके भीतर के हृदय तथा फुफ्फुस और उदरगुहा के यकृत् तथा प्लीहा प्रभृति कोमल अंग पसलियों द्वारा पूर्णतः सुरक्षित हैं । मस्तिष्क जैसे सुकोमल अंग के लिये प्रकृति ने सिर की अस्थियों की जो सुन्दर मञ्जूषा (सन्दूक) बनाई है वैसा कौन कारीगर वना सकता है ? ये ही सव अस्थियों के साधारणतः कार्य हैं ।

कार्य के विषय में सुश्रुत लिखते हैं—

'अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः ।
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रुवम् ॥
तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाम् ।
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम् ॥

मांसान्यत्र निबद्धानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा॥

जिस प्रकार अन्तःस्थित सार के द्वारा वृक्ष स्थिर रहते हैं, उसी भांति यह मानव शरीर अस्थियों द्वारा धारण किया जाता है। ये अस्थियां शरीर की सारभूत हैं। ये कठिन होने के कारण त्वचा तथा मांसादि के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होतीं। इन्हीं अस्थियों के साथ मांसपेशियां सिरा तथा स्नायुओं के द्वारा बंधी हुई हैं। अस्थि पर आश्रित होने ही के कारण वे कभी नष्ट तथा स्थान से भ्रष्ट नहीं होती हैं।

अस्थियों को भी सजीव अङ्ग होने के कारण पोषण की आवश्यकता होती है। उनके भीतर सूक्ष्म धमनियों द्वारा रक्तप्रवाह होता रहता है। अस्थियां वास्तव में घन तथा सुषिर पर्तों द्वारा बनी हुई हैं। बाहर की तरफ घन भाग तथा भीतर की तरफ अस्थि का कुछ सुषिर भाग होता है। अस्थि के बीच में अस्थिमज्जा पाई जाती है। बड़ी अस्थियों की लाल मज्जा में रक्त के लाल कणों की उत्पत्ति होती है।

मांस धातु—

शरीर में ७ धातुयें ऋषियों ने मानी हैं यथा—

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः।

रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र ये सात धातुयें हैं। जो आहार प्रतिदिन किया जाता है उसका प्रथम रस बनता है, रससे रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा तथा मज्जा से शुक्र का निर्माण होता है। इस प्रकार मासपेशियां रस से ही बनती हैं। किन्तु मास के आहार से रस-रक्तादि की अपेक्षा मास अधिक बनता है। शरीर के भिन्न भिन्न स्थानों पर भिन्न भिन्न आकार के मास का समूह रहता है। उन्हें हम पेशिया कहते हैं।

मांसपेशियों का कार्य—

सिरास्नाय्वस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम्।
पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः॥ सु. शारीर. अ ५.

शरीर की सिरायें, स्नायु, अस्थियों के पर्व तथा सन्धियां, पेशियों से भलीभांति आवृत हैं। अतः वे (सिरा आदि) बलवती होती हैं।

शरीर में चलने-फिरने, उठने-बैठने आदि में गति होती है। इसके अतिरिक्त हाथ को हिलाना, पलकों को चलाना, बोलना, श्वास, मैथुन आदि जितनी भी गतियां शरीर में होती हैं मास ही सब का कारण है। बिना मांस के किसी भी स्थान में गति नहीं होती। इस प्रकार किसी प्रकार की गति के लिये मास आवश्यक है। इन में सङ्कुचित तथा विस्तृत होने का खास गुण होता है।

सारे शरीर के मासों को पाश्चात्य विज्ञान के अनुसार दो भागों में विभाजित किया जाता है।

१—ऐच्छिक मांसपेशियां। **२—अनैच्छिक मांसपेशियां।**

१—ऐच्छिक पेशियां वे हैं जिन पर अपना अधिकार है जिनका इच्छानुसार संकोच तथा विस्तार कर सकते हैं, प्रायः अस्थियों पर लगी हुई पेशियां इसी समूह की होती हैं।

२-अनैच्छिक मांसपेशियां वे हैं जिन में अपनी इच्छा के अनुसार संकोच या विस्तार आदि कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते, आन्त्र आदि शरीर के भीतरी अङ्ग इन्हीं पेशियों से निर्मित हैं।

पेशियों की संख्या

'पञ्च पेशीशतानि भवन्ति, तासां चत्वारि शतानि शाखासु, कोष्ठे षट्षष्टिः, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं चतुस्त्रिंशत्' ॥ सुश्रुत शारीर० अ० ५ ॥

पेशियां ५०० होती हैं, उनमें शाखा में ४००, कोष्ठों में ६६ तथा ग्रीवा में ३४ ये मिलकर ५०० होती हैं।

'एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां तिस्रस्तिस्रस्ताः पञ्चदश, दश प्रपदे, पादोपरि कूर्चसन्निविष्टास्तावत्य एव, दश गुल्फतलयोः, गुल्फजान्वन्तरे विंशतिः, पञ्च जानुनि, विंशतिरूरौ, दश वङ्क्षणे, शतमेवमेकस्मिन्सक्थ्नि भवन्ति। एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ'।

पैर की १०० मांसपेशियां—

प्रत्येक पैर की अङ्गुलियों में ३-३ (३×५) १५ पेशियां

पैर के अगले प्रान्त (प्रपद) में	१०	गुल्फ तथा जानु (घुटने) के भीतर	२०
(प्रपदं पादाग्रमिति डल्हणः)		जानु में	५
पैर के ऊपर कूर्च स्थान में लगी हुई पेशियां	१०	ऊरु (जांघ) में	२०
गुल्फ (टखना) पादतल में मिलकर	१०	वङ्क्षण सन्धि में	१०

योग १००

इस प्रकार कुल शाखाओं में (१००×४) ४०० मांसपेशियां हुईं।

कोष्ठ की ६६ मांसपेशियां—

तिस्रः पायौ, एका मेढ्रे, सेवन्यां चापरा, द्वे वृषणयोः, स्फिचोः पञ्च पञ्च, द्वे वस्तिशिरसि, पञ्चोदरे, नाभ्यामेका, पृष्ठोर्ध्वसन्निविष्टाः पञ्च पञ्च दीर्घाः, षट् पार्श्वयोः, दश वक्षसि, अक्षकांसौ प्रति समन्तात् सप्त, द्वे हृदयामाशययोः, षड् यकृत्प्लीहोण्डुकेषु'।

गुदा में ३ पेशियां, लिङ्ग में १, सीवनी में १, अण्डों में २, चूतड़ के दोनों ओर की ५-५ मिलाकर १०, वस्ति के ऊपरी भाग में २, उदर में ५, नाभि में १, पृष्ठ के ऊर्ध्व भाग में लगी हुई दीर्घ पेशियां (प्रत्येक ओर ५-५) १०, पार्श्व में ६, वक्ष में १०, अक्षक तथा स्कन्ध के चारों ओर मिलाकर ७, हृदय तथा आमाशय में २, यकृत्, प्लीहा तथा उण्डुक [मलाशय] में ६।

कोष्ठ की कुल पेशियों का योग ६६

ग्रीवा की ३४ पेशियां—

ग्रीवायां चतस्रः, अष्टौ हन्वोः, एकैका काकलकगलयोः, द्वे तालुनि, एका जिह्वायाम्, ओष्ठयोर्द्वे, नासायां द्वे, द्वे नेत्रयोः, गण्डयोश्चतस्रः, कर्णयोर्द्वे, चतस्रो ललाटे, एका शिरसीति पञ्च पेशीशतानि।

ग्रीवा में ४, दोनों हनु में ८, काकलक (घांटी) में १, गले के भीतर १, तालु में २, जिह्वा में १, ओष्ठों में २, नासिका में २, नेत्रों में २, कपोल में ४, कान में २, ललाट में ४, सिर में १।

ग्रीवा की कुल पेशियों का योग ३४

शाखाओं की पेशियां ४००

मध्य कोष्ठ की कुल पेशिया ६६

ग्रीवा से ऊपर ३४

इस भांति कुल पेशियों का योग ५०० होता है।

आधुनिक शरीर-शास्त्रज्ञ पेशियों की संख्या ५१९ मानते हैं।

इन ५१९ पेशियों में से प्रायः ४५० अस्थियों पर लगती हैं तथा उनके गति की प्रवर्तक होती हैं। शेष ६९ स्वरयंत्र, जिह्वा, तालु, कण्ठ, नेत्र तथा कर्ण आदि में लगी रहती हैं।

प्रायः शरीर की मध्य रेखा के दोनों तरफ दायें तथा बायें समूह में पेशियां होती हैं।

आधुनिक मत से मांसपेशियों की संख्या—

ऊर्ध्व शाखा की मांसपेशिया (५९—५९) = ११८

अधः शाखा ,, ,, ,, (५९—५९) = ११८

मध्य शरीर (धड़) ,, ,, (६७—६७) = १३४

सिर तथा ग्रीवा ,, ,, (४०—४०) = ८०

योग ४५०

वक्षोदर मध्यस्था पेशी १.			स्वरयन्त्र-की विशेष पेशियां		५.
गले की मांसपेशियां ५.			बाह्य कर्ण	,, ,,	६.
जिह्वा की विशेष पेशियां ४.			मध्य कर्ण	,, ,,	२
तालु ,, ,, ४.			अक्षिगोलक तथा ऊपरी पलक		७.

योग ३४

यह एक ओर का हुआ दोनों भीतर तथा बाहर के ओर की पेशियों की संख्या = (३४ × २) = ६८ इस प्रकार ४५०

६८ ग्रीवा तथा नेत्र गोलक आदि की पेशियां

१ वक्षोदर मध्यस्था

कुल पेशियां ५१९

पेशियों की स्थिति तथा कार्य के अनुसार विविध नाम उनके दिये गये हैं। जो कि प्रसंग बढ जाने के भय से यहां नहीं लिखे जा सकते।

नारी-जननेन्द्रियों का संक्षिप्त विवरण—

सुश्रुत ने योनि की जो परिभाषा लिखी है उसके अनुसार आजकल के भग (Vulba), योनि (Vagina) तथा गर्भाशय (Uterus) ये सभी अङ्ग आ जाते हैं। सुश्रुत लिखते हैं—

शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्त्ता सा प्रकीर्त्तिता। तस्यास्तृतीये त्वावर्त्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता॥
यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः। तत्संस्थानां तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः॥

(सुश्रुतसंहिता)

इससे स्पष्ट विदित होता है कि योनि के भीतरी भाग को ही वे गर्भाशय मानते हैं। इस विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों का जो वर्णन मिलता है संक्षेप में उसकी चर्चा अनावश्यक न होगी।

वे उत्पादक अङ्गों (Genaratine Organs) को दो भागों में विभाजित करते हैं—

१ बाह्य जननेन्द्रियां तथा **२ आभ्यन्तरिक जननेन्द्रियां।**

१ बाह्य जननेन्द्रियां-वे हैं जो बाहर से देखी जाती हैं। इनके समूह को (Vulba) कहते हैं।

२ आभ्यन्तरिक जननेन्द्रियां-वे हैं जो कि वस्तिगुहा (Pelvic cavity) के अन्दर रहती हैं।

बाह्यजननेन्द्रियां—इनमें निम्न भाग आते हैं।

१ कामाद्रि (Mous veneres)
२ बृहद् भगोष्ठ (Labia majora)
३ क्षुद्रभगोष्ठ (Lmiaibnora)
४ भगाङ्कुर (Clitoris)
५ योनिद्वार (Vaginal orifice)
६ मूत्रद्वार (Urethral orifice)
७ योनिच्छद (Hyman)

इनमें से प्रत्येक का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है:—

१ कामाद्रि (Mous veneres)—भग के ऊर्ध्वप्रदेश में होता है। तथा विटपसन्धि की सीध में होता है। इस स्थान में नीचे की ओर वसा (fat) रहती है। युवावस्था (Puberty) के आने पर इस स्थान पर लोम उगते हैं।

२ बृहद् भगोष्ठ (Labia majora)—ये दो होते हैं। **१-वाम बृहद् भगोष्ठ** तथा **दक्षिण बृहद् भगोष्ठ।** ये योनिद्वार (Vaginal orifice) के दोनों ओर होते हैं। इनके नीचे वसा (fat) होती है। युवावस्था में इन पर लोम उगते हैं। बाल्यावस्था में ये दोनों बृहद्भगोष्ठ परस्पर मिले रहते हैं। मैथुन वा प्रसव होने के बाद ये दोनों पृथक् हो जाते हैं।

३ क्षुद्रभगोष्ठ—ये भी संख्या में दो होते हैं और बृहद्भगोष्ठों (Labia majora) के भीतर तथा योनिद्वारों के आस पास होते हैं। इनमें वसा कम होती है अतः ये पतले होते हैं। ये जिस समय भगांकुर के पास पहुचते हैं उस समय दो भागों में विभाजित हो जाते हैं।

४ भगाङ्कुर (Clitoris)—ऊपर की तरफ, जहा पर दोनों बृहद्भगोष्ठ मिलते हैं, उसके प्रायः आधा इंच के नीचे होता है। यह लचकीला होता है। मैथुन के समय यह उत्तेजित हो जाता है और शिश्न की भांति स्पर्श में कठिन प्रतीत होता है।

५ योनिद्वार (Vaginal orifice)—यह बृहद् तथा क्षुद्र भगोष्ठों के मध्य में छिपा हुआ होता है। यदि अंगुलियों द्वारा भगोष्ठों को पृथक् करें तो भग के निचले भाग में योनिद्वार दिखाई देगा।

६ मूत्रद्वार (Vaginal orifice)—यह योनिद्वार (Urethral orifice) के आधे इञ्च ऊपर होता है।

७ योनिच्छद (Hyman)—यह एक झिल्ली (Membrane) है जो कि योनिद्वार (Vaginal orifice) को बन्द किये रहती है । इसके बीच में छोटा-सा छिद्र होता है जिससे कि युवावस्था में आर्तव निकला करता है । प्रथम-सम्भोग में यह झिल्ली फट जाती है । कभी कभी आघात के कारण भी योनिच्छद फट जाता है । योनिच्छद की उपस्थिति स्त्री-सतीत्व की अक्षुण्णता को प्रमाणित करती है । कभी कभी मैथुन के समय योनिच्छद नहीं फटता इस अवस्था में पशुवत् अधिक बल प्रयोग न करके शस्त्रकर्म (Operation) द्वारा उसे कटवा देना चाहिये ।

आभ्यन्तरिक जननेन्द्रियां—इसमें निम्न अङ्ग आते हैं ।

१ योनि (Vagina)	**३ डिम्बप्रणाली** (Fallopian tube)
२ गर्भाशय (Uterus)	**४ डिम्बग्रन्थि** (Overy)

इनके संक्षिप्त विवरण नीचे दिये जा रहे हैं ।

१ योनि—

यह एक नलिका है जो भग से गर्भाशय के बीच में रहती है । इसकी अग्रिम भित्ति (anterior wall) २ से ३ इंच लम्बी तथा पश्चिम भित्ति ३ से ४ इञ्च लम्बी होती है । इसके सामने की ओर मूत्रप्रणाली (Urethra) और मूत्राशय (Bladder) तथा पीछे की ओर मलाशय (Rectum) रहता है । इसकी पूर्व तथा पश्चिम भित्तियां परस्पर मिली रहती हैं । यह नलिका आवश्यकता पडने पर (जैसे प्रसव के समय) बढ़ तथा फैल सकती है । गर्भाशय-ग्रीवा (Cervix) का कुछ भाग योनि में आता है । इस प्रकार योनि में चार कोण (Fornix) बन जाते हैं । जो ग्रीवा के सामने होता है वह अग्रकोण (auterior farnix), जो पीछे होता है वह पश्चात् कोण (Posterior farnix) तथा जो पार्श्व में २ कोण बनते हैं उन्हें (Lateral farnices) कहते हैं । पश्चात् कोण (Posterior farnix) सबसे अधिक गहरा है । योनि से एक विशिष्ट स्राव निकला करता है इसकी प्रतिक्रिया आम्लिक होती है । योनि में उपस्थित एक विशेष प्रकार के कीटाणु (डोडरलीन के जीवाणु) तक्राम्ल (Lactic acib) पैदा करते हैं जो कि प्रायः अन्य जीवाणुओं के लिये घातक होता है । इस प्रकार बाहर से किसी प्रकार विकार उत्पन्न करने वाले जीवाणु वहां पहुंच जायें तो भी वे इस तक्राम्ल (Lactic acid) के कारण नष्ट कर दिये जाते हैं ।

२ गर्भाशय—

योनि के ऊपरी भाग से इसका प्रारम्भ होता है । इसके सामने की ओर मूत्राशय (Bladder) तथा पीछे की ओर मलाशय होता है । यह बड़े अमरूद के आकार का किन्तु सामने तथा पीछे की ओर चपटा होता है । सुश्रुत ने रोहित-मत्स्य के मुख से गर्भाशय की उपमा दी है ।

यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः ।
तत्संस्थानां तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः ।

गर्भाशय में ही गर्भ का पोषण होता है, यहीं गर्भ अपनी पूर्ण वृद्धि तक पहुंचता है तथा प्रसव के समय बाहर निकलता है । गर्भाशय के तीन भाग हैं—

ऊपर का भाग मुण्ड १ (Lundus), मध्य का भाग गात्र (Body) तथा इससे नीचे का भाग ग्रीवा (Cervix) है ।

गर्भाशय की श्लैष्मिक कला (Endometrium) में नलिकाकार ग्रन्थियां (Tubular glands) होती हैं जिनसे क्षारीय स्राव निकलता रहता है । गर्भाशय के दोनों ओर दो विस्तृत स्नायु (Broad ligaments) होते हैं तथा पीछे की तरफ दो बन्धन होते हैं उन्हें गर्भत्रिक स्नायु (Uterosa oialligaments) कहते हैं, वे पीछे की तरफ त्रिकास्थि के उभरे हुये भाग (Promontry) पर लगे हुये हैं । गोलबन्धन (Roundligaments) ये भी संख्या में दो होते हैं । ये इतने ढीले होते हैं कि यह कहना कि गर्भाशय को उसके स्थान से भ्रंश होने से बचाते हैं अधिक उचित नहीं प्रतीत होता । हां गर्भाशय-भ्रंश को ठीक करने में अवश्य सहायक होते हैं । साधारण स्थिति में गर्भाशय कुछ मूत्राशय की तरफ को झुका रहता है तथा जिस स्थान पर गात्र ग्रीवा से मिलता है वहां पर गर्भाशय अपने ही ऊपर कुछ मुडा होता है इस प्रकार गर्भाशय (Slightly anteverted and antifiexed) रहता है ।

उदर की परिविस्तृत कला (Feritoneum) मूत्राशय के ऊपर से होकर गर्भाशय की पूर्व भित्ती पर पहुँचती है। इस प्रकार मूत्राशय की पश्चिम भित्ति (Posterior wall) तथा गर्भाशय की पूर्व भित्ति (anterior wall) के बीच एक खात बनता है इसका नाम (Uterovasical ponoh) है। इसके बाद परिविस्तृत कला गर्भाशय के पश्चात् भित्ति से होकर फिर मलाशय पर चली जाती है और मलाशय से आगे आन्त्रनिबन्धन-कला (mesentry) से मिल जाती है। इस प्रकार मलाशय तथा मूत्राशय के बीच एक खात उत्पन्न होता है उसे (Recto1 uterin ponoh or Ponoh of Dougla॰ कहते हैं।

गर्भाशय की आकृति तथा तौल, तथा इसके बन्धन, उदर का दाब (intra abdominal pressure) तथा वस्ति गुहा की नीचे की भित्ति (Pevioflore) ये सब मिलकर गर्भाशय को अपनी स्थिति में रखते हैं। इनके विकार से गर्भाशय की स्थान से विच्युति (displaceme-nt) होती है।

३ डिम्ब प्रणाली (Fallopian tube)—

ये गर्भाशय के पार्श्विक कोणों से प्रारम्भ होती हैं। दोनों तरफ दो डिम्बप्रणालियां होती हैं तथा विस्तृत स्नायु (Broad ligaments) के ऊपरी भाग से आच्छादित रहती हैं। इनकी लम्बाई ४ इञ्च है। इस नलिका के चार भाग किये जाते हैं।

१ **प्रथम**—गर्भाशय के अन्दर रहने वाला भाग (Interstetial)

२ **दूसरा**—इसके आगे का सकीर्ण भाग (Esthmus)

३ **तीसरा**—इसके आगे का अपेक्षा कृत विस्तृत भाग (infundibulum)

४ **चौथा**—इस नलिका के झालरदार सिरे का भाग (Fimbriated end) कहा जाता है।

दोनों नलिकायें (Infundibulopelviolfgaments) के द्वारा वस्तिगुहा के पार्श्विक भाग से सम्बन्धित हैं।

४ डिम्बग्रन्थि (Overy)—

ये बदाम के आकार की दो ग्रन्थि हैं जो कि विस्तृत स्नायु के पश्चिम भित्ति पर लगी हुई हैं। ये १½ डेढ इञ्च लम्बी तथा ¾ पौन इञ्च चौडी तथा ½ आधी इञ्च मोटी होती हैं। प्रत्येक डिम्बग्रन्थि में अनेक डिम्बकोष (Craffian follicle) होते हैं तथा इन डिम्बकोषों में एक एक डिम्ब (Ovum) होता है। जिस समय डिम्ब परिपक्व (Ripe) होता है उस समय डिम्बकोष (Grafianfolli-ole) फट जाता है और (Ovum) डिम्बप्रणाली (Fallopian tube) में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार डिम्बप्रणाली ही में शुक्र से उसका सम्पर्क होता है तथा वहा भ्रूण की वृद्धि ६ दिन तक होती है। इसके उपरान्त भ्रूण गर्भाशय में प्रवेश करता है तथा नवम मास पर्यन्त वहीं बढ़ता रहता है। डिम्बकोष के फटने पर रिक्त डिम्बकोष में रक्त एकत्र होता है जो कुछ समय में एक पीतवर्ण के पिण्ड में परिवर्तित हो जाता है। इसे (Corpus luteum कहते हैं। गर्भाधान हो जाने पर इसमें कुछ और परिवर्तन होते हैं तथा यह बढता है। किन्तु गर्भाधान न हुआ तो यह मुरझा कर श्वेत वर्ण का हो जाता है।

डिम्ब—(Ovum)—यह एक गोल तन्तु (Cell) है इसका व्यास $\frac{1}{120}$ इञ्च है।

नारियों के स्तन का विवरण—

स्तन—इनका जननेन्द्रियों में परिगणन नहीं है किन्तु जननेन्द्रियों से इसका सम्बन्ध अवश्य है। स्तन के स्पर्श से वहां की नाड़ी में किसी प्रकार उत्तेजना से गर्भाशय में सकोच प्रारम्भ हो जाता है तथा स्त्री एक विशेष आनन्द का अनुभव करती है। उत्तेजना की अवस्था में स्तन दृढ़ तथा चूचुक कड़े हो जाते हैं।

ये स्तन वक्ष में ऊपर की ओर द्वितीय पर्शुका से लेकर नीचे छठीं पर्शुका तक होते हैं। तथा सामने से पीछे की ओर वक्षिका (Slesunm) के किनारे से लेकर मध्यकक्षीयरेखा (Midaxi-llary line) तक होते हैं। ये अर्द्धवृत्ताकार होते हैं, इनके ऊपरी भाग में एक वर्तुल उभार होता है

जिसे चूचुक (Nipple) कहते हैं। इसमें १२ से २० छिद्र होते हैं जिनसे कि दुग्ध-स्रोतों द्वारा दुग्ध निकलता है। चूचुक के चारों ओर एक गहरे रङ्ग का मण्डल होता है इसे **स्तनमण्डल** (Areola) कहते हैं। स्तन के भीतर अनेक दुग्धग्रन्थियां (Lactals) होती हैं तथा वसा भी उपस्थित रहती है। ये दुग्धवाहिनियां रथ के चक्र की भांति (Jnpiradiating manner) स्तन में स्थित हैं।

पुरुष-जननेन्द्रियों का संक्षिप्त विवरण—

इसमें १—**अण्ड** (scrotum)। २—**उपाण्ड**। ३—**अण्डरज्ज** (Spermatie cord)। ४—**शुक्राशय**। ५—**शिश्न** ये अङ्ग आते हैं।

१ अण्ड—

ये संख्या में दो होते हैं। यहां का चर्म एक प्रकार के थैले की भांति रचना बनाता है। इस प्रकार—दो थैलों में दो अण्ड रहते हैं, इनकी उत्पत्ति उदरगुहा में होती है। भ्रूण के आठवें मास के अन्त में ये उदरगुहा से निकल कर अपने निवासस्थानभूत थैले में पहुँच जाते हैं। उदरगुहा से ये अण्डकोष **अण्डरज्जु** (Spermatic cord) द्वारा लटकते रहते हैं। इनके ऊपर एक आवरण होता है उसे **अण्डवेष्ट** (Tunica vaginalis) कहते हैं। इसके स्तरों के बीच में कुछ द्रव रहता है जब इस द्रव की मात्रा अधिक बढ़ जाती है तो उसे **अण्डतरलातिवृद्धि** (Hydrooyl) कहते हैं। इन अण्डों के तन्तुओं (सेलों) द्वारा शुक्र (Semen) का निर्माण होता है।

२ उपाण्ड—

ये अण्ड के ऊपर चिपके हुये रहते हैं इनके निचले भाग से अण्डरज्जु प्रारम्भ होते हैं।

३ अण्डरज्जु—

ये रस्सी की भांति होते हैं। उनमें एक अत्यन्त सूक्ष्म आलपीन के नोक के समान एक सूक्ष्म छिद्र होता है इसी के द्वारा शुक्र शुक्राशय को जाता है। ये उपाण्ड से प्रारम्भ होकर उदर में (Through the external abdominal ring. ingoinal canal and intarnal abdominal ring) प्रवेश करते हैं, वहां से जाकर वे नीचे की तरफ घूम कर मलाशय तथा मूत्राशय के बीच में स्थित शुक्राशय में खुलते हैं।

४ शुक्राशय—

ये अत्यन्त घूमे हुये होते हैं। मलाशय तथा मूत्राशय के बीच में इनकी स्थिति होने के कारण मलाशय तथा मूत्राशय के भरे रहने पर इन पर दाब पड़ता है। इस प्रकार मूत्र तथा मल से तथोक्त आशयों के भरे होने पर स्वप्न में शुक्रमेह की सम्भावना अधिक होती है। जैसा कि नाम से ही प्रकट है। अण्डों द्वारा बना हुआ शुक्र इन्हीं में आता है। ये आगे चलकर पतली नलिका (इजीकुलेटरी डक्ट) में समाप्त होते हैं जो कि (नलिका) मूत्रमार्ग में जाकर खुलती है।

५ अष्ठीलाग्रन्थि (प्रोस्टेट)—

यह युवावस्था में मूत्रनलिका के प्रारम्भिक १ से १। इञ्च भाग को चारो तरफ से आवृत किये रहती है। मैथुन के समय इसका स्राव भी शुक्र में मिल जाता है।

६ शिश्न—

यह मांसपेशियों के ३ दण्डिकाओं से निर्मित है, दो दण्डिकायें पार्श्व तथा कुछ ऊपर की ओर तथा एक दण्डिका नीचे की तरफ होती है, ऊपर के दण्डिकाओं में केशिकाओं की अत्यन्त अधिकता है तथा इनमें कोई छिद्र नहीं होता है। नीचे का दण्ड पोला होता है। इसमें एक नलिका होती है जिसके द्वारा शुक्र तथा मूत्र निकलते हैं। ऊपर की दोनों दण्डिकायें शिश्नमुण्ड के पास पहुंचने के पूर्व ही समाप्त हो जाती हैं, केवल नीचे की दण्डिका आगे चल कर छत्र की भांति विस्तृत हो जाती है इसे ही **शिश्नमुण्ड** कहते हैं। इसमें एक छिद्र होता है। जिसके द्वारा शुक्र तथा मूत्र बाहर निकलते हैं। ये तीनों शिश्न दण्डिकायें परस्पर संयुक्त रहती हैं। इनके ऊपर त्वचों का आवरण रहता है। शिश्न अचैतन्यावस्था में ३ से ४ इञ्च लम्बा होता है और

मृदु होता है। किन्तु चैतन्यावस्था में उपरोक्त शिश्न-दण्डिका ही फूल कर मोटी हो जाती है और शिश्न अपेक्षाकृत अधिक लम्बा (६ से ९ इञ्च तक) तथा कठिन हो जाता है। इसका कारण यह है कि पूर्व कही हुई दोनों शिश्न-दण्टिकाओं की रचना ऐसी है कि उसमें बहुत से कोष्ठक हैं और इन कोष्ठकों में सूक्ष्म केशिकाओं का जाल सा बिछा हुआ है। जब किसी प्रकार उत्तेजना होती है तो ये केशिकायें रक्तसे परिपूर्ण हो जाती हैं। अतः यही रक्त-परिपूर्णता शिश्न के काठिन्य में कारण है; कार्य-निवृत्ति के अनन्तर तथोक्त केशिकाओं से रक्त लौटकर पुनः स्वस्थान में (समीपस्थ रक्तवाहिनी धमनियों तथा सिराओं में) पहुंच जाता है अतः शिश्न पुनः शिथिल हो जाता है। जननेन्द्रिय का विषय अत्यन्त विस्तृत है। उसका संक्षेपातिसक्षेप में यहा वर्णन किया गया है। पाठक अधिक विवरण के लिये जननेन्द्रिय-सम्बन्धी पाश्चात्य विद्वानों द्वारा रचित ग्रन्थों का अध्ययन करें।

आर्त्तव-गर्भाधान तथा वन्ध्यात्वका संक्षिप्त विवरण—

Menstruation is the pe1iabicflow of blood and mucusgrom the Uterus commences at puberty (Ten Teachers.)

योनि से प्रतिमास रक्तयुक्त श्लेष्मा का स्राव होता है, इसी का नाम आर्त्तव है। यह भारत में प्रायः १२ से १४ वर्ष की आयु में प्रारम्भ होता है तथा ४०-५० वर्ष की आयु में समाप्त होता है। इस अवस्था को रजोनिवृत्ति वा (Menopause) कहते हैं। यह रक्तस्राव गर्भाशय से आता है। जिस समय सर्वप्रथम आर्त्तव होता है उसे रजोदर्शन कहते हैं। आर्त्तव प्रारम्भ होने के दिन से १६ दिन पर्यन्त ऋतुकाल कहा जाता है। आर्त्तव का होना यह सूचित करता है कि कन्या अब युवती हो गई तथा गर्भाधान के सर्वथा योग्य हो गई है। इसके प्रारम्भ होने का समय १३ से १९ वर्ष तक हो सकता है।

आर्त्तव पर निम्न बातों का प्रभाव पड़ता है—

जलवायु:—शीत प्रधान देशों की अपेक्षा उष्ण प्रधान देशों में रजोदर्शन शीघ्र होता है।

जाति—भिन्न-भिन्न जातियों के रजोदर्शन के समय में कुछ भिन्नता होती है।

सामाजिक आहार-विहार—पौष्टिक तथा उत्तेजना उत्पन्न करने वाले आहार, परिश्रम न करना, उपन्यास आदि अधिक पढना तथा विलासिता पूर्ण जीवन ये सब कारण आर्त्तव को शीघ्र पैदा करते हैं। आर्त्तव प्रारम्भ होने के समय स्त्री में शारीरिक तथा मानसिक परिवर्तन होते हैं। स्तनों की वृद्धि होती है। स्त्री इस समय अपूर्व लावण्य से सुशोभित हो जाती है, उसका वर्ण पहले की अपेक्षा अधिक निखर आता है तथा उसे जननेन्द्रिय सम्बन्धी उत्तेजनाओं का अनुभव होने लगता है। आर्त्तव के लिये दो शब्दों का प्रयोग होता है।

आर्त्तवकालान्तर—(Meustrula type) दो आर्त्तवों के अन्तर का समय आर्त्तव काल कहा जाता है। साधारणतः यह २८ दिन का होता है। किसी किसी स्त्रियों में यह २१ से ३० दिन के अन्तर पर भी होता है किन्तु यदि नियत समय पर आर्त्तवस्राव होता रहे तो उसे साधारण समझना चाहिये किन्तु यदि आर्त्तव होने के समय में अनियमितता (Irragularity) हो तो वह किसी विकृति का निदर्शक है।

आर्त्तवस्रावकाल (Meustrula habit)—यह प्रायः ४ से ५ दिन तक होता रहता है। कभी कभी यह कुछ घण्टे से ८-१० दिन तक भी जारी रहता है। आर्त्तव के विषय में सुश्रुत ने लिखा है—

तथा च—

तद्वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं वर्त्तमानमसृक् पुनः। जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम्॥

पूर्व में कहा जा चुका है कि आर्त्तव के प्रथम दिन से १६ दिन पर्यन्त ऋतुकाल होता है यही ऋतुकाल गर्भाधान के योग्य कहा जाता है।

जैसा कि सुश्रुत लिखते हैं—

'आर्त्तवस्रावदिवसादृतुः षोडश रात्रयः। गर्भग्रहणयोग्यस्तु स एव समयः स्मृतः॥

किन्तु कभी कभी आर्त्तवस्राव के विना भी ऋतुकाल होता है जैसे कि दुग्धकाल में, किन्तु गर्भाधान उस समय भी हो सकता है।

विना आर्त्तव के ऋतुकाल का ज्ञान करने के लिये निम्न लक्षण दिये जा रहे हैं—

'पीनप्रसन्नवदनां प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम्। नरकामां प्रियकथां स्रस्तकुक्षयक्षिमूर्द्धजाम्॥
स्फुरद्भुजकुचश्रोणिनाभ्यूरुजघनस्फिचम्। हर्षौत्सुक्यपराञ्चापि विद्यादृतुमतीमपि॥

इस प्रकार आर्त्तवचक्र प्रवर्तित होता रहता है। इस चक्र की ४ अवस्थायें होती हैं।

प्रथम अवस्था (Premenstrual congestion)—

यह आर्त्तव निकलने के ४ या ५ दिन पूर्व प्रारम्भ होती है, गर्भाशय की कला में रक्ताधिक्य होता है अतः वह पहले से मोटी और मुलायम हो जाती है।

***द्वितीय अवस्था**—यह ४-५ दिन तक रहती है। इस अवस्था में केशिकाओं में और भी अधिक* रक्त आता है तथा केशिकाओं से निकल कर गर्भाशय की श्लैष्मिक कला के नीचे इकट्ठा होता है। इसके उपरान्त श्लैष्मिक कला फटती है तथा उसके नीचे जो रक्त इकट्ठा हो रहा था वह अब गर्भाशय में जाता है तथा योनि से बाहर निकलने लगता है। इस रक्त में साधारण रक्त से कुछ भिन्नता होती है। इसमें श्लेष्मा मिला रहता है तथा खटिक लवणों की साधारण रक्त की अपेक्षा अधिकता होती है। किन्तु रक्त को जमाने वाले विशेष द्रव्य फाइब्रिन (Fibrin) के अभाव के कारण रक्त जमता नहीं। साधारण रक्त ज्योंही बाह्य धातु के सम्पर्क में आता है त्योंही जम जाता है। उसके जमाने में फाइब्रिन का मुख्य भाग रहता है। आर्त्तव के रक्त में एक विशेष प्रकार का गन्ध होता है तथा इसकी प्रतिक्रिया क्षारीय होती है।

तृतीय अवस्था (Postmenstrual evolution)—यह भी सात दिन तक रहती है। इसमें गर्भाशय की केशिकायें, श्लैष्मिककला आदि अपने पूर्व अवस्था को प्राप्त होती हैं।

चतुर्थ अवस्था (Interval)—यह आर्त्तव की तृतीया अवस्था है इसको गर्भाशय के विश्राम की अवस्था कह सकते हैं।

जिन चार अवस्थाओं का वर्णन ऊपर किया गया है, वे परिवर्त्तन गर्भाशय (Uterus) के गात्र (Body) में होते हैं। इसके अतिरिक्त गर्भाशय, ग्रीवा (Cervix) तथा डिम्ब-प्रणाली (Fallopian tube) में रक्ताधिक्य होता है। गर्भाशय, ग्रीवा, योनि (Vagina) तथा भग (Vulba) से एक प्रकार का रस निकलता है, इसे (Menstrual molimina) कहते हैं। आर्त्तव जब प्रारम्भ होने को होता है उस समय स्त्री आलस्य, अरुचि एवं कटि तथा उदर के निचले भाग (पेडू) में पीडा, भारीपन तथा स्वभाव में कुछ चिड़चिड़ापन इनका अनुभव करती है।

आर्त्तव और डिम्ब का परिपक्व होना—

आर्त्तव होने के ५-१४ दिन के अनन्तर डिम्ब (Ovum) डिम्बग्रन्थि (Overy) से निकलता है, वहां से डिम्बप्रणाली से होता हुआ गर्भाशय की ओर चल पड़ता है। शुक्रकीट इस डिम्ब का डिम्बप्रणाली में ही पहुँच कर गर्भित (Fertilize) करता है। अतः गर्भाधान के ख्याल से आर्त्तव के बाद के १०-१५ दिन उपयुक्त हैं। इतने समय में यदि डिम्ब से शुक्रकीट (spermatozoon) का संसर्ग नहीं होता तो डिम्ब मृत हो जाता है।

डिम्बग्रन्थि Overy **तथा डिम्ब का परिपक्व होना** (*Ovulation*)—

गर्भाशय के दोनों ओर दो ग्रन्थियां बादाम के आकार की होती हैं। इसके भीतर अनेक डिम्ब होते हैं। इस ग्रन्थि का नाम Overy है। युवावस्था प्रारम्भ होने पर ये डिम्ब बढ़ते हैं, इनके पूर्ण वृद्धि प्राप्त करने पर डिम्बप्रणाली का इनके निकट का प्रदेश फट जाता है और वहां से डिम्ब बाहर निकलता है। डिम्ब के पक कर बाहर निकलने की इस क्रिया को Ovulation कहते हैं। आर्त्तव के समय गर्भाशय की कला (Endometriam) में रक्ताधिक्य होता है तथा वह मुलायम हो जाती है जिससे कि भ्रूण वहां पर चिपक सके। आर्त्तव के रक्त में खटिक की अधिकता होती है यह पहले कहा जा चुका है। स्त्री के रक्त में इस खटिक (Calciam) की भ्रूण की

वृद्धि के लिये आवश्यकता होती है। गर्भाधान न होने पर रक्त का बढा हुआ खटिक द्रव्य आर्त्तव द्वारा निकल जाता है। इसके साथ ही साथ गर्भाशय कला भी फट जाती है तथा उसके टुकडे रक्त के साथ निकलते हैं।

'Graen Armytaga' ने लिखा है।

'Menstruation is unfertile Abortion of the unpregnant desoidar it is the Uterus weeping for the death of the an unfertilized ovum'.

जव गर्भाधान हो जाता है तव खटिक का उपयोग भ्रूण के शरीर वनने में होता है अतः गर्भावस्था में आर्त्तव वन्द होता है।

पूर्व में कहा जा चुका है कि–आर्त्तव साधारणतः १२ वर्ष से प्रारम्भ होता है और ४० से ५० वर्ष की आयु में वन्द हो जाता है। आर्त्तव जिस समय वन्क होने को होता है (रजोनिवृत्ति के समय) कभी कभी पाचनसंस्थान, रक्तवाहक सस्थान तथा नाडीसंस्थान के कुछ विकार प्रकट होते हैं। पाचनशक्ति में विकृति हो जाती है तथा स्वभाव कुछ चिडचिड़ा हो जाता है। और कभी कभी शरीर पर उष्णता की लहरों का प्रवाह सा मालूम होता है। आर्त्तव कभी कभी थोड़ा थोड़ा होता रहता है और शनैः शनैः वन्द हो जाता है। कभी २ आर्त्तव एकाएक वन्द होता है। स्त्री इस अवस्था में कुछ स्थूल हो जाती है। उदर में मेद वढ़ जाता है। किसी किसी स्त्री के चेहरे पर झुर्रिया, पुरुषों की तरह रोम उग आते हैं। यह देखा गया है कि यह अवस्था (Menapause) बाल्यावस्था में विवाह हो गया हो तो और भी शीघ्र प्रकट होती है। यदि गर्भाशय या डिम्वग्रन्थि (Overy) को शस्त्र–कर्म द्वारा निकाल दिया जाय तो आर्त्तव के समय में ही (४० वर्ष के पूर्व ही जिस समय overy या Uterus को निकाला गया है) रजोनिवृत्ति (Menapause) हो जायगी इसे कृत्रिमरजोनिवृत्ति या Artificialmenapause कहते हैं।

वास्तव में आर्त्तव प्रारम्भ होने के समय से आर्त्तव वन्द होने के वीच का ही समय सन्तानोत्पत्ति के लिये अच्छा है। प्रायः रजोदर्शन के पूर्व तथा रजोनिवृत्ति (Menapause) के पश्चात् गर्भाधान नहीं होता। आर्त्तव काल में स्राव की मात्रा २ से ८ औंस तक हो सकती है इससे कम या अधिक स्राव का निकलना किसी विकृति की ओर ध्यान आकर्षित कराता है।

आर्त्तव का रक्त गर्भाशय में जमा हुआ थक्के के रूप में होता है। वह थक्का शनैः शनैः घुल कर द्रवरूप में परिणत होता है इसी को आर्त्तव कहते हैं। यह द्रव होने की क्रिया गर्भाशय में स्थित ग्रन्थियों (Uterinegland) के उद्रेचन (Secretion) द्वारा निकले हुए फाइब्रिनोलाइसिन (Fibrinolysin) के कारण होती है। इस फाइब्रिनोलाइसिन का कार्य है कि गर्भाशय के अन्दर जमे हुये रक्त को द्रवरूप में परिणत करे। यथा टेनटीचर (Tenteacher) स्वरचित मिडवाइफरी (Midwifery) में लिखते हैं:—

Whithouse attributes the clotting to throwbokinase derived from the endometrial tissues thrown of during menstruation.

White house Contends tnat menstruating Uterus Normally always contains a clot and this clot gradually eid producing the Fluid which is known as menstruall blood.

'While the solution of the clot. he believes is brought about by fibrinolysin Containd in the secretion of the Utarine glands.'

Midwifery by Tenteachers:

आर्त्तव के विकार—

आर्त्तव की अधिक प्रवृत्ति वा आर्त्तवकालानन्तर में भी प्रवृत्ति को रक्तप्रदर या असृग्दर (Excessive and iragular menstruation) कहते हैं। जैसा कि सुश्रुत ने लिखा है:—

'तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि । असृग्दरं विजानीयादतोऽन्यद्रक्तलक्षणात्' ॥

आधुनिक शास्त्रज्ञ इस रक्तस्राव के लिये दो पृथक् पृथक् संज्ञाओं का व्यवहार करते हैं। यदि आर्त्तवकाल में ही अधिक आर्त्तवस्राव हो तो उसे मेनोरेजिया (Menerrhagia) कहते हैं। तथा यदि आर्त्तवकालानन्तर में भी आर्त्तव दिखाई पड़े तो उसे मेट्रोरेजिया (Metrorrhagia) कहते हैं। सुश्रुत ने आर्त्तव के विकार का वर्णन करते हुए शरीर के दूसरे अध्याय में आर्त्तवनाश का भी वर्णन किया है। आधुनिक परिभाषा के अनुसार उसे एमनोरिया (Amenorhoea) कहेंगे। सुश्रुत ने आर्त्तव-विकार तथा शुक्र के विकार को बन्ध्यात्व का कारण माना है। ऋतुकाल में तथा जिस समय गर्भाशय शुद्ध हो उस अवस्था में यदि स्त्री-पुरुष मैथुन में प्रवृत्त हों तो निश्चित गर्भाधान होता है। सुश्रुत शारीर में लिखते हैं:—

'ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद् गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः। ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथा ॥'

जिस प्रकार उचित ऋतु (अंकुर निकलने के लिये उपयुक्त समय), क्षेत्र (भूमि), जल तथा बीज इन चारों के संसर्ग से अंकुर उत्पन्न होता है उसी प्रकार ऋतु (ऋतुकाल), क्षेत्र (गर्भाशय), अम्बु (आहार रस) तथा बीज (शुक्र) इनके संयोग होने पर निश्चित गर्भाधान होता है। यदि आर्त्तव शब्द से—आजकल के डिम्ब (Ovum) का ग्रहण कर लिया जाय जैसा कि उचित भी प्रतीत होता है तो आधुनिक शास्त्रज्ञों के मत में भी भिन्नता नहीं पडती। उनके मत में भी आर्त्तव के बाद के १० दिनों में ही गर्भाधान की अधिक सम्भावना होती है। नारी-जननेन्द्रियों के वर्णन के समय, डिम्बग्रन्थि तथा व्यूब का वर्णन किया जा चुका है। डिम्बग्रन्थि से पका हुआ डिम्ब (Mature Ovum) बाहर निकल कर डिम्बप्रणाली में प्रवेश करता है उसी दशा में शुक्रकीट (sperm) वहां पहुँच कर डिम्ब से संयुक्त होता है, इस प्रकार गर्भाधान फेलोपियन ट्यूब में होता है, वहां से वह शनैः शनैः गर्भाशय की तरफ प्रस्थान करता है तथा प्रायः छठे दिन के पश्चात् वह गर्भाशय में प्रविष्ट होता है। तथा तब तक गर्भाशय भी अपने आने वाले मेहमान की अभ्यर्थना के लिये सुसज्जित रहता है। गर्भाशय की कला (Endometriem) पहले की अपेक्षा अधिक मोटी हो जाती है और उसका रक्तसंचार भी बहुत बढ़ जाता है। जिस समय डिम्बग भित (Fertilized) हो जाता है उसकी वृद्धि प्रारम्भ हो जाती है तथा वह शनैः शनैः गर्भाशय की तरफ प्रस्थान भी करता रहता है यह ऊपर कहा जा चुका है। गर्भाशय में प्रविष्ट होने पर यह सुकोमल गर्भाशय कला के सम्पर्क में आता है, उससे चिपक जाता है। भ्रूण (Chrioniovilu) के शरीर से बाहर की तरफ कुछ अंकुर निकले रहते हैं (Chorionic vilin) वे जिस धातु के सम्पर्क में आते हैं उसे खाते जाते हैं। इस प्रकार वे गर्भकला को खाकर उसमें एक खात की तरह रचना उपस्थित कर देते हैं। गर्भाशय की श्लैष्मिक कला इस समय तक डिम्ब को पूर्णतया आच्छादित कर लेती है। अब भ्रूण गर्भकला के अन्दर ही अन्दर बढता है। भ्रूण के अंकुरों (Chorionic vilin) में दो तरह के अंकुर होते हैं—एक तो वे जिनके सहारे वह (भ्रूण) गर्भाशय में लटकता रहता है, दूसरे वे जो कि समीपवर्ती धातु से रक्त को ग्रहण करते हैं। बाद में इन्हीं अंकुरों में रक्तवाहिनिया बनती हैं। यह आधुनिक शास्त्रज्ञों का मत है। अब हम यदि सुश्रुत के पूर्वोक्त श्लोक पर विचार करें तो दोनों की एकवाक्यता सुस्पष्ट हो जाती है। यदि डिम्ब पक कर जब शक्ति-सम्पन्न (जो गर्भाधान योग्य हो) शुक्र से सयुक्त होता है तभी गर्भ धारण हो सकता है। तथा यदि शुक्र तथा डिम्ब का उचित सम्पर्क भी हुआ तो भी यदि क्षेत्र अर्थात् गर्भाशय में कोई विकृति (यथा Metritis वा Endometritis प्रभृति गर्भाशय की शोथयुक्त अवस्था) है तो गर्भाधान नहीं होगा। तथा यदि क्षेत्र निर्मल है किन्तु वहा पर रस अर्थात् पर्याप्त पोषक रक्त की अनुपस्थिति हो तो भी गर्भधारण होना कभी सम्भव नहीं। अतः १ शक्ति-सम्पन्न शुक्र, २ पूर्णता पर पहुँचे हुये डिम्ब, ३ स्वस्थ गर्भाशय तथा ४ वहा पर उचित रक्तसञ्चार इन चारों वस्तुओं के सम्यग्योग से गर्भाधान होता है। इसी को ध्यान रखते हुये परम वैज्ञानिक सुश्रुत ने 'ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद्० इत्यादि लिखा है—

प्राचीन ऋषियों के मत में उपर्युक्त चारो वस्तुओं के संयोग होने पर भी आत्माका संयोग होना अपेक्षित है, विना आत्मा के गर्भोत्पत्ति नहीं होती। पूर्वजन्म के कर्मफल के अनुसार मन के सहित आत्मा दूसरे शरीर को ग्रहण करता है। महर्षि चरक ने भी लिखा है—

'शुक्रासृगात्माशयकालसम्पद्यस्योपचाराश्च हितैस्तथार्थैः।
गर्भश्च काले च सुखी सुखं च सञ्जायते संपरिपूर्णदेहः ॥' (चरक शारीर)

शुक्र, आर्त्तव, आत्मा, काल (ऋतु) तथा हितकर आहार-विहार इनके सम्यग् योग से गर्भ समय में (नवम वा दशम वा एकादश मास में) सुखपूर्वक तथा सम्पूर्ण अवयवों से युक्त उत्पन्न होता है। कुछ स्वस्थ स्त्रियों को भी गर्भ देर से होता है। उसका कारण है-माता का अहितकर (विरुद्ध) आहार-विहार। चरक में लिखा है:—

योनिप्रदोषान्मनसोऽभितापाच्छुक्रासृगाहारविहारदोषात्।
अकालयोगाद् बलसंक्षयाच्च गर्भं चिराद्विन्दति सप्रजाऽपि ॥

अर्थात्—यदि योनि में किसी प्रकार का दोष उपस्थित हो तथा सहवास के समय मन एकाग्र न हो एवं शुक्र, आर्त्तव अथवा माता के आहार-विहार के दोष से, अकाल में (ऋतुकाल से भिन्न समय में) तथा दौर्बल्य की स्थिति में मैथुन करने से प्रकृतिस्थ (वन्ध्यात्वरहित) स्त्रियों में भी सन्तानोत्पत्ति देर से होती है।

ऋतुकाल वह समय होता है जिस समय डिम्बग्रन्थि से डिम्ब पक कर निकलता है। यदि उचित समय पर उससे शुक्रकीट का सम्पर्क न हो तो वह मर जाता है। अतः आर्त्तव के बाद के १० दिन मैथुन के लिये अधिक उपयुक्त हैं। सुश्रुत लिखते हैं—

'नियतं दिवसेऽतीते सङ्कुचत्यम्बुजं यथा। ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा ॥'

यमल गर्भ (Twin pregnancy)—

गर्भाशय के बीज का वायु के द्वारा जब दो भागों में विभाजन हो जाता है तब उस समय दो गर्भ उत्पन्न होते हैं, ऐसी प्राचीन आचार्यों की सम्मति है। जैसा कि सुश्रुत अपने शारीर-स्थान में लिखते हैं—

'बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ।
यमावित्यभिधीयेते धर्मेतरपुरःसरौ' ॥ (सुश्रुत शारीर)

यमल गर्भ के कारण के विषय में महर्षि चरक भी बीज (आर्त्तव तथा शुक्र) की दो भागों में विभक्ति होने से यमल गर्भ की उत्पत्ति मानते हैं। तथा वायु जिस समय शुक्रार्त्तव को कई भागों में विभाजित कर देती है उस समय, कई सन्तति (Multiple pregnancy) उत्पन्न होती हैं। आधुनिक शास्त्रज्ञ वायु के द्वारा शुक्रार्त्तव के विभजन को यमल वा अनेक गर्भ का कारण नहीं मानते। उनका यह कथन है कि एकबार गर्भाधान के कुछ काल बाद ही यदि दूसरा मैथुन किया जाय तो कभी कभी गर्भ धारण हो जाता है। ऐसा देखा गया है कि एक आंग्लदेशीया महिला को दो सन्तति एक साथ उत्पन्न हुई जिसमें एक का वर्ण गौर तथा दूसरी का वर्ण श्याम था। अन्वेषण से पता चला कि जिस समय तथोक्त महिला के पति ने सहवास किया था उसके कुछ समय बाद उसके एक हवशी भृत्य ने भी मैथुन किया था, इस प्रकार एक सन्तान गौर वर्ण की तथा दूसरी श्याम वर्ण की उत्पन्न हुई। अब विचारणा यह है कि क्या एक ही डिम्ब को दो शुक्रकीट पहुंच कर यमल गर्भ उत्पन्न करते हैं या कोई अन्य कारण यमल गर्भ की उत्पत्ति में सहायक होता है। वास्तव में साधारण नियम के अनुसार जिस समय आर्त्तव प्रारम्भ होता है उसके १४ वें दिन डिम्बग्रन्थि से परिपक्व डिम्ब निकलता है। प्रायः एक मास में एक ही डिम्ब निकलता है। जैसे-यदि एक मास में बाईं ओर की डिम्ब ग्रन्थि Overy से डिम्ब आया तो दूसरे मास में दाहिनी ओर की डिम्बग्रन्थि से डिम्ब आयेगा। पर कभी कभी इस नियम के अपवाद स्वरूप दोनों ओर की डिम्ब ग्रन्थियों से एक ही मास में दो डिम्ब पकते हैं तथा वे ही भिन्न भिन्न शुक्रकीटों (Sparms) द्वारा संयुक्त होकर

यमल गर्भ उत्पन्न करते हैं तथा कभी कभी ऐसा देखा गया है कि एक बार गर्भाधान होने के बाद भी दूसरे महीने में दूसरी ओर की डिम्बग्रन्थि से एक डिम्ब आ जाता है उस समय भी यदि प्रसङ्ग किया गया तो पुनः गर्भाधान होकर यमल गर्भ उत्पन्न होता है। एक ही आर्त्तवकाल में यदि दो डिम्ब पृथक् पृथक् शुक्र कीट से मिलकर यमल गर्भ उत्पन्न करें तो उसे Superfoecundation कहते हैं और यदि दो आर्त्तव कालों (Menstrual type) में अलग अलग सम्भोग से यमल गर्भ उत्पन्न हो तो उसे Superfoetation कहते हैं।

यमलगर्भ में लैङ्गिक विभेदः—

आयुर्वेदज्ञ यह मानते हैं कि—गर्भाधान के समय यदि आर्त्तव की अधिकता हो तो कन्या तथा शुक्र की अधिकता हो तो पुत्र की उत्पत्ति होती है। शुक्रार्त्तव के वायु द्वारा विभाजित होने पर जिस ओर के विभाग में शुक्र की अधिकता हो उस ओर से पुत्र और जिस ओर आर्त्तव की अधिकता हो उस ओर से कन्या उत्पन्न होगी, यदि दोनों ही ओर शुक्र की अधिकता होगी तो दोनों ही पुत्र होंगे और यदि दोनों ओर के ही विभाग में आर्त्तव-बाहुल्य रहा हो तो दो कन्यायें उत्पन्न होंगी।

जैसा कि चरक में भगवान् पतञ्जलि ने लिखा है—

'रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं शुक्रेण तेन द्विविधीकृतेन।
बीजेन कन्याञ्च सुतं च सूते यथास्वबीजान्यतराधिकेन॥'

शिशु की विकृति के कारणः—

माता के आहार-विहार के व्यतिक्रम से दोष प्रकुपित होते हैं और ये प्रकुपित दोष भ्रूण की विकृति के कारण होते हैं। तथा कुछ लोग पूर्वजन्म के कर्मफल को भी विकृति का कारण मानते हैं। आजकल के वैज्ञानिक विभजन से ही सन्तान की वृद्धि मानते हैं। इसी विभजन द्वारा जब एक भाग अधिक बढ़ जाता है वा अविकसित रह जाता है उस समय तत्तत्स्थलों में विकृति उत्पन्न होती है।

बन्ध्यत्व—

यदि पुरुषों के शुक्र में उत्पादन की शक्ति न हो तो उस पुरुष को 'वन्ध्य' कहते हैं तथा यदि स्त्री का आर्त्तव उत्पादन शक्ति से विहीन हो तो उस स्त्री को 'वन्ध्या' कहते हैं। वन्ध्य पुरुष वा बन्ध्या स्त्री के संयोग से चाहे वह ऋतुकाल में ही किया गया हो संतान उत्पन्न होना असम्भव है। जब तक कि चिकित्सा द्वारा बन्ध्यत्व दूर न किया जाय। यदि स्त्री तथा पुरुष दोनों स्वस्थ तथा युवा हों और उनके दाम्पत्य जीवन के चार साल में भी यदि सन्तान उत्पन्न न हो तो अवश्य दम्पति की परीक्षा करके चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिये।

आधुनिक शास्त्रज्ञ स्त्रियों के बन्ध्यात्व कारण को दो भागों में विभाजित करते हैं। प्रथम विभाग वह है जिसमें स्त्रियों के जननेन्द्रिय में कुछ विकृति उपस्थित होती है। इस समूह के अन्दर निम्न विकार आते हैं—

१—डिम्ब ग्रन्थियों (Overng) के रोग—इससे स्वस्थ तथा पके हुये डिम्ब ही नहीं तैयार होंगे। अतः गर्भ होना कैसे सम्भव हो सकता है। किन्तु यदि विकृति एक तरफ की डिम्बग्रन्थि तक ही सीमित हो तो दूसरी अविकृत ग्रन्थि से परिपक्व डिम्ब निकलता है और सन्तानोत्पत्ति होती है।

२—डिम्बप्रणाली या फैलोपियन ट्यूब के विकार, यथा सल्पिंजाइटिस (Sulpingitis)—यह प्रायः दोनों तरफ की नलिकाओं में (Bilateral) होती है। इस अवस्था में स्त्री के गर्भाधान का अवसर अत्यन्त कम होता है। यह निश्चित है कि संक्रमण के द्वारा डिम्बप्रणाली का झालरदार किनारा (Abdominul osteum) बन्द हो जाता है अतः डिम्ब को डिम्बप्रणाली में आने का कोई मार्ग नहीं मिलता। अतः सन्तानोत्पादन इस अवस्था में असम्भव है। पूयमेह (Gonorhoea) और गर्भपात वा प्रसव के अनन्तर जो वन्ध्यात्व हो जाता है उसका सब से मुख्य कारण डिम्बप्रणाली शोथ (Sutpingitis) है।

३—गर्भाशय में अर्बुद (Fibroid spacially and interstetial variy and submucus) उपस्थित हो तो भी वन्ध्यात्व हो जाता है। स्मरण रखना चाहिये कि येअ र्बुद (fibroid) ३० वर्ष की अवस्था के पूर्व गर्भाशय की श्लैष्मिक कला के चिरकालीन शोथ के कारण भी वन्ध्यात्व हो जाता है। भग (Valba) तथा योनि (Vaginal) के रोग तथा श्वेतप्रदर (Laueorrhalal dischargas) ये सब भी वन्ध्यात्व उत्पन्न करते हैं।

वन्ध्यात्व के कारण के दूसरे विभाग में स्त्रियों की जननेन्द्रियां यद्यपि स्वस्थ प्रतीत होती हैं किन्तु डिम्ब में ही यह सामर्थ्य नहीं होता कि वह शुक्रकीट (Sperm) से मिल कर एक हो जाय वा वृद्धि प्रारम्भ करदे। कभी २ पशुओं पर प्रयोग करके देखा गया है कि एक मादा में एक नर से गर्भाधान नहीं होता किन्तु दूसरे नर से हो जाता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि मनुष्य जाति भी इस नियम के लिये अपवाद नहीं है। वन्ध्यात्व का सन्देह होने पर पूर्ण परीक्षा कर अविलम्ब चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये।

आर्त्तव तथा उसके रोग और गर्भाधान तथा वन्ध्यात्व के विषय में प्राच्य, पाश्चात्य विद्वानों का संक्षिप्त समन्वय इस प्रकार समाप्त होता है।

इति भावप्रकाशे पूर्वखण्डे प्रथमं परिशिष्टं समाप्तम्।



भावप्रकाशे पूर्वखण्डे द्वितीयं परिशिष्टम्

अकारादि-क्रमानुसार निघण्टुभाग-स्थित द्रव्यों के व्यवहारोपयोगी अङ्ग तथा उनकी मात्रायें



द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
अंकोट	छाल	½ माशे
अधःपुष्पी	पत्ते, बीज।	२–३ माशे
अकरकरा	जड़	३ माशे
अखरोट	फल की गूदी	१–२ तोले
अगर	लकड़ी	६ रत्ती से ३ माशे
अगस्त	छाल, फूल	२ से ६ माशे छाल
अजमोदा	बीज	२ से ८ माशे
अड़ूसा	जड़कीछाल, पत्ते	१ से ४ मा०
अतीस	जड	६ रत्ती से १॥ माशे
अदरक	कन्द-स्वरस	½ माशे से १ तो०
अनन्तमूल	जड़	३ माशे से १ तो०
अनार	दाना, छिलका	६ माशे से १॥ तो०
अपराजिता	जड़-बीज	३॥ से ५ रत्ती
अफीम	फल-रस	¼ से १ रत्ती
अबरक	भस्म	१ से ३ रत्ती
अमरवेल	लता	६ माशे से १ तो०
अमरूद	फल-पत्ते-छाल	६ मा० से २ तो०
अमलतास	फल की गूदी	१–२ तोले
अमलबेंत	गूदी	१ से ३ मा०
आमाहलदी	जड़ की गांठ	१ से ४ मा०
आम्रातक	फल, पत्ते	४ से ९ मा०
अरनी	छाल	६ मा० से २ तो०
अर्जुन	छाल	६ मा० से १॥ तो०
अशोक	छाल	१ तो० से ३ तो०
अष्टवर्ग	कन्द	६ मा० से १ तो०
असगन्ध	जड़	३ मा० से १ तो०
आक	जड़कीछाल, फूल,	१–३ मा०
आम	फल, छाल	६ मा० से १ तो०
आमला	फल का छिलका	५ मा० से १ तो०
इनारुन	फल, जड़	१ से ३ मा०
इन्द्रयव	बीज	५ रत्ती से ३ मा०
इमली	फल	१ से ३ तो०
इलायची छोटी-बीज		२–४ मा०

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
इलायची बड़ी-बीज		३–५ मा०
एकांगी	जड़	३–६ मा०
एरंड	जड़	६ मा० से २ तो०
	बीज	२ से ७ दाने
	तैल	६ मा०–२॥ तो०
ओंगा	पंचांग	१–२ तो०
	बीज	३–६ मा०
औषर लवण	नमक	३–९ मा०
कटकारी	जड़, पंचांग	२–६ मा०
ककड़ी	बीज	३–९ माशे
ककही	जड़, जड़की छाल, बीज	५–१० माशे
कचनार	छाल	६ मा० से २ तो०
कचूर	जड़	२–३ माशे
कटसरैया	पञ्चाङ्ग-पत्ते	३–८ माशे
कठूमर	फल-छाल	३ मा० से १ तो०
कद्दू	बीज	६–९ माशे
कनेर	जड, विषैला	६ र० से २ माशे
कपास	जड़	१–२ तोले
	बीज	२–६ माशे
कपूर	गोंद, सत्त्व	⅛–¼ रत्ती
कबीला	लालरज	१–२ माशे
कमल	बीज, फूल, जड़	३–४ मा०
करञ्ज	छाल, बीज	१–६ मा०
कलम्बी	पत्ते स्वरस	३–९ मा०
कलिहारी	जड़ (विष)	१–४ रत्ती
कुसुम	फूल, बीज	३–१० मा०
कसेरू	जड़	६ माशे से १ तो०
कसौंदी	जड, बीज	३–६ मा०
कस्तूरी	मृगमद	½ से २ रत्ती
काकजघा	पञ्चाङ्ग-पत्ते	८–९ मा०
काकड़ाशिङ्गी	फल	१–३ मा०
कायफर	छाल	३–७ मा०

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
काला जीरा	बीज	६–७ मा०
कालादाना	बीज	२–६ मा०
कालीजीरी	बीज	२–३ मा०
कास	जड़	१–२ तोले
किवाछ	जड़, बीज	६–९ मा०
कुकरवदा	पत्ते, जड़	६–९ मा०
कुचला	बीज (विष) शुद्ध	१–२ रत्ती
कुटकी	जड़	२॥–३ मा०
कुन्दरु	गोंद	२–४ मा०
कुमुद	फूल	६ से १० मासे
	बीज	५ से ६ मा०
कुलञ्जन	जड़	३–९ मा०
कुशा	जड़	१–२ तो०
कूठ	जड़	३–९ मा०
कूडा	छाल	६ माशे से १ तो०
केला	स्तम्भरस	१–२ तो०
केसर	फूल	२–६ रत्ती
कोलकन्द	कन्द (सविष)	½ से १॥ रत्ती
खजूर	फल	१–२ तो०
खपरिया	शुद्ध भस्म	१–४ रत्ती
खरबूजा	बीज	६–९ मा०
खस	जड़	३–६ मा०
खीरा	बीज	६–९ मा०
खुरासानी अजवायन, खुरासानी अजमोद	बीज	१–२ मा०
खेकसा	जड़	आवश्यकतानुसार
खैर	छाल	१–२ तोले
	कत्था	१–३ मा०
गंगेरन (नागबला)	जड़, छाल	६ मा० से १ तो०
गंधकआंवलासार	शुद्ध	१–७ मा०
गम्भारी	छाल	६ मा० से २ तो०
गजपीपल	फल	१–३ मा०
गंधपलासी (कपूरकचरी)	जड़	१–३ मा०
गंधप्रसारणी (प्रसारणी)	पञ्चाङ्ग	१–२ तो०
गाजर	बीज	३–७ मा०

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
गिलोय	डण्डी	४–९ मा०
	सत्व	१–२ मा०
गुञ्जा	बीज (विषयुक्त)	४ रत्ती से १ मा०
गुलाब	फूल	६ मा० से १॥ तो०
गूगल	गोंद	१–३ मा०
गूमा (द्रोणपुष्पी)	पंचांग	३ मा० से १ तो०
गूलर	फल, छाल, पत्ते	१–२ तो०
गोखरू	पञ्चाङ्ग, फल	६ मा० से १ तो०
गोलोचन		१–२ रत्ती
घीकुआर	पाठा	१–२ तो०
चकवड़ (पमार)	बीज	१–२ मा०
चनसुर	बीज	३–६ मा०
चन्दन	लकड़ी	३–४ मा०
	तेल	१–२ मा०
चव्य	डंठल	३–८ मा०
चीता	पंचाङ्ग, जड़ / जड की छाल	१–३ मा०
चोपचीनी	जड़	३–४ मा०
चौलाई	जड़	६–९ मा०
चौहाड़ कोड़ा (सोचरनमक)	नमक	१–३ मा०
छुहारा	फल	१–२ तो०
जटामांसी	जड़	१–४ मा०
जमालगोटा	बीज (शुद्ध)	½ से १॥ रत्ती
जलकुम्भी	पञ्चाङ्ग	६ मा० से १ तो०
जलनीम, जलब्राह्मी	पञ्चाङ्ग	२–६ मा०
जवाखार	नमक	१–३ मा०
जवासा	पञ्चाङ्ग	१–४ मा०
जस्ता	शुद्ध भस्म	१–३ रत्ती
जामुन	छाल	१–२ तो०
जायफल	बीज	२ से ६ माशे
जावित्री	फूल	१ से ३ माशे
जीरा सफेद	बीज	३ से ७ माशे
जीवन्ती	पंचाग	३ से ६ माशे
झरबेर	फल	१०–२० माशे
ढाक (पलाश)	फूल	६ मा० से १ तो०
	बीज	१–३ मा०
	गोंद	१ से ३ माशे
तगर	जड	२ से ५ माशे
तज	छाल	३ से ६ माशे
तरबूज	बीज	६ मा० से १ तो०
तामा	शुद्ध भस्म	१ चावल से १ र०

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
तालमखाना	बीज	३ से ७ माशे
तालीसपत्र	पत्ते	१ से ३ माशे
तिनिश	छाल, गोंद	१ से ४ माशे
तिल	बीज	५ मा० से १ तो०
तीसी	बीज	५ से १० माशे
तुम्बुल	छाल-बीज	३ से ६ माशे
तुलसी	स्वरस, पत्ते, बीज	३ मा० से १ तो०
तूतिया	शुद्ध भस्म	½ से १ रत्ती
तून	छाल	१ से २ तोला
तेंदू	फल का रस	३ से ६ मा०
तेजपात	पत्ते	१ से ४ मा०
तेजबल	छाल	३ से ६ मा०
त्रायमाण	पञ्चांग	२ से ६ मा०
त्रिफला	फल के छिलके	३ मा० से १ तो०
थूहर	दूध	२ से ६ रत्ती
दंती	जड़	१ से ३ मा०
दवना	पञ्चाङ्ग	३ से ७ मा०
दशमूल	छाल, जड़-पञ्चांग	२-२॥ तोले
दारुहलदी	जड़, जड़की छाल, लकड़ी	१-३ मा०
दालचीनी	छाल	१-६ मा०
दुद्धी	पञ्चाङ्ग	३ मा०-१ तो०
दूब	पञ्चाङ्ग	२ से ६ मा०
देवदारु	लकड़ी	१-४ मा०
देवदाली(बन्दाल)	फल	१-३ मा०
धतूरा	(शुद्ध) बीज	½ से २ रत्ती
धनिया	बीज	६ मा०-१ तो०
धातकी	फूल	२-३ मा०
नकछिकनी	पञ्चाङ्ग	१-३ रत्ती
नकुलकन्द	जड़	१-३ मा०
नवसादर	पिंड चूर्ण	४-६ रत्ती
नागकेसर	फूल की केसर	१-२ मा०
नागदवन	पञ्चांग	२-६ मा०
नागरमोथा	जड़	२-६ मा०
नारियल	गिरी	१-१॥ तो०
निर्गुण्डी (सम्भालु)	पत्ते, बीज	३-६ मा०
निर्मली,	बीज	३-६ मा०
निसोत (त्रिवृत्)	जड़	३-५ मा०
नीम	छाल, पत्ते, फूल, फल	३ मा०- १ तो०
नील	पञ्चाङ्ग	२-४ मा०
पठानीलोध	छाल	१-३ मा०

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
पतंग	लकड़ी	१-४ मा०
पद्माक	लकड़ी	१-३ मा०
पाङ्गा नमक	नमक	१-३ मा०
पाकर	छाल	९ मा०-२॥ तो०
पाठा	जड़	६-९ मा०
पाढ़र	छाल	½-२॥ तो०
पातालगरुड़ी	जड़	६-९ मा०
पान	पत्ते-स्वरस	३-६ मा०
पारा	(शुद्ध) भस्म	½ रत्ती से २ रत्ती
पाषाणभेद	जड़	१-३ मा०
पिठवन	जड़-पंचांग	६ मा०-१॥ तो०
पित्तपापड़ा	पंचांग	६-९ मा०
पीतचन्दन	लकड़ी	२-३ मा०
पीतल	शुद्ध भस्म	१-२ रत्ती
पीपल	फली	१-३ मा०
पीपलामूल	जड़	३-४ मा०
पुनर्नवा	जड़	६ मा०-१॥ तो०
पुष्करमूल	जड़	२-४ मा०
पेठा	फल	१-२ तो०
	बीज	½ से १ तो०
पोस्त	डोडी-छिलका	३-६ मा०
पोस्तदाना	बीज	६ मा०-१ तो०
प्रियङ्गु	पंचांग-फल	३-६ मा०
फिटकरी	पिंड शुद्ध	½-१ मा०
फिरोजा	पत्थर भस्म	१-३ रत्ती
वंशलोचन	श्वेत पिंड चूर्ण	३-६ मा०
वकायन	छाल	६ मा०-१ तो०
वच	जड़	१-३ मा०
वड़	छाल, दूध	६-९ मा०
बथुआ	बीज	३-५ मा०
बनभटा (बृहती)	पंचांग, जड़	३-६ मा०
बनमूंग	पंचांग	६ मा० से १ तो०
बबूर	छाल, पत्ते, फली	३-९ मा०
वरियार	जड़-बीज	४-१० मा०
वरुन	छाल-पत्ते	४ मा० से १ तो०
वर्वरी	पंचांग, बीज	३-६ मा०
वहेड़ा	फल का छिलका	५-१० मा०
बाकुची	बीज	१-२ मा०
बादाम	तेल	३-६ मा०
वायविडंग	बीज	५-१० मा०
वाराहीकन्द	कन्द	३-६ मा०
बिजैसार	छाल-लकड़ी	३-४ मा०

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
बिदारीकंद	कंद	६ मा०–१ तो०
विधारा	जड	६ मा०–१ तो०
विषांविल (वृक्षाम्ल)	फल–गूदी	३–४ मा०
वेल	सूखी गूदी	१–२ तोले
ब्रह्मदण्डी	पंचांग	३–७ मा०
ब्राह्मी	पंचांग, पत्ते	६ मा०–१ तो०
भांग	पत्ते–बीज	२–१० रत्ती
भांगरा	पंचांग	६ मा० से १ तो०
भारंगी	जड की छाल	३–६ मा०
भिलावा	फल (विषयुक्त)	१–२॥ मा०
	तेल	४ रत्ती से १ मा०
भुइंआवला	पंचांग	३–५ मा०
भूतृण	जड	१–२ मा०
मंगरैला	बीज	२–५ मा०
मंडूकपर्णी	पंचाग–पत्ते	६ मा० से १ तो०
मंडूर	शुद्धभस्म	१–३ रत्ती
मकोय	फल	६–९ मा०
मखाना	भुने	६ मा० से १ तो०
मछेछी	पंचांग	१–१॥ तो०
मजीठ	लकड़ी	१–३ मा०
मधु	आर्द्र	१/२–२ तो०
मयनसिल	शुद्ध (विषयुक्त)	१–४ रत्ती
मरिच (काली)	बीज	१–४ मा०
मरुआ	पंचांग	३–७ मा०
मषवन (माषपर्णी)	पंचांग	६–१० मा०
मांसरोहिणी (रोहिणी)	छाल	६–१० मा०
मानकन्द	कन्द	६ मा० से १ तो०
मानफल	फल	१–४ मा०
मालकागुनी	बीज	१–२ मा०
मुडी	फल-पञ्चाङ्ग	२ मा०–१ तो०
मुचकुन्द	फूल	६–९ मा०
मुनक्का	फल	१०–१५ दाने
मुरदाशंख	खनिजशुद्ध	४ रत्ती से १ मा०
मुलेठी	लकड़ी	६–९ मा०
मुसव्वर	पिण्ड	१–३ मा०
मूंगा	समुद्री लाल	
	पत्थर शुद्ध भस्म	२–६ रत्ती
मूंज	जड	३–६ मा०
मूर्वा	पञ्चाङ्ग	६–७ मा०
मूली	कन्द-स्वरस	१–५ तो०
मूसली	जड	३–६ मा०
मूसाकानी	सर्वाङ्ग	२–३ मा०
मेंढ़ाशिंगी	पञ्चाङ्ग	३–६ मा०
मेथी	बीज	२–५ मा०
मैनफल	फल	२–३ मा०
मोचरस	गोंद	२–४ मा०
मोथा	जड	३–४ मा०
मोम	पिण्ड	३ रत्ती–१॥ मा०
मौलसिरी	छाल, फूल, फल	३ मा० से १ तो०
रक्तचन्दन	लकडी	२–४ मा०
रसकपूर	पिण्ड (विष) शुद्ध	१/२ से १ रत्ती
रसोत	घनसत्त्व	१–३ मा०
रांगा	शुद्ध भस्म	१–२ रत्ती
राई	बीज	३–६ मा०
रासना	मूल	२–५ मा०
रीठा	फल–छाल	१–३ मा०
रुद्रवन्ती	पञ्चाङ्ग	१–३ मा०
रेणुक	बीज	१–३ मा०
रेवतचीनी	जड़	२–५ मा०
रोहिडा (रोहितक)	छाल	६ मा० से १ तो०
रोहिस घास	पञ्चाङ्ग, जड़	१–३ मा०
लज्जालु	जड़, पत्ते	६ मा० से १ तो०
लताकरञ्ज	बीज–मींगी	२–७ रत्ती
लताकस्तूरी	बीज	१–२ मा०
लहसुन	कन्द	१–३ मा०
लक्ष्मणा	पञ्चाङ्ग, कन्द	१–२ मा०
लाख (लाक्षा)		२–४ मा०
लालमरिच	फल	१–२ मा०
लिसोरा	फल	१५–२० दाने
लोध	छाल	१–३ मा०
लोहवान	गोंद	२–६ मा०
लोहा	शुद्ध भस्म	१–२ रत्ती
लौंग	फूल	१–४ मा०
वत्सनाभ	विष—शुद्ध	१/३२ से १/८ रत्ती
शंख	भस्म	३ रत्ती से १ मा०
शाल	छाल	१–३ मा०
शिलाजीत	शुद्ध	१ रत्ती से १ मा०
शिवलिङ्गी	पचाङ्ग–बीज	३–९ दाने
शीतलचीनी	फल	२–४ मा०
शीशा	धातु, शुद्धभस्म	१–२ रत्ती

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
संखाहुली (शंखपुष्पी)	पञ्चाङ्ग	६ मा० से १॥ तो०
संखिया	महाविष भस्म	१/३२ रत्ती से १/२ र०
संगजराहत	पत्थर शुद्धभस्म	३–८ रत्ती
सज्जीखार	क्षार	२–८ रत्ती
सतावर	जड	६ मा० से १ तोला
सतिवन(सप्तपर्ण)	छाल	१–२ मा०
सत्यानाशी (स्वर्णक्षीरी)	जड़–बीज	२–४ मा०
सनाय	पत्ते	३ मा० से १ तो०
समुद्रफल	फल	१/४ से १/२ फल
समुद्रफेन	शुष्कफेन	१–२ रत्ती
समुद्रशोष	बीज	१–२ मा०
सम्भालु	बीज	१–३ मा०
सरफोंका	जड़, पञ्चाङ्ग, पत्ते	३–६ मा०
सरसों	बीज	३–६ मा०
सरिवन	जड़, पञ्चाङ्ग	३–९ मा०
सहदेई	पञ्चाङ्ग	३–६ मा०
सहिजना	छाल, बीज	३–६ मा०
सांभरनोन	लवण	३–९ मा०
सिंगरफ	भस्म	१/२ से २ रत्ती
सिरस	छाल, बीज	३ मा० से १ तो०

द्रव्य	अङ्ग	मात्रा
सुपारी	फल	१–४ मा०
सुहागा	श्वेतपिण्ड-शुद्ध	१–३ मा०
सेमर	मूसला, छाल, फूल	३–९ मा०
सेंधानोन	लवण	३–८ मा०
सोंठ	कन्द	३–७ मा०
सोआ	बीज	२–३ मा०
सोना	धातु–शुद्धभस्म	१/२ से १ रत्ती
सोनापाठा	छाल	४–१० मा०
सोनामक्खी	धातु शुद्ध भस्म	१–३ रत्ती
सोमलता	पञ्चाङ्ग	३–६ मा०
सोरा	क्षार	१–२ मा०
सौंफ	बीज	६ मा० १ तो०
हंसपदी	पंचांग	३ मा० से १ तो०
हड़जोरी	पंचांग	१–२ मा०
हरड़	फल–छिलका	४ मा० १॥ तो०
हरताल	शुद्ध भस्म	१/२–२ रत्ती
हलदी	जड़	२–६ मा०
हाऊवेर	फल	३–६ मा०
हाथीशुंडी	पंचांग	२–१० मा०
हारसिंगार	पत्ते, फूल	१–३ मा०
हिंगोट	पंचांग, बीजगिरी	१–१५ रत्ती
हींग	गोंद	२ रत्ती से १ मा०
हुरहुर	पत्ते, बीज	२–४ मा०

इति भावप्रकाशे पूर्वखण्डे द्वितीयं परिशिष्टं समाप्तम् ।



इति सपरिशिष्टं भावप्रकाशपूर्वखण्डं समाप्तम् ।



टीकाकृदन्वयप्रशस्तिः—

वन्दे स्वपूर्वजमहर्षिवरं मुनीन्द्रं—श्रीगोतमं गुरुतमं तमतीव नम्रः।
येनेश्वरत्वपरिसिद्धिनिमित्तभूतं न्यायाख्यशास्त्रमनुशिष्टमधिक्षितीष्टम्॥ १॥

यस्यान्वये घृततनुः श्रुतिसम्प्रदायि-श्रीपङ्क्तिपावनपदाभिधभूसुरेज्यः।
मिश्रेत्युपाधिक इहाधिकधर्ममूर्त्तिः—स्फूर्तिं धियो दधदधिव्यसनं विमानः॥ २॥

आलोकिताशकमनीययशा य आसीद्-दासीकृताखिलजनः सुभगप्रकृत्या।
नाम्ना श्रुतो **हरदयालु**रनीतिवीतो-लोकैरुदारचरितो हरवद्दयालुः॥ ३॥

अश्वेषुवस्ववनि(१८५७) संमित ईशवीये-वर्षेऽधिवस्ति शिशुवस्त्यवनीशकाले।
मन्त्रित्वमाश्रितवताऽप्यवता तदानीं-पौराञ्जनान् विपदितानपि राजकीयान्॥ ४॥

राष्ट्रोरुविप्लवनिवृत्तिवशात् प्रसन्न-**श्रीभारतेश्वर**समर्पितभूरिभूमिम्।
सम्मानपूर्वकमवाप्तवता तु येन-स्वस्वामिनोऽपि च निजस्य यशो व्यतानि॥ ५॥

तज्ज्येष्ठसूनुरभवन्नृपनीतिनिष्ठः-**श्रीमुक्तिनाथ** इति मन्त्रिपदप्रतिष्ठः।
नारायणान्त उदितो न धिया कनिष्ठः-पुत्रः कनिष्ठ उदितोऽभिजगद्वलिष्ठः॥ ६॥

वस्तीनराधिपतिदत्तधराविभागं-**मिश्रौलिया**ऽऽवसथमावसतस्तु तस्मात्।
देवद्विजादिपदपद्मयुगे रताया-मौदार्यमार्जवमनारतमाश्रितायाम्॥ ७॥

सत्यां सतीसमसतीत्वसमन्वितायां-श्रीसर्वसद्गुणपदे ह्यधिदेवकीव।
पत्न्यां प्रसूप्रसवितृप्रियतास्वरूपं-जातं सुतद्वयमिहाद्वयरत्नरूपम्॥ ८॥

एकस्तु तत्र बलरामसमः समानः-सद्गीतिकाव्यकुशलो नृपवल्लभोऽति।
नाम्ना **द्विजेश-बलराम** इति प्रसिद्धः-स्वस्मिन् कुले कमलिनीपतिवत् प्रतापी॥ ९॥

अन्योऽप्यनन्यकमनीयकुशाग्रबुद्धि-र्विद्वाननेकविषय स्वरतालजालम्।
विश्वव्रजाविरतमोहन इङ्गितज्ञो-मोहादिदोषरहितो **व्रजमोहनाह्वः**॥ १०॥

योऽभूदभूमिरधिभूमि नृशंसतायाः-स्थानं सदा सदुदितैकमनुष्यतायाः।
तस्मादजायत य आयतिमुत्तमां स्वा-कर्तुं व्युदस्य जननीमपि जन्मभूमिम्॥ ११॥

ब्रह्मादिवन्दितपदाब्जयुगस्य शम्भोः-क्षेत्रेऽविमुक्तपदभाजि शुभेऽधिकाशि।
श्रीरामसंयुतचरित्रमणेरुदार-चूडामणेर्निजपितृस्वसुरीश्वरस्य॥ १२॥

पक्वेष्टकाऽऽदिरचितेऽभिनवेऽतिभव्ये-गेहे वसंस्तदुपदेशविशेषवश्यः।
सानन्दमेव निजबाल्यवयो निनीय-प्राधीतवान् सपदि **पाणिनिशब्दशास्त्रम्**॥ १३॥

स **'ब्रह्मशङ्कर'** इति प्रथितो जनोऽयं-**लक्ष्म्यादिशङ्कर**-पदाह्वनिजानुजे तु।
विन्यस्य वैषयिककार्यभरं सभार्यः-**काश्यां पुनः** प्रतिवसन्ननु यौवनेऽपि॥ १४॥

दामोदरं गुरुवरं विदुषां वरेण्यं-गोस्वामिसत्तममसत्तमस श्रितः सन्।
साहित्यदर्शनविमर्शनसक्तचेता-**श्चैतन्यचन्द्रपद**योर्मनसो विनेता॥ १५॥

श्रीश्रेष्ठिवर्य**'जयकृष्ण'**पदादिदासे-नावेदितो जगति **'भावप्रकाश'**सञ्ज्ञे।
सर्वाङ्गसुन्दर उदारभिषग्वरेज्ये-ग्रन्थेऽन्तवासिजनजीवन **आद्यखण्डे**॥ १६॥

श्रीवैक्रमेऽब्द इषुनन्दनवेन्दुसंख्ये-विख्येऽह्नि दाशरथिजन्मतिथीत्यभिख्ये।
'विद्योतिनी'त्यभिधयाऽधिकतः प्रसिद्धा-व्याख्यां व्यधादतनुमात्मगिरा निबद्धाम्॥ १७॥

यद्येनया कथमपि क्वचनोपकारः-कश्चिद् भवेदिह बुभुत्सुनृणां तदाऽयम्।
सर्वं श्रमं सफलमात्मन एव विद्वा-नानन्दनीरधिनिमग्नमनाः सदा स्यात्॥ १८॥